वैयाकरण[illegible]

10.2

शास्त्री द्वितीय वर्ष

॥ श्रीः ॥

हरिदास–संस्कृत–ग्रन्थमाला
२०५

महाकवि श्रीहर्षप्रणीतं

नैषधमहाकाव्यम्

महोपाध्यायश्रीमल्लिनाथकृत 'जीवातु' व्याख्यायुत–
'मणिप्रभा' नामक हिन्दीव्याख्यासहितम् ।

हिन्दीव्याख्याकारः—
व्याकरण-साहित्याचार्य-साहित्यरत्न-रिसर्चस्कालर-मिश्रोपाह्व–
पण्डित श्रीहरगोविन्द शास्त्री

प्राक्कथनलेखकः—
आचार्य श्रीत्रिभुवनप्रसाद उपाध्याय एम. ए.
प्रिंसिपल–गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस ।

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी–१

२०१०] [ई० १९५४

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

(पुनर्मुद्रणादिकाः सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकाधीनाः)

Chowkhamba Sanskrit Series Office,
P. O. Box 8, Varanasi.
1954

Phone H. Office. 3145
Branch. 3076

मूल्य १-३ सर्ग १-७५, १-५ सर्ग ३-५०, १-९ सर्ग ६-००
पूर्वखण्ड १-११ सर्ग ७-०० उत्तरखण्ड १२-२२ सर्ग ७-००
संपूर्ण ग्रन्थ १-२२ सर्ग १३-००

प्राक्कथन

[आचार्य त्रिभुवनप्रसाद उपाध्याय एम० ए०
प्रिंसिपल—राजकीय संस्कृत कालेज, बनारस]

संस्कृत संसार की सर्वप्रथम भाषा है, इसका साहित्य अत्यन्त
न्दर एवं समृद्ध है, पहले गृहे गृहे और जने जने इसका प्रचार
तथा जीवन के सभी क्षेत्रों में इसका व्यवहार होता था। बाद
कालक्रम से समाज की रुचि में विविध परिवर्तन हुये, जिसके
रण शिथिलता आने से इसकी प्रगति मन्द पड़ने लगी और
कट अतीत में विदेशी शासन के समय तो इसकी घोर उपेक्षा
। किन्तु अब स्वतन्त्र भारत के सुप्रभात में जनता तथा शासन
नों ही का आकर्षण इस ओर बढ़ रहा है। ऐसी स्थिति में संस्कृत
उत्तमोत्तम ग्रन्थों को सरल संस्कृत तथा राष्ट्रभाषा के माध्यम से
नसम्पर्क में लाना संस्कृत के विद्वानों का प्रधान कर्तव्य है।
त: श्रीहर्ष जैसे महान् दार्शनिक कवि की रमणीय रचना 'नैषध'
राष्ट्रभाषा में अनूदित करने का पं० हरगोविन्द शास्त्री जी का
क्रम बहुत ही स्तुत्य है। इनकी अनुवाद-भाषा बड़ी ही रोचक,
हक तथा मूल भावों के अभिव्यजन में पूर्ण क्षम है। मेरा
वास है कि संस्कृत के जिज्ञासु इस कृति का पूरा आदर कर
नुवादक को उत्साहित करेंगे। जिससे उनकी प्रौढ़ लेखनी से संस्कृत
अधिकाधिक ग्रन्थ राष्ट्रभाषा में अनूदित होकर जनजिज्ञासा की
र्ति और देश का महान् मंगल कर सकेंगे।

दिनांक २५-१-५४

त्रि० प्र० उपाध्याय

सम्मतिपत्र

[आचार्य श्रीबद्रीनाथ शुक्ल एम० ए०
प्रधानाध्यापक—राजकीय संस्कृत कालेज, बनारस]

संस्कृत विश्व की समस्त भाषाओं का शिरोमुकुट, समग्र उदात्त और उज
विचारों की मनोरम मंजूषा तथा धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पुरु
की कमनीय कुंचिका है। यही कारण है कि अनेक शताब्दियों से अनादृत
उपेक्षित होने पर भी इसकी मधुरता और ओजस्विता अब भी ज्यों की त्यों
है। किन्तु यह सन्तोष की बात है कि 'यथा राजा तथा प्रजा' की जिस नी
इसे जनता से दूर कर दिया था उसी के आधार पर भारत की स्वतन्त्रता के समु
के साथ ही जनता की रुचि में संस्कृत की उन्मुखता पुनः अभिवृद्ध होने लगी
अतः संस्कृत के प्रचार में अवांछनीय मन्दता आ जाने के कारण संस्कृ
निहित जो ज्ञान-विज्ञान समाज को दुष्प्राप्य हो गये हैं उन्हें अब हिन्दी के मा
से जनता के बीच प्रसारित करना संस्कृत के विद्वानों का समयोचित धर्म हो
है। मैं पण्डित श्री हरगोविन्द शास्त्री जी को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने अ
सिद्ध लेखनी से एक ऐसे ग्रन्थ को हिन्दी में अनूदित करने का प्रयास कि
जिसमें भारत के आदर्श नरेश नल और आदर्श नारी दमयन्ती का पावन च
दार्शनिक शिरोमणि महाकवि श्रीहर्षद्वारा उच्चतम कोटि की काव्यकला में व
हुआ है जिसके परिचय तथा अनुकरण से मनुष्य कृतार्थ हो सकता है। अनु
की भाषा बड़ी मंजुल और प्रांजल है तथा अध्येता को कवि के वास्तविक अभि
के अत्यन्त निकट पहुंचाने की पूरी क्षमता रखती है। मेरा विश्वास है कि
अनुवाद संस्कृत प्रेमी जनों को आवर्जित का पर्याप्त प्रसार प्राप्त करेगा जि
प्रकाशक और अनुवादक उत्साहित हो संस्कृत-साहित्य की अन्य कृतियों को
हिन्दी द्वारा जनता को हृदयंगम कराकर मानवता के मंगलमय विकास में
सहयोग कर सकेंगे।

दिनांक २५-१-५४ **बदरीनाथ शुक्ल**

भूमिका

काव्यप्रयोजन—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

पुरुषार्थचतुष्टयको प्राप्त करना प्राणिमात्रका उद्देश्य होता है, उसके लिये योगसाधन, तपश्चरण, देवाराधन, तन्त्र-मन्त्रोपासना, आदि विविध उपाय शास्त्रोंमें अनेकत्र वर्णित हैं और उन्हें प्रायः कुशाग्रबुद्धि व्यक्ति क्लेशादिसहन करके ही प्राप्त कर सकते हैं किन्तु उत्तम काव्यके सेवनसे साधारण बुद्धिवाला व्यक्ति भी सुखपूर्वक उक्त उद्देश्यकी पूर्ति कर सकता है। जैसा कि साहित्यदर्पणकारने कहा है—

‘चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव.......................... (सा० द० १।२)

भामहने सत्काव्यको पुरुषार्थचतुष्टयप्राप्तिके साथ-साथ कलाओंमें विचक्षणता, प्रीति तथा कीर्तिका साधक कहा है—

‘धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति प्रीतिं कीर्तिञ्च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥’ (काव्यालङ्कार १।२)

इतना ही नहीं, काव्यसे कालिदासादिके समान यश, राजराजेश्वर श्रीहर्षादिसे कविश्रेष्ठ बाणादिके समान अर्थलाभ, सूर्यस्तुतिद्वारा मयूरादिके समान कुष्ठादिमहारोगनिवृत्ति, तत्काल ब्रह्मानन्दसहोदर आनन्दलाभ तथा स्त्रीवत् सदुपदेशादिलाभ काव्यके द्वारा ही सम्भव है। जैसा कि मम्मटाचार्यने कहा है—

‘काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥’

रुद्रटने तो काव्यको समस्त अभिमतको देनेवाला कहा है—

‘अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य ।
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः ॥’ (काव्याल० १।८)

राजानक कुन्तकने तो काव्यको पुरुषार्थचतुष्टयकी प्राप्तिसे भी अधिक आनन्दप्रद कहा है—

‘चतुर्वर्गफलस्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥’ (वक्रोक्तिजीवित)

यही कारण है कि कष्टप्रद योग-तपश्चर्यादि साधनोंका त्यागकर सुखसाध्य काव्य-

सेवनके द्वारा ही अपने चरमोद्देश्यप्राप्ति करनेके लिए लोगोंकी प्रकृति होती है। जैसा कि आचार्य भामहने कहा है—

'स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम्॥' (काव्यालङ्कार ५।३)

राजानक कुन्तकने भी अन्य शास्त्रोंको कड़वी दवाके समान तथा काव्यको मधुर दवाके समान अविवेकरूपी रोगका नाशक कहा है—

'कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आह्लाद्य मृतवत्काव्यमविवेकगदापहम्॥' (वक्रोक्तिजीवित)

नैषधचरितकी काव्यश्रेष्ठता—

म० म० पं० शिवदत्त शर्माके कथनानुसार पं० दुर्गाप्रसाद शर्मा द्वारा प्रकाशित काव्यमालाके मुद्रणके पूर्व 'रघुवंश, किरातार्जुनीय, कुमारसम्भव, शिशुपालवध और नैषधचरित' इन पाँच ही काव्योंका पठन-पाठन प्रचलित था। कुछ विद्वानोंका मत है कि—'लघुत्रयी तथा बृहत्त्रयी' नामसे प्रसिद्ध छः काव्योंका अध्ययनाध्यापन प्रचलित था। लघुत्रयीमें 'रघुवंश, कुमारसम्भव तथा मेघदूत' और बृहत्त्रयीमें किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा नैषधचरित' की गणना है। इनमें-से प्रथम 'लघुत्रयी' संज्ञक तीन काव्य महाकवि कालिदासके तथा 'बृहत्त्रयी' संज्ञक काव्योंमें 'किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा नैषधचरित' महाकाव्य क्रमशः महाकवि भारवि, माघ तथा श्रीहर्षके विरचित हैं। इन तीनों महाकवियोंमें विद्वानोंने श्रीहर्षको ही सर्वश्रेष्ठ माना है—

'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥' इति।
तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः?॥' इति।

उक्त प्रथम पद्यमें माघमें उपमादि गुणत्रयका अस्तित्व कहनेसे माघकी श्रेष्ठता कहकर द्वितीय पद्यमें श्रीहर्षकी सर्वश्रेष्ठता स्पष्टरूपमें प्रतिपादित की गयी है।

श्रीहर्षका जीवनचरित—

महाकवि श्रीहर्षके पिताका नाम 'श्रीहीर' तथा माताका नाम 'मामल्लदेवी' था। इसे स्वयं श्रीहर्षने नैषधचरितके प्रत्येक सर्गके अन्तिम श्लोकोंके पूर्वार्द्धमें स्पष्ट कहा है—

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।'

कतिपय विद्वान् 'माम्+अल्लदेवी' ऐसा पदच्छेद करके इनकी माताका नाम 'अल्लदेवी' था, ऐसा कहते हैं। किन्तु अन्य विद्वानोंका मत है कि 'वातापि' के निकटमें 'मामल्लपुर'

नामका नगर ही श्रीहर्षकविकी माताका निवासस्थान था और उसी आधारपर इनका नाम 'मामल्लदेवी' हुआ।

'श्रीहीर' बहुत ही विशिष्ट विद्वान् थे। ये काशीके राजा 'विजयचन्द्र' की राजसभाके प्रधान पण्डित थे। कहा जाता है कि इनको राजाके समक्ष एक पण्डितने शास्त्रार्थमें पराजित किया, उक्त पण्डितके नामके विषयमें एकमत न होनेपर भी 'चाण्डू' पण्डितके स्वकृत टीकाके आरम्भमें लिखी गयी—'**प्रथमं तावत्कविर्जिगीषुकथायां स्वपितृपरिभावुकमुदयनमत्यसर्पणतया कटाक्षयंस्तद्ग्रन्थग्रन्थीनुद्ग्रन्थयितुं खण्डनं प्रारिप्सुश्चतुर्विधपुरुषार्थैरभिमानमनवधीयमानमवधीर्य मानसमेकताननतां निनाय।**' पङ्क्तियोंसे श्रीहर्षके पिता 'श्रीहीर' को पराजित करनेवाले मैथिल नैयायिक प्रसिद्ध विद्वान् 'उदयनाचार्य' ही थे, इसमें सन्देहका कोई स्थान नहीं रहता। अस्तु। राजसभामें पराजित 'श्रीहीर' ने सुपुत्र श्रीहर्षसे कहा कि 'पुत्र! यदि तुम सुपुत्र हो तो मेरे विजेताको पराजितकर मेरा मनस्ताप दूर करना'। 'श्रीहर्ष' ने भी पिताकी आज्ञाको शिरोधार्यकर सद्गुरुसे तर्क, न्याय, व्याकरण, ज्यौतिष, वेदान्तादिदर्शन, योगशास्त्र एवं मन्त्रशास्त्रका सम्यक् प्रकारसे अध्ययन कर 'चिन्तामणि' मन्त्रका[१] अनन्यमनस्क हो एक वर्ष[२] तक जप करनेसे प्रत्यक्ष हुई त्रिपुरादेवीके वरदानसे ऐसी विद्वत्ता प्राप्त की कि इनके कथनको कोई विद्वान् समझ ही नहीं पाता था। यह देख श्रीहर्षने आराधनासे त्रिपुरा देवीका पुनः साक्षात्कारकर कहा कि—मातः! आपके वरप्रसादसे प्राप्त मेरा प्रखरतम पाण्डित्य भी सदोष ही रहा, क्योंकि मेरे कथनको कोई विद्वान् समझता ही नहीं, अतएव ऐसा वरदान दीजिये जिससे मेरे

---

[१] 'चिन्तामणि' मन्त्रका स्वरूप यह है...

'अवामावामार्द्धे सकलमुभयाकारघटनाद् द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत्।
तदन्तर्मन्त्रं मे स्मरहरमयं सेन्दुममलं निराकारं शश्वज्जप नरपते! सिद्ध्यतु स ते॥'
(१४।८५)

[२] 'चिन्तामणि' मन्त्रका महत्त्व कविने स्वयं इन शब्दोंमें कहा है—

'सर्वाङ्गीणरसामृतस्तिमितया वाचा स वाचस्पतिः
स स्वर्गीयमृगीदृशामपि वशीकाराय मारायते।
यस्मै यः स्पृहयत्यनेन स तदेवाप्नोति किं भूयसा
येनायं हृदये कृतः सुकृतिना मन्मन्त्रचिन्तामणिः॥
पुष्पैरभ्यर्च्य गन्धादिभिरपि सुभगैश्चारु हंसेन माञ्चे-
न्निर्यान्तीं मन्त्रमूर्तिं जपति मयि मतिं न्यस्य मय्येव भक्तः।
सम्प्राप्ते वत्सरान्ते शिरसि करमसौ यस्य कस्यापि धत्ते
सोऽपि श्लोकानकाण्डे रचयति रुचिरान् कौतुकं दृश्यमस्य॥'
(१४।८६-८७)

कथनको विद्वान् लोग समझने लगें। यह सुन देवीने कहा कि—आधी रातमें गीले वस्त्रको मस्तकपर रखना तथा मट्ठा पीना, जिससे कफबाहुल्य होकर जाड्यवृद्धि होनेपर तुम्हारे कथनको लोग समझने लगेंगे। श्रीहर्षने वैसा ही किया और उनके कथनको विद्वान् लोग समझने लगे। तदनन्तर इन्होंने 'खण्डनखण्डखाद्य' आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की, जैसा कि नैषधचरितके चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, सप्तम, नवम, द्वादश, सप्तदश तथा अष्टादश सर्गोंके अन्तमें क्रमशः 'स्थैर्यविचारप्रकरण, श्रीविजयप्रशस्ति, खण्डनखण्डखाद्य, गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति, अर्णववर्णन, नवसाहसाङ्कचरित, छिन्दप्रशस्ति तथा शिवशक्तिसिद्धि' ग्रन्थोंके नामका इन्होंने स्वयमेव उल्लेख किया है। इस प्रकार अनेक ग्रन्थोंकी रचना कर श्रीहर्ष कन्नौजके अधिपतिके यहां पहुँचे। उनका आगमन सुनकर विद्वद्गुणग्राही राजाने मन्त्री, सभापण्डित आदिके साथ नगरके बाहर जाकर उनकी अगवानी करके यथोचित सत्कार किया। राजाकी गुणिप्रियतासे अतिशय हर्षित श्रीहर्षने राजाकी स्तुति करते हुए यह श्लोक पढ़ा—

'गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च माऽस्मिन्नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विषये स्मरः स्त्रीरस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्रीः॥'

और उच्चस्वरसे विस्तृत व्याख्यान किया। यह सुन इनकी विद्वत्तासे समस्त सभासदोंके सहित राजा अत्यन्त सन्तुष्ट हो गये। तदनन्दर श्रीहर्षने अपने पिताके विजेता उदयनाचार्यको लक्ष्यकर कटाक्ष करते हुए यह श्लोक पढ़ा—

'साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शय्या वाऽस्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम्॥'

यह सुन श्रीहीरविजयी पण्डित ने उनके प्रखर पाण्डित्यको देखकर कहा कि—'भारतीसिद्ध वादिगजकेसरी विद्वद्वर! आपके समान कोई भी विद्वान् नहीं है, फिर अधिक कहांसे हो सकता है?' क्योंकि—

'हिंस्राः सन्ति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्यवीर्योद्यता—
स्तस्यैकस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम्।
केलिः कोलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलैः
संहर्षो महिषैश्च यस्य मुमुचे साहङ्कृते हुङ्कृते॥'

यह सुनकर श्रीहर्षका क्रोध शान्त हो गया। राजाने भी 'श्रीहीर' विजयी पण्डितकृत अवसरोचित श्रीहर्ष-स्तुति की श्लाघा करते हुए दोनों विद्वानोंमें स्नेहपूर्वक परस्परमें आलिङ्गन कराकर राजभवनमें ले जाकर दोनोंका ही समुचित सत्कार किया और श्रीहर्षको एक लक्ष-सुवर्णमुद्रा दिया।

भूमिका

नैषधचरितकी रचना—

इस प्रकार पिताके विजयीका मान मर्दन कर श्रीहर्षने वहीं राजसभाके सदस्य होकर रहते हुए राजाज्ञासे इस 'नैषधचरित' नामक महाकाव्यकी रचना कर राजाको दिखलाया। इसे देख प्रसन्न राजाने कहा कि—'कश्मीर जाकर इस महाकाव्यको सरस्वतीके हाथमें दीजिये। वहांपर साक्षात् निवास करती हुई सरस्वती हाथमें दिये हुए दोषरहित ग्रन्थका शिरःकम्पनपूर्वक अभिनन्दन करती है और इसके विपरीत दोषयुक्तग्रन्थको कूड़े-कतवारके समान फेंक देती है। इस प्रकार सरस्वतीसे अभिनन्दित ग्रन्थका वहांके राजासे प्रमाणपत्र लाइये।' ऐसा कहकर और बैल-ऊँट आदिपर समुचित पाथेय तथा धन लदवाकर श्रीहर्षको कश्मीर भेजा।

कश्मीरमें नैषधचरितका परीक्षण—

वर्तमान समयके समान रेल आदि साधनका अभाव होनेसे बहुत दिनोंके बाद श्रीहर्षने कश्मीर पहुँचकर वहांके राजपण्डितोंको अपना महाकाव्य दिखलाया तथा इसे सरस्वतीके हाथमें रखा। सरस्वतीने पुस्तकको दूर फेंक दिया। यह देख श्रीहर्षने सरस्वतीसे आक्षेपपूर्वक कहा कि 'मेरी पुस्तकको साधारण पुस्तकके समान दूषित समझकर तुमने क्यों अनादृत किया? इसमें कौन-सा दोष है?' आक्षेपपूर्ण श्रीहर्षकी बात सुन सरस्वती देवीने कहा कि—'तुमने अपने इस ग्रन्थमें—

'देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा वागालपत्पुनरिमां गरिमाभिरामाम्।
एतस्य निष्कृपकृपाणसनाथपाणेः पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम् ॥'

पद्यके द्वारा मुझे विष्णुकी पत्नी कहकर लोकप्रसिद्ध मेरे कन्यात्वका लोप किया है। इसी दोषके कारण मैंने पुस्तकको फेंक दिया है, क्योंकि—अग्नि, धूर्त, रोग, मृत्यु और मर्मभाषणकर्ता; ये पांच योगियोंको भी उद्विग्न कर देते हैं।

यह सुन महापुराणोंके विशेषज्ञ श्रीहर्षने हँसते हुए कहा—'दूसरे जन्ममें तुमने विष्णुभगवान्को पतिरूपमें स्वीकार नहीं किया था क्या? लोकमें भी तुम्हें लोग 'विष्णुपत्नी' नहीं कहते हैं क्या? तब मेरे सत्य कहनेपर व्यर्थमें क्रुद्ध होकर तुम मेरी पुस्तकको क्यों सदोष कह रही हो?'। श्रीहर्षोक्त उक्त वचनको सुनकर सरस्वतीने पुस्तकको पुनः हाथमें लेकर उसकी प्रशंसा की। तदनन्तर श्रीहर्षने वहांके राजसभासद-पण्डितोंको सरस्वत्यनुमोदित उक्त पुस्तक देकर कहा कि—'सरस्वती देवीने आपलोगोंके समक्ष इस पुस्तककी प्रशंसा की है, अतएव आपलोग यहांके राजा 'माधवदेव'को यह पुस्तक दिखलाकर 'यह रचना शुद्ध है' ऐसा राजलेख 'काशीराज जयन्तचन्द्र'के लिए मुझे दें।' परन्तु पण्डितोंमें दूसरे किसी नये पण्डितके प्रति स्वभावसे ही असूया होती है, इस लोकनियमसे आबद्ध वे

---

१. 'पावको वञ्चको व्याधिः पञ्चत्वं मर्मभाषकः।
योगिनामप्यमी पञ्च प्रायेणोद्वेगकारकाः ॥' इति।

राजसभापण्डित श्रीहर्षकृत सरस्वत्यभिनन्दित पुस्तक कश्मीरनरेश 'माधवदेव'को न दिखलाये और इसके परिणामस्वरूप राजा जयन्तचन्द्रके लिए पुस्तकके शुद्ध होनेका राज द्रामुद्रित लेख भी श्रीहर्षको नहीं प्राप्त हुआ। क्रमशः दिन, सप्ताह, पक्ष और मास व्यती होते गये। राजा जयन्तचन्द्रसे प्राप्त समस्त धन समाप्त हो चुका, वाहन बैल, ऊँट आ के साथ वर्तन भी श्रीहर्षको वेचने पड़े।

एक समय नदीतटपर पानी भरनेके लिए दो दासियाँ गयीं। संयोगवश उन दोनों 'पहले मैं पानीका घड़ा भरूँगी' इस प्रसङ्गको लेकर परस्परमें कहासुनी, गाली-गलौ होते-होते मारपीट हो गयी, फलतः दोनोंके शिर तक फूट गये। अपने-अपने पक्षकी पु करती हुई दोनों दासियोंने राजदरबारमें जाकर मुकदमा किया और राजाके प्रत्यक्षद्रष्टा साक्ष मांगनेपर दोनोंने कहा कि एक विदेशी ब्राह्मण नदीतटपर बैठा था, उसके अतिरिक्त दूसर कोई भी वहां नहीं था। राजाज्ञासे राजपुरुष नदीतटपर जाकर ब्राह्मणको साथ लाये वस्तुतः ये ब्राह्मणदेव अन्य कोई नहीं, महाकवि श्रीहर्ष ही थे। दोनों दासियोंके विवादके विषयमें पूछनेपर श्रीहर्षने कहा—'राजन्! परदेशी होनेके कारण मैं इनके कि एक शब्दका भी अर्थ नहीं समझ सका, हां इन दोनोंने जो कुछ एक दूसरेके प्रति कह या किया, उसे मैं आनुपूर्वी कह सकता हूँ।' ऐसा कहकर श्रीहर्षने राजाज्ञा होनेपर दोनों दासियोंकी परस्परोक्त उक्ति-प्रत्युक्तिको अनुपूर्वशः यथावत् कह दिया। श्रीहर्षकी धारण शक्तिसे आश्चर्यचकित राजाने दासीद्वयके विवादका निर्णय कर उन्हें विदा किया तथ साष्टाङ्ग प्रणाम कर श्रीहर्षसे उनका परिचय पूछा। उन्होंने काशीसे यात्रा करनेसे लेक अब तकके सम्पूर्ण वृत्तान्तको राजासे कह सुनाया। यह सुन अपनी सभाके पण्डितोंव श्रीहर्षके प्रति की गयी असूयासे अत्यन्त दुःखित हो राजाने सभापण्डितोंको बुलाकर उन् धिक्कारते हुए कहा—'मूर्खो! ऐसे परमविद्वान्के साथ स्नेह करनेके बदले असूया करनेवा तुमलोगोंको धिक्कार है। अब तुम लोग अपने-अपने घरपर लेजाकर इस महात्माका सत्कार करो।' यह सुन श्रीहर्षने नैषधचरितकी प्रशस्तिमें पठित निम्नलिखित श्लोकको पढ़ा—

'यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयाऽपि रमणी
कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते।
मदुक्तिश्चेतश्चेन्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषाराधनरसैः॥' (प्रशस्ति, १)

यह सुनकर अपने निन्दित कर्मसे अतिशय लज्जित राजसभापण्डितोंने अपने-अपने घरपर श्रीहर्षको लेजाकर आदर-सत्कारसे सन्तुष्ट किया। तदनन्तर कश्मीराधीश 'माधव देव'ने भी उनका सत्कार कर ग्रन्थकी शुद्धताका राजमुद्राप्रमाणित लेख देकर उन्हें विदा किया। उसे लेकर वे काशी लौटे तथा राजा जयन्तचन्द्रको लेख दिया और तबसे इस 'नैषधचरित'का प्रचार हुआ।

श्रीहर्षका वैराग्य एवं संन्यास ग्रहण—

तदनन्तर काशीराज जयन्तचन्द्रके 'पद्माकर' नामक प्रधान मन्त्रीने परमविलासवती एवं राजनीतिनिपुणा 'सूहवदेवी' नामकी विधवा शालापति-पत्नीको कुमारपालके घर लाकर सोमनाथकी यात्राकर जयन्तचन्द्रकी भोगपत्नी बनवाया। वह अपनेको लोकमें 'कलाभारती' प्रसिद्ध करती थी और श्रीहर्ष भी 'नरभारती' कहे जाते थे। यह उस मत्सरिणीको असह्य था। एक समय उसने आदरके साथ श्रीहर्षको बुलाकर 'आप कौन हैं ?' ऐसा प्रश्न किया। उसके प्रत्युत्तरमें श्रीहर्षके अपनेको 'कलासर्वज्ञ' कहने पर उसने कहा कि 'जूता पहनाओ'। उसका अभिप्राय यह था कि 'यदि ये ब्राह्मण होनेके कारण मैं नहीं जानता हूँ, कहते हैं, तब ये 'कलासर्वज्ञ' नहीं सिद्ध होते।' श्रीहर्षने उसकी बातको स्वीकार कर वृक्षोंके वल्कल आदिसे जूता बनाकर उसे पहना तो दिया, किन्तु राजासे उसकी इस कुचेष्टाको कहकर अत्यन्त खिन्न हो गङ्गातटपर जाकर संन्यास ग्रहण कर लिया।

जयन्तचन्द्रका इतिवृत्त—

इसी बीच राजाकी अभिषिक्त देवीमें एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'मेघचन्द्र' था और 'सूहवदेवी'से भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो मेधावी तो था, परन्तु अत्यन्त दुर्विनीत था। दोनोंके युवावस्था प्राप्त करने पर राजाके अपने 'विद्याधर' नामक मन्त्रीसे 'किसे राज्य देना चाहिये ?' पूछनेपर विद्याधरने कुलीन एवं सत्पुत्र मेघचन्द्रको राज्य देनेके लिए अपनी सम्मति दी और 'सूहवदेवी'के दुर्विनीत पुत्रको राज्य देनेके इच्छुक राजाको यथाकथञ्चित् मेघचन्द्रको राज्य देनेके लिए राजी कर लिया। यह देख क्रुद्ध हुई सूहवदेवीने अपने विश्वासपात्र प्रधान दूतोंको भेजकर तक्षशिलाधीश्वर 'सुरत्राण'को काशीपर चढ़ाई करनेके लिए तैयार किया। 'प्रत्येक पड़ावपर सवालाख स्वर्णमुद्रा व्यय करता हुआ वह काशीपर चढ़ाई करनेके लिए चल पड़ा है' यह गुप्तचरोंसे ज्ञातकर मन्त्री विद्याधरने 'सूहवदेवी' कृत विरोधको राजासे निवेदन किया, किन्तु राजाने 'वह मेरे साथ ऐसा दुर्व्यवहार नहीं करेगी' कहकर उसे फटकार दिया।

राजाकी मूर्खतासे राजभक्त मन्त्री चिन्तित हो विधिको प्रतिकूल मानकर सोचने लगा कि—'राज्यभ्रंश होनेके पहले मर जाना अच्छा है'। यह सोचकर उसने राजासे कहा—प्रभो ! यदि आज्ञा हो तो मैं गङ्गाजीमें डूबकर प्राणत्याग कर दूँ। अपने प्रत्येक काममें उसे कण्टकभूत मानकर राजाने भी सहर्ष आज्ञा दे दी। मन्त्रीने सोचा—'हितवचनोंको नहीं सुनना, दुर्नीतिमें प्रवृत्त होना, प्रिय लोगोंमें भी दोष देखना, अपने गुरुजनोंका अपमान करना; ये सब मृत्युके पूर्वरूप राजामें स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं, अतएव इनकी मृत्यु अब आसन्न है।' यह सोच सब धातुओंको सुवर्ण बनानेवाले जिस 'पारस' पत्थरके प्रभावसे ८८०० ब्राह्मणोंको प्रतिदिन भोजन देनेके कारण 'लघुयुधिष्ठिर' उपाधिसे वह मन्त्री लोकप्रसिद्ध था, चिन्तामणि विनायकके प्रसादसे प्राप्त उस पत्थरको लेकर गङ्गाजीमें

प्रवेशकर ब्राह्मणको सङ्कल्पपूर्वक दान दे दिया, किन्तु हतभाग्य उस ब्राह्मणने 'तुम्हे धिक्कार है, जो मुझ ब्राह्मणको गङ्गातटपर बुलाकर दानमें पत्थर दे रहे हो' ऐसा कहक उस अमूल्य पत्थरको गङ्गाजीमें फेंककर घर चला गया और इधर मन्त्रीने गङ्गाजीमें डूबक प्राणत्याग कर दिया। उधर तक्षशिक्षाधीश्वर 'सुरत्राण' ने काशी पहुँचकर उसे नष्ट-भ्र कर दिया एवं यवनोंने नगरीको खूब लूटा। 'राजा मारा गया या उसका क्या हुआ ?' कुछ पता नहीं चला। यह ईशवीय सन् १३४८ में राजशेखरसूरिरचित प्रबन्धकोषमें "श्रीहर्ष-विद्याधरजयन्तचन्द्रप्रबन्ध'से ज्ञात होता है।

जयन्तचन्द्रका समय—

प्राचीन लेखमालाके २३ वें लेखके संवत् १२४३ (ईशवीय सन् ११८३) आषाढ़ शुक्ल ७ रविवारको लिखित दानपत्रसे जयन्तचन्द्रका वंशक्रम इस प्रकार ज्ञात होता है—

यशोविग्रह
|
महीचन्द्र
|
श्रीचन्द्रदेव
|
मदनपाल
|
गोविन्दचन्द्र
|
विजयचन्द्र
|
जयन्तचन्द्र

इनमें यशोविग्रहके पौत्र 'श्रीचन्द्रदेव' ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) तथा काशीपर विजय प्राप्त किया था तथा २२वें लेखमें जयन्तचन्द्रके यौवराज्यदानपत्रमें संवत् १२२५ (ईशवीय सन् ११६९) लिखा है।

इस प्रकार जयन्तचन्द्रके राज्यकालके अनुसार महाकवि श्रीहर्षका समय भी बारहवीं शताब्दी ही निश्चित होता है। अतएव जयन्तचन्द्रके पिता विजयचन्द्रके वर्णनस्वरूप ग्रन्थकी चर्चा श्रीहर्षकविने अपने नैषधचरितमें की है। इसीका समर्थन श्रीहर्षके समयके विषयमें विविध मतोंमें उपस्थित विसंवादोंका प्रदर्शनकर उनका खण्डन करते हुए डाक्टर बूलर साहबके उस व्याख्यानसे भी होता है, जो 'रायल एसियाटिक सोसायटी, बम्बई ब्राञ्च' (Rayal Asiatic Society, Bombay Branch) नामकी विद्वत्सभाद्वारा सन् १८७५ ई० में प्रकाशित प्रबोधनग्रन्थ मुद्रित हुआ।

---

१. 'तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य भव्ये महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्पञ्चमः।' (५।१३८ का उत्तरार्द्ध)

नल–दमयन्तीकी मूल कथा

महाभारतके वनपर्वमें नल–दमयन्तीकी कथा आयी है। उसके अनुसार भी इन्द्रादि चारो देवोंने दमयन्तीके पास नलको दूत बनाकर भेजा था तथा निष्कपट भावसे कार्य करनेपर भी असफल होकर उनके लौटनेपर वे नलरूप धारणकर स्वयंवरमें गये और दमयन्तीकी स्तुतिद्वारा प्रसन्न होकर नलके लिए[1] आठ वर दिये और स्वर्गको जाते समय कलिको देवोंने बहुत समझाया, परन्तु उसने नलको राज्यभ्रष्ट करनेके लिए द्वापरको सहायक बनानेकी शर्त कर[2] निषध देशमें गया और बारह वर्षके बाद नलको मूत्रत्यागके बाद आचमनकर बिना पैर धोये ही सन्ध्योपासन करते देखकर उन्हें अशुचि देख अवसरका लाभ उठाकर उनमें प्रवेश किया[3]। द्यूतमें अपने भाई पुष्करसे पराजित होकर वनमें जाते हुए नलने दमयन्तीका त्याग कर दिया और चार वर्षके बाद पुनः दोनोंका समागम हुआ[4]। आदि कथा मिलती है। उसमें केवल इतिवृत्तमात्रका वर्णन है, किन्तु नैषधचरितमें श्रीहर्षने उस कथाभागका बहुत हो रोचक एवं सरस शैलीसे इस प्रकार वर्णन किया है कि वह सजीव हो गया है। इतना ही नहीं, अपितु कहीं–कहीं उस कथाभागको स्वरचित कल्पना का पुट देकर विशेपतया सजाकर उसमें चार चांद लगा दिये हैं। जिनमें–से नलके द्वारा पकड़े गये हंसका करुण क्रन्दन आदि मुख्य हैं।

'सोमदेवभट्ट' विरचित 'कथासरित्सागर' के अनुसार सबसे पहले हंसको दमयन्तीने अपना दुपट्टा फेंककर पकड़ा तदनन्तर उसने कहा कि तुम मुझे छोड़ दो, मैं कामवत्सुन्दर

---

१. 'प्रहृष्टमनसस्तेऽपि नलायाष्टौ वरान् ददुः। प्रत्यक्षदर्शनं यज्ञे शक्रो गतिमनुत्तमाम्॥
अग्निरात्मभवं प्रादाद्यत्र वाञ्छति नैषधः। लोकानात्मप्रभांश्चैव ददौ तस्मै हुताशनः॥
यमस्त्वन्नरसं प्रादाद्धर्मे च परमां स्थितिम्। अपाम्पतिरपाम्भावं यत्र वाञ्छति नैषधः॥
स्रजश्चोत्तमगन्धाढ्याः सर्वे ते मिथुनं ददुः। वरानेवं प्रदायास्य देवास्ते त्रिदिवं गताः॥
(संक्षिप्तमहाभारत वनपर्व १३।६१७–६२०)

२. 'ततो गतेषु देवेषु कलिर्द्वापरमब्रवीत्। संहर्तुं नोत्सहे कोपं नले वत्स्यामि द्वापर!॥
भ्रंशयिष्यामि तं राज्यान्न भैम्या सह रंस्यते। त्वमप्यक्षान् समाविश्य साहाय्यं कर्तुमर्हसि॥
एवं स समयं कृत्वा द्वापरेण कलिः सह। आजगाम कलिस्तत्र यत्र राजा स नैषधः॥'
(संक्षिप्तमहाभारत वनपर्व १३।६३१–६३३)

३. 'स नित्यमन्तरं प्रेप्सुर्निषधेष्ववसच्चिरम्। अथास्य द्वादशे वर्षे ददर्श कलिरन्तरम्॥'
कृत्वा मूत्रमुपस्पृश्य सन्ध्यामन्वास्य नैषधः। अकृत्वा पादयोः शौचं तत्रैनं कलिराविशत्
(संक्षिप्तमहाभारत वनपर्व १४।६३३–६३५)

४. 'स चतुर्थे ततो वर्षे सङ्गम्य सह भार्यया। सर्वकामैः सुसिद्धार्थो लब्धवान् परमां मुदम्॥
(संक्षिप्तमहाभारत वनपर्व १६।८३३)

निषधराज नलसे तुम्हारे सौन्दर्यका वर्णनकर तुम्हारा पति होनेके लिए निवेदन करूँगा। यह सुन दमयन्तीके हाथसे मुक्ति प्राप्तकर हंस निषधदेशमें जाकर सरोवरपर स्थित नलके पास पहुँचा। वहांपर भी नलने उसे अपना दुपट्टा फेंककर पकड़ा, तब उस हंसने कहा कि पतिरूपमें तुम्हें चाहनेवाली भीमकुमारी परमसुन्दरी दमयन्तीका सन्देश लेकर मैं आया हूँ, अतः तुम मुझे छोड़ दो। हर्षप्रद यह हंसोक्त वचन सुनकर नलसे मुक्त हंस पुनः दमयन्तीके पास जाकर नलसे दी गयी स्वीकृतिका सुसंवाद कहकर अभिमत स्थानको चला गया और दमयन्तीने माताके द्वारा यह समाचार पिताको सुनाया। तदनुसार पिता भीमने भी स्वयंवरके निमित्त राजाओंके पास निमन्त्रणपत्र भेजे। नारदसे दमयन्तीके लोकोत्तर सौन्दर्य तथा स्वयंवरका समाचार पाकर इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम तथा वायु, ये पाँच लोकपाल नलके समीप गये और अदृश्य होनेकी शक्ति देकर उनको दूत बनाकर दमयन्तीके पास भेजा। नलने भी दमयन्तीके पास जाकर देवोंका सन्देश कहते हुए उक्त पाँच देवोंमें-से किसी एक देवको पतिरूपमें वरण करनेके लिए कहा, किन्तु दमयन्तीके द्वारा नलको ही वरण करनेका निर्णय मालूमकर नलने अपना परिचय दिया और उन पाँच देवोंके पास वापस आकर यथातथा सब बातोंको कह दिया। उनके इस वञ्चनारहित सत्यवचनसे प्रसन्न देवोंने अपनेको नलका वशवर्ती होनेका वरदान दिया। तदनन्तर नलके निषध देशको वापस लौटनेपर वे इन्द्रादि पाँचों लोकपाल नलका रूप धारणकर स्वयंवरमें पहुँचे और अपने भाईसे स्वयंवरागत राजाओंका परिचय पाकर क्रमशः उन्हें छोड़ती हुई दमयन्तीने आगे जाकर एक साथ बैठे हुए छः नलोंको देखा तथा उन देवताओंकी स्तुतिसे प्रसन्नकर नलके गलेमें वरणमालाको पहनाया।

दमयन्तीके साथ विधिवत् विवाह-संस्कार सम्पन्न होनेपर नल वहाँपर एक सप्ताह ठहरनेके बाद दमयन्तीको साथ लेकर अपने देशको लौटे। इधर दमयन्ती-स्वयंवरमें द्वापरके साथ आते हुए कलिने देवोंसे नलको दमयन्तीसे वरे जानेका समाचार सुन उन्हें परस्पर वियुक्त करनेकी प्रतिज्ञा कर नलकी राजधानीमें पहुँचा और नलमें छिद्रान्वेषण करता हुआ रहने लगा।

बारह वर्षके उपरान्त मदपान करनेके कारण बिना सन्ध्योपासन तथा पादप्रक्षालन किये ही सोये हुए नलके शरीरमें कलिने प्रवेश किया, जिसके प्रभावसे नल दुराचारमें प्रवृत्त रहने लगे। इत्यादि[1]।

इस प्रकार महाभारत तथा कथासरित्सागरके कथांशके साथ प्रकृत नैषधचरितके कथांशका सामञ्जस्य करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीहर्षने महाभारतके आधारपर ही इस महाकाव्यकी रचना की है।

* * *

---

[1] कथासरित्सागरके नवम 'अलङ्कारवती' लम्बकके ६ ठे तरङ्गमें श्लोक २३७-४१६।

श्रीहर्षका पाण्डित्य

मैं पहले लिख चुका हूँ कि श्रीहर्षने खण्डनखण्डखाद्य आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की। उनमेंसे एकमात्र 'खण्डनखण्डखाद्य' ग्रन्थ ही इनके पाण्डित्यप्राचुर्य-प्रदर्शनके लिए पर्याप्त है। इसमें ग्रन्थकारने अपने प्रखरपाण्डित्यसे अनेकविध तर्कों तथा प्रयुक्तियोंके द्वारा बड़े उत्तम ढंगसे अद्वैत मतका प्रतिपादन किया है, जिसको देखकर विद्वानोंको इनके पाण्डित्यप्राचुर्यकी मुक्तकण्ठ हो प्रशंसा करनी ही पड़ती है। अपने इस अद्वैतकी झलक श्रीहर्षने नैषधचरितमें भी **अद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः** (१३।३५)' इत्यादि वचनों द्वारा प्रदर्शित किया है।

षष्ठ सर्गको तो स्वयं श्रीहर्षने ही 'खण्डनखण्डखाद्य' ग्रन्थका सहोदर कहा है। यथा—

'षष्ठः खण्डनखण्डतोऽपि सहजात्क्षोदक्षमे तन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमद्भास्वरः।' (६।११३ का उत्तरार्द्ध)

न्यायशास्त्रके मुख्याचार्य गोतमको भी इन्होंने नैषधचरितमें—

'मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेतैव यथा वित्थ तथैव सः॥' (१७।७४)

कहकर आड़े हाथों लिया है। सप्तदश सर्गमें चार्वाक मतका अत्यन्त कटुसत्य प्रामाणिक एवं विस्तृत समीक्षण श्रीहर्षकी दार्शनिकताका अकाट्य प्रमाण है। वैशेषिक दर्शनका नामान्तर 'उलूक दर्शन' भी है, इसका श्रीहर्षने बड़ी युक्तिसे प्रतिपादन किया है—

'ध्वान्तस्य वामोरु! विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय॥' (२२।३५)

अन्य कवियोंने प्रायः अपनी विद्वत्ताके प्रदर्शनार्थ ऋतु, प्रभात, चन्द्र आदिका वर्णन अपनी रचनाओंमें अप्रासङ्गिक या अत्यधिक रूपमें किया है, किन्तु श्रीहर्षने ऐसा वर्णन कहीं नहीं किया है। जहाँ भी कहीं इन्होंने मूलकथासे पृथक् स्वतन्त्र कथाकी कल्पना की है, वह वहाँपर मसीनके पुर्जेके समान ठीक-ठीक फिट हो जाती है और ऐसा आभास होता है कि इसके विना रचना अधूरी एवं बेकार थी। उदाहरणार्थ नलके पास हंस पहले नलको काटकर (१।१२५) अनन्तर कुछ फटकार कर (१।१३०–१३३) भी अपनेको छुड़ानेके लिए प्रयत्न करता है, किन्तु असफल होकर करुण-क्रन्दन (१।१३५–१४२) करने लगता है और दयार्द्र नलसे मुक्ति पाकर वही हंस नलको अपनी भूल स्वीकार करता हुआ (२।८–९) अप्रिय भाषणजन्यदोषको प्रत्युपकार द्वारा दूर करने तथा उसे दैवप्रतिपादित मानकर नलसे स्वीकार करनेके लिए दीनतापूर्वक विविध प्रकारसे अनुरोध करता है (२।१०–१५)। और इसके प्रतिकूल जब वही हंस दमयन्तीके पास पहुँचता है तो अपनी स्वार्थसिद्धिके लिए अनेक प्रकारसे आत्म-श्लाघा करता हुआ नलके प्रति दमयन्तीको

आकृष्ट करनेके उद्देश्यसे वार-बार उनका प्रसङ्ग लाकर उनकी अत्यन्त स्तुति इस प्रकार करता है कि दमयन्तीको यह लेशमात्र भी आभास न होने पावे कि इसे नलने भेजा है तथा इस चातुर्यपूर्ण रहस्यको वह तब तक छिपा रखता है, जब तक दमयन्तीके हृदयको अच्छी तरह ठोंक-ठोंककर नलके प्रति आकृष्ट होनेका दृढ़ निश्चय नहीं कर लेता। यहाँपर हंसके चातुर्यका दिग्दर्शनमात्र कराना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। देखिये—हंस किस चातुर्यसे श्लेप द्वारा नलके प्रति दमयन्तीको आकृष्ट करता है। वह कहता है कि—'स्वर्गीय मुझ हंसको पकड़नेके लिए 'विरलोदय नर'के एकमात्र स्वर्भोग्यभाग्यके अतिरिक्त कोई जाल आदि समर्थ नहीं हो सकता'।

'वन्धाय दिव्ये न तिरश्चि कश्चित्पाशादिरासादितपौरुपः स्यात्।
एकं विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य ॥' (३।२०)

यहाँपर उसने 'विरलोदय, नर' इन दो शब्दोंसे नलका स्पष्ट सङ्केत किया है। आगे वह दमयन्तीके 'का नाम वाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलापं कथयेदभिज्ञा।' (३।५९) अपने मनोरथगत नलकी ओर श्लेपद्वारा सङ्केत करने पर भी उसके नलविपयक अर्थको समझ कर भी स्पष्ट करनेके लिए कहता है कि—चन्द्रमाको हाथसे पकड़नेके समान आप जिसे प्राप्त करनेके लिए अधिक लालायित हों, उसे क्या मैं उस प्रकार सुननेका अधिकारी नहीं हूँ, जिस प्रकार वेदवचनको सुननेका अधिकारी शूद्र नहीं होता (३।६२)। आगे उसके मनोरथको पूरा करनेमें अपनेको सर्वथा समर्थ वतलाता हुआ वही हंस विश्वकी किसी भी वस्तुको यहाँ तक कि लङ्काको भी देनेमें अपनेको समर्थ कहता है। जिसका उत्तर कुलीना दमयन्ती स्पष्टरूपसे नहीं देकर श्लेपद्वारा ही नलको पानेकी इच्छा पुनः प्रकट करती है—

'इतीरिता पत्त्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी।
चेतो नलं [illegible] ते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलापम् ॥' (३।६७)

यहाँपर कुलाङ्गनोचित [illegible] पूर्णरूपेण पालन करते हुए श्रीहर्पने भारतीय संस्कृतिके परमोच्चादर्शको स्थापित किया है। इसी कारण अन्तमें विवश होकर हंसको ही 'नलके साथ तुम विवाह करना चाहती हो' कहना पड़ा है (३।७९)। और आगे चलकर वह पुनः पुनः नलके लिये दमयन्तीसे दृढ़ निश्चय कराकर ही 'वे भी तुम्हें चाहते हैं और उन्होंने ही तुम्हारे पास मुझे भेजा है' इत्यादि कहते हुए अपना वास्तविकरूप दमयन्तीके समक्ष व्यक्त करता है।

सभी लोग कुश तथा जल लेकर सङ्कल्पपूर्वक दान देते तथा लेते देखे जाते हैं। देखिये महाकवि श्रीहर्पने दानवीर नलके मुखसे उक्त प्रकरणको लेकर कितनी सूक्ष्मदर्शिताके साथ दानका महत्त्व कहलवाया है। दानके स्वरूप विविध प्रकारसे कहते हुए नल कहते हैं कि—'कुश-जलयुक्त दान करनेका विधान यह सूचित करता है कि याचकके लिए केवल धनमात्र ही नहीं, अपितु प्राणोंको भी तृणके समान दान कर देना चाहिये'।

'अर्थिने न तृणवद्धनमात्रं किन्तु जीवनमपि प्रतिपाद्यम् ।
एवमाह कुशवज्जलदायी द्रव्यदानविधिरुक्तिविदग्धः ॥' (५।८६)

नलने अपने दूतकर्मको आद्यन्त साङ्गोपाङ्ग निभाया है। अपने कार्यमें कुछ विलम्ब होता हुआ देखकर वे बहुत ही खिन्न होते हुए सोचते हैं कि मेरे मार्गको देखनेवाले इन्द्रके नेत्रोंको वज्रने बनाया है। शीघ्र करने योग्य कार्यमें भी विलम्ब करनेवाले मुझको धिक्कार है, जिसमें दूसरेके दूतकार्य करनेका साधारण गुण भी नहीं है—

'इयच्चिरस्यावदधन्ति मत्पथे किमिन्द्रनेत्राण्यशनिर्न निर्ममौ ।
धिगस्तु मां सत्वरकार्यमन्थरं स्थितः परप्रेष्यगुणोऽपि यत्र न ॥' (९।२१)

यहां पर नलने निष्कपट भावसे अपने दूतकर्मकी सिद्धिके लिए यथाशक्ति प्रयत्न करनेमें लेशमात्र भी कमी नहीं की है और अन्ततक उसकी सफलताके लिए प्रयत्नशील रहे हैं और इनके यही निष्कपटभावने इन्हें पुण्यश्लोक बनाया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

स्वयंवरमें जिस क्रमसे सब द्वीप तथा राजाओंका वर्णन महाकवि श्रीहर्षने किया है, वह समस्त समुद्र, वृक्ष, देव आदिका विष्णुपुराणके द्वितीय अंशके तृतीय अध्यायमें स्पष्ट वर्णित है। वहां पर शाकद्वीपके वर्णन–प्रसङ्गमें वहांके अधिपतिका नाम 'भव्य' कहा गया है और अपनी कृति नैषधचरितमें श्रीहर्षने 'हव्य' को शाकद्वीपका अधिपति कहा है (११।३७)। सम्भव है यह नामभेद पाठान्तर आदि किसी कारणसे हो। इस द्वीपवर्णनसे महाकविके पौराणिक ज्ञानकी पुनः परिपुष्टि होती है।

राजाओंके वर्णन–प्रसङ्गमें सरस्वतीमुखसे काशीनरेशका वर्णन कराते हुए महाकविने **'काश्यां मरणान्मुक्तिः'** वचनका अत्यन्त उत्तम युक्तिसे समर्थन किया है। आपके मतमें भूभागके किसी तीर्थविशेषमें तपस्या करनेवालोंको स्वर्गप्राप्ति होती है, और यह काशीपुरी पृथ्वीपर नहीं है (किन्तु पौराणिक वचनोंके अनुसार शङ्[illegible]ान्के त्रिशूलके ऊपर बसी है) और वहांपर निवास करना स्वर्गमें निवास करना है, अत एव उस पवित्र तीर्थमें शरीर त्याग करनेवाले प्राणियोंकी स्वर्गसे भी श्रेष्ठ मुक्ति होती है अन्यथा यदि उन्हें स्वर्ग ही प्राप्त हो तो उनके हर्षका कोई कारण ही नहीं होता, क्योंकि वे तो स्वर्गरूप काशीमें पहलेसे निवास करते ही थे। कविके शब्दोंमें इस प्रसङ्गको देखिये—

'वाराणसी निवसते न वसुन्धरायां तत्र स्थितिर्मखभुजां भुवने निवासः।
तत्तीर्थमुक्तवपुषामत एव मुक्तिः स्वर्गात्परं पदमुदेतु मुदे तु कीदृक् ? ॥' (११।११६)

नलके पाण्डित्य–प्रदर्शन–प्रसङ्गमें स्थान–स्थान पर श्लेषका वर्णन आ चुका है, किन्तु इन्द्रादिचारों देवोंके साथ नलका तथा नलके साथ इन्द्रादि चारो देवोंका एक साथ वर्णन करके महाकविने जो श्लेषोक्तिचातुर्यका प्रदर्शन किया है, वही उनके पाण्डित्यका निष्कर्ष है। आगे चलकर अन्तमें—

'देवः पतिर्विदुषि नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।

नायं नलः खलु तवास्ति महानलाभो यद्येनमुज्झसि वरः कतरः परस्ते ॥ (१३।३३)

इस एक ही श्लोकसे पञ्चनलीके वर्णनसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि सचमुच ही स्वयंवरमें स्वयं पधारकर साक्षात् सरस्वती देवीने यह राजवर्णन किया है।

महाकविने स्वयंवरमें आयी हुई सरस्वती देवीके प्रसङ्गका जो वर्णन (१०।७४-७८) किया है, उसमें उनका बहुश्रुतत्व स्पष्ट प्रतिभासित होता है।

आगे चलकर बारातका वर्णन भी महाकविने सूक्ष्मदर्शनपूर्वक बड़ा रोचक किया है। वर्तमान समयमें भी साधारण कोटिके लोगोंकी बारातमें बारातियोंकी ओरसे जो शान दिखलायी जाती है, बात-बातमें हंसी-मजाक चलता है उससे सभी परिचित हैं, तो फिर परमैश्वर्यशाली नैषधकी बारातमें जिसमें नट, विट, विदूषक आदि हास्योपजीवियोंसे लेकर बड़े-बड़े चतुर राजगण भी सम्मिलित हुए थे; उसमें हास तथा शानसौकत की क्यों कमी होती ?। कन्याके पिता भीम बार २ आप्त राजाओंको यथासमय शुभ मुहूर्तमें शीघ्र कार्य होनेके लिए दूतरूपमें भेजते हैं, किन्तु बारातियोंका मानो उधर ध्यान ही नहीं जाता, वे अपने शानमें मस्त होकर धीरे-धीरे चल रहे हैं, तथा अनेक बार दूतरूपमें भीमप्रेषित आप्त राजाओं तथा उनके सहचरोंसे नलकी सेना बहुत बढ़ गयी। यथा—

'विदर्भराजः क्षितिपाननुक्षणं शुभक्षणासन्नतत्वसत्वरः।
दिदेश दूतान् पथि यान्यथोत्तरं चमूममुष्योपचिकाय तच्चयः॥' (१६।५)

जब सामान्य वर्गके भी कन्यापिता आदि बारातियोंके आदर-सत्कार एवं भोजनादिमें यथासम्भव किसी प्रकारकी कमी नहीं होने देते, तब भला कुण्डिनपुराधीश राजा भीमके यहां नल-जैसे वरके बारातियोंके भोजनादिमें किस वस्तुकी कमी थी तथा ऐसे वर्णनकी उपेक्षा भी महाकवि श्रीहर्षको कैसे सह्य हो सकती थी। बारातियोंको विविध भोज्यपदार्थोंके वर्णन-प्रसङ्गमें कल्पना-विचक्षण श्रीहर्ष घीके विषयमें कहते हैं कि—यद्यपि मर्त्यलोकवासियोंने अमृतपान नहीं किया है, तथापि घी अमृतसे अधिक स्वादिष्ट है ऐसा अनुमान होता है; क्योंकि अमृतभोजी यज्ञोंमें जले (दूषित) हुए गन्धवाले भी जिस घीकी लालसा करते हैं। यथा—

'यदप्यपीता वसुधालयैः सुधा तदप्यदः स्वादु ततोऽनुमीयते।
अपि क्रतूषर्बुधदग्धगन्धिने स्पृहां यदस्मै दधते सुधान्धसः॥' (१६।७१)

वाह ! क्या ही सुन्दर हृदयहारिणी कल्पना है, यहां गागरमें सागर ही भर दिया गया है।

परिहासप्रियता—

मैं पहले लिख चुका हूं कि बारातियोंके बात-बातमें परिहासपूर्ण व्यवहार देखे जाते हैं, उसे यहांपर कविने दमयन्तीके भाई दम अर्थात् नलके छोटे शालेके द्वारा नाना प्रकारसे कराया है। और इतना ही नहीं, राजाओंसे भरी स्वयंवर सभामें भी दमयन्ती-दासियोंके द्वारा दमयन्ती-निरस्त राजाओंको लक्ष्यकर कैसा उपहास कराया है, देखिये ! सरस्वतीदेवी स्वयंवरमें आये हुए राजाओंका परिचय दे रही हैं, उसी प्रसङ्गमें

जब एक राजाका परिचय दे रही थी, उसी बीचमें दमयन्तीके हृद्गत अभिप्रायको जाननेवाली सखीने सरस्वतीदेवीको पानका बीड़ा देती हुई कहा कि इस राजाका वर्णन करते-करते आपका मुख थक गया होगा, इस बीड़ेसे उसे आप दूर कर लें अर्थात् जिसे स्वामिनी नहीं चाहती उसका वर्णन करना व्यर्थ है, अतएव पानका बीड़ा चबानेके बहाने उसे समाप्त करें—

'विधाय ताम्बूलपुटीं कराङ्कगां बभाण ताम्बूलकरङ्कवाहिनी ।
दमस्वसुर्भावमवेत्य भारतीं नयानया वक्रपरिश्रमं शमम् ॥' (१२।७६)

आगे चलकर बारातियोंके भोजन करनेके पश्चात् मुखशुद्ध्यर्थ वैसी सुपारी दी गयी जो बिच्छूके आकारकी थी अतः उसे लेते ही बारातियोंने बिच्छू समझकर तुरत फेंक दिया और वह देख वहांपर उपस्थित दमपक्षीय हँस पड़े—

'मुखे निधाय क्रमुकं नलानुगैरथोज्झि पर्णालिरवेत्य वृश्चिकम् ।
दमार्पितान्तर्मुखवासनिर्मितं भयाविलैः स्वभ्रमहासिताखिलैः ॥' (१६।१०९)

बारातियोंके साथ दासियों, सखियों या वाराङ्गनाओं और छोटे शाले दमका परिहास करने मात्रसे ही कविको सन्तोष नहीं हुआ तो उन्होंने राजा भीम तकको इधर घसीटा। जब सब बाराती भोजन करके निवृत्त हो मुखशुद्ध्यर्थ सुपारी, पान आदि भी ले चुके, तब उन्हें उपहार देते समय स्वयं राजाभीम भी एक नकली तथा एक असली—दो-दो रत्न अपनी हथेलीपर रखकर बारातियोंसे कहने लगे कि इन दोनों रत्नोंमें-से जो रत्न आपको पसन्द हो, उसे आप लेलें, किन्तु अनभिज्ञताके कारण जब बाराती नकली रत्नको पसन्द करने लगे, तब मधुर स्मित करते हुए वे दोनों ही रत्न बारातियोंको दे दिये—

'अमीषु तथ्यानृतरत्नजातयोर्विदर्भराट् चारुनितान्तचारुणोः ।
स्वयं गृहाणैकमिहेत्युदीर्य तद् द्वयं ददौ शेषजिघृत्सवे हसन् ॥' (१६।११०)

कविलोग प्रायः अपनी रचनाओंमें शृङ्गाररसकी भरमार कर देते हैं, क्योंकि उनकी उसीमें विशेष भक्ति होती है, किन्तु महाकवि श्रीहर्षने शृङ्गारके वर्णनके साथ अन्य रसोंका भी यथास्थान पर्याप्त वर्णन किया है। करुणरसके हंसकृत क्रन्दन एवं थदमयन्तीका विर वर्णन आदि गणनीय उदाहरण हैं। देखिये, श्री हर्षने भयानक तथा करुणरसका एक ही साथ कैसा सुन्दर चित्रण किया है—

'एतद्भीतारिनारीगिरिगुहविगलद्वासरा निःसरन्ती
स्वक्रीडाहंसमोहग्रहिलशिशुभृशप्रार्थितोन्निद्रचन्द्रा ।
आक्रन्दद्भूरि यत्तन्नयनजलमिलच्चन्द्रहंसानुबिम्ब-
प्रत्यासत्तिप्रहृष्यत्तनयविहसितैराश्वसीन्न्यश्वसीच्च ॥' (१२।२८)

विवाहका दिन निश्चित हो जानेपर अपनी सहधर्मिणीसे घरका समस्त वैवाहिक कार्य करनेके लिये कहकर स्वयं बाहरके कार्यका भार ग्रहणकर महलसे इतनी शीघ्रतासे बाहर

आते हैं कि उन्हें विशेष बात करनेका मानो अवसर ही नहीं है। ठीक ही है, विवाह समयके निर्णीत होनेपर जो महान् उत्तरदायित्वपूर्ण भार कन्यापिताके ऊपर आ जाता है, उसे भुक्तभोगी या सहृदय ही कोई व्यक्ति समझ सकता है। राजाधिराज होते हुए भी भीमको कितनी चिन्ता है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण कविने बहुत सुन्दर चित्रित किया है। योग्य वर-वरणका सुसमाचार सुनाकर वे सहधर्मिणी महारानीसे कहते हैं कि—'विवाह मङ्गल योग्य स्त्री-सम्बन्धी कार्योंको तुम स्त्रियां करो तथा हमलोग श्रौत-स्मार्त विधियोंको करते हैं' ऐसा कहकर उत्तर या स्वीकृति पाये विना ही झट बाहर आ जाते हैं—

'सृजन्तु पाणिग्रहमङ्गलोचिता मृगीदृशः स्त्रीसमयस्पृशः क्रियाः।
श्रुतिस्मृतीनान्तु वयं विदध्महे विधीनिति स्माह च निर्ययौ च सः॥' (१५।७

तथा महारानीकी आज्ञानुसार विविध प्रकारके पकवानोंको बनानेमें निपुणतमा पुरन्ध्रियां भी तुरन्त अपने-अपने कार्योंका निपुणतापूर्वक आरम्भ कर देती हैं—

'काचित्तदाऽऽलेपनदानमण्डिता कमप्यहङ्कारमगात्पुरस्कृता।
अलम्भि तुङ्गासनसन्निवेशनादपूपनिर्माणविदग्धयाऽऽदरः॥' (१५।१२)

साथ ही राजमहल तथा नगरकी सजावट होने लगती है। कपड़ेको काटकर तथा उन्हें उन्हीं सुगन्धि द्रव्योंसे सुवासितकर बनाये गये असामयिक फूलोंकी मालाओंके आधिक्यसे मार्ग चँदवासे आच्छादित की तरह दीखने लगे। उन कपड़ोंके असामयिक फूलोंकी सुगन्धको और कोई तो क्या, सौरभके पारखी भ्रमर भी नहीं पहचान सके और उन्हें सच्चा फूल समझकर सौरभलोभसे समन्ततः आकृष्ट होने लगे—

'पथामनीयन्त तथाऽधिवासनान्मधुव्रतानामपि दत्तविभ्रमाः।
वितानतामातपनिर्भयास्तदा पटच्छिदाऽकालिकपुष्पजाः स्रजः॥' (१५।१४

विवाहार्थं वधू-वरका मण्डन तथा विवाहविधिका वर्णन नैषधकारने कुमारसंभवके पार्वती-शङ्करके समान ही किया है, किन्तु नैषधका वर्णन अत्युदात्त विस्तृत एवं सरस है। कुमारसम्भवमें मण्डनके उपरान्त पार्वतीके दर्पण देखनेका वर्णन इस प्रकार है—

'क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेव शरत्त्रियामा।
नवं नवक्षौमनिवासिनी सा भूयो बभौ दर्पणमादधाना॥' (७।२६)

तथा नैषधमें वही वर्णन निम्नाङ्कित है—

'मणीसनाभौ मुकुरस्य मण्डले बभौ निजास्यप्रतिविम्बदर्शिनी।
विधोरदूरं स्वमुखं विधाय सा निरूपयन्तीव विशेषमेतयोः॥
जितस्तदास्येन कलानिधिर्दधे द्विचन्द्रधीसात्त्विकमायकायताम्।
तथापि जिग्ये युगपत्सखीयुगप्रदर्शितादर्शवहूभविष्णुता॥
किमालियुग्मार्पितदर्पणद्वये तदास्यमेकं बहु चान्यदम्बुजम्।
हिमेषु निर्वाप्य निशासमाधिभिस्तदास्यसालोक्यमितं व्यलोक्यत॥
(१५।५०-५२

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थोंके इस वर्णनमें जहां पार्वती स्वयं दर्पण लेकर अपने मण्डन-विधिके बाद अपना सौन्दर्य निरीक्षण कर रही है, वहां दमयन्तीको एक ही नहीं, किन्तु दो-दो सखियां दर्पण दिखला रही हैं। इत्यादि वर्णनश्रेष्ठता स्पष्टतः प्रतिभासित होती है।

आगे और देखिये, कुमारसम्भव तथा नैषधचरितमें पतिके कहनेपर वधुओंके ध्रुवदर्शन करनेका क्रमशः इस प्रकार वर्णन है।

'ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन।
सा दृष्ट इत्याननमुन्नमय्य ह्रीसन्नकण्ठी कथमप्युवाच॥' (७।८५)
'ध्रूवावलोकाथ तदुन्मुखभ्रुवा निर्दिश्य पत्याऽभिदधे विदर्भजा।
किमस्य न स्यादणिमादिसात्त्विकस्तथापि तथ्यो महिमागमोदितः॥' (१५।३८)

आगे चलकर विवाहके अनन्तर पुत्री तथा दामादको बिदाई कर उन्हें कुछ दूर पहुंचाकर वापस लौटते हुए राजा भीमने दमयन्तीके लिये सामयिक उपदेश दिया है, वह नारीजनोंके लिए अक्षरशः पालनीय है। वे सजलनयन होते हुए दमयन्तीसे कहते हैं कि—'हे पुत्रि! अपना अर्थात् तुम्हारा पुण्य ही तुम्हारा पिता है, सहनशीलता ही आपत्तिविनाश करनेवाली है, मनस्तुष्टि ही सारी सम्पत्ति है और ये नल ही तुम्हारे सब कुछ हैं, इसके अतिरिक्त मैं तुम्हारा कोई नहीं हूं'

'पिताऽऽत्मनः पुण्यमनापदः क्षमा धनं मनस्तुष्टिरथाखिलं नलः।
अतः परं पुत्रि! न कोऽपि तेऽहमित्युदश्रुरेष व्यसृजन्निजौरसीम्॥' (१६।११७)

विवाहोत्तर पति ही नारीका सर्वस्व है, ऐसा कहकर महाकविने थोड़े शब्दोंमें ही भारतीय संस्कृतिका महत्तम आदर्श प्रदर्शित किया है।

बारातके वापस लौटनेपर कन्यापक्षवालोंने 'बारातियोंका कैसा आदर-सत्कार किया और कौन-सा कार्य किस प्रकार हुआ' यह जाननेके लिए वरपक्षके गृहस्थित स्वजन बहुत उत्कण्ठित रहते हैं, साथ ही बारातियोंको भी अपने घरका समाचार जाननेकी उत्कण्ठा रहती है और जब दोनोंका प्रथम मिलन होता है तब वे परस्परमें एक दूसरेके द्वारा संक्षेपतः समाचार कहते-सुनते आगे बढ़ते हैं। यहां भी नलको विवाह करके वापस लौटने पर राजधानीमें नियुक्त मन्त्री आदि नवदम्पतिकी अगवानी करने आते हैं तो परस्परमें एक दूसरेका समाचार संक्षेपमें सुनते हुए राजधानीमें प्रवेश करते हैं—

'कियदपि कथयन् स्ववृत्तजातं श्रवणकुतूहलचंञ्चलेषु तेषु।
कियदपि निजदेशवृत्तमेभ्यः श्रवणपथे स नयन् पुरीं विवेश॥' (१६।१२४)

नलको राजधानीमें लौट जानेके बाद स्वर्गको वापस जाते हुए इन्द्रादि देवताओंसे कलि आदिका साक्षात्कार होता है, उसमें कलिके सहचरोंका कविने ऐसा वर्णन किया है कि उनका स्वरूप ही पाठकोंके समक्ष दृष्टिगोचर-सा होने लगता है। उनमें लोभका कितना मार्मिक वर्णन है—

'दैन्यस्तन्यमया नित्यमत्याहारामयाविनः।

भुञ्जानजनसाकूतपश्या यस्यानुजीविनः ॥' (१६।२५)

आगे चलकर महाकविने कलिके मुखसे तात्कालिक धर्माचरणका वर्णन कराकर जो नग्नस्वरूप उपस्थित किया है, वह भी कम महत्त्वास्पद नहीं है। उसका इन्द्रादिदेवोंने युक्तिपूर्वक बहुत ही उत्तम ढंगसे खण्डन करते हुए धर्मका मण्डन किया है। किन्तु इतना तो कहना ही पड़ेगा कि जितने सबल शब्दोंमें धर्मका खण्डन किया गया है, उतने सबल शब्दोंमें मण्डन नहीं है।

अष्टादश सर्गमें नवदम्पतिकी रतिका वर्णन श्रीहर्षके कामशास्त्रकी पारदर्शिता प्रकट करता है। उन्नीसवें सर्ग में प्राबोधिक वैतालिकमुखसे किया गया प्रभात वर्णन बहुत ही हृदयहारी है। महाकविने नारीहृदयकी मृदुता तथा पुरुषहृदयकी कठोरता कितनी सुन्दर कल्पना द्वारा चित्रण किया है। वह कहते हैं कि पतिरूप चन्द्रके सर्वथा अस्त होनेके पहले नहीं, किन्तु उसके क्षीणकाय (निष्प्रभ) होनेके पहले ही चन्द्रप्रिया तारायें तथा रात्रि नष्ट हो गयीं, यह परमसती उन लोगोंके लिये सर्वथा उचित ही है; किन्तु अपनी ऐसी प्रियाओं के नष्ट हो जानेपर भी चन्द्रमा जो मलिनकान्ति होकर स्थित है, शीघ्र मरा नहीं; अतएव ज्ञात होता है कि इसका हृदय पत्थरका है—

'उडुपरिषदः किं नार्हत्त्वं? निशः किमु नौचिती?
पतिरिह न यत्ताभ्यां दृष्टो गणेयरुची गणः।
स्फुटमुडुपतेराश्मं वक्षः स्फुरन्मलिनाश्मन-
च्छवि यदनयोर्विच्छेदेऽपि मृतं बत न द्रुतम् ॥' (१९।१९)

श्रीहर्षका महावैयाकरणत्व—

श्रीहर्ष महावैयाकरण थे यह उनके तत्तत्स्थलोंमें दिये गये पद्यों एवं पदोंके द्वारा स्पष्ट हो जाता है। एतदर्थ यद्यपि बहुतसे उदाहरण इस ग्रन्थसे उपस्थित किये जा सकते हैं तथापि दिग्दर्शनार्थं निम्नलिखित केवल दो पद्य ही उद्धृत किये जाते हैं—

'क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात् ॥' (३।२३)

उक्त पद्यमें हंसमुखसे नलका वर्णन कराते हुए कविने 'अपदं न प्रयुञ्जीत' 'एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते' इन वैयाकरणसम्मत सिद्धान्तोंकी ओर सङ्केत किया है—

'स्वं नैषधादेशमहो विधाय कार्यस्य हेतोरिति नानलः सन्।
किं स्थानिवद्भावमधत्त दुष्टं तादृक्कृतव्याकरणः पुनः सः ॥' (१०।१३६)

यहांपर महावैयाकरण श्रीहर्षने इन्द्रादिके नलका रूप धारणकर स्व वरमें आनेके प्रसङ्गका वर्णन करते हुए 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (पा० सू० १।१।५६) का सङ्केत किया है।

बीसवें सर्गके वर्णनसे श्रीहर्षका परमवैष्णव होना भी सिद्ध होता है। उन्होंने नलकृत

पूजाप्रकरणको लेकर जो वर्णन किया है, उसमें विष्णुके वर्णनको ही प्रधानता दी है। उसी प्रसङ्गमें नामकीर्तनका माहात्म्य कहते हुए वर्णन करते हैं कि—हे विष्णो! नरकनाशक आपके नामका जो लोग लीलापूर्वक भी उच्चारण करते हैं, उन्हींसे नरकको डरना उचित है, वे लोग भला नरकसे क्यों डरें—

'लीलयाऽपि तव नाम जना ये गृह्णते नरकनाशकरस्य।
तेभ्य एव नरकैरुचिता भीस्ते तु बिभ्यतु कथं नरकेभ्यः ॥' (२१।९७)

आगे चलकर स्मरणमाहात्म्यका वर्णन कर (२१।९९) पुनः रामनाम कीर्तनके महत्त्वका विशेपरूपसे वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि—'हम जैसे साधारण ज्ञानी लोगोंके लिये सब नामोंमें विशेषाभाव (समानता) रहनेपर भी हमें आपका 'राम'नाम ही गुणोंका स्थान प्रतीत होता है, यदि ऐसा नहीं था तो तीन जन्मों (बलराम, परशुराम तथा दशरथतनय राम) में आपने 'राम'नामको क्यों स्वीकार किया?'—

'अस्मदाद्यविषयेऽपि विशेषे रामनाम तव धाम गुणानाम्।
अन्वबन्धि भवतैव तु कस्मादन्यथा ननु जनुस्त्रितयेऽपि ॥' (२१।९९)

अन्तमें भक्तिभरित हृदय नल कहते हैं कि—हे भगवन्! संसार ही आपका स्वरूप है और आपने ही संसारको रचा है, अत एव आपके आश्चर्यजनक ऐश्वर्यको छोटे-से हृदयमें कितना ग्रहण करूं; क्योंकि दरिद्र व्यक्ति सुमेरु पर्वतको पाकर भी फटे चिथड़ेमें कितना सोना बांधता है—

'विश्वरूप! कृतविश्व! कियत्ते वैभवाद्भुतमणौ हृदि कुर्वे।
हेम नह्यति कियन्निजचीरे काञ्चनाद्रिमधिगत्य दरिद्रः ॥' (२१।१०३)

श्रीहर्ष जिसका वर्णन करने लगते हैं, उसके वर्णनसे मानो थकते ही नहीं। इस इक्कीसवें सर्गमें दमयन्तीके पाससे नलको उठनेसे लेकर द्वारपर चिरकालसे प्रतीक्षा करते हुए राजाओंको दर्शन देते, उनसे उपहार ग्रहण करते हुए स्नानगृहमें जाकर सविधि स्नान करनेके पश्चात् देव-पूजागृहमें उपस्थित होने, वहांपर स्थापित देवपूजा सामग्रियोंका तथा विधिपूर्वक पञ्चदेव पूजनोपरान्त पुरुषसूक्त पाठ, मन्त्र जप, विष्णुस्तुति आदिका सविस्तर वर्णन किया है। आगे चलकर सन्ध्याकालके आसन्न होनेपर चक्रवाकवधूके आसन्न भावीविरहसे दयार्द्र प्रियतमा दमयन्तीके कहनेपर सायं सन्ध्योपासनसे निवृत्त हो क्रमशः सायङ्काल, अन्धकार एवं चन्द्रमाका वर्णन स्वयं करते हैं तथा दमयन्तीसे भी चन्द्रवर्णन करानेके अनन्तर पुनः स्वयं चन्द्रवर्णन करने लगते हैं। इससे स्पष्ट विदित होता है कि महाकवि श्रीहर्षका कल्पनाकोष बहुत विशाल एवं क्षयरहित है। जैसा मैंने ऊपर कहा है कि ये एक ही पदार्थका वर्णन वार-वार करके भी थकते नहीं, किन्तु कहीं भी ऐसे वारवार वर्णनोंके प्रसङ्गमें किसी भी कल्पनाको ये दुहराते नहीं, प्रत्युत उत्तरोत्तर अभिनव कल्पनामात्राओंसे उसे अधिकाधिक सजाते ही जाते हैं। उदाहरणार्थ अनेक स्थलोंमें दमयन्तीके

वर्णनका प्रसङ्ग आया है, किन्तु पाठकको समस्त वर्णन सर्वथा नूतन एवं महत्त्वपूर्ण ही प्रतीत होता है। महाकविने स्थान-स्थानपर 'वहुल, अमा, पञ्चास्य, द्विजराज'[1] आदि शब्दों का नया-नया अर्थ करना उनके परिष्कृत बुद्धिका विशद दिग्दर्शन है।

रसादिनिरूपण—

इस नैषधचरितमें प्रधानतया शृङ्गाररसका तथा गौणतया अन्यरसोंका वर्णन है। शृङ्गाररसमें भी विप्रलम्भ शृङ्गार तथा सम्भोग शृङ्गार-दोनों ही का पर्याप्त मात्रामें वर्णन किया गया है। पाञ्चाल्यादि रीतियोंमें-से इस ग्रन्थमें वैदर्भीरीतिका प्राधान्य है। इस वात का महाकवि हर्षने स्वयं स्पष्ट सङ्केत किया है—

'धन्यासि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥' (३।११६)

'गुणानामास्थानीं नृपतिलक ! नारीति विदितां
रसस्फीतामन्तस्तव च तव वृत्ते च कवितुः ।
भवित्री वैदर्भीमधिकमधिकष्टं रचयितुं
परीरम्भक्रीडाचरणशरणामन्वहमहम् ॥' (१४।८८)

अलङ्कारोंमें श्लेष तथा अनुप्रासालंकारकी सर्वत्र भरमार है, इनके अतिरिक्त अर्थान्तरन्यास, उपमा, दृष्टान्त, निदर्शना आदि अलङ्कार भी विविध स्थलोंमें मिलते हैं। अतिशयोक्ति वर्णनमें तो श्रीहर्षने कमालकर दिया है। कामपीडिता विरहिणी दमयन्तीके विरहावस्थाका वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि—कामाग्निसे दीपित दमयन्तीने वहुत-से ताजे कमलों को हृदयपर रखनेके लिए पुनः पुनः ग्रहण किया, किन्तु हृदय तक पहुंचनेके पूर्व ही उष्णतम श्वाससे मर्मर (अधसुखे) हुए उनको आधे मार्गसे ही वापस फेंक दिया—

'स्मरहुताशनदीपितया तया वहु मुहुः सरसं सरसीरुहम् ।
श्रयितुमर्द्धपथे कृतमन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरमुज्झितम् ॥' (४।२९)

नल इन्द्रादिके दूत बनकर भीमकन्याके अन्तःपुरमें अलक्षित हो पहुंच गये हैं। वहांपर नलकी छायाको मणिकुट्टिमादिमें देखकर दो सखियां दोनों ओर से वांह फैलाई हुई उन्हें पकड़नेके लिए आती हैं, किन्तु वे उन्हें पकड़ नहीं पा रही हैं क्योंकि उन दोनोंके स्तन

---

[1] 'विरहिभिर्वहु मानमवापि यः स वहुलः खलु पक्ष इहाजनि ।
तदमितिः सकलैरपि यत्र तैर्व्यरचि सा च तिथिः किममा कृता ॥'
'मोहाय देवाप्सरसां विमुक्तास्ताराः शराः पुष्पशरेण शङ्के ।
पञ्चास्यवत्पञ्चशरस्य नाम्नि प्रपञ्चवाची खलु पञ्चशब्दः ॥'
'सकलया कलया किल दंष्ट्रया समवधाय वधाय विनिर्मितः ।
विरहिणीगणचर्वणसाधनं विधुरतो द्विजराज इति श्रुतिः ॥'
(क्रमशः ४।६७, २२।१९, ४।७२)

इतने उन्नत-उन्नत हैं कि दोनोंके स्तन परस्परमें सट जाते हैं और अलक्षित नल उनके बीचमें आजाते हैं। इस प्रकार उनके शरीरस्पर्शका अनुभवकर वे आत्मनिन्दा करते हैं और वे दोनों पुरुषशरीरके स्पर्श होनेसे रोमाञ्चित हो जाती हैं—

'मीलन्न शेकेऽभिमुखागताभ्यां धर्तुं निपीड्य स्तनसान्तराभ्याम् ।
स्वाङ्गान्यपेतो विजगौ स पश्चात्पुमङ्गसङ्गोत्पुलके पुनस्ते ॥' (६।२१)

उपजाति, वंशस्थ, वसन्ततिलका, वैतालीय, रथोद्धता, हरिणी, शार्दूलविक्रीडित, मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा आदि १९ छन्दोंमें इस ग्रन्थकी रचना की गयी है। श्रीहर्षने इस महाकाव्य में नलके चरितका पूर्णतः वर्णन नहीं किया है, अत एव कतिपय विद्वानोंका मत है कि इस महाकाव्यको प्रायः शतपरिमित सर्गोंमें ग्रन्थकारने पूरा किया होगा, किन्तु अद्यावधि इस महाकाव्यमें वर्णित कथाभागके आगे श्रीहर्षकृत कोई कथाभाग नलका उपलब्ध नहीं हो सका है, अत एव नारायण भट्टके इस कथनको सत्य मानना पड़ता है कि महाभारतादिमें वर्णित नलके अग्रिम चरित्र नीरस एवं नायकके उदयाभाव वर्णन करनेसे रसभङ्गकारक था, अत एव सहृदयाह्लादोत्पादन ही काव्यका मुख्य उद्देश्य होनेसे महाकवि श्रीहर्षने इस महाकाव्यमें उनके शेष चरितका वर्णन नहीं किया है।[1]

श्रीहर्षके निवासादिके सम्बन्धमें विविध मत—

कतिपय विद्वान् श्रीहर्षको कन्नौजके अधीश्वर जयन्तचन्द्रके राजसभापण्डित होनेसे कन्नौज का निवासी मानते हैं। कन्नौज (कान्यकुब्ज) के राजाका आश्रित होना श्रीहर्षने स्वयं स्पष्ट कहा है—

'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरा-
द्यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम् ।
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ॥' (प्रशस्ति ४)

तथा कुछ विद्वान् गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति तथा नवसाहसाङ्कचरितको इनकी रचना होने एवं नैषधचरित के वर्णनके आधारसे इन्हें वङ्गदेशज मानते हैं। तथा कुछ विद्वान् श्रीहर्षकी 'कश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विदधद्भिर्महाकाव्ये······(१६।१३०) उक्तिके आधारपर इन्हें कश्मीरी मानते हैं; किन्तु राजशेखरसूरिकृत प्रबन्धकोशके पूर्वोद्धृत वचनके आधारपर इनका कश्मीरी होना सिद्ध नहीं होता।

जैसा कि पहले कहा गया है 'कान्यकुब्जाधीश्वर जयन्तचन्द्रके सभापण्डित श्रीहर्षने

---

[1] आनन्दपदेन तुष्टयेऽस्तु इत्याशिषा च ग्रन्थसमाप्तिं द्योतयति। महाभारतादौ वर्णितस्याप्युत्तरनलचरित्रस्य नीरसत्वान्नायकानुदयवर्णनेन रसभङ्गसद्भावाच्च काव्यस्य च सहृदयाह्लादनफलत्वाच्चात्रोत्तरचरित्रं श्रीहर्षेण न वर्णितमित्यादि ज्ञातव्यम्।' (२२।१४८ प्रकाश व्याख्या).

राजाकी आज्ञासे नैषधचरितकी रचना की और उनके आदेशसे ही कश्मीर जाकर इस महाकाव्यको वहां सरस्वती देवीके हाथमें रखकर उसके अभिनन्दन करने पर वहांके तात्कालिक राजा माधवदेवसे ग्रन्थका सरस्वत्यभिनन्दित होनेका राजमुद्राङ्कित लेख प्राप्तकर काशी लौटे और उक्त राजमुद्राङ्कित लेख राजा जयन्तचन्द्रको दिया तबसे यह महाकाव्य लोकप्रसिद्ध हुआ'। अब यहांपर यह सन्देह होता है कि श्रीहर्ष २२ सर्गान्त इस महाकाव्यको लिखनेके उपरान्त यदि कश्मीर गये तो **कश्मीरैर्महिते**......(१६।१३०)' यह वचन मध्यमें किस प्रकार आया ? अत एव ज्ञात होता है कि कश्मीरसे ग्रन्थकी प्रामाणिकता सिद्ध होनेके उपरान्त श्रीहर्षने प्रत्येक सर्गके अन्तमें '**श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटा...... सर्गो निसर्गोज्ज्वलः**॥' १-१ श्लोक ग्रन्थमें जोड़ दिया है। वास्तविकता क्या है ? सम्भव है भावी इतिहासकार इसका अनुसन्धान कर जनताके समक्ष उपस्थित करेंगे।

नैषधचरितकी टीकाएं—

म० म० पं० शिवदत्तशर्मा महोदयने नैषधचरितकी प्रस्तावनामें इसके निम्नलिखित २३ टीकाकारोंके नाम लिखे हैं—१ आनन्दराजानक, २ ईशानदेव, ३ उदयनाचार्य, ४ गोपीनाथ, ५ चाण्डू पण्डित, ६ चारित्रवर्धन, ७ जिनराज, ८ नरहरि (या—नरसिंह), ९ नारायणभट्ट, १० भगीरथ, ११ भरतमल्लिक (या—भरतसेन), १२ भवदत्त, १३ मथुरानाथ, १४ म० म० मल्लिनाथ, १५ महादेव विद्यावागीश, १६ रामचन्द्रशेष, १७ वंशीवदन शर्मा, १८ विद्याधर, १९ विद्यारण्य योगी, २० विश्वेश्वराचार्य, २१ श्रीदत्त, २२ श्रीनाथ और २३ सदानन्द। उक्त शर्माजी ने इन टीकाकारोंके रचित ग्रन्थों तथा टीकाओंके नाम भी लिखे हैं, उसे जिज्ञासुओंको वहीं देखना चाहिये। उन टीकाओंमें म० म० नारायण भट्ट रचित 'नैषधप्रकाश' तथा म० म० मल्लिनाथ रचित 'जीवातु' नामकी टीकाओं को विद्वानोंने सर्वश्रेष्ठ माना है। 'नैषधप्रकाश' टीका ही 'नारायणी' नामान्तरसे भी प्रसिद्ध है। इन दो टीकाओंमें नारायणी टीका अत्यधिक विस्तृत एवं खण्डान्वय मुखसे लिखी गयी है और 'जीवातु' टीका सम्प्रति प्रचलित दण्डान्वय प्रणालीसे लिखी गयी है, इसी लिए सुरभारतीके अन्यतम सेवक एवं प्रायः सहस्र आर्ष संस्कृत ग्रन्थोंके मुद्रक तथा प्रकाशक स्वनामधन्य गोलोकवासी श्रीमान् श्रेष्ठिवर्य श्री हरिदास जी गुप्त के सुपुत्र बाबू जयकृष्णदास जी गुप्त महोदयने इस नैषधचरित महाकाव्यकी 'जीवातु' टीकाको वर्तमानमें राष्ट्रभाषा हिन्दीका युग होनेसे हिन्दी अनुवादके सहित प्रकाशित करनेका निर्णय किया। किन्तु प्रयत्न करने पर भी अन्तिम सर्गकी 'जीवातु' टीका नहीं उपलब्ध हो सकी, अत एव इस २२ वें सर्गमें 'नैषध-प्रकाश' टीका ही दी गयी है।

'मणिप्रभा' हिन्दी टीका—

उक्त निर्णय करनेके अनुसार प्रकाशक महोदयने इस महाकाव्यका हिन्दी अनुवाद करनेका भार मुझे सौंपा। कार्याधिक्य रहनेपर भी मैंने उनके सौजन्यपूर्ण व्यवहार एवं

अपने साथ निकट सम्बन्धसे विवश होकर इसे स्वीकार कर लिया । जब यह गुरुतर भार मेरे कन्धों पर आया, तब मैंने सोचा एवं प्रकाशक महोदयके साथ विमर्श भी किया कि मूल श्लोकोंके साथ म० म० मल्लिनाथकृत 'जीवातु' टीका तो मुद्रित हो ही रही है, अत एव यदि 'नैषधप्रकाश' (नारायणी) टीकाका आश्रय लेकर हिन्दी अनुवाद किया जाय तो विद्वानों तथा विशेषतः नैषधपिपठिषु छात्रोंको दोनों टीकाओंमें आये हुए विषयोंका ज्ञान हो जायगा और प्रायः प्रत्येक श्लोक, पाद एवं शब्दमें नैषधमें अर्थबाहुल्य है वह भी सर्वसाधारणके समक्ष आकर ग्रन्थगौरव सुरक्षित रहेगा। इसी विचारके आधार पर मैंने 'मणिप्रभा' नामक हिन्दी टीका लिखना आरम्भ कर दिया । 'नैषधप्रकाश' तथा जीवातु' टीकाओंके अनुसार मूल श्लोकोंमें अनेकत्र पाठभेद हैं, अतः मैंने 'जीवातु' टीकाके अनुसार पाठ मानकर ही हिन्दी टीकामें पहले 'जीवातु' के अनुसार तथा बादमें 'नैषध-प्रकाश' के अनुसार विविधार्थोंको लिखा है । जहां पर पाठभेदके कारण सर्वथा अर्थभिन्नताका अवसर आया है वहांपर 'जीवातु' के अनुसार ही पहला अर्थ लिखा गया है और पाठान्तरमें द्वितीय अर्थ । इन अनेक अर्थोंको बार-बार आद्यन्त लिखनेमें ग्रन्थका आकार ड्योढ़ा दूना हो जाता, अत एव पक्षान्तरीय अर्थको कोष्ठकमें लिख दिया गया है और यही कारण है कि कई स्थलोंमें हिन्दी कुछ क्लिष्ट हो गयी है और कथाक्रमको विच्छिन्न करती-सी प्रतीत होती है । इस दोषको दूर करनेके लिए ही प्रायः सभी स्थलोंमें श्लोकोंके मूल अर्थ करनेके उपरान्त [ ] ऐसे कोष्ठकके भीतर पूरे श्लोकका विशद आशय विशुद्ध हिन्दीमें स्पष्ट कर दिया गया है और अनेक स्थलोंमें गुरुपरम्परागत अभिप्रायोंको भी लिखकर ग्रन्थकी ग्रन्थियोंको सुलझानेका यथासम्भव प्रयत्न किया गया है, क्योंकि ग्रन्थकारने कतिपय स्थलोंमें जान-बूझकर स्वयमेव ग्रन्थियोंको प्रयत्नपूर्वक रखनेको लिखकर अपनेको बुद्धिमान मानकर पढ़नेका प्रयत्न करते हुए तथा श्रद्धापूर्वक गुरुसेवासे ही उन ग्रन्थियोंको समझकर इस महाकाव्यके रसका आनन्द लेनेके लिये कहा है—

> 'ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
> प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् खलः खेलतु ।
> श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
> त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखं व्यासज्जनं सज्जनः ॥' (प्रशस्ति ३)

श्रीहर्षके पौराणिक ज्ञानके विषयमें हम पहले ही लिख चुके हैं । अनेक स्थलोंमें उन्होंने पौराणिक विषयोंका वर्णन किया है, उनकी भी तत्तत्स्थलोंमें पौराणिक कथाएं लिख दी गयी हैं ।

मल्लिनाथने बहुतसे श्लोकोंकी व्याख्या संक्षेप मानकर नहीं की है, उन श्लोकोंका भी 'नैषधप्रकाश' व्याख्याके सहित हिन्दी अनुवाद तत्तत्स्थलोंमें कोष्ठकमें लिखा गया है । प्रत्येक सर्गकी कथाका सारांश संक्षिप्त रूपसे विषयसूचीमें लिखा गया है । श्रीहर्षके बहुत से सूक्तिपद कण्ठस्थ करने योग्य हैं, लोकोक्तियां भी पर्याप्त मात्रामें विद्यमान हैं, सर्वसुविधा के लिए इन्हें भी संगृहीत कर दिया गया है । मूल तथा प्रक्षिप्त श्लोकोंकी अकारादिक्रमसे

सूची भी ग्रन्थान्तमें दी गयी है। इस प्रकार इस ग्रन्थको सर्वाङ्गसुन्दर एवं सरल बनानेका यथाशक्य प्रयत्न किया गया है। आशा एवं पूर्ण विश्वास है कि इससे सर्वसाधारण पाठकवृन्दको अवश्य लाभ एवं सरलता होगी।

आभार प्रदर्शन—

सर्वप्रथम भगवान् विश्वनाथ एवं अन्य गुरुवर्योंके साथ इस ग्रन्थके हमारे अन्यतम गुरु स्व० म० म० श्री ६ देवीप्रसादजी शुक्ल कविचक्रवर्ती तथा स्व० म० म० श्री ६ माधव भाण्डारी महोदयके चरणकमलमें बद्धाञ्जलि प्रणाम करता हुआ उनका आभार मानता हूं, जिनकी चरणानुकपासे मैं इस सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यकी 'मणिप्रभा' नामकी हिन्दी टीका लिखनेमें समर्थ हुआ, तथा म० म० पं० शिवदत्तशर्मा, पं० बलदेवजी उपाध्याय एम० ए०, और श्रेष्ठिवर्य कन्हैयालालजी पोद्दार महोदयोंका भी बहुत आभार मानता हूं; जिनके प्रस्तावना तथा इतिहास ग्रन्थोंकी सहायतासे मैंने इसकी यह भूमिका लिखी है।

राजकीय संस्कृत कालेज काशीके प्रधानाचार्य माननीय श्री **पं० त्रिभुवनप्रसादजी उपाध्याय एम० ए०** तथा प्रधानाध्यापक **आचार्य श्री पं० बदरीनाथजी शुक्ल, एम० ए०** महोदयोंका तो मैं अतिशय आभारी हूं जिन्होंने इस ग्रन्थका क्रमशः प्राक्कथन तथा सम्मति लिखनेकी कृपा की है।

अन्तमें हम इस ग्रन्थके प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत सीरिज के प्रधानाध्यक्ष गोलोकवासी माननीय श्रीयुत हरिदास जी गुप्त के पुत्र बाबू जयकृष्णदासजी गुप्तको विशेष धन्यवाद देता हूं, जिन्होंने आशातीत विलम्ब होने तथा ग्रन्थके आकारको अत्यधिक बढ़जानेपर भी अपने लाभकी ओर विशेष ध्यान न देकर इस ग्रन्थको सर्वसाधारणको सुलभ मूल्यमें देनेके विचारसे प्रकाशित कर संस्कृत-वाङ्मयकी सेवाका महान् आदर्श उपस्थित किया है। अन्यान्य भी मेरे जिन मित्रवर्योंने मेरे बाहर रहनेसे प्रूफसंशोधनादि कार्यद्वारा इसे पूर्ण करनेमें योग दिया है उनको भी मैं साभार अनेकशः धन्यवाद देता हूं।

अन्तिम निवेदन—

इस महाकाव्यके अनुवाद कार्यको गुरुतर भार मानते हुए सहृदय विद्वानों एवं प्रिय छात्रोंसे भी मेरा विनम्र निवेदन है कि इस ग्रन्थको भी मेरे अनूदित अमरकोष, रघुवंश महाकाव्य तथा मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंके समान ही अपनाकर मुझे पुनः अन्य ग्रन्थोंको लिखनेके लिए उत्साहित करनेकी कृपा करें। साथ ही मानव-सुलभ दोषवश यदि कहीं त्रुटि दृष्टिगोचर हो, उसे मुझे सूचित करनेकी कृपा करें, जिससे अग्रिम संस्करणमें उसको दूर कर दिया जावे। इति शम्।

वाराणसी
महाशिवरात्रि सं० २०१० }

विबुधविधेयः
हरगोविन्द शास्त्री

* रसो वै ब्रह्म *

नैषधमहाकाव्यम्

जीवातु–मणिप्रभा–संस्कृतहिन्दीटीकाद्वयोपेतम् ।

प्रथमः सर्गः

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां[१] तथाद्रियन्ते न बुधास्सुधामपि ।
नलस्सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलस्स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः ॥१॥

अथ तत्रभवान् श्रीहर्षकविः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥' इत्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात् काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनत्वाच्च काव्यालापांश्च वर्जयेदिति तन्निषेधस्यासत्काव्यविषयतां पश्यन् नैषधाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुश्चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिहेतो'राशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखमि'त्याशीराद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वात् कथानायकस्य राज्ञो नलस्य इतिवृत्तरूपं मङ्गलं वस्तु निर्दिशति-निपीयेति। यस्य क्षितिरक्षिणः क्ष्मापालस्य नलस्य कथाम् उपाख्यानम् । निपीय नितरामास्वाद्य पीङ् स्वादे क्त्वो ल्यबादेशः, न तु पिबतेः 'न ल्यपी'ति प्रतिषेधादीत्वासम्भवात् । बुधास्तज्ज्ञाः सुराश्च 'ज्ञातृचान्द्रिसुरा बुधा' इति क्षीरस्वामी । सुधामपि तथा यथेयं कथा तद्वदित्यर्थः, नाद्रियन्ते, सुधामपेक्ष्य बहु मन्यन्ते इति यावत् । सितच्छत्रितं सितच्छत्रं कृतं सितातपत्रीकृतमित्यर्थः, तत्कृताविति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । कीर्तिमण्डलं येन सः । महसां तेजसां राशिः रविरिवेति भावः । महैः उत्सवैः उज्ज्वलः दीप्यमानो नित्यमहोत्सवशालीत्यर्थः । 'मह उद्धव उत्सव' इत्यमरः । स नलः आसीत् । अत्र नले महसां राशिरिति कीर्तिमण्डले च सितच्छत्रत्वरूपस्यारोपात् रूपकं कथायाश्च सुधापेक्षया उत्कर्षात् व्यतिरेकश्चेत्यनयोः संसृष्टिः । तदुक्तं दर्पणे 'रूपकं रूपितारोपाद् विषये निरपह्नवे' इति। 'आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा। व्यतिरेक' इति मिथोऽपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते इति च । अस्मिन् सर्गे वंशस्थं वृत्तं, 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरावि'ति तल्लक्षणात् ॥

---

१. 'कथाः' इति पाठान्तरम् ।

शिवाशिवतनूजोऽपि त्रिलोकीशिवकारकः ।
वक्रतुण्डोऽपि सुमुखो यस्तं वन्दे गणाधिपम् ॥ १ ॥
जगतां व्यवहारस्य याऽस्ति हेतुः सनातनी ।
सारदां शारदाभ्राच्छवस्त्रां वन्देऽस्मि शारदाम् ॥ २ ॥
दृषदक्षरमयचिन्तामण्यो[1]राद्यं न कामये जातु ।
याचेऽन्त्यं[2] वाक्सेवालभ्यं सज्ज्ञानदं सततम् ॥ ३ ॥
लोकनाथं पूर्णचन्द्रं श्रीत्रिवेदिमहाशयौ ।
शब्दशास्त्रगुरून् वन्दे भक्तिनम्रस्तदङ्घ्रिषु ॥ ४ ॥
देवीप्रसादमाधव[4]पदपोतावाक्ययामि सदा ।
काव्यार्णवे विहर्तुमथ चिन्तामणिञ्च[5] समवाप्तुम् ॥ ५ ॥
'आरा' मण्डल 'केसठ'वास्तव्यो 'मूर्ति'गर्भभवः ।
'हरगोविन्दः शास्त्री' 'रामस्वार्था'त्मजन्माहम् ॥ ६ ॥
कुर्वे 'नैषध'व्याख्यां स्वराष्ट्रभाषामयीमधुना ।
एषा मुदेऽस्तु सुधियां सान्तेवसतां सदा लोके ॥ ७ ॥

पृथ्वीपालक (राजा) जिस (नल) की कथाओंका सम्यक् प्रकारसे पानकर विद्वा लोग (या—अमृतभोजी देवता लोग) अमृतका वैसा (नलकी कथाके समान) आद नहीं करते हैं, (अपने) कीर्तिसमूहको श्वेतच्छत्र बनाये हुए तथा नित्य उत्सववाले तेजोराशि अर्थात् महातेजस्वी नल हुए। अथवा—जिसकी कथाका सम्यक् प्रकार पानकर (वृष्ट्यादिके द्वारा) पृथ्वीकी रक्षा करनेवाले देव अमृतका भी वैसा आदर नह करते,……। अथवा—जिसकी कथाका……देव सुधामय अर्थात् चन्द्रमामें भी वैस आदर नहीं करते,……। अथवा—……जिसकी कथाका……पृथ्वीकी रक्षा करनेवा अर्थात् राजा लोग तथा बुध अर्थात् देवलोग अमृतका भी वैसा—आदर नहीं करते अथवा—जिसकी कथाका……(फणामण्डलपर पृथ्वीको धारण करनेसे) पृथ्वी-रक्ष होनेसे अमृत तथा नल कथाके (एवं अमृतभोजी तारतम्यके) ज्ञाता शेष तक्षकादि ना लोग अमृतका भी वैसा आदर नहीं करते,……। अथवा—('क्षितिः+अक्षिणः' पदच्छे

---

[1] 'चिन्तामणि' संज्ञकप्रस्तर-नैषधोक्त (१४।८५) 'चिन्तामणि' मन्त्रयोः ।

[2] नैषध एव श्रीहर्षकविनोक्तं (१४।८५) 'चिन्तामणि' संज्ञकं मन्त्रम् ।

[3] श्रीपूज्यपाद पं० देवनारायणत्रिवेदि—(महाशयजीनाम्नाख्यात) श्री पं० राम यशस्त्रिपाठिनौ ।

[4] कविचक्रवर्तिमहामहोपाध्याय-श्री पं० देवीप्रसादशुक्लः, महामहोपाध्यायो दाक्षि णात्यो विद्वान् श्री पं० माधवशास्त्री भाण्डारी च (मत्काव्यपाठयितारौ) ।

[5] नैषधचरितकाव्यार्णवात् चतुर्दशसर्गीयपञ्चाशीतिश्लोकोक्तं चिन्तामणिमन्त्रम् ।

करके) जिसकी कथाका सम्यक् प्रकारसे पानकर (स्थित व्यक्ति-विशेषके) कलि (कलिजन्य दोष) का नाश होता है तथा जिसकी कथाका सम्यक् प्रकारसे पानकर बुध (विद्वान्, या देव) अमृतका भी वैसा आदर नहीं करते,……। अथवा—अक्षी अर्थात् द्यूतक्रीडारत जिस नलकी पृथ्वी (राज्य) है और जिसकी कथाका……(इससे द्यूतव्यसनी नलको राज्य होनेसे इनकी आश्चर्यजनिका अलौकिकी शक्ति व्यक्त होती है)। उत्तरार्द्धका व्याख्यान्तर—अथवा—जिस नलमें अत्यधिक उज्ज्वल गुणविशिष्ट श्रृङ्गार रस है, अथवा—जिस (नल) में दमयन्तीका उक्तरूप श्रृङ्गार रस अत्यधिक है, ऐसे तेजोराशि (अथवा—सूर्यके समान स्थित) चतुर्दिग्व्यापी कीर्तिमण्डलको श्वेतच्छत्र बनाये हुए वे नल थे [राजा नलका द्यूतव्यसनी होना आगेके कथा-भागमें यद्यपि नहीं वर्णित है, तथापि महाभारतादिमें द्यूतव्यसनके कारण ही उनके राज्यच्युत होनेका वर्णन मिलता है। नलकी कथाको अमृताधिक मधुर होनेसे तथा अधिक श्रृङ्गार-रसपूर्ण होनेसे इन्द्रादि देवोंका त्यागकर नलमें ही दमयन्तीका अनुराग होना उचित ही था। 'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च। ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम् ॥' उक्तिके अनुसार नल-कथाकीर्तनको कलिका नाशक होना सुप्रसिद्ध है। यहाँ पर शिष्टाचारानुसार किसी विशिष्ट देवतादिका नमस्कारादि रूप मङ्गल नहीं किया गया है, किन्तु पूर्वोक्त 'कर्कोटकस्य……' तथा 'पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः। पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः ॥' वचनों के अनुसार नल-कथाके कीर्तनको ही विशिष्ट वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरणरूपमें श्रीहर्षमहाकविने माना है। कुछ विद्वान् इसे अभीष्ट देव रघुनाथजीका सबीज नमस्कारात्मकरूप मङ्गल मानते हैं। इस नैषधचरित महाकाव्यमें धीरललित राजा नल नायक हैं तथा सम्भोग और विप्रलम्भरूप द्विविध श्रृङ्गाररस अङ्ग है और अन्य करुणादि रस उसके अङ्गी हैं] ॥ १ ॥

रसैः कथा यस्य सुधावधीरिणी[1] नलस्य भूजानिरभूद् गुणाद्भुतः ।
सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः ॥ २ ॥

इममेवार्थमन्यथा आह-रसैरिति। यस्य नलस्य कथा रसैः स्वादैः, 'रसो गन्धो रसः स्वाद' इति विश्वः। सुधाम् अवधीरयति तिरस्करोति तथोक्ता अमृतादतिरिच्यमानस्वादेति यावत्, ताच्छील्ये णिनिः। भूर्जाया यस्य स भूजानिः भूपतिरित्यर्थः। 'जायाया निङ्'ति बहुव्रीहौ जायाशब्दस्य निङादेशः। स नलः गुणैः शौर्यदाक्षिण्यादिभिः अद्भुतः लोकातिशयमहिमेत्यर्थः। अभूत्। कथम्भूतः सुवर्णदण्डश्च एकं सितातपत्रञ्च ते कृते द्वन्द्वात् तत्कृताविति ण्यन्तात् कर्म्मणि क्तः। ज्वलत्प्रतापावलिः कीर्त्तिमण्डलञ्च यस्य तथाभूतः। इह कीर्तेः सितातपत्रस्वरूपणं पूर्वोक्तमपि सुवर्णदण्ड-

---

[1] 'सुधावधीरणी' इति पाठान्तरम्।

वैशिष्ट्यात् राज्ञश्च गुणाद्भुतत्वेन वैचित्र्यात् न पुनरुक्तिदोषः। अत्रापि पूर्ववद् व्यतिरेकरूपकयोः संसृष्टिः ॥ २ ॥

जिस (नल) की कथा (शृङ्गारादि नव) रसोंसे (केवल मधुर रसवाले, या—मधुरादि छः रसोंवाले) अमृतको तिरस्कृत करनेवाली है अर्थात् अमृतसे भी श्रेष्ठ है, सुवर्णका दण्ड तथा एक श्वेतच्छत्र बने हुए हैं जलते हुए प्रताप-समूह तथा कीर्ति-समूह जिसके ऐसे (अत एव, शौर्यादि या—सन्धि-विग्रहादि छः) गुणोंसे आश्चर्यकारक वे राजा नल थे। (अथवा—जिसकी कथा-रसोंसे सुधाकी अवधि अमृतकी सीमा अर्थात् श्रेष्ठतम अमृत) को हीन करनेवाली थी। अथवा—जिसकी कथा-रसोंसे सुधावधि अर्थात् अमृतकी सीमा थी। अथवा—जिसकी कथा रसोंसे पुण्यसञ्चारिणी बुद्धिवाली, नित्य रणतत्पर तथा भूस्वामिनी थी, (इन तीनों विशेषणोंसे कथामें मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्ति तथा प्रभुशक्तिका होना सूचित होता है। अथवा—जिसकी कथा 'इ' अर्थात् काम की भूमि अर्थात् अभिलाषोत्पादिनी तथा सुधावधीरणी थी,……। अथवा—वर्णों (ब्राह्मणादि वर्णचतुष्टय) का सुन्दर शासन तथा एक श्वेतच्छत्र बने हैं जलते हुए (तीव्रतम) अर्थात् शत्रुओंको असह्य प्रताप-समूह तथा कीर्ति-समूह जिससे (या-जिसके), ऐसे गुणाद्भुत वे (प्रसिद्धतम) राजा नल थे)। [शृङ्गारादि नव रसोंवाली नल-कथा का एकमात्र मधुर रसवाली (या-मधुरादि षड्रसोंवाली) सुधाको पराजितकर तिरस्कृत करना उचित ही है। प्रतापका तप्तसुवर्णके समान तथा कीर्ति-समूहका श्वेत वर्णन होनेसे यहाँपर उन्हें क्रमशः सुवर्णदण्ड तथा श्वेतच्छत्र बनाया गया है। राजाका सुवर्ण दण्डयुक्त एक श्वेतच्छत्र होनेसे अन्य राजाओंका नलके लिए करदाता होना सूचित होता है। जलते हुए नल-प्रताप-समूहका एक सुवर्णदण्ड बननेपर उस प्रतापसमूहका सङ्कुचित होना ध्वनित होता है, अत एव 'सुवर्णदण्ड' शब्दका ब्राह्मणादि वर्णोंका सुन्दर शासन अर्थ करके परिहार करना उत्तम पक्ष है]॥ २ ॥

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव तत्कथा[1]।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ॥ ३ ॥

सम्प्रति कविः स्वविनयमाविष्करोति पवित्रमिति। अत्र युगे कलौ इति यावत्। यस्य नलस्य कथा स्मृता स्मृतिपथं नीतेत्यर्थः। सती जगल्लोकं रसक्षालनयेव जलक्षालनयेवेत्युत्प्रेक्षा, 'देहधात्वम्बुपारदा' इति रसपर्य्याये विश्वः। पवित्रं विशुद्धम् आतनुते करोति, सा कथा आविलां कलुषामपि सदोषामपीति यावत्, स्वसेविनीमेव केवलं स्वकीर्त्तनपरामेवेति भावः। मद्गिरं मम वाचं कथं न पवित्रयिष्यति ? अपि तु पवित्रां करिष्यत्येवेत्यर्थः। तथा चोक्तं 'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च। ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्त्तनं कलिनाशनम्॥' इति। या स्मृतिमात्रेण शोधनी सा कीर्त्तनात् किमु

---

१. 'यत्कथा' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः।

तेतिकैमुत्यन्यायेनार्थान्तरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः। तदुक्तम्-'एकस्य वस्तुनो भावाद् यत्र वस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया ॥' इति ॥ ३ ॥

जिस (नल) की कथा इस (कलि) युगमें संसारको पवित्र (निर्दोष) करती है, वह नलकथा मलिन भी स्व-सेविनी अर्थात् दोषयुक्त मेरी वाणीको शृङ्गारादि रसोंसे धोये हुए के समान क्यों नहीं पवित्र (दोषहीन, पक्षा०—स्वच्छ) करेगी? अर्थात् अवश्य करेगी। [जिस प्रकार जलसे धोयी हुई कोई वस्तु स्वच्छ एवं निर्दोष हो जाती है, उसी प्रकार नलकथा 'कर्कोटकस्य नागस्य······' इत्यादि वचनोंके अनुसार मलिन भी स्वसेविनी मेरी वाणीको अवश्यमेव निर्दोष करेगी, इसी कारण मैं श्रीहर्षकवि अन्य कथाओंको छोड़कर नल-कथाका ही वर्णन करता हूँ] ॥ ३ ॥

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः ।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतस्स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम् ॥ ४ ॥

अस्य सर्वविद्यापारदर्शित्वमाह—अधीतीति। अयं नलः चतुर्दशसु विद्यासु 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्म्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश'त्युक्तासु अधीतिरध्ययनं गुरुमुखात् श्रवणमित्यर्थः। बोधः, अर्थावगतिः, आचरणं तदर्थानुष्ठानं, प्रचारणम् अध्यापनं शिष्येभ्यः प्रतिपादनमित्यर्थः, तैश्चतुर्भिः उपाधिभिः विशेषणैः आचरणविशेषैरित्यर्थः। 'उपाधिर्धर्म्मचिन्तायां कैतवे च विशेषणे' इति विश्वः। चतस्रो दशाः अवस्थाः प्रणयन् कुर्वन्नित्यर्थः, स्वयं चतस्रो दशा यासां तासां भावः चतुर्दशत्वं 'त्वतलोर्गुणवचनस्ये'ति पुंवद्भावो वक्तव्य, इति स्त्रियाःपुंवद्भावः। 'संज्ञाजातिव्यतिरिक्ताश्च गुणवचना' इति सम्प्रदायः। चतुर्दशसंख्याकत्वं कुतः कस्मात् कृतवान् न वेद्मि न जाने इति स्वतःसिद्धस्य स्वयङ्करणं कथं पिष्टपेषणवदिति चतुर्दशानां चतुरावृत्तौ षट्पञ्चाशत्त्वात् कथं चतुर्दशत्वमिति च विरोधाभासद्वयम्। चतुरवस्थत्वमिति तत्परिहारश्च। तदुक्तम् 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति ॥ ४ ॥

(द्वितीय श्लोकमें नलको 'गुणाद्भुत' कहा गया है, उसीका यहाँ प्रतिपादन करते हैं—) अध्ययन, अर्थज्ञान, तदनुसार आचरण तथा प्रचार अर्थात् ब्राह्मणोंको द्रव्यादि देकर शिष्योंको अध्यापन कराना—इन प्रकारोंसे चार दशाओंको करते हुए इस नलने स्वयं चौदह विद्याओंमें चतुर्दशत्व क्यों किया? यह मैं नहीं जानता। [जो विद्याएँ स्वयं चौदह थीं, उनको चतुर्दशत्व करना पिष्टपेषणके समान निरर्थक है। अथवा चौदह विद्याओं में-से प्रत्येकको अध्ययन, अर्थज्ञान, आचरण तथा प्रचाररूप चार दशाओंसे (१४×४=५६) छप्पन करना चाहिये था, फिर चतुर्दशत्वं अर्थात् चौदह ही क्यों किया? इस प्रकार विरोधद्वयका परिहार 'चौदह विद्याओंको चार दशा (अवस्था) ओं वाली किया' अर्थ द्वारा करना चाहिये। नल चौदहों विद्याओंके अध्यक्ष, ज्ञाता, आचरणकर्ता तथा प्रचारक थे। क्षत्रियको अध्यापनका निषेध होनेसे विद्वान् ब्राह्मणको धनादि देकर शिष्याध्यापन करानेमें दोषाभाव समझना चाहिये] ॥ ४ ॥

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्त्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम् ।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् ॥ ५ ॥

अथास्यापरा अपि चतस्रो विद्याः सन्तीत्याह-अमुष्येति । अमुष्य नलस्य रसनाग्रनर्त्तकी जिह्वाग्रसञ्चारिणीत्यर्थः । विद्या पूर्वोक्ता सूदविद्या चेति गम्यते, रसनाग्रनर्त्तित्वधर्म्मादिति भावः । त्रयीव त्रिवेदीव 'इति वेदास्त्रयस्त्रयी'त्यमरः । अङ्गानां 'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चितिः । ज्यौतिषञ्चेति विज्ञेयं षडङ्गं बुधसत्तमैरि'त्युक्तानां षण्णां मधुराम्लकषायलवणकटुतिक्तानाञ्च रसानां षण्णां गुणेन आवृत्त्या वैशिष्ट्येन च, अथ च अङ्गगुणेन शरीरसामर्थ्येन स्वकीयव्युत्पत्तिविशेषेणेति यावत्, विस्तरं वृद्धिं नीता प्रापिता सती नवानां द्वयं नवद्वयं लक्षणया अष्टादशेत्यर्थः, तेषां द्वीपानां पृथग्भूता जयश्रियः तासां जिगीषया व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा । जेतुमिच्छयेवेत्यर्थः, अष्टादशताम् अगाहत अभजत । पूर्वोक्तासु चतुर्दशसु विद्यासु विशिष्टव्युत्पत्त्या आयुर्वेदादीनामनुशीलनसौकर्य्यात् तत्पारदर्शित्वेन, सूदविद्यापक्षे च षण्णां रसानाम् उल्वणानुल्वणसमतारूपत्रैविध्येन त्रयीपक्षे च एकैकवेदस्य प्रत्येकशः अङ्गानां शिक्षादीनां षाड्विध्यवैशिष्ट्येन चाष्टादशत्वसिद्धिः । प्रागुक्ताश्चतुर्दश विद्याः । 'आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः । अर्थशास्त्रं चतुर्थन्तु विद्या ह्यष्टादश स्मृता' इति । अङ्गविद्यागुणनेन त्रय्या अष्टादशत्वमित्युपाध्याय-विश्वेश्वरभट्टारकव्याख्याने तु अङ्गानि वेदाश्चत्वार इत्याथर्वणस्य पृथग्वेदत्वे त्रयीत्वहानिः । त्रय्यन्तर्भावे तु नाष्टादशत्वसिद्धिरिति चिन्त्यम् । उपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ ५ ॥

इस (नल) के जिह्वाग्रपर सदा नृत्य अर्थात् निवास करनेवाली विद्याने (व्याकरणादि छः) अङ्गोंसे गुणा करनेपर विस्तारको प्राप्त (ऋक्-यजुः-सामवेदरूप) त्रयीके समान मानो अठारह द्वीपोंकी विजयलक्ष्मीको अलग-अलग जीतनेकी इच्छासे अठारह संख्यात्वको प्राप्त कर लिया है । (अथवा—इस नलके रसनाग्रपर नृत्य करनेवाली जो बुद्धि है, वह""""" । अर्थात् इनकी बुद्धिने अठारह संख्यात्वको इस लिए प्राप्त किया है कि मैं अठारह द्वीपोंकी नलकृत जयश्रीको पृथक्-पृथक् जीत लूं । जिस प्रकार कोई नर्तकी शिर -हाथ आदि छः अङ्गों, ग्रीवा-बाहु आदि छः प्रत्यङ्गों तथा भ्रू-नेत्रादि छः उपाङ्गोंसे विस्तारको प्राप्तकर अष्टादश संख्यावाली हो जाती है । अथवा—नलने अठारह द्वीपोंको जीतकर अठारह जयश्रियोंको प्राप्त कर लिया है, अतएव मैं भी अठारह होकर उस नल-जयश्रीको जीत लूं, इस भावनासे इनकी उक्तरूपा विद्याने भी अठारह संख्याको प्राप्त कर लिया । अथवा—नल पाकशास्त्रके महापण्डित थे, अतः इनकी पाकशास्त्र विद्याने 'मधुर-अम्ल-लवण-कटु-कषाय और तिक्त' रूप छः रसोंके न्यून-अधिक और समरूप प्रकार-त्रयसे (६ × ३ = १८) विस्तारको प्राप्तकर अठारह संख्याको प्राप्त कर लिया है, यथा—मधुर द्रव्यमें दूसरे मधुर द्रव्यको न्यूनमात्रामें तिक्त द्रव्यमें अधिक मात्रामें और अम्ल

(खट्टे) द्रव्यमें सममात्रामें प्रक्षेप करनेसे एक मधुर द्रव्यके तीन भेद होते हैं, इसी प्रकार ६ द्रव्योंमें न्यून अधिक और सम मात्रामें द्रव्यान्तर डालनेसे १८ भेद हो जाते हैं । अथवा-टूंड़वाले जौ-गेहूं आदि, फली (छीमी) वाले मटर आदि, घण्टकवाले चना आदि—ये तीन प्रकारके धान्य, भूचर-जलचर तथा खेचर जीवोंके त्रिविध मांस, अम्लादि पूर्वोक्त ६ रस और कन्द-मूल-फल-नाल-पत्र-पुष्परूपमें ६ प्रकारके शाक (३+३+६+६ = १८) इस प्रकारसे विस्त.रको प्राप्तकर पाकशास्त्रके महापण्डित इस नल की रसनाग्रनर्तकी विद्याने अठारह द्वीपोंकी जयलक्ष्मीको पृथक्-पृथक् जीतनेके लिए मानो अठारह संख्याको प्राप्त किया है । अथवा—दूध-दही[1] आदिके अङ्गगुणोंसे विस्तारको प्राप्त, नलकी रसनाग्रनर्तकी पाकशास्त्रविद्याने········। अथवा—द्यूत व्यसनी होने से बहुत बोलने वाले नल की रसनाग्रनर्तकी द्यूतविद्या दुआ-तिआ-चौका-पञ्जा तथा चार उड्डीयक (२+३+४+५+४ = १८) रूप गुणोंसे विस्तारको प्राप्त अठारह द्वीपोंकी जयश्री········। अथवा—त्रयीका उद्धाररूप अथर्ववेद, व्याकरण आदि ६ वेदाङ्ग, गुण अर्थात् आठ अप्रधान पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्र-आयुर्वेद-धनुर्वेद-गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र; तथा ऋक्-यजुः सामवेद (१+६+८+३ = १८) इन अङ्गगुणोंसे विस्तारको प्राप्त इस नलकी जिह्वाग्रनर्तकी विद्या······। पूर्वश्लोकोक्त १४ विद्या तथा आयुर्वेद धनुर्वेद-गान्धर्ववेद और अर्थ शास्त्र (१४+४=१८) ये अठारह विद्याएँ नलके जिह्वाग्रपर सर्वदा निवास करती थीं और इन्होंने अठारहों द्वीपोंको भी जीत लिया था, इस प्रकार नल परस्परविरोधिनी श्री और सरस्वती दोनोंके आश्रय थे] ॥ ५ ॥

दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसभावरोधिनीम् ।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् ॥ ६ ॥

अथास्य देवांशत्वमाह–दिगीशेति । दिशामीशा दिगीशाः दिक्पाला इन्द्रादयः तेषां वृन्दं समूहः तस्य मात्राभिः अंशैः विभूतिरुद्भवः यस्य तथाभूतः । तथा च 'इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च । चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीरि'ति । 'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृप' इति च स्मृतिः । दिशाम् ईशिता ईश्वरः स नलः शास्त्राणि दिशामिति च बहुवचननिर्देशात् इन्द्रादीनामेकैकदिगीशत्वम् अस्य तु सर्वदिगीशितृत्वमिति व्यतिरेको व्यज्यते । कामम् इच्छां मदनञ्च मदनस्य प्रसभेन बलात् अवरुणद्धीति तथोक्तां स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवारिणीं कन्दर्पदहनकारिणीञ्चेत्यर्थः । कामप्रसरावरोधिनीमिति पाठे कामस्य प्रसरः विस्तारः वृद्धिरिति यावत् तमवरुणद्धीति तथैवार्थः । निजम् आत्मीयं यत् त्रिनेत्रावत-

---

[1] तदुक्तम्—'दुग्धं दधि नवनीतं घोलवने तक्रमस्तुयुगम् ।
मध्वाटविकहविष्यं विदलान्नञ्चेति विज्ञेयम् ॥
कन्दो मूलं शाखा पुष्पं पत्रं फलञ्चेति ।
अष्टादशकं मांसं भक्ष्याण्युक्तानि गिरिसुतया ॥' इति ।

रत्वं दिगीशेश्वरांशप्रभवत्वं तस्य बोधिकां ज्ञापिकाम् अत्र 'तृजकाभ्यां कर्त्तरी' कृद्योगसमासस्यैव निषेधात् शेषषष्ठीसमासः 'तत्प्रयोजक' इत्यादि सूत्रकार योगदर्शनादिति बोध्यम् । द्व्याधिकां तृतीयामित्यर्थः, दृशं नेत्रं बभ दध्रे । एतेन अस्य शास्त्रेणैव कार्य्यंदर्शित्वं व्यज्यते । शास्त्राणि दृशमि उद्देश्यविधेयरूपकमंद्वयम् । अवतरेत्यत्राप्प्रत्ययान्तेन तरशब्देन 'सुप् सुपे'ति समासः, न तूपसृष्टात् प्रत्ययोत्पत्तिः । अत्र शास्त्राणि दृशमिति व्यस्त पकम् ॥ ६ ॥

(इन्द्रादि) दिक्पाल-समूहके अंशसे विभूतिवाले तथा आठ दिशाओंके स्वामी नलने काम (कामदेव, पक्षा०—इच्छा) की प्रबलताको रोकनेवाले तथा अपनेको त्रिने शिवके अवतारका बोध करानेवाले दो से अधिक शास्त्ररूप तृतीय नेत्रको धारण किया [राजा नल सम्पूर्ण दिशाओंके शासक थे और इन्द्रादि दिक्पाल १-१ दिशाके ही शास थे, अत एव इन्द्रादिमें इस नलकी विभूति थी, अथवा—वचन[1]के अनुसार राजा नल समस दिक्पालों के अंशसे ऐश्वर्यवान् थे, ऐसे वे शास्त्ररूप तृतीय नेत्रको ग्रहणकर इच्छाकी प्रबलता अर्थात् मनको शास्त्रविरुद्ध कार्यमें प्रवृत्त होनेसे वैसे रोकते थे, जैसे त्रिनेत्र शङ्क भगवान्ने तृतीयनेत्रसे कामदेवकी प्रबलताको रोका था । इस प्रकार नल शास्त्रज्ञानद्वार कामप्राबल्यको रोककर अपनेको शङ्करका अवतार बतला रहे थे । नल शास्त्रज्ञ होने शास्त्रविरुद्ध कार्य करनेसे अपनी इच्छाको सर्वदा रोके रहते थे] ॥ ६ ॥

पदैश्चतुर्भिस्सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे ? ।
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन् दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम् ॥७॥

अथास्य प्रभावं दर्शयति—पदैरिति । अमुना नलेन कृते सत्ययुगे सुकृते धर्मे वृष रूपत्वात् चतुर्भिः पदैः चरणैः—'तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते । द्वापरे यज्ञ मेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे' इत्युक्तचतुर्विधैरिति भावः, स्थिरीकृते निश्चलीकृते इ यावत्, के जनाः तपः चान्द्रायणादिरूपं कठिनं व्रतं का कथा ज्ञानादीनामिति भाव न प्रपेदिरे ? अपि तु सर्वं एव तपश्चेरुरित्यर्थः । यत् यतः अधर्मोऽपि का कथा अन्ये षामित्यपिशब्दार्थः, कृशः दुर्बलः सन् एकया अङ्घ्रेश्चरणस्य कनिष्ठया कनिष्ठयाऽङ्गु ल्येत्यर्थः, भुवं स्पृशन् कृतेऽपि अधर्मस्य लेशतः सम्भवादंशेनेति भावः । तपस्विता तापसत्वं दीनत्वञ्च 'मुनिदीनौ तपस्विनावि'ति विश्वः । दधौ धारयामास । अस्य शासनादधर्मोऽपि धर्मेषु आसक्तोऽभूत् । किमुत अन्य इति कैमुत्यन्यायादर्थान्तरा पत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः, अधर्मोऽपि धार्मिक इति विरोधश्चेत्यनयोः संसृष्टिः ॥ ७ ॥

---

[1] तदुक्तम्—'सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च ।
अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥' इति (मनु० ५।९६)

इस (नल) के द्वारा सत्ययुगमें (सत्य, अचौर्य, शम, दम रूप, या—तप, दान, यज्ञ, ज्ञानरूप) चार चरणोंसे पुण्यके स्थिर किये जाने पर किसने तपश्चर्या को ग्रहण नहीं किया ? अर्थात् सभीने तपश्चर्याको ग्रहण किया। (अधिक क्या ?) जो एक पैर पर स्थित होकर, अथवा—एक पैरकी कनिष्ठा (सबसे छोटी) अङ्गुलिसे पृथ्वीको स्पर्श करता हुआ (अतएव) दुर्बल अधर्म भी तपस्विताको ग्रहण किया अर्थात् तपस्वी हो गया। [सत्ययुगमें उत्पन्न राजा नलने पुण्यको चारो चरणोंसे स्थिर कर दिया था, अतः उस समय सभी लोग तपश्चर्यामें संलग्न थे। यही नहीं, किन्तु धर्मविरोधी अधर्म भी एक चरणसे पृथ्वीपर वास करता हुआ अतिशय दुर्बल होकर तपस्वी बन गया था। यहां पर सत्ययुगमें धर्मकी स्थिति चारो चरणोंसे रहनेपर भी अधर्मकी स्थिति एक चरणसे रहती है, और वह अधर्म अत्यन्त क्षीण रहता है। लोकमें भी कोई तपस्वी एक चरणसे, या—एक चरणकी कनिष्ठा अंगुलिसे पृथ्वीका स्पर्श करता हुआ तपश्चर्या करता है तो वह अत्यन्त दुर्बल हो जाता है। 'अवश्यम्भाविभावानां प्रतिकारो भवेद्यदि। प्रतिकुर्युर्न किं नूनं नलरामयुधिष्ठिराः ॥' इस वचनमें सत्ययुगादिक्रमसे नल, रामचन्द्र तथा युधिष्ठिर का वर्णन होनेसे नलकी स्थिति सत्ययुगमें ही सिद्ध होती है, तथापि कतिपय विद्वान् उनकी स्थिति त्रेतायुगमें मानते हैं, तदनुसार इस श्लोकका अर्थ ऐसा करना चाहिये—इस नल के द्वारा त्रेतायुगमें भी सुकृति अर्थात् धर्मके चार चरणों द्वारा स्थिर किये जानेपर······। अथवा—त्रेतायुगमें भी चार चरणोंसे स्थिरकर धर्मके सत्ययुग किये जानेपर अर्थात् त्रेतायुगमें भी सत्ययुगके समान धर्मकी स्थिरता करने पर······। प्रथम अर्थ पक्षमें 'सुकृति' शब्दके षष्ठीमें 'सुकृतेः' पाठ मानकर 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' वार्तिकसे विसर्गका पाक्षिक लोप करने पर भी उक्त अर्थकी तथा 'सुकृते, स्थिरीकृते' ऐसे सप्तम्यन्त श्लेषकी अनुपपत्ति होनेसे उक्त अर्थके लिये जो 'प्रकाश' कारने 'सुकृतेः' ऐसा सविसर्ग पाठ माना है, वह चिन्त्य है] ॥७॥

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ॥ ८ ॥

अथास्य सप्तभिः प्रतापं वर्णयति—यदित्यादिभिः। अस्य नलस्य यात्रासु जैत्रयानेषु बलोद्धतं सैन्योत्क्षिप्तं स्फुरतः ज्वलतः प्रतापानलस्य यो धूमः तस्येव मञ्जिमा मनोहारित्वं यस्य तथोक्तं 'सप्तम्युपमाने'त्यादिना बहुव्रीहिः। मञ्जुशब्दादिमनिच्प्रत्ययः। यत् रजः धूलिः, तदेव गत्वा उत्क्षेपवेगादिति भावः। सुधाम्बुधौ क्षीरनिधौ पतितम्, अतएव पङ्कीभवत् सत् विधौ चन्द्रे तद्वासिनीति भावः। अङ्कतां कलङ्कत्वं दधाति। अत्रापि व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा तथा च कलङ्कत्वं दधातीवेत्यर्थः ॥ ८ ॥

इस (नल) की (दिग्विजय-सम्बन्धिनी) यात्राओंमें, दीप्यमान प्रतापाग्निके धूएँके समान सुन्दर और वहांसे जाकर अमृत-समुद्र अर्थात् क्षीरसागरमें गिरी हुई एवं (गिरनेसे) कीचड़ होती हुई, सेनासे उड़ी हुई धूल चन्द्रमामें कलङ्क हो रही है। (अथवा—अमृतके

समुद्र चन्द्रमामें कलङ्क हो रहा है)। [जब राजा नल दिग्विजयके लिए सेना लेकर यात्र करते हैं, तब इनकी सेनासे जो धूल उड़ती है, वही क्षीरसमुद्रमें गिरकर कीचड़ बन जाती है और वहांसे उत्पन्न चन्द्रमामें कीचड़ लग जानेसे वही कलङ्करूपसे प्रतीत होती है। इस राजा नलकी सेनाका अत्यधिक होना तथा समुद्र पर्यन्त विजयी होना सूचित होता है] ॥८

स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्धनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे ।
निजस्य तेजश्शिखिनः परश्शता वितेनुरङ्गारमिवायशः परे ॥ ९ ॥

स्फुरदिति । सङ्गरे युद्धे शतात् परे परश्शताः शताधिका इत्यर्थः, बहव इति त यावत् , पञ्चमीति योगविभागात् समासः, राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य परनिपातः पारस्करादित्वात् सुडागमश्च । परे शत्रवः स्फुरन्तौ प्रसरन्तौ धनुर्निस्वनौ चापघोषौ इन्द्रचापगर्जिते यस्य यत्र वा तथोक्तः स नल एव घनः मेघः तस्य आशुगानां शराणाम् अन्यत्रआशुगा वेगगामिनी, यद्वा आशुगेन वेगगामिना वायुना या प्रगल्भा महती वृष्टिः 'आशुगौ वायुविशिखावि'त्यमरः । तया व्ययितस्य निर्वापितस्य विप् र्वादयतेः कर्म्मणि क्तः । निजस्य तेजःशिखिनः प्रतापाग्नेः अङ्गारमिव अयशः अप कीर्त्तिं वितेनुः विस्तारितवन्तः । पराजिता इति भावः । अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गि भावः सङ्करः ॥ ९ ॥

शताधिक शत्रुओंने युद्धमें प्रकाशमान धनुषके टङ्कारवाले (या—······टङ्कारको विस्तृत करनेवाले) उस नलके अत्यधिक बाणोंकी असह्य वर्षासे बुझी हुई अपने (शत्रुओंके तेजरूप अग्निके अङ्गारके समान अयशको फैला दिया । [नल युद्धमें प्रकाशमान धनुषक टङ्कार करते हुए मेघके समान बाणोंको बरसाते थे, उस बाणवृष्टिसे शताधिक नल शत्रुओंकी प्रतापाग्नि बुझ गयी और उनके कृष्णवर्ण अङ्गारके समान अयश फैल गये। अत्यधिक वृष्टिसे अग्निका बुझना और सर्वत्र उसके काले-काले अङ्गारोंका फैलना उचित ही है । नलने युद्धमें शताधिक शत्रुओंको जीतकर उनके प्रतापाग्निको बुझा दिया था] ॥९

अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैर्निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद् भुवः ।
प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघः ॥ १० ॥

अनल्पेति । राज्ञः प्रतिपक्षानिति भावः, हन्तीति राजघः शत्रुघातीत्यर्थः । 'राजघ उपसंख्यानमि'ति निपातः । स नलः अनल्पं दग्धानि अरिपुराणि शत्रुराष्ट्राणि यैः तथोक्ताः अनलवत् उज्ज्वलाः तैः निजप्रतापैः कोषदण्डसमुत्थतेजोभिः 'स प्रतापः प्रभा वश्च यत्तेजः कोषदण्डजमि'त्यमरः । ज्वलत् दीप्यमानं भुवः वलयं भूमण्डलं प्रदक्षि णीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्रम्य क्रमेण सर्वंदिग्विजेतृत्वादिति भावः । जयाय सृष्टया सर्व भूजयनिमित्तं कृतयेत्यर्थः,पुरोहितैरिति शेषः । नीराजनया आरार्तिक्या रराज शुशुभे दिशो विजित्य प्रत्यावृत्तं विजिगीषुं स्वपुरोहिताः मङ्गलसंविधानाय नीराजयन्तीति प्रसिद्धिः । केचित्तु निजप्रतापैरिव जयाय सृष्टया जयार्थंयेवेत्यर्थः । नीराजनया आरा

तिकया ज्वलत् दीप्यमानं भुवो वलयं भूचक्रं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्राम्य रराज । अत्र ज्वलत्प्रतापानलो नानादिग्जैत्रयात्रायां प्राच्यादिप्रादक्षिण्येन भूमण्डलं परिभ्रमन् निजप्रतापनीराजनया भूदेवतां नीराजयन्निव रराजेत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाद्यप्रयोगाद्गम्या । इति व्याचक्षते । तन्न समीचीनम्, निजप्रतापैरित्यस्य नीराजनयेत्यनेन सामानाधिकरण्यासङ्गतेरिति ॥ १० ॥

(क्षुद्र प्राणियोंको नहीं, किन्तु महाप्रतापी एवं शूरवीर) राजाओंको मारनेवाले तथा बहुतसे जलाये गये शत्रुनगरोंवाली अग्निके समान प्रकाशमान अपने प्रतापोंसे प्रकाशमान भूमण्डलकी प्रदक्षिणाकर स्थित वे (नल[1]) विजयके लिये (पुरोहितोंके द्वारा) की गयी नीराजना अर्थात् आरतीसे शोभते थे । अथवा—उक्तरूप अपने प्रतापोंसे मानों विजयके लिए रचित आरती (पक्षा०—नीराजना = राजाओंका अभाव अर्थात् नाश करने) से प्रकाशमान भूमण्डलकी प्रदक्षिणाकर शोभते थे । अथवा—'प्रदक्षिणी, कृती, अजया, आय = प्रदक्षिणी कृत्यजयाय' ऐसा पदच्छेदकर अधिक दक्षिणाशील, अनुचरोंवाले कृतकर्मा, विपक्षराजहन्ता वे नल लक्ष्मीके द्वारा विष्णुके लिए रचित आरतीसे शोभित होते थे, शेष अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये । इस पक्षमें नलके अनुचर प्रदक्षिण (अधिक दक्षिणा देनेवाले अर्थात् वदान्य) थे और नल उनसे युक्त होनेसे 'प्रदक्षिणी' (वदान्यतम अर्थात् अत्यधिक दानशील) थे । अथवा—अधिक दक्षिणावाले ज्योतिष्टोमादि यज्ञकर्ता होनेसे नल 'प्रदक्षिणी' थे । राजाको सर्वदेवांशभूत होनेके कारण विष्णुरूप भी होनेसे लक्ष्मीके द्वारा आरती करना उचित ही है] ॥ १० ॥

निवारितास्तेन महीतलेऽखिले निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः ।
न तत्यजुर्नूनमनन्यसंश्रयाः प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः ॥ ११ ॥

निवारिता इति । तेन नलेन अखिले समग्रे महीतले न सन्ति ईतयः अतिवृष्ट्यादयः यत्र तत् निरीति, तस्य भावः तम् ईतिराहित्यमित्यर्थः । ईतयश्चोक्ता यथा—'अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषिकाः खगाः । प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः' ॥ इति । गमिते प्रापिते सति निवारिताः स्वराष्ट्रात् निराकृता इत्यर्थः । अतिवृष्टयः नास्ति अन्यः संश्रयः आश्रयः यासां तथाभूताः सत्यः प्रतीपभूपालानां प्रतिपक्षनृपतीनां या मृगीदृशः मृगनयनाः कान्ताः तासां दृशः नयनानि न तत्यजुः । नूनं मन्ये इत्यर्थः । उत्प्रेक्षावाचकमिदं, तदुक्तं दर्पणे 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः । उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इवशब्दोऽपि तादृश' इति । नलनिहतभर्तृका राजपत्न्यः सततं रुरुदुरिति भावः ॥ ११ ॥

(अतिवृष्टि आदि छः) ईतियोंसे रहित सम्पूर्ण भूतलपर उस (नल) के द्वारा रोकी

---

[1] दिग्विजय करते हुए भूमण्डलकी प्रदक्षिणाकर लौटे हुए विजयी नल पुरोहितोंके आरती करनेसे शोभित होते थे ।

गयी अतिवृष्टियोंने मानों अन्यत्र आश्रय नहीं पाकर शत्रुभूत राजाओंको मृगनयनि दृष्टियों (नेत्रों) को नहीं छोड़ा । [राजा नलके राज्यमें कहीं भी अतिवृष्टि आदि नहीं होती थी, अत एव पृथ्वीपर कहीं भी आश्रय नहीं मिलनेसे उन्होंने शत्रु रानियोंके नेत्रका आश्रय लिया अर्थात् नलने शत्रुओंको मारा, अत एव उनकी बहुत रोती थीं । लोकमें भी किसीके द्वारा निकाला गया कोई व्यक्ति उसके शत्रुके जाकर आश्रय पाता है, तथा अतिवृष्टिरूप स्त्रियोंके लिए मृगनयनियोंकी दृष्टि स्त्रियोंके पास आश्रय पाना उचित ही है] ॥ ११ ॥

सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्महासिवेम्नस्सहकृत्वरी बहुम् ।
दिगङ्गनाङ्गाभरणं रणाङ्गणे यशःपटं तद्भटचातुरी तुरी ॥ १२॥

सितांश्विति । महान् असिरेव वेमा वायदण्डः 'पुंसि वेमा वायदण्ड' इत्यमरः तस्य सहकृत्वरी सहकारिणी 'सहे चे'ति करोतेः क्वनिप्प्रत्ययः । 'वनोर चे'ति रश्च । तस्य नलस्य भटानां सैनिकानां यद्वा स नल एव भटः वीरः तस्य चातु चतुरता नैपुण्यमिति यावत् एव तुरी वयनसाधनं वस्तुविशेष इत्यर्थः । 'माकु' इ प्रसिद्धा, रण एव अङ्गनं चत्वरं तस्मिन् सितांशुवर्णैः शुभ्रैरित्यर्थः, तस्य नल गुणैः शौर्यादिभिः तन्तुभिश्च दिश एव अङ्गनाः तासाम् अङ्गाभरणम् अङ्गभूषणम् 'अङ्गावरणमि'ति पाठे अङ्गाच्छादनं बहु यश एव पटः वसनं तं वयति स्म तता साङ्गरूपकमलङ्कारः । संग्रामे तथा नैपुण्यमनेन प्रकटितं यथा तेन सर्वा दि यशसा प्रपूरिता इति भावः ॥ १० ॥

उस (नल) के योद्धाओंकी (या—उस प्रसिद्ध नलके योद्धाओंकी) चतुरतारूपि तथा विशाल तलवाररूपिणी वेमाका साथ करनेवाली तुरी संग्रामाङ्गणमें चन्द्रवत् स्वच् नलके गुणों (पक्षा०—सूतों) से दिशारूपिणी स्त्रियोंको ढकनेवाले यशोरूपी बड़े क को बुनती थी । [नलके योद्धाओंकी चतुरतासे संग्राममें तलवारोंके प्रहारसे शत्रु मर थे तो नलका यश दिगन्ततक फैलता था] ॥ १२ ॥

प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता ।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद्विचारदृक्चारदृगप्यवर्तत ॥ १३ ॥

प्रतीपेति । प्रतीपाः प्रतिकूलाः भूपा राजानः तैः विरुद्धधर्मैः असमानाधिकरण धर्मैः विपरीतवृत्तिभिरित्यर्थः, अपि ततः नलात् भिया भयेनेव हेतुना भेत्तृता स्वाश्र भेदकत्वं परोपजाप इत्यर्थः । उज्झिता त्यक्ता किम् ? यत् यस्मात् स नलः ओज तेजसा अमित्रान् शत्रून् जयतीति तथोक्तः मित्रं सूर्य्यं जयतीति तथाभूतः । अत्र खलु अमित्रजित् स कथं मित्रजिदिति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः । त विचारेण पश्यतीति विचारदृक् चारैः गूढपुरुषैः पश्यतीति चारदृक् । 'राजानश्चारच इति, 'चारैः पश्यन्ति राजान' इति च नीतिशास्त्रम् । अत्रापि यो विचारदृक् स

चारदृग् भवतीति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः। अवर्त्तत आसीत्। अपिर्वि-रोधे। सूर्य्यतेजसं चारदृशञ्च नलं ज्ञात्वा शत्रवो भयात् परस्परोपजापादिवैरभावं तत्यजुरिति भावः। अत्र विरोधोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावः ॥ १३ ॥

विरोधी राजाओं के समान परस्पर विरोधी स्वभावोंने भी उस नलके भयसे भेदभाव को छोड़ दिया क्या ?। जो नल अमित्रजित (शत्रुओंको जीतनेवाले) होकर भी मित्रजित (मित्रोंको जीतनेवाले, विरोध परिहार पक्षमें—अपने प्रतापसे सूर्यको जीतनेवाले) थे तथा चारदृक् (गुप्तचरोंके) द्वारा (कार्यकलापको देखनेवाले) होकर भी विचारदृक् गुप्तचरोंके द्वारा नहीं देखनेवाले, विरोध परिहार पक्षमें—विचारसे देखनेवाले अर्थात विचारपूर्वक कार्य करनेवाले) थे। [जो नल मित्रजित थे, उनका अमित्रजित (मित्रजित नहीं) होना तथा जो चारदृक् थे, उनका विचारदृक् (चारदृक् नहीं) होना अर्थ करके विरोध आता है; अतः उसका परिहार 'जो नल प्रभावसे सूर्यको जीतनेवाले थे, वे शत्रुओंको भी जीतनेवाले थे और जो चारदृक् (दूतोंके द्वारा कार्योंको देखनेवाले) थे, वे विचारदृक् (विचारपूर्वक कार्योंको देखनेवाले) थे, अर्थ के द्वारा करना चाहिये] ॥ १३ ॥

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥ १४ ॥

तदिति। तस्य नलस्य ओजः तेजः प्रताप इत्यर्थः, तस्य तथा तस्य नलस्य यशः तस्य स्थितौ सत्तायाम् इमौ भानुविधू वृथा निरर्थकौ इति चित्ते यदा यदा कुरुते विवेचयतीत्यर्थः, विधिः तदा तदा परिवेषः परिधिः 'परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले' इत्यमरः। एव कैतवं छन्नं तस्मात् भानोः सूर्यस्य विधोरपि चन्द्रस्य च कुण्डलनां अतिरिक्ततासूचकवेष्टनमित्यर्थः, करोति अधिकाक्षरवर्जनार्थं लेखकादिवदिति भावः। विजितचन्द्रार्कौ अस्य कीर्त्तिप्रतापौ इति तात्पर्य्यम्। अत्र प्रकृतस्य परिवेषस्य प्रतिषेधेन अप्रकृतस्य कुण्डलनस्य स्थापनात् अपह्नुतिरलङ्कारः, तदुक्तं दर्पणे 'प्रकृतं प्रतिषिद्ध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुति'रिति। प्राचीनास्तु परिवेषमिषेण सूर्य्याचन्द्रमसोः कुण्डलनोत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षा। सा च गम्या व्यञ्जकाप्रयोगादित्याहुः ॥ १४ ॥

'उस नलके प्रताप तथा यशके रहनेपर ये दोनों (सूर्य तथा चन्द्रमा) व्यर्थ हैं, इस प्रकार ब्रह्मा मनमें जब–जब विचारते हैं, तब–तब सूर्य तथा चन्द्रमाके परिवेष (कभी–कभी सूर्य तथा चन्द्रमामें दृष्टिगोचर होनेवाला गोलाकार घेरा) के छलसे (व्यर्थता–सूचक) कुण्डलना बना देते हैं। [लोकमें भी कोई व्यर्थ वस्तु लिखी जाती है तो उसको चारों ओरसे घेर देते हैं। नलके प्रताप तथा यशको सूर्य–चन्द्राधिक समझकर सृष्टिकर्ता ब्रह्माको, सूर्य–चन्द्रको घेरकर व्यर्थ माननेकी उत्प्रेक्षा की गयी है] ॥ १४ ॥

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्।
मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपः ॥ १५ ॥

अस्य वदान्यतां द्वाभ्यां वर्णयति-अयमिति, विभज्येति चाअल्पितः अल्पीकृ
निर्जित इति यावत्,दानशौण्डत्वादिति भावः, कल्पपादपः कल्पतरुः वाञ्छितफल
वृत्त इति यावत्, येन तथाभूतः स नृपः दारिद्र्यस्य अभावस्य निर्धनत्वस्य
यावत्, दरिद्रताम् अभावमिति यावत्, प्रणीय कृत्वा दरिद्रेभ्यः प्रभूतधनदा
तेषां दारिद्र्यम् अपनीयेति भावः। अयं दरिद्रः अभाववानिति यावत्, भवि
इति अर्थिजनस्य याचकजनस्य ललाटे जाग्रतीं दीप्यमानामिति यावत्, वेधस
वैधसी तां लिपिं मृषा मिथ्या न चक्रे न कृतवान्। विधातुर्लिपौ सामान्यतः दरि
शब्दस्य स्थितौ दरिद्रशब्दस्य यथायथं धनदरिद्रः, पापदरिद्रः, ज्ञानदरिद्र इत्या
प्रयोगदर्शनात् अभावमात्रबोधकत्वमङ्गीकृत्य राजा दरिद्राणां धनाभावरूपं दा
द्र्यमपाचकार इति निष्कर्षः ॥ १५ ॥

(अब नलकी दानवीरताका वर्णन करते हैं) 'यह दरिद्र होगा' इस प्रकार याच
लोगोंके ललाटमें लिखे गये ब्रह्माक्षरको, (याचनासे भी अधिक दान देनेके कारण) क
वृक्षको भी तुच्छ करनेवाले राजा नलने उन याचकोंकी दरिद्रताकी दरिद्रता करके व्य
नहीं किया, (अथवा—व्यर्थ नहीं किया ? अर्थात् व्यर्थ कर ही दिया)। [राजा न
याचककी अभिलाषासे भी अधिक दान देनेवाले थे, अत एव उनके राज्यमें कोई
दरिद्र नहीं था] ॥ १५ ॥

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः ।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराश्शिरस्स्थितम् ॥ १६।

विभज्येति। मेरुः हेमाद्रिःविभज्य विभक्तीकृत्य अर्थिसात् अर्थिभ्यो देयः न कृत
अर्थिने देयमिति 'देये त्रा चे'ति सातिप्रत्ययः। सिन्धुः समुद्रः उत्सर्गजलानां व्य
दानाम्बुप्रक्षेपैः मरुः निर्जलदेशः न कृतः इति यत् तत् तस्मात् तेन नलेन द्विफा
बद्धाःद्वयोः फालयोःशिरःपार्श्वयोः बद्धा रचिता इति यावत्, फलतेर्विशरणार्थे अप्प्रत
यः। विलासिनां पुंसां सीमन्तितशिरोरुहत्वात् चिकुराणां द्विफालबद्धत्वमिति भाव
द्विधा विभक्ता इति यावत्। चिकुराः केशाः 'चिकुरः कुन्तलो वालः कचः केशः शिरो
रुह' इत्यमरः। शिरःस्थितं मस्तकधृतमिति भावः, निजं स्वीयम् अयशोयुगम् अपकी
र्त्तिद्वयं पूर्वोक्तमेरुविभागसिन्धुजलव्ययाकरणजनितमिति भावः। अमानि केशरूपे
द्विधास्थितं स्वशिरसि अयशोयुगमेव तिष्ठति इति अमन्यत इत्यर्थः। अयश
पापरूपत्वात् कृष्णवर्णत्वेन वर्णनं कविसमयसिद्धम् 'तथा च मालिन्यं व्योम्नि पा
इत्यादि। उद्देश्यविधेयरूपं कर्मद्वयम्। केशेषु कार्ष्ण्यसाम्यात् अयशोरूपणमि
व्यस्तरूपकम् ॥ १६ ॥

(प्रकारान्तरसे अधिक दानवीरताका पुनः वर्णन करते हैं— । 'जो मैंने सुमे
पर्वतको विभक्तकर याचकोंके लिए नहीं दे दिया और दानके सङ्कल्पजलसे समुद्रको म

स्थल नहीं बना दिया!' इस प्रकारके दोनों ओरके काकपक्ष (बँधे हुए केशकलाप) रूप मेरे दो अपयश शिरपर स्थित हैं ऐसा उस नलने माना। [अपयशका काला एवं शिर पर स्थित होना लोकप्रसिद्ध है। दो काकपक्षको उक्तरूप दो अपयश होनेकी कल्पना की गयी है]॥ १६॥

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा[1] समं मुदैव देवः कविना बुधेन च।
दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने॥ १७॥

अस्य विद्वज्जनसम्माननामाह—अजस्रमिति। दिनेश्वरस्येव श्रीर्यस्य, अन्यत्र दिने ईश्वरस्येव श्रीः यस्य तथाभूतः पटीयान् समर्थतरः अयं देवो राजा सूर्य्यश्च 'देवः सूर्य्ये यमे राज्ञी'ति विश्वः। अजस्रं सततम् अभ्यासं सान्निध्यम् उपेयुषा प्राप्तवता सहचारिणा इति यावत्, 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चे'ति निपातः। कविना काव्यशास्त्रविदा पण्डितेन शुक्रेण च बुधेन विदुषा धर्म्मशास्त्रादिदर्शिनेति भावः, सौम्येन च समं सह मुदैव आनन्देनैव न तु दुःखेनेत्येवकारार्थः। समयं नयन् अतिवाहयन् दिने दिने प्रतिदिनम् उदयम् अभ्युन्नतिम् आविर्भावञ्च दधौ धारयामास। अत्र श्लेषालङ्कारः॥ १७॥

बुद्धिमान्, सूर्यतुल्य तेजस्वी राजा नल निरन्तर अभ्यास करनेवाले कवि तथा पण्डित (काव्यरचयिता तथा व्याकरणज्ञाता) के साथ हर्षपूर्वक समयको व्यतीत करते हुए प्रतिदिन समृद्धिको उस प्रकार प्राप्त कर रहे थे, जिस प्रकार निरन्तर समीपमें स्थित शुक्र तथा बुध नामक ग्रहद्वयके साथ समयको व्यतीत करते हुए तेजस्वी सूर्य प्रतिदिन उदयको प्राप्त करते हैं। [सूर्यके समीपमें शुक्र तथा बुध ग्रहका सर्वदा रहना ज्योतिःशास्त्र में वर्णित है]॥ १७॥

अधो विधानात् कमलप्रवालयोश्शिरस्सु धानादखिलक्षमाभुजाम्।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया॥ १८॥

अध इति। कमलप्रवालयोः पद्मपल्लवयोः कर्म्मभूतयोः अधोविधानात् अधःकरणात् न्यक्करणादिति यावत्। तथा अखिलानां सर्वेषां क्षमाभुजां प्रतिकूलवर्त्तिनां राज्ञां शिरःसु दानात् विधानात् इदम् अस्य नलस्य पदम् ऊर्ध्वम् उत्कृष्टम् ऊर्ध्वस्थितञ्च पुरा भवति भविष्यतीत्यर्थः। 'यावत् पुरा निपातयोर्लट्' इति पुराशब्दयोगात् भविष्यदर्थे लट्। इति इदं मत्वा इति शेषः, गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः। वेधसा विधात्रा कर्त्रा ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं चिह्नितं किम्? 'ऊद्र्ध्वरेखाङ्कितपदः सर्वोत्कर्षं भजेत् पुमानि'ति सामुद्रिकाः। सौन्दर्य्यसुलक्षणाभ्यां युक्तमस्य पदमिति भावः॥ १८॥

(अब सामुद्रिक लक्षणका वर्णन करते हैं—) 'यह (नल चरण) कमल तथा प्रवाल (मूंगा, या नवपल्लव) को नीचा करनेसे और समस्त राजाओंके शिरपर रखे जानेसे

---

[1] '—मभ्याश—' इति पाठान्तरम्।

ऊपर (उन्नत) होगा' यह विचारकर ब्रह्माने इस (नल) के चरणको (जन्मकालसे पहले ऊर्ध्वगामिनी रेखासे चिह्नित कर दिया है क्या ? (अथवा—'''पहले ऊपर हो यह विचारकर''''')। [नलके चरणमें सामुद्रिक लक्षणके अनुसार शुभसूचक ऊपर ओर जाने वाली रेखाएँ थीं] ॥ १८ ॥

जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवान् शैशवशेषवानयम् ।
सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनं वपुस्तथालिङ्गदथास्य यौवनम् ॥१९

अथ अस्य यौवनागमं क्रमेण वर्णयति–जगदित्यादिभिः । अयं नलः शैशवशे वान् ईषदवशिष्टशैशव एवेत्यर्थः । जगतां जयं तेन च जयेनेत्यर्थः । कोषं धनजा तम् अक्षयं प्रणीतवान् कृतवान् । अथानन्तरं रतीशस्य कामस्य सखा ऋतुः वसन्त इत्यर्थः, वनं यथा यौवनम् अस्य नलस्य वपुः शरीरं तथा आलिङ्गत् संश्लिष्टवत् उपमालङ्कारः ॥ १९ ॥

(अथ यौवनावस्थाके आरम्भ होनेका वर्णन करते हैं—) बाल्यावस्था शेष (समाप्त है जिसकी ऐसे अर्थात् सोलह वर्षकी अवस्थावाले इस नलने संसारके विजय तथा उस कोष (खजाने) को अक्षय कर दिया, अनन्तर इनके शरीरको युवावस्थाने इस प्रका प्राप्त किया, जिस प्रकार वनको कामदेवका मित्र अर्थात् वसन्त ऋतु प्राप्त करता है (बाल्यावस्था पूरा होते–होते ही नलने संसार पर विजय प्राप्तकर राज्यको निःसप बना लिया तथा उस विजयसे कोषको भी भरपूर कर लिया, वास्तविकमें जगद्विजय करन ही इनका मुख्य लक्ष्य था, कोषपूर्ति करना तो आनुषङ्गिक कार्य था; क्योंकि इनक दानवीरता तथा कोषका भरपूर रहना पहले ही कहा जा चुका है। युवावस्थाके आरम्भ होनेसे शरीर–सौन्दर्यकी वृद्धि होना सूचित होता है) ॥ १९ ॥

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे ? ।
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः ॥ २० ॥

अधारीति । तस्य नलस्य अङ्घ्रिणा चरणेन पद्मेषु घृणा अवज्ञा 'घृणा जुगुप्सा कृपयोरि'ति विश्वः । अधारि धृता । पल्लवे नवकिसलये तस्य नलस्य शयः पाणिः 'पञ्च शाखः शयः पाणि'रित्यमरः । तस्य छाया तच्छयच्छायं 'विभाषे'त्यादिना समास छायाया नपुंसकत्वम् । तस्य लवो लेशोऽपि क्व ? नैव लेशोऽस्तीत्यर्थः । शरदि भव शारदः शरत्कालीन इत्यर्थः । सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्प्रत्ययः । पर्वणि पौर्णमास भवः पार्विकः । 'पार्वणे'ति पाठान्तरं कालाट्ठञस्तद्धित इति टिलोपः । स च अत शर्वरीश्वरश्चेति तथोक्तः पूर्णचन्द्र इत्यर्थः । तस्य नलस्य यत् आस्यं मुखं तस्य दास कैङ्कर्येऽपि अधिकारितां योग्यतां न गतः न प्राप्तः । एतेनास्य पाणिपादवदनानाम् नौपम्यं व्यज्यते । अत्र अङ्घ्र्यादीनां पद्मादिषु घृणाद्यसम्भवेऽपि सम्बन्धोक्तेः अति शयोक्तिः अलङ्कारः ॥ २० ॥

(अब नलकी शरीरशोभाका वर्णन आरम्भ करते हैं—) उस (नल) के चरणने पद्मोंमें घृणा (या—दया) की, (क्योंकि उनमें पद अर्थात् नल-चरणसे (या—नल-चरणकी) शोभा थी, या—वे पद्म नलचरणमें रेखारूपमें स्थित थे, अतः 'इन पद्मोंने मुझसे शोभा प्राप्त की है! इस कारण मदपेक्षा हीनश्री इनके साथ मुझे स्पर्द्धा करना उचित नहीं है' यह समझकर नल-चरणने पद्मोंमें घृणा की, या—'ये पद्म रेखारूपमें मुझमें ही स्थित अर्थात् मेरे ही आश्रित हैं' यह समझकर नल-चरणने पद्मोंपर दया की (अपनेसे हीनके ाथ घृणा करना तथा अपने आश्रितपर दया करना नल-चरणके लिए उचित ही था)। ल्लवमें उस (नल) के हाथकी कान्तिका लेश (थोड़ा-सा अंश) भी कहां था? अर्थात् हीं था, (क्योंकि वह पल्लव (नल-चरणके लेश अर्थात् अल्पतमांशवाला) था, अत व जिस पल्लवमें नल-चरणका लेश था वह भला उनके हाथकी कान्तिके लेशवाला ैसे हो सकता था? अर्थात् हीनाङ्ग चरणका लेशवाला श्रेष्ठाङ्ग हाथकी कान्तिका लेशवाला दापि नहीं होता)। तथा शरत्कालीन पूर्णिमाका चन्द्रमा उस (नल) के मुखके ासत्वका अधिकारी भी नहीं हुआ (तो भला नलके मुखकी समता कैसे करता? क्योंकि न्द्रमा शरत्काल एवं पूर्णिमाके योगसे रमणीय हुआ था, वह भी केवल एक दिनके लिये ौर वह सोलह ही कलाओंसे पूर्ण था; किंतु नल-मुख स्वत एव विना किसीके योग (सहाता) से सर्वदा के लिए रमणीय एवं चौंसठ कलाओंसे युक्त है, अतः उस हीन चन्द्रमा ा श्रेष्ठतम नल-मुखकी समानता करना तो असम्भव ही था, उसे नलके दासत्वके योग्य ी नहीं होना उचित ही था (क्योंकि रमणीयतम नायकके लिये रमणीय ही दासका ोना उचित होता है)। [नलके चरण कमलसे, हाथ नवपल्लवसे तथा मुख शरत्कालीन ्णिमाके चन्द्रमासे भी अत्यधिक सुन्दर थे]॥ २०॥

केमस्य रोम्णाङ्कपटेन कोटिभिर्विधिर्न रेखाभिरजीगणद् गुणान्।
 रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः? ॥ २१ ॥

किमिति। विधिर्विधाता अस्य नलस्य गुणान् रोम्णां कपटेन व्याजेन कोटिभिः ोटिसंख्याभिः लेखाभिः न अजीगणत् न गणितवान् किम्? अपितु गणितवानेवेत्यर्थः। था जगत्कृता स्रष्ट्रा विधिनेत्यर्थः। रोम्णां कूपाः विवराणि तेषाम् ओघः समूह एव मषं व्याजः तस्मात्। दूषणानां दोषाणां शून्यस्य अभावस्य बिन्दवः ज्ञापकचिह्नभूता र्तुलरेखाः न कृताः किम्? अपि तु कृता एवेत्यर्थः। अस्मिन् गुणा एव सन्ति, न दाचित् दोषा इति भावः। अत्र रोम्णां रोमकूपाणाञ्च कपटमिषशब्दाभ्याम् अपह्नवे ुणगणनालेखत्वदूषणशून्यबिन्दुत्वयोरुत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः॥ २१॥

ब्रह्माने रोमोंके कपट (बहाने) से साढ़े तीन करोड़ रेखाओंसे इस (नल) के गुणों ों नहीं गिना क्या? अर्थात् अवश्य ही गिना, और जगत्सृष्टिकर्ता ब्रह्माने साढ़े तीन रोड़ रोमकूपोंके कपटसे इस (नल) के दोषाभाव-बिन्दुओंको नहीं किया क्या? अर्थात्

अवश्य ही किया । [अत्यधिक सङ्ख्यावाली वस्तुओंको गिनते समय विस्मरण नहीं होने लिए रेखाओं द्वारा गिनना तथा अभावसूचक स्थानों पर गोलाकार शून्यविन्दुओं रखना लोकव्यवहारमें भी देखा जाता है; अतएव नलके शरीरमें ये रोम नहीं हैं, कि इन नलके गुण हैं तथा ये रोमकूप नहीं हैं, किन्तु दोषाभावसूचक शून्य-विन्दु हैं । न बहुसङ्ख्यक गुण थे तथा दोष कोई भी नहीं था । 'तिस्रः कोट्योऽर्द्धकोटी च या रोमाणि मानुषे ।' इस वचनके अनुसार मानव-शरीरमें साढ़े तीन करोड़ रोम होते तथा 'रोमैकैककं कूपके पार्थिवानाम्' इस कथनके अनुसार राजाका प्रत्येक रोम एक- रोमकूपमें होता है] ॥ २१ ॥

अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने ध्रुवं गृहीतार्गलदीर्घपीनता ।
उरःश्रिया तत्र च गोपुरस्फुरत्कवाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता ॥ २२ ॥

अमुष्येति । अमुष्य नलस्य दोर्भ्यां भुजाभ्यां कर्तृभ्याम् अरिदुर्गलुण्ठने शत्रुदु भञ्जने अर्गलस्य कपाटविष्कम्भदारुविशेषस्य 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यम दीर्घञ्च पीनञ्च तयोर्भावः दीर्घपीनता आयतपीवरत्वमित्यर्थः, किञ्चेति चार्थः । उर वक्षसः श्रिया लक्ष्म्या कर्त्र्या तत्र अरिदुर्गलुण्ठने गोपुरेषु पुरद्वारेषु 'पुरद्वारन्तु गो रमि'त्यमरः । स्फुरतां राजतां कवाटानां दुर्द्धर्षाणि च तानि तिरःप्रसारीणि च ते भावः तत्ता अप्रधृष्यत्वं तिर्य्यक्प्रसारित्वञ्चेत्यर्थः । गृहीता ध्रुवम् अवलम्बिता कि ध्रुवमित्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकम् । तदुक्तं दर्पणे 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमाद उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः' इति । दीर्घबाहुः कवाटवक्षा मिति भावः ॥ २२ ॥

इस (नल) के बाहुद्वयने शत्रुओंके दुर्गों (किलों) को लूटनेमें मानो आ (किवाड़की किल्ली) की विशालता तथा स्थूलताको प्राप्त कर लिया तथा वक्षःस्थ शोभाने मानो (शत्रुओंके) नगरद्वारपर स्फुरित होते हुए किवाड़की दुर्धर्षता एवं विशा को प्राप्त कर लिया । [नलके बाहुद्वय आगलके समान लम्बे एवं मोटे थे तथा व किवाड़के समान विशाल चौड़ी एवं कठोर थी । इससे नलका आजानुबाहु एवं वि वक्षःस्थल वाला होना सूचित होता है] ॥ २२ ॥

स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनो निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः ।
अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे ॥२

स्वकेलीति । स्वस्य केलिलेशः विलासबिन्दुर्यत्र स्मितं मन्दहसितं तेन निर्जि तिरस्कृतः इन्दुश्चन्द्रः येन तथोक्तस्य स्मितरूपकिरणेन निर्जितशीतांशुमयूखस्य भावः । निजांशः स्वावयवः या दृक् नेत्रं तया तर्जिता निर्भर्त्सिता पद्मानां सम्पद् सौभा

---

१. '—कपाट—' इति पाठान्तरम् ।

खेन तथाभूतस्य तन्मुखस्य नलमुखस्य तयोश्चन्द्रपद्मयोः द्वयी तस्या जित्वरं जयशीलं ततोऽधिकमिति यावत् सुन्दरान्तरं नास्ति, यत्र तथाविधे चराचरे जगति 'चराचरं स्याज्जगदि'ति विश्वः । प्रतिमा उपमानं न आसीदिति शेषः । अत्र चन्द्रारविन्दजयविशेषणतया मुखस्य निरौपम्यप्रतिपादनात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तदुक्तं दर्पणे—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' इति ॥ २३ ॥

अपनी क्रीड़ाके लेशमात्र स्मितसे चन्द्रमाको निन्दित करनेवाले तथा अपने अवयवभूत नेत्रसे कमलशोभाको तिरस्कृत करनेवाले नल-मुखकी उपमा उन दोनों (चन्द्रमा तथा कमल) की शोभाको जीतनेवाले दूसरे किसी वस्त्वन्तरसे शून्य संसारमें नहीं थी। [नलके मुखने अपनी क्रीडापूर्वक मन्द मुस्कानसे चन्द्रमाको जीत लिया तथा उस मुखके एक भाग (नेत्र) ने कमलशोभाको जीत लिया, अतएव उस नलके मुखकी उपमा संसार भरमें कोई नहीं थी, क्योंकि उक्त प्रकारसे नलमुखके द्वारा जगत् में सर्वसुन्दर चन्द्रमा तथा कमल पराजित हो चुके थे और दूसरी कोई सुन्दर वस्तु उन (चन्द्रमा तथा कमल) कों जीतनेवाली जगत्में थी ही नहीं, जिसके साथ नल-मुखकी उपमा दी जाय । उपमेय की अपेक्षा उपमान पदार्थके श्रेष्ठ होनेपर उपमा दी जाती है, और ऐसा कोई पदार्थ था नहीं, जो नल-मुखसे अधिक सुन्दर होकर उपमान हो सके, अतएव नल-मुख अनुपम था] ॥ २३ ॥

सरोरुहं तस्य दृशैव तर्जितं जिताः स्मितेनैव विधोरपि श्रियः ।
कुतः परं भव्यमहो महीयसी[1] तदाननस्योपमितौ दरिद्रता ॥ २४ ॥

उक्तार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—सरोरुहमिति । तस्य नलस्य दृशैव नयनेनैव सरोरुहं पद्मं तर्जितं न्यक्कृतम् । स्मितेनैव विधोश्चन्द्रस्य श्रियः कान्तयः अपि जिताः तिरस्कृताः । परम् अन्यत् आभ्यामिति शेषः भव्यं रम्यं वस्तु कुतः ? न कुत्राप्यस्तीत्यर्थः । अहो आश्चर्यं तस्य नलस्य यत् आननं मुखं तस्य उपमितौ तोलने महीयसी अतिमहती दरिद्रता अभावः अत्यन्ताभाव इत्यर्थः । सर्वथा निरुपममस्य मुखमित्याश्चर्यम् । अत्र वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २४ ॥

(पुनः उसी बातको प्रकारान्तरसे कहते हैं—) कमलको उस (नल) के मुखने ही जीत लिया तथा चन्द्रमाकी शोभाओंको (नलकी) मुस्कानने ही जीत लिया, (अतः कमल तथा चन्द्रमासे भिन्न दूसरा कोई सुन्दर पदार्थ कहांसे मिले ? अर्थात् कोई पदार्थ सुन्दर नहीं है) आश्चर्य है कि उस (नल) के मुखकी उपमाकी बड़ी भारी कमी पड़ गयी ॥ २४ ॥

स्वबालभारस्य तदुत्तमाङ्गजैस्समं चमर्येव तुलाभिलाषिणः ।
अनागसे शंसति बालचापलं पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् ॥ २५ ॥

---

[1] 'महीयसाम्' इति पाठान्तरम् ।

स्वबालेति । चमरी मृगीविशेषः तस्य नलस्य उत्तमाङ्गजैः शिरोरुहैः समं सहै तुलाभिलाषिणः सादृश्यकाङ्क्षिणः स्वबालभारस्य निजलोमनिचयस्य अनागसे अन राधाय नीचस्य उत्तमैः सह साम्याभिगमोऽपि महान् अपराध इति भावः । क्वचित्त भावे नञ्समासो दृश्यते । पुनः पुनः पुच्छस्य लाङ्गूलस्य विलोलनं विचालनम् एव छ तस्मात् बालचापलं रोमचाञ्चल्यम् अथ च शिशुचापल्यं शंसति कथयति बालचाप सोढव्यमिति धियेति भावः । [1]अत्र पुच्छविलोलनप्रतिषेधेन अन्यस्य बालचापलस स्थापनादपह्नुतिरलङ्कारः । तदुक्तं दर्पणे-'प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिरि'ति

उस (नल) के मस्तकके केशोंके साथ समताको चाहने वाले अपने बाल (केश समूहके अपराधाभावके लिए चमरी गाय ही बार-बार पूँछको हिलानेके कपटसे बाल चपलताको कहती है । [चमरी गायके बाल अर्थात् केश नलके शिरके बालोंके साथ समान चाहते थे, किन्तु तुच्छ होकर श्रेष्ठ नल-शिरःस्थ बालके साथ समता करना उनका वह अपराध है, इसलिये चमरी गाय बार-बार पूँछको हिलाकर नलसे मानो यह कह रही कि उन्होंने बाल (बच्चे) की चपलता की है, अत एव बच्चेके चपलता करनेपर उस अपराध नहीं मानना चाहिये । लोकमें भी बच्चेके अपराध करने पर उसकी माता बच्चे चपलता कहकर उसके अपराधको क्षमा करनेके लिए प्रार्थना करती है । नलके मस्तक केश चमरी गायके केश-समूहसे भी सुन्दर एवं मृदु थे] ॥ २५ ॥

महीभृतस्तस्य च मन्मथश्रिया निजस्य चित्तस्य च तं प्रतीच्छया ।
द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां मन्मथविभ्रमोऽभवत् ॥ २६

महीभृत इति । तस्य महीभृतो नलस्य मन्मथस्येव श्रीः कान्तिः तया च निज चित्तस्य तं नलं प्रति इच्छया रागेण च तत्र नृपे नले जगत्त्रयीभुवां त्रिभुवनवर्त्तिनी नतभ्रुवां कामिनीनां द्विधा द्विप्रकारेण मन्मथविभ्रमः अयं मन्मथ इति विशि भ्रान्तिः कामावेशश्च अभवत् । अत्र श्लेषसङ्कीर्णो यथासंख्यालङ्कारः ॥ २६ ॥

उस राजा (नल) की कामदेव-कान्तिसे तथा उस (नल) के प्रति अभिलाष होने लोकत्रयोत्पन्न सुन्दरियोंको उस (नल) के विषयमें दो प्रकारका विभ्रम (विशिष्ट भ्रान्ति पक्षा०—विलास) हुआ । [सुन्दरियोंको कामदेवकी शोभा होनेसे नलमें 'यह कामदे है' ऐसा विशिष्ट भ्रम हुआ तथा उनके प्रति कामाभिलाष होनेसे कटाक्षादिरूप विल हुआ । लोकत्रयोत्पन्न सुन्दरियोंको विभ्रम होना सामान्य रूपसे कहनेके कारण पतिव्र स्त्रियोंको नलके प्रति कामाभिलाष नहीं होनेपर भी कोई दोष नहीं होता, अथवा—'लो त्रयोत्पन्न सुन्दरियोंको कामदेवकान्तिसे ही उस राजा नलमें कामदेवका विशिष्ट भ्र

---

[1] 'अत्र पुच्छविलोलनच्छलशब्देनापह्नुता बालबालयोरभेदाध्यवसायेन बालचाप त्वारोपादपह्नवभेदः' इति जीवातुः, इति म० म० शिवदत्तशर्माणः ।

हुआ तथा पतिव्रताओंके अतिरिक्त स्त्रियोंके चित्तमें नल के प्रति कामाभिलाप होनेसे विलास हुआ' ऐसा अर्थ कर उक्त दोषका निराकरण करना चाहिये। नल कामदेवके समान सुन्दर थे] ॥ २६ ॥

निमीलनभ्रंशजुषा दृशा भृशं निपीय तं यस्त्रिदशीभिरर्जितः ।
अमूस्तमभ्यासभरं विवृण्वते निमेषनिःस्वैरधुनापि लोचनैः ॥ २७ ॥

निमीलनेति । त्रिदशीभिः सुराङ्गनाभिः निमीलनभ्रंशजुषा निर्निमेषयेत्यर्थः । दृशा नयनेन तं नलं भृशम् अतिमात्रं निपीय सतृष्णं दृष्ट्वेत्यर्थः। यः अभ्यासभरः अभ्यासातिशयः कृतः, अमूस्त्रिदश्यः देव्यः अधुनापि निमेषनिःस्वैः निमेषशून्यैः लोचनैः तम् अभ्यासभरं विवृण्वते प्रकटयन्ति । तासां स्वाभाविकस्य निमेषाभावस्य तादृशनिरीक्षणाभ्यासवासनया तत्त्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ २७ ॥

देवाङ्गनाओंने निमेषरहित दृष्टिसे उस (नल) को अच्छी तरह देखकर जिस अभ्यासाधिक्यको सम्यक् प्रकारसे प्राप्त किया, उस अभ्यासाधिक्यको वे (देवाङ्गनाएँ) अब भी निमेषरहित नेत्रोंसे प्रकट करती हैं । [देवाङ्गनाओंके स्वतःसिद्ध निमेषाभावके नलदर्शनके अभ्यासाधिक्यसे उत्पन्न होनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है । अधिक अभ्यस्त कार्यका वहुत समयके बाद भी विस्मरण नहीं होना स्वभावसिद्ध है] ॥ २७ ॥

अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाफलम् ।
इति स्म चक्षुःश्रवसां प्रिया नले स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः ॥२८॥

अद इति । चक्षुःश्रवसां नागानां प्रियाः पन्नग्य इत्यर्थः । अदः इदं नोऽस्माकं दृशोश्चक्षुषोर्द्वयं तं नलम् आकर्णयतीति तदाकर्णि तद्गुणश्रावीत्यर्थः, तासां चक्षुःश्रवस्त्वादिति भावः । अत एव फलाढ्यजीवितं सफलजीवितम् । न वीक्षते इत्यवीक्षि, अत्रोभयोस्ताच्छील्ये णिनिः । तस्य नलस्य अवीक्षि तदवीक्षि तददर्शीत्यर्थः । अत एव अफलञ्च, इति हेतोः । तदा तस्मिन् काले आत्मना स्वेन हृदा मनसा नले नलविषये स्तुवन्ति प्रशंसन्ति निन्दन्ति कुत्सयन्ति च । अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ २८ ॥

'हमलोगोंके ये दोनों नेत्र उस (नलके चरित आदि) को सुनकर सफल जीवनवाले हो गये किन्तु उस (नल) को देख नहीं सके' इस प्रकार चक्षुःश्रवा (साँपों) की प्रियायें अर्थात् नागाङ्गनाएँ हृदयसे क्रमशः अपने दोनों नेत्रोंकी प्रशंसा तथा निन्दा करती हैं । (नागाङ्गनाएँ नेत्रोंसे ही सुननेके कारण नलचरितको सुनकर अपने नेत्रोंकी हृदयसे प्रशंसा करती हैं और स्वयं पातालमें रहनेके कारण मर्त्यलोकवासी नलको नहीं देखनेसे उन नेत्रोंकी निन्दा भी करती हैं) ॥ २८ ॥

विलोकयन्तीभिरजस्रभावनाबलादमुं तत्र निमीलनेष्वपि ।
अलम्भि मर्त्याभिरमुष्य दर्शने न विघ्नलेशोऽपि निमेषनिर्मितः ॥ २९ ॥

विलोकयन्तीभिरिति । अजस्रभावनाबलात् निरन्तरध्यानप्रभावात् अमुं नलं

तत्र भावनायामिति भावः । निमीलनेषु अपि निमेषावस्थासु अपि विलोकयन्तीभि उन्मेषावस्थायामिव साक्षात् कुर्वंतीभिः मर्त्याभिः मानवीभिः अमुष्य नलस्य दर्श निमेषनिर्मितः नेत्रनिमीलनजनितः विघ्नलेशोऽपि अन्तरायलवोऽपि न अलम्भि प्राप्तः । 'विभाषा चिण्णमुलौ' इति मुमागमः । मानव्यः दृष्टिगोचरं दृष्ट्वा अदृ गोचरञ्च तं मनसा सततं पश्यन्ति स्मेति भावः । अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ २९ ॥

सतत भावनावश नेत्रोंको बन्द करनेपर भी इस नलको देखती हुई मर्त्याङ्गना (मृत्युलोकवासी सुन्दरियों) ने इस (नल) को देखनेके विषयमें निमेषकृत (पल गिरनेसे) लेशमात्र भी विघ्नको नहीं प्राप्त किया। [मानवी स्त्रियां निरन्तर नल ही भावना करती थीं, अतएव वे पलक गिरनेसे नेत्रोंके बन्द होनेपर भी सतत भावना नलको देखती ही थीं, इस प्रकारसे उनको पलक गिरनेसे भी नलको देखनेमें लेशमा भी विघ्न नहीं हुआ) ॥ २९ ॥

न का निशि स्वप्नगतं ददर्श तं जगाद गोत्रस्खलिते च का न तम् ? ।
तदात्मताध्यातधवा रते च का चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम् ? ॥ ३०

नेति । का नारी निशि रात्रौ तं नलं स्वप्नगतं न ददर्श ? सर्वैव ददर्शेत्यर्थः । च गोत्रस्खलितेषु नामस्खलनेषु तं न जगाद स्वभर्तृनाम्नि उच्चरितव्ये तन्नाम उच्चरितवती अपि तु सर्वैव तथा कृतवती इत्यर्थः । का च रते सुरतव्यापारे तदात्म तया नलात्मतया ध्यातः चिन्तितः धवः भर्त्ता यया तथाभूता 'धवः प्रियः पति र्भर्त्ते'त्यमरः । स्वस्य आत्मनः मनोभवः कामः तस्य उद्भवः तं वा न चकार ? अ तु सर्वैव तथा चकारेत्यर्थः । अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ३० ॥

(अब पतिव्रताओंको छोड़कर अन्य मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा स्त्रियोंका नल अनुराग कहते हैं—) किस (मुग्धा) स्त्रीने स्वप्नमें प्राप्त नलको नहीं देखा ? अर्था सबने देखा, किस (मध्या) स्त्रीने गोत्रस्खलन (पतिके नामके स्थानपर भ्रमवश पुरु न्तरका नामोच्चारण होने) में नलके प्रति नहीं कहा अर्थात् सबने अपने पतिका ना लेनेकी इच्छा रहते हुए भी निरन्तर नलकी भावना करते रहनेसे नलके ही नाम उच्चारण किया और नलरूपसे पतिका ध्यान करनेवाली किस (प्रगल्भा) स्त्रीने रतिक में अपने में कामकी उत्पत्ति (रति) नहीं की ? अर्थात् सबने की ॥ ३० ॥

श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृतः ।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः ? ॥ ३१

श्रियेति । तं नलम् आलोक्य दृष्ट्वा श्रिया सौन्दर्य्येण अहमस्य नलस्य योग्या अनु रूपा इति धियेति शेषः स्वम् आत्मानं स्वावयवमित्यर्थः । ईक्षितुं द्रष्टुं करे धृतः गृही दर्पणः भैमीं भीमनन्दिनीं दमयन्तीमित्यर्थः । विहाय विनेत्यर्थः । कया सुरूपया शोभ रूपवती अहमित्यभिमानवत्या नार्य्या अपदर्पया दर्पशून्यया सत्या श्वासेन दु

निश्वासेन मलीमसः मलदूषितः 'मलीमसन्तु मलिनं कच्चरं मलदूषितमि'त्यमरः । न कृतः ? अपि तु सर्वयैव कृत इत्यर्थः । सौन्दर्य्यगर्विताः सर्वा एव भैमीऽयतिरिक्ताः कामिन्यः तमवलोक्य अहमेवास्य सदृशीत्यभिमानात् करधृतदर्पणे आत्मानं निर्वर्ण्य नाहमस्य योग्येति निश्चयेन विषण्णाः कदुष्णनिश्वासेन तं दर्पणं मलिनयन्ति स्मेति निष्कर्षः ॥ ३१ ॥

(अब अन्य स्त्रियोंको नलके अयोग्य बतलाते हुये दमयन्तीका प्रसङ्ग उपस्थित करते हैं—) नलको (चित्रमें) देखकर 'शोभासे मैं इस (नल) के योग्य हूँ' (ऐसा मनमें विचारकर) अपनेको देखनेके लिये हाथमें पकड़े गये दर्पणको, दमयन्तीके अतिरिक्त सौन्दर्याभिमानरहित किस सुन्दरीने श्वाससे मलिन नहीं कर दिया ? अर्थात् सभीने किया । [सुन्दरियोंने नलको चित्रमें देखकर 'उनके योग्य मैं भी सुन्दरी हूँ' ऐसा सोचकर हाथमें दर्पण ग्रहण किया, किन्तु दर्पणोंमें अपने सौन्दर्यको नलसे तुच्छ देखकर उनका पूर्वाभिमान नष्ट हो गया तथा दमयन्तीके अतिरिक्त खेदसे श्वास लेती हुई सभी सुन्दरियों ने उस दर्पणको मैला कर दिया] ॥ ३१ ॥

यथोह्यमानः खलु भोगभोजिना[1] प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम् ।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनोऽनलावरुद्धं वयसैव वेशितः ॥ ३२ ॥

एवमस्यालौकिकसौन्दर्य्यद्योतनाय स्त्रीमात्रस्य तदनुरागमुक्त्वा सम्प्रति दमयन्त्यास्तत्रानुरागं प्रस्तौति—यथेति । मदनः कामः प्रद्युम्न इति यावत् भोगभोजिना सर्पशरीराशिना वयसा पक्षिणा गरुडेनेत्यर्थः । उह्यमानः नीयमानः, वहेः कर्मणि यकि सम्प्रसारणे पूर्वरूपम् । अनलावरुद्धम् अग्निपरिवेष्टितं विरोचनस्य अपत्यं पुमान् वैरोचनिः बलिः तज्जस्य तत्पुत्रस्य बाणासुरस्येत्यर्थः । पत्तनं नगरं शोणितपुरमिति यावत् । प्रसह्य सहसा यथा वेशितः खलु प्रवेशित एव, 'ततो गरुडमारुह्य स्मृतमात्रागतं हरिः' । उषाहरणे विष्णुपुराणात् । तथा नलावरुद्धं नलासक्तं विदर्भजायाः दमयन्त्या मनः भोगभोजिना सुखभोगासक्तेनेत्यर्थः, वयसा यौवनेन ऊह्यमानः परैस्तर्क्यमाणः ऊहेर्वितर्कार्थात् कर्मणि यक् । वेशितः प्रवेशितः । 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृता वहेश्च फणकाययोरि'त्यमरः । पुरा उषानाम्नी बाणदुहिता स्वप्ने प्रद्युम्नपुत्रमनिरुद्धं दृष्ट्वा सुप्तप्रतिबुद्धा सहचरीं चित्रलेखामवदत् । सा च योगबलेन तस्यामेव रात्रौ द्वारकायां प्रसुप्तमनिरुद्धं विहायसा समानीय तया समगमयत् । कालेन नारदमुखात् तदाकर्ण्य कृष्णः प्रद्युम्नबलरामाभ्यां बहुभिर्बलैश्च गत्वा बाणनगरमरौत्सीदिति कथा अत्रानुसन्धेया ।[2] अत्र

---

१. 'भोगिभोजिना' इति पाठान्तरम् ।

२. अत्र म० म० शिवदत्तशर्माणः—'अत्र यथोह्यमानो मनोनल इति शब्दश्लेषः । अन्यत्रार्थश्लेषः । श्लिष्टविशेषणा चेयमुपमा । सा च वयसेति वयसोरभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्त्यनुप्राणितेति सङ्करः' इति जीवातुः, इत्याहुः ।

यथोह्यमानो नलावरुद्धमिति शब्दश्लेषः। तदनुप्राणिता उपमा च, सा च वयसे वयसोरभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्तिमूला चेत्येषां सङ्करः ॥ ३२ ॥

(अब नलमें दमयन्तीके मनोभिलाषका वर्णन करते हैं—) जिस प्रकार सर्प पक्षी अर्थात् गरुडसे ढोया जाता हुआ प्रद्युम्न वलपूर्वक विरोचन-पौत्र (अर्थात् पुत्र=वाणासुर) के अग्निसे व्याप्त (शोणितपुर नामक) नगरमें प्रविष्ट हुआ था, प्रकार भोग-विलासकारी यौवन अवस्थासे प्राप्त कामदेव (कथाप्रसङ्गोंमें तथा व चारणादिके मुखसे सुने गये एवं चित्रादिमें देखे गये) नलसे आक्रान्त अर्थात् आ दमयन्तीके मनमें प्रविष्ट हुआ ॥ ३२ ॥

पौराणिक कथा—वलिपुत्र वाणासुरकी पुत्री 'उषा' ने स्वप्नमें प्रद्युम्नकुमार अनिरु देखकर जागनेके बाद स्वप्नवृत्तान्तको 'चित्रलेखा' नामकी अपनी सखीसे कहा। यो पण्डिता चित्रलेखाने उसी रातको योगवलसे द्वारकापुरीमें जाकर सोते हुए अनिरु लाकर उसके साथ सङ्गम करा दिया। कुछ समयके बाद नारद मुनिसे वाणासुरके अनिरुद्धके रोके जाने का समाचार पाकर अनिरुद्धको छुड़ानेके लिए वलराम प्रद्युम्नके साथ श्रीकृष्ण भगवान् गरुड़पर चढ़कर शोणितपुर नामकी वाणासुरकी परिवेष्टित नगरीमें गये। यह कथा विष्णुपुराणमें है।

नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन् बहुशः श्रुतिं गते।
विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना[1] मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः ॥ ३३

इह विरहिणां चक्षुःप्रीत्यादयो दशावस्थाः सन्ति, तत्र चक्षुःप्रीतिः श्रवणानुरा स्याप्युपलक्षणमतस्तत्पूर्विकां मनःसङ्गाख्यां द्वितीयामवस्थामाह—नृप इत्यादि। भीमनरेन्द्रनन्दना दमयन्ती नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः। निजरूपसम्पदां स्वलावण्यस त्तीनामनुरूपे वहुशः। 'वह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्यामि'त्यपादानार्थे शस्प्रत्ययः श्रुतिं श्रवणं गते एतेन श्रवणानुराग उक्तः, तस्मिन् नृपे नले मनोभवाज्ञाया एकं व वदम् एकस्यैव विधेये शिवभागवतवत् समासः। 'प्रियवशे वदः खच्', 'अरुर्द्विषदि त्यादिना तस्य मुम्। मनो विशिष्य दिदेश अस्येदमिति निश्चित्यातिससर्जेत्यर्थः तद्गुणश्रवणात्तदासक्तचित्तासीदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

राजाधिराज भीमकी पुत्री (दमयन्ती) ने (चारण-वन्दी आदिके मुखसे एवं कथादि प्रसङ्गमें) अनेक वार सुने गये तथा अपनी रूप-सम्पत्तिके योग्य उस राजा (नल) मनको विशेषरूपसे कामाज्ञाका वशंवद बना दिया अर्थात् दयमन्तीका मन उक्तरूप नल कामके वशीभूत हो गया ॥ ३३ ॥

उपासनामेत्य पितुस्स्म रज्यते दिने दिने सावसरेषु वन्दिनाम्।
पठत्सु तेषु प्रति भूपतीनलं विनिद्ररोमाजनि शृण्वती नलम् ॥३४॥

---

१. '—नन्दिनी' इति पाठान्तरम्।

अथास्याः श्रवणानुरागमेव चतुर्भिर्वर्णयति—उपासनामित्यादि। सा भमी दिने दिने प्रतिदिनं 'नित्यवीप्सयोरि'ति वीप्सायां द्विर्भावः। वन्दिनां स्तुतिपाठकानामवसरेषु पितुरुपासनां सेवामेत्य प्राप्य तेषु वन्दिषु भूपतीन् प्रति भूपतीनुद्दिश्य पठत्सु सत्स्विति शेषः। नलं शृण्वती अलं रज्यते स्म रक्ताभूदित्यर्थः। रञ्जेर्दिवादिकात्लट्। अतएव विनिद्ररोमा रोमाञ्चिता अजनीति सात्त्विकोक्तिः। जनेः कर्त्तरि लुङ् 'दीपजने'त्यादिना च्लेश्चिणादेशः। नलगुणश्रवणजन्यो रागस्तस्य रोमाञ्चेन व्यक्तोऽभूदिति भावः॥ ३४॥

(अब चार (१।३४-३७) श्लोकों में दमयन्तीके नल-विषयक श्रवणानुराग नामक सात्त्विक भावका वर्णन करते हैं—) वह दमयन्ती पिताकी सेवामें उपस्थित होकर प्रतिदिन वन्दियोंके (नृपस्तुतिके) अवसरोंमें अनुरक्त होती थी तथा उनके प्रत्येक राजाओंकी स्तुति करते रहनेपर नल (की स्तुति) को सुनती हुई (हर्षाधिक्यके कारण) रोमाञ्चयुक्त हो जाती थी॥ ३४॥

कथाप्रसङ्गेषु मिथस्सखीमुखात्तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते।
द्रुतं विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया॥ ३५॥

कथेति। मिथोऽन्योऽन्यं रहसि कथाप्रसङ्गेषु विस्रम्भगोष्ठीप्रसङ्गेषु सखीमुखान्नलनामनि नलाख्ये तृणे श्रुते सति 'नलः पोटगले राज्ञी'ति विश्वः। अनया तन्व्या दमयन्त्या द्रुतमन्यत् कार्य्यान्तरं विधूय निराकृत्य मुदा हर्षेण तदाकर्णने नलशब्दाकर्णने सज्जकर्णया दत्तकर्णया अभूयत अभावि। 'भुवो भावे' लङ्। अर्थान्तरप्रयुक्तोऽपि नलशब्दो नृपस्मारकतया तदाकर्षकोऽभूदिति रागातिशयोक्तिः॥ ३५॥

आपसमें बातचीतके अवसरोंपर सखीके मुखसे तृण-(नरसल) के विषयमें भी 'नल' का नाम सुनकर कृशाङ्गी (वह दमयन्ती) तत्काल अन्य कथा (या—कार्य) छोड़कर ('यह सखी मेरे प्रियतम 'नल' की चर्चा कर रही है' ऐसा जानकर) उस कथाको सुननेमें कानोंको सावधान कर लेती थी अर्थात् उस सखी-वर्णित नल-चर्चाको ही सावधान होकर सुनने लगती थी॥ ३५॥

स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद्बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा।
जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत्॥ ३६॥

स्मरादिति। परासोर्मृतात् अत एवानिमेषलोचनान्निश्चलाक्षाद्देवादिति च गम्यते। उभयथापि भयहेतूक्तिः। तस्माद्बिभेमीति तद्भिन्नं ततोऽन्यमुदाहरेति तत्सदृशं निदर्शयेत्याह सा दमयन्ती यूनः स्तुवता जनेन प्रयोगकर्त्रा तदास्पदे स्मरस्थाने निदर्शनं दृष्टान्तं नैषधं निषधानां राजानं नलं 'जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्'। अभ्यषेचयत् स्मरस्य स्थाने तत्सदृश एवाभिषेक्तुं युक्तः। स च नलादन्यो नास्तीति तस्मिन् नल

उदाहृतेऽनुतर्षं श्रृणोतीति रागातिरेकोक्तिः । 'उपसर्गात् सुनोती'त्यादिना अ
वायेऽपि षत्वम् ॥ ३६ ॥

'मरे हुए (अत एव) निमेष–हीन नेत्रवाले कामदेवसे मैं डरती हूँ, इस कारण
उदाहरण दो' ऐसा कहकर उस दमयन्ती ने तरुणकी प्रशंसा करते हुए (सखी, सुर
वन्दी) लोगोंके द्वारा कामदेवके स्थानपर नलको अभिषिक्त कराया । [कामदेव दे
होनेसे निमेषहीन है, उसे यहां मरा हुआ कहकर निमेष–हीन होने तथा उससे डर
उत्प्रेक्षा की गयी है, क्योंकि मरे हुए व्यक्तिका नेत्र भी निमेष–हीन हो जाता है
उससे लोग डरते भी हैं । अथ च–जब कोई राजा आदि विशिष्ट व्यक्ति मर जाता
तब उसके स्थानपर नये विशिष्ट व्यक्तिका अभिषेक कर स्थापित किया जाता है, यहाँ
कामदेवके स्थानपर नलको अभिषिक्त कर स्थापित किया गया है । किसी तरुणकी प्र
करते हुए लोग जब सुन्दरतामें उसके साथ कामदेवकी उपमा देते थे, तब वह दमय
उक्त प्रकारसे डरनेकी बात कहती थी और वे लोग कामदेवके समान दूसरे किसीके
होनेसे उस युवकके साथ नलकी उपमा देते थे] ॥ ३६ ॥

नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान् मिषेण दूतद्विजवन्दिचारणाः ।
निपीय तत्कीर्तिकथा[1]मथानया चिराय तस्थे विमनायमानया ॥

नलस्येति । निषधेभ्य आगता दूता सन्देशहराः, द्विजा ब्राह्मणाः, वन्दिनः
वकाः चारणा देशभ्रमणजीविनः ते सर्वे मिषेण व्याजेन नलस्य गुणान् पृष्टाः पृ
तेदुहादित्वात् प्रधाने कर्मणि क्तः । अथ प्रश्नानन्तरमनया भैम्या तत्कीर्ति
नलस्य यशःकथामृतं निपीय नितरां श्रुत्वेत्यर्थः । चिराय विमनायमानया वि
नीभवन्त्या भृशादित्वात्क्यङि सलोपश्च 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' ततो लटः श
जादेशः । तदा तस्थे स्थितं तिष्ठतेर्भावे लिट् । अयञ्च दूतादिव्यवधानेन गुणकी
लक्षणः प्रलापाख्यो रत्यनुभवः ॥ ३७ ॥

निषध देशसे आये हुए दूतों, ब्राह्मणों, वन्दियों तथा चारणोंसे वह दमयन्ती (
देशका राजा कौन है ? प्रजापालन कैसा करता है ? उसमें कौन–कौन गुण हैं ? इत्या
बहानेसे नलके गुणोंको पूछती थी (इसके बाद उनसे वर्णित) नलकी कीर्ति–
(पाठा०-कीर्ति–अमृत) को अच्छी तरह पान कर अर्थात् सुनकर (ऐसे अत्यधिक सद्गु
युक्त राजा नलको मैं किस प्रकार प्राप्त कर सकूंगी ? इस भावनासे) चिरकालतक उदा
रहती थी [अथवा—(ऐसे अत्यधिक सद्गुणसम्पन्न राजा नलके प्रति मेरा अनुराग
है, अत एव उन्हें पाकर मैं कृतकृत्य हो जाऊंगी, इस भावनासे) चिरकालतक आन
होती थी । इस अर्थमें 'तस्थे+अविमनायमानया' पदच्छेद करना चाहिये] ॥ ३७ ॥

प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि ।

---

[1] '—सुधा—' इति पाठान्तरम् ।

इति स्म सा कारुतरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ॥३८॥

प्रतिकृतिस्वप्नदर्शनादयो विरहिणां विनोदोपायाः, अथ तत्कथनमुखेन दर्शनानुरागश्चास्या दर्शयन् प्रतिकृतिदर्शनं तावदाह–प्रियमिति । सा भैमी त्रीणि जगन्ति समाहृतानि त्रिजगत् । समाहारो द्विगुरेकवचनम् । तस्य जयिनी लोकत्रयजित्वरी श्रीः शोभा ययोस्तादृशौ कावपि प्रियं प्रियाञ्च तौ अधिलीलागृहभित्ति विलासवेश्मकुड्ये विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। लिखेत्युक्तौ कारुतरेण शिल्पिकाण्डेन प्रयोज्येन लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यं रूपसाम्यापादनम् ईक्षते स्म ॥ ३८ ॥

(अब दर्शनानुरागके वर्णन प्रसङ्गमें प्रतिकृति–दर्शनका वर्णन करते हैं—) वह दमयन्ती, 'लोकत्रय-विजयिनी सुन्दरतावाले किसी प्रिय तथा प्रिया अर्थात् स्त्री-पुरुषको विलासगृहकी दीवालपर लिखो' ऐसा कहनेपर चित्रकारसे लिखे गये अपने तथा नलके रूप-साम्यको देखती थी । [उक्त कथनसे पुरुषोंमें नलकी तथा स्त्रियोंमें दमयन्तीकी सुन्दरताका तीनों लोकोंमें सर्वाधिक श्रेष्ठ होना सूचित होता है] ॥ ३८ ॥

मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क्व सा न स्वपती स्म पश्यति ।
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् ॥ ३९ ॥

मनोरथेनेति । मनोरथेन सङ्कल्पेन स्वपतीकृतं स्वभर्तृकृतं नलम् अभूततद्भावे च्वौ दीर्घः । स्वपती निद्राती सा दमयन्ती क्व निशि कुत्र रात्रौ न पश्यति स्म ? सर्वस्यामपि रात्रौ दृष्टवती । तथा हि सुप्तिः स्वप्नः अदृष्टम् अत्यन्ताननुभूतमप्यर्थं किमुत दृष्टमिति भावः । अदृष्टवैभवात् प्राक्तनभाग्यबलात् जनदर्शनातिथिं लोकदृष्टिगोचरं करोति, तदत्रापि निमित्तादृष्टात्तादृक् स्वप्नज्ञानमुत्पन्नमित्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ३९ ॥

सोती हुई वह दमयन्ती अभिलाषके द्वारा अपने पति बनाये गये नलको किस रातमें नहीं देखती थी ? अर्थात् प्रत्येक रातमें वह नलको स्वप्नमें देखती थी, क्योंकि स्वप्न पहले नहीं देखे गये पदार्थको भी पूर्वजन्मकी भावनासे मनुष्यको दिखला देता है । [यद्यपि दमयन्तीने नलको पूर्व श्लोक (१।३८) के अनुसार चित्रादिमें देखा था, तथापि प्रत्यक्षमें नहीं देखनेके कारण इस श्लोकके उत्तरार्द्धके साथ कोई विरोध नहीं होता] ॥ ३९ ॥

निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् ।
अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्यास्स महन्महीपतिः ॥ ४० ॥

निमीलितादिति । निद्रया प्रयोजिकया निमीलितान्मुकुलितादुपरतव्यापारादित्यर्थः, अक्षियुगाच्च तथा बाह्येन्द्रियाणां चक्षुरादीनां मौनेन व्यापाररहित्येन मुद्रितात्प्रतिष्टब्धात् , मनसो बहिरस्वातन्त्र्यादिति भावः । हृदो हृदयादपि सङ्गोप्य गोपयित्वेत्यर्थः, 'अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छती'त्यक्षियुगमनसोरपादानत्वम् । अदर्शनं चात्र मनसो बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितादिति विशेषणसामर्थ्यादिन्द्रियार्थसंप्रयोगजन्यज्ञानविरह

एवेति ज्ञायते, स्वप्नज्ञानं तु मनोजन्यमेव। तदजन्यज्ञानमत्रेत्याह—कदाप्यवी
इति। अत्यन्तादृष्टचर इत्यर्थः, महद्रहस्यमतिगोप्यं वस्तु स महीपतिर्नलः।
भैम्या अदर्शि दर्शयाञ्चक्रे, दृशेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्। यथा काचिच्चेटी कस्यै
मिन्यै कञ्चन कान्तं संगोप्य दर्शयति तद्वदिति ध्वनिः ॥ ४० ॥

निद्राने वन्द हुए नेत्रद्वयसे तथा वाह्येन्द्रिय (नेत्रद्वय, या—अन्यान्य नेत्र-आद
इन्द्रियों) के अपने विषयको ग्रहण करने (देखने या—देखने, सुनने आदि) में
होनेसे वन्द अर्थात् अपने विषयोंको सोनेके कारण ग्रहण नहीं करते हुए हृदय
छिपाकर, कभी नहीं देखे गये अतिशय रहस्यरूप प्रसिद्धतम राजा नलको इस दम
के लिए दिखला दिया। [जिस प्रकार किसी अदृष्टचर अद्भुत रहस्यको कोई
व्यक्ति दूसरोंसे छिपाकर किसी एक आप्ततम व्यक्तिके लिए दिखला देता है, या—
सुचतुरा दूती किसी प्रियतम नायकको दूसरोंसे छिपाकर नायिकाके लिए दिखला
है; उसी प्रकार निद्राने भी कभी नहीं देखे गये एवं अतिशय रहस्यभूत उस प्रसि
राजा नलको उक्तरूप नेत्रद्वय तथा हृदयसे भी छिपाकर दिखला दिया
दमयन्तीने नलको स्वप्नमें देखा; किन्तु उसके नेत्रद्वयको तथा वाह्येन्द्रिय क्रिया
हृदयको भी पता नहीं लगा] (सुषुप्ति अवस्थामें मनके व्यापारशून्य होनेसे दमयन्
किस प्रकार ज्ञान हुआ? इसका उत्तर यह है कि—स्वप्नके पदार्थ वाह्येन्द्रियोंसे
नहीं हैं, अतएव वे बाह्य भी नहीं हैं, तथा सुखादिके अन्तर्गत नहीं होनेसे आभ्यन्त
भी नहीं हैं। इस कारण अदृष्टसहकृत केवल अविद्यावृत्तिरूप सुषुप्तिके विषय हैं
उस सुषुप्ति अवस्थामें आत्माका ही दर्शन होता है, क्योंकि आत्मरूपसे सर्वदा
होनेमें कोई वाधा नहीं है। अथवा—नलमें भी दमयन्तीका अनुराग होनेसे
प्राप्तिके विना विषयमात्रसे वैराग्य होनेके कारण सुखकी सम्भावना नहीं होती,
सोकर जगनेके वाद 'मैं सुखपूर्वक सोया, कुछ भी मालूम नहीं पड़ा' ऐसे अनु
होनेसे नलके दर्शनके विना दमयन्तीको वैसा अनुभव नहीं हो सकता था, अ
सुषुप्तिके वाद उस दमयन्तीने 'मेरे मनमें निरतिशयानन्दरूपसे वे नल ही स्फुरित
ऐसा जाना।) [अब इस श्लोकका दूसरा अर्थ करते हैं—निद्राजन्य अज्ञानसे, परस्
मौन हृदयहीन अर्थात् मूर्खसे और कलियुगसे वहिर्भूत, अत्यन्त गोप्य लक्ष्मीवाले
मानके योग्य हे नल! विष्णु-भक्तोंके सहवासवाले, दुःख देनेवाले (दुष्टों) से नहीं
गये अर्थात् दुर्जन-संसर्गसे वर्जित (अतएव) नित्य उत्सववाले तुम मेरे पति हो
पूर्व जन्ममें नल ही दमयन्तीके पति थे, इन्द्रादि पति नहीं थे, अतएव इन्द्रादिका त्याग
दमयन्तीको नलसे ही उक्त रूप प्रार्थना करना उचित था] ॥ ४० ॥

अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यतिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम्।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्बिभरांबभूविरे ॥ ४१

अथास्याश्चिन्ताजागरावाह—अहो इति । हिमागमे हेमन्तेऽपि स्मरार्दितां तां मयन्तीं प्रति अहोभिर्दिवसैः अतिमहिमा अतिवृद्धिः प्रपेदे तथा तपर्त्तुपूर्त्तावपि ष्मान्तेऽपि विभावरीभिर्निशाभिः मेदसां भरा मांसराशयोऽतिवृद्धिरिति यावत् । भराम्बभूविरे बभ्रिरे, भृञः कर्मणि लिट् आम्प्रत्ययः । अहो आश्चर्यं शास्त्रविरोदनुभवविरोधाच्चेति भावः । विरहिणां तथा प्रतीयत इत्यविरोधः, एतेनास्या निररचिन्ता जागरश्च गम्यते । अहोशब्दस्य 'ओदि'ति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावः ॥४१॥

कामपीडित उस दमयन्तीके लिए हेमन्त ऋतुमें भी दिन बड़े होने लगे तथा ग्रीष्म तुकी पूर्णता होनेपर भी रात्रियाँ बड़ी हो गयीं, यह आश्चर्य है । [हेमन्त ऋतुमें दिन था ग्रीष्म ऋतुमें रात्रि यद्यपि छोटी होती थीं, तथापि कामपीडित उस दमयन्तीके लिए बड़ी प्रतीत होती थीं] ॥ ४१ ॥

स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम् ।
कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादशृणोद् गुणोत्करम् ॥४२॥

स्वेत्यादि । अथ नलोऽपि स्वस्य कान्त्या सौन्दर्येण याः कीर्त्तयः तासां व्रजः पुञ्ज व मौक्तिकस्रक् मुक्ताहारः तस्या अन्तः अभ्यन्तरे घटनागुणश्रियं गुम्फनसूत्रलक्ष्मीं यन्तं भजन्तं युवधैर्यलोपिनं तरुणचित्तस्थैर्य्यपरिहारिणम् अस्या दमयन्त्या गुणोकरं सौन्दर्यसन्दोहं लोकादागन्तुकजनात् अश्रृणोत् । अत्र कीर्त्तिव्रजगुणोत्करयोर्मुहारगुम्फनसूत्रत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः ॥ ४२ ॥

(अब दमयन्ती-विषयक नलानुरागका वर्णन करते हैं—) अपने अर्थात् दमयन्तीके या—नलके) सौन्दर्य-विषयक कीर्ति-समूहरूप मोतियोंकी मालाके बीचमें (या—नलके मनमें) गुँथनेवाले धागेकी शोभाको प्राप्त करते हुए तथा युवकोंके धैर्यको नष्ट रलेवाले इस दमयन्तीके गुण-समूहको किसी समय नलने भी लोगोंसे सुना । [सौन्दर्य-कीर्तिके शुभ्र होनेसे उसमें मोतीकी कल्पना की गयी है । मुक्तामालाको गुँथनेके लिए बीचके धागेके समान जो दमयन्तीके गुण-समूह थे, वे नलके चित्तमें मालाके समान गुम्फित हो गये । नलने दमयन्तीके गुण-समूहको लोगोंसे सुना] ॥ ४२ ॥

तमेव लब्ध्वावसरं ततः स्मरश्शरीरशोभाजयजातमत्सरः ।
अमोघशक्त्या निजयेव मूर्तया तया विनिर्जेतुमियेष नैषधम् ॥ ४३ ॥

अथास्य तस्यां रागोदयं वर्णयति—तमेवेति । ततो गुणश्रवणानन्तरं शरीरशोभाया देहसौन्दर्य्यस्य जयेन जातमत्सरः उत्पन्नवैरः स्मरः तमेवावसरमवकाशं लब्ध्वा मूर्त्तया मूर्त्तिमत्या निजया अमोघशक्त्येव अकुण्ठितसामर्थ्येनेवेत्युत्प्रेक्षा । तया दमयन्त्या नैषधं नलं विनिर्जेतुमियेष इच्छति स्म, रन्ध्रान्वेषिणो हि विद्वेषिण इति भावः । तेन रागोदय उक्तः ॥ ४३ ॥

तदनन्तर (नलकी शरीर-शोभाद्वारा अपनी) शरीर-शोभाके जीते जानेसे मत्सर-

युक्त कामदेव ने उसी अवसरको पाकर शरीरिणी अपनी अमोघ शक्तिके समान (दमयन्ती) से नलको जीतना चाहा। [लोकमें भी कोई व्यक्ति किसी प्रबल पराजित होकर उसके साथ द्वेष करता हुआ अवसर पाकर अपनी अमोघ शक्ति पराजित करनेकी इच्छा करता है] ॥ ४३ ॥

अकारि तेन श्रवणातिथिर्गुणः क्ष्माभुजा भीमनृपात्मजाश्रियः।
तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः ॥४

अकारीति। तेन क्ष्माभुजा नलेन भीमनृपात्मजायाः दमयन्त्याः श्रियः तदीयः सौन्दर्यादिः श्रवणातिथिः श्रोत्रविषयः अकारि कृतः श्रुत इत्यर्थः। कर्मणि लुङ्। तस्य नलस्य उच्चधैर्य्यव्ययाय उन्नतधैर्य्यनाशाय संहितेषुणा च स्वात्मनः शरासनाश्रयः चापनिष्ठो गुणो मौर्वी श्रवणातिथिरकारि आकर्ण इत्यर्थः। दमयन्तीगुणश्रवणान्नलमनसि महान् मदनविकारः प्रादुर्भूत अत्रोक्तवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४४ ॥

उस राजा (नल) ने भीमनन्दिनी (दमयन्ती) के आश्रित गुणोंको कान पहुँचाया अर्थात् दमयन्तीके गुणोंको सुना तथा उस (नल) के अत्यधिक धैर्यको करनेके लिए बाण चढ़ाये हुए कामदेवने प्रत्यञ्चाको अपने कानतक खींचा। [दमयन्ती गुणोंको सुनकर ही कामपीडित नलका धैर्य नष्ट हो गया] ॥ ४४ ॥

अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी तदा खलु ज्यां विशिखैस्सनाथय
निमज्जयामास यशांसि संशये स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि[1] ॥४

अमुष्येति। स स्मरः साहसी साहसकरः 'न साहसमनारुह्य नरो भद्राणि प ती'ति न्यायादविलम्बी सन्नित्यर्थः। अमुष्य धीरस्य अविचलितस्य नलस्य ज शरासनज्यां निजधनुर्मौर्वीं विशिखैः शरैः सनाथयन् सनाथं कुर्वन् संयोजयन्नित्य त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी 'तद्धितार्थे'त्यादिना समासः, 'अकारान्तोत्तर द्विगुः स्त्रियामिष्यत' इति स्त्रीलिङ्गत्वात् 'द्विगोरि'ति ङीप्। तस्य विजयेनार्जित सम्पादितान्यपि यशांसि संशये निमज्जयामास किं पुनः सम्प्रति सम्पाद्यमित्य शब्दार्थः। वृद्ध्यपेक्षया अनुचितकर्मारम्भे मूलमपि नश्येदिति संशयितवानित्य अत्र स्मरस्योक्तसंशयाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ४५ ॥

उस समय धीर इस (नल) को जीतनेके लिए प्रत्यञ्चाको बाणोंसे युक्त करता अर्थात् प्रत्यञ्चापर बाणोंको रखता हुआ साहसी (अपनी शक्तिको वास्तविक विना जाने महान् धीर नलको जीतनेके लिए उद्यत होनेसे विवेकहीन) कामदेवने लोकोंको जीतनेसे प्राप्त हुए अपने समस्त यशको सन्देहमें डाल दिया। [काम तीनों लोकोंको जीतकर जो यशः-समूह पाया है, वह नलको नहीं जीननेपर

---

१. '—विजयोर्जितानि' इति पाठः साधीयान्, इति 'प्रकाश'कारः।

ाता, अतएव ऐसे बड़े कामको करनेके लिए उद्यत कामदेवको साहसी कहा गया है, था महान् धीर नलको एक बाणसे जीतना सर्वथा असम्भव होनेसे प्रत्यञ्चापर अनेक णोंका चढ़ाना कहा गया है] ॥ ४५ ॥

अनेन भैमीं घटयिष्यतस्तथा विधेरवन्ध्येच्छतया व्यलासि तत् ।
अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम् ॥ ४६ ॥

दैवसहायात् पुष्पेषोरेव पुरुषकारः फलित इत्याह—अनेनेति । अनेन नलेन सह मीं घटयिष्यतः योजयिष्यतो विधेर्विधातुरवन्ध्येच्छतया अमोघसङ्कल्पत्वेन तत्त-मात्तथा तेन प्रकारेण योऽग्रे वक्ष्यत इति भावः । व्यलासि विलसितं लसतेर्भावे ुङ् । यत् पौष्पैरपि न तु कठिनैरनङ्गस्य न तु देहवतः मार्गणैर्धैर्य्यमेव कञ्चुकमस्य लस्य अभेदि भिन्नं, कर्म्मणि लुङ् । दमयन्तीनलयोर्दाम्पत्यघटनाय अनङ्गमार्गणैर्न-धैर्यकञ्चुकभेदनाद्विधेरवन्ध्येच्छत्वं विज्ञायत इत्यर्थः, दैवानुकूल्ये किं दुष्करमिति ावः । तत्रानङ्गपौष्पयोः कञ्चुकं भिन्नमिति विरोधः, तस्य विलासेनाभासीकरणाद्विरो-ाभासः, स च धैर्य्यकञ्चुकमिति रूपकोत्थापित इति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥४६॥

जिस कारण वैसा सुप्रसिद्ध एवं दुर्भेद्य इस नलका धैर्यरूपी कवच अनङ्ग (कामदेव, क्षा०—शरीरशून्य प्रतिभट) के पुष्पमय अर्थात् अतिकोमल बाणोंसे विदीर्ण (नष्ट) हो या, उस कारण इस (नल) के साथ उस प्रकार (इन्द्रादि दिक्पालोंका त्याग कर) मयन्तीका सङ्गम करानेवाले भाग्यके सफल मनोरथका ही वह विलास था, ऐसा ज्ञान ड़ता है । [अन्यथा महान् शूरवीर नलका धैर्य शरीरहीन प्रतिभट कामदेवके पुष्पमय ोमलतम बाणोंसे कदापि नहीं नष्ट होता अर्थात् दमयन्तीके प्रति अनुरक्त होनेसे काम-ीड़ित नलका धैर्य कदापि भग्न नहीं होता, इससे पता चलता है कि भाग्यकी इच्छा-ो कोई भी नहीं टाल सकता । नल दमयन्तीके गुणोंको सुनकर कामपीडित होनेसे धीर हो गये] ॥ ४६ ॥

किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो ।
स्मरं तनुच्छायतया तमात्मनः शशाक शङ्के स न लङ्घितुं नलः ॥ ४७ ॥

अथ विधिमपि जितवतः किं विध्यपेक्षयेत्याशयेनाह—किमिति । किमन्यत् न्यत् किमुच्यते, पितामहो विधिरपि तस्य स्मरस्यास्त्रैस्तापितः सन्तापितः अद्यापि ारिजमाश्रयति तस्य पद्मासनत्वादिति भावः । सर्वनीतेरपचारश्च गम्यते, अहो धेरपि स्मरविधेयत्वमाश्चर्यम् । पितामहतापिनं स्मरं स नलः आत्मनस्तनोः छायेव ाया कान्तिर्यस्य तस्य भावस्तत्ता तया तनुच्छायतया तनोश्छाया अनातपस्तनु-छाया तत्तयेति च गम्यते 'छाया त्वनातपे कान्ताविति' वैजयन्ती । लङ्घितुं न शशाक त्यहं शङ्के, न हि स्वच्छाया लङ्घितुं शक्या इति भावः । अत्र स्मरलङ्घने पितामहोऽ-यशक्तः किमुत नल इत्यर्थापत्तिस्तावदेकोऽलङ्कारः । 'एकस्य वस्तुनो भावाद्यत्र

वस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया' ॥ इति लक्षणा तनोश्छायेवच्छायेत्युपमा छाययोरभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः । एतत्त्रितयोप नेनालङ्घ्यत्वे तनुच्छायताया हेतुत्वोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा सङ्कीर्णा, सा च शङ्क इति श कप्रयोगाद्वाच्येति ॥ ४७ ॥

और क्या ? जिस (कामदेव) के अस्त्रोंसे सन्तप्त पितामह (ब्रह्मा, पक्षा०—अति वृद्ध, या—पिताके भी पिता) आज भी (शीतल होनेसे) कमलका आश्रय करते वे नल अपने शरीरकी छाया (शोभा) वाले (या—अपनेसे कम शोभावाले) उस क देवको लाँघनेके लिए नहीं समर्थ हो सके, ऐसा मैं मानता हूँ । [जिस कामदेवने अति वूढ़े या अपने पिताके पिताको भी ऐसा सन्तप्त कर दिया कि बहुत समयके व्य होनेपर भी वे आज भी सन्तापनिवारक शीतल कमलपर निवास करते हैं, वह अपने प्रतिद्वन्द्वी नलको नहीं सन्तप्त करेगा, यह कैसे सम्भव है ? तथा—नलका श अत्यधिक सुन्दर है और कामदेव नलके शरीरकी परछाहीं है, अतएव नल अपने शरी परछाहीं रूप कामदेवको नहीं लाँघ सके, अर्थात् नहीं जीत सके, यह उचित ही है, क्यों लोकमें भी कोई प्रबलतम भी व्यक्ति अपने शरीरकी परछाहीं को कदापि नहीं लाँघ सकता स्वशरीरच्छाया सबके लिए अनुल्लङ्घ्य ही रहती है । अथवा—नल अपनेसे कम कां वाले कामदेवको नहीं लाँघ (जीत) सके ? अर्थात् जीत ही लिया] ॥ ४७ ॥

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयस्कृतेन किम् ।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत् ॥ ४८

उरोभुवेति । सा तन्वी भैमी त्रपैव सरित् सैव दुर्गं नलसम्बन्धि तदपि प्रती नलस्य हृदयं विवेशेति यत् तत्प्रवेशनं यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् , वयस्कृतेन नवोप रेण नूतननिर्म्माणेन उरोभुवा तज्जन्येन कुम्भयुगेन कुचयुगाख्येनेति भावः, इत्य शयोक्तिः । 'न लोके'त्यादिना कृद्योगषष्ठीप्रतिषेधात्कर्त्तरि तृतीया, 'नपुंसके भाव संख्यानमि'ति षष्ठी तु शेषविवक्षायाम् । जृम्भितं जृम्भणं किमुत्प्रेक्षा सा चोक्ताति योक्तिमूलेति सङ्करः । दमयन्तीकुचकुम्भविभ्रमश्रवणान्नलस्त्रपां विहाय तस्याम क्तचित्तोऽभूदित्यर्थः, तेन मनःसङ्ग उक्तः ॥ ४८ ॥

कृशाङ्गी वह दमयन्ती (अपर्ना) लज्जारूपिणी नदीके उच्चतम प्राकारको पार कर नलके हृदयमें प्रविष्ट हो गयी, वह युवावस्थासे किये गये समीपमें नये मुक्ताहारसे (या—नवीन उपहार उपदासे युक्त) वक्षःस्थलपर उत्पन्न (स्तनरूप) दो कलशोंका प्र था क्या ? । [जिस प्रकार कोई दुर्बल व्यक्ति छातीपर दो कलशों रखकर उनकी यतासे नदीको पार कर अभीष्ट स्थानको पहुंच जाता है, उसी प्रकार मानो कृ दमयन्ती भी युवावस्थासे सम्पादित नये उपहारस्वरूप (या—नवीन मोतियोंकी मा वाले) कलशाकार विशाल स्तनद्वयकी सहायतासे अपर्ना (या नलकी) लज्जारू

हीके उच्चतम प्राकारको (या—लज्जारूपिणी नदीरूप दुर्गको पारकर नलके हृदयमें
वेष्ट हो गयी) ॥ ४८ ॥

अपह्नुवानस्य जनाय यन्निजामधीरतामस्य कृतं मनोभुवा ।
अबोधि तज्जागरदुःखसाक्षिणी निशा च शय्या च शशाङ्ककोमला ॥४९॥

अथास्य जागरावस्थामाह—अपह्नुवानस्येति । निजामधीरतां चपलत्वं जनाया-
ह्नुवानस्यापलपतः 'श्लाघह्नुङ्स्थे'त्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । अस्य नलस्य मनो-
वा कामेन यज्जागरप्रलापादिकं कृतन्तत्सर्वं जागरदुःखस्य साक्षिणी । 'साक्षाद्-
ष्टरि संज्ञायामि'ति साक्षाच्छब्दादिनिप्रत्यये ङीप् । शशाङ्केन कोमला रम्या निशा
बोधि । 'दीपजने'त्यादिना कर्त्तरि च्लेश्चिणादेशः । तथा शशाङ्कवत्कोमला मृदुला
य्या अबोधि, निशायां शय्यायां जागरणयोस्तत्साक्षित्वमिति भावः ॥ ४९ ॥

कामदेवने अन्य लोगोंसे अपनी अधीरताको छिपाते हुए इस नलका जो कुछ किया,
नलके जागनेको प्रत्यक्ष देखनेवाली रात्रि तथा शशकके अङ्कके समान कोमल शय्या
नती थी । (अथवा चन्द्रमनोहर रात्रि एवं चन्द्रवत् शुभ्र होनेसे कोमल शय्या जानती
) । [नलकी दमयन्ती-विरहजन्या अधीरताको दूसरे किसीने तो नहीं पहचाना । वे
तभर जगते हुए शय्यापर लोटते रहते थे] ॥ ४९ ॥

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत ।
त्यजन्त्यसून्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥५०॥

ननु किमनेन निबन्धनेन, याच्यताम्भीमभूपतिर्दमयन्तीम्, नेत्याह—स्मरेत्यादि ।
शं गाढं स्मरोपतप्तः कामसन्तप्तोऽपि प्रभुः समर्थः स नलः विदर्भराजं भीमनृपतिं
यां दमयन्तीं न अयाचत न याचितवान् 'दुहियाची'त्यादिना याचेर्द्विकर्मकता ।
ाहि—मानिनो मनस्विनोऽत्युच्चमनस्काः प्राणान् शर्म च सुखञ्च त्यजन्ति एतत्त्या-
ऽपि वरं मनाक् वरमिति मनागुत्कर्षे इति महोपाध्यायवर्द्धमानः । किन्तु, एकम-
तीयमयाचितव्रतम् अयाच्ञानियमन्तु न त्यजन्ति, मानिनां प्राणत्यागदुःखाद् दुः-
हं याच्ञाया दुःखमित्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥५०॥

उस राजा नलने कामदेवसे अतिशय पीडित होकर भी विदर्भनरेश (भीम) से दम-
ीको नहीं मांगा, क्योंकि मानीलोग प्राणत्याग भले ही कर देते हैं, किन्तु एकमात्र
ाचनाके नियमका त्याग नहीं करते । [अथवा—……मानी लोग सुख तथा प्राणोंका
ग भले ही कर देते हैं,…… । अथवा—मानी लोग प्राणोंका त्याग सुखपूर्वक कर
हैं, किन्तु अयाचनाके श्रेष्ठ नियमका त्याग नहीं करते] ॥ ५० ॥

षाविषादाभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःश्वासततिं वियोगजाम् ।
वेलेपनस्याधिकचन्द्रभागताविभावनाच्चापललाप पाण्डुताम् ॥ ५१ ॥

मृषेति । अयं नलो वियोगजां दमयन्तीवियोगजन्यां निःश्वासततिं निःश्वा स्परां क्वचित् कुत्रचिद्वस्त्वन्तरे विषये मृषाविषादस्य मिथ्यादुःखस्याभिनयात् जुगोप संववार । तथा पाण्डुतां विशदतां शरीरपाण्डिमानं च विलेपनस्य चन् धिकः चन्द्रभागः कर्पूरांशो यस्मिन् विलेपने 'घनसारश्चन्द्रसंज्ञः सिताभ्रो हि लुका' इत्यमरः । तस्य भावस्तत्ता तस्या विभावनात् कर्पूरभागाधिकतोत्प्रेक्षणा लाप निह्नुतेस्म । [1]अत्राङ्गगताभ्यां मृषाविषादचन्द्रभागपाण्डिमभ्यां तद्विरहश्वा ण्डिम्नोर्निगूहनान्मीलनालङ्कारः । 'मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम् ।' लक्षणात् ॥ ५१ ॥

वे (नल) किसी वस्तुके विषयमें निरर्थक (झूठे ही) विषादके प्रदर्शित क दमयन्ती-विरहजन्य निःश्वास-समूहको छिपाते थे, तथा चन्दनमें अधिक कर्पूर का बहाना कर अपनी पाण्डुताको छिपाते थे । (अथवा—वे व्यर्थ ही 'शिव' के अधि दमयन्ती-विरहजन्य……, अर्थात् वास्तविकमें तो दमयन्तीके विरहसे उन्हें अधिक आते थे, किन्तु श्वास आनेपर 'शिव-शिव' कहकर लोगोंको यह प्रदर्शित करते 'मैं व्यर्थ ही किसी वस्तुके विषयमें शोक कर रहा हूं, जो बीत गया वह पुनः आता नहीं है,……) ॥ ५१ ॥

शशाक निह्नोतुमनेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम् ।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनासु च ॥

शशाकेति । अयन्नलोऽलीकवीक्षितां मिथ्यादृष्टां प्रियां दमयन्तीं समाजे स मेव यत् बभाषे बभाण वीणा शिल्पमेषां तैर्वैणिकैः वीणावादैः 'शिल्पमि'ति आलपितासु सूच्चरितासु व्यक्तिं गतास्वित्यर्थः । 'रागव्यञ्जक आलाप' इति णात् । पञ्चमस्य पञ्चमाख्यस्य स्वरस्य मूर्च्छनासु आरोहावरोहणेषु 'क्रमात् स्व सप्तानामारोहादवरोहणम् । मूर्च्छनेत्युच्यत' इति लक्षणात् । पञ्चमग्रहण कोकिलालापकोमलत्वेन उद्दीपकत्वातिशयविवक्षयेत्यनुसन्धेयम् । मुमूर्च्छेत्यपि दुभयम् अनेन प्रकारेण निह्नोतुमाच्छादयितुं शशाक । 'अये' इति पाठे इत्यर्थः । 'अये क्रोधे विषादे चे'ति विश्वः । एतेन ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छा सूचिताः ॥ ५२ ॥

इस नलने (भावनावश) मिथ्यादृष्ट प्रिया (दमयन्ती) से जो कहा त बजानेवालोंके पञ्चम स्वरकी मूर्च्छनाओंके अवसरपर समाज (जन-सभा) में मूर्च्छित हुए, उसे भाग्य ही छिपा सका अर्थात् नलके उक्त भाषण तथा मूर्च्छाको वश लोग नहीं देख सके । (अथवा—मिथ्यादृष्ट प्रियासे जो नलने 'अये' कहा नहीं छिपा सके ? अर्थात् छिपा ही लिया, तथा वीणावादकोंके पञ्चम स्वरकी मू

---

१. अयमंशः म० म० पं. शिवदत्तशर्मटिप्पण्याधारेण वर्द्धितः ।

मय जो नल दमयन्तीके उद्देश्यसे मूर्च्छित हुए, उसे लोगोंने समझा कि वीणाके मूर्च्छ-
नन्दजन्य आनन्दातिशयसे नेत्रनिमीलनादि कर रहे हैं, अतः उसे भी कोई पहचान
हीं सका। अथवा—उक्त मूर्च्छनाके समयमें समाज ही मूर्च्छित (आनन्दातिशयसे
न्मय) हो गया, अतएव अलीकदृष्ट दमयन्तीके प्रति किया गया नलोक्त भाषण कोई
हीं सुन सका। [अथवा……उक्त मूर्च्छनाकालमें समाज मूर्च्छित हो गया, अतएव वह
लीकदृष्ट दमयन्तीके प्रति किये गये भाषणको नहीं सुन सका, किन्तु उसे वे नल काम-
वसे नहीं छिपा सके अर्थात् कामदेवने तो उनके उक्त भाषणको समझ ही लिया]॥५२॥

अवाप सापत्रपतां स भूपतिर्जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः।
असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषि॥ ५३॥

अवापेति। जितेन्द्रियाणां धुर्याग्रे कीर्त्तितस्थितिः स्तुतमर्यादः स भूपतिः नलः
त्र समाजे असंवरे संवरितुमशक्ये संवरणं संवरः शमश्चेत्यपि, न विद्यते संवरो
तेस्य तस्मिन् शम्बरवैरिविक्रमे मनसिजविकारे क्रमेण स्फुटतामुपेयुषि सति सापत्र-
तां सलज्जताम् अवाप। धैर्यशालिनां तदङ्गस्त्रपाकर इति भावः॥ ५३॥

जितेन्द्रियोंके अग्रणी वे राजा नल उस समाज (जन-समूह) में अगोपनीय काम-
राक्रम (कामजन्य पाण्डुतादि विकार) के क्रमशः स्पष्ट हो जाने पर लज्जित हो गये।
लोगोंने धीरे-धीरे नलके कामजन्य विकारको जान लिया]॥ ५३॥

अलं नलं रोद्धुममी किलाभवन् गुणा विवेकप्रभवा न चापलम्।
स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः॥ ५४॥

ननु विवेकिनः कुत इदं चापल्यम्? इत्यत आह—अलमिति। युक्तायुक्तविचारो
वेकः तत्प्रभवा अमी गुणा धैर्यादयः, नलमिदं स्त्रीलाभरूपं चापलं निरोद्धुम्
हियाची'त्यादिना रुन्धेर्द्विकर्मकत्वम्। अलं समर्था नाभवन् किल खलु। तथाहि—
पिरः कामः। जनमिति शेषः। जनं रत्यां रागे अनिरुद्धं सृजति अनीश्वरमवशं करोति
यां रतिदेव्यामनिरुद्धाख्यं कुमारं सृजतीति ध्वनिः। इति यत् अयं सर्गनिसर्गः
ष्टिस्वभाव ईदृशः। 'रतिः स्मरप्रियायां च रागेऽपि सुरतेऽपि च'। 'अनिरुद्धः कामपु-
रुद्धे चानीश्वरेऽपि चे'ति विश्वः। अत्र स्मररागदुर्वारतायाः सर्वसृष्टिसाधारण्येन
पलदुर्वारतासमर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ ५४॥

ये प्रसिद्ध विवेक आदि गुण नलकी चपलताको नहीं रोक सके, क्योंकि कामदेव रति
अनुराग) होनेपर चपलता की ही सृष्टि करता है, यही सृष्टिका नियम है। (अथवा—
मदेव रतिकालमें चपलताकी ही सृष्टि करता है अर्थात् रतिकालमें सभी चञ्चल हो जाते
अथवा—कामदेव 'रति' नामकी अपनी प्रियामें 'अनिरुद्ध' नामक पुत्रको ही उत्पन्न
ता है, यही सृष्टिका नियम है)। [विवेकादिगुणयुक्त भी नल दमयन्ती-विरहजन्य
मपीडासे अतिशय चञ्चल हो गये]॥ ५४॥

अनङ्गचिह्नं स विना शशाक नो यदासितुं संसदि यत्नवानपि ।
क्षणं तदारामविहारकैतवान्निषेवितुं देशमियेष निर्जनम् ॥ ५५

अथास्य मनोरथसिद्धौपयिकदिव्यहंससंवादनिदानभूतं वनविहारं प्रस्तौति ङ्गेति । स नैषधो नलो यत्नवानप्यनङ्गचिह्नं मूर्च्छाप्रलापादिस्मरविकारं विना क्षणमप्यासितुं यदा नो शशाक तदा आरामविहारकैतवादुपवनविहरणव्याजा देशं निषेवितुम् इयेष देशान्तरं गन्तुमैच्छदित्यर्थः । एतेन चापलाख्ये सञ्चा भ्रमणलक्षणोऽनुभाव उक्तः ॥ ५५ ॥

(अब नलके उपवनगमनका प्रसङ्ग उपस्थित करते हैं—) जब प्रयत्न करने पर नल समाज (जन-समूह) में (दमयन्ती-विरहजन्य पाण्डुता, कृशता, निःश्वास आ कामचिह्नोंके विना नहीं रह सके अर्थात् उक्त कामचिह्नोंको लोगोंसे नहीं छिपा सके उद्यानमें विहार करनेके बहानेसे कुछ समय तक निर्जन देशमें रहनेकी इच्छा की ॥

अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनस्समं वयस्यैस्स्वरहस्यवेदिभिः ।
पुरोपकण्ठोपवनं[1] किलेक्षिता दिदेश यानाय निदेशकारिणः ॥ ५

अथेति । अथानन्तरं श्रिया सौन्दर्येण भर्त्सितमत्स्यकेतनस्तिरस्कृतस्म नलः स्वरहस्यवेदिभिः निजभैमीरागमर्मज्ञैर्वयसा तुल्या वयस्याः स्निग्धाः ' वयस्यः सवयाः' इत्यमरः । तैः सह समं पुरोपकण्ठोपवनं पुरसमीपाराममी द्रष्टा, तृन्नन्तमेवैतत् अत एव 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । किलेत्यलीके । कारिण आज्ञाकरान् यानाय यानमानेतुमित्यर्थः । 'क्रियार्थोपे'त्यादिना च दिदेश आज्ञापयामास ॥ ५६ ॥

इस (उद्यान-विहारार्थ इच्छा करने) के बाद (कामपीडित होनेपर भी) शोभासे कामदेवको भर्त्सित करनेवाले, अपने अर्थात् नलके रहस्य (ये वस्तुतः रार्थ उद्यानको नहीं जा रहे हैं, किंतु कामचिह्नगोपनार्थ जा रहे हैं ऐसे गुप्त विषय जाननेवाले मित्रोंके साथ नगरके समीपवर्ती उद्यानके दर्शनेच्छुक उन नलने (घोड़ा) लानेके लिये भृत्योंको आदेश दिया ॥ ५६ ॥

अमी ततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाधिकम् ।
उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम्[2] ॥ ५७ ॥

अमी इति । तत आज्ञापनानन्तरं अमी निदेशकारिणः तस्य विभूषितमलं जवेऽपि वेगेऽपि माने प्रमाणेऽपि च पौरुषात् पुरुषगतिवेगात् पुरुषप्रमाणाव 'ऊर्ध्वविस्तृतदोःपाणिनृमाने पौरुषं त्रिषु' इत्यमरः । 'पुरुषहस्तिभ्यामण् च' त्ययः । अजस्रञ्चञ्चलैश्चटुलस्वभावैः खुराञ्चलैः शफाग्रैः क्षोदितं मन्दुरोदरं चूर्णि

---

[1] 'पुरोपकण्ठं स वनम्' इति पाठान्तरम् । [2] 'क्षोभित—' इति पाठान्तरम् ।

शालाभ्यन्तरं 'वाजिशाला तु मन्दुरे'त्यमरः । एतेनोत्तमाश्वलक्षणयुक्तं सितं श्वेतश्वमुपाहरन्नानिन्युरित्यर्थः ॥ ५७ ॥

तदनन्तर वे नौकर अलङ्कारोंसे विभूषित, श्वेतवर्ण, वेग तथा उँचाईमें भी पुरुषमें धिक और निरन्तर चञ्चल खुराग्रभागोंसे अश्वशाला (घुड़सार) के मध्यभागको चूर्णित रनेवाले घोड़ेको उस नलके लिए लाये ॥ ५७ ॥

अथान्तरेणावटुगामिनाऽध्वना निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः ।
निगालगाद्देवमणेरिवोत्थितैर्विराजितं केसरकेशरश्मिभिः ॥ ५८ ॥

अथ सप्तभिः कुलकमाह—अथेत्यादि । अथानयनानन्तरं स नलः हयमारुरोहेत्युरेणान्वयः । कथं भूतमान्तरेणाभ्यन्तरेण अवटुगामिना कृकाटिकाख्यमस्तकपृष्ठजा,'अवटुर्घाटा कृकाटिके'त्यमरः, अध्वना मार्गेण निगालगाद्गलोद्देशात् 'निगालस्तु लोद्देश' इत्यमरः । देवमणिः आवर्त्तविशेषः, 'निगालजो देवमणिरि'ति लक्षणात् । ष्यमाणिक्यं च गम्यते, तस्मादुत्थितैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । निशीथिनीनाथमहः-होदरैश्चन्द्रांशुसदृशैरित्युपमा । केसरकेशा एव रश्मय इति रूपकं तैर्विराजितम् ॥५८॥

(अब सात श्लोकों (१।५८–६४) से उक्त घोड़ेका वर्णन करते हैं—) इसके बाद लप्रदेशस्थ देवमणि (दक्षिणावर्त घूमी हुई बालोंकी भौंरीरूप 'देवमणि' नामक शुभलक्षणत्वक चिह्न-विशेष) से कण्ठके बीचमें स्थित गर्दनके ऊपरी प्रदेशकी ओर जाते हुए मार्गसे कले हुए तथा चन्द्रमाकी किरणोंके समान (उज्ज्वल वर्णवाले) केसर (अयाल) के बालोंकी रणोंसे शोभित (या—पक्षिराज गरुडके समान आचरण करनेवाले) 'घोड़ेपर वे नल वार हुए' ऐसा आगामी (१।६४) श्लोकसे सम्बन्ध करना चाहिये । [देवमणि कौस्तुमणि तथा चन्द्रको भी कहते हैं, वे दोनों ही समुद्रसे उत्पन्न हैं, अतएव देवमणिसे पन्न केशरके बालोंका चन्द्रसहोदर होना उचित ही है] ॥ ५८ ॥

अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः ।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः ॥ ५९ ॥

अजस्रेति । अजस्रेण भूमीतटकुट्टनेन उद्गतैरुत्थितै रेणुभिः रयप्रकर्षस्य वेगातियस्याध्ययनार्थमभ्यासायागतैरणिमाङ्कितैरणुत्वपरिमाणविशिष्टैर्जनस्य लोकस्य तोभिरिवेत्युत्प्रेक्षा । चरणेषु पादेषु उपास्यमानं सेव्यमानम् । 'अणुपरिमाणं मन' ति तार्किकाः ॥ ५९ ॥

तीव्र वेगको पढ़नेके लिए आये हुए अणुपरिमाणवाले, लोगोंके मनोंके समान निरन्तर तलको चूर्णित करनेसे उत्पन्न हुई धूलियोंके द्वारा चरणोंमें सेवित—(घोड़ेपर वे नल वार हुए' ऐसा अग्रिम (१।६४) श्लोकसे सम्बन्ध करना चाहिये)। [उस घोड़ेका मनुष्योंके मनसे भी तीव्र था, अतः वे (लोगोंके मन) उस घोड़ेके पास तीव्र वेगको खनेके लिए आकर शिष्यके समान उसके चरणोंकी सेवा करते हैं, ऐसा प्रतीत होता

था, क्योंकि लोगोंके मनका परिमाण भी अणुपरिमित है, वे निरन्तर भूमिपर पैर प
सूक्ष्मतम धूलिरूपमें उपस्थित थे । विद्याध्ययनार्थ शिष्यका गुरुके समीप जाकर
चरणोंकी सेवा करना उचित ही है । नलके घोड़ेका वेग मनुष्योंके मनसे भी
तीव्र था] ॥ ५९ ॥

चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम् ।
अलं गिरा वेद किलायमाशयं स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम् ॥

चलाचलेति । पुनः, चलाचलप्रोथतया स्वभावतः स्फुरमाणघोणतया चलि
पदीनामुपसंख्यानाच्चलेर्द्विर्वचनं दीर्घश्च । 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियामि'त्यमरः ।
भृते नलाय स्ववेगदर्पान् वेगातिरेकान् वक्तुमुत्सुकमुद्युक्तमिवेत्युत्प्रेक्षा । अथा
हेतुमुत्प्रेक्षते-अलमिति । गिरा उक्त्या अलं कुतः, अयं नलः स्वयं हयस्याश्वस्य
यमभिप्रायं वेद वेत्ति किल । 'विदो लटो वे'ति न लादेशः । इति हेतोरिवेत्यु
मौनं तूष्णीम्भावञ्चास्थितं प्राप्तम् । अश्वहृदयवेदी नल इति प्रसिद्धिः ॥ ६० ॥

ओष्ठाग्रकी अत्यन्त चञ्चलतासे अपने वेगके दर्पोंको मानो राजा नलसे कहनेके
उत्कण्ठित, किन्तु 'मत कहो, ये नल स्वयं ही घोड़ेके अभिप्रायको जानते हैं' इस का
मानो मौन धारण किये हुए-घोड़ेपर वे नल सवार हुए 'ऐसा अग्रिम' (१।६४) इ
सम्बन्ध करना चाहिये ॥ ६० ॥

महारथस्याध्वनि चक्रवर्तिनः परानपेक्षोद्वहनाद्यशस्सितम् ।
रदावदातांशुमिषादनीदृशां हसन्तमन्तर्बलमर्वतां रवेः ॥ ६१

महारथस्येति । महान् रथो यस्य तस्य महारथस्य । 'आत्मानं सारथिं
रक्षन् युद्ध्येत यो नरः । स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः ॥' इत्युक्तलक्ष
रथिकविशेषस्येत्यर्थः । अन्यत्र महारथो नलः तस्य महारथस्य चक्रं राष्ट्रं वर्त्तय
चक्रवर्त्ती सार्वभौमः तस्य नलस्य, 'हरिश्चन्द्रो नलो राजा पुरुः कुत्सः पुरूरवाः ।
कार्त्तवीर्य्यश्च षडेते चक्रवर्त्तिनः' ॥ इत्यागमात् । अन्यत्र चक्रेणैकेन वर्त्तनशीलस्येत
अध्वनि मार्गे नापेक्षत इत्यनपेक्षं पचाद्यच् , परेषामनपेक्षं तस्मादुद्वहनादसहाये
नाद्धेतोर्यशःसितं कीर्त्तिविशदम् अत एवानीदृशामीदृशयशोरहितानाम् । 'सप्त युञ्ज
रथमेकचक्रमि'ति सप्तानां सम्भूयोद्वहनश्रवणादिति भावः । रवेरर्वतामश्वानाम
लमन्तःसारं रदानां दन्तानां ये अवदाताः सिताः अंशवः तेषां मिषाद्धसन्तं ह
मिव स्थितमित्यर्थः । अत्र मिषशब्देनांशूनामसत्यत्वमापाद्य हासत्वोत्प्रेक्षणात्
वोत्प्रेक्षेयं गम्या च व्यञ्जकाप्रयोगात् । 'रदना दशना दन्ता रदा' इत्यमरः ॥

महारथ (दश सहस्र प्रतिभट योद्धाओंके साथ अपने सारथि अश्व, रथ तथा
रक्षा करते हुए युद्ध करनेवाले) तथा चक्रवर्ती नलके मार्गमें दूसरेकी अपेक्षाके बिना
ले जानेसे उत्पन्न यशसे श्वेतवर्ण, (अत एव) दाँतोंकी श्वेत किरणोंके बहाने (क

शाल रथवाले तथा एक पहिये वाले सूर्यके 'मार्ग' अर्थात् 'आकाशमें' अतद्रूप अर्थात् दूसरे अपेक्षासे रथको ले जानेवाले हरे रंगवाले उनके घोड़ोंको मुखके भीतरमें हँसते हुए 'घोड़ेपर नल सवार हुए' ऐसा सम्बन्ध अग्रिम (१।६४) श्लोकसे करना चाहिये)। बड़े रथवाले तथा एक चक्र (पहिये) वाले सूर्यके मार्गमें उनके घोड़े दूसरोंकी सहायता रथको ढोते थे, अतएव वे यशोहीन होनेसे हरे रंगके थे, किन्तु महारथ एक चक्रवर्ती सार्वभौम) नलके मार्गमें यह घोड़ा विना किसीकी सहायताके रथको ढोता था, अतएव ससे उत्पन्न यशसे मानों यह नलका घोड़ा श्वेतवर्ण था, इसी कारण यह सूर्यके अतद्रूप घोड़ोंको दाँतोंकी शुभ किरणोंके बहानेसे मानों हँस रहा था] ॥ ६१ ॥

सिततित्वषश्चञ्चलतामुपेयुषो मिषेण पुच्छस्य च केसरस्य च ।
स्फुटाञ्चलच्चामरयुग्मचिह्नकैरनिह्नुवानं निजवाजिराजताम् ॥ ६२ ॥

सितेति । पुनः कथम्भूतम् ? सितत्विषः विशदप्रभस्य चञ्चलतामुपेयुषः चञ्चल- त्यर्थः । पुच्छस्य लाङ्गूलस्य केसरस्य ग्रीवास्थबालस्य च मिषेण च्छलेन चलत- ामरयुग्मस्य चिह्नकैः लक्षणैः स्फुटां प्रसिद्धां निजां वाजिराजतां अश्वेश्वरत्वमनिह्नु- वानं प्रकाशयन्तमिव । अराज्ञः कथञ्चामरयुग्ममिति भावः । पूर्ववदलङ्कारः ॥ ६२ ॥

श्वेत कान्तिवाले तथा चञ्चल पूँछ तथा गर्दनके अयालों (बालों) के कपटसे डुलते ए दो चामरोंके चिह्नोंके द्वारा अपने अश्वराजत्वको प्रकट करते हुए—('घोड़ेपर वे नल वार हुए' ऐसा सम्बन्ध अग्रिम (१।६४) श्लोकके साथ करना चाहिये)। [राजाके भय पार्श्वमें डुलाये जाते हुए श्वेतवर्ण दो चामरोंके समान पूँछ तथा गर्दनके श्वेतवर्ण लते हुए घोड़ेके बाल चँवर बन गये थे, जिससे वह अपनेको घोड़ोंका राजा अर्थात् ष्ठतम घोड़ा होना प्रकट करता था] ॥ ६२ ॥

अपि द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया ।
उपेयिवांसं प्रतिमल्लतां रयस्मये जितस्य प्रसभं गरुत्मतः ॥ ६३ ॥

अपीति । पुनः कथम्भूतं स्थितम् ? रयस्मये वेगप्रयुक्ताहङ्कारे प्रसभं प्रसह्य जितस्य प्रागेव निर्जितस्य गरुत्मतः मुखानुषक्ता वक्त्रलग्ना आयता दीर्घा वल्गू रम्या या वल्गा मुखरज्जुः तया तन्मिषेणेत्यर्थः । द्विजिह्वानामहीनामभ्यवहारे आहारे वत् पौरुषे सर्पभक्षणपुरुषकारेऽपि प्रतिमल्लतां प्रतिद्वन्द्विताुपेयिवांसं प्राप्तम् । तथा गम्योरुप्रेक्षेयम् । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चे'ति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः ॥ ६३ ॥

वेगके अभिमानमें बलात्कारसे जीते गये गरुड़के सर्प-भक्षणरूप पुरुषार्थमें भी मुखमें पड़े हुए लगामकी (श्वेतवर्ण सर्पाकार) रस्सीसे प्रतिमल्लभावको प्राप्त—('घोड़ेपर वे नल सवार हुए' ऐसा सम्बन्ध अग्रिम (१।६४) श्लोकसे करना चाहिये)। [इस घोड़ेने तीव्र वेगमें पहले ही गरुड़को बलात्कारपूर्वक पराजित कर दिया था, किन्तु गरुड़की दूसरी शक्ति सर्पोंको भक्षण करनेमें भी थी, उस शक्तिको भी यह घोड़ा मुखमें पड़े हुए लगामकी

सर्पाकार एवं श्वेतवर्ण रस्सीसे मानो गरुड़का प्रतिद्वन्द्वी होकर उन्हें जीत रहा था। मुखमें पड़े हुए लगामकी रस्सी दो सर्पोंके समान प्रतीत हो रही थी]॥ ६३ ॥

स सिन्धुजं शीतमहस्सहोदरं हरन्तमुच्चैःश्रवसः श्रियं हयम् ।
जिताखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनस्तमारुरोह क्षितिपाकशासनः ॥

स इति । जिता अखिलाः क्ष्माभृतो भूपा भूधराश्च येन सः अनल्पे विशालाक्षः अन्यत्र बहुनेत्रः सहस्राक्ष इति यावत् । क्षितिपाकशासनः क्षितीन्द्रो देवेन्द्रश्च सिन्धुजं सिन्धुदेशोद्भवं समुद्रोद्भवञ्च 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना स्त्रियामि'त्यमरः । शीतमहःसहोदरं चन्द्रसवर्णमित्यर्थः, अन्यत्र चन्द्रभ्रात योनित्वादिति भावः । उच्चैःश्रवस इन्द्राश्वस्य श्रियं हरन्तं तत्स्वरूपमित्यर्थः हयमारुरोह । अत्रोच्चैःश्रवसः श्रियं हरन्तमिवेत्युपमा । सा च श्लिष्टविशे सङ्कीर्णेयं क्षितिपाकशासन इत्यतिशयोक्तिः ॥ ६४ ॥

सिन्धु देश (पक्षा०—समुद्र) में उत्पन्न (अतएव) चन्द्रमाके सहोदर (तथा उच्चैःश्रवाकी शोभाको हरण करते हुए उस (नौकरोंद्वारा लाये गये) घोड़ेपर राजाओंके विजेता तथा विशाल नेत्र (या—ज्ञान) वाले (पक्षा०—पर्वतोंके तथा बहुत अर्थात् सहस्र नेत्रोंवाले) पृथ्वीके इन्द्र (पृथ्वीपति) राजा नल सवार [समुद्रोत्पन्न चन्द्रमाके सहोदर उच्चैःश्रवापर सर्वपर्वतविजेता सहस्रनेत्र इन्द्रके सिन्धुदेशोत्पन्न, चन्द्रमाके समान श्वेतवर्ण उच्चैःश्रवाकी शोभावाले उस घोड़ेपर सर्व विजेता विशालनयन भूपति नल सवार हुए]॥ ६४ ॥

निजा मयूखा इव तिग्मदीधितिं स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम् ।
तमश्ववारा जवनाश्वयायिनं प्रकाशरूपा मनुजेशमन्वयुः ॥

निजा इति । निजा आत्मीयाः प्रकाशरूपा उज्ज्वलाकारा भास्वररूपाश्च न्वारयन्तीत्यश्ववाराः अश्वारोहाः स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजं पद्मरेखाङ्कितह अन्यत्र पद्महस्तं जवनो जवशीलः 'जुचङ्क्रमे'त्यादिना युच् । तेनाश्वेन अन्यत्र श्वैर्यातीति तथोक्तं मनुजा मनोर्जाता मनुजा नरास्तेषामीशं राजानञ्च तं नलं दीधितिं सूर्यं मयूखा इव अन्वयुः । अन्वगच्छन् । यातेर्लिट् झेर्जुसादेशः ॥

विकसित कमलसे चिह्नित करकमलवाले तथा तीव्र (उच्चैःश्रवा नामक) चलनेवाले सूर्यके पीछे जिस प्रकार प्रकाशरूप अपने किरण चलते हैं, उसी प्रकार (रूप) विकसित कमलसे चिह्नित करकमलवाले तथा तीव्र घोड़ेसे चलनेवाले उस म (नल) के पीछे अपने घुड़सवार चलने लगे ॥ ६५ ॥

चलन्नलङ्कृत्य महारयं हयं स वाहवाहोचितवेषपेशलः ।
प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिर्व्यलोकि लोकैर्नगरालयैर्नलः ॥ ६६

चलन्निति । वाहवाहोचितवेषपेशलः अश्ववाहोचितनेपथ्यचारुः 'चारौ

पेशल' इत्यमरः । स नलो महारयमतिजवं हयमलङ्कृत्य चलन् स्वयं हयस्य भूषणीभूय गच्छन्नित्यर्थः । प्रमोदेन निष्पन्दतराणि अत्यन्तनिश्चलानि अक्षिपक्ष्माणि येषान्तैरनिमेषदृष्टिभिरित्यर्थः । नगरालयैर्नगरनिवासिभिरित्यर्थः । लोकैर्जनैर्व्यलोकि विस्मयहर्षाभ्यां विलोकित इत्यर्थः । वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः ॥ ६६ ॥

तीव्र वेगवाले घोड़ेको (अपने चढ़नेसे) अलङ्कृत कर चलते हुए तथा अपने वाहन घोड़ेके योग्य वेषसे सुन्दर उस नलको अतिशय हर्षके कारण निमेषहीन नेत्रके पलकोंवाले अर्थात् हर्षातिशयसे निमेष–हीन होकर नगरवासियोंने देखा ॥ ६६ ॥

क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभः प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना ।
सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर्बहिःपुरोऽभूत् पुरुहूतपौरुषः ॥ ६७ ॥

क्षणादिति । अथानन्तरं क्षणदापतिप्रभश्चन्द्रतुल्यस्तथा पुरुहूतपौरुषः इन्द्रस्येव पौरुषं कर्म तेजो वा यस्य तादृश एष नलः । प्रभञ्जनेन वायुना अध्येयः शिक्षणीयः जवो वेगो यस्य तथाविधेन वाजिना अश्वेन क्षणादिति क्षणात्ताभिः पूर्वोक्ताभिः जनानां दृष्टिवृष्टिभिः दृक्पातैः सह जनैर्दृश्यमान इवेत्यर्थः । बहिःपुरः पुराद्बहिः स्थितोऽभूदिति बहिर्योगे पञ्चमी । पूर्वं पुरे दृष्टः क्षणादेव पुराद्बहिर्दृष्ट इति वेगातिशयोक्तिः ॥ ६७॥

(आह्लादक होनेसे) चन्द्रमाके समान कान्तिवाले तथा इन्द्रके समान सामर्थ्यवाले वे नल वायु द्वारा भी अध्ययन किए जाने 'योग्य' वेगवाले अर्थात् अतिशय तीव्रगामी घोड़ेसे नागरिकोंकी दृष्टि–वृष्टिके साथ ही क्षणमात्रमें नगरसे बाहर हो गये ॥ ६७ ॥

ततः प्रतीच्छ प्रहरेति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे ।
मृषा मृधं सादिबले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतुः ॥ ६८ ॥

तत इति । ततः पुराद्बहिर्गमनानन्तरं प्रतीच्छ गृहाण प्रहर जहीति भाषिणि भाषमाणे इत्यर्थः । परस्परमन्योन्योपरि उल्लासितानि प्रसारितानि शल्यपल्लवानि तोमराग्राणि याभ्यां ते तथोक्ते 'शल्यं तोमरमि'त्यमरः । नलस्य नासीरगते सेनाग्रवर्त्तिनि 'सेनामुखन्तु नासीरमि'त्यमरः । सादिबले तुरङ्गसैन्ये कुतूहलात् मृषा मृधं मिथ्यायुद्धं युद्धनाटकमित्यर्थः । वितेनतुश्चक्रतुः 'मृधमायोधनं संख्यमि'त्यमरः ॥ ६८॥

इस (नलके नगरसे बाहर निकलने) के बाद 'सम्हालो, मारो' ऐसा कहते हुए, परस्पर तोमरादि अस्त्रोंको उठाये हुए, नलके सेनामुखमें स्थित घुड़सवारोंके दो दल कौतूहलवश झूठे युद्धका प्रदर्शन करने लगे ॥ ॥ ६८ ॥

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम् ।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुत्थितं रजः ॥ ६९ ॥

प्रयातुमिति । इयं धरा भूः समुद्रातिरिक्तेति भावः । अस्माकं प्रयातुं प्रस्थातुं कियत्पदं गन्तव्यं स्थानं न किञ्चित्पर्याप्तमित्यर्थः । तस्मादम्भोधिरपि स्थलायतां स्थलवदाचरतु, भूरेव भवत्वित्यर्थः । 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति क्यङ्प्रत्ययः । इतीवेति ।

इतीव इति मत्वेत्यर्थः । इतिनैव गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः अन्यथा पौनरु क्रियानिमित्तोत्प्रेक्षा । निजवेगेन दर्पितैः सञ्जाततदर्पैः वाहैर्नलाश्वैः पयोधिशो समुद्रच्छादनपर्याप्तं रज उत्थितमुत्थापितं तथा सान्द्रमिति भावः ॥ ६९ ॥

'हम लोगोंके चलनेके लिए यह पृथ्वी कितने पैर (कितने कदम) होगी ? अत्यन्त थोड़ी होगी, इससे यह समुद्र भी स्थल बन जाय', मानो ऐसा विचारकर वेगके अभिमानी घोड़ोंने समुद्रको पूरा करने (सुखाने) में समर्थ धूलि को उड़ाया ।

हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि तस्य नः ।
त्रपा हरीणामिति नम्रिताननैर्न्यवर्ति तैरर्धनभःकृतक्रमैः ॥ ७०

हरेरिति । यत् खमाकाशं हरेर्विष्णोरेककेन एकाकिना 'एकादाकिनिच्चासहा इति चकारात् कन्प्रत्ययः । पदा पादेन 'पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियामि'त्यम 'पद्दन्नि'त्यादिना पदादेशः । अक्रामि अलङ्घि, तस्य खस्य चतुर्भिः पदैः क्रमणे कृते सत्यपीति शेषः। हरीणां वाजिनां विष्णूनां चेति गम्यते, 'यमानिलेन्द्रचन्द्रा विष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिष्वि'त्यमरः । उभयत्र नोऽस्माकं त्रपेति वेत्यर्थः । गम्यार्थत्वादिवशब्दस्याप्रयोगः । अत एव गम्योत्प्रे नम्रितानि निम्नीकृतानि आननानि यैस्तैः हरिभिः अर्द्धे नभसि कृतक्रमैः कृतल सद्भिर्न्यवर्त्ति निवर्त्तितम्, भावे लुङ् । यदन्येन पुंसा लघूपायेन साधितं गुरूपायेन करणं समानस्य लाघवाय भवेदिति भावः । एतेन प्लुतगतिरुक्ता, गगनलङ्घनस्य सम्भवादिति भावः ॥ ७० ॥

हरि (एक विष्णु, पक्षा०—एक घोड़े) के एक पैरने जिस आकाशका आक्रमण उस आकाशका हम अनेक हरियों (घोड़ों, पक्षा०—अनेक विष्णुओं) के चार आक्रमण करनेमें लज्जाकी बात है, मानो ऐसा विचारकर आधे आकाशमें पैरोंको हुए अधोमुख वे घोड़े (आकाशके आक्रमण करनेसे) निवृत्त हो गये । [लोकमें भी व्यक्तिके द्वारा किये गये कामको अनेक व्यक्तियोंके द्वारा करनेपर उन्हें लज्जा और वे इसी कारण अधोमुख होकर उस कार्यको करनेका विचार छोड़ देते हैं] ॥ ७०

चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव[१] सैन्धवाः ।
विहारदेशं तमवाप्य मण्डलीमकारयन् भूरितुरङ्गमानपि ॥ ७१ ॥

चमूचरा इति । तस्य नृपस्य चमूचराः सेनाचराः चरेष्टच्, सिन्धुदेशभवाः सैन्ध अश्वाः,'हयसैन्धवसप्तय'इत्यमरः।'तत्र भव' इत्यण्प्रत्ययः, तत्सम्बन्धिनोऽपि सैंध 'तस्येदमि'त्यण् । ते सादिनः अश्वसादिन इत्यर्थः,जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव जैनदर्शन द्धतयैवेत्युत्प्रेक्षा, 'श्रद्धार्चावृत्तिभ्योऽणि'ति मत्वर्थीयोऽण्प्रत्ययः, तं विहारदेशं स भूमिं सुगतालयञ्च 'विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालय' इति विश्वः ।

---

१. 'श्राद्धतयैव' इति पाठान्तरम् ।

रङ्गमान् भूरि बहुलं मण्डलीमपि मण्डलाकारं च अकारयन् अपिशब्दोऽत्रासिसमु- यार्थः। अन्यत्र मण्डलीं मण्डलासनमित्यर्थः । 'बौद्धाः स्वकर्मानुष्ठाने प्रायेण मण्ड- ानि कुर्वन्ति' इति प्रसिद्धिः ॥ ७१ ॥

उस राजा नलके सेनामें रहनेवाले तथा सिन्धुदेशज घोड़ोंवाले घुड़सवारोंने उस वाहरी डास्थलको प्राप्त कर बहुत–से घोड़ोंको भी (अर्थात् घोड़ोंके साथ स्वयं भी) उस प्रकार डलाकार गति विशेषसे घुमाया अर्थात् गोलाकार मैदानमें घोड़ोंको चक्कर कराया, जिस ार 'जिन'की कथनमें श्रद्धाभावसे ही सिन्धुदेशोत्पन्न जिन भक्त विहारस्थान (देव-मन्दिर) प्राप्तकर मण्डली कराते हैं अर्थात् मण्डलाकारसे स्थित होते हैं। [जिन-भक्त विहार अपने देवमन्दिर) में जाकर मण्डलाकार बैठते हैं, या सप्तधान्यमयी मण्डलीको कराते ऐसा उनका सम्प्रदाय है। नलके सैनिक सिन्धुदेशज घोड़ोंवाले घुड़सवारोंने घुड़दौड़के दानमें जाकर घोड़ोंको (घोड़ोंपर चढ़े रहनेके कारण स्वयं भी) चक्कर कटवाया अर्थात् ल मैदानमें घुमाया] ॥ ७१ ॥

द्विषद्भिरेवास्य विलङ्घिता दिशो यशोभिरेवाब्धिरकारि गोष्पदम् ।
इतीव धारामवधीर्य्य मण्डलीक्रियाश्रियाऽमण्डि तुरङ्गमैः स्थली ॥ ७२ ॥

द्विषद्भिरिति । अस्य नलस्य द्विषद्भिरेव पलायमानैरिति भावः। दिशो लङ्घिताः। स्य यशोभिरेवाब्धिः गोः पदं गोष्पदमकारि गोष्पदमात्रः कृतः, 'गोष्पदं सेविता- वितप्रमाणार्थे' इति सुडागमषत्वयोर्निपातः। इतीव इति मत्वेवेत्युत्प्रेक्षा, अन्य- ाधारणं कर्म नोत्कर्षाय भवेदिति भावः। तुरङ्गमैर्धाराङ्गतिं जातावेकवचनं पञ्चापि ारा इत्यर्थः। 'आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम्। गतयोऽमूः पञ्च ारा' इत्यमरः। अवधीर्य्य अनादृत्य मण्डलीक्रियाश्रिया मण्डलीकरणलक्ष्म्या ण्डलगत्यैवेत्यर्थः। स्थली अकृत्रिमा भूः 'जानपदे'त्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीप्, मण्डि अभूषि। मडि भूषायामिति धातोर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्, इदित्वान्नुमागमः ॥

इस (नल) के शत्रु ही (प्राणरक्षार्थ युद्धभूमिसे भागकर) दिशाओंको लाँघ गये हैं था यशों (इस नलकी कीर्तियों) ने ही समुद्रको गोष्पद (गौके पैरके गढेके समान तिशय छोटा) बना दिया है, मानो ऐसा विचारकर घोड़ोंने धारा (आस्कन्दित = रपट दौड़ना आदि ५ गतिविशेषों) को छोड़कर मण्डली करने (चक्कर काटने) की शोभासे ही पृथ्वीको सुशोभित किया। [इस श्लोकसे नलके शत्रुओंका इनके भयसे भागकर दिशाओंके अन्त तक पहुँचना तथा यशः-समूहका समुद्रके पारतक जाना सूचित होता है। घोड़ोंकी गतियोंके विषयमें विशेष जिज्ञासुओंको अमरकोषकी मत्कृत 'मणिप्रभा' नामक हिन्दी अनुवाद (२।८।४८–४९ में) देखना चाहिये] ॥ ७२ ॥

अचीकरच्चारुहयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः ।

मरुत् किमद्यापि न तासु[1] शिक्षते वितत्य वात्यामयचक्रचंक्रमान् ॥

अचीकरदिति । नलश्चारु यथा भवति तथा हयेन प्रयोज्येन कर्त्रा निजात
तलस्थले अधःप्रदेशे 'अधः स्वरूपयोरस्त्री तलमि'त्यमरः । या अमीर्मण्डलाव
करत् कारितवान्, करोतेर्णौ चङ्। तासु अमीषु विषये मरुत् अद्यापि वातानां
वात्या, 'वातादिभ्यो यः' । अत्र तद्भ्रमयो लक्ष्यन्ते, तन्मयान् तद्रूपान् चक्रचं
मण्डलगतीर्वितत्य विस्तीर्य्य न शिक्षते किन्त्वाभ्यस्यते किमित्युत्प्रेक्षा । शिक्षि
तथा सोऽपि गतिं कुर्यादित्यर्थः। वायोरप्यसम्भाविता गतीरचीकरदिति भावः।

नलने अपने छत्रके नीचे घोड़ेसे जिन सुन्दर मण्डलियोंको कराया, वायु
वायु-समूहरूप गोलाकार भ्रमणोंको विस्तृत कर उन मण्डलियोंके विषयमें नहीं सीख
क्या ? अर्थात् बहुत दिन बीत जानेपर आज भी वायु अश्वकृत उन मण्डलियोंको सी
का अभ्यास कर ही रहा है, तथापि यथार्थतः उन्हें नहीं सीख सका है । [ग्रीष्म
गोलाकार उड़ते हुए वायु-समूह (बवंडर) को यहां घोड़ेके मण्डलाकार चक्करके सी
की उत्प्रेक्षा की गयी है] ॥ ७३ ॥

विवेश गत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात् क्षोणिपतिर्धृतीच्छया।
प्रवालरागच्छुरितं सुषुप्सया हरिर्घनच्छायमिवाम्भसां निधिम् ॥

विवेशेति । ततः स क्षोणीपतिः क्षणाद्गत्वा धृतीच्छया सन्तोषकाङ्क्षया प्रव
पल्लवाः अन्यत्र प्रवालाः विद्रुमाः, 'प्रवालो वल्लकीदण्डे विद्रुमे नवपल्लव' इत्यम
तेषां रागेणारुण्येन छुरितं रूषितं घनच्छायं सान्द्रानातपमन्यत्र मेघकान्ति 'छाया
नातपे कान्तावि'ति विश्वः। विलासकाननं क्रीडावनम् अन्यत्र बवयोरभेदात् विल
कानां बिलेशयानां सर्पाणाम् आननं प्राणनं सुषुप्सया स्वप्तुमिच्छया हरिर्विष्णु
सान्निधिमब्धिमिव विवेश ॥ ७४ ॥

तदनन्तर राजा नल नवपल्लवोंकी लालिमासे युक्त तथा सघन छायावाले क्रीडो
को जाकर शीघ्र धैर्यकी इच्छासे (इस विलास-वनमें मुझे धैर्य प्राप्त होगा, इस
लाषासे) उस प्रकार प्रविष्ट हुये जिस प्रकार विष्णु भगवान् विद्रुमकी लालिमासे मि
तथा स्वयं मेघकी समान शोभावाले, क्षीरसमुद्रको प्राप्त कर शीघ्र सोनेकी इच्छासे
करते हैं, (अथवा—जिस प्रकार सिंह पल्लवोंकी लालिमासे युक्त सघन छायावाले
प्राप्त कर शीघ्र सोनेकी इच्छासे प्रवेश करता है) ॥ ७४ ॥

वनान्तपर्यन्तमुपेत्य सस्पृहं क्रमेण तस्मिन्नवतीर्णदृक्पथे ।
न्यवर्त्ति दृष्टिप्रकरैः पुरौकसामनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः ॥

वनान्तेति । अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः स्नेहादनुगच्छद्बन्धुसङ्घसदृशैरित्य
अत एवोपमालङ्कारः । पुरौकसां दृष्टिप्रकरैर्दृष्टिसमूहैः कर्त्तृभिर्वनान्तपर्यन्तं का

---

[1] 'ताः सुशिक्षते' इति पाठान्तरम् ।

न्तसीमासु उदकप्रान्तपर्य्यन्तञ्चेति गम्यते, ‘वने सलिलकानने’ इत्यमरः । सस्पृहं भिलाषं यथा तथा उपेत्य गत्वा अथ अनन्तरं क्रमेण तस्मिन् नले अवतीर्णदृक्पथे तिक्रान्तदृष्टिविषये सति न्यवर्ति निवृत्तं, भावे लुङ् । यथा बन्धुभिः ‘उदकान्तं यं पान्थमनुव्रजेदि’त्यागमात्प्रवसन्तमनुव्रज्य निवर्त्यते तद्वदित्यर्थः ॥ ७५ ॥

(किसी जाते हुए इष्ट बान्धवके) पीछे जाते हुए बन्धुसमूहके समान नगरवासियोंके त्र-समूह (नलको देखनेके लिए) वन तक जाकर क्रमशः उस नलके दृष्टिसे ओझल जानेपर लौट आये। [जिस प्रकार कोई इष्ट-बान्धव कहीं जाने लगता है तब उसके धु-समूह वन तक पहुंचानेके लिए उसके साथ जाते हैं और उस इष्ट-बान्धवके दृष्टिसे झल हो जानेपर लौट आते हैं, उसी प्रकार नगरवासियोंके नेत्र-समूह भी नलको देखनेके ए सस्पृह हो वनके समीप तक गये, और नलके दृष्टिसे ओझल (बाहर) हो जानेपर ट आये अर्थात् जब-तक नल वनके पास नहीं पहुंचे थे तब-तक नागरिक लोग नलको खते थे, किन्तु जब वे दृष्टिसे बाहर हो गये, तब नागरिक विवश हो उधर देखना छोड़कर लौट गये] ॥ ७५ ॥

ततः प्रसूने च फले च मञ्जुले स सम्मुखीनाङ्गुलिना जनाधिपः ।
निवेद्यमानं वनपालपाणिना व्यलोकयत्काननरामणीयकम् ॥ ७६ ॥

तत इति । ततः वनप्रवेशानन्तरं स जनाधिपो नलः मञ्जुले मनोज्ञे प्रसूने कुसुमे फले च विषये सम्मुखीना सन्दर्शिनी सम्मुखावस्थितवस्तुप्रकाशिकेति यावत् । थामुखसम्मुखस्य दर्शनः ख’ इति खप्रत्ययान्तो निपातः । तादृशी अङ्गुलिर्यस्य न वनपालपाणिना निवेद्यमानम् इदमिदमित्यङ्गुल्या पुष्पफलादिनिर्देशेन प्रदर्श्यमानमित्यर्थः । काननरामणीयकं वनरामणीयकं ‘योपधाद्गुरूपोत्तमाद् वुञ्’ इति ञ्प्रत्ययः । व्यलोकयत् अपश्यदिति स्वभावोक्तिः ॥ ७६ ॥

तदनन्तर अर्थात् वनमें प्रवेश करनेके बाद राजा नलने मनोहर फूल तथा फलपर ामने दिखाई जाती हुई अङ्गुलिवाले (अङ्गुलिसे मनोहर फूल तथा फलको दिखलाते ए) वनपालके हाथसे बतलायी जाती हुई उपवनकी सुन्दरताको देखा ॥ ७६ ॥

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते ।
स्थितैः समाधाय महर्षिवार्द्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः ॥७७॥

फलानीति । वयोऽतिपातेन पक्षिपातेन बाल्याद्यपगमेन चोद्गतेनोत्थितेन वातेन ायुना वातदोषेण च वेपिते कम्पिते, ‘खगबाल्यादिनोर्वय’ इत्यमरः । पल्लव एव कर इति व्यस्तरूपकं फलानि पुष्पाणि च समाधाय निधाय स्थितैस्तिष्ठद्भिः वने शाखिभिर्वृक्षैः वेदशाखाध्यायिभिश्च, ‘शाखाभेदे द्रुमे शाखा वेदेऽपी’ति वैजयन्ती । तदातिथ्यं तस्य नलस्यातिथ्यम् अतिथ्यर्थं कर्म, ‘अतिथेर्ञ्यः’ इति ञ्यप्रत्ययः । महर्षीणां वार्धकाद् वृद्धसमूहात् तत्रत्यवृद्धमहर्षिसङ्घादित्यर्थः । शिवभागवतवत्समासः । ‘वृद्ध-

सङ्घे तु वार्द्धकमि'त्यमरः। 'वृद्धाच्चेति वक्तव्यमि'ति समूहार्थे वुञ्प्रत्ययः।
शिक्षितमभ्यस्तम्, अन्यथा कथमिदमाचरितमिति भावः। कर्मणि लुङ्।
सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या पूर्वोक्तरूपकश्लेषाभ्यामुत्थापिता चेति सङ्करः॥

पक्षियोंके अत्यन्त उड़नेके कारण वायुसे (पक्षा०—अधिक अवस्थाके कारण
वात-दोषसे) हिलते हुए पल्लवरूपी हाथमें फल-फूलोंको लेकर स्थित, वनके
मानो बूढ़े महर्षियोंके समूहसे उस (राजा नल) के अतिथि सत्कारको करने
सीखा है। [अधिक अवस्थाके कारण उत्पन्न वात-दोषसे हिलते हुए हाथपर फल
लेकर नलका आतिथ्य करनेवाले वनवासी वृद्ध महर्षि-समूहसे मानो वनके वृक्षों
पक्षियोंके अधिक उड़नेसे उत्पन्न हवासे कम्पित पल्लवरूप हाथमें फल-फूलोंको
नलका आतिथ्य करना सीखा है। वृद्ध-महर्षि-समूहसे वनमें रहकर विद्या सीखना
व्यवहारमें भी श्रेष्ठ माना जाता है। इस श्लोकसे उक्त विलास-वनमें वृद्ध महर्षि-स
निवास करना तथा वृक्षोंका पक्षियों एवं फल-फूलसे युक्त होना सूचित होता है]॥

विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवान्मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम्।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुकी तत्र ददर्श कैतकम्॥

विनिद्रेति। विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात् विकचदलावलिस्थितभृङ्ग
मृगाङ्कचूडामणेरीश्वरस्य कर्तुर्वर्ज्जनेन परिहारेणार्जितं सम्पादितं 'न केतक्या
शिवमि'ति निषेधादिति भावः। आशासु चरिष्णु सञ्चरणशीलं 'अलङ्कृञि'त्यादि
चरेरिष्णुच्प्रत्ययः। दुर्यशोऽपकीर्त्तिं दधानं कैतकं केतकीकुसुमं तत्र वने सा
कौतुकी सन् ददर्श। अर्हस्य महापुरुषस्य वहिष्कारो दुष्कीर्त्तिकर इति भा
अत्रालिकैतवादित्यलित्वादपह्नवेन तेषु दुर्यशस्त्वारोपादपह्नुत्यलङ्कारः। 'निषेध्य
-साम्यादन्यारोपेऽपह्नुतिः' इति लक्षणात्॥ ७८॥

वन-(दर्शनके विषय) में कुतूहलयुक्त उस (नल) ने विकसित पत्र-समूह
हुए भ्रमरोंके कपटसे चन्द्रचूड (शिवजी) के द्वारा त्यक्त होनेसे प्राप्त तथा दिशा
फैलते हुए अयशको धारण करते हुए केतकी-पुष्पको देखा। [केतकीके विकसित प
गन्धलोभसे भ्रमर नहीं बैठे थे, किन्तु वे शिवजीके द्वारा त्यक्त होनेसे फैलनेवाले
काले अयश थे, उन्हें धारण करते हुए केतक-पुष्पको नलने देखा। बड़ोंसे परि
व्यक्तिका अयश होता है]॥ ७८॥

वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुर्निधीयसे कर्णिशरः स्मरेण यत्।
ततो दुराकर्षतया तदन्तकृद्विगीयसे मन्मथदेहदाहिना॥ ७९॥

अथ त्रिभिः कैतकोपालम्भमाह—वियोगेत्यादि। हे कैतक! यद्यस्मात्त्वं
वियोगभाजां हृदि कण्टकैः निजतीक्ष्णावयवैः कटुस्तीक्ष्णः कैतकविशेषणस्यापि
शरस्त्वम्। विशेषणविवक्षया पुंल्लिङ्गनिर्देशः, किन्तु उद्देश्यविशेषणस्य विधेयविशे

क्रुष्टम् । कर्णवत् कर्णि प्रतिलोमशल्यं तद्वान् शरः कर्णिशरः सन्निधीयसे कण्टककटोः तकस्य कर्णिशरत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः । ततः कर्णिशरत्वादिवद्दुराकर्षतया दुरुद्धारतया तदन्तकृत्तेषां वियोगिनां मारकं मन्मथदेहदाहिना स्मरहरेण विगीयसे विगर्ह्यसे । द्वेष्यवत् द्वेष्योपकरणमप्यसह्यमेव, तदपि हिंस्रं चेत् किमु वक्तव्यमिति भावः । अत्रेश्वरकर्तृकस्य केतकीविगर्हणस्य तद्गतवियोगिहिंस्रताहेतुकत्वोत्प्रेक्षणाद्धेतूत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या, सा चोक्तरूपकोत्थापितेति सङ्करः ॥ ७९ ॥

पौराणिकी कथा—रामचन्द्रजी लक्ष्मण तथा सीताजीके साथ गयामें गये तो पितृ-ाद्ध की सामग्री लानेके लिए लक्ष्मणजीको नगरमें भेजा तथा स्वयं फल्गु नदीके किनारे ितरोंका आवाहन कर दिया । जब लक्ष्मणजी सामग्री लेकर नहीं आये और उनको गये हुत विलम्ब हो गया तब स्वयं श्रीरामचन्द्रजी भी सीताजीको वहीं छोड़कर सामग्री ानेके लिए चल दिये । उन दोनोंमें कोई भी श्राद्धकी सामग्री लेकर वापस नहीं लौटा ा, इसके पहले ही रामचन्द्रके पितरोंके हाथ श्राद्धपिण्ड लेनेके लिए बाहर निकले, यह ख श्राद्धसामग्री तथा उन दोनोंमें किसी एकके भी नहीं रहनेसे सीता घबड़ायीं कि अब ितरोंको श्राद्धपिण्ड किस प्रकार दिया जाय ? । उसे घबड़ायी हुई देखकर आकाशवाणी रते हुए पितरोंने कहा कि 'हे वत्से ! श्राद्धसामग्री नहीं होनेपर भी तुम मत घबड़ाओ ीर बालूका पिण्ड बनाकर हम लोगोंका श्राद्ध करो'। सीताने वैसा ही किया तथा अपने स श्राद्धकार्यमें वहां उपस्थित गौ, अग्नि, फल्गु नदी और केतकीको साक्षी बनाया । विधिवत् बालूका श्राद्धपिण्ड पाकर पितरोंके हाथ जब अन्तर्हित हो गये तब रामचन्द्रजी ाथा लक्ष्मणजी श्राद्धसामग्री लेकर आये और सीताजीने पूर्वोक्त चारों साक्षियोंके सामने ालूके पिण्डद्वारा पितरोंकी आज्ञासे श्राद्ध करनेकी बात उनसे कही, किन्तु उन चारों ाक्षियोंने 'हमें कुछ भी मालूम नहीं है' कह दिया और पितरोंने पुनः आकाशवाणी कर ीताजीके दिये हुए श्राद्धपिण्डको स्वीकार करनेका वृत्तान्त कहकर रामचन्द्रजीको पुनः ाद्ध करनेसे निषेध किया । तब सीताजीने—'तुम आगे (मुख) भागसे अपवित्र होवो, तुम र्वभक्षी होवो, तुम निर्जल (अन्तर्जल) होवो तथा तुम शिवजीके प्रिय न रहो' ऐसा शाप मशः उन गौ, अग्नि, फल्गुनदी तथा केतकीको दिया । कहा जाता है कि उसी समयसे स स्थानपर बालूके पिण्डसे ही पितरोंके श्राद्ध करनेकी प्रथा चालू हुई । यह कथा शिव-राणमें आयी है । कामदेव काँटोंसे क्रूर (भयङ्कर) कर्णयुक्त बाणरूप तुमको वियोगियोंके हृदयमें चुभाता है, इस कारणसे (अथवा—कर्णयुक्त बाण होनेसे, अथवा—उस वियोगि—हृदयसे) कष्टसे निकाले जाने योग्य होनेसे उन विरहियोंको मारनेवाले तुमको कामदेव-शरीरदाहक (शिवजी) निन्दित (त्यक्त) करते हैं—('इस प्रकार क्रोधसे जलने केतकी-ुष्पकी निन्दा की' ऐसा अग्रिम (१।८१) श्लोकसे सम्बन्ध करना चाहिये) । [कामदेवके सहायक तुम्हारा त्याग करना कामदेवदाहक शिवजीके लिए उचित ही है] ॥ ७९ ॥

त्वदग्रसूचीसचिवः स कामिनोर्मनोभवः सीव्यति दुर्यशःपटौ ।

स्फुटञ्च पत्रैः करपत्रमूर्तिभिर्वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते ॥ ८० ॥

त्वदिति । तवाग्राण्येव सूच्यः सचिवाः सहकारिणो यस्य स तथोक्तः स प्र
मनोभवः कामिनी च कामी च कामिनौ तयोः, 'पुमान् स्त्रिये'त्येकशेषः । दु
अपकीर्त्तयस्ताः पटाविति रूपकं तानि सीव्यति कण्टकस्यूतं करोतीत्यर्थः । हि
चार्थः । करपत्रमूर्त्तिभिः क्रकचाकारैः, 'क्रकचोऽस्त्रीकरपत्रमि'त्यमरः । पत्रैस्तैर्वि
नां हृद्येव दारुणि दारयतीति दारुणो विदारको भेत्ता स इवाचरतीति दारुणा
'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति क्यङन्तात् लट् । दारुणायत इत्युपमा, सा च हृदा
रूपकानुप्राणितेति सङ्करः ॥ ८० ॥

कामदेव तुम्हारे अग्रभाग (नोक) रूपी सूईकी सहायतासे कामी स्त्री-पु
दुष्कीर्तिरूप वस्त्रोंको सीता है, तथा वह कामदेव आरे (लकड़ी चीरनेका अस्त्रविशे
समानाकार तुम्हारे पत्तोंसे वियोगियोंके हृदयरूप लकड़ीपर अवश्य ही आरेके
व्यवहार करता है—('इस प्रकार क्रोधसे नलने केतकी-पुष्पकी निन्दा की' ऐसा स
अग्रिम (१।८१) श्लोकके साथ करना चाहिये) । [केतकी-पुष्पके देखनेसे का
विरही स्त्री-पुरुषोंका धैर्य भङ्ग होता है, जिसके कारण वे दुष्कीर्ति पाते हैं, तथा
समान आकारवाले केतकी-पत्रको देखनेसे उनका हृदय आरेसे चीरे जाते हुएके
विदीर्ण होता है] ॥ ८० ॥

धनुर्मधुस्विन्नकरोऽपि भीमजा परं परागैस्तव धूलिहस्तयन् ।
प्रसूनधन्वा शरसात्करोति मामिति क्रुधाऽऽक्रुश्यत तेन कैतकम् ॥ ८

धनुरिति । हे कैतक! प्रसूनं धन्वा धनुर्यस्येति प्रसूनधन्वा पुष्पचापः । 'वा सं
यामि'त्यनङादेशः । अत एव धनुषो मधुना मकरन्देन स्विन्नकरः आर्द्रपाणिः सन्
एव परागैः रजोभिः धूलिहस्तयन् पुनः पुनः धूल्युद्धावितहस्तमात्मानं कुर्वन् अ
धनुःस्रंसनादिति भावः, तत्करोतेर्ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः । अतिभीमजा परमवि
दमयन्त्यासक्तं मां शरशात् शराधीनङ्करोति, 'तदधीने च' इति सातिप्र
अन्यथा स्रस्तचापः स मां किं कुर्यादिति भावः । इतीत्थं श्लोकत्रयोक्तिरिति
राज्ञा क्रुधा कैतकमाक्रुश्यत अपराधोद्घाटनेन अघोष्यतेत्यर्थः ॥ ८१ ॥

पुष्पधन्वा (कामदेव) धनुषके मधुसे आर्द्रहस्त होकर भी तुम्हारे परागोंसे ह
धूलियुक्त करता हुआ दमयन्तीमें आसक्त मेरे मनको बाणोंके अधीन कर रहा है
क्रोधसे उस नलने उस केतकी-पुष्पकी निन्दा की । [पुष्पमय धनुषके मधुसे आर्द्र
कामदेव यदि तुम्हारे परागोंसे हाथको धूलियुक्त नहीं करता तो लक्ष्यभ्रष्ट होनेसे
बाणपीड़ित नहीं कर सकता, अतएव मेरे काम-बाणसे पीडित होनेमें तुम्हीं मुख्य कार
ऐसा क्रोधसे कहते हुए नलने केतकी-पुष्पकी निन्दा की । धनुषको बहुत समय तक
रहनेसे जब धनुर्धारीका हाथ पसीजने लगता है, तब वह हाथमें धूलि लगाकर उसे
कर लेता है और वैसा करनेसे वह लक्ष्यका ठीक-ठीक वेध करता है] ॥ ८१ ॥

वेदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये घटानिवापश्यदलं तपस्यतः ।
फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे ॥ ८२ ॥

विदर्भेति। 'तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम्। पुष्पाद्युत्पादितं द्रव्यं दोहदं
त्तु तत्क्रिया ॥' इति शब्दार्णवे। दोहदश्चासौ धूपश्च तदुक्तं 'मेषामिषाम्बुसंसे-
त्स्केशामिषधूपनम्। श्रेयानयं प्रयोगः स्याद् दाडिमीफलवृद्धये ॥ मत्स्याज्यत्रि-
ालेपैर्मांसैराजाविकोद्भवैः। लेपिता धूपिता सूते फलन्तालीव दाडिमी ॥ अविका-
संसिक्ता धूपिता तप्तरोमभिः। फलानि दाडिमी सूते सुबहूनि पृथूनि च ॥'
। तद्वति दाडिमीद्रुमे फलानि विदर्भसुभ्रुवो दमयन्त्याः स्तनयोर्या तुङ्गता
ाप्तये तादृगौन्नत्यलाभायेत्यर्थः। अलमत्यर्थन्तपस्यतस्तपश्चरतः, 'कर्मणो रोमन्थ-
ोभ्यां वर्त्तिचरोरि'ति क्यङ्प्रत्यये तपसः परस्मैपदञ्च वक्तव्यं, धूमस्य दोहद-
स्य धयन्तीति धयान् पातृन्, धेट्-पाने अत्र 'आतश्चोपसर्गे' इति उपसर्गग्रह-
ज्ञानुवर्त्ति-पक्षत्वात् 'पाघ्रे'त्यादिनाऽनुपसृष्टादपि धेटः शप्रत्यय इति गतिः। अत एव
शिकायां केचिदुपसर्गं इति नानुवर्त्तयन्तीति। अधोमुखान् घटानिव अपश्यदि-
त्प्रेक्षा। महाफलार्थिन इत्थमुग्रं तपस्यन्तीति भावः ॥ ८२ ॥

उस नलने दोहद धूपयुक्त अनारके पेड़पर दमयन्तीके स्तनद्वयकी विशालताको पानेके
अधोमुख हो धूमका पान करनेवाले, तप करते हुए घड़ोंके समान फलोंको अच्छी
देखा। [दमयन्तीके स्तन बहुत बड़े-बड़े थे, घटाकार अनारके फल भी चाहते थे
हम भी दमयन्ती-स्तनोंके समान ही बड़े हों, अतएव वे दोहद धूपयुक्त अनारके
र अधोमुख हो लटकते हुए ऐसे ज्ञात होते थे मानो वे दमयन्तीके स्तनोंके
न बड़े होनेके लिए अधोमुख हो अत्यन्त कठिन तपस्या कर रहे हों, ऐसे उन फलोंको
ने देखा। लोकमें भी कोई व्यक्ति किसी बड़े अभीष्टकी सिद्धिके लिए अधोमुख हो
का पान करता हुआ घोर तपस्या करता है। पेड़में अच्छे फल लगनेके लिए विविध
द्वारा वृक्षके नीचे दिये गये धूमको 'दोहद' कहते हैं] ॥ ८२ ॥

वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ प्रियस्मृतेः स्पष्टमुदीतकण्टकाम् ।
फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम् ॥ ८३ ॥

वियोगिनीमिति। असौ नलः प्रियास्मृतेर्दमयन्तीस्मरणादिव स्पष्टं व्यक्तमुदीतेति
ताविति धातोः कर्त्तरि क्तः। उदीता उद्गताः कण्टकाः स्वावयवसूचय एव कण्ट-
रोमाञ्चा यस्यास्तामिति श्लिष्टरूपकम्। 'वेणौ द्रुमाङ्गे रोमाञ्चे क्षुद्रशत्रौ च कण्टक'
वैजयन्ती। फलान्येव स्तनौ तावेव स्थानं तत्र विदीर्णो रागो यस्यास्तीति रागि
वर्णमनुरक्तञ्च यत्तस्मिन् हृदि विशत् बीजभक्षणान्तःप्रविशच्छुकास्यरूपं शुक-
मेव स्मरस्य किंशुकं पलाशकुड्मलमेवाशुगो बाणो यस्यास्तां दाडिमीमेव वियो-
विरहिणीमैक्षत अपश्यत्। रूपकालङ्कारः। विः पक्षी तद्योगिनीमिति च गम्यते॥ ८३॥

इस (नल) ने पक्षियुक्त, दोहदप्राप्तिसे कण्टकित तथा मध्यमें विदीर्ण होनेसे फलमें दानोंको खानेके लिए सुग्गोंके प्रविष्ट होते हुए चोंचोंसे युक्त दाडिमी (अना देखा, जो प्रियका स्मरण होनेसे रोमाञ्चयुक्त तथा स्तनमध्यमें विदीर्ण होनेसे रक्तव में कामदेवके पलाश-पुष्पमय बाण जिसमें प्रविष्ट हो रहे हैं ऐसी विरहिणी ना समान प्रतीत होती थी । [नलने दाडिमीको देखा, जो पक्षियोंसे तथा दोहद (धृ प्राप्त होनेसे कण्टकोंसे युक्त थी, एवं जिसके विदीर्ण हुए फलके मध्यमें दानोंको खाने प्रविष्ट होते हुए सुग्गोंके चोंच ऐसे मालूम पड़ते थे मानो प्रिय-स्मरणसे रोमा विरहिणीके स्तनमध्यमें विदीर्ण होनेसे लालिमा युक्त हृदयमें कामदेवके पलाशपुष्प घुस रहे हों । अथवा—परमात्माके साक्षात्काररूप फलका बोधक (तुरीयावस् स्थानसे च्युत पूर्वकालमें विषयोंमें अनुरागी हृदयमें प्रवेश करते (स्थिर होते) हु देशसे हटाये जाते हैं कामदेव पलाशपुष्पमय बाण जिससे ऐसी, तथा परमप्रिय स नन्दके स्मरणसे (शीघ्र प्राप्तिकी आशासे हर्षातिशय होनेके कारण) रोमाञ्चयुक्त योगिनीको (या—उक्तरूपा योगिनीके समान दाडिमीको) नलने देखा] ॥ ८३ ॥

स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां स्फुटे पलाशेऽध्वजुषाम्पलाशनात् ।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम् ॥

स्मरार्द्धेति । नलः स्मरस्य योऽर्द्धचन्द्रः अर्द्धचन्द्राकार इषुस्तन्निभे तत्सदृशे समासत्वादस्वपदविग्रहः, अत आहामरः—'स्युरुत्तरपदे त्वमी । निभसङ्काशनी तीकाशोपमादयः' इति । वियोगिनां हृत्खण्डिनि हृदयवेधिनि क्रशीयसां कृशत मध्वजुषामध्वगामिनाम् पलाशनात् मांसभक्षणात् पलाशे पलमश्नातीति व्यु पलाशसंज्ञाभाजि किंशुककलिकायामित्यर्थः । अन्वितं सम्बद्धं वृन्तं प्रसव तदेव कालखण्डजं खण्डं यकृत्खण्डमिति व्यस्तरूपकम् । आलोकत आलोकि 'कालखण्डं यकृत्समे' इत्यमरः । तच्च दक्षिणपार्श्वस्थः कृष्णवर्णो मांसपिण्डवि

उस (नल) ने कामदेवके अर्द्धचन्द्राकार बाणके समान, वियोगियोंके हृदयको करनेवाले (अतएव) अतिशय दुर्बल (घर आते हुए विरही) पथिकोंके मांसका करनेसे वस्तुतः पलाश अर्थात् अन्वर्थ 'पलाश' नामवाले वृक्षपर कालखण्ड (वियो दक्षिण हृदयके कृष्णवर्ण मांस) से उत्पन्न वियोगि-हृदयके अंशके समान वृन्त (भेंटी = ऊपरी डण्ठल—जहाँसे फूल टूटकर अलग होता है) को देखा । [पला अर्द्धचन्द्राकार फूल लग रहे थे, वे कामदेवके वियोगि-घातक अर्द्धचन्द्राकार बाण मालूम पड़ते थे, उन फूलोंके ऊपर कृष्णवर्ण वृन्त ऐसे मालूम पड़ते थे कि कामदे विरहियोंके दाहिने पार्श्वमें अर्द्धचन्द्राकार किंशुक-पुष्पमय बाणसे प्रहार किया बाणमें उन विरहियोंके दक्षिण पार्श्वका कृष्णवर्ण मांसका कुछ भाग सम्बद्ध (सट गया) है । तथा उन पलाशपुष्पोंको देखनेसे वसन्तका आगमन मालूम

थिक कामपीडित होकर दुर्बल हो रहे थे, अतएव 'पलमश्नाति इति पलाशः' (मांसको
खाता है, उसे 'पलाश' कहते हैं) इस विग्रहसे उक्त पलाशवृक्षका नाम सार्थक-सा
रहा था]॥ ८४ ॥

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः ।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे ॥८५॥

नवेति । गन्धवहेन वायुना चुम्बिता स्पृष्टा अन्यत्रानुलिप्तेन पुंसा वीक्षिता मक-
दसीकरैः पुष्परसकणैः करम्बिताङ्गी व्यामिश्रितरूपा अन्यत्र स्विन्नाङ्गीति च गम्यते ।
मतशोभिनः विकासरम्याः कुड्मला मुकुला रदनाश्च यस्यास्तां मन्दहासमधुरदन्त-
कुला च गम्यते । दरकम्पिनी वायुस्पर्शादीषत्कम्पिनी सात्त्विकवेपथुमती च नवा
ता वल्ली तत्सदृशी कान्ता च गम्यते । नृपेण कर्त्रा दृशा करणेन दरादराभ्यां भय-
गाभ्यामुपलक्षितेन सता पपे अवेक्षिता गाढं दृष्टा इत्यर्थः । उद्दीपकत्वात् दरः प्रिया-
दृश्यादादरश्च । 'दरोऽस्त्री शङ्खभीगर्त्तेष्वल्पार्थे त्वव्ययम्' इति वैजयन्ती । अत्र प्र-
तविशेषणसाम्यादप्रस्तुतनायिकाप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः । 'विशेषणस्य तौल्येन
प्रस्तुतवर्णनात् । अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे सा समासोक्तिरिष्यते', इति लक्षणात् ॥८५॥

(नायकरूप) वायुसे चुम्बित (स्पृष्ट), मकरन्दकणोंसे रोमाञ्चित शरीरवाली, ईषद्वि-
सित एवं शोभमान कलिकाओंवाली, कुछ कम्पायमान नवीन (पल्लववाली) लताको
(विरहियोंको दुःखद होनेसे उक्त लताको देखनेसे उत्पन्न डर) तथा (सुन्दरता
से) आदरसे युक्त राजा (नल) ने नेत्रसे मानो उस प्रकार पान किया अर्थात् देखा,
प्रकार कस्तूरी, कर्पूर, चन्दनादिकी सुगन्धिसे युक्त नायक द्वारा चुम्बित, प्रियस्पर्शसे
ाञ्चित अङ्गोंवाली, थोड़ा स्मित करती हुई तथा सात्त्विक भावके उत्पन्न होनेसे कुछ
नयुक्त नायिकाको (परस्त्री होनेसे) भयपूर्वक तथा सुन्दरी होनेसे आदरपूर्वक कोई
रा नायक देखता है । (अथवा—बालता—शैशव—के लेशसे रहित अर्थात् युवावस्था-
तरुणसे चुम्बित......) ॥ ८५ ॥

विचिन्वतीः पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात् ।
व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव ॥

विचिन्वतीरिति । पन्थानं गच्छन्ति नित्यमिति पान्थाः नित्यपथिकाः, 'पथोऽण्
यमि'त्यण्प्रत्ययः पन्थादेशश्च । त एव पतङ्गाः पक्षिणः 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः' इत्य-
ः । तेषां हिंसनैः वधैः अपुण्यकर्माण्येव अलयः कज्जलानीवेत्युपमितसमासः ।
छलादित्यपह्नवालङ्कारः । विचिन्वतीः संगृह्णतीः हिंसापापकारिणीरित्यर्थः ।
ककोरकावलीः शम्बरारेर्मनसिजस्य बलिदीपिकाः पूजादीपिका इवेत्युत्प्रेक्षा, स
व्यलोकयत् ॥ ८६ ॥

पथिकरूपी पतङ्गोंकी (हिंसासे, भ्रमररूपी कज्जलके कपटसे पापकर्मको एकत्रित करती

हुई कामदेवकी) वलि-दीपिकाओं (पूजार्थ दीपकों) के समान चम्पककी कलि समूहको उस (नल) ने देखा । [चम्पककलिओंके कामोद्दीपक होनेसे उन्हें देखक पथिक उस प्रकार मर जाते थे जिस प्रकार दीपककी लौपर पतङ्ग (फुनगे) मर उन कलिकाओंपर बैठनेवाले भ्रमर उन दीपकोंके कज्जलके समान मालूम पड़ते थे, कविने पथिकोंके मरनेसे उत्पन्न अयशकी उत्प्रेक्षा की है, उन्हें कामदेवके पूजा समान नलने देखा । दीपककी लौ के समान चम्पाकी कलियां भी पीली होती हैं लोगोंका मत है कि चम्पाके फूलपर भ्रमर नहीं बैठते और उसपर बैठते तो हैं, जाते हैं, ऐसा प्रामाणिक लोग कहते हैं, यह 'प्रकाश'कारका कथन है] ॥ ८६ ॥

अमन्यतासौ कुसुमेषुगर्भजं परागमन्धङ्करणं वियोगिनाम् ।
स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुरारये तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम् ॥ ८७

अमन्यतेति । असौ नलः कुसुमान्येव इषवः कामबाणास्तेषां गर्भजं वियोगिनामिति कर्मणि षष्ठी । अन्धाः क्रियन्तेऽनेनेत्यन्धङ्करणं 'आढ्यसुभगे'त्या च्व्यर्थे ख्युन्प्रत्ययः, 'अरुर्द्विषदि'त्यादिना मुमागमः । तं परागं पुरा पूर्वं पुरहराय स्मरेण मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं संसक्तं तस्य पुरारेरङ्गे यद्भस्म तदिवा इति उत्प्रेक्षितवानित्यर्थः । पुरा पुरारये ये मुक्तास्त एवैते पुरोवर्त्तिनः इत्यभिमानः, अन्यथैषां तदङ्गभस्मसङ्गोत्प्रेक्षानुत्थानादिति ॥ ८७ ॥

इस (नल) ने फूलोंके मध्यगत परागको वियोगियोंको अन्धा करनेवाला, कामदेवके द्वारा शिवजीपर छोड़े गये (पुष्पमय) बाणोंमें लगा हुआ शिवजीके भस्म माना । [भस्म आँखमें पड़नेपर लोगोंको अन्धा कर देता है तथा फूलोंके देखकर विरही भी कामपीडित हो अन्धे (विवेकहीन) हो जाते हैं] ॥ ८७ ॥

पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणां वियोगिनाम् ।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं ददर्श दूनः स्थलपद्मिनीं नलः ॥

पिकादिति । वने उपवने श्रोतरि पिकाद्वक्तुः सकाशात् भृङ्गहुङ्कृतैर्वि दशामलिहुङ्कारकृतां दुःखावस्थामित्यर्थः । उदञ्चत्करुणां विकसद्वृत्तविशेषमु यथा तथा शृण्वति सति, 'करुणस्तु रसे वृक्षे कृपायां करुणा मते'ति अनास्थया श्रोतुमनिच्छया सूनं प्रसूनमेव करं प्रसारयतीति प्रसारिणीं हस्तविस्तारिणीं तथोक्तामनिष्टकथां करे वारयन्तीमिव स्थितामित्यर्थः । प्रसारिणीमितिरूपकानुप्राणिता गम्योत्प्रेक्षेयम् । स्थलपद्मिनीं नलो दूनः सन् दूङः कर्त्तरि क्तः[1], 'ल्वादिभ्यश्चे'ति निष्ठानत्वम् । ददर्श ॥ ८८ ॥

---

[1] इयं भ्रममूलिकोक्तिः ल्वादिषु 'लूञ् स्तॄञ् कॄञ् वॄञ् धूञ् शॄ पॄ वॄ भॄ मॄ दॄ नॄ कॄ ॠ गॄ ज्या री ली व्ली प्ली' इत्येतेषामेव धातूनां परिगणनात् । ततो स्वादित्वेनौदित्वान्निष्ठानः' इति 'प्रकाश'व्याख्यानमेव सदित्यवधेयम् ।

(कामपीडित होनेसे) कृश नलने (मल्लिकाके समान पुष्पवाला) करुण वृक्ष जिसमें कसित हो रहे हैं, ऐसे तथा भौंरे मानो 'हुँकारी' भर रहे हैं, ऐसे उनके गुञ्जनोंके द्वारा यलोंसे विरहियोंकी दशाको सुनते हुए वनमें नलकी अधीरतासे (अथवा—अनादरसे) परूपी हाथको फैलायी हुई स्थलकमलिनीको देखा। [जिसमें करुणवृक्ष फूल रहे थे, यल मानो विरहियोंकी दशा कह रही थी तथा गूँजते हुए भ्रमर मानो 'हूं-हूं' कहकर कारी' भर रहे थे; ऐसे वनमें (तुम्हें ऐसा करना अनुचित है इस भावनासे मानो) परूपी हाथको फैलायी हुई स्थलकमलिनीको कामपीडासे दुर्बल नलने देखा। लोकमें भी सीको अनुचित कार्य करते हुए देखकर दूसरा सज्जन व्यक्ति अनादरसे हाथ फैलाकर उसे षेध करता है। वनमें करुणवृक्ष विकसित हो रहे थे, कोयल कुहक रही थी, भ्रमर गूंज हे थे तथा स्थलकमलिनी फूल रही थी, इन सबोंको कामपीडित नलने देखा] ॥ ८८ ॥

रसालसालः समदृश्यतामुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः ।
समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव तर्जनाभियम् ॥ ८९ ॥

रसालेति । अमुना नलेन स्फुरन्तो द्विरेफास्तेषामारवो भ्रमरझङ्कार एव रोषेण हुङ्कृतिर्हुङ्कारो यस्य सः समीरलोलैर्वायुचलैर्मुकुलैरङ्गुलिभिरिति भावः । वियो- ने जनाय तर्जनाभियं दित्सन् दातुमिच्छन्निव स्थितः, ददातेः सन् प्रत्ययः 'सनि मे'त्यादिना इसादेशः, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यभ्यासलोपः, 'सस्यार्धधातुक' इति कारस्य तकारः । रसालसालश्चूतवृक्षः समदृश्यत सम्यग्दृष्टः । द्विरेफेत्यादिरूप- स्थापितेयं तर्जनाभयजननोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ८९ ॥

इस (नल) ने भ्रमण करते हुए भ्रमरोंके समन्ततः गुञ्जनरूपी हुङ्कारवाले आमके ड़को वायुसे चञ्चल मञ्जरियों (बौरों) द्वारा विरहिजनको डरवाता हुआ-सा खा। [आमके पेड़पर बौरें लग गयी थीं, वे वायुसे धीरे-धीरे हिल रही थीं, उनपर रे उड़ते हुए गूंज रहे थे; जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि यह आमका पेड़ रोंके गुञ्जनरूपी हुङ्कारोंसे मञ्जरीरूपी हाथको हिला-हिलाकर विरहियोंको तर्जित कर डरा) रहा है] ॥ ८९ ॥

ने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकं पुनः पुनर्मूर्च्छ च मृत्युमृच्छ च ।
तीव पान्थं शपतः पिकान् द्विजान् सखेदमैक्षिष्ट स लोहितेक्षणान् ॥९०॥

दिने दिने इति । रे इति हीनसम्बोधने । त्वं दिने दिने अधिकं तनुः एधि अधिकं शो भव, अस्तेर्लोट् सिप् 'हुझल्भ्यो हेरि'ति धित्वम् , 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' ति एत्वम्, पुनः पुनः मूर्च्छं च मृत्युं मरणमृच्छ च इति पान्थं नित्यपथिकं शपतः पमानानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा, लोहितेक्षणान् रक्तदृष्टीन् एकत्र स्वभावतोऽन्यत्र षाच्चेति द्रष्टव्यम् , पिकान् कोकिलान् द्विजान् पक्षिणो ब्राह्मणांश्च स नलः सखेद- क्षिष्ट । स्वस्यापि उक्तशङ्कयेति भावः ॥ ९० ॥

'रे पथिक ! तुम प्रतिदिन अधिक दुर्बल होवो, बार-बार मूर्च्छित होवो और प्राप्त करो' इस प्रकार विरही पथिकोंको शाप देते हुए रक्तवर्ण नेत्रवाले पिक (पक्षा०—क्रोधसे लाल नेत्र किये हुए ब्राह्मणों) को नलने खेदपूर्वक देखा ॥ ९० ॥

अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं निपीय चाम्पेयमधीरया दृशा ।
स धूमकेतुं विपदे वियोगिनामुदीतमातङ्कितवानशङ्कत ॥

अलिस्रजेति । अलिस्रजा भ्रमरपङ्क्त्या उच्चशेखरमुन्नतशिरोभूषणम् अलिभि ङ्गमित्यर्थः । 'शिखास्वापीडशेखरावि'त्यमरः । चाम्पेयं चम्पकविकारं कुड्म 'अथ चाम्पेयः चम्पको हेमपुष्पक' इत्यमरः । नन्वयुक्तमिदं 'न षट्पदो गन्ध मजिघ्रदि'त्यादावलीनां चम्पकस्पर्शाभावप्रसिद्धेरिति चेत् नैवं किन्तु स्पृष्टे वतैवास्पर्शोक्तिः क्वचित् केषाञ्चित् उक्तिपरिहारः अथवा चाम्पेयं नागकेसरं 'चा केसरो नागकेसरः काञ्चनाह्वय' इत्यमरः । अधीरया दृशा निपीय विक्लवदृष्ट्या दृष्ट्वा आशङ्कितवान् किञ्चिदनिष्टमुत्प्रेक्षितवान् । स नलः 'अनिष्टाभ्यागमो शङ्कामाचक्षते बुधाः' इति लक्षणात् । वियोगिनां विपदे उदीतमुत्थितं धूम शङ्कत अतर्कयदित्युत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ९१ ॥

भ्रमर-पङ्क्तिसे उन्नत अग्रभागवाले चम्पाकी कलिकाको धीरताहीन बुद्धिसे धैर्यरहित हो देखकर आतङ्कयुक्त उस नलने उसे वियोगियोंकी विपत्तिके लिए प्राप्त धूमकेतु माना ॥ ९१ ॥

गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम् ।
स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत् ॥

गलदिति । स नलो गलत्परागं निर्यद्रजस्कं भ्रमिभङ्गिभिः भ्रमणप्रकारैरुपल पतद् भ्रंशयत् प्रसक्तभृङ्गावलि सक्तालिकुलं नागकेसरं कुसुमविशेषं मारनारा घर्षणैः स्मरशरकर्षणैः स्खलन्तः लुठन्तः ज्वलन्तश्च कणाः स्फुलिङ्गा यस्य तं निकषोत्पलमिवेत्युत्प्रेक्षा व्यलोकयत्, 'शाणस्तु निकषः कष' इत्यमरः ॥ ९२ ॥

उस (नल) ने गिरते हुए परागवाले, चक्कर काटते हुए दूसरे वृक्षोंसे आते भ्रमरसमूहवाले नागकेसर-पुष्पको कामदेवके बाणके रगड़नेसे निकलती हुई चिनगारीवाले शाणके समान देखा ॥ ९२ ॥

तदङ्गमुद्दिश्य सुगन्धि पातुकाः शिलीमुखालीः कुसुमाद् गुणस्पृशः ।
स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् स्मरः स्वनन्तीरवलोक्य लज्जितः ॥

तदङ्गमिति । सुगन्धि शोभनगन्धं 'गन्धस्ये'त्यादिना समासान्त इकारः । तस्य नलस्याङ्गमुद्दिश्य लक्ष्यीकृत्य गुणो गन्धादिः मौर्वी च, 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादि न्द्रियामुख्यतन्तुष्वि'ति वैजयन्ती । तत्स्पृशस्तद्युक्ताः 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' कुसुम पादानात् पातुका धावन्तीः, 'लषपते'त्यादिना उकञ्प्रत्ययः । स्वनन्तीर्ध्व

लीमुखालीः अलिपङ्क्तीः बाणपङ्क्तीश्चावलोक्य स्मरः स्वचापात् पौष्पाद् दुर्निर्गताः पमनिर्गता ये मार्गणा बाणास्तद्भ्रमाद्धेतोर्लज्जितोऽभवत् न्यूनमिति शेषः । दुर्नि- तेषवो ह्यधिकं स्वनन्तीति प्रसिद्धेः । अत्र स्वनच्छिलीमुखेषु दुर्निर्गतमार्गणभ्रमा- भ्रान्तिमदलङ्कारः, स च शीलमुखेति श्लेषानुप्राणितादुत्थापिता चेयं स्मरस्य ज्जितत्वोत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ९३ ॥

पुष्पोंकी अपेक्षा सुगन्धित नल-शरीरको उद्देश्य (लक्ष्य) कर चली हुई, गुणग्राहिणी सुगन्धिगुणको चाहनेवाली, पक्षा०—प्रत्यञ्चाका स्पर्श की हुई), शब्द करती (पक्षा०— ती) हुई भ्रमर-पङ्क्तिको देखकर अपने धनुषसे दुःखपूर्वक अर्थात् लक्ष्यभ्रष्ट होकर कले हुए बाणके भ्रमसे कामदेव लज्जित-सा हो गया। [नलके शरीरकी सुगन्धि पोंसे अधिक थी, अतएव पुष्पोंको छोड़-छोड़कर भ्रमरसमूह नल-शरीरपर गूँजते हुए र रहे थे, उन्हें देखकर कामदेव 'ये मेरे बाण (पुष्परूप चापकी प्रत्यञ्चासे निकलकर क्ष्यभ्रष्ट हो) शब्द करते हुए जा रहे हैं' ऐसा भ्रम होनेसे मानो लज्जित हो गया। क्ष्यभ्रष्ट होकर जाते हुए बाणको देख धनुर्धरको लज्जित होना उचित है] ॥ ९३ ॥

मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम् ।
स वारनारीकुचसञ्चितोपमं ददर्श मालूरफलं पचेलिमम् ॥ ९४ ॥

मरुदिति । मरुता वायुना ललत्पल्लवानाञ्चलत्किसलयानां कण्टकैस्तीक्ष्णाग्रैरव- वैः क्षतमन्यत्र विलसद्विटनखैः क्षतमिति गम्यते, समुच्चरत् परितः प्रसर्पत् चन्द- सारस्येव सौरभं यस्य तत् अत एव वारनारीकुचेन वेश्यास्तनेन सञ्चितोपमं सम्पा- दितसादृश्यमित्युपमालङ्कारः । 'वारस्त्री गणिका वेश्ये'त्यमरः । कुलाङ्गनानखक्षता- नौचित्याद्वारविशेषणं, पचेलिमं स्वतः पक्वं कर्मकर्त्तरि 'केलिमर उपसंख्यानमि'ति चेः केलिमर् प्रत्ययः । मालूरफलं बिल्वफलं 'बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरः श्री- लावपी'त्यमरः । स नलो ददर्श ॥ ९४ ॥

उस (नल) ने वायुसे कम्पित शाखाग्रके कण्टकोंसे (पक्षा०—वायुके समान विलास रते हुए विट (धूर्त नायक) के कण्टकतुल्य नखोंसे) क्षत, निकलते हुए चन्दनके समान ष्ठ सुगन्धवाले (पक्षा०—निकलते हुए चन्दनके श्रेष्ठ गन्धवाले) वेश्याके स्तनोंकी समानताको पाये हुए पके बेलके फलको देखा ॥ ९४ ॥

युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम् ।
स्मरेषुधीकृत्य धिया भियाऽन्धया स पाटलायाः स्तबकं प्रकम्पितः ॥ ९५ ॥

युवेति । युवा च युवती च तयोर्यूनोर्द्वयी मिथुनं तस्याश्चित्तयोः कर्मणोर्नि- मज्जने ण्यन्ताल्लुट् उचितैः क्षमैः प्रसूनैः पुष्पबाणैः शून्येतरदशून्यं पूर्णं गर्भगह्वरं गर्भकुहरं यस्य तत् पाटलायाः पाटलवृक्षस्य स्तबकं कुसुमगुच्छम्भियान्धया भयमू- ढया धिया भयजन्यभ्रान्त्येत्यर्थः । स्मरेषुधीकृत्य कामतूणीकृत्य तथा विभ्रम्य इत्यर्थः,

अत एव भयात् प्रकम्पितश्चकम्पे । अत्र पाटलस्तबके मदनतूणीरभ्रमात् भ्रान्तिम ङ्कारः । 'कविसंमतसादृश्याद्विषये विहितात्मनि । आरोप्यमाणानुभवो यत्र भ्रान्तिमान्मतः ॥' इति लक्षणात् ॥ ९५ ॥

वे (नल) युवक-मिथुनके हृदयमें प्रवेश करनेके योग्य पुष्पोंसे पूर्ण मध्य भा पाटला-गुच्छको भयसे अन्धी (विचारशून्य) बुद्धिसे कामदेवका तरकस समझकर क हो गये । [नलने पाटलाके गुच्छको पुष्पोंसे परिपूर्ण देखकर समझा कि यह युवक-दम्पतिके हृदयको वेधनेवाला कामदेवके बाणोंसे भरा हुआ तरकस है, अत स्वयं भी विरही होनेके कारण उसके भयसे कम्पित हो गये । भयके कारण विचार-श नष्ट होनेसे नलने वैसा समझा] ॥ ९५ ॥

मुनिद्रुमः कोरकितः शितिद्युतिर्वनेऽमुनाऽमन्यत सिंहिकासुतः ।
तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं कलाकलापं किल वैधवं वमन् ॥ ९६

मुनीति । अमुना नलेन वने कोरकितः सञ्जातकोरकः शितिद्युतिः पत्रेषु कृ च्छविः मुनिद्रुमोऽगस्त्यवृक्षः तमिस्रपक्षे त्रुटिकूटेन क्षयव्याजेन भक्षितम् भक्षि कुतः क्षयः ? इति भावः । अत्र कूटशब्देन क्षयापह्नवेन भक्षणारोपादपह्नवभे वैधवं चन्द्रसम्बन्धि 'विधुः सुधांशुः शुभ्रांशुरि'त्यमरः । कलाकलापङ्कलास वमन्नुद्गिरन् सिंहिकासुतो राहुरमन्यत किल खलु ? अत्र कोरकितशितद्युतित्वा मुनिद्रुमस्येन्दुकलाकलापवमनविशिष्टराहुत्वोत्प्रेक्षा, सा चोक्तापह्नवोत्थापितेति

इस (नल) ने वनमें कोरकित कृष्णवर्ण अगस्त्यको कृष्णपक्षमें चन्द्रकलाक्षयके क भक्षित चन्द्रकलाको वमन करते (उगलते) हुए राहुके समान माना । (अथवा—" अन्धकारमें कपटपूर्वक खाये गये पशु आदिको वमन करते हुए सिंहके बच्चेके स माना) । [प्रथम अर्थमें—यह राहु चन्द्रमाको खा गया था, अतएव मुझे सन्ताप होता है किन्तु अब पुनः चन्द्रमाको यह वमन कर रहा है, अतएव मुझे यह च सन्तप्त करेगा, ऐसा समझकर वे डर गये । द्वितीय अर्थमें—अन्धकारमें पशुको ख उसे उगलते हुए सिंहको वनमें देखनेसे भय होना उचित ही है । अगस्त्यको कोरक देख उसके कामोद्दीपक होनेसे विरही नल डर गये] ॥ ९६ ॥

पुरो[1]हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृते[2]र्वीरुधि नद्ध[3]विभ्रमाः ।
मिलन्निमीलं विदधु[4]र्विलोकिता नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः ॥ ९७

पुर इति । पुरोऽग्रे हठात् झटित्याक्षिप्ता आकृष्टा तुषारेण हिमेन पाण्डराणां छ पत्राणां तुषारवत् पाण्डरस्य च्छदस्याच्छादकस्य वस्त्रस्य चावृतिरावरणं येन त नभस्वतो वायोः वीरुधि लतायां नद्धाः अनुबद्धा विभ्रमा भ्रमणानि विलास

---

[1] 'पुरा इति' पाठान्तरम् । [2] 'च्छदा वृते—' इति पाठान्तरम् ।
[3] 'बद्ध—' इति पाठान्तरम् । [4] 'ससृजु—' इति पाठान्तरम् ।

सान्ताः कुसुमेषु विषये केलयः क्रीडाः कुसुमेषु केलयः कामक्रीडाश्च विलोकिताः त्यस्तं नृपं नलं मिलन्निमीलो मिलनं यस्य तं विदधुः निमीलिताक्षञ्चक्रुरित्यर्थः। रहिणामुद्दीपकदर्शनस्य दुःसहदुःखहेतुत्वात् अन्यत्र ('नेक्षेतार्कं न नग्नां स्त्रीं च संस्पृष्टमैथुनामि'ति निषेधादिति भावः।) अत्र प्रस्तुतनभस्वद्विशेषणसाम-र्थ्याद्प्रस्तुतकामुकविरहप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ९७ ॥

सामने (पाठा०—पहले) हठपूर्वक वर्फके समान श्वेत पत्तेरूप आवरण (वस्त्र) को टानेवाली, वायुकी लताओंमें विलास (या—विशिष्ट भ्रम, या—पक्षियोंका भ्रम) करने ली, पुष्पविपयक क्रीडाओं (या—कामक्रीडाओं) ने नलके नेत्रोंको वन्द कर दिया अर्थात् से देखकर नलने अपने नेत्र बन्द कर लिये। अथवा—सामने हठपूर्वक हटाये गये षारतुल्य श्वेत पत्तोंवाली, घेरेकी लताओंमें विशिष्ट भ्रम (या—पक्षियोंका भ्रम) पैदा रनेवाली, वायुकी पुष्पोंमें क्रीडा (या—वायुकी कामक्रीडा) ने नलके नेत्रोंको वन्द कर या। [स्त्री-पुरुषकी कामक्रीडा देखनेका स्मृतिशास्त्रमें निषेध होनेसे स्त्रीरूपिणी लताके थ पुरुषरूपी वायुकी कामक्रीड़ाको देखकर मानो नलने नेत्रोंको बन्द कर लिया, स्तवमें तो वायुके द्वारा हिलायी जाती हुई लताओंका देखना कामोद्दीपक होनेसे नके असह्य होनेसे नलने नेत्रोंको वन्द कर लिया था] ॥ ९७ ॥

ाता यदुत्सङ्गतले विशालतां द्रुमाः शिरोभिः फलगोरवेण ताम्।
कथं न धात्रीमतिमात्रनामितैः स वन्दमानानभिनन्दति स्म तान्? ॥९८॥

गता इति। द्रुमा यस्या धात्र्या उत्सङ्गतले उपरि देशे च विशालतां विवृद्धिं ताः तां धात्रीम्भुवञ्च उपमातरं वा 'धात्री जनन्यामलके वसुमत्युपमातृष्वि'ति विश्वः। 'धः कर्मणि ष्ट्रन्नि'ति दधातेः ष्ट्रन् प्रत्ययः। फलगौरवेण फलभरेण सुकृताति-ायेन च हेतुना अतिमात्रं नामितैः प्रह्वीकृतैः, नमेर्मित्त्वाविकल्पाद्ध्रस्वाभावः। शिरो-भिरग्रैः उत्तमाङ्गैश्च वन्दमानान् स्पृशतोऽभिवादयमानांश्च तान् प्रकृतान् द्रुमान् त एव यच्छुब्दानपेक्षी स नलः कथं नाभिनन्दति स्म अभिननन्दैवेत्यर्थः। वृक्षाणां त्रानुरूपफलस्य सम्पत्तिमपत्यानां च मातृभक्तिञ्च को नाम नाभिनन्दतीति भावः। अत्रापि विशेषणसामर्थ्यात् पुत्रप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ९८ ॥

जो पृथ्वीके उत्सङ्ग (क्रोड = गोद, पक्षा०—भूतल) में विशाल हुये थे अर्थात् पलकर ड़े हुए थे, वे पेड़ फलों (पक्षा०—पुण्योत्पन्न मनोरथ-प्राप्ति) गौरव (भारीपन, पक्षा०—रुता) से अतिशय नम्र किये गये शाखाग्रों (पक्षा०—मस्तकों) से उस पृथ्वी (पक्षा०—ाता) की वन्दना करते हुए उन पेड़ोंका नल क्यों नहीं अभिनन्दन करते? अर्थात् अवश्यमेव अभिनन्दन करते। [लोकमें भी माताकी गोदमें बढ़कर विद्याध्ययनादि फलके ौरवसे अत्यन्त नम्रमस्तक हो उस माताकी वन्दना करनेवाले पुत्रका सज्जन लोग जिस प्रकार अभिनन्दन करते ही हैं, उसी प्रकार भूतलपर बढ़कर फलोंके भारसे अत्यन्त झुकी

हुई डालियोंवाले वृक्षोंका अभिनन्दन नलने किया। फल-भारसे झुके हुए वृक्षोंको दे
नल बहुत प्रसन्न हुए] ॥ ९८ ॥

नृपाय तस्मै हिमितं वनानिलैः सुधीकृतं पुष्परसैरहर्महः।
विनिर्मितं केतकरेणुभिः सितं वियोगिनेऽधत्त न कौमुदी मुदः ॥ ९

अत्रातपस्य चन्द्रिकात्वनिरूपणाय तद्धर्मान् सम्पादयति—नृपायेति। वना
उद्यानवातैः हिमं शीतलं कृतं हिमितं, तत्करोतेर्ण्यन्तात् कर्मणि क्तः। पुष्परसै
वातानीतैः मकरन्दैः सुधीकृतममृतीकृतं तथा केतकरेणुभिः सितं विनिर्मितं शु
कृतम् अह्नो महस्तेजः अहर्मह आतपः 'रोः सुपी'ति रेफादेशः। तदेव कौमु
व्यस्तरूपकं वियोगिने तस्मै नृपाय मुदः प्रमोदान् नाधत्त न कृतवती, प्रत्युतो
कैवाभूदिति भावः ॥ ९९ ॥

उपवन-वायुसे ठण्डा किया गया, पुष्पोंके मधुसे अमृतके तुल्य बनाया
तथा केतकी-पुष्पके परागोंसे श्वेतवर्ण किया गया भी दिनका धूप विरही उस राजा (
के लिए चाँदनीके आनन्दको नहीं दे सका। [यद्यपि उक्त कारणत्रयसे शीतल, अमृ
एवं श्वेतवर्ण होनेसे दिनका धूप चाँदनी-जैसा सुखद हो रहा था, किन्तु विरहियोंके
चाँदनीके दुःखद होनेसे वैसे धूपसे भी नलको सुख नहीं हुआ] ॥ ९९ ॥

वियोग[1]भाजोऽपि नृपस्य पश्यता तदेव साक्षादमृतांशुमाननम्।
पिकेन रोषारुणचक्षुषा मुहुः कुहूरुताऽऽहूयत चन्द्रवैरिणी ॥१

वियोगेति। वियोगभाजोऽपि वियोगिनोऽपि नृपस्य तदाननमेव साक्षादमृ
प्रत्यक्षचन्द्रं पश्यता अत एव रोषादद्यापि चन्द्रतां न जहातीति क्रोधादिवारुणच
पिकेन चन्द्रवैरिणी कुहूर्निजालाप एव कुहूर्नष्टचन्द्रकला अमावास्येति श्लिष्ट
'कुहूः स्यात् कोकिलालापनष्टेन्दुकलयोरपी'ति विश्वः। मुहुराहूयत आहूता दि
त्युत्प्रेक्षा पूर्वोक्तरूपकसापेक्षेति सङ्करः। अस्य चन्द्रस्येयमेव कुहूराह्वानीया
तत्कान्तिराहित्यसम्भवादिति भावः ॥ १०० ॥

विरही भी राजा (नल) के मुखको साक्षात् चन्द्रमा ही देखते हुए (अतएव-
विरही होकर भी मलिन नहीं हुआ, प्रत्युत चन्द्रतुल्य सुन्दर ही है' ऐसा विचार
क्रोधसे लाल नेत्रोंवाला तथा 'कुहू' शब्द करनेवाला पिक पुनः चन्द्रमाकी विरोधिनी (
अर्थात् अदृष्ट चन्द्रकलावाली अमावस्या तिथि) को बुलाने लगा। (अथवा—निश्चित ही
विरोधिनी कुहूको बुलाने लगा)। विरहावस्थामें भी नलमुख चन्द्राधिक सुन्दर था॥

अशोकमर्थान्वितनामताशया गतान् शरण्यं गृहशोचिनोऽध्वगान्।
अमन्यतावन्तमिवैष पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् ॥१०

---

[1] १. 'अयोग—' इति पाठान्तरम् ।

अशोकमिति । एष नलः पल्लवैः प्रतीष्टानि प्रतिगृहीतानि संच्छन्नानि कामस्य लदस्त्राणि तद्रूपकाणि जालकानि छादकानि बालमुकुलगुच्छा येन तं पल्लवसंच्छ कुसुमरूपकामास्त्रमित्यर्थः । अन्यथा तद्दर्शनादेव ते म्रियेरन्निति भावः । अशोकमत वार्थान्वितनामता नास्ति शोकोऽस्मिन्नित्यन्वर्थसंज्ञा तत्कृतया आशया अस्मान प्रशोकान् करिष्यतीत्यभिलापेण शरणे रक्षणे साधुं समर्थं शरण्यं मत्वेति शेषः । रणं रक्षणे गृह' इति विश्वः, 'तत्र साधुरि'ति यत्प्रत्ययः । आगतान् शरणागता त्यर्थः । गृहान् दारान् शोचन्तीति गृहशोचिनः गृहानुद्दिश्य शोचन्त इत्यर्थः । गृहः पत्न्यां गृहे स्मृत' इति विश्वः । अध्वगान् प्रोषितान् अवन्तमिव शरणागत क्षणे महाफलस्मरणादन्यथा महादोषस्मरणाच्च रक्षन्तमिवेत्यर्थः । अमन्यत ज्ञात न् । अस्त्रभीरूणां तद्गोपनमेव रक्षणाय इति भावः ॥ १०१ ॥

'जहां शोक नहीं है, उसे 'अशोक' कहते हैं' ऐसे सार्थक नामकी आशासे समीपमें ये हुए, स्त्रियोंको सोचते हुए पथिकोंकी, पल्लवोंसे जलते हुए अस्त्रतुल्य कलियोंके गुच्छा ोंको छिपाये हुए (या—रक्त पल्लवोंसे जलते हुए कामास्त्रको अपने शरीरपर ग्रहण किये ए, अतएव) शरणागतोंके लिए साधु (श्रेष्ठ) अशोकको नलने रक्षा करते हुएके समान ाना। (अथवा—·········पथिकोंको कामदेव के जलते हुए अस्त्रको स्वीकार कर ल्लवोंसे मारते हुए अशोकको नलने वध करनेमें श्रेष्ठ माना) [प्रथम अर्थमें—उक्त रूपसे अन्वर्थक समझकर अशोकके पास गये हुए स्त्रीकी चिन्ता करते हुए पथिकोंके शरण्य शरणागतवत्सल) अशोकको जलते हुए कामबाणोंको अपने शरीरपर स्वीकार कर रक्षा करते हुएके समान माना। लोकमें भी शरणागतवत्सल सज्जन व्यक्ति अपने ऊपर त्रुओंके शस्त्रोंका प्रहार सहते हुए भी शरणागतकी रक्षा करता है। द्वितीय अर्थमें— उक्त आशासे समीप गये हुए पथिकोंको, अशोकने 'रक्तवर्ण पल्लवोंसे जलते हुए कामास्त्रको स्वीकार कर मारा (वे अशोकके रक्तपल्लवोंको देखकर अधिक कामपीडित हुए) अतएव नलने उस अशोकको वध करनेवालोंमें श्रेष्ठ माना। लोकमें भी कोई असज्जन व्यक्ति रक्षा ानेकी आशासे समीपमें आये हुए शरणागतोंका भी उनके शत्रुके भयङ्कर अस्त्रोंसे वध कर डालता है। अशोक-पल्लवोंके कामोद्दीपक होनेसे द्वितीय अर्थ ही उचित प्रतीत होता है और वही अर्थ 'प्रकाश'कारको भी विशेष सम्मत है] ॥ १०१ ॥

विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात् ।
वनेऽपि तौर्य्यत्रिकमारराध तं क भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः ? ॥१०२॥

विलासेति । विलासवापी विहारदीर्घिका तस्यास्तटे वीचीनां वादनात्पिकाना लीनाञ्च गीतेर्गानात् शिखिनां मयूराणां लास्यलाघवात् नृत्यनैपुण्यात् च वनेऽपि तं नलं तौर्य्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यत्रयं कर्त्तृ, आरराध आराधयामास । तथा हि—भाग्य भाक् भाग्यवान् जनः क्व भुज्यत इति भोगः सुखं तं नाप्नोति सर्वत्रैवाप्नोतीत्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १०२ ॥

क्रीडावापीके तीरपर तरङ्गोंके बजने (शब्द करने) से, पिकसमूह (या—पिको भ्रमरों) के गानेसे तथा मयूरोंके नृत्य–चातुर्यसे वनमें भी उस नलकी तौर्यत्रिक (क्र वादन, गायन तथा नर्तन) ने सेवा की, क्योंकि भाग्यवान् मनुष्य कहांपर भोगको पाता ? अर्थात् भाग्यवान् मनुष्यको भोग–विलासके साधन सर्वत्र मिल जाते हैं। विरही होनेसे कामपीडित नलके लिए वे कामोद्दीपक वादनादि सुखकर नहीं थे, विरक्त व्यक्तिके सामने स्थित तरुणी तरुणी ही मानी जाती है, अतएव विरही भी लिए प्रतिकूल होनेपर भी वे वाद्नादि भोग–साधन ही माने जायेंगे। अथवा—" तौर्यत्रिकने खेद है कि नलको मारा अर्थात् पीडित किया, क्योंकि भाग्य (पूर्वकृत पापजन्य सुख या दुःख) को पानेवाला मनुष्य भोग (पुण्यजन्य सुख या–पापजन्य दु को कहां नहीं पाता है ? अर्थात् सर्वत्र पाता है, अतएव नलको महलमें तो काम होती ही थी, विनोदार्थ एकान्त वनमें आनेपर भी उससे छुटकारा नहीं मिला' यह अर्थ करना चाहिये। इस दूसरे अर्थके लिए 'आ' उपसर्गको खेदवाचक तथा ' क्रियापदमें 'राध' धातुको हिंसार्थक मानना चाहिये ॥ १०२ ॥

तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ताः पटवस्तमस्तुवन्।
स्वरामृतेनोपजगुश्च शारिकास्तथैव तत्पौरुषगायनीकृताः ॥ १०

तदर्थमिति। जनेन सेवकजनेन तदर्थं नलप्रीत्यर्थमध्याप्य स्तुतिं पाठ तस्मिन् वने विमुक्ता विसृष्टाः पटवः स्फुटगिरः शुकास्तं नलमस्तुवन्। तथैव शु देव तदर्थमध्याप्य मुक्ताः तत्पौरुषस्य नलपराक्रमस्य गायिन्यो गायकाः गायनीकृताः शारिकाः शुकवध्वः स्वरामृतेन मधुरस्वरेणेत्यर्थः। उपजगुश्च ॥ १

उस (नलकी स्तुति करने) के लिए पढ़ाकर छोड़े गये चतुर (स्पष्ट बोलने या–कही हुई स्तुतिका ठीक–ठीक अभ्यास किये हुए) तोतोंने उस नलकी स्तुति की उस (नल) के पुरुषार्थ–गानको सिखायी गयी सारिकाओं (मैंनों) ने अमृततुल्य स्वरसे नलके पौरुषको गाया ॥ १०३ ॥

इतीष्टगन्धाढ्यमटन्नसौ वनं पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च।
अविन्दतामोदभरं बहिश्चरं[१] विदर्भसुभ्रूविरहेण नान्तरम् ॥ १०

इतीति। इतीत्थमिष्टगन्धाढ्यमिष्टसौगन्ध्यसम्पन्नं वनमटन्, 'देशकालाध्व व्या कर्मसंज्ञा ह्यकर्म्मणामि'ति वनस्य देशत्वात् कर्म्मत्वम्। असौ नलः कोकिलैरुपगीतोऽपि शुकैः स्तुतोऽपि च परं केवलं 'परं स्याद्युत्तमानाप्तवैरि केवल' इति विश्वः। बहिरामोदभरं सौरभ्यातिरेकमेवाविन्दत विदर्भसुभ्रूवि हेतुना आन्तरमामोदभरमानन्दातिरेकरूपन्नाविन्दत न लब्धवान्, प्रत्युत दु मेवान्वभूदिति भावः। 'आमोदो गन्धहर्षयोरि'ति विश्वः ॥ १०४ ॥

---

[१] 'बहिः परम्' इति पाठान्तरम्।

इस प्रकार अभीष्ट सौरभयुक्त वनमें घूमते हुए तथा तोतों एवं सारिकाओंसे स्तुत भी नलने बाहरी आनन्दको तो प्राप्त किया, किन्तु दमयन्तीके विरहके कारण भीतरी नन्दको नहीं प्राप्त किया ॥ १०४ ॥

करेण मीनं निजकेतनं दधद् द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया ।
व्यतर्कि सर्वर्त्तुघने वने मधुं स मित्रमत्रानुसरन्निव स्मरः ॥ १०५ ॥

करेणेति । स नलः निजकेतनं निजलाञ्छनं मीनं द्रुमालवालाम्बुषु निवेशशङ्कया शभिया करेण दधत् तादृक्शुभरेखाव्याजेन दधान इत्यर्थः, सर्वर्तुघने सर्वर्त्तुसङ्कुले त्र अस्मिन् वने मित्रं सखायं मधुं वसन्तमनुसरन् अन्विष्यन् स्मर इव व्यतर्कि युत्प्रेक्षा ॥ १०५ ॥

(लोगोंने) उस नलको पेड़ोंके थालोंके पानीमें प्रवेश करनेकी शङ्कासे अपने पताका ह मछलीको हाथ में धारण किया हुआ (पक्षा०—अपने राजचिह्न रेखारूप मीनको थमें धारण किये हुए) तथा सब ऋतुओंसे परिपूर्ण इस वनमें वसन्त ऋतुका अनुगमन रता हुआ कामदेव समझा ॥ १०५ ॥

लताऽबलालास्यकलागुरुस्तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः ।
असेवतामुं मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिलः ॥ १०६ ॥

लतेति । लता एवाबलास्तासां लास्यकलासु मधुरनृत्तविद्यासु गुरुरुपदेष्टेति न्योक्तिः, तरुप्रसूनगन्धोत्कराणां द्रुमकुसुमसौरभसम्पदां पश्यतोहरः पश्यन्तम हत्य हरः प्रसह्यापहर्त्तेत्यर्थः । 'पश्यतो यो हरत्यर्थं स चौरः पश्यतोहर' इति हला धः, पचाद्यच् 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी । 'वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेष्वि'ति क्त्यादलुक् । सौरभ्ययुक्तं मधुमकरन्द एव गन्धवारि गन्धोदकं तत्र प्रणीतलीला वनः । एतेन कृतलीलावगाहन इति शैत्योक्तिः, ईदृग्वनानिलोऽमुं नलमसेवत गुण न् सेवकः सेव्यप्रियो भवतीति भावः ॥ १०६ ॥

लतारूपिणी नायिकाको नृत्यकला सिखानेवाला, वृक्षोंके पुष्पोंके गन्धसमूहको चुराने ला तथा पुष्परसरूप सुरभित जलमें (या—नलके 'मधुगन्ध' नामक सरोवरके जलमें) लक्रीड़ा किया हुआ पवन इस नलकी सेवा करने लगा । [उक्त विशेषणत्रयसे पवन मन्द, सुगन्ध तथा शीतल होना सूचित होता है, जो नलके लिए शुभ शकुनका चक है । लोक—व्यवहारमें भी कोई परिचारक बड़े लोगोंकी पीठमर्दनादिके द्वारा सेवा रते हैं] ॥ १०६ ॥

अथ स्वमादाय भयेन मन्थनाच्चिरत्नरत्नाधिकमुच्चितं चिरात् ।
निलीय तस्मिन्निवसन्नपांनिधिर्वने तडागो ददृशेऽवनीभुजा ॥ १०७ ॥

अथेति । अथ वनालोकनानन्तरं मन्थनाद्भयेन धनार्थं पुनर्मथिष्यतीति भया देत्यर्थः । चिरादुच्चितं सञ्चितं चिरत्नं चिरन्तनं 'चिरपरुत्परारिभ्यस्त्नो वक्तव्य' इति

लप्रत्ययः । तच्च तद्रत्नाधिकं श्रेष्ठवस्तु भूयिष्ठं चेति चिरत्नरत्नाधिकं 'रत्नं स्व श्रेष्ठेऽपी'त्यमरः । स्वं धनमादाय तस्मिन् वने निलीयान्तर्धाय निवसन् वर्त्तमा पान्निधिरिवेत्युत्प्रेक्षा। तेन नलेन तडागः सरोविशेषोऽवनीभुजा राज्ञा ददृशे दृष्टः॥

उस राजा (नल) ने बहुत समयसे बढ़े हुए, प्राचीन रत्नों (अपने धन) को के भयसे लेकर उस (नलके उपवन) में छिपे हुए समुद्रके समान (अपने क्रीड़ा देखा । [लोकमें भी कोई धनवान् व्यक्ति चोरीके भयसे अपने चिरसञ्चित धनको वनमें छिप जाता है । नलका क्रीड़ासर समुद्रके समान बहुत रत्नोंसे भरा हुआ गम्भीर था] ॥ १०७ ॥

पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसच्छवीन् ।
जलार्द्धरुद्धस्य तटान्तभूभिदो मृणालजालस्य निभाद्बभार यः ॥१

यदुक्तं धनमादायेति, तदेवात्र सम्पादयति नवभिः श्लोकैः पय इत्यादिभिः। य डागः जलेनार्द्धरुद्धस्य अर्द्धच्छन्नस्य तटान्तभूभिदस्तटप्रान्तनिर्गतस्येत्यर्थः। मृणाल लस्य बिसवृन्दस्य निभाद्व्याजादित्यपह्नवालङ्कारः, 'निभो व्याजसदृक्षयोरि'ति वि अनन्तोरगस्य शेषाहेः, पुच्छेन सच्छवीन् सवर्णान् तद्वद्धवलानित्यर्थः, पयोनिलं नामभ्रमुकामुकावलीनामैरावतश्रेणीनां रदान् दन्तान् बभार। तत्रैक एवैरा अत्र त्वसंख्या इति व्यतिरेकः। अभ्रमुकामुका इति द्वितीयासमासो मधुपिपासु 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् 'लषपते'त्यादिना कमेरुकञ्प्रत्ययः॥ १०८॥

(आगेके १।११७) श्लोकमें समुद्र शोभाका चौर इस तडागको कहा गया है, एव वहाँ तक समुद्र-धर्मोंका वर्णन करते हैं—) जो तडाग पानीसे आधा ढके हुए प्रान्त भूमिसे बहिर्गत मृणाल-समूहके कपटसे शेषनागकी पूंछके समान सुन्दर कान्ति तथा जलमें डूबे हुए ऐरावतके दन्त-समूहको धारण करता था। [पानीमें आधे छिपे तथा आधे तीरभूमिके ऊपर निकले हुए मृणाल-समूह ऐसे मालूम पड़ते थे कि वे शेष की पूँछके समान, पानीमें डूबे हुए ऐरावतोंके दन्त-समूह हों। समुद्रसे एक ऐ निकला था, किन्तु इस तड़ागमें अनेक ऐरावत डूबे हुए थे, अतएव यह समुद्रसे श्रेष्ठ था] ॥ १०८ ॥

तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन यः ।
बभौ चलद्वीचिकशान्तशातनैः सहस्रमुच्चैःश्रवसामिव श्रयन् ॥१०

तटान्तेति। यस्तडागस्तटान्ते तीरप्रान्ते विश्रान्ता या तुरङ्गमच्छटा नलानां श्वश्रेणी तस्याः स्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन प्रकटप्रतिबिम्बाविर्भावप्रीत्या निमित्ते एकैकशस्तासां वीचीनां कशानामन्तैः शातनैरुग्रताडनैः, 'अश्वादेस्ताडनी कशे' मरः, चलदुच्चलदुच्चैःश्रवसां सहस्रं श्रयन् प्राप्नुवन्निव बभावित्युत्प्रेक्षा, व्यति पूर्ववत्। एतेन नलाश्वानामुच्चैःश्रवःसाम्यं गम्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥१०

जो (तड़ाग) तीरपर ठहरे हुए घोड़ोंकी (नील-श्वेत-कृष्ण आदि विविध) कान्तिके तिबिम्बके सम्बन्धसे चञ्चल तरङ्गरूपी कोड़ोंके प्रहारोंसे मानो हजारों उच्चैःश्रवाको धारण ता था। [घोड़े कोड़ेकी प्रहारसे चञ्चल होकर चलते हैं, जलमें प्रतिविम्बित वस्तुके ङ्गसे चञ्चल होनेके कारण तीरपर ठहरे हुए नलके घोड़ोंके प्रतिविम्ब जलके तरङ्गरूपी ड़ोंकी मारसे चलते हुए अनेक उच्चैःश्रवा घोड़ोंके समान प्रतीत होते थे। यहां भी मुद्रमें एक उच्चैःश्रवासे तथा इस तड़ागमें अनेक उच्चैःश्रवाके होनेसे समुद्रकी अपेक्षा तडागकी श्रेष्ठता सूचित होती है तथा नलके घोड़ोंका उच्चैःश्रवाके समान होना चित होता है] ॥ १०९ ॥

सिताम्बुजानां निवहस्य यश्छलाद्बभावलिश्यामलितोदरश्रियाम् ।
तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलं कुलं सुधांशोर्बहलं वहन् बहु ॥११०॥

सितेति। यस्तडागः अलिभिः श्यामलितोदरश्रियां श्यामीकृतमध्यशोभानां ताम्बुजानां पुण्डरीकाणां निवहस्य च्छलात् तमःसमच्छायः तिमिरवर्णः यः लङ्कः तेन सङ्कुलं वहलं सम्पूर्णम्बह्वनेकं सुधांशोश्चन्द्रस्य कुलं वंशं वहन् सन् बभौ। त्र च्छलशब्देन पुण्डरीकेषु विषयापह्नवेन चन्द्रत्वाभेदादपह्नवभेदः, व्यतिरेकस्तु वंवत् ॥ ११० ॥

जो (तडाग) बीचमें भ्रमरोंके बैठनेसे श्यामवर्ण मध्यभाग वाले श्वेतकमलोंके समूहके पटसे अन्धकारके समान (कृष्णवर्ण) कलङ्कसे युक्त चन्द्रमाके बहुत-से समूहोंको धारण रता हुआ शोभता था—। [यहाँ भी एक चन्द्रमावाले समुद्रकी अपेक्षा अनेक चन्द्रकुलको रण करनेवाले इस तडागकी श्रेष्ठता सूचित होती है] ॥ ११० ॥

रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा ।
सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवान्मृणालशेषाहिभुवाऽन्वयायि यः ॥ १११ ॥

रथाङ्गेति। यस्तडागो रथाङ्गं चक्रवाकः चक्रायुधञ्च यद्यपि चक्रवाके रथाङ्गनाति च प्रयोगो रूढः तथापि प्रायेणास्य चक्रशब्दपर्यायत्वप्रयोगदर्शनात् (रथाङ्ग) दस्याप्युभयत्र प्रयोगम्मन्यते कविः, तद्भाजा 'भजो ण्विः', कमलैः कमलया चानुङ्गिणा संसर्गवता शिलीमुखस्तोमसखेन अलिकुलसहचरेण अन्यत्र सखिशब्दः दृश्यवचनः तत्सवर्णेनेत्यर्थः, मृणालं शेषाहिरिवेत्युपमितसमासः, तद्भुवा तदाकारेण न्यत्र मृणालमिव शेषाहिः तद्भुवा तदाधारेण शार्ङ्गिणा विष्णुना सरोजिनीनां तम्बा गुल्माः, 'अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्ममि'त्यमरः, तेषां कदम्बस्य कैतवान्मिषात् न्वयायि अनुयातोऽनुसृतोऽधिष्ठित इति यावत्। अत्रापि कैतवशब्देन स्तम्बत्वमहुत्य शार्ङ्गित्वारोपादपह्नवभेदः ॥ १११ ॥

जो (तड़ाग) चकवा-चकईयुक्त, कमलसहित, भ्रमर-समूहवाले तथा मृणालरूप जो षशरीर तद्रूप भूमिपर उत्पन्न कमलिनी स्तम्ब-समूहके कपटसे सुदर्शनचक्र युक्त लक्ष्मी

के साथ रहनेवाले, भ्रमरसमूहके समान (श्याम कान्तिवाले) तथा मृणाल तुल्य (वर्ण) शेषनागकी शय्यावाले विष्णुसे अनुगत (युक्त) होता था। [क्षीर समुद्रमें विष्णु भगवान् रहते हैं, अतएव यह तड़ाग भी उक्तरूप कमलिनी-स्तम्ब-सम् होनेसे वैसा ही प्रतीत होता था] ॥ १११ ॥

तरङ्गिणीरङ्कजुषः स्ववल्लभास्तरङ्गलेखा बिभराम्बभूव यः ।
दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैर्धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च यः ॥ ११२

तरङ्गिणीरिति । यस्तडागोऽङ्कजुषोऽन्तिकभाजः उत्सङ्गसङ्गिन्यश्च वा तरङ्ग स्तरङ्गराजिरेव स्ववल्लभास्तरङ्गिणीरिति व्यस्तरूपकम्बिभराम्बभूव बभार, 'भीह्री हुवां श्लुवच्चे'ति भृञो विकल्पादाम् प्रत्ययः । किञ्च यस्तडागो दरोद्गतैरीषदु कोकनदौघकोरकैः रक्तोत्पलखण्डकलिकाभिः धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च धृतविद्रुम निकरश्चेति । अत्रापि कोकनदकोरकाणां विद्रुमत्वे रूपणाद्रूपकालङ्कारः ॥ ११२

जो (तड़ाग) क्रोड (मध्य) में स्थित अपनी प्रिया तरङ्ग लेखारूपिणी नदि धारण करता था तथा कुछ बाहर निकले हुए रक्तकमल-समूह के अङ्कुरोंसे विद्रुमके समूह वाला था— । [समुद्रमें जैसे उनकी प्यारी बहुत-सी नदियां आकर मिलती हैं विद्रुमके अङ्कुर-समूह रहते हैं, उसी प्रकार इस तडागके मध्यमें भी अपनेमें ही होनेसे प्रिय तरङ्ग रेखारूपी नदियां थीं तथा बाहर की ओर थोड़ा दीखते हुए रक्तक अङ्कुर-समूह प्रवालाङ्कुर समूहरूप थे । अतएव यह तडाग समुद्रतुल्य था] ॥ ११२ ॥

| महीयसः पङ्कजमण्डलस्य यश्छलेन गौरस्य च मेचकस्य च ।
नलेन मेने सलिले निलीनयोस्त्विषं विमुञ्चन् विधुकालकूटयोः ॥ ११

महीयस इति । यस्तडागः महीयसो महत्तरस्य गौरस्य च मेचकस्य च प मण्डलस्य सितासितसरोजयोश्छलेन सलिले निलीनयोः विधुकालकूटयोः सित तयोरिति भावः । त्विषं विमुञ्चन् विसृजन्निव नलेन मेने । अत्रच्छलेन विमुञ्च वेति सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ११३ ॥

गौर (श्वेत) तथा मेचक (चमकदार नीलवर्ण) कमल-समूहके कपटसे वि नलने पानीमें डूबे हुए चन्द्रमा तथा कालकूट (हलाहल विष) की कान्तिको छो हुआ सा माना । [समुद्र जिस प्रकार श्वेत चन्द्रमा तथा हलाहलसे युक्त है, उसी प्र इस तड़ागमें भी श्वेत तथा नील कमल-समूह होनेसे यह तड़ाग भी उन (चन्द्रमा हलाहल)से युक्त था] ॥ ११३ ॥

चलीकृता यत्र तरङ्गरिङ्गणैरबालशैवाललतापरम्पराः ।
ध्रुवन्दधुर्वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूसधूमताम् ॥ ११४ ॥

चलीकृता इति । यत्र यस्मिन् तडागे तरङ्गरिङ्गणैस्तरङ्गकम्पनैश्चलीकृताः क्ताः अबालानां कठोराणां शैवाललतानां परम्पराः पङ्क्तयः हव्यं वहतीति

डग्निः 'वहश्चे'ति ण्विप्रत्ययः । तस्य च्छन्दोमात्रविषयत्वाद् अनादरेण भाषायां प्रोगः । वाडवहव्यवाहो वाडवाग्नेरेव स्थित्याऽन्तरवस्थानेन प्ररोहत्तमो बहिः प्रादुर्वत्तमो भूमा येषान्ते च ते धूमाश्च तेषां भावस्तत्ता तां दधुः । बहिरुत्थितधूमपटवद्बभुरित्यर्थः । ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ११४ ॥

जिस (तडाग) में तरङ्गोंके चलनेसे बड़े-बड़े शेवाल लताके समूह ने भीतरमें रहने ले वाडवाग्निसे ऊपर उठे हुए धूम-बाहुल्यको धारण कर लिया है, ऐसा प्रतीत होता । [तरङ्ग-समूह से चञ्चल बड़े-बड़े शेवाल-समूह अन्तःस्थित वडवाग्निके ऊपर उठती धूमज्वालाके समान प्रतीत होते थे] ॥ ११४ ॥

प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकैः करम्बिताऽऽमोदभरं विवृण्वती ।
धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा सरोजिनी यत्प्रभवाऽप्सरायिता ॥११५॥

प्रकाममिति । आदित्यं सूर्यमवाप्य प्रकामं कण्टकैः नालगतैः तीक्ष्णाग्रैरवयवैः रम्बिता दन्तुरिता, अन्यत्रादित्यमदितिपुत्रमिन्द्रमवाप्य कण्टकैः पुलकैः करम्बिता तएवामोदभरं परिमलसम्पदमानन्दसम्पदं च विवृण्वती प्रकटयन्ती दिवा दिवसे तानि स्फुटश्रीगृहाणि पद्मानि यस्य स विग्रहः स्वरूपं यस्याः सा, अन्यत्र दिवा र्गेण स्फुटश्रीगृहमुज्ज्वलशोभास्पदं विग्रहो देहो यस्याः सा स्वर्गलोकवासिनीर्थः । यस्तडागः प्रभवः कारणं यस्याः सा तज्जन्या सरोजिनी पद्मिनी अप्सराता अप्सर इवाचरिता । 'उपमानात् कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति कर्त्तरि क्तः, 'ओजऽप्सरसोनित्यमि'त्यप्सरसः सकारलोपः । श्लिष्टविशेषणेयमुपमा ॥ ११५ ॥

जिस (तडाग) में उत्पन्न, दिनमें सूर्यको प्राप्तकर सम्यक् प्रकारसे कण्टकोंके द्वारा प्त, सौरभ-समूहको फैलाती हुई, विकसित शोभास्थान (कमल) रूप शरीर वाली लिनी विशिष्ट कामयुक्त इन्द्रदेवको प्राप्त कर रोमाञ्चोंसे व्याप्त हर्षातिशयको प्रकट करती तथा स्वर्गसे धारण किये गये प्रकाशमान शोभा-स्थानरूप शरीरवाली अप्सरा के ान आचरण करती है ॥ ११५ ॥

यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायतिर्मरुत्तरङ्गैस्तरलस्तटद्रुमः ।
निमज्ज्य मैनाकमहीभृतः सतस्ततान पक्षान् धुवतः सपक्षताम् ॥११६॥

यदिति । यस्य तडागस्याम्बुपूरे प्रतिबिम्बितायतिः प्रतिफलितायामः मरुत्तरङ्गैः तवीजनैस्तरलश्चञ्चलः तटद्रुमः निमज्ज्य सतो वर्त्तमानस्य पक्षान् धुवतः कम्पयतो ाकमहीभृतस्तदाख्यस्य पर्वतस्य सपक्षतां साम्यं ततानेत्युपमा ॥ ११६ ॥

जिस (तडाग) के जल-प्रवाह में प्रतिबिम्बित विस्तारवाला तथा वायु-चलित तरङ्गों चञ्चल तीरस्थ वृक्ष (जलके भीतर) डूबकर स्थित तथा पङ्खोंको कँपाते हुए मैनाक तकी समानताको विस्तृत कर रहा है । [जिस तडागके जलमें प्रतिबिम्बित वायु-प्रेरित ङ्गोंसे चञ्चल तटस्थ द्रुम समुद्र-जलमें डूबकर पङ्ख हिलाते हुए मैनाक पर्वतके समान ीत होते थे] ॥ ११६ ॥

(युग्मम्)

पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरम् ।
स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः ॥ ११
प्रियासु बालासु रतिक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितञ्च बिभ्रतम् ।
स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य च ॥ ११

पयोधीति । अथ स नैषधो निषधानां राजा नलः, 'जनपदशब्दात् क्षत्रिया
त्यञ् पयोधिलक्ष्मीमुषि तत्सदृश इत्यर्थः । अत्र केलिपल्वले क्रीडासरसि रि
रन्तुमिच्छूनां हंसीनां कलनादेषु सादरं सस्पृहं तत्रान्तिके तत्समीपे विचरन्तं
मद्भुतं हिरण्मयं सुवर्णमयं 'दाण्डिनायना'दिना निपातनात् साधुः । हंसम
ददर्शेत्यर्थः । 'दीपजने'त्यादिना कर्त्तरि चिण् । पुनस्तमेव विशिनष्टि–प्रियासु
बालासु अरतिक्षमासु किन्त्वासन्नयौवनास्वित्यर्थः । अन्यथा रागाङ्कुरासम्भवात्
क्षमासु युवतीषु द्विविधासु प्रियासु विषये क्रमाच्चञ्च्वोस्त्रोट्योः । 'चञ्चुस्त्रो
स्त्रियामि'त्यमरः । चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं सञ्जातद्विपत्रं पल्लवितं सञ्जा
वञ्च चञ्च्वोर्द्वयोः सम्पुटितत्वे साम्याद् द्विपत्रित्वं चरणयोस्तु विभ्रमरागमयत्वे
वसाम्यात्पल्लवत्वं राजहंसानां लोहितचञ्चुचरणत्वात् तस्मिन् मिषेणेत्युक्तं स्मर
स्मरेणैव वृक्षरोपणेनोत्पादितमित्यर्थः । राग एव महीरुहस्तस्याङ्कुरं रागमहीरु
विभ्रतं चञ्चुपुटमिषेण द्विपत्रितं बालिकागोचररागं चरणमिषेण पल्लवितं युवती
रागञ्च विभ्रतमित्यर्थः । ईदृशं हंसमबोधीति पूर्वेणान्वयः । 'नाभ्यस्ताच्छतु
नुम्प्रतिषेधः, वृक्षाङ्कुरो हि प्रथमं द्विपत्रितो भवति, पश्चात् पल्लवित इति प्रसि
तत्र रागं बिभ्रतम् इति हंसविशेषणात्, तद्रागस्य हंसाधिकरणत्वोक्तिः, प्रिया
धिकरणभूतास्वित्युपाध्यायविश्वेश्वरव्याख्यानं प्रत्याख्येयम्, अन्यनिष्ठस्य राग
न्याधिकरणत्वायोगात्, न चायमेक एवोभयनिष्ठ इति भ्रमितव्यम्, तस्येच्छाप
पर्य्यायस्य तथात्वायोगात्, बुद्ध्यादीनामपि तथात्वापत्तौ सर्वसिद्धान्तविरो
विषयानुरागाभावप्रसङ्गाच्च उभयोरपि रागत्वसाम्यादुभयनिष्ठभ्रमः केषाञ्चित्
त्कामिनोरन्योन्याधिकरणरागयोरन्योन्यविषयत्वमेव नाधिकरणत्वमेवमिति कि
न्तः, प्रियास्विति विषयसप्तमी, न त्वाधारसप्तमीति सर्वं रमणीयम् । अत्र राग
रुहाङ्कुरमिति रूपकं चञ्चुचरणमिषेणेत्यपह्नवानुप्राणितमिति सङ्करः । तेन च
भ्यन्तररागयोर्भेदे अभेदलक्षणातिशयोत्थापिता चञ्चुचरणव्याजेनान्तरस्येव
रङ्कुरितत्वोत्प्रेक्षा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ११७–११८ ॥

उस नलने (उक्त प्रकारसे २।१०८–११६) समुद्र शोभाको चुरानेवाले
समुद्रके समान शोभमान उस क्रीड़ाके छोटे जलाशयमें रमणाभिलाषिणी हंसीके
(अव्यक्त मधुर शब्द) में अभिलाषुक, (अल्पकामा) वाला प्रियाओं तथा सुरत

ती प्रियाओंमें दोनों चोचों तथा दोनों चरणोंके कपटसे (क्रमशः) दो पत्रयुक्त तथा ल्लवयुक्त कामोत्पन्न अनुरागरूप वृक्षके अङ्कुरको धारण करते हुए, विचित्र ढङ्गसे (या वर्णमय होनेसे आश्चर्यकारक) पासमें (नलके समीपमें, या—क्रीडातडागके समीपमें) चरते (धीरे-धीरे चलते) हुए सुवर्णमय हंसको देखा । [बाला प्रियाओंमें अल्पकाम नेसे कामोत्पादित अनुरागरूप वृक्षका अङ्कुर केवल दो पत्तोंवाला था, जिसे वह दो न्चुपुटके कपटसे धारण करता था, तथा सुरत-समर्थ युवती प्रियाओंमें प्रचुर काम होनेसे मोत्पादित अनुरागरूप वृक्षका अङ्कुर पल्लवयुक्त था, जिसे वह पल्लवस्थानीय रणाङ्गुलिके कपटसे धारण कर रहा था। यद्यपि इस तडागकी तुलना समुद्रसे करनेके रण इसे पल्वल (छोटा जलाशय) कहना उचित नहीं है, तथापि नलके क्रीडातडागकी वनासे इसे 'पल्वल' कहा गया है। अथवा—विस्तारके कारण समुद्रतुल्य तथा विनश्वर नेसे पल्वलतुल्य शरीरमें विहार करते हुए रमणार्थिनी हंसी शक्तिके कलनाद (अव्यक्त वनि) में आदरयुक्त हिरण्मय परमात्माको जैसे कोई योगी जानता (देखता) है, वैसे सको नलने देखा] ॥ ११७-११८ ॥

महीमहेन्द्रस्तमवेक्ष्य स क्षणं शकुन्तमेकान्तमनोविनोदिनम् ।
प्रियावियोगाद्विधुरोऽपि निर्भरं कुतूहलाक्रान्तमना मनागभूत् ॥ ११६ ॥

महीति । महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्रः स नलः एकान्तं नितान्तं मनो विनोदयतीति थोक्तं तं शकुन्तं पक्षिणं क्षणमवेक्ष्य प्रियावियोगान्निर्भरमतिमात्रं विधुरो दुःस्थोऽपि नागीषत्कुतूहलाक्रान्तमनाः कौतुकितचित्तोऽभूत्, गृहीतकामोऽभूदित्यर्थः ॥११९॥

प्रिया [दमयन्ती) के विरहसे अत्यन्त दुखी भी वे पृथ्वीपति नल निश्चितरूपसे नोहर उस पक्षी (हंस) को थोडी देर देखकर (उसे ग्रहण करनेके लिए) कुछ कौतुक-क्त हो गये अर्थात् उसे पकड़नेकी इच्छा की ॥ ११९ ॥

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा ।
तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना ॥ १२० ॥

कथमीदृशे चापल्ये प्रवृत्तिरस्य धीरोदात्तस्येत्याशङ्क्य नात्र जन्तोः स्वातन्त्र्यं किन्तु भाव्यर्थानुसारिणी विधातुरिच्छैव तथा प्रेरयतीत्याह—अवश्येति । अवश्यभ-येष्ववश्यं भाव्यर्थेषु विषये 'भव्यगेया' दिना कर्त्तरि यत्प्रत्ययान्तो निपातः, 'लुम्पे-वश्यमः कृत्ये' इत्यवश्यमो मकारलोपः, अनवग्रहग्रहा अप्रतिबन्धनिर्बन्धा निर-कुशाभिनिवेशेति यावत्, 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धग्रहणेषु रणोद्यम' इति विश्वः । वेधसः स्पृहा विधातुरिच्छा यया दिशा धावति येनाध्वना प्रवर्त्तते तयैव दिशा भृशावशा-मनाऽत्यन्तपरतन्त्रस्वभावेन जनस्य चित्तेन तृणेन वात्या वातसमूह इव, 'पाशा-दिभ्यो यः' अनुगम्यते, वेधसः स्पृहा कर्म्म ॥ १२० ॥

(अत्यन्त कामपीडित नलको हंस पकड़नेका कौतुक कैसे हुआ ? या—नलकी सेनाको

देखकर भयभीत भी हंस कैसे सो गया, इसका समाधान अर्थान्तरन्यासके द्वारा हैं—) अवश्य होनेवाले होनहारमें निर्बाध ब्रह्माकी इच्छा जिस ओर दौड़ती है, अत्यन्त पराधीन चित्त भी वायु-समूहसे तृणके समान उसी दिशाको जाता है। [हारको कोई नहीं टाल सकता]॥ १२० ॥

अथावलम्ब्य क्षणमेकपादिकां तदा निदद्रावुपपल्वलं खगः।
सतिर्य्यगावर्जितकन्धरः शिरः पिधाय पक्षेण रतिक्लमालसः॥ १२

चिकीर्षितार्थे दैवानुकूल्यं कार्यतो दर्शयति—अथेति। अथ नलदृष्टिप्राप्त्य रतिक्लमालसः स खगो हंसः तदा नलकुतूहलकाले क्षणमेकः पादो यस्यां क्रिया मित्येकपादिका एकपादेनावस्थानं मत्वर्थीयष्ठन् प्रत्ययः, 'तद्धितार्थे' त्यादिना स समासः, 'यस्येति' लोपस्य स्थानिवद्भावेन ताद्रूप्याभावाच्च पादः पदादेशः, ता पादिकामवलम्ब्य तिर्यगावर्जितकन्धरः आवर्त्तितग्रीवः सन् पक्षेण शिरः पि उपपल्वलं पल्वले निदद्रौ सुष्वाप। स्वभावोक्तिरलङ्कारः, 'स्वभावोक्तिरल यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात्॥ १२१॥

अनन्तर रति-खेद-खिन्न वह हंस गर्दनको तिरछा कर शिरको पङ्खसे छिपाक पैरपर स्थित होकर उस तडागके पासमें ही सो गया॥ १२१॥

सनालमात्माननिर्जितप्रभं ह्रिया नतं काञ्चनमम्बुजन्म किम्।
अबुद्ध तं विद्रुमदण्डमण्डितं स पीतमम्भःप्रभुचामरञ्च किम्?॥१२

सनालमिति। स नलः तं निद्राणं हंसम् आत्माननेन निर्जितप्रभं निजमु राकृतशोभम् अत एव ह्रिया नतं सनालं नालसहितं काञ्चनं सौवर्णमम्बुजन्मा किम्? तथा विद्रुमदण्डेन मण्डितं भूषितं पीतवर्णमम्भःप्रभोरपाम्पत्युः व चामरं किम्? इति शब्दोऽत्राहार्य्यः इति अबुद्ध बुद्धवानुत्प्रेक्षितवानित्यर्थः। कु तेर्लुङि तङः 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तकारस्य धकारः॥ १२२॥

उस (नल) ने उस (सोये हुए हंस) को (एक चरण पर बैठे रहनेके कारण) मुखसे पराजित शोभावाला (अतएव) लज्जासे नीचे मुख किया हुआ नाल (कम सहित सुवर्णमय कमल समझा क्या? तथा विद्रुम के दण्ड से शोभित, पीतवर्ण हिरण्मय चामर समझा क्या? [लाल एक चरणसे सुवर्णमय पीतवर्ण हंसको नालवाला सुवर्णमय पीला कमल तथा रक्तवर्ण दण्डवाला सुवर्णमय वरुणका चामर स उचित ही है अर्थात् उक्तावस्थामें सोया हुआ हंस रक्तनालवाले सुवर्णमय कमलके तथा विद्रुमदण्डवाले सुवर्णमय वरुणके चामरके समान प्रतीत होता था]॥ १२२॥

कृतावरोहस्य हयादुपानहौ ततः पदे रेजतुरस्य बिभ्रती।
तयोः प्रबालैर्वनयोस्तथाऽम्बुजैर्नियोद्धकामे किमु बद्धवर्मणी?॥१२

कृतेति। ततस्तन्निदर्शनानन्तरं हयादश्वात्कृतावरोहस्य कृतावतरणस्यास्य

थोपानहौ वर्मणी पादत्राणे । 'पादत्राणे उपानहौ' इत्यमरः । पदे चरणे तयोर्वनयोः लिलकाननयोः 'वने सलिलकानने' इत्यमरः । प्रवालैः पल्लवैः तथाम्बुजैः पद्मैत्यर्थः, 'सहार्थे तृतीया' नियोद्धुं कामोऽभिलाषो ययोस्ते नियोद्धुकामे युद्धकामे त्यर्थः । 'तुं काममनसोरपी'ति तुमुनो मकारलोपः, अतो बद्धवर्म्मणी किमु बद्धवचे इव ते रेजतुः किमित्युत्प्रेक्षा ॥ १२३ ॥

तदनन्तर घोड़ेसे उतरे हुए इस नलके जूता पहने हुए चरण वन अर्थात् जङ्गलके वपल्लवोंसे तथा वन अर्थात् जलके कमलोंसे युद्ध करनेके इच्छुक हो कवच बाँधे हुएके मान शोभते थे क्या ? । [जूता पहने हुए नलके चरण ऐसे प्रतीत होते थे कि वनोत्पन्न वपल्लव तथा कमलोंके साथ युद्ध करनेके लिए इन्होंने कवच पहना हो, नल के चरणद्वय ल्लव तथा कमलके समान होनेसे उनके प्रतिभट थे] ॥ १२३ ॥

विधाय मूर्त्तिं कपटेन वामनीं स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनीमयम् ।
उपेतपार्श्वश्चरणेन मौनिना नृपः पतङ्गं समधत्त पाणिना ॥ १२४ ॥

विधायेति । अयं नृपः स्वयमेव कपटेन छद्मना वामनीं ह्रस्वां गौरादित्वात् ङीप्, बलिध्वंसिविडम्बिनीं कपटवामनविष्णुमूर्त्यनुकारिणीमित्यर्थः, मूर्त्तिं विधाय ायं सङ्कुच्येत्यर्थः । मौनिना निःशब्देन चरणेनोपेतपार्श्वः प्राप्तहंसान्तिकः पाणिना तङ्गं पक्षिणं समधत्त, संधृतवान् जग्राहेत्यर्थः । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १२४ ॥

इस राजा (नल) ने बलिध्वंसी (नारायण) के समान कपटसे अपने शरीरको छोटा कर शब्दरहित चरणसे (हंसके) समीपमें जाकर हाथसे उस पक्षी अर्थात् हंसको न्वयं पकड़ लिया ।

[पौराणिक कथा—बलिके यज्ञमें तीन चरणपरिमित भूमि मांगनेके लिए नारायणने कपटसे अपने शरीरको अत्यन्त छोटा बनाकर बलिको बाँधा था ।] ॥ १२४ ॥

तदात्तमात्मानमवेत्य संभ्रमात् पुनः पुनः प्रायसदुत्प्लवाय सः ।
गतो विरुत्योड्डयने निराशतां करौ निरोद्धुर्दशति स्म केवलम् ॥ १२५ ॥

तदिति । स हंसः आत्मानं तदा तु तेन नलेनात्तं गृहीतमवेत्य ज्ञात्वा सम्भ्रादुत्प्लवायोत्पतनाय पुनः पुनः प्रायसदायस्तवान् । यसु प्रयत्न इति धातोर्लुङि पादित्वात् च्लेरङादेशः । उड्डयने उत्पतने निराशतां गतो विरुत्य विक्रुश्य निरोद्धुः ग्रहीतुः करौ केवलं करावेव दशति स्म दष्टवान् । अत्रापि स्वभावोक्तिरेव ॥१२५॥

तब उस हंसने अपनेको पकड़ा गया समझकर घबड़ाकर (या—भयसे) बार-बार ड़नेके लिए प्रयत्न किया, (फिर) उड़नेमें निराश हो चिल्ला-चिल्लाकर पकड़नेवाले नल) के दोनों हाथोंको काटने लगा ॥ १२५ ॥

ससम्भ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सरः प्रपद्योत्कतयाऽनुकम्पिताम् ।
तमूर्मिलोलैः पतगग्रहान्नृपं न्यवारयद्वारिरुहैः करैरिव ॥ १२६ ॥

स इति । ससम्भ्रमं सत्वरमुत्पातिना उड्डीयमानेन पतत्कुलेन पक्षिसङ्घे सङ्कुलं सरः कर्त्तृ उत्कतया उन्मनस्तया 'उत्क उन्मना' इति निपातनादिविध साधुः । अनुकम्पितां प्रपद्य कृपालुतां प्राप्य तं नृपमूर्मिलोलैश्चलैर्वारिरुहैः क व्यस्तरूपकम्, पतगग्रहात्पक्षिग्रहात् न्यवारयदिवेत्युत्प्रेक्षा । वास्तवनिवारणा वादुत्प्रेक्षा, निवारणस्य करसाध्यत्वात् तत्र रूपकाश्रयणम्, अत एवेवशब्दस माबाधेनार्थानुसाराद्व्यवहितान्वयेनाप्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकत्वमिति रूपकोत्प्रेक्षयोर भावेन सङ्करः ॥ १२६ ॥

(सजातीय हंसके पकड़े जानेसे) भयसे उड़े हुए पक्षि-समूहसे व्याप्त (पक्षियोंके उड़नेसे उत्पन्न वायुसे) ऊपर उठते हुए जलसे कम्पनको प्राप्त (या-हंस- उत्कण्ठासे दयालुताको प्राप्त) वह तडाग तरङ्गोंसे चञ्चल कमलरूप हाथोंके द्वारा (हंस) के पकड़नेसे राजा नलको मना-सा कर रहा था । [हंसके पकड़े जानेसे वासी पक्षी जब भयसे एक साथ उड़ गये और उनके पङ्खोंकी हवासे तडागका जल च गया तथा तरङ्गोंसे कमल हिलने लगे, तब ऐसा प्रतीत होता था कि यह तडाग नलको पक्षी पकड़नेसे उस प्रकार निषेध कर रहा है, जिस प्रकार अनुचित रूपसे द्वारा किसी व्यक्तिके पकड़े जानेपर दूसरा दयालु व्यक्ति हाथोंको हिलाकर वैसे करनेसे उस व्यक्तिको मना करता है] ॥ १२६ ॥

पतत्रिणा तद्रुचिरेण वञ्चितं श्रियः प्रयान्त्याः प्रविहाय पल्वलम् ।
चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली ॥ १

पतत्रिणेति । रुचिरेण पतत्रिणा हंसेन वञ्चितं विरहितं तत्पल्वलं सरः वि प्रयान्त्याः गच्छन्त्याः श्रियो लक्ष्म्याश्चलन्त्यां पदाम्भोरुहनूपुराभ्याम् उपमा यस्याः सा कलहंसमण्डली कूले चुकूज । यूथभ्रंशे कूजनमेषां स्वभावस्तत्र हंस सह गच्छन्त्याः सरःशोभायाः श्रीदेव्या सहाभेदाध्यवसायेन कूजत्कलहंसमण्ड तन्नूपुरत्वमुत्प्रेक्ष्यते । उपमाशब्दोऽपि मुख्यार्थानुपपत्तेः सम्भावनालक्षक वधेयम् ॥ १२७ ॥

सुन्दर उस पक्षी (हंस) से रहित तडागको छोड़कर जाती हुई लक्ष्मी (पक्षा शोभा) के (चलनेसे) चञ्चल चरण-कमलके नूपुरोंके समान राजहंस-समूह कूजने (शब्द करने) लगा । [लोकमें भी प्रियसे रहित स्थानको छोड़कर जाती नायिकाके चरणके नूपुर शब्द करते हैं । 'जाती हुई' कहनेसे लक्ष्मीका वहांसे जाना ध्वनित होता है] ॥ १२७ ॥

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग ! यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः ।
इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु ॥ १

नेति । इयं वसुधा वासयोग्या निवासार्हा न, कुतः अङ्ग भोः ! यस्या वसु

ङ्घितस्थितिः त्यक्तमर्य्यादः ईदृशः अनपराधपक्षिधारकः त्वं पतिः पालकः, इत्थं गाः क्षितिं प्रहाय नभ आश्रितास्तं नलमारवैरुच्चध्वनिभिराचुक्रुशुः खलु । उक्त- या सनिन्दोपालम्भनं चक्रुरिवेत्युत्प्रेक्षा गम्या ॥ १२८ ॥

'हे अङ्ग (राजन् नल)! यह पृथ्वी निवासके योग्य नहीं है, जिसके तुम मर्यादा ड़नेवाले ऐसे) निरपराध हंसको पकड़नेवाले) पति (रक्षक या—स्वामी) हो' इस ार पृथ्वीको छोड़कर आकाशका आश्रय किये हुए अर्थात् पृथ्वीसे आकाशमें उड़े हुए ी अधिक शब्द कर नलकी निन्दा करने लगे । [लोकमें भी लोग धनधान्यपूर्ण भी द्रवयुक्त देशका त्याग कर शून्य देशका आश्रय करते हैं] ॥ १२८ ॥

त जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य दृष्टेयमिति स्तुवन् मुहुः ।
अवादि तेनाथ स मानसौकसा जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा ॥ १२९ ॥

नेति । इयमीदृग्जातरूपच्छदैः सुवर्णपक्षैः जातरूपता उत्पन्नसौन्दर्यत्वं द्विजस्य क्षणो न दृष्टा । हिरण्मयः पक्षी न कुत्रापि दृष्ट इत्यर्थः । इति मुहुः स्तुवन् स जना- नाथः अथास्मिन्नन्तरे करपञ्जरस्पृशा तद्गतेन मानसं सरः ओकः स्थानं यस्येति तेन मानसौकसा हंसेन 'हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकस' इत्यमरः । वादि उक्तः । वदेः कर्मणि लुङ् ॥ १२९ ॥

'यह सोनेके पङ्खोंसे उत्पन्न सुन्दरता पक्षीकी नहीं देखी गयी है ।' इस प्रकार हंसकी र-बार प्रशंसा करते हुए राजा नलसे करपञ्जरस्थ मानसरोवर-निवासी वह हंस बोला— अथ च—ब्राह्मणकी सुवर्ण–सामग्रीसे उत्पन्न सुन्दरता कही नहीं देखी गयी है…… र्थात् ब्राह्मण प्रायः इतने अधिक धनी नहीं होते कि सुवर्णसे इस प्रकार व्याप्त हों । हाथको ार कहनेसे नलका हंसको ढीले हाथसे पकड़ना अतएव हंसका अपीडित होना सूचित ता है] ॥ १२९ ॥

धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः ।
तवार्णवस्येव तुषारशीकरैर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान् ॥ १३० ॥

तदेव चतुर्भिराह धिगित्यादि । हेम्नो जन्म येषां तान् हेमजन्मनो हैमान् मम ान् पतत्राणि समीक्ष्य तृष्णातरलम् आशावशगं भवन्मनो धिगस्त्विति निन्दा ङ्निर्भर्त्सननिन्दयोरि'त्यमरः । 'धिगुपर्य्यादिषु त्रिष्वि'ति धिग्योगात् मन इति तीया । तुषारशीकरैः हिमकणैरर्णवस्येव तव एभिः पक्षैः कियान् कमलाया दमथाः कमलस्य जलजस्य चोदयो वृद्धिर्भवेत् , न कियानित्यर्थः ॥ १३० ॥

सुवर्णोत्पन्न मेरे पङ्खोंको देखकर लोभसे चञ्चल तुम्हारे मनको धिक्कार है, समुद्रको सकी बूँदोंसे जलके समान समृद्धिमान् तुमको इन (सुवर्णोत्पन्न पङ्खों) से कितनी की वृद्धि होगी ? अर्थात् कुछ नहीं । [जिस प्रकार अथाह जलसे पूर्ण समुद्रका जल सकी बूँदोंसे कुछ भी नहीं बढ़ सकता, उसी प्रकार समस्तैश्वर्यसम्पन्न तुम्हारा धन इन

थोड़े सुवर्ण-पक्षोंसे कदापि नहीं बढ़ सकता, अतएव उनके लिए लोभ करनेसे तुम्हारे मनको धिक्कार है]॥ १३० ॥

न केवलं प्राणिवधो वधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसितान्तरात्मनः ।
विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ॥ १३

नेति । हे नृप ! त्वदीक्षणात् त्वन्मूर्त्तिदर्शनादेव विश्वसितान्तरात्मनो चित्तस्य विश्वस्तस्येत्यर्थः । मम वधः केवलं प्राणिमात्रवधो न किन्तु विश्वा पातकमित्यर्थः । ततः किमत आह—विश्वासजुषां विस्रम्भभाजां द्विषामपि हिंसनं धर्म्मधनैर्धर्मपरैः मन्वादिभिः विशिष्यातिरिच्य विगर्हितमत्यन्तनि मित्यर्थः ॥ १३१ ॥

तुम्हें देखनेसे विश्वस्तहृदयवाले मेरी हिंसा केवल जीवहिंसा मात्र नहीं है, धार्मिकोंने विश्वस्त शत्रुओंकी भी हिंसाको विशेष निन्दित कहा है ॥ १३१ ॥

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्य्यते ? ।
धिगीदृशन्ते नृपतेः कुविक्रमं कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि ॥ १३

पदे पद इति । रणोद्भटाः रणेषु प्रचण्डाः भटा योधाः पदे-पदे सन्ति सन्तीत्यर्थः, वीप्सायां द्विर्भावः । एष हिंसारसो हिंसारागस्तेषु भटेषु न पूर्य काकुः न पूर्यते किमित्यर्थः । नृपतेर्महाराजस्य ते तव ईदृशमवध्यवधरूपं कु धिक् यः कुविक्रमः कृपाश्रये कृपाविषये अनुकम्पनीये कृपणे दीने पतत्रिणि इति विशेषः ॥ १३२ ॥

पद-पदपर युद्धमें बहादुर योद्धा हैं, उनमें तुम्हारा हिंसानुराग नहीं पूरा होता अर्थात् अवश्य पूरा होता, (अतएव) हे राजन् ! तुम्हारे इस निन्दित पराक्रम भूमिपर प्रसिद्ध पराक्रम) को धिक्कार है, जो कृपापात्र दीन पक्षीपर प्रयुक्त हो [अथवा—पद-पदपर रणमें बहादुर योद्धा नहीं हैं ? जिनमें तुम्हारा यह हिंस पूरा होता······ । अथवा—पद-पदपर युद्धमें बहादुर शूरवीर हैं, (तथापि) तुम्ह हिंसानुराग नम्रों (मेरे-जैसे दीनों) में पूरा होता है ? अर्थात् उन शूरवीरों के सा करनेमें असमर्थ होनेसे तुम मुझ-जैसे नतमस्तक दीनोंमें अपनी हिंसा-प्रवृत्ति करते हो, यह अनुचित है ।······]॥ १३२ ॥

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः ।
त्वयाऽद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं न पत्या धरणी हृणीयते ॥१

फलेनेति । यस्य मम मुनेरिव वारिभूरुहां जलरुहां पद्मादीनाम् अन्यत्र रुहां भूरुहाञ्च फलेन मूलेन चेत्थमनेन दृश्यमानप्रकारेण वृत्तयो जीविकाः अपि अनपराधेऽपीति भावः । दण्डधारिणा दण्डकारिणा अदण्ड्यदण्डकेन पत्या त्वया हेतुना अद्य धरणी कथं न हृणीयते जुगुप्सत एवेत्यर्थः, हृणीयतेः

यगन्ताल्लट् तत्र ह्रणीङिति ङित्करणादात्मनेपदम् । अकार्यकारिणं भर्त्तारमपि ह्रीन्ते स्त्रिय इति भावः ॥ १३३ ॥

(राजाका दण्ड देना धर्म है, इस पर वह हंस कहता है—) जिसकी जीविका भूमिमें उत्पन्न अर्थात् कमलोंके फल (कमलगट्टा) तथा मूल (कमल-नालकी जड़) (अथवा—जलमें उत्पन्न होनेवाले कमलादिके तथा भूमिपर उत्पन्न होने वाले आम्रादि फल तथा कन्द से) मुनिके समान है, ऐसे (दयापात्र) मुझ पर भी दण्ड-प्रयोग करने वाले तुम्हारे ऐसे पतिसे पृथ्वी क्यों नहीं लज्जित होती ? । [दीनोंको दुःख देते हुए पति देखकर उसकी स्त्री जिस प्रकार लज्जित होती है, उसी प्रकार फल-मूलसे जीविका-र्वाह करने वाले मुनिके तुल्य मुझको दण्ड देते हुए तुम्हें देखकर पृथ्वीको भी लज्जित ना चाहिये] ॥ १३३ ॥

इतीदृशैस्त विरचय्य वाङ्मयैः सचित्रवैलक्ष्यकृपं नृपं खगः ।
दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथीचकार कारुण्यरसापगा गिरः ॥ १३४ ॥

इतीति । इतीत्थं खगो हंसस्तं नृपम् ईदृशैर्दोषालम्भैरित्यर्थः, वाङ्मयैर्वाग्विकारैः काचो नित्यं मयटमिच्छती'ति विकारार्थे मयट्प्रत्ययः । पक्षिकथनात् चित्रं, परैः ाकार्य्योद्घाटनादपत्रपा वैलक्ष्यं, परार्त्तिदर्शने तन्निवर्त्तनेच्छा या कृपा, ताभिः ह वर्त्तत इति सचित्रवैलक्ष्यकृपं विरचय्य विधाय ल्यपि 'लघुपूर्वादि'त्ययादेशः । यासमुद्रे तदाशये तच्चित्ते कारुण्यरसापगाः करुणारसनदीः गिरः अतिथीचकार वेशयामासेत्यर्थः । समुद्रे नदीप्रवेशो युक्त इति भावः ॥ १३४ ॥

वह पक्षी (हंस) इस प्रकारके (१।१२०-१३३) वचनोंसे उस (नल) को आश्चर्य, ख तथा कृपासे युक्त बनाकर दया-समुद्र उनके हृदयमें करुणारस (कारुण्यरूपी जल) नदीरूपिणी वाणियोंको प्रवाहित कराया अर्थात् समुद्रमें जलपूर्ण नदियोंके समान पापूर्ण नलके हृदयमें करुणा रससे युक्त वचनोंको प्रविष्ट कराया—नलसे करुणापूर्ण वचन हने लगा— । [नल सुवर्णमय हंस देखनेसे आश्चर्यित, अपनी निन्दा सुननेसे लज्जित था उसके दीन वचन सुननेसे कृपासे युक्त हो रहे थे] ॥ १३४ ॥

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी ।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे ! त्वां करुणा रुणद्धि नो ॥ १३५ ॥

तावद्गिरः प्रपञ्चयति मदित्यादिना । तत्र तावद् दैवमुपालभते हे विधे ! जननी हमेवैकः पुत्रो यस्याः सा मदेकपुत्रा मम नाशे तस्या गत्यन्तरं नास्तीत्यर्थः । रातुरा स्वयमप्यसमर्थेत्यर्थः, वरटा स्वभार्य्या 'हंसस्य योषिद्वरटे'त्यमरः । नव-सूतिरचिरप्रसवा तपस्विनी शोच्या एष जनः स्वयमित्यर्थस्तयोर्जायाजनन्योर्गतिः रणं तं जनं मामित्यर्थः, अर्दयन् पीडयन् हे विधे ! विधातः ! त्वां करुणा नो णद्धि मत्पीडनान्न निवारयतीति काकुः, न रुणद्धि किमित्यर्थः ॥ १३५ ॥

हे देव ! मैं ही जिसका इकलौता पुत्र हूं ऐसी तथा बुढ़ापेसे पीडित मेरी तथा नवीन प्रसववाली एवं पतिव्रता (या—दीना) मेरी प्रिया हंसी है, (माता तथा पत्नी) का यह व्यक्ति अर्थात् मैं गति (जीविका चलानेवाला) अर्थात् मुझे मारते हुए तुम्हें करुणा नहीं रोकती है, अहो ! आश्चर्य (या—खेद (अथवा—मुझसे एक पुत्र है जिसका ऐसी, अजननी अर्थात् मेरे मरनेके बाद त्पादन नहीं करने वाली, बुढ़ापेसे अपीडित, पतिव्रता (होनेसे युवती होने पर विवाह नहीं करनेसे सन्तानोत्पादन नहीं करने वाली), वप्रमें चेष्टावाली (या मरने पर आश्रयान्तर नहीं होनेसे पर्वत-शिखर पर घूम-घूमकर आत्म रक्षा करने वरटा अर्थात् मेरी प्रिया हंसी है, उन दोनों अर्थात् उस प्रिया हंसी तथा पुत्र (जीविका चलाने वाला) यह व्यक्ति अर्थात् मैं हूं,……। प्रथम अर्थमें—अन्य पु होनेसे तथा स्वयं जरापीडित होनेसे एवं मेरी स्त्रीके नवप्रसवा होनेसे माताकी कोई उपाय नहीं है तथा स्त्री भी नवप्रसूति तथा पतिव्रता है, अत एव अब मेरे वह दूसरी सन्तान नहीं उत्पन्न कर सकती और पतिविरहित होकर न तो स्वयं निर्वाह ही कर सकती है, इन दोनोंकी मैं जीविका चलाने वाला था, वह मर ही अत एव ऐसे व्यक्तिको मारते समय देव होने पर भी तुम्हें दया नहीं आती तो इन नलसे दयाकी आशा मैं कैसे करूँ ? । द्वितीय अर्थमें—मेरी प्रिया हंसी पीडित नहीं है, फिर भी तपस्विनी (पतिव्रता) होनेसे पुनः दूसरे पतिके साथ विवा पुत्रोत्पादन नहीं कर सकती तथा सर्वदा पर्वत-शिखरों पर ही मेरे मर जाने पर हुई आत्मरक्षा करेगी अपने अन्यतम निवास स्थान मानसरोवरमें कभी नहीं रहेगी दोनों (प्रिया हंसी तथा पुत्रकी मैं ही जीविका चलाने वाला हूं………] ॥ १३५

मुहूर्त्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम ।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः ! सुतशोकसागरः ॥ १३

अथ मातरं शोचयति–मुहूर्त्तेति । हे मातः ! सखायः सुहृदो दयासखाः भवनिन्दया संसारगर्हणेन मुहूर्त्तमात्रं क्षणमात्रं स्रवदश्रवो गलिताश्रव एव निवृत्तिं शोकोपरतिमेष्यन्ति, किन्तु त्वयैव सुतशोक एव सागरः परमत्यन्तः नोत्तीर्य्यत इति दुरुत्तरो दुस्तरः तरतेः कृच्छ्रार्थे खलप्रत्ययः ॥ १३६ ॥

आँसू गिराते हुए तथा दयायुक्त मेरे मित्र थोड़े समय तक संसारकी (संसार है, यहां आकर अन्तमें सबकी यही गति—मृत्यु होती है, काल किसीको नहीं इत्यादि) निन्दासे दुःखको भूल जायेंगे, किन्तु हे मातः ! पुत्रका शोक-समुद्र तुम्हारे ही दुःखसे पार करने योग्य होगा अर्थात् मित्रोंको मेरी मृत्युसे क्षणमात्र कष्ट होगा, तुम्हें जीवन पर्यन्त कष्ट सहना पड़ेगा ॥ १३६ ॥

मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते ।

लोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये ! स कीदृग्भविता तव क्षणः ? ॥१३७॥

अथ भार्य्यामुद्दिश्य विलपति—मदर्थेत्यादिना । हे प्रिये ! मह्यमिमे मदर्थे र्थेन सह नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता च वक्तव्यम्' तयोः सन्देशमृणालयोः चिकविसयोः मन्थरस्तत्प्रेषणे विलम्बितप्रवृत्तिः प्रियः कियद्दूरे देशे वर्त्तत इति या उदिते उक्ते पृष्टे सतीत्यर्थः । अथ प्रश्नानन्तरं रुदतः अनिष्टोच्चारणाशक्त्या श्रूणि विमुञ्चतः पक्षिणः इतो गच्छतो गतान्विलोकयन्त्यास्तव स क्षणः स कालः दृग्भविता भविष्यति ? वज्रपातप्राय इति भावः । कर्त्तरि लुट् ॥ १३७ ॥

हे प्रिये ! मेरे (हंसीके) लिए सन्देश (प्रियासे जाकर इस प्रकार कहना ऐसी मेरी हंसकी) आज्ञा) तथा मृणाल (मुझ हंसीके लिए भक्ष्य कमलनाल) के विषयमें आलसी ा (हंसीका) प्रिय (हंस) कितनी दूर है ?' ऐसा तुम्हारे कहने पर रोते हुए (मेरे चर) पक्षियोंको देखती हुई तुम्हारा वह समय कैसा ? अर्थात् अनिर्वचनीय दुःखप्रद गा । [अथवा—'मेरे (हंसी के) लिए मृणालोंको लाना' ऐसे मेरे (हंसीके) संदेश यहांसे जाते समय कहे गये वचन) में आलसी......] ॥ १३७ ॥

कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजात्तव प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः ।
वियोक्ष्यसे वल्लभयेति निर्गता लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा ॥ १३८ ॥

कथमिति । हे विधातः ! प्रियायाः वरटायाः शैत्यमृदुत्वशिल्पिनस्तादृक् तदङ्गयमार्दवनिर्म्माणकात्तव पाणिपङ्कजात्पङ्कजमृदुशिशिरात् पाणेरित्यर्थः । मयि विषये ल्लभया सह वियोक्ष्यसे इत्येवंरूपा अत एव ललाटं तपन्ति दहन्तीति ललाटन्तनि 'असूर्य्यललाटयोर्दृशितपोरि'ति खश्प्रत्ययः, 'अरुर्द्विषदि'त्यादिना मुमागमः ानि निष्ठुराणि कर्णकठोराणि चाक्षराणि यस्याः सा लिपिरक्षरविन्यासः कथं र्गता निःसृता ? अत्र कारणात् विरुद्धकार्य्योत्पत्तिकथनाद्विषमालङ्कारभेदः, 'विरुद्धर्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य भावयेत् । विरूपघटना वा स्याद्विषमालंकृतिर्मते'ति ॥

हे ब्रह्मन् ! प्रियाकी शीतलता तथा कोमलताके शिल्पी (रचयिता-निपुण कारीगर) हारे हस्तकमलसे 'तुम प्रियासे विरह पावेगे' ऐसा ललाटको तपाने वाला कठोर अक्षर लेख कैसे निकला ? [शीतलता तथा कोमलताके चतुर कारीगर तुम्हारे स्वयं भी शीतल ा कोमल करकमलसे शीतल तथा कोमल वस्तुकी ही सृष्टि होना उचित था, न कि विपरीत उष्ण तथा कठोर उक्तरूप लेखकी सृष्टि होना] ॥ १३८ ॥

पि स्वयूथ्यैरशनिक्षतोपमं ममाद्य वृत्तान्तमिमं वतोदिता ।
खानि लोलाक्षि ! दिशामसंशयं दशापि शून्यानि विलोकयिष्यसि ॥१३९॥

अपीति । अपि चेत्यपेरर्थः । अद्यास्मिन् दिने 'सद्यः परुदि'त्यादिना निपातः, स्वथ्यैः स्वसङ्घचरैर्हंसैः कर्तृभिरशनिक्षतोपमं वज्रप्रहारप्रायं ममेमं वृत्तान्तम् अनर्थ-

---

१. 'अयि' इति पाठान्तरम् ।

वार्त्ता उदिता उक्ता सती वदेर्ब्रूञर्थस्य दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः 'वचि स्यादिना सम्प्रसारणं हे लोलाक्षि ! दशदिशां मुखानि शून्यान्यलक्ष्या विलोकयिष्यसि असंशयं सन्देहो नास्तीत्यर्थः । अर्थाभावेऽव्ययीभावः, खेदे ॥ १३९ ॥

और हे लोलाक्षि (स्वभावतः चपल-नेत्रवाली प्रिये !) ! आज अपने सुहृ हंसोंसे वज्रप्रहार तुल्य मेरे इस वृत्तान्त (मृत्यु-समाचार) को कहने पर खेद है दशो दिशाओंको सूना देखोगी ॥ १३९ ॥

ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वयाऽपि चित्राङ्गि ! विपद्यते यदि ।
तदस्मि दैवेन हतोऽपि हा हतः स्फुटं यतस्ते शिशवः परासवः ॥ १

ममैवेति । हे चित्राङ्गि ! लोहितचञ्चुचरणत्वाद्विचित्रगात्रे ! मम शोकेनैव पत्तिदुःखेनैव विदीर्णवक्षसा विदलितहृदा त्वया विपद्यते म्रियते यदि तर्हि हतः स्फुटं व्यक्तं पुनर्हतोऽस्मि हेति विषादे, 'हा विस्मयविषादयोरि'ति कुतः ? यतः ते शिशवः परासवो मातुरप्यभावे पोषकाभावान्मृताः, अतः शिशु भावनया द्विगुणितं मे मरणदुःखं प्राप्तमित्यर्थः ॥ १४० ॥

हे विचित्र (सुन्दर) अङ्गोंवाली प्रिये ! मेरे ही शोकसे विदीर्णहृदया तुम यदि जावोगी तो हा ! दैवसे मारा गया भी मैं फिर मारा गया, क्योंकि तुम्हारे बच्चे (विना) अवश्य ही मर जायेंगे । [मेरे विना तुम भी उन बच्चोंका पालन-पोष सकती हो, किन्तु यदि मेरे वियोगसे तुम मर जावोगी तो उनकी निश्चित ही मृ जायेगी इस प्रकार मेरे मरनेपर मेरा परिवार ही नष्ट होता हुआ प्रतीत होता है मुझे दुर्दैवने यह बड़ा दुःसह कष्ट दिया] ॥ १४० ॥

तवापि हाहा विरहात् क्षुधाकुलाः कुलायकूलेषु विलुठ्य तेषु ते ।
चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथैर्गताः क्षणेनास्फुटितेक्षणा मम ॥ १४

ननु मन्मृतौ कथं तेषां मृतिरत आह—तवापीति । हे प्रिये ! बहुभिर्मनोर रेण लब्धाः कृच्छ्रलब्धा इत्यर्थः, अस्फुटितेक्षणाः अद्याप्यनुन्मीलितेक्षणा पूर्वोक्ताः शिशवः तवापि न केवलं ममैवेति भावः । विरहाद्विपत्तेः क्षुधाकुलाः डिताः तेषु स्वसम्पादितेष्वित्यर्थः, कुलायकूलेषु नीडान्तिकेषु, 'कुलायो स्त्रियामि'त्यमरः । विलुठ्य परिवृत्य क्षणेन गताः मृतप्रायाः, हा हेति खेदे ॥

(हे प्रिये !) मेरे बहुत मनोरथोंसे प्राप्त, अस्फुटित-नेत्रवाले वे (बच्चे) तुम् (तथा मेरे भी) विरहसे भूखसे व्याकुल हो उन घोंसलोंके समूहोंमें लोटकर चल बसेंगे अर्थात् मर जायेंगे; हाय ! हाय !! ॥ १४१ ॥

सुताः कमाहूय चिराय चूङ्कृतैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति ? ।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य स स्रुतस्य सेकाद् बुबुधे नृपाश्रुणः ॥

सुता इति । हे सुताः ! चूङ्कृतैश्चूङ्कारैश्चिराय कं प्रति कमपि प्रति सुखानि
प्राणि चञ्चलानि विधाय कथासु शिष्यध्वं कथामात्रशेषा भवत ! कुत्रापि पित्रोर-
र्शनाद् म्रियध्वं, प्राप्तकाले लोट्, मरणकालः प्राप्त इत्यर्थः । इतीति इत्युक्त्वेत्यर्थः ।
यमानार्थत्वादप्रयोगः । प्रमील्य मूर्च्छां प्राप्य स हंसः स्रुतस्य दयार्द्रभावात्प्र-
सृतो नृपस्याश्रुणः सेकाद् बुबुधे संज्ञां लेभे । प्रायेणात्र स्वभावोक्तिरूह्या ॥ १४२ ॥

(इस प्रकार प्रियाको लक्ष्य कर कहने के बाद हंस अपने पुत्रोंको लक्ष्य कर कहता है–)
पुत्रो ! 'चूं चूं' करते हुए चिरकालतक किसे बुलाकर (भोजन-पदार्थ मांगोगे) ? तथा
ड़ोंको कँपाते हुए (बोलना सीखोगे ? अर्थात् किसीसे नहीं, अतएव) कथाशेष हो (मर)
वोगे' ऐसा कह मूर्च्छित होकर वह हंस (दयाके कारण) नीचे बहते हुए राजा (नल)
आँसू के द्वारा भींगनेसे होशमें आया । [उक्त वचन कहते-कहते हंस मूर्च्छित हो
ा, तथा नलने उस हंसके करुण विलापसे दयार्द्र हो इतने आँसू गिराये कि उसीके
ाहसे भींगा हुआ हंस होशमें आ गया । यहां पर हंसने बच्चोंसे भोजन मांगने तथा
लना सीखने की बात नहीं कही है, किन्तु दुःखातिशयके कारण आधी ही बात कह सका
ऐसा कहने से यहाँ करुणरस विशेष पुष्ट होता है । अथवा—'चूँ चूँ' करते हुए किसे
ाकर तथा कँपते हुए मुखको किसके प्रति करके गोष्ठी आदिमें बोलना सीखोगे ? अर्थात्
ता-पिताकी मृत्यु हो जानेसे तुम्हें सभामें बोलना सिखाकर कौन चतुर करेगा ?''']॥

इत्थममुं विलपन्तममुञ्चद्दीनदयालुतयाऽवनिपालः ।
रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय ॥ १४३ ॥

अत्र सर्वत्र 'भिन्नसर्गान्तैरि'ति काव्यलक्षणाद् वृत्तान्तरेण श्लोकद्वयमाह–इत्थ-
त्यादिना । इत्थं विलपन्तं परिदेवमानममुं हंसमवनिपालो नलः दीनेष्वार्त्तेषु
ालुतया कारुणिकतया रूपमाकृतिरदर्शि अपूर्वत्वादवलोकितं, यस्म यदर्थं रूप-
नार्थमेव धृतो गृहीतोऽसि, अथ यथेच्छं गच्छेत्यभिधाय अमुञ्चत् मुक्तवान् ।
धकवृत्तमिदम्भभभा गावि'ति लक्षणात् ॥ १४३ ॥

इस प्रकार (१।१३५–१४२) विलाप करते हुए इस हंसको '(मैंने) जिस (रूपको
ने) के लिए तुम्हें पकड़ा था, वह रूप देख लिया, अब तुम इच्छानुसार (जहां
ो, वहां) जावो' ऐसा कहकर दीनदयालु होनेसे राजा नलने छोड़ दिया ॥ १४३ ॥

नन्दजाश्रुभिरनुस्रियमाणमार्गान् प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान् ।
के स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनयतां निजबान्धवानाम् ॥

आनन्देति । हंसः चक्रनिभचङ्क्रमणस्य मण्डलाकारभ्रमणस्य छलेन नीराजना-
यतां कुर्वतां निजबान्धवानां 'बन्धमुक्तं बान्धवा नीराजयन्ती'ति समाचारः ।
मोचनात्पूर्वं शोकेन निर्गलिता निःसरिता नेत्रपयःप्रवाहाः बाष्पपूरास्तानानन्द-
श्रुभिरानन्दबाष्पैरनुस्रियमाणमार्गान् अनुगम्यमानमार्गांश्चक्रे कृतवान् । अत्र पक्षिणां
ावसिद्धं बन्धमुक्तं स्वयूथ्यभ्रमणं छलशब्देनापह्नुत्य तत्र नीराजनात्वारोपादपह्न-

वभेदः । अत्र चमत्कारित्वान्मङ्गलाचाररूपत्वाच्च सर्वत्र सङ्गीतश्लोकेष्वानन् प्रयोगः, यथाह भगवान् भाष्यकारः–'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गल विहितानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति अध्ये प्रवक्तारो भवन्ती'ति । वसन्ततिलकावृत्तम् 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा ज इति लक्षणात् । सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेदः, यथाह दण्डी–'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रा सुसन्धिभिः । सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैरुपेतं लोकरञ्जनमि'ति ॥ १४४ ॥

उस (हंस) ने चक्राकार (गोल) भ्रमण करनेके कपटसे (हंसके छूटनेके आरती करते हुए अपने बान्धवोंको पहले (पकड़े जानेपर) शोकसे निकलते हुए प्रवाहवालोंको (तथा छूटनेपर) आनन्दजन्य हर्षाश्रुसे युक्त कर दिया। [राज द्वारा हंसके पकड़े जानेपर उसके सहचर बन्धु पहले रोकर तथा उस हंसके हर्षित होकर आँसू बहाने लगे और हंसके चारों ओर मँडराते (चक्कर काटकर हुए ऐसे प्रतीत होते थे मानों वे बन्धनमुक्त हंसकी आरती कर रहे हों। लोकमें भी इष्ट बन्धुके पकड़े जाने पर लोग दुःखसे आंसू बहाते हैं तथा छूटने पर हर्षसे आँसू हैं तथा उस कारागारादिके बन्धनसे मुक्त इष्ट बन्धुकी आरती करते हैं] ॥ १४४॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ॥ १४५ ॥

अथ कविः काव्यवर्णनमाख्यातपूर्वकं सर्गसमाप्तिं श्लोकबन्धेनाह—श्रीहर्ष कविराजराजिमुकुटानां विद्वच्छ्रेष्ठश्रेणीमुकुटानाम् अलङ्कारभूतो हीरो वज्रमणि नाम विद्वान् श्रीहर्षनामानं यं सुतं सुषुवे जनयामास, मामल्लदेवी नाम सा च यं सुतं सुषुवे, तस्य श्रीहर्षस्य यश्चिन्तामणिमन्त्रः तस्य चिन्तनमु तस्य फले फलभूते शृङ्गारभङ्ग्या शृङ्गाररसेन चारुणि निषधानां राजा नैषधः तदीयचरिते नलचरितनामके महाकाव्ये अयमादिः प्रथमः सर्गो गतः समाप्तः एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ १४५ ॥

इति 'मल्लिनाथसूरि'विरचितायां 'जीवातु'समाख्यायां नैषधटीकायां
प्रथमः सर्गः समाप्तः ॥ १ ॥

कविराज-समूहके मुकुटके अलङ्कारके हीरा 'श्रीहीर' तथा 'मामल्ल देवी'ने समूहको जीतने वाले जिस 'श्रीहर्ष' को उत्पन्न किया, उसके चिन्तामणि मन्त्र (के चिन्तन (जपादि) के फलरूप, शृङ्गार-रचनासे मनोहर 'नैषधीय चरित' महाकाव्यमें प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १४५ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १ ॥

* * *

द्वितीयः सर्गः

अधिगत्य जगत्यधीश्वरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात्ततः ।
वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः ॥ १ ॥

अधिगत्येति। अथ मोचनानन्तरं स द्विजः पक्षी विप्रश्च, 'दन्तविप्राण्डजा द्विजा'
यमरः। जगत्यधीश्वरात् क्ष्मापतेः भुवनपतेश्च 'जगती भुवने क्ष्मायामि'ति विश्वः।
षोत्तमात् पुरुषश्रेष्ठात् विष्णोश्च ततः तस्मात् प्रकृतान्नलात् अन्यत्र प्रसिद्धाच्च मुक्तिं
चनं निर्वाणञ्च अधिगत्य प्राप्य य आनन्दो वचसामपि न गोचरः वक्तुमशक्यः,
तो वाचो निवर्तन्त' इत्यादेरवाङ्मानसगोचरश्च तमानन्दं परमानन्दञ्च अविन्दता-
भत, विदेर्लाभार्थात् 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफल' इत्यात्मनेपदं, 'शे मुचादीनामि'ति
मागमः। अत्राभिधायाः प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रणादुभयश्लेषानुपपत्तेर्भेदान्तरानवकाशा-
क्षणायाश्च मुख्यार्थबाधमन्तरेणासम्भवात् ध्वनिरेवायं, ब्राह्मणस्य विष्णोर्मोक्षानन्द-
प्तिलक्षणार्थान्तरप्रतीतेर्न श्लेषः प्रकृताप्रकृतोभयगतः। अस्मिन् सर्गे एकशतश्लो-
पर्यन्तं वियोगिनीवृत्तम्। 'विषमे ससजा गुरुः समे सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगि-
'ति लक्षणादिति संक्षेपः॥ १॥

तदनन्तर वह पक्षी (हंस) उस पुरुषश्रेष्ठ भूपति नलसे छुटकारा पाकर वचनके भी
'अपि' शब्दसे मनके भी) अविषय अर्थात् अनिर्वचनीय आनन्दको पाया (पक्षा०—
ब्राह्मण जगदीश श्रीविष्णु भगवान्से मुक्ति (तथा मुक्ति-साधनभूत ज्ञान) को पाकर
निर्वचनीय आनन्दको पाया ॥ १ ॥

अधुनीत खगः स नैकधा तनुमुत्फुल्लतनूरुहीकृताम् ।
करयन्त्रणदन्तुरान्तरे व्यलिखच्चञ्चुपुटेन पक्षती ॥ २ ॥

अधुनीतेति। स खगो हंसः उत्फुल्लतनूरुहीकृतां नृपकरपीडनादुद्बुद्ध्य पतत्री-
तां 'पतत्रञ्च तनूरुहमि'त्यमरः। तनुं शरीरं नैकधा, नञर्थस्य सुप्सुपेति समासः।
् समासे नलोपप्रसङ्गः। अधुनीत धूतवान् धूञः क्र्यादेर्लङिति तङ्, 'प्वादीनां
स्व' इति ह्रस्वः। किञ्च करयन्त्रणेन नृपकरपीडनेन दन्तुरे निम्नोन्नतमध्यप्रदेशे
ती पक्षमूले 'स्त्री पक्षतिः, पक्षमूलमि'त्यमरः, चञ्चुपुटेन त्रोटिसम्पुटेन व्यलिखत्
लेखनेन ऋजूचकारेत्यर्थः। एतदादेः श्लोकचतुष्टयेषु स्वभावोक्तिरलङ्कारः॥ २॥

वह पक्षी (हंस) फुलाये गये रोमोंवाले शरीरको अनेक प्रकारसे कँपाया तथा
नलके) हाथके द्वारा दबनेसे दन्तुरित (उच्चावच) मध्य भागवाले पक्षमूलोंको चोंचसे
जलाया ॥ २ ॥

अयमेकतमेन पक्षतेरधिमध्योर्ध्वगजङ्घमङ्घ्रिणा ।
स्खलनक्षण एव शिश्रिये द्रुतकण्डूयितमौलिरालयम् ॥ ३ ॥

अयमिति। अयं हंसः स्खलनक्षण एव मोचनानन्तरमेवेत्यर्थः। एकतमेना पक्षतेः पक्षमूलस्याधिमध्यं मध्ये ऊर्ध्वंगामिनी जङ्घा यस्मिन् कर्मणि तथ कण्डूयनेन तत्तथा द्रुतं कण्डूयितमौलिः सत्वरं कर्षितचूडः सन् आलयं नि शिश्रिये श्रितवान् ॥ ३ ॥

वह (हंस नलके पाससे) छूटते ही पङ्खमूलके मध्यमें ऊपर जङ्घा करके झटपट खुजलाया तथा अपने निवास स्थानपर (घोसलेमें या–तडाग तट पर) पहुँच गया

स गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् कटु कीटान् दशतः सतः क्वचित् ।
तुतुदे तनुकण्डुपण्डितः पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः ॥ ४ ॥

स इति । पण्डितः निपुणः स हंसः गरुतः पक्षा एव वनदुर्गं तत्र दुर्ग्रहान् मशक्यान् कटुतीक्ष्णान्दशतः दन्तैस्तुदतः क्वचित् कुत्रचिदेव सतः वर्त्तमानान् क्षुद्रजन्तून् पटुचञ्चूपुटस्य समर्थत्रोटेः कोट्या अग्रेण कुट्टनैः घट्टनैस्तनुरल्पा स्मिन् तनुकण्डु यथा तथा 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्ये'ति ह्रस्वः । तुतुदे निवा 'स्वरितञित' इत्यात्मनेपदम् ॥ ४ ॥

(खुजलानेमें) चतुर वह हंस पङ्ख–समूहरूप दुर्गमें (रहनेसे) कठिनाईसे पक योग्य तथा खूब काटते हुए एवं कहीं (अज्ञात स्थानमें) स्थित कीड़ोंको तेज (चोंचोंके अग्रभागके द्वारा आहत करनेसे शरीरकी खुजलाहटको दूर किया [को कोई कुशल योद्धा वनादि दुर्गम भूमिमें रहनेके कारण कठिनाईसे पकड़ने योग्य देते हुए शत्रुओंको तीक्ष्ण शस्त्रोंसे मारकर उनकी बाधाको दूर करता है] ॥ ४ ॥

अयमेत्य तडागनीडजैर्लघु पर्य्यव्रियताथ शङ्कितैः ।
उदडीयत वैकृतात् करग्रहजादस्य विकस्वरस्वरैः ॥ ५ ॥

अयमिति । अयं हंसस्तडागनीडजैः सरःपक्षिभिस्तत्रत्यहंसैः 'नीडोद्भ रमन्त' इत्यमरः । लघु क्षिप्रमेत्यागत्य पर्य्यव्रियत परिवृतः, वृणोतेः कर्म अथ परिवेष्टनानन्तरमस्य हंसस्य करग्रहजान्नलकरपीडनजन्याद्विकृतादेव वै लुण्ठितपक्षस्वरूपाद्विकारदर्शनादित्यर्थः, स्वार्थेऽण् प्रत्ययः, शङ्कितैश्चकितैः विकस्वरस्वरैरुच्चैर्घोषैस्तैरुदडीयतोड्डीनं डीङो भावे लङ् ॥ ५ ॥

(नलके) सरोवरपर रहनेवाले पक्षियोंने इस हंसको झट–पट चारो त लिया और बादमें (नलके) हाथसे पकड़नेके विकार (हंसके उच्चावच शरीर डरे हुए वे उच्चस्वर करते हुए उड़ गये । [लोकमें भी किसी तीर्थादि में दान ले दाताको बहुत–से प्रतिग्रहीता घेर लेते हैं तथा दानजन्य कलहकी आशङ्कासे हुए वहांसे चले जाते हैं] ॥ ५ ॥

दधतो बहुशैवलक्ष्मतां धृतरुद्राक्षमधुव्रतं खगः ।
स नलस्य ययौ करं पुनः सरसः कोकनदभ्रमादिव ॥ ६ ॥

दधत इति । अथ स खगो हंसः बहुशैवला भूरिशैवला क्ष्मा भूर्यस्य तद्बहुशै-क्ष्म तस्य भावः तत्ता तान्दधतो दधानात् सरसः पल्वलात् बहूनि शैवलक्ष्माणि वभक्तचिह्नानि यस्य स बहुशैवलक्ष्मा तस्य भावः तत्ता तान्दधतो दधानस्य कस्य रुद्राक्षाणि मधुव्रता इवेत्युपमितसमासः, ते धृता येन तं करं कोकनदभ्रमा-कोत्पलभ्रान्तेरिव पुनर्ययौ, कोकनदन्तु रुद्राक्षसदृशमधुव्रतं खलु । अत्र बहुशैव-यादौ शब्दश्लेषस्तदनुप्राणिता रुद्राक्षमधुव्रतमित्युपमा तत्सापेक्षा चेयं कोकनद-मादिवेत्युत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ६ ॥

वह पक्षी (हंस) बहुत शेवाल युक्त भूमि वाले सरोवरसे शिव–सम्बन्धी (या–शिव-क्षोंकी) बहुत–से चिह्नोंको धारण करते हुए नलके (मानो भ्रमरसदृश रुद्राक्षको धारण ते हुए) हाथको रुद्राक्ष–सदृश भ्रमरों वाले रक्तकमलके भ्रमसे पुनः प्राप्त किया । [बहुतसे वाल युक्त भूमिवाले तडागके रुद्राक्ष तुल्य भ्रमरोंसे युक्त रक्त कमलके भ्रम से वह हंस तसे शैव (शिवभक्त या–शिवसम्बन्धी, या–मङ्गलकारक सामुद्रिक शास्त्रोक्त शुभ) ह्नोंवाले (रक्तवर्ण) नलके हाथको पुनः प्राप्त किया अर्थात् नलके हाथमें पुनः आगया । थवा–रुद्राक्षके मधुतुल्य श्रेष्ठ व्रतोंको धारण करते हुए हाथको········ । अथवा–रुद्रको हीं सहन करने वाले अर्थात् शिवद्रोहियोंको पराभूत करने वाले व्रत (नियम–प्रतिज्ञा) युक्त=शिवद्रोहि पराभवकारक नल–करको······ । अथवा–गूंजते हुए एवं अग्नितुल्य कुलवर्ण नेत्र वाले भ्रमरोंसे युक्त रक्तकमलकी भ्रान्तिसे········] ॥ ६ ॥

पतगश्चिरकाललालनादतिविश्रम्भमवापितो नु सः[1] ।
अतुलं विदधे कुतूहल भुजमेतस्य भजन्महीभुजः ॥ ७ ॥

अथास्य स्वयमागमनादुत्प्रेक्षते–पतग इति । पतगो हंसश्चिरकाललालनादुपला-नादतिविश्रम्भमतिविश्वासं 'समौ विश्रम्भविश्वासावि'त्यमरः । अवापितः प्रापितो किमित्युत्प्रेक्षा, अन्यथा कथं पुनः स्वयमागच्छेदिति भावः । किञ्च एतस्य मही-जो भुजम्भजन् स्वयमाप्नुवन् अतुलं कुतूहलं विदधे कौतुकञ्चकारेत्यर्थः । अत्रो-क्षावृत्त्यनुप्रासयोः शब्दार्थालङ्कारयोस्तिलतण्डुलवत् संसृष्टिः । 'एकद्वित्र्यादिवर्णानां नरुक्तिर्भवेद्यदि । सङ्ख्यानियममुल्लङ्घ्य वृत्त्यनुप्रास ईरित' इति ॥ ७ ॥

इस राजा (नल) के हाथमें आये हुए उस पक्षी (हंस) ने बहुत समय तक लालन नेसे मानो अतिशय विश्वासको पाये हुएके समान अत्यधिक कौतूहलको धारण किया ॥

नृपमानसमिष्टमानसः स निमज्जत्कुतुकामृतोर्मिषु ।
अवलम्बितकर्णशष्कुलीकलसीकं रचयन्नवोचत ॥ ८ ॥

नृपमानसमिति । इष्टमानसः प्रियमानसः स राजहंसः कुतुकं हर्षस्तदेव अमृतं धा तस्योर्मिषु निमज्जदन्तर्गतं नृपमानसं नलमनः कर्णौ शष्कुल्याविव कर्णशष्कु-

---

[1] 'सन्' इति पाठान्तरम् ।

ह्यौ ते कलस्यौ ते अवलम्बिते अवधीकृते धृते च येन तत्तथोक्तं 'नद्युत्तश्चे' रचयन् कुर्वन्नवोचत उक्तवान्। जले मज्जन्नपि तरणार्थं कलसमवलम्बते, त शष्कुली कलस्यावित्युपमारूपकयोः संसृष्टिः ॥ ८ ॥

मानसरोवर है प्रिय जिसका ऐसा वह हंस कौतुक रूप अमृत (पीयूष, प पानी) के तरंगोंमें डूबते हुए, नलके मनको कर्णशष्कुलीरूप कलसद्वयका अ करनेवाला बनाता हुआ अर्थात् अपने वचनको सुननेके लिए सावधान कर बोला— । [लोकमें पानीकी लहरोंमें डूबता हुआ कोई व्यक्ति कलस (घ अवलम्बनकर सावधान हो जाता है । जिसे मानस (मानसरोवर) प्रिय है, उसे नृ (राजा नलके चित्त) को सावधान करना—डूबने से बचनेके लिए घड़ेका सहा सावधान करना उचित ही है] ॥ ८ ॥

मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मागममर्मपारगैः ।
स्मरसुन्दर ! मां यदत्यजस्तव धर्मः स दयोदयोज्ज्वलः ॥ ९ ॥

मृगयेति। धर्मागममर्मपारगैर्धर्मशास्त्रतत्त्वपारदर्शिभिरपि 'अन्तात्यन्ताध्व पारसर्वानन्तेषु ड' इति गमेर्डप्रत्ययः। नृपैर्मृगया आखेटो नावगीयते न ग तथापि हे स्मरसुन्दर ! मामत्यज इति यत् स त्यागस्तव दयोदयेनोज्ज्वलो नि निरुपाधिक इति यावत् धर्मः सुकृतम्। न केवलमाकारादेव सुन्दरोऽसि, कि धर्मतोऽपीति भावः ॥ ९ ॥

धर्मशास्त्रके मर्मके पारगामी (मनु आदि) राजा लोग भी आखेट (शिका निन्दा नहीं करते, (अत एव) हे कामदेवतुल्य सुन्दर ! (नल ! आपने) मुझे छो दिया, वह (छोड़ना) दयाके आविर्भावसे निर्मल आपका धर्म था। अर्थात् आ आकृतिसे ही सुन्दर नहीं हैं, किन्तु आपका धर्म (स्वभाव) भी सुन्दर (दयावान्) है

अबलस्वकुलाशिनो झषान्निजनीडद्रुमपीडिनः खगान् ।
अनवद्यतृणार्दिनो मृगान् मृगयाऽघाय न भूभृतां घ्नताम् ॥ १०

ननु प्राणिहिंसा कथं नावगीयते तत आह—अबलेति । अबलस्वकुलाशिनो 'दुर्बलस्वकुलघातिनो मत्स्या' इति प्रसिद्धिः, निजनीडद्रुमपीडिनो विण्मू भक्षणादिना स्वाश्रयवृक्षपीडाकरान् खगान् अनवद्यतृणार्दिनः अनपराधितृ कान् मृगान्, 'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता' इति मनुस्मृत्या त दीनामपि प्राणित्वात्तद्धिंसा पीडैवेति भावः। सर्वत्रापि ताच्छील्ये णिनि घ्नतां हिंसतां भूभृता मृगया अघाय पापाय न भवति। तद्वधस्य दण्ड प्रत्युताकरणे दोष इति भावः ॥ १० ॥

अपने निर्बल वंशवालोंको खानेवाली मछलियोंको, अपने घोसलोंके पेड़ोंको (मूत्र आदिसे) पीडित करने वाले पक्षियोंको तथा निरपराध तृणोंको नष्ट करनेवाले

ते हुए राजाओंका आखेट दोषके लिए नहीं होता। [क्योंकि निरपराधियोंको पीडित नेवालोंको दण्डित करना राजाका धर्म है]॥ १० ॥

यदवादिषमप्रियन्तव प्रियमाधाय नुनुत्सुरस्मि तत्।
कृतमातपसञ्ज्वरं तरोरभिवृष्यामृतमंशुमानिव ॥ ११ ॥

तथापि किमर्थं पुनरागतन्त्वयेत्यत आह—यदिति। तव यदप्रियमवादिषमवो-म्। प्रियमाधाय प्रियं कृत्वा तदप्रियन्तरोः कृतं स्वकृतमातपसन्तापम् अमृतमुद-भिवृष्य 'पयः कीलालममृतमि'त्यमरः। अंशुमानिव नुनुत्सुर्नोदितुं प्रमार्ष्टुमि-ः, नुद-प्रेरण इत्यस्माद्धातोः सन्नन्तादुप्रत्ययः॥ ११ ॥

(पहले) मैंने आपको अप्रिय (१।१३०-१३३) कहा था, (अब) प्रिय (अभिल-त) करके उस अप्रियको उस प्रकार दूर करना चाहता हूँ, जिस प्रकार सूर्य वृक्षको के द्वारा तपाकर बाद में जल बरसाकर उसका प्रिय करता है॥ ११ ॥

उपनम्रमयाचितं हितं परिहर्त्तुं न तवापि साम्प्रतम्।
करकल्पजनान्तराद्विधेः शुचितः प्रापि स हि प्रतिग्रहः ॥ १२ ॥

तर्हि भवन्मोचनं सुकृतमेव मम पर्याप्तम् किं द्दष्टोपकारेणेति न वाच्यमित्याह—पनम्रमिति। अयाचितमप्रार्थितमुपनम्रमुपनतं हितम् इह चामुत्र चोपकारकं वापि परिहर्त्तुं न साम्प्रतं न युक्तम्। 'अयाचितं हितं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्म्मण' ति स्मरणादिति भावः। तदपि मादृशात् पृथग्जनात् कथं ग्राह्यमत आह—करेति। यस्मात्कारणात् स प्रतिग्रहः करकल्पङ्करस्थानीयमित्यर्थः। ईषदसमाप्तौ कल्पप्र-ायः, यजनान्तरं स्वयं यस्य तस्माच्छुचेः शुद्धाद्विधेः ब्रह्मणः प्रापि प्राप्तः न तु मत्त ति भावः। आप्नोतेः कर्म्मणि लुङ्। विधिरेव ते दाता अहं तस्योपकरणमात्रम्, तो न याच्ञालाघवन्तवेति भावः॥ १२ ॥

विना याचना किये उपस्थित हित (प्रिय-अभीष्ट) को छोड़ना (सार्वभौम) आपको उचित नहीं है, क्योंकि हाथके समान (मद्रूप) दूसरे व्यक्तिवाले शुद्ध भाग्यसे प्राप्त ने वाला वह प्रतिग्रह (दान) है। [यद्यपि आप सार्वभौम चक्रवर्ती राजा हैं, अत दूसरे किसीसे कुछ भी लेना—दानस्वरूपमें प्राप्त हुएको ग्रहण करना—उचित नहीं तथापि विना याचना किये जो हितकारक वस्तु उपस्थित हो जाय, उसे ग्रहण करनेमें क्रवर्ती होते हुए भी आपको निषेध नहीं करना चाहिये; क्योंकि दूसरे व्यक्तिको अपना थ बनाकर शुद्ध भाग्य ही दानरूपमें उक्त हितकारक वस्तुको देता है अर्थात् भाग्या-सार ही विना याचना किये वह वस्तु उसे मिलती है, अत एव उसका निषेध करना सीको भी उचित नहीं है]॥ १२ ॥

पतगेन मया जगत्पतेरुपकृत्यै तव किं प्रभूयते ?।
इति वेद्मि, न तु त्यजन्ति मां तदपि प्रत्युपकर्त्तुमर्त्तयः ॥ १३ ॥

ननु सार्वभौमस्य मे तिरश्चा त्वया किमुपकरिष्यते, तत्राह–पतगेनेति। पक्षिमात्रेण मया जगत्पतेः सार्वभौमस्य तवोपकृत्यै उपकाराय प्रभूयते न भूयत एवेत्यर्थः, भावे लट्, इति वेद्मि अक्षमत्वं जानामि। तदपि तथा यास्तु त्वया विनिवर्तिता इति भावः। मां प्रत्युपकर्तुं न त्यजन्ति प्रत्युपकरणाय न्तीत्यर्थः। अत्र पतगोऽप्यहं महोपकारिणस्ते महोपकारं करवाणीति भावः॥

(सम्प्रति हंस अपने अहङ्कारका निराकरण करता है—) पक्षी मैं लोकाधीश आपका क्या उपकार कर सकता हूं ? 'अर्थात् अतिशय साधनहीन मैं सर्वसाधन आपका कोई भी उपकार करनेमें समर्थ नहीं हूं' यह मैं जानता हूं, तथापि (दूर की गई मेरी) पीड़ाएँ प्रत्युपकार करनेके लिए मुझे नहीं छोड़ती हैं अर्था मुक्तकर मेरा महोपकार करनेवाले आपका महाप्रत्युपकार करनेके लिये बार-बा करती हैं ॥ १३ ॥

अचिरादुपकर्त्तुराचरेदथवात्मौपयिकीमुपक्रियाम् ।
पृथुरित्थकथाणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिह ग्रहः ॥ १४ ॥

अथवा यथाशक्तिपक्षोऽस्त्वित्याह–अचिरादिति। अथवा उपकर्त्तुरचि लम्बादुपाय एवौपयिकः विनयादित्वात् स्वार्थे ठक् 'उपधाया ह्रस्वत्वञ्चे'ति तत आगता औपयिकी तामात्मौपयिकीं स्वोपायसाध्यामित्यर्थः, 'तत आगत प्रत्यये 'टीढ्ढाणञि' त्यादिना ङीप्। उपक्रियामाचरेत् प्रत्युपकारं कुर्यात्, विधिलिङ्। इत्थमेवं सति सोपक्रिया पृथुरधिकाऽस्तु अथ अथवा अणुर विदुषां विवेकिनामिहास्मिन् विषये विशेषे ग्रह आग्रहो न गुणग्राहिणो कृतज्ञतामेव अस्य पश्यन्ति, न दोषमन्विष्यन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥

(उपकार किया जा सके या नहीं किया जा सके, यह विचार छोड़ कर उपकृ को उपकर्ताका प्रत्युपकार करना ही चाहिये, इस लोकनियमानुसार हंस कहत उपकृत व्यक्तिको अपने उपायसे साध्य अर्थात् यथाशक्ति उपकर्ताका प्रत्युपकार करना चाहिये, 'वह उपकार छोटा हो या बड़ा' इस विषयमें विद्वानोंको कोई (हठ—विशेष विचार) नहीं करना चाहिये। [जीवनको क्षणभङ्गुर जानकर व्यक्तिको छोटा या बड़ा—जैसा भी शक्तिके अनुसार हो सके, उपकर्ताका प्र तत्काल करना चाहिये। इसमें प्रत्युपकर्ताका भाव देखा जाता है, न कि प्रत्यु छोटापन या बड़ापन, अत एव मैं यथाशक्ति आपका प्रत्युपकार करना चाहता हूँ।]

भविता न विचारचारु चेत्तदपि श्रव्यमिदं मदीरितम् ।
खगवागियमित्यतोऽपि किं न मुदं दास्यति कीरगीरिव ॥ १५ ॥

अथ स्ववाक्ये आदरं याचते–भवितेति। हे नृप ! इदं वक्ष्यमाणं मदीरितं मद्वचनं विचारे विमर्शे चारु युक्तं न भविता न भविष्यति चेत्तदपि अवि रमणीयमपि श्रव्यं। श्रोतव्यम्। इयं खगवागित्यतोऽपि हेतोः कीरगीः शुक

किं न दास्यति दास्यत्येव प्रयोजनान्तराभावेऽपि कौतुकादपि श्रोतव्यमित्यर्थः, ातेः लृट् ॥ १५ ॥

मेरा यह वचन यदि विचार करनेमें सुन्दर नहीं हो, तथापि इसे आपको सुनना हिये, (क्योंकि मनुष्यके समान) यह पक्षीकी बोली है, इस कारण भी तोतेकी बोलीके ान यह आपको हर्षित नहीं करेगी क्या ? [अर्थात् यह हंस मनुष्यके समान स्पष्ट बोल ा है, इस कौतुकसे भी यह मेरा वचन आपको हर्षित करेगा ही अतः विचारमें सुन्दर ीं होने पर भी इसे आप सुननेका कष्ट करें] ॥ १५ ॥

स जयत्यरिसार्थसार्थकीकृतनामा किल भीमभूपतिः ।
यमवाप्य विदर्भभूः प्रभुं हसति द्यामपि शक्रभर्तृकाम् ॥ १६ ॥

अथ यद्वक्तव्यं तदाह—स इति । अर्थेन अभिधेयेन सह वर्त्तत इति सार्थकम्, न सहेति तुल्ययोग' इति बहुव्रीहिः, 'वोपसर्जनस्ये'ति सहशब्दस्य विकल्पात् भावः 'शेषाद्विभाषे'ति कप् सामासान्तः, ततश्च्विरभूततद्भावे। अरिसार्थेषु शत्रुस- षु सार्थकीकृतं नाम भीम इत्याख्या येन स तथोक्तः च प्रसिद्धः विभ्यत्यस्मादिति ीमः 'भियो म' इत्यपादानार्थे निपातनान्मप्रत्यय औणादिकः, भीम इति भूपतिः पः जयति किल सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते खलु। विदर्भभूर्विदर्भदेशः यं भूपतिं प्रभुं भर्त्ता- मवाप्य शक्रो भर्त्ता यस्यास्तां शक्रभर्तृकां 'नद्यृतश्चे'ति कपि द्यान्दिवमपि हसति, कमुतान्यभर्तृकदेशानित्यर्थः । स्त्रियो हि भर्त्तुरुत्कर्षाद्धासं कुर्वन्तीति भावः । अत्र ़दर्भभुवोऽपि द्युहासासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ १६ ॥

शत्रु—समूहमें अपने नामको सार्थक करनेवाला वह लोक प्रसिद्ध राजा 'भीम' है, स पतिको पाकर विदर्भभूमि इन्द्राधिपति वाली स्वर्गभूमिको भी हंसती है । ['भयङ्कर' स अर्थवाले नामको राजा 'भीम'ने अपने शत्रु-समूहमें चरितार्थ कर दिया है अर्थात् ाजा भीमके नाममात्रसे शत्रु-समूह भयभीत हो जाता है, ऐसे विदर्भनरेश हैं ॥ १६ ॥

दमनादमनाक् प्रसेदुषस्तनयां तथ्यगिरस्तपोधनात् ।
वरमाप स दिष्टविष्टपत्रितयानन्यसदृग्गुणोदयाम् ॥ १७ ॥

दमनादिति । स भीमभूपतिरमनागनल्पं प्रसेदुषो निजोपासनया प्रसन्नात् ाषायां सदवसश्रुव' इति सदेर्लिटः क्वसादेशः । दमनाद्दमनाख्यात् तथ्यगिरः मोघवचनात् तपोधनादृषेः दिष्टानां कालानां विष्टपानां लोकानाञ्च त्रितययोरनन्य दृशीं गुणोदयां कालत्रये लोकत्रये चानन्यसाधारणगुणप्रकर्षां तनयां दुहितरं वरमाप रत्वेन लब्धवानित्यर्थः । 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबे मनाक्प्रिय' इत्यमरः ॥ १७ ॥

(दमयन्ती के लोकोत्तर गुणकी प्रामाणिकताके लिए हंस पुराण प्रसिद्ध इतिहासको हता है—) उस भीम राजाने अत्यन्त प्रसन्न, सत्यवक्ता एवं तपोधन 'दमन' ऋषिसे वर्तमान, भूत और भविष्यद् रूप) तीनों काल तथा (स्वर्ग, मर्त्य और पाताल रूप)

तीनों लोकोंमें अनन्य साधारण (सौन्दर्यादि) गुणोदय वाली कन्याको वर रू किया [तीनों काल तथा तीनों लोकमें इसके समान गुण किसीको भी नहीं हो वरदान अतिशय प्रसन्न सत्यवक्ता तपस्वी 'दमन' ऋषिसे राजा भीमने पाया, फल स्वरूप वह कन्या उत्पन्न हुई] ॥ १७ ॥

भुवनत्रयसुभ्रुवामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम् ।
उदियाय यतस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोऽभिधां दधौ ॥ १८॥

अथास्या नामधेयं व्युत्पादयन्नेवाह–भुवनत्रयेति । असौ वरप्रसादलब्धा कर्त्री तनुश्रिया निजशरीरसौन्दर्येण करणेन भुवनत्रयसुभ्रुवां त्रैलोक्यसुन् कमनीयतामदं सौन्दर्यगर्वं दमयन्ती अस्तं गमयन्ती दमेर्ण्यन्ताद् 'न पाद दिना कर्त्रभिप्राय आत्मनेपदापवादः परस्मैपदप्रतिषेधेऽप्यकर्त्रभिप्रायवि परस्मैपदे लटः शत्रादेशः । उदियाय उदिता, इणो लिट्, ततस्तस्मादेव त्ताद्दमयन्तीत्यभिधामाख्यां दधे, दधातेर्लिट् ॥ १८ ॥

जिस कारण वह कन्या शरीरकी शोभासे तीनों लोककी सुन्दरियोंके सौन्दर्या को दमन करने वाली उत्पन्न हुई, उस कारण उसका नाम 'दमयन्ती' पड़ा ॥ १८॥

श्रियमेव परं धराधिपाद् गुणसिन्धोरुदितामवेहि ताम् ।
व्यवधावपि या विधोः कलां मृडचूडानिलयां न वेद कः ॥ १९

अथैकविंशतिश्लोकैश्चिकुरादारभ्य दमयन्तीं वर्णयति–श्रियमिति । हे नृप! दमयन्तीं गुणसिन्धोः गुणसागराधिपाद्भीमनरेन्द्रादुदितामुत्पन्नां श्रियं सा क्ष्मीमेव परं ध्रुवमवेहि जानीहि, अवपूर्वादिणो लोटि 'सेर्हिरि'ति ह्यादेशे हि सार्वधातुकगुणः, संहितायाम् 'आद्गुणः' । अत्र केवलावपूर्वस्य इणो ज्ञानार्थ प्रश्लेषे तदलाभात्, प्रश्लेषेऽपि 'ओमाङोश्चे'ति पररूपमिति केषाञ्चित्प्रक्रियोप वृथा । प्रत्याख्य त्यागः 'अवैही'ति वृद्धिरवद्ये'ति वामनसूत्रमप्यनाङ् प्रश्ले भ्रान्तिप्राप्तवृद्धिप्रतिषेधपरं गुण एव युक्तः इति व्याख्यानादन्यथा 'ओमाङो पररूपमेव युक्तमित्युच्येत इति । न च देशव्यवधानान्न श्रीरेवेति वाच्यमित्या व्यवधौ व्यवधाने सत्यपि 'उपसर्गे घोः किरि'ति किप्रत्ययः, मृगचूडानिलयां स्वाश्रयां कलां विधोरिन्दोरेव कलां को वा न वेद ? सर्वोऽपि वेदैवेत्यर्थः, 'विदो वे'ति वैकल्पिको णलादेशः । यथा हरशिरोगतापि कला चन्द्रकलैव, तथा भवनोदिताऽप्येषा श्रीरेवेति सौन्दर्यातिशयोक्तिः । अत्र श्रीकलयोः नृपमृडौ द्वये विम्बप्रतिविम्बभावेन सामान्यधर्म्मवत्तया निर्दिष्टाविति दृष्टान्तालङ्कारः वाक्यद्वये विम्बप्रतिविम्बतयोच्यते । सामान्यधर्म्मः काव्यज्ञैः स दृष्टान्तो नि इति लक्षणात् ॥ १९ ॥

आप उस (दमयन्ती) को गुण-समुद्र राजा भीमसे उत्पन्न साक्षात लक्ष्मी ही

क् रहनेपर भी शिवजीकी चूडामें स्थित कला (चन्द्रकला) को कौन नहीं जानता ? अर्थात् द्रमासे पृथक् शिव चूडा स्थित कला भी जिस प्रकार चन्द्रकला ही कहलाती है, उसी ार जलनिधि समुद्रसे नहीं उत्पन्न होने पर भी गुण-समुद्र भीमसे उत्पन्न हुई उस यन्तीको आप साक्षात् लक्ष्मी ही जानें ॥ १९ ॥

चिकुरप्रकरा जयन्ति ते विदुषी मूर्द्धनि सा बिभर्त्ति यान् ।
पशुनाऽप्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छतु चामरेण कः ॥ २० ॥

चिकुरप्रकरा इति । चिकुरप्रकराः केशसमूहाः जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते न् वेत्तीति विदुषी विशेषज्ञा 'विदेः शतुर्वसुः' 'उगितश्चेति ङीप् 'वसोः सम्प्रसा- म्'। सा दमयन्ती मूर्द्धनि बिभर्त्ति, विद्वद्गृह एव सर्वस्याप्युत्कर्षहेतुरिति भावः। एव पशुना तिरश्चा चमरीमृगेणाप्यपुरस्कृतेनानादृतेन चामरेण चमरीपुच्छेन सह तुलनान्तेषां चिकुराणां समीकरणं क इच्छतु ? न कोऽपीत्यर्थः। सम्भावनायां लोट्। त्र तुलनानिषेधस्यापुरस्कृतपदार्थहेतुकत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, 'हेतोर्वाक्य- ार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतमि'ति लक्षणात् ॥ २० ॥

पण्डिता वह दमयन्ती जिन केश-समूहोंको सिरपर धारण करती है, वे विजयी होवें; ु (चमरी गाय) से भी आगे नहीं किये गये अर्थात् पीछे धारण किये गये चामरसे (दमयन्ती-केश-समूहों) की समानता कौन करना चाहे ? अर्थात् कोई नहीं। मूर्खा चमरी गायें भी जिन चामरगत केश-समूहोंको हीनगुण समझकर पीछे धारण ती हैं, उन चामरगत केश-समूहों के साथ दमयन्तीके केश-समूहोंकी समता कौन ना चाहेगा ? जिन्हें पण्डिता दमयन्ती सब अङ्गोंमें उत्तम अङ्ग अपने मस्तक पर धारण ती है। दमयन्तीका केश-समूह चामरसे बहुत ही श्रेष्ठ है] ॥ २० ॥

स्वदृशोर्जनयन्ति सान्त्वनां खुरकण्डूयनकैतवान्मृगाः ।
जितयोरुदयत्प्रमीलयोस्तदखर्वेक्षणशोभया भयात् ॥ २१ ॥

स्वदृशोरिति । मृगाः हरिणास्तस्या दमयन्त्या अखर्वयोरायतयोरीक्षणयोरक्ष्णोः भया कर्त्र्या जितयोरत एव भयादुदयत्प्रमीलयोरुत्पद्यमाननिमीलनयोः स्वदृशो- जनयनयोः खुरैः शफः 'शफं क्लीबे खुरः पुमानि'त्यमरः। कण्डूयनस्य कर्षणस्य तवाच्छलात्सान्त्वनां जनयन्ति लालनां कुर्वन्ति। यथा लोके परपराजिता निमी- ताक्षाः स्वजनैर्भयनिवृत्तये करतलास्फालनादिना परिसान्त्व्यन्ते तद्वदिति भावः। त्र कैतवशब्देन कण्डूयनमपह्नुत्य सान्त्वनारोपादपह्नवभेदः ॥ २१ ॥

उस दमयन्तीके बड़े-बड़े नेत्रोंकी शोभासे जीते गये अत एव भयसे मानों तन्द्रायुक्त ते हुए अपने नेत्रद्वयको खुरसे खुजलानेके कपटसे मृग सान्त्वना देते हैं। [लोकमें भी ल व्यक्तिसे पराजित होनेसे भयके कारण तन्द्रायुक्त होते हुए दुर्बल व्यक्तिको आत्मीय न हाथसे सहलाकर (छूकर) सान्त्वना देते हैं। दमयन्तीके नेत्र मृगनेत्रोंसे भी बड़े बड़े था सुन्दर हैं] ॥ २१ ॥

अपि लोकयुगं दृशावपि श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि ।
श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते सुतरां धरापते ! ॥ २२ ॥

अपीति । हे धरापते ! दमो नाम भीमस्यैवात्मजस्तस्य स्वसुर्दमयन्त्याः
युगं मातापितृकुलयुगं श्रुतिगामितया वेदप्रसिद्धतया सुतरां व्यतिभाते परस्प
र्षेण भाति तथा दृशौ नेत्रे अपि श्रुतिगामितया कर्णान्तविश्रान्ततया व्य
परस्परोत्कर्षेण भातस्तथा श्रुताः श्रुतिप्रसिद्धाः ते च ते दृष्टाः लोकप्रसिद्धाश्च
षणयोरपि विशेषणविशेष्यभावविवक्षायां विशेषणसमासः ते रमणीगुणाः
अपि श्रुतिगामितया जनैः श्रूयमाणतया 'श्रुतिः श्रोत्रेः तथाम्नाये वार्त्तायां
कर्म्मणी'ति विश्वः । सुतरां व्यतिभाते व्यतिहारेण भान्ति । 'आत्मनेपदेष्वनत
झस्यादादेशः, सर्वत्र 'कर्त्तरि कर्मव्यतिहार' इत्यात्मनेपदम्, अदादित्वाच्छपो
सर्वत्र टेरेत्वम् । अत्र लोकयुगादीनान्त्रयाणामपि प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतविषय
योगिताभेदः । 'प्रस्तुताप्रस्तुतानाञ्च केवलं तुल्यधर्म्मतः । औपम्यं गम्यते
मता तुल्ययोगिते'ति लक्षणात् ॥ २२ ॥

हे भूपते (नल) ! 'दम' (भीम राजाके पुत्र) की बहन अर्थात् दमयन्तीके म
तथा पितृकुल वेदप्रसिद्ध (या—लोक प्रसिद्ध) होनेसे परस्परमें शोभते हैं, दो
भी कानों तक पहुँचनेसे अर्थात् अत्यन्त विशाल होनेसे परस्परमें शोभते हैं और
सुने तथा किसी किसी सुन्दरीमें देखे गये स्त्री-सम्बन्धी गुण भी लोगोंके द्वारा सुने
परस्परमें शोभते हैं । [यहाँ 'वि अति' उपसर्ग वाले दीप्त्यर्थक 'भा' धातुसे सिद्ध
पुरुषकी 'व्यतिभा' क्रिया दी गयी है, एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचनमें एक
होनेसे उक्त एक ही क्रियापदका सम्बन्ध क्रमशः एकवचन 'लोकयुगम्' द्विवचन
तथा बहुवचन 'रमणीगुणाः' तीनों पदोंके साथ होता है । 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे'
सू० १।३।१४) के नियमसे 'वि-अति' उपसर्गोंके साथ 'भा' धातुका परस्पर
अर्थ होता है; अत एव इस श्लोकका विशद अर्थ यह है—दमयन्तीका मातृकुल
प्रसिद्ध है, अतः इस मातृकुलके लोकप्रसिद्धत्वको दमयन्तीके पितृकुलने स्वीकार
तथा दमयन्तीका पितृकुल भी लोकप्रसिद्ध है, अतः उस पितृकुलके लोकप्रसि
दमयन्तीके मातृकुलने स्वीकार किया अर्थात् दमयन्तीके सम्बन्धसे पितृकुलके समान
कुल तथा मातृकुलके समान पितृकुल शोभता है. इस प्रकार सादृश्यमें तात्पर्य
परस्पर विनिमय करना चाहिये । वह सादृश्य श्रुतिगामी (जगत्प्रसिद्ध) होनेसे
होता है और जगत्प्रसिद्धत्वरूप मातृकुलका सादृश्य पितृकुलकी अपेक्षा तथा पि
सादृश्य मातृकुलकी अपेक्षासे है, नेत्रादि अपेक्षासे नहीं । इसी प्रकार दमयन्तीके
नेत्र भी कान तक पहुँचने (कानों तक पहुँचकर विशाल होने) से परस्पर वि
शोभते हैं अर्थात् दहने नेत्रकी कानतक पहुँचनेसे उत्पन्न विशालत्वरूप शोभाको

ा बांये नेत्रकी कानतक पहुचनेसे उत्पन्न विशालत्वरूप शोभाको दहना नेत्र स्वीकार ता है। कानतक पहुंचकर विशाल होनेसे दहना नेत्र बांयेके समान तथा बांया नेत्र नेके समान सुन्दर है, इस तरह यहां भी सादृश्यमें ही तात्पर्य है। तथा पुराणादिमें गये एवं किन्हीं स्त्रियों में देखे गये दमयन्ती-सम्बन्धी (या–किन्हीं स्त्रियों में सुने गये किन्हीं स्त्रियोंमें देखे गये स्त्री-सम्बन्धी) गुण लोगोंके द्वारा सुने जानेसे विनिमयसे मते हैं। पुराणादिमें (या—किन्हीं स्त्रियोंमें)जो सुने गये वे किन्हीं स्त्रियोंमें देखे गये र वे दमयन्तीमें ही सुने जाते हैं, इस प्रकार सुने तथा देखे गये दमयन्ती–सम्बधी –गुणोंका श्रुतिगामित्व है, अतः सुने गये दमयन्तीके स्त्री–गुणोंकी श्रुतिगामी होनेसे भाको उसके देखे गये गुणोंने स्वीकार किया तथा देखे गये दमयन्तीके स्त्री–गुणोंको तिगामी होनेसे शोभाको उसके सुने गये गुणोंने स्वीकार किया—इसप्रकार विनिमय नना चाहिये। सुने गये दमयन्ती–सम्बधी स्त्री–गुण जैसे शोभते हैं, देखे गये दमयन्ती– बधी स्त्री–गुण भी वैसे ही शोभते हैं, इस प्रकार सादृश्यमें ही तात्पर्य–जानना चाहिये। र्थात् सुने तथा देखे गये सम्पूर्ण स्त्री–सबन्धी गुण दमयन्तीमें ही विद्यमान हैं। थवा—सामुद्रिक शास्त्रोंमें देखे गये एवं 'पद्मिनी' आदि स्त्रियों में सुने गये स्त्री–गुण स्पर विनिमयसे दमयन्तीमें ही शोभते हैं]॥ २२ ॥

नलिनं मलिनं विवृण्वती पृषतींमस्पृशती तदीक्षणे।
अपि खञ्जनमञ्जनाञ्चिते विदधाते रुचिगर्वदुर्विधम् ॥ २३ ॥

नलिनमिति। नलिनं पद्मं मलिनमचारु विवृण्वती कुर्वाणे पृषतीं मृगीमस्पृशती समानत्वात् दूरादेव परिहार इत्यर्थः, तदीक्षणे तल्लोचने अञ्जनाञ्चिते कज्जलपरि- कृते सती खञ्जनं खञ्जरीटाख्यं खञ्जननामकः पक्षिविशेषः 'खञ्जरीटस्तु खञ्जन' त्यमरः। तमपि रुचिगर्वदुर्विधं चारुत्वगर्वनिःस्वं विदधाते कुर्वाते, सर्वथाप्यनुपमेये त्यर्थः। 'निःस्वस्तु दुर्विधो दीनो दरिद्रो दुर्गतोऽपि स' इत्यमरः। ईक्षणयोर्नलिना- मलिनीकरणाद्यसम्बन्धे सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तया चोपमा व्यज्यत इत्यलङ्का- गालङ्कारध्वनिः ॥ २३ ॥

कमलको मलिन (सौन्दर्यहीन) करते हुए तथा मृगीका स्पर्श तक नहीं करते हुए र्थात् अत्यन्त हीन मृगी–नेत्रका दूरसे ही परिहार करते हुए अञ्जनयुक्त दमयन्तीके नेत्र ञ्जरीट' नामक पक्षीको शोभाविषयक अभिमानमें दरिद्र बना रहे हैं अर्थात् दमयन्तीके त्रोंकी श्रेष्ठतासे खञ्जरीटका शोभा–सम्बन्धी अभिमान नष्ट हो जाता है। [अथवा— ञ्जन–शलाकाका स्पर्श नहीं किये हुए अर्थात् अञ्जनसे हीन एवं कमलको मलिन करते ए दमयन्तीके नेत्र विस्फारित होकर कमलको मलिन (शोभाहीन) करते हैं और अञ्जनसे शोभित होकर खञ्जरीटको सौन्दर्य–मदके विषयमें दरिद्र करते हैं। अथवा—(आत्मगत) ामताको प्रकाशित करते हुए दमयन्तीके नेत्र कमलको शोभा सम्बन्धी अभिमानके

विषयमें दरिद्र बनाते हैं……। या—श्यामवर्ण अर्थात् नील कमलको दमयन् शोभा-सम्बन्धी मदके विषयमें दरिद्र बनाते हैं तथा विस्फारित होते हुए शोभा-सम्बन्धी मदके विषयमें दरिद्र बनाते हैं और अञ्जनसे शोभित दमयन् खञ्जरीटको शोभा-सम्बन्धी मदके विषयमें दरिद्र बनाते हैं। दमयन्तीके नेत्रों श्यामत्व गुणसे कमलको, विशालत्व गुणसे हरिणियों (के नेत्रों) को और अ होनेपर कृष्ण श्वेत गुणसे खञ्जरीटको जीत लिया] ॥ २३ ॥

अधरं खलु बिम्बनामकं फलमस्मादिति[1] भव्यमन्वयम् ।
लभतेऽधरबिम्बमित्यदः पदमस्या [2]रदनच्छदं वदत् ॥ २४

अधरमिति। अधरबिम्बमित्यदः पदम् अधरं बिम्बमिवेत्युपमितसमासा स्त्रीणामधरेषु यत्पदं प्रयुज्यते तदित्यर्थः। अस्या दमयन्त्याः रदनच्छदम् ओष्ठ धत् तदभिधानाय प्रयुक्तं सदित्यर्थः। बिम्बनामकं फलं बिम्बमस्माद्दमयन्ती दादधरं किलापकृष्टं खल्विति अधरशब्दस्यापकृष्टार्थत्वे अधरं बिम्बं यस्मा बहुव्रीहिसमासे च सति भव्यमवाधितमन्वयं वृत्तिपदार्थसंसर्गलक्षणं लभते, समर्थसमासाश्रयणे 'समर्थः पदविधिरि'ति समर्थपरिभाषा भज्येत, तर्हि स्यादिति भावः। अत्र दमयन्तीदन्तच्छदस्य बिम्बाधरीकरणासम्बन्धेऽपि स क्तेरतिशयोक्तिः पूर्ववत् ध्वनिश्च ॥ २४ ॥

(अधरबिम्बके समान हैं, इस अर्थमें प्रयुज्यमान) 'अधरबिम्ब' यह पद इ यन्ती) के ओष्ठको कहता हुआ 'बिम्ब' नामक फल (दमयन्तीके) इन दोनों अधर अर्थात् हीन हैं, इस प्रकार (बहुव्रीहि समासात्मक) उचित अन्वयको प्रा है। [इस दमयन्तीके ओष्ठोंकी अपेक्षा लालिमा तथा अमृतकल्प मधुरिमामें अल होनेसे 'अधर' (हीन) है 'बिम्ब' (बिम्बफल) जिससे ऐसा बहुव्रीहि समा अन्वय 'अधरबिम्ब' पदके लिए उचित है और अन्यान्य स्त्रियोंके ओष्ठोंके साथ बिम् समानता होनेसे लोकप्रसिद्ध 'अधर (ओष्ठ) बिम्बके समान है, ऐसा तत्पुरुष समासात्मक अन्वय करना ठीक है] ॥ २४ ॥

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा ।

१-२. अत्र म० म० शिवदत्तशर्माणः—'आभ्याम्, रदनच्छदे' इति द्विवचना साहित्यविद्याधरीसम्मतः। यतो व्याख्यातम्–रदनच्छदे ओष्ठौ वदत् प्रतिपादयत् च्छदस्य नपुंसकत्वम्। यदुक्तं प्रतापमार्तण्डाभिधानकोषे—'गरुत्पक्षच्छदोऽस्त्रियाम् 'आभ्याम्, रदनच्छदे' इति पाठस्तु सर्वथाऽशुद्धः, 'ओष्ठोऽधरो रदच्छदः' इति निर्देशात्, इति सुखावबोधा। आभ्यामिति पाठे रदनच्छदौ वददिति युक्तः पाठः शब्दस्य पुंल्लिङ्गत्वात्। 'दलं पर्णं छदः पुमान्' इत्यमरः, इति तिलकव्याख्यायामभि रदनच्छदे वदन् 'वद स्थैर्ये' स्थिरीभवन्निति सप्तम्यन्तपाठाङ्गीकारश्च'। इति।

कृतमध्यविलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥ २५ ॥

हृतसारमिति । इन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय तन्निर्माणायेत्यर्थः । क्रियार्थोपपद-
ति चतुर्थी, वेधसा हृतसारमुद्धृतमध्याङ्कमिव, कुतः ? कृतमध्यविलं विहितम-
रन्ध्रमत एव धृतो गम्भीरखनीखस्य निम्नमध्यरन्ध्राकाशस्य नीलिमः नैल्य-
था विलोक्यते, 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यादि'त्यमरः । 'कृदिकारादक्तिन' इति
प् । अत्र कलङ्कापह्नवेन खनीलिमारोपादपह्नवभेदः, स च कृतमध्यविलमित्येत-
र्थहेतुककाव्यलिङ्गानुप्राणितः, तदपेक्षा चेयं हृतसारमित्युत्प्रेक्षेति सङ्करः । तया
मा व्यज्यत इति पूर्ववत् ध्वनिः ॥ २५ ॥

दमयन्तीके मुख (को बनाने) के लिए ब्रह्माके द्वारा (बीचसे) लिये गये सारवाला
में बिलयुक्त चन्द्रमा गहरे गढ़ेके आकाशके नीलापनसे युक्त दिखलाई पड़ रहा ॥२५॥

धृतलाञ्छनगोमयाञ्जनं विधुमालेपनपाण्डरं विधिः ।
भ्रमयत्युचितं विदर्भजाननीराजनवर्द्धमानकम् ॥ २६ ॥

धृतेति । विधिर्ब्रह्मा धृतं लाञ्छनमङ्क एव गोमयाञ्जनं मध्यस्थितगोमयसंश्लेष-
एनम् आलेपनपाण्डरं निजकान्तिसुधाधवलितमित्यर्थः, विधुं चन्द्रमेव विदर्भ-
ननस्य वैदर्भीमुखस्य नीराजनवर्द्धमानकं नीराजनशरावम् 'शरावो वर्द्धमानक'
मरः । किरणदीपकलिकायुक्तमिति भावः । भ्रमयत्युचितम् लोकोत्तरत्वात् इति
वः, एवं नीराजयन्तीति देशाचारः । अत्र विधुतल्लाञ्छनादेर्नीराजनशरावगोम-
दित्वेन निरूपणात्सावयवरूपकम् ॥ २६ ॥

ब्रह्मा कलङ्करूप गोमय (गोबर) पूजनसे युक्त तथा (चउरठ—चावलके चूर्णसे बने)
नके लेपसे श्वेतवर्ण चन्द्ररूप दमयन्तीके मुखकी आरतीके शराव (ढकनी—पात्रविशेष)
ठीक ही घुमा रहा है । [लोकमें दृष्टिदोष हटानेके लिए ढकनी आदिमें गोबर रख
तथा उसे ऐपन (चावलके चूर्ण) से लीपकर जिस प्रकार आरती घुमायी जाती है,
प्रकार ब्रह्मा कलङ्करूप गोबर तथा श्वेतिमारूप ऐपनसे युक्त चन्द्रको दमयन्तीके
खकी आरती का पात्र (थाल या ढकनो) घुमाता है, यह उचित ही है] ॥ २६ ॥

सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्मभाजि तन्मुखात् ।
अधुनापि न भङ्गलक्षणं सलिलोन्मज्जनमुज्झति स्फुटम् ॥ २७ ॥

सुखमेति । सुषमा परमा शोभा सैव विषयः यस्मिन् परीक्षणे जलदिव्यशोधने
ते निखिलं पद्मं पद्मजातं तन्मुखादपादानात् भङ्गावधित्वादभाजि अभञ्जि स्वयमेव
मभूदित्यर्थः स्फुटं, कर्त्तरि लुङ्, 'भञ्जेश्च चिणी'ति वैभाषिको नकारलोपः ।
तएवाधुनापि भङ्गलक्षणपराजयचिह्नं सलिलादुन्मज्जनं क्षणमपि नोज्झति न
हाति । जलदिव्योन्मज्जनस्य पराजयलिङ्गत्वस्मरणादिति भावः । उन्मज्जनक्रिया-
मित्तेयं भङ्गोत्प्रेक्षा ॥ २७ ॥

अधिक शोभाके विषयमें दिव्य परीक्षामें सम्पूर्ण कमल दमयन्तीके मुखसे हो गये, (अत एव) मानो इस समय भी वे कमल पराजयसूचक पानीसे ऊपर नहीं छोड़ते अर्थात् अब भी पानीके ऊपर ही रहते हैं। ['दिव्य' परीक्षाओं 'दिव्य परीक्षा' लेनेका यह नियम है कि धनुर्धरके बाण छोडनेपर उस बाणको जो व्यक्ति नाभितक पानीके भीतर खड़े हुए मनुष्यका पैर पकड़े हुए डूबकर ठहरा है वह विजयी होता है तथा पानीमें डूबा हुआ जो व्यक्ति बाण लानेके पहले ही ऊपर सिरकर लेता है वह पराजित होता है। प्रकृतमें दमयन्तीके मुख तथा दिव्य परीक्षा करते समय कमलको पानीके ऊपर रहनेसे उसके पराजित होनेकी की गयी है] ॥ २७ ॥

धनुषी रतिपञ्चबाणयोरुदिते विश्वजयाय तद्भ्रुवौ ।
नलिके न तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयोः ? ॥२८

धनुषी इति। तद्भ्रुवौ विश्वजयायोदिते उत्पन्ने रतिपञ्चबाणयोर्धनुषी मित्यादिव्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा, किञ्च तस्याः दमयन्त्याः उच्चनासिके सापुटे त्वयि नालीकानां द्रोणिचापशराणां विमुक्तिं कामयेते इति तथोक्तयोः 'शिलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो ण' इति णप्रत्ययः, 'नालीकं पद्मखण्डे स्त्री नाली शल्ययोरि'ति विश्वः । नलिके न द्रोणिचापे न किमिति काकुः । पूर्ववदुत्प्रेक्षा

उस (दमयन्ती) के भ्रूद्वय विश्वविजय करने के लिये रति तथा कामदेवके धनुष क्या ? अर्थात् धनुष ही हैं, तथा हे राजन् ! उस (दमयन्ती) की उच्च दोनों तुम्हारे ऊपर नालीसे छोड़नेके इच्छुक बाणद्वय की दोनों नालियां नहीं हैं क्या दो नालियां ही हैं। (या—'·····कामदेवके मानों धनुष हैं) ॥ २८ ॥

सदृशी तव शूर ! सा परं जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा ।
अपि मित्रजुषां सरोरुहां गृहयालुः करलीलया श्रियः ॥ २९ ॥

सदृशीति। हे शूर ! जलदुर्गस्थानि मृणालानि जयत इति तज्जितौ भुजौ सा मित्रजुषामर्कसेविनां सुहृत्सलिलानाञ्च सहायसम्पन्नानामपीत्यर्थः । 'मित्रं मित्रोऽर्कं' इति विश्वः । सरोरुहां श्रियः शोभाः सम्पदश्च 'न लोके'त्यादिना षेधः, करलीलया भुजविलासेन भुजव्यापारेण वलिग्रहणेन च 'बलिहस्तांशवः 'लीलाविलासक्रिययोरि'ति चामरः, गृहयालुः ग्रहीता गृह-ग्रहण इति धातो दिकात् 'स्पृहिगृही'त्यादिना आलुच् प्रत्ययः, 'अयामन्ते'त्यादिना णेरयादेश

---

१. एतदर्थं याज्ञवल्क्यस्मृतेर्व्यवहाराध्याये दिव्यप्रकरणं द्रष्टव्यं 'तुलाग्न्या कोशो······'इत्यारभ्य 'आचतुर्दशिकादह्नो······' (२।९५-११३) यावत् मिताक्षरावीरमित्रोदयव्याख्याने च विशदतया वर्णितं तद्दिव्यप्रकरणमिति बोध्यम्।

२. 'नु' इति पाठान्तरम् ।

मयन्ती तव परमत्यन्तं सदृशी अनुरूपेत्युपमालङ्कारः। शूरस्य शूरैव भार्या वितुमर्हतीति भावः ॥ २९ ॥

हे शूर (नल)! जलरूपी दुर्गमें रहनेवाली मृणालकी विजयिनी भुजाओंवाली, था मित्रसेवी (सूर्यसेवी, पक्षा०—सुहृद्रूप जलसे युक्त अर्थात् सहायक सहित) भी मलोंकी शोभाको भुजाओंके विलाससे (पक्षा०—कर = राजदेय भागके विलाससे) सदा ण करनेवाली वह दमयन्ती एकमात्र आपके ही योग्य है, (क्योंकि शूरवीर की पत्नी वीर स्त्री ही होती है) ॥ २९ ॥

वयसी शिशुतातदुत्तरे सुदृशि स्वाभिविधिं विधित्सुनी ।
विधिनापि न रोमरेखया कृतसीम्नी प्रविभज्य रज्यतः ॥ ३० ॥

वयसी इति । सुदृशि दमयन्त्यां स्वाभिविधिं स्वव्याप्तिं विधित्सुनी विधातुमिच्छती अहमहमिकया स्वयमेवाक्रमितुमिच्छती इत्यर्थः, शिशुतातदुत्तरे बाल्ययौवने यसी विधिना सीमाभिज्ञेन रोमरेखया सीमाचिह्नेन प्रविभज्य रोमराजेः प्रागेव त्र शैशवेन स्थातव्यन्ततः परं यौवनेनेति कालतो विभागं कृत्वा, कृतसीम्नी कृतर्यादे अपि 'विभाषा ङिश्यो'रित्यल्लोपः, न रज्यतः न सन्तुष्यतः। रम्यवस्तु स्त्यजमिति भावः । एतेन वयःसन्धिरुक्तः । अत्र प्रस्तुतवयोविशेषसाम्यादप्रस्तुतवादप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ३० ॥

सुनयना उस दमयन्तीमें अपनी अभिव्याप्तिको करनेकी अभिलाषिणी ('मैं ही इस मयन्तीमें सर्वत्र व्याप्त होकर रहती हूँ' ऐसा करनेकी इच्छा करनेवाली) शैशव तथा सके बादवाली अर्थात् यौवन अवस्थाएँ ब्रह्माके द्वारा भी (नाभिके नीचे) रोमरेखासे भागकर मर्यादित की गयी नहीं अनुरक्त होती हैं क्या ? अर्थात् अनुरक्त होती ही हैं। उस सुनयना दमयन्तीमें शैशवावस्था पहलेसे ही है तथा युवावस्थाका भी आरम्भ हो रा है। लोकमें भी दो व्यक्तियोंमें सीमा-सम्बन्धी पारस्परिक विरोध होनेपर कोई वृद्ध क्ति उन दोनों के लिए सीमा बनाकर उन्हें सन्तुष्ट कर देता है। नाभिके नीचे रोमजि उत्पन्न होनेसे दमयन्तीकी यौवनावस्थाका आरम्भ होना सूचित होता है] ॥ ३० ॥

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम् ।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ ॥ ३१ ॥

सम्प्रति यौवनमेवाश्रित्याह—अपीति। कान्तिझरैर्लावण्यप्रवाहैरगाधतां दुरवगातां गमिते तद्वपुषि दमयन्तीशरीरे प्रसर्पतोस्तरतोः स्मरयौवनयोर्द्वयोरपि उभौ चौ प्लवस्योन्मज्जनस्य कुम्भौ प्लवनार्थं कुम्भावित्यर्थः, प्रकृतिविकारभावाभावादश्वासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः। लोके तरद्भिः अनिमज्जनाय कुम्भादिकमवलम्ब्यत ति प्रसिद्धं, भवतः खलु। अत्र कुचयोः स्मरयौवनप्लवनकुम्भत्वोत्प्रेक्षया तयोरौकट्यं कुचयोश्चातिवृद्धिर्व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ३१ ॥

कान्ति-प्रवाहसे अगाधताको प्राप्त भी उस (दमयन्ती) के शरीरमें वढ़ते करते) हुए कामदेव तथा यौवनके लिए (दमयन्तीके विशाल) दोनों स्तन मानों घड़े हो रहे हैं । [यद्यपि अगाध जल प्रवाहमें क्रीड़ा करना ठीक नहीं है, तथापि करते हुए कामदेव तथा यौवनके लिए दमयन्तीके विशाल दोनों स्तन तैरनेके घ रहे हैं] ॥ ३१ ॥

कलसे निजहेतुदण्डजः किमु चक्रभ्रमकारितागुणः ? ।
स तदुच्चकुचौ भवन् प्रभाझरचक्रभ्रममातनोति यत् ॥ ३२ ॥

कलस इति । निजहेतुदण्डजः स्वनिमित्तकारणजन्यः चक्रभ्रमकारिता भाण्डभ्रमणजनकत्वं सैव गुणो धर्मो रूपादिश्च, 'गुणः प्रधाने रूपादावि सः कलसे किमु ? दण्डकार्य्ये कलसे संक्रान्तः किमु ? इत्यर्थः, कुतः यत कलसः तस्या दमयन्त्या उच्चकुचौ भवन् तत्कुचात्मना परिणतः सन् लावण्यप्रवाहे चक्रभ्रमं चक्रवाकभ्रान्तिं कुलालदण्डभ्रमणं चातनोति, 'च चक्रवाके चक्रं सैन्यरथाङ्गयोः । ग्रामजाले कुलालस्य भाण्डे राष्ट्रास्त्रयोरपि' इ त्रापि विश्वः । अत्र 'समवायिकारणगुणा रूपादयः कार्य्ये संक्रामन्ति न निमि इति तार्किकाणां समये स्थिते गुण इति चक्रभ्रम इति चोभयत्रापि वाच्य मानयोरभेदाध्यवसाय एव 'स तदुच्चकुचौ भवन्नि'ति कुचकलसयोरभेदा वस्युत्थापितझरचक्रभ्रमात्मकक्रियानिमित्ता कुचात्मनि कलसे कार्ये चक्रभ्रम लक्षणनिमित्तकारणगुणसंक्रमलक्षणेनोत्प्रेक्षेति सङ्क्षेपः । तार्किकसमये वि विरोधाभासोऽलङ्कार इति कैश्चिदुक्तम्, तदेतदत्यन्ताश्रुतचरमलङ्कारपा श्रृण्वन्तु ॥ ३२ ॥

(कुम्हारके चाकको घुमानेका गुण कलसमें अपने निमित्त कारण दण्डसे उ है क्या ? क्योंकि वह कलस उस (दमयन्ती) का विशाल स्तनद्वय होता हुआ प्रभा समूह (या—प्रभा-प्रवाहरूप चाक, या-प्रभा-प्रवाह से चकवा पक्षी) का भ्रम (पक्षा०—भ्रमण) को उत्पन्न करता है । [समवायिकारण, असमवायिकारण तथा कारण—ये तीन कारण नैयायिकोंने माने हैं, इनमें समवायिकारणका गुण कार्य है, यथा मृत्पिण्डका गुण कलशमें; किन्तु निमित्त कारणका गुण कार्यमें नहीं यथा—दण्ड-चक्र-चीवरादिका गुण कलशरूप कार्यमें नहीं आता । परन्तु यहां ही देखा जाता है, क्योंकि कुम्हारके चाकके घुमानेका अपने निमित्त कारणभूत गुण कार्यरूप कलशमें आ गया है, यह इस कारणसे ज्ञान होता है कि वह कलस द विशाल स्तनद्वय होकर प्रभा-समूहसे कुम्हारके चाकका भ्रम कराता है अर्थात् द कलसतुल्य विशाल स्तनोंको देखकर कान्ति-समूहसे मनुष्य नीचे ऊपर घूमने अथवा—वह प्रभा-प्रवाहमें चकवाका भ्रम कराता है अर्थात् उक्तरूप स्तनोंको चकवा पक्षी प्रवाहमें घूम रहे हैं ऐसा प्रतीत होने लगता है; और प्रवाहमें

ा उचित भी है; अथवा—वह प्रभा-प्रवाह (कान्ति-समूह) से राष्ट्र (या-जन-
) को भ्रम उत्पन्न करता है अर्थात् सभी लोग उक्तरूप स्तनोंको देखकर आश्चर्यसे
त हो भ्रममें पड़ जाते हैं] ॥ ३२ ॥

भजते खलु षण्मुखं शिखी चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः ।
अपि जम्भरिपुं दमस्वसुर्जितकुम्भः कुचशोभयेभराट् ॥ ३३ ॥

भजति इति । दमस्वसुर्दमयन्त्याश्चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः कृतपिच्छनिन्दः जित-
इत्यर्थः । शिखी मयूरः षण्मुखं कार्तिकेयं भजते खलु, तथा कुचशोभया जित-
म इभराडैरावतोऽपि जम्भरिपुमिन्द्रं भजते । परपरिभूताः प्राणत्राणाय प्रबलमा-
न्त इति प्रसिद्धम् । अत्र शिख्यैरावतयोः षण्मुखजम्भारिभजनस्य जितबर्हत्व-
कुम्भत्वपदार्थहेतुकत्वात् तद्धेतुके काव्यलिङ्गे तदसम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानाद-
शयोक्तिश्च ॥ ३३ ॥

दमयन्तीके बालोंसे (पराजित होनेके कारण) पूंछोंके बालोंकी निन्दा किया हुआ
र षडानन (स्वामी कार्तिकेय) की सेवा करता है तथा स्तनोंकी शोभासे पराजित
म (मस्तकस्थ कुम्भाकार मांस-पिण्ड) वाला गजराज (ऐरावत) इन्द्रकी सेवा करता
[लोकमें भी किसी प्रबलसे पराजित व्यक्ति उस वैरीसे बदला लेने या वैसा स्वयं
बनने, या उसे पराजित करनेके लिये किसी देवताकी सेवा करता है। यद्यपि पहले
२०) केशका वर्णन कर चुके हैं तथापि यहां स्तन-वर्णनके प्रसङ्गमें केशका वर्णन
ने पुनः कर दिया है। दमयन्तीके केश मयूरपिच्छ से तथा स्तन ऐरावतके कुम्भसे
सुन्दर हैं] ॥ ३३ ॥

उदरं नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना ।
चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गतत्रिबलिभ्राजि कृतं दमस्वसुः ॥ ३४ ॥

उदरमिति । दमस्वसुरुदरं नतमध्यं निम्नमध्यप्रदेशं पृष्ठं यस्योदरस्य तस्य
वस्तत्ता तया स्फुरत् दृढग्रहणात् पृष्ठफलके स्फुटीभवदङ्गुष्ठपदमङ्गुष्ठन्यासस्थानं
य तेन मुष्टिना करणेन चतसृणामङ्गुलीनां समाहारश्चतुरङ्गुलि 'तद्धिते'त्यादिना
माहारे द्विगुरेकवचननपुंसकत्वे । तस्य मध्येभ्योऽन्तरालेभ्यो निर्गतं यत्त्रिवलि
वत् समासादिः कार्यः, यत्तूक्तं वामनेन 'त्रिवलिशब्दः संज्ञा चेदि'ति सूत्रेण
सपंथ इत्यादिवत् 'दिक्संख्ये संज्ञायामि'ति संज्ञायां द्विगुरिति । तदपि चेत्करण-
मर्थ्यात्त्रिवलय इति बहुवचनप्रयोगदर्शने स्थितं गतिमात्रं न सार्वत्रिकमिति
ामः । तेन भ्राजत इति तद्भ्राजि वलित्रयशोभि कृतमित्युत्प्रेक्षा, कौतुकिनेति
षः । मुष्टिग्राह्यमध्येयमित्यर्थः । मुष्टिग्रहणादङ्गुष्ठनोदनात्पृष्ठमध्ये नम्रता उदरे च
तुरङ्गुलिनोदनाद्वलित्रयाविर्भावश्चेत्युत्प्रेक्ष्यते ॥ ३४ ॥

दमयन्तीका उदर मुट्ठीमें बांधनेसे पृष्ठ भागमें अङ्गुष्ठ लगनेसे चिपटा तथा आगेमें
रो अङ्गुलियोंके बीच की तीन रेखाओंके लगनेसे त्रिवलियुक्त बनाया गया है। [चार

अङ्गुलियोंके बीचमें तीन रेखाओंका होना सर्वविदित है, इसकी सृष्टि करते समय लगनेसे दमयन्तीका उदर आगे तीन रेखाओंसे युक्त तथा पीठमें अङ्गुष्ठ लगने हो गया है । दमयन्तीका उदर एक मुठ्ठीमें बाँधने योग्य अर्थात् अत्यन्त पतला है

उदरं परिमाति मुष्टिना कुतुकी कोऽपि दमस्वसुः किमु ? ।
धृततच्चतुरङ्गुलीव यद्वलिभिर्भाति सहेमकाञ्चिभिः ॥ ३५ ॥

उदरमिति । कोऽपि कुतुकी दमस्वसुरुदरं मुष्टिना परिमाति किमु ? नत्ति किमित्युत्प्रेक्षा, कुतः ? यद् यस्मात् सहेमकाञ्चिभिर्वलिभिर्हेमकाञ्च्या सह सृभिस्त्रिवलिभिरित्यर्थः । एतस्याः कनकसावर्ण्यं सूचितम् धृतं तस्य मातुश्च अङ्गुलीचतुष्टयं येन तदिव भातीत्युत्प्रेक्षा । अत्रोत्प्रेक्षयोर्हेतुहेतुमद्भूतयो भावेन सजातीयः सङ्करः । पूर्वश्लोके वलीनां तिसृणां चतुरङ्गुलिमध्यनिर्ग त्प्रेक्षितम् । इह तु तासामेव काञ्चीसहितानां चतुरङ्गुलित्वमुत्प्रेक्षत इति प्रेक्षितुरिति भावः ॥ ३५ ॥

कौतुकी कोई (ब्रह्मा) दमयन्तीके उदरको मुठ्ठीसे नापता है क्या ?, क्योंकि करधनी–सहित त्रिवलियोंसे ऐसा शोभता है कि मानो उस (कौतुकी) के चा लियों (के मध्यगत तीन रेखाओं) को धारण कर रहा हो । [पूर्व श्लोक (३ त्रिवलियोंको चार अङ्गुलियोंके बीचमें होनेकी उत्प्रेक्षा को गयी है, तथा इस श्लोक सहित करधनी सहित उन्हीं त्रिवलियोंको चार अङ्गुलियां होनेकी उत्प्रेक्षा की गयी दोनोंमें भेद स्पष्ट है] ॥ ३५ ॥

पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृन्मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया ।
विधिरेककचक्रचारिणं किमु निर्मित्सति मान्मथं रथम् ॥ ३६ ॥

पृथ्विति । पृथु वर्त्तुलं च तस्याः नितम्बं करोतीति नितम्बकृन्नितम्बं विधिः ब्रह्मा मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया रविरथनिर्माणाभ्यासपाटवेन एक 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कप्रत्ययः । तेन चक्रेण चरतीति मान्मथं रथं निर्मित्सति किमु ? सूर्यस्येव मन्मथस्यापि एकचक्रं रथं निर्मातु किमु ? इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा किमर्थमिदं नितम्बनिर्म्माणमिति भावः । मातेः लट् । 'सनि मीमे'त्यादिना ईसादेशः, 'सस्यार्द्धधातुक' इति सकारस्य तका लोपोऽभ्यासस्ये'त्यभ्यासलोपः ॥ ३६ ॥

विशाल तथा गोलाकार दमयन्ती के नितम्बको बनानेवाला ब्रह्मा सूर्यके रथ गरीके अभ्याससे एक पहियेसे चलनेवाला कामदेवका रथ बनाना चाहता है [पहले ब्रह्माने एक पहियेसे चलनेवाला रथ सूर्यका ही बनाया था, किन्तु मालूम कि अब वह एक पहियेसे चलनेवाला कामदेवका रथ भी बनाना चाहता है । दम विशाल तथा गोलाकार नितम्बको देखकर सभी कामुक हो जाते हैं] ॥ ३६ ॥

तरुमूरुयुगेन सुन्दरी किमु रम्भां परिणाहिना परम् ।
तरुणीमपि जिष्णुरेव तां धनदापत्यतपःफलस्तनीम् ॥ ३७ ॥

तरुमिति । सुन्दरी दमस्वसा परिणाहिना विपुलेन ऊरुयुगेन रम्भां रम्भां नाम परन्तरुमेव 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । जिष्णुः किमु ? किन्तु धनदापत्यनलकूवरस्य तपसः फलस्तनीं फलभूतकुचां तां रम्भान्नाम तरुणीमपि जिष्णु· । 'रम्भाकदल्यप्सरसोरि'ति विश्वः । रम्भे इव रम्भाया इव चोरू यस्याः सा उभयथा रम्भोरुरित्यर्थः ॥ ३७ ॥

सुन्दरी दमयन्ती विशाल ऊरुद्वयसे केवल रम्भा (केला) वृक्षको ही जीतनेवाली है ? (ऐसा नहीं कहना चाहिये, किन्तु) कुवेरपुत्र (नलकूबर) की तपस्याके फलरूप नोंवाली युवती रम्भा (नामकी अप्सरा) को भी जीतनेवाली है । [दमयन्ती उक्तरूप द्वयसे केवल कदली-स्तम्भको नहीं, किन्तु जिस रम्भाके स्तनोंको नलकूबरने तपस्याके स्वरूप प्राप्त किया है, उस तरुणी रम्भाको भी जीतती है अर्थात्–दमयन्तीके ऊरुद्वय ली-स्तम्भ तथा रम्भा अप्सराके ऊरुद्वयसे भी अधिक चिकने, गोलाकार एवं क्रमिक रोहावरोह (चढाव–उतार) वाले हैं] ॥ ३७ ॥

जलजे रविसेवयेव ये पदमेतत्पदतामवापतुः ।
ध्रुवमेत्य रुतः सहंसकीकुरुतस्ते विधिपत्रदम्पती ॥ ३८ ॥

जलजे इति । ये जलजे द्विपद्मे रविसेवया सूर्योपासनयेव एतस्याः पदतां चरणमेव पदम्प्रतिष्ठामवापतुः ते जलजे कर्मभूते विधिपत्रदम्पती द्वन्द्वचारिणौ ब्रह्मवाहंसौ एत्यागत्य रुतः रवात्कूजनादित्यर्थः । रौतेः सम्पदादित्वात् क्विपि तुगागमः । हंसकी सपादकटकी सहंसकी च कुरुतः 'अभूततद्भावे च्विः' । 'हंसकः पादकटक' यमरः । हंसपक्षे वैभाषिकः कप्रत्ययः । ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् । पद्महंसयोरविनाभावात् कयोश्चिद्दिव्यपद्मयोस्तत्पदत्वमुत्प्रेक्ष्य दिव्यहंसयोरेव हंसकत्वञ्चोत्प्रेक्षते ॥३८॥

जिस कमलद्वयने मानों सूर्यकी सेवामें दमयन्तीके चरणरूप उत्तम स्थानको प्राप्त किया अत एव) मानो ब्रह्माका वाहनभूत हंसमिथुन उस (कमलद्वय) के पास आकर हंसयुक्त कर रहा है । [दमयन्तीके चरण कमलके समान हैं, अत एव ज्ञात होता है कि लने सूर्यकी सेवासे दमयन्तीके चरणरूप उत्तम स्थानको पाया है, क्योंकि लोकमें भी व्यक्ति किसी देवताकी सेवासे उत्तम पदको पाता है; तथा कमलको हंस-सहित होना त होनेसे ब्रह्माका वाहनभूत हंसमिथुन (हंस तथा हंसी) उन कमलोंके पास आकर हंस-युक्त कर रहा है, पक्षा०—दमयन्तीके चरण कमल हंसके समान मधुर शब्द नेवाले नूपुरोंसे युक्त हैं] ॥ ३८ ॥

श्रितपुण्यसरःसरित्कथं न समाधिक्षपिताखिलक्षपम् ।
जलजं गतिमेतु मञ्जुलां दमयन्तीपदनाम्नि जन्मनि ॥ ३९ ॥

श्रितेति । श्रिताः सेविताः पुण्याः सरःसरितः मानसादीनि सरांसि सरितश्च येन तत्समाधिना ध्यानेन निमीलनेन क्षपिताखिलक्षपं यापितसर्वरात्रं दमयन्तीपदमिति नाम यस्मिन् जन्मनि मञ्जुलाङ्गतिं रम्यगतिमुत्तमदशाञ्च, मार्गे दशायां चे'ति विश्वः। कथं नैतु एत्वेवेत्यर्थः। पदस्य गतिसाधनत्वा दमयन्तीसम्बन्धाच्चोभयगतिलाभः। तथापि जन्मान्तरेऽपि सर्वथा तपः फलि भावः। सम्भावनायां लोट् ॥ ३९ ॥

पवित्र (मानसरोवरादि) तडाग तथा (गङ्गा आदि) नदियोंका आश्रय क (सर्वदा उनमें रहनेवाला) तथा सम्यक् प्रकारके कष्ट [पक्षा०—मुकुलित र बन्द करनेरूप समाधि (योगाङ्गविशेष)] से सम्पूर्ण रात्रिको बिताने वाला कमल द चरणके नामवाले जन्मान्तरमें उत्तम गतिको क्यों नहीं प्राप्त करे ? अर्थात् गतिको प्राप्त करना उचित ही है। [लोकमें भी कोई व्यक्ति तडाग या नदी आ तीर्थमें रहकर नेत्रोंको बन्दकर समाधि लगाये रातको बितानेसे जन्मान्तरमें उस फलस्वरूप जिस प्रकार उत्तम गतिको पाता है, उसी प्रकार कमल भी पुण्यतीर्थ तडाग एवं गङ्गादि नदियोंनें रहकर रात्रिमें मुकुलित रहनेसे समाधिको धार तप किया, उसके फलस्वरूप दमयन्तीके चरणके नाम प्राप्तिरूप उत्तम गतिको पाया]

सरसीः परिशीलितुं मया गमिकर्मीकृतनैकनीवृता ।
अतिथित्वमनायि सा दृशोः सदसत्संशयगोचरोदरी ॥ ४० ॥

अथ कथं त्वमेनां वेत्सीत्यत आह—सरसीरिति। सरसीः सरांसि परि परिचेतुं तत्र विहर्त्तुमित्यर्थः। चुरादिणेरनित्यत्वादण्यन्तप्रयोगः। गमिर्गमनं शब्देनार्थो गम्यते तस्य कर्मीकृताः कर्मकारकीकृताः नैके अनेके नञर्थस्य न सुप्सुपेति समासः। नितरां वर्त्तन्ते जना येष्विति नीवृतः जनपदाः येन तेन नेकदेशेनेत्यर्थः। 'नहिवृती'त्यादिना दीर्घः। मया सदसद्वेति संशयगोच हास्पदमुदरं यस्याः सा कृशोदरीत्यर्थः। 'नासिकोदरे'त्यादिना ङीप्। सा द दृशोरतिथित्वमनायि स्वविषयतां नीता दृष्टेत्यर्थः। नयतेः कर्मणि लुङ् ॥ ४०

(आगे नलसे हंस कहता है कि—) तडागोंका आश्रय करनेके लिए अनेक जानेवाले मैंने अतिशय कृश होनेसे 'है या नहीं' ऐसे सन्देहके विषयीभूत उदर (दमयन्ती) को देखा है। [दमयन्तीका उदर कृश है कि उसें देखकर मुझे जाता था कि इसका उदर है या नहीं है ?। इस प्रकार उक्तरूपा उस दमयन्ती तडागोंमें रहनेके लिए देश-देशान्तरमें भ्रमण करनेवाले मैंने देखा है, अतः सुन्दरी रमणी कहीं भी नहीं है, ऐसा आपको विश्वास करना चाहिये] ॥ ४० ॥

अवधृत्य दिवोऽपि यौवतैर्न सहाधीतवतीमिमामहम् ।
कतमस्तु विधातुराशये पतिरस्या वसतीत्यचिन्तयम् ॥ ४१ ॥

अवधृत्येति । अहमिमान्दमयन्तीं दिवः स्वर्गस्य सम्बन्धिभिर्यौवतैर्युवतिसमूहै-
दि 'गार्भिणं यौवतं गण' इत्यमरः । भिक्षादित्वात्समूहार्थे अण्प्रत्ययः, तत्राप्यस्य
वतीति स्त्रीप्रत्ययान्तस्यैव प्रकृतित्वेन तद्ग्रहणात् तत्सामर्थ्यादेव 'भस्याढे तद्धित'
ति पुंवद्भाव इति वृत्तिकारः । न सहाधीतवतीमसदृशीं ततोऽप्यधिकसुन्दरी-
त्यर्थः । 'नञर्थस्य न शब्दस्य सुप्सुपेति समास' इति वामनः । अवधृत्य निश्चित्य
धातुः ब्रह्मणः आशये हृदि अस्याः पतिः कतमो नु कतमो वा वसतीत्यचिन्तयम्,
देवेति शेषः ॥ ४१ ॥

स्वर्गके भी युवती-समूहोंके साथ अध्ययन नहीं की हुई (स्वर्गीय युवतियोंसे भी
धिक सुन्दरी) इस (दमयन्ती) को निश्चितकर 'ब्रह्माके मनमें इसका कौन पति बसता
?' यह मैंने विचार किया । [समान गुणवालोंके साथ अध्ययन किया जाता है, असमान
णवालोंके साथ नहीं; अतएव मानुषी स्त्रियों की कौन कहे, स्वर्गीय युवतियोंसे भी
धिक गुणवाली होनेसे दमयन्तीने उनके साथ भी अध्ययन नहीं किया है अर्थात् स्वर्गीय
वतियोंसे भी दमयन्ती अधिक सुन्दरी है ऐसा निश्चय कर ब्रह्माके मनमें इसका कौन
ति बसता है यह मैंने सोचा] ॥ ४१ ॥

अनुरूपमिमं निरूपयन्नथ सर्वेष्वपि पूर्वपक्षताम् ।
युवसु व्यपनेतुमक्षमस्त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम् ॥ ४२ ॥

अनुरूपमिति । अथेदानीमनुरूपं योग्यं त्वां निरूपयन् तस्याः पतित्वेनालोच-
यन् सर्वेष्वपि युवसु पूर्वपक्षतां दूष्यकोटित्वं व्यपनेतुमक्षमः सन् त्वयि सिद्धान्त-
धियं न्यवेशयम् । त्वमेवास्याः पतिरिति निरचैषमित्यर्थः । अयमेव विधातुरप्याशय
इति भावः ॥ ४२ ॥

(इस दमयन्तीके] अनुरूप पतिका निरूपण करता हुआ सब युवकोंमें पूर्वपक्षत्वको
दूर करनेमें असमर्थ मैंने तुममें ही सिद्धान्त बुद्धिको स्थापित किया । [पूर्वपक्षकी अपेक्षा
सिद्धान्त पक्षके प्रबल होनेसे 'आप ही इस दमयन्तीके अनुरूप पति हैं, ऐसा मैंने निश्चय
किया] ॥ ४२ ॥

अनया तव रूपसीमया कृतसंस्कारविबोधनस्य मे ।
चिरमप्यवलोकिताऽद्य सा स्मृतिमारूढवती शुचिस्मिता ॥ ४३ ॥

अथ त्वद्रूपदर्शनमेव सम्प्रति तत्स्मारकमित्याह—अनयेति । चिरमवलोकिता-
ऽपि सा शुचिस्मिता सुन्दरी अद्याधुना हस्तेन निर्दिशन्नाह—अनया तव रूपसी-
मया सौन्दर्यकाष्ठया कृतसंस्कारविबोधनस्य उद्बुद्धसंस्कारस्य मे स्मृतिमारूढवती
स्मृतिपथङ्गता, सदृशदर्शनं स्मारकमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

तुम्हारी इस रूपमर्यादा (सर्वाधिक सौन्दर्य) से उद्बुद्ध संस्कारवाले मेरे स्मृतिपथमें
बहुत पहले भी देखी गयी वह उज्ज्वल मुसकानवाली सुन्दरी (दमयन्ती) आ गयी ।

[सदृश वस्तुके देखने पर पूर्वसंस्कारके जागृत होनेसे चिरदृष्ट वस्तुका भी स्मरण हो है, अत एव आपकी सर्वाधिक सुन्दरताको देखकर मुझे बहुत पहले देखी गयी दमयन्तीका स्मरण हो गया] ॥ ४३ ॥

त्वयि वीर ! विराजते परं दमयन्तीकिलकिञ्चितं किल ।
तरुणीस्तन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम् ॥ ४४ ॥

ततः किमत आह—त्वयीत्यादि । हे वीर ! दमयन्त्याः किलकिञ्चितम्, श्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलकिञ्चितमि'त्युक्तलक्षणलक्षितशृङ्गारचेष्टितं त्वयि य्येव विराजते किल शोभते खलु । तथाहि—मणिहारावलेर्मुक्ताहारपङ्क्तेः राम रमणीयत्वं 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' । तरुणीस्तन एव दीप्यते, नान्यत्र स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः प्रायेणेति प्रायग्रहणादेकवचनप्रयोगः । अत्र किलकिञ्चितयोरुपमानोपमेययोर्वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बतया स्तननृपयोः धर्मस्योक्तेर्दृष्टान्तालङ्कारः, लक्षणन्तूक्तम् ॥ ४४ ॥

हे वीर (नल) ! दमयन्तीका किलकिञ्चित (शृङ्गारसम्बन्धी चेष्टाविशेष) आपमें ही विशेषतः शोभित होता है, क्योंकि मणियोंके हारोंकी रमणीयता युव स्तनोंपर विशेष शोभती है । [युवतियोंको वीरस्वामी ही अधिक प्रिय होता है, यहां नल के लिए हंसने 'वीर' पदका प्रयोग किया है । क्रोध, रोदन, हर्ष और सम्मिश्रण के साथ की गयी स्त्रियोंकी शृङ्गार चेष्टाको 'किलकिञ्चित' कहते हैं] ॥ ४४

तव रूपमिदं तया विना विफलं पुष्पमिवावकेशिनः ।
इयमृद्धधना वृथाऽवनी, स्ववनी सम्प्रवदत्पिकापि का ? ॥ ४५

तवेति । हे वीर ! तवेदं रूपं सौन्दर्यं तया दमयन्त्या विना अवकेशिनो वृक्षस्य 'बन्ध्योऽफलोऽवकेशी चे'त्यमरः । पुष्पमिव विफलं निरर्थकम्, ऋ सम्पूर्णवित्ता इयमवनी वृथा निरर्थिका । सम्प्रवदत्पिका कूजत्कोकिला स्ववनी ध्यानमपि 'ङीप्' का तुच्छा निरर्थिकेत्यर्थः । तद्योगे तु सर्वं सफलमिति भावः । वितर्के परिप्रश्ने क्षेपे निन्दापराधयोरि'ति विश्वः । अत्र नलरूपावनीवनीनां दम विना रम्यतानिषेधाद्विनोक्तिरलङ्कारः । 'विना सम्बन्धि यत्किञ्चिद्यत्रान्यत्र भवेत् । रम्यताऽरम्यता वा स्यात् सा विनोक्तिरनुस्मृते'ति लक्षणात् । तस्याश्च मिवेत्युपमया संसृष्टिः ॥ ४५ ॥

(उत्कण्ठावर्धनार्थं राजहंस पुनः कहता है कि—हे राजन् !) उस (दमयन्ती विना यह तुम्हारा रूप फलहीन वृक्षके पुष्पके समान (या—मुण्डितमस्तक व्यक्तिके पर धारण किये गये पुष्प के समान) व्यर्थ है, बढ़ी हुई सम्पत्तिवाली यह पृथ्वी (तु राज्य) भी व्यर्थ है और जिसमें कोयल कूकती है ऐसा अपना (आपका) उद्या क्या है ? अर्थात् कुछ नहीं—सर्वथा निःसार है ॥ ४५ ॥

अनयाऽमरकाम्यमानया सह योगः सुलभस्तु न त्वया ।
घनसंवृतयाऽम्बुदागमे कुमुदेनेव निशाकरत्विषा ॥ ४६ ॥

अत्रान्यापेक्षां दर्शयितुं तस्या दौर्लभ्यमाह—अनयेति । अमरैरिन्द्रादिभिः काम्यनयाऽभिलष्यमाणया दमयन्त्या सह योगः अम्बुदागमे घनसंवृतया मेघावृतया शाकरत्विषा सह योगः कुमुदेनेव त्वया न सुलभो दुर्लभ इत्यर्थः । अत्र तत्संयोगर्लभ्यस्य अमरकामनापदार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गभेदः, तत्सापेक्षा चेयमुपमेति रः ॥ ४६ ॥

वर्षाकालमें बादलसे अच्छी तरह आच्छादित हुई चन्द्रकान्तिके साथ कुमुदके समान ताओंसे भी अभिलषित होती हुई इस दमयन्तीके साथ आपका सम्बन्ध होना सरल हीं है। [यहांपर हंसने—वायु आदिके द्वारा बादलके हट जानेपर जिस प्रकार चन्द्रन्तिके साथ कुमुदका सम्बन्ध अवश्य हो जाता है, उसी प्रकार मेरे उपाय करनेसे यन्तीके साथ आपका सम्बन्ध अवश्यमेव हो जायगा—ऐसा संकेत किया है तथा देवभी अभिलषित होना कहकर दमयन्तीका देवाङ्गनाओंसे भी अधिक सुन्दर होनेका तथा विष्य (स्वयंवरमें होनेवाले देवोंके आगमन आदि) का भी संकेत किया है] ॥४६॥

तदहं विदधे तथा तथा दमयन्त्याः सविधे तव स्तवम् ।
हृदये निहितस्तया भवानपि नेन्द्रेण यथाऽपनीयते ॥ ४७ ॥

अत्र का गतिरित्याह—तदिति । तत्तस्मात्कार्यस्य सप्रतिबन्धत्वादहं दमयन्त्याः विधे समीपे तथा तथा तव स्तवं स्तोत्रं विदधे विधास्य इत्यर्थः, सामीप्ये वर्त्तमाने शयः । यथा तया हृदये विहितो भवानिन्द्रेणापि नापनीयते नेतुमशक्य इत्यर्थः । थेन्द्रादिप्रलोभिताऽपि त्वय्येव गाढानुरागा स्यात्तथा करिष्यामीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

(अपने वचनका उपसंहार करता हुआ हंस उक्त विषयको ही स्पष्ट करता है—) कारण मैं दमयन्तीके समीप आपकी वैसी वैसी प्रशंसा करूँगा, जिससे हृदयमें पित आपको इन्द्र भी पृथक् नहीं कर सकता है (तो किसी मनुष्य के विषयमें कहना है ?) ॥ ४७ ॥

तव सम्मतिमत्र केवलामधिगन्तुं धिगिदं निवेदितम् ।
ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् ॥ ४८ ॥

तर्हि तथैव क्रियतां किं निवेदनेनेत्यत आह—तवेति । अत्रास्मिन् कार्ये केवलाकान्तव सम्मतिमङ्गीकारमधिगन्तुमिदं निवेदितं निवेदनं धिक् । तथा हि—साधवो जोपयोगितां स्वोपकारित्वं फलेन कार्येण ब्रुवते बोधयन्ति, किन्तु कण्ठेन वाग्वृत्त्या ब्रुवते । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४८ ॥

केवल आपकी सम्मति पानेके लिए ही इस निवेदनको धिक्कार है, क्योंकि सज्जन लोग पने उपयोगको स्वयं कण्ठसे नहीं कहते हैं, किन्तु फल (कार्यकी सिद्धि) से ही कहते हैं ॥

तदिदं विशदं वचोऽमृतं परिपीयाभ्युदितं द्विजाधिपात् ।
अतितृप्ततया विनिर्ममे स तदुद्गारमिव स्मितं सितम् ॥ ४

तदिति । स नलो द्विजाधिपात् हंसाच्चन्द्राच्चाभ्युदितमाविर्भूतं विशदं दातञ्च तत् पूर्वोक्तमिदमनुभूयमानं वच एवामृतमिति रूपकं तत्परिपीय अतितृप्ततया अतिसौहित्येन तस्य वचोऽमृतस्य उद्गारमिव सितं स्मितं निर्मितवान् माङः कर्त्तरि लिट् । अतितृप्तस्य किञ्चिन्निःसार उद्गारः । सितत्व स्मितस्य वागमृतोद्गारोत्प्रेक्षा ॥ ४९ ॥

पक्षिराज (हंस, पक्षा०—चन्द्रमा) से निकले हुए उस स्वच्छ वचनामृतक प्रकारसे पान कर अर्थात् सुनकर उस नलने अत्यधिक तृप्त होनेसे उस (श्वेत वच डकारके समान श्वेत स्मित किया । [जिस प्रकार कोई व्यक्ति अधिक लो वस्तुको अधिक पीकर उसके समान ही डकारता है, उसी प्रकार नलने हंस वचनामृतको अधिक पीकर डकाररूप स्वच्छ स्मित किया । सज्जनोंको स्मितपूर्व करनेका नियम होनेसे, या दमयन्ती लाभरूप अनुकूल वचन सुननेसे नलने दिया] ॥ ४९ ॥

परिमृज्य भुजाग्रजन्मना पतगङ्कोकनदेन नैषधः ।
मृदु तस्य मुदेऽगिरद् गिरः प्रियवादामृतकूपकण्ठजाः ॥ ५० ॥

परिमृज्येति । निषधानां राजा नैषधः नलः 'जनपदशब्दात् क्षत्रि भुजाग्रजन्मना कोकनदेन पाणिशोणपङ्कजेनेत्यर्थः । पतगं हंसं परिमृज्य तस्य तथा मुदे हर्षाय प्रियवादानामेवामृतानां कूपः निधिः कण्ठो वागिन्द्रियं त गिरः मृदु यथा तथा अगिरत् प्रियवाक्यामृतैरसिञ्चदित्यर्थः । अत्र भुजाग्र कोकनदेनेति विषयस्य पाणेर्निगरणेन विषयिणः कोकनदस्यैवोपनिबन्धनात् शयोक्तिः, 'विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते । यत्र सातिशयोक्तिः स प्रौढोक्तिसम्मता ॥' इति लक्षणात् । सा च पाणिकोकनदयोरभेदोक्तिः अ तस्याः प्रियवादामृतकूपकण्ठेति रूपकसंसृष्टिः ॥ ५० ॥

निषध नरेश नलने भुजाके अग्रभागमें उत्पन्न रक्तकमल अर्थात् रक्तकमल-तु हथीसे पक्षी (हंस) को सहला कर (प्रेमपूर्वक उसके शरीर पर धीरे-धीरे कर) उसके हर्षके लिए प्रिय भाषणरूप अमृतके कूपरूपी कण्ठसे उत्पन्न मृदु वचन

न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचो वर्त्मनि ते सुशीलता ।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रिकसारमुद्रणा ॥ ५१ ॥

न तुलेति । हे हंस ! तव आकृतिः आकारः तुलाविषये सादृश्यभूमौ न असदृशीत्यर्थः । ते तव सुशीलता सौशील्यं वचोवर्त्मनि न वर्त्तते वक्तुमशक्ये अत एवाकृतौ गुणाः 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा' इति सामुद्रिकाणां या सारमुद्रणा

तिपादनं सा त्वमेवोदाहरणं यस्याः सा तथोक्ता आकृतिसौशील्ययोः त्वय्येव सामानाधिकरण्यदर्शनादित्यर्थः। अत एवोत्तरवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः, 'हेतोर्वाक्यार्थहेतुत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतमि'ति लक्षणात् ॥ ५१ ॥

तुम्हारे (सुवर्णमय) आकारकी समता किसीके साथ नहीं की जा सकती तथा तुम्हारी सुशीलताका वर्णन नहीं किया जा सकता, 'आकृतिमें गुण रहते हैं' ऐसे सामुद्रिक शास्त्रके सारभूत नियमके तुम्हीं उदाहरण हो [अर्थात्—तुम्हें देखकर ही सामुद्रिक शास्त्रने 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' ऐसा नियम किया है। तुम्हारा जैसा सुन्दररूप, वैसा ही सुन्दर स्वभाव भी है] ॥ ५१ ॥

न सुवर्णमयी तनुः परं ननु किं वागपि तावकी तथा।
न परं पथि पक्षपातिताऽनवलम्बे किमु मादृशेऽपि सा ॥ ५२ ॥

न सुवर्णेति। ननु हे हंस! तवेयं तावकी 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् चे'ति चकारादण् प्रत्यये ङीप् 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः। तनुः परं मूर्तिरेव सुवर्णमयी हिरण्मयी न किन्तु वागपि तथा सुवर्णमयी शोभनाक्षरमयीत्यर्थः। अनवलम्बे निरवलम्बे पथि परमाकाश एव पक्षपातिता पक्षपातित्वं किमु किं वेत्यर्थः। निपातानामनेकार्थत्वात्। अनवलम्बे निराधारे मादृशेऽपि सा पक्षपातिता स्नेह- त्तेत्यर्थः। अत्र तनुवाचोः प्रकृताप्रकृतयोः सुवर्णमयीति शब्दश्लेषः एवं पथि मादृशेऽपि पक्षपातितेति सजातीयसंसृष्टिः, तया चोपमा व्यज्यते ॥ ५२ ॥

केवल तुम्हारा शरीर ही सुवर्णमय (सोनेका वना हुआ) नहीं है, किन्तु वचन भी सुवर्णमय (सुन्दर अक्षरोंसे वना हुआ) है तथा तुम केवल अवलम्बन-रहित मार्ग (आकाश) में ही पक्षपाती (उड़ते समय पङ्खोंको गिरानेवाले) नहीं हो, किन्तु निरवलम्ब मुझमें भी पक्षपाती (पक्षपात-तरफदारी करनेवाले) हो ॥ ५२ ॥

भृशतापभृता मया भवान्मरुदासादि तुषारसारवान्।
धनिनामितरः सतां पुनर्गुणवत्सन्निधिरेव सन्निधिः ॥ ५३ ॥

भृशेति। भृशतापभृता अतिसन्तापभाजा मया भवांस्तुषारैः शीकरैः सारवानुत्कृष्टो मरुत् मारुतः सन् आसादि सन्तापहरत्वादिति भावः। तथा हि-धनिनां धनिकानां कुबेरादीनामितरः पद्मशङ्खादिः संश्चासौ निधिश्चेति सन्निधिः, सतां विदुषां पुनः गुणवतां सन्निधिः सान्निध्यमेव सन्निधिः महानिधिः। सन्तापहारित्वात् त्वमेव शिशिरमारुतः, अन्यस्तु दहन एवेति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः, लक्षणं तूक्तम् ॥ ५३ ॥

(दमयन्ती-विरहमें) अत्यन्त ताप (कामज्वर) से युक्त मैंने हिम (वर्फ) के सारभागयुक्त वायुरूप तुमको पा लिया है, क्योंकि धनियोंका दूसरा ही (रुपया-पैसा आदि द्रव्यरूप) श्रेष्ठ धन है, किन्तु सज्जनोंका तो गुणवानोंका संसर्ग ही श्रेष्ठ धन है। [द्रव्यादिको पानेसे धनियोंके समान गुणवानोंके संसर्गको पानेसे सज्जनोंको हर्ष होता है] ॥ ५३ ॥

शतशः श्रुतिमागतैव सा त्रिजगन्मोहमहौषधिर्मम ।
अधुना तव शंसितेन तु स्वदृशैवाधिगतामवैमि ताम् ॥ ५४ ॥

शतश इति । त्रिजगतः त्रैलोक्यस्य मोहे सम्मोहने महौषधिः महौष रूपकम् । सा दमयन्ती शतशो मम श्रुतिं श्रोत्रमागतैव अधुना तव शंसिते नेन तु स्वदृशा मम दृष्ट्यैवाधिगतां दृष्टामवैमि साक्षाद् दृष्टां मन्ये । आसो ण्यादिति भावः ॥ ५४ ॥

तीनों लोकोंको मोहित करनेके लिए महौषधिरूपिणी उस (दमयन्ती) सैकड़ों वार सुना है, तथा तुम्हारे इस कथन (२।१७-३९) से तो उस (दमय अपने नेत्रोंसे ही देखता हुआ समझ रहा हूं ॥ ५४ ॥

अखिलं विदुषामनाविलं सुहृदा च स्वहृदा च पश्यताम् ।
सविधेऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रमक्षिणी ॥ ५५ ॥

अथ स्वदृष्टेरप्याप्तदृष्टिरेव गरीयसीत्याह—अखिलमिति । सुहृदा आ स्वहृदा स्वान्तःकरणेन च सुहृद् ग्रहणं तद्वत्सुहृदः श्रद्धेयत्वज्ञापनार्थमखिलं थंमनाविलमसन्दिग्धम् अविपर्यस्तं यथा तथा पश्यतामवधारयतां विदुषां कि सविधे पुरोऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी असूक्ष्मार्थदर्शिनी, 'सुप्सुपे'ति समासः । वदनालङ्कृतिमात्रं न तु दूरसूक्ष्मार्थदर्शनोपयोगिनीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

मित्रके द्वारा तथा अपने हृदयसे सब वस्तु-समूहको प्रत्यक्ष देखते हुए (अतिशय) निकटस्थ (कज्जलादि पदार्थ) को भी नहीं देखनेवाले नेत्रद्वय केवल अलङ्कारमात्र है (अथवा—·········नेत्रद्वय अलङ्कारमात्र नहीं है ? अर्थात् मात्र ही है)। [जो नेत्र अपने अतिशय निकटस्थ कज्जल आदि पदार्थोंको देखते, वे नेत्र दूरस्थ पदार्थको कैसे देख सकते हैं ?, अत एव आगम तथा स्वयं या मित्रके द्वारा देखी गयी वस्तुको ही वास्तविक देखी गयी मानना. ठीक प्रकार तुमने दमयन्तीको देख लिया (२।४०) तो मैं भी मानो उसे देखी गयी ही मान

अमितं मधु तत्कथा मम श्रवणप्राघुणकीकृता जनैः ।
मदनानलबोधनेऽभवत् खग धाय्या धिगधैर्यधारिणः ॥ ५६ ॥

अमितमिति । हे खग ! जनैः विदर्भागतजनैः मम श्रवणप्राघुणकीकृता थीकृता तद्विषयीकृतेत्यर्थः । 'आवेशिकः प्राघुणक आगन्तुरतिथिस्तथे'ति ह अमितमपरिमितं मधु क्षौद्रं तद्वदतिमधुरेत्यर्थः । तत्कथा तद्गुणवर्णना अधै णोऽत्यन्ताधीरस्य मम मदनानलबोधने मदनाग्निप्रज्वलने धाय्या सामिधेनी 'ऋक् सामिधेनी धाय्या च या स्यादग्निसमिन्धने' । इत्यमरः । 'पाय्यसान्नाय्य दिना निपातः । धिक् वाक्यार्थो निन्द्यः । अत्र तत्कथायाः धाय्यात्मना प्र नाग्नीन्धनोपयोगात् परिणामालङ्कारः, 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे प इत्यलङ्कारसर्वस्वकारः ॥ ५६ ॥

हे पक्षी (हंस) ! लोगोंसे श्रवणातिथि की (सुनी) गयी अनुपम (या—अपरिमित नुरूप (या—मधुतुल्य) उसकी कथा मेरी कामाग्निको बढ़ानेमें 'धाय्या' ऋक् (अग्नि- के अग्निको प्रज्वलित करनेवाला ऋग्वेदका मन्त्र-विशेष) होती है, इस कारण हीन (या—धैर्ययुक्त) मुझको धिक्कार है ॥ ५६ ॥

विषमो मलयाहिमण्डलीविषफूत्कारमयो मयोहितः ।
बत कालकलत्रदिग्भवः पवनस्तद्विरहानलैधसा ॥ ५७ ॥

विषम इति । विषमः प्रतिकूलः कालकलत्रदिग्भवः यमदिग्भवः प्राणहर इति वः, पवनो दक्षिणमारुतः तद्विरहानलैधसा दमयन्तीविरहाग्निसमिधा तद्दाह्येने- र्थः । मया मलये मलयाचले या अहिमण्डली सर्पसङ्घः तस्याः विषफूत्कारमयः हितस्तद्रूप इति तर्कित इत्यर्थः । लोके च 'अग्निरेधांसि फूत्कारवातैर्ध्मायत' इति वः । बतेति खेदे । विरहानलैधसेतिरूपकोत्थापितेयं दक्षिणपवनस्य मलयाहि- डलीफूत्कारत्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ५७ ॥

हे हंस ! उस (दमयन्ती) की विरहाग्निका इन्धनरूप मैं यमराजकी स्त्रीभूता दिशा र्थात् दक्षिण दिशाकी वायुको मलयपर्वतके सर्प-समूहके विषमिश्रित फुफकारसे पूर्ण न एव) भयङ्कर (या—विषतुल्य) समझा । [जिस प्रकार मुँहके फूत्कारसे सन्धुक्षित ढ़ी हुई) अग्नि धधककर इन्धनको जलाती है, उसी प्रकार दमयन्तीके विरहसे उत्पन्न माग्नि मलयवासी सर्प-समूहके विषैले फूत्कारसे सन्धुक्षित होनेसे विषतुल्य होकर धनरूप मुझे जला रही है ' काल (यमराज) की स्त्रीभूता दिशाके वायुको सर्प-समूहके षैले फूत्कारसे मिश्रित होनेसे विषतुल्य होना उचित ही है । दमयन्तीकी विरहाग्निसे ड़ित मैं दक्षिण वायुके बहने पर अत्यन्त सन्तापका अनुभव करता हूं] ॥ ५७ ॥

प्रतिमासमसौ निशाकरः खग ! सङ्गच्छति यद्दिनाधिपम् ।
किमु तीव्रतरैस्ततः करैर्मम दाहाय स धैर्यतस्करैः ? ॥ ५८ ॥

प्रतिमासमिति । असौ निशाकरो मासि मासि प्रतिमासम्प्रतिदर्शमित्यर्थः । प्सायामव्ययीभावः । दिनाधिपं सूर्यं सङ्गच्छति प्राप्नोतीति यत्ततः प्राप्तेः स शाकरः तीव्रतरैरत एव धैर्यतस्करैर्मम धैर्यहारिभिः करैः सौरैः तत आनीतैः मम हाय सङ्गच्छतीत्यनुषङ्गः, किमुशब्द उत्प्रेक्षायाम् । अत्र सङ्गमनस्य दाहार्थत्वोत्प्रे- णात् फलोत्प्रेक्षा ॥ ५८ ॥

हे हंस ! वह प्रसिद्धतम चन्द्रमा जो प्रतिमास (अमावस्याको) सूर्यके साथ सङ्गत ता है, उससे अत्यन्त तीक्ष्ण एवं धैर्यनाशक किरणोंसे मुझे जलानेके लिये समर्थ होता क्या ? [लोकमें स्वयं किसीका अपकार करनेमें असमर्थ व्यक्ति दूसरे प्रबल व्यक्तिकी ायता लेकर अपकार करनेमें जिस प्रकार समर्थ होता है, उसी प्रकार स्वयं शीतल ति होनेसे मुझे सन्तप्त करनेमें असमर्थ चन्द्रमा प्रत्येक मासकी अमावस्या तिथिकी सूर्यसे

सङ्गत होनेसे तीक्ष्ण किरणोंवाला होकर मुझ विरहीको सन्तप्त करता है, ऐ
होता] है ॥ ५८ ॥

कुसुमानि यदि स्मरेषवो न तु वज्रं विषवल्लिजानि तत् ।
हृदयं यदमूमुहन्नमूर्मम यच्चातितमामतीतपन् ॥ ५९ ॥

कुसुमानीति । स्मरेषवः कुसुमान्येव यदि न तु वज्रमशनिः सद्योमरणाभा
भावः । तत्तथा अस्तु किन्तु विषवल्लिजानि विषलतोत्पन्नानि । यद्यस्मादमूः
'पत्री रोप इषुर्द्वयोरि'ति स्त्रीलिङ्गता, मम हृदयममूमुहन् अमूर्च्छयन् मुह्यते
यद्यस्माद‌तितमामतिमात्रमव्ययादाम्प्रत्ययः । अतीतपन् तापयन्तिस्म, तपते
मोहतापलक्षणविषमकार्यदर्शनाद्विषवल्लिजत्वोत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

यदि काम-बाण पुष्प हैं, वज्र नहीं है तो वे विषलतासे उत्पन्न (पुष्प) हैं, (अ
कामवाण वज्र ही हैं, पुष्प नहीं है,—यदि यह कथन लोकप्रसिद्धिसे विरुद्ध है तो
लतासे उत्पन्न पुष्प हैं) क्योंकि इन कामवाणोंने मेरे हृदयको मोहित कर
अत्यन्त सन्तप्त कर दिया । (अत एव कामबाण यदि वज्र नहीं पुष्प ही हैं तो
से उत्पन्न पुष्प हैं, अन्यथा उनमें मोहकत्व एवं सन्तापकत्व होना सम्भव नहीं है)

तदिहानवधौ निमज्जतो मम कन्दर्पशराधिनीरधौ ।
भव पोत इवावलम्बनं विधिनाऽकस्मिकसृष्टसन्निधिः ॥६०

तदिति । तत्तस्मादिहास्मिन्ननवधौ अपारे कन्दर्पशरैर्य आधिर्मनोव्यथा
धिर्मानसी व्यथे'त्यमरः । तस्मिन्नेव नीरधौ समुद्रे निमज्जतो अन्तर्गत
विधिना दैवेनाकस्मादकाण्डे भवमाकस्मिकमध्यात्मादित्वात् ठक्, 'अव्ययानां
टिलोपः' तद्यथा तथा सृष्टसन्निधिः सन्निधानं भाग्यादागत इत्यर्थः । त्वं पोतं
पात्रमिव 'यानपात्रस्तु पोत' इत्यमरः । अवलम्बनं भव ॥ ६० ॥

इस कारण (हे हंस !) कामवाणजन्य पीडारूपी अथाह समुद्रमें डूबते हुए मैं
अकस्मात् देखे गये सामीप्यवाला (भाग्यवश सहसा समीपमें प्राप्त तुम) जहाज
अवलम्बन होवो । [अथाह समुद्रमें डूबते हुए व्यक्तिके लिए भाग्यवश देखा गया
जिस प्रकार अवलम्बन होकर डूबनेसे उसकी रक्षा करता है, उसी प्रकार अना
पीडामें डूबते हुए मेरे लिए भाग्यवश अकस्मात् समीपमें आये हुए तुम मेरा
होवो अर्थात् दमयन्तीके साथ सङ्गम कराकर काम-पीडासे मेरी रक्षा करो] ॥ ६

अथवा भवतः प्रवर्त्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टि नः ? ।
स्वत एव सतां परार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता ॥ ६

अथवेति । अथवा इयं नोऽस्माकं सम्बन्धिनी 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति
कर्त्तरि कृद्योगे षष्ठीनिषेधेऽपि शेषषष्ठीपर्यवसानात् कर्त्रर्थलाभः । भवतः 'उ
कर्मणी'ति षष्ठी, प्रवर्त्तना प्रेरणा 'ण्यासश्रन्थो युच्', कथं पिष्टं न पिनष्टि

त्तिविषयत्वात् पिष्टपेषणकल्पेत्यर्थः। हि यस्माद् ग्रहणानां ज्ञानानां यथार्थता थार्थ्यं यथा प्रामाण्यमिव स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिव 'गृह्यतां जाता पा स्वत एव ज्ञानमि'ति मीमांसकाः। सतां परार्थता परार्थप्रवृत्तिः स्वत एव तु परतः। उपमासंसृष्टोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६१ ॥

अथवा—आपको प्रवृत्त करनेका मेरा यह कार्य पिष्ट-पेषण नहीं होता है क्या ? र्थात् स्वतः इस कर्मके लिए उद्यत आपको लगाना मेरा पिष्ट-पेषण मात्र है। क्योंकि नके प्रमाणके समान सज्जन स्वयमेव (विना किसीकी प्रेरणा किये ही) परोपकारी े हैं। [अथवा ग्रहण (अर्थग्राहक शब्द) की अनुगतार्थताके समान सज्जनोंकी परोपकारिता स्वयमेव होती है, अर्थात् जिस प्रकार 'वृक्ष' आदि शब्दके उच्चारण करने मात्रसे के अर्थभूत मूल-शाखा-पत्रादिका प्रत्यक्ष स्फुरण हो जाता है, उसी प्रकार विना किसी प्रेरणाके ही सज्जन परोपकारी होते हैं] ॥ ६१ ॥

तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः ।
अपि साधय साधयेप्सितं स्मरणीया समये वयं वयः । ॥ ६२ ॥ विप्सा

तवेति । हे वयः ! तव वर्त्मनि शिवं मङ्गलं वर्त्ततां, त्वरितं क्षिप्रमेव पुनः समा- मोऽस्तु, अपि साधय गच्छ, ईप्सितमिष्टं साधय सम्पादय समये कार्यकाले वयं रणीयाः । अनन्यगामि कार्यं कुर्या इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

तुम्हारे मार्गमें कल्याण हो, फिर (तुम्हारे साथ मेरा) समागम हो, हे हंस ! ीष्टको साधो-साधो अर्थात् शीघ्र पूरा करो और समयपर (दमयन्तीके साथ एकान्तमें) में स्मरण करना ॥ ६२ ॥

इति तं स विसृज्य धैर्य्यवान्नृपतिः सूनृतवाग्बृहस्पतिः ।
अविशद्वनवेश्म विस्मितः श्रुतिलग्नैः कलहंसशंसितैः ॥ ६३ ॥

इतीति । धैर्यदानुपायलाभात् सधैर्यः सूनृतवाक् सत्यप्रियवादेषु बृहस्पतिः तथा गल्भ इत्यर्थः । 'सूनृतं च प्रिये सत्यमि'त्यमरः । स नृपतिरितीत्थं हंसं विसृज्य श्रुति- ग्नैः श्रोत्रप्रविष्टैः कलहंसस्य शंसितैर्विस्मितः सन् वनवेश्म भोगगृहमविशत् ॥६३॥

सत्य एवं प्रिय बोलनेमें बृहस्पतिरूप तथा (हंसके लौटनेतक) धैर्यधारण करनेवाले राजा नल इस प्रकार (२।६२) उस (हंस) को भेजकर हंसके मधुर भाषणोंके स्मरणसे श्चर्यित होते हुए उद्यानगृहमें प्रवेश किये ॥ ६३ ॥

अथ भीमसुतावलोकनैः सफलं कर्त्तुमहस्तदेव सः ।
क्षितिमण्डलमण्डनायितं नगरं कुण्डिनमण्डजो ययौ ॥ ६४ ॥

अथेति । अथ सोऽण्डजो हंसः तदहरेव भीमसुतायाः भैम्या अवलोकनैः सफलं र्तुं तस्मिन्नेव दिने तां द्रष्टुमित्यर्थः । क्षितिमण्डलस्य मण्डनायितमलङ्कारभूतं ण्डिनं कुण्डिनाख्यनगरं ययौ ॥ ६४ ॥

इसके बाद दमयन्तीके दर्शनोंसे उसी दिनको सफल करनेके लिए वह पक्षी हंस) भूमण्डलके भूषणतुल्य कुण्डिन नगर 'कुण्डिनपुरी' को गया ॥ ६४ ॥

प्रथमं पथि लोचनातिथिं पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनम् ।
कलसं जलसंभृतः पुरः कलहंसः कलयाम्बभूव सः ॥ ६५ ॥

अथ श्लोकत्रयेण शुभनिमित्तान्याह–प्रथममित्यादिना । स कलहंसः प्रथममादौ पथि मार्गे लोचनातिथिं दृष्टिप्रियं पथिकानां प्रस्थातॄणां प्रार्थितार्थस्य सिद्धिशंसिनं सिद्धिसूचकं जलसम्भृतं जलपूर्णं कलसं पूर्णकुम्भं पुरोऽग्रे कलयांबभूव ददर्श ॥ ६५ ॥

अब हंसकी यात्रामें होनेवाले शुभ शकुनोंको तीन श्लोकों (२।६५-६७) करते हैं—) उस राजहंसने पहले पथिकसे अभिलषित सिद्धिको सूचित करनेवाले कलसको देखा ॥ ६५ ॥

अवलम्ब्य दिदृक्षयाऽम्बरे क्षणमाश्चर्यरसालसं गतम् ।
स विलासवनेऽवनीभृतः फलमैक्षिष्ट रसालसंगतम् ॥ ६६ ॥

अवलम्ब्येति । स हंसो दिदृक्षया स्वगन्तव्यमार्गालोकनेच्छया अम्बरे क्षणमाश्चर्यरसेन तद्वस्तु दर्शननिमित्तेन अद्भुतरसेन अलसं मन्दं गतं गतिमवलम्ब्य अवनीभुजो नलस्य विलासवने विहारवने रसालेन चूतवृक्षेण सङ्गतं सम्बद्धम्, 'आम्रश्चूतो रसालोऽसा'वित्यमरः, फलमैक्षिष्ट दृष्टवान् ॥ ६६ ॥

उस (राजहंस) ने थोड़े समयतक मार्गको देखनेकी इच्छासे आकाशमें (देखनेसे उत्पन्न) आश्चर्यसे मन्दगमन का अवलम्बनकर राजा (नल) के क्रीडावनमें आमके पेड़में लगे हुए फलको देखा । [मार्ग देखनेकेलिए जब हंसने ऊपर रमणीय क्रीडावनके देखनेसे अपनी चाल (गति) को मन्दकर आमके पेड़में देखा] ॥ ६६ ॥

नभसः कलभैरुपासितं जलदैर्भूरितरक्षुपन्नगम् ।
स ददर्श पतङ्गपुङ्गवो विटपच्छन्नतरक्षुपन्नगम् ॥ ६७ ॥

नभस इति । पुमान् गौः वृषभः विशेषणसमासः, 'गोरतद्धितलुगि'ति समासान्तष्टच्, स इव पतङ्गपुङ्गवः पक्षिश्रेष्ठः उपमितसमासः, नभसः कलभैः खेचरकलभरूपैरित्यर्थः । जलदैरुपासितं व्याप्तं भूरयः बहवस्तरक्षवो मृगादनाः पन्नगाः विटपैः शाखाविस्तारेण, 'विस्तारो विटपोऽस्त्रियामि'त्यमरः । छन्नतराः अतिच्छादिताः क्षुपा ह्रस्वशाखाः, 'ह्रस्वशाखाशिफः क्षुप' इत्यमरः । नगं पर्वतं ददर्श कुम्भादिदर्शनं पान्थक्षेमकरमि'ति निमित्तज्ञाः ॥ ६७ ॥

पक्षिराज उस (राजहंस) ने आकाशके करिशावक (हाथीके बच्चे) रूप मेघोंसे बहुत-से झाड़ियों वाले तथा शाखाओंसे छिपे (ढके) हुए तेंदुओं तथा सर्पोंको

पर्वतको देखा। [करिशावकोंको शुभसूचक होनेसे मेघरूप करि-शावकोंका दर्शन ा तथा तेंदुए (चीते) एवं सर्पोंका देखना यात्रामें अशुभसूचक होनेसे उनको शाखा-से ढके रहनेका वर्णन किया गया है] ॥ ६७ ॥

स ययौ धुतपक्षतिः क्षणं क्षणमूर्ध्वायनदुर्विभावनः ।
विततीकृतनिश्चलच्छदः क्षणमालोककदत्तकौतुकः ॥ ६८ ॥

स इति । स हंसः क्षणं धुतपक्षतिः कम्पितपक्षमूलः क्षणम् ऊर्ध्वायनेन ऊर्ध्वं-नेन दुर्विभावनो दुष्करावधारणो दुर्लक्ष इत्यर्थः। विततीकृतौ विस्तारीकृतौ श्चलौ छदौ पक्षौ यस्य सः, तथा क्षणमालोककानां द्रष्टॄणां दत्तकौतुकः सन् ययौ। भावोक्तिः ॥ ६८ ॥

(अब पांच श्लोकों (२।६८-७२) से राजहंसके शीघ्रगमनका वर्णन करते हैं—)

मात्र पङ्खोंको कम्पित किया हुआ, क्षणमात्र ऊर्ध्वगमन करनेसे दुर्लक्ष्य (कठिनाईसे ष्टिगोचर) होता हुआ, क्षणमात्र पङ्खोंको फैलानेसे निश्चल (स्थिर) किया हुआ और मात्र देखनेवालोंको कुतूहलयुक्त किया हुआ वह (राजहंस) चला ॥ ६८ ॥

तनुदीधितिधारया रयाद्गतया लोकविलोकनामसौ ।
छदहेम कषन्निवालसत् कषपाषाणनिभे नभस्तले ॥ ६९ ॥

तन्विति। असौ हंसो रयाद्धेतोः उत्पन्नयेति शेषः। लोकस्य आलोकिजनस्य ीक्षकजनस्य च विलोकनां दर्शनं गतया कौतुकाद्वर्णपरीक्षां च विलोक्यमानये-र्थः। तनोः शरीरस्य तन्वा सूक्ष्मया च दीधितिधारया रश्मिरेखया निमित्तेन षपाषाणनिभे निकषोपलसन्निभे नभस्तले छदहेम निजपक्षसुवर्णं कषन् घर्षन्निवाल-त् अशोभतेत्युत्प्रेक्षा ॥ ६९ ॥

लोगोंको दिखलायी पड़नेवाली वेगसे शरीर-कान्तिकी रेखासे (या—पतली कान्ति-ासे) कसौटीके पत्थरके समान आकाशमें पङ्खके सुवर्णको कसता हुआ (खरा, या टा सुवर्ण है, यह जाननेके लिए आकाशरूप कसौटीके पत्थर पर सुवर्णमय अपने पङ्खों रगड़ता हुआ) सा शोभमान हुआ ॥ ६९ ॥

विनमद्भिरधःस्थितैः खगैर्झटिति श्येननिपातशङ्किभिः ।
स निरैक्षि दृशैकयोपरि स्यदसांकारिपतत्रिपद्धतिः ॥ ७० ॥

विनमद्भिरिति। स्यदेन वेगेन सांकारिणी सामिति शब्दं कुर्वाणा पतत्रिपद्धतिः क्षसरणिर्यस्य स हंसः श्येननिपातं शङ्कत इति तच्छङ्किभिः अतएव विनमद्भि-लीयमानैरधःस्थितैः खगैः झटिति द्राक् एकया दृशा उपरि निरैक्षि निरीक्षितः। र्मणि लुङ्। स्वभावोक्तिः ॥ ७० ॥

अतिशय वेगके कारण झङ्कारयुक्त पङ्खोंवाले उस (राजहंस) को 'बाज' नामक पक्षीके पटनेकी आशङ्का करनेवाले (अत एव) नीचे झुकते हुए (उस हंसकी अपेक्षा) नीचे

उड़नेवाले पक्षियोंने एक दृष्टिसे देखा । [जब वह राजहंस वेगसे बहुत ऊंचा उड़ तब उसके नीचे उड़ने वाले पक्षी राजहंसके पङ्खोंकी झनकारसे उसे अपने ऊपर वाला 'बाज' समझकर झट और नीचे हो गये तथा भयसे उस हंसको एक दृ भयार्तका अपने आक्रान्ताको एक दृष्टिसे देखनेका स्वभाव होता है] ॥ ७० ॥

ददृशे न जनेन यन्नसौ भुवि तच्छायमवेक्ष्य तत्क्षणात् ।
दिवि दिक्षु वितीर्णचक्षुषां पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः ॥ ७१ ॥

ददृश इति । यन् गच्छन्, इणो लटः शत्रादेशः, असौ हंसः भुवि तच्छा हंसस्य च्छायां 'विभाषासेने'त्यादिना नपुंसकत्वम् । अवेक्ष्य तत् क्षणात् प्रथमं पश्चात् दिक्षु च वितीर्णचक्षुषा दत्तदृष्टिना जनेन पृथुवेगेन द्रुतं शीघ्रं मुक्तदृक्प न ददृशे न दृष्टः । क्षणमात्रेण दृष्टिपथमतिक्रान्त इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

पृथ्वीपर उस राजहंसकी परछाईंको देखकर तत्काल आकाशमें सब ओर दे लोगोंने, तीव्र वेगसे शीघ्र ही दृष्टिसे अतिक्रान्त (ओझल) हुए उस राजहंस देखा । [नीचे छाया देखनेके उपरान्त ही ऊपर देखनेपर भी उस हंसके नहीं दि पड़नेसे नल-कार्य-सिद्ध्यर्थ शीघ्र कुण्डिनपुरीमें पहुंचनेके लिए उसकी गतिका होना सूचित होता है] ॥ ७१ ॥

न वनं पथि शिश्रियेऽमुना क्वचिदप्युच्चतरद्रुचारुतम् ।
न सगोत्रजमन्ववादि वा गतिवेगप्रसरद्रुचा रुतम् ॥ ७२ ॥

नेति । गतिवेगेन प्रसरद्रुचा प्रसर्पत्तेजसा अमुना हंसेन क्वचिदपि उच्चतै रत्युन्नतानां द्रूणां द्रुमाणां चारुता रम्यता यस्मिंस्तत् वनं न शिश्रिये । सगोत्र जन्यं रुतं कूजितं वा नान्ववादि नानूदितम् । मध्यमार्गे अध्वश्रमापनोदं सम्भाषणादिकमपि न कृतमिति सुहृत्कार्यानुसन्धानपरोक्तिः । 'पलाशो द्रुद्रु इत्यमरः ॥ ७२ ॥

वह (राजहंस) मार्गमें कहीं भी अत्यन्त ऊंचे पेड़ोंसे सुन्दर वनमें नहीं ठ गमनके वेगसे बढ़ती हुई शोभावाले पक्षियोंके कूजनेका अनुवाद नहीं किया अर्थ हुए इसे देखकर दूसरे पक्षियोंके बोलने पर भी नहीं बोला । [उडते हुए यह स्वभाव होता है कि मार्गमें सुन्दर ऊँचे पेड़ों वाले सुन्दर वनको पाकर जाते हैं तथा अपने सजातीय पक्षियोंके बोलनेपर उनके उत्तरमें बोलते हैं; किन्तु पुरीको लक्ष्यकर जाते हुए राजहंसने उक्त दोनों कार्य नहीं किये, अत एव कार्य सिद्ध करनेके लिए इसका तीव्र गतिसे उड़ना उचित होता है] ॥ ७२ ॥

अथ भीमभुजेन पालिता नगरी मञ्जुरसौ धराजिता ।
पतगस्य जगाम दृक्पथं हरशैलोपमसौधराजिता ॥ ७३ ॥

अथेति । धराजिता भूमिजयिना 'सत्सूद्विषे'त्यादिना क्विपि तुक्, भीमस

स्य भुजेन पालिता हिमशैलोपमैः सौधैः राजिता मञ्जुर्मनोज्ञा असौ पूर्वोक्ता ी कुण्डिनपुरी पतगस्य हंसस्य दृक्पथं जगाम, स तां ददर्शेत्यर्थः। अत्र यम-यानुप्रासस्य हिमशैलोपमेति, उपमायाश्च संसृष्टिः ॥ ७३ ॥

भू-विजयी भीम (राजा) के बहुतसे सुरक्षित तथा कैलास पर्वतके समान महलोंसे त मनोहर इस (कुण्डिनपुरी) नगरीको पक्षी (राजहंस) ने देखा। कैलास पर्वत ृविजयी तथा शत्रुके लिए भयङ्कर (शिवजी) के बाहुसे पालित है। जो 'धराजिता' सका अधराजिता होनेसे विरोध आता है जिसका परिहार उक्त अर्थसे समझना ये] ॥ ७३ ॥

नगरी वर्णनं

दयितं प्रति यत्र सन्ततं रतिहासा इव रेजिरे भुवः ।
स्फटिकोपलविग्रहा गृहाः शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः ॥ ७४ ॥

तां वर्णयति—दयितमिति । यत्र नगर्यां स्फटिकोपलविग्रहाः स्पटिकमयशरीरा र्थः । अत एव शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः शशाङ्कशकलनिष्कलङ्कानि कुड्यानि न्ते'भित्तंशकलखण्डे वे'त्यमरः, भिदेः क्विप्प्रत्ययः। 'भित्तं शकलमि'त्यादि निपात-'रदाभ्यामि'त्यादिना निष्ठानत्वाभावः । गृहाः दयितं भीमं प्रति सन्ततं भुवः नायिकायाः रतिहासाः केलिहासा इव रेजिरे इत्युत्प्रेक्षा ॥ ७४ ॥

(अब इकतीस श्लोकों (२।७४–१०५) से कुण्डिननगरीका वर्णन करते हैं—) जिस गरी) में स्फटिकमणिके बने हुए तथा चन्द्रमाके टुकड़ेके समान निष्कलङ्क दीवालवाले पति (राजा भीम) के प्रति निरन्तर प्रवृत्त (नायिकारूपिणी) पृथ्वीके रतिकालके के समान शोभते थे ॥ ७४ ॥

नृपनीलमणीगृहत्विषामुपधेर्यत्र भयेन भास्वतः ।
शरणाप्तमुवास वासरेऽप्यसदावृत्त्युदयत्तमं तमः ॥ ७५ ॥

नृपेति । यत्र नगर्यां तमोन्धकारः भास्वतो भास्करात् भयेन नृपस्य ये नील-ीनां गृहाः तेषां त्विषः तासामुपधेश्छलादित्यपह्नवभेदः । 'रत्नं मणिर्द्वयोरि'त्य-: । 'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीष् । शरणाप्तं शरणं गृहं रक्षितारमन्वागतं 'शरणं रक्षित्रोरि'त्यमरः । वासरे दिवसेऽप्यसदावृत्ति अपुनरावृत्ति किञ्चोदयत्तममुद्यत्तमं वास ॥ ७५ ॥

जिस (नगरी) में राजा (भीम) के इन्द्रनीलमणि (नीलम) के बने हुए महलोंके से आवृत्तिहीन उदयको प्राप्त होता हुआ अर्थात् निरन्तर बढ़ता हुआ अन्धकार मानो के भयसे दिनमें भी शरणके लिए निवास करता था ! [अन्यत्र रात्रिमें ही अन्धकार ा है, दिनमें नहीं, किन्तु इस कुण्डिन नगरीमें ऐसा ज्ञात होता है कि राजा भीमके म मणियोंसे बने हुए महलोंकी कान्तिके बहानेसे सूर्यके भयसे शरणके लिए आकर निरन्तर बढ़ता हुआ अन्धकार निवास करता है। लोकमें भी किसीसे डरा हुआ

कोई व्यक्ति स्वरक्षार्थं किसी प्रबल व्यक्तिका आश्रय कर सदैव उन्नति करता हु
करता है] ॥ ७५ ॥

सितदीप्रमणिप्रकल्पिते यदगारे हसदङ्करोदसि ।
निखिलान्निशि पूर्णिमा तिथीनुपतस्थेऽतिथिरेकिका तिथिः

सितेति । सितैः दीप्रैश्च मणिभिः प्रकल्पिते उज्ज्वलस्फटिकनिर्मिते हस
विलसदङ्करोदस्के द्यावापृथिवीव्यापिनीत्यर्थः । यदगारे यस्या नगर्या गृहे
जातावेकवचनं, निशि निखिलान् तिथीनेकिका एकाकिनी एकैवेत्यर्थः । 'ए
निच्चासहाय' इति चकारात् कप्रत्ययः । 'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्ये'तीकारः
तिथी राकातिथिः । 'तदाद्यास्तिथयोरि'त्यमरः । अतिथिः सन् उपतस्थे अ
सङ्गतेत्यर्थः । 'उपाद्देवपूजे'त्यादिना सङ्गतिकरणे आत्मनेपदम् । स्फटिकभव
नित्यकौमुदीयोगात् सर्वा अपि रात्रयो राकारात्रय इवासन्नित्यभेदोक्तेरतिशयो

स्वच्छ तथा चमकतें हुए रत्नोंसे बने हुए तथा (प्रकाशमान होनेसे) हँसते
भागरूप आकाश-पृथ्वीके मध्यभाग वाले जिस (कुण्डिन नगरी) के महलोंमें के
तिथि रात्रिमें सब तिथियोंका अतिथि होकर निवास करती थी । [कुण्डिनपुरी
ऊँचे महल नीचे पृथ्वी तथा ऊपर आकाशको स्पर्श कर रहे थे तथा वे चमकते ह
कमणिके बने हुए थे अत एव मध्यभागमें हँसते हुएके समान ज्ञात होते हुए उन
सर्वदा (रात्रि में भी) प्रकाश रहता था जिसके कारण ऐसा ज्ञान होता था कि
पूर्णिमा तिथि ही सब तिथियोंकी अतिथि होकर निवास करती हो] ॥ ७६ ॥

सुदतीजनमज्जनार्पितैर्घुसृणैर्यत्र कषायिताशया ।
न निशाऽखिलयापि वापिका प्रससाद ग्रहिलेव मानिनी ॥

सुदतीति । यत्र नगर्यां शोभना दन्ता यासां ताः सुदत्यः स्त्रियः, अत्रापि
भावाद्दत्रादेशश्चिन्त्य इति केचित् 'अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्चे'ति चकारा
रित्यन्ये, सुदत्यादयः स्त्रीषु योगरूढाः, 'स्त्रियां संज्ञायामि'ति दत्रादेशा
इत्यपरे, तदेतत्सर्वमभिसन्धायाह वामनः–'सुदत्यादयः प्रतिविधेया' इति ।
जना लोकाः तेषां मज्जनादवगाहनादर्पितैः क्षालितैः घुसृणैः कुङ्कुमैः कषा
सुरभिताभ्यन्तरा भोगचिह्नैः कलुषितहृदया च वाप्येव वापिका दीर्घिका
'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धावि'ति विश्वः । तद्वती दीर्घरोषा पिच्छादित्वादिलच्
मानिनीस्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो 'मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये' इत्युक्तलक्षणो मा
नायिकेव अखिलया निशा निशया सर्वरात्रिप्रसादनेनेत्यर्थः । न प्रससाद प्रस
नाभूत् तादृक् क्षोभादिति भावः ॥ ७७ ॥

जिस (कुण्डिन नगरी) में सुदतियों (सुन्दर दाँतवाली स्त्रियों) के स्नान
कुङ्कुमरागोंसे कलुषित मध्यभाग वाली (कुछ मैले जलवाली, पक्षा०—दूषित चित्त

षित = रुष्ट तथा नहीं सोनेवाली) बावली हठयुक्त मानिनी नायिका के समान सारी मेंमें भी नहीं प्रसन्न (स्वच्छ जलवाली, पक्षा०—खुश) हुई । [सपत्नी आदिके कुङ्कु-दि रागसे चिह्नित पतिको देखकर दूषित चित्तवाली एवं रातमें नहीं सोनेवाली अति-ी मानिनी नायिका पतिके सारी रात अनुनयादि करने पर भी जिस प्रकार नहीं खुश ती है, उसी प्रकार सुदतियोंके स्नान करते समय-धुले हुए स्तनादिके कुङ्कुमरागसे षित जलवाली बावरी सारी रात बीतने पर भी निर्मल नहीं हुई] ॥ ७७ ॥

क्षणनीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया ।
मणिवेश्ममयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरबाह्यमीद्यते ॥ ७८ ॥

क्षणेति । निशि निशीथे क्षणं नीरवया एकत्र सुप्तजनत्वादन्यत्र ध्यानस्तिमित-निःशब्दमाश्रितः प्राप्तः वप्रावलिः योगपट्ट इव अन्यत्र वप्रावलिरिव योगपट्टो या सा तथोक्ता यया नगर्या मणिवेश्ममयं तद्रूपं निर्मलमबाह्यमन्तर्वर्ति किमपि वाङ्मनसगोचरं ज्योतिः प्रभा आत्मज्योतिश्च ईद्यते सेव्यते स्म । अत्र प्रस्तुत-गरीविशेषसाम्यादप्रस्तुतयोगिनीप्रतीतेः समासोक्तिः ॥ ७८ ॥

रात्रिमें क्षणमात्र (कुछ समय तक) निःशब्द तथा चहारदिवारी रूप योगपट्टको रणकी हुई जो (कुण्डिन नगरी) मणियोंके बने महलरूप निर्मल एवं अनिर्वचनीय भ्यन्तर प्रकाशको देखती है । [अन्य भी कोई योग साधनेवाली योगिनी कुछ समयतक ौन धारण कर योगपट्टको पहनी हुई वाङ्मनसागोचर निर्मल आत्मलक्षण आभ्यन्तर योतिको देखती है । अथवा—परमात्म-साक्षात्काररूप क्षण अर्थात् उत्सवसे सात्त्विक ावजन्य अश्रुजल को प्राप्त करनेवाली एवं योगपट्ट धारण की हुई······] ॥ ७८ ॥

विललास जलाशयोदरे क्वचन द्यौरनुबिम्बितेव या ।
परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बानवलम्बिताम्बुनि ॥ ७९ ॥

विललासेति । या नगरी परिखायाः कपटेन व्याजेन स्फुटं परितो व्यक्तं तथा फुरता प्रतिबिम्बेनावलम्बित मध्ये चागृह्यमाणं चाम्बु यस्मिन् तस्मिन् प्रतिबि-बाक्रान्तमम्बु परितः स्फुरति प्रतिबिम्बदेशे न स्फुरति तेनैव प्रतिबिम्बादिति भावः । क्वचन कुत्रचिज्जलाशयोदरे ह्रदमध्ये कस्यचित् ह्रदस्य मध्य इत्यर्थः । अनुबिम्बिता प्रतिबिम्बिता द्यौरमरावतीव विललासेत्युत्प्रेक्षा ॥ ७९ ॥

जो (कुण्डिन नगरी) खाईके कपटसे स्पष्ट स्फुरित होते हुए प्रतिबिम्बसे निराधार ल वाले कहीं जलाशयके बीचमें प्रतिबिम्बित हुए स्वर्ग के समान शोभती थी । [बड़े ारी जलाशयके बीचमें प्रतिबिम्बित स्वर्गरूप छोटी वस्तुके समान खाईके जलमें स्थित ई कुण्डिनपुरी शोभती थी] ॥ ७९ ॥

१.—'मिज्यते' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः ।

व्रजते दिवि यद्गृहावलीचलचेलाञ्चलदण्डताडनाः।
व्यतरन्नरुणाय विश्रमं सृजते हेलिहयालिकालनाम् ॥ ८०

व्रजत इति। यस्यां नगर्यां गृहावलीषु चलाः चञ्चलाः चेलाञ्चला ग्राणि ता एव दण्डास्तैः ताडनाः कशाघाता इत्यर्थः। ताः कर्व्यो दिवि गच्छते हेलिहयालेः सूर्याश्वपङ्क्तेः 'हेलिरालिङ्गने रवावि'ति वैजयन्ती। चोदनां सृजते कुर्वते अरुणाय सूर्यसारथये विश्रमं स्वयं तत्कार्यकरणा 'नोदात्तोपदेशे'त्यादिना घञि वृद्धिप्रतिषेधः। व्यतरन् ददुः। अत्र हेलिहया ञ्चलदण्डताडनासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः, तेन गृहाणाम पर्य्यन्तमौन्नत्यं व्यज्यत इति अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ८० ॥

जिस (कुण्डिनपुरी) की गृहपङ्क्तियोंके चञ्चल पताकाग्र वस्त्ररूपी कोड़ेके आकाशमें गमन करते हुए तथा सूर्यके घोड़ोंको हाँकते हुए अरुणके लिए वि हैं। [आकाशमें गमन करता हुआ सूर्य-सारथि अरुण सूर्यके घोड़ोंको कोड़ोंसे हांकता है, अत एव इस कुण्डिनपुरीके ऊंचे-ऊंचे महलोंके ऊपर लगी हुई प वस्त्राग्र वायुसे चञ्चल होकर स्वयं घोड़ोंको प्रेरित करते (हांकते) हैं, जिससे उतने समय तक घोड़ोंको नहीं हांकनेसे विश्राम मिल जाता है। इस कुण्डिनपुरी ऊँचे-ऊँचे महल पताकाओंसे सुशोभित हैं]॥ ८० ॥

क्षितिगर्भधराम्बरालयैस्तलमध्योपरिपूरिणां पृथक्।
जगतां खलु याऽखिलाद्भुताऽजनि सारैर्निजचिह्नधारिभिः ॥

क्षितीति। तलमध्योपरि अधोमध्योर्ध्वदेशान् पूरयन्तीति तत्पूरिणां पातालभूमिस्वर्गाणां पृथगसङ्कीर्णं यानि निजानि प्रतिनियतानि नि निष्पन्नपानस्रक्चन्दनादिलिङ्गानि धारयन्तीति तद्धारिभिः तथोक्तैः सा क्षितिकुहरे धरायां भूपृष्ठे अम्बरे आकाशे च ये आलया गृहाः तैः भू शिरोगृहैरित्यर्थः। या नगरी अखिला कृत्स्ना अद्भुता चित्रा अजनि जाता जने'त्यादिना जनेः कर्त्तरि लुङ्, च्लेश्चिणादेशः। अत्र क्षितिगर्भादीनां तल जगत्सु सतां तच्चिह्नानाञ्च यथासंख्यसम्बन्धात् यथासंख्यालङ्कारः। एतेन वैभवं गम्यते ॥ ८१ ॥

जो (कुण्डिनपुरी) पृथ्वीके नीचे (पाताल), पृथ्वी पर (मर्त्यलोक) और (स्वर्गलोक) में स्थित पाताल लोक, मर्त्यलोक और स्वर्गलोकको पूर्ण करनेवाले पृथक्-पृथक् अपने चिह्नों (पाताललोकके कोष, भूतल = मर्त्यलोकके अन्न-पान तथा = स्वर्गलोकके पुष्पमाला; चन्दनादि रूप) को धारण करने (सारभूत पदार्थों) आश्चर्यजनिका प्रतीत होती थी। [जिस प्रकार पाताललोक (भूमिके भीतर— में रत्न-सुवर्णादि कोष, भूतल पर अन्नादि तथा आकाश (ऊपर) में पुष्प-मा

दे रहता है; उसी प्रकार उस नगरीके महलोंके भूतलके निचले भाग वाले भवनों हखानों) में रत्न-सुवर्णादि कोष, भूतल वाले भवनोंमें अन्नादि तथा ऊपर वाले ों (अट्टालिकाओं) के भवनोंमें विलास-सामग्री पुष्पमाला, चन्दनादि रहते हैं; इस ार तीनों लोकोंके सारभूत पदार्थोंको धारण करनेवाली त्रिलोक-विभव-सम्पन्ना एक नगरी आश्चर्य उत्पन्न करती थी] ॥ ८१ ॥

दधदम्बुदनीलकण्ठतां वहदत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः।
कथमृच्छतु यत्र नाम न क्षितिभृन्मन्दिरमिन्दुमौलिताम् ॥ ८२ ॥

दधदिति। यत्र नगर्यामम्बुदैरम्बुदवन्नीलः कण्ठः शिखरोपकण्ठः गलश्च यस्य य भावस्तत्तां 'कण्ठो गले सन्निधान' इति विश्वः। दधत् अच्छया सुधया लेपन-येण च सुधावदमृतवच्चोज्ज्वलं वपुर्वहत् 'सुधा लेपोऽमृतं सुधे' त्यमरः। क्षितिभृ-न्दिरं राजभवनमिन्दुमौलितामिन्दुमण्डलपर्यन्तशिखरत्वं कथं नाम न ऋच्छतु ? च्छत्वेवेत्यर्थः। राजभवनस्य तादृगौन्नत्यं युक्तमिति भावः। अन्यत्र नीलकण्ठस्य दुमौलित्वमीश्वरत्वं च युक्तमिति भावः। अत्र विशेषणविशेष्याणां श्लिष्टानामभि-याः प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रणात् प्रकृतेश्वरप्रतीतेः ध्वनिरेव ॥ ८२ ॥

जिस (कुण्डिन नगरी) में मेघके द्वारा नीलकण्ठत्व (नीले कण्ठके भाव, पक्षा०—ले मध्य भाग वालेका भाव) को धारण करता हुआ तथा निर्मल चूना (कलई) से ज्वल शरीर (भवन) को धारण करता हुआ राजभवन चन्द्रशेखरत्व (शिवभाव, द्रमा है मस्तक—ऊपरमें जिसके ऐसे भाव) को क्यों नहीं प्राप्त करे ?। [शिवजीका ठ नीला है तथा शरीर शुभ्र है एवं उनके मस्तकमें चन्द्रमा विराजमान हैं, उसी प्रकार नगरीके राजमहलको भी अत्यन्त ऊंचा होनेसे उसके मध्यभागमें मेघके रहनेसे नील-ठ, चूनेसे पुते होनेसे शुभ्र शरीरवाला तथा ऊपरमें चन्द्रमाको धारण करनेसे शिव-वको प्राप्त करना उचित ही है] ॥ ८२ ॥

बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः।
यदनेककसौधकन्धराहरिभिः कुक्षिगतीकृता इव ॥ ८३ ॥

बह्विति। बहुरूपकाः भूयिष्ठसौन्दर्याः, शैषिकः कप्रत्ययः। तेषु शालभञ्जिकानां त्रिमपुत्रिकाणां मुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः चन्द्रत्वात् सम्भाविताः कलङ्कमृगाः ते स्यां नगर्यामनेकेषां बहूनां सौधानां कन्धरासु कण्ठप्रदेशेषु ये हरयः सिंहाः तैः क्षिगतीकृता इव ग्रस्ताः किमित्युत्प्रेक्षा मुखचन्द्राणां निष्कलङ्कत्वनिमित्तात्, न्यथा कथं चन्द्रे निष्कलङ्कतेति भावः ॥ ८३ ॥

अनेक आकृति वाली (या—अतिशय सुन्दर स्तम्भादिमें निर्मित हाथी-दाँत आदिकी नी हुई) पुतलियोंके मुखरूपी चन्द्रोमें (सम्भावित) कलङ्क मृगोंको मानो जिस (कुण्डिन री) के बहुत-से महलोंके स्कन्ध (मध्य) भागमें बनाये गये सिंहोंने खा लिया है,

ऐसा ज्ञात होता हो। [उक्त पुतलियोंके मुखचन्द्रमें कलङ्क मृग होना चाहिये, मृग मुखचन्द्रोंमें नहीं हैं, अत एव ज्ञात होता है कि महलोंके मध्यभागमें वने उन मृगोंको अपने उदरमें ले लिया—खा लिया—है] ॥ ८३ ॥

बलिसद्मदिवं स तथ्यवागुपरि स्माह दिवोऽपि नारदः ।
अधराय कृता ययेव सा विपरीताऽजनि [1]भूमिभूषया ॥ ८४ ॥

बलीति । स प्रसिद्धः तथ्यवाक् सत्यवचनः [2]नारदः बलिसद्मदिवं पात दिवो मेरुस्वर्गादप्युपरिस्थितामुत्कृष्टाञ्चाह स्म उक्तवान् । अथेदानीं भूमिभूष नगर्या अधरा न्यूना अधस्ताच्च कृतेवेत्युत्प्रेक्षा सा बलिसद्मद्यौर्विपरीता ना विपरीता अजनि । सर्वोपरिस्थितायाः पुनरधः स्थितिः वैपरीत्यम् ॥ ८४ ॥

सत्यवक्ता नारद मुनिने 'पातालरूप स्वर्ग, स्वर्गसे भी ऊपर (पक्षा०—अति णीय) है' यह ठीक ही कहा था, क्योंकि पृथ्वीकी भूषणरूपिणी जिस (कुण्डि से नीचे (अधो भागमें, पक्षा०—अपनी शोभासे हीन) किया गया वह (पात स्वर्ग) विपरीत-सा हो गया। [पहले भूलोक तथा स्वर्गलोकसे पाताल ऊपर थ इस समय अतिरमणीयतासे हीन होनेके कारण विपरीत हो गया। स्वर्गलोकसे लोक सुन्दरतामें अधिक है, इस कारण 'वह स्वर्गसे ऊपर है' ऐसा नारदने विष्णु कहा है और अब भूलोकस्थ इस कुण्डिन नगरीसे सौन्दर्यमें हीन किये जानेके का पाताललोक भी नीचे (हीन) हो गया। स्वर्ग तथा पाताल-दोनों लोकोंसे यह कुण्डि रमणीय है] ॥ ८४ ॥

प्रतिहट्टपथे घरट्टजात् पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः ।
कलहान्न घनान् यदुत्थितादधुनाप्युज्झति घर्घरस्वरः ॥ ८५ ॥

प्रतीति । पन्थानं गच्छन्तीति पथिकाः तेषामाह्वानं ददाति तथो कम् अध्वानं गच्छतामाकर्षकमित्यर्थः । सक्तूनां सौरभं सुगन्धो यस्मिन् प्रति प्रत्यापणपथे । 'अव्ययं विभक्ती' त्यादिना वीप्सायामव्ययीभावः । 'तृतीयास बहुल'मिति सप्तम्या अमभावः । घरट्टाः गोधूमचूर्णग्रावाणः तज्जात् यस्या उत्थितात् कलहात् घर्घरस्वनः निर्झरस्वरः कण्ठध्वनिः घनान् मेघान् अ नोज्झति न त्यजति । सर्वदा सर्वहट्टेषु घरट्टा मेघध्वानं ध्वनन्तीति भावः घनानां घरट्टकलहासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । तथा च घर्घरस्वनस् तुकरत्वोत्प्रेक्षा, व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्योत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ८५ ॥

प्रत्येक बाजारके मार्गोंमें चक्कियोंसे निकला हुआ सत्तुओंके सुगन्धवाला घर्घ (बरसात आनेसे घर पर जाते हुए) पथिकोंको आकृष्ट करता था, उधर मेघ गर

---

१. 'भूविभूषया' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः ।

२. 'स्वर्गादप्यतिरमणीयानि पातालानि' इति विष्णुपुराणे नारदवचनमिति 'प्रका

उन्हें शीघ्र घर पहुंचनेके लिए प्रेरित करता था, इस प्रकार चक्रियों तथा मेघोंके साथ ह होता था, वह कलहरूप घर्घर शब्द आज भी मेघोंको नहीं छोड़ रहा है ॥ ८५ ॥

वरणः कनकस्य मानिनीं दिवमङ्कादमराद्रिरागताम् ।
घनरत्नकवाटपक्षतिः परिरभ्यानुनयन्नुवास याम् ॥ ८६ ॥

वरण इति । कनकस्य सम्बन्धी वरणः तद्विकारः प्रकारः स एवामराद्रिर्मेरुः यां रीमेव मानिनीं कोपसम्पन्नामत एव अङ्कान्निजोत्सङ्गादागतां भूलोकंप्राप्तां दिवम· ावर्तीं घने निविडे रत्नानां कवाटे रत्नमयकवाटे एव पक्षती पक्षमूले यस्य स सन् रभ्य उपगूह्य मेरोः पक्षवत्त्वात्पक्षतिरूपत्वमनुसरन् अनुवर्त्तमानः उवास । कामिनः ायकुपितां प्रेयसीमाप्रसादमनुगच्छन्तीति भावः । रूपकालङ्कारः स्फुट एव, तेन ं नगरी कुतश्चित् कारणादागता द्यौरेव वरणश्च स्वर्णाद्रिरेवेत्युत्प्रेक्षा व्यज्यते ॥८६॥

मानिनी (अत एव रुष्ट होकर) अङ्क अर्थात् क्रोडको छोड़कर (भूलोकपर) आयी दिव् अर्थात् स्वर्गरूपिणी जिस (कुण्डिनपुरी) नगरीको सघन रत्नोंसे बने हुए वाड़रूप दो पक्षोंको धारण करता हुआ सुवर्णसे बने चहारदिवारीरूप सुमेरु पर्वत लिङ्गन कर प्रसन्न करता हुआ निवास कर रहा है । ['दिव्' (स्वर्गपुरी) पहले सुमेरु तके अङ्कमें रहती थी, किन्तु किसी कारणवश मानिनी होनेसे रुष्ट होकर वह उसके ङ्को छोड़कर यहां पृथ्वीपर आ गयी है और वही कुण्डिनपुरी है, अत एव अपनी सीको प्रसन्न करनेके लिए सुवर्णमय चहारदिवारीरूप होकर बहुरत्नरचित कपाटरूप ोंको धारण करता हुआ सुमेरुपर्वत भी पृथ्वीपर आकर अपनी प्रेयसी कुण्डिननगरी पिणी 'दिव्' का आलिङ्गन कर उसे प्रसन्न करता हुआ यहां निवास कर रहा है । ण्डिनपुरीके सुवर्णमय प्राकार सुमेरुतुल्य, उसके विशाल रत्नमय फाटक उस सुमेरुके तुल्य तथा कुण्डिन नगरी स्वर्गतुल्य है] ॥ ८६ ॥

अनलैः परिवेषमेत्य या ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः ।
उदयं लयमन्तरा रवेरवहद्बाणपुरीपरार्द्ध्यताम् ॥ ८७ ॥

अनलैरिति । या नगरी रवेरुदयं लयमस्तमयं चान्तरा तयोर्मध्यकाल इत्यर्थः । अन्तरान्तरेण युक्त' इति द्वितीया । ज्वलतामर्कांशुसम्पर्कात् प्रज्वलतामर्कोपलानां प्रजन्म येषान्तैः सूर्यकान्तैः प्राकारजन्यैः अनलैः परिवेषमेत्य परिवेष्टनं प्राप्य णपुर्याः बाणासुरनगर्याः शोणितपुरस्य परार्द्ध्यतां श्रेष्ठतामवहत् । अत्रान्यधर्मस्या· ेन सम्बन्धासंभवात्तादृशीं परार्द्ध्यतामिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः ॥ ८७ ॥

जो (कुण्डिन नगरी) जलते हुए सूर्यकान्तमणिके चहारदिवारियोंसे उत्पन्न हुई ग्निके द्वारा सूर्यके उदय तथा अस्तके मध्यमें अर्थात् सूर्योदयसे सूर्यास्त तक बाणासुरकी गरी (शोणितपुर) की (मा—के समान) श्रेष्ठताको धारण करती है । [पौराणिक

कथा—शिवभक्त वाणासुरकी शोणितपुर नामकी नगरी भी शिवजीके प्रसा परिवेष्टित रहती थी, ऐसा पुराणोंमें उल्लेख मिलता है] ॥ ८७ ॥

बहुकम्बुमणिर्वराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्करः ।
हिमवालुकयाऽच्छवालुकः पटु दध्वान यदापणार्णवः ॥ ८८ ॥

बह्विति । बहवः कम्बवः शङ्खा मणयश्च यस्मिन् सः वराटिकागणनाय संख्यानाय अटन्तः तिर्यक् प्रचरन्तः कराः पाणय एव कर्कटोत्कराः कु यस्मिन् सः, हिमबालुकया कर्पूरेण अच्छबालुकः स्वच्छसिकतः यस्याः पु विपणिरेवार्णवः पटु धीरं दध्वान ननाद, 'कपर्दो वराटिके'ति हलायुधः । 'श कम्बुरस्त्रियामि'त्यमरः । 'सिताभ्रो हिमबालुका, स्यात्कुलीरः कर्कटक'इति

बहुत-से शङ्ख तथा मणियोंवाला, कौड़ियोंकी गड़नाके लिए चञ्चल हाथ वाला तथा कपूर-धूलिरूप श्वेत बालुओं वाला, जिस (कुण्डिनपुरी) का बाजार (लोगोंके कोलाहलसे) सर्वदा गरजता था ॥ ८८ ॥

यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया ।
मुमुचे न पतिव्रतौचिती प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गया ॥ ८९ ॥

यदिति । यस्याः नगर्याः अगारघटासु गृहपङ्क्तिषु अट्टानामट्टालिकानां कु निबद्धभूमिषु, 'कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूरि'त्यमरः । स्रवद्भिरिन्दुसम्पर्कात् स्य रिन्दूपलैश्चन्द्रकान्तैः हेतुभिः तुन्दिलाः प्रवृद्धा आपो यस्याः तया, तुन्दादि 'ऋक्पूरि'त्यादिना समासान्तः । अभ्रगङ्गया मन्दाकिन्या, 'मन्दाकिनी विय मरः । चन्द्रोदये चन्द्रोदये प्रतिचन्द्रोदयं वीप्सायामव्ययीभावः । पतिव्र चिती औचित्यं ब्राह्मणादित्वाद् 'गुणवचने'त्यादिना ष्यञ्प्रत्ययः, 'षिद्गौरादि ङीष् । स च 'मातरि षिच्चे'ति षित्वादेव सिद्धे मातामहशब्दस्य गौरादि नित्यत्वज्ञापनाद्वैकल्पिकः । अत एव वामनः-ष्यञः षित्कार्यं बहुलमिति कयोर्भावक्रिययोः ष्यञ् । क्वचिच्च वुञ् 'औचित्यमौचिती मैत्र्यं मैत्री वुञ् प्रा मि'त्यमरश्च । न मुमुचे न तत्यजे । भर्तुः समुद्रस्य चन्द्रोदये वृद्धिदर्शनात्त तथा वृद्धिरुचिता । 'आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा । मृते म्रि स्त्री सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥' इति स्मरणादिति भावः । अत्राभ्रगङ्गायाः यद दिना विशेषणार्थासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तथा च यदगारा मण्डलमौन्नत्यं गम्यते तदुत्थापिता चेयमस्याः पातिव्रत्यधर्मापरित्यागोत्प्रेक्षेति सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ ८९ ॥

प्रत्येक चन्द्रोदयमें जिस (कुण्डिनपुरी) के भवन-समूहोंके ऊपरी छतमें बहते हुए चन्द्रकान्त मणियोंसे पूर्ण जलवाली आकाशगङ्गाने अपने पतिव्रताधर्मके को नहीं छोड़ा। [चन्द्रमाके उदय होनेपर हर्षसे समुद्र जल बढ़ जाता है,

द्रकी पत्नी आकाश गङ्गा भी कुण्डिनपुरीके महलोंके छतों पर—जड़े हुए चन्द्रकान्त णियोंके पसीजनेसे जलपूर्ण होकर अपने पति समुद्रके हर्षसे बढ़ने पर स्वयं भी हर्षसे कर पातिव्रत्य धर्मका पालन करती है, पतिके हर्ष होनेपर हर्षित होना तथा दुःखी होने दुःखी होना पतिव्रता स्त्रीका धर्म है। कुण्डिनपुरीके महलोंके छतमें चन्द्रकान्तमणि ड़े हुए हैं और चन्द्रोदय होनेपर उनके पसीजनेसे बहते हुए पानीसे आकाश गङ्गा लपूर्ण हो जाती है, अत एव आकाश गङ्गासे भी ऊंचे इस कुण्डिनपुरीके छतोंका होना चित होता है]॥ ८९ ॥

रुचयोऽस्तमितस्य भास्वतः स्खलिता यत्र निरालयाः खलु।
अनुसायमभुर्विलेपनापणकश्मीरजपण्यवीथयः ॥ ९० ॥

रुचय इति। यत्र नगर्यामनुसायं प्रतिसायं वीप्सायामव्ययीभावः। विलेपना- णेषु सुगन्धद्रव्यनिषद्यासु कश्मीरजानि कुङ्कुमान्येव पण्यानि पणनीयद्रव्याणि षां वीथयः श्रेणयः अस्तमितस्यास्तङ्गतस्य भास्वतः सम्बन्धिन्यः स्खलिताः अस्त- यक्षोभात् च्युताः अत एव निरालया निराश्रया रुचयः प्रभाः अभुः खलु, कथञ्चि- च्युताः सायन्तनार्कत्विष इव भान्ति स्मेत्यर्थः। कुङ्कुमराशीनां तदा तत्सावर्ण्या- यमुत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या। भातुर्लुङि झेर्जुसादेशः॥ ९० ॥

जिस (कुण्डिन नगरी) में प्रत्येक सायङ्कालमें लेप-सामग्रियोंके बाजारमें बिकने ले कुङ्कुमके मार्ग अस्तङ्गतसूर्यकी गिरी हुई निरवलम्ब किरणोंके समान शोभती थीं। सायंकालमें कुण्डिनपुरीके लेप बिकनेवाले बाजारमें कुङ्कुम बिकनेवाले मार्ग गिरे हुए कुङ्कुमोंसे रञ्जित होनेके कारण ऐसे प्रतीत होते थे कि अस्तङ्गत सूर्यकी लाल-लाल किरणें रराश्रय होनेसे भूमिपर गिर गयी हैं]॥ ९० ॥

विततं वणिजापणेऽखिलं पणितुं यत्र जनेन वीक्ष्यते।
मुनिनेव मृकण्डुसूनुना जगतीवस्तु पुरोदरे हरेः॥ ९१ ॥

विततमिति। यत्र नगर्यां वणिजा वणिग्जनेन पणितुं व्यवहर्तुमापणे पण्यवीथ्यां ततं प्रसारितमखिलं जगत्यां लोके स्थितं वस्तु पदार्थजातं पुरा पूर्वं हरेर्विष्णोरुदरे कण्डुसूनुना मुनिना मार्कण्डेयेनेव जनेन लोकेन वीक्ष्यते विष्णूदरमिव समस्तव- स्वाकरोऽयमवभासत इत्यर्थः। पुरा किल मार्कण्डेयो हरेरुदरं प्रविश्य विश्वं तत्रा- द्राक्षीदिति कथयन्ति ॥ ९१ ॥

जिस (कुण्डिनपुरी) में व्यापारियोंकी दुकानों पर बेचनेके लिए फैलायी हुई समस्त स्तुओंको लोग उस प्रकार देखते हैं, जिस प्रकार मार्कण्डेय मुनिने पहले विष्णु भग- ान्‌के उदरमें पृथ्वीके समस्त वस्तुओंको देखा था। [प्रत्येक दुकानदारकी दुकानमें संसार रकी समस्त वस्तुएं रक्खी हुई थीं]॥ ९१ ॥

पौराणिक कथा–पहले मार्कण्डेय मुनिने विष्णु भगवान्‌से वरदान पाकर उनके प्रविष्ट होकर संसारको देखा था ।

सममेणमदैर्यदापणो तुलयन् सौरभलोभनिश्चलम् ।
पणिता न जनारवैरवैदपि कूजन्तमलिं मलीमसम् ॥ ९२ ॥

सममिति । यस्या नगर्या आपणे सौरभलोभनिश्चलं गन्धग्रहणनिष्प क्रियया दुर्बोधमित्यर्थः । मलीमसं मलिनं सर्वाङ्गनीलमित्यर्थः । अन्यथा पी स्यालेः पीतिम्नैव व्यवच्छेदात्, अतो गुणतोऽपि दुर्ग्रहमित्यर्थः । 'ज्योत्स्ना स्यादिना निपातः । अलिं भृङ्गमेणमदैः समं कस्तूरीभिः सह तुलयन् तोलयन् विक्रेता कूजन्तमपि जनानामारवैः कलकलैः नावैत्, शब्दतोऽपि न इत्यर्थः । इह निश्चलस्यालेः गुञ्जनं कविना प्रौढवादेनोक्तमित्यनुसन्धेयम् । अ लयादेणमदोक्तेः सामान्यालङ्कारः । 'सामान्यं गुणसामान्ये यत्र वस्त्वन्त लक्षणात् । तेन भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते ॥ ९२ ॥

जिस (कुण्डिनपुरी) के बाजार में कस्तूरीके साथ, सुगन्धके लोभसे नहीं तथा गुञ्जन करते हुए काले (कस्तूरीके रंगवाले) भौंरेको कस्तूरीके साथ तौलते हुए दारको खरीददार लोगोंके कोलाहलसे नहीं जान सका । [जब दुकानदार कस्तूरी लगा तब उसके सुगन्धसे आकृष्ट भौंरा उसके काँटेके पलड़े पर बैठकर निश्चल तथा वह यद्यपि गूंज रहा था, किन्तु लोगोंके कोलाहलके कारण गूंजना भी हुआ एवं समान रंग होनेसे कस्तूरीके साथ भौंरेको भी दूकानदारने तौल दिया बातको खरीददार नहीं जान सका । भौंरे घूमते रहनेपर ही गूंजते हैं, बैठने तथापि यहां पर महाकविने बैठे हुए भौंरेका गूंजना प्रौढिवश कहा है] ॥ ९२ ॥

रविकान्तमयेन सेतुना सकलाहर्ज्वलनाहितोष्मणा ।
शिशिरे निशि गच्छतां पुरा चरणौ यत्र दुनोति नो हिमम् ॥

रविकान्तेति । यत्र नगर्यां सकलाहः कृत्स्नमहः 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' । ह्नाहाः पुंसी'ति पुंल्लिङ्गता, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, योगविभागात्समासः । तपनकराभिपातात्प्रज्वलनेन आहितोष्मणा जनितोष्मणा जनितोष्णेन रविक येन सेतुना सेतुसदृशेनाध्वना सूर्यकान्तकुट्टिमाध्वनेत्यर्थः । गच्छतां सञ्चरतां चरणानित्यर्थः । 'स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः प्रायेणे'ति जातौ द्विव शिशिरे शिशिरर्तौ तत्रापि निशि हिमं पुरा नो दुनोति नापीडयत् । 'याव पातयोर्लट्' । अत्र सेतोरूष्मासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तत्रो पूर्वसापेक्षत्वात् सङ्करः ॥ ९३ ॥

जिस (कुण्डिनपुरी) में पहले दिनभर (सूर्य–किरण–सम्पर्कसे निकली हुई) उष्ण, सूर्यकान्तमणियोंके बने हुए पुलसे शिशिर ऋतुमें जानेवाले लोगोंके चरणों पीड़ित नहीं करता था ॥ ९३ ॥

विधुदीधितिजेन यत्पथं पयसा नैषधशीलशीतलम् ।
शशिकान्तमयं तपागमे कलितीव्रस्तपति स्म नातपः ॥ ९४ ॥

विध्विति । विधुदीधितिजेन इन्दुकरसम्पर्कजन्येन पयसा सलिलेन नैषधस्य-
स्य शीलं वृत्तं स्वभावो वा तद्वच्छीतलं शशिकान्तमयं यत्पथं यस्या नगर्याः
ानं तपागमे ग्रीष्मप्रवेशे कलितीव्रः कलिकालवच्चण्डः आपतः न तपति स्म ।
कथायाः कलिनाशकत्वादिति भावः । अत्र नगरपथस्य इन्दूपलपयःसम्बन्धोक्तेः
शयोक्तिः, तस्सापेक्षत्वादुपमयोः सङ्करः ॥ ९४ ॥

चन्द्रकान्त मणियोंसे वने हुए (अत एव) चन्द्र-किरणों (के सम्पर्क) से उत्पन्न
ीसे नलके शीलके समान शीतल जिस (कुण्डिनपुरी) के मार्गको कलियुगके समान
ण धूपने गर्म नहीं किया । दिनमें गर्म हुआ भी जिस नगरी का मार्ग रात्रिमें चन्द्र-
तमणियोंके वने हुए होनेसे चन्द्रकिरणोंके सम्पर्कके कारण बहे हुए जलसे ठण्डा हो
ा था तथा 'नलकथा कलि[1]दोषका नाशक है' यह भी ध्वनित होता है] ॥ ९४ ॥

परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा ।
फणिभाषितभाष्यफक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता ॥ ९५ ॥

परिखेति । परिखावलयच्छलेन परिखावेष्टनव्याजेन कुण्डलनां मण्डलाकाररेखा-
ापिता परेषां शत्रूणां ग्रहणस्याक्रमणस्य अन्यत्र अन्येषां ग्रहणस्य ज्ञानस्य न
चरा अविषया या नगरी विषमा दुर्बोधा फणिभाषितभाष्यफक्किका पतञ्जलि-
ीतमहाभाष्यस्थकुण्डलिग्रन्थः तद्वदिति शेषः । अत्र नगर्याः कुण्डलिग्रन्थत्वे-
त्प्रेक्षा ॥ सा च परिखावलयच्छलेनेति अपह्नवोत्थापितत्वात् सापह्नवा व्यञ्जका-
ोगाद् गम्या ॥ ९५ ॥

खाईके घेरेके कपटसे कुण्डलित (घिरी हुई, अत एव) शेषनाग (के अंशावतार पत-
लि) से कथित 'महाभाष्य' ग्रन्थकी फक्किका के समान विषम (अज्ञेय, पक्षा०—अप्र-
य) जिस (कुण्डिनपुरी) को दूसरोंने नहीं जाना (पक्षा०—वशमें नहीं किया)।
शेषनागके अवतार श्रीपतञ्जलि भगवान्‌से रचे भाष्यमें कुछ ऐसे स्थल हैं; जिनके वास्त-
क आशयका ज्ञान नहीं होनेसे उन्हें वररुचिने घेरकर उनका दुर्ज्ञेयत्व सूचित कर दिया
इसी प्रकार इस कुण्डिननगरीके चारो ओर ऐसी खाई है कि इसे कोई भी शत्रु अपने
ामें नहीं कर सकता, अत एव यह नगरी उस भाष्यकी फक्किकाके समान दूसरोंसे
ग्राह्य है] ॥ ९५ ॥

मुखपाणिपदाक्ष्णि पङ्कजै रचिताऽङ्गेष्वपरेषु चम्पकैः ।
स्वयमादित यत्र भीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियम् ॥ ९६ ॥

---

[1] 'तदुक्तम्—'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च ।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम् ॥' इति ।

मुखेति। यत्र नगर्यां मुखञ्च पाणी च पदे च अक्षिणी च यस्मिन् तस्मि ङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भावः। पङ्कजैः रचिता सृष्टा अपरेषु मुखादिव्यतिरिक्तेष्वङ्गेषु श्चम्पकपुष्पैः रचिता सर्वत्र सादृश्याद्व्यपदेशः। भीमजा भैमी स्वयं स्मरपू स्रजः श्रियं शोभामादित आत्तवती। ददातेर्लुङि 'स्थाघ्वोरिच्चे'तीत्वं 'ह्रस्वाद सलोपः। अत्र अन्यश्रियोऽन्यस्यासम्भवात् श्रियमिव श्रियमिति सादृश्या दर्शनाभेदः। तथा तदङ्गानां पङ्कजाद्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिः। तदुत्थापिता चे नेति सङ्करः ॥ ९६ ॥

जिस (कुण्डिनपुरी) में मुख, हाथ, पैर तथा नेत्रोंमें कमलोंसे तथा शे चम्पक पुष्पोंसे रची गयी दमयन्तीने काम-पूजा-सम्बन्धिनी पुष्पमालाकी शोभा मेव ग्रहण किया। [दमयन्तीके मुख, हाथ, पैर तथा नेत्र कमल-पुष्पतुल्य और चम्पक-पुष्पतुल्य थे, ऐसी दमयन्ती ही कामपूजा-सम्बन्धिनी पुष्पमालाके गयी। कमलादि अनेकविध पुष्पोंसे रचित मालाके समान दमयन्तीके द्वारा काम किया जाता था अर्थात् उसके द्वारा कामोद्दीपन होता था] ॥ ९६ ॥

जघनस्तनभारगौरवाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमाः
ध्रुवमप्सरसोऽवतीर्य यां शतमध्यासत तत्सखीजनः ॥ ९७ ॥

जघनेति। जघनानि च स्तनौ च जघनस्तनं, प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भावः भारः तस्य गौरवात् गुरुत्वाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमाः शतं शतसंख्याकाः ' श्याः सदैकत्वे संख्याः संख्येयसंख्ययोरि'त्यमरः। अप्सरसोऽवतीर्य स्वर्गा तत्सखीजनः सख्यः जातावेकवचनम्। यां नगरीमध्यासत अध्यतिष्ठन्, 'अधि स्थासां कर्मे'ति कर्मत्वं, ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा। अप्सरःकल्पाः शतं सख्य एता इत्यर्थः ॥ ९७ ॥

जघनों तथा स्तनोंके बोझके भारीपनसे (शून्य) आकाशका अवलम्बन क करनेमें असमर्थ-सी सैकड़ों अप्सराएँ (आकाशसे भूतलपर) उतरकर उस दम सखियां होकर जिस (कुण्डिनपुरी) में रहती थीं। [स्वर्गीय अप्सरारूप ही दम सैकड़ों सखियां थीं] ॥ ९७ ॥

स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या ?।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखारवा न वा ? ॥ ९८ ॥

स्थितीति। चित्रमयी आश्चर्यप्रचुरा आलेख्यप्रचुरा च, 'आलेख्याश्चर्ये मि'त्यमरः। या नगरी स्थित्या मर्यादया स्थायित्वेन च शालन्ते ये ते समस्त ब्राह्मणादयः शुक्लादयश्च यस्याः तस्या भावस्तत्तां 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ मरः। कथं न बिभर्तु बिभर्त्येवेत्यर्थः। कलितः प्राप्तः अनल्पानां बहूनां मुखाना बहुमुखानां ब्रह्ममुख-पञ्चमुख-षण्मुखानां च आरवः शब्दो यस्याः सा या पुरी

भेदं नानात्वं स्वः स्वर्गादभेदं च कथं वा नोपैतु उपैत्वेवेत्यर्थः। उभयत्रापि सति णे कार्यं भवेदेवेति भावः। अत्र केवलप्रकृतश्लेषालङ्कारः उभयोरप्यर्थयोः प्रकृ ात्। किन्तु एकनाले फलद्वयवदेकस्मिन्नेव शब्दे अर्थद्वयप्रतीतेरर्थश्लेषः प्रथ- । द्वितीये तु जतुकाष्ठवदेकवद्भूताच्छब्दद्वयादर्थद्वयप्रतीतेः शब्दश्लेषः ॥ ९८ ॥

बहुत-से चित्रोंवाली (कुण्डिनपुरी) परस्पर स्थितिसे शोभनेवाले (नील-पीत- ादि) सम्पूर्ण वर्णों (रंगों) को क्यों नहीं प्राप्त करे? अर्थात् बहुत चित्रवाली नगरीमें कविध रंगोंका होना उचित ही है तथा बहुत-से मुखोंके शब्दाधिक्य वाली नगरी भेद (अनेकविध शब्द) को नहीं प्राप्त करे? अर्थात् जिसमें मनुष्य, हाथी, अश्व दे तथा शुक-सारिकादि विविध पक्षी बोलते हैं, ऐसे अनेकों मुखोंके शब्दवाली नगरीमें भिन्न स्वरोंका होना उचित ही है। [पक्षा०—आश्चर्यकारिणी कुण्डिन नगरी स्थिति ास्त्र-विहित स्व-स्व-आचार-पालन) से शोभनेवाले सब (ब्राह्मणादि चारो) वर्णोंके ंको वह क्यों नहीं प्राप्त करे? अर्थात् अवश्यमेव प्राप्त करे अन्यत्र ब्राह्मणादि वर्णोंमें र्य होनेसे तथा इसमें नहीं होनेसे इसका आश्चर्यकारिणी होना उचित ही है, स्थिति ास्त्र-विहित स्व-स्व-आचारपालन) से शोभनेवाले सब (ब्राह्मणादि चारो) वर्णोंमें को वह क्यों नहीं प्राप्त करे? अर्थात् अवश्यमेव प्राप्त करे अन्यत्र ब्राह्मणादि वर्णोंमें र्य होनेसे तथा इसमें नहीं होंनेसे इसका आश्चर्यकारिणी होना उचित ही है। तथा त-से मुखवालों (चतुर्मुख ब्रह्मा, पञ्चमुख शङ्करजी, षण्मुख कार्तिकेय आदि) से युक्त री स्वर्गके साथ अभिन्नता (सादृश्य) को क्यों नहीं प्राप्त करे? अर्थात् प्राप्त करे। वा—स्थिति (अकारादि अक्षरोंके मुखादि उच्चारणस्थान) से शोभनेवाले हैं समस्त (अक्षर) जिसमें ऐसे भावकी चित्रमयी नगरी क्यों नहीं प्राप्त करे? ब्राह्मणादि ठीक- क स्वरोंका उच्चारण करते हुए वेदाध्ययन-पाठ करते हैं। तथा अनल्पमुख वाचाट ाणोंके समन्ततः शब्द (वेदध्वनि) वाली नगरी (उदात्तादि) स्वरोंके भेदको क्यों ीं प्राप्त करे, अर्थात् अवश्य प्राप्त करे] ॥ ९८ ॥

स्वरुचाऽरुणया पताकया दिनमर्केण समीयुषोत्तृषः।
लिलिहुर्बहुधा सुधाकरं निशि माणिक्यमया यदालयाः ॥ ९९ ॥

स्वरुचेति। माणिक्यमयाः पद्मरागमयाः यदालयाः यस्यां नगर्यां गृहाः दिनं ने, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। समीयुषा सङ्गतेन अर्केण हेतुना उत्तृषः अर्कसम्पर्का- पन्नपिपासाः सन्तः स्वरुचा स्वप्रभया अरुणया आरुण्यं प्राप्तयेति तद्गुणालङ्कारः, द्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाहृतिरि'ति लक्षणात्। पताकया रसनायमानयेति वः, सुधाकरं बहुधा लिलिहुः आस्वादयामासुरित्यर्थः। अह्नि सन्तप्ता निशि तोपचारं कुर्वन्तीति भावः। अत्र गृहाणां सन्तापनिमित्तसुधाकरलेहनात्मकशीतो- ार उत्प्रेक्ष्यते। सा चोक्ततद्गुणोत्थेति सङ्करः, व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ ९९ ॥

(माणिक्य रत्नोंसे बने हुए जिस (कुण्डिन नगरी) के भवन दिनमें सू -से अधिक प्यासयुक्त होकर अपनी (भवनोंकी) कान्तिसे लाल (जिह्वा स्थानीय) -ओंसे रात्रिमें अनेक प्रकारसे चन्द्रमाका आस्वादन करते हैं । [दिनमें सूर्य-सन् -जिस प्रकार रात्रिमें शीतलोपचारसे अपना सन्ताप दूर करता है, उसी प्रकार -ऊंचे होनेसे नगरीके ये भवन दिनमें सूर्यके अत्यन्त समीप होनेसे अधिक पि -होकर भवन-कान्तिसे लाल पताका रूपिणी जीभसे रातमें शीतल चन्द्रमाका -करते हैं]॥ ९९ ॥

लिलिहे स्वरुचा पताकया निशि जिह्वानिभया सुधाकरम् ।
श्रितमर्ककरैः पिपासु यन्नृपसद्मामलपद्मरागजम् ॥ १०० ॥

अथानयैव भङ्ग्या राजभवनं वर्णयति—लिलिह इति । अमलपद्मराग -नगर्यां नृपसद्म राजभवनम् अर्ककरैः श्रितमतिसामीप्यादभिव्याप्तम् । श्रयते -क्तः, श्रृणातेः पक्वार्थादिति केचित् । तदा ह्रस्वश्चिन्त्यः, प्रकृत्यन्तरं मृग्यमि -तत् । अत एव पिपासु तृषितं सत् पिबतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । स्वकीया रु -तया स्वरुचा तद्रूषितयेत्यर्थः । अत एव जिह्वानिभया पताकया सुधाकरं -आस्वादयामास । लिहेः कर्त्तरि लिट् । स्वरितत्वादात्मनेपदम् अलङ्कारश्च -जिह्वानिभयेत्युपमा सङ्करश्च विशेषः ॥ १०० ॥

(उसी विषयको पुनः कहते हैं—) पद्मराग मणियोंसे बना हुआ जिस -निर्मल राजभवन (दिनमें) सूर्य-किरणोंसे पिपासायुक्त होकर अपनी (राज -कान्तिवाली, अर्थात् रक्तवर्ण जिह्वातुल्य पताकासे रात्रिमें चन्द्रमाका आस्वादन क

अमृतद्युतिलक्ष्म पीतया मिलितं यद्वलभीपताकया ।
वलयायितशेषशायिनस्सखितामादित पीतवाससः ॥ १०

अमृतेति । पीतया पीतवर्णया यस्या नगर्याः वलभ्यां 'कूटागारन्तु व -त्यमरः । पताकया मिलितं सामीप्यात्सङ्गतममृतद्युतिलक्ष्म चन्द्रलाञ्छन व -वलयीभूते शेषे शेत इति तच्छायिनः पीतवाससः पीताम्बरस्य विष्णोः -सदृशतामादित अग्रहीदित्युपमालङ्कारः ॥ १०१ ॥

जिस (कुण्डिन नगरी) के छज्जेकी पीली पताकासे मिला हुआ चन्द्रमा -मण्डलाकार शेषनाग पर सोये हुए पीताम्बर पहने श्रीविष्णुके समान शो [कलङ्कके साथ श्रीविष्णु भगवान्की, पीली पताकाके साथ पीताम्बरकी, कलङ्क -ओर स्थित चन्द्रमाके साथ मण्डलाकार (गेरुड़ी बांधकर) स्थित शेषनागकी सम -गयी है । इससे भवनोंका अत्युन्नत होना सूचिन होता है]॥ १०१ ॥

अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाविर्भूतभूरिस्तवा-
जिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना ।

पूर्वं गाधिसुतेन सामिघटिता मुक्ता नु मन्दाकिनी
यत्प्रासाददुकूलवल्लिरनिलान्दोलैरखेलद्दिवि ॥ १०२ ॥

अश्रान्तेति। यस्याः नगर्याः प्रासादे दुकूलं वल्लिरिव दुकूलवल्लिः दुकूलमयी
ाकेत्यर्थः। अश्रान्तेन श्रुतिपाठेन नित्यवेदपाठेन पूताभ्यः पवित्राभ्यः रसनाभ्यो
ह्वाभ्यः आविर्भूतेषु भूरिस्तवेषु अनेकस्तोत्रेषु अजिह्मेन अकुण्ठेन ब्रह्मणो मुखाना-
वेन हेतुना विघ्निता सञ्जातविघ्ना नवस्वर्गक्रिया नूतनस्वर्गसृष्टिरेव केलिः लीला
य तेन गाधिसुतेन विश्वामित्रेण पूर्वं ब्रह्मप्रार्थनात्पूर्वं सामि घटिता अर्धसृष्टा
मि त्वर्द्धे जुगुप्सन' इत्यमरः। मुक्ता पश्चान्मुक्ता मन्दाकिनी नु आकाशगङ्गा
मनिलस्य कर्तुरान्दोलनैश्चलनैर्दिवि आकाशे अखेलत् विजहारेत्युत्प्रेक्षा। एषा कथा
शङ्कूपाख्याने द्रष्टव्या। शार्दूलविक्रीडितवृत्तं 'सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दू-
विक्रीडितमि'ति लक्षणात् ॥ १०२ ॥

जिस (कुण्डिन नगरी) के महलोंकी पताकारूपिणी श्वेत वस्त्रलता, निरन्तर वेद-
करनेसे पवित्र जिह्वाओंसे उत्पन्न बहुत-सी स्तुतियोंमें निरालस्य ब्रह्ममुख-समूह
ब्रह्माके चारो मुख) से रोक दी गयी है नये स्वर्गकी रचनारूपिणी क्रीड़ा जिसको, ऐसे
श्वामित्रजी द्वारा पहले आधी बनायी गयी (बादमें ब्रह्माके स्तुति करनेपर) छोड़ी
ी गङ्गा ही मानो वायुके झोंकोंसे आकाशमें क्रीडा करती (लहराती) है ॥ १०२ ॥

पौराणिक कथा—गुरु वसिष्ठ मुनिके शापसे चण्डाल हुए राजा त्रिशङ्कुकी सशरीर
र्गमें जानेके लिए इच्छा होनेपर महर्षि विश्वामित्रजीने यज्ञ कराकर उन्हें स्वर्गमें भेजना
हा, किन्तु चण्डाल होनेसे स्वर्गके अनधिकारी त्रिशङ्कुको जब देवगण नीचे गिराने लगे,
उन देवोंके इस कार्यसे रुष्ट विश्वामित्रजी दूसरे स्वर्गकी रचना करने लगे। यह देख
पनी प्रतिष्ठामें धक्का लगता हुआ मानकर ब्रह्माजीने विश्वामित्रजीको अनेकविध स्तुति
वनोंसे प्रसन्नकर स्वर्ग-रचना करनेसे रोक दिया।

यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभाश्शुचिसौधवस्त्रवल्लिः ।
अलभत शमनस्वसुश्शिशुत्वं दिवसकराङ्कतले चला लुठन्ती ॥१०३॥

यदिति। यस्या नगर्याः अतिविमलैर्नीलवेश्मनः इन्द्रनीलनिकेतनस्य रश्मिभिः
मरिता भ्रमरीकृता भ्रमरशब्दात् 'तत्करोती'ति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः। वल्ल्याश्च
मरैर्भाव्यमिति भावः। तथाभूता भाः छाया यस्याः सा श्यामीकृतप्रभेत्यर्थः।
त एव तद्गुणालङ्कारः। शुचिः स्वभावतः शुभ्रा सौधस्य वस्त्रमेव वल्लिः पता-
त्यर्थः। रूपकसमासः। भ्रमरितभा इति रूपकादेव साधकात् दिवसकरस्य सूर्यस्य
ङ्कतले समीपदेशे उत्सङ्गप्रदेशे च चला चपला लुठन्ती परिवर्त्तमाना सती शम-
स्वसुर्यमुनायाः शिशुत्वं शैशवमलभत बालयमुनेव बभावित्यर्थः। बालिकाश्च
तुरङ्के लुठन्तीति भावः। अत्रान्यस्य शैशवेनान्यसम्बन्धासम्भवेऽपि तत्सदृशमिति
ादृश्याक्षेपान्निदर्शना पूर्वोक्ततद्गुणरूपकाभ्यां सङ्कीर्णा ॥ १०३ ॥

जिस (कुण्डिनपुरी) के अत्यन्त निर्मल नीलमके बने हुए महलोंकी किरणों तुल्य की गयी (घूमती हुई) कान्तिवाली स्वच्छ महलोंकी पताका सूर्यके समीप क्रोड = गोद) में चञ्चल तथा लोटती हुई यमुनाके शैशवको प्राप्त किया अ सूर्यके समीप चञ्चल तथा लोटती हुई बालिका यमुनाके समान उत्कृ शोभती थी ॥ १०३ ॥

स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकातिथ्यग्रहायोत्सुकं
पाथोदं निजकेलिसौधशिखरादारुह्य यत्कामिनी ।
साक्षादप्सरसो विमानकलितव्योमान एवाभव-
द्यन्न प्राप निमेषमभ्रतरसा यान्ती रसादध्वनि ॥ १०४

स्वेति । यत्कामिनी यन्नगराङ्गना विमानेन कलितं क्रान्तं व्योम याभिस्ता दप्सरसो दिव्याङ्गनैवाभवत् । 'स्त्रियां बहुष्वप्सरस' इत्यभिधानादेकत्वेऽपि ब प्रयोगः कृतः, यद्यस्मान्निजकेलिसौधशिखरादपादानात् स्वप्राणेश्वरस्य नर्महर्म्य सौधं तस्य कटकाश्रितत्वादातिथ्यग्रहाय स्वीकाराय तत्र विश्रमार्थमित्यर्थः। कमुद्युक्तं गच्छन्तमित्यर्थः, पाथोदं मेवमारुह्य रसाद्रागाद् यान्ती गच्छन्ती अभ्रतरसा मेघवेगेन हेतुना निमेषं न प्राप । अत्र नगरामराङ्गनयोर्भेदेऽपि अ घारोहणव्योमयानैः सैव इत्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

जिस (कुण्डिनपुरी) की कामिनी अपने क्रीडाप्रासादकी चोटी (ऊपरी छ अपने प्राणप्रियके क्रीडाप्रासादके आतिथ्य ग्रहण (विश्राम) करनेके लिए उ अर्थात् जाते हुए मेघपर आरूढ होकर अनुरागसे जाती हुई मेघ-वेगके कारण नहीं गिराया, अतएव विमानके द्वारा आकाशका अवलम्बन की हुई वह मानो अप्सरा ही हो गयी । [जिस नगरीको कामिनी अपने क्रीडा-प्रासादके अत्युन्न छतसे उस मेघपर चढ़ जाती है, जो मेघ उस कामिनीके प्राणेश्वरके क्रीडा-प्रा विश्राम करना चाहता है अर्थात् वहीं होकर जाता है, और मेघके वेगके का निर्निमेष (एक टक) देखती है, अतएव वह कामिनी विमानसे आकाशमें स्थित अप्सरा ही हो जाती है । उस कुण्डिनपुरीकी कामिनियोंके तथा उनके प्राणेश्वरोंके प्रासाद अत्युन्नत हैं, तथा कामिनियां अप्सराओंके समान सुन्दरी हैं] ॥ १०४ ॥

वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भै-
र्ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृतावाङ्मुखत्वैः ।
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेशं गताग्रै-
र्यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म ॥ १०५

वैदर्भीति । 'उत्ताना वै देवगवा वहन्ती'ति श्रुत्यर्थमाश्रित्याह—वैदर्भी मरकतशिखरादुत्थितैः अथ ब्रह्माण्डाघातेन भग्नो स्यदजमदो वेगगर्वो येषां

घ्रतम् अवाङ्मुखत्वं यैस्तैरधोमुखैः अतएव दिवि उत्तानगाया ऊर्ध्वमुखाया
ः । कस्याः सुरसुरभेः देवगव्या आस्यदेशं गताग्रैरंशुभिरेव दर्भैर्यस्या नगर्याः
न्धि गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तं नोज्जृम्भते स्म । किन्तु सर्वस्य अपि
दानाद्यत्तत्सुकृतमेवोज्जृम्भितमित्यर्थः। अत्युत्तमालङ्कारोऽयमिति केचित्। अंशुद-
ब्रह्माण्डाघाताद्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । स्रग्धरावृत्तं 'म्रभ्नै-
र्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेय'मिति लक्षणात् ॥ १०५ ॥

दमयन्तीके क्रीडापर्वतपर मरकत (पन्ना) मणियोंके अग्रभागसे उत्पन्न (होकर
की ओर जाते हुए, किन्तु ऊपरमें स्थित) ब्रह्माण्डके आघात (टक्कर) से ऊपर
के मदके भग्न होनेसे लज्जासे नम्रमुख हुए (अतएव) आकाशमें उत्तानगामिनी
कामधेनुकी मुखमें प्रविष्ट किरणरूप कुश तृण जिस (कुण्डिनपुरी) के गोग्रास
शाश्वत पुण्यको नहीं पाता है ? । [मरकत मणिके बने दमयन्तीके अत्युन्नत क्रीडा
की चोटीसे कुशाओंके समान हरे रंगकी किरण ऊपरकी ओर निकलती हैं, किन्तु
ण्डके साथ टकराकर ऊपर नहीं जा सकनेके कारण पुनः नीचेकी ओर लौटकर ऊपर
शमें उत्तान चलती हुई कामधेनु गायोंके मुखमें प्रविष्ट होकर ऐसी प्रतीत होती हैं
पुण्यलाभार्थ गायोंको हरे कुशाओंका निरन्तर गोग्रास दिया जाता हो] ॥ १०५ ॥

विधुकरपरिरम्भादात्तनिष्यन्दपूर्णैः
शशिदृषदुपक्लृप्तैरालवालैस्तरूणाम् ।
विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण
व्यरचि स हृतचित्तस्तत्र भैमीवनेन ॥ १०६ ॥

विधिवति । तत्र तस्यां नगर्यां शशिदृषदुपक्लृप्तैश्चन्द्रकान्तशिलाबद्धैः अत एव
करपरिरम्भात् चन्द्रकिरणसम्पर्कात् हेतोः आत्तनिष्यन्दैः जलप्रस्रवणैरेव पूर्णैस्त-
मालवालैर्विफलितं व्यर्थीकृतं जलसेकस्य प्रक्रियायां प्रकारे- गौरवं भारो यस्य
भैमीवनेन स हंसो हृतचित्तो व्यरचि । कर्मणि लुङ् । अत्रालवालानां चन्द्र-
तनिष्यन्दासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । एतदारभ्य चतुःश्लोक-
तं मालिनीवृत्तं–'न नमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैरि'ति लक्षणात् ॥ १०६ ॥

वहांपर चन्द्रकान्तमणिके बने हुए (अतएव) चन्द्रकिरणोंके संसर्गसे पसीजनेसे भरे
तथा वृक्षोंके थालाओंके द्वारा पानीके सींचनेके गौरव (परिश्रम) को निष्प्रयोजन
नेवाले दमयन्तीके क्रीडोद्यानने उस हंसके चित्तको आकृष्ट कर लिया । [चन्द्रकान्त
योंसे बने वृक्षोंके थाले चन्द्रकिरण स्पर्श होनेसे स्वयं जलपूर्ण होकर पानीके द्वारा सींचने
व्यर्थ कर देते थे, ऐसे दमयन्तीके क्रीडोद्यानको देखकर हंसका चित्त आकृष्ट हो गया]॥

अथ कनकपतत्रस्तत्र तां राजपुत्रीं
सदसि सदृशभासां विस्फुरन्तीं सखीनाम् ।

उडुपरिषदि मध्यस्थायिशीतांशुलेखाऽ-
नुकरणपटुलक्ष्मीमक्षिलक्षीचकार ॥ १०७ ॥

अथेति । अथ दर्शनानन्तरं कनकपतत्रः स्वर्णपक्षी तत्र वने सदृशभा तुल्यलावण्यानां सखीनां सदसि विस्फुरन्तीं 'स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्य' उडुपरिषदि तारकासमाजे मध्यस्थायिन्याः शीतांशुलेखायाश्चन्द्रकलायाः पटुः समर्था लक्ष्मीः शोभा यस्याः सा इत्युपमालङ्कारः । तां राजपुत्रीम् चकार अद्राक्षीदित्यर्थः ॥ १०७ ॥

इसके वाद वह सुवर्णमय (राजहंस) पक्षी वहां (क्रीडावनमें) समान सखियोंकी सभा (बीच) में देदीप्यमान उस राजकुमारी दमयन्तीको नक्ष बीचमें स्थित चन्द्रलेखाके तुल्य शोभती हुई देखा ॥ १०७ ॥

भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा खगेन
क्वचन पतनयोग्यं देशमन्विष्यताऽधः ।
मुखविधुमदसीयं सेवितुं लम्बमानः
शशिपरिधिरिवोच्चैर्मण्डलस्तेन तेने ॥ १०८ ॥

भ्रमणेति । अधो भूतले क्वचन कुत्रचित्पतनयोग्यं देशं स्थानम् अन्विष षमाणेन अत एव भ्रमणरयेण विकीर्णा स्वर्णस्य भा दीप्तिर्यस्य तेन खगेन अयम् अदसीयम् 'वृद्धाच्छः' 'त्यदादीनि चे'ति वृद्धिसंज्ञा । मुखेन्दुं सेवितुं स्रंसमानः शशिपरिधिः चन्द्रपरिवेष इव उच्चैरुपरि मण्डलो वलयः ते तनोतेः कर्मणि लिट् । उत्प्रेक्षास्वभावोक्त्योः सङ्करः ॥ १०८ ॥

घूमने (चक्कर लगाने) के वेगसे स्वर्णकान्तिको फैलानेवाले तथा कहीं योग्य स्थानको ढूँढ़ते हुए उस (राजहंस[1]) पक्षीने इस (दमयन्ती) के मुखचन्द्र लिए नीचेकी ओर आये हुए चन्द्रपरिधिके समान मण्डल किया [अर्थात् पृथ्वी हुए उस राजहंसने जो ऊपरमें चक्कर लगाया, वह ऐसा ज्ञात होता था कि द मुखचन्द्रकी सेवाके लिए चन्द्रपरिधि (चन्द्रमाका घेरा) नीचे आ गया हो । बैं समय चक्कर लगाकर उतरना पक्षियोंका स्वभाव होता है, तदनुसार ही नीचे हुआ राजहंस चारो ओर चक्कर लगाने लगा] ॥ १०८ ॥

अनुभवति शचीत्थं सा घृताचीमुखाभि-
र्न सह सहचरीभिर्नन्दनानन्दमुच्चैः ।

---

[1] 'सूनोग्रराजभोजकुलमेरुभ्यो दुहितुः पुत्रङ् वा' इति राजशब्दात्परस्य दुहि पुत्रडादेशे टित्त्वात् ङीपि राजपुत्रीति । केचित्तु शार्ङ्गरवादिषु पुत्रशब्दं पठन्ति । हूतपुत्रीति सिद्धम्' इति 'प्रकाश' कृदाह ।

इति मतिरुदयासीत्पक्षिणः प्रेक्ष्य भैमीं
विपिनभुवि सखीभिस्सार्धमाबद्धखेलाम् ॥ १०६ ॥

नुभवतीति । विपिनभुवि वनप्रदेशे सखीभिः सहचरीभिः 'सख्यशिश्वीति
यामि'ति निपातनात् ङीप् । सार्द्धमाबद्धखेलामनुबद्धक्रीडां, 'क्रीडा खेला च
मि'त्यमरः । भैमीं प्रेक्ष्य पक्षिणः सा प्रसिद्धा शची इन्द्राणी घृताचीमुखाभिः
रीभिः सह इत्थमुच्चैरुत्कृष्टं नन्दनानन्दं नन्दनसुखं नानुभवतीति मतिः बुद्धि-
सीदुत्थिता । अत्र प्रेक्ष्य मतिरिति मननक्रियापेक्षया समानकर्त्तृकत्वात् पूर्व-
वाच्च प्रेक्ष्येति क्त्वानिर्देशोपपत्तिः, तावन्मात्रस्यैव तत्प्रत्ययोत्पत्तौ प्रयोजकत्वात् ।
न्यत्वप्रयोजकमिति न कश्चिद्विरोधः । अत्रोपमानादुपमेयस्याधिक्योक्तेर्व्यतिरे-
ङ्कारः 'भेदप्रधानसाधर्म्यमुपमानोपमेययोः । आधिक्यादल्पकथनाद्व्यतिरेकः स
ते ॥' इति लक्षणात् ॥ १०९ ॥

वह (सुप्रसिद्ध) इन्द्राणी, घृताची आदि (अप्सरा) सहचरियोंके साथ इसी प्रकार
यन्तीके समान) नन्दन वनमें आनन्द पाती हैं क्या ?' ऐसा विचार क्रीडोद्यानमें
योंके साथ क्रीडा करती हुई दमयन्तीको देखकर हंसको हुआ ॥ १०९ ॥

श्रीहर्षः कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरस्सुतं
श्रीहीरस्सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
द्वैतीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥११०॥

श्रीहर्षमित्यादि । व्याख्यातम् । द्वितीय एव द्वैतीयीकः, 'द्वितीयादीकक् स्वार्थे
क्तव्य' इतीकक्द्वैतीयीकतया मितो द्वितीयत्वेन गणितः द्वितीय इत्यर्थः, अगमत् ॥

इति 'मल्लिनाथ'सूरिविरचितायां 'जीवातु' समाख्यायां नैषधटीकायां
द्वितीयः सर्गः समाप्तः ॥ २ ॥

* * *

कविराज……………उत्पन्न किया, उसके मनोहर रचनारूप 'नैषधीयचरित' नामक
ाव्यमें द्वितीयसर्ग समाप्त हुआ । (शेष व्याख्या प्रथमसर्गके समान जाननी चाहिये) ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ ॥ २ ॥

* * *

तृतीयः सर्गः

आकुञ्चिताभ्यामथ पक्षतिभ्यां नभोविभागात्तरसाऽवतीर्य ।
निवेशदेशाततधूतपक्षः पपात भूमावुपभैमि हंसः ॥ १ ॥

आकुञ्चिताभ्यामिति। अथ मण्डलीकरणानन्तरं हंसः। आकुञ्चिताभ्यां पक्षतिभ्यां लाभ्यां नभोविभागादाकाशदेशात्तरसा वेगेनावतीर्य निवेशदेशे उपनिवेशस्थाने तौ विस्तारितौ धूतौ कम्पितौ च पक्षौ येन सः तथा सन्नुपभैमि भैम्याः समीपे, प्येऽव्ययीभावः, नपुंसकं, ह्रस्वत्वं च। भूमौ पपात। स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥१॥

इस (मण्डलाकार चक्कर लगाने) के बाद सङ्कुचित दोनों पङ्खोंसे आकाश से झट उतरकर बैठनेकी जगह फैलाये गये पङ्खोंको कँपाता (फड़फड़ाता) हुआ वह हंस न्तीके पास भूमिपर आ गया ॥ १ ॥

आकस्मिकः पक्षपुटाहतायाः क्षितेस्तदा यः स्वन उच्चचार ।
द्रागन्यविन्यस्तदृशः स तस्याः संभ्रान्तमन्तःकरणञ्चकार ॥ २ ॥

आकस्मिक इति। तदा पतनसमये पक्षपुटाहतायाः क्षितेः। अकस्माद्भव आक- कः अदृष्टहेतुको निर्हेतुक इत्यर्थः। यः स्वनो ध्वनिरुच्चचार उत्थितः, स स्वनः विन्यस्तदृशः विषयान्तरनिविष्टदृष्टेस्तस्याः भैम्याः अन्तःकरणं द्राक् झटिति ान्तं ससंभ्रमं चकार। अकाण्डेऽसम्भावितशब्दश्रवणाच्चमत्कृतचित्ताऽभूदि- ः। स्वभावोक्तिः ॥ २ ॥

दोनों पङ्खोंसे आहत पृथ्वीसे अकस्मात् जो शब्द हुआ, उसने दूसरी ओर देखती हुई यन्तीके अन्तःकरणको सम्भ्रान्त (कुछ घबड़ाया हुआ तथा आश्चर्ययुक्त) कर दिया। के नीचे उतरनेसे एकाएक उत्पन्न शब्दसे दूसरी ओर देखती हुई दमयन्ती कुछ ा गयी एवं आश्चर्यचकित हो गयी] ॥ २ ॥

नेत्राणि वैदर्भसुतासखीनां विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि ।
प्रापुस्तमेकं निरुपाख्यरूपं ब्रह्मेव चेतांसि यतव्रतानाम् ॥ ३ ॥

नेत्राणीति। विदर्भाणां राजा वैदर्भः। तस्य सुतायाः भैम्याः सखीनां नेत्राणि मुक्तास्तत्तद्विषयग्रहाः तत्तदर्थग्रहणानि अन्यत्र तत्तद्विषयासङ्गो यैस्तानि सन्ति मेकचरम् अद्वितीयञ्च नोपाख्यायत इति निरुपाख्यमवाच्यं रूपमाकारः, स्वं रूपं च यस्य तं पुरोवर्त्तिनं हंसं तत्पदार्थभूतञ्च यतव्रतानां योगिनां चेतांसि परात्मानमिव प्रापुः, अत्यादरेणाद्राक्षुरित्यर्थः ॥ ३ ॥

उन-उन (विभिन्न) विषयोंको ग्रहण करने (देखने) वाले विदर्भराज-कुमारी मयन्ती) को सखियोंके नेत्र अनिर्वचनीय उस एक हंसको उस प्रकार प्राप्त हुए खने लगे), जिस प्रकार योगियोंके चित्त अनिर्वचनीय रूपवाले एक ब्रह्मको प्राप्त

होते हैं। [अनिर्वचनीय रूपवाले ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर योगियोंके चित्त अनिर्वचनीय सुवर्णकाय राजहंसको देखनेपर दमयन्तीकी सखियोंको आनन्द

हंसं तनौ सन्निहितं चरन्तं मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम्
ग्रहीतुकामादरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे

हंसमिति। असौ दमयन्ती मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायां स्वकीयायां रकात् पूर्वस्ये’तीकारः। तनौ शरीरान्तिके अन्यत्र तदभ्यन्तरे सन्निहित विभूतं च चरन्तं सञ्चरन्तं वर्त्तमानं च हंसं मरालं परमात्मानं च, ‘हंसो परमात्मनि मत्सर’ इति विश्वः। अदरिणा निर्भीकेण शयेन पाणिना ‘दरो श्वभ्रे’, ‘पञ्चशाखः शयः पाणिरि’त्यमरः। अन्यत्र आदरिणा आदरवता आशं ग्रहीतुकामा साक्षात्कर्त्तुकामा च यत्नात् निश्चलतां निश्चलाङ्गत्वं जगाहे

इस (दमयन्ती) ने सन्निहित (समीपस्थ, या—श्रेष्ठ = नलके द्वारा भेजे चलते हुए हंसको भययुक्त (या—आदरयुक्त) हाथसे पकड़नेके लिए यत्न शरीरमें उस प्रकार निश्चलताको प्राप्त किया अर्थात् अपने शरीरको स्थिर प्रकार सन्निहित (सत् = मन्वादिके द्वारा सम्यक् प्रकारसे ध्यान किये गये, सज्जन मन्वादिके लिए अतिशय हितकारक) तथा अपने शरीरमें विचरते हुए को आदरान्वित आशयसे अर्थात् सादर ग्रहण करनेके लिए मुनिकी मनोवृत्ति न्तरसे हटकर) यत्नपूर्वक निश्चलताको प्राप्त होती है। [दमयन्तीने समीप पकड़नेके लिए शरीरको निश्चल (के तुल्य) बना लिया, किन्तु उसके मनमें बनी ही रही] ॥ ४ ॥

तामिङ्गितैरप्यनुमाय मायामयं न धैर्याद्वियदुत्पपात।
तत्पाणिमात्मोपरिपातुकं तु मोघं वितेने प्लुतिलाघवेन।

तामिति। अयं हंसस्तां पूर्वोक्तां मायां कपटमिङ्गितैश्चेष्टितैरनुमाय धैर्यात् स्थैर्यमास्थाय ल्यब्लोपे पञ्चमी। वियदाकाशं प्रति नोत्पपात नोत्प आत्मन उपरि पातुकम्पतयालुं ‘लषपते’त्यादिना उकञ् प्रत्ययः। तस्याः प्लुतिलाघवेन उत्पतनकौशलेन मोघं वितेने विफलयत्नम् अकरोत् जनयति न तु पाणौ लगतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

यह हंस दमयन्तीकी चेष्टाओंसे उसकी मायाको जानकर भी आकाशमें किन्तु अपने ऊपर आते हुए उसके हाथको थोड़ा उछलनेसे निष्फल [दमयन्तीका हाथ जब उसके ऊपर पकड़नेके लिए अधिक निकट होता था, थोड़ा उछलकर दूर हट जाता था, जिससे वह उसे पकड़ नहीं पाती थी] ॥ ५ ॥

व्यर्थीकृतं पत्ररथेन तेन तथाऽवसाय व्यवसायमस्याः।
परस्परामर्पितहस्ततालं तत्कालमालीभिरहस्यतालम्

व्यर्थीकृतमिति । अस्याः भैम्याः व्यवसायं हंसग्रहणोद्योगं तेन पत्ररथेन पक्षिणा
र्थीकृतं तथाऽवसाय ज्ञात्वा तत्कालं तस्मिन् काले अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । स एव
हो यस्येति बहुव्रीहौ क्रियाविशेषणं वा । परस्परां परस्परस्यामित्यर्थः । 'कर्मव्य-
हारे सर्वनाम्नो द्विर्भावः समासवच्च बहुलमि'ति बहुलग्रहणादसमासवद्भावे
पदस्य प्रथमैकवचने कस्कादित्वाद्विसर्जनीयस्य सत्वमुत्तरपदस्य यथायोगं द्विती-
येकवचनं 'स्त्रीनपुंसकयोरुत्तरपदस्थाया विभक्तेराम्भावो वक्तव्य' इति विकल्पा-
मादेशः । अर्पितहस्ततालं दत्तहस्तताडनं यथा तथा आलीभिः सखीभिरलम्
यर्थम् अहस्यत हसितम् । भावे लङ् ॥ ६ ॥

उस पक्षी (हंस) के द्वारा उस प्रकार (थोड़ा उछल-उछलकर) व्यर्थ किये गये
यन्तीके उद्योग (हंसको पकड़नेका कार्य) को जानकर (दमयन्तीकी) सखियोंने ताली
कर परस्परसे उस (दमयन्ती) को सम्यक् प्रकारसे हँसा अर्थात् उसका बड़ा
हास किया ॥ ६ ॥

उच्चाटनीयः करतालिकानां दानादिदानीं भवतीभिरेषः ।
याऽन्वेति मां द्रुह्यति मह्यमेव साऽत्रेत्युपालम्भि तयाऽऽलिवर्गः ॥७॥

उच्चाटनीय इति । हे सख्यः ! भवतीभिरेष हंसः करतालिकानां दानादन्योन्य-
तताडनकरणादुच्चाटनीयः निष्कासनीयः किमिति काकुः, नोच्चाटनीय एवेत्यर्थः ।
आसु सख्ये या मामन्वेति सा मह्यमेव द्रुह्यति मां जिघांसतीत्यर्थः । 'क्रुधद्रुहे'-
दिना सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी । इतीत्थं तथा भैम्या आलिवर्गः सखीसंघः उपा-
म्भ अशापि, शापेनैव निवारित इत्यर्थः ॥ ७ ॥

इस समय (जब मैं इस सुवर्णमय सुन्दर हंसको पकड़नेके लिए इतना अधिक साव-
न होकर लग रही हूँ, ऐसे समयमें) हाथकी तालियाँ देकर तुम लोगोंको इसे उड़ाना
हिये ? इनमें जो मेरा अनुगमन करती है, वही मेरे साथ द्रोह कर रही है, इस प्रकार
(दमयन्ती) ने सखी–समूहको उपालम्भ दिया ॥ ७ ॥

धृताल्पकोपा हसिते सखीनां छायेव भास्वन्तमभिप्रयातुः ।
श्यामाऽथ हंसस्य करानवाप्तेर्मन्दाक्षलक्ष्या लगति स्म पश्चात् ॥ ८ ॥

धृतेति । अथ सखीनिवारणानन्तरं सखीनां हसिते हासनिमित्ते धृताल्पकोपा
सु ईषत्कोपा इत्यर्थः । भास्वन्तमभिप्रयातुः सूर्याभिमुखं गच्छतः छाया अनातप-
इव श्यामा यौवनमध्यस्था, 'श्यामा यौवनमध्यस्था' इत्युत्पलमालायाम् । अन्यत्र
मा नीला, हंसस्य कर्मणि षष्ठी । करेण हस्तेन अनवाप्तेरग्रहणाद्धेतोर्मन्दाक्षं
स्तेन लक्ष्या उपलक्ष्या हीना सतीत्यर्थः । अन्यत्र हंसस्य सूर्यस्य करानवाप्तेः
शुसंस्पर्शाभावात् मन्दाक्षैरपटुदृष्टिभिर्लक्ष्या ग्राह्या तैः छाया लक्ष्यते न प्रकाश
ति भावः । पश्चाल्लगति स्म पृष्ठे लग्नाऽभूत् प्राप्त्याशया तमन्वगात् । 'रविश्वेत-
दौ हंसौ', 'बलिहस्तांशवः कराः' इति चामरः ॥ ८ ॥

सखियोंके हँसने पर थोड़ा क्रुद्ध तथा हंसको हाथसे नहीं पकड़नेसे कुछ श्यामा (षोडशी) दमयन्ती सूर्यके सामने जानेवाले व्यक्तिके पीछे उसकी (काली) परछाहींके समान हंसके पीछे लग गयी (हंसके पीछे-पीछे चलने लगी

शस्ता न हंसाभिमुखी तवेयं[१] यात्रेति ताभिश्छलहस्यमाना ।
साऽऽह स्म नैवाशकुनीभवेन्मे भाविप्रियावेदक एष हंसः ॥

शस्तेति । तवेयं हंसस्य श्वेतच्छदस्य चाभिमुखी यात्रा गमनं न प्रशस्ता श्रेयस्करी न शास्त्रविरोधात् श्रमसन्तापदृष्टदोषाच्चेति भावः । इतीत्थं छलेन व्याजोक्त्या हस्यमाना सती भाविप्रियावेदको मङ्गलमूर्त्तित्वादागा सूचकः एष हंसो मे मम नाशकुनीभवेदेव, किन्तु शकुनमेव भवेदित्यर्थः । भवेदिति च गम्यते 'शकुनन्तु शुभाशंसानिमित्ते शकुनः पुमानि'ति विश्वः । तद्भावे च्विः' विध्यादिसूत्रेण प्रार्थने लिङ् । इत्याह स्म अवोचत्, 'ब्रुवः पञ्चा स्याहादेशः । एतेन तदीययात्रानिषेधोक्तदोषः परिहृतो वेदितव्यः ॥ ९ ॥

'हंस (मराल = राजहंस पक्षी, पक्षा०—सूर्य) के सम्मुख तुम्हारा यह गमन श्रेष्ठ (अभीष्ट फलप्रद) नहीं है' इस प्रकार उन (सखियों) के द्वारा हँसी दमयन्तीने कहा कि—भविष्य में प्रिय (शुभ) की सूचना देनेवाला (पक्षा०— होनेवाले प्रिय (नल) की सूचना देनेवाला) यह हंस अशकुनि (पक्षी भिन्न, अशुभ सूचक शकुनवाला) नहीं है अर्थात् यह पक्षी ही है, जिसके सम्मुख यात्रा निषिद्ध है, वह सूर्य नहीं है ॥ ९ ॥

हंसोऽप्यसौ हंसगतेस्सुदत्याः पुरःपुरश्चारु चलन् बभासे ।
वैलक्ष्यहेतोर्गतिमेतदीयामग्रेऽनुकृत्योपहसन्निवोच्चैः ॥

एवं दमयन्तीव्यापारमुक्त्वा सम्प्रति हंसस्य व्यापारमाह—हंसोऽपीति । हंसोऽपि हंसस्य गतिरिव गतिर्यस्यास्तस्याः सुदत्याः शोभनदन्तायाः भैम्याः व्याख्याता । रःपुरः वीप्सायां द्विर्भावः । अग्रे समन्तात्, चारु चलन् रम्यं सन् वैलक्ष्यमेव हेतुस्तस्य वैलक्ष्यहेतोः, अहो मामयमतिविडम्बयतीति तस्य विस्मयजननार्थमित्यर्थः । 'विलक्षो विस्मयान्वित' इत्यमरः । 'षष्ठी हेतुप्रयो षष्ठी । एतदीयाङ्गतिमनुकृत्य अभिनीय उच्चैरुपहसन्निवेत्युत्प्रेक्षा, बभासे लोके परिहासकाः तच्चेष्टाद्यनुकरणेन परान् विलक्षयन्ति ॥ १० ॥

यह हंस भी हंसगामिनी एवं सुदती (सुन्दर दाँतोंवाली दमयन्ती) के आ सम्यक् प्रकारसे चलता हुआ उसे लज्जित (या—आश्चर्यचकित) करनेके लि (दमयन्ती) के चलनेका अनुकरण कर उसे सम्यक् प्रकारसे हँसता हुआ-सा हुआ । [लोकमें भी कोई व्यक्ति किसीको लज्जित (या—'अहो ! यह भी मेरा

---

[१] 'पुनस्ते' इति 'प्रकाश' व्याख्यातः पाठः ।

र उपहास कर रहा है' इस भावनासे आश्चर्यचकित) करनेके लिए उसके गमनादिका अनुकरण करता हुआ उसे हँसता है]॥ १० ॥

पदे पदे भाविनि भाविनी तं यथा करप्राप्यमवैति नूनम् ।
तथा सखेलं चलता लतासु प्रतार्य तेनाचकृषे कृशाङ्गी ॥ ११ ॥

पदे पद इति । भावयन्तीति भाविनी हंसग्रहणमेव मनसा भावयन्ती कृशाङ्गी भैमी भाविनि भविष्यत्यनन्तर इत्यर्थः । 'भविष्यति गम्यादय' इति साधुः । पदे पदे तं हंसं यथा करप्राप्यं करग्राह्यं नूनं निश्चितमवैति प्रत्येति, तथा सखेलं चलता गच्छता तेन हंसेन प्रतार्य वञ्चयित्वा लतासु आचकृषे आकृष्टा, एकान्तं नीतेत्यर्थः ॥ ११ ॥

भाविनी (हंस-ग्रहणकी भावना वाली, दमयन्ती) अगले प्रत्येक डग (कदम—पग) पर जिस प्रकार उसे हाथसे ग्रहण करने योग्य समझती थी, उस प्रकारसे क्रीडापूर्वक चलता हुआ वह (हंस) कृशाङ्गी (दमयन्ती) को वञ्चितकर लताओंमें ले गया ॥ ११ ॥

रुषा निषिद्धालिजनां यदैनां छायाद्वितीयां कलयाञ्चकार ।
तदा श्रमाम्भःकणभूषिताङ्गीं स कीरवन्मानुषवागवादीत् ॥ १२ ॥

रुषेति । रुषा निषिद्धालिजनां निवारितसखीजनां यदा छाया एव द्वितीया यस्यास्तामेकाकिनीं कलयांचकार विवेद, तदा श्रमाम्भःकणभूषिताङ्गीं स्वेदाम्बुलवपरिष्कृतशरीरां स्विन्नगात्रान्तां स हंसः कीरवत् शुकवन्मनुष्यस्येव वाग्यस्य स सन्नवादीत् ॥ १२ ॥

जब हंसने क्रोधसे सखियोंको निषेधकी हुई दमयन्तीको अकेली जान लिया, तब परिश्रमके जल (पसीने) की बूँदोंसे भूपित अङ्गोंवाली (दमयन्ती) से तोतेके समान मनुष्यकी बोली बोलने लगा ॥ १२ ॥

अये ! कियद्यावदुपैषि दूरं व्यर्थं परिश्राम्यसि वा किमर्थम्[1] ? ।
उदेति ते भीरपि किन्तु[2] बाले विलोकयन्त्या न घना वनालीः ? ॥१३॥

अय इति । अये बाले ! व्यर्थं कियद्दूरं यावदुपैषि उपैष्यसि ? 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' । किमर्थं परिश्राम्यसि वा ? घनाः सान्द्रा वनालीर्वनपङ्क्तीर्विलोकयन्त्यास्ते भीरपि नोदेति किन्तु ? ॥ १३ ॥

हे दमयन्ति ! कितनी दूर तक आवोगी ?, व्यर्थ ही क्यों थक रही हो ?, हे बाले ! सघन वन-समूहोंको देखकर तुम्हें भय भी उत्पन्न नहीं होता ? । [अथवा—हे दमयन्ति ! कितनी दूर तक व्यर्थ आवोगी ! क्यों थक रही हो । हे नवीन सखियों वाली दमयन्ति ! सघन वन-समूहों………। या—………आवोगी ? व्यर्थ (वि+अर्थ अर्थात् मुझ पक्षीके लिए) क्यों परिश्रम करती हो ? । या—………आवोगी, इस प्रकार क्यों परि-

---

[1] 'किमित्थम्' इति पाठान्तरम् ।

[2] 'किन्नबाले' इति पाठान्तरम् ।

श्रम करती हो ?) । [हंस दमयन्तीसे समझता हुआ कहता है कि—‘तुम आवोगी ?, किसी महत्त्वपूर्ण वस्तुके लिए दूर जाना सङ्गत होनेपर भी एक पक्षीके इतना अधिक परिश्रम करना ठीक नहीं, सुवर्णमय पक्षीके लिए उत्कण्ठित होकर दूर तक आना एवं परिश्रम करना यथा कथञ्चित् उचित होने पर भी बाला (स्वयं या—नवीन-अप्रौढ सखियों वाली) तुमको सघन वन-समूहोंको देखकर भय होना चाहिये; इस प्रकार तुम इस कार्यमें प्रवृत्त मत होवो, लौट जावो’] ॥ १३ ॥

वृथाऽर्पयन्तीमपथे पदं त्वां मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः ।
आलीव पश्य प्रतिषेधतीयं कपोतहुङ्कारगिरा वनालिः ॥ १४ ॥

वृथेति । वृथा व्यर्थमेव न पन्था अपथम्, ‘ऋक्पूरि’त्यादिना समासान्तः ‘अपथं नपुंसकम्’ । तस्मिन्नपथे दुर्मार्गे अकृत्ये च पदं पादं व्यवसायं च अर्पं ‘पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुष्वि’त्यमरः । मरुता ललन् चलन् पल्लव पाणिस्तस्य कम्पैः कपोतहुङ्कारगिरा च वनालिः आलीव सखीव प्रतिषेधति यति, पश्य इति वाक्यार्थः कर्म । यथा लोके अमार्गवृत्तं सुहृज्जनः पाणिना च वारयति तद्वदित्यर्थः । अत एव पल्लवपाणीत्यादौ रूपकाश्रयणम् तत्स वनाल्याालीवेत्युपमा ॥ १४ ॥

यह वनपाङ्क्ति वायुसे विलास करते हुए पल्लवरूपी हाथोंके कम्पनोंसे एवं ‘हुङ्कार’ रूप वाणीसे बेराह चलती हुई तुमको सखीके समान रोक रही है, यह तुम

धार्यः कथंकारमहं भवत्या वियद्विहारी वसुधैकगत्या ।
अहो शिशुत्वं तव खण्डितं न स्मरस्य सख्या वयसाऽप्यनेन ॥ १५

धार्य इति । एकत्रैव गतिर्यस्यास्तया एकगत्या वसुधायामेकगत्या भूमात्रचा ण्येत्यर्थः । शिवभागवतवत्समासः । भवत्या वियद्विहारी खेचरोऽहं कथङ्कारं कथ त्यर्थः । ‘अन्यथैवं कथमित्थंसुसिद्धाप्रयोगश्चेदि’ति’ कथंशब्दोपपदात्करोतेर्णमुल् धार्यो धर्तुं ग्रहीतुं शक्य इत्यर्थः । ‘शकि लिङ् चे’ति चकाराच्छक्यार्थे कृत्यप्रत्यय अनेन स्मरस्य सख्या सखिना तदुद्दीपकेन वयसा यौवनेन सखिशब्दस्य भाषि पुंस्कत्वात् पुंवद्भावः । न खण्डितं न निवर्त्तितम् अहो विरुद्धवयसोरेकत्र समावेशा श्चर्यमित्यर्थः । अत्राधार्यत्वस्य वसुधागतिवियद्विहारपदार्थहेतुकत्वादेकः काव्यलि भेदस्तथा शैशवाखण्डनस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वादपर इति सजातीयसङ्करः ॥ १

केवल पृथ्वीपर चलनेवाली तुम आकाशमें विहार करनेवाले (इच्छापूर्वक चलने मुझको किस प्रकार पकड़ सकती हो ? अर्थात् कथमपि नहीं पकड़ सकती । आश्च कि कामदेवके मित्र इस अवस्था (युवावस्था) ने तुम्हारे बचपनको नहीं दूर किया अ युवावस्थाके आनेपर भी तुम्हारा बचपन नहीं गया, यह आश्चर्य है । (अथवा— देवतुल्य नलके मित्र इस पक्षीने अर्थात् मैंने तुम्हारे बचपनको खण्डित नहीं किया !

अर्थात् प्रायः खण्डित ही कर दिया शीघ्र नलकी प्राप्ति होनेसे तुम अपना बचपन प्रायः र हुआ ही समझो। [तुम केवल पृथ्वीपर चलने वाली हो अर्थात् पृथ्वीपर भी इच्छार्वक सर्वत्र गमन करनेमें समर्थ नहीं हो और मैं आकाशमें भी केवल चलने ही वाला हीं हूं, अपि तु विहार करनेवाला (इच्छापूर्वक सर्वत्र जाने वाला) हूँ—इस प्रकार तुम्हें केवल पृथ्वीपर चलनेसे और मुझे आकाशमें भी विहार करनेसे हम दोनोंकी गतिमें हुत अन्तर है, अत एव तुम मुझे किसी प्रकार भी नहीं पकड़ सकती हो] ॥ १५ ॥

सहस्रपत्रासनपत्रहंसवंशस्य पत्राणि पतत्रिणः स्मः ।
अस्मादृशां चाटुरसामृतानि स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि ॥ १६ ॥

अथ प्रस्तुतोपयोगितया निजान्वयं निवेदयति—सहस्रेति । सहस्रपत्रासनस्य कमलासनस्य पत्रहंसा वाहनहंसाः तेषां वंशस्य कुलस्य वेणोश्च पत्राणि वाहनानि पर्णानि च 'वंशो वेणौ कुले वर्गे','पत्रं स्याद्वाहने पर्णे' इति च विश्वः । पतत्रिणः स्मः ब्रह्मवाहनहंसवंश्याः वयमित्यर्थः । अस्मानिव पश्यन्तीति अस्मादृशामस्मद्विधानां त्यदादिष्वि'त्यादिना दृशेः क्विन् चाटुषु सुभाषितेषु ये रसाः शृङ्गारादयः त एव अमृतानि स्वर्लोके लोका जनाः, 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । तेभ्यः इतरैर्मनुष्यैर्दुर्लभानि लब्धुमशक्यानीत्यर्थः ॥ १६ ॥

हम लोग कमलासन (ब्रह्मा) के वाहन (हंस) के वंशके सहायक पक्षी अर्थात् ब्रह्मा के वाहन हंसवंशके कुलमें उत्पन्न हंस हैं। हम जैसे लोगोंके प्रियवचन-रसरूपी अमृत स्वर्गलोकके लोगोंसे भिन्न लोगों (मर्त्यलोक या पातालमें निवास करनेवाले लोगों) को दुर्लभ है। (अतः मुझे यथाकथञ्चित् पकड़ने पर भी तुम मुझसे कोई लाभ नहीं उठा सकती] ॥ १६ ॥

स्वर्गापगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाग्रभुजो भजामः ।
अन्नानुरूपां तनुरूपऋद्धिं कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते ॥ १७ ॥

अथ स्वाकारस्य कनकमयत्वे कारणमाह—स्वर्गेति । स्वर्गापगा स्वर्णदी तस्या हेममृणालिन्यस्तासां या नालाः काण्डाः यानि मृणालानि कन्दाश्च । अत्र नालामृणालशब्दस्य शब्दानुशासनं केषां शब्दानामितिवत्समासे गुणभूतेन सम्बन्धः सोढव्यः 'नाला नालमथाख्रियावि'त्यमरवचनान्नालेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः न च तत्रापि सन्देहः । तद् व्याख्यानेषु देशान्तरकोशेषु च स्त्रीलिङ्गपाठस्यैव दर्शनात् । तथा च दशमे सर्गे प्रयोक्ष्यते 'मृदुत्वमप्रौढमृणालनालया' इति, 'नाला स्याद्विसकन्द' इति विश्वः, तेषामग्राणि भुञ्जत इति तद्भुजः वयमिति शेषः । अन्नानुरूपामाहारसदृशीन्तनोः शरीरस्य रूपऋद्धिं वर्णसमृद्धिम् 'ऋत्यक' इति प्रकृतिभावः । भजामः प्राप्ताः स्म इत्यर्थः । तथा हि कार्यं जन्यं द्रव्यं निदानादुपादानात्, 'आख्यातोपयोग' इत्यपादानता गुणान् रूपादिविशेषगुणान् अधीते प्राप्नोतीत्यर्थः । प्राप्तिविशेषत्वाच्चि-

नस्तत्सामान्यलक्षणात् प्रायेण आहारपरिणतिविशेषपूर्विकाः प्राणिनां कायक इति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १७ ॥

(हंस अब अपने स्वर्ण-शरीर होनेका कारण कहता है—) आकाशगङ्गाको कमलिनीके नालके अग्रभाग (कमल तथा कमलदण्ड—बिस) को खानेवाले हम अन्न (खाद्य पदार्थ) के अनुरूप शरीरके रूपकी समृद्धि अर्थात् स्वर्ण शरीर को प्राप्त हैं, क्योंकि कार्य कारणके गुणोंको प्राप्त करता है । [सुवर्णकमल तथा सुवर्णबिस भ करनेसे हम लोगोंका शरीर भी सुवर्णमय है । 'हम ऐसा बहुवचन कहकर बहुत-से का सुवर्णमय शरीर होना सूचित करता है] ॥ १७ ॥

धातुर्नियोगादिह नैषधीयं लीलासरस्सेवितुमागतेषु ।
हैमेषु हंसेष्वहमेक एव भ्रमामि भूलोकविलोकनोत्कः ॥ १८ ॥

अथात्मनः क्ष्मालोकसञ्चरणे कारणमाह—धातुरिति । धातुर्ब्रह्मणो नियोगादा दिह भूलोके नैषधीयं नलीयं लीलासरः सेवितुं क्रीडासरसि विहर्तुमित्यर्थः । आग हैमेषु हेमविकारेषु । विकारार्थेऽण् प्रत्ययः । 'नस्तद्धित' इति टिलोपः । हंसेषु अहमेक एव भूलोकविलोकने उत्कः उत्सुकः सन् 'दुर्मना विमना अन्तर्मनाः स्या उन्मना' इत्यमरः । उच्छब्दात्कन् प्रत्ययान्तो निपातः भ्रमामि पर्यटामि ॥ १८

(वह ब्रह्माका वाहन होनेपर मर्त्यलोकमें आनेका कारण बतलाते हुए नलका भी उपस्थित करता है—) ब्रह्माकी आज्ञासे यहां (मर्त्यलोकमें) नलके क्रीडा सेवन करने (नलके क्रीडातडागमें विचरने) के लिए आये हुए सुवर्णमय हंसोंमें भूलो देखनेके लिए उत्कण्ठित अकेला मैं घूम रहा हूँ । [इससे हंसने नलके क्रीडासरमें बहु सुवर्णमय हंसोंका होना और ब्रह्माकी आज्ञासे वहां निवास करना कहकर उसका महत्त्व सूचित किया है] ॥ १८ ॥

विधेः कदाचिद् भ्रमणीविलासे श्रमातुरेभ्यस्स्वमहत्तरेभ्यः ।
स्कन्धस्य विश्रान्तिमदां तदादि श्राम्यामि नाविश्रमविश्वगोऽपि ॥

अनवरतभ्रमणेऽपि श्रमजये कारणमाह—विधेरिति । कदाचिद्विधेः ब्रह्मणो भ्र णीविलासे भुवनभ्रमणविनोदे श्रमातुरेभ्यः अवसन्नेभ्यः स्वमहत्तरेभ्यः स्व वृद्धेभ्यः स्कन्धस्यांसस्य, 'स्कन्धो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री'त्यमरः । विश्रान्तिमदां प्राद स्वयमेक एवाहमित्यर्थः । ददातेर्लुङि 'गातिस्थे'त्यादिना सिचो लुक् । तदादि त भृति अविश्रममनवरतं 'नोदात्तोपदेशे'त्यादिना श्रमेर्घञि वृद्धिप्रतिषेधः, वि विश्वं गच्छन्नपि 'अन्यत्रापि दृश्यत' इति गमेर्डप्रत्ययः । न श्राम्यामि न खिद्ये ॥

('जब तुम भूलोकको देखनेके लिए उत्कण्ठित होकर घूमते हो तो अधिक थके तुम्हारा पकड़ा जाना सम्भव है' इस दमयन्तीके मनोगत शङ्काका राजहंस खण्डन क है—) किसी समय ब्रह्माके भ्रमण-विलासमें थकनेसे दुःखी अपनेसे बड़े (हंसों)

लिए मैंने विश्राम दिया था, तबसे (ब्रह्माके वरदानके कारण) निरन्तर संसारका भ्रमण रता हुआ भी मैं नहीं थकता हूँ ॥ १९ ॥

बन्धाय दिव्ये न तिरश्चि कश्चित्पाशादिरासादितपौरुषस्स्यात् ।
एकं विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य ॥२०॥

अथ व्याधादिबन्धनमपि न मेऽस्तीत्याह—बन्धायेति । मादृशि दिव्ये तिरश्चि विषये विरलोदयस्य दुर्लभजन्मनो नरस्य मर्त्यस्य प्रायेणैवंविधो नास्तीत्यर्थः। अन्यत्र विरो विगतरेफः स चासौ लोदयो लोदयवांश्च मत्वर्थीयोऽकारः। तस्य रेफस्थानाधिष्ठितलकारस्य नलस्येत्यर्थः। शब्दधर्मोऽर्थ उपचर्यते, भुज्यत इति भोगः सुखं स्वर्भोगस्य स्वर्गसुखस्य भाग्यं तत्प्रापकादृष्टमित्यर्थः। स्वप्राप्तेस्तत्प्रापकत्वादिति भावः। तदेकं विना कश्चित् पाशादिः पाशाद्युपायः। बन्धाय बन्धनार्थमासादितपौरुषः प्राप्तव्यापारो न स्यात् ।।स्वर्भोगभाग्यैकसुलभा वयं, नोपायान्तरसाध्या इत्यर्थः। अस्मादृक्संसर्गादन्यः को नाम स्वर्गपदार्थ इति भावः ॥ २० ॥

('जाल आदिसे पक्षियोंका पकड़ा जाना सम्भव होनेसे तुम्हें भी पकड़ा जा सकता है' दमयन्तीके इस मनोगत शङ्काका निवारण करता हुआ हंस पुनः नलका प्रसङ्ग लाता है—) स्वर्गीय मुझ पक्षीको पकड़नेके लिए विरलोदय (विरल समृद्धि वाले) उस प्रसिद्ध नरके स्वर्गमें भोग करने योग्य भाग्यके विना कोई जाल आदि सामर्थ्यवान् (सफल) नहीं हो सकता। [पक्षा०—जिस 'नर' शब्दमें 'र' नहीं है और वहां 'ल' का उदय है, उस 'नर' अर्थात् 'नल' के स्वर्गमें भोग करने योग्य भाग्यके विना'''''''''अर्थात् केवल नलका ही ऐसा स्वर्गीय भाग्य है कि मुझ-जैसे दिव्य पक्षीको पकड़नेमें समर्थ हो सके अन्य जाल आदि कोई भी मुझे नहीं पकड़नेमें समर्थ होगा, मुझे पकड़नेके लिए तुम्हारा प्रयास करना व्यर्थ है] ॥ २० ॥

इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्यास्स्वर्भोगमत्रापि सृजन्त्यमर्त्याः ।
महीरुहो दोहदसेकशक्तेराकालिकं कोरकमुद्गिरन्ति ॥ २१ ॥

तच्च भाग्यं नलस्यैवास्तीत्याह—इष्टेनेति। इष्टेन यागेन पूर्तेन खातादिकर्मणा च। 'त्रिष्वथ क्रतुकर्मेष्टं पूर्तं खातादिकर्मणी'त्यमरः। वश्याः वशङ्गता इति प्राग्दीव्यतीयो यत्प्रत्ययः। अमर्त्या देवा नलस्यात्रापि भूलोके स्वर्भोग सृजन्ति स्वर्गसुखं सम्पादयन्तीत्यर्थः। ननु देवाश्च कथं लोकान्तरकायान्तरभोग्यं स्वर्गमिदानीं सृजन्तीत्याशङ्कां दृष्टान्तेन परिहरति। महीरुहो वृक्षाः दोहदस्य अकालप्रसवोत्पादनद्रव्यस्य सेकस्य जलसेकस्य शक्तेः सामर्थ्यात् समानकालावाद्यन्तौ उत्पत्तिविनाशावस्येत्याकालिकः उत्पत्त्यनन्तरविनाशीत्यर्थः। 'आकालिकडाद्यन्तवचन' इति समानकालशब्दस्याकालशब्दादेशो ठञ्प्रत्ययान्तो निपातः। प्रकृते स्वकालभवं कोरकमुद्गिरन्तीत्यर्थः। 'तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम्। पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं

स्यात्तु तत्क्रिया’ इति शब्दार्णवे। दोहदवशाद् वृक्षा इव देवता अपि उत्कटपुण्यव
देशकालेऽपि फलं प्रयच्छन्तीत्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २१ ॥

(अब दो श्लोकों (३।२१–२२) से मर्त्यलोकवासी भी नलके स्वर्भोग्य भ
प्रतिपादन करता है—) देवलोग यागादि तथा तडाग–वाटिकादिसे नलके वशीभूत
यहां पर (इस भूलोकमें) भी स्वर्गीय भोगकी रचना करते हैं, क्योंकि वृक्ष भी
सेकके प्रभावसे असमयमें कलिकाको उत्पन्न करते हैं । अथवा—जब अमर्त्य (मनुष्य
जड वृक्ष भी इष्ट (दोहद–धूप खाद आदि देने) तथा पूर्त्त (थालामें पानी आदि
से असमयमें कलिकाको देते हैं, तब सर्वशक्ति सम्पन्न देवगण यज्ञ तथा वापी–कूप–त
रामादिसे प्रसन्न होकर मर्त्यलोकमें भी नलके लिए स्वर्गीय भोग देते हैं, इसमें कौन
आश्चर्य है ?) ॥ २१ ॥

सुवर्णशैलादवतीर्य तूर्णं स्वर्वाहिनीवारिकणावकीर्णैः ।
तं वीजयामः स्मरकेलिकाले पक्षैर्नृपं चामरबद्धसख्यैः ॥

स्वर्भोगमेवाह–सुवर्णेति । सुवर्णशैलान्मेरोस्तूर्णमवतीर्य्य अवरुह्य स्वर्वाहि
रिकणावकीर्णैः मन्दाकिनीजलबिन्दुसम्पृक्तैः चामरेषु बद्धसख्यैस्तत्सदृशैः पक्षैः
स्मरकेलिकाले तं नृपं वीजयामः तादृक्पक्षवीजनैः सुरतश्रान्तिमपनुदाम इत्यर्थः ॥

देवों (या—चामर) के साथ मित्रता करनेवाले हम लोग (मुझ–जैसे बहु
सुवर्णमय हंस) काम-क्रीडाके समय सुमेरुपर्वतसे शीघ्र उतरकर आकाशगङ्गाके जल
आर्द्र पक्षों द्वारा उस (नल) को हवा करते हैं । [उपर्युक्त श्लोकमें देवलोग न
स्वर्ग–भोगकी रचना करते हैं, तथा इस श्लोकमें कथित हवा करनेसे हम लोग स्वर्गभो
रचना करते हैं, अत एव हमारा तथा देवोंका नलके लिए स्वर्गीय भोगरचनारू
कार्य होनेसे परस्परमें मैत्री होना उचित ही है, तथा राजा नलका चामरके द्वारा
की जाती है, और हम लोग पक्षों द्वारा हवा करते हैं, अतः समान कार्य होनेसे चाम
साथ भी हमारी मित्रता होना उचित ही है] ॥ २२ ॥

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया ।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात् ॥

क्रियेतेति । साधुविभक्तिचिन्तां सज्जनविभागविचारः क्रियेत चेत्सा नला
धाना व्यक्तिः मूर्तिः प्रथमाभिधेया प्रथमं परिगणनीया । कुतः या व्यक्तिः स्वौ
विलासैर्व्याप्तिभिः तावद्बहु तथा प्रभूतं नास्ति नामो नतिर्यस्येति–अनाममनम्रं
परराष्ट्रं साधयितुं स्वायत्तीकर्तुं क्षमा समर्था स्यात् । अन्यत्र साधुविभक्तिचि
सप्तविभक्तिविचारः क्रियेत चेत् यदा सा प्रथमा व्यक्तिः अभिधेया विचार्य्या,
स्वौजसां ‘सु औ जस्’ इत्येषां प्रत्ययानां विलासैः विस्तारैस्तावद्बहु अनेकं नाम
सुबन्तपदं ‘वृक्ष’ इत्यादिकं पदं साधयितुं निष्पादयितुं क्षमा । अत्राभिधायाः प्र
र्थमात्रनियन्त्रितत्वाल्लक्षणायाश्चानुपपत्त्यभावेनाभावादप्रकृतार्थप्रतीतिर्ध्वनिरेव ॥

यदि सज्जनोंके विभाजनका विचार किया जाय तो वह (नल) प्रथम व्यक्ति होगा, ी अपने पराक्रमके विलासोंसे बहुत-से शत्रुस्थानोंको वशमें करनेके लिए समर्थ है। पक्षा०—यदि ('सुप्-तिङ्' रूप) साधु विभक्तिका विचार किया जाय तो 'प्रथमा' नाम प्रसिद्ध वह व्यक्ति होगी, जो 'सु-औ-जस्' (एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन) के लासोंसे बहुत-में 'नाम' अर्थात् प्रातिपदिक पदोंको सिद्ध करनेके लिए समर्थ है। 'प्राति दिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' (पा० सू० २।३।४६) के नियमानुसार सब विभ- क्योंमें-से किसी विभक्ति-विशेषकी प्राप्ति नहीं रहनेपर 'प्रातिपदिकार्थ' में प्रथमा विभ- क्का प्रयोग सामान्यतः होता है, अत एव वह प्रथमा विभक्ति ही 'सु-औ-जस्' रूप त्ययोंके विसर्गलोप, वृद्धि, दीर्घ आदि कार्योंके विलाससे 'प्रातिपादिक पदको सिद्ध करने समर्थ होती है। अथ च—यदि एकवचन आदि विभक्तियोंमें साधु विभक्तियोंका विचार या जाय तो 'सु' औ, जस्' के बीचमें प्रथमा (पहली) विभक्ति अर्थात् 'सु' विभक्ति ोगी, जो अपने विसर्ग-लोपादिरूप बलके विलासोंसे प्रातिपदिक पदको सिद्ध करनेके ए बहुत समर्थ है। 'अपदं न प्रयुञ्जीत', 'एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते' अर्थात् अपद साधुत्व-हीन) शब्दका प्रयोग नहीं करना चाहिये, एकवचनका प्रयोग स्वभावतः किसी विभक्ति-विशेषकी आकाङ्क्षा नहीं रहने पर भी स्वतः एव) किया जाता है' इस द्धान्तके अनुसार 'सु, औ, जस्' विभक्तियोंमें भी पहली 'सु' विभक्ति सब प्रातिपदिक दको सिद्ध करनेके लिए सर्वथा समर्थ है]॥ २३॥

राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा कृत्वाऽध्वराज्योपमयेव राज्यम्।
भुङ्क्ते श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः पूर्वं त्वहो शेषमशेषमन्त्यम्॥ २४॥

राजेति। 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्', 'सुयजोर्ङ्वनिप्,' श्रिताः आश्रिताः ये श्रोत्रियाः छान्दसा अधीतवेदा इत्यर्थः। 'श्रोत्रियच्छान्दसौ समावि'त्यमरः। 'श्रोत्रि- च्छन्दोऽधीत' इति निपातः। तत्सात्कृता दानेन तदधीना कृता श्रीः सम्पद्येन सः ाजा नलः अध्वरेषु यदाज्यन्तद्रूपमया तत्सादृश्येनैव तद्वदेवेत्यर्थः। राज्यं विबुधा वा विद्वांसश्च तद्व्रजत्रा दानेन तत्सङ्घाधीनं कृत्वा 'देये त्रा चे'ति चकारादितरत्र ातिप्रत्ययश्च, 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिरि'त्यव्ययत्वम्, पूर्वं पूर्वनिर्दिष्टमध्वराज्य शेषं तशेषं भुङ्क्ते अन्त्यं पश्चान्निर्दिष्टं राज्यन्त्वशेषं कृत्स्नमखण्डं भुङ्क्ते, अहो उपयुक्ता न्यः शेषः पूर्वस्याशेषस्य तथात्वम्, अन्त्यस्य अशेषत्वं कथं विरोधादित्याश्चर्यम्, त एव विरोधाभासोऽलङ्कारः, अखण्डमिति परिहारः॥ २४॥

आश्रयस्थ श्रोत्रियों (वेदपाठियों) के अधीन करनेवाले अर्थात् वेदपाठियोंको धन- ान करनेवाले तथा सविध यज्ञकर्ता वे (राजा नल) यज्ञ के घीके दृष्टान्तसे ही राज्यको द्वत्समूह (पक्षा०—देवसमूह) के अधीन करके पहले (यज्ञशेष घृत) को शेष (बचा आ) तथा अन्तिम (राज्य) को अशेष (सम्पूर्ण) भोग करते (खाते, पक्षा०—भोगते)

हैं, यह आश्चर्य है । [राजा नल आश्रयमें रहनेवाले श्रोत्रियों (जन्म, संस्कार तथा
से युक्त ब्राह्मणों) को धन देकर जिस प्रकार यज्ञके घृतको विबुधों (देवों) के
अधीन करते (उन्हें देते हैं, उसी प्रकार राज्यको भी विबुधों (विशिष्ट विद्वानों) के
अधीन करके प्रथम अर्थात् यज्ञघृतको शेष (यज्ञ-कर्मसे बचा हुआ) भोजन
तथा अन्तिम (राज्य) को अशेष (सम्पूर्ण) भोग करते हैं, यह आश्चर्य है, क्योंकि
वस्तु पहले खायी जाती है, वह सम्पूर्ण तथा जो बादमें खायी जाती है, उसे
खाया जाता है' ऐसा साधारण लौकिक नियम है, किन्तु ये राजा नल पूर्व (यज्ञ-
को शेष तथा अन्तिम (राज्य) को सम्पूर्ण भोजन करते (पक्षा०—भोगते) हैं
आश्चर्य है । अथ च—सर्वसाधारणके भोज्य होनेसे मार्गमें जो राज्य, तत्साम
राज्यका भोग करनेवाले ये नल राज्यको अशेष (सम्पूर्ण) भोग करते हैं यह आश्च
विधिवत् हवनकर आश्रित श्रोत्रियोंको धन देनेवाले तथा समुद्रावधि सम्पूर्ण रा
भोगनेवाले राजा नल हैं] ॥ २४ ॥

दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैरमोघमेघव्रतमर्थिसार्थे ।
सन्तुष्टमिष्टानि तमिष्टदेवं नाथन्ति के नाम न लोकनाथम् ॥

दारिद्र्येति । दारिद्र्यं दारयति निवर्तयतीति तस्य दारिद्र्यदारिणो
वस्य धनराशेर्वर्षैरर्थिसार्थे विषये अमोघमेघव्रतं वर्षुकत्वलक्षणं यस्य तं सन्तुष्
हृष्टमिष्टदेवं यज्ञाराधितसुरलोकनाथं तं नलं के नाम इष्टानि न नाथन्ति ? न
सर्वेऽपि नाथन्त्येवेत्यर्थः । नाथतेर्याच्ञार्थस्य दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम् ॥ २५

दरिद्रताको दूर करनेवाले धनराशिकी वर्षाओंसे याचक-समूहमें सफल
(दान कर्मसे) सन्तुष्ट, देव-यज्ञ करनेवाले (या—इष्ट हैं अभीष्ट देव जिसके ऐसे,
(याचकोंके लिए) अभीष्ट देवरूप) उस राजा (नल) से कौन लोग अभीष्ट (
की प्रार्थना नहीं करते हैं ? अर्थात् राजा नलसे सभी लोग अभिलषित धनादिको
हैं । [जिस प्रकार याचना करनेपर मेघ वर्षासे धान्योत्पादनके द्वारा सभी लोगोंकी
द्रताको दूर करता है, उसी प्रकार राजा नल भी अधिक धन देकर सभी याचकोंकी
द्रताको दूर करते हैं, अतएव मेघके समान दरिद्रताको दूर करनेसे नल का व्रत (
सफल है] ॥ २५ ॥

अस्मत्किल श्रोत्रसुधां विधाय रम्भा चिरं भामतुलां नलस्य ।
तत्रानुरक्ता तमनाप्य भेजे तन्नामगन्धान्नलकूबरं सा ॥ २६

अस्मदिति । सा प्रसिद्धा रम्भा नलस्यातुलामनुपमां भां सौन्दर्यमस्म
श्रोत्रसुधां विधाय कर्णे अमृतं कृत्वा रसादाकर्ण्येत्यर्थः । तत्र तस्मिन्नले
सती तं नलमनाप्य अप्राप्य, आङ्पूर्वादाप्नोतेः क्त्वो ल्यबादेशः नञ्सम
अन्यथा त्वसमासे ल्यबादेशो न स्यात् तन्नामगन्धात्तस्य नलस्य नामावयवसं
द्धेतोर्नलकूबरं कुबेरात्मजं भेजे किल । तादृक्तस्य सौन्दर्यमिति भावः ॥ २६ ॥

वह (सुप्रसिद्ध स्वर्गीय) रम्भा नामकी अप्सरा हमलोगोंसे नलकी अनुपम शोभाको देरतक सुनकर उनमें अनुरक्त हुई, और उनको नहीं पाकर उनके नामके कुछ भाग से नलकूबरकी सेवा करने लगी (नलकूबरको पतिरूपमें प्राप्त कर उनकी सेवामें लग) ! [लोकमें भी अभीष्ट वस्तुको पूर्णतः नहीं प्राप्त होनेपर उसके सदृश वस्तुको प्राप्त उसीकी सेवा करते लोगोंको देखा जाता है] ॥ २६ ॥

स्वर्लोकमस्माभिरितः प्रयातैः केलीषु तद्गानगुणान्निपीय ।
हा हेति गायन् यदशोचि तेन नाम्नैव हाहा हरिगायनोऽभूत् ॥ २७ ॥

स्वर्लोकमिति । केलीषु विनोदगोष्ठीषु तस्य नलस्य कर्तुर्गाने गुणान्निपीय इतः माल्लोकात् स्वर्लोकं प्रयातैरस्माभिर्हरिगायनः इन्द्रगायको गन्धर्वः 'ण्युट् चे'ति यतेः शिल्पिनि ण्युट्प्रत्ययः । गायन् यद्यस्मात् हाहेत्यशोचि, ततस्तेनैव कारणेन म्ना हाहा अभूत्, आलापाक्षरानुकारादिति भावः । 'हाहाहूहूश्चैवमाद्या गन्ध- स्त्रिदिवौकसामि'त्यमरः । 'आलापाक्षरानुकारनिमित्तोऽयमाकारान्तः पुंसि चे'ति चित् । 'हाहा खेदे हूहू हर्षे गन्धर्वेऽमू अनव्यय' इति विश्वः । अव्ययमेवेति भोजः । न शोकनिमित्तासम्बन्धेऽपि सम्बन्धादतिशयोक्तिः । तथा च गन्धर्वातिशायि नमस्येति वस्तु व्यज्यते ॥ २७ ॥

क्रीडाके समयमें उस (नल) के गानेके गुणोंको अच्छी तरह पीकर अर्थात् सुनकर ां (मर्त्यलोक) से स्वर्गको गये हुए हम लोगोंने (स्वर्गमें गान करते हुए गन्धर्वको) 'हा, हा', सोचा (राजा नलके गानेकी तुलनामें तुम्हारा गाना अत्यन्त तुच्छ है, इस अभिप्रायसे जो 'हा, हा? कहा) तो उस इन्द्रके गन्धर्वका नाम ही 'हा हा' पड़ गया । राजा ल गान विद्यामें भी 'हाहा' नामक स्वर्गीय गन्धर्वसे अधिक निपुण है] ॥ २७ ॥

शृण्वन् सदारस्तदुदारभावं हृष्यन्मुहुर्लोम पुलोमजायाः ।
पुण्येन नालोकत नाक[1]पालः प्रमोदबाष्पावृतनेत्रमालः ॥ २८ ॥

शृण्वन्निति । नाकपाल इन्द्रः सदारः सवधूकः तस्य नलस्य उदारभावमौदार्यं ण्वन्नत एव प्रमोदबाष्पैरानन्दाश्रुभिरावृतनेत्रमालस्तिरोहितदृष्टिव्रजः सन् पुलोम- यः शच्याः मुहुर्हृष्यन्नलानुरागादुल्लसल्लोमरोमाञ्चं पुण्येन शच्या भाग्येन लोकत नापश्यत् अन्यथा मानसव्यभिचारापराधाद् दण्ड्यैवेत्यर्थः ॥ २८ ॥

स्त्री (इन्द्राणी) के साथ नलकी उदारताको सुनते हुए (हर्षाश्रुसे व्याप्त नेत्र-समूह के) इन्द्रने इन्द्राणीके बार-बार पुलकित होते हुए रोमको (नलमें अनुराग होनेसे उत्पन्न द्राणी के रोमाञ्चको, इन्द्राणीके) पुण्य (भाग्यातिशय) से नहीं देखा [अन्यथा यदि द्राणीके रोमाञ्चको इन्द्र देख लेते तो नलमें अनुरक्त होनेसे इसे शृङ्गारसम्बन्धी रोमाञ्चरूप त्त्विकभाव हो रहा है, अत एव यह पतिव्रता नहीं है, ऐसा समझकर उसका त्यागकर

---

१. 'लोकपाल' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः ।

देते, किन्तु स्वयं नलगुणको सुननेसे हर्षोत्पन्न अश्रुसे भरे हुए नेत्र होनेके का रोमाञ्चको इन्द्र नहीं देख सके यह इन्द्राणीका भाग्य समझना चाहिये अथवा- उदारताको सुनते हुए बार-बार प्रसन्न अर्थात् रोमाञ्चित होते हुए हर्षाश्रुसे समूहवाले इन्द्रने इन्द्राणीके रोमाञ्चको इन्द्राणीके पुण्यसे नहीं देखा] ॥ २८ ॥

साऽपीश्वरे शृण्वति तद्गुणौघान् प्रसह्य चेतो हरतोऽर्धशम्भुः
अभूदपर्णाऽङ्गुलिरुद्धकर्णा कदा न कण्डूयनकैतवेन ? ॥ २९ ॥

सेति । ईश्वरे हरे प्रसह्य चेतो हरतो बलान्मनोहारिणस्तस्य नलस्य गु शृण्वति सति सा प्रसिद्धा अर्धं शम्भोरर्धंशम्भुः शम्भोरर्धाङ्गभूतेत्यर्थः । तथ सरणमशक्यमिति भावः । अपर्णा पार्वत्यपि कदा कण्डूयनकैतवेन कण्डूनो जेन अङ्गुल्या रुद्धः पिहितः कर्णौ यया सा नाभूत् अभूदेवेत्यर्थः । अन्यथा चि नादिति भावः ॥ २९ ॥

चित्तको बलात्कारपूर्वक हरण (वशीभूत) करते हुए, नलके गुण-समूहोंको शृ सुनते रहनेपर अर्द्धशम्भु वह (पतिव्रताओंमें सुविख्यात) पार्वती कान खुजलाने कब अङ्गुलिसे कानको नहीं बन्द कर लेती है ? [शङ्करजीका आधा शरीर प अतएव जब शङ्करजी नलके गुण-समूहोंको सुनने लगते हैं, तब नलके गुण-समू त्कारपूर्वक (इच्छा नहीं रहनेपर भी) पार्वतीके चित्तको आकृष्ट करते हैं, और उ कर्षणसे पार्वतीको पातिव्रत्यके भङ्ग होने का भय उत्पन्न हो जाता है, अत शरीरमें रहनेसे अन्यत्र जानेमें अशक्त पार्वती कान खुजलानेके छलसे अपने कान कर लेती है कि न मैं नलके गुण-समूहोंको सुनूंगी और न मेरा पातिव्रत्य भङ्ग हे

अलं सजन् धर्मविधौ विधाता रुणद्धि मौनस्य मिषेण वाणीम् ।
तत्कण्ठमालिङ्ग्य रसस्य तृप्तां न वेद तां वेदजडः स वक्राम् ॥

अलमिति । विधाता ब्रह्मा अलमत्यन्तं धर्मविधौ सुकृताचरणे सजन् ध सन्नित्यर्थः । वाणीं स्वभार्यां वाग्देवीं वर्णात्मिकाञ्च मौनस्य वाग्यमनव्रतस्य रुणद्धि नलकथाप्रसङ्गान्निरुन्धे, तस्या उभय्या अपि तदासङ्गभयादिति किन्तु वेदजडः छान्दसः विधाता तामुभयीमपि वाणीं तस्य नलस्य कण्ठ मालिङ्ग्य मुखमाश्रित्य च रसस्य तृप्तां तद्रागसन्तुष्टामन्यत्र शृङ्गारादिरस सम्बन्धसामान्ये षष्ठी, 'पूरणगुणे'त्यादिना षष्ठीनिषेधादेव ज्ञापकादिति वक्रां प्रतिकूलकारिणीं वक्रोक्त्यलङ्कारयुक्ताञ्च न वेद न वेत्ति, 'विदो ल णलादेशः । अशक्यरक्षाः स्त्रिय इति भावः । अत्र प्रस्तुतवाग्देवीकथनादप्रस् स्मकवाणीवृत्तान्तप्रतीतेः प्रागुक्तरीत्या ध्वनिरेवेत्यनुसन्धेयम् ॥ ३० ॥

धर्मकार्यमें अत्यन्त आसक्त ब्रह्मा मौनके छलसे वाणी (स्त्री-पक्षा०-स अत्यन्त रोकते हैं (बाहर जाकर मेरी प्रिया यह वाणी पुरुषान्तर के पास चली

गूढाभिप्राय मन में रखकर धर्मके कपटसे वाणीको अच्छी तरह ब्रह्मा रोकते हैं अर्थात् न रहते हैं । पक्षा०—स्त्रीको रोकते हैं । या—'·····'छलसे जो वाणीको रोकते हैं, वह है) किन्तु वेदाध्ययनसे जड (वाणीके कपटको नहीं समझनेवाले) वे (ब्रह्मा) (नल) के कण्ठका आलिङ्गनकर रस (शृङ्गारादि) से सन्तुष्ट वक्रा (कुटिला, ा०—वक्रोक्तिरूपा) उस वाणीको नहीं जानते हैं। [दूसरा भी मूर्ख पुरुष अन्य-पासक्ता कुटिला स्त्रीको नहीं समझता है। नल ही वक्रोक्तिपूर्ण वाणीको जानते हैं, रा कोई नहीं] ॥ ३० ॥

श्रियस्तदालिङ्गनभूर्न भूता व्रतक्षतिः काऽपि पतिव्रतायाः ।
समस्तभूतात्मतया न भूतं तद्भर्तुरीर्ष्याकलुषाऽणुनाऽपि ॥ ३१ ॥

श्रिय इति । पतिव्रतायाः श्रियः श्रीदेव्याः तद्भर्तुर्विष्णोः समस्तभूतात्मतया वंभूतात्मकत्वेन नलस्यापि विष्णुरूपत्वेनेत्यर्थः। तदालिङ्गनभूर्नलाश्लेषभवा कापि क्षतिः पातिव्रतभङ्गो न भूता नाभूत्। अतएव तद्भर्तुर्विष्णोश्च ईर्ष्यया नलालिङ्गनभुवा असूयया यत्कलुषं कालुष्यं मनःक्षोभः दुःखादित्वेन अस्य धर्मधर्मिवचनादत एव क्षीरस्वामी 'शस्तं चाथ त्रिषु द्रव्ये पापं पुण्यं सुखादि च'इत्यत्र आदिब्दाच्छ्रेयःकलुषशिवभद्रादय इति उभयवचनेषु संजग्राह। तस्याणुना लेशेनापि भूतं नाभावि। नपुंसके भावे क्तः। अत्र शच्यादिचित्तचाञ्चल्योक्तेर्नलसौन्दर्ये त्पर्याप्तानौचित्यदोषः ॥ ३१ ॥

(विष्णुको) समस्त भूतोंका स्वरूप होने से (नलमें भी विष्णु-स्वरूप रहने के कारण) तिव्रता लक्ष्मी (शरीर-शोभा या–राज्यलक्ष्मी) की उस (नल) के आलिङ्गन करनेसे ड़ी भी व्रतहानि (पातिव्रत्य में न्यूनता) नहीं हुई, तथा उस (लक्ष्मी) के पति विष्णुभगवान्) को भी (अपनी प्रिया लक्ष्मीको नलका आलिङ्गन करनेपर) असूयानित्तक पापलेश भी नहीं हुआ [समस्तभूतात्मा विष्णु भगवान्‌के स्वरूप नलका आलिङ्गन रने पर लक्ष्मीका पातिव्रत्य धर्म भङ्ग नहीं हुआ और उनके पति विष्णु भगवान् भी क्ष्मीपर लेशमात्र रुष्ट भी नहीं हुए; अन्यथा यदि नल परपुरुष होते तो लक्ष्मीका तिव्रत धर्म नष्ट हो जाता तथा परपुरुष का आलिङ्गन करनेवाली लक्ष्मीपर उनके पति ष्णुभगवान् भी बहुत रुष्ट होते। नलके सम्पूर्ण शरीर में शोभा थी ॥ ३१ ॥

धिक् तं विधेः पाणिमजातलज्जं निर्माति यः पर्वणि पूर्णमिन्दुम् ।
मन्ये स विज्ञः स्मृततन्मुखश्रीः कृतार्धमौज्झद्भवमूर्ध्नि यस्तम् ॥३२॥

धिगिति । तमजातलज्जं निस्त्रपं विधेः पाणिं धिक् यः पाणिः स्मृततन्मुखश्रीरपि र्वणि जातावेकवचनं पर्वस्वित्यर्थः। पूर्णमिन्दुं निर्माति अद्यापीति भावः। स विज्ञः भिज्ञ इति मन्ये यः पाणिः स्मृततन्मुखश्रीः सन् तमिन्दुं कृतः अर्द्धं एकदेशो स्य तं कृतार्द्धमर्द्धनिर्मितमेव भवमूर्ध्नि हरशिरसि औज्झत्। अतिसौन्दर्ययुक्तस्यास्यमिति भावः ॥ ३२ ॥

ब्रह्माके निर्लज्ज उस हाथको धिक्कार है, जो पूर्णिमामें पूर्ण चन्द्र की रचना
तथा (ब्रह्माके) उस हाथको मैं निपुण मानता हूँ, नलके मुखकी शोभाको स्म
हुए जिस (ब्रह्माके हाथ) ने उस (चन्द्रमा) को शिवजीके मस्तकपर फेंक दिया।
नलके मुखकी शोभाको स्मरण किये हुए निर्लज्ज उस ब्रह्माके हाथको धिक्का
पूर्णिमामें पूर्ण चन्द्रकी रचना करता है,……)। [यद्यपि पूर्ण कला वाले
रचना ब्रह्माका जो हाथ करता है, वही एक कलावाले भी चन्द्रमाकी रचना
तथापि तिथिरूप कालभेदसे ब्रह्माके हाथमें भिन्नताका आरोप किया गया है।
मुख पूर्ण चन्द्रमासे भी अधिक सुन्दर है]॥ ३२ ॥

निलीयते ह्रीविधुरः स्वजैत्रं श्रुत्वा विधुस्तस्य मुखं मुखान्नः।
सूरे समुद्रस्य कदापि पूरे कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे ॥

निलीयत इति। विधुश्चन्द्रः स्वस्य जैत्रं, तृन्नन्तात्प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्
तस्य नलस्य मुखं नोऽस्माकं मुखाच्छ्रुत्वा ह्रीविधुरः लज्जाविधुरः सन् क
सूर्ये दर्शेष्वित्यर्थः, कदापि समुद्रस्य पूरे प्रवाहे तदुत्पन्नत्वात् कदाचिदभ्र
गर्भे आकाशे सञ्चरमाणमेघोदरे निलीयते अन्तर्धत्ते, न कदाचिदग्रतः स्था
इति भावः। अत्र विधोः स्वाभाविकसूर्य्यादिप्रवेशे पराजयप्रयुक्तह्रीनिलीन
व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ ३३ ॥

हम लोगोंके मुखसे उस नलके मुखको स्वविजयी (चन्द्रमाको जीतनेवाला)
लज्जासे विकल होकर वह चन्द्रमा किसी समय (अमावस्या तिथिको) सूर्य
समय (अस्त होनेके समयमें) समुद्र-प्रवाहमें तथा किसी समय (वर्षाऋतुमें)
बीचमें छिप जाता है। [लोकमें भी कोई दुर्बल व्यक्ति लज्जासे दुःखी होकर अपने
सामने नहीं होता और अलक्षित स्थानमें छिपा करता है]॥ ३३ ॥

संज्ञाप्य नः स्वध्वजभृत्यवर्गान् दैत्यारिरत्यब्जनलास्यनुत्यै।
तत्संकुचन्नाभिसरोजपीताद्धातुर्विलज्जं रमते रमायाम् ॥

संज्ञाप्येति। दैत्यारिः विष्णुः स्वध्वजस्य गरुडस्य पक्षिराजस्य भृत्य
स्मान् अतिक्रान्तमब्जमत्यब्जमब्जविजयीत्यर्थः। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वि
समासः। तस्य नलास्यस्य नुत्यै स्तोत्राय. 'स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिरि
संज्ञाप्य तत्सङ्कुचता तया नुत्या निमीलता नाभिसरोजेन पीतात्तिरोहिताद्
विलज्जं यथा तथा रमायां रमते। अत्र विष्णोरुक्तव्यापारासम्बन्धेऽपि सम
रतिशयोक्तिः ॥ ३४ ॥

विष्णुभगवान् अपनी ध्वजामें (स्थित पक्षिराज गरुड़के) भृत्य-समूह हमलो
वाहनभूत हंसों) को नलके कमलातिशायिनी मुख-शोभाका वर्णन कर
सङ्केतकर उस (नलके मुखकी स्तुति) से सङ्कुचित होते हुए नाभिकमलमें

ासे लज्जाका त्यागकर लक्ष्मीमें रमण करते हैं। [विष्णु भगवान्‌की पताकामें पक्षियोंके ामी गरुड़ रहते हैं, अतएव वे विष्णु भगवान् गरुड़के भृत्य-समूह हमलोगोंके कमल-भाको जीतने वाले नल-मुखकी प्रशंसा करनेके लिए सङ्केत कर देते हैं और जब हम ग नलके मुखकी प्रशंसा करने लगते हैं तो उनके नाभिका कमल स्वविजयी नल-मुखके य या लज्जासे मुकुलित हो जाता है और कमलपर रहनेवाले ब्रह्मा उसीके भीतर बन्द जाते हैं, अत एव विष्णुभगवान् पितामहका साक्षात्कार नहीं होनेसे लज्जा छोड़कर क्ष्मीके साथ रमण करने लगते हैं]॥ ३४ ॥

रेखाभिरास्ये गणनादिवास्य द्वात्रिंशता दन्तमयीभिरन्तः।
चतुर्दशाष्टादश चात्र विद्या द्वेधाऽपि सन्तीति शशंस वेधाः ॥३५॥

रेखाभिरिति। अस्य नलस्य आस्ये दन्तमयीभिर्दन्तरूपाभिर्द्वात्रिंशता रेखाभि-णनात्संख्यानाच्चतुर्दश चाष्टादश च विद्या द्वेधा अपि अत्र आस्ये सन्ति सम्भवन्यायेनेति वेधाः शशंसेवेत्युत्प्रेक्षा। 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। राणं धर्मशास्त्रञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥ आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेत्यनुक्रमात्। अर्थशास्त्रं परं तस्माद्विद्या ह्यष्टादश स्मृताः ॥' इति ॥ ३५ ॥

ब्रह्माने इस (नल) के मुखमें दन्तमयी बत्तीस रेखाओंके द्वारा गिननेसे इस (नलके ुख) में चौदह तथा अठारह—दोनों प्रकारकी विद्याएँ हैं, मानों ऐसा कह दिया है। नलके मुखमें बत्तीस दाँत नहीं हैं, किन्तु इसमें स्थित दोनों प्रकारकी विद्याएँ रहती हैं, इस बातको ब्रह्माने बत्तीस रेखाओंको करके कहा है। नलके मुखमें बत्तीस दाँत हैं पूरे बत्तीस दाँत वाले मनुष्यका कथन सर्वदा सत्य होता है, ऐसा सामुद्रिक शास्त्रका वचन है, अतः नलका सदा सत्यवक्ता होना सूचित होता है]॥ ३५ ॥

श्रियौ नरेन्द्रस्य निरीक्ष्य तस्य स्मरामरेन्द्राविव न स्मरामः।
वासेन सम्यक् क्षमयोश्च तस्मिन् बुद्धौ न दध्मः खलु शेषबुद्धौ ॥३६॥

श्रियाविति। तस्य नरेन्द्रस्य श्रियौ सौन्दर्यसम्पदौ निरीक्ष्य, 'शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरि'ति शाश्वतः। स्मरामरेन्द्रावपि न स्मरामः किं च तस्मिन्नरेन्द्रे क्षमयोः क्षितिक्षान्त्योः 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमे'त्यमरः। सम्यग्वासेन निर्बाधस्थित्या शेषबुद्धौ फणिपतिबुद्धदेवौ चित्ते न दध्मः न धारयामः खलु। अत्र द्वयोरपि श्रियोः द्वयोरपि क्षमयोः प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतश्लेषः। एतेन सौन्दर्यादिगुणैः स्मरादिभ्योऽभ्यधिक इति व्यतिरेको व्यज्यते। श्लेषयथासंख्ययोः सङ्करः ॥ ३६ ॥

उस राजा (नल) की शरीर-शोभा तथा राज्यलक्ष्मीको देखकर हम लोग कामदेव तथा देवेन्द्रका भी स्मरण नहीं करते हैं, तथा उस राजा (नल) में पृथ्वी तथा क्षमा (तितिक्षा) के निवास करनेसे शेषनाग तथा बुद्धको भी बुद्धिमें नहीं लाते। [नल शरीरकी शोभामें कामदेवसे तथा राज्यैश्वर्यमें इन्द्रसे, एवं पृथ्वीभारवहन करनेमें शेषनागसे

और क्षमा करनेमें बुद्ध भगवान्‌से भी अधिक श्रेष्ठ हैं; अत एव हमलोग कामदे
स्मरणतक भी नहीं करते । [लोकमें भी श्रेष्ठ वस्तुको पाकर लोग निकृष्ट वस्तु
नहीं करते हैं] ॥ ३६ ॥

विना पतत्रं विनतातनूजैस्समीरणैरीक्षणलक्षणीयैः ।
मनोभिरासीदनणुप्रमाणैर्न निर्जिता दिक्कतमा तदश्वैः ॥ ३७

विनेति । पतत्रं विना स्थितैरिति शेषः । विनतातनूजैः वैनतेयैः, अपक्षता
त्यर्थः । ईक्षणलक्षणीयैः समीरणैश्चाक्षुषवायुभिः अनणुप्रमाणैः 'अणुपरिमाणं म
तार्किकाः, तद्विपरीतैर्महापरिमाणैर्मनोभिर्वैनतेयादिसमानवेगैरित्यर्थः ।
तदश्वैः कतमा दिक् न लङ्घिताऽऽसीत् ? सर्वापि लङ्घितैवासीदित्यर्थः । अत्र
विशिष्टवैनतेयादित्वेन निरूपणाद्रूपकालङ्कारः ॥ ३७ ॥

पङ्खोंके विना गरुड़रूप, नेत्रोंमें दृश्यमान वायुरूप तथा अणुपरिमाण से भिन्न (
मनरूप—नलके घोड़ोंने किस दिशाको पार नहीं किया है ? अर्थात् उक्तरूप
सब दिशाओंके पार तक जाते हैं । [पङ्खोंके सहित गरुड़, नेत्रका अगोचर वा
अणुप्रमाण मन ही सब दिशाओंको शीघ्र पार करनेमें समर्थ हैं, किन्तु नलके घोड़े
से हीन होते हुए भी शीघ्र सब दिशाओंके पारतक जाते हैं] ॥ ३७ ॥

संग्रामभूमीषु भवत्यरीणामस्रैर्नदीमातृकतां गतासु ।
तद्बाणधारापवनाशनानां राजव्रजीयैरसुभिस्सुभिक्षम् ॥ ३

संग्रामेति । अरीणामस्रैरसृग्भिर्नद्येव माता यासां तास्तासां भावस्तत्ता न
तृकता नद्यम्बुसम्पन्नशस्याढ्यता, 'देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः ।
दीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रममि'त्यमरः । 'नद्यृतश्चे'ति कप्, 'त्वतलोर्गुण
स्ये'ति पुंवद्भावः । तां गतासु संग्रामभूमीषु तस्य नलस्य बाणधारा बाणपरम्प
एव पवनाशनास्तेषां राजव्रजीयैः राजसंघसम्बन्धिभिः, 'वृद्धाच्छः' ।
प्राणवायुभिः सुभिक्षम् । भिक्षाणां समृद्धिर्भवति समृद्धावव्ययीभावः । नदी
देशेषु सुभिक्षं भवतीति भावः । रूपकालङ्कारः ॥ ३८ ॥

शत्रुओंके रक्तसे नदीमातृकत्वको प्राप्त युद्धभूमिमें राज—समूहके प्राणोंसे उस (
के बाणधारारूपी सर्पोंके लिए सुभिक्ष होता है । [नदी, नहर आदिके जलसे ज
की सिंचाई होती है, उन्हें 'नदीमातृक' देश कहते हैं । ऐसे स्थानोंमें खेती क
किसानोंके लिए सुभिक्ष होता है—अकाल पड़नेका भय नहीं होता । प्रकृतमें न
शत्रुओंको बाणवृष्टिकर मारते हैं, उनके शत्रुओंके रक्त—प्रवाहसे युद्धभूमि द्रावित हो
है, अत एव वहाँ मानों अच्छी तरह सिंचाई हो जाती है । नलके बाणोंकी वृष्टि
वायुभक्षण कर्ता (सर्प) है और शत्रु—राजाओंके प्राण वायुरूप है, अत एव नलके
की वृष्टिधारारूप पवनभक्षी सर्प मृत राजाओंके प्राणरूप वायुका भक्षण करते हैं

र उनके लिए मानो नदीमातृक युद्धभूमिमें सुभिक्ष होता है। युद्धमें नल बाणवर्षाकर -से शत्रुओंको मार गिराते हैं]॥ ३८ ॥

यशो यदस्याजनि संयुगेषु कण्डूलभावं भजता भुजेन।
हेतोर्गुणादेव दिगापगाली कूलंकषत्वं व्यसनं तदीयम् ॥ ३९ ॥

यश इति। संयुगेषु समरेषु कण्डूलभावं कण्डूलत्वं, 'सिध्मादिभ्यश्चे'ति मत्व-यो लच्। भजता अस्य भुजेन यद्यशः अजनि जनितं, जनेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ्। ीयं तस्य यशःसम्बन्धि दिशः एव आपगाः नद्यः तासामालिः राजिः तस्याः कषतीति कूलङ्कषं, शिवभागवतवत्समासः, 'सर्वकूले'त्यादिना खचि मुमागमः। य भावस्तत्त्वं तत्र व्यसनमासक्तिः हेतोः कारणस्य भुजस्य गुणादेव कण्डूलत्वा-गतमिति शेषः। यशसो दिक्कूलकषणानुमितायाः कण्डूलतायाः तत्कारणकण्डू-भुजगुणपूर्वत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ३९ ॥

(युद्ध-सम्बन्धी) खुजलाहटको प्राप्त इस नलके बाहुने जो यश प्राप्त किया, उसका दिशारूपिणी नदियोंकी श्रेणि (समूह) में कूलङ्कषा होने (किनारेको तोड़ने) का सन (यशोरूपी) हेतुके गुणसे ही उत्पन्न हुआ है। [यशके हेतुभूत नलबाहुमें कण्डू-ाव होनेसे कार्यरूप दिङ्नदियोंमें भी कूलङ्कषत्व (किनारोंको धारासे रगड़-रगड़कर ड़नेका भाव) होना उचित ही है। नलका यश दिगन्ततक फैला हुआ है]॥ ३९ ॥

यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्तस्यास्समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात्।
पारेपरार्द्धं गणितं यदि स्याद् गणेयनिश्शेषगुणोऽपि स स्यात् ॥४०॥

यदीति। किं बहुना, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी, 'तद्धितार्थे'त्यादिना समाहारे द्विगुः, अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते, 'द्विगो'रिति ङीप्। गणना-ा नलगुणसंख्यानतत्परा स्याद्यदि तस्याः त्रिलोक्याः आयुषः समाप्तिर्न स्याद्यदि मरत्वं यदि स्यादित्यर्थः। परार्द्धस्य चरमसंख्यायाः पारे पारेपरार्द्धं, 'पारे मध्ये ष्ठ्या वे'ति अव्ययीभावः। गणितं स्यात्परार्द्धात्परतोऽपि यदि संख्या स्यादित्यर्थः। दा स नलोऽपि गणेया गणितुं शक्याः निःशेषा निखिला गुणा यस्य स स्यात्, णेय इति औणादिक एयप्रत्ययः। अत्र गुणानां गणेयत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभि-नादतिशयोक्तिः ॥ ४० ॥

यदि तीनों लोक गणना करनेके लिए तत्पर हो जाँय, तथा उनकी आयुका अन्त न अर्थात् वे अमर हो जायँ और परार्द्धके भी बाद गणनाकी संख्या हो जाय; तब उस लके सब गुण गिने जा सकते हैं। [उक्त तीनों बातोंके असम्भव होनेसे नलके गुणोंकी ना करना भी असम्भव है अर्थात् नलके गुणको कोई नहीं गिन सकता]॥ ४० ॥

अवारितद्वारतया तिरश्चामन्तःपुरे तस्य निविश्य राज्ञः।
गतेषु रम्येष्वधिकं विशेषमध्यापयामः परमाणुमध्याः ॥ ४१ ॥

एवं नलगुणाननुवर्ण्य गूढाभिसन्धिनाऽऽत्मनस्तदन्तःपुरेऽपि परिचयं
अवारितेत्यादि । तिरश्चां पक्षिणामवारितद्वारतया अप्रतिषिद्धप्रवेशतयेत्यर्थः
राज्ञो नलस्यान्तःपुरे निविश्य अवस्थाय परमाणुमध्यास्तदङ्गनाः रम्येषु गते
कमपूर्वं विशेषं भेदमध्यापयामः अभ्यासयामः । दुहादित्वाद् द्विकर्मत्वम्।

तिर्यञ्चों (पक्षी आदि) को भीतर जानेके लिए द्वारपर रुकावट नहीं होनेसे
नलके रनिवासमें प्रवेशकर हमलोग परमाणुके बराबर अर्थात् अतिकृश कटिवाली
को सुन्दर गतियोंमें अधिक विशेषता सिखलाते हैं । [नलकी अतिशय कृश
हंसगामिनी रानियोंकी गति पहले ही रमणीय है, किन्तु उसमें भी अधिक रमणी
लोग उन्हें सिखलाते हैं, क्योंकि तिर्यञ्च होनेके कारण हम पक्षियोंको अन्तःपुर
करनेमें कोई रुकावट नहीं होती । बहुवचन कहनेसे हंसने अनेक हंसोंको नल
लगे रहनेका संकेतकर दमयन्तीको नलके प्रति विशेष आकृष्ट करता है.] ४१ ॥

पीयूषधारानधराभिरन्तस्तासां रसोदन्वति मज्जयामः।
रम्भादिसौभाग्यरहःकथाभिः काव्येन काव्यं सृजताऽऽदृताभिः

पीयूषेति । किं च पीयूषधाराभ्यः अनधराभिरन्यूनाभिरमृतसमानाभिः
सृजता स्वयं प्रबन्धकर्त्रा, कवेरपत्यं पुमान् काव्यस्तेन, 'शुक्रो दैत्यगुरुः
इत्यमरः । 'कुर्वादिभ्यो ण्य' इति ण्यप्रत्ययः । आदृताभिस्तस्यापि विस्मय
रित्यर्थः । रम्भादीनां दिव्यस्त्रीणां सौभाग्यं पतिवाल्लभ्यं तत्प्रयुक्ताभिः रहः
रहस्यवृत्तान्तवर्णनाभिस्तासां नलान्तःपुरस्त्रीणामन्तरन्तःकरणं रसोदन्वति
रससागरे मज्जयामः अवगाहयामः ॥ ४२ ॥

हम लोग काव्यरचना करनेवाले शुक्राचार्यसे आदृत तथा अमृत-प्रवाहतुल्य
अप्सराओंके (पुरुष-वशीकरणरूप) सौभाग्य-सम्बन्धिनी रहस्यमयी कथाओंसे
की रानियों) के अन्तःकरणको शृङ्गार-रसरूप समुद्रमें निमग्न करते हैं ॥ ४२ ॥

काभिर्न तत्राभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक्क्रियेऽहम् !
जिह्रेति यन्नैव कुतोऽपि तिर्यक्कश्चित्तिरश्चस्त्रपते न तेन ॥

काभिरिति । किञ्च यद्यस्मात् तिर्यक् पक्षी कुतोऽपि जनान्न जिह्रेति न
ह्री-लज्जायामिति धातोर्लट्, 'श्लाविति' द्विर्भावः । तिरश्चोऽपि कश्चिज्जनो न
लज्जते, तेन कारणेन तत्रान्तःपुरे काभिस्त्रीभिरहमभिनवा अपूर्वा स्मरा
हस्यवृत्तान्तः सैव विश्वासनिक्षेपो विश्वासेन गोप्यार्थः । तस्य वणिक् गोप्ता
न कृतोऽस्मि ? । सर्वासामप्यहमेव विस्रम्भकथापात्रमस्मीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

वहाँपर (नलके अन्तःपुरमें) कौन सुन्दरियाँ अभिनव अर्थात् मुझे
कामाज्ञाके विश्वासपूर्वक धरोहर रखनेका बनियाँ (व्यापारी) नहीं बनाती
उस नलके अन्तःपुरकी कौन सुन्दरियाँ अपने गुप्ततम कामरहस्यको मुझसे नहीं

ानी सभी अपने कामरहस्यको मुझसे कहती हैं, क्योंकि तिर्यञ्च (पक्षी आदि)
कतीसे लज्जा नहीं करता, अतः तिर्यञ्चसे भी कोई लज्जा नहीं करता। [जिस प्रकार
श्वासपात्र बनियेंके यहां रक्खा हुआ धरोहर किसी दूसरेके पास नहीं जाता है तथा
रक्षित रहता है, उसी प्रकार यदि तुम अपना अभिप्राय मुझसे कहोगी तब तो मैं उसे
न्यत्र किसी दूसरेसे प्रकाशित नहीं करूंगा अपितु सुरक्षित रखूंगा, इस कारण यदि तुम
लको चाहती होतो मुझपर विश्वास कर कहो]॥ ४३ ॥

वार्ता च साऽसत्यपि नान्यथेति योगादरन्ध्रे हृदि तां निरुन्धे ।
विरिञ्चिनानाननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्णः ॥ ४४ ॥

अथ स्वस्य एवंविधविश्वासहेतुत्वमाह—वार्तेति। विरिञ्चेर्ब्रह्मणो नानाननैर्बहुमु-
ैर्वादेन व्याख्यानेन धौतस्य शोधितस्य समाधिशास्त्रस्य संयमविद्यायाः श्रुत्या
वणेन पूर्णकर्णः चतुर्मुखाभ्यस्तवाङ्नियमनविद्य इत्यर्थः। अहमिति शेषः। योगात्
रन्ध्रे निरवकाशे पूर्णे हृदि हृदये यां वार्त्तां निरुन्धे, सा वार्त्ता लोकवार्त्ता किमुत-
हस्यवार्त्तेति भावः। असत्यपि विनोदार्थं कथितापि, किमुत सतीति भावः। असत्-
पि अन्यपुरुषान्तरं नैति न गच्छति। यथा ह्यसती दुश्चरी नीरन्ध्रस्थाने निरुद्धा
ान्यमेति तद्वदिति भावः। अतोऽहमासां विश्वास्य इति पूर्वेणान्वयः। अत्र वार्त्ता-
रोधस्य विरिञ्चीत्यादिपदार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गभेदः॥ ४४ ॥

ब्रह्माके चार मुखोंके कथनसे पवित्र योगशास्त्रके सुननेसे परिपूर्ण कानोंवाला मैं छिद्र
हित (शत्रुसे अभेद्य, या—योगाभ्याससे निर्दोष) हृदयमें जिस (वार्ता) को
कता (गुप्त रखता) हूँ, असत्य भी वह वार्ता दूसरे किसीके पास नहीं जाती अर्थात्
सरा कोई उसे नहीं सुनता। [क्योंकि मैं किसी दूसरेसे असत्य भी उस बातको नहीं
हता हूं। पक्षा०—जिसे प्रयत्नसे गुप्त स्थानमें रोकता हूं, असती अर्थात् कुलटा भी
ह स्त्री दूसरे किसी पुरुषके पास नहीं जाती। दोषयुक्त हृदय वाला पुरुष ही किसीकी
किसी भी बातको दूसरेसे कह देता है, निर्दोष हृदयवाला पुरुष किसीकी किसी भी बातको
सरेसे कदापि नहीं कहता। ब्रह्माके चारो मुखोंसे कहे गये उपदेश (वेदवचन) के
सुननेसे मेरे कान परिपूर्ण हो गये हैं, अतएव उनके उपदेशमय योगाभ्याससे मेरा हृदय
दोषरहित हो गया है, इस कारण मुझसे जो कोई भी व्यक्ति चाहे जैसी (सत्य या असत्य)
बात कहता है, उसे मैं किसीसे भी नहीं कहता हूं, अतः तुम्हें मुझपर विश्वासकर अपना
अभिप्राय बतलाना चाहिये]॥ ४४ ॥

नलाश्रयेण त्रिदिवोपभोगं तवानवाप्यं लभते बतान्या ।
कुमुद्वतीवेन्दुपरिग्रहेण ज्योत्स्नोत्सवं दुर्लभमम्बुजिन्याः ॥ ४५ ॥

अथ श्लोकद्वयेन अस्या नलानुरागमुद्दीपयति—नलेत्यादि। तवानवाप्यं नलपरि-
ग्रहाभावात्त्वया दुरापं, 'कृत्यानां कर्त्तरि वे'ति षष्ठी तृतीयार्थे। त्रिदिवः स्वर्गः पृषोद-

रादित्वात् साधुः। तस्य उपभोगं तादृग् भोगमित्यर्थः। तस्येन्द्रसदृशैश्वर्यं
भावः। अम्बुजिन्या दुर्लभमिन्दुपरिग्रहाभावात्तया दुरापं ज्योत्स्नोत्सवं चन्द्रिका
इन्दोः कर्त्तुः परिग्रहेण कुमुदान्यस्यां सन्तीति कुमुद्वती कुमुदिनीव, 'कुमु
वेतसेभ्यो ड्मतुप्,' 'मादुपधायाश्च'त्यादिना मकारस्य वकारः। नलस्य कर्त्तु
नलस्वीकरणेन अन्या लभते, बतेति खेदे। ईदृग्भोगोपेक्षिणी त्वं बुद्धिमान्
शोचसि इति भावः॥ ४५॥

जिस प्रकार चन्द्रमाके सम्बन्धसे कमलिनीके लिये दुर्लभ चन्द्रिकोत्सवको कु
पाती है, उसी प्रकार तुमसे दुर्लभ (हमलोगोंके पङ्खकी हवा करना आदि) स्वर्गी
नलके आश्रयसे दूसरी स्त्री प्राप्त कर रही है, यह खेद है। [क्योंकि अन्य स्त्रि
नलके योग्य नहीं हैं, जैसी तुम हो। ऐसा कहकर हंसने नलमें दमयन्तीका विशेष अ
बढ़ाने का प्रयत्न किया है]॥ ४५॥

तन्नैषधानूढतया दुरापं शर्म त्वयाऽस्मत्कृतचाटुजन्म।
रसालवल्ल्या[1] मधुपानुविद्धं सौभाग्यमप्राप्तवसन्तयेव॥ ४६॥

तदिति। किञ्च तत्प्रसिद्धमस्माभिः कृतेभ्यः प्रयुक्तेभ्यश्चाटुभ्यः प्रियवा
जन्म तस्य तत्तज्जन्यमित्यर्थः। चाटुग्रहणं पूर्वोक्तनिजपक्षवीजनाद्युपलक्षणं, शर्म
त्वया अप्राप्तो वसन्तो यया तया वसन्तानधिष्ठितयेत्यर्थः। रसालवल्ल्या स
श्रेण्या मधुपानुविद्धं सौभाग्यं रामणीयकमिव नैषधेन नलेन अनूढतया अ
तत्त्वेन हेतुना दुरापन्तस्मात्ते नलपरिग्रहाय यत्नः कार्य्यं इति भावः॥ ४६॥

(हंस प्रकृतका उपसंहार करता हुआ कहता है—) इस कारण नलके द्वारा वि
नहीं होनेसे तुम्हारे लिए हमलोगोंकी चाटुकारितासे उत्पन्न आनन्द उस प्रकार दु
जिस प्रकार वसन्त ऋतुको नहीं प्राप्त की हुई आम्रवल्ली, (आम-लता, पाठा०—
बगीची) को भ्रमरकृत सौभाग्य दुर्लभ होता है। [इस उपमासे राजहंसने स्पष्ट क
कि वसन्त काल आनेपर आम्रवल्लीके लिए भ्रमरकृत सौभाग्य जिस प्रकार पर्याप्त
सुलभ हो जाता है, उसी प्रकार नलके साथ विवाह करनेपर तुम्हें भी हमारी चाटु
से उत्पन्न आनन्द सुलभ हो सकता है। पूर्व श्लोक (३।४५) में अम्बुजिनीको
देकर उक्त स्वर्गभोगको दमयन्तीके लिए सर्वथा असम्भव बतलाकर नलके साथ
करनेपर सम्भव बतलाया है। यहां उसे सम्भव बतलाकर उसको पानेका प्रयत्न
लिए दमयन्तीको उत्साहित किया है]॥ ४६॥

तस्यैव वा यास्यसि किं न हस्तं दृष्टं विधेः केन मनः प्रविश्य!
अजातपाणिग्रहणाऽसि तावद्रूपस्वरूपातिशयाश्रयश्च॥ ४७॥

---

[1] 'रसालवन्या' इति पाठान्तरम्।

अथ पुनरस्या नलप्राप्त्याशां जनयन्नाह—तस्येत्यादि । यद्वा तस्य नलस्यैव तं किं न यास्यसि ? यास्यस्येवेत्यर्थः । केन विधेर्मन एव प्रविश्य दृष्टं, विध्यानु, यमपि सम्भावितमिति भावः । कुतस्तावदद्यापि अजातपाणिग्रहणा अकृतविवाहा सि, तवार्थं विवाहविलम्बोऽपि नलपरिग्रहणार्थमेव किं न स्यादिति भावः । रूपं न्दर्यं स्वरूपं स्वभावः शीलमिति यावत् । तयोरतिशयः प्रकर्षस्तस्याश्रयश्चासि । वयगुणाश्रयत्वाच्च तद्धस्तमेव गमिष्यसीति भावः ॥ ४७ ॥

('नल-प्राप्ति तुम्हारे लिए सर्वथा असम्भव नहीं है, अतः तुम्हें धैर्य-धारण करना हिये' ऐसा सङ्केत करता हुआ राजहंस कहता है—) अथवा उसीके (नलके ही) हाथमें नहीं जावोगी अर्थात् नलसे ही तुम्हारा विवाह क्यों नहीं होगा ? ब्रह्माके मनमें कर किसने देखा है ? (कि उनकी क्या इच्छा है ?); क्योंकि तुम अविवाहित तथा दरताके स्वरूप (विना भूषणादिके ही सौन्दर्याधिक्य) का आश्रय हो अर्थात् अत्यधिक दर हो, अतः सम्भव है कि तुम्हारा विवाह नलके साथ ही हो जावे ॥ १७ ॥

निशा शशाङ्कं शिवया गिरीशं श्रिया हरिं योजयतः प्रतीतः ।
विधेरपि स्वारसिकः प्रयासः परस्परं योग्यसमागमाय ॥ ४८ ॥

सत्यं विधिसङ्कल्पस्तु दुर्ज्ञेय इत्यत आह—निशेति । निशा निशया 'पद्न्नि'त्या- ना निशादेशः । शशाङ्कम्, शिवया गौर्या गिरीशं शिवं, श्रिया लक्ष्म्या हरिं च जयतो विधेः प्रयासो यत्नोऽपि परस्परं योग्यसमागमाय योग्यसङ्घटनायैव स्वार- कः स्वरसप्रवृत्तः प्रतीतः प्रसिद्धः ज्ञातः । निशाशशाङ्कादिदृष्टान्ताद्विधिसङ्कल्पोऽपि ज्ञेय इति भावः ॥ ४८ ॥

('समानरूप होनेसे तुम्हें नलको पाना विशेष सम्भव है' इस बातको राजहंस दृढ़ रता है—) रात्रिके साथ चन्द्रमाको, पार्वतीके साथ शिवजीको तथा लक्ष्मीके साथ ष्णु भगवान्‌को संयुक्त करते हुए ब्र ाका प्रयत्न भी परस्परमें योग्योंके समागम करनेके ए प्रसिद्ध है । [रात्रि आदिके साथ चन्द्रमा आदिका समागम करनेसे ज्ञात होता है कि ा परस्परमें योग्य स्त्री-पुरुषोंका ही समागम कराते हैं, अत एव नलके साथ तुम्हारा मागम होना भी विशेष सम्भव है] ॥ ४८ ॥

वेलातिगस्त्रैणगुणाब्धिवेणी न योगयोग्याऽसि नलेतरेण ।
सन्दर्भ्यते दर्भगुणेन मल्लीमाला न मृद्वी भृशकर्कशेन ॥ ४९ ॥

नलान्यसम्बन्धस्त्वयोग्य इत्याह—वेलातिगेति । वेलामतिगच्छन्तीति वेलातिगा ःसीमाः स्त्रीणामिमे स्त्रैणाः गुणाः 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञावि'ति वचनात् नञ्- त्ययः । त एवाब्धिस्तस्य वेणी प्रवाहभूता, त्वमिति शेषः । 'वेलाऽब्धिजलबन्धने । ाले सीम्नि च, वेणी तु केशबन्धे जलस्रुतौ' इति वैजयन्ती । नलादितरेण योगयोग्या ोगार्हा नासि । तथाहि मृद्वी मल्लीमाला भृशकर्कशेन दर्भगुणेन न संदर्भ्यते न ुम्फ्यते । दृभ-ग्रन्थ इति धातोः कर्मणि लट् । व्यतिरेकेण दृष्टान्तालङ्कारः ॥४९॥

('दूसरेको छोड़कर तुम नलके ही योग्य हो' यह सङ्केत करता हुआ राज है—) मर्यादाहीन स्त्री-सम्बन्धी गुण समुद्रकी प्रवाहरूपा अर्थात् परमरमणी नलके अतिरिक्त दूसरेके साथ समागमके योग्य नहीं हो, क्योंकि अत्यन्त कड़ी कुशकी रस्सीसे कोमलमल्लिका की माला नहीं गुथी जाती है। [तुम मल्लीपुष्प कोमल हो तथा नलभिन्न पुरुषलोग कुशकी रस्सीके समान रूखे एवं कड़े हैं किसी पुरुषसे तुम्हारा ममागम न होकर नलके साथ ही होना योग्य है] ॥ ४९

विधिं वधूसृष्टिमपृच्छमेव तद्यानयुग्यो नलकेलियोग्याम् ।
त्वन्नामवर्णा इव कर्णपीता मयाऽस्य संक्रीडति चक्रचक्रे ॥ ५०

विधिमिति । किं च, विधिं ब्रह्माणं नलस्य केलेः क्रीडायाः योग्यामहं स्त्रीनिर्म्माणं तस्य विधेर्यानस्य रथस्य युग्यो रथवोढा तत्र परिचित इत्यर्थः इति रथयुगप्रासङ्गमि'ति यत्प्रत्ययः । अहमपृच्छमेव, दुहादित्वाद् द्विकर्म मया अस्य तद्यानस्य चक्रचक्रे रथाङ्गव्रजे संक्रीडति कूजति सति 'समोऽकूज वक्तव्येऽपि कूजतेर्नात्मनेपदम्, त्वन्नामवर्णा मया कर्णेन पीताः गृहीताः । लिङ्गात् किन्त्वागमादपि ज्ञातोऽयमर्थ इत्यर्थः ॥ ५० ॥

(अब राजहंस प्रकारान्तरसे नल-प्राप्तिको और भी अधिक दृढ़ करता हु है—) ब्रह्माकी सवारीको ढोते हुये मैंने नलकी क्रीडाके योग्य स्त्रीरचनाके 'आपने नलके योग्य किस स्त्रीकी रचनाकी है' यह बात उनकी सवारी को ढोते पूछी थी तो ब्रह्माके रथके पहियेके शब्द करते रहने पर तुम्हारे नामके अक्षर ही मैंने सुना था। ['कदाचित् दमयन्ती नलको नहीं चाहती हो तो ब्रह्माका व हो जायेगा' इसलिए राजहंसने ब्रह्माके रथके पहियेको शब्द करते रहना दृढ़ताभिप्राय जानने तक दमयन्तीका नलके साथ विवाह होनेको बातको गूढ़ त्मक करके नहीं कहा है] ॥ ५० ॥

अन्येन पत्या त्वयि योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनो वा ।
जनापवादार्णवमुत्तरीतुं विधा विधातुः कतमा तरी स्यात् ? ॥

अन्येनेति । किं च, अन्येन नलेतरेण पत्या त्वयि योजितायां घटिता विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनः अभिज्ञत्वख्यात्यैव नीतायुषो विधातुर्जनाप मुत्तरीतुं निस्तरीतुं 'वृतो वे'ति दीर्घः । कतमा विधा कः प्रकारः तरी तरणि न काऽपीत्यर्थः । 'स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः' इत्यमरः । अतो दैवगत्याऽपि भर्तेति भावः ॥ ५१ ॥

(नल-प्राप्तिको पुनः दृढ़ करता हुआ राजहंस कहता है—) दूसरे तुम्हारा समागम करानेपर सर्वज्ञत्वकी कीर्तिसे पूरी जिन्दगी बितानेवाले ब्रह्माके पवादरूप समुद्रको पार करनेके लिए कौन सी नाव होगी। [अब तक ब्रह्मा

पका समागम कराने से विज्ञत्वके लिये बहुत कीर्ति पायी है, अतः यदि नल-भिन्न रे पुरुषके साथ तुम्हारा समागम कराते हैं तो उनकी बहुत लोकनिन्दा होगी, अतः हारा समागम नलके साथ ही ब्रह्मा करायेंगे ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है] ॥ ५१ ॥

आस्तां तदप्रस्तुतचिन्तयाऽलं मयाऽसि तन्वि ! श्रमिताऽतिवेलम् ।
सोऽहं तदागः परिमार्ष्टुकामस्तवेप्सितं किं विदधेऽभिधेहि ॥ ५२ ॥

इत्थमाशामुत्पाद्य अस्याश्चित्तवृत्तिपरिज्ञानाय प्रसङ्गान्तरेण निगमयति—आ ामिति । तत्पूर्वोक्तमास्तां तिष्ठतु, अप्रस्तुतचिन्तया अलं, तया साध्यं नास्तीथः । गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीया, अत एवाह 'न केवलं श्रूयमाक्रियापेक्षया कारकोत्पत्तिः, किन्तु गम्यमानक्रियाऽपेक्षयाऽपि' इति न्यासकारः । न्तु हे तन्वि, कृशाङ्गि ! मया अतिवेलम् अत्यर्थं श्रमिता खेदिताऽसि, श्रमेर्ण्यात् कर्मणि क्तः । तत् श्रमणरूपमागोऽपराधं परिमार्ष्टुंकामः परिहर्तुकामः । 'तुं ाममनसोरपी'ति मकारलोपः । सोऽहं किं त्वदीप्सितं तव मनोरथं विदधे कुर्वे, भिधेहि ब्रूहि ॥ ५२ ॥

(दमयन्ती का अभिप्राय जाननेकी इच्छासे उपसंहार करता हुआ राजहंस कहता है—) तन्वि ! नल-वर्णनरूप अप्रासङ्गिक बातको छोड़ो, मैंने तुमको बहुत समय तक बहुत काया (हैरान किया) है, उस अपराधका परिमार्जन करनेकी इच्छा करता हुआ मैं म्हारा कौन अभीष्ट पूरा करूँ ? कहो ॥ ५२ ॥

इतीरयित्वा विरराम पत्री स राजपुत्रीहृदयं बुभुत्सुः ।
ह्रदे गभीरे हृदि चावगाढे शंसन्ति कार्यावतरं हि सन्तः ॥ ५३ ॥

इतीति । स पत्री हंसः इति ईरयित्वा राजपुत्र्या भैम्या हृदयं बुभुत्सुर्जिज्ञासुर्विरराम तूष्णीं बभूव, 'व्याङ्परिभ्यो रम' इति परस्मैपदम् । तथाहि—सन्तः कार्यज्ञाः गभीरे अगाधे हृदि ह्रदे च अवगाढे प्रविश्य दृष्टे सति कार्यस्य स्नानादे रहस्योक्तेश्च अवतरं तीर्थं प्रस्तावं च शंसन्ति कथयन्ति, अन्यथा अनर्थः स्यादिति भावः । अवतरो व्याख्यातः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ५३ ॥

ऐसा (२।१३–५२) कहकर राजकुमारी (दमयन्ती) के हृदयको जाननेका इच्छुक वह पक्षी (राजहंस) चुप हो गया, क्योंकि गम्भीर (गहरा) तडाग तथा गम्भीर (गुप्त अभिप्राय वाले) हृदयको आलोडित करनेपर (प्रवेशकर थाह लगानेपर, पक्षा०—अभिप्राय जान लेनेपर) बुद्धिमान् लोग कार्यारम्भ (पक्षा०—कार्यका प्रस्ताव) करते हैं । [जिस प्रकार तैराक गम्भीर जलाशयको विना आलोडन किये मार्ग निश्चित नहीं करता, उसी प्रकार हृद्गत भावको विना मालूम किये बुद्धिमान् व्यक्ति किसी कार्यके लिये प्रस्ताव नहीं करता अत एव उक्त राजहंस सब कुछ कहकर भी उसे प्रकारान्तरमें गुप्त ही रखकर दमयन्तीका अभिप्राय जानना चाहता है] ॥ ५३ ॥

किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिर्विचिन्त्य वाचं मनसा मुहूर्तम् ।
पतत्रिणं सा पृथिवीन्द्रपुत्री जगाद वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुः ॥

किञ्चिदिति । किञ्चित्तिरश्चीना स्वभावादीषत्साचीभूता विलोला आया लिता मौलिः केशबन्धो यस्याः सा । 'मौलयः संयताः कचा' इत्यमरः। तृणीकृतेन्दुरधःकृतचन्द्रा सा पृथिवीन्द्रपुत्री भैमी मुहूर्तमल्पकालं मनसा वचनीयं विचिन्त्य पर्यालोच्य पतत्रिणं जगाद ॥ ५४ ॥

(विचारते समय) कुछ टेढ़ा एवं चञ्चल मस्तक वाली तथा (स्वभावतः कथनसे नल–प्राप्तिकी आशा होनेसे प्रसन्नताके कारण) मुखसे चन्द्रमाको तृणतुल्य शय तुच्छ) की हुई राजकुमारी दमयन्ती थोड़ी देर कहने योग्य बातको बोली ॥ ५४ ॥

धिक्चापले वत्सिमवत्सलत्वं यत्प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या ।
समीरसङ्गादिव नीरभङ्ग्या मया तटस्थस्त्वमुपद्रुतोऽसि ॥

धिगिति । चापले चपलकर्मणि, युवादित्वादण्, 'वत्सस्य भावः वत्सिमा त्वम् पृथ्वादित्वादिमनिच् । तेन निमित्तेन वत्सलत्वं वात्सल्यं बाल्यत्वप्रयुक्त मित्यर्थः । तद्धिक् । कुतः ? यस्य चापलवात्सल्यस्य प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या मानया समीरसङ्गाद्वाताहतेरुत्तरलीभवन्त्या नीरभङ्ग्या जलवीच्येव तटस्थ सीनः कूलं गतश्च त्वमुपद्रुतः पीडितोऽसि । अधर्महेतुत्वाद् बालचापलं सोढव्य भावः ॥ ५५ ॥

चपलता करनेके विषयमें बचपनके प्रेमको धिक्कार है, जिसकी प्रेरणासे चञ्चल होती हुई मैंने, वायुसे प्रेरित जल–प्रवाहसे तटस्थ व्यक्तिके समान (तुम्हें लिये पीछे–पीछे चलकर) तटस्थ (उदासीन, मुझसे सम्बन्ध–शून्य) तुमको पीड़ित है । [बचपनमें चञ्चलता करनेकी अधिक इच्छा रहती है, उसके कारण एक व्यक्तिको मैंने पकड़नेके लिए पीछे-पीछे चलकर पीड़ित किया है, उस बाल-चा धिक्कार है] ॥ ५५ ॥

आदर्शतां स्वच्छतया प्रयासि सतां स तावत्खलु दर्शनीयः ।
आगः पुरस्कुर्वति सागसं मां यस्यात्मनीदं प्रतिबिम्बितं ते ॥

आदर्शतामिति । स्वच्छतया नैर्मल्यगुणेन आदृश्यते पुरोगतवस्तुरूपम आदर्शो दर्पणस्तत्तां प्रयासि, कुतः यस्य स्वच्छस्य ते तव सम्बन्धिनि साग राधां मां पुरस्कुर्वति पूजयति अग्रे कुर्वाणे च आत्मनि बुद्धौ स्वरूपे च, 'पु पूजिते स्यादभियुक्तेऽग्रतः कृते' । 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मव चामरः। इदं मदीयमागोऽपराधः प्रतिबिम्बितं प्रतिफलितम् । पुरोवर्त्ति धर्म त्मनि संक्रमणादादर्शोऽसीत्यर्थः, ततः किमत आह—सः आदर्शः सतां

वत्प्रथमं दर्शनीयः अथवा पूज्यश्चेति तावच्छब्दार्थः खलु 'रोचनं चन्दनं हेम दङ्गं दर्पणं मणिम् । गुरुमग्निं तथा सूर्यं प्रातः पश्येत् सदा बुधः ॥' इति शास्त्रा- ति भावः ॥ ५६ ॥

(दमयन्ती अपनी निन्दा करती हुई हंसकी प्रशंसा करती है—) सज्जनोंके दर्शनीय म स्वच्छ होनेसे आदर्श (दृष्टान्त, पक्षा०—दर्पण) हो, जिसमें अपराधसहित मेरे सामने ने पर मेरा अपराध प्रतिबिम्बित हो गया है। [स्वच्छहृदय वाले आदर्श पुरुषका सज्जन ग दर्शन करते हैं, तथा ये आदर्श पुरुष दूसरेके किये गये अपराधको भी अपराधकर्ताका कहकर अपना किया हुआ (मेरे कर्मोदयके कारणसे ऐसा काम आपने किया है, इसमें पका नहीं, किन्तु मेरा ही अपराध है) कहते हैं, पक्षा०—मङ्गलद्रव्य होनेसे दर्पणका र्शन करना श्रेष्ठ माना गया है, वह स्वतः स्वच्छ रहता है तथा उसके सामने जो कोई स्तु पड़ती है, वह स्वच्छतम दर्पणमें प्रतिबिम्बित होकर ऐसी मालूम पड़ती है कि यह र्पण ही मलिनसा है, प्रकृतमें हे राजहंस ! तुम स्वच्छ एवं माङ्गलिक होनेसे दर्शनीय , तथा तुमने मेरे प्रति कोई अपराध नहीं किया है, हां, मैंने ही तुम्हें पकड़नेके लिए छे पीछे चलकर तुम्हें पीडित किया है, अत एव अपराधिनी तो वास्तविकमें मैं हूं और म आदर्श (दर्पण) हो इसी कारण स्वच्छ (निर्दोष, पक्षा०—निर्मल) आदर्शरूप तुम्हारे मने आयी हुई अपराधिनी (मलिनता युक्त) मैं तुममें प्रतिबिम्बित हो गयीहूं, जिससे त होता है कि तुममें ही मलिनता है। परन्तु वास्तविक विचार करनेपर तुममें नहीं, पि तु मुझमें मलिनता (दोषयुक्तत्व) है] ॥ ५६ ॥

अनार्यमप्याचरितं कुमार्या भवान्मम क्षाम्यतु सौम्य ! तावत् ।
हंसोऽपि देवांशतयाऽभिवन्द्यः श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्तिः ॥५७॥

अनार्यमिति। हे सौम्य ! भवान् कुमार्याः शिशोर्मम सम्बन्धि अनार्यमप्याचरितं दुपद्रवरूपं दुश्चेष्टितं क्षाम्यतु सहतां, हंसोऽपि तिर्यगपीत्यर्थः । त्वमिति शेषः । वानित्यनुषङ्गे असीति मध्यमपुरुषायोगात् देवांशतया मत्स्यमूर्तिः श्रीवत्सलक्ष्मा ष्णुरिव वन्द्योऽसि ॥ ५७ ॥

हे सौम्य ! मुझ कुमारीके अनुचित भी व्यवहारको पहले आप क्षमा करें, (राज- मारीको तिर्यञ्च पक्षीसे क्षमा-प्रार्थना करना अनुचित नहीं मानना चाहिये, क्योंकि) वत्सचिह्नयुक्त मत्स्यमूर्ति (मत्स्यावतार) के समान (ब्रह्माका वाहन होनेसे) देवांश नेके कारण तिर्यञ्च (पक्षी) होकर भी तुम भी वन्दनीय हो। [आपने पहले (३।५२) पना अपराध क्षमा कराते हुए मुझसे अभीष्ट पूछा है, किन्तु अभी अभीष्टकी बातको लग रहने दीजिये, आपने अपराध नहीं किया है, किन्तु मैंने ही अपराध किया है, तः पहले (अभीष्ट जानने और उसे पूरा करनेके पूर्व) आप मेरा अपराध क्षमा रें। ब्रह्माके वाहन होनेसे आपमें देवांश है, अत एव मुझ राजकुमारीके भी वन्दनीय

ही हैं, जैसे निन्द्य मत्स्य (मछली) भी श्रीवत्स (विष्णुके चिह्न-विशेष) से गुण कारण वन्दनीय होता है। कुमारी होनेसे मुझमें अज्ञानकी मात्रा अधिक है, अतः अ अपराधको क्षमा करना भी बड़ोंको उचित ही है] ॥ ५७ ॥

मत्प्रीतिमाधित्ससि कां त्वदीक्षामुदं मदक्ष्णोरपि याऽतिशेताम्।
निजामृतैर्लोचनसेचनाद्वा पृथक्किमिन्दुस्सृजति प्रजानाम् ?॥

अथ यदुक्तं त्वयेप्सितं किं विदधे ? अभिधेहीति, तत्रोत्तरमाह—मत्प्रीति कां मत्प्रीतिं किंवा मदीप्सितमित्यर्थः। आधित्ससि आधातुं कर्त्तुमिच्छसि ? सन्नन्ताल्लट्। या प्रीतिर्मदक्ष्णोः त्वदीक्षामुदं त्वदीक्षणप्रीतिमतिशेतां त्वद वादन्यत्किं ममेप्सितमित्यर्थः। तथाहि इन्दुः प्रजानां जनानां निजामृतैर्लोच नात् पृथक् अन्यत् 'पृथग्विने'त्यादिना पञ्चमी। किंवा सृजति करोति न करोतीत्यर्थः। दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ५८ ॥

(अब दमयन्ती अपनी अभीष्ट-सिद्धिके विषयमें कहती है—) जो तुम्हारे उत्पन्न मेरे नेत्रोंके हर्षसे भी अधिक हो, वह कौन मेरा अभिलषित करना चाहते (तुम्हें देखनेसे जो मुझे हर्ष हुआ है, उससे अधिक हर्षप्रद मेरा कोई अभीष्ट तुम साध सकते), क्योंकि चन्द्रमा अपने अमृत-प्रवाहोंसे प्रजाओं (दर्शकों) के नेत्र करनेके अतिरिक्त क्या करता है ? अर्थात् कुछ नहीं। [वैसे तुम भी मुझे दर्शन देनेके अतिरिक्त मेरा कोई अभीष्ट नहीं साध सकते हो, अतः तुमसे अभीष्ट व्यर्थ है] ॥ ५८ ॥

मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः।
का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदभिज्ञा ॥

अत्र सर्वथा मनोरथः कथनीयः इत्यभिप्रेत्य तन्न शक्यमित्याह-मनस्तु मनो मच्चित्तं कर्त्तृ यं मनोरथं जातु कदापि नोज्झति न जहाति, स मनोरथः पथं वाग्विषयम् उपकण्ठदेशं च कथं यातु, सम्भावनायां लोट्। सम्भावनापि त्यर्थः। केनापि प्रतिबद्धस्य मनोरथस्य कथमन्तिकेऽपि सञ्चार इति भावः। अभिज्ञा विवेकिनी का नाम बाला का वा स्त्री द्विजराजस्य इन्दोः पाणिना ग्र अभिलाषं कथयेत्। तथा द्विज ! पक्षिन् ! राजपाणिग्रहाभिलाषं नलपाणिग्रह मिति च गम्यते तया च दुर्लभजनप्रार्थना द्विजराजपाणिग्रहणकल्पा परिहास भूता कथं लज्जावत्या वक्तुं शक्या इत्यर्थः। पूर्वं एवालङ्कारः ॥ ५९ ॥

जिसे मन कभी नहीं छोड़ता है, वह मनोरथ (अन्तःकरण, पक्षा०— कण्ठमार्गमें किस प्रकार आवे ? (क्योंकि) कौन निर्लज्ज बालिका चन्द्रमाको पकड़नेकी इच्छा (पक्षा०—हे पक्षी ! राजा (नल) के साथ विवाह करनेकी इच्छा कहती है ? [अन्तःकरण नीचे है तथा कण्ठ ऊपर है, अतः नीचेसे ऊपरकी ओर

ना किस प्रकार सम्भव है ? अर्थात् बहुत ही दुःसाध्य है। तथा जिसे कहा भी नहीं ता उसे कार्य रूपमें सिद्ध करना अतिदुःसाध्य है। चन्द्रमाको हाथसे ग्रहणकी इच्छाको न निर्लज्ज (अज्ञानाधिक्य युक्त) बालिका कहती है ? अर्थात् कोई भी नहीं। अथवा—द्विजराज=पक्षियोंमें श्रेष्ठ राजहंस ! कौन निर्लज्ज बालिका विवाहकी इच्छाको कहती अर्थात् अज्ञानयुक्त बालिका भी लज्जा छोड़कर अपने विवाहकी इच्छा प्रकट नहीं रती तो मैं किस प्रकार अपने विवाहकी इच्छा तुमसे प्रकट करूँ?—विवाहकी इच्छा नेपर भी लज्जावश मैं तुमसे कहनेमें असमर्थ हूँ, क्योंकि मैं बाला हूँ, प्रौढा नहीं और लामें प्रौढाकी अपेक्षा लज्जाकी मात्रा अधिक होती है] ॥ ५९ ॥

वाचं तदीयां परिपीय मृद्वीं मृद्वीकया तुल्यरसां स हंसः ।
तत्याज तोषं परपुष्टघुष्टे घृणाञ्च वीणाक्वणिते वितेने ॥ ६० ॥

वाचमिति । स हंसः मृद्वीकया द्राक्षया, 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षे'त्यमरः । तुल्य-सां समानस्वादां मधुरार्थामित्यर्थः । मृद्वीं मधुराक्षरां तदीयां वाचं परिपीय अस्वाद्य दाकर्ण्य परपुष्टघुष्टे कोकिलकूजिते तोषं प्रीतिं तत्याज, वीणाक्वणिते च घृणां जुगु-पां 'घृणा जुगुप्साकृपयोरि'ति विश्वः । वितेने ॥ ६० ॥

वह हंस दाखके समान रसवाला (मीठा) सुकोमल दमयन्तीका वचन सुनकर कोयलके जनेमें सन्तोष (हर्षित होना) छोड़ दिया तथा वीणाकी झनकारमें घृणा कर लिया। कोयलके कूजने तथा वीणाके झनकारसे भी दमयन्तीका वचन मधुर एवं सरस था] ॥

मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रमुक्त्वा तस्यां समाकुञ्चितवाचि हंसः ।
तच्छंसिते किञ्चन संशयालुर्गिरा मुखाम्भोजमयं युयोज ॥ ६१ ॥

मन्दाक्षेति । तस्यां भैम्यां मन्दाक्षेण ह्रिया मन्दा सन्दिग्धार्था अक्षरमुद्रा द्विजराजपाणिग्रहे'त्याद्यक्षरविन्यासो यस्मिन् तत्तथोक्तमुक्त्वा समाकुञ्चितवाचि यमितवचनायां सत्यामयं हंसस्तच्छंसिते भैमीभाषिते किञ्चन किञ्चित्संशयालुः न्दिहानः सन्, 'स्पृहिगृही'त्यादिना आलुच् प्रत्ययः । मुखाम्भोजं[1] गिरा युयोज खेन गिरमुवाचेत्यर्थः ॥ ६१ ॥

लज्जासे थोड़ा अक्षर कहकर उस (दमयन्ती) के चुप होनेपर उसके कथनमें कुछ न्देहयुक्त हंस अपने मुखकमलको वचनसे युक्त किया अर्थात् बोला—। [दमयन्ती लज्जा-श 'कौन निर्लज्ज बाला द्विजराजपाणिग्रहणाभिलाषको कहेगी ?' ऐसा कहकर चुप हो

---

१. 'मुखाम्भोजम्' अत्र 'प्रशंसावचनैश्च' इति समासः' इति 'प्रकाश' कृत् । किन्तु नोरमाकृता प्रशस्तशोभनरमणीयादीनां यौगिकानां शुचिमृद्वादीनां गुणवचनानां 'सिंहो णवक' इत्यादौ गौण्या वृत्त्या प्रशंसावाचकानाञ्च शब्दानां व्युदासस्य करिष्यमाणत्वेनो-कतया 'वचन' ग्रहणस्य रूढपरिग्रहार्थमेव स्वीकृतत्वेन 'उपमितं व्याघ्रादिभिः (पा० सू० ।१।५६) इत्यनेनोपमितसमासस्यैवौचित्यतया भ्रान्तियुक्तं तदिति बोध्यम् ।

गयी है, अतः इस वचनके श्लेषयुक्त होनेसे हंसको नलविषयक दमयन्तीके यद्यपि अधिक सन्देह नहीं रह गया है किन्तु थोड़ा सन्देह अवश्य ही रह गया है; 'किञ्चन' (कुछ) शब्दका यहाँ प्रयोग हुआ है] ॥ ६१ ॥

करेण वाञ्छेव विधुं विधर्तुं यमित्थमात्थादरिणी तमर्थम् ।
पातुं श्रुतिभ्यामपि नाधिकुर्वे वर्णं श्रुतेर्वर्ण इवान्तिमः किम् ॥

करेणेति । हे भैमि ! करेण विधुं चन्द्रं विधर्तुं ग्रहीतुं वाञ्छेव यमर्थमित्थं राजपाणिग्रहे'त्याद्युक्तप्रकारेण आदरिणी आदरवती सती आत्थ ब्रवीषि,'ब्रुवः नामि'ति ब्रुवो लटि सिपि थलादेशः ब्रुवश्चाहादेशः, 'आहस्थ' इति हकारस्य तमर्थमन्ते भवोऽन्तिमो वर्णः शूद्रः, 'अन्ताच्चेति वक्तव्यमि'ति इमच् । वेदाक्षरमिव श्रुतिभ्यां पातुं श्रोतुमपीत्यर्थः । नाधिकुर्वे नाधिकार्यस्मि किं ? वेत्यर्थः । अतः सोऽर्थो वक्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ६२ ॥

चन्द्रमाको हाथसे पकड़नेकी इच्छाके समान आदरयुक्त (या—निर्भय होकर) प्रयोजनको तुम कह रही हो, वेदके अक्षरोंको शूद्रके समान मैं उस प्रयोजनको भी अधिकारी नहीं हूँ क्या ?। [तुम्हारे समझसे यद्यपि मैं तुम्हारे उक्त अभीष्ट नहीं कर सकता, किन्तु उसको सुनने का भी मैं अधिकारी नहीं हूँ क्या ? अर्थात् सुननेका अवश्य अधिकारी हूँ। अथ च—मैं ही उस प्रयोजनको पूर्ण करूँगा अतः सुननेका मैं ही अधिकारी हूँ, इसलिए अपना मतलब तुम्हें स्पष्ट कहना चाहिये। चन्द्र हाथसे ग्रहण करनेकी अभिलाषाको तो लज्जावश ही कहा गया है, वास्तविकमें तो द्वारा राजा नलसे विवाहकी अभिलाषा होनेमें ही मुख्यतः तात्पर्य है यह बात 'इव' द्वारा 'चन्द्रमाको हाथसे पकड़नेकी इच्छाके समान' अर्थ करनेसे सूचित होती है]

अर्थाप्यते वा किमियद्भवत्या चित्तैकपद्यामपि वर्त्तते यः ।
यत्रान्धकारः खलु चेतसोऽपि जिह्मेतरैर्ब्रह्म तदप्यवाप्यम् ॥

ननु तमर्थमत्यन्तदुर्लभत्वाद्वक्तुं जिह्मेमीत्याशङ्क्याह—अर्थाप्यत इति । भवत्या किंवा इयदेतावद्यथा तथा अर्थाप्यते किमर्थमयमर्थो द्विजराजपाणिग्रह दुर्लभत्वेनाख्यायत इत्यर्थः । अर्थशब्दात्तदाचष्ट इत्यर्थे णिचः 'अर्थवेदसत्याना क्तव्य' इत्यापुगागमः । कुतस्तथा नाख्येय इत्यत आह—योऽर्थ एकः पादो यस्य कपदी एकपादसञ्चारयोग्यमार्गः । 'वर्त्तन्येकपदीति चे'त्यमरः । 'कुम्भपदीषु निपातनात् साधुः । चित्तैकपद्यां मनोमार्गेऽपि वर्त्तते चक्षुराद्यविषयत्वेऽपि शब्दार्थः । स कथं दुर्लभ इति भावः । तथाहि—यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि विषये प्यन्धकारः प्रतिबन्धः तद् ब्रह्म जिह्मेतरैरकुटिलैः कुशलधीभिरिति यावत् । सुप्रापम् अमनोगम्यं ब्रह्मापि कैश्चिद् गम्यते, किमुत मनोगतोऽयमर्थः । अतः पत्तिरलङ्कारः । 'कैमुत्येनार्थान्तरापतनमर्थापत्तिरि'ति वचनात् ॥ ६३ ॥

तुमने इतना (दुर्लभ होना) क्यों कहा ? जो चित्तरूपी पगडण्डी (आगे-पीछे होकर -१ आदमीके चलने योग्य पतला रास्ता) में भी है, उसे प्राप्त किया जाता है, क्योंकि हांपर चित्तका भी अन्धकार है अर्थात् जिसे मन भी नहीं देखता—जो मनोऽगोचर है— ब्रह्मको उद्योगी लोग (या—सीधे रास्तेसे चलनेवाले लोग) प्राप्त कर लेते हैं। तुमने चन्द्रमाको हाथसे पकड़नेकी बात कहकर उसे इतना असाध्य क्यों बना दिया ?, ोंकि बहुत सङ्कीर्ण मार्ग (पगडण्डी) में भी स्थित वस्तुको प्राप्त कर लिया जाता है, र जिस ब्रह्मका मन भी नहीं प्रत्यक्ष करता, उसे भी प्रयत्न करनेवाले प्राप्त कर लेते हैं; अतएव तुमने जो कहा उसका अभिप्राय मैंने समझ लिया है, मुझसे अपना अभिप्राय छुपाना व्यर्थ है। तथा जिसे तुम चन्द्रमाको हाथसे पकड़नेके समान अशक्य समझती हो, नलप्राप्तिरूप कार्य वैसा अशक्य नहीं है, उसके लिये तुम्हें प्रयत्न करना होगा] ॥६३॥

ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये लोकेशलोकेशयलोकमध्ये ।
तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम् ॥ ६४ ॥

अथ मयि मृषावादित्वाशङ्कया वक्तुं सङ्कोचस्तच्च न शङ्कितव्यमित्याह—ईशेत्या- ना त्रयेण। ईशस्य यदणिमैश्वर्यं तस्य विवर्त्तो रूपान्तरं मध्यो यस्याः सा थोक्ता हे कृशोदरीत्यर्थः। लोकेशलोके शेरत इति लोकेशलोकेशयाः ब्रह्मलोक- सिनः 'अधिकरणे शेतेरि'त्यच्प्रत्ययः। 'शयवासवासिष्वकालादि'त्यलुक् तेषां कानां जनानां मध्ये अज्ञं मूढं तिर्यञ्चं पक्षिणमपि मामिति शेषः। मृषा अनृतं स्य अनभिज्ञा रसज्ञा रसना यस्य तस्य भावस्तत्ता सत्यवादितेत्यर्थः। उपज्ञायत ति उपज्ञा आदावुपज्ञाता, 'उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यादि'त्यमरः। 'आतश्चोपसर्गे, त्यङ्प्रत्ययः बहुलग्रहणात् कर्मार्थत्वं तथात्वेन ज्ञातं तदुपज्ञम् 'उपज्ञोपक्रमं दाद्याचिख्यासायामि'ति नपुंसकत्वम्। समं साधारणं सर्वैर्ज्ञायत इति समज्ञा र्त्तिः पूर्ववदङ्प्रत्ययः, तदुपज्ञं तथात्वेनादौ ज्ञाता समज्ञा कीर्त्तिर्येन तं तथोक्तं मञ्च, सत्यवादिनं विद्धीत्यर्थः। अञ्चतेर्गत्यर्थत्वात् ज्ञानार्थत्वम् ॥ ६४ ॥

(मुझे अपना अभिप्राय नहीं कहने पर भी उसे जाननेका अभिमान क्यों करते हो, दमयन्तीके आक्षेपका समाधान राजहंस करता है—) हे कृशोदरि (दमयन्ती) ! लोकके निवासी लोगोंमें सत्यवादिता एवं सहृदयताके आद्य ज्ञानसे युक्त सर्वज्ञ भी तिर्यञ्चको अज्ञ (मूर्ख, या असत्यवक्ता हृदयहीन—जैसा चाहो, वैसा-) समझो, अथवा—······मूर्ख तिर्यञ्चको भी सत्यवादिता तथा सहृदयताके प्रथम ज्ञानसे युक्त सर्वज्ञ मझो, या—उक्तरूप मेरी पूजा करो। अथवा—असत्य भाषण नहीं करनेवाली जीभके व (वचन) से युक्त आद्यज्ञानसे कीर्तिवाले मुझ तिर्यञ्चको भी अज्ञ (मूर्ख, या—अस- य असत्यवक्ता—चाहे जैसा समझो······] ॥ ६४ ॥

मध्ये श्रुतीनां प्रतिवेशिनीनां सरस्वती वासवती मुखे नः ।

ह्रियेव ताभ्यश्चलतीयमद्धापथान्न[1] संसर्गगुणेन बद्धा ॥ ६

मध्य इति । किं च, प्रतिवेशिनीनां प्रतिवेश्मनां श्रुतीनां वेदानां ब्रह्म श्रुतीनां मध्ये वासवती निवसन्ती इयं नोऽस्माकं मुखे सरस्वती वाक् सं गुणः श्लाघ्यधर्मः तन्तुश्च तेन बद्धा सती ताभ्यः श्रुतिभ्यो ह्रियेव अद्धापथात्सत्यमार्गान्न चलति संसर्गजा दोषगुणा भवन्तीति भावः । 'सत्ये असाद्धयमि'त्यमरः ॥ ६५ ॥

हमलोगोंके मुखमें वर्तमान सरस्वती (वाणी) पड़ोसिन श्रुतियोंके बीचमें अतएव संसर्ग–गुणसे बँधी हुई वह मानो उन (श्रुतियों) से लज्जाके कारण नि पथभ्रष्ट नहीं होती है । [ब्रह्माके चारो मुखसे वेद निकले हैं, जो वेद-वचन एवं सत्पथगामी ही हैं, और हमलोग ब्रह्माके वाहन होनेसे उनके साथ सदा अतएव श्रुतियां हमलोगोंके मुखमें रहनेवाली सरस्वती अर्थात् हमारे वचनकी है, इस कारण सदा सत्य उन श्रुतियोंसे लज्जा करती हुई हमारी वाणी कभी नहीं जाती अर्थात् हमलोग कभी असत्यभाषण नहीं करते । लोकमें भी पड़ोसी लज्जा होनेके कारण कोई भी व्यक्ति उनके अनुसार ही सदा आचरण करता है]

पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्कां लङ्कापुरीमप्यभिलाषि चित्तम् ।
कुत्रापि चेद्वस्तुनि ते प्रयाति तदप्यवेहि स्वशये शयालु ॥ ६

ततः किमित्यत आह–पर्यङ्केति । कुत्रापि वस्तुनि द्वीपान्तरस्थेऽपि अभिलाषि साभिलाषं ते तव चित्तं कर्तृ पर्यङ्कतां वाससक्थिकात्वमापन्नः सागरोऽङ्कश्चिह्नं यस्यास्तामतिदुर्गमामित्यर्थः । तां लङ्कापुरीमपि प्रयाति तद्दुर्गस्थमपि स्वशये स्वहस्ते शयालु स्थितमवेहि । पर्यस्तमपि पर्य जानीहि ॥ ६६ ॥

(अब राजहंस अपने सामर्थ्यातिशयको प्रकट करता हुआ कहता है– (पलँग) बना है समुद्र मध्य जिसका (पलँगके समान समुद्र-मध्यमें लङ्कापुरी या अन्य किसी भी वस्तुको भी यदि तुम्हारा मन चाहता है (वस्तुको चाहने वाला तुम्हारा चित्त लङ्कामें उस वस्तुके होनेसे यदि उक्तरूप भी यदि जाना चाहता है) तो उसे भी अपने हाथमें स्थित समझो । [पक्षा० पृथ्वीके रक्षक नलमें अभिलाषयुक्त तुम्हारा चित्त उक्तरूप लङ्काको भी जाना तो············] ॥ ६६ ॥

इतीरिता पत्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी ।
चेतो नलं कामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम् ।

इतीति । तेन पत्ररथेन पक्षिणा हंसेन इतीत्थमीरिता उक्ता भैमी ह्रीणा

---

[1] 'मत्सङ्गगुणेन नद्धा' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः ।

ाकूतकथनसङ्कोचात् लज्जिता, 'नुदविदे'त्यादिना विकल्पान्निष्ठानत्वम्। हृष्टा ायलाभान्मुदिता च सती बभाण। किमिति ? मदीयं चेतो लङ्कां नायते, किन्तु ं राजानं कामयत इति श्लेषभङ्गया बभाणेत्यर्थः। अन्यत्र कुत्रापि वस्तुनि साभि-षं न ॥ ६७ ॥

उस पक्षी (हंस) के ऐसा (३।६२-६६) कहनेपर प्रसन्न एवं लज्जित दमयन्ती ली कि—मेरा मन लङ्काको नहीं जाता अर्थात् मैं लङ्कापुरीको नहीं चाहती (पक्षा०—ा मन नलको चाहता है), दूसरे किसी वस्तुको (या—दूसरे किसी (राजाको) नहीं हता, (अथ च—नलके नहीं मिलनेपर मेरा चित्त अनल (अग्नि) को चाहता है कि उसमें जलकर भस्म हो जाऊं, किसी दूसरेको नहीं चाहता) ॥ ६७ ॥

विचिन्त्य बालाजनशीलशैलं लज्जानदीमज्जदनङ्गनागम्।
आचष्ट विस्पष्टमभाषमाणामेनां स चक्राङ्गपतङ्गशक्रः ॥ ६८ ॥

विचिन्त्येति। विस्पष्टमभाषमाणां श्लेषोक्तिवशात्संदिग्धमेव भाषमाणामित्यर्थः। ां दमयन्तीं सः चक्राङ्गपतङ्गशक्रः हंसपक्षिश्रेष्ठः बालाजनस्य मुग्धाङ्गनाजनस्य ीलं स्वभावमेव शैलं लज्जायामेव नद्यां मज्जदनङ्गनागो यस्य तं विचिन्त्य विचार्य चष्ट, तस्य लज्जाविजितमन्मथत्वं ज्ञात्वा लज्जाविसर्जनार्थं वाक्यमुवाचेत्यर्थः ॥६८॥

वह राजहंस बालाओंके पर्वताकार (बहुत बड़े) शीलको तथा लज्जारूपिणी नदीमें ना लगाते हुए कामदेवरूपी हाथी वाला समझकर स्पष्ट नहीं कहती हुई इस दमयन्तीसे ला—। ['लज्जावश कामपीडित होती हुई भी बाला यह दमयन्ती पर्वताकार शीलका ङ्घनकर अपने मनोरथको स्पष्ट नहीं कहती है, यह सोचकर राजहंस बोला—] ॥६८॥

नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहेति नलं मनः कामयते ममेति।
आश्लेषि न श्लेषकवेर्भवत्याः श्लोकद्वयार्थस्सुधिया मया किम् ? ॥६९॥

नृपेणेति। श्लेषकवेः श्लेषभङ्गया कवयित्र्याः श्लिष्टशब्दप्रयोक्त्र्या इत्यर्थः, कवृ-णंन इति धातोरौणादिक इकारप्रत्ययः। भवत्यास्तव सम्बन्धि नृपेण कर्त्रा पाणि हणं पाणिपीडनम्, 'उभयप्राप्तौ कर्म्मणी'ति विहितायाः षष्ठ्याः 'कर्म्मणि चे'ति मासनिषेधेऽपि शेषे षष्ठीसमासः। तत्र स्पृहेति मम मनो नलं कामयते द्विजराज-ाणिग्रहेति चेतो नलं कामयत इति श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया विदुषा नाश्लेषि ाग्राहि किं ? गृहीत एवेत्यर्थः ॥ ६९ ॥

'राजा (नल) के साथ विवाह करनेकी इच्छा है, मेरा मन नलको चाहता है' ऐसे पण्डिता तुम्हारे पूर्वोक्त दो श्लोकों (३।५९ तथा ६७) के अर्थको विद्वान् मैंने नहीं मझा क्या ? अर्थात् 'यद्यपि तुमने स्पष्ट नहीं कहकर श्लेषद्वारा अपना मनोरथ बतलाया तथापि तुम नलको चाहती हो' ऐसा तुम्हारे अभिप्रायको मैंने समझ ही लिया है ॥६९॥

त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययं तु सम्भाव्य भाव्यस्मि तदज्ञ[1] एव।
लक्ष्ये हि बालाहृदि लोलशीले दरापराद्धेषुरपि स्मरः स्यात् ॥

तर्हि किमर्थं करेण वाञ्छेत्यादिकमज्ञवदुक्तमित्यत आह—त्वच्चेतस
किन्तु त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययमस्थिरत्वं संभाव्य आशङ्क्य तदज्ञः कस्य
यार्थस्य अज्ञः अनभिज्ञः भावी भविष्यन् 'भविष्यति गम्यादय' इति साधुः
त्वच्चित्तनिश्चयपर्यन्तमित्यर्थः। धातुसम्बन्धे प्रत्यया इति भविष्यत्ताया गुण
मानतानुरोधः। नन्वेवमनुरक्तायां मयि कुत इयं शङ्केत्याशङ्क्य स्त्रीणां चित्त
सम्भवादित्याह–लक्ष्य इति। लोलशीले चञ्चलस्वभावे बालाहृदि चित्त एव
पि दरापराद्धेषुरीषच्च्युतसायकः स्यात, कुशलोऽपि धन्वी चललक्ष्यात्कदा
ध्यत इति भावः। 'अपराद्धपृषत्कोऽसौ लक्ष्याद्यश्च्युतसायकः' इत्यमरः। अ
न्यासोऽलङ्कारः ॥ ७० ॥

(बाला होनेके कारण) तुम्हारे मनकी अस्थिरताकी सम्भावना कर मैं उसका
(अजानकार) ही बना हूं (या—अनभिज्ञ सा बना हूं); क्योंकि सदा चञ्चल
हृदयमें कामदेव लक्ष्यभ्रष्ट भी हो जाता है। [बालामें कामवासना तीव्र नहीं र
अधिक कामपीडित नहीं होती, अत एव सम्भव है बाला होनेसे तुम्हारा मन
परिवर्तित हो जाय, इस कारण तुम्हारे मनोरथको जानकर भी मैं अजानकार ही बना

महीमहेन्द्रः खलु नैषधेन्दुस्तद्बोधनीयः कथमित्थमेव ?।
प्रयोजनं सांशयिकम्प्रतीदृक्पृथग्जनेनेव स मद्विधेन ॥ ७१

महीति। नैषधः इन्दुरिव नैषधेन्दुर्नलचन्द्रः महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्रः खलु
स नलः। पृथग्जनेन प्राकृतजनेनेव मद्विधेन मादृशा विदुषा ईदृक् सांशयिकं
दुःस्थम् अस्थिरं प्रयोजनं प्रति इत्थमेव मुग्धाकारेणैव कथं बोधनीयः ? अनर्ह
'गतिबुद्धी'त्यादिना अणि कर्त्तुर्नलस्य कर्मत्वं, 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मण' इति अभि

इस कारण सन्देहयुक्त कार्यके लिये नैषधचन्द्र राजा नलसे हीन व्यक्ति
मुझ–जैसा प्रामाणिक व्यक्ति इसी प्रकार (सन्देहयुक्त होनेसे विना विचार किये
कहे ?। [सामान्य व्यक्ति भले ही किसी सन्दिग्ध कार्यके लिये भी नलसे निवेद
किन्तु मुझ जैसे प्रामाणिक व्यक्तिको सन्दिग्ध कार्यके लिए नलसे निवेदन करन
उचित नहीं है] ॥ ७१ ॥

पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्यं यदि वा वृणीषे।
त्वदर्थमर्थित्वकृतिप्रतीतिः कीदृङ्मयि स्यान्निषधेश्वरस्य ॥ ७२

अथेत्थमेव बोधने को दोषस्तत्राह–पितुरिति। पितुर्नियोगेन आज्ञया
स्वेच्छया वा अन्यं नलादयं युवानं यदि वृणीषे वृणोषि यदि, तदा निष

---

[1] 'तमज्ञ' इति पाठान्तरम्।

लस्य मयि विषये त्वदर्थं तुभ्यं, 'चतुर्थी तदर्थे'त्यादिना चतुर्थी समासः, 'अर्थेन सह त्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्'। तद्यत्तथा अर्थित्वकृतिः अर्थित्वभजनं त्रप्रतीतिर्विश्वासः कीदृक् स्यान्न स्यादित्यर्थः। तस्मादसन्दिग्धं वाच्यमिति भावः॥

यदि तुम पिता (भीम) की आज्ञासे या स्वेच्छासे दूसरे युवकका वरण कर लोगी तो तुम्हारे लिए याचना करनेवाले मेरे विषयमें नलका कैसे विश्वास रह जायेगा [अर्थात् वंदाके लिए मुझसे उनका विश्वास उठ जायेगा, अतः विना दृढ निश्चय किये मैं नलसे हारे लिए नहीं कहना चाहता]॥ ७२ ॥

त्वयाऽपि किं शङ्कितविक्रियेऽस्मिन्नधिक्रिये वा विषये विधातुम्।
इतः पृथक् प्रार्थयसे तु यद्यत्कुर्वे तदुर्वीपतिपुत्रि ! सर्वम् ॥ ७३ ॥

अन्यथा तथा वक्तुं न शक्यते तर्हि ततोऽन्यदीप्सितं करिष्ये प्रतिज्ञाभङ्गपरिहायेत्याह—त्वयेति। हे उर्वीपतिपुत्रि ! भैमि ! त्वयापि वा किं विधातुं किं कर्तुं ङ्कितविक्रिये सम्भावितविपर्यये अस्मिन् विषये राजपाणिग्रहणसंघटनकार्ये अहम्, धिक्रिये विनियुज्ये, अनियोज्य इत्यर्थः। करोतेः कर्मणि लट्, किन्तु इतः पृथगादन्यत् यद्यत्प्रार्थयसे तत्सर्वं कुर्वे करोमीत्यर्थः ॥ ७३ ॥

तुम भी परिवर्तनकी सम्भावना वाले इस (नल–विवाहरूप) विषयमें कार्य करनेके ए मुझे क्यों अधिकारी वनाती हो ? अतः हे राजकुमारी दमयन्ति ! इससे भिन्न जो तुम चाहोगी, वह सब मैं करूंगा ॥ ७३ ॥

श्रवःप्रविष्टा इव तद्गिरस्ता विधूय वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना।
ऊचे ह्रिया विश्लथितानुरोधा पुनर्धरित्रीपुरुहूतपुत्री ॥ ७४ ॥

श्रव इति। धरित्रीपुरुहूतपुत्री भूमीन्द्रसुता भैमी श्रवःप्रविष्टा इव न तु सम्यक् विष्टा तद्गिरो हंसवाचः। वैमत्येन असम्मत्या धुतेन कम्पितेन मूर्ध्ना विधूय प्रतिष्य ह्रिया कर्या विश्लथितानुरोधा शिथिलितवृत्तिस्त्यक्तलज्जा सती पुनरप्यूचे वाच ॥ ७४ ॥

कानमें प्रविष्ट हुएके समान उस हंसके वचनोंको असम्मतिसे कम्पित किये गये मस्तक निकालकर लज्जासे शिथिलित अनुरोध वाली अर्थात् अत्याज्य लज्जाको भी शिथिल हुई राजकुमारी दमयन्ती बोली—। [हंसके कहनेपर ऐसा नहीं हो सकता कि मैं ताकी आज्ञासे या स्वेच्छासे दूसरे युवकका वरण कर लूँ' इस अभिप्रायसे निषेध करती दमयन्तीने जब मस्तकको हिलाया, तब ऐसा ज्ञात होता था कि हंसोक्त अनभिलषित वन जो उसके कानोंमें घुस गये हैं, उन्हें निकालनेके लिए उसने मस्तक हिलाया हो, कमें भी कानमें अनभिलषित कीड़ा आदि घुसनेपर मस्तकको हिलाकर लोग उसे बाहर रते हैं]॥ ७४ ॥

मदन्यदानं प्रति कल्पना या वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा।

निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोङ्कारमग्रेसरमस्य कुर्याः ॥ ७

मदिति । मम अन्यदानमन्यस्मै दानं प्रति दानमुद्दिश्य या कल्पना पितु नेत्यादि श्लोकस्तर्कः । एषा कल्पना त्वदीये हृदि वेदस्तावत्सत्य एवेत्यर्थः । निशाया अपि 'पद्धति'त्यादिना निशाया निशादेशः सोमाच्चन्द्रादितरकान्त पुरुषान्तरकल्पनामेव ओङ्कारं प्रणवम् अस्य वेदस्याग्रेसरमाद्यं कुर्याः कुरु सर्व वेदस्य प्रणवपूर्वकत्वादिति भावः । यथा निशायाः निशाकरेतरप्रतिग्रहो न श तथा ममापि नलेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीय इत्यर्थः । रूपकालङ्कारः ॥ ७५ ॥

मुझे दूसरे युवकके लिए देनेकी यदि कल्पना तुम्हारे हृदयमें वेद अर्थात् वेदव णिक है, तो रात्रिके भी चन्द्रभिन्न पति होनेकी शङ्काको इस वेदके आगे करो। पहले ॐकार होता है, अतः यदि तुम्हें शङ्का है कि पिताकी आज्ञासे या स्वयं युवकका मैं वरण कर लूँगी (३।७२), तो रात्रिका भी पति चन्द्रमासे भिन्न सकता है, इस बातको भी तुम्हें प्रामाणिक मानना चाहिये। अत एव जिस प्रका का पति चन्द्रमासे भिन्न कोई दूसरा नहीं हो सकता, उसी प्रकार मेरा भी पति भिन्न कोई दूसरा नहीं हो सकता] ॥ ७५ ॥

सरोजिनीमानसरागवृत्तेरनर्कसम्पर्कमतर्कयित्वा ।
मदन्यपाणिग्रहशङ्कितेयमहो महीयस्तव साहसिक्यम् ॥ ७६

सरोजिनीति । सरोजिन्याः मानसरागवृत्तेर्मनोऽनुरागस्थितेरभ्यन्तरा अनर्कसम्पर्कमर्केतरकान्तसंक्रान्तिमतर्कयित्वा अनूहित्वा तवेयं मम अन्यस्य रस्य पाणिग्रहं शङ्कत इति तच्छङ्कितस्य भावस्तत्ता महीयो महत्तरं साह साहसिकत्वम् अहो असम्भावितसम्भावनादाश्चर्यम् ॥ ७६ ॥

कमलिनीके मनोऽनुरागके व्यापारको सूर्येतरके साथ विना तर्क किये नले मेरे विवाहकी शङ्का करना तुम्हारा बहुत बड़ा साहस है, (तुम्हारे ऐसे साहस आश्चर्य है। [सूर्यके अतिरिक्त किसी दूसरेसे कमलिनी विकसित नहीं हो नलके अतिरिक्त किसी दूसरेसे मेरा विवाह नहीं हो सकता, अत एव बे-पै बातोंकी शङ्का करनेसे तुम्हारे महान् साहसपर मुझे आश्चर्य होता है] ॥ ७६ ॥

साधु त्वयाऽतर्कि तदेकमेव स्वेनानलं यत्किल संश्रयिष्ये ।
विनाऽमुना स्वात्मनि तु प्रहर्तुं मृषा गिरं त्वां नृपतौ न कर्तुम् ॥

साध्विति । किन्तु स्वेन स्वेच्छया अनलं नलादन्यम् अग्निं च संश्रयिष्ये मीति यत् त्वया अतर्कि ऊहितं तदेकमेव साधु अतर्कि, किन्तु अमुना नले तदलाभ इत्यर्थः । स्वात्मनि प्रहर्तुं स्वात्मानं हिंसितुं कर्मणो अधिकरणत्व सप्तमी । 'अनेकशक्तियुक्तस्य विश्वस्यानेककर्मणः । सर्वदा सर्वतोभावात् किञ्चिद्विवच्यते ॥' इति वचनादनलं संश्रयिष्ये इत्यनुषङ्गः नृपतौ नले वि

गिरमसत्यवाचं कर्तुमनल एव शरणम् अन्यथा मरणमेव शरणमिति भावः ॥

हां, तुमने सचमुच यह ठीक तर्क किया है कि मैं स्वयं अनल (अग्नि, पक्षा०— भिन्न) का आश्रय कर लूंगी, इस (नल) के बिना अपनी आत्मापर प्रहार करनेके तैयार हूं अर्थात् नलके नहीं मिलनेपर अग्निमें जलकर मर जाऊंगी, किन्तु तुम्हें नलके यहां असत्यवक्ता नहीं बनाऊँगी ॥ ७७ ॥

मद्विप्रलभ्यं पुनराह यस्त्वां तर्कस्स किं तत्फलवाचि मूकः ? ।
अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु ? ॥ ७८ ॥

मदिति । किञ्च, यस्तर्क ऊहः मद्विप्रलभ्यं मया विप्रलम्भनीयं 'पोरदुपधाद्' इति प्रत्ययः । आह बोधयतीत्यर्थः स तर्कः तस्य विप्रलम्भस्य फलवाचि प्रयोजनाभि ने मूकः अशक्तः किम् ? अतो मय्यसत्यवादित्वशङ्का न कार्येत्यर्थः । कथमेतावता यवाक्यत्वनिश्चयः अत आह—अशक्या शङ्का यस्य सः अशक्यशङ्कः शङ्कितुम यः व्यभिचारहेतुर्विप्रलिप्सालक्षणो यस्याः सा वाणी न वेदा यदि न प्रमाणं तर्हि के तु वेदाः सन्तु ? न केऽपीत्यर्थः, सम्भावनायां लोट् । वेदवाचामसत्यत्वे ाचोऽप्यसत्यत्वम् , नान्यथेति भावः ॥ ७८ ॥

जिस तर्कसे तुम यह समझते हो कि 'यह दमयन्ती मुझे (हंसको) असत्य कहकर रही है', वह तर्क उस ठगनेके परिणामको कहनेमें मूक क्यों है (तुम्हें झूठाकर मुझे लाभ होगा, यह भी तुम्हें उसी तर्कसे पूछना चाहिये), जिसमें कोई शङ्का नहीं हो ती ऐसे व्यभिचार कारणवाले वचन वेद (वेदके समान सत्य) नहीं हैं, तो वेद ा है ?, [जिसमें व्यभिचार होनेकी शङ्का ही नहीं उठती, ऐसे ही वचन वेदतुल्य सत्य अतः तुम्हें ठगनेपर मुझे कोई फल (लाभ) नहीं होगा, इस कारण मैं तुम्हें नलको ति बनानेके लिए कहकर ठग नहीं रही हूं, किन्तु सत्य कह रही हूं] ॥ ७८ ॥

अनैषधायैव जुहोति किं मां तातः कृशानौ न शरीरशेषाम् ? ।
ईष्टे तनूजन्मतनोस्तथापि मत्प्राणनाथस्तु नलस्स एव ॥ ७९ ॥

एवं निजेच्छया नलान्यशङ्कां निरस्य पित्राज्ञयापि तां निरस्यति—अनैषधायेति । तो मम जनकः । 'तातस्तु जनकः पिता' इत्यमरः । मामनैषधाय नैषधान्नलादन्य मै एव जुहोति ददातीति काकुः, तदा शरीरशेषां मृतां तत्रापि कृशानौ न किं न तु ीवन्तीं नाग्नेरन्यत्र जुहोतीत्यर्थः । तदङ्गीकर्त्तव्यमेवेति भावः । कुतः ? स जनकः नूजन्मतनोः आत्मजशरीरस्य ईष्टे स्वामी, भवतीत्यर्थः। 'अधीगर्थदयेशां कर्मणी'ति षे षष्ठी । तथापि शरीरस्य पितृस्वामिकत्वेऽपीत्यर्थः । मत्प्राणनाथस्तु नल एव, ाणानामतज्जन्यत्वादिति भावः । अतो मय्यविश्वासं मा कुर्वित्यर्थः ॥ ७९ ॥

यदि पिताजी मुझे नल-भिन्नके लिए देते हैं तो शरीरशेष (प्राणहीन-मृत) मुझको ग्निमें ही क्यों नहीं फेंक देते ? कहो, वे (पिताजी) सन्तानके शरीरके अधिकारी

अवश्य हैं, तथापि मेरे प्राणनाथ तो नल ही हैं। [यदि पिताजी किसी दू
मेरा विवाह करना चाहेंगे तो जन्मान्तरमें भी नलको पतिरूपमें पानेके लिए मैं
कर दूंगी]॥ ७९ ॥

तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते ।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण ॥ ८

फलितमाह–तदेकेति । तस्य नलस्यैकस्यैव दासीत्वं तदेव पदमधिका
दुदग्रे अधिके मदीप्सिते पत्नीत्वरूपे विषये तव विधित्सुता चिकीर्षुतैव साधु
अविचारेण मन्मनोरथपूरणमेव ते युक्तमिति भावः। साध्विति सामान्योप
पुंसकत्वम्, 'शक्यं श्वमांसेनापि क्षुन्निवर्तयितुमि'ति भाष्यकारप्रयोगात्। नु
त्राभिनिवेशेन गुणवत्तरं चेद्युवान्तरस्वीकारे को दोषस्तत्राह–अहेलिनेति।
सुधाकरेण अमृतदीधितिनापि अहेलिना असूर्येण सुधाकरेण चन्द्रेण किं विध
तेन तस्या इत्यर्थः। तद्वन्ममापि किं युवान्तरेणेति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः।

उस (नल) की एकमात्र दासी–पदसे भी श्रेष्ठ मेरे अभीष्ट को पूरा करनेको
चाहना अच्छी है ? अर्थात् कदापि नहीं, क्योंकि सूर्यभिन्न अमृतकर भी
कमलिनी क्या करती है ? अर्थात् कुछ नहीं। [जिस प्रकार कमलिनी अमृत
चन्द्रमाकी इच्छा नहीं करके सूर्यको ही चाहती है, उसी प्रकार मैं नलका दासी
ही रहना चाहती हूँ, दूसरे किसीकी पटरानी भी नहीं होना चाहती, अत
नल–प्राप्तिके भिन्न मेरे दूसरे मनोरथकी जो साधना चाहते हो, वह दूसरा कोई
मनोरथ नहीं है]॥ ८० ॥

तदेकलुब्धे हृदि मेऽस्ति लब्धुं चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घम्
वित्ते ममैकस्स नलस्त्रिलोकीसारो निधिः पद्ममुखस्स एव।

तदिति। तस्मिन्नेवैकस्मिन् लुब्धे लोलुपे मे हृदि अनर्घं चिन्तामणि
चिन्ता विचारो नास्ति, तथा वित्ते धनविषयेऽपि मम स नलस्त्रिलोकीसार
श्रेष्ठः पद्ममुखः पद्माननः एकः स नल एव त्रैलोक्यसारः, पद्मनिधिश्च। नल
कुत्रापि मे स्पृहा नास्ति। किमुत युवान्तर इति भावः॥ ८१ ॥

इस कारण उस नलमात्रके लोभी (पानेकी इच्छा करनेवाले) मेरे मनमें
चिन्तामणिको भी पानेकी चिन्ता नहीं है, सम्पूर्ण त्रिलोकीका सारभूत कमल तु
मुखवाले वे (नल) ही हमारे निधि (प्राणसर्वस्व स्वामी) हैं [अथ च—पद्म है
जिसके, ऐसे वे ही मेरे कोष हैं, अतः चिन्तामणिको भी मैं नहीं चाहती हूँ]॥ ८

श्रुतश्च दृष्टश्च हरित्सु मोहाद् ध्यातश्च नीरन्ध्रितबुद्धिधारम्।
ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेक शेषः

श्रुतश्चेति। किं बहुना स नलः श्रुतः दूतद्विजवन्द्यादिमुखादाकर्णितश्च,

न्तिवशात् हरिस्सु दृष्टः साक्षात्कृतश्च, तथापि नीरन्ध्रितबुद्धिधारं निरन्तरीकृतकविषयबुद्धिप्रवाहं यथा तथा ध्यातश्च । अथाद्य मम तत्प्राप्तिर्नलप्राप्तिरसुव्ययः त्यागो वा द्वयमेव द्वयोरन्यतर एवेत्यर्थः । शेषः कार्यशेषः स च तव हस्ते स्ते त्वदायत्तः तिष्ठतीत्यर्थः । अत्र तत्पदार्थश्रवणमनननिदिध्यासनसम्पन्नस्य ब्रह्मविदुःखोच्छेदलक्षणमोक्षो गुर्वायत्त एवेत्यर्थान्तरप्रतीतिर्ध्वनिरेव अभिधायाः प्रकृर्थनियन्त्रणादिति सङ्क्षेपः ॥ ८२ ॥

मैंने नलको (दूत, वन्दी तथा द्विज आदिके मुखसे) सुना है, भ्रमवश दिशाओंमें है तथा निरन्तर बुद्धिप्रवाहसे उनका ध्यान किया है; (इस प्रकार मैंने चक्षुःप्रीति दि नव प्रकारकी अवस्थाओंका अनुभव किया है और अब) मुझे नलको पाना या मरना—दोनों तुम्हारे हाथोंमें है, उनमें एकका शेष होगा अर्थात् मैं नलको वरूँगी, मर कर दशमी अवस्थाको पाऊँगी ? ['सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (पा० सू० १।२।) से समानरूप वालोंका ही एकशेष होता है, परन्तु यहाँ विभिन्न रूपवालोंका भी शेष होना आश्चर्यजनक है । अथ च—जिस प्रकार श्रवण, दर्शन तथा ध्यानसे प्रत्यक्ष हुए ब्रह्मको प्राप्ति किसी पुण्यात्माको ही होती है, उसी प्रकार उक्त प्रकारसे श्रवणा- प्रत्यक्ष किये गये नलकी प्राप्ति मुझे तुम्हारे अनुग्रह विशेषसे हो होगी, अन्यथा नहीं । -ब्रह्मप्राप्तिमें अद्वय (दो अवयव वालों) से हीन एकका ही शेष होता है] ॥ ८२ ॥

सञ्चीयतामाश्रुतपालनोत्थं मत्प्राणविश्राणनजं च पुण्यम् ।
निवार्यतामार्य ! वृथा विशङ्का भद्रेऽपि मुद्रेयमये ! भृशं का ? ॥८३॥

सञ्चीयतामिति । हे हंस ! आश्रुतपालनोत्थं प्रतिज्ञातार्थनिर्वाहणोत्पन्नम् 'अङ्गीतमाश्रुतं प्रतिज्ञातमि'त्यमरः । मत्प्राणानां विश्राणनं दानं तज्जञ्च पुण्यं सुकृतं ञ्चीयतां संगृह्यतां, हे आर्य ! वृथा विशङ्का सन्देहो निवार्यताम् । अये ! अङ्ग ! पूर्वोक्तपुण्यरूपे श्रेयसि विषये भृशङ्केयं मुद्रा औदासीन्यं, श्रेयसि नोदासितव्यति भावः ॥ ७३ ॥

('मेरा कार्य करनेसे तुम्हें पुण्यातिशय प्राप्तिरूप महान् लाभ होगा' इस आशयसे यन्ती कहती है—) प्रतिज्ञाके पालनसे उत्पन्न मेरे प्राणदानरूप पुण्यका संग्रह करो, आर्य ! व्यर्थकी विपरीत शङ्का (या—विशिष्ट शङ्का) को छोड़िये, अरे ! शुभ कार्यमें अत्यधिक यह मुद्रा (चुप रहनेकी चेष्टा) क्यों है ? [अथवा—सज्जन, या विचारशील में यह (मौनधारण रूप) चेष्टा क्यों है ? अब तुम मौन छोड़कर पूर्व स्वीकृत वचनको करनेके लिये स्पष्टरूपसे कहो] ॥ ८३ ॥

अलं विलङ्घ्य प्रिय[1] ! विज्ञ ! याच्ञां कृत्वापि वाक्यं विविधं विधेये ।
यशःपथादाश्रवतापदोत्थात् खलु स्खलित्वाऽस्तखलोक्तिखेलात् ॥८४॥

---

[1] 'प्रियविज्ञ !' इति पाठान्तरम् ।

अलमिति । हे प्रिय ! प्रियङ्कर विज्ञ ! विशेषज्ञ ! उभयत्र 'इगुपधे'त्यादि स्ययः । याच्ञां प्रार्थनां विलङ्घय अलं याच्ञाभङ्गो न कार्य इत्यर्थः । विधे तजने विविधं वाक्यं वक्रतां कृत्वापि अलं, तच्च न कार्यमित्यर्थः । आश्रवो कारी, 'वचने स्थित आश्रव' इत्यमरः । तस्य भावस्तत्ता सैव पदं पदक्षेपः अस्ता निरस्ता खलोक्तिखेला मिथ्यावादविनोदो येन तस्माद्यशःपथात् चलित्वा खलु न स्खलितव्यमित्यर्थः । अन्यथा हानिः स्यात् । 'निषेधवाक्य जिज्ञासानुनये खलु' इत्यमरः । 'अलं खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वे'ति क्त्वाप्रत्ययः, इह 'न पादादौ खल्वादय' इति निषेधस्योद्वेजकत्वाभिप्रायत्वा खलुशब्दस्यानुद्वेजकत्वान्नञ्वदेव पादादौ प्रयोगो न दूष्यत इति अनुसन्धेय

हे प्रिय ! हे विज्ञ (विचारशील ! अथवा—पक्षियोंमें ज्ञानी राजहंस !, अथ पक्षियोंमें ज्ञानी—राजहंस !, अथवा—प्रिय (नल) को विशेष जाननेवाले) याचनाका उल्लङ्घन मत करो, (या—प्रिय तथा विज्ञ नल-विषयक मेरी उल्लङ्घन मत करो) विनीतमें (या—कर्तव्य कार्यमें) अनेक प्रकारकी कुटिलता करो और कहे हुए वचनको पालनेवालोंके चरण (या—तल्लक्षण श्रेष्ठ स्थान) तथा दुष्टोक्ति क्रीडासे वर्जित कीर्तिमार्गसे स्खलित भी मत होवो । [लोकमें हंसको में श्रेष्ठतम माना जाता है, अत एव उसे अपनी उस कीर्तिसे विचलित न होने निषेध ही किया गया है] ॥ ८४ ॥

स्वजीवमप्यार्त्तमुदे ददद्भ्यस्तव त्रपा नेदृशबद्धमुष्टेः ।
मह्यं मदीयान्यदसूनदित्सोर्धर्मः कराद् भ्रश्यति कीर्तिधौतः ॥

स्वेति । ईदृशबद्धमुष्टेरीदृक्कष्टलुब्धस्य तव आर्त्तानां मुदे प्रीत्यै स्वजीवं स्वप्राणव्ययेन परत्राणं कुर्वद्भ्यो जीमूतवाहनादिभ्य इत्यर्थः । 'जीवञ्जीमू इति प्रसिद्धम् । त्रपा नेति काकुः, त्रपाया मनःप्रत्यावृत्तिरूपत्वात्तदपेक्ष मपादानत्वात् पञ्चमी । यद्यस्मान्मदीयानेवासून् प्राणान् मह्यमदित्सोः तव धौतः शुद्धो धर्मः कराद्धस्ताद् भ्रश्यति, न चैतत्तवार्हमिति भावः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार मुट्ठी बांधे हुए (ऐसे महाकृपण, अत एव) मेरे प्राणोंको ही देनेकी इच्छा करनेवाले तुमको, दुःखियोंके हर्षके लिए अपना जीवन तक देनेवाले दधीचि, जीमूतवाहन, राजा कर्ण आदि दाताओं) से लज्जा नहीं होती, अत कीर्तिसे धोया गया (स्वच्छतम) धर्म भी तुम्हारे हाथसे गिर (नष्ट हो) रहा है का धन लेकर पुनः उसे समर्पित नहीं करनेवाले व्यक्तिको आर्त्तोंके लिए अपना देनेवालोंसे लज्जा कैसे हो ? यदि लज्जा हो तब तो वह दूसरेकी ली हुई वस्तु ही कर देता, वैसा तुम नहीं करते, अत एव धर्मके साथ लज्जाको भी रहे हो । जो दूसरेकी वस्तुको ही नहीं लौटाना चाहता, वह अपनी वस्तु कैसे

र्थात् कदापि नहीं दे सकता अत एव तुम नलदानद्वारा मेरे प्राणोंको मुझे देकर अपने तथा लज्जा दोनोंकी रक्षा करो] ॥ ८५ ॥

दत्त्वाऽऽत्मजीवं त्वयि जीवदेऽपि शुध्यामि जीवाधिकदे तु केन ।
विधेहि तन्मां [1]त्वदृणोऽ[2]शोद्धुमसुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम् ॥ ८६ ॥

दत्त्वेति । किं च, जीवदे प्राणदे त्वयि विषये आत्मजीवं मत्प्राणं दत्त्वापि शुध्यामि नृण्यं गमिष्यामीत्यर्थः । किन्तु जीवादधिकः प्रियः तद्दे त्वयि केन शुध्यामि ? न नापि, तत्तुल्यदेयवस्त्वभावादित्यर्थः । सम्प्रति प्राणैः समं तु न किञ्चिदस्तीति वः । तत्तस्मादभावादेव मां त्वदृणेषु विषये अशोद्धुमृणग्रस्तां भवितुमेव असुद्रे परिमिते दारिद्र्यं त्वद्देयवस्त्वभावरूपं तस्मिन्नेव समुद्रे । मग्नां विधेहि नलसङ्कट- न मामृणग्रस्तां कुर्वित्यर्थः । अशोद्धुं, मग्नामिति मग्नत्वानुवादेन अशुद्धिर्विधीयते रिद्राणामृणमुक्तिर्नास्तीति भावः ॥ ८६ ॥

तुम्हें जीव-दान करनेपर मैं अपना जीवन-दान करके भी शुद्ध (ऋणहीन— नृणी) हो सकती हूं, किन्तु जीवसे अधिक (नल) के देनेपर (जोवाधिक पदार्थान्तर हीं होनेसे) मैं किससे अर्थात् तुम्हारे लिए क्या देकर शुद्ध होऊँगी (तुम्हारे ऋणसे टकारा पाऊँगी) ? इस कारण तुम तुम्हारे ऋणको नहीं चुकानेके लिए मुझे अपरिमित रिद्र्यरूपी समुद्रमें मग्न कर दो । [मेरे जीवनसे भी अधिक नलको मुझे देकर सदाके ए अपना ऋणी बना लो] ॥ ८६ ॥

क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पण्यमन्यं न चेद्वस्तु तदस्तु पुण्यम् ।
जीवेशदातर्यदि ते न दातुं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम् ॥ ८७ ॥

क्रीणीष्वेति । हे जीवेशदातः प्राणेश्वरद ! मज्जीवितमेव पण्यं क्रेयं वस्तु क्रीणीष्व, वेशरूपमूल्यदानेन स्वीकुरुष्वेत्यर्थः । अन्यदेतन्मूल्यानुरूपं वस्त्वन्तरं नास्ति त्तर्हि पुण्यं सुकृतमस्तु, किञ्चिद्यदि ते तुभ्यं दातुं न प्रभवामि न शक्नोमि तावत्तर्हि शोऽपि कीर्त्तिं गातुं प्रभवामि, ख्यातिसुकृतार्थमेवोपकुरुष्वेत्यर्थः ॥ ८७ ॥

(नलको विना पाये मेरा मर जाना निश्चित है, अत एव तुम नलको देकर) मेरे जीवनरूप सौदेको खरीद लो । (यद्यपि जीवनदान तथा जीवनाधिकदानमें जोवनाधिक- नके विना दूसरा कोई भी मूल्य नहीं हो सकता), तथापि तुम्हें पुण्य ही हो । हे णनाथके दाता राजहंस यदि मैं कुछ नहीं दे सकती हूँ तो तुम्हारा यश भी नहीं गा कती ? अर्थात् तुम्हारा यश ही गाया करूंगी [इसी प्रकार पुण्यरूप पारलौकिक फलमें निच्छा या अविश्वास रखनेवाले तुमको ऐहिक यशोगानरूप फल तो मिल ही जायेगा] ॥

वराटिकोपक्रिययाऽपि लभ्यान्नेभ्याः कृतज्ञानथवाद्रियन्ते ।

---

१. त्वद्गुणान्यशोद्धु—' इति पाठान्तरम् । २. '—असोढु—' इति पाठान्तरम् ।

प्राणैः पणैः स्वं निपुणं भणन्तः क्रीणन्ति तानेव तु हन्त सन्तः

अथवा साधुस्वभावेनापि परोपकारं कुर्वित्याह—वराटिकेति । वराटिक कपर्दिकादानेनापि लभ्यान् कृतज्ञान् तावदेव बहुमन्यमानान् उपकारज्ञान् धनिकाः, 'इभ्य आढ्यो धनी स्वामी'त्यमरः । नाद्रियन्ते धनलोभान्नोपकुर्वन्त सन्तो विवेकिनस्तु स्वात्मानं निपुणं भणन्तः, सन्त एते वयं त्वदधीना इ वदन्त इत्यर्थः । तानेव कृतज्ञान् प्राणैरेव पणैः क्रीणन्ति आत्मसात्कुर्वन्ति, जनैरित्यर्थः । अतस्त्वयाऽपि सता कृतज्ञाऽहमुपकर्तव्येति भावः । हन्त हर्षे

धनिकलोग एक कौड़ीके भी उपकारसे मिलनेवाले कृतज्ञोंका आदर नहीं क अपनेको चतुर कहते हुए सज्जन लोग प्राणरूप मूल्यसे भी उन्हें खरीद लेते हैं पूर्व श्लोकोक्त पुण्य तथा यशकी चाहना तुम्हे यदि नहीं हो, तथापि (निरपेक्ष भी) सज्जन होनेके कारण मुझे उपकृत करो] ॥ ८८ ॥

स भूभृदष्टावपि लोकपालास्तैर्मे तदेकाग्रधियः प्रसेदे ।
न हीतरस्माद्घटते यदेत्य स्वयं तदाप्तिप्रतिभूर्ममाभूः ॥ ८९ ॥

स इति । किञ्च स भूभृन्नलः अष्टावपि लोकपालाः, तदात्मक इत्यर्थः । ' लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृप' इति स्मरणात् । अत एव तदेकाग्रधि कतानबुद्धेः मे मम तैर्लोकपालैः प्रसेदे प्रसन्नं भावे लिट् । देवता ध्यायत न्तीति भावः । कुतः ? इतरस्मात् प्रसादादन्यथेत्यर्थः । स्वयं स्वयमेवा तदाप्तिप्रतिभूः नलप्राप्तिलग्नकोऽभूरिति यत्, तन्न घटते हि । तत्प्रसादा ममेदं श्रेयः ? इत्यर्थः ॥ ८९ ॥

वे नल आठो लोकपाल हैं, उन (नल) में एकाग्र बुद्धिवाली मुझपर वे प्रसन्न हो गये हैं, उस (नल) की प्राप्तिके विषयमें तुम स्वयं आकर मेरा प्रतिभू(दार, मध्यस्थ) बने हो, यह बात अन्यथा (नलको मुझे देनेके लिए लोकपालों प्रसन्न नहीं होनेपर) नहीं घटित होती । [अत एव दाता तथा ग्रहीताके बीच ओर कार्य करनेवाले प्रतिभूको ही दबाकर नियत धनादि मांगा जाता है, अत तुमसे ही नलको देनेके लिए वार-वार हठपूर्वक कह रही हूँ] ॥ ८९ ॥

अकाण्डमेवात्मभुवाऽर्जितस्य भूत्वाऽपि मूलं मयि वीरणस्य ।
भवान्न मे किं नलदत्वमेत्य कर्ता हृदश्चन्दनलेपकृत्यम् ॥

अकाण्डेति । हे हंस ! विः पक्षी 'विर्विष्किरपतत्रिणः' इत्यमरः । 'रोरि लोपे 'ढ्लोपे पूर्वस्ये'ति दीर्घः । भवान् अकाण्डमनवसर एव 'अत्यन्तसंयोगे द्वि आत्मभुवा कामेन मयि विषये अर्जितस्य कृतस्य रणस्य गाढप्रहारलक्षण हंसानामुद्दीपकत्वेन निदानं भूत्वाऽपि अन्यत्र काण्डो दण्डः तद्वर्जितमका तथा आत्मभुवा ब्रह्मणा अर्जितस्य सृष्टस्य वीरणस्य तृणविशेषस्य मूलं मू

वा अत एव नलदत्वं नैषधदातृत्वम् । अन्यत्र उशीरत्वं चेत्यर्थः । हृदः चन्दनलेप यं शैत्योत्पादनं न कर्त्ता करिष्यत्येव परोपकारशीलत्वादिति भावः । 'काण्डोऽस्त्री डबाणार्ववर्गावसरवारिषु ।', 'स्याद्वीरणं वीरतरुमूलस्योशीरमस्त्रियाम् ।', 'अभयं दं सेव्यमि'ति चामरः । वीरणस्येति शब्दश्लेषः । अन्यत्रार्थश्लेषः । तथा च दत्वमेत्य चेति प्रकृताप्रकृतयोरभेदाध्यवसायेन हंसे आरोप्यमाणस्योशीरस्य था तादात्म्येन चन्दनकृत्यलक्षणप्रकृतकार्य्योपयोगात् परिणामालङ्कारः । रोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम' इति लक्षणात्, स चोक्तश्लेषप्रतिबिम्बो- पित इति सङ्करः ॥ ९० ॥

असमय अर्थात् बाल्यमें ही कामदेवसे उत्पादित रहस्य-कथनका मूल पक्षी होकर भी थवा—नलका प्रस्ताव उपस्थित कर बाणहीन कामदेवके युद्धका मूल (जड़) पक्षी र भी। अथवा—विना गांठ (पर्व-पोर) के ही ब्रह्माके द्वारा मेरे लिए रचे गये का मूल-जड़ होकर भी आप मेरे लिए नल (राजा नल, पक्षा०—उशीर = खश) को हृदयके चन्दन-लेपके कार्यको नहीं करेंगे क्या ? (जब आप मेरे लिए ब्रह्मसृष्ट की जड़ बने हैं, तब आपको मेरे लिए नल (खश) को देकर हृदयपर चन्दनलेपके को पूरा कराना ही चाहिये । अथ च—मेरे कौमार अवस्थामें ही आप सहसा कहींसे र कामयुद्धका मूल बन गये हैं तो नलको मेरे लिए देकर मेरे हृदय पर चन्दन लेपका -सम्पादन आपको करना ही चाहिये, अन्यथा यदि अन्य नलको मेरे लिए नहीं तो मैं हृदय पर चन्दनका लेपकर शृङ्गार भी नहीं करूंगी] ॥ ९० ॥

अलं विलम्ब्य त्वरितुं हि वेला कार्ये किल स्थैर्यसहे विचारः ।
गुरूपदेशं प्रतिभेव तीक्ष्णा प्रतीक्षते जातु न कालमार्तिः ॥ ९१ ॥

अलमिति । हे हंस ! विलम्ब्यालं न विलम्बितव्यमित्यर्थः । 'अलङ्खल्वोरि'त्या- ा क्त्वाप्रत्यये ल्यबादेशः । त्वरितुं वेला हि त्वराकालः खल्वयमित्यर्थः । 'काल- यवेलासु तुमुन्' कुतः ? स्थैर्यसहे विलम्बसहे कार्ये विचारो विमर्शः किलेति द्धौ, अन्यथा विपत्स्यत इति भावः। तथाहि तीक्ष्णा शीघ्रग्राहिणी प्रतिभा प्रज्ञा पदेशमिव आर्त्तिराधिर्जातु कदापि कालं न प्रतीक्षते, कालक्षेपं न सहत इत्यर्थः। मार्थान्तरन्यासयोः संसृष्टिः ॥ ९१ ॥

यह समय शीघ्रता करनेका है, अत एव विलम्ब मत करो, क्योंकि विलम्बको सह नेवाले कार्यमें विचार किया जाता है। जिस प्रकार तीक्ष्ण बुद्धि गुरुके उपदेशकी क्षा कभी नहीं करती, उसी प्रकार पीड़ा (नल-विरह पीडा) समय (विलम्ब) की क्षा नहीं करती ॥ ९१ ॥

अभ्यर्थनीयस्स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगतो मदर्थम् ।
प्रियास्यदाक्षिण्यबलात्कृतो हि तदोदयेदन्यवधूनिषेधः ॥ ९२ ॥

अथानन्तरकृत्यं सविशेषमुपदिशति—अभ्यर्थनीय इत्यादिश्लोकपञ्चके
इतो यातेन त्वया स राजा नलः शुद्धान्तगतः अन्तःपुरस्थो मदर्थं मत्प्रयोज
र्थनीयो न वाच्यः, दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम् 'अप्रधाने दुहादीनामि'ति
हितकर्मत्वम् कुतः ? हि यस्मात्तदा तस्मिन् काले प्रियाणामास्यदाक्षिण्यं
लोकनोत्थापितच्छन्दानुवृत्तिबुद्धिरित्यर्थः । तेन बलात् कृतो बलात्
अन्यवधूनिषेधः उदयेत् उत्पद्यते ॥ ९२ ॥

(अब चार श्लोकों (३।९३–९५) से नलसे प्रार्थना करनेके उचित अवसर
है—) यहाँसे गये हुए तुम रानियोंके बीचमें स्थित राजा नलसे मेरे लिए प्र
करना, (अथवा—यहाँसे गये हुए तुम मेरे लिए राजा नलसे प्रार्थना कर
रानियोंके बीचमें प्रार्थना नहीं करना), क्योंकि उस समय प्रियाओंके मुख देखने
लज्जा एवं प्रेमसे दूसरी स्त्रीके विषयमें निषेध हो सकता है ॥ ९२ ॥

शुद्धान्तसंभोगनितान्ततृप्ते न नैषधे कार्यमिदं निगाद्यम् ।
अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुस्सुगन्धिः स्वदते तुषारा ॥

शुद्धान्तेति । किञ्च शुद्धान्तसम्भोगेन अन्तःपुरस्त्रीसम्भोगेन नितान्ततृप्ते
सन्तुष्टे नैषधे नलविषये इदं कार्यं न निगाद्यं न निगदितव्यम्, 'ऋहलोर्ण्यत्
मदे'त्यादिना सोपसर्गाद्यतो निषेधात् । यथाहि अपां तृप्ताय अद्भिस्तृप्ताय
'पूरणगुणे'त्यादिना षष्ठीसमासप्रतिषेधादेव ज्ञापकात् षष्ठी 'रुच्यर्थानां प्री
इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । स्वादुर्मधुरा सुगन्धिः कर्पूरादिवासनया शोभ
अत्र कवीनां निरङ्कुशत्वाद्गन्धस्येत्वे तदेकान्तत्वनियमानादरः । तुषारा
वारि-धारा न स्वदते न रोचते हि । दृष्टान्तालंकारः ॥ ९३ ॥

रानियोंके साथ सम्भोग कर अत्यन्त सन्तुष्ट नलसे इस कार्यको मत कहना
जलसे सन्तुष्ट व्यक्तिको स्वादिष्ट सुगन्धयुक्त एवं ठण्डी जलकी धारा नहीं रुचती
दृष्टान्तद्वारा दमयन्तीने नलकी अन्य रानियोंको सामान्य जलतुल्य तथा अपने
सुगन्धित एवं शीतल जलतुल्य कहकर उनकी अपेक्षा अपनेको बहुत श्रेष्ठ ध्वनित

विज्ञापनीया न गिरो मदर्थाः क्रुधा कदुष्णे हृदि नैषधस्य ।
पित्तेन दूने रसने सिताऽपि तिक्तायते हंसकुलावतंस ! ॥

विज्ञापनीया इति । हे हंसकुलावतंस ! नैषधस्य नलस्य हृदि हृदये क्रु
कदुष्णे ईषदुष्णे चकारात्कोः कदादेशः । मह्यमिमाः मदर्थाः 'अर्थेन स
समासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या' गिरो वाचो न विज्ञापनीया न विधेयाः न
इत्यर्थः । तथाहि पित्तेन पित्तदोषेण दूने दूषिते रसने रसनेन्द्रिये सिता
तिक्तायते तिक्तीभवति लोहितादित्वात् क्यष्, 'वा क्यष' इति आत्म
अत्रापि दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ९४ ॥

हे हंसवंशके भूषण ! नलसे क्रोधसे हृदयके कुछ गर्म रहनेपर मेरे लिए बातको मत ना, क्योंकि पित्तसे जीभके दूषित होनेपर शक्कर भी तीता लगता है ॥ ९४ ॥

धरातुरासाहि मदर्थयाच्ञा कार्या न कार्यान्तरचुम्बिचित्ते।
तदाऽर्थितस्यानवबोधनिद्रा बिभर्त्यवज्ञाचरणस्य मुद्राम् ॥ ९५ ॥

धरेति। तुरं त्वरितं सहयस्यभिभवत्यरीनिति तुरापाडिन्द्रः सहतेश्चौरादिकत्वात् ण्, 'नहिवृती'त्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घः, प्रकृतिग्रहणे ण्यन्तस्यापि ग्रहणात्, मुग्धबोधस्तु तुराशब्दं टाबन्तमाह। तस्मिन् धरातुरासाहि भूदेवेन्द्रे नले अजादिषु षाड्रूपत्वात् 'सहेः साडः स' इति षत्वं नास्ति। कार्यान्तरचुम्बिचित्ते व्यासक्तचित्ते र्थयाच्ञा मत्प्रयोजनप्रार्थना न कार्या। तथाहि—तदा व्यासङ्गकाले अर्थितस्य नवबोधः अवबोधः स एव निद्रा सा अवज्ञाऽऽचरणस्य अनादरकरणस्य मुद्रामभिनं बिभर्ति, अनादरप्रतीतिं करोतीत्यर्थः। तच्चातिकष्टमिति भावः ॥ ९५ ॥

राजा (नल) के चित्तके दूसरे कार्यमें आसक्त रहनेपर तुम मेरे लिये प्रार्थना मत ना, क्योंकि कार्यान्तरमें चित्तके आसक्त रहने पर याचित विषयको नहीं सुनना अपमान करने (या—अभीष्ट नहीं होने) के रूपको ग्रहण कर लेता है। [कार्यान्तरमें चित्तके सक्त रहनेके कारण यदि व्यक्ति किसीको याचनाको नहीं सुननेके कारण उसके विषयमें उत्तर नहीं देता तो प्रार्थयिता समझता है कि इनको यह बात नहीं रुचती, और ऐसा झ पुनः उस विषयमें उस व्यक्तिसे प्रार्थना करना भी नहीं चाहता] ॥ ९५ ॥

ज्ञेन विज्ञाप्यमिदं नरेन्द्रे तस्मात्त्वयाऽस्मिन् समयं समीक्ष्य।
त्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिध्योः कार्यस्य काऽऽर्यस्य शुभा विभाति ? ॥ ९६ ॥

विज्ञेनेति। तस्मात् कारणाद् विज्ञेन विवेकिना त्वया समयं समीक्ष्य इदं कार्यस्मिन् नले विषये विज्ञाप्यम्। विलम्बः स्यादित्याशङ्क्याह—आत्यन्तिकेति। हे ! कार्यस्य आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिद्ध्योर्मध्ये आर्यस्य विदुषस्ते का कतरा मा समीचीना विभाति ? अनवसरविज्ञापने कार्यविघाताद्वरं विलम्बनेनापि कार्यधनमिति भावः ॥ ९६ ॥

इस कारणसे विद्वान् आप इस राजा (नल) से अवसर देखकर इस विषयमें प्रार्थना ना। आपको कार्यकी सिद्धि सर्वथा नहीं होनेमें तथा विलम्बसे सिद्धि होनेमें कौन-सी म मालूम पड़ती है ? अर्थात् सर्वथा असिद्धि होनेसे विलम्बसे सिद्धि होना ही उत्तम है॥

इत्युक्तवत्या यदलोपि लज्जा साऽनौचिती चेतसि नश्चकास्तु।
स्मरस्तु साक्षी तददोषतायामुन्माद्य यस्तत्तदवीवदत्ताम् ॥ ९७ ॥

इतीति। इत्थमुक्तवत्या तया लज्जा अलोपि त्यक्तेति यत्। सा, विधेयप्राधान्यात् लिङ्गता, अनौचिती अनौचित्यङ्गतमेतत् नोऽस्माकं शृण्वतां चेतसि चकास्तु। न्तु लज्जात्यागस्य अदोषतायां स्मरः साक्षी प्रमाणं, यः स्मरः तां भैमीमुन्माद्य

१२ नै०

उन्मादावस्थां प्राप्यैतत्तदनुचितं वचनमवीवदत् वादयतिस्म। वदेः
'गतिबुद्धी' त्यादिना वदेरणि कर्तुः कर्मत्वम् । प्रकृतिस्थस्यायं दोषो न का
चेतस इति भावः ॥ ९७ ॥

ऐसा (३।७५-९६) कहनेवाली दमयन्तीने जो लज्जाको छोड़ दिया, वह
मनमें अनुचित भले ही मालूम हो, किन्तु उस (दमयन्ती) के निर्दोष होने
साक्षी है, जिसने उसे उन्मादयुक्त करके उससे वह (३।७५-९६) कहल
[उन्मादयुक्त पुरुषका कोई अपराध नहीं माना जाता, अतः कामोन्माद
दमयन्तीने युवतीके समान लज्जा त्यागकर वह सब कह दिया तो उसमें उसका
नहीं मानना चाहिये] ॥ ९७ ॥

उन्मत्तमासाद्य हरः स्मरश्च द्वावप्यसीमां मुदमुद्वहेते ।
पूर्वस्स्मरस्पर्धितया प्रसूनं नूनं द्वितीयो विरहाधिदूनम् ॥ ९८

कामो वा किमर्थमेवं कारयतीत्याशङ्क्य तस्यायं निसर्गो यदुन्मत्तेन
सदृष्टान्तमाह—उन्मत्तमिति । हरः स्मरश्च द्वावपि उन्मत्तमासाद्य असीमां
मुदमुद्वहेते दधतुः । वहेः स्वरितेत्वादात्मनेपदम् किन्तु तत्र निर्देशक्रमात्
स्मरस्पर्द्धितया स्मरद्वेषितया प्रसूनं धुत्तूरकुसुमं तस्यायुधतयेति भावः।
द्वितीयः स्मरस्तु विरहाधिदूनं विरहव्यथादुःस्थमुन्मादावस्थापन्नमित्यर्थः।
विनोदलाभादित्यर्थः । 'उन्मत्त उन्मादवति धुत्तूरमुचुकुन्दयोरि'ति विश्वः।
भेदाध्यवसायात् समानधर्म्मत्वविशेषणमत्राश्लेषात्प्रकृताप्रकृतगोचरत्वाच्च
श्लेषः तेन हरवत् स्मरोऽप्युन्मत्तप्रिय इति उपमा गम्यते ॥ ९८ ॥

शिवजी तथा कामदेव—दोनों ही उन्मत्तको प्राप्तकर परस्पर स्पर्द्धापूर्वक
को पाते हैं, उनमें पहला (शिवजी) उन्मत्त पुष्प अर्थात् धतूरेके फूलको तथा दू
देव उन्मत्त अर्थात् प्रिय-विरहसे सन्तप्त होनेसे उन्मादयुक्त व्यक्तिको प्राप्तकर
पाते हैं। [शिवजी तथा कामदेव एक दूसरेके शत्रु हैं, अतः प्रथम शिवजी
कामदेवके बाणरूप उन्मत्तपुष्प (धतूरेके फूल) को पाकर तथा कामदेव धतूरपु
होते हुए शिवजीको देखकर मुझे भी उन्मत्त (उन्मादयुक्त व्यक्ति) को पाकर ह
चाहिये, यह जानकर प्रिय-विरहित उन्मत्त व्यक्तिको पाकर हर्षित होता है।
कामदेव शिवजीके गणभूत उन्मत्त पिशाचको पाकर हर्षित होता है। शत्रुकी प्रि
वशमें करनेपर हर्ष होना सर्वविदित है। कामदेव शिवजीसे तथा शिवजी कामदे
हर्षित होना चाहते हैं, अतः दोनों हर्षित होनेके लिए परस्परमें स्पर्द्धा किये हुए
साथ किसी बातमें स्पर्द्धाकर उससे आगे बढ़नेकी इच्छा होना भी लोक-विदित है।

तथाऽभिधात्रीमथ राजपुत्रीं निर्णीय तां नैषधबद्धरागाम् ।
अमोचि चञ्चूपुटमौनमुद्रा विहायसा तेन विहस्य भूयः ॥

तथेति । तथाऽभिधात्रीं तां राजपुत्रीं भैमीं नैषधे नले बद्धरागां निर्णीय तेन हायसा विहगेन विहस्य भूयः चञ्चूपुटस्य मौनमुद्रा निर्वचनत्वममोचि अवादीयर्थः ॥ ९९ ॥

इसके बाद वैसा (३–७५–९६) कहनेवाली राजकुमारीको नलमें अनुरक्त निश्चित वह राजहंस हँसकर चञ्चुपुटकी मौनमुद्राका त्याग किया अर्थात् बोला—॥ ९९ ॥

इदं यदि क्ष्मापतिपुत्रि ! तत्त्वं पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन् ।
त्वामुच्चकैस्तापयता नलं च पञ्चेषुणैवाजनि योजनेयम् ॥ १०० ॥

इदमिति । हे क्ष्मापतिपुत्रि ! इदं त्वदुक्तं तत्त्वं यदि सत्यं यदि तर्हि अस्मिन् यये स्वविधेयं स्वकृत्यं न पश्यामि, किन्तु त्वां नृपं च उच्चकैरत्यन्तं तापयता पञ्चेव इयं योजना युवयोः सङ्घटना अजनि जाता । जनेः कर्मणि 'चिणो लुक्' ॥१००॥

हे राजकुमारी ! यदि यह सत्य है, तो इस विषयमें मैं अपना कोई कार्य नहीं देखता अर्थात् मुझे कुछ करना नहीं है; क्योंकि तुम्हें तथा राजा (नल) को अत्यन्त सन्तप्त ते हुए कामदेवने ही यह योजना (दोनोंका मिलन) तैयार की है। [लोकमें भी व, लोहा आदि धातुको सन्तप्तकर संयुक्त होते हुए देखा जाता है] ॥ १०० ॥

त्वद्बद्धबुद्धेर्बहिरिन्द्रियाणां तस्योपवासव्रतिनां तपोभिः ।
त्वामद्य लब्ध्वाऽमृततृप्तिभाजां स्वं देवभूयं चरितार्थमस्तु ॥ १०१ ॥

त्वदिति । किन्तु त्वद्बद्धबुद्धेः त्वदायत्तचित्तस्य त्वामेव ध्यायत इत्यर्थः । अत एव योपवासव्रतिनां त्वदासङ्गाद्विषयान्तरव्यावृत्तानां तपोभिरुक्तोपवासव्रतरूपैरद्य लब्ध्वा सन्मुखेन लब्धप्रायां निश्चित्य साक्षात्कृत्येति च गम्यते, अत एव मृतेन या तृप्तिस्तद्भाजां बहिरिन्द्रियाणां स्वं स्वकीयं देवभूयं देवत्वमिन्द्रियत्वं त्वञ्च, 'देवः सुरे राज्ञि देवमाख्यातमिन्द्रियमि'ति विश्वः । चरितार्थं सफलमस्तु । मृतपानैकफलत्वाद्देवत्वं स्यादिति भावः । अर्थान्तरप्रतीतेर्ध्वनिरेवेत्यनुसन्धेयम् ॥

तुममें ही बुद्धि लगाये हुए उस (नल) की (बाह्य विषयोंको ग्रहण नहीं करनेसे) वास व्रत करनेवाली तथा तपस्याओंके द्वारा (मुझसे सुनकर; या भविष्यमें प्रत्यक्षतः) हें पाकर अमृततुल्य तृप्तिको प्राप्त करनेवाली इन्द्रियोंका अपना देवत्व सार्थक होवे । जिस प्रकार कोई तपस्या करता हुआ भोजन नहीं करता तथा एकमात्र ब्रह्मका ध्यान रता रहता है, फिर वह उन तपस्याओंके प्रभावसे ब्रह्मको पाकर अमृतभोक्ता देवके वको प्राप्त करता है; उसी प्रकार नल भी सदा एकमात्र तुम्हारा ही ध्यान करते हैं, नकी नेत्रादि बाह्येन्द्रियाँ रूपादि अपने-अपने विषयोंको ग्रहण नहीं करनेसे मानो वास कर रही हैं, नलकी वे बाह्येन्द्रियाँ तपस्याके प्रभावसे मेरे कहनेपर तुमको प्राप्त र लेंगी (या—भविष्यमें प्रत्यक्ष देख लेंगी) इस प्रकार तुम्हारा दर्शन उन नेत्रादि न्द्रियोंके लिए अमृत भोजन तुल्य होकर 'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्' इत्यादि

श्रुतियोंके अनुसार उन इन्द्रियोंका देवत्व चरितार्थ हो। आजतक तो उक्त श्रु अनुसार केवल वचनमात्रसे ही नेत्रादि इन्द्रियोंको सूर्यादिदेवभाव प्राप्त था, पुण्यसे तुम्हें पाकर अमृतभोजी होनेसे उनका देवत्व अर्थतः भी चरितार्थ होगा, भोजी होनेपर ही देवोंका वास्तविक देवत्व है, अन्यथा नहीं। तुम्हारी प्राप्ति अमृत-प्राप्तिके समान आनन्दकरी होगी ॥ १०१ ॥

तुल्यावयोर्मूर्तिरभून्मदीया दग्धा परं साऽस्य न ताप्यतेऽपि।
इत्यभ्यसूयन्निव देहतापं तस्याऽतनुस्त्वद्विरहाद्विधत्ते ॥ १०२॥

यदुक्तं नृपं पञ्चेषुस्तापयतीति तदाह—तुल्येति। आवयोर्नलस्य मम 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यमि'ति सर्वग्रहणादस्यदादिना नलेन सह त्यदादे मूर्तिस्तनुस्तुल्या तुल्यरूपाऽभूत्। तत्र मदीया सा मूर्तिः परं निःशेषं दग्धा कृता, अस्य मूर्तिस्तनुर्न ताप्यते तापमपि न प्राप्यते इति हेतोरभ्यसूयन् वेत्युत्प्रेक्षा। अतनुरनङ्गस्त्वद्विरहात्त्वद्विरहमेव रन्ध्रमन्विष्येत्यर्थः। तस्य देहतापं विधत्ते। तस्मात्सिद्धिपदमुपतिष्ठते ते मनोरथ इति भावः ॥ १०२॥

'हम दोनोंकी मूर्ति समान है, मेरी (कामदेवकी) मूर्ति तो जल गयी (नल) की मूर्ति तो अधिक उष्ण (गर्म-सन्तप्त) भी नहीं होती' मानो ऐसे करता हुआ कामदेव तुम्हारे विरहसे इस (नल) के शरीरको सन्तप्त कर रहा है।

लिपिं दृशा भित्तिविभूषणं त्वां नृपः पिबन्नादरनिर्निमेषम्।
चक्षुर्झरैरर्पितमात्मचक्षू रागं स धत्ते रचितं त्वया नु ॥ १०३।

अथास्य दशावस्था वर्णयन् चक्षुःप्रीतिं तावत् श्लोकद्वयेनाह—लिपिमि हे भैमि! स नृपो भित्तिविभूषणं कुड्यालङ्कारभूतां लिपिं चित्रमयीं त्वां दृ रेणास्थया निर्निमेषं पिबन् चक्षुर्झरैरश्रुभिरर्पितं त्वया नु त्वया वा रचितम् क्षुषो रागमारुण्यमनुरागञ्च धत्ते। अत्रोभयकारणसम्भवादुभयस्मिन्नपि श्लेषमहिम्नैकत्राभिधानात्कारणविशेषः सन्देहः ॥ १०३ ॥

(हंस नलकी दस[1] दशाओंका वर्णन करता हुआ प्रथम दशा 'चक्षुः प्रीति' करता है—) राजा नल दिवालकी अलङ्कार अर्थात् दिवालपर बनायी गयी तुमको एकटक देखते हुए एकटक देखनेसे (या—अनुरागसे) बहते हुए नेत्र-प्रवाहों (से किये गये मानो तुमसे रचित चक्षूराग (नेत्रोंमें उत्पन्न लालिमा) को ग्रहणकर [नल भीतमें बनाये गये तुम्हारे चित्रको आदरपूर्वक एकटक देखते हैं, देखनेसे (या—तुममें अनुराग होनेसे) उनके नेत्रोंसे आँसूकी धारा बहती

---

[1] रतिरहस्ये—'नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्पः।
निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः ॥
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः।' इति।

से उनके नेत्र लाल-लाल हो रहे हैं अतः ऐसा ज्ञात होता है कि उनके नेत्रोंमें लिमाको तुम्हींने उत्पन्न कर दिया है। एकटक देखनेसे या किसीमें अनुरागाधिक्य नेसे नेत्रसे आँसू आना और उनका लाल-लाल हो जाना अनुभूत है]॥ १०३ ॥

पातुर्दृशाऽऽलेख्यमयीं नृपस्य त्वामादरादस्तनिमीलयाऽस्ति ।
ममेदमित्यश्रुणि नेत्रवृत्तेः प्रीतेर्निमेषच्छिदया विवादः ॥ १०४ ॥

इममेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—पातुरिति । अस्तनिमीलया निर्निमेषया दृशा आलेख्यमयीं चित्रगतां त्वामादरात्पातुर्द्रष्टुरित्यर्थः, पिबतेस्तृन् प्रत्ययः । अत एव 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात्त्वामिति द्वितीया । नृपस्य नेत्रवृत्तेः प्रीतेश्चक्षुःप्रीतेर्निमेषस्य छिदया च्छेदेन सह नेत्रवृत्त्येति शेषः । भिदादित्वादङ् प्रत्ययः । अश्रुणि विषये इदमश्रु ममेति मत्कृतमेवेति विवादः कलहः अस्ति भवतीत्यर्थः ॥ १०४ ॥

(उसी भावको प्रकारान्तरसे कहते हैं—) चित्रमयी तुमको आदरपूर्वक निमेषरहित दृष्टिसे पान करते (सादर देखते) हुए राजा नलकी आँसूके विषयमें नेत्रगत अनुरागका तथा निर्निमेषका 'यह मेरा है' ऐसा विवाद होता है। [नल चित्रलिखित तुमको आदरपूर्वक एकटक देखते हुए आँसू बहाते हैं, तो नेत्रगत अनुराग कहता है कि 'इस आँसूको मैंने उत्पन्न किया है' तथा निमेषाभाव (एकटक देखना) कहता है कि 'इसे मैंने उत्पन्न किया है' इस प्रकार दोनोंका झगड़ा चल रहा है। यहाँ पर 'निमेषच्छिदया' में अप्रधान अर्थमें तृतीया विभक्तिका प्रयोगकर नेत्रगत अनुरागजन्य ही आँसू है ऐसा सूचित किया गया है]॥ १०४ ॥

त्वं हृद्गता भैमि ! बहिर्गताऽपि प्राणायिता नासिकयाऽस्य गत्या ।
न चित्तं[१]माक्रामति तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्ति ॥ १०५ ॥

अथ मनःसङ्गमाह—त्वमिति । हे भैमि ! त्वं बहिर्गतापि हृद्गता अन्तर्गता, अपि विरोधे तेन चाभासाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः । कया गत्या केन प्रकारेण अस्य नलस्य प्राणायिता प्राणवदाचरिता प्राणसमा 'उपमानादाचारे' कर्तुः क्यङ् प्रत्ययः। आसि अस्येवेत्यर्थः । यतः प्राणोऽपि नासिकया नासाद्वारेण आस्यगत्या मुखद्वारेण उच्छ्वासनिश्वासरूपेण बहिर्गतोऽप्यन्तर्गतो भवतीति शब्दश्लेषः । अतएव प्राणायितेति श्लिष्टविशेषणेयमुपमा पूर्वोक्तविरोधेन सङ्कीर्णा, किन्तु तत्र प्राणायितत्वे चित्रमाश्चर्यरसः चित्तन्नाक्रामति न किञ्चिच्चित्रमित्यर्थः । कुतः यद्यस्मादेतन्मनो नलचित्तं भवती त्वमेवैका वृत्तिर्जीविका यस्य तद्भवदेकवृत्ति, भवच्छब्दस्य सर्वनामत्वाद् वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः । जीवितभूतस्य प्राणायितत्वे किं चित्रं, जीवितस्य प्राणधारणात्मकत्वादिति भावः ॥ १०५ ॥

(अब नलकी दूसरी दशा 'चित्तासक्ति' का वर्णन करता है—) हे दमयन्ति ! बहिः

---

१. 'चित्र—' इति पाठान्तरम् ।

प्रदेशमें विद्यमान भी (अनुरागवश) हृदयमें स्थित तुम किस प्रकारसे इस
तुल्य नहीं हो ? अर्थात् सब प्रकारसे नलके प्राणवत प्रिया हो । (अथवा—
विद्यमान भी नासिका तथा मुखकी गति (सौन्दर्य)से नलके अन्तःकरणमें स्थित
इसीसे प्राणप्रिया हो । 'वायु नासिका तथा मुखके मार्गसे बारह अङ्गुल बाहर
'प्राण' कहलाती है)। उस (प्राणायित होने) में आश्चर्य है एकमात्र त्वन्मात्र
(केवल तुमसे ही जीनेवाला) नलका मन जो चित्तको आक्रान्त नहीं करता इसमें
नहीं है । [पाठा०—त्वन्मात्र-परायण नलका मन जो चित्रको आक्रान्त नहीं करता
आश्चर्य है अर्थात् विरह-पीडामें मनको चञ्चल रहना चाहिए, किन्तु वह चित्रवत्
शून्य हो जाता है यह आश्चर्य है । त्वन्मात्रपरायण होनेसे नलका मन अन्यत्र
नहीं लगता, अतएव तुम उसके प्राणतुल्य प्रिया हो । अथवा—चित्र उक्तरूप नल
जो आक्रान्त (पराधीन) नहीं करता, यह आश्चर्य है ? अर्थात् कोई आश्चर्य नहीं
कि वह (नलका मन) त्वन्मात्रपरायण है । अथवा—उक्तरूप नल–मन चित्रको
नहीं करता यह आश्चर्य है; क्योंकि चित्रको सभी लोग देखते हैं, किन्तु नल–
देखता, यह आश्चर्य है] ॥ १०५ ॥

अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां सङ्कल्पसोपानततिं तदीयाम् ।
श्वासान् स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतान्तदाप्य ॥

अथ द्वाभ्यां सङ्कल्पावस्थामाह—अजस्रमिति । दूरदीर्घामत्यन्तायतां
सङ्कल्पा मनोरथा एव सोपानानि तेषाम् ततिं पङ्क्तिमजस्रं त्वमारोहसि,
पुनः स नलः अधिकं वर्षति मुञ्चतीति यत् तच्छ्वासवर्षं तव ध्यानात्
त्वदात्मकत्वमाप्य प्राप्य, आप्नोतेराङ्, समासे क्त्वो ल्यबादेशः, अन्यथा
मन्यायासादन्यस्य श्वासमोक्ष इति भावः । अत्र श्वाससोपानारोहणयोः कार्य
योर्वैयधिकरण्योक्तेरसङ्गत्यलङ्कारः 'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गति
क्षणात् तन्मूला चेयं तादात्म्योत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ १०६ ॥

(अब तृतीया 'सङ्कल्प' दशाका वर्णन करता है—) तुम नलकी सङ्कल्परू
की श्रेणी पर बहुत दूर तक चढ़ती हो (दमयन्ती मुझे कैसे मिलेगी, उसे पाकर
साथ इस प्रकार वार्तालाप, क्रीडा, विहार आदि करूंगा इत्यादि अनेकवि
तुम्हारे विषयमें नल किया करते हैं)। वे नल जो बार–बार श्वासोंकी अधिक
हैं अर्थात् अधिक श्वास लेते हैं, वह त्वन्मय (तुम्हारी चिन्तामें लीन) होकर
ध्यानके कारण करते हैं । [जो बहुत दूर तक सीढ़ियों पर चढ़ता है, वही अधि
लेता (हांफता) है, परन्तु यहाँ पर जो तुम नलके सङ्कल्परूप सीढ़ियों पर
अतः तुम्हें अधिक श्वास लेना चाहिये था, परन्तु नल अधिक श्वास लेते हैं, यह
बात है । परन्तु नल त्वन्मय (त्वद्रूप) होनेसे अधिक श्वास लेते हैं, यह उचित
अब नलका तथा तुम्हारा कोई भेदभाव ही नहीं रह गया है] ॥ १०६ ॥

हृत्तस्य यां मन्त्रयते रहस्त्वां तां व्यक्तमामन्त्रयते मुखं यत् ।
तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचिती सा खलु तन्मुखस्य ॥ १०७ ॥

हृदिति । तस्य नलस्य हृत् हृदयं कर्तृ यां त्वां रहः उपांशु 'रहश्चोपांशु चालिङ्गे'
यमरः । मन्त्रयते सम्भापते तां त्वां तन्मुखं कर्तृ व्यक्तं प्रकाशमामन्त्रयते । हे
ये ! क्व यासि ? मामनुयान्तं पश्य इत्येवमुच्चैरुच्चरतीति यत् सा तद्रहस्यप्रकाशनं,
येयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता । तन्मुखस्य तद्वैरिणो नलद्वेषिणः पुष्पायुधस्य मित्रं
वा शरच्चन्द्रः । तेन यत् सख्यं मैत्री सादृश्यञ्च, तस्य औचिती औचित्यं खलु ।
रेर्मित्रस्याप्यरित्वादुचितमेतद्रहस्यभेदनमित्यर्थः । अत्र मुखकर्तृकरहस्योद्भेदनस्य
क्वैरनिमित्तत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ १०७ ॥

उस नलका अन्तःकरण एकान्तमें जो तुमसे मन्त्रणा (गुप्त परामर्श) करता है, उसको
लका) मुख बाहरमें प्रकट कर देता है । नल-मुखका यह कार्य तुम्हारे शत्रु कामदेवके
त्र चन्द्रमाके मित्रताके अनुरूप ही है । [नलने सौन्दर्याधिक्यसे कामदेवको जीत
या है, अत एव नलका कामदेव शत्रु हुआ, उस कामदेवका मित्र चन्द्रमा है, अत एव
-शत्रु कामदेवके मित्र चन्द्रमाकी समानता रखनेसे उसके साथ मित्रता करनेवाला नल-
व नलशत्रु कामदेवको सहायता देनेके लिए जो नलके हृदयकी बातको प्रकाशित करा
ा है, वह उचित ही है; क्योंकि शत्रुके मित्रके मित्रको भी शत्रुका सहायक होन
क ही नीति है] ॥ १०७ ॥

स्थितस्य रात्रावधिशय्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयन्ति ।
आलिङ्ग्य या चुम्बति लोचने सा निद्राऽऽधुना न त्वदृतेऽङ्गना वा ॥

अथ एकेन जागरमरतिञ्चाह—स्थितस्येति । रात्रौ शय्यामधिशय्य शय्यायां
यित्वा 'अधिशीङ्स्थासामि'ति अधिकरणस्य कर्म्मत्वम् । स्थितस्य तस्य मनो मोहे
खपारवश्ये निमज्जयन्ती सती या आलिङ्ग्य लोचने चुम्बति, सा निद्रा त्वदृते
त्तो विना 'अन्यारादितरर्त'इत्यादिना पञ्चमी । त्वद्विरहाद्धेतोस्त्वदन्या चेति द्रष्ट-
म् अङ्गना वा अधुना नास्ति, निद्रानिषेधाज्जागरः अङ्गनान्तरनिषेधाद्विषयद्वेष-
णा अरतिश्चोक्ता अत्र निद्राङ्गनयोः प्रस्तुतयोरेवालिङ्गनादिचुम्बनादिधर्मसाम्या-
पम्यप्रतीतेः केवलं प्रकृतगोचरात्तुल्ययोगितालङ्कारः । 'प्रस्तुताप्रस्तुतानाञ्च केवलं
ल्यधर्मतः । औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता ॥' इति लक्षणात् ॥१०८॥

(अब क्रमागत चतुर्थी अवस्थाका वर्णन करना उचित होनेपर भी लाघवस 'निद्रा-
ाश' नामक चौथी तथा 'विषय-निवृत्ति' नामक छठो अवस्थाओंका वर्णन करता है) रात्रिमें
लंगपर सोकर स्थित उस (नल) के मनको मोहमें मग्न (मदनाक्रान्त) करती हुई जो
निद्रा (सम्पूर्ण शरीरका) आलिङ्गन कर दोनों नेत्रोंका चुम्बन करती है, वह निद्रा भी
स समयमें तुम्हारे बिना कोई स्त्री नहीं है । [तुम्हारे विरहमें नल न तो सोते हैं और
न किसी रानीके साथ सम्भोग करते हैं, अत एव वे निद्राहीन तथा विषयनिवृत्त हो रहे हैं]॥

स्मरेण निस्तक्ष्य वृथैव[1] बाणैर्लावण्यशेषां कृशतामनायि ।
अनङ्गतामप्ययमाप्यमानः स्पर्धां न सार्धं विजहाति तेन ॥

अथ कार्श्यावस्थामाह—स्मरेणेति । अयं नलः स्मरेण बाणैर्निस्तक्ष्य वृथैव लावण्यं कान्तिविशेषः, 'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा। यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥' इति भूपालः । तदेव शेषो यस्यास्तां कार्श्यमनायि नीतः । नयतेर्द्विकर्मकत्वात्प्रधाने कर्मणि लुङ् 'प्रधानकर्म लादीनाहुर्द्विकर्मणामि'ति वचनात् । वृथात्वं व्यनक्ति—अनङ्गतां कृशाङ्गताम् तिवदीषदर्थे नञ् समासः, आप्यमानो आनीयमानोऽपि अत्र पूर्ववत्प्रधाने स्मरेण सार्द्धं स्पर्धां न विजहाति, तथापि तं जिगीषत्येवेत्यर्थः । अङ्ग स्पर्द्धाबीजलावण्यस्याकार्श्यादङ्गकर्शनं वृथैवेति भावः। अत एव विशेषोक्ति 'तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिरलङ्कृतिः ।' इति लक्षणात् ॥ १०९ ॥

(अब पांचवी 'कृशता' अवस्थाका वर्णन करता है—) कामदेवने बाणोंसे छीलकर व्यर्थमें ही सौन्दर्यावशेष (जिसकी सुन्दरता ही बच गयी है ऐसी प्राप्त कराया है, क्योंकि अनङ्गता (अतिशय कृश हो जानेसे अतिक्षीण-शरीरता, मदनता) को प्राप्त भी ये नल उस कामदेवके साथ स्पर्द्धा करना नहीं छोड़ेंगे। नल कामपीडासे अत्यधिक दुर्बल हो जायेंगे, तथापि सुन्दरताके वैसे ही स्थि कामदेवके समान ही रहेंगे, अत एव कामदेव का उक्त प्रयत्न वृथा है] ॥ १०९ ॥

त्वत्प्रापकात्त्रस्यति नैनसोऽपि त्वय्येव दास्येऽपि न लज्जते यत् ।
स्मरेण बाणैरतितक्ष्य तीक्ष्णैर्लूनः स्वभावोऽपि कियान् किमस्य ॥

अथ द्वाभ्यां लज्जात्यागमाह—त्वदित्यादि । स्मरेण तीक्ष्णैर्बाणैरतितक्ष्य मिति शेषः। अस्य नलस्य स्वभावोऽपि पापभीरुत्वनीचत्वगर्हत्वताच्छील्यम नल्पोऽपि लूनः किमित्युत्प्रेक्षा, यद्यस्मात्त्वत्प्रापकात् त्वत्प्राप्तिसाधनादेनसः न त्रस्यति, 'भीत्रार्थानां भयहेतुरि'ति अपादानत्वात् पञ्चमी त्वय्येव त्वदधिगतदास्यविषये न लज्जते ॥ ११० ॥

(अब सातवीं 'निर्लज्जा' वस्थाका वर्णन करता है—आठ[2] प्रकारके 'राक्षस' नामक विवाहका वर्णन [3]क्षत्रियके लिए आया है, अत एव) ये नल

---

[1] 'तथैव' इति पाठान्तरम् ।

[2] मनुनोक्ता अष्टविधविवाहा यथा—

'ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥' इति (मनु० ३।२१

[3] तदुक्तं मनुना—'चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयो विदुः ।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥' इति (मनु० ३।२

रानेवाले पाप ('राक्षस' विवाह करने) से भी नहीं डरते हैं, तथा (क्षत्रियके लिए सता करनेका निषेध होनेपर भी) तुम्हारी दासता करनेमें भी नहीं लज्जित होते हैं; इससे अनुमान होता है कि) कामदेवने तीक्ष्ग बाणोंसे इनके स्वल्प स्वभावको भी धिक छील कर काट (क्षीण कर) दिया है । [पूर्व श्लोक (३।१०९) में नलके शरीर बाणोंसे छीलकर कृश करनेकी चर्चा की गयी है, अत एव ज्ञात होता है कि बाणोंसे रीरको छीलकर पतला करते हुए कामदेवने इनके स्वभावको भी अधिक छीलकर पतला दुर्बल) कर दिया है, जिसके कारण पहले पापकर्मसे डरनेवाले तथा दास्यकर्मसे लज्जित नेवाले नल इस समय उनके करनेके लिए भी तैयार हो गये हैं] ॥ ११० ॥

स्मारं ज्वरं घोरमपत्रपिष्णोस्सिद्धागदङ्कारचये चिकित्सौ । ○
निदानमौनादविशद्विशाला साङ्क्रामिकी तस्य रुजेव लज्जा ॥१११॥

स्मारमिति । घोरं दारुणं स्मारं ज्वरं कामसन्तापं चिकित्सौ प्रतिकर्त्तरि कित· वास इति धातोः 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्निति निन्दाक्षमाव्याधिप्रतीकारेषु इष्यत' ति रोगप्रतीकारे सन् प्रत्ययः, 'सनाशंसभिक्ष उः', 'नलोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। द्धागदङ्कारचये सिद्धवैद्यसङ्घे कर्मण्यणि 'कारे सत्यागदस्ये'ति मुमागमः । निदान- नाद्रोगनिदानानभिधानाद्धेतोरपत्रपिष्णोर्लज्जाशीलस्य 'अलङ्कृञि'त्यादिना इष्णु· । तस्य नलस्य विशाला महती लज्जा संक्रमादागता सांक्रामिकी रुजेव, 'अक्षि- गो ह्यपस्मारः क्षयः कुष्ठो मसूरिका । दर्शनात् स्पर्शनाद्दानात् संक्रमन्ति नरान्नरम् ॥' ति उक्ताक्षयादिरोगा इवेत्यर्थः, भिदादित्वादङ् प्रत्ययः, अविशत् ॥ १११ ॥

भयङ्कर कामज्वरकी चिकित्सा करनेकी इच्छा करनेवाले अनुभवी वैद्य-समूहमें लज्जा- न उस नलकी विशाल लज्जा (रोगके कारणको ठीक नहीं समझ सकनेके कारण) दानमें मौन धारण करनेसे मानो सङ्क्रामक रोगके समान प्रविष्ट हो गयी । [नलको यङ्कर कामज्वर होनेपर अनुभवी बहुतसे वैद्य उनकी चिकित्सा करना चाहते थे, किन्तु गका निदान ठीक नहीं कर सकनेके कारण वे लज्जित हो गये अत एव ज्ञात होता है नलने तुम्हारे विरहमें जो लज्जा त्याग कर दिया है, वही विशाल लज्जा संक्रामकरोग कुष्ठ, अपस्मार आदि छुतही बीमारी) के समान उन वैद्योंमें प्रविष्ट हो गयी है । रोगका क निदान नहीं करनेसे वैद्य-समूहका लज्जित होकर मौन धारण करना उचित ही है । थवा जब वे रोगका ठीक निदान नहीं कर सके, तब नलसे ही रोगका कारण पूछे और न्होंने 'दमयन्ती-विरहजन्य यह कामज्वर है' ऐसा लज्जा छोड़कर स्पष्ट कह दिया अत वे लज्जित हो गये कि बिना इनके कहे हम रोग-निदान नहीं कर सके । इस प्रकार नो नलकी लज्जा उन वैद्योंमें प्रविष्ट हो गयी] ॥ १११ ॥

तथा—'गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ।' इति च (मनु० ३।२६) एतद्विषयकविशेषजिज्ञासायां मत्कृतो मनुस्मृतेः 'मणिप्रभा'नुवादो द्रष्टव्यः ।

बिभेति रुष्टाऽसि किलेत्यकस्मात्स त्वां [1]किलोपेत्य हसत्यकाण्डे।
यान्तीमिव त्वामनुयात्यहेतोरुक्तस्त्वयेव प्रतिवक्ति मोघम् ॥

अथ उन्मादावस्थामाह—बिभेतीति । स नलः अकस्मादकाण्डे रुष्टा सीति बिभेति, अकाण्डे अनवसरे उपेत्य किल प्राप्येव हसति, अहेतोरकस्मा गच्छन्तीं किल त्वामनुयाति, त्वया उक्त इव मोघं निर्विषयं प्रतिवक्ति। सर्वो मुन्मादानुभावः । उन्मादश्चित्तविभ्रमः ॥ ११२ ॥

(अब आठवीं 'उन्माद' दशाका वर्णन करता है—) वे (नल) 'तुम रुष्ट हो' ऐसा समझकर एकाएक डर जाते हैं, मानो तुम्हारे पास जाकर (पाठा०— हुए-से अर्थात् 'तुम्हें पा लिया है' ऐसा समझकर) एकाएक हँसते हैं । जाती समान (मानो 'तुम जा रही हो' ऐसा समझकर) तुम्हारा अनुगमन करते 'तुमने कहा (नलसे बातचीत की)' ऐसा समझकर व्यर्थ प्रत्युत्तर देते हैं ॥ ११२

भवद्वियोगाच्छिदुरार्तिधारायमस्वसुर्मज्जति निश्शरण्यः ।
मूर्च्छामयद्वीपमहान्ध्यपङ्के हा हा महीभृद्भटकुञ्जरोऽयम् ॥ ११३

अथ मूर्च्छावस्थामाह—भवदिति । भवत्या वियोगो भवद्वियोगः, 'स वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः'। तस्मिन्नच्छिदुरा अविच्छिन्ना 'विदिभिदिच्छिदेः आर्त्तिधारा दुःखपरम्परा तस्या एव यमस्वसुर्यमुनाया मूर्च्छामयं मूर्च्छा यद्द्वीपं तत्र यन्महान्ध्यं महामोहस्तस्मिन्नेव पङ्के महीभृद्भटो राजवीरः स एव निःशरण्यो निरालम्बः सन् मज्जति हा हेति खेदे। रूपकालङ्कारः । आर्ति स्तमोविकारत्वेन रूपसाम्याद्यमुनारूपणम् ॥ ११३ ॥

(अब राजहंस नवीं 'मूर्च्छा' वस्थाका वर्णन करता है—) यह राजश्रेष्ठ नल तुम्हारे विरहसे उत्पन्न शाश्वत पीडाप्रवाहरूपी यमुनाके मूर्च्छारूप द्वीप (ओर जलसे घिरा हुआ निर्जल स्थान-विशेष) में घोर अन्धकाररूपी कीचड़ (भूमि) में शरण-रहित होकर धस रहा है, हाय ! महादुःख है । [जिस प्रकार विना पर्वताकार विशाल हाथी यमुनाके दलदलमें धसकर पीडित होता है, उसी नल तुम्हारे विरहसे निरन्तर होनेवाली पीडाओंसे मूर्च्छाजन्य अन्धकारमें यह महान् दुःख है] ॥ ११३ ॥

✓ सव्यापसव्यव्यसनाद् द्विरुक्तैः पञ्चेषुबाणैः पृथगर्जितासु।
दशासु शेषा खलु तद्दशा या तया नभः पुष्प्यतु कोरकेण ॥

दशमावस्था तु तस्य कदापि माभूदित्यत आह—सव्येति । सव्याप वामदक्षिणाभ्यां व्यसनान्मोचनात् द्विरुक्तैर्द्विगुणीकृतैर्दशभिरित्यर्थः ।

---

[1] 'किलापेति' इति पाठान्तरम् ।

थगर्जितासु प्रत्येकमुत्पादितासु दशसु 'दृङ्मनःसङ्गसङ्कल्पा जागरः कृशताऽरतिः ।
त्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश ।' इत्युक्तासु चक्षुःप्रीत्यादिदशावस्थासु
या अवशिष्टा या तद्दशा दशमावस्थेत्यर्थः । तयैव कोरकेण कलिकयेति रूपकम् ।
मः, पुष्यतु पुष्पितमस्तु । अस्य सा दशा खपुष्पकल्पाऽस्तु, कदापि मा भूदि-
र्थः । तच्च त्वत्प्राप्तिलाभादिति भावः पुष्प-विकसन इति धातोर्लोट् ॥ ११४ ॥

(अब उक्ति विशेषसे दशमी 'मरणा' वस्थाका निषेध करते हुए वर्णन करता है—)
तथा दहनेके फेर-बदलसे द्विगुणित कामबाणसे उत्पन्न दश दशाओंमें जो बाकी
दशवीं) दशा (मृत्यु) है, उस कलिकासे आकाश पुष्पित हो । [जिस प्रकार आकाश-
पका होना सर्वथा असम्भव है, उसी प्रकार नलकी वह दशवीं अवस्था (मृत्यु) अस-
व हो जावे । कामदेवके पाँच बाण हैं, उनको उसके बाँयें तथा दहने—दोनों ओरसे
ड़नेसे उसकी दश दशा विरहिजनोंको उत्पन्न होती है । वे दश दशाएँ ये हैं—१ नेत्र-
ति, २ चित्तासङ्ग, ३ सङ्कल्प, ४ अनिद्रा, ५ कृशता, ६ विषय-निवृत्ति (अरति),
निर्लज्जता, ८ उन्माद, ९ मूर्च्छा और १० मृत्यु[1]]॥ ११५ ॥

त्वयि स्मराधेस्सततास्मितेन प्रस्थापितो भूमिभृताऽस्मि तेन ।
आगत्य भूतस्सफलो भवत्या भावप्रतीत्या गुणलोभवत्याः ॥ ११५ ॥

त्वयीति । त्वयि विषये स्मराधेः स्मरपीडादुःखाद्धेतोः सततमस्मितेन स्मित-
हितेन खिन्नेन तेन भूमिभृता प्रस्थापितोऽस्मि । अथ आगत्य गुणलोभवत्याः भव-
त्यास्तव भावप्रतीत्या अभिप्रायज्ञानेन सफलो भूतः सिद्धार्थोऽस्मीत्यर्थः ॥ ११५ ॥

कामपीडासे सर्वदा हासरहित उस राजा (नल) ने तुम्हारे पास मुझे भेजा है, यहाँ
कर गुणका लोभ करनेवाली अर्थात् गुणग्राहिणी आपके प्रेमका विश्वास होनेसे मैं सफल
कृतकार्य) हो गया ॥ ११५ ॥

धन्याऽसि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिका[2] या यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥११६॥

धन्येति । हे वैदर्भि ! भैमि ! वैदर्भीरीतिरपि गम्यते । धनं लब्धा धन्या असि
तार्थासीत्यर्थः । 'धनगणं लब्धे'ति यत्प्रत्ययः । कुतः ? यया त्वया उदारैरुत्कृष्टै-
र्लावण्यादिभिरन्यत्र श्लेषैः प्रसादादिभिः पाशैश्चेति गम्यते, नैषधो नलोऽपि
दृक् धीरोऽपीति भावः । समाकृष्यत सम्यगाकृष्टो वशीकृत इति भावः । एतेन

---

[1] उक्ता कामदशा रतिरहस्यकृन्मतेन, साहित्यदर्पणकृन्मते तु—
'अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसम्प्रलापाश्च ।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ॥' इति । (सा० द० ३।२१८).

[2] 'चन्द्रिकाया' इति षष्ठ्यन्तपदमिति 'प्रकाशः' ।

वैदर्भीत्यादिविशेषणाद् गुणैर्भावुकमिवेत्युपमालङ्कारो युज्यते । तथाहि-चन्द्रि
अब्धिमपि गभीरमपीति भावः । उत्तरलीकरोति क्षोभयतीति यत् इतोऽपि
धिका स्तुतिर्वर्णना का खलु ? न कापीत्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कारः । एतेन नल
ङ्गाम्भीर्यं दमयन्त्याश्चन्द्रिकाया इव सौन्दर्यं च व्यज्यते ॥ ११६ ॥

हे दमयन्ति ! (पक्षा०—वैदर्भी रीति ध्वनित होती है), तुम धन्य हो, जि
उदार गुणों (पक्षा०—श्रेष्ठ श्लेषादि गुणों, या—उत्तम रस्सियों—जालों)से न
आकृष्ट कर लिया (अथवा—तुम उदार गुणोंसे धन्य हो, जिस तुमने नलको भी
कर लिया), इससे अधिक प्रशंसा क्या है ? जो (चाँदनी) (अतिशय गभीर) न
भी चञ्चल करती है । पाठा०—इससे अधिक चाँदनीकी क्या प्रशंसा है ? जो
भी……। [वैसे ही तुमने परम गभीर नलको भी अपने सौन्दर्यादि गुणोंसे आक
लिया, अतः धन्य हो । इससे नल समुद्रके समान गम्भीर हैं तथा दमयन्ती च
समान सुन्दर एवं आह्लादिका है, यह सूचित होता है] ॥ ११६ ॥

नलेन भायाश्शशिना निशेव त्वया स भायान्निशया शशीव।
पुनःपुनस्तद्युगयुग्विधाता स्वभ्याससमास्ते नु युवां युयुक्षुः ॥ ११७

फलितमाह—नलेति । शशिना निशेव त्वं नलेन भायाः । भातेराशिषि
सोऽपि निशया शशीव त्वया भायात्, भातेः पूर्ववदाशिषि लिङ् । किं च क
तुकूल्यमपि सुभाव्यमित्याह-पुनः पुनस्तयोर्निशाशशिनोर्युगं युनक्ति योज
तद्युगयुक् विधाता युवां नलं त्वाञ्च 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यमि'ति एकशेषः।
च्छतीति युयुक्षुर्युजेः सन्नन्तादुप्रत्ययः स्वभ्यासमभ्यासस्य समृद्धौ निरन्त
इत्यर्थः । समृद्ध्यर्थेऽव्ययीभावः । ततः परस्याः सप्तम्या वैकल्पिकत्वादम्
आस्ते नु ? तथाऽभ्यस्यति किमित्यर्थः । अत्र तादर्थ्ये चतुर्थ्या अम्भाव इति
अभ्यासार्थमभ्यस्यतीत्यर्थः स्यात् तदात्माश्रयत्वादित्यपेक्षणीयम् । अत्र द
नलयोरन्योन्यशोभाजननोक्तेरन्योन्यालङ्कारः । 'परस्परक्रियाजननमन्योन्
लक्षणात् । उपमाद्वयानुप्राणित इति सङ्करः । तन्मूला चेयं विधातुः पुनर्नि
योजनायां दमयन्तीनलयोजनाभ्यासत्वोत्प्रेक्षेति ॥ ११७ ॥

(अब आशीर्वाद देता हुआ कहता है—) तुम चन्द्रमासे रात्रिके समा
शोभित होवो, वे नल रात्रिसे चन्द्रमाके समान तुमसे शोभित होवें, बार-बार
(रात्रि तथा चन्द्रमा) की जोड़ीको संयुक्त करनेवाले ब्रह्मा तुम दोनों (तुम्हें
को संयुक्त करनेके लिये मानो अभ्यास करते हैं । [लोकमें भी कोई कारीगर
रचना करनेके लिए बार-बार वैसी एक ही वस्तुकी रचनाकर जैसे अभ्यास
वैसे ही मानो तुम दोनोंको संयुक्त करनेके लिए ही ब्रह्मा चन्द्रमा तथा रात्रिको
संयुक्तकर अभ्यास करते हैं, अन्यथा अनेक बार चन्द्रमा तथा रात्रिको संयुक्त
हो जाता] ॥ ११७ ॥

स्तनद्वये तन्वि ? परं तवैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य ।
अनल्पवैदग्ध्यविवर्धनीनां पत्रावलीनां रचना समाप्तिम् ॥ ११८ ॥

स्तनद्वयं इति । हे तन्वि ! किञ्च नैषधस्य नलस्य अनल्पेन महता वैदग्ध्येन नैपु- न विवर्धनीनामुज्जृम्भणीनां पत्रावलीनां रचना समाप्तिं सम्पूर्णतां प्राप्स्यति दि, तर्हि पृथौ पृथुनि भाषितपुंस्कत्वाद्विकल्पेन पुंवद्भावः । तवैव स्तनद्वये परं स्यति, नान्यस्या इत्यर्थः । अन्यस्या अयोग्यत्वादिति भावः ॥ ११८ ॥

नलकी अत्यधिक चातुर्यसे बढ़नेवाली पत्रावलि-श्रेणियोंकी रचना यदि समाप्त हो ती है, तो केवल तुम्हारे विशाल दोनों स्तनोंपर हो हो सकती है । [नल स्त्री-स्तनों पत्रावलिश्रेणिको बनानेमें इतने चतुर हैं कि अन्य स्त्रियोंके छोटे-छोटे स्तनोंपर की पत्रावलिरचना समाप्त ही नहीं होती, किन्तु तुम्हारे स्तन बड़े-बड़े हैं, अतः मैं भावना करता हूं कि इन दोनों स्तनोंपर नलकी पत्रावलि-रचना की निपुणता हो जायेगी] ॥ ११८ ॥

एकस्सुधांशुर्न कथञ्चन स्यात्तृप्तिक्षमस्त्वन्नयनद्वयस्य ।
त्वल्लोचनासेचनकस्तदस्तु नलास्यशीतद्युतिसद्वितीयः ॥ ११९ ॥

एक इति । एकः सुधांशुस्त्वन्नयनद्वयस्य कथञ्चन कथञ्चिदपि तृप्तौ प्रीणने क्षमो स्यात्तस्मान्नलास्यशीतद्युतिना नलमुखचन्द्रेण सद्वितीयः सन् त्वल्लोचनयोरासे- कस्तृप्तिकरोऽस्तु । 'तदासेचनकं तृप्तेर्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनादि'त्यमरः । आसि- ते अनेनेत्यासेचनकं, करणे ल्युट्, स्वार्थे कः ॥ ११९ ॥

एक चन्द्रमा तुम्हारे (चकोरतुल्य) दो नेत्रोंकी तृप्ति करनेमें समर्थ नहीं हो सकता, कारण नलके मुखरूप चन्द्रमासे सहायक युक्त चन्द्रमा तुम्हारे दो नेत्रोंकी पूर्ण तृप्ति ने वाला होवे । [तुम्हारे नेत्र चकोर-नेत्रके समान हैं, चकोरनेत्र चन्द्रमाका पान ते हैं । और एक चन्द्रमा तुम्हारे दो नेत्रोंको कदापि सन्तृप्त करनेमें समर्थ नहीं हो ता, अतः नलके मुखरूप चन्द्रमासे मिलकर दो चन्द्रमा होने पर तुम्हारे दो नेत्र तः सन्तुष्ट हो सकते हैं । तुम्हारे नेत्र चकोरनेत्रतुल्य और नलमुख चन्द्रतुल्य है, एव चकोर चन्द्रमाको देखकर जिस प्रकार अधिक सन्तुष्ट होता है, वैसे ही तुम के मुखचन्द्रको देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट होवोगी] ॥ ११९ ॥

(युग्मम्)

अहो तपःकल्पतरुर्नलीयस्त्वत्पाणिजाग्रस्फुरदङ्कुरश्रीः ।
त्वद्भ्रूयुगं यस्य खलु द्विपत्री तवाधरो रज्यति यत्कलम्बः ॥ १२० ॥
यस्ते नवः पल्लवितः कराभ्यां स्मितेन यः कोरकितस्तवास्ते ।
अङ्गम्रदिम्ना तव पुष्पितो यः स्तनश्रिया यः फलितस्तवैव ॥ १२१ ॥

अथ द्वाभ्यां नलतपःसाफल्यमाह–अहो इत्यादिना । नलस्यायं नली नामधेयस्ये'ति वृद्धसंज्ञायां वृद्धाच्छः । अत एव कल्पतरुः अभिनवः प्रसिद्ध विलक्षण इत्यर्थः । अत एव अहो इत्याश्चर्यं वैलक्षण्यमेवाह–त्वदित्यादि । यच्छब्दो द्रष्टव्यः यः कल्पतरुः तव पाणिजाग्रैः कररुहाग्रैर्नित्यं स्फुरन्ती अङ्कुर सः अङ्कुरवानित्यर्थः, यस्य त्वद्भ्रूयुगमेव द्वयोः पत्रयोः समाहारो द्विपत्री प्रथ पत्रद्वयं खलु, तवाधरो यत्कलम्बो यस्य नालिका किसलयकाण्ड इत्यर्थः, नालिका' कलम्बश्च कडम्बश्चे'त्यमरः ? रज्यति स्वयमेव रक्तो भवति, 'कुपिरञ्जो श्यन् परस्मैपदञ्चे'ति कर्मकर्तरि रूपम् । य इति । यस्ते तव कराभ्यां पल्लवितः पल्लवः, यस्तव स्मितेन कोरकितः सञ्जातकोरकः सन् आस्ते, यस्तवाङ्गानां मार्दवेन पुष्पितः सञ्जातपुष्पः, यस्तवैव स्तनश्रिया स्तनसौन्दर्येण फलितः फलः । सर्वत्र तारकादित्वादितच् प्रत्ययः । अत्र श्लोकद्वयेन तपसि दम त्वादिषु च कल्पतरुतावयवत्वरूपणात्सावयवरूपकं तथा अवयविनि कल्पत यवानां नखाङ्कुरादीनाञ्च मिथः कार्यकारणभूतानां भिन्नदेशत्वादसङ्गत्याभि सङ्करः, 'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिरि'ति लक्षणात् ॥ १२०–१२१ ॥

नल–सम्बन्धी तपोरूप कल्पवृक्ष आश्चर्यकारक है, जिसका अङ्कुर तुम्हारे नखाग्र है, उसके बाद होनेवाले दो पत्ते तुम्हारे दोनों भ्रू हैं, जिसका डण्ठल लाल ओष्ठ है, जो तुम्हारे दोनों हाथोंसे पल्लवित हुआ है अर्थात् जिसके पल्लव हाथ हैं, जो तुम्हारे स्मितसे कोरकित हुआ है अर्थात् तुम्हारा स्मित जिसका कोर कलिका) है, जो तुम्हारे शरीरकी कोमलतासे पुष्पित हुआ है अर्थात् जिसका फू शरीरकी कोमलता है, और तुम्हारे स्तनोंकी शोभासे ही फलित (फलयुक्त) अर्थात् तुम्हारे स्तन ही जिसके फल हैं । [वृक्षमें क्रमशः अङ्कुर, दो पत्ते, उनके डण्ठल, पल्लव, पुष्पकोरक, पुष्प और फल लगते हैं; ये सब तुम्हारे ही शरीरमें हैं, अत एव नलने कल्पतरु तुल्य तुमको तपस्यासे प्राप्त किया है] ॥ १२०–१२१

[1]कंसीकृतासीत्खलु मण्डलीन्दोः संसक्तरश्मिप्रकरा स्मरेण ।
तुला च नाराचलता निजैव मिथोऽनुरागस्य समीकृतौ वाम् ॥

किञ्च समानुरागत्वाच्च युवयोः समागमः श्लाघ्य इत्याशयेनाह–कंसेति । कर्त्रा वां युवयोर्मिथोऽनुरागस्य अन्योन्यरागस्य, यस्तव तस्मिन् , यश्च तस तयोरनुरागयोरित्यर्थः । समीकृतौ समीकरणे निमित्ते तदर्थमित्यर्थः । संसक्त जितः रश्मीनामंशूनां सूत्राणाञ्च प्रकरः समूहो यस्यां सा 'किरणप्रग्रहौ इत्यमरः । इन्दोर्मण्डली बिम्बं कंसीकृता आसीत् । 'कंसोऽस्त्री लोहभाज शाब्दिकमण्डने । मण्डले निजा नाराचलता बाणवल्ली सैव तुला तुलादण्ड

---

१. कंसी–इति पाठान्तरम् ।

षः । तत्रेन्दुमण्डलादौ कंसादिरूपणादेव स्मरस्य कार्यकारणरूपसिद्धेरेकदेशविवर्तिपकम् ॥ १२२ ॥

कामदेवने तुम दोनोंके पारस्परिक अनुरागको बराबर करने (तौलने) में किरणमूहसे युक्त (पक्षा०—रस्सियोंसे बंधे हुए) चन्द्रमण्डलको कांसेका पलड़ा और अपने णको तराजू (की डण्डी) बनाया था। [कामदेवने किरणयुक्त गोल चन्द्रमण्डलको स्सीसे बंधा हुआ कांसेका पलड़ा तथा अपने बाणको तराजूका डण्डी बनाकर तुम्हारा । नलके परस्परानुरागको तौलकर बराबर किया है, यही कारण है कि नलमें तुम्हारा तना अधिक अनुराग है, उतना ही अधिक अनुराग तुममें भी नलका है] ॥ १२२ ॥

सत्त्वस्रुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे मदनोत्सवेषु ।
लग्नोत्थितास्त्वत्कुचपत्ररेखास्तन्निर्गतास्तत् प्रविशन्तु भूयः ॥१२३॥

सत्त्वेति । किं च मदनोत्सवेषु रतिकेलिषु सत्त्वेन मनोविकारेण स्रुतो यः स्वेदः त्त्विकविकारविशेषः तेनैव मधूत्थेन मधूच्छिष्टेन सान्द्रे निरन्तरे अत एव तस्य स्य पाणिपद्मे लग्नाः संक्रान्ताः । अतएव उत्थिताः त्वत्कुचतटाद्विश्लिष्टाः । मधूच्छिष्टे निकषस्थकनकरेखावदिति भावः । स्नातानुलिप्तवत्पूर्वकालसमासः । तन्निर्गताः । तत्पाणिपद्मोत्पन्नाः त्वत्कुचपत्ररेखाः भूयः तत् पाणिपद्मं 'वा पुंसि पद्मं नलिनेऽ'त्यमरः । प्रविशन्तु । कार्यस्य कारणे लयनियमादिति भावः । युवयोः समागोऽस्तु इति तात्पर्यम् ॥ १२३ ॥

कामोत्सवोंमें सात्त्विक भावसे उत्पन्न पसीना रूपी मोमसे सान्द्र, नलके हस्तकमलमें ले लगकर (संसक्त होकर) उठी हुई तुम्हारे स्तनोंपर बनायी गयी पत्त्रावलियां नलके थसे निर्गत (नलके हाथसे बनी हुई) होनेसे फिर उसीमें प्रविष्ट हो जांय । [नल ने हस्तकमलसे तुम्हारे स्तनद्वयपर पत्रावलियोंकी रचनाकर रति करनेके समय उन नोंका स्पर्श करेंगे तो सात्त्विक भावसे उत्पन्न पसीनेसे वे पत्रावलियां उनके हाथमें प्रकार अङ्कित हो जायेंगी, जिस प्रकार मोमके बने ठप्पेपर कोई चित्रादि अङ्कित हो ता है, इस प्रकार नलके हाथसे ही बनायी गयी कार्यरूपिणी पत्रावलियां पुनः कारण नलके हाथमें लीन हो जावें । कारणमें कार्यका लय होना उचित ही है । तुम्हारे नद्वयपर अपने हाथसे बनायी गयी पत्रावलियोंको रतिकालमें नल सात्त्विकभावसे दयुक्त हाथसे पोंछे] ॥ १२३ ॥

बन्धाढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैः केलिवने मरुद्भिः ।
प्रसूनवृष्टिं पुनरुक्तमुक्तां प्रतीच्छतं भैमि ! युवां युवानौ ॥ १२४ ॥

बन्धेति । किं च हे भैमि ! बन्धैरुत्तानादिकरणैः कामतन्त्रप्रसिद्धैराढ्यं समग्रं नारतमुत्तानकादिविविधसुरतं तदेव मल्लयुद्धं तेन प्रमोदितैः सन्तोषितैः केलिवने रुद्भिः वायुभिर्देवैश्च 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः । पुनरुक्तं सान्द्रं यथा तथा मुक्तां

प्रसूनवृष्टिं युवतिश्च युवा च युवानौ, 'पुमान् स्त्रिये'त्येकशेषः। युवां
स्वीकुरुतम् । युद्धविक्रान्ता हि देवैः पुष्पवृष्ट्या सम्भाव्यन्त इति भावः॥

हे दमयन्ति ! युवक तथा युवती तुम दोनों क्रीडावनमें (रतिकालमें
अनेक प्रकारके आसनोंसे अनेकविध सुरतरूप मल्लयुद्धसे अतिशय हर्षित वायुओं
मल्लयुद्धसे हृष्ट देवों) से वारवार की गई पुष्पवृष्टिको ग्रहण करो। [क्रीडो
करते हुए तुम दोनों पद्मबन्ध आदि आसनोंको करते हुए अनेक प्रकारकी
जो मल्लयुद्ध-सा होगा, उस समय हृष्ट देवगण वार-वार पुष्पवृष्टि करेंगे, अथ
मस्तकसे पुष्प गिरेंगे, या-वायुसे कम्पित वृक्षोंसे पुष्प गिरेंगे, उन्हें तुमलोग
दो शूरवीरोंके युद्धसे हर्षित देवलोग पुष्पवृष्टि करते हैं तथा उन पुष्पोंको वे
करते हैं] ॥ १२४ ॥

अन्योन्यसङ्गमवशादधुना विभातां तस्यापि तेऽपि मनसी विकसद्वि
स्रष्टुं पुनर्मनसिजस्य तनुं प्रवृत्तमादाविव द्व्यणुककृत्परमाणुयुग्मम् ॥

अन्योन्येति । किं च, अधुना अन्योन्यसङ्गमवशाद्विकसद्विलासे
तस्यापि तेऽपि नलस्य तव च मनसी मनसिजस्य कामस्य तनुं शरीरं पुनः
रब्धुं प्रवृत्तमत एवादौ द्वाभ्यामारब्धं कार्यं द्व्यणुकं तत्करोतीति तत्कृत्
करोतेः क्विप् । तत्परमाणुयुग्ममिवेत्युत्प्रेक्षा । तार्किकमते मनसोऽणुत्वादिति
विभातां कार्यारम्भकपरमाणुयुगलवदविश्लेषेण विराजतामित्यर्थः ।
'तस्थे'ति तसः तामादेशः ॥ १२५ ॥

इस समय परस्परके समागम होनेसे बढ़ते हुए विलासवाले उस (नल)
तुम्हारा भी (एक-एक परमाणु मिलनेसे दो परमाणु मात्रावाले) मन फिर
शरीरकी रचना करनेके लिए तत्पर पहले द्व्यणुकको बनानेवाले परमाणु
शोभित होवें । [मनकी मात्रा एक परमाणुके बराबर है । किसी शरीरादिकी
लिए सर्वप्रथम दो परमाणुओंको मिलाकर द्व्यणुक बनाया जाता है, इसी
बढ़ाते इष्ट रचनाको पूरा किया जाता है । तुम्हारा तथा नलका इतना गाढ़
कि परमाणुरूप तुम दोनोंका मन एक होकर द्व्यणुकरूप हो जायेगा, और
कामदेवके शरीरकी रचना पुनः हो जानेसे सम्भव है वह शरीर हो जायेगा]॥

कामः कौसुमचापदुर्जयममुं जेतुं नृपं त्वां धनु-
र्वल्लीमव्रणवंशजामधिगुणामासाद्य माद्यत्यसौ ।
ग्रीवालङ्कृतिपट्टसूत्रलतया पृष्ठे कियल्लम्बया
भ्राजिष्णुं कषरेखयेव निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया ॥ १२६

काम इति । असौ यो नलजिगीषुरिति भावः । कामः कौसुमेन
जितेन्द्रियत्वादिति भावः । अमुं नृपं नलं जेतुमव्रणवंशजां सत्कुलप्रसूतां

न्याश्च, 'द्वौ वंशौ कुलमस्करावि'ति अमरः। अधिगुणामधिकलावण्यादिगुणामधिज्या-
निवसदनुवर्तमानं सिन्दूरस्याङ्कुरावस्थायां नालान्तराले छिद्रस्य सौन्दर्यं शोभा
स्यां तया कषरेखया कालान्तरे सिन्दूरसंक्रान्तिपरीक्षार्थं कृतघर्षणरेखयेवेत्युत्प्रेक्षा।
ष्टे ग्रीवापश्चाद्भागे कियत् किञ्चिद्यथा तथा लम्बया स्रस्तया ग्रीवालङ्कृतिः ग्रीवा-
ङ्कारभूता या पट्टसूत्रलता तया भ्राजिष्णुं, ताच्छील्ये 'भुवश्चे'ति चकारादिष्णुच्।
ाजमानां त्वामेव धनुर्वल्लीं चापलतामासाद्य माद्यति हृष्यति। श्लेषोत्प्रेक्षासङ्कीर्णो
पकालङ्कारः॥ १२६॥

कामदेव पुष्पोंके बाणोंसे दुर्जय (दुःखसे जीते जाने योग्य) इस राजा (नल) को
तनेके लिए दोषरहित वंशमें उत्पन्न (पक्षा०—छिद्ररहित बांससे बनी हुई) तथा
धिक गुणवाली (पक्षा०—डोरी चढ़ी हुई) तुमको धनुर्लता पाकर हर्षित हो रहा है,
धनुर्लता (तुम्हारी) पीठपर कुछ लटकती हुई कण्ठभूषणके लाल पट्टसूत्रलतासे सिन्दूर-
शोभावाली अर्थात् बांसकी परीक्षाके लिए सिन्दूर रगड़नेसे उत्पन्न लाल रेखासे युक्तके
मान शोभती है। [सिन्दूर लगाकर बांसकी परीक्षा करनेके लिए धनुषको पीछे रगड़ते
यदि लाल सिन्दूर की रेखा धनुषके पीछे स्थित हो तो वह बांस धनुषके लिये उत्तम
ता है प्रकृतमें तुमने कण्ठभूषण पहना है, जिसकी लाल कपड़ेकी पट्टी कण्ठके पीछेसे
कर पीठपर थोड़ा लटक रही है, यही पट्टी धनुषके पीछेवाली पूर्वोक्त सिन्दूर रेखा है,
ससे परीक्षित बांसवाला धनुष शोभता है (और पक्षा०—जिसके थोड़ा पीठपर
टकनेवाली कण्ठभूषणकी लाल पट्टीसे तुम शोभती हो) ऐसी श्रेष्ठ वंशोत्पन्न गुणवती
मको ही छिद्ररहित बांससे बनी, तथा डोरी चढ़ी हुई धनुर्लतासी पाकर कामदेव प्रसन्न
रहा है कि पुष्प-धनुषसे दुर्जय नलको अब मैं सरलतासे जीत लूंगा]॥ १२६॥

त्वद्गुच्छावलिमौक्तिकानि गुटिकास्तं राजहंसं विभो-
वेध्यं विद्धि मनोभुवः स्वमपि तां मञ्जुं धनुर्मञ्जरीम्।
यन्नित्याङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमानं[1] लस-
न्नाभीमध्यबिला विलासमखिलं रोमालिरालम्बते॥ १२७॥

त्वदिति। विभोर्मनोभुवः कामस्य पत्रिवेद्धुरिति शेषः। तव गुच्छावलेर्मुक्ताहार-
शेषस्य मुक्ता एव मौक्तिकानि, 'विनयादित्वात् स्वार्थे ठगि'ति वामनः। गुटिकाः
लिकाः विद्धि जानीहि। तं राजहंसं राजश्रेष्ठं तमेव राजहंसं कलहंसं श्लिष्टरूपकम्।
जहंसो नृपश्रेष्ठे कादम्बकलहंसयो'रिति विश्वः। वेधितुं प्रहर्तुमर्हं वेध्यं लक्ष्यं, विध-
धाने 'ऋहलोर्ण्यत्' अनेकार्था धातवः एवमाह—वेधितच्छिद्रितावित्यत्र स्वामी।
न्ये त्वाहुः—स्वप्नेऽपि विधानार्थ एव प्रयोगाच्च विध-वेधन इत्येवाकरस्थः पाठः,
ठान्तरं तु ग्रामादिकमन्धपरम्परायातमिति विद्धि। स्वमात्मानमपि 'स्वो ज्ञातावा-

---

[1] '—भज्यमानम्' इति पाठान्तरम्।

त्मनि स्वमि'त्यमरः। तां वक्ष्यमाणप्रकारां मञ्जुं मञ्जलां धनुर्मंञ्जरी चा विद्धि, यस्याः नित्यमङ्कनिवासेन समीपस्थित्या लालिततमया अत्याहत मौर्व्या भुज्यमानमनुभूयमानमखिलं विलासं शोभां ज्यारूपत्तामित्यर्थः। लक्ष मध्यः बिलङ्गुलिकास्थानं यस्याः सा रोमालिस्त्वद्रोमराजिरालम्बते भजति मौक्तिकादौ गुटिकाद्यवयवरूपणादवयविनि कामे वेद्धृत्वरूपणस्य गम्यमान देशविवर्त्तिसावयवरूपकमलङ्कारः ॥ १२७ ॥

हे दमयन्ति ! तुम समर्थ कामदेवके, तुम्हारे बत्तीस लड़ीवाले हार[1]-विशेषके को (मिट्टोकी बनी हुई) गोलियाँ समझो, उस राजश्रेष्ठ (नल, पक्षा०—राजहं को वेध्य (मारने योग्य शिकार) समझो तथा अपनेको मनोहर वह धनुर्ल जो शोभमान नाभिरूप विल (गोलियोंको फेंकनेके लिए धनुषमें बना हुआ छिद्र) रोमपङ्क्ति जिस (धनुर्लता) के मध्यमें सर्वदा रहनेसे अतिशय लालित (नचा डोरीसे सेवित (अनुभूत) होते हुए सम्पूर्ण विलासको प्राप्त करती है। [मिट्टी फेंकनेवाले धनुषमें छिद्र रहता है, इसीसे गोलियोंको फेंककर लक्ष्यवेध किया यहाँपर समर्थ कामदेव धनुर्धर, तुम्हारे हारके मोती गोली, राजश्रेष्ठ नल धनुर्लता, रोमश्रेणि धनुषकी डोरी, नाभि गोली रखनेके स्थानका धनुश्छिद्र समझो। इस प्रकार कामदेव नलको सरलतासे जीत लेगा अर्थात् तुम्हें लक्ष्य नल कामपीडित हो जायेंगे]॥ १२७ ॥

पुष्पेषुश्चिकुरेषु ते शरचयं स्वं भालमूले धनू
रौद्रे चक्षुषि यज्जितस्तनुमनुभ्राष्ट्रं च यश्चिक्षिपे।
निर्विद्याश्रयदाश्रमं स वितनुस्त्वां तज्जयायाधुना
पत्रालिस्त्वदुरोजशैलनिलया तत्पर्णशालायते ॥ १२८॥

पुष्पेषुरिति। यः पुष्पेषुः कामो यज्जितो येन नलेन सौन्दर्यात्पराभूत निर्विद्य ईर्ष्यया जीवनवैयर्थ्यं मत्वेत्यर्थः। 'तत्त्वज्ञानोदितेर्ष्यादेर्निर्वेदो निष्प रिति लक्षणात्। ते तव चिकुरेषु केशेषु स्वं स्वकीयं शरचयं त्वद्धृतकुसु दिति भावः। भालमूले ललाटभागे धनुः भ्रूव्याजादिति भावः। तथा सम्बन्धिनि चक्षुष्येव अनुभ्राष्ट्रमम्बरीपे, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। 'क्लीबे भ्राष्ट्रो ना' इत्यमरः। तनुं शरीरं च चिक्षिपे क्षिप्तवान्। पूर्वमेव दग्धत

---

[1] तदुक्तममरसिंहेन—'हारभेदा यष्टिभेदाद् गुच्छगुच्छार्द्धगोस्तनाः।
अर्द्धहारो माणवक एकावल्येकयष्टिका ॥' इति।
(अमर २।६।१०

एषां यष्टिसङ्ख्याज्ञानार्थं मत्कृतममरकोषस्य 'मणिप्रमा'ख्यमनुवादम्, 'अम ख्यां टिप्पणीञ्च विलोकयन्तु जिज्ञासव इति।

इति भावः। । स्वरितेत्त्वात्तङ् । स पुष्पेषुर्वितनुरनङ्गः सन् अधुना तज्जयाय नलविज-
ार्थन्त्वामेवाश्रमं तपोवनमाश्रयत् आश्रितवान् तपश्चर्यार्थमिति शेषः । अन्यथा
थं तं जेष्यतीति भावः । अतएव त्वद्वुरोज एव शैलो निलयो यस्याः सा तन्नि-
त्यर्थः । पत्रालिः पत्ररचना पर्णचयश्च तस्य कामस्य पर्णशालायते सेवाचरति ?
पमानात् कर्त्तुः क्यङ् । अत्र पूर्वार्द्धे शरचापादीनां पूर्वोक्तपुष्पादिविषयनिगरणेन
दभेदाध्यवसायाद्भेदे अभेदलक्षणातिशयोक्तिः, तत्पर्णशालायत इत्युपमा चोत्था-
तेन त्वमाश्रममिति रूपकेण सङ्कीर्णा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या कामस्याश्रमाश्रयणो-
त्वेति सङ्करः ॥ १२८ ॥

उस (नल) से (सौन्दर्यमें) हारे हुए जिस कामदेवने खेदसे विरक्त होकर तुम्हारे
शोंमें बाणसमूहको फेंक दिया, तुम्हारे ललाटमूलमें धनुषको फेंक दिया तथा शिवजीके
पक्षा०—दारुण = भयङ्कर) नेत्ररूप भाड़में अपने शरीरको फेंक दिया; वह कामदेव
स समय उस नलको जीतनेके लिए नितनु (विशेष दुर्बल, पक्षा०—शरीरहीन) होकर
हारा आश्रय किया है और तुम्हारे स्तनरूप पर्वतपर वर्तमान पत्रालि (पत्तोंका समूह,
क्षा०—चन्दनादिरचित पत्रावलि) उस (कामदेव) की पर्णशालाके समान हो रही है ।
जिस प्रकार किसी प्रबलसे पराजित दुर्बल व्यक्ति दुःखसे खिन्न होकर अपने बाण, धनुष
था अपने शरीरतकको फेंक देता है और उस प्रबलको जीतनेके लिए किसीका आश्रयकर
तपर पत्तोंकी कुटिया बनाकर तपस्या करता है; वैसे ही कार्य नलको जीतने के लिए
मदेवने किये हैं । तुम्हारे केशसमूहमें लगे हुए पुष्प कामदेवके बाण-समूह हैं, तुम्हारा
कामदेवका धनुष है, शिवजीका नेत्र भयङ्कर (शीघ्र जलानेवाला) भाड़ है, तुम्हारे
शाल स्तन पर्वत हैं तथा उनपर चन्दनादिसे बनायी गयी पत्रावलि पत्तोंकी झोपड़ी
। अब तक तो नलने कामदेवको जीत लिया था, किन्तु अब कामदेव तुम्हारे सहारेसे
लको जीतेगा अर्थात् तुम्हें पाकर नल कामके वशीभूत होंगे] ॥ १२८ ॥

त्यालपत्यथ पतत्रिणि तत्र भैमीं सख्यश्चिरात्तदनुसन्धिपराः परीयुः ।
र्मास्तु ते विसृज मामिति सोऽप्युदीर्य वेगाज्जगाम निषधाधिपराजधानीम् ॥

इतीति । तत्र तस्मिन् पतत्रिणि हंसे भैमीमिति इत्थमालपति भाषमाणे सति
थास्मिन्नवसरे चिरात्प्रभृति तस्या भैम्या अनुसन्धिरन्वेषणम्, 'उपसर्गे घोः
रि'ति किः । तत्पराः सख्यः परीयुः परिवव्रुः, इणो लिट् । हंसोऽपि 'ते तव शर्मास्तु
समस्तु, मां विसृज' इत्युदीर्य उक्त्वा वेगान्निषधाधिपराजधानीं जगाम ॥ १२९ ॥

इसके बाद उस हंसके दमयन्तीसे ऐसा (३।१००-१२८) कहते रहनेपर उसे (दम-
न्तीको) खोजनेमें तत्पर सखियोंने दमयन्तीको चारो तरफसे घेर लिया । वह हंस भी
म्हारा कल्याण हो, मुझे छोड़ो अर्थात् विदा करो' ऐसा कहकर वेगसे नलकी राजधानी
चला ॥ १२९ ॥

चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिर्व्यामिश्रतामाश्रय-
त्प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं रसात् ।
स्वादं स्वादमसीममृष्टसुरभि प्राप्ताऽपि तृप्तिं न सा
तापं प्राप नितान्तमन्तरतुलामानर्च्छ मूर्च्छामपि ॥

चेत इति । सा भैमी चेतोजन्मनः कामस्य शरप्रसूनानां शरभूतपुष्पाणां मिस्तद्रसैः क्षौद्रैश्च 'मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्र' इत्यमरः । व्यामिश्रतामाश्रय मिश्रं सदित्यर्थः । असीमं निःसीमम् अपरिमितमित्यर्थः । नकारान्तोत्तरपद व्रीहिः । मृष्टं शुद्धम् । अन्यत्रामलं तच्च तत् सुरभि सुगन्धि च, खञ्जकुब्जवद् समासः । प्रेयसो नलस्य दूतः सन्देशहरो यः पतङ्गः पुङ्गवः इव पतङ्गपुङ्गवो श्रेष्ठः पुमान् गौः पुङ्गवः । 'गोरतद्धितलुकी'ति टच्, तस्य गौर्वाक् तद्गवी पूर्व 'टिड्ढाणञि'त्यादिना ङीप् । सैव हैयङ्गवीनं ह्योगोदोहोद्भवं घृतमिति रू 'हैयङ्गवीनं संज्ञायामि'ति निपातः । तद्गवी तद्धेनुः तस्या इति च गम्यते रसात् स्वादं स्वादं पुनः पुनरास्वाद्य आभीक्ष्ण्ये णमुल्प्रत्ययः । पौनःपुन्यमासे 'आभीक्ष्ण्ये द्वे भवत' इति उपसंख्यानात् द्विरुक्तिः । तृप्तिं प्राप्तापि अपिर्विरोधे नितान्तं तापं न प्राप अतुलां मूर्च्छामपि नानर्च्छ न प्राप, 'ऋच्छत्यॄतामि'ति 'अत आदेरि'त्यभ्यासाकारस्य दीर्घः । 'तस्मान्नुड् द्विहल' इति नुट् । मधुमिश्र विषत्वात्तत्पाने तापाभावादिति विरोधः । स च पूर्वोक्तपतङ्गपुङ्गवगवीहै इति रूपकोत्थापित इति सङ्करः । 'मधुनो विषरूपत्वं तुल्यांशे मधुसर्पिषोः वाग्भटः ॥ १३१ ॥

कामबाणरूप पुष्पके मधु (पराग, पक्षा०—शहद) से मिश्रित तथा इष्टएवं इ प्रियतम (नल) के दूत पक्षिश्रेष्ठ (राजहंस) की वाणीरूपी (पक्षा०—……की मक्खन (नेनू घी) को अपरिमित वार-वार स्वाद लेकर (खाकर, पक्षा०—हंस को आदरपूर्वक सुनकर) भी वह दमयन्ती तृप्त हो गयी और अन्तः अधिक नहीं पाया, तथा अपरिमित मूर्च्छाको भी नहीं पाया (अथवा—………वह तृप्त नहीं हुई; उसका अन्तःकरण अधिक सन्तापको पाया तथा अपरिमित मूर्च्छा [घी तथा मधु समान मात्रामें मिलाकर अधिक खानेसे भी तृप्ति नहीं होती खानेकी इच्छा बनी रहती है, परन्तु उसे खानेसे अन्तःकरणमें दाह होता है त भी आती है; वे सब दमयन्तीको नहीं हुए यह आश्चर्य है । अथवा—द्वितीय अ हंसके वचनको दमयन्ती और भी सुनना चाहती थी, अत एव उसकी तृप्ति तथा उसके चले जानेसे दमयन्तीके अन्तःकरणमें सन्ताप भी हुआ तथा वह मो हुई यह उचित ही है । 'असीमम् + इष्टसुरभि' पदच्छेदका अर्थ ऊपर लिखा 'असीममृष्टसुरभि' समस्त एक पद को 'हैयङ्गवीनम्' का विशेषण मानकर

र तथा सुगन्धयुक्त' उक्तरूप घीको बार-बार खाकर भी·····················ऐसा अर्थ भी हो
ता है] ॥ १३० ॥

या दृशो[1] वियति[2] बन्धुमनुव्रजन्त्यास्तद्बाष्पवारि न चिरादवधिर्बभूव ।
र्श्वेऽपि विप्रचकृषे तदनेन दृष्टेरारादपि व्यवदधे न तु चित्तवृत्तेः ॥१३१॥

तस्या इति । वियत्याकाशे बन्धुमनुव्रजन्त्यास्तस्या दृशो भैमीदृष्टेः तद्बाष्पवारि
ुजनविप्रयोगजन्यं तद्दृग्जलं न चिरादचिरादवधिर्बभूव, 'ओदकान्तं प्रियं पान्थ-
व्रजेदि'ति शास्त्रात्तद्दृक् सीमाभूदित्यर्थः । ततः तस्माद् बाष्पोपगमादेव हेतो-
न हंसेन दृष्टेः पार्श्वे समीपे विप्रचकृषे विप्रकृष्टेनाभावि । बाष्पावरणात् समीपस्थो-
नालभ्यतेत्यर्थः । चित्तवृत्तेस्तु आराद् दूरेऽपि न व्यवदधे व्यवहितेन, नाभावि,
बन्धान्मनसो नापेत इत्यर्थः । उभयत्रापि भावे लिट् । समीपस्थस्य विप्रकृष्टत्वं
स्थस्य सन्निकृष्टत्वं चेति विरोधाभासः ॥ १३१ ॥

नेत्रजल (प्रियदूत हंसके विरहसे उत्पन्न आँसू) जो आकाशमें जाते हुए बन्धु (रूप
हंस) का अनुगमन करती हुई उस (दमयन्ती) की दृष्टिके शीघ्र ही अवधि हो गया,
एव समीप होनेपर भी इस हंससे वह दूर हो गयी, किन्तु दूर चले जानेपर भी वह
दमयन्तीकी चित्तवृत्तिसे दूर नहीं हुआ । [बाहर जाते हुए बन्धुका तडाग, वाटिका,
रसीमा आदि तक अनुगमन करनेका नियम है, अतः जब प्रियावेदक होनेसे बान्धव-
हंस नलकी राजधानीको जाने लगा तब शीघ्र ही दमयन्तीके नेत्र उसके विरह-दुःखसे
युक्त हो गये, अत एव नेत्राश्रु ही हंसका अनुगमन करनेवाले दमयन्ती-नेत्रको
गे बढ़नेसे रोकनेके लिए जलाशयरूप गमनावधि हो गये, इसी कारण हंसके थोड़ी दूर
जानेपर भी वे (नेत्र) उससे दूर हो गये; किन्तु दमयन्तीने उस हंसको अन्तःकरणमें
लिया था, अत एव हंस बहुत दूर तक जानेपर भी उसके अन्तःकरणसे दूर नहीं
ा, उसके अन्तःकरणमें ही रहा । पाठा०—नृपति (राजा नल) के बन्धु—राजहंसका
नुगमन······अर्थ करना चाहिये] ॥ १३१ ॥

अस्तित्वं कार्यसिद्धेः स्फुटमथ कथयन् पक्षयोः कम्पभेदै-
राख्यातुं वृत्तमेतन्निषधनरपतौ सर्वमेकः प्रतस्थे ।
कान्तारे निर्गतासि प्रियसखि ! पदवी विस्मृता किन्नु मुग्धे ?
मा रोदीरेहि यामेत्युपहृतवचसो निन्युरन्यां वयस्याः ॥१३२॥

अस्तित्वमिति । अथ एकः अनयोरेकतरो हंसः पक्षयोः कम्पभेदैश्चेष्टाविशेषैः
ार्यसिद्धेरस्तित्वं सत्ताम् 'अस्तीत्यव्ययं विद्यमानपर्यायस्तस्मात्त्वप्रत्ययः । स्फुटं

---

[1] 'दृशाऽधिपतिबन्धु—' इति पाठान्तरम् । [2] 'नृपतिबन्धु—' इति पाठान्तरम् ।

कथयन् वृत्तं निष्पन्नमेतत्सर्वं निषधनरपतौ नले विषये आख्यातुं त
यिष्यन्नित्यर्थः, प्रतस्थे। अन्यां दमयन्तीं वयसा तुल्या वयस्याः सख्यः
इति यत्प्रत्ययः। हे प्रियसखि ! मुग्धे ! कान्तारे विषमे निर्गतासि सङ्कटं
पदवी विस्मृता किम् नु ? मा रोदीः, एहि, याम गच्छाम, इत्युपहृतवच
चनाः सख्यः एनां निन्युः ॥ १३२ ॥

(उड़ते समय) दोनों पङ्खोंको कँपानेसे कार्यसिद्धिके अस्तित्वको स्पष्ट कहता
करता) हुआ उनमेंसे एक (हंस) सब वृत्तान्तको निषधेश्वर (नल) से कहने
(निषध देशको) गया तथा दूसरी (दमयन्ती) को 'हे प्रिय सखि ! दुर्गम
पड़ी हो। हे मुग्धे (भोली या सुन्दरी !) क्या तुम रास्ता भूल गई हो,
आओ चलें इस प्रकार कहती हुई उसकी सखियाँ इसे (राजमहलमें) ले गयीं ॥

सरसि नृपमपश्यद्यत्र तत्तीरभाजः
स्मरतरलमशोकानोकहस्योपमूलम् ।
किसलयदलतल्पग्लापिनं प्राप तं स
ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्धिमौलेः ॥ १३३ ॥

सरसीति। हंसो यत्र सरसि नृपमपश्यत् दृष्टवान् तस्य सरसस्तीरभा
हस्य ज्वलद्भिरसमशरस्य पञ्चेषोरिषुभिः स्पर्द्धत इति तत्स्पर्धिनी त
पुष्पर्धिः पुष्पसमृद्धिः मौलिः शिखरं यस्य तस्याशोकानोकहस्य अशोकवृक्ष
मूलं मूले विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः। स्मरेण तरलं चञ्चलं किसलयदलत
पत्रशयनं ग्लापयति स्वाङ्गदाहेन ग्लापयतीति तथोक्तं तं नृपं प्राप ॥ १३३

उस (हंस) ने जिस तडागपर नलको (दमयन्तीके पास जानेसे पहले)
उसीके किनारे पर स्थित जलते हुए कामबाणोंके साथ स्पर्द्धा करनेवाले पुष्पों
से युक्त शिखर (अग्रभाग) वाले (जिसके ऊपर फूले हुए पुष्प जलते हुए
तुल्य प्रतीत हो रहे हैं, ऐसे) अशोक वृक्षके नीचे, काम (जन्य पीडा) से
पटाते हुए) तथा नव पल्लवोंकी शय्याको (काम-सन्तापसे) मलिन करते
(नल) को पाया। [दमयन्तीके पास जानेके पहले हंसने जिस तडागपर
था, उसीके तीरपर स्थित पुष्पित अशोक वृक्षके नीचे कामपीडासे छटपटाते
नवपल्लवोंकी शय्याको तापसे मलिन करते हुए नलको दमयन्तीके यहाँसे
पाया। यद्यपि नल हंसको दमयन्तीके पास भेजकर वहाँसे उद्यानगृहमें चले गये थे
तथापि वहाँसे लौटे हुए हंससे मिलनेके लिए उसी तडाग पर पुनः आ गये थे]

परवति ! दमयन्ति ! त्वां न किञ्चिद्वदामि
द्रुतमुपनम किं मामाह सा शंस हंस ! ।

इति वदति नलेऽसौ तच्छशंसोपनम्रः
प्रियमनु सुकृतां हि स्वस्पृहाया विलम्बः ॥ १३४ ॥

परवतीति । परवति ! पराधीने दमयन्ति ! त्वां न किञ्चिद्वदामि नोपालभे किन्तु
हंस ! द्रुतं शीघ्रमुपनम आगच्छ, सा दमयन्ती मां किमाह, शंस कथयेति नले
ति भ्रान्त्या पुरोवर्तिनमिव सम्बोध्य आलपति सति । असौ हंसः उपनम्रः पुरोगतः
कार्यज्ञः तत् वृत्तं शशंस कथयामास । तथाहि–सुकृतां साधुकारिणां 'सुकर्मपापपुण्येषु
' इति क्विप् । प्रियमनु इष्टार्थं प्रति स्वस्पृहायाः स्वेच्छाया एव विलम्बः । न स्वि·
नन्तरं तत्सिद्धेर्विलम्ब इति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥

हे परवश दमयन्ति ! मैं तुम्हें कुछ नहीं कहता (अपने पिता आदिके अधीनस्थ
से तुम्हें कोई उपालम्भ नहीं देता), 'हे हंस ! शीघ्र आवो तथा उस (दमयन्ती) ने
से क्या कहा, कहो' ऐसा नलके कहते रहनेपर समीपमें आये हुए उस हंसने उस
को कहा; क्योंकि पुण्यात्माओंको अभीष्टके लिए केवल अपनी इच्छाका विलम्ब होता
[पुण्यात्माओंको इच्छा करते ही अभीष्ट प्राप्ति हो जाती है] ॥ १३४ ॥

कथितमपि नरेन्द्रश्शंसयामास हंसं
किमिति किमिति पृच्छन् भाषितं स प्रियायाः ।
अधिगतमतिवेलानन्द[1]मार्द्वीकमत्तः
स्वयमपि शतकृत्वस्तत्तथाऽन्वाचचक्षे ॥ १३५ ॥

कथितमिति । स नरेन्द्रः नलः कथितमपि प्रियायाः दमयन्त्याः भाषितं वचनं
मिति किमिति पृच्छन् हंसं शंसयामास पुनराख्यापयामास, किं च अतिवेलः
तिमात्रो यः आनन्दः स एव मार्द्वीकं मृद्वीकाविकारो द्राक्षामद्यं 'मृद्वीका गोस्तनी
क्षे'त्यमरः । तेन मत्तः सन् अधिगतं सम्यक् गृहीतं तदुक्तं स्वयमपि शतकृत्वः
वारं 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' । तथा तदुक्तप्रकारेण अन्वाचचक्षे
नूदितवान् । मत्तोऽप्युक्तमेव पुनः पुनर्वक्तीति भावः ॥ १३५ ॥

राजा (नल) ने 'क्या कहा, क्या कहा ?' ऐसा पूछते हुए, कहे हुए भी प्रिया
दमयन्ती) के समाचारको हंससे बार-बार कहलवाया । तथा मर्यादातीत आनन्दरूप
खकी बनी मदिरासे मत्त होते हुए के समान सुने हुए भी उसे (दमयन्ती-समाचारको)
कड़ों बार वैसे ही अनुवाद किया (फिर-फिर कहा) ॥ १३५ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरस्सुतं
श्रीहीरस्सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।

---

[1] '—माध्वीक—' इति पाठान्तरम् ।

तार्तीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥१

श्रीहर्षमित्यादि । तृतीय एव तार्तीयीकः । 'द्वितीयतृतीयाभ्यामी वक्तव्यः' तस्य भावस्तत्ता तया मितस्तृतीय इत्यर्थः । शेषं सुगमम् ॥ १३

इति मल्लिनाथसूरिविरचितायां 'जीवातु' समाख्यायां 'नैषध' टीकायां तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

* * *

कविराज………उत्पन्न किया, उसके मनोहर रचनारूप 'नैषधीयचरित' महाकाव्यमें तृतीय सर्ग समाप्त हुआ । (शेष व्याख्या प्रथम सर्ग के समान चाहिये ॥ १३६ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३॥

* * *

चतुर्थः सर्गः

अथ नलस्य गुणं गुणमात्मभूः सुरभि तस्य यशःकुसुमं धनुः ।
श्रुतिपथोपगतं सुमनस्तया तमिषुमाशु विधाय जिगाय ताम् ॥ १ ॥

अथ राज्ञः स्वयंवरं प्रत्युपोद्घातत्वेनास्मिन्सर्गे भैम्यां मदनावस्थां वर्णयितुमार- ते-अथेत्यादि। अथ भैम्याः प्रियसन्देशश्रवणानन्तरं, आत्मभूः कामः, नलस्य गुणः त्मोत्कर्षहेतुशौर्यसौन्दर्यादिको धर्मः, तमेव गुणं मौर्वीं, विधाय। सुरभि सुगन्धि, नोज्ञञ्च। 'सुगन्धौ च मनोज्ञे च वाच्यवत् सुरभिः स्मृतः' इति विश्वः। तस्य नल- , यद्यशः, तदेव कुसुमं धनुर्विधाय। तथा सुमनस्तया सुमनस्कत्वेन पुष्पत्वेन च, तिपथोपगतं कर्णपथं गतं, पुनः पुनः भैम्या श्रुतमित्यर्थः। आकर्णमाकृष्टञ्च, तं नल- , इषुं विधाय। तां भैमीं जिगाय। तदेकासक्तचित्तां चकारेत्यर्थः। 'सन्लिटोर्जेः' ति कुत्वम्। रूपकालङ्कारः। अस्मिन्सर्गे द्रुतविलम्बितं वृत्तम्। 'द्रुतविलम्बितमाह नौ भरौ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

शारदाके चरण-कमलोंमें विनत प्रणिपातकर ।
राष्ट्रभाषामें लिखूं नैषधचरित अनुवाद वर ॥
पूज्य विबुधोंका सदा ही यह मनोरञ्जक बने ।
सरलतासे छात्रगणका भी यही बोधक बने ॥

कामदेवने कान तक पहुंचे (पक्षान्तर में—खैंचे) हुए, नलके गुणको धनुष की डोरी, ख्यात (पक्षान्तरमें—सुगन्धित) यशोरूपी फूलको धनुष और मनस्विता (पक्षान्तरमें— पता) होनेसे नलको वाण वनाकर उसे (दमयन्तीको) शीघ्र ही जीत लिया। [धनुर्धारी द्वा भी कानतक प्रत्यञ्चाको खींचकर वाणप्रहारद्वारा अपने प्रतिपक्षीको जीत लेता है। को वाण वनाकर कामदेवने दमयन्तीके हृदयमें प्रहार किया, वह नलरूप वाण दमयन्तीके यमें पहुंचकर वहुत पीडा देने लगा अर्थात् दमयन्ती नलके गुणोंको सुनकर अत्यन्त पीडित हो गयी] ॥ १ ॥

यदतनुज्वरभाक्तनुते स्म सा प्रियकथासरसीरसमज्जनम् ।
सपदि तस्य चिरान्तरतापिनी परिणतिर्विषमा समपद्यत ॥ २ ॥

यदिति। सा भैमी, अतनुज्वरमनङ्गज्वरम्, अधिकज्वरञ्च, भजतीति तद्भाक् सती। जो ज्वः। प्रियकथैव सरसी सरः तस्यां रसो रागः, जलञ्च तत्र मज्जनमासक्ति- वगाहञ्च, तनुते स्म चकारेति यत्। 'लट् स्मे' इति भूते लट्। तस्य मज्जनस्य, पदि, चिरं दीर्घकालं, अन्तरमभ्यन्तरं, तापयतीति तत्तापिनी, विषमा उद्दीपनात्मि-

का, परिणतिः परिपाकः, समपद्यत सञ्जाता । अत एव ज्वरशान्त्यर्थाद्रस
दुद्रेकरूपानर्थोत्पत्तेर्विषमालङ्कारभेदः । 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा
विरूपघटना वा स्याद्विषमालंकृतिस्त्रिधा ॥' इति लक्षणात् । एतेन द्वादशा
नवमी संज्वरावस्थोक्ता । तदुक्तं—'चक्षुःप्रीतिर्मनःसङ्गः सङ्कल्पोऽथ प्रलापिता
कार्श्यमरतिर्लज्जात्यागोऽथ संज्वरः ॥ उन्मादो मूर्छनं चैव मरणञ्चरमं विदुः'

कामज्वर (पक्षान्तरमें–अधिक ज्वर) पीडित उस दमयन्तीने जो नल–कथा
जल (पक्षान्तरमें—विप्रलम्भ शृङ्गार रस) में मज्जन (स्नान) किया
लगायी, उसका शीघ्र ही वहुत अधिक सन्ताप देनेवाला भयङ्कर परिणाम हो गया
यन्तीने नलविरहमें कामज्वरसे पीडित होकर उसकी शान्तिके लिये सखी
नल के गुणों को प्रेमसे सुना, किन्तु कामपीडा शान्त होने के वदले और अधिक
अन्य भी कोई ज्वरसे सन्तप्त रोगी सन्ताप की शान्तिके लिये तडागके जलमें (
सन्ताप को शान्त करनेवाला समझकर) यदि स्नान करता है, तो उसका
हो जाता है अर्थात् ज्वर–सन्ताप शान्त होने के वदले अधिक वढ़ जाता है,
दमयन्ती की भी हुई] ॥ २ ॥

ध्रुवमधीतवतीयमधीरतां दयितदूतपतद्गतिवेगतः ।
स्थितिविरोधकरीं द्व्यणुकोदरी तदुदितः स हि यो यदनन्तर

ध्रुवमिति । द्व्यणुकोदरी सूक्ष्ममध्या, इयं दमयन्ती, स्थितिर्मर्यादा गति
तद्विरोधकरीं तद्विरोधहेतुमित्यर्थः । गत्युत्पत्तेस्तत्प्रागभावविरोधित्वादिति
'कृञो हेतु' इत्यादिना हेत्वर्थे टप्रत्यये ङीष् । अधीरतां चपलताम्, एकत्रानव
क्षणां, दयितदूतो यः पतन् पतत्री हंसः । 'पतत्पत्ररथाण्डजा' इत्यमरः
गतिवेगतः गमनवेगादधीतवती गृहीतवती, प्राप्तवतीत्यर्थः । एतेन चापल
ञ्चारी भाव उक्तः । 'चापलं त्वनवस्थानं रागद्वेषादिसम्भवम्' इति लक्षणात्
हंसपक्षवेगजन्यत्वमुत्प्रेक्षते–ध्रुवमिति । ननु कथमन्यवेगादन्यत्र क्रियोत्प
शंक्य यदनन्तरन्यायेन समर्थयति । योऽर्थो यस्यानन्तरस्सन्निहितः स
दित उत्पन्न इत्युत्प्रेक्षार्थान्तरन्यासयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ३ ॥

कृशोदरी उस दमयन्तीने प्रिय–दूत हंसके पंखोंके वेगसे (स्त्री–)मर्यादा
अधीरताको धारण किया (सीखा) अर्थात् प्रिय नल के दूत हंसके उड़कर
अधीर हो गयी; क्योंकि जिसके बाद जो होता है, वह उसीसे उत्पन्न समझा
[हंसका उड़ना स्थिरताविरुद्ध (चंचल = अधैर्युयुक्त) था, अत एव उसके जाने
यन्तीको जो अधीरता हो गई है, वह मानों उसी हंस–गमन–शिक्षासे ही उत्पन्न

अतितमां समपादि जडाशयं स्मितलवस्मरणोऽपि तदाननम्
अजनि पङ्गुरपाङ्गनिजाङ्गणभ्रमिकणोऽपि तदीक्षणखञ्जन

अतितमामिति। तस्या भैम्याः आननं, स्मितलवस्य हासलेशस्य स्मरणेऽपि,
मुत करण इति भावः। अतितमामतिमात्रम्। 'किमेत्तिङ्' इत्यादिना अव्ययादा-
त्ययः। जडाशयं मूढचित्तं, समपादि सम्पन्नं, तदज्ञं जातमित्यर्थः। 'चिण्ते पदः'
कर्तरि चिण्। तस्या ईक्षणमेव नयनमेव, खञ्जनः खञ्जरीटः, अपाङ्ग एव निजा-
, तत्र भ्रमिर्भ्रमणं, तस्याः कणे लेशेऽपि पङ्गुरसमर्थः, अजनि जातः। 'दीपजन'
ादिना जनेः कर्तरि चिण्। ज्वरवेगात् स्मितवीक्षणे लुप्ते इति भावः ॥ ४ ॥

उस (दमयन्ती) का मुख थोड़ा-सी मुस्कुराहटके स्मरण करने में भी जड़ताको धारण
ा (नल-विरहसे पीडित दमयन्तीने लेशमात्र भी मुस्कुराना छोड़ दिया) तथा उसका
रूपी खञ्जन (खंजरीट नामक पक्षी। उसके नेत्र खञ्जन पक्षीके तुल्य थे यह भी ध्वनित
ा है) नेत्रप्रान्तरूप अपने आंगन में थोड़ा-सा भ्रमण करने में भी पङ्गु हो गया (दम-
तीके नेत्रों ने विरह के कारण कटाक्षपूर्वक देखना भी छोड़ दिया)। [अन्य भी कोई
= मूर्ख व्यक्ति छोटी २ बातोंको भी स्मरण करने में तथा लंगड़ा व्यक्ति अपने अर्थात्
निकटवर्ती आंगनमें थोड़ा भी घूमनेमें असमर्थ हो जाता है॥ नलविरह-पीडित दमयन्ती-
हंसना तथा कटाक्ष करना छोड़ दिया]॥ ४॥

किमु तदन्तरुभौ भिषजौ दिवः स्मरनलौ विशतः स्म विगाहितुम्।
दभिकेन चिकित्सितुमाशु तां मखभुजामधिपेन नियोजितौ ॥५॥

अथास्याः स्मरनलयोर्निरन्तरान्तःप्रवेशमालक्ष्योत्प्रेक्ष्यते—किम्विति। तदभि-
भैमीकामुकेन, 'अनुकाभिकाभीकः कमिता' इति निपातितः। मखभुजामधि-
देवेन्द्रेण, तां भैमीमाशु चिकित्सितुमगदीकर्तुं, नियोजितौ प्रेषितौ उभौ, दिवो
षजौ स्ववैद्यावश्विनौ, स्मरनलौ सन्तौ, विगाहितुं रोगनिदानं निश्चेतुम्, तस्याः
यन्त्याः, अन्तरन्तश्शरीरं प्रविशतः स्म किमु। प्रविश्य स्थितावश्विनावेव तौ कि-
त्युत्प्रेक्षा। तेनास्य मदनाश्विसमानसौन्दर्यं व्यज्यते। अत्र चिन्ताख्यः सञ्चारी भा-
सूचितः। 'ध्यानञ्चिन्तेप्सितानाप्तिः शून्यता श्वासतापकृत्' इति लक्षणात् ॥५॥

जो कामदेव तथा नलने दमयन्तीके अन्तःकरण (हृदय) में प्रवेश किया था, वह उस
यन्ती के कामुक देवराज इन्द्र के द्वारा, शीघ्र चिकित्सा करनेके लिये (या उसके अन्तः-
ण की स्थिति जाननेके लिये) नियुक्त स्वर्ग के वैद्य अश्विनी-कुमार थे क्या?। [यहां 'नलकी
न्ति अश्विनीकुमारके समान थी यह तथा 'भावी दमयन्ती-स्वयंवरमें दमयन्तीको पत्नीरूपमें
नेके लिये इन्द्रका आगमन' ध्वनित होता है। अन्य भी किसी सुन्दरीका कामुक व्यक्ति
सकी मनोवृत्ति मेरे प्रतिकूल है, या अनुकूल' यह जाननेके लिये अथवा उसके रोगी होनेपर
षधोपचारके लिये वैद्यको भेजकर अपनी मनोभिलषित प्रियाको नीरोग कराना चाहता है]॥

कुसुमचापजतापसमाकुलं कमलकोमलमैक्ष्यत तन्मुखम्।
अहरहर्वहदभ्यधिकाधिकां रविरुचिग्लपितस्य विधोर्विधाम्॥ ६॥

अथ चिन्तानुभावं सन्तापं वर्णयति—कुसुमेत्यादि। कुसुमचाप सुत्थेन, तापेन समाकुलं विह्वलम्, अत एवाहरहः अहन्यहनि। वीप्सायां द्विर्वचनम्। 'रोः सुपि' इत्यह्नो नकारस्य रेफादेशः। मत्यन्ताधिकाम्। अभीक्ष्ण्ये द्विर्भावः। रविरुचिग्लपितस्य अर्कांशुहत रिन्दोः, विधां प्रकारं, तादृशीमवस्थामित्यर्थः। अत एव सादृश्याक्षेपाद सम्बन्धान्निदर्शनालङ्कारः। वहत् प्राप्नुवत्, कमलकोमलं तन्मुखमैक्ष्यत जनेनेति शेषः। सकरुणमिति भावः॥ ६॥

काम-ज्वरसे पीडित उस दमयन्ती का कमल के समान कोमल मुख सूर्यके दिनपर दिन क्रमशः क्षीणकान्ति चन्द्रमाके समान होता जाता था। [कृष्ण पक्ष जिस प्रकार दिनपर दिन सूर्यके धूप से फीका पड़ता जाता है, उसी प्रकार काम-पीडित दमयन्ती का मुख भी संस्कारादि के छोड़ने से मलिन एवं रहा था]॥ ६॥

तरुणतातपनद्युतिनिर्मितद्रढिम तत्कुचकुम्भयुगं तथा।
अनलसङ्गतितापमुपैतु नो कुसुमचापकुलालविलासजम्॥

तरुणतेति। तस्याः कुचावेव कुम्भौ तयोर्युगं (कर्तृ), तरुणता तारुण्यं नद्युतिरातपस्तया निर्मितः कृतो द्रढिमा काठिन्यं यस्य तत्तथा, कुसुमचा लालः कुम्भकारस्तस्य विलासेन व्यापारेण जातं तज्जम्, अनलसङ्गतिः भावः। क्वचित् प्रसज्यप्रतिषेधे नञ्समास इष्यते। अर्थाभावेऽव्ययीभा सकत्वम्। सैवानलसङ्गतिरग्निसंयोग इति श्लिष्टरूपकम्, तया ता काकुः उपेयादेवेत्यर्थः। प्राप्तकाले लोट्। तथा हि—आमो घटः कुलाले प्रथममातपेन पक्त्वा पश्चादग्निना पच्यते। रूपकालङ्कारः॥ ७॥

उस समय कामदेवरूपी कुम्हारके विलास (क्रीडा या चाहना) से उत्पन्न गया), तारुण्यरूप सूर्य की द्युति (शोभा, पक्षान्तरमें—घाम) से कठिन (पक्षा कर कड़ा) हुआ, उस दमयन्तीका स्तनरूप दो घट अर्थात् स्तन-कलश-द्वय (अग्निका संसर्ग) आवाँमें पड़ने (पक्षान्तरमें—नलके विरहमें रहने) के स प्राप्त करें क्या ? अर्थात् अवश्य प्राप्त करें। ['कामदेव⋯⋯उत्पन्न' यह विशेषण हो सकता है। जिस प्रकार कुम्हार घड़ों को बनाकर उन्हें धूप में होनेके बाद आगमें पकाता है, उसी प्रकार कामकृत युवावस्थासे कठिनीभूत दमयन्तीका स्तनद्वय अनल (नलका अभाव) अर्थात् नल-विरहमें सन्तप्त ठीक ही है]॥ ७॥

अधृत यद्विरहोष्मणि मज्जितं मनसिजेन तदूरुयुगं तदा ।
स्पृशति तत्कदनं कदलीतरुर्यदि मरुज्ज्वलदूषरदूषितः ॥ ८ ॥

अधृतेति । तदा यत्तस्या ऊरुयुगं मनसिजेन विरहोष्मणि विरहदाहे मज्जितम्, त अवस्थितम् । धृङवस्थान इति धातोर्लुङि तङ् । 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपः । लीतरुः, मरौ मरुदेशे ज्वलता तप्यमानेन ऊषरेणोषरक्षेत्रेण, दूषितो यदि दूषित- त् । तत्कदनं, तेनोरुयुग्मेन कदनं कलहं साम्यमित्यर्थः । स्पृशति । अत्रोपमान- कदलीतरोरुपमेयत्वकल्पनात् प्रतीपालङ्कारभेदः । 'उपमानस्याक्षेपे उपमेयत्व पनं प्रतीपम्' इति लक्षणात् । ऊषरप्ररूढकदलीकाण्डकल्पं तदासीदित्यर्थः ॥८॥

कामदेवके द्वारा (नल) विरहाग्निमें डाला गया उस दमयन्तीका ऊरुद्वय (दोनों ँ) उस समय जैसा हो रहा था, यदि मरुस्थलकी जलती हुई ऊसर भूमिमें झुलसा हुआ का वृक्ष हो तो उस (दमयन्तीके दोनों जङ्घाओं) की समानता करे, [कामपीडाजन्य तापसे दमयन्तीका जघनद्वय मरुस्थलकी सन्तप्त भूमिमें उत्पन्न केलेके वृक्षके समान हो था] ॥ ८ ॥

स्मरशराहतिनिर्मितसंज्वरं करयुगं हसति स्म दमस्वसुः ।
अनपिधानपतत्तपनातपं तपनिपीतसरस्सरसीरुहम् ॥ ९ ॥

स्मरेति । स्मरशराहत्या निर्मितसंज्वरं जनिततापं, दमस्वसुः करयुगं (कर्तृ) नपिधानादनावरणात् (हेतोः), पतन् प्रविशन्, तपनातपः सूर्यातपः, यस्मिन् तथा, तपेन ग्रीष्मेण निपीते शोषिते सरसि यत्सरसीरुहं पद्मं, तद्धसति स्म सदृशमभूदित्यर्थः । 'हसतीर्ष्यत्यसूयती'ति दण्डिना सदृशपर्याये पठितत्वात् । त एवोपमालङ्कारः ॥ ९ ॥

कामदेवके बाणोंके प्रहारसे उत्पन्न दाहसे युक्त, दमयन्तीके दोनों हाथ, आवरण-हीन र्य-सन्तापसे युक्त, घामसे सूखे हुए तडागके कमलोंको हंसते थे । [सूर्यसन्तापसे रावरण सन्तप्त, सूखे तडागके कमलोंकी अपेक्षा कामपीडाजन्य नल-विरहसन्तप्त दम- न्तीके दोनों हाथ अधिक क्षीण कान्तिवाले हो रहे थे] ॥ ९ ॥

मदनतापभरेण विदीर्य नो यदुदपाति हृदा दमनस्वसुः ।
निबिडपीनकुचद्वययन्त्रणा तमपराधमधात्प्रतिबध्नती ॥ १० ॥

मदनेति । दमनस्वसुः, हृदा हृदयेन (कर्त्रा) मदनतापस्य भरेण औत्कट्येन (हेतुना) विदीर्य, नो उदपाति नोत्पतितमिति यत्, भावे लुङ् । तमनुत्पतनरूप- मपराधं प्रतिबध्नती निरुन्धती, निबिडपीनकुचद्वयेन यन्त्रणा बन्धः (कर्त्री), अधात् । हृदयकृतापराधं स्वयमुवाहेत्यर्थः । अत्रातिदाहेऽप्यस्फुटनं हृदयस्यायुःशेष- निबन्धनं, तस्य कुचयन्त्रणानिमित्तत्वमुत्प्रेक्ष्यते । सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥१०॥

दमयन्तीका हृदय कामदेवजन्य सन्तापकी अधिकतासे विदीर्ण हो (फट) कर जो नहीं

उछल (वाहर निकल) गया, उस अपराधको, रोकनेवाले सटे हुए बड़े २ स्तनों धारण किया अर्थात् सटे हुए बड़े २ स्तनोंके बोझके कारण ही विरह-पीडामें भी हृदय फटकर टुकड़ा २ नहीं हो गया । [अन्य भी कोई वस्त्र आदि हलकी वस् बड़े पत्थरोंके दबावसे ऊपरको नहीं उड़ने पाती । अथवा—'उस अपराधको रोक हुए बड़े २ दोनों स्तनोंने पी लिया' । यह भी अर्थान्तर हो सकता है] ॥ १० ॥

निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथा
मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिभृत्त निविश्य हृदि स्थित

निविशत इति । शूकशिखा कण्टकाग्रं, पदे चरणे निविशते प्रविश 'नेर्विश' इत्यात्मनेपदम् । सा प्रविष्टा शूकशिखा । कियतीमिव व्यथां इवशब्दो वाक्यालङ्कारे । कीदृशीं व्यथामित्यर्थः । न सृजति नोत्पादयति, सृजतीत्यर्थः । अवनिभृद्राजा नलः, पर्वतश्च । स तु, हृदि निविश्य स्थित मृदुतनोः कोमलांग्याः, तां तथाविधां, व्यथां कथं न वितनोतु तनोत सम्भावनायां लोट् । अत्र पदे सूक्ष्मकण्टकप्रवेशे दुस्सहा व्यथा । किमुत हृदि महत्प्रवेशेनेति कैमुत्यन्यायेनार्थापत्तेरर्थापत्तिरलङ्कारः ॥ ११ ॥

यदि पैरमें शूक (यव या गेहूँ आदि धान्योंके बालिमें होनेवाला महीन नोक भी घुस जाता है, तो वह कितनी पीडा नहीं पहुँचाता अर्थात् अत्यधिक पीडा है । तब सुकुमार शरीरवाली दमयन्तीके हृदयमें घुसकर (पूर्णतया प्रवेशकर) भृत् (पर्वत, पक्षान्तरमें—राजा = नल) उस व्यथाको क्यों नहीं बढ़ावें ? [कठिनतम अङ्गमें सूक्ष्मतम शूकका अग्रभाग भी जब व्यथा करता है, तब हृदय- तम मर्मस्थलमें पूर्णरूपेण प्रविष्ट हुए पहाड़ (पक्षान्तरमें—नल)-जैसा विशाल पदार्थसे सुकुमार शरीरवालीकी व्यथाका अधिक बढ़ना ठीक ही है ॥ दमयन्तीके नल थे, अतः उनके विरहसे वह अधिक व्यथित हो रही थी] ॥ ११ ॥

मनसि सन्तमिव प्रियमीक्षितुं नयनयोः स्पृहयान्तरुपेतयोः ।
ग्रहणशक्तिरभूदिदमीययोरपि न सम्मुखवास्तुनि वस्तुनि ॥

मनसीति । मनसि सन्तं हृदि वर्तमानं प्रियमीक्षितुं स्पृहया, अन्तरुपेत प्रविष्टयोरिव, इदमीययोरस्याः सम्बन्धिनोः । इदंशब्दात्त्यदादेः 'वृद्धाच्छः' । सम्मुखं पुरोदेशः वास्तु स्थानं यस्य तस्मिन्नपि पुरोवर्तिन्यपि वस्तुनि, ग्रह साक्षात्करणसामर्थ्यं नाभूत् । नलध्यासंङ्गान्न किञ्चिदन्यदद्राक्षीदित्यर्थः । सङ्गनिमित्तस्य बाह्यादर्शनस्य चक्षुषोरन्तःप्रवेशननिमित्तत्वमुत्प्रेक्ष्यते । सञ्चारी भावः ॥ १२ ॥

मनमें स्थित प्रिय नलको देखनेके लिये मानों भीतरको घुसी (चिन्तासे भीतर

---

१. 'व्यथाम्' इति पाठान्तरम् ।

ी) हुई दमयन्तीकी आँखोंको सामने पड़ी हुई वस्तुओंको भी देखनेका सामर्थ्य नहीं ा। [चिन्ताके कारण दमयन्तीकी आँखें भीतर धंस गई थीं तथा वे सामने भी पड़ी हुई तुओंको नहीं देख सकती थीं] ॥ १२ ॥

हृदि दमस्वसुरश्रुझरप्लुते प्रतिफलद्विरहात्तमुखानतेः ।
हृदयभाजमराजत चुम्बितुं नलमुपेत्य किलागमितं मुखम्[1] ॥ १३ ॥

हृदीति । विरहेणात्ता प्राप्ता मुखानतिर्यया सा तस्या नम्रमुखायाः दमस्वसुः खम् । अश्रुझरेणाश्रुप्रवाहेण, प्लुते सिक्ते, हृदि हृदये, प्रतिफलत् प्रतिबिम्बितं सत्, दयभाजं हृदि स्थितं, नलं चुम्बितुमुपेत्य गत्वा, आगमितं सञ्जातागमनं किल, त्यागतमित्युत्प्रेक्षा । तारकादित्वादितच् । किलेति सम्भावनायाम् । 'वार्तासम्भायोः किल' इत्यमरः । अराजत रराज । सम्भावनायामुत्प्रेक्षा ॥ १३ ॥

(नल-) विरहसे नीचेकी ओर मुख की हुई दमयन्तीको आँसुओंके प्रवाह (अश्रुधारा) भींगे हुए हृदयमें (छातीपर पड़ी हुई आँसुओंकी बूंदोंमें) प्रतिबिम्बित उस दमयन्तीका मुख, मानो हृदयस्थित नलको चुम्बन करनेके लिये पास गये हुएके समान शोभामान होता था । [चिन्तासे नीचेकी ओर मुख किये दमयन्ती रो रही थी, अश्रु-प्रवाह-जन्य बूंदें छाती पर पड़ी हुई थीं, उनमें उसका मुख प्रतिबिम्बित हो रहा था, उसे देखनेसे मालूम होता था कि हृदयमें रहनेवाले प्रियतम नलके पास जाकर दमयन्तीका मुख चुम्बन कर रहा हैं]॥

सुहृदमग्निमुदञ्चयितुं स्मरं मनसि गन्धवहेन मृगीदृशः ।
अकलि निःश्वसितेन विनिर्गमानुमितनिह्नुतवेशनमायिता ॥ १४ ॥

सुहृदमिति । गन्धवहेन बाह्यवायुना, सुहृदं सखायम् । रोहिताश्वो वायुसखः' इत्यग्नेर्वायुसखत्वाभिधानात् । मृगीदृशः भैम्याः, मनसि, स्मरमेवाग्निमुदञ्चयितुमुद्दीपयितुं, निःश्वसितेन निःश्वासवातव्याजेन, विनिर्गमेण बहिर्निस्सारणेन, अनुमितं निह्नुतं, प्रागज्ञातं, यद्वेशनमन्तःप्रवेशस्तत्र मायिता मायावित्वम् । तत्कल्पनापाटवं व्रीह्यादित्वादिनिः । अकलि कलितं प्राप्तम् , नूनमिति शेषः । अग्निदो हि गूढं प्रविश्य प्रकाशं निर्गच्छति, तद्वद्वायुरपि तादृङ्निःश्वासव्याजेन तथा कृत्वा निर्गत इत्युत्प्रेक्षा ॥ १४ ॥

मृगनयनी दमयन्तीके निःश्वासरूपी मलय-वायुने दमयन्तीके हृदयमें रहनेवाले (या कैद) मित्रभूत कामाग्निको उत्तेजित करने (या बाहर निकालने) के लिये बाहर निकलने पर अनुमान किये गये गुप्तरूपसे भीतर प्रवेशरूप मायाको धारण किया । ['अग्निका वायु मित्र है' यह सर्वविदित है, अतः मित्र होनेके कारण दमयन्तीके हृदयरूप जेलमें कैद कामाग्निको छुड़ानेके लिये या उसको उत्तेजित करनेके लिये दमयन्तीका सुगन्धित निःश्वासरूप वायु चुपचाप उसके हृदयमें भीतर प्रवेशकर जब बाहर निकलने लगा तब उसका गुप्त

---

[1] 'किलागमि तन्मुखम्' इति पाठान्तरम् ।

रूपसे प्रवेश करनेका कपटाचरण लोगोंको मालूम पड़ा। अथवा परमसुगन्धित
कामदेवका मित्र है, अतः सर्वदा विरहियोंके कामको वह उत्तेजित करता (
दमयन्तीका सुगन्धित निःश्वास मलयवायुके समान कल्पित किया गया है।
कोई जेल या हवालात आदिमें वन्द मित्रको छुड़ानेके लिये अवसर पाकर चुप
पास पहुँचकर उसे छुड़ानेकी चेष्टा करता है और जब बाहर निकलते हुए उसे
लेता है तो उसके गुप्तरूपसे भीतर प्रवेश करनेके मायाचारको जान जाता है।
निःश्वासके साथ ही उसका कामसन्ताप भी बढ़ गया]॥ १४ ॥

विरहपाण्डिमरागतमोमषीशितिमतन्निजपीतिमवर्णकैः ।
दश दिशः खलु तद्दृगकल्पयल्लिपिकरी नलरूपकचित्रिताः॥

विरहेति । तस्या दमयन्त्याः, दृग्दृष्टिरेव, लिपिकरी चित्रकरी, विरहेण
शरीरश्वैत्यं, रागोऽनुरागः, स एव रागो रक्तिमा। श्लिष्टरूपकम्। तमो मोहस्त
तस्याः शितिमा नीलिमा। तस्या भैम्याः, निजो नैसर्गिकः पीतिमा कनकवर्ण
द्वन्द्वः, तैरेव वर्णकैः चित्रसाधनैः, दश दिशस्ता एव भित्तीरिति शेषः। नलस्व
प्रतिकृतिभिः, चित्रिताः सञ्जातचित्राः, तारकादित्वादितच्। अकल्पयदसृ
निरन्तरचिन्ताजनितया भ्रान्त्या प्रतिदिशं मिथ्यानलानद्राक्षीदित्यर्थः॥ १५॥

दमयन्तीकी दृष्टिरूपिणी चित्रकारिणी (चितेरी—चित्र बनानेवाली) ने (उस
में) विरहसे उत्पन्न पाण्डुरता, राग (लाल रङ्ग, पक्षान्तरमें—अनुराग), मूर्च्छा
की कालिमा (कालारंग) और सर्वप्रसिद्ध (स्व-देह-सौन्दर्यरूप) पीलापन (
इन रङ्गोंसे दशो दिशाओंको (सब ओर) नलके चित्रोंसे चित्रित कर दिया। [
चितेरी भी श्वेत, लाल, काले और पीले रङ्गोंसे सब ओर चित्र बना देती है॥
अनुरागके कारण विरहसे दमयन्तीके शरीरमें पाण्डुता, मूर्च्छा आदि विकार
और उसे सब ओर नल ही दिखलाई पड़ने लगे]॥ १५ ॥

स्मरकृतिं हृदयस्य मुहुर्दशां बहु वदन्निव निःश्वसितानिलः।
व्यधित वाससि कम्पमदः श्रिते त्रसति कः सति नाश्रयबाधने॥

स्मरकृतिमिति। निःश्वसितानिलः, स्मरकृतिं मदनकर्तृकसृष्टिरूपां, हृदय
ण्डस्य, दशामवस्थां, बहु बहुवारं (क्रियाविशेषणम्), वदन्निव एवं
कथयन्निवेत्युत्प्रेक्षा। अदो हृदयं, श्रिते वाससि, कम्पश्चलनं, तत्कारणं त्रास
व्यधित विहितवान्। दधातेर्लुङि तङ्। 'स्थाघ्वोरिच्च' इतीकारः। 'ह्रस्वादङ्गात्
सिचो लोपः। तथा हि—आश्रयबाधने सति, को नाम न त्रसति। सर्वोऽपि
स्यर्थः। तद्बाधे तदाश्रितस्य स्वस्यापि बाधादिति भावः। अर्थान्तरन्यासोऽ

(दमयन्तीकी) निःश्वासवायु उसके हृदयकी कामजन्य दशा (पीडा, अव
बारबार अधिक कहती हुईके समान (दमयन्तीके) हृदयपर स्थित वस्त्रको कम्पायमा

। ठीक है—आश्रय को पीडा होनेपर कौन नहीं डर जाता अर्थात् सभी डर जाते हैं ।
रहावस्थासे उत्पन्न निःश्वासाधिक्यके कारण हृदयस्थित वस्त्र अधिक कम्पित होने लगा,
यके कम्पित होनेपर उसपर स्थित वस्त्र भी कम्पित होने लगा। एवं जो कोई व्यक्ति
ोकी अवस्थाको कहने लगता है, तब उसके ओष्ठ आदि अंग कम्पित होने ही लगते हैं॥
यन्तीका निःश्वास तथा हृदय-कम्पन विरहके कारण बहुत बढ़ गया]॥ १६ ॥

करपदाननलोचननामभिः शतदलैः सुतनोर्विरहज्वरे ।
रविमहो बहुपीतचरं चिरादनिशतापमिषादुदसृज्यत् ॥ १७ ॥

करोति । करौ पदे आननं लोचने इति नामानि येषां तैः, तदाकारपरिणामात्त-
धारिभिः, शतदलैः कुशेशयैः (कर्तृभिः), चिरात् चिरात्प्रभृति, पीतचरं रसव-
त् पूर्वपीतं, भूतपूर्वे चरट्प्रत्ययः। बहु भूरि, रविमहः सूर्यतेजः, सुतनो, दमयन्त्याः,
रहज्वरे ज्वरावस्थायां, अनिशतापमिषान्निरन्तरोष्मव्याजात्, उदसृज्यत उत्सृष्टम्।
मिति शेषः। अत्र पद्मानां भैमीकरचरणादिभ्यो नाममात्रभेदः। न रूपभेद इत्यभे-
क्तेरतिशयोक्तिः । तन्मूला चेयं पूर्वपीततेजोवमनोत्प्रेक्षा। सा च तापव्याजादित्य-
वानुप्राणितेति सङ्करः ॥ १७ ॥

सुन्दर अङ्गोंवाली दमयन्तीके (नल-) विरहजन्य ज्वर (सन्ताप) में हाथ, पैर, मुख
ा नेत्ररूप कमल मानो पहले अधिक मात्रामें पीये हुए सूर्य-सन्तापको बहुत समयके बाद
रन्तर सन्ताप (विरहजन्य सतत ज्वर) के बहानेसे छोड़ने (वमन करने) लगे । [सर्वा-
सुन्दरी दमयन्तीके हाथ, पैर, मुख तथा नेत्र कमलके समान या कमलरूप ही हैं, कमलों
निरन्तर सूर्य-सन्तापसे विकसित होना स्वभाव-सिद्ध है, अतः सूर्यतापको दमयन्तीके
थ-पैर आदि कमलोंके द्वारा पहले पीनेकी तथा अधिकताके कारण बादमें विरहजन्य ज्वर
व्याजसे वमन (उल्टी) करनेकी कल्पना की गयी है । अन्य भी कोई व्यक्ति यदि किसी
तुको अधिक प्रमाणमें पीता है, तो उसे बादमें वमन कर देता है ॥ विरहज्वरसे दययन्ती
कमलतुल्य हाथ-पैर आदि अङ्ग अधिक सन्तप्त होने लगे]॥ १७ ॥

उदयति स्म तदद्भुतमालिभिर्धरणिभृद्भुवि तत्र विमृश्य यत् ।
अनुमितोऽपि च बाष्पनिरीक्षणाद्व्यभिचचार न तापकरो नलः ॥१८॥

उदयतीति। आलिभिः सखीभिः, तत्र तस्यां, धरणिभृतो भीमभूपाद्भवतीति तद्भूः
भैमी तस्यां पर्वतभूमौ च विमृश्य व्याप्तिमनुसन्धाय, बाष्पनिरीक्षणादश्रुलिङ्गदर्श-
नात्। अन्यत्र, धूमदर्शनात्। 'बाष्पोऽश्रुण्यम्बुधूमे च' इति वैजयन्ती। अनुमितः
अभ्यूहितः, अन्यत्र लिङ्गभासावधारितोऽपि तापकरः सन्तापजनकः, नलो नैषधः,
अन्यत्र अनलोऽग्निः, न व्यभिचचार नान्यथा बभूवेति यत्, तदद्भुतमुदयति स्म
उत्पन्नमित्यर्थः। 'अय गतौ' इति धातोर्भूते लट्। नलचिन्ताजन्योऽयं सन्ताप इत्य-
श्रुदर्शनात्सखीभिरूहितमहो इति परमार्थः। अत्रबाष्पलिङ्गदर्शनादनलज्ञानम्।

तच्चाव्यभिचारीति स्फुरतो विरोधस्याश्रुलिङ्गात्सन्तापकरो नलो निश्चित इ
करणाद्विरोधाभासः। स च श्लेषानुप्राणितः। सन्तापकरो नल इति श
अन्यत्रार्थश्लेषः। अपिर्विरोधे ॥ १८ ॥

सखियोंके द्वारा उस राजकुमारी (पक्षान्तरमें—पर्वतभूमि) में वाष्प (आं
न्तरमें—भाप)को देखनेसे विचारकर किया गया सन्तापकारक नल (पक्षान्तरमें
= अग्नि) का अनुमान जो व्यभिचरित नहीं हुआ (ठीक निकला) यह
[जैसे पर्वतकी भूमिमें भाप देखकर किया गया अग्नि-विषयक अनुमान आश्चर्यजन
है, वैसे ही वाष्प देखनेसे अनुमित सन्तापकारकत्व आश्चर्यजनक है। दमयन्ती
देखकर उसकी सखियोंने जो 'नल-विरहके कारण यह रो रही है' अनुमान कि
आश्चर्य है। पहले पाण्डुता आदिसे और बादमें रोनेसे बिना बतलाये ही सखियों
विरहजन्य सन्तापका अनुमान करना आश्चर्यजनक है]॥ १८ ॥

हृदि विदर्भभुवं प्रहरन् शरै रतिपतिर्निषधाधिपतेः कृते।
कृततदन्तरगस्वदृढव्यथः फलदनीतिरमूर्च्छदलं खलु ॥ १९

हृदीति। निषधाधिपतेः कृते नलस्यार्थं, तत्प्रहारार्थमित्यर्थः। 'अर्थे कृते
द्वौ तादर्थ्येऽव्ययसंज्ञितौ' इति वचनात्। विदर्भभुवं दमयन्तीं, शरैर्हृदि
नलस्य सदा तद्गतत्वादिति भावः। रतिपतिः कामः, कृता तदन्तरगस्य
तस्य स्वस्य दृढव्यथा येन सः, स्वयमपि तद्गतत्वात् प्रहृतः सन्नित्यर्थः। फल
तिर्दुर्नीतिर्यस्य सोऽलमत्यन्तममूर्च्छदवर्धत खलु। अमुह्यदिति च गम्यते।
मोहसमुच्छ्राययोः' इत्यनुशासनात्, तदभेदेन मूर्च्छालक्षणकार्यदर्शनाद्रतिप
स्यापि प्रहार उत्प्रेक्ष्यते व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या। सा च श्लेषमूलातिशयोक्त्यु
ति सङ्करः। परप्रहारोद्यतस्य स्वप्रहाररूपानर्थोत्पत्तेर्विषमभेदश्च व्यज्यते ॥

निषधराज नलको लक्ष्यकर दमयन्तीके हृदयमें बाणोंसे प्रहारकर दमयन्ती
अपनेको ही अधिक व्यथित करनेसे दुर्नीतिका फल पानेवाला कामदेव अत्यन्त मू
गया (पक्षा० में—बढ़ गया)। [कामदेवको नलने अपनी शरीरशोभासे जीत
अतः वह कामदेवका शत्रु बन गया। दमयन्तीके हृदयमें स्थित नलको लक्ष्यकर द
हृदयमें बाणोंसे प्रहार करनेवाला कामदेव वहां स्वयं भी स्थित होनेके कारण स्वयं
घायल होकर मूर्च्छित हो गया, यह उसने अपनी दुर्नीतिका फल पाया। नलको मारने
दमयन्तीके हृदयमें प्रहार करना भारी दुर्नीति है, क्योंकि शत्रुको छोड़कर दूसरे
करना अनुचित है, अत एव इस दुर्नीतिका फल कामदेवको स्वयं भोगना पड़ा।
योद्धा किसी दुर्ग आदि गुप्त स्थानमें छिपे हुए शत्रुपर वहां जाकर आत्मरक्षाके
प्रहार करता है, किन्तु कामदेव वैसा न कर सकनेके कारण (आत्मरक्षा
दुर्नीतिका स्वयं शिकार बन गया ॥ दमयन्तीकी कामजन्य पीडा बढ़ गई।

ाश्रयदाता भी शत्रु हो जाता है, अतः नलको हृदय में आश्रय देनेवाली दमयन्ती भी ामदेवका शत्रु बन गयी । इस कारण दमयन्तीके हृदयमें प्रहार करने से उस कामदेवकी ाति सफल हो गयी । और वह वहां स्वयं वृद्धिको (विजय) को प्राप्त किया । यह वास्तविक फलितार्थ धातुके दूसरे अर्थमें होता है]॥ १९ ॥

विधुरमानि तया यदि भानुमान् कथमहो स तु तद्धृदयं तथा ।
अपि वियोगभरास्फुटनस्फुटीकृतदृषत्त्वमजिज्वलदंशुभिः ॥२०॥

विधुरिति । तया दमयन्त्या, विधुश्चन्द्रः, भानुमान् सूर्यः, अमानि मेने यदि, रहिणस्तन्न चित्रम् । किन्तु, सः सूर्यत्वाभिमतो विधुः, वियोग एव भरो भारस्तोपि यदस्फुटनमविशरणं, तेन स्फुटीकृतं दृषत्त्वं सूर्योपलत्वं यस्य तत् । अन्यथातभाराल्लोष्टादिवद्विशीर्येतेति भावः । तद्धृदयमपि भैमीहृदयरूपं सूर्यकान्तमित्यर्थः । कथं तथा सूर्यवत् अंशुभिः स्वतेजोभिः, अजिज्वलत् ज्वलयति स्म । ज्वतेर्णौ चङ् । अहो विधुर्विरहिणामुद्दीपकत्वात् सूर्यवत्तपतु नाम । तद्वदर्कोपलज्वलयतृत्वं तु चित्रमित्यर्थः ॥ २० ॥

यदि (विरहावस्थामें चन्द्रमाको देखकर सन्ताप बढ़नेके कारण) दमयन्तीने चन्द्रमाको र्य मान लिया है, किन्तु वह (सूर्य माना गया वास्तविक चन्द्रमा) वियोगकी अधिकता पक्षान्तरमें—अधिक बोझ) से नहीं विदीर्ण होने (पक्षान्तरमें—फूटने) के कारण अपनेको त्थर अर्थात् सूर्यकान्त मणि स्फुट (प्रमाणित) करनेवाले दमयन्ती-हृदयको उस प्रकार अत्यधिक प्रमाणमें) क्यों सन्तप्त कर रहा था ? । (चन्द्रमा विरहि-विरहिणियोंका सन्तापारक होनेसे विरहिणी दमयन्तीके लिये भी सन्ताप-कारक हो रहा था, इसी कारण वह न्द्रमाको सूर्य मानती थी; किन्तु वह अवास्तविक सूर्य (वास्तविक रूपमें चन्द्रमा) विरहारसे भी अविदीर्ण (अन्यथा यदि पत्थर नहीं होता तो दबावसे फूटकर चूर्ण हो जाता और ामान्य-जातीय पत्थर होनेपर भी अधिक सन्तप्त नहीं होता फिर) दमयन्ती-हृदयरूप सूर्यान्त मणिको क्यों सन्तप्त कर रहा था ? यह आश्चर्य है । जो सूर्य नहीं, अपितु चन्द्रमा है, वह सूर्य माननेमात्रसे सूर्यकान्त मणिको कदापि सन्तप्त नहीं कर सकता, अतः वह वस्तुतः चन्द्रमा नहीं, किन्तु सूर्य ही है ॥ विरहिणी दमयन्तीके हृदयको चन्द्रमा अत्यधिक सन्ताप दे रहा था]॥ २० ॥

हृदयदत्तसरोरुहया तया क्व सदृगस्तु वियोगनिमग्नया ।
प्रियधनुः परिरभ्य हृदा रतिः किमनुमर्तुमशेत चितार्चिषि ॥ २१ ॥

हृदयेति । वियोगनिमग्नया विरहाग्निमग्नया, अत एव हृदयदत्तसरोरुहया सन्तापशान्तये वक्षोनिक्षिप्तपद्मया, तया समाना दृश्यत इति सदृक् सदृशी स्त्री, समानान्ययोश्च' इत्युपसङ्ख्यानात्समानोपपदाद्दृशेः क्विन्प्रत्ययः । 'दृग्दृशवतुषु' इति समानशब्दस्य सभावः । क्वास्तु न क्वापीत्यर्थः । यद्वा रतिः कामपत्नी, हृदा वक्षसा,

प्रियस्य स्वभर्तुः, धनुःपौष्पमित्यर्थः। परिभ्य, अनुमर्तुम् अनुगमनं कर्तुं,
अशेत शयिता किम् । प्रियमनुमर्तुं चितार्चिषि शयाना साक्षाद्रतिरेवेयमित्यु
तज्ज्वराग्निस्तथा प्रज्वलतीति भावः ॥ २१ ॥

विरहमें निमग्न (अत एव तज्जन्य सन्तापकी शान्तिके लिये) हृदयपर
हुई उस दमयन्तीके समान कहांपर (किस संसार में) कोई स्त्री है ?।
(काम-) धनुषको हृदयसे आलिङ्गन (हृदयपर रख) कर रति प्रियतम (
के पीछे मरनेके लिये चितागिनपर सोई थी क्या ? अथवा-……सोई है क्या ? [
की स्वस्थावस्थामें कहींपर कोई भी स्त्री उसके समान सुन्दरी नहीं ही थी, किन्तु
क्षीणकान्ति होकर शय्यापर पड़े रहनेकी अवस्थामें भी उसके समान कोई स्त्री नहीं थी,
ही नहीं, अपि तु सर्वसुन्दरी रति भी उस दमयन्तीकी समता उस क्षीणाव
नहीं कर सकी; क्योंकि दमयन्ती तो जीवित भी प्रिय (नल) के विरह
विरहरूप चितागिनपर सोकर मरनेके लिये तैयार हो गई थी, किन्तु प्रिय कामदेवके
वशेष हो जानेपर भी रति उसके कमल=पुष्परूप धनुषको हृदयसे आलिङ्गनकर
पीछे मरने (सती होने) के लिये चितागिनपर नहीं सोई थी अतएव रति भी
समानता नहीं कर सकी । अथवा—विरह—सन्तापकी शान्तिके लिये हृदयपर
रखकर सोई हुई दमयन्तीको देखकर सखीजन आदिको शङ्का हो जाती थी कि-
कामके विरह से उसका कमल-पुष्परूप धनुप हृदयपर रखकर सती होनेके लिये
चितागिनपर सोई है क्या ?' ॥ दमयन्ती विरहजन्य तापकी शान्तिके लिये शीतल
पुष्पको हृदयपर रखकर लेटी हुई थी ॥ २१ ॥

अनलभावमियं स्वनिवासिनीं न विरहस्य रहस्यमबुद्ध्यत ।
प्रशमनाय विधाय तृणान्यसून् ज्वलति तत्र यदुज्झितुमैहत ॥

अनलभावमिति । इयं दमयन्ती, स्वनिवासिनः स्वनिष्ठस्य, विरहस्य
गस्य, रहस्यं शमीवह्निवन्निगूढम्, अनलभावमग्नित्वं, नलरहितत्वञ्चगम्यते।
ध्यत नाजानादित्यर्थः । कुतः, यद्यस्मात्, तत्र तस्मिन्विरहे, ज्वलति सति,
नाय प्रज्वलनप्रतीकारार्थम्, असून् प्राणान्, तृणानि विधाय तृणप्रायान्
स्मकानिति गम्यते । उज्झितुं त्यक्तुं प्रक्षिप्तुञ्च । ऐहत एच्छत् । अग्नित्वज्ञा
तच्छान्तये तत्र तृणप्रक्षेप इत्यर्थः । विरहदुःखान्मर्तुमैच्छदिति तात्पर्यार्थः ॥

उस दमयन्तीने अपनेमें स्थित विरहको अनलभाव (अग्नित्वरूप, पक्षान्तर
अप्राप्तिरूप) रहस्यको नहीं समझा, क्योंकि उस अग्निके जलते रहनेपर (पक्षा
विरहके बढ़ते रहनेपर) उसकी शान्तिके लिये उसमें प्राणोंको तृण बनाकर छोड़ना
अथवा—उस दमयन्तीने अपनेमें स्थित विरह—नलका दुर्लभत्वरूप रहस्यको नहीं
अर्थात् अवश्य समझा; क्योंकि (उस नलकी दुर्लभताको समझकर ही अन्य उपाय

उस विरहकी शान्तिके लिये अपने प्राणोंको तृणोंके समान मानकर छोड़ना चाहा (जीनेकी अपेक्षा मरना ही अच्छा समझा । अथवा—अपने पासमें रहनेवालेके रहस्यको मनुष्य अवश्य समझता है, अत एव दमयन्तीने भी नलाभावरूपी विरह-रहस्यको समझकर अपने प्राणोंको तृण (तुच्छतम) मानकर प्रशमन (प्र + शमन = उद्दण्ड + यमराज अर्थात् क्रूर यमराज) के लिये देना चाहा । [प्रथम पक्षमें—यदि दमयन्ती अपनेमें निवास करनेवाले विरहके अग्नित्वरूप रहस्यको समझती तो उसकी शान्तिके लिये प्राणोंको तृण बनाकर नहीं छोड़ती, क्योंकि कोई भी समझदार व्यक्ति अग्निकी शांतिके लिये उसके जलते रहनेपर उसमें तृण नहीं छोड़ता ॥ दमयन्ती नलको दुर्लभ समझकर मृतप्राय हो गयी] ॥ २२ ॥

प्रकृतिरेतु गुणस्य न योषितां कथमिमां हृदयं मृदु नाम यत् ।
तदिषुभिः कुसुमैरपि धुन्वता सुविवृतं विबुधेन मनोभुवा ।।२३।।

प्रकृतिरिति । योषितां हृदयं मृदु नामेति यत् । नामेति प्रसिद्धौ । स इति विधेयप्राधान्यात् पुंल्लिङ्गता । प्रकृतिः प्रकृतिसिद्धः, गुणो मार्दवगुणः, इमां दमयन्तीं, कथं नैतु प्राप्नोत्वेवेत्यर्थः । कुतः ? तन्मृदुत्वं कुसुमैरपि इषुभिः, धुन्वता विबुधेन देवेन विदुषा च मनोभुवा, सुविवृतं सम्यग्व्याख्यातम् , विद्वदधिकारत्वात्सन्दिग्धार्थनिर्णयस्येत्यर्थः । कुसुमादपि सुकुमारमस्या हृदयमित्यर्थः ॥ २३ ॥

'क्यों स्त्रियोंका हृदय कोमल होता है' यह प्रसिद्ध है । यह (स्त्रियोंका) स्वाभाविक गुण दमयन्तीरूप स्त्रीको भी क्यों न प्राप्त हो अर्थात् प्राप्त ही है । इस बातको पुष्पबाणोंसे भी कम्पायमान ('दुन्वता' पाठभेदमें-पीडित) करते हुए देवता (पक्षान्तरमें-विशिष्ट विद्वान्) कामदेवने अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया । [सर्वज्ञ देवता या विशिष्ट विद्वान् ही किसी बातको सुस्पष्ट कर सकता है, वैसे कामदेवने भी अतिसुकुमार पुष्प-बाणोंसे दमयन्ती-हृदयको कम्पित या पीडितकर उक्त बातको सुस्पष्ट कर दिया, अन्यथा यदि दमयन्तीका हृदय फूलोंसे भी अधिक कोमल नहीं होता तो वह फूलोंके बाणोंसे कम्पित या पीडित कदापि नहीं होता] ॥२३॥

रिपुतरा भवनादविनिर्यतीं विधुरुचिर्गृहजालबिलैर्नु ताम् ।
इतरथात्मनिवारणशङ्कया ज्वलयितुं बिसवेषधराविशत् ।। २४ ।।

रिपुतरेति । रिपुतराऽतिद्वेषिणी, विधुरुचिश्चन्द्रप्रभा, भवनादविनिर्यतीमनिर्गच्छन्तीं, इणश्शतरि ङीप् । तां भैमीं ज्वलयितुं सन्तापयितुं, इतरथा निजरूपेण प्रवेशे आत्मनिवारणशङ्कया स्वप्रवेशप्रतिषेधभिया, विसवेषस्य धरा सती, गृहस्य जालबिलैर्गवाक्षरन्ध्रैः, अविशन्नु प्रविष्टा किम् । शिशिरोपचारविसाङ्कुरा निरन्तरान्तःस्थितभैमीबाधनाय प्रच्छन्नप्रविष्टेन्दुकरा इव प्रविभान्ति स्मेत्युत्प्रेक्षा ॥२४॥

(विरहके कारण दमयन्तीको अतिशय पीडित करनेसे) प्रवल शत्रुभूत चाँदनी, घरसे (वाहर) नहीं निकलती हुई दमन्तीको सन्ताप देनेके लिये अन्यथा (अपने वास्तविक रूपमें घरके मुख्य द्वारसे प्रवेश करनेपर) अपने निवारण (रुकने) की शङ्कासे (दमयन्ती-

सन्ताप–शान्तिके लिये उसकी सखियों द्वारा लाये गये) कमल–नालका रूप धार खिड़कियोंके विलोंसे प्रवेश किया क्या ? । [अन्य भी कोई प्रबल शत्रु अपने प्र मारनेके लिये अपने वास्तविक वेपको धारणकर द्वारमार्गसे आनेके समय अपनी आशङ्काकर अपना वेप बदलकर खिड़की आदिके मार्गसे घरमें घुसकर भयसे घ नहीं निकलनेवाले प्रतिपक्षीपर प्रहार करता है । खिड़कियोंके बिलोंसे घरमें प्रवे हुई चाँदनी हृद्गत कमल–नालके समान मालूम पड़ती थी, और उसे देखकर वि क्षीणतासे घरसे बाहर नहीं निकल सकनेवाली दमयन्तीको पीडा होती थी ॥ २४

हृदि विदर्भभुवोऽश्रुभृति स्फुटं विनमदास्यतया प्रतिबिम्बितम्
मुखदृगोष्ठमरोपि मनोभुवा तदुपमाकुसुमान्यखिलाः शराः

हृदीति । विदर्भभुवो वैदर्भ्याः, विनमदास्यतया नम्राननत्वेन (हेतुना), विभर्तीत्यश्रुभृत्, क्विप् । तस्मिन्नश्रुसिक्त इत्यर्थः । हृदि वक्षसि, वैमल्या यथा तथा प्रतिबिम्बितं, मुखं च दृशौ च ओष्ठश्च मुखदृगोष्ठम् । प्राण्यङ्गत्वा द्भावः । मनोभुवा कामेन, तस्य मुखादेः उपमाकुसुमानि पद्मम् उत्पले बन्ध पञ्चधा स्थितान्युपमानपुष्पाणि तान्येव अखिलाः पञ्चापि शराः सदरोपि रो तस्यास्तथाविधे वक्षसि प्रतिफलितं मुखाद्यवयवपञ्चकं पञ्चशरनिखातम्, मानकुसुमशरपञ्चकमिवालक्ष्यतेत्युत्प्रेक्षार्थः ॥ २५ ॥

अश्रुयुक्त दमयन्तीके हृदयमें (छातीपर) उस दमयन्तीके मुखके नम्र होने विम्बित उसका मुख, दोनों नेत्र तथा दोनों ओष्ठ (१ + २ + २=५) रूप उनके उप सब (पांचों) पुष्प–वाणोंको मानो कामदेवने सचमुच ही गड़ा दिया था । [पुष्पमय पाँच वाण हैं, दमयन्तीके आंसूसे भींगे हुए हृदयपर प्रतिबिम्बित उसका मुख, नील–कमल–तुल्य दोनों नेत्र, तथा दुपहरियाके फूलके समान दोनों ओ प्रकारमुख नेत्र तथा ओष्ठके उपमानभूत पांचों पुष्पमय वाण कामदेवके द्वारा दमयन्तीके अश्रुयुक्त हृदयमें गड़ाये गये मालूम पड़ते थे ॥ दमयन्ती विरहमें रोती तथा मुखको नीचे किये रहती थी] ॥ २५ ॥

विरहपाण्डुकपोलतले विधुर्व्यधित भीमभुवः प्रतिबिम्बितः ।
अनुपलक्ष्यसितांशुतया मुखं निजसखं सुखमङ्कमृगार्पणात् ॥

विरहेति । विधुः, भीमभुवः भैम्याः, विरहेण पाण्डुनि कपोलतले गण्ड प्रतिबिम्बितः सन्, अनुपलक्ष्यसितांशुतया सावर्ण्यात् दुर्लक्ष्यशुभ्रकिर सुखमनायासेन, अङ्कमृगार्पणादसितकलङ्कमृगसमर्पणात्, मुखं भैमीमुखं नि स्वसदृशं, व्यधित विहितवान् । दोपिणो हि स्वदोषं निर्दोषेऽपि स्वसं सङ्क्रमय्य समीकुर्वन्तीति भावः । केचित्किञ्चिद्दानेनामित्रं मित्रं कुर्वन्तीति वर्णयन्ति । अत्र चन्द्रस्य कपोलसावर्ण्येन तदेकत्वकथनात् सामान्याल 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् ॥ २६ ॥

विरहसे पाण्डुवर्णवाले दमयन्तीके कपोलमें प्रतिविम्बित चन्द्रमा (विरहजन्य)दमयन्ती-की श्वेततामें अपनी श्वेत किरणों (या श्वेत भाग) को नहीं मालूम पड़नेसे अपने ङ्करूप मृग-चिह्नको समर्पणकर उस दमयन्तीके मुखको मित्र बना लिया। [पहले यन्तीका मुख गौरवर्ण था तथा उसमें श्वेतवर्ण चन्द्रमा प्रतिविम्बित होता था तो स्पष्ट लूम पड़ जाता था, अर्थात् दमयन्तीकी स्वप्नावस्थामें उसका मुख चन्द्रमासे भी अधिक दर था; किन्तु इस समय विरहावस्थामें मुख पाण्डुवर्ण होगया है और उसमें प्रतिविम्बित ण्डुवर्ण चन्द्रमा समानवर्ण होनेसे पृथक् मालूम नहीं पड़ता, केवल उसका कलङ्कभूत मृग-ह्न मालूम पड़ता है। अन्य भी कोई चतुर व्यक्ति अपने विजेताको कोई उपहार (भेंट) कर उसको अपना मित्र बना लेता है, यहांपर चन्द्रमा अपना मृगचिह्नरूप कलङ्क मयन्तीके मुखको देकर उसको अपना मित्र बना लिया अर्थात् उसके मुखके समान हो या। अथवा-अन्य कोई व्यक्ति अपने दोषको दूसरेमें भी लगाकर उसे अपने समान दोष-क्त बना लेता है, वैसे चन्द्रमाने भी विरह-पाण्डु दमयन्ती मुखको कलङ्क=श्याम बनाकर अपने समान बना लिया॥ विरहावस्थासे दमयन्तीका मुख भी पाण्डुवर्ण हो गया था]॥

विरहतापिनि चन्दनपांसुभिर्वपुषि सार्पितपाण्डिममण्डना।
विषधराभबिसाभरणा दधे रतिपतिं प्रति शम्भुविभीषिकाम्॥२७॥

विरहेति। सा दमयन्ती, विरहतापिनि वपुषि, चन्दनपांसुभिः, भस्मधवलैरिति ावः, अर्पितः सम्पादितः, पाण्डिमैव मण्डनं यस्याः सा, विषधराभं शेषाहिकल्पं, बिसमेवाभरणं यस्याः सा सती, रतिपतिं स्मरं, प्रति शम्भुरेवेयमिति विभीषिकां शेषेण भयोत्पादनं, भीषयतेर्धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्। 'सुप्सुपा' इति समासः। न तु म्भोर्विभीषिकेति कर्तरि षष्ठीसमासः 'तृजकाभ्यां कर्तरि' इति निषेधात्। दधे धार, नूनमिति शेषः। गम्योत्प्रेक्षा॥ २७॥

विरहसे सन्तप्त रहनेवाले शरीरमें चन्दन-रेणुओंसे श्वेत भूषणको ग्रहण करनेवाली था सर्पके समान मृणाल-नालरूप भूषणको धारण करनेवाली दमयन्तीने कामदेवके लिए ङ्करजीकी विभीषिका (भयङ्करता-प्रदर्शक भाव) को धारण किया। [विरहसे सन्ताप-ान्ति के लिये शरीरपर लिप्त चन्दनद्रव सूखकर धूल हो गया था, वही शङ्करजीके भस्मके स्थानमें था, तथा विरहताप-शान्तिके लिये हृदयादिपर स्थापित कमल-नाल (श्वेति-मा तथा दीर्घताके कारण) शङ्करके भूषणभूत सर्प हो रहे थे, उनको धारणकर दमयन्तीने मैं शङ्कर हूँ' यह कामदेवके प्रति प्रमाणितकर उसे डराना चाहा, जिसमें शङ्कर समझकर कामदेव मुझसे डरकर पीडा देना छोड़ दे। शङ्करजीने अपने तृतीय नेत्रकी अग्निसे कामदेवको भस्मावशेषकर डाला था, अतः दमयन्तीने कामदेवको डरानेकेलिये उक्त प्रकारसे शङ्करका रूप धारण किया। अन्य भी कोई व्यक्ति अपने शत्रुको डरानेके लिये उससे भी प्रबल शत्रुका रूप धारणकर उसे डराना चाहता है॥ विरह-सन्तापाधिक्यसे दमयन्तीके हृदयादिपर लिप्त चन्दन-

द्रव सूखकर चूर्ण (धूलि) हो जाता था तथा मृणाल भी मुरझाकर सांपके समा (टेढ़े-मेढ़े) हो जाते थे ॥ २७ ॥

विनिहितं परितापिनि चन्दनं हृदि तया भृतबुद्बुदमाबभौ।
उपनमन् सुहृदं हृदयेशयं विधुरिवाङ्कगतोडुपरिग्रहः ॥

विनिहितमिति । तया भैम्या, परितापिनि हृदये वक्षसि, विनिहितं भृ अतिक्राथकृपीटकं, चन्दनं सुहृदं सखायं, हृदयेशेत इति(तं)हृदयेशयं मन्मथ करणे शेतेः' इत्यचप्रत्ययः । 'शयवासवासिष्वकालात्' इत्यलुक्। उपनम अङ्कगतोडुपरिग्रहः अन्तिकस्थतारकापरिकरः, विधुरिवाबभावित्युत्प्रेक्षा॥

उस दमयन्तीके द्वारा सन्तपनशील हृदयपर रखा चन्दनका लेप, बुद्बु का बुलबुला) बनकर हृदयमें रहनेवाले मित्र कामदेवकेपास तारारूप परिवा आये हुए चन्द्रमाके समान मालूम पड़ता था । [अन्य भी कोई व्यक्ति मित्रसे मि सपरिवार आता है । अत्यन्त सन्तप्त तवे आदिपर रखे द्रव पदार्थमें भी बुद्बुद लगते हैं ॥ दमयन्तीका हृदय विरह से अत्यधिक सन्तप्त हो रहा था] ॥ २८ ॥

स्मरहुताशनदीपितया तया बहु मुहुः सरसं सरसीरुहम् ।
श्रयितुमर्धपथे कृतमन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरमुज्झितम् ॥२९॥

स्मरेति । स्मरहुताशनदीपितया कामाग्नितप्तया तया बहु भूरि, स सरसीरुहं सरोजं, मुहुः, श्रयितुं शैत्याय सेवितुम् , अर्धे पथि अर्धपथे कृतं न्तमानीतं सत् , अन्तरा मध्ये, श्वसितेन भैमीनिःश्वासेन, निर्मितं मर्मरं स कृतमर्मरशब्दं सत्, उज्झितं वैरस्यात्त्यक्तम् । तथोष्णस्तन्निःश्वास इति 'अथ मर्मरः । स्वनिते वस्त्रपर्णानाम्' इत्यमरः । ईदृग्धर्मासम्बन्धेऽपि सम्ब तिशयोक्तिभेदोऽलङ्कारः ॥ २९ ॥

कामाग्निसे सन्तप्त उस दमयन्तीने बहुतसे और अनेक वार ताजे कमलको,(के लिये हृदयादिपर) रखने के लिये आधे मार्ग नें आते ही (अत्युष्ण) निःश्वास (शुष्कप्राय होनेसे 'मर्मरशब्दयुक्त) होनेपर (उनके अनुपयुक्त हो जाने फेंक दिया । [विरहाग्निसे दमयन्ती के निःश्वास अत्यन्त गर्म २ निकल रहे थे]॥

प्रियकरग्रहमेवमवाप्स्यति स्तनयुगं तव ताम्यति किं न्विति।
जगदतुर्निहिते 'हृदि नीरजे दवथुकुड्मलनेन पृथुस्तनीम् ॥

प्रियेति । हृदि वक्षसि, निहिते न्यस्ते, नीरजे पद्मे, दवथुः परितापः, दू दथुच्प्रत्ययः । तेन यत्कुड्मलनं मुकुलनं निपीड्य ग्रहणमिति । यावत् । तेन दमयन्तीं, तव स्तनयुगं (कर्तृ), एवमनेन प्रकारेण, प्रियकरेण ग्रहं निपीड्य अवाप्स्यति । किं नु किमर्थं, ताम्यतीति जगदतुः ऊचतुः । नूनमिति शेषः॥

(सन्तप्त) हृदयपर रखे हुए दो कमल (अत एव तापके कारण) सङ्कुचि

ो विशाल स्तनोंवाली दमयन्तीसे कह रहे थे कि—'तुम्हारे दोनों स्तन इसी प्रकार स प्रकार हम दोनों सङ्कुचित हो रहे हैं, उसी प्रकार) प्रिय (नल) के कर-ग्रहण थसे पीडन अर्थात् मर्दन, पक्षान्तरमें—प्रिय नलके साथ पाणिग्रहण अर्थात् विवाह) को करेंगे, तुम क्यों खिन्न हो रही है ?।' [इस पद्यमें भी दमयन्तीके सन्तापाधिक्य का न किया गया है] ॥ ३० ॥

त्वदितरो न हृदापि मया धृतः पतिरितीव नलं हृदयेशयम्।
स्मरहविर्भुजि बोधयति स्म सा विरहपाण्डुतया निजशुद्धताम् ॥३१॥

त्वदिति। सा भैमी, हृदयेशयं हृदि स्थितं, नलं त्वदितरस्त्वत्तोऽन्यः, समानोऽन्यो वा पतिः, मया हृदापि न धृतः मनसापि न चिन्तितः, इति निजशुद्धताम् समनिर्दोषतां, पाण्डुत्वञ्च। विरहपाण्डुतया तद्व्याजेनेत्यर्थः। स्मरहविर्भुजि बोध- ति स्मेव मदनाग्निमग्ना सा अग्निदिव्येन[1] स्वशुद्धिं सीता राममिव नलं बोधया- सेवेत्युत्प्रेक्षा। 'गतिबुद्धि' इत्यादिना अणिकर्तुर्नलस्य णौ कर्मत्वम् ॥ ३१ ॥

वह दमयन्ती विरहजन्य पाण्डुतासे, हृदयस्थित नलके प्रति 'तुम्हारे अतिरिक्त किसी न्य पतिको मैंने हृदय अर्थात् मनसे भी नहीं ग्रहण (स्वीकार) किया है। (फिर संभा- या हाथ आदिके द्वारा ग्रहण करनेकी वात ही क्या है ?)' इस प्रकार कामदेवरूप अग्नि- अपनी शुद्धता जना रही थीं। [जगज्जननी सीताजीने भी लङ्काविजयके बाद रामचन्द्रजी- समक्ष अपने सतीत्वको अग्निमें प्रवेशकर प्रमाणित किया था। इसी प्रकार अन्य भी क्ति अपनी सत्यता प्रमाणित करनेके लिये अग्नि आदि देवताओंको साक्षी देते हैं] ॥

विरहतप्ततदङ्गनिवेशिता कमलिनी निमिषद्दलमुष्टिभिः।
किमपनेतुमचेष्टत किं पराभवितुमैहत तद्वथुं पृथुम् ॥ ३२ ॥

विरहेति। विरहतप्ते तदङ्गे भैमीशरीरे, निवेशिता निहिता, कमलिनी पद्मलता, मिषद्भिरानमद्भिर्दलैः पत्रैरेव, मुष्टिभिः मुष्टिबन्धैः (करणैः) पृथं तद्वथुं तस्यास्ता प्, अपनेतुमपच्छेत्तुमचेष्टत व्याप्रियत किम्। पराभवितुं तिरस्कर्तुमैहत किम्। चेष्टत किमित्युत्प्रेक्षा। वस्तुतस्तु, न किञ्चित्कर्तुं शशाक। प्रत्युत स्वयमेव दग्धे- र्थः। सोऽयं भीषकस्य भयप्रवेश इति भावः। अत एवानर्थोत्पत्तिलक्षणो विषमा- ङ्कारः। तदुत्थापिता चेयमुत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ३२ ॥

विरहसे सन्तप्त दमयन्ती-शरीरपर स्थापित कमलिनि (सन्तापसे) सङ्कुचित होते ए पर्णरूपी मुक्केसे उस दमयन्तीके अत्यधिक सन्तापको दूर करने (मारने) की इच्छा रती है क्या ? अथवा उसे पराभूत करने (जीतने या मोहित करने) की इच्छा करती ? [अन्य भी कोई व्यक्ति अङ्गुलियोंको समेटनेसे मुट्ठी बांधकर शत्रुको मुक्केसे मारकर

---

[1] 'अग्निदिव्य'शब्दो 'जलदिव्य'शब्देन व्याख्यातः। स च २ यसर्गस्य २७ तम- लोकव्याख्याने द्रष्टव्यः।

जीतना चाहता है ॥ सन्तापाधिक्यसे दमयन्तीके शरीरपर रखी हुई कमलिनीके कर सङ्कुचित हो जाते थे]॥ ३२ ॥

इयमनङ्गशरावलिपन्नगक्षतविसारिवियोगविषावशा ।
शशिकलेव खरांशुकरार्दिता करुणनीरनिधौ निदधौ न कम्।

इयमिति । इयं भैमी, अनङ्गशरावलिरेव पन्नगाः तैः क्षतं क्षतिः, तद् क्तः । तेन विसारिणा व्यापिना, वियोगेनैव विषेण अवशा सती, खरांशोः करैरर्दिता पीडिता, शशिकलेव कं जनं करुणनीरनिधौ शोकरसाब्धौ। 'क वृत्ते कृपायां करुणा मता' इति विश्वः। न निदधौ निदधावेव, निमज्जयामा अत्र रूपकोपमयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ३३ ॥

काम—बाणोंके समूहरूपी सर्पके काटने (पक्षान्तरमें—विद्ध होने) से फैलने रूपी विषसे पराधीन (मोहित) उस दमयन्तीने सूर्य-पीडित चन्द्रकलाके समान कि रूपी समुद्रमें नहीं डाल दिया ? अर्थात् सबको विरहिणी दमयन्तीको देखकर द थी ।] सांपके काटनेसे मूर्च्छितावस्थामें पड़े हुए व्यक्तिको देखकर सभी लोगोंको जाती है । अथवा—सांप जिस व्यक्तिको काटता है, वही व्यक्ति विषबाधा-शा जलमें छोड़ा जाता है, किन्तु काम-बाणावलि-सर्पदष्ट होने से विरह-विषज्वाला दमयन्तीने दूसरोंको जलमें डाल दिया यह आश्चर्य है]॥ ३३ ॥

ज्वलति मन्मथवेदनया निजे हृदि तयार्द्रमृणाललतार्पिता।
स्वजयिनोस्त्रपया सविधस्थयोर्मलिनतामभजद्भुजयोर्भृशम् ॥

ज्वलतीति । तया भैम्या, मन्मथवेदनया मदनज्वरदुःखेन, ज्वलति निजे हृदि वक्षसि, अर्पिता आर्द्रा सरसा, मृणाललता बिसवल्ली, स्वजयिनोः 'जिदक्षि' इत्यादिना इनिप्रत्ययः । भुजयोस्तदीययोरेव, सविधस्थयोः सम सतोः, त्रपया त्रपयेवेत्यर्थः । गम्योत्प्रेक्षा । भृशं मलिनतां वैवर्ण्यमभज जेतुरग्रे लज्जया वैवर्ण्यं भजतीति भावः ॥ ३४ ॥

उस दमयन्तीके द्वारा काम-पीडासे जलते (सन्तप्त होते) हुए हृदयपर रखी ललताने अपनेको जीतनेवाले समीपस्थ (दमयन्तीके) दोनों बांहोंकी लज्जासे नताको धारण कर लिया । अथवा—अपनेको जीतनेवाले (दमयन्तीकी) दो ओंके स्वसमीपस्थ होनेपर कमललताने लज्जासे मलिनताको धारण किया । [अ व्यक्ति अपने विजेताके सामने लज्जासे मलिनमुख हो जाता है ॥ दमयन्तीके रखी हुई कमललता संतापसे मलिन हो जाती थी]॥ ३४ ॥

पिकरुतश्रुतिकम्पिनि शैवलं हृदि तया निहितं विचलद्बभौ ।
सतततद्गतहृच्छयकेतुना हतमिव स्वतनूघनघर्षिणा ॥

पिकेति । तया भैम्या, पिकरुतश्रुत्या कोकिलकूजितश्रवणेन, कम्पिनि

हृदि वक्षसि, निहितं शैत्यार्थं न्यस्तं विचलत् आधारचलनादिति भावः। शैवलं, स्वतन्वा शैवलशरीरेण सह, घनघर्षिणा भृशसङ्घर्षिणा, द्वयोरपि जलचरत्वादिति भावः। सततं तद्गतस्य भैमीहृद्गतस्य हृच्छयस्य कामस्य, केतुना चिह्नेन, मत्स्येन हतं ताडितमिव, वभावित्युत्प्रेक्षा ॥ ३५ ॥

उस दमयन्तीके द्वारा कोयलका कूजना सुननेसे कम्पित होनेवाले हृदयपर (विरहज-ताप-शान्त्यर्थ) रक्खा हुआ तथा (हृदयके कांपते रहनेसे) हिलता हुआ शेवाल ऐसा मालूम पड़ता था कि निरन्तर उस दमयन्तीके हृदय में रहनेवाले कामदेव की पाताकारूप मछली-द्वारा अपने शरीरको रगड़नेसे वह कम्पित हो रहा हो। ['मछलियां अपने शरीरकी कण्डू दूर करने के लिये शेवाल में शरीर को रगड़ती हैं' यह प्रसिद्धि है॥ दमयन्तीद्वारा हृदयपर शेवाल रखनेपर भी कोयलका कुहुकना उसे पीडितकर उसके हृदय-कम्पनको बढ़ा रहा था]॥३५

न खलु मोहवशेन तदाननं नलमनः शशिकान्तमबोधि तत्।
इतरथाभ्युदये शशिनस्ततः कथमसुस्रवदश्रुमयं पयः ॥३६॥

नेति। नलमनः (कर्तृ), मोहवशेन विरहप्रयुक्ताज्ञानवलेन, तदाननं भैमीमुखं (कर्म), शशिकान्तमिन्दुसुन्दरम् इन्दूपलञ्च, नावोधि खलु नाबुद्ध किमिति काकुः। अवुध्यत एवेत्यर्थः। तच्च सत्यमिति भावः। 'दीपजन' इत्यादिना कर्तरि चिण्। इतरथा, तदसत्यत्वे शशिनोऽभ्युदये ततो भैमीमुखादश्रुमयमश्रुरूपं, पयः कथं असुस्रुवत् स्रुतं, चन्द्रोदये पयःस्रावाच्चन्द्रकान्तत्वं सत्यमित्यर्थः। चन्द्रोदये दाहोद्रेकाद्रुरोदेति भावः। द्रवतेर्लुङ णिश्रीत्यादिना च्लेश्चङि धातोरुवङादेशः ॥ ३६ ॥

नलका मन सुन्दर दमयन्ती-मुखको मोह (अज्ञान) के कारण चन्द्रमाके समान मनोहर (पक्षान्तरमें-चन्द्रकान्त मणिरूप) नहीं समझा था, अपितु यथार्थतः समझा था। अन्यथा चन्द्रोदय होनेपर उससे आँसूरूप जल क्यों निकलता? [दमयन्ती में अधिक प्रेम होने से उसके मुखको नलके चित्तने मोहवश नहीं, अपि तु वस्तुतः चन्द्रकान्त ही समझा था। चन्द्रोदय होनेपर विरहावस्थामें चन्द्रमाके विरहवर्द्धक होनेसे दमयन्ती रोने लगती थी, चन्द्रकान्तमणि से भी चन्द्रोदय होनेपर पानी टपकने लगता है, अतः नलका दमयन्ती-मुखको चन्द्रकान्त समझना ठीक ही था। अथवा—दमयन्तीके मुखने चन्द्रमाको अपनी सुन्दरतासे जीत लिया था, अत एव वह चन्द्रमाके उदय (अभ्युन्नति) होने पर रोने लगता है। अन्य भी कोई व्यक्ति शत्रुकी अभ्युन्नति होने पर ईर्ष्यासे रोने लगता है। अथवा—दमयन्तीके मुखको नलने चन्द्रकान्त (चन्द्रमाके समान या चन्द्रमा है कान्त=प्रिय मित्र जिसका ऐसा) समझा था, अन्य भी कोई व्यक्ति प्रियमित्रकी अभ्युन्नति होनेपर आनन्दाश्रु बहाता ही है]॥३६॥

रतिपतेर्विजयास्त्रमिषुर्यथा जयति भीमसुतापि तथैव सा।
स्वविशिखानिव पञ्चतया ततो नियतमैहत योजयितुं स ताम् ॥३७॥

रतिपतेरिति। रतिपतेः कामस्य, यथेषुः विजयस्यास्त्रं विजयास्त्रं विजयसाधनमायुधं।

जयति । तथैव सा भीमसुतापि विजयास्त्रं सती जयति । ततस्तस्मात् (हेतोः कामः, स्वस्य विशिखानिषूनिव, तां भैमीं, पञ्चतया पञ्चसङ्ख्याकत्वेन, मरणे 'पञ्चता पञ्चभावे स्यात् पञ्चता मरणेऽपि च' इति विश्वः । योजयितुमैहत । धर्मविजयास्त्रत्वेनेव पञ्चत्वेनापि योजयितुमैच्छत् । नियतं सत्यमित्युत्प्रे अन्यथा, किमर्थमेनामित्थं पीडयेदिति भावः । उपमानोत्प्रेक्षयोः सङ्करः ॥ ३

रतिपति कामदेवका विजयसाधनभूत वाण जिस प्रकार विजेता अर्थात् सर्वोत्कृ उसी प्रकार भीमनन्दिनी दमयन्ती भी सर्वोत्कृष्ट विजयास्त्र है (यह बात कामदेव स है), अत एव वह (कामदेव) अपने अन्य वाणोंके समान उस (दमयन्ती) को प (पांच संख्याओंका भाव, पक्षान्तरमें—मृत्यु) से युक्त करना चाहा । [कामदेवके सभी वाण पञ्चता—पांच संख्या के भावसे युक्त अर्थात संख्या में पांच है, अतः दमयन्तीको वह पञ्चता (मृत्यु) से युक्त करना अर्थात् मारना चाहा ॥ विरह में कामपीडा के दमयन्तीकी अवस्था मरणासन्न हो रही थी] ॥ ३७ ॥

शशिमयं दहनास्त्रमुदित्वरं मनसिजस्य विमृश्य वियोगिनी ।
झटिति वारुणमश्रुमिषादसौ तदुचितं प्रतिशस्त्रमुपाददे ॥ ३८ ॥

शशिमयमिति । वियोगिन्यसौ भैमी, उदेतीत्युदित्वरमुद्यत्, 'इण्नशजिसर्ति क्वरप्'। शशिमयं शशिरूपं, मनसिजस्य दहनास्त्रम् आग्नेयास्त्रं, विमृश्यालो झटिति द्राक् । अश्रुमिषाद्वारुणं वरुणदेवताकं, 'सास्य देवता' इत्यण्प्रत्ययः । तदा ग्नेयस्योचितं प्रतीकारक्षमं, प्रतिशस्त्रमुपाददे प्रयुक्तवतीत्यर्थः । चान्द्रतापासहि रशरणा केवलमरोदीत्यर्थः । सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ३८ ॥

वियोगिनी दमयन्तीने चन्द्ररूप काम-बाणको दाहक अस्त्र (अग्निबाण) सम शीघ्र ही आँसूके व्याजसे वारुणास्त्रको धारण कर लिया । [अन्य भी योद्धा संग्राममें श द्वारा प्रयुक्त आग्नेयास्त्रको शान्त करने के लिये वारुणास्त्र (पानी बरसाकर अग्निताप शान्त करनेवाला अस्त्र) धारण करता है ॥ विरहिणी दमयन्ती चन्द्रमाको देखकर ता धिक्यसे रोने लगती थी] ॥ ३८ ॥

अतनुना नवमम्बुदमाम्बुदं सुतनुरस्त्रमुदस्तमवेक्ष्य सा ।
उचितमायतनिश्वसितच्छलाच्छ्वसनमस्त्रममुञ्चदमुं प्रति ॥ ३९ ॥

अतनुनेति । सा सुतनुर्भैमी, नवं नूतनम्, अम्बुदं मेघमेव, अतनुना अन उदस्तम् उत्क्षिप्तं, आम्बुदमम्बुदसम्बन्ध्यस्त्रं पर्जन्यास्त्रम् अवेक्ष्य आयतनिश्वसि च्छलाद्दीर्घनिश्वासमिषादमुमम्बुदं प्रति, उचितं प्रतीकारक्षमं, श्वसनं श्वसनात्मकम वायव्यास्त्रममुञ्चत् प्रायुङ्क्त । मेघदर्शनात् दीप्तमदनज्वरा दीर्घमुष्णं च निश्वसि त्यर्थः । अत्रापि सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ३९ ॥

(विरहिणी) उस दमयन्तीने कामके द्वारा उठाये हुए नवीन मेघरूप वारुणास्त्रको दे

कर निःश्वासके व्याजसे योग्य (वारुणास्त्रको शान्त करनेमें समर्थ) वायव्यास्त्रको इस (कामदेव) के प्रति छोड़ा । [अन्य भी कोई योद्धा शत्रुके वारुणास्त्र उठानेपर उसको शान्त करनेमें समर्थ वायव्यास्त्रको शत्रुके ऊपर छोड़ता है ॥ वर्षा ऋतुमें उठे हुए काले २ बादलोंको देखकर विरहिणी दमयन्तीका निःश्वास अत्यन्त बढ़ गया] ॥ ३९ ॥

रतिपतिप्रहितानिलहेतितां प्रतियती सुदती मलयानिले ।
तदुरुतापभयात्तमृणालिकामयमियं भुजगास्त्रमिवादित ॥ ४० ॥

रतिपतीति । सुदतीयं भैमी मलयानिले विषये रतिपतिप्रहितानिलहेतितां कामप्रयुक्तवायव्यास्त्रताम् । 'हेतिः शस्त्रं प्रहरणं ह्यायुधञ्चास्त्रमेव च' इति हलायुधः । प्रतियती जानती । इणः शतरि ङीप् । तेनास्त्रेण य उरुस्तापः ततो भयात्, आत्ता अङ्गीकृता या मृणालिका तन्मयं बिसरूपं, भुजगास्त्रम् अदितेव आत्तवती किमित्युत्प्रेक्षा । भुजगानांवाताहारत्वादिति भावः । 'स्थाघ्वोरिच्च' इतीकारः । 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपः ॥

सुन्दर दांतोंवाली दमयन्तीने मलयवायुको कामदेवके द्वारा (अपने प्रति) छोड़ा गया वायव्यास्त्र समझकर उससे उत्पन्न होनेवाले अत्यधिक सन्तापके भयसे कमलनालरूप सर्पास्त्र को धारण कर लिया । [अन्य भी कोई योद्धा अपने प्रति छोड़े गये वायव्यास्त्रसे उत्पन्न कष्टको दूर करनेके लिए सर्पास्त्र (नागास्त्र) धारण करता है ॥ मलयानिलके बहनेपर विरहिणी दमयन्तीने पीडाशान्तिके लिये (सफेद तथा कुटिलाकार होनेके कारण सर्पके समान) मृणाल-नालको हृदयादिपर रख लिया] ॥ ४० ॥

न्यधित तद्धृदि शल्यमिव द्वयं विरहितां च तथापि च जीवितम् ।
किमथ तत्र निहत्य निखातवान् रतिपतिः स्तनबिल्वयुगेन तत् ॥४१॥

न्यधितेति । रतिपतिस्तद्धृदि भैमीहृदये, विरहितां विरहित्वं, च, तथापि विरहित्वेऽपि, जीवितं चेति द्वयं, शल्यं शङ्कुमिव, न्यधित निखातवानित्यर्थः । जीवतो विरहः विरहिणो जीवनं च द्वे अपि शल्यप्राये इत्यर्थः । दधातेर्लुङि तङ् । 'स्थाघ्वोरिच्च' इतीकारः । 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपः । अथ निखननानन्तरं, तच्छल्यद्वयं स्तनावेव बिल्वे परिणतबिल्वफले, तयोर्युगेन तत्र हृदि निहत्य आहत्य, निखातवान् किम् । यथा लोके निखातं शङ्कुं दार्ढ्याय पाषाणेन घ्नन्ति तद्वदिति भावः । पूर्वार्धे शल्यनिखननोत्प्रेक्षा । उत्तरार्धे निहत्य निहननोत्प्रेक्षा । निखातवानित्यनुवादः ॥४१॥

कामदेवने उस दमयन्तीके हृदयमें दो शल्य अर्थात् कील या खूटोंके समान विरह तथा जीवन (अथवा-विरही होकर जीना एवं जीते हुए विरही होना) स्थिर कर दिया (शल्यपक्षमें-गाड़ दिया) और उन दोनों शल्योंको स्तनरूपी दो बिल्वफलों (बेलके फलों) से वहांपर (दृढताके लिये) ठोंककर स्थिर कर दिया क्या ? । [विरहिणियोंके लिये जीना और जीते हुए विरहिणी होना—ये दोनों कार्य महाकष्टकर होते हैं, उसमें युवावस्थामें तो ये अत्यन्त ही असह्य हो जाते हैं । कामदेवके द्वारा दमयन्तीके हृदयमें जीवन तथा विरहरूप दो शल्योंको

गाड़कर विल्वरूप दोनों स्तनोंसे ठोंककर उन्हें दृढ करनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है। कोई व्यक्ति खूंटा या कीलको गाड़कर उसे दृढ करनेके लिये पत्थर आदि किसी पदार्थ से ठोक देता है ॥ युवावस्थामें ही स्तनका विल्वफलके समान कठिन होना है। अतः इस युवावस्थामें जीनेके साथ विरह होना या विरह होनेपर जीना हुए दो कीलोंके समान दमयन्तीको अत्यन्त ही असह्य हो रहा था] ॥ ४१ ॥

अतिशरव्ययता मदनेन तां निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात् ।
स्फुटमकारि फलान्यपि मुञ्चता तदुरसि स्तनतालयुगार्पणा ॥ ४

अतीति । तां दमयन्तीम् अतितरां, शरव्ययता शरव्यं लक्ष्यं कुर्वता, शब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्ताल्लटः शतृप्रत्ययः । अत एव निखिला ये पुष्प स्वशरांस्तेषां व्ययात् क्षयात् फलान्यपि मुञ्चता क्षिपता मदनेन तदुरसि क्षसि, स्तनावेव ताले तालफले, तयोर्युगस्यार्पणा क्षेपः, अकारि । स्फुटमित्युत्प्रे शरक्षये पाषाणादिनापि प्रहरन्तीति भावः ॥ ४२ ॥

उस दमयन्तीको अतिशय निशाना बनाते हुए, पुष्पमय सब वाणोंके समाप्त हो फलोंको भी छोड़ते हुए कामदेवने मानों उस दमयन्तीके हृदयपर स्तनरूप दो ताल को छोड़ा है। [अन्य भी योद्धा वाणोंको समाप्त हो जानेपर पत्थर आदि कठिन शत्रुपर प्रहार करता है। कामदेवके पास पुष्पमय पांच ही बाण होनेसे उनका शीघ्र हो जाने और कोमलतम तथा अल्पसंख्यक पुष्प-वाणोंसे शत्रुरूप दमयन्तीपर विजय पानेसे पत्थरके समान कठिन दो ताल–फलोंसे हृदयमें प्रहार करना उचित एवं स्वा ही है। अथ च—सभी फल पुष्पके वाद ही लगते हैं अतः उनके पुष्पोंको ही वाण दमयन्तीपर प्रहार करनेके कारण उनके फल नहीं लगे, अत एव विना फूल लगे ही वाले तालके बड़े २ एवं कठोर फलोंसे ही दमयन्तीके कोमल हृदय अर्थात् मर्म प्रहारकर उसपर विजय पानेकी इच्छा करना कामदेवके लिये स्वाभाविक ही है] ॥ ४

अथ मुहुर्बहुनिन्दितचन्द्रया स्तुतविधुन्तुदया च तया बहु ।
पतितया स्मरतापमये गदे निजगदेऽश्रुविमिश्रमुखी सखी ॥ ४३

अथेति । अथानन्तरं, स्मरतापमये कामज्वररूपे, गदे रोगे 'रोगव्याधिगदा इत्यमरः । पतितया मग्नया । अत एव, मुहुः वहु वहुधा, निन्दितचन्द्रया, दीपकत्वादिति भावः । मुहुः स्तुतो विधुं तुदतीति विधुन्तुदो राहुर्यया विधुन्तुदत्वादेवेति भावः 'तमस्तुराहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः' इत्यम 'विध्वरुषोस्तुद' इति खच्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागमः । दमयन्त्या, अश्रुविमिश्रं मुखं यस्याः सा अनिष्टाशङ्कया रुदती सखी, निगदिता । विप्रकृतो ह्यपकर्तारं निन्दति तदपकर्तारञ्च स्तौतीति भावः ॥ ४३

काम–सन्ताप–ज्वरमें पड़ी हुई, (अत एव दाहक होनेसे) वार २ तथा बहुत

निन्दा और राहुकी प्रशंसा करनेवाली वह (दमयन्ती) रोती हुई सखीसे बोली (यहांसे ो० ९९ तक दमयन्तीका कथन है)—। [विरहावस्थामें चन्द्रमाके अत्यन्त सन्ताप देनेके ण उसकी निन्दा और उसको (चन्द्रग्रहण के अवसरपर) निगलनेवाले राहुकी प्रशंसा रहिणी दमयन्ती करती थी तथा उसकी कष्टावस्था देखकर उसकी सखी रो रही थी] ॥४३॥

'नरसुराब्जभुवामिव यावता भवति यस्य युगं यद्नेहसा ।
विरहिणामपि तद्रतवद्युवक्षणमितं न कथं गणितागमे ॥ ४४ ॥

नरेति । नरसुराब्जभुवां मनुष्यदेवब्रह्मणामिव, यावता अनेहसा कालेन, यस्य न्तोर्युगं भवति, गणितागमे ज्योतिश्शास्त्रे तत्सर्वं वक्तव्यमेवेति शेषः। यथा ब्रह्मणो नं देवादीनां युगादिकमित्युक्तम्, तद्वदन्यस्यापि गणितशास्त्रे वक्तव्यमिति भावः। ततः किमित्याशङ्क्य आह । तर्हि, विरहिणां तद्युगं कथं किमिति रतवताम-युक्तानां यूनां क्षणेन मितं गणितं न । अवियुक्तानां क्षणो वियुक्तानां युगमिति मिति नोक्तमित्यर्थः । तथा तस्या एकैकक्षण एकैकयुगकल्पोऽभूदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

'जितने समयका मनुष्यों, देवों तथा ब्रह्माका युग-परिमाण होता है; मनुष्यों, देवों था ब्रह्माके युकके बराबर उन्हीं के समान सुरतक्रीडा युक्त तरुण स्त्री-पुरुषोंके तथा विरही ी-पुरुषोंके क्षणकी गणना ज्योतिःशास्त्रमें क्यों नहीं की गयी है ? अर्थात् उसमें इतनी टि रह गयी है । [सुरतक्रीडायुक्त तरुण स्त्री-पुरुषों के क्षणके बराबर मनुष्य, देव तथा ह्मा का युग होता है अर्थात् सुरतानन्द में आसक्त तरुण स्त्री-पुरुषों को मनुष्यों, देवों या ह्माका युग के बराबर समय भी एक क्षण के समान प्रतीत होता है और इसके प्रतिकूल रही तरुण स्त्री-पुरुषोंका क्षण भी मनुष्यादिके युगके बराबर होता है अर्थात इन विरहियों ो एक क्षण भी व्यतीत करना मनुष्यादि के युगपरिमित काल के समान अत्यधिक मालूम पड़ता है ॥ विरहिणी तरुणी दमयन्तीको भी एक २ क्षण मनुष्य-देव-ब्रह्माके युगके समान प्रतीत हो रहा था] ॥ ४४ ॥

जनुरधत्त सती स्मरतापिता हिमवतो न तु तन्महिमादृता ।
ज्वलति फालतले लिखितः सतीविरह एव हरस्य न लोचनम् ॥४५॥

जनुरिति। सती भवपूर्वपत्नी दक्षकन्या, स्मरतापिता विरहाग्नितप्ता सती, हिमवतो जनुर्जन्माधत्त। तस्य हिमवतो महिमा आदृतो यया सा तन्महिमादृता, आदृततन्महिमा सती तु न। आहिताग्न्यादित्वान्निष्ठायाः परनिपातः। विरहतापशान्त्यर्थं हिमाद्रेर्जाता । न तु, तत्तपस्सामर्थ्यानुरोधादित्युत्प्रेक्षा । हरस्य फालतले लिखितो ब्रह्मणा लिखितः सतीविरह एव ज्वलति, लोचनं नेत्यारोप्यापह्नवालङ्कारः ॥ ४५ ॥

सती (दक्ष प्रजापति की कन्या—पूर्वजन्म में शङ्करजी की स्त्री) ने कामदेव से सन्तप्त होकर ही (अतिशय शीतल) हिमालय पर्वतसे उत्पन्न हुई है, उन (हिमालय पर्वत) की महिमाके आदरसे नहीं । जलते हुए शिव-ललाटमें (ब्रह्माके द्वारा) सती-विरह ही लिखा

गया है, तृतीय नेत्र नहीं (बनाया गया) है। [अपने पिता दक्ष प्रजापति के शङ्करजीका अपमान देख सतीने योगाग्निद्वारा प्राणत्यागकर पति शङ्करजीके कामदेवसे अतिशय सन्तप्त होकर उस तापकी शान्ति के लिये अत्यन्त शीतल हि जन्म ग्रहण किया है, वहां जन्म लेनेमें हिमालयकी प्रतिष्ठा आदि अन्य कोई है। अन्य भी कोई व्यक्ति अधिक सन्तप्त होकर अतिशय शीतल स्थानका आश्रय इसी प्रकार—सतीके योगाग्निमें प्राणत्याग कर देनेपर ब्रह्माने शङ्करजीके ललाटमें तापकारक सती-विरहाक्षर ही लिखा है, वह शङ्करजीकी तीसरी आँख नहीं है]

दहनजा न पृथुर्दवथुर्व्यथा विरहजैव पृथुर्यदि नेदृशम्।
दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रियः प्रियमपासुमुपासितुमुद्धुराः ॥

दहनेति। दहनजा अग्निदाहजन्या, दवथुर्व्यथा तापदुःखं, पृथुः अधि किन्तु विरहजैव पृथुः। ईदृशं न यदि इदमित्थं न चेत्। स्त्रियः, अपासुमप मृतं, प्रियम्, उपासितुं प्राप्तुम्, उत्कृष्टा धूर्भारो यासां ता उद्धुराः अनर्गल इत्यर्थः। 'ऋक्पूः' इत्यादिना समासान्तोऽकारः। कथमाशु दहनं विशन्ति। दाहाद्विरहदाह एवाधिक इत्यर्थः। तस्य तत्परिहारार्थेन स्त्रीणामग्निप्रवे समर्थनात् कार्येण कारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४६ ॥

अग्निजन्य दाहपीडा अधिक सन्तापकारक नहीं होती, किन्तु विरहजन्य दाह अधिक सन्तापकारक होती है। यदि ऐसा नहीं है तब मरे हुए पतिकी सेवा (अनु करनेके लिये उल्लासयुक्त स्त्रियां अग्नि में कैसे प्रवेश करतीं ?। [विरहजन्य सन् को नहीं सह सकनेके कारण ही स्त्रियां पतिके मरनेपर (विरहाग्निकी अपेक्षा कम देनेवाली) चिताग्निमें प्रवेशकर जो सती हो जाती है उससे यह प्रमाणित होता विरहजन्य दाहपीडा ही अग्निजन्य दाहपीडासे अधिक है] ॥ ४६ ॥

हृदि लुठन्ति कला नितराममूर्विरहिणीवधपङ्ककलङ्किताः।
कुमुदसख्यकृतस्तु बहिष्कृताः सखि! विलोकय दुर्विनयं विधोः

हृदीति। विरहिणीवधाद्यः पङ्कः पाप्मा। 'अस्त्री पङ्कंपुमान् पाप्मा' इत्य तेन कलङ्किताः सञ्जातकलङ्काः, अमूः कलाः, हृदि अभ्यन्तरे नितरां लुठन्ति कुमुदैः सख्यं कुर्वन्तीति तत्कृतः, विशुद्धा इत्यर्थः। तास्तु कलाः बहिष्कृ सखि, विधोर्दुर्विनयं, दौर्जन्यं, विलोकय। दुर्जनाः पापिष्ठानन्तःकुर्वन्ति बहिष्कुर्वन्तीति भावः ॥ ४७ ॥

हे सखि! चन्द्रमाका दुर्विनय तो देखो, कि—विरहिणियोंकी हत्यारूपी पङ्कसे कलाओंको तो उसने हृदयमें धारण किया है, तथा कुमुदको विकसितकर मित्रता उत्तम कलाओंको बाहर कर दिया है। विरहिणियोंके मारनेसे उत्पन्न पाप ही लाञ्छन चन्द्रमाकी छाती पर दीख रहे हैं, अत एव यह बड़ी दुर्नीतिवाला है। [यदि

है तो वह उपकारीको हृदयसे लगाये रहता है तथा दुष्टों—पाप करनेवालोंको बाहर देता है, किन्तु दुष्टोंकी प्रकृति इसके विपरीत होती है, वे पापियोंको ही हृदयसे लगाते परोपकारी सज्जनोंको बाहर कर देते हैं। अथवा—दुष्टलोग अपने पापको तो हृदयमें णकर छिपा लेते हैं तथा उपकार भावको बाहर प्रगट करते हैं, अतः इस दुष्ट चन्द्रमाने ऐसा ही किया है] ॥ ४७ ॥

अयि विधुं परिपृच्छ गुरोः कुतः स्फुटमशिक्ष्यत दाहवदान्यता ।
ग्लपितशम्भुगलाद्गरलात्त्वया किमुदधौ जड ! वा वडवानलात् ॥४८॥

अयीति । अयि सखि ! विधुं परिपृच्छ । हे जड मूढ ! त्वया दाहवदान्यता दाहत्वं दाहकत्वमित्यर्थः । किं ग्लपितशम्भुगलाच्छोषितशम्भुकण्ठात्, गरलात् काल-त्, उदधौ वडवानलाद्वा कुतः कस्माद्गुरोः स्फुटमशिक्ष्यत शिक्षिता, अभ्यस्तेत्यर्थः॥

हे सखि ! तुम चन्द्रमासे पूछो कि—'तुमने दाहको अधिक देनेकी यह दानवीरता किससे सिखी है ? हे जड़ ! शङ्करजीके गलाको जलानेवाले विष (कालकूट) से अथवा द्रमें सदा रहनेवाले वडवानलसे ?' [जो जिसके पास रहता है, वह उसीसे कोई बात ता है, चन्द्रमाको भी शङ्करजीके मस्तकमें रहने तथा समुद्रसे उत्पन्न (उदय) होनेके ण क्रमशः शिवकण्ठस्थ कालकूट या उदधिस्थ वडवानलसे दाहकत्व शक्तिको सीखना व है, क्यों कि वे दोनों ही अत्यन्त दाहक हैं] ॥ ४८ ॥

अयमयोगिवधूवधपातकैर्भ्रमिमवाप्य दिवः खलु पात्यते ।
शितिनिशादृषदि स्फुटदुत्पतत्कणगणाधिकतारकिताम्बरः ॥४९॥

अयमिति । अयं विधुः, अयोगिवधूवधपातकैः वियोगिस्त्रीहिंसापापैः, करणैः, भ्रमिं णम्, अवाप्य प्रापय्य आप्नोतेर्ण्यन्तात् क्त्वोल्यबादेशः । 'विभाषाऽऽपः' इति ल्पादयादेशाभावः । शितिनिशा कृष्णपक्षरात्रिस्तस्यामेव दृषदि शिलायां स्फुतः पातवेगाद्विदलन्तः तत उत्पतन्तश्च ये कणाः खण्डाः, तेषां गणैरधिकं तारकिम्बर भूम्ना तारकवत्कृताकाशः सन्। अत एव कृष्णपक्षे तारकबाहुल्यमिति भावः । कवच्छब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । विण्मतोर्लुक् मतुपो लुक् वोऽन्तरिक्षान्निपात्यते खलु । उत्कटपापकारिणः पुरे परिभ्राम्य शिलायां निपात्यन्त इति भावः ॥ ४९ ॥

यह (चन्द्रमा) विरहिणी स्त्रियोंके वधजन्य पापसे घुमाया जाकर काली रात्रिरूप शिला त्थर) पर स्वर्ग अर्थात् अत्यन्त उंचे स्थानसे गिराया जाता है, और फूटकर (चूर्ण २ र) ऊपर ऊछलते हुए टुकड़ों (स्वर्गपति चन्द्रमाके खण्डों) के समूहसे आकाश क ताराओंसे युक्त हो जाता है। [शुक्लपक्षमें चन्द्रदर्शनसे विरहिणियोंको अधिक कष्ट ा है तथा चन्द्रप्रकाशके कारण आकाशमें तारागण भी बहुत कम दिखलाई पड़ते हैं; के विपरीत कृष्णपक्षमें चन्द्रदर्शनके न होनेसे विरहिणी स्त्रियोंको अधिक कष्ट नहीं

होता तथा आकाशमें तारागण भी अत्यधिक संख्यामें दिखलाई पड़ते हैं, अतः मा
हैं कि विरहिणी-पापसे चन्द्रमा अँधेरी रातरूपी काले पत्थरपर पटका जाता है
स्थानसे पटके जानेके कारण चूर्ण होकर ऊपर उछले हुए उसके खण्ड ही तारा
में दिखलाई पड़ते हैं। अन्य भी कोई पापी व्यक्ति घुमाकर पर्वत आदि ऊंचे स्थानोंसे
पर पटक दिया जाता है, और उसकी हड्डियां चूर २ होकर ऊपरको उछलती हैं]

त्वमभिधेहि विधुं सखि ! मद्गिरा किमिदमीदृगधिक्रियते त्व
न गणितं यदि जन्म पयोनिधौ हरशिरःस्थितिभूरपि विस्मृता

त्वमिति। हे सखि! त्वं मद्गिरा विधुमभिधेहि उपालभस्व। तत्प्रका
त्वया महात्मनेति भावः। किं किमर्थमिदमीदृक् स्त्रीवधात्मकं (कर्म),
आचर्यते? पयोनिधौ जन्म न गणितं यदि मास्तु। हरशिर एव स्थितिभूर्नि
सापि विस्मृता। महाकूलप्रसूतस्य शम्भुशिरोधृतस्य तवेदमनुचितमित्यर्थः

हे सखि! तुम मेरी ओरसे चन्द्रमासे कहो अर्थात् पूछो कि—'तुम ऐ
विरहिणियोंका वधरूप निन्दित कर्म क्यों करते हो (तुम्हें ऐसा करना शोभा नहीं
कि) तुमने समुद्रमें अपना जन्म होनेको नहीं गिना अर्थात् लक्ष्मी आदि-जैसे
को जन्म देनेवाले एव स्वयं भी अत्यन्त गम्भीर समुद्ररूप पितृ-कुलकी कोई
की (कुछ ख्याल नहीं किया), लेकिन शिवजीके मस्तकपर रहना भी भुला दि
तुम केवल शिवजीके साथ ही नहीं रहते हो, अपितु उन्होंने तुम्हें परोपकारिता
युक्त समझकर अपने मस्तकपर रखा है—अपनेसे भी श्रेष्ठ माना है। [अन्य
सामान्य भी व्यक्ति अपने कुल तथा सहवासका ख्यालकर निन्दित कार्य नहीं कर
कर अत्यन्त पीडितोंकी उसमें भी दुखिया स्त्रियोंकी हत्या करना तो दूर रहा,
भी पीडित करनेके लिये मनमें विचारतक नहीं करता। किन्तु तुमने तो अपने
तथा सहवास—इन दोनों को भुला दिया है, अतएव तुम बड़े भारी पापी हो।
चन्द्रमाके साथ साक्षात् बात करनेमें पाप समझकर सती दमयन्तीने सखीके
को कहलवाया है। अन्य भी कोई व्यक्ति महापातकियोंसे साक्षात् बात न
सन्देश कहलवाता है] ॥ ५० ॥

निपततापि न मन्दरभूभृता त्वमुदधौ शशलाञ्छन ! चूर्णि
अपि मुनेर्जठरार्चिषि जीर्णतां बत गतोऽसि न पीतपयोनिधे

निपततेति। हे शशलाञ्छन सकलङ्केत्यर्थः। त्वमुदधौ निपतता।
इति शेषः। मन्दरभूभृता मन्दराद्रिणापि न चूर्णितः, पीतपयोनिधेः
मुद्रस्य मुनेः अगस्त्यस्य, जठरार्चिपि जठरानलेऽपि जीर्णतां न गतोऽसि
पिवदिति भावः। वतेति खेदे। मद्भाग्यविपर्यय एवायमिति भावः॥ ५१

हे शशलाञ्छन (मृग-कलङ्कयुक्त चन्द्र)! (अमृतमन्थनके समय) समुद्र

जाते हुए) मन्दराचलसे भी तुम चकनाचूर नहीं हुए? अथवा समुद्रको पी जानेवाले मुनिकी जठराग्निमें भी तुम गल पच नहीं गये ?। उक्त दोनों बातें नही होनेसे -जैसे विरहिणियोंको इतना कष्ट हो रहा है, यदि वैसा हो जाता तो आज मुझ जैसे कष्ट नहीं होता। अत्यन्त दाहक तथा पापी होनेके कारण उन दोनों (मन्दराचल गस्त्य मुनि) ने भी तुम्हें छोड़ दिया; हा ! महाकष्ट है] ॥ ५१ ॥

किमसुभिर्गलितैर्जड ! मन्यसे मयि निमज्जतु भीमसुतामनः ।
मम किल श्रुतिमाह तदर्थिकां नलमुखेन्दुपरां विबुधस्मरः ॥ ५२ ॥

कमिति । हे जड मूढ ! गलितैर्निष्क्रामितैः, असुभिः, प्राणैः, स्वमारणेनेत्यर्थः । सुतामनो मयि चन्द्रे निमज्जतु निमज्जेत् । सम्भावनायां लोट् । इति मन्यसे 'यत्रास्य पुरुषस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु रोहितं च रेतश्च यत' इति श्रुतिप्रामाण्यादिति भावः । सोऽपि वृथाभिमान इत्याह—स मृतमनोमेतीत्येवं रूपोऽर्थोऽभिधेयो यस्यास्तां तदर्थिकां, 'शेषाद्विभाषा' इति कप्समा। 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुप' इतीकारः, श्रुतिं पूर्वोक्तवेदवाक्यम् । देवो विद्वांश्च, स्मरः, नलस्य मुखेन्दुः मुखचन्द्रः, परो मुख्यार्थो यस्यास्तां म् । 'परं दूरान्यमुख्येषु' इति वैजयन्ती । मम आह किल ब्रूते खलु । विद्वदुक्त ग्राह्य इत्यर्थः । परतोऽपि मे भर्ता नल एव नान्य इति भावः ॥ ५२ ॥

जड चन्द्र ! 'मरनेसे भीमकन्या दमयन्तीका मन मुझमें लीन हो जायेगा; अर्थात् ती मुझे चाहने लगेगी' ऐसा समझते हो क्या ? विद्वान् वेदव्याख्यानकर्ता (पक्षान्तस्मरणशील विद्वान् , या देवता) काम ने निश्चय ही मुझसे उस श्रुति (वेदमन्त्र) र्थ नलका मुख रूप बतलाया है (अत एव मैं मरकर भी नलको ही जन्मान्तरमें चाहूंगी, तुम्हें कदापि नहीं) । ['यत्रास्य पुरुषस्याग्नि……' श्रुतिके र मृत प्राणीका मन चन्द्रमामें लीन हो जाता है, इस कारण चन्द्रमाका वैसा सोचना कर दमयन्तीने कहा है कि उक्त श्रुतिका 'मरनेपर प्राणियोंके मनका चन्द्रमामें लीन सामान्य अर्थ है। वेदव्याख्यान या पूर्वापरका स्मरण करनेवाले विद्वान् या देवता कामने श्रुतिका अर्थ 'मरनेपर नलरूपी चन्द्रमामें मनको लीन होना' बतलाया है। अत एव न्यकी अपेक्षा विशेषकी बलवत्ता होनेसे तुम्हारी आशा ('मरनेपर दमयन्तीका मन चन्द्रमें लीन होगा' यह समझना) भूल है। सामान्य बुद्धिवाला ही मनुष्य किसी आदिका सामान्य अर्थ ग्रहण करता है, विद्वान् तो विशेष अर्थको ही ग्रहण करते हैं —देवता कामका बतलाया हुआ श्रुतिका विशेष अर्थ ही ग्राह्य है, सामान्य अर्थ नहीं]॥

मुखरयस्व यशोनवडिण्डिमं जलनिधेः कुलमुज्ज्वलयाऽधुना ।
अपि गृहाण वधूवधपौरुषं हरिणलाञ्छन ! मुञ्च कदर्थनाम् ॥ ५३ ॥

मुखरयस्वेति। हे हरिणलान्छन शशाङ्क ! यशसः नवडिण्डिमं
नूतनवाद्यविशेषं मुखरयस्व मुखरं रवणं कुरु, अधुना जलनिधेस्त्वज्जन
उज्वलय प्रकाशय, वधूवधपौरुषमपि स्त्रीवधशौर्यञ्च, गृहाण स्वी
कुत्सितोऽर्थः कदर्थः पीडाकरः, 'कोःकत्तत्पुरुषेऽचि' इति कुशब्दस्य
कदर्थीकरणं कदर्थना कदर्थनशब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्ताद्युच्। तां
मारय। न तु पीडयेत्यर्थः। अत्र वधूवधस्यानिष्टत्वेनाविधेयस्य विधाने
भुङ्क्ष्व' इतिवन्निषेधपरो विध्याभासः। अनिष्टनिषेधाभासपराक्षेपाल
तथा चालङ्कारसूत्रम्—'अनिष्टं विध्याभासश्चे'ति ॥ ५३ ॥

हे मृगलान्छन (कलङ्की चन्द्रमा)! अपने यशकी (पक्षान्तरमें—सु+
अर्थात् अत्यन्त अयशकी) डुग्गी पिटवावो। जलनिधि (अपने पिता) के वं
करो (पक्षान्तरमें—अपने पिताके वंशको अधिक दग्ध करो अर्थात् जला डाले
की बहादुरी लूट लो अर्थात् मुझे मार डालो; परन्तु कुत्सित अर्थना करना या
देना तो छोड़ दो। [पूर्वोक्त वाक्योंमें एक पक्ष काकुद्वारा निन्दापरक तथा दूस
विक कथनपरक है। कोई भी शूर व्यक्ति स्त्रीकी हत्या करनेसे यशकी डुग्गी नहीं
उस निन्दित कर्मसे पिताके वंशको ही उज्ज्वल करता है और न तो उससे
बहादुरी ही मिलती है; अपितु स्त्री-हत्यासे अकीर्ति होती है, पिताके कुलमें
जाती है (बचा-खुचा भी यश नष्ट हो जाता है)। किन्तु तुम जलनिधि (
अभेद होनेसे जडनिधि अर्थात् मूर्खतम पिताके मूर्ख पुत्र हो, अतएव तुम ऐसा
करते हो, यह ठीक ही है। मूर्खसे अन्य आशा भी क्या हो सकती है ?] ॥

निशि शशिन्! भज कैतवभानुतामसति भास्वति तापय पाप
अहमहन्यवलोकयितास्मि ते पुनरहर्पतिनिर्धुतदर्प

निशीति। हे शशिन् ! पाप ! क्रूर ! नृशंसो घातुकः क्रूर पापः' इत्य
भास्वत्यसति। कैतवभानुतां कपटसूर्यत्वं भज। मां तापय, किं त्वहन्या
तिना सूर्येण, 'अहरादीनां पत्यादिषु'इति रेफादेशः। ते तव, निर्धुतदर्पं
रताम्, अवलोकयितास्मि द्रक्ष्यामीत्यर्थः। लुटि मिपि तासिप्रत्ययः। पा
शमासन्नमपश्यन्तः परान् हिंसन्तीति भावः ॥ ५४ ॥

हे चन्द्रमा ! रातमें सूर्यके नहीं रहनेपर तुम कपटसे सूर्य बन लो और
तपाओ; किन्तु मैं कल दिनमें सूर्यसे तुम्हारे अभिमानको नष्ट हुआ अर्थात्
निष्प्रभ हुए तुमको देखूंगी। [अन्य भी दुष्ट बड़ोंकी अनुपस्थितिमें ही दु
उसकी उपस्थितिमें अर्थात् सामने पड़नेपर उस दुष्टका घमण्ड दूर हो
किसी के द्वारा सताया गया व्यक्ति प्रबलतम अन्य व्यक्तिके द्वारा सताने वालों
नाश देखकर हर्षित होता है] ॥ ५४ ॥

शशकलङ्क ! भयङ्कर ! मादृशां ज्वलसि यन्निशि भूतपतिं श्रितः ।
दमृतस्य तवेदृशभूतताद्भुतकरी परमूर्धविधूननी ॥ ५५ ॥

शकलङ्केति । हे शशकलङ्क शशाङ्क ! मादृशां वियोगिनामित्यर्थः । भयंकरोतीति र उद्वेजक! 'मेघर्तिभयेषु कृञः' इति खच्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषत्' इत्यादिना मः । यद्यस्मात्, भूतपतिं शिवं पिशाचपतिञ्च, श्रितः सन् निशि ज्वलसि प्र- । तत्तस्मादमृतस्यामृतमयस्य मृतेतरस्य च, तव परेषां द्रष्टॄणां स्वाविष्टानां विधूननी एकत्र विस्मयादन्यत्रावेशाच्च शिरःकम्पकरी, ईदृशभूतता इत्थंभूत- दृशपिशाचत्वञ्च, अद्भुतकरी विस्मयकरी। हरशिरोमणेरमृतस्य इव इत्थं प्रज्वल- त्वमद्भुतमिति वाक्यार्थः। जीवत ईदृगलातपिशाचत्वमद्भुतमिति व्यङ्ग्यार्थः ॥

शशकलङ्क (शश-लाञ्छनवाले) मुझ-जैसी (विरहिणियों या निरपराध अबलाओं) र! चन्द्रमा ! रातमें भूतपति (पञ्चमहाभूतोंमें प्रधान आकाश, या प्रमथादि भूतपति भगवान् शङ्कर) का आश्रय किये हुए तुम जो जलाते (विरहिणियोंको सन्तप्त हो, अमृत (अमृतमय किरणोंवाले या जीवित) तुम्हारा (भूतावेश या विरहव्यथाके दूसरोंके मस्तकको हिलानेवाला इस प्रकारका भूतपना (प्रेतपना) आश्चर्यकारक ोई जीव मरनेपर प्रेत होकर रातमें चलता या ज्वलित होता है, बालकादिके लिये क होता है और जिसपर वह आविष्ट होता है उस (भूताविष्ट मनुष्य) का शिर गता है; किन्तु अमृत अर्थात् जीवितावस्थामें स्थित किसीका वैसा करना आश्चर्य- । अथवा—अमृत अर्थात् जलमय होनेसे शीतल चद्रमाका जलाना (दाहक होना) ारक है । अथवा—भूतों अर्थात् प्राणियोंके पति (पालक) एवं अमृत (सुधा) रूप का दुखित अबलाओंको भय दिखाना या रातमें अपनी तेजी (बहादुरी) दिखलाना होनेसे आश्चर्यजनक है ॥ दमयन्तीने सखीके द्वारा अपनी ओरसे चन्द्रमाके प्रति ८ से यहां तक उपालम्भ दिया] ॥ ५५ ॥

वणपूरतमालदलाङ्कुरं शशिकुरङ्गमुखे सखि ! निक्षिप ।
कमपि तुन्दिलितः स्थगयत्वमुं सपदि तेन तदुच्छ्वसिमि क्षणम् ॥५६॥

वणेति । हे सखि ! श्रवणपूरः कर्णावतंसः, यस्तमालदलाङ्कुरस्तमालपल्लवस्तं, रङ्गस्य मुखे वक्त्रे, निक्षिप । तेन दलाङ्कुरेण, सपदि, किमपि कियदपि, तुन्दि- तुन्दिलीकृतः, स्थूलीकृतस्सन्, अमुं शशिनं, स्थगयतु छादयतु । तत्तस्मा- क्षणमुच्छ्वसिमि प्राणिमि, 'रुदादिभ्यः सार्वधातुक' इतीडागमः ॥ ५६ ॥

सखि ! कर्णपूरक तमाल-किसलय (तमालका नया पल्लव) को चन्द्रमाके मृगके (खानेके लिये) डालो, (जिससे उसे खाकर) वह कुछ तुन्दिल (बढ़े हुए पेटवाला) चन्द्रमाको आच्छादित करे तो मैं क्षणभर श्वास लूं । [चन्द्रमा मुझे इतना सताता मैं तनिक श्वास भी नहीं लेने पाती] ॥ ५६ ॥

असमये मतिरुन्मिषति ध्रुवं करगतैव गता यदियं कु
पुनरुपैति निरुध्य निवास्यते सखि ! मुखं न विधोः पुनरी

असमय इति । हे सखि ! असमये मतिः कार्यधीः, उन्मिषति उ न तु योग्यकाल इत्यर्थः । कुतः, यद्यस्मादियं कुहूः नष्टचन्द्रामावास्या स्वायत्तैव, हस्तनक्षत्रगता च गता । तदास्तां, पुनरुपैति पुनरागच्छति निरुध्य निवास्यते स्थाप्यते । तस्य फलमाह—विधोर्मुखं पुनर्नेक्ष्यते । शकत्वादिति भावः । पापिष्ठस्य तस्यादर्शनमेव फलमित्यर्थः ॥ ५७॥

हे सखि ! निश्चय ही असययमें (बेमौके) बुद्धि स्फुरित होती (कोई सूझती) है, क्योंकि हाथमें अर्थात् अत्यन्त पासमें आई हुई (अथवा—हस्त हुई, इस पक्षमें आश्विन मासका वर्णन सिद्ध होता है) कुहू (जिसमें चन्द्र ही नहीं दिखलाई पड़ती, वह अमावास्या तिथि) चली गयी अर्थात् बीत यदि वह फिर आवेगी, तब उसे (प्रार्थना आदि करके) रोक रखूंगी, (पापी इस) चन्द्रमाका मुख ही नहीं देखूंगी । [अन्य भी कोई सज्जन मुख देखना नहीं चाहता] ॥ ५७ ॥

अयि ! ममैष चकोरशिशुर्मुनेर्व्रजति सिन्धुपिबस्य न शिष्य
अशितुमब्धिमधीतवतोऽस्य वा शशिकराः पिबतः कति शी

अयीति । अयि सखि ! एष मम चकोरशिशुर्विषपरीक्षार्थं गृहसं चकोरः । यथाह कामन्दकः—'चकोरस्य विरज्येते नयने विपद पिबतीति पिबः, 'पाघ्राध्मा' इत्यादिना शतृप्रत्यये पिबादेशः । समुद्रपायिनो मुनेरगस्त्यस्य शिष्यतां, न व्रजतीति काकुः । व्रजती अयं चकोरश्चन्द्रं निश्शेषं पास्यतीत्याशयः, न चैतदशक्यमित्याह— पातुमधीतवतः अभ्यस्तवतः, अत एव, पिबतः अब्धिपानप्रवृत्तस्या शशिकराः कति वा शीकराः कतिचित्कणा इत्यर्थः । अत्र समुद्रपा कया शशिकरपानसिद्धेरर्थापत्तिरलङ्कारः ॥ ५८ ॥

हे सखि ! मेरा यह चकोरका बच्चा समुद्रको पीनेवाले मुनि (अगस्त्य) बन जायेगा ? अर्थात् अवश्य बन जायेगा । समुद्रको पीनेकी शिक्षा पावे पीते हुए इसके लिये चन्द्र-किरणें कितनी बूंद होंगी अर्थात् अत्यल्प ही हों चन्द्रिका-पान करना लोक-प्रसिद्ध होनेसे यहां 'चकोर-शिशु' कहा बालकको दी गयी शिक्षा उसे शीघ्र अभ्यस्त होजाती है और यह चकोर होजायेगा तब अतिसरलतासे चन्द्रिकाको पी जायेगा, जिससे चन्द्रिकाके सन्ताप नहीं होगा । चकोर विषपरीक्षाके लिये पाला जाता है, विषैले पदा चकोरकी आंखे लाल हो जाती हैं] ॥ ५८ ॥

कुरु करे गुरुमेकमयोघनं बहिरितो मुकुरञ्च कुरुष्व मे।
विशति तत्र यदैव विधुस्तदा सखि! सुखादहितं जहि तं द्रुतम् ।।५६।।

कुर्विति। हे सखि! एकं गुरुं महान्तम् अयोघनं तप्तायःपिण्डघट्टनमयोमुद्गरं, करे कुरु बिभृहीत्यर्थः। इतोऽस्मत्साधनाद्बहिः, मे मम मुकुरं दर्पणं च कुरुष्व धेहि। तत्र मुकुरे यदा विधुर्विशति प्रतिफलति, तदैव, सुखादनायासात्, अहितं त्रुं, तं विधुं, द्रुतं जहि मारय। हन्तेर्लोटि सिपि हिरादेशः। 'हन्तेर्ज' इति जादेशस्य सिद्धवदत्राभात्' इत्यसिद्धत्वान्न हेर्लुक्। अत्र चन्द्रप्रहारादिप्रलापा मेघसन्देशावन्मदनोन्मादविकारा इत्यनुसन्धेयम् ॥ ५९ ॥

हे सखि! अपने हाथमें लोहेका भारी घन लो, मेरे दर्पणको इस (घर) के बाहर आंगनमें) रखो। इस दर्पणमें जब चन्द्रमा प्रवेश करता (प्रतिबिम्बित होता) है, तब शत्रुको अनायास ही शीघ्र मार डालो। [अन्य भी कोई व्यक्ति किसी प्रकार घर आदिमें के घुसनेपर लोहेके छड़ आदि भारी पदार्थोंसे उसे मारता है॥ दमयन्तीका उन्माद त ही बढ़ गया है, जिसके कारण वह इस प्रकार बेसिर-पैर की बातें करती है]॥ ५९॥

उदर एव धृतः किमुदन्वता न विषमो वडवानलवद्विधुः।
विषवदुज्झितमप्यमुना न स स्मरहरः किममुं बुभुजे विभुः॥ ६०॥

उदर इति। विषमः क्रूरकर्मा, विधुः, उदन्वता उदधिना, 'उदन्वानुदधौ च' ति निपातः। वडवानलवद्वडवाग्निना तुल्यं, 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः'। उदरे कुक्षा- व किं न धृतः। अथवा, अमुना उदन्वता उज्झितमप्यमुं विधुं विभुः समर्थः स्मर- रः, विषवद्विषेण कालकूटेन तुल्यं, पूर्ववद्वतिः। किं न बुभुजे न ग्रसतेस्म। उभय- पि स्वयं जीवेम इति भावः॥ ६०॥

समुद्रने वडवानलके समान दुःसह (पक्षान्तरमें—विषतुल्य) चन्द्रमाको पेटमें (अपने तर) ही क्यों नहीं धारण किया? तथा इस (समुद्र) के द्वारा विष (कालकूट) के मान छोड़े (बाहर निकाले) गये इस चन्द्रमाको काम-नाशक एवं सर्वसमर्थ वे शङ्कर क्यों नहीं खा गये?। [लोकनाशकारी वडवानलको समुद्रने जिस प्रकार अपने भीतर कर जगत्का उपकार किया, वैसे ही सन्तापकारक चन्द्रमाको भी भीतर ही रख लेना चित था। और यदि समुद्रने इस चन्द्रमाको अपने भीतर नहीं रखकर कालकूट विषके मान इसको भी बाहर कर दिया तो कामदेवको भस्म करनेवाले तथा सर्वशक्तिसम्पन्न रजीने जगत्के दाहक कालकूट विषको जिस प्रकार खाकर संसारको बचा लिया, सी प्रकार इस चन्द्रमाको भी क्यों नहीं खाया? अतएव ज्ञात होता है कि वडवानल तथा लकूटसे भी अधिक दाह करनेवाला यह चन्द्रमा है, इसी कारण समुद्र तथा शङ्करजीने इसको छोड़ दिया]॥ ६०॥

अमितमेकसुराशितमप्यभून्न पुनरेष पुनर्विशदं विषम् ।
अपि निपीय सुरैर्जनितक्षयं स्वयमुदेति पुनर्नवमार्णवम् ॥ ६१

असितमिति । आर्णवमर्णवे जातं, 'तत्र जातः' इत्यण्प्रत्ययः । अशि विषं कालकूटाख्यमेकेनैव सुरेण महादेवेन, अशितं गिलितमपि, पुनर्नाभू एष चन्द्रो नामार्णवं विशदं विषं पुनः सितविषं तु, सुरैर्बहुभिर्देवैः, 'प्रथ वह्नि'रित्याद्युक्तक्रमेण, निपीय जनितक्षयं कृतनाशमपि, स्वयं नवं तद्रूपेण स्यागच्छतीति व्यतिरेकः ॥ ६१ ॥

समुद्रसे उत्पन्न कृष्णवर्णके (कालकूट) विषको एक देवता अर्थात् केवल म खा लिया तो वह फिर उत्पन्न नहीं हुआ और समुद्रसे ही उत्पन्न इस (चन्द्ररूप) विषको बहुत देवताओंने अच्छी तरह पानकर इसका क्षय कर दिया, तब भी यह श्वेत विष) फिर स्वयं उत्पन्न होता है । [जिस कृष्ण वर्ण अर्थात् दुष्ट कालकूट वि एक महादेवजीने खाया अतः उसे फिर उत्पन्न होना सम्भव है, न कि श्वेत उत्तम चन्द्ररूप जिस विषको अनेक देवताओंने बार २ पानकर नष्ट कर उसे बार बार स्वयं (किसीसे विना सहायता पाये) उत्पन्न होना । अत एव कालकूटसे भी अधिक तीव्र विष है ॥ चन्द्रकलाको देवतालोग कृष्ण पक्षमें पान करते शास्त्रीय सिद्धान्त है] ॥ ६१ ॥

विरहिवर्गवधव्यसनाकुलं कलय पापमशेषकलं विधुम् ।
सुरनिपीतसुधाकमपापकं ग्रहविदो विपरीतकथाः कथम् ॥ ६

विरहीति । हे सखि ! विरहिवर्गवधे व्यसनेनासक्त्या, आकुलं सङ्कुलं, अशेषकलं पूर्णकलं, विधुं पापं कलय क्रूरं विद्धि । सुरैर्निपीता सुधा यस्य तं, त्यर्थः । शैषिकः कप्समासान्तः । 'आपोऽन्यतरस्याम्' इति विकल्पाद्ध्रस्व अपाप एवापापकस्तं सौम्यं कलय । तथा कार्यदर्शनादिति भावः । किंतु दैवज्ञास्तु कथं विपरीतकथाः 'क्षीणेन्द्वर्कार्किभूपुत्राः पापास्तत्संयुतो बुधः न्द्रबुधाचार्यशुक्रास्ते स्युः शुभग्रहाः ॥' इत्येवं विरुद्धवाचः । अनुभवविरो तद्वाक्यमिति भावः ॥ ६२ ॥

(हे सखि ! तुम) विरही स्त्री-पुरुष-समुदायके वधरूप निन्दित कर्मवाले (वधमें आसक्त अर्थात् अतिशय संलग्न) पूर्णकलायुक्त चन्द्रमाको पापी और जिसकी कला-सुधाका पान कर लिया है, उस (कृष्ण पक्षके) चन्द्रमाको पापर किन्तु ज्यौतिषी लोग उल्टा (पूर्ण चन्द्र ग्रहको शुभ तथा क्षीण चन्द्र ग्रहको अ कहते हैं ? । [अथवा—अशेष (सम्पूर्ण अर्थात् ६४) कलाओंसे युक्त विधु (भी परोपकारी न होनेसे पापी तथा कलाहीन परोपकारी पतित या मूर्खको भी समझो] ॥ ६२ ॥

विरहिभिर्बहुमानमवापि यः स बहुलः खलु पक्ष[1]इहाजनि।
तदमितिः सकलैरपि यत्र तैर्व्यरचि सा च तिथिः [1]किममा कृता॥६३॥

विरहिभिरिति। यः पक्षो विरहिभिः वहुमानं सत्कारमवापि प्रापितः, क्षीय- णचन्द्रत्वादिति भावः। अवपूर्वादाप्नोतेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्। 'गतिबुद्धि'- यादिना अणि कर्तुः कर्मत्वम्। 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' इत्यभिधानात्। स विरहि- र्वहूकृतः पक्ष इहास्मिन् लोके, वहु वहुकारं, लाति आदत्त इति व्युत्पत्त्या वहुलः तोऽनुपसर्गे कः' न तु 'वहोरुलच्' इति भावः। अजनि जातः। खल्वित्युत्प्रेक्षा। क्ष तत्रापि, यत्र यस्यां तिथौ सकलैरपि तैर्विरहिभिः तदमितिस्तस्य वहुमानस्या- तिरपरिमितिर्व्यरचि अकारि। नष्टचन्द्रत्वादिति भावः। सा च तिथिः अमा मितिर्वहुमानस्यास्यामिति व्युत्पत्त्या अमा, अमानामिका कृता किम्? मातेर्भा- वे सम्पदादिक्विपि नञ्समासे मत्वर्थीये चाकारप्रत्यये 'यस्येति चे'ति लोपे 'अजा- टाप्'। न त्वमा सहभावोऽस्यां सूर्याचन्द्रमसोरिति व्युत्पत्त्येत्युत्प्रेक्षा। अमेति हार्थे अव्ययं, ततो भावप्रधानान्मत्वर्थीयाकाराट्टाप्॥ ६३॥

जिस पक्षने विरहियों से अधिक सम्मान पाया, वह पक्ष इस संसार में 'वहुल' (वहुत नको लेनेवाला) अर्थात् कृष्णपक्ष हुआ। (उसमें भी) जिसमें उन्हीं (विरहियों) ने सम्मानको अपरिमित (अत्यधिक होनेसे परिमाणरहित) कर दिया, वह तिथि 'अमा' गयी अर्थात् अमवास्या कहलायी क्या? अथवा—निश्चय ही अमा की गयी। [विरहियों लिये कृष्णपक्ष कम चन्द्रदर्शन होने से सुखदायी होता है और अमावस्या तिथि सर्वथा द्रदर्शन नहीं होनेसे अधिक सुखदायिनी होती है]॥ ६३॥

स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात्किमु विधुं ग्रसते न[2] विधुन्तुदः।
विपतितं वदने कथमन्यथा बलिकरम्भनिभं निजमुज्झति॥ ६४॥

स्वेति। विधुन्तुदो राहुः, विधुं चन्द्रं, स्वरिपोर्विष्णोस्तीक्ष्णं निशितं यत् सुदर्शनं दिति विभ्रमात् सादृश्यमूलभ्रमान्नग्रसते किमु? तालुच्छेदभयादिति भावः। यथा भयाभावे, वदने निपतितं वक्त्रान्तर्गतम्। अत एव, निजं स्वायत्तं, बलि- म्भनिभम् उपहृतदध्युपसिक्तसक्तुसदृशं, स्वाधिष्ठितमित्यर्थः। 'करम्भा दधि- क्तव' इत्यमरः। एनमिति शेषः। कथमुज्झति उद्गिरतीत्युत्प्रेक्षा॥ ६४॥

वह राहु अपने शत्रु (विष्णु) के तीक्ष्ण सुदर्शन चक्रका अतिशय भ्रम होनेसे चन्द्रमा नहीं ग्रास करता (खाता) है क्या? अन्यथा (यदि अतिशय भ्रम नहीं होता तो) में पड़े हुए अपने वलिके करम्भ (अपनी पूजाके लिये दिये गये दही और सत्तू,— द्रमा भी दहीमें साने गये सत्तूके गोलेके समान श्वेतवर्ण होता है) के समान (चन्द्रमाको) ों छोड़ देता है?। [मालूम पड़ता है गोलाकार चन्द्रमाको देखकर राहुको उसी तीक्ष्ण

---

[1] 'किममीकृता' इति पाठान्तरम्।   [2] 'स' इति पाठान्तरम्।

शस्त्र (सुदर्शन चक्र) का अत्यन्त भय होजाता है, उसी कारण वह अपना गल भयसे अपनी पूजा में प्राप्त दधियुक्त श्वेतपिण्डाकार सत्तूके समान चन्द्रमा को मुखमें डालकर भी बार २ छोड़ देता है। समुद्रमन्थनके बाद अमृत बांटनेके चन्द्रके बीचमें बैठकर राहुने जब अमृत पी लिया, तब उसे असुर जानकर शिर सुदर्शन चक्रसे काट दिया] ॥ ६४ ॥

वदनगर्भगतं न निजेच्छया शशिनमुज्झति राहुरसंश
अशित एव गलत्ययमत्ययं सखि ! विना गलनालबिलाध्व

वदनेति। हे सखि! यद्वा राहुः वदनगर्भगतमास्यान्तःप्रविष्टं शशिनं स्वेच्छया, नोज्झति । असंशयं संशयो नास्ति । अर्थाभावेऽव्ययीभावः। शशी अशितो गिलित एव अत्ययं विना अकृच्छ्रेणेत्यर्थः । 'अत्ययोऽतिक्र इति वैजयन्ती । गलनालविलाध्वना कण्ठनालान्तःकुहरमार्गेण, गलति राहोः शिरोमात्रत्वेन कण्ठनालनिस्सृतस्याशितस्य जठराग्निसंयोग पापिष्ठस्येन्दोः पुनरुदय इत्युत्प्रेक्षार्थः ॥ ६५ ॥

राहु-मुखके भीतर गये अर्थात् खाये हुए चन्द्रमाको अपनी इच्छासे नहीं किन्तु निश्चय ही खाया हुआ यह चन्द्रमा विना जीर्ण हुए ही (अथवा—अ गलनालके बिलरूपी रास्तेसे निकल आता है । [राहुका केवल सिरमात्र होनेसे बाहर निकल जाना सरल ही है, यदि उसका शरीर पूर्ण अर्थात् धड़के सहि चन्द्रमा उसके पेट में पहुँचकर जीर्ण होने (पच जाने) से बाहर नहीं निकल पा भी कोई व्यक्ति खाये हुए किसी पदार्थको स्वेच्छासे बाहर नहीं निकालता है]

ऋजुदृशः कथयन्ति पुराविदो मधुभिदं किल राहुशिरश्छिद
विरहिमूर्धभिदं निगदन्ति न क नु शशी यदि तज्जठरानलः

ऋजुदृश इति।ऋजुदृशः तादात्विककार्यमात्रदर्शिनः, नत्वागामिकार्यद र्थः। पुराविदः पुराणज्ञाः पूर्वपुरुषाः, मधुभिदं, विष्णुं, राहुशिरश्छिदं कथय किलेति वार्तायाम् । विरहिमूर्धभिदं वियोगिशिरश्छिदं, न निगदन्तीति तथैव कथनीयमित्यर्थः । कुतस्तस्य राहोर्जठरानलो यदि अस्तीति शेषः नु ? न क्वापि स्यादित्यर्थः। राहुशिरश्छेदेन तदीयजठराग्निविच्छेदकत्वा शशिनमुज्जीवयन्नयं विष्णुर्विरहिशिरश्छेदीत्येवं व्यपदेश्यः न राहुशिरश्छे

सीधा देखनेवाले (सरलबुद्धि) पौराणिक लोग मधुसूदन (विष्णु) को काटनेवाला कहते हैं, विरहियोंका सिर काटनेवाला नहीं कहते । (क्योंकि) जठरानल (पूर्ण धड़के साथ शरीर होनेसे जठराग्नि होती तो चन्द्रमा कहां हो नहीं होता, किन्तु राहुके जठराग्निमें ही जीर्ण हो जाता । [विष्णुद्वारा राहुका के कारण ही राहुके मुखमें गया हुआ भी चन्द्रमा गर्दनके रास्ते बार २ बाहर

और विरही स्त्री-पुरुषोंको सताया करता है, अतः विष्णुको राहुका शिर काटनेवाला कहकर विरहियोंका शिर काटनेवाला कहना उचित है] ॥ ३६ ॥

स्मरसखौ रुचिभिः स्मरवैरिणा मखमृगस्य यथा दलितं शिरः ।
सपदि संदधतुर्भिषजौ दिवः सखि! तथा तमसोऽपि करोतु कः ॥६७॥

स्मरसखाविति। रुचिभिः स्मरसखौ कायकान्तिभिः स्मरसदृशौ तन्मित्रे च, दिवो भिषजौ स्वर्वैद्यौ, स्मरवैरिणा हरेण, दलितं भिन्नं, मख एव मृगः तस्य मृगरूपधारिणो मखस्येत्यर्थः। शिरो यथा सपदि संदधतुः संयोजयामासतुः। यो यस्य मित्रं स तस्य वैरं निर्यासयतीति युक्तम् । किंतु, हे सखि! कस्तमसो राहोरपि तथा शिरस्सन्धानं करोतु। न कोऽपीत्यर्थः। हरस्य मखमृगशिरश्छेदे पुराणं प्रमाणम् , अश्विनोः पुनस्तत्सन्धाने 'ततो वै तौ यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्ताम्' इति श्रुतिः ॥ ६७ ॥

हे सखि! शोभाओंसे कामदेवके मित्र अर्थात् कामदेवके समान शोभावाले स्वर्गके वैद्य अश्विनीकुमारोंने कामशत्रु (शङ्करजी) के द्वारा मृगरूपधारी यज्ञके शिरको जिस प्रकार शीघ्र जोड़ दिया, उस प्रकार (विरहि-वैरी विष्णुके द्वारा काटे गये) राहुशिरको कौन जोड़े ?। [यज्ञका कामदेव तथा कामदेवके अश्विनीकुमार मित्र हैं, अतः 'मित्रका मित्र भी मित्र होता है तथा वह मित्र मित्र, मित्र-शत्रुद्वारा बिगाड़े हुए कामको ठीक कर देता है' इस सिद्धान्तके अनुसार यज्ञमित्र-(कामदेव-) मित्र अश्विनीकुमारोंने मित्र-(कामदेव-) शत्रु अर्थात् शङ्करजीके द्वारा मित्र-(कामदेव-) मित्र अर्थात् यज्ञ (मृगरूपधारी यज्ञ) का काटा गया शिर तत्काल जोड़ दिया, कटे हुए अङ्गको तत्काल जोड़नेसे-उसमें भी स्वर्गके दो वैद्योंद्वारा जोड़नेसे वह बिल्कुल ठीक हो गया। विरहिणियोंका कोई दो की कौन कहे, एक भी अनुभवी चिकित्सक मित्र दृष्टिगोचर नहीं होता, जो विरहि-शत्रु विष्णुद्वारा काटे गये राहुशिरको जोड़ दे, यदि ऐसा होता तो राहुके द्वारा खाया गया चन्द्रमा उसके जठरानलमें ही रह जाता और विरहि-जनोंको वह नहीं सताता] ॥ ६७ ॥

नलविमस्तकितस्य रणे रिपोर्मिलति किं न कबन्धगलेन वा ।
मृतिभिया भृशमुत्पततस्तमो ग्रहशिरस्तदसृग्दृढबन्धनम् ॥ ६८ ॥

नलेति। अथवा, रणे नलेन, विमस्तकितस्य तथापि मृतिभिया मरणभयेन भृशमुत्पतत उद्गच्छतो रिपोः, कबन्धगलेन अपमूर्धकलेवरकण्ठेन सह तमोग्रहस्य शिरः, तस्य गलस्यासृजा रक्तेन दृढबन्धनं निबिडसंयोगं सत् किं न मिलति न सङ्गच्छते?। तथा च तज्जठराग्निना चन्द्रे जीर्येदिति भावः ॥ ६८ ॥

अथवा संग्राममें मरने ('धृतिभिया' पाठमें-नलद्वारा पकड़े जाने) के भयसे अत्यन्त ऊपर उछलते हुए (तथापि) नलके द्वारा काटे गये शिरवाले शत्रुके (शिरसे रहित) धड़की गर्दनके साथ (आकाशमें तारारूपमें स्थित) राहुका शिर उस (शिरसे हीन धड़) के रक्तसे अच्छी तरह जुड़कर नहीं मिल जायेगा क्या ?। [इसके पूर्ववाले श्लोकमें विरहिजनोंको

कोई मित्र नहीं दृष्टिगोचर होनेसे राहुशिरका उसीके धड़के साथ जोड़ने की को दमयन्तीने प्रकट किया है; फिर इस पद्यमें यदि कोई वैसा करनेवाला मि तो भी राहुके शिरको कटे बहुत समय व्यतीत हो जानेके कारण उस जोड़ने समझकर इस श्लोकमें रक्तयुक्त नलच्छिन्नमस्तक-शङ्कुके धड़के साथ मिलकर दृढ होने की कल्पना दमयन्तीद्वारा की गई है। ऐसा होनेसे चन्द्र जठरमें जाकर गल-पच जायेगा और विरहि-जनोंको सर्वदाके लिये उससे छुट जायेगा] ॥ ६८ ॥

सखि ! जरां परिपृच्छ तमश्शिरस्सममसौ दधतापि कबन्धत
मगधराजवपुर्दलयुग्मवत् किमिति न प्रतिसीव्यति केतुना ?॥

सखीति। अथवा, हे सखि ! जरां जराख्यां निशाचरीं, परिपृच्छ। अ कबन्धताम् अशिरस्कतां दधतापि केतुना समं केतुग्रहेण सह, तमसो राहोः मगधराजस्य जरासन्धस्य, वपुर्दलयोः शरीरार्धभागयोः युग्मवत् युगलमिव, ति न प्रतिसीव्यति न सन्धत्ते ?। शिरोमात्रं राहुः शरीरमात्रं केतुः तयोः पूर्ववत्तज्जठराग्निना चन्द्रो जीर्येदिति भावः। जराकृताङ्गसन्धानो जरास भारती कथानुसन्धेया ॥ ६९ ॥

हे सखि ! तुम जरा-(नामकी राक्षसी) से पूछो कि राहुके शिरको कबन्ध साथ, मगधनरेश (जरासन्ध) के शरीरके दो खण्डोंके समान क्यों नहीं सी (देती हो ?। [जिस प्रकार दो टुकड़ोंके रूपमें जन्मे हुए जरासन्धका शरीर जोड़ दिया, उसी प्रकार केतुरूप धड़ तथा राहुरूप शिरको जोड़ देना उचित है, द्वारा सुदर्शन चक्रसे काटनेके बाद एक ही दैत्यका शिर राहु तथा धड़ केतु प्रसिद्ध हुआ, अतः एक ही व्यक्तिके धड़ तथा शिरको जोड़ना तुम्हें अवश्यमेव इससे जिस प्रकार विरहिजनों को लाभ होगा, वह पहलेके दो श्लोकोंमें गया है] ॥ ६९ ॥

८ वद विधुन्तुदमालि ! मदीरितैस्त्यजसि किं द्विजराजधिया
किमु दिवं पुनरेति यदीदृशः पतित एष निषेव्य हि वारुणीम्

वदेति। हे आलि सखि ! मदीरितैः मद्वाक्यैः, विधुन्तुदं राहुं वद, रिपुं जश्चन्द्रो ब्राह्मणश्रेष्ठश्च, तद्धिया त्यजसि किम् ?। तच्चास्तीत्याह—यद्यस्मादे वारुणीं प्रतीचीं सुराञ्च। 'वारुणी गन्धदूर्वायां प्रतीचीसुरयोरपि' इति विश्वः व्य गत्वा पीत्वा च। पतितः च्युतः पातकी च। ईदृशः पतितोऽपि पुनर्दिवम् स्वर्गञ्च एति यदि किमु। द्वयोरपि पतितयोरधोगतिरेव नोर्ध्वंगतिरित्यर्थः। पतितस्य कुतः श्रैष्ठ्यं कुतस्तरां तद्वधे दोषश्चेति भावः ॥ ७० ॥

हे आलि ! तुम मेरे कहनेसे चन्द्रमाको पीडित करनेवाले अर्थात् राहुसे पूछो

जराज (ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ, पक्षान्तरमें—चन्द्रमा) को बुद्धिसे अर्थात् ब्राह्मण-श्रेष्ठ पक्षान्तरमें-चन्द्रमा) समझकर शत्रुभूत इस चन्द्रमाको (ब्राह्मणको नहीं मारना चाहिये, तदर्थक श्रुतिको स्मरणकर) छोड़ते हो क्या, फिर यदि यह ऐसा अर्थात् ब्राह्मण-श्रेष्ठ ता तो वारुणी (मदिरा, पक्षान्तरमें—पश्चिम दिशा) का सेवनकर अर्थात् मदिरा कर (पक्षान्तरमें—सायङ्कालमें पश्चिमकी ओर जाकर) पतित (मदिरा-सेवनजन्य हापातकसे युक्त, पक्षान्तरमें समुद्रमें गिरा) हुआ फिर स्वर्ग (पक्षान्तरमें—आकाश) क्यों आता? अर्थात् नहीं आता। ['द्विजराज' शब्दका ब्राह्मण या ब्राह्मण-श्रेष्ठ और न्द्रमा-दोनों अर्थ है। ब्राह्मण-हत्याका वेदमें निषेध जानकर शत्रुभूत चन्द्रमाको भी ाह्मण-श्रेष्ठ समझकर छोड़ देना राहुको ठीक नहीं, क्योंकि जो ब्राह्मण मदिराका सेवन रता है वह पतित हो जाता है तथा फिर स्वर्ग पानेका अधिकारी नहीं रहता, किन्तु रुणी अर्थात् पश्चिम दिशाका सेवनकर सायंकालमें पश्चिम समुद्रमें गिरकर पुन प्रातःकाल दित होता है, अतः यह ब्राह्मण है ही नहीं या ब्राह्मण है भी तो पतित ब्राह्मण है, अतः त्रुभूत इस (चन्द्रको तुम अवश्य मारो, इससे हमलोगोंकी भी पीडा शान्त हो जायेगी] ॥ ७० ॥

दहति कण्ठमयं खलु तेन किं गरुडवद् द्विजवासनयोज्झितः ? ।
प्रकृतिरस्य विधुन्तुद ! दाहिका मयि निरागसि का वद विप्रता ? ॥७१॥

दहतीति । हे विधुन्तुद ! अयं विधुः द्विजवासनया द्विजत्वसामान्येनेत्यर्थः । पातित्येऽपि जातेरनपायादिति भावः । गरुडवद् गरुडस्येव 'तत्र तस्येव' इति वतिप्रत्ययः । ते तव कण्ठं दहति खलु । विधुः तेन दाहेनोज्झितः किम् ? अस्य विप्रता का वद, न कापीत्यर्थः । तथा हि, अस्य विधोः प्रकृतिः निरागसि निरपराधायां मयि दाहिका दग्ध्री । अनपराधस्त्रीघातुकस्य कुतो ब्राह्मणत्वमित्यर्थः । 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः । पुरा किल क्षुधितेन गरुत्मता पित्रादेशेन म्लेच्छान् भक्षयता तन्मिलितः भ्रष्टद्विजः कश्चित् तद्दग्धगलेन सहसोद्गीर्ण इति पौराणिकी कथा । तथा माघश्चाह—'विप्रं पुरा पतगराडिव निर्जगार' इति ॥ ७१ ॥

(अथवा) यह चन्द्रमा (खानेपर) तुम्हारे कण्ठको जलाता है, अतः ब्राह्मण समझकर गरुड़के समान इसको छोड़ देते हो क्या? (यह ठीक नहीं, क्योंकि) इसका स्वभाव ही दाहक (जलानेवाला) है, (तुम्हीं बतलाओ कि) मुझ निरपराधिनीमें क्या ब्राह्मणत्व है (जो मुझे जला रहा है)। ब्राह्मण अपराधीको शापके द्वारा जलाता है, निरपराधी—समें भी दुखिया स्त्रीको नहीं, किन्तु जिस प्रकार यह मुझ निरपराधिनीको अपने स्वभावसे ही जलाता है ब्राह्मणत्वके कारण नहीं; उसी प्रकार मुखमें लेनेपर तुमको भी स्वभावसे ही जलाता है, अपने ब्राह्मणत्वके कारण नहीं, अब इस चन्द्रमाको खाना ही तुम्हारे लिए उचित है, गरुडके समान कण्ठमें दाह होनेमात्रसे चन्द्रमाको ब्राह्मण समझकर छोड़ना

उचित नहीं। 'एक समय माताकी दासताको छुड़ानेके लिये स्वर्गसे अमृत लाने हुए गरुडसे कश्यपने कहा था कि मार्गमें ब्राह्मणोंको छोड़कर जो जीव मिले उसे हो, किन्तु जिसको मुखमें लेनेपर गलेमें दाह हो उसे ब्राह्मण समझकर छोड़ आदेशानुसार मार्गमें समुद्रतटपर निषादोंमें रहनेवाले निषादाकृति ब्राह्मणको गरुड़ने के भ्रमसे मुखमें डाला, परन्तु गलेमें दाह होने लगा तो उसे उगल दिया' यह कथा है ॥ ७१ ॥

सकलया कलया किल दंष्ट्रया समवधाय यमाय विनिर्मितः।
विरहिणीगणचर्वणसाधनं विधुरतो द्विजराज इति श्रुतः॥

सकलयेति। विधुः सकलया कलया सकलाभिः, कलाभिरेव, दंष्ट्रया दंष्ट्रा दन्तविशेषैः प्रकृतिद्रव्येण। उभयत्र जात्येकवचनम्। यमाय अन्तकार्थं सम सम्यगवहितीभूय, विरहिणीगणस्य चर्वणसाधनं, किञ्चिद्भक्षणसाधनं विनि किल ब्रह्मणेति शेषः। अतोऽस्माद्दंष्ट्राविशेषत्वाद् 'द्विजराज'इति श्रुतः, न तु द्वि परत्वादित्यर्थः। 'दन्तविप्राण्डजा द्विजा' इत्यमरः। अतो नायमुपेक्ष्य इति भा

यह चन्द्रमा यमराजके लिये सावधान होकर (ब्रह्माके द्वारा) सम्पूर्ण कलाओं विरहिणीसमूहको चबानेका साधन बनाया गया है, अतएव यह द्विजराज (द्वि दांतोंसे शोभनेवाला) कहा गया है। [ब्राह्मणोंमें शोभनेवाला या श्रेष्ठ होनेसे द्विजरा कहा गया है, अतः ब्राह्मण न होनेसे इसे मारनेमें राहुको कोई पाप नहीं, इस कार मार ही डालना उचित है॥ अन्य लोगोंको भी चना आदिको चबानेके लिए सब दृढ़ रहना आवश्यक होता है ॥ ७२ ॥

स्मरमुखं हरनेत्रहुताशनाज्ज्वलदिदं विधिना चकृषे विधुः।
बहुविधेन वियोगिवधैनसा शशमिषादथ कालिकयाङ्कितः॥

स्मरमुखमिति। अथ विधुश्चन्द्रो नामेदं स्मरमुखं ज्वलत् प्रज्वलदेव वि दैवेन हरनेत्रहुताशनाच्चकृषे मध्ये आकृष्टः। अथवा बहुविधेन वियोगिवधेन पापं, तेनैव कालिकया श्यामिकया, शशमिषादङ्कितः। दाहकालिमा वा, लिमा वा शशमिषाद् दृश्यत इति सापह्नवोत्प्रेक्षाद्वयम् ॥ ७३ ॥

ब्रह्माने शिवजीके नेत्रकी अग्निसे, जलते हुए इस चन्द्ररूप काम-मुखको खींच फिर वियोगिजनोंके वधजन्य अनेक प्रकारके पापके कारण उसे शशकके बहाने से अर्थात् कालिखसे चिह्नित कर दिया। [अन्य भी व्यक्ति अग्निमें जलते हुए किसी बचानेके लिये अग्निसे खींचकर निकालता है, यदि वह अच्छा (उपकारक) होता है रख लेता है, अन्यथा यदि वह दूसरोंके लिए हानिकारक होता है तब उसके मुखमें पोतकर उसे बाहर निकाल देता है तथा अधजली वस्तुमें भी कालिख लगी रहती है]

इति विधोर्विविधोक्तिविगर्हणं व्यवहितस्य वृथेति विमृश्य सा ।
अतितरां दधती विरहज्वरं हृदयभाजमुपालभत स्मरम् ॥७४॥

इतीति । अतितरामतिमात्रम् , अव्ययादाम्प्रत्ययः । विरहज्वरं दधती सा यन्ती इतीत्थं, व्यवहितस्य विप्रकृष्टस्य, विधोर्विविधोक्तिभिर्विगर्हणं निन्दा ति विमृश्य, अरण्यरुदितप्रायमिति विचार्य, हृदयभाजं सन्निहितं स्मरमुपाल निनिन्द । पाक्षिकफलसम्भावनयेति भावः ॥ ७४ ॥

अत्यधिक विरहज्वरको धारण करती हुई वह दमयन्ती 'अत्यन्त दूरस्थ चन्द्रमाकी अनेक रके कथनसे निन्दा करना व्यर्थ है (उसके स्वयं न सुननेसे मेरीकी हुई निन्दा अरण्य नके समान है), ऐसा विचारकर हृदय (अत्यन्त समीप) में नित्य रहनेवाले कामदेवको लम्भ देने लगी (कामदेवकी निन्दा करने लगी)। [अपकारी व्यक्तियोंमेंसे दूरस्थको हना न देकर अत्यन्त निकटस्थ व्यक्तिको उलहना देना उचित समझा जाता है] ॥७४॥

(द्विजपतिग्रसनाहितपातकप्रभवकुष्ठसितीकृतविग्रहः ।
विरहिणीवदनेन्दुजिघत्सयास्फुरति राहुरयं न निशाकरः ॥१॥) ❀

द्विजराज (ब्राह्मण, पक्षान्तरमें—चन्द्रमा) के खानेसे स्थापित (या 'अहित' पदच्छेद नेपर 'अहितकर') पापसे उत्पन्न कोढ़से सफेद शरीरवाला (तथा इस समय) विर णियोंके मुखरूपी चन्द्रमाको खानेकी इच्छासे यह राहु स्फुरित हो रहा है, यह चन्द्रमा है । [अन्य भी कोई व्यक्ति ब्राह्मणके खानेसे उत्पन्न महापातकसे कुष्ठरोगी हो जाता किन्तु वह यदि अत्यधिक दुष्ट होता है तो अपने स्वभावसे विवश होकर फिर उसी मको करता रहता है] ॥ १ ॥

हृदयमाश्रयसे बत मामकं ज्वलयसीत्थमनङ्ग ! तदेव किम् ? ।
स्वयमपि क्षणदग्धनिजेन्धनः क भवितासि ? हताश ! हुताशवत् ॥७५॥

हृदयमिति । हे अनङ्ग ! ममेदं मामकम् । 'तवकममकावेकवचने' इत्यणि मम देशः । हृदयमाश्रयसे । तदेवेत्थं किं ज्वलयसि दहसि ? बत । हताश दुर्बुद्धे ! स्वयं मपि, हुतमश्नातीति हुताशोऽग्निः, कर्मण्यण् । तद्वत् । क्षणदग्धनिजेन्धनो दग्धाश्रयः न्नित्यर्थः । क्व भवितासि क्व भविष्यसि ? न क्वापीत्यर्थः । अनद्यतने लुट् । हिंसाव्यसनेनात्मनाशं न पश्यसीत्याशयेन हताशेत्यामन्त्रणम् ॥ ७५ ॥

हे कामदेव ! यदि तुम मेरे हृदयका आश्रय करते हो अर्थात् मेरे हृदयमें रहते हो, तब ीको इस प्रकार (अतिशय एवं निरन्तर) क्यों जलाते (अपने आश्रयस्थानको नष्ट रते) हो ? । हे हताश ! (निष्फल अभिलाषावाले !) क्षणभरमें अपने इन्धनको ला देनेवाले अग्निके समान स्वयं भी तुम कहाँ रहोगे ? । (जिस प्रकार अग्नि अपने

❀ अयंश्लोकः 'तिलक–सुखावबोधा'ख्यव्याख्ययोरुपलभ्यत इत्यवधातव्यम्।

इन्धनको जलाकर स्वयं भी बुझ जाती है, उसी प्रकार अपने आश्रय मेरे हृदयको अर्थात् मुझे मारकर तुम भी कहां रहोगे ? ॥ लोकमें भी कोई व्यक्ति अपने नि स्वयं नष्ट नहीं करनेपर ही सुखी रहता है, अतः स्वाश्रयभूत मेरे हृदयको पी तुम्हारे लिये अच्छा नहीं होगा]॥ ७५ ॥

पुरभिदा गमितस्त्वमदृश्यतां त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया ।
स्मर ! निरैक्ष्यत कस्यचनापि न त्वयि किमक्षिगते नयनैस्त्रिभिः

पुरभिदेति । हे स्मर ! त्वम् अक्षिगत इति शेषः । अनक्षिसन्निकृ दग्धुमशक्यत्वाद्दृष्यस्य च दाहायोगादिति भावः । पुरभिदा हरेण, त्रि त्र्यक्षत्वं, क्षुभ्नादित्वाण्णत्वाभावः । तस्य परिप्लुतिशङ्कया तृतीयाक्षिवैयर्थ त्यर्थः । अदृश्यतां गमितो नाशं प्रापितः, 'गतिबुद्धि'—इत्यादिना अणिकर्तुः तत्रैव क्तः । 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' इति वचनात् । किन्तु, कस्यचनापि यस् चिदपि जनस्याक्षिगते दृग्गोचरे द्वेष्ये च । 'द्वेष्ये त्वक्षिगतो वध्यः' इत्यमरः त्रिभिर्नयनैः किं न निरैक्ष्यत, किमिति न निरीक्षितम् । अतोऽस्य त्रिनयनत्व मेवेत्यर्थः । स्वाक्षिगत इव मादृशाक्षिगतेऽपि त्वयि तृतीयाक्षिनिरीक्षणाभावः कारिणस्तस्य वैयर्थ्यं, निरीक्षणञ्च देवस्य जितकामत्वादन्येषां तु कामजित क्ष्यत इति । त्वयि निरैक्ष्यतेत्यत्र कर्मणोऽपि स्मरस्य अनेकशक्तियुक्तस्येति मातरि प्रहृतमित्यादिवदाधारत्वविवक्षायामविवक्षितकर्मकादीक्षतेर्भावे ल 'प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' इति वचनात् ॥ ७६ ॥

हे स्मर ! महादेवजीने (अपने) त्रिनयनत्वकी अर्थात् तृतीय नेत्रवाला होने (या अतिव्याप्तिकी) आशङ्कासे तुमको अदृश्य (नष्ट) कर दिया । (फिर प्रत्यक्ष (पक्षान्तरमें—द्वेष्य) होने पर किसे तीन नेत्र (पक्षान्तरमें—क्रोध) किसीको भी नहीं । अथवा—अक्षिगत (द्वेष्य) होने पर कौन त्रिनेत्र अर्थात् क्रो हुआ, अपि तु सभी क्रोधयुक्त हुए । [महादेवजीने सोचा कि अभी तो केवल मैं हूँ, पर कामदेव यदि अन्यलोगोंका अक्षिगत यानी प्रत्यक्ष (पक्षान्तरमें—द्वे होगा तो सभी त्रिनेत्र (पक्षा०-क्रोधी) हो जायेंगे तो हमारा त्रिनेत्र (तीन ने होना व्यर्थ हो जायेगा । अत एव उन्होंने तुम्हें जलाकर नष्ट कर दिया कि आ कामदेव न किसीको अक्षिगत (प्रत्यक्ष) होगा, न कोई त्रिनेत्र (क्रोधी) हो प्रकार मेरा त्रिनेत्र होना सफल होगा । यही कारण है कि तबसे कामदेवको दे त्रिनेत्र (क्रोधी) नहीं हुआ, अपि तु कामदेवके द्वारा आनन्दलाभ किया । कहा जाता है कि 'मैं' तुम्हें देखकर त्रिनेत्र (क्रोधी) हो गया, यही कारण है होनेपर लोगोंकी आंख लाल हो जाती है, शिवजीकी आंखसे भी कामदेवके जलाने लालवर्ण ही अग्नि निकलती थी । लोकमें अब भी क्रोधके कारण आंखसे निकलनेकी बात लोग कहा करते हैं]॥ ७६ ॥

सहचरोऽसि रतेरिति विश्रुतिस्त्वयि वसत्यपि मे न रतिः कुतः ? ।
अथ न सम्प्रति सङ्गतिरस्ति वामनुमृता न भवन्तमियं किल ॥७७॥

सहचर इति । हे स्मर ! रतेः रतिदेव्याः, सन्तुष्टेश्च सहचरोऽसीति विश्रुतिः सिद्धिः । त्वयि वसति हृदयस्थे सत्यपि, मे कुतो रतिर्न ? अथवा, सम्प्रति वां युव- ः सङ्गतिर्नास्ति । कुतः, इयं रतिर्भवन्तं नानुसृता किल । किलेति वार्तायाम् । नुमरणाभावादसङ्गतिर्युक्तेत्यर्थः । अत्र प्रीतिलक्षणाया रतेर्देव्या सहाभेदाध्यवसा- यमुपालम्भः । अत एवातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ७७ ॥

तुम रति (अपनी स्त्री, पक्षान्तरमें—प्रीति) के सहचर हो अर्थात् जहाँ तुम रहते , वहाँ रति । (रति नाम की तुम्हारी प्रिया, पक्षान्तरमें—प्रीति) अवश्य रहती है, यह श्रुति (लोकमें प्रसिद्धि या विशिष्ट श्रुति = विशेष वेदवाक्य) है; किन्तु तुम्हारे निवास ते रहनेपर भी मुझे रति (नलके साथ सहवासरूपी रति, पक्षान्तरमें—प्रीति) नहीं है ? (तुम्हारे रहनेपर उसे रहना उचित था) । अथवा—इस समय (शङ्करजीके रा तुम्हारे जलाये जानेके बाद) तुम दोनों (रति-काम) का साथ नहीं है, पर तुम्हारे छे वह (रति) तो नहीं मर गयी है । (अतः तुम रतिके सहचर हो, यह वस्तुतः श्रुति अर्थात् विपरीत जनप्रसिद्धि (पक्षान्तरमें—विपरीत वेदवचन) है] ॥ ७७ ॥

रतिवियुक्तमनात्मपरज्ञ ! किं स्वमपि मामिव तापितवानसि ? ।
कथमतापभृतस्तव सङ्गमादितरथा हृदयं मम दह्यते ? ॥ ७८ ॥

रतीति । आत्मानं परञ्च न जानातीत्यनात्मपरज्ञ सर्वघातुक मार ! मामिव रति- युक्तं स्वमात्मानमपि तापितवानसीत्युत्प्रेक्षा । कुतः, इतरथा स्वाऽसन्तापने, तापभृतस्तापरहितस्य तव सङ्गमात् सम्पर्कान्मम हृदयं कथं दह्यते ? तप्तस्पर्शा- पो नातप्तस्पर्शादित्यर्थः । सन्तापनादपि, स्वयमतप्तेन त्वया परसन्तापः क्रियते, ा तच्छीलैस्तप्तमुखैः शिलीमुखैरिति भावः ॥ ७८ ॥

हे अनात्मपरज्ञ ! अर्थात् अपना तथा पराया नहीं जाननेवाले (किसकी रक्षा करनी हिये तथा किसकी नहीं, यह नहीं समझनेवाले कामदेव ! रति (नलविषयक संसर्ग) रहित मेरे समान रति (अपनी प्रियतमा) से रहित अपनेको भी क्यों संतप्त किया है ? यथा (यदि तुम अपनेको भी नहीं सन्तप्त करते तब) सन्ताप-रहित तुम्हारे साथसे मेरा य क्यों जल रहा है ? [कोई भी व्यक्ति अपनी रक्षा करते हुए दूसरेको संताप देता है, तु तुम तो इतने दुष्ट हो कि स्वयं सन्ताप सहकर भी दूसरेको सन्तप्त कर रहे हो, अतः हारी दुष्टता अत्यधिक है ॥ लोकमें भी ठण्ढे पदार्थके संसर्गसे कोई गर्म नहीं होता है] ॥ ७८ ॥

अनुममार न मार ! कथं नु सा रतिरिति प्रथितापि पतिव्रता ।
इयदनाथवधूवधपातकी[1] दयितयापि तयासि किमुज्झितः ? ॥ ७९ ॥

---

[1] 'विरहिणीशतघातनपातकी' इति पाठान्तरम् ।

अनुममारेति । हे मार मारक ! प्रतिव्रतेति प्रथितापि सा रतिः कथं ना
कथं नानुमृता ? 'मृते म्रियेत या नारी सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता' इत्यनुस्मा
भावः । अथवा, इयद्भिरेतावद्भिरसंख्यैरित्यर्थः । अनाथवधूनां वियोगिनी
पातकी त्वं, तया दयितयापि विरहमसहमानयापीति भावः । उज्झितः
किमुत्युत्प्रेक्षा । 'आशुद्धेः संप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषित' इति स्मरणादिति

हे घातक कामदेव ! अत्यन्त विख्यात प्रतिव्रता भी वह रति तुम्हारे बाद क्यों
गयी 'अर्थात् मरकर सती हो गयी ? इतनी (सैकड़ों-हजारों) अनाथ स्त्रियोंके
पातकी तुमको अतिशय प्रिया उस (रति) ने भी छोड़ दिया है क्या ? [सैकड़ों-
अनाथ विरहिणी स्त्रियोंकी हत्या करनेसे पातकी होनेके कारण ही पतिव्रता तथा
होनेपर भी रतिने स्मृति (याज्ञ० १७७) वचनको मानकर ही तुम्हें छोड़ दिया,
वह अवश्यमेव तुम्हारे मरनेके बाद सती हो जाती] ॥ ७९ ॥

सुगत एव विजित्य जितेन्द्रियस्त्वदुरुकीर्तितनुं यदनाशयत् ।
तव तनूमवशिष्टवतीं ततः समिति भूतमयीमहरद्धरः ॥ ८० ॥

सुगत इति । जितेन्द्रियो वशी सुगतो बुद्ध एव, विजित्य, तव उरुं महतीं
मेव तनुं शरीरं, यद्यस्मादनाशयत् नाशितवान् । ततः कारणादवशिष्टवतीं
भूतमयीं पाञ्चभौतिकीं तव तनुं समिति युद्धे हरः शम्भुरहरत् भस्मीचकार
तथापि निर्लज्जः कथमित्थमस्मादृशानकरुणं व्यथयसीति विस्मिताः स्म इति

जितेन्द्रिय बुद्धने ही तुम्हें जीतकर तुम्हारी बढ़ी हुई कीतिरूपी शरीरको
कर दिया; तदनन्तर जितेन्द्रिय हर (संसारका संहार करनेवाले महादेव) ने युद्धमें
कर शेष पाञ्चभौतिक (पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतसे बने हुए) शरीरको हर
(जलाया) । [यदि जितेन्द्रिय बुद्ध तुमको जीतकर तुम्हारा यश नष्ट नहीं
तो सर्व-संहार-कर्ता शिवजी भी तुम्हें नहीं जला सकते । अथवा—पहले तो बुद्ध
जीतकर कीर्तिको नष्ट किया, फिर भूतमयी (पिशाच-रूपी) देहको महादेवजीने
इस अर्थमें यशको आत्मा तथा शरीरको पाञ्चभौतिक शरीर माना है, क्योंकि
आत्मा दोनों अमर एवं नित्य हैं, तथा आत्माके शरीरसे निकल जानेपर पा
शरीरको जला दिया जाता है । मारनेपर भूतमय अर्थात् प्रेतरूप होना लोक तथा
माना जाता है] ॥ ८० ॥

फलमलभ्यत यत्कुसुमैस्त्वया विषमनेत्रमनङ्ग ! निगृह्णता ।
अहह नीतिरवाप्तभया ततो न कुसुमैरपि विग्रहमिच्छति ॥

फलमिति । हे अनङ्ग ! विषमनेत्रं त्र्यक्षं, कुसुमैर्निगृह्णता निरुन्धता प्रहर
त्वया यत्फलंमरणरूपमलभ्यत । ततस्तस्मात् फलादवाप्तभया प्राप्तभया नीतिः
साधनान्तरेणापि वैरनिर्यातनं कार्यमित्येवंरूपा (कर्त्री), कुसुमैरपि विग्रहं

त्यज्यते। किमुत साधनान्तरैः, 'पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनर्निशितैः शरै'रिति कुसुमान्यपि मोक्तुं विभेषीति भावः ॥ ८१ ॥

हे अनङ्ग ! पुष्पों (बाणभूत पुष्पों) से भी त्रिनेत्र महादेवजी पर प्रहार('विगृह्णता' पाठमें) करते हुए जो फल (आत्मनाश) पाया, उसी से -सभय होकर नीति पुष्पोंके द्वारा तीक्ष्ण बाण आदि शस्त्रोंका तो कहना ही क्या ?) विरोधको नहीं चाहती ('पुष्पोंसे किसीको मारना श्रेयस्कर नहीं' यह नीति श्रेष्ठ मानी जाती है) । अथवा—हे 'अङ्गहीन' शरीर ही नहीं तो शरीराश्रयी ज्ञान कहां रहेगा ! अतः हे मुर्ख कामदेव !) तुम ऐसे हो कि पुष्पास्त्र होकर भी विषम-दृष्टि (असमान नेत्रवाले अर्थात् मृत्युञ्जय) के साथ युद्ध करने गये, यह आश्चर्य है । अथवा—विषम अर्थात् अतितीक्ष्ण स्वभाववाले नेत्र यक) के साथ विरोध किया यह तुम्हारी बड़ी मूर्खता है] ॥ ८१ ॥

अपि धयन्नितरामरवत्सुधां त्रिनयनात्कथमापिथ तां दशाम् ? ।
भण रतेरधरस्य रसादरादमृतमात्तघृणः खलु नापिबः ? ॥ ८२ ॥

अपीति । हे स्मर ! इतरामरवद्देवतान्तरवत्, सुधां धयन् पिबन्नपि, धेटः शतृ-प्रः। त्रिनयनादीश्वरात्, कथं तां दशां मरणावस्थाम्, आपिथ प्राप्तोऽभूः ? ोतेर्लिटि थलि क्रयादिनियमादिडागमः । भण वद । अथवा, रतेर्देव्याः, अधर-स्य, रसे स्वादे , आदरादास्थावशात् आत्तघृणः प्राप्तामृतजुगुप्सः सन् । 'घृणा साकृपयोः' इति वैजन्ती । अमृतं नापिबः खलु । अमृतपाने कथमन्येष्वमरेषु को मृत इति भावः ॥ ८२ ॥

अन्य (इन्द्र आदि) देवताओंके समान अमृतको पीते हुए भी तुमने शिवजीसे उस स्मदाहरूप) दशाको क्यों पाया ? अथवा रतिके अधरके रसमें अत्यन्त आदर (आस-) होने से (अमृतके प्रति) घृणाकर अर्थात् अमृतको प्रियाके अधररसकी अपेक्षा तुच्छ कर (तुमने) अमृतको नहीं पिया क्या ? कहो । [यदि तुम भी इन्द्र आदि अन्य ओंके समान अमृतका पान करते तो शिवजी तुम्हें नहीं जला सकते, अत एव प्रियाके रसके लम्पट तुमने अमृतका त्यागकर महामूर्खता की यह आश्चर्य है] ॥ ८२ ॥

भुवनमोहनजेन किमेनसा तव परेत ! बभूव पिशाचता ? ।
यदधुना विरहाधिमलीमसामभिभवन् भ्रमसि स्मर ! मद्विधाम् ॥ ८३ ॥

भुवनेति । परेत प्रेत ! तव भुवनानां मोहनमचेतनीकरणं तज्जेनैनसा पापेन ाचता बभूव किम् ? । कुतः स्मर ! यद्यस्मादधुना विरहाधिना वियोगव्यथया मसां मलीनां, मद्विधां मादृशीमबलामभिभवन् पीडयन्, भ्रमसि । पापिष्ठाःकिल ाचतां गताः दुर्बलस्त्रीबालादीन् पीडयन्ति, त्वञ्च तादृक्कोऽपि पिशाच इत्युत्प्रेक्षा ॥

हे प्रेत ! हे कामदेव ! संसार (में स्थित प्राणियों) को मोहित करनेसे उत्पन्न पापसे पिशाच हो गये हो क्या ? जो इस समय (मरनेके बाद प्रेत बनकर) विरह-पीडासे

मलिन मुझ=जैसी (विरहिणी) को पीडित करते हुए घूमते हो [मरनेके प्रेतरूप नीच योनिको प्राप्त जीव भी बालक आदि मलिन लोगोंके उन्हें पीडित तथा उनके शरीरको कम्पित करते हैं ॥ तुम मरनेपर भी मुझ- अवलाओंको पीडित करते हो, अतः महादुष्ट हो] ॥ ८३ ॥

बत ददासि न मृत्युमपि स्मर ! स्खलति ते कृपया न धनु
अथ मृतोऽसि ! मृतेन च मुच्यते न किल मुष्टिरुरीकृतबन्ध

बतेति । हे स्मर ! मृत्युमपि न ददासि । तेन दुःखान्तो भवेदिति भा कृपया ते कराद्धनुरपि न स्खलति न भ्रश्यति । पूर्ववद्भावः । अथ मृतोऽ न स्खलतीत्याह—मृतेन च मृतेनापि, उरीकृतबन्धनः अङ्गीकृतबन्ध इत्यर्थः । 'उर्यङ्गथूर्युररीभ्यश्च करोति कुरुते परः' इति भट्टमल्लः । मुष्टिर्न मु चतेति खेदे । ततः कृतान्तादपि क्रूरोऽसीति भावः ॥ ८४ ॥

हे स्मर ! तुम (मुझ दुखिया अवलापर कृपाकर) मृत्युको भी नहीं देते मेरा दुःख छूट जाय) कष्ट है । कृपा से (पक्षा०—अकृपासे) तुम्हारे हाथसे गिर जाता (जिससे तुम्हारा निरन्तर वाण-प्रहारकर पीडित करना असम्भव खेद है । अथवा तुम मर गये हो (अतः) मरा हुआ बाँधी हुई मुट्ठीको नहीं (यही कारण है कि मरनेके पहले जो तुमने धनुष लेकर मुट्ठी बांध ली है, वह नहीं खुलनी है । अन्य भी व्यक्ति यदि मुट्ठी बांधे मर जाता है, तब उसकी मुट्ठी काष्ठवत् हो जानेसे नहीं खुलती । और जब जीते जी तुम मुट्ठी खोलकर कृपा तब मरने पर कहांतक कृपा करोगे ? अतः धनुष कैसे गिरे ? अन्य कृपण जीते जी मुक्तहस्त होकर दान देने की कृपा नहीं करता, वह मरनेपर कहां होकर दान देनेकी कृपा करेगा ? अर्थात् कदापि नहीं करेगा] ॥ ८४ ॥

दृगपहत्यपमृत्युविरूपताः शमयते परनिर्जरसेविता ।
अतिशयान्ध्यवपुः क्षतिपाण्डुताः स्मर ! भवन्ति भवन्तमुपासि

दृगिति । हे स्मर ! परनिर्जरसेविता त्वत्तोऽन्यदेवतासेवको जनः, दृ हृतिः आन्ध्यम्, मपमृत्युरकालमरणं, विरूपता अङ्गवैवर्ण्यञ्च, शमयते 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदम् । मित्वाद्ध्रस्वत्वम् । भवन्तमुपासितुः त्वत्सेवि तु । ताच्छील्ये तृन् । 'न लोक'—इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । अतिशयेना घातः, वपुःक्षतिः शरीरविपत्तिः, पाण्डुता वैवर्ण्यञ्च, ता भवन्तीति देवता उक्तदोषशान्तिः फलं, त्वद्भक्तस्य तदुद्रेक इत्यहो भक्तवात्सल्यं काम हासः । अत्रानर्थोत्पत्तिलक्षणो विषमालङ्कारभेदः ॥ ८५ ॥

हे कामदेव ! तुमसे भिन्न (सूर्य आदि) देवताओंकी सेवा (आराधना वालेकी दृष्टिनाश (कम दीखना या अन्धापन), अकालमृत्यु और विरूपता (

करनेवाले कुष्ठादि रोग)को शान्त करती है, किन्तु तुम्हारी सेवा (आराधना, पक्षान्त- आश्रय) करनेवालेको अत्यन्त अन्धता (देखिये श्लो० १२, या ज्ञानशून्यता), शरीर- (दुर्बलता आदि, पक्षान्तरमें-अकालमृत्यु) और पाण्डुता (शरीरमें विरहजन्य पाण्डुता तरमें—पाण्डुरोग) होते हैं। [दूसरे सूर्य आदि देवता तो अपने भक्तोंके अन्यकृत उक्त को भी शान्त कर देते हैं,, किन्तु तुम अपनी सेवा करनेवालोंके अन्यकृत रोगोंको शान्त तो दूर रहा, उल्टे स्वयं ही इन रोगोंको उत्पन्न कर देते हो, धन्य है तुम्हारा !]॥ ८५॥

स्मर ! नृशंसतमस्त्वमतो विधिः सुमनसः कृतवान् भवदायुधम् ।
यदि धनुर्दृढमाशुगमायसं तव सृजेत् प्रलयं त्रिजगद्व्रजेत् ॥८६॥

स्मरेति । हे स्मर ! नॄन् शंसति हिनस्तीति नृशंसो घातुकः, शंस हिंसायाम्’इति : पचाद्यच्। त्वमतिनृशंसतमः, अतो (हेतोः) विधिः स्रष्टा, सुमनसः, पुष्पाणि, : आयुधं कृतवान्। तव दृढं धनुरायसमयोमयम् आशुगं शरञ्च सृजेद्यदि । णां जगतां समाहारस्त्रिजगत् (कर्तृ), प्रलयं विनाशं व्रजेत्। तव पापिष्ठतां विदुषा परमेष्ठिना सम्यगनुष्ठितमिति भावः ॥ ८६ ॥

हे कामदेव । तुम अत्यन्त क्रूर हो, अत एव ब्रह्माने तुम्हारे शस्त्रको फूलका बनाया । उसने तुम्हारा धनुष दृढ तथा बाण लोहेका बनाया होता तो तीनों लोकोंका प्रलय हो । [इस प्रकार ब्रह्माकी बनी-बनाई सृष्टि अनायास ही नष्ट हो जाती, अतः तुम्हारी को देखकर चतुर ब्रह्माजीने अपनी रची सृष्टिकी रक्षाका प्रबन्ध पहलेसे ही कर]॥ ८६ ॥

स्मररिपोरिव रोपशिखी पुरां दहतु ते जगतामपि मा त्रयम् ।
इति विधिस्त्वदिषून् कुसुमानि किं मधुभिरन्तरसिञ्चदनिर्वृतः ॥८७॥

स्मरेति । स्मररिपोस्त्वदरेर्हरस्य रोपशिखी बाणाग्निः । ‘पत्त्री रोप इषुर्द्वयोः’ मरः । पुरां त्रयमिव ते तव रोपशिखी जगतां त्रयं मा दहत्विति मत्वेति शेषः । मानार्थत्वादप्रयोगः । विधिः स्रष्टा, अनिर्वृतस्त्वां कुसुमेषुं कृत्वाप्यपरितुष्टः त्वदिषून् कुसुमानि मधुभिर्मकरन्दैः, अन्तरसिञ्चत् अग्निशान्त्यर्थंमौक्षत् त्युत्प्रेक्षा । अन्यथा पापिष्ठस्य ते को वारयितेति भावः ॥ ८७ ॥

जैसे काम-रिपु महादेवजीने त्रिपुर (त्रिपुरासुर, पक्षान्तरमें-तीन नगर) को जलाया वैसे ही तुम्हारे बाणोंकी अग्नि तीनों लोकोंको न जलावे, इस कारण चिन्तित ब्रह्माने र बाणभूत पुष्पोंको भीतरमें मधु (पुष्परस अर्थात् पुष्पराग) से सिक्त (आर्द्र) कर क्या ?] रससे सिक्त होनेसे आर्द्र पदार्थकी दाहक शक्ति कम हो जाती है, जैसे गीले आदि की । पहले महादेवजीने तीन नगरों (पक्षा०-त्रिपुरासुर) को जला दिया अतः दुष्ट कामदेव कहीं तीनों लोकों को न जला दे, इससे ब्रह्माने पहले तो उसके धनुष तथा

बाणको ही कोमल पुष्पोंका बनाया और इतना करनेपर भी उन्हें सन्तोष नहीं
उन्हें (कामके बाणभूत पुष्पोंको) भीतरमें पुष्परस (पक्षा०-जल) से भिंगा दि
भींगायी वस्तुमें ऊपर २ से भिंगायी वस्तुकी अपेक्षा दाहक शक्तिका बहुत ही
लोकानुभवसिद्ध है] ॥ ८७ ॥

विधिरनङ्गमभेद्यमवेक्ष्य ते जनमनः खलु लक्ष्यमकल्पयत्
अपि स वज्रमदास्यत चेत्तदा त्वदिषुभिर्व्यदलिष्यदसावपि

विधिरिति। विधिर्ब्रह्मा अनङ्गमनवयवम् । 'अङ्गं प्रतीकोऽवयवः' इत्य
एवाभेद्यमवेक्ष्य, निरवयवद्रव्यत्वादविनाश्यं निश्चित्य, जनमनः, ते तव,
कल्पयदित्युत्प्रेक्षा । सावयवलक्ष्यदानपक्षे, स विधिर्वज्रमदास्यत चेद्द
त्वदिषुभिरसौ वज्रोऽपि व्यदलिष्यद्विशीर्णो भवेत् । अतो युक्तकारी ब्र

ब्रह्माने अखण्ड (परमाणुरूप होनेसे फिर खण्डित नहीं होनेवाले।
मनुष्यके मनको देखकर (उसे ही) तुम्हारा लक्ष्य कल्पित किया । यदि वह
भी (तुम्हारा लक्ष्य बनानेके लिये) देता तो वह (अत्यन्त कठिन
चूर्ण हो जाता है । [जीवके मनका प्रमाण परमाणुके बराबर बतलाया गया
कोई खण्ड न हो सकनेसे वह अभेद्य—नहीं तोड़ने योग्य, माना गया है।
विचारकर तुम्हारे लक्ष्यका निर्णय किया है, अन्यथा तुम ऐसे महाक्रूर हो कि
कठिन भी कोई बड़े आकारका पदार्थ लक्ष्य रहता तो उसे भी चकनाचूर कर

अपि विधिः कुसुमानि तवाशुगान् स्मर ! विधाय न निर्वृतिम
अदित पञ्च हि ते स नियम्य तान् तदपि तैर्व्रत जर्झरितं जगत्

अपीति । हे स्मर ! विधिः कुसुमान्येव तवाशुगान्विधायापि, नि
स्योऽस्मीति परितोषं नाप्तवानित्युत्प्रेक्षा । कुतः, हि यस्मात् सोऽनिर्वृतो
कुसुमान्याशुगानपि, नियम्य इयन्त एवेति नियमं कृत्वा । ते तव,
दत्तवान् तदपि तथापि तैः पञ्चभिरेव जगत् जर्झरितंजर्झरीकृतम् ।
विश्वनियन्ताप्येवं विफलयत्नः, कोऽन्योऽस्ति नियन्तेति भावः ॥ ८९ ॥

हे स्मर ? ब्रह्मा तुम्हारे बाणोंको पुष्पमय बनाकर भी निश्चिन्त नहीं
उन्होंने नियमितकर केवल पांच ही बाण दिये, किन्तु खेद है कि उन (
पुष्पमय पांच बाणों) से ही संसार जर्जरित हो रहा है । [तुम इतने क्रूर हो
इतने (श्लो० ८६-८९) प्रयत्नको भी असफल कर रहे हो, हा खेद !] ॥ ८

उपहरन्ति न कस्य सुपर्वणः सुमनसः कति पञ्च सुरद्रुमाः
तव तु हीनतया पृथगेकिकां धिगियतापि न तेऽङ्गविदारण

उपहरन्तीति । हे स्मर ! पञ्च सुरद्रुमाः मन्दारादयः, कस्य सुपर्व
नसः कियन्ति कुसुमानि, नोपहरन्ति नोपायनोकुर्वन्ति ? सर्वस्याप्यमि

र्थः । 'उपाग्रनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः । तव तु हीनतया नीचतया, थक् प्रत्येकमेकिकामेकाकिनीमेकैकां सुमनोव्यक्तिमुपहरन्तीत्यर्थः । अत एव पञ्च- ाणत्वं तवेति भावः । 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कन्प्रत्यये पूर्वस्ये- ारः । इयता एतावदवमानेनापि ते तवाङ्गविदारणं शरीरविपत्तिर्नास्ति । धिक् । वमतस्य जीवनान्मरणमेव वरमिति भावः ॥ ९० ॥

(मन्दार आदि स्वर्गीय) पांच देववृक्ष किस देवताको कितने पुष्प उपहार (भेंट) हीं देते ? अर्थात् सब देवताओंको असंख्य पुष्प वे भेंट करते हैं, किन्तु हीनता (अनङ्ग- व, पक्षा०-नीच) होनेके कारण वे तुमको पृथक् २ केवल एक २ ही पुष्प उपहार देते हैं। तने (बड़े अपमान) से भी तुम्हारा अङ्ग (हृदय या शरीर) विदीर्ण नहीं हो जाता, अथवा-अनङ्ग अर्थात् जो अङ्गरहित है, उसका अङ्ग विदीर्ण कहांसे होगा ? अतः 'अङ्ग' ब्दको सम्बोधन मानकर 'हे अङ्ग ! हृदयस्थ होनेसे निकटतम मित्र !) तुम्हारा विदारण र्थात् विध्वंस या विदारण = चूर २ होना नहीं हो जाता ! ऐसे निर्लज्ज तुमको धिक्कार । 'अङ्गविधारणम्' पाठमें—शरीरधारण करना तुम्हें धिक्कार नहीं है ? अर्थात् अवश्य क्कार है) ॥ ९० ॥

कुसुममप्यतिदुर्नयकारि ते किमु वितीर्य धनुर्विधिरग्रहीत् ।
किमकृतैष यदेकतदास्पदे द्वयमभूदधुनापि नलभ्रुवोः ॥ ९१ ॥

कुसुममिति । विधिः कुसुममपि दुर्बलमपीत्यर्थः । अतिदुर्नयकारि अनर्थकारकं नुस्ते तव वितीर्य दत्त्वा, अग्रहीत् किमु पुनर्जहार किमित्युत्प्रेक्षा । पापीयसे दत्तं तव्यमेवेति भावः । किस्वेष विधिः, किमकृत अकार्यमेव कृतवानित्यर्थः । कुतः, यस्मादेकस्य तस्य धनुष आस्पदे स्थाने, अधुना नलभ्रुवोर्द्वयमभूद्धि । तेनैव धनुषा लभ्रुवौ द्वे निर्मितवता तेन कण्टकमुद्धृत्य शल्यमारोपितं यदेकासहिष्णोर्द्वयमसह्यं म्पादितमिति भावः ॥ ९१ ॥

ब्रह्माने पुष्पमय होनेपर भी अत्यन्त दुर्नीति (अबलादिपीडन आदि) करनेवाले तुम्हारे नुषको देकर (फिर वापस) ले लिया क्या ?, (किन्तु) इस (ब्रह्मा) ने तुम्हारा क्या अपकार, अथवा—हम विरहिणियोंका उपकार) किया ? अर्थात् कुछ नहीं ; क्योंकि स समय तुम्हारे उस एक धनुषके स्थानपर नलका भ्रूरूप दो धनुष हो गये । [परोपकारकी ावनासे किया हुआ ब्रह्माका कार्य संसारके अभाग्यसे प्रतिकूल हो गया, हा खेद !] ॥९१॥

षड्तवः कृपया स्वकमेककं कुसुममक्रमनन्दितनन्दनाः ।
ददति षड् भवते कुरुते भवान्धनुरिवैकमिषूनिव पञ्च तैः ॥ ९२ ॥

षडिति । अक्रमेण यौगपद्येन, नन्दितनन्दनाः प्रकाशितसुरोद्यानाः, युगपन्निज- कुसुमदानसमर्था इत्यर्थः । षड्तवो वसन्तादयः, कृपया, न तु प्रीत्येति भावः । स्वकं स्वसम्बन्धिनम्(न्धि) एककमेकैकमेव, असहाये कन्प्रत्ययः । कुसुमं ददाना इति शेषः ।

तथा चोक्तरीत्या, प्रत्येकमेकैकदानान्मिलित्वा, षड्, भवते तुभ्यं ददति। कुसुमैरेकं धनुरिव, एकेनेति शेषः। पञ्चेषूनिव, पञ्चभिरिति शेषः। भवान् अहो! अवमानेऽपि निर्लज्जस्य ते परहिंसाव्यसनमिति भावः ॥ ९२ ॥

एक साथ नन्दन (स्वर्गके उपवन को समृद्धिशाली वनानेवाले हेमन्त आदि कृपासे (तुम्हारे गौरवके कारण, आदर या प्रेमसे नहीं) अपने २ एक २ पुष्प देते हैं, उनसे तुम विभाग करके एक पुष्पसे धनुष और शेष पाँच पुष्पोंसे पांच समान बनाते हो। [नन्दन वनमें सब ऋतु पर्याय-क्रमका त्यागकर एक साथ आदिसे हरा-भरा वनाते हुए सब देवताओंको आदरपूर्वक असंख्य पुष्प देते तुम्हारा कोई गौरव न मानकर कृपाकर केवल १-१ पुष्प देते हैं, इन्हें भी तुम भोगमें न लाकर व्याधके समान दूसरोंको पीडित करनेके लिये एक पुष्पसे धनुष पांच पुष्पोंसे वाण वनाते हो, अतः तुम वहुत वड़े नीच हो। अथवा-जिस प्र भिक्षुकके ऊपर कृपाकर उसे एक २ पदार्थ अलग २ देते हैं और वह भिक्षुक उन्हें एकत्रितकर अपनी आवश्यकताके अनुसार इतनेसे अमुक कार्य करूंगा और इतने कार्य, इत्यादि मनोरथ करता है, वैसे ही ऋतुओंके दिये गये कुल केवल ६ पुष्पों गकर तुम काम चलाते हो; अत एव देवता होकर अपमानित होते हुए भी तुम व्याध या भिक्षुकके समान अत्यन्त निन्दनीय है] ॥ ९२ ॥

यदतनुस्त्वमिदं जगते हितं क्व स मुनिस्तव यः सहते क्षतीः।
विशिखमाश्रवणं परिपूर्य चेदविचलद्भुजमुज्झितुमीशिषे ॥

यदिति। हे मार! त्वमतनुरशरीरीति यत्तदिदमतनुत्वं जगते हितं च' इति चतुर्थी वक्तव्या। तथाहि, विशिखं वाणमविचलद्भुजमकम्पहस्तं आश्रवणं परिपूर्याकर्णमाकृष्य उज्झितुं मोक्तुमीशिषे शक्नोपि चेद्यस्तव क्षतीः सहते, स मुनिः क्व, न क्वापीत्यर्थः। अनङ्गत्वेऽप्येवं जगद्द्रोहिणस्तव धानु कायव्यापारे जगति जितेन्द्रियकथैवास्तमियादित्यनङ्गत्वमेव जगद्धितमित्य

जो तुम अनङ्ग (शरीररहित हो,) यह संसारके लिये हितकारक है। (अन युक्त होकर) यदि तुम कानतक वाणोंको खींचकर तथा हाथको स्थिर रख छोड़ना चाहते तो वह मुनि कहां है? जो तुम्हारे प्रहारोंको सह लेता? [यदि तु होते तो संसारमें कोई मुनि भी तुम्हारे बाणप्रहारको सहन नहीं कर सकता, त की कौन गणना है? अतः महादेवजीने तुम्हें जलाकर संसारका बड़ा उपकार किया

सह तया स्मर! भस्म झडित्यभूः[1] पशुपतिं प्रति यामिषुमग्रहीः
ध्रुवमभूदधुना वितनोः शरस्तव पिकस्वर एव स पञ्चमः

सहेति। हे स्मर! पशुपतिं प्रति यामिषुमग्रहीस्तया सह झडिति सहसा भ

---

[1] 'झटित्यभूः' इति पाठान्तरम्।

ना वितनोरनङ्गस्य तव पिकस्वरः कोकिलालाप एव, सः दग्धः पञ्चमः, पञ्चस-ापूरणः शरोऽभूत् । ध्रुवम् । अत एव, 'पिकः कूजति पञ्चम'मित्यादौ पिकस्वरे मसंज्ञाप्रवृत्तिश्चेति भावः । 'पञ्चमो रागभेदे स्यात् पञ्चानामपि पूरण' इति विश्वः। कार्यकारित्वात् पिकस्वरस्य शरत्वोत्प्रेक्षा ॥ ९४ ॥

हे स्मर ! शिवजीके प्रति तुमने जिस बाणको (मारनेके लिये) ग्रहण किया, वह हारे साथमें ही 'धक्' से (पाठान्तरमें—शीघ्र) भस्म हो गया । शरीरहीन तुम्हारे वे ही च बाण इस समय निश्चय ही कोयलके शब्द हो गये हैं । [कोयलका शब्द भी हीं लोगोंके लिये सन्तापकारक होता है । कोयल पञ्चम स्वरसे बोलता है यह सर्वमत सिद्धान्त है] ॥ ९४ ॥

स्मर ! सम दुरितैरफलीकृतो भगवतोऽपि भवद्दहनश्रमः ।
सुरहिताय हुतात्मतनुः पुनर्ननु जनुर्दिवि तत्क्षणमापिथ ॥ ९५ ॥

स्मरेति । हे स्मर ! भगवतो हरस्यापि, दुरितैः समं भवत्पापैः सह, भगवद्दृष्टिवस्य पापहरत्वादिति भावः । भवद्दहनश्रमोऽफलीकृतो निष्फलीकृतः, सुरहिताय तात्मतनुर्हरकोपानले त्यक्तस्वदेहः सन् , तत्क्षणं तस्मिन्नेव क्षणे अत्यन्तसंयोगे तीया । दिवि द्युलोके, पुनर्जनुः पुनरुत्पत्तिमापिथ ननु प्राप्नोपि खलु । सुरप्रातात्तस्मादेवेति शेषः । तच्चास्मत्पापफलमिति भावः ॥ ९५ ॥

हे स्मर ! हमारे पापोंने भगवान् शङ्करजीके तुम्हें जलानेके परिश्रमको भी निष्फल र दिया क्या ? (अथवा—निष्फल कर दिया); क्योंकि देवताओंके उपकारके लिये शिव-नेत्र-अग्नि) में अपने शरीरको हवन करने (जलाने) वाले तुमने तत्काल ही र्गमें जन्म पा लिया । [अन्य भी व्यक्ति परोपकारके लिये अपना शरीर त्यागकर मरकर) तत्काल स्वर्गमें देवता बन जाता है । तुम एकमात्र देवकार्यसाधनरूप परोपकारलिये अग्निमें जलकर मरनेपर भी तत्काल देव बन गये हो, अन्यथा तुम-जैसे पापी वं अग्निमें जलकर अकाल मृत्युसे मरनेवाले व्यक्तिको स्वर्गप्राप्ति कदापि उचित नहीं है । रकासुर पीडित देवताओंकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर ब्रह्माने पार्वती गर्भज शिवपुत्रको सेनाति बनाकर युद्ध करनेसे देवताओंका दुःख दूर होनेका उपाय बतलाया । तदनुसार इन्द्रके देशसे कामदेव हिमालयपर तपस्या करते हुए शिवजीको उनकी सेवामें लगी हुई पार्वतीर आकृष्ट करनेके लिये गया, किन्तु उक्त देवकार्य सिद्ध होनेके पहले ही शिवजीका कोपजन बनकर जल गया, यह पौराणिक कथा है ।]

विरहिणो विमुखस्य विधूदये शमनदिक्पवनः स न दक्षिणः ।
सुमनसो नमयन्नटनौ धनुस्तव तु बाहुरसौ यदि दक्षिणः ॥ ९६ ॥

विरहिण इति । हे शूर ! तवासौ बाहुर्यदि विधूदये चन्द्रोदये सहायलाभे सती-

त्यर्थः । सुमनसः पुष्पं नाम धनुः, अटनौ कोटौ । 'कोटिरस्याटनिर्गोधा'
नमयन् दक्षिणो विरहिजनप्रहारदक्षः स्यात् , प्रहर्तुं प्रवृत्तश्चेदित्यर्थः ।
इति ध्वनिः । तदा विमुखस्य विह्वलमुखस्य चन्द्रोदयपराङ्मुखस्य विरहि
गिजनस्य स दक्षिणत्वेन प्रसिद्धः शमनदिक्पवनो याम्यदिङ्मारुतः, दक्षि
ण्यवान् सव्येतरश्च न । किन्तु सोऽपि त्वत्सहकारित्वान्निर्दयप्रहर्तैवेत्य
सर्वानर्थमूलत्वात् त्वमेव पापिष्ठ इत्यर्थः । प्रत्यङ्मुखस्य दक्षिणोऽपि
ध्वनिः । शमनदिक्पवनोऽपि न दक्षिण इति स्फुरणाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः

चन्द्रमाके उदय होनेपर पराङ्मुख (सन्तापकारक चन्द्रमाको नहीं दे
पश्चिमाभिमुख) हुए विरहीके लिए यम-दिशा (दक्षिण दिशा) की मलय
(अनुकूल, पक्षान्तरमें-दहने भागमें) नहीं होगी अर्थात् वाम (प्रतिकूल, प
भागमें पड़ेगी, यदि उसे दक्षिण होनेका ही अभिमान है तो पुष्पमय धनुष
प्रत्यञ्चा (धनुषकी डोरी) को चढ़ाते हुए तुम्हारा बाहु तो दक्षिण (अनुकूल, प
भागमें) होगा, अर्थात् विरुद्ध लक्षणासे जिस प्रकार तुम्हारा बाहु प्रतिकूल होगा
मलयवायु भी प्रतिकूल होगी । (अथवा—तुम जिस प्रकार पुष्पमय धनुषपर प्रत्य
नेके लिये उसे (पुष्पमय धनुषको) झुकाते हो, उसी प्रकार मलयवायु भी प
अग्रभागको झुका देता है । अथवा—शमन अर्थात् सबको मारनेवाले यमराजकी
मलयवायु भी मारनेवाला ही होनेसे दक्षिण अर्थात् अनुकूल न होकर वाम अर्थात्
प्रतिकूल ही होगा । अथवा—वह मलय वायु (रूपीयोद्धा) युद्धसे पराङ्मुख
प्रहार करनेसे दक्षिण अर्थात् धर्मानुकूल युद्ध करनेवाला चतुर योद्धा नहीं होगा)
पूर्व दिशामें उदित होकर विरही जनको जब सन्ताप देने लगेगा, तब उसको न दे
विरही व्यक्ति पश्चिमाभिमुख हो जायगा, अत एव पश्चिमाभिमुख उस व्यक्तिके
दिशाकी ओर बहनेवाला मलयवायु दहनी ओर नहीं पड़ेगा, अपि तु बांयी ओ
आशय यह है कि—कामजन्य तथा चन्द्रोदयजन्य विरहपीडा तो किसी प्रकार स
सकती है, परन्तु मलयानिलजन्य विरहपीडा किसी प्रकार भी नहीं सही जाती]

किमु भवन्तमुमापतिरेककं मदमुदान्धमयोगिजनान्तकम् ।
यदजयत्तत एव न गीयते स भगवान् मदनान्धकमृत्युजित् ॥

किम्विति । हे मदन ! उमापतिः मदश्च मुच्च द्वन्द्वैकवद्भावः । तेन
मदानन्दाभ्याम् अन्धयति व्यामोहयति कामिजनमित्यन्धम् अन्धक
दृष्टिप्रतीघाते' इति धातोश्चौरादिकात् पचाद्यच् । अयोगिजनान्तकं वि
मृत्युम्, एककमेकाकिनं, भवन्तमेव अजयदिति यत् । तत एव स भगव
पतिः । मदनान्धकमृत्युजित् मदनजिदन्धकजिन्मृत्युजिदिति गीयते कि
एवेत्यर्थः । मदनवदन्धकमृत्यू अपि त्वत्तोऽन्यौ न स्त इति भावः । अत्र म
मिथा भेदेऽप्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ९७ ॥

उमापतिने मदके नशेमें अन्धे तथा विरहीलोगोंके अन्त करनेवाले (यमराजतुल्य)
के तुमको जो जीत लिया, इसी कारणसे उन्हें 'मदनजित्, अन्धकजित् तथा अन्तकजित्
त्युञ्जय)' कहा जाता है क्या ? । [शङ्करजीने मदन अर्थात् कामदेव, अन्धकासुर तथा
क अर्थात् मृत्युको जीत लिया है, अत एव उनके उक्त तीनों नाम प्रसिद्ध हुए हैं। इस पद्यमें
देवमें ही 'मदनत्व, अन्धकत्व तथा अन्तकत्व' ये तीन गुण हैं, अतः एक तुम्हींको
कर शङ्करजीने उक्त तीनों नाम प्राप्त किये हैं ऐसी उत्प्रेक्षात्मक कल्पना की गयी है।
कोई योद्धा जिस व्यक्तिको जीतता है, वह केवल उसी एकका विजेता कहा जाता है,
शिवजी केवल एकमात्र तुम्हें जीतकर तीनका विजेता कहलाये यह आश्चर्य है]॥९७॥

मिव कोऽपि परापकृतौ कृती न ददृशे न च मन्मथ ! शुश्रुवे ।
मदहद्दहनाज्ज्वलतात्मना ज्वलयितुं परिरभ्य जगन्ति यः ॥ ९८ ॥

त्वमिति । हे मन्मथ ! त्वमिव परापकृतौ परापकारे कृती कुशलः कोऽपि न
न दृष्टः, न शुश्रुवे न च श्रुतः, यः अपकर्ता दहनादग्निसंयोगात्, ज्वलता
लता आत्मना स्वाङ्गेन जगन्ति परिरभ्याश्लिष्य ज्वलयितुं दग्धुं, स्वमात्मान-
हत्। परिरभ्य परगात्रदूषणाय स्वगात्रे पङ्कलेपवत्, परदाहव्यसनादेवात्म-
ङ्गीकारस्तवेत्यहो दुर्व्यसनमिति भावः ॥ ९८ ॥

हे मन्मथ ! (विरहियोंके मनको मथन करनेवाले कामदेव !) दूसरेका अपकार करनेमें
ारे समान कोई भी न देखा गया और न सुना गया। जो अपकारी अपने जलते हुये
पके साथ (तीनों) लोकोंका अलिङ्गनकर जलानेके लिये अपनेको (शिवजीके नेत्रकी)
नमें जला डाला। [कोई भी व्यक्ति किसीको पीडा देते समय अपनी रक्षा करता है,
तु तुमने तो संसारको पीडा देनेके लिये अपनी भी रक्षा नहीं की, अत एव तुम महान्
हो]॥ ९८ ॥

मुचितं नयनार्चिषि शम्भुना भुवनशान्तिकहोमहविः कृतः ।
व वयस्यमपास्य मधुं मधुं हतवता हरिणा वत किं कृतम् ? ॥ ९९ ॥

त्वमिति । हे वीर ! शम्भुना नयनार्चिषि नेत्राग्निशिखायां त्वं भुवनानां शान्तिके
न्तिप्रयोजके । 'प्रयोजनम्' इति ठक् । होमहविराहुतिः कृतः । उचितं वध्यस्य
ादिति भावः । तव वयस्यं सखायं, मधुं वसन्तम् अपास्योपेक्ष्य मधुं मध्वाख्यं,
हतवता हरिणा किं कृतम् ? वतेति खेदे । वध्यवधाद्धरः साधुकारी । हरिस्त-
णादसाधुकारीत्यर्थः । समित्रः स्मरो वध्य इति भावः ॥ ९९ ॥

शम्भु (मङ्गलके उत्पन्न करनेवाले शिवजी) ने नेत्राग्निज्वालामें तुमको ठीक ही
ारको शान्तिरूपी हवनका हविष्य (हवन करनेके योग्य आहुति) बना लिया (अथवा–
ुने जो नेत्राग्नि……हविष्य बनाया) यह उचित कार्य किया; किन्तु खेद है कि विष्णुने

तुम्हारे मित्र मधु अर्थात् वसन्त ऋतुको छोड़कर 'मधु' नामक दैत्यको मारकर
अर्थात् कुछ नहीं। (अथवा—अच्छा नहीं किया जो वसन्तको छोड़कर मधुदैत्य
[जिस शिवजीका अवतार संसारका संहार करनेके लिये माना जाता है, उन्होंने
जलाकर संसारका पालन किया, किन्तु जिस विष्णु भगवान्का अवतार सं
करनेके लिये माना जाता है, उन्होंने मदन-मित्र वसन्तको छोड़कर 'मधु' दै
कुछ नहीं किया। मधु दैत्यसे भी संसार बहुत पीडित था, अतः उसे मारकर भी
भगवान्ने संसारका उपकार ही किया है, किन्तु यह मदन-मित्र वसन्त उस
से भी अधिक संसारको सता रहा है, अतः पहले उसे ही मारना आवश्यक था

इति कियद्वचसैव भृशं प्रियाधरपिपासु तदाननमाशु तत्।
अजनि पांसुलमप्रियवाग्ज्वलन्मदनशोषणबाणहतेरिव॥

इतीति। प्रियस्य नलस्याधरमोष्ठं पिपासु पातुमिच्छु 'मधुपिपासुप्रभृ
दिपाठात् समास' इति वामनः। तत् प्रसिद्धम्, तस्या भैम्या आननम्, इ
द्वचसैव, अप्रियवाग्भिर्निष्ठुरोक्तिभिः, ज्वलतः क्रुध्यतो मदनस्य यः शोषण
हतेः प्रहारादिवेति हेतूत्प्रेक्षा। आशु भृशं, पांसुलं पांसुमद् द्रवम् अजनि

प्रिय नलके अधर (रस) को पीनेकी इच्छा करनेवाला वह प्रसिद्ध सुधो
तथा सरस (या विरहपाण्डुर एवं क्षीण) उस दमयन्तीका मुख इन कुछ (
देव, वसन्त तथा मलयवायुके प्रति उपालम्भरूपमें (श्लो० ४४-९९) कहे
वचनसे मानो अप्रिय कहनेसे (क्रोधकर) जलते हुए कामदेवके शोषण बा
कारण अत्यन्त सूख गया (पक्षान्तरमें—धूलियुक्त हो गया)। [अन्य किसी प
भी मुख थोड़ा बोलनेसे भी सूख जाता है, और वह अधिक बोलनेमें सर्वथा
जाता है। इस पद्यमें दमयन्तीकृत आत्मनिन्दा सुनकर कामदेवके द्वारा छोड़े
बाण प्रहारको दमयन्तीके मुखको सूखनेमें हेतु कहा गया है। और पहले
(थोड़े जलवाले) तडाग आदिमें शोषण कारक तीव्र सन्तापसे धूल उड़ने
लोकमें भी 'बहुत देरसे प्यास लगनेके कारण मेरे मुखमें धूल उड़ रही है, मैं
नहीं सकता' ऐसा कहते हैं॥ विरह-क्षीण दमयन्ती इतना कहनेके बाद
असमर्थ हो गयी]॥ १००॥

प्रियसखीनिवहेन सहाथ सा व्यरचयद्गिरमर्धसमस्यया।
हृदयमर्मणि मन्मथसायकैः क्षततमा बहु भाषितुमक्षमा॥

प्रियसखीति। अथ सा दमयन्ती, मन्मथसायकैः हृदयमर्मणि
प्रहता। अत एव बहु भाषितुं प्रपञ्च्य वक्तुमक्षमा सती, प्रियसखी
आप्तसखीसङ्घेन सार्धम्, अर्द्धरूपया समस्यया सङ्ग्रहकारिकया।

सार्था' इत्यमरः । 'संज्ञायां समजनिपदे'त्यत्र संपूर्वादस्यतेर्बाहुलकः क्यङ्, क्षीरस्वामी[1] । गिरं व्यरचयत् । पूर्वार्धं सखीजनसमस्या, तदुत्तरत्वेनोत्तरार्धं मरचयदित्यर्थः ॥ १०१ ॥

इसके बाद हृदयरूप मर्मस्थलमें मन्मथ (मनको मथन करनेवाले कामदेव)के बाणोंसे शय घायल होकर बोलनेमें असमर्थ वह दमयन्ती प्रिय (अतएव दमयन्तीके मनोगत को समझनेवाली) सखी-गणके साथ आधी समस्यासे बोलने लगी (आधी बात सखी-के कहनेपर शेष आधी बातको दमयन्ती पूरा करने लगी । [जो विषय या श्लोकादिका अपूर्ण रहता है, उसको अन्य व्यक्ति पूरा करता है । और स्वयं अधिक बोलनेमें अशक्त पर अपने वक्तव्य विषयको वह असमर्थ व्यक्ति समास अर्थात् संक्षेप करता है ॥१०१॥

अकरुणादव सूनशरादशून् सहजयाऽऽपदि धीरतयाऽऽत्मनः ।
असव एव ममाद्य विरोधिनः कथमरीन् सखि! रक्षितुमात्थ माम् ?॥

अकरुणादिति । हे भमि ! आपदि सहजया धीरतया धैर्येण । 'विपदि धैर्यमिति तेरिति भावः । अकरुणान्निर्दयाद् सूनशरात् कुसुमेषोः, आत्मनः स्वस्यासून् प्राणान् रक्ष । अद्येदानीमसव एव मम विरोधिनः शत्रवः । तन्मूलत्वाद् दुःखसंवेदन-ति भावः । हे सखि ! मां कथमरीन् रक्षितुमात्थ ब्रवीषि ? 'ब्रुवः पञ्चानाम्' इति घुः । सम्प्रति मे प्राणरक्षणमाशीविषपोषणं पयोभिरिति भावः ॥ १०२ ॥

(अब यहांसें आरम्भकर श्लो० १०९ तक प्रथम वाक्य दमयन्तीके सखियोंका तथा न्तिम वाक्य उत्तररूपमें कहा गया दममन्तीका समझना चाहिये)

सखी कहती है कि—हे सखि दमयन्ती ! निर्दय पुष्पबाण (कामदेव) के बाणोंसे पने प्राणोंको आपत्तिमें अपनी स्वाभाविक धीरताके द्वारा बचावो ।

दमयन्ती कहती है कि—हे सखि ! आज मेरे प्राण ही विरोधी हैं, (अतः तुम) त्रुओंको बचानेके लिये मुझसे क्यों कह रही हो ?

[कोई तटस्थ व्यक्ति भी शत्रुओंको बचानेके लिये नहीं कहता, तब तुम प्रिय सखी होकर सा क्यों कह रही हो ? यदि मेरे प्राण नहीं रहते अर्थात् मैं मर जाती तो मुझे इतनी व्यथा हीं सहनी पड़ती, अत एव शत्रुरूप इन प्राणोंको बचानेका परामर्श देना तुम्हारी-जैसी प्र सखीको उचित नहीं जचता] ॥ १०२ ॥

---

[1] 'क्यप्' इत्युचितम् तेन क्यङोऽविधानात् । अमर (नामलिङ्गानुशासन)स्य समस्या' शब्दव्याख्याने च 'अपूर्णत्वाद्विक्षिप्तं (विवक्षितं) समस्यते संक्षिप्यते-नया समस्या, 'संज्ञायां समजे'ति बाहुलकात् क्यप्, ऋहलोर्ण्यत् वा, संज्ञापूर्व-त्वाद्वृद्ध्यभावः । समात्क्यचि 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यो' सुच् इत्येके, ततः अप्रत्ययात् । यथा—दामोदरकराघातविह्वलीकृतचेतसा । दृष्टं चाणूरमल्लेन शतचन्द्रं नभस्त-लम् ॥' इति क्षी० स्वा० व्याख्या दृश्यते ।

हितगिरं न शृणोषि किमाश्रवे ! प्रसभमप्यव जीवितमात्मनः ।
सखि ! हिता यदि मे भवसीदृशी मदरिमिच्छसि या मम जीवित

हितगिरमिति । आश्रृणोति वाक्यमिति आश्रवा । पचाद्यच् । हे स
वाक्यकारिणि ! 'वचने स्थित आश्रव' इत्यमरः । प्रसभं बलादप्यात्मनो
प्राणमव रक्ष । 'एति जीवन्तमानन्दो नर वर्षशतादपि' इति न्यायादिति
हितगिरमाप्तवाक्यं किं न शृणोषि ? । हे सखि ! या त्वमदरिं मम जीवितं
पेक्षसे । इदृशीत्थं शत्रुवृद्धिमीहमानापि, मे हिता भवसि यदि । न तु भव
न शृणोमीत्यर्थः ॥ १०३ ॥

सखी—सर्वदा मेरी बातको सुनने तथा माननेवाली हे दमयन्ती ! मेरी
बात क्यों नहीं सुनती ? बलपूर्वक (कष्ट सहकर) भी अपने जीवनकी रक्षा करो।

दमयन्ती—हे सखि ! तुम मेरी ऐसी हितैषिणी होती हो, जो (तुम) मेरे
जीवनको चाहती हो (अतः तुम मेरी हितैषिणी सखी नहीं हो अर्थात् सखी
तुम्हें ऐसा चाहना शोभा नहीं देता) ॥ १०३ ॥

अमृतदीधितिरेष विदर्भजे ! भजसि तापममुष्य किमंशुभिः ? ।
यदि भवन्ति मृताः सखि ! चन्द्रिकाः शशभृतः क्व तदा परित

अमृतदीधितिरिति । हे विदर्भजे दमयन्ति ! एष इति पुरोवर्तिनो हस्त
देशः । अमृतदीधितिः सुधांशुः । अमुष्य सुधांशोरंशुभिः किमिति तापं भ
अत्रामृतशब्दस्यार्थान्तराश्रयेणोत्तरमाह—यदीति । हे सखि ! शशभृतश्च
मृताः भवन्ति यदि, तदा क्व परितप्यते ? न क्वापीत्यर्थः । अस्यामृतदीधि
वेदं दुःखं, मृतदीधितिश्चेत् सर्वारिष्टशान्तिः स्यादिति भावः । अत्र अमृतेति
विवक्षया प्रयुक्तस्य मृतेतरार्थत्वेन योजनाद्वक्रोक्तिरलङ्कारः । 'अन्यथोक्तस्य
स्य काक्वा श्लेषेण वा भवेत् । अन्यथा योजनं यत्र सा वक्रोक्तिर्निगद्यते ॥'

सखी—हे विदर्भकुमारी दमयन्ती ! यह अमृतकिरण (सुधारश्मि अर्थात् चन्द्र
इसके किरणोंसे क्यों सन्तप्त होती हो ?

दमयन्ती—हे सखि ! यदि शशाङ्क (चन्द्रमा) की किरणें मृत (नष्ट)
अर्थात् नहीं रहतीं, तब कहां सन्ताप होता ? अर्थात् चन्द्रमाके किरणोंके अमृत
रहित = जीवित अर्थात् सर्वत्र फैली हुई) होनेसे ही सन्ताप हो रहा है, इसके
कदापि सन्ताप नहीं होता ॥ १०४ ॥

व्रज धृतिं त्यज भीतिमहेतुकामयमचण्डमरीचिरुदञ्चति ।
ज्वलयति स्फुटमातपमुर्मरैरनुभवं वचसा सखि ! लुम्पसि ॥

व्रजेति । (हे मुग्धे !), धृतिं व्रज धैर्यं भज । अहेतुकां भीतिं त्यज ।

डमरीचिः शीतांशुरुदञ्चत्युदेति, न चण्डांशुरित्यर्थः। आतपैरेव मुर्मुरैस्तुषानलैः। र्मुरस्तु तुषानल' इति वैजयन्ती। स्फुटं प्रत्यक्षं यथा तथा, ज्वलयति दहति। सखि! अनुभवं प्रत्यक्षं वचसा आगमेन लुम्पसि बाधसे। तदयुक्तं ग्रावप्लवन- यवत्, प्रत्यक्षेणैवास्य बाधादित्यर्थः। अत्राचण्डकरे चण्डकरभ्रान्त्या भ्रान्ति- लङ्कारः ॥ १०५ ॥

सखी—धैय ग्रहण करो, निष्कारण भयको छोड़ो; क्योंकि यह अचण्डदीधिति (शीत- म) अर्थात् चन्द्रमा उदय हो रहा है। [चन्द्रमामें सूर्यबुद्धि करनेसे जो निष्कारण भय रही हो, उसे छोड़ धैर्य-धारण करो]।

दमयन्ती—हे सखि! यह धूपरूपी मुर्मुरों (कंडेके निर्धूम अंगारों) से मुझे प्रत्यक्ष जला रहा है, मेरे इस प्रत्यक्ष अनुभवको (शास्त्र-) वचनसे लुप्त करती रही हो?। नों की अपेक्षा अनुभव ही सत्य एवं प्रामाणिक माना गया है। अतः मेरे प्रत्यक्ष भव से सिद्ध है कि यह चण्डरश्मि (सूर्य) ही है]॥ १०५ ॥

यि! शपे हृदयाय तवैव यद्यदि विधोर्न रुचेरसि गोचरः।
चिफलं सखि! दृश्यत एव यज्ज्वलयति त्वचमुल्ललयत्यसून् ॥ १०६ ॥

यदुक्तमयमचण्डमरीचिरिति तद्विश्वासयति—अयीति। अयि (मुग्धे) भैमि! श्वसिहीति शेषः। विधोश्चन्द्रस्य रुचेस्तेजसो गोचरो विषयो नासि यदि, त्वद- सङ्गीदं तेजश्चान्द्रं न चेदित्यर्थः। तत्तर्हि तवैव हृदयाय शपे। त्वज्जीविताय द्रुह्या- त्यर्थः। 'श्लाघह्नुङ्' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। तर्हि, सखि! रुचिफलमेव ोमात्रकार्यमेव दृश्यते। न तु चन्द्रकार्यम्। मद्भाग्यविपर्ययेणाभिभवनिवृत्तेरिति वः। कुतः, यद्यस्मात्त्वचं ज्वलयति दहति। असून् प्राणान् उल्ललयति उन्मूल- ति। सर्वं तेजः उष्णत्वाद्दाहकमेव, अभिभवात्तु विपर्यय इति पदार्थतत्त्ववादिनः॥

सखी—अयि! दमयन्ती! मैं तुम्हारे ही हृदय की सौगन्ध खाती हूँ-जो तुम चन्द्रमा रुचि (चांदनी) में न हो।

दमयन्ती—हे सखि! रुचिका फल (कार्य) तो दिखलाई ही दे रहा है कि वह मेरे शरीरके) चमड़ेको जला (सन्तप्त कर) रही है और प्राणोंको ऊपर उठा अर्थात् उबाल व्याकुल कर) रही है।

[दमयन्तीको विश्वास दिलानेके लिये उसकी सखीने दमयन्तीका हृदय छूकर शपथ या कि तुम चाँदनीमें ही हो, इस उक्तिमें 'रुचि' शब्दका अर्थ प्रकाश लेना चाहिये। न्तु दमयन्तीने सखीकी शपथ-पूर्वक कही गयी बातको स्वीकार करती हुई 'रुचि' शब्दका र्थ दाहक तेज मानकर उसके सर्वथा प्रतिकूल उत्तर दिया]॥ १०६ ॥

विधुविरोधितिथेरभिधायिनीमयि! न किं पुनरिच्छसि कोकिलाम्?।
सखि! किमर्थगवेषणया? गिरं किरति सेयमनर्थमयीं मयि ॥ १०७ ॥

विध्विति। अयि भैमि ! विधुविरोधितिथेः कुह्वाख्याया नष्टेन्दुतिथेर तद्भिधायककुहूशब्दोच्चारिणीं 'कुहू कुह्वि'ति नामग्राहं तदाह्वायिनीं कोकिलां पुनः किं नेच्छसि। मा भूच्चन्द्रः तद्विरोधिनीमेनां किं नेच्छसि हे सखि ! अर्थगवेषणया कुहूशब्दस्य नष्टचन्द्रा तिथिरर्थः इति विचारे तत्साध्यं किमपि नास्तीत्यर्थः। गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया करणत्वात्तृती सेयं कोकिला मयि विषये गवादिशब्दवदभिधेयवती न भवतीत्यनर्थ घोषादिवदर्थशून्यत्वात् । किञ्च, अनर्थमयी अशनिघोषवदापद्रूपा अनर्थशब्दान्मयट्प्रत्ययः। गिरं किरति विक्षिपति ॥ १०७ ॥

सखी—चन्द्र-विरोधिनी तिथि 'कुहू' (चन्द्रकलाका दर्शन जिसमें न हो वास्या तिथि) को कहने अर्थात् बुलानेवाली कोयल को तुम क्यों नहीं चाहती ! चन्द्रकी विरोधिनी कोयलको चाहना उचित है]।

दमयन्ती—हे सखि ! अर्थके ढूंढ़नेसे क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ नहीं, कोयल मेरे विषय में (या पासमें) अनर्थकारी बात ('कुहू' शब्दार्थ के प्रति कहती है। [यह कोयल सचमुच 'कूहू'को नहीं बुलाती, अपितु अनर्थ (अति (पक्षान्तर में—प्रतिकूलार्थक) वाणी बोलने से धूर्त है॥ कोयलका कुहूंकना पीडित करता है]॥ १०७॥

हृदय एव तवास्ति स वल्लभस्तदपि किं दमयन्ति ! विषीदसि
हृदि परं न बहिः खलु वर्तते सखि ! यतस्तत एव विषद्यते

हृदय इति। हे दमयन्ति ! सः ते वल्लभः नलः तव हृदय एवास्ति तदपि तथापि किं विषीदसि खिद्यसे ? हे सखि ! यतो हृदि परं हृद्येव वर्तते खलु। तत एव विषद्यते खिद्यते। सदेर्भावे लट्। यतः स्मर्यते दृश्यते; अतो मे विषाद इत्यर्थः॥ १०८॥

सखी—हे दमयन्ती ! तुम्हारा प्रिय नल हृदयमें (अत्यन्त समीपमें) ही क्यों विषाद करती हो ? [अत्यन्त निकटवर्ती प्रियके रहने पर उसके लिये कोई नहीं करता है]।

दमयन्ती—क्योंकि वह प्रिय नल केवल हृदयमें ही है, निश्चय ही बाहर कारण विषाद करती हूँ। [अतिशय प्रिय नलके हृदयस्थ होनेसे उनका एकमात्र होता है, दर्शन नहीं और परम प्रिय के विना दर्शन हुए स्मरणमात्र से किसी नहीं होता, यही मेरे विषाद का कारण है]॥ १०८॥

स्फुटति हारमणौ मदनोष्मणा हृदयमप्यनलंकृतमद्य ते।
सखि! हतास्मि तदा यदि हृद्यपि प्रियतमः स मम व्यवधापितः

स्फुटतीति । हे भैमि ! मदनोष्मणा कामज्वरेण, हारमणौ हृदयालङ्काररत्ने इति विदलति सति, अद्य ते तव हृदयं वचोऽपि अलंकृतं न भवतीत्यनलङ्कृतम् परिष्कृतं जातम् । अथ हृदयमन्तरङ्गमप्यनलं नलरहितं कृतमित्यर्थान्तरं मत्वो-माह-हे सखि ! स प्रियतमः, मम हृद्यपि व्यवधापितो यदि दूरीकृतश्चेत् । तेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । 'अर्तिह्री' इत्यादिना पुगागमः । तदा हतास्मि । वक्रो-रलङ्कारः । लक्षणमुक्तम् ॥ १०९ ॥

सखी—कामज्वर (कामजन्य विरह-सन्ताप) से हारमणिके फूटते रहनेसे आज मैंने हारे हृदयको भी अनलङ्कृत (भूषित नहीं, पक्षान्तरमें—नलरहित) किया है [पहले म्हारे मुख आदि तो अलङ्कार शून्य थे ही, किन्तु आज हृदयको भी अलङ्कार से युक्त ीं किया यह 'अपि' शब्दसे ध्वनित होता है मुक्ताका अग्नि तापमें पड़कर फूटना भाविक है] ।

दमयन्ती—हे सखि ! यदि मेरे हृदयसे भी उस प्रियतम (नल) को व्यवहित (पृथक्) दिया तब तो हाय ! मैं मारी गयी । (पहले प्रियतमका दर्शन बाहरमें न होनेपर भी दयमें वे हैं, तब कभी न कभी वे अवश्य ही मिलेंगे' यह मानकर ही मैं सन्तोष करती थी, न्तु आज तुमने जब हृदयसे भी उस प्रियतम नलको अलग कर दिया, अतः मैं मारीगयी) । [पहले सखीने तो 'न+अलङ्कृत=अनलङ्कृत अर्थात् मण्डनरहित' अर्थ मानकर नलङ्कृत' शब्दको कहा, किन्तु दमयन्तीने 'अ+नलङ्कृत=अनलङ्कृत अर्थात् नलशून्य या यह अर्थ 'अनलङ्कृत' शब्दको मानकर घवड़ाकर उक्त उत्तर दिया] ॥ १०९ ॥

इदमुदीर्य तदैव मुमूर्छ सा मनसि मूर्छितमन्मथपावका ।
क सहतामवलम्बलवच्छिदामनुपपत्तिमतीमपि[1] दुःखिता ॥ ११० ॥

इदमिति । सा भैमी, इदं पूर्वोक्तं 'सखि ! हतास्मी'ति वाक्यम् उदीर्य उच्चार्य, दैव मनसि मूर्छितमन्मथपावका प्रवृद्धकामानला सती, मुमूर्छ मुमोह । मूर्छा हसमुच्छ्राययोरित्यर्थद्वयेऽपि धातोः स्मरणात् । तथाहि, दुःखिता सञ्जातदुःखा, ःखिनी सा । अनुपपत्तिमतीमनलङ्कृतमिति श्लेषशब्दश्रवणजन्यभ्रान्तिविषयत्वा-नुपपन्नामपीत्यर्थः। अवलम्बलवस्य हृदयसङ्गतिमात्रलक्षणस्य प्राणाधारलेशस्यापि दामुच्छेदकं क सहतां, कथं सहेतेत्यर्थः । दुःखोद्विग्नस्य भ्रान्तमभ्रान्तं वानिष्टसं-दनमतिदुःसहमतो युक्तमस्या मूर्छनमिति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥

ऐसा कहकर मनमें बढ़ी हुई कामाग्निवाली वह दमयन्ती उसी समय मूर्च्छित हो गई । अत्यन्त दुखिया (वह दमयन्ती) असत्य भी अर्थात् श्लेषोक्त सखी-वचनके भिन्नार्थक होनेसे हृदय-गत-नलाभावरूप घटनारहित भी अवलम्ब (हृदयस्थित प्रिय कभी न कभी

---

[1] '—मतिदुःखिता' इति पाठान्तरम् ।

अवश्यमेव मिलेगा' ऐसी आशारूप सहारा) के लेश (कुछ भाग) के नाश
भी प्रिय नहीं रहा तब वह कैसे मिलेगा इस प्रकार विचार आनेपर आशाके
कैसे सहन करे ? । [अतिदुःखित व्यक्ति सत्य-असत्य, घटित-अघटित,
या अन्यार्थक आदि बातों का विचार नहीं कर सकता, किन्तु जैसा सुनता है,
ही सीधा अर्थ मानकर तदनुसार निर्णय कर लेता है, अतः अतिपीडित सुकुमारी
को भी सखीके द्वारा कही गयी श्लेषोक्तिसे अपने हृदयको नलरहित समझकर
उचित ही था] ॥ ११० ॥

अधित कापि मुखे सलिलं सखी प्यधित कापि सरोजदलैः
व्यधित कापि हृदि व्यजनानिलं न्यधित कापि हिमं[1] सुतनो

अधितेति । कापि सखी सुतनोर्भैम्या मुखे सलिलम् अधित आहितव
कापि स्तनौ सरोजदलैः प्यधित पिहितवती, 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योः
इत्यपेरकारलोपः। कापि हृदि व्यजनानिलं व्यधित विहितवती। तालवृन्तेन
मासेत्यर्थः। कापि तनौ शरीरे हिमं चन्दनम् । 'चन्दनेऽपि हिमं
विश्वः । न्यधित निहितवती ॥ १११ ॥

(यह देख) किसी सखीने सुन्दर शरीरवाली दमयन्तीके मुखपर पानी (
दिया, किसीने कमलिनीपत्रोंसे उसके स्तनोंको ढक दिया, किसी सखीने हृदय
हवा की और किसी सखीने उसके शरीरपर चन्दनलेप लगाया ॥ [दमयन्तीको
देख सब सखियां एक साथ ही शीतलोपचारद्वारा उसकी मूर्च्छा दूर करनेमें

उपचचार चिरं मृदुशीतलैर्जलजजालमृणालजलादिभिः ।
प्रियसखीनिवहः स तथा क्रमादियमवाप यथा लघु चेतनाम् ॥

उपचारेति । स प्रियसखीनिवहः मृदुशीतलैर्जलजजालमृणालजलादिभि
जालैः पद्मसमूहैः, मृणालैः, जलैः । आदिशब्दाद्व्यजनादिसाधनविशेषैः
तथोपचचार, यथेयं भैमी लघु क्षिप्रं चेतनां संज्ञामवाप ॥ ११२ ॥

उस प्रिय सखीवर्गने कोमल और ठंढे कमल, (पाठभेदसे—कमलसमूह
बिसलता और जल आदि (चन्दन, खश आदि) से क्रमशः बहुत समय तक
किया, जिससे यह दमयन्ती थोड़ा होशमें आ गयी । ['लघु' शब्दका शीघ्र
प्रकृतपद्यके प्रथमपादस्य 'चिरम्' पदसे विरुद्ध होनेके कारण तथा सुकुमारी
चिरकालज नल-विरहजन्य पीडा होनेसे 'शीघ्र होशमें आ गयी' ऐसा अर्थ करने
'कुछ (थोड़ा) होशमें आ गयी' यही अर्थ अधिक सङ्गत है, और इस
अग्रिम दो श्लोकोंके साथ भी विरोध नहीं होता ॥ ११२ ॥

---

१. 'विषं' इति पाठान्तरम् । २. 'नाल' इति पाठान्तरम् ।

(युग्मम्)

अथ 'कले ! कलय श्वसिति स्फुटं चलति पक्ष्म चले ! परिभावय ।
अधरकम्पनमुन्नय मेनके ! किमपि जल्पति कल्पलते ! शृणु ॥११३॥
रचय चारुमते ! स्तनयोर्वृतिं गणय केशिनि ! कैश्यमसंयतम् ।
अवगृहाण तरङ्गिणि ! नेत्रयोर्जलझरावि'ति शुश्रुविरे गिरः ॥११४॥

अथ भैम्याः कलादयः सप्त सख्यस्तासां तद्दशापरीक्षाव्यग्राणां मिथः कलकलं लोकद्वयेनाह—अथेति । अथानन्तरम्, इति गिरः शुश्रुविर इति सम्बन्धः । ता ाह-हे कले ! स्फुटं व्यक्तं, श्वसिति प्राणिति, कलय आकलय । हे चले ! पक्ष्म लोम, चलति चक्षुरुन्मिषतीत्यर्थः । परिभावय परामृश । हे मेनके ! अधर-पनमोष्ठचलनमुन्नय तर्कय । हे कल्पलते ; किमपि जल्पति, शृणु ॥११३॥

रचयेति । हे चारुमते ! स्तनयोर्वृतिमावरणं रचय । हे केशिनि ! असंयतं स्तं, कैश्यं केशसमूहं, 'केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम्' इति यञ्प्रत्ययः । य चिन्तय । बधानेत्यर्थः । हे तरङ्गिणि ! नेत्रयोर्जलझरावश्रुप्रवाहौ, अवगृहाण ान । इति गिरः शुश्रुविरे श्रुताः ॥ ११४ ॥

इसके (कुछ होशमें आनेके) बाद 'हे कला ! देखो साफ २ श्वास ले रही है, हे चला ! के पलक चल रहे हैं, यह तुम विचार करो; हे मेनका ! इसका ओष्ठ हिल रहा है, यह अनुमान करो; हे कल्पलता ! कुछ (अस्पष्ट तथा धीरेसे) कह रही है, तुम सुनो; हे नती ! इसके स्तनोंको ढंकदो; हे केशिनी ! खुले हुए (इसके) केश-समूहको बांध हे तरङ्गिणी ! नेत्रोंमें निकले हुए आंसूकों पोंछ दो;' इस प्रकार (सखियोंका परस्पर में ना सुनाई दिया ॥ ११३-११४ ॥

कलकलः स तदालिजनाननादुदलसद्विपुलस्त्वरितेरितैः ।
यमधिगम्य सुतालयमेतवान्[1] द्रुततरः स विदर्भपुरन्दरः ॥ ११५ ॥

कलकल इति । तदा तस्मिन् सखीजनव्याकुलकाले, आलिजनाननात् सखीमुखा-रितैः संभ्रमोक्तिभिः, विपुलो महान्, सः कलकलः उदलसदुत्थितः । यं कलकल-धिगम्याकर्ण्य, स विदर्भपुरन्दरः भीमभूपतिः द्रुततरोऽतित्वरितः, सुतालयमेत-न् कन्यान्तःपुरं प्राप्तवान् ॥ ११५ ॥

इस प्रकार आपसमें जल्दी २ कहनेसे सखी-समुदायके मुखसे निकला हुआ वह महान् लाहल अधिक बढ़ गया (अथवा—धावकों अर्थात् दौड़कर दमयन्ती-मूर्च्छाकी खबर हुँचानेवालोंके कहनेसे सखी-समुदाय……) जिसे सुनकर विदर्भनरेश (राजा भीम)

---

1. '-मीयिवान् धृतदरः' इति पाठान्तरम् ।

भयसुक्त हो कन्या (दमयन्ती)के महलमें पहुँच गये । [पुत्रीकी मूर्च्छाका समा
पिताका भययुक्त होना एवं तत्काल ही उसके महलमें पहुंचना स्वाभाविक ही है

७ कन्यान्तः पुरबोधनाय[1] यदधीकारान्न दोषा नृपं
द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतुः ।
देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं
स्यादस्या नलदं विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः ।

नाल

कन्येति । कन्यान्तःपुरस्य बोधनाय योगक्षेमानुसन्धानाय, यदधी
मन्त्रिवैद्ययोरधीकारान्नियोगात् । 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इति
दोषाः परपुरुषप्रवेशादयो वातादयश्च, न सन्तीति शेषः । अस्तिर्भवतिपरः
मानोऽप्यस्तीति वचनात् । तौ मन्त्रिप्रवरश्च अगदमपरोगं करोतीत्यगदङ्का
रोगहार्यगदङ्कारो भिषग्वैद्यश्चिकित्सक' इत्यमरः । 'कर्मण्यण्' 'कारे सत्य
इति मुमागमः । द्वौ नृपं तुल्यमेकवाक्यमूचतुः । देव राजन् ! आकर्णय,
सम्यक्छ्रुतेन, चर एव चरको गूढचारः, तस्योक्तेन वाक्येन । अन्यत्र सुश्रु
कस्योक्तेन चरकाचार्यप्रणीतग्रन्थेन, अखिलं तापनिदानं, जाने । अस्या
दलनेनिवर्तने, नलंराजानं ददातीति नलदं, तत्संघटकं विना । 'आतोऽनुपस
अन्यत्र, नलदमुशीरं विना । 'मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम् । अभयं नलदं सेव्य
मरः । कोऽपि क्षमो न स्यात् । 'शकि लिङ् इति शक्यार्थे लिङ् । अत्र द्वयो
दयोः प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतश्लेषोऽलङ्कारः ॥ ११६ ॥

जिस (प्रधान मन्त्री)के अधिकारसे कन्याके अन्तःपुरके योगक्षेममें (बाधाकेलिये
(परपुरुषसंसर्गजन्य व्यभिचार आदि) समर्थ नहीं होते राजवैद्यपक्षमें-जिस (रा
अधिकार अर्थात् निरन्तर देखरेख रखनेसे कन्याके शरीरको रक्षित करने(में बाधा)
दोष (वात-पित्तादि) समर्थ नहीं होते; उन दोनों (मुख्यमन्त्री तथा राजवैद्य)
(परस्पर अविरुद्ध) वचन कहे । (प्रधान मन्त्रीने कहा कि—'सरकार ! सुनि
तरह सुने हुए दूतके कहनेसे मैं सब जानता हूँ कि—) नलके लिये देने (नलके सा
करने के अतिरिक्त इस दमयन्तीके सन्तापकी शान्तिके लिये कोई भी (अन्य
समर्थ नहीं है, राजवैद्यके पक्षमें वैद्यने कहा कि—'हे सरकार ! सुश्रुत तथा चरक
चिकित्साशास्त्रके रचयिता प्रधान दो आचार्यों)के कहनेसे मैं सब जानता हूँ कि
खश देनेके अलावे इसके तापकी शान्तिके लिये अन्य कोई (क्वाथ, रस, भस्म आदि
समर्थ नहीं है । (अथवा–राजा 'नल'की प्राप्तिके पहले 'खश' देनेके अतिरिक्त इस
शान्तिके लिये ब्रह्मा भी समर्थ नहीं है, तब दूसरेकी बात ही क्या है ? अतः
नलके साथ विवाह करनेका तथा उसके पहले खशद्वारा उपचार करनेका प्र

---

[1] 'बाधनाय' इति पाठान्तरम् ।

हिये । [प्रधान मन्त्री तथा राजवैद्यको राजकुमारीकी मूर्च्छा सुनकर अन्तःपुरमें पहुंचना वेत ही है] ॥ ११६ ॥

ताभ्यामभूद्युगपदप्यभिधीयमानं [1]भेदव्ययाकृति मिथःप्रतिघातमेव ।
श्रोत्रे तु तस्य पपतुर्नृपतेर्न किञ्चिद्भैम्यामनिष्टशतशङ्कितयाकुलस्य ॥११७॥

ताभ्यामिति । ताभ्यां मन्त्रिभिषग्भ्यां, भेदव्ययो नामाभेदः स एवाकृतिर्यस्य त् भेदव्ययाकृति, अभिन्नाकारमेकरूपं यथा तथा, युगपदेकदा, अभिधीयमानं ल्दादिवाक्यमिति शेषः। मिथोऽन्योन्यं प्रतिघातो विरोधो यस्य तन्मिथःप्रतिघातं योभिन्नमेवाभूत् । अभिधानयौगपद्यादेकशब्दाच्चाभिन्नार्थैकवाक्यवत् प्रतीयमामपि तत् भिन्नार्थं वाक्यद्वयमेवासीदित्यर्थः । राज्ञस्तु न तत्र दृष्टिरित्याह—भैम्यां पये अनिष्टशतशङ्कितया अनिष्टानेकशङ्कावत्त्वेन आकुलस्य विह्वलचित्तस्य, 'प्रेम श्यति भयान्यपदेऽपि' इति न्यायादिति भावः। तस्य नृपतेः भीमस्य श्रोत्रे तु ञ्चिन्न पपतुः न किञ्चिदर्थं जगृहतुः । व्याकुलान्तःकरणतया तद्वाक्ये नातीव कर्णं त्तवानित्यर्थः ॥ ११७ ॥

उन दोनों (प्रधान मन्त्री तथा राजवैद्य) के द्वारा एक साथ कहा गया भेदरहित भी ह वचन परस्परमें प्रतिघातक (एक दूसरे का बाधक) ही हुआ, इस कारण दमयन्ती के षय में सैकड़ों अनिष्टों की शङ्का होने से राजा के दोनों कान कुछ भी (किसी एक के चन को भी) नहीं पान किये अर्थात नहीं सुने । [एक साथ दो व्यक्तियों के कहे गये चनों को कोई भी घबड़ाया हुआ व्यक्ति नहीं सुन सकता, अतः प्रधान मन्त्री तथा राजव के एक साथ कहे गये भेदरहित वचनको भी परस्पर बाधक (भीम राजाके द्वारा एक सरे की बातको नहीं सुनने में कारण) होना स्वभाविक ही है । अतः उनके वचनको न न सकनेसे दमयन्तीके नाना प्रकारकी अनिष्ट शङ्काओंसे भीम राजा घबड़ा गये] ॥११७॥

द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नामपि तनयां नृपतिः पदप्रणम्राम् ।
अकलयदसमाशुगाधिमग्नां झटिति पराशयवेदिनो हि विज्ञाः ॥११८॥

द्रुतेति । नृपतिः द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नां द्रागपसारितशिशिरोपचारचिह्नामपि, पदे प्रणम्रां पादपतिताम् 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णत्वम् । तनयामसमाशुगाधिमग्नां मदनव्यथामग्नाम् अकलयन्निश्चिकाय । तथाहि, विज्ञाः प्रवीणाः । 'प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः' इत्यमरः । झटित्यविलम्बेन, पराशयवेदिनो हि, प्रकाशकलिङ्गमन्तरेण आकारमात्रेण परेङ्गितं निश्चिन्वन्तीत्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ११८ ॥

राजा (भीम) ने विरहचिह्न से रहित । चन्दनलेप, कमल, मृणाल आदि नहीं धारण

---

[1] 'भेदव्यपाकृति' इति पाठान्तरम् ।

की हुई) भी पैरोंमें प्रणाम करती हुई दमयन्तीको कामदेव-बाणप्रहारजन्य मानसिक मग्न अर्थात् अत्यन्त कामपीडित समझ लिया, क्योंकि चतुरलोग दूसरोंके आशयको शीघ्र वाले होते हैं। [अन्तःपुरमें राजाका आना सुनकर सभय सखियोंने या कुछ स्वस्थ हुई दमयन्तीने ही कमल, मृणाल, बिस आदि विरह-ताप-शान्तिकारक चिह्नोंको दूर कर तब दमयन्तीने आकर पिताके चरणों पर गिरकर प्रणाम किया। विरहचिह्नों को दूरकर हुई भी पुत्रीको चतुर राजा भीमने कामबाणसे पीडित समझ लिया। यहां दमयन्ती पीडासे इतनी क्षीण हो गयी थी कि विरहचिह्न को दूर हटाकर भी समीप में आयी दमयन्तीको कामपीडित समझनेमें चतुर राजाको कुछ विलम्ब नहीं लगा] ॥ ११८ ॥

व्यतरदथ पिताशिषं सुतायै नतशिरसे मुहुरुन्नमय्य मौलिम्।
'दयितमभिमतं स्वयंवरे त्वं गुणमयमाप्नुहि वासरैः कियद्भिः' ॥ ११

व्यतरदिति। अथ पिता भीमः, नतशिरसे लज्जानतमुखायै सुतायै दम मौलिं मुखमुन्नमय्य, हे वत्से! कियद्भिः कतिपयैरेव वासरैः स्वयंवरे त्वं गु गुणाढ्यमभिमतं दयितमाप्नुहीत्याशिषं मुहुर्व्यतरत् ॥ ११९ ॥

इसके (चरणोंमें दमयन्तीके प्रणाम करनेके) बाद पिता (राजा भीम) ने नत कन्या के लिये प्रेमाधिक्य से झट (पादप्रणत उसके) मस्तक को उठाकर अशीर्वाद कि—'स्वयंवरमें (अथवा हे स्वयंवरे ! पति को स्वयं वरण अर्थात् चुनकर स्वीकार वाली !) तुम कुछ (थोड़े) ही दिनों में बहुत गुणी अपने अभिलषित प्रियतमको करो।' [इस पद्य में 'स्वयंवरे, अभिमतम्, कियद्भिः वासरैः' पदों से राजा भीम ने दमयन्तीकी कामपीडितावस्था जानकर आश्वासन दिया कि 'तुम्हें अभिलषित प्रियतम शीघ्र ही पाने के लिये मेरी परतन्त्रता नहीं रहेगी, अपितु तुम स्वेच्छानुसार प स्वयंवर में स्वयं ही स्वीकार करने में स्वतन्त्र रहोगी] ॥ ११९ ॥

तदनु स तनुजासखीरवादीत्तुहिनऋतौ गत एव हीदृशीनाम्।
कुसुममपि शरायते शरीरे तदुचितमाचरतोपचारमस्याम् ॥१

तदन्विति। तदनु आशीर्वादानन्तरम् 'अनुर्लक्षणे' इति कर्मप्रवचनीयसं स नृपस्तनुजासखीः सुतावयस्याः, अवादीदूचे। किं तत्तदाह—हि यस्मात्, तुहि ऋतौ शिशिरकाले, 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः। गते निर्गत एव, वसन्ते पुष्प णामात्तापस्य दुःसहत्वाच्चेति भावः। इदृशीनां कोमलाङ्गीनां यौवनप्रविष्टानां कुसुममपि शरायते शरवदाचरति, तद्वद्दुःसहं भवति। एकत्र गात्रमार्दवाद मदनबाणत्वाच्चेति भावः। तत्तस्मादस्यां कोमलाङ्ग्यां युवत्यां च, उचितं यो पचारं प्रतीकारमाचरत ॥ १२० ॥

उसके (दमयन्तीको आशीर्वादरूप में आश्वासन देने के) बाद उस (राजा भीम,

दमयन्तीकी सखियोंसे कहा—'शिशिर ऋतुके वीतते ही अर्थात् वसन्त ऋतुका आरम्भ (कोमलाङ्गी युवतियों या विरहपीडिताओं) के शरीरमें फूल भी वाणके समान हार करता है, अत एव (तुमलोग) इस दमयन्तीके विषयमें योग्य उपचार करो। कोमलाङ्गियोंके शरीरमें फूलसे मारनेपर भी वाणसे मारनेके समान पीडा होती है, कामवाण होनेसे विरहिणियोंके लिये तो पीडा होना स्वाभाविक ही है] ॥ १२० ॥

कतिपयदिवसैर्वयस्यया वः स्वयमभिलष्य वरिष्यते वरीयान् ।
कृशिमशमनयानया तदाप्तुं रुचिरुचिताथ भवद्विधाभिधाभिः[1] ॥१२१॥

कतीति । किंच, कतिपयदिवसैः अल्पदिनैरेव, वो युष्माकं, वयस्यया सख्या या, वरीयान् श्रेष्ठः पुमान्, स्वयमभिलष्य कामयित्वा वरिष्यते । यं कामयते वरिष्यतीत्यर्थः । तत्तस्माद् अथेदानीम्, अनया दमयन्त्या (कर्त्र्या), भवतीनां इव विधा यासां तासां भवद्विधानां सखीनां, सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः । अभिरुक्तिभिर्या कृशिमशमना कार्श्यनिवर्तना, तया उपायभूतया रुचिः कान्तिः आप्तुमुचिता आप्तव्या, स्वयंवरपर्यन्तं भवदुपलालनावचनैः खेदं विहाय या सन्तुष्टया च स्थातव्यमित्यर्थः । द्रुतेत्यादिश्लोकचतुष्टयं पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥

तुमलोगोंकी सखी यह दमयन्ती कुछ (थोड़े) ही दिनोंमें स्वयं अभिलाषा करके उत्तम (पतिको) स्वीकार करेगी (जिसे यह हृदयसे चाहती है, उसे ही स्वयंवरमें वरण करेगी, इस कार्यमें पिता होनेके कारण मैं किसी प्रकारका वाधक नहीं बनूंगा)। कारण इस समय इस दमयन्तीकी दुर्बलता दूर करनेवाली रुचि (विरहावस्थाके पहले सुन्दरता, या इच्छा), तुमलोगोंके समान (हितैषिणी सखियों) के कहने अर्थात् (पाठभेदसे—उपचारोंसे) प्राप्त करना उचित अर्थात् आवश्यक है।' दुर्बलता दूर करनेवाली' यह विशेषण प्रथमान्त मानकर दमयन्ती पक्षमें भी लग है॥ इसका शीघ्र ही स्वयंवर होनेवाला है, अत एव तुम लोग ऐसा उपचार करो; यह दमयन्ती कृशता दूरकर पहलेके समान सुन्दर हो जावे] ॥ १२१ ॥

एवं यद्वदता नृपेण तनया नापृच्छि लज्जापदं[2]
यन्मोहः स्मरभूरकल्पि वपुषः पाण्डुत्वतापादिभिः ।
यच्चाशीः कपटादवादि सदृशी स्यात्तत्र या सान्त्वना
तन्मत्वालिजनो मनोऽधिमतनोदानन्दमन्दाक्षयोः ॥ १२२ ॥

एवमिति । एवं वदता नृपेण, तनया दमयन्ती, लज्जापदं लज्जाहेतुं, नापृच्छि पृष्टेति यत् । ज्ञातांशे प्रश्नायोगादिति भावः । पृच्छेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि लुङ् । मोहो मूर्च्छा च वपुषः पाण्डुत्वतापादिभिर्लिङ्गैः स्मरभूः कामजोऽकल्पि निश्चित

---

[1] 'विधाभिः' इति पाठान्तरम् । [2] 'लज्जास्पदम्' इति पाठान्तरम् ।

इति यत् । तत्र तस्यां पुत्र्यां, सदृशी अनुरूपा या सान्त्वना लालनोक्तिः सा चाशीः कपटाद्दयितमाप्नुहीत्याशीर्वादव्याजादवादीति च यत्, तत्सर्व लोच्य, आलिवर्गः मनः स्वचित्तम् आनन्दमन्दाक्षयोः अब्धिमतनोत् । सागरीचकारेत्यर्थः स्वेष्टसिद्धेरानन्दः स्वरहस्यप्रकाशनाल्लज्जा ॥ १२२ ॥

इस प्रकार (श्लो० ११९—१२१) कहते हुए राजा भीमने कन्या दमयन्तीसे विषयक बातको (पाठभेदसे-सलज्ज दमयन्तीसे पीडाविषयक बातको) तथा शरीर के पाण्डुत्व और सन्ताप आदिसे जो मूर्च्छा उत्पन्न कर दिया था उसको पूछा, और आशीर्वादके वहानेसे (श्लो० ११३ में) दमयन्तीसे योग्य वर पाने सखियोंसे उसका योग्य उपचार करनेको कहकर जो शान्त्वना दी, उसे जानकर मनको आनन्द तथा लज्जाका समुद्र बना दिया । [राजाने पिता होनेके नाते कन्यासे जो लज्जाजनक पाण्डुतापादिजन्य मोह आदिकी बात नहीं पूछी और देकर तथा सखियोंसे उचित उपचार करनेके लिये कहकर कन्या तथा उसकी सान्त्वना दे दी, यह योग्य एवं चतुर पिताके लिये उचित ही था । सखियां भी सखी दमयन्तीका, स्वयंवर शीघ्र ही करने का निश्चय कर लिया' यह जानकर कामपीडाविषयक बात पिताजीने मालूम कर लिया' यह जानकर एक साथ ही मनमें लज्जित भी हुई । अन्य किसी भी पिता एवं कन्याके लिये ऐसा ही करना स्वभावि

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तुर्यः स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातर्ययं तन्महा-
काव्येऽत्र व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥

श्रीहर्षमिति । श्रीहर्षमित्यादि सुगतम् । तुर्यश्चतुर्थः । 'चतुरश्छयता लोपश्च' इति साधुः । स्थैर्यविचारणं नाम स्वप्रणीतप्रकरणं तद् भ्रातरि कर्तृक इत्यर्थः ॥ १२३ ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु'समाख्याने चतुर्थः सर्गः समाप्तः ॥ ४ ॥

कवीश्वरसमूहके मुकुटालङ्कारमें जड़े गये हीरेके समान पिता 'श्रीहीर' तथा मामल्ल देवीने इन्द्रिय-समूहको जीतनेवाले जिस 'श्रीहर्ष'नामक पुत्रको उत्पन्न उसके रचित 'स्थैर्यविचारण' (क्षण-भङ्गके खण्डनसे स्थिरताका विचारणसूचक विशेष) नामक प्रकरणका सहोदर (समान, पक्षान्तरमें—दोनों ग्रन्थोंका एक होनेसे सहज भाई), सुन्दर, नलके चरित अर्थात् 'नैषधचरित' नामक महाका वतः निर्मल (दोषहीन) चतुर्थ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२३ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित'का चतुर्थ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

यावदागमयतेऽथ नरेद्रान् स स्वयंवरमहाय महीन्द्रः ।
तावदेव ऋषिरिन्द्रदिदृक्षुर्नारदस्त्रिदशधाम जगाम ॥ १ ॥

अथ दमयन्तीस्वयंवराय इन्द्राद्यागमनं वक्तुं तदुपयोगितया नारदस्येन्द्रलोक-गमनमाह—यावदिति । अथ स महीन्द्रो भीमभूपतिः, स्वयंवरमहाय स्वयंवरोत्स-वाय नरेन्द्रान्, यावदागमयते आगमनेनानयनेन विलम्बत इत्यर्थः । 'आगमे-र्णिचि वाऽऽत्मनेपदं वक्तव्यम्' । 'क्षमोपेक्षा कालहरणमि'तिकाशिका । तावदेव ऋषि-र्नारदः, 'ऋत्यक' इति प्रकृति भावः । इन्द्रं दिदृक्षुरिन्द्रदिदृक्षुः सन्, मधुपिपासुवत् गम्यादिपाठाद् द्वितीयासमासः । त्रिदशधाम स्वर्गं प्रति जगाम । सर्गेऽत्र स्वागता वृत्तम् । 'स्वागतेति रनभाद् गुरुयुग्मम्' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

दमयन्तीको आश्वासन देनेके बाद राजा भीम जब तक (स्वयंवरका निमन्त्रण भेजकर) राजाओंकी प्रतीक्षा करते थे, तब तक नारदजी इन्द्रको देखने (उनसे मिलने) की इच्छासे स्वर्गको गये ॥ १ ॥

नात्र चित्रमनु तं प्रययौ यत्पर्वतः स खलु तस्य सपक्षः ।
नारदस्तु जगतो गुरुरुच्चैर्विस्मयाय गगनं विललङ्घे ॥ २ ॥

अथ षड्भिस्तद्गमनप्रकारं वर्णयति—नेत्यादि । पर्वतो नारदसखो मुनिः शैलश्च । 'पर्वतः शैलदेवर्ष्योः' इति विश्वः । तं नारदमनु प्रययाविति यत् अत्र चित्रमाश्चर्यं न, कुतः, स पर्वतस्तस्य नारदस्य सपक्षः सखा खलु पक्षवांश्चेति गम्यते । उभयथा-प्युत्थानं युक्तमेवेति न चित्रमित्यर्थः । किंतु, जगतो लोकस्य, उच्चैरुन्नतः, गुरुरा-चार्यः तस्मादलघुश्च, स नारदस्तु, विस्मयाय गगनं विललंघे लंघयामास । तल्लंघनं विस्मयाय भवतीत्यर्थः । गुरुद्रव्यस्य पतनार्हस्य उत्पतनं विरुद्धमिति श्लेषोत्थापितो विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ २ ॥

उन नारदजीके सपक्ष (मित्र, पक्षान्तरमें—पंखसहित) पर्वत ऋषि (पक्षान्तरमें—पहाड़) जो पीछे २ गये, इसमें आश्चर्य नहीं है; किन्तु संसारके (पक्षान्तरमें—संसारसे भी सबसे) गुरु (आचार्य होनेके कारण गौरवयुक्त, पक्षान्तरमें—भारी) नारदजी अत्युन्नत आकाशको लांघ गये, यह आश्चर्य है । अथवा–गुरु अर्थात् गौरवयुक्त (पक्षा-न्तरमें—भारी) नारदजी संसारके आश्चर्यके लिये उच्चतम आकाशको लांघ गये, अथवा—संसारके गुरु नारदजी जो आकाशको लांघ गये, यह 'वि' अर्थात् पक्षियोंके

भी स्मय (आश्चर्य) के लिये हुआ (पक्षियोंने भी गुरुतम नारदजीको आकाश (ऊपर जाते) देखकर बड़ा आश्चर्य किया कि इस प्रकार शीघ्र हमलोग भी नहीं सकतीं)। [जो पर्वत अचल है, उसका नारदजीके साथ ऊपर आकाशको जाना कारक होना चाहिये था, वैसा नहीं हुआ; क्योंकि वह पंखसहित था—जैसा कि रा मैनाक पर्वत तथा हनुमानजीके संवादसे और पुराणवचनोंसे पर्वतोंके पंखयुक्त आकाशमें उड़नेका प्रसङ्ग आया है। अथवा-यह नारदजी उसके (पर्वतके) सपक्ष अर्थात् थे या मित्र थे, अतः वे सब कुछ उसके वास्ते कर सकते थे, अतः उसका आकाश करना कोई भी आश्चर्यकी बात नहीं। संसारके उपदेष्टा होनेसे गौरवयुक्त (पक्षा०- भारयुक्त) नारदजी जो आकाशको लांघ गये-धीरे २ नहीं गये किन्तु उछलकर गये—यह आश्चर्यके लिये हुआ, क्योंकि जो जगद्गुरु है, वह स्वयं अपने लिये कोई अ दित काम नहीं करता॥ नारदजीके साथ उनके मित्र पर्वत ऋषि भी स्वर्गको गये]

गच्छता पथि विनैव विमानं व्योम तेन मुनिना विजगाहे।
साधने हि नियमोऽन्यजनानां योगिनां तु तपसाऽखिलसिद्धिः।

गच्छतेति। पथि विमानं व्योमयानं विनैव गच्छता तेन मुनिना, व्योम गाहे प्रविष्टम्। तथा हि, साधने उपाये नियमोऽवश्यंभावः क्रियासिद्धौ नि साधनान्तरापेक्षेत्यर्थः। अन्यजनानामस्मदादीनां, योगिनाम् तु, तपसा योग चाखिलसिद्धिः सर्वकार्यसिद्धिर्हि। तस्मान्महायोगिनोऽस्य किं विमानेनेति सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ ३॥

विना विमानके ही जाते हुए उस नारदजीने आकाशको आलोडित कर दिया (अ ……अपरिमित आकाशको आलोडित कर दिया। अथवा—पक्षीके समान जाते हु क्योंकि अन्य साधन (रथ, घोड़ा, विमान आदि) की आवश्यकता साधारण लोगों है (विना साधनके साधारण लोग कुछ नहीं कर सकते), योगियोंको तो तपस्यासे सिद्धि होती है, (किसी अन्य साधनके विना उनका कोई काम नहीं रुकता)॥ ३॥

खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानाँल्लङ्घते स्म मुनिरेष विमानान्।
अर्थितोऽप्यतिथितामनुमेने नैव तत्पतिभिरंघ्रिविनम्रैः॥ ४॥

खण्डितेति। एष मुनिः, खण्डितो निरस्तः, इन्द्रभवनादीनामभिमानोऽ यैस्तान्, ततोऽपि समृद्धानित्यर्थः। विमानान् देवगृहान्, लङ्घते स्म अति किं बहुना, अङ्घ्रिविनम्रैः, पादपतितैः, तत्पतिभिर्विमानाध्युषितैर्देवैः अर्थितः तोऽपि, आतथितामातिथ्यं, नैवानुमेने। एतन्मात्रविलम्बं च नासहिष्टेत्यर्थः॥

यह मुनि नारदजी इन्द्रभवनके अभिमानको भी सुन्दरतासे चूर करनेवाले इन्द्रभवनोंसे भी अधिक सुन्दर ('खण्डितेन्दु' पाठभेदसे—'चन्द्रशाला'संज्ञक भवनों

अधिक सुन्दर, या अत्यन्त ऊंचे स्तरपर उड़नेसे चन्द्रभवन (चन्द्रनिवासस्थान–चन्द्रलोक) के अभिमानको चूर करनेवाले) विमानोंको लांघ गये थे (उन विमानोंकी अपेक्षा भी अधिक वेगसे चलते थे, अथवा उनसे भी ऊंचा पहुँच गये थे)। चरणपर प्रणामकर विमानों-के स्वामियोंके प्रार्थना करनेपर भी ('पैदल क्यों जा रहे हैं? आकर मेरे विमानपर चढ़कर चलिये, ऐसा निवेदन करनेपर भी विलम्ब होनेकी आशङ्कासे) उन (विमान-स्थित देवताओं) का आतिथ्य ग्रहण नहीं किया (उनके विमानपर नहीं बैठे) ॥ ४ ॥

तस्य तापनभिया तपनः स्वं तावदेव समकोचयदर्चिः ।
यावदेष दिवसेन शशीव द्रागतप्यत न तन्महसैव ॥ ५ ॥

तस्येति । तपनोऽर्कः, तस्य मुनेः (कर्मणः), तापनाद्भिया, सन्तापोऽस्य भविष्यतीति भयेन स्वमात्मीयमर्चिस्तेजस्तावदेव प्रागेव, समकोचयत् सङ्कोचितवान् । यावदेष तपनो दिवसेन दिवा, आतपेन स्वौजसा, शशीव, तन्महसा यस्य तेजसेव, द्राक् सपदि, स्वयमेव नातप्यत, मुनितापनादात्महानेर्वरमात्मसङ्कोच इति मत्वा मन्दप्रकाशः स्थित इत्यर्थः । तथा च सूर्यादपि तेजिष्ठो मुनिरिति भावः ॥ ५ ॥

सूर्यने नारदजीको सन्ताप होनेके भयसे अपने तेजको तब तक (अथवा–उतना, पहले-पहले) ही कम कर लिया, जब तक (अथवा—जितनेसे) दिनके द्वारा चन्द्रमाके समान उन (नारदजी) के तेजसे ही स्वयं तप्त नहीं होने लगे। [सूर्यको दो प्रकारके भय थे, एक वह कि यदि मैं तापको कम नहीं करूंगा तो मुझको नारदजीसे संताप होगा और वे मुझे क्रोधसे शाप दे देंगे, दूसरा यह कि यदि मैं अपने तेजको अधिक कम कर लूंगा तो उनके तेजसे मैं स्वयं ही सन्तप्त होने लगूंगा, जैसे मेरे (सूर्यके) तेजसे चन्द्रमा सन्तप्त (कान्ति हीन) होता है। अतः सूर्यने तब तक या उतना ही अपना तेज कम किया, जिससे उनके तेजसे न तो नारदजी सन्नप्त हुए और नारदजीके तेजसे स्वयं वे (सूर्य) ही सन्तप्त (क्षीणकान्ति) हुए ॥ नारदजीका तेज सूर्यके समान था] ॥ ५ ॥

पर्यभूद्दिनमणिर्द्विजराजं यत्करैरहह तेन तदा तम् ।
पर्यभूत् खलु करैर्द्विजराजः कर्म कः स्वकृतमत्र न भुङ्क्ते ? ॥ ६ ॥

पर्यभूदिति । दिनमणिः सूर्यः, द्विजराजं चन्द्रं ब्राह्मणोत्तमञ्च, करैरंशुभिः हस्तैश्च, पर्यभूत् परिभूतवानिति यत् । तेन परिभवेन (हेतुना) तदा नारदागमनकाले, तं दिनमणिं, द्विजराजो ब्राह्मणोत्तमश्चन्द्रश्च, करैरंशुभिर्हस्तैश्च, पर्यभूत् । अहह अद्भुतम् । 'अहहेत्यद्भुते खेदे' इत्यमरः । स्वकृतद्विजराजपरिभवदोषात् स्वयमद्य तेन परिभूत इत्यर्थः । तथा हि, अत्र जीवल्लोके कः स्वकृतं (कर्म) न भुङ्क्ते । सर्वेणापि स्वकर्मफलमनुभाव्यमेवेत्यर्थान्तरन्यासः ॥ ६ ॥

सूर्यने करों (किरणों, पक्षान्तरमें—हाथों) से द्विजराज (चन्द्रमा, पक्षान्तरमें—

ब्राह्मणश्रेष्ठ नारदजी) को जो परिभूत (तेजसे हीन, पक्षान्तरमें—सन्तप्त) किया, उस कारणसे द्विजराज (चन्द्र, पक्षान्तरमें—ब्राह्मणश्रेष्ठ नारदजी) ने उस (सूर्य) को (किरणों, पक्षान्तरमें—अपने तेज) से परिभूत (तेजोहीन, पक्षान्तरमें—सन्तप्त) कि आश्चर्य या खेद है—इस संसारमें अपने किये गये कर्म (के फल) को कौन नहीं भोग अर्थात् सभी भोगते हैं । [सूर्यके तापसे चन्द्रमाका निस्तेज होना सर्वप्रत्यक्ष है, द्विजराज नारदजीने भी अपने तेजसे सूर्यको तपाया) अथवा—द्विजराज नारदजीको सूर्यने अपने किरणोंसे सन्तप्त किया, अत एव क्रुद्ध द्विजराज नारदजीने भी उस सू सन्तप्त किया, इसी कारण नारदजीके आकाशमें पहुंचनेपर सूर्य निस्तेज हो गये, वैसा श्लोकमें कहा गया है । [नारदजीका तेज सूर्यके तेजसे भी अधिक था] ॥ ६ ॥

विष्टरं तटकुशालिभिरद्भिः पाद्यमर्घ्यमथ कच्छरुहाभिः ।
पद्मवृन्दमधुभिर्मधुपर्कं स्वर्गसिन्धुरदितातिथयेऽस्मै ॥ ७ ॥

विष्टरमिति । अथ स्वर्गसिन्धुर्मन्दाकिनी, अतिथये अस्मै नारदाय, तटकुशा मालिभिरावलिभिर्विष्टरमासनं, 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति षत्वनिपातः, अद्भिः पादार्थं जलं, कच्छरुहाभिर्जलप्रायभूम्युत्पन्नाभिर्लताभिः, अर्घ्यम् अर्घार्थं पुष्पफल 'पादार्घाभ्यां च' इति तादर्थ्ये यत्प्रत्ययः । पद्मवृन्दानां मधुभिर्मकरन्दैः, मधुप अदित दत्तवती । ददातेर्लुङि तङ् ॥ ७ ॥

इसके बाद (स्वर्गमें पहुँचनेपर) मन्दाकिनी अर्थात् स्वर्गगङ्गाने अतिथि इस नारद लिये किनारेमें उत्पन्न कुशाओंसे आसन, जलसे पाद्य (पैर धोनेके लिए) जल, समीपकी जलप्राय भूमिकी दूर्वोंसे अर्घ्य और कमलसमूहके मधु अर्थात् मकरन्दसे दिया । [अन्य सज्जन व्यक्ति भी अपने यहाँ आये हुए अतिथिके लिए प्रसन्न आसन, पाद्य, अर्घ्य और मधुपर्क देते हैं और वह अतिथि भी उनके आतिथ्यसे होता है ॥ मन्दाकिनी नारदजीको और नारदजी मन्दाकिनीको देखकर प्रसन्न हुए]

स व्यतीत्य वियदन्तरगाधं नाकनायकनिकेतनमाप ।
सम्प्रतीर्य भवसिन्धुम[1]नादिं ब्रह्म शर्मभरचारु यतीव ॥ ८ ॥

स इति । स मुनिः, अगाधं, वियदन्तर्नभोऽभ्यन्तरं व्यतीत्य, नाकनायकनि तनम् इन्द्रभवनं, यती योगी, अनादिं, भवसिन्धुं संसाराब्धिम्, सम्प्रतीर्य भरचारु परमानन्दसुन्दरं, ब्रह्म परमात्मानमिव आप ॥ ८ ॥

वह (नारदजी) बीच में अगाध (अपरिमित) आकाशको पारकर देवराज भवन (वैजयन्त नामक महल) को प्राप्त किये, जिस प्रकार योगी (या परमहंस) (प्रवाहसे युक्त) संसारसागरको पारकर आनन्दातिशय रमणीय ब्रह्मको प्राप्त करता

---

[1] '—मनादि' इति पाठान्तरम् ।

[अन्तः तथा अगाध शब्द भवसागरके, अनादि शब्द वियत्के और शर्मभरचारु शब्द द्रभवनके भी विशेषण हो सकते हैं ॥ नारदजी इन्द्रभवनमें पहुंच गये] ॥ ८ ॥

अर्चनाभिरुचितोच्चतराभिश्चारु तं सदकृतातिथिमिन्द्रः ।
यावदर्हकरणं किल साधोः प्रत्यवायधुतये न गुणाय ॥ ९ ॥

अर्चनाभिरिति । इन्द्रः, तमतिथिं मुनिम्, उचिताद्विहितात्, उच्चतराभिरधि-काभिः, अर्चनाभिः पूजाभिः, चारु यथा तथा सदकृत सत्कृतवान्, आदृतवानित्यर्थः। 'आदरानादरयोः सदसती' इति निपातनात् प्राक् प्रयोगः। अधिकाचरणे हेतुमाह— वदर्हं यावदुक्तम् 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभावः। 'यावदर्हस्य करणम्' इति तत्पुरुषः। साधोः श्रद्धालोः प्रत्यवायधुतये अकरणदोषनिवारणाय, गुणायोत्क-य न किल खलु। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ९ ॥

इन्द्रने अतिथि उस नारदजीका उचितसे अधिकतर पूजाओं द्वारा सत्कार किया। उचित करना सज्जनके प्रत्यवाय (नहीं पूजा करनेसे होनेवाले दोष) की शान्तिके लिये ता है, (पूजा करनेवालेके) गुणके लिये नहीं। अथवा—सज्जनकी उचित पूजा करना करनेवालेके प्रत्यवायशान्तिके लिये होता है, गुणके लिये नहीं। अथवा—सज्जनके गुणके ये नहीं होता ॥ [देवराज इन्द्रने श्रेष्ठतम अतिथिरूपमें उपस्थित नारदजीका आतिथ्य डी श्रद्धा एवं भक्तिके साथ किया] ॥ ९ ॥

नामधेयसमतासखमद्रेरद्रिभिन्मुनिमथाद्रियत द्राक् ।
पर्वतोऽपि लभतां कथमर्चां न द्विजः स विबुधाधिपलम्भी ? ॥१०॥

नामधेयेति। अथ नारदसत्कारानन्तरम्, अद्रिभिदिन्द्रः, अद्रेः पर्वतस्य, नाम-धेयसमतया नामसामान्येन सखायं तत्सखं मुनिं पर्वताख्यं, द्राक् द्रुतमाद्रियत सत्कृतवान्। पर्वतः पर्वतारेः कथं सत्कारमलभतेत्यत्राह—पर्वतोऽपि स द्विजो वि-बुधाधिपं देवेन्द्रं पण्डितोत्तमं च, लभते प्राप्नोतीति तल्लम्भी। 'विबुधः पण्डिते देवे' इति विश्वः। स मुनिः, कथमर्चां पूजां, न लभतां ? लभतामेवेत्यर्थः। द्विजोऽभ्या-गतो महतः प्रतिपक्षादपि विवेकिनः पूजां लभत इति भावः ॥ १० ॥

पर्वतोंका भेदन करनेवाले इन्द्रने इस नाममात्रसे (कर्मसे नहीं) पर्वत पर्वत मुनिका घ्र सत्कार किया। विबुधप्रभु (देवताओंके स्वामी, पक्षान्तरमें—विशिष्ट विद्वानोंमें श्रेष्ठ) प्त करनेवाला द्विज (ब्राह्मण) पर्वत भी पूजाको क्यों नहीं प्राप्त करे अर्थात् अवश्य करे। [यद्यपि इन्द्र पर्वतोंका भेदन करनेवाले हैं किन्तु देवराज या विशिष्ट विद्वानोंमें होनेसे अपने यहां आये हुए पर्वत (शत्रु) का भी क्यों सत्कार न करें ? उसमें भी यह ण है, तथा केवल नामसे ही पर्वत है वास्तविक पर्वत नहीं, अत एव अवश्य सत्कार पाने के योग्य है। अथवा—पर्वतरूप (पत्थरके समान) अर्थात् महामूर्ख भी ब्राह्मणको विद्वच्छ्रेष्ठ

के यहां आकर पूजा प्राप्त करना उचित ही है ! द्वारपर आया हुआ शत्रु हो, या मह भी ब्राह्मण हो तो उसका विद्वान्लोग आदर-सत्कार अवश्य ही करते हैं] ॥ १० ॥

तद्भुजाददतिवितीर्णसपर्याद्द्योद्रुमानपि विवेद मुनीन्द्रः ।
स्वःसहस्थितिसुशिक्षितया तान् दानपारमितयैव वदान्यान् ॥११॥

तदिति । मुनीन्द्रो नारदस्तान्, प्रसिद्धान् द्योद्रुमान् कल्पवृक्षानपि, अति र्णसपर्याददतिमात्रदत्तपूजात्, तस्येन्द्रस्य, भुजाद्धस्तादेव, गुरोः स्वः स्वर्गे, सहस्थि सहवासेन, सुशिक्षितया स्वभ्यस्तया, दानपारमिता नाम दानकर्तव्यताप्रतिपा ग्रन्थविशेषः, तयैव कारणेन वदान्यान् विवेद । इन्द्रहस्तः कल्पवृक्षाणामपि विद्योपदेष्टेत्युत्प्रेक्षितवानित्यर्थः । कल्पवृक्षातिशाय्यौदार्यमस्येति भावः ॥ ११ ॥

मुनिराज नारदजीने अतिशय दानशीलतासे (अथवा—अधिक दानशीलताका प्रति 'दानपारमिता' नामक ग्रन्थ-विशेषसे) ही अत्यधिक पूजन (आदर-सत्कार) करे (गुरुरूप) इन्द्रके हाथोंसे स्वर्गमें नित्य साथ रहनेसे शिक्षा ग्रहण किये (सीखे) हुए, वृक्ष अर्थात् कल्पवृक्ष आदिको अतिशय दान देनेसे वदान्य (अतिशय दान करनेवा जाना । ['संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' उक्तिके अनुसार जो जिसके साथ सदा रहता वह विना सिखाये भी उसके गुणोंको सीख लेता है, यहां देवर्षि नारदजीने दानवीर हाथोंसे अत्यधिक आदर-सत्कार पाकर यह निश्चय किया कि कल्पवृक्षोंकी दान स्वभावज नहीं, किन्तु महादानी इन्द्रके सहवाससे है ॥ इन्द्र कल्पवृक्षोंसे भी अधिक दानी

मुद्रितान्यजनसंकथनः सन्नारदं बलरिपुः समवादीत् ।
आकरः स्वपरभूरिकथानां प्रायशो हि सुहृदोः सहवासः ॥ १२॥

मुद्रितेति । बलरिपुरिन्द्रः, मुद्रितान्यजनसंकथनो निवारितेतरजनालाप नारदं समवादीत्, तेन सह संल्लापमकार्षीदित्यर्थः । किं संवाद्यं तदाह— सुहृदोर्मित्रयोः सहवासः सङ्गमः, स्वे आत्मीयाः परे च स्वपरे तेषां याः भूरयः प्रसङ्गास्तासाम् आकरः खनिर्हि । इष्टालापानामियत्ताभावात् संवादसिद्धिरि न्तरन्यासाभिप्रायः । 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्' इत्यमरः ॥ १२ ॥

बल दैत्यके शत्रु इन्द्रने दूसरे लोगोंकी या दूसरे लोगों के साथकी बातचितको नारदजीसे कहा—क्योंकि दो मित्रोंका सहवास प्रायशः अपनी तथा दूसरोंकी कथाओंकी खान होता है । [दो मित्रोंके मिलनेपर अपनी २ हार्दिक रहस्यमयी बातें अन्यान्य विविध संभाषण निरन्तर हुआ करते हैं, इसी कारण इन्द्र दूसरे लोगोंसे करना आदि कार्य रोककर स्वयं नारदजीके साथ सम्भाषण करने लगे] ॥ १२ ॥

तं कथानुकथनप्रसृतायां दूरमालपनकौतुकितायाम् ।
भूभृतां चिरमनागमहेतुं ज्ञातुमिच्छुरवदच्छतमन्युः ॥ १३ ॥

तमिति । शतमन्युः शतक्रतुः । मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः । आलपन-कौतुकितायामाभाषणोत्कण्ठायां, दूरं कथानुकथनप्रसृतायाम् उत्तरप्रत्युत्तराभ्यां दूरं वां सत्यां, प्रसक्तानुप्रसक्ततया सङ्गत्येत्यर्थः । चिरं चिरात्प्रभृति । भूभृतां नाम्, अनागमनहेतुं ज्ञातुमिच्छुः सन् । तं नारदं, अवददपृच्छदित्यर्थः ॥ १३ ॥

संभाषण-कौतुकके परस्पर कथनानुकथन (एक दूसरेके कहने तथा सुनने) के बहुत बढ़ जानेपर बहुत दिनोंसे राजाओंके स्वर्गमें न आनेके कारणको जाननेकी इच्छा वाले शतमन्यु (सैकड़ों क्रोधवाले अर्थात् अत्यन्त क्रोधी=इन्द्र) ने उन नारदजीसे —[पहले भूलोकमें रणके सम्मुख मारे गये बहुत-से राजालोग स्वर्गमें आया करते थे, समय बहुत दिनोंसे किसी युद्धहत राजाके स्वर्गमें नहीं आनेका क्या कारण है ?' यह प्रवल इच्छा इन्द्रके मनमें थी, सर्वत्र घूमनेवाले नारदजी इस बातको अवश्य गे, ऐसा समझकर उनसे पूछा । अत्यधिक क्रोधी इन्द्रका युद्धप्रिय होना तथा तद्वि- प्रश्न करना स्वाभाविक ही था] ॥ १३ ॥

प्रागिव प्रसुवते नृपवंशाः किन्नु सम्प्रति न वीरकरीरान् ? ।
ये परप्रहरणैः परिणामे विक्षताः क्षितितले निपतन्ति ॥ १४ ॥

प्रागिति । नृपवंशाः राजकुलानि, नृपा एव वंशाः वेणवश्च । 'वंशो वेणौ कुलेवर्गे' ति विश्वः । प्राक् पूर्वमिव, सम्प्रति, वीरानेव करीरानङ्कुरान् । 'वंशाङ्कुरे करीरो' इत्यमरः । न प्रसुवते न जनयन्ति । किं नु ? किं तैरत आह—य इति । ये वीर- ताः, परिणामे परिपक्वावस्थायां, परेषामरीणाम् अन्येषां च । 'परं दूनान्यमुख्येषु रिपरमात्मनोः' इति वैजयन्ती । प्रहरणैरायुधैः दात्रादिभिश्च, विक्षताः सन्तः तितलं निपतन्ति ॥ १४ ॥

राजवंश (राजाओंके कुल, पक्षान्तरमें—राजारूपी बाँस) इस समय पहले के समान वीरों (हाथियोंको भी गिराने या कम्पित करनेवाले वीरों, पक्षान्तरमें—वीररूप करीरों बाँसके कोपलों) को नहीं उत्पन्न करते हैं क्या ? जो (वीरकरीर) युवावस्थामें न्तरमें—पकनेपर) शत्रुओंके (पक्षा०—दूसरोंके) बाण-खड्गादि शस्त्रोंसे (पक्षा- —कुल्हाड़ी आदिसे) विक्षत होकर (अत्यन्त घायल होकर, पक्षा०—कटकर) र गिरते हैं (किसी रोगसे पीडित होकर बुढ़ापेमें नहीं मरते) ॥ जिस प्रकार बांस उन अंकुरोंको पैदा करता है, जिन्हें पक जाने पर अन्यलोग कुल्हाड़ी आदिसे काटकर ले जाते उसी प्रकार राजकुल हाथियोंको भी कंपा देनेवाले वीरोंको नहीं जन्माते क्या ? जो में किसी रोगसे आक्रान्त होकर नहीं मरते, अपितु पूर्ण युवावस्थामें युद्धमें शत्रुओंके प्रहारसे ही भूमिपर गिरकर प्राणत्याग करते हैं] ॥ १४ ॥

पार्थिवं हि निजमाजिषु वीरा दूरमूर्ध्वगमनस्य विरोधि ।
गौरवाद्वपुरपास्य भजन्ते मत्कृतामतिथिगौरवऋद्धिम् ॥ १५ ॥

ततः किमत आह–पार्थिवमिति । वीराः पूर्वोक्ता रणपातिनः, पार्थिवं पृथि कारम्, अत एव गौरवात् गुरुत्वगुणयोगित्वात् , ऊर्ध्वगमनस्योत्पतनकर्मणः, स्वादूर्ध्वलोकप्राप्तेश्च, दूरमत्यन्तं विरोधि निजं वपुः, आजिषु युद्धेषु अपास्य मतिथिसत्कारस्तस्य ऋद्धिम्, 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः । भजन्ते हि । राලाभे स्वस्यातिथिलाभो न स्यादिति भावः ॥ १५ ॥

वीरलोग पार्थिव (नृपभावापन्न, अथवा—मिट्टीसे वने) अत एव गौरव (अथवा—भारीपन) से अत्यन्त दूर ऊपर जानेमें असमर्थ अपने शरीरको छोड़कर (भारी होनेसे ऊपर उठने अर्थात् स्वर्ग जानेमें असमर्थ अपने पार्थिव शरीरको दूर (पर) ही छोड़कर मुझसे अतिथि-गौरवोन्नतिको प्राप्त करते हैं। [अन्य भी जानेके लिये भारी बोझको छोड़ देता है । पार्थिव अर्थात् मिट्टीसे वनी वस्तुको इन्द्रकृत गौरवमयी समृद्धिका सबके लिये प्रिय होना उचित ही है । भारी वस्तुको अधिक भारी तथा अपनी वस्तुको छोड़कर दूसरेकी वस्तु ग्रहण करना कौन नहीं अर्थात् सभी चाहते हैं । अथवा—वे वीर वैसे अपने शरीरको छोड़कर गौरव (कारण मुझसे की गयी गौरवपूर्ण अतिथिसत्काररूपी समृद्धिको पाते हैं इत्यादि अन्य भी अर्थ कर लेना चाहिये (जब ऐसे वीरोंके लिए स्वर्गाधीश देवराज इन्द्र भी हैं तो वे वीर धन्य हैं)। उन वीरोंके इस समय स्वर्गमें अतिथि-सत्कारसे प्राप्त पुण्यातिशयसे मैं वञ्चित रह जाता हूँ, अत एव उन वीरोंके विषयमें पूछ रहा हूँ]

साभिशापमिव नातिथयस्ते मां यदद्य भगवन्नुपयान्ति ।
तेन न श्रियमिमां बहुमन्ये स्वोदरैकभृतिकार्यकदर्याम् ॥

ननु तदलाभे तेषामेव सत्कारहानिस्तव तु न कदाचित् क्षतिरित्यत साभिशापमिति । हे भगवन् मुने ! ते वीराः अतिथयः, अभिशापेन सह साभिशापं मिथ्याभिशस्तमिव । 'अथ मिथ्याभिशंसनम् । अभिशापः' मामद्य नोपयान्तीति यत् । तेन हेतुना । स्वोदरस्यैकस्यैव, भृतिकार्येण, कृत्येन, कदर्यां कृपणाम् । 'कदर्ये कृपणः क्षुद्र'इत्यमरः । 'आत्मानं धर्मकृत्यं दारांश्च पीडयेत् । लोभाद्यः पितरौ भ्रातॄन् स कदर्य इति स्मृतः ॥' इति च । श्रियं न बहु मन्ये । अतिथिसत्कारशून्यस्य श्रीवैफल्यमेव क्षतिरिति भावः ॥

हे भगवन् ! वे वीर अतिथि जो आज (इस समय) महापातक आदिसे समान मेरे यहां नहीं आते हैं, उससे केवल अपने पेट भरनेके कार्यसे तुच्छ (इस (स्वर्गैश्वर्यरूप) लक्ष्मीका मैं अत्यन्त आदर नहीं करता अर्थात् उसे मानता । [धन होनेका मुख्य फल अतिथि-सत्कार होनेसे इस समय उसका के कारण स्वर्गका यह ऐश्वर्य मुझे अच्छा नहीं लगता है] ॥ १६ ॥

पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः सम्पदो विपद एव विमृष्टाः।
पात्रपाणिकमलार्पणमासां तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्टः॥ १७॥

पूर्वेति। पूर्वपुण्यविभवस्य व्ययेन लब्धाः सम्पदो विमृष्टाः विचारिताः विपद एव। सद्यः स्वोदयेन पुराकृतसुकृतनाशकत्वादिति भावः। तासु विपत्सु सम्पद्रूपास्वापत्सु। आसां सम्पदां, पात्राणां विद्याजातितपोवृत्तसम्पन्नानां पाणिकमलेऽर्पणं दानमेव विधिदृष्टः शास्त्रदृष्टः, शान्तिकविधिः शान्तिकर्मानुष्ठानम्, नष्टसुकृतादपि अनुत्कृष्टसुकृतोत्पादनादिति भावः। अनेन बीजाङ्कुरन्याय उक्तः॥ १७॥

पूर्व पुण्यैश्वर्यके व्ययसे मिली हुई अधिक सम्पत्तियाँ (अथवा—लक्ष्मीरूप भार या पापोंका भार) विचार करनेपर विपत्ति ही हैं। उन विपत्तियोंमें इन सम्पत्तियोंका सत्पात्रोंके करकमलमें समर्पण करना (देना) ही शास्त्रमें देखा गया अर्थात् शास्त्रोक्त (अथवा—ऋषियोंके द्वारा वेदोंमें देखा गया) शान्तिके लिये विधान है। (अथवा—सत्पात्रके हाथपर दान-सम्बन्धी) जलका समर्पण…। [कमलमें लक्ष्मीका निवास रहना शास्त्र-प्रसिद्ध है, अत एव सत्पात्रके करकमलमें लक्ष्मीको समर्पण करनेका अर्थ लक्ष्मीको उनके निवास स्थानपर बैठाकर उसे स्थिर करना है। अन्य भी व्यक्ति विपत्ति कालमें शास्त्रोक्त हवन दान आदि शान्तिक विधिका अनुष्ठान करते हैं]॥ १७॥

तद्विसृज्य मम संशयशिल्पि स्फीतमत्र विषये सहसाघम्।
भूयतां भगवतः श्रुतिसारैरद्य वाग्भिरघमर्षणऋग्भिः॥ १८॥

तदिति। तत्तस्मात्, तत्र विषये अस्मिन्नर्थे, मम, संशयस्य शिल्पि तज्जनकं, स्फीतं प्रभूतम्, अघमेनः, तन्मूलत्वान्मिथ्याज्ञानस्येति भावः। यद्वा, संशयः शिल्पी जनको यस्य तदघं दुःखं, दुःखहेतुत्वात्संशयस्येति भावः। 'दुःखैनोव्यसनेष्वघम्' इति वैजयन्ती। सहसा विसृज्य निवर्त्य, भगवतो वाग्भिरद्य श्रुतिसारैर्वेदसारैः, कर्णामृतैश्च। अघमर्षणऋग्भिः अघमर्षणीभिः। ऋग्भिः। 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यादिना पुंवद्भावः। 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः। भूयताम्। भावे लोट्। राज्ञामनागमनकारणमसंदिग्धं ब्रूहीत्यर्थः। अत्र मुनिवाक्येष्वारोप्यमाणस्य अघमर्षणत्वस्य प्रकृताघहरणोपयोगात् परिणामालङ्कारः। 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति लक्षणात्॥१८॥

इस कारणसे कानोंमें सुधावर्षक अर्थात् कर्ण-सुखकर (पक्षान्तरमें—वेदोंका सारभूत) आपके वचन इस समय, (राजालोग युद्धमें वीरगतिको प्राप्त कर स्वर्गमें क्यों नहीं जाते!) इस विषयमें बढ़े हुए तथा संशय पैदा करनेवाले (अथवा—संशयका कारण बने हुए) मेरे दुःख (पक्षान्तरने—पाप) को सहसा दूर कर अघ-मर्षण-ऋक् (मेरे दुःख या पापको धोने अर्थात् साफ करनेवाले ऋङ्मन्त्र, पक्षान्तरमें—ऋग्वेदोक्त 'अघमर्षण' नामक ऋचा—'ऋतञ्च सत्यञ्चाभिद्धा……' ऋ० ८।८।४८) होवें। [जैसे वेदोक्त

अघमर्षण मन्त्रके सुननेसे पाप दूर हो जाते हैं, वैसे ही आपके वचनोंको सुननेसे स्वर्गमें न आनेका कारण जानकर मेरे दुःख दूर होवें] ॥ १८ ॥

इत्युदीर्य मघवा विनयर्धिं वर्धयन्नवहितत्वभरेण ।
चक्षुषां दशशतीमनिमेषां तस्थिवान्मुनिमुखे प्रणिधाय ॥ १६ ॥

इतीति । मघवा इन्द्रः, इत्युदीर्य, अवहितत्वभरेण एकाग्रतातिशयेन, विनयातिशयं, वर्धयन्ननिमेषां चक्षुषां दशशतीं दशानां शतानां [समाहारः सहस्रं, 'तद्धितार्थ–' इत्यादिना समाहारे द्विगावकारान्तोत्तरपदत्वात् 'द्विगोः' इति ङीप् । एतेन शतमखी व्याख्याता । मुनिमुखे प्रणिधाय तस्थौ । लिटः क्वसुरादेशः ॥ १९ ॥

यह (श्लोक १४–१८) कहकर अधिक सावधानीसे विनय-समृद्धिको बढ़ाते हुए मुनि नारदजीके मुखको निमेषरहित हजार आँखोंसे देखते हुए चुप हो गये । [सावधानी तथा देव होनेसे इन्द्र विना पलक गिराते (एकटक मुनिराजके मुखको उत्तरकी प्रतीक्षामें देखते) हुए चुपचाप बैठे रहे । अत्युत्कण्ठित अन्य कोई भी उत्तर देनेवालेकी ओर एक टक देखता हुआ चुपचाप बैठ जाता है] ॥ १९ ॥

वीक्ष्य तस्य विनये परिपाकं पाकशासनपदं स्पृशतोऽपि ।
नारदः प्रमदगद्गदयोक्त्या विस्मितः स्मितपुरस्सरमाख्यत् ॥ २० ॥

वीक्ष्येति । नारदः पाकशासनपदं स्पृशतोऽपीन्द्रत्वे तिष्ठतोऽपि । तस्येन्द्रस्य विनये परिपाकं प्रकर्षं, वीक्ष्य विस्मितः सन् सविस्मयः सन् , कर्तरि क्तः । प्रमदगद्गदयोक्त्या हर्षविस्वरया वाचा स्मितपुरस्सरं स्मितपूर्वमाख्यदाचचक्षे । 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः ॥ २० ॥

इन्द्रासनपर बैठे हुए भी उस इन्द्रके अधिक विनयको देखकर आश्चर्यित नारदजी हर्षाधिक्यसे गद्गद वचन मुस्कुराकर बोले—[कोई दूसरा व्यक्ति थोड़ी-सी सम्पत्तिको पाकर भी विनयसे रहित हो जाता है, और ये इन्द्रपदपर बैठे हुए भी इतना अधिक विनय कर रहे हैं, यही नारदजीके आश्चर्य एवं हर्षका कारण था ॥ अन्य भी कोई व्यक्ति आश्चर्ययुक्त तथा हर्षित होनेसे कोई बात गद्गद होकर ही कहता है] ॥ २० ॥

भिक्षिता शतमखी सुकृतं यत्तत्परिश्रमविदः स्वविभूतौ ।
तत्फले तव परं यदि हेला क्लेशलब्धमधिकादरदं तु ॥ २१ ॥

भिक्षितेति । शतानां मखानां समाहारः शतमखी (दात्री), यत् सुकृतं भिक्षिता याचिता । भिक्षेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः । तत्फले तस्य सुकृतस्य फले, स्वविभूतौ निजैश्वर्ये हेला अवज्ञा अनास्था यदि, 'हेलाऽवज्ञा' इति वैजयन्ती । तत्परि

शो याच्ञाक्लेशाभिज्ञस्य तव परं केवलं तवैव। नान्यस्येत्यर्थः। 'परं स्यादुत्तमाना-रिदूरेषु केवले' इति विश्वः। याचक एव याचकदुःखं जानातीति भावः। ननु विनां दातृत्वं किं चित्रं तत्राह—क्लेशेति। सत्यं क्लेशलब्धं तु अधिकादरदम् लोभकारि दुस्त्यजम्। त्वं तु मखशतक्लेशलब्धमप्यैश्वर्यमर्थिसात्करोपीति कथं चित्रमित्यर्थः। अत्र क्लेशवाक्येन हेलात्वसमर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमल-रः। 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति लक्षणात् ॥ २१ ॥

आपने सौ अश्वमेध यज्ञरूप पुण्यकी जो भिक्षा प्राप्त की है उसके (पानेमें) परिश्रम वनेवाले उस पुण्यके फल अपने (इन्द्रपदरूप) ऐश्वर्यमें, यदि अनादर (श्लो० १६) केवल आपको है (अन्य किसीको नहीं। अथवा—यदि अधिक अनादर है तो है। कष्टसे प्राप्त हुई वस्तु तो अधिक आदरके योग्य होती है। [भिक्षामें प्राप्त बड़े ऐश्वर्यका केवल आप ही अनादर कर सकते हैं, भिक्षाके कष्टको समझनेवाला कोई व्यक्ति थोड़ी-सी सम्पत्ति पाकर भी उसका अनादर नहीं करता, फिर इतनी —इन्द्रपदरूप सम्पत्तिके अनादर करनेकी बात ही कौन कहे ?। भिक्षाप्राप्त इतनी बड़ी को भी आप जो अतिथिके सत्कारमें लगाना चाहते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥

सम्पदस्तव गिरामपि[1] दूरा यन्न नाम विनयं विनयन्ते।
श्रद्दधाति क इवेह न साक्षादाह चेदनुभवः परमाप्तः ॥ २२ ॥

सम्पद इति। किं बहुना, तव सम्पदो गिरामपि दूराः अगोचराः, कुतः, यद्य-द्विनयं न विनयन्ते नाम न लुम्पन्ति खलु। नयतेर्लट्। 'स्वरित—' इत्यादिना त्मनेपदम्, 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' इत्यस्मादिति केचित्। तदसत्। सम्पदां णाम् अचेतनत्वेन कर्मणो विनयस्येन्द्रियनिष्ठत्वेन चाकर्तृस्थत्वादिति। अतः नुभवक्त्या इत्यर्थः। किं त्विह विनयोत्तरत्वे परमाप्तः प्रमाणभूतः साक्षादनुभवः स्वानुभवसिद्धः, नाह चेत्क इव को वा, श्रद्दधाति विश्वसिति, न कश्चिदित्यर्थः। सम्पदां विनयोत्तरत्वे साक्षादनुभवतां मादृशामेव श्रद्धा जायते नान्येषां, प्राये-ण्यत्र सम्पदां विनयहारित्वात्। किं बहुना, वयमपि न श्रद्दध्म इति भावः। अत्र सम्पदां वाग्गोचरत्वेऽपि तदगोचरत्वोक्त्या असम्बन्धरूपातिशयोक्तिः ॥ २२ ॥

वचनके अविषय अर्थात् अवर्णनीय ('इतनी सम्पत्ति है' ऐसा नहीं बता सकने योग्य) सम्पत्तियां जो तुम्हारे विनयको नहीं दूर करती हैं, इसमें यदि अत्यन्त आप्त (परम मित्र, अथवा—राग-द्वेषसे रहित कोई परम प्रामाणिक व्यक्ति, अथवा—कभी नहीं व्यभिचरित और दूषित होनेवाला) अनुभव साक्षात् नहीं कहता है तो कौन श्रद्धा करता है अर्थात् कोई नहीं। [अथवा—इस विषयमें यदि परम आप्त साक्षात् अनुभव कहता है तो कौन विश्वास

---

[1] 'मति—' इति पाठान्तरम्।

नहीं करता ? अर्थात् सभी करते हैं (क्योंकि साक्षात् अनुभूत विषयमें अविश्वास कोई कारण नहीं होता है)। अथवा-संसारमें लोग प्रायः श्रीमान् व्यक्तियोंकी झूठी किया करते हैं, किन्तु तुम्हारी झूठी प्रशंसा नहीं करते, ऐसा कोई परममित्र या अनुभव ही साक्षात् कह रहा है तो कौन विश्वास नहीं करेगा ? अर्थात् सब करेंगे॥ व्यक्ति सम्पत्ति होनेपर विनयको छोड़ देते हैं, किन्तु तुम इतनी अपार सम्पत्ति पा विनयी हो, यह बात प्रत्यक्ष अनुभवसे ही विश्वासके योग्य है] ॥ २२ ॥

श्रीभरानतिथिसात्करवाणि स्वोपभोगपरता न हितेति ।
पश्यतो बहिरिवान्तरपीयं दृष्टिसृष्टिरधिका तव कापि ॥ २३ ॥

श्रीभरानिति । श्रीभरान् सम्पदुच्छ्रयान् , अतिथिसात् दानेनातिथ्यधीनं, त्रा च' इति चकारात् सातिप्रत्ययः । करवाणि कुर्याम् । विध्यर्थे लोट् । त्तमस्य पिच्च' इति मेर्निः । स्वोपभोगपरता आत्मम्भरित्वं, न हिता न श्रेयस्क पश्यतो जानतः प्रेक्षमाणस्य च तव बहिरिव देह इव अन्तरात्मन्यपि कापीयं सृष्टिः ज्ञानसृष्टिरक्षिसृष्टिश्च । 'दृष्टिर्ज्ञानेऽक्षिदर्शने' इत्यमरः । अधिका असाधा द्वयोरपि दृष्ट्योः श्लिष्टशब्दोपात्तयोरभेदाध्यवसायेन बहिरिवेत्युपमा ॥ २३ ॥

'समस्त सम्पत्तिको दान देकर अतिथियोंके अधीन कर दूं, उनका अपने लिये उपभोग हितकर नहीं है' इस प्रकार अन्तःकरणमें भी बाहरके समान देखते हुए अर्थात् लोकोत्तर या अनिर्वचनीय तुम्हारी दृष्टि-रचना है। [जिस प्रकार सहस्र नेत्र बाहरमें तुम्हारी दृष्टि-रचना लोकत्तर है, उसी प्रकार मनमें उक्त उत्तम विचार तुम्हारी ज्ञानदृष्टि भी लोकत्तर अनिर्वचनीय है, तुमसे अधिक कोई विचारवान् नहीं है

आः स्वभावमधुरैरनुभावैस्तावकैरतितरां तरलाः स्मः ।
द्यां प्रशाधि गलितावधिकाल साधु साधु विजयस्व बिडौजः ! ॥

आ इति । विडं भेदकम् । बिड भेदने । इगुपधलक्षणः कः तदोजो यस्य सम्बुद्धिः हे विडौजः !, स्वभावमधुरैः निसर्गरमणीयैः, तवेमे तावकाः 'तव कावेकवचने' इत्यणि तवकादेशः । तैरनुभावैरैश्वर्यैरतितरामत्यन्तम्, सुप्रत्ययः । तरलाः लोलाः आनन्दलहरीमग्नाः स्म इत्यर्थः । आ इत्यानन्द दानुकारः । गलितावधिकालमनन्तकालम् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । द्यां साधु प्रशाधि पालय । साधु, विजयस्व सर्वोत्कृष्टो भव । 'विपराभ्यां जेः' त्मनेपदम् ॥ २४ ॥

हे विडौजा ! (व्यापक तेजवाले इन्द्र !) स्वभावतः मधुर (दिखावटी नहीं) प्रभावों (या भावप्रकाशन या प्रत्यक्षतः अनुभव किये गये कार्यों) से आः मैं अत्यन्त यमान या आश्चर्यित हूँ। अवधिरहित (अनन्त) समयतक अच्छी तरह स्वर्गका शासन करो

सी तरह विजय करो । [यद्यपि मुनि होनेके कारण किसीका गुण या दोष देखकर मुझे लित या आश्चर्यित नहीं होना चाहिये, तथापि तुम्हारे स्वाभाविक अर्थात् निष्कपट एवं मधुर प्रभावसे हम चञ्चल या आश्चर्यित हो रहे हैं । अतः महाहर्षाधिक्यसे 'आः' ब्दका प्रयोग हुआ है]॥ २४ ॥

सङ्ख्यविक्षततनुस्रवदस्रक्षालिताखिलनिजाघलघूनाम् ।
यत्त्विहानुपगमः शृणु राज्ञां तज्जगद्युवमुदं तमुदन्तम् ॥ २५ ॥

एवमिन्द्रमभिनन्द्य तत्प्रश्नस्योत्तरमाह—सङ्ख्येति । सङ्ख्ये समरे, विक्षता- ःप्रहताभ्यः तनुभ्यो गात्रेभ्यः, स्रवद्भिरस्रैरसृग्भिः क्षालितानि निर्णिक्तानि अखि- निजान्यघानि येषां तेषामत एव लघूनां निर्भाराणां राज्ञां यद्यस्मात् कारणा- स्वर्गेऽनुपगमो नागमः तत्कारणभूतं जगत्सु ये युवानः तेषां मुदमानन्दकार- साधारणार्थम्, अभेदेन व्यपदेशः । तं प्रसिद्धम् उदन्तं वार्ताम् । 'वार्ता वृत्तान्त उदन्तः' इत्यमरः । शृणु । अत्र क्षालिताघपदार्थस्य विशेषणगत्या हेतुत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २५ ॥

युद्धमें घायल शरीरसे बहते हुए रक्तद्वारा धो दिये गये हैं सब पाप जिनके, ऐसे होनेसे (अथवा—···धोये गये सब पापोंके कारण हलके । 'हलका' होनेसे अत्यन्त ऊंचे- समर्थ) राजालोगोंका यहां (स्वर्गमें) आगमन नहीं होता है, संसारके अत्यन्त उस वृत्तान्तको सुनो । [हलकी वस्तु सरलतासे अत्यधिक ऊंचे स्थानको जा सकती युद्धमें घायल होने या मरनेसे वीरोंको पुण्यातिशयलाभ होता है तथा उनके पाप नष्ट ते हैं, पापका भार अत्यन्त भारी (ढोनेमें अशक्य) तथा पुण्यका भार अत्यन्त (सर्वत्र ले जानेयोग्य) होता है, हलके भार (बोझे) वाला व्यक्ति सरलतासे पर्व- ऊंचे स्थानोंमें चढ़ सकता है । सब पाप नष्ट होनेसे पुण्यात्मा वीर राजाओंका भी पहुंचना अनायाससाध्य है]॥ २५ ॥

सा भुवः किमपि रत्नमनर्घं भूषणं जयति तत्र कुमारी ।
भीमभूपतनया दमयन्ती नाम या मदनशस्त्रममोघम् ॥ २६ ॥

सेति । भुवो भूषणं किमप्यनर्घममूल्यं रत्नम् । असाधारणं स्त्रीरत्नमित्यर्थः । मारी कन्या, अनूढेत्यर्थः । सा दमयन्ती नाम भीमभूपतनया तत्र भुवि जयति । र्वोत्कर्षेण जागर्ति, या अमोघं मदनशस्त्रम् ॥ २६ ॥

वहां (भूतलपर) पृथ्वीका भूषण अमूल्य कोई (अनिवर्चनीय अर्थात् जिसका वर्णन हीं किया जा सकता, अथवा—जिस रत्नका नाम नहीं बतलाया जा सकता) रत्न राजा मकी कन्या दमयन्ती नामकी कुमारी सर्वश्रेष्ठ है, जो कामदेवका अमोघ (कभी

निष्फल नहीं होनेवाला) शस्त्र है । [उससे पृथ्वी अलङ्कृत है, कुल नाम तथा कुमारी
से वह विवाहके योग्य है, इच्छा हो तो तुम भी उसके लिये उपाय करो, ऐसा संकेत

सम्प्रति प्रतिमुहूर्तमपूर्वा कापि यौवनजवेन भवन्ती ।
आशिखं सुकृतसारभृते सा कापि यूनि भजते किल भावम् ॥२७॥

अथेन्द्रस्य मात्सर्योत्पादनाय तस्याः पुरुषान्तरासक्तिञ्च वक्ति—सम्प्रतीति । स
म्प्रतीदानीं, सा दमयन्ती, यौवनस्य जवेनोद्भववेगेन, प्रतिमुहूर्तं काप्यपूर्वा लाव
ण्यावयवपोषविशेषेणान्येव भवन्ती । आशिखं शिखापर्यन्तम्, अभिविधावव्यय
भावः । सुकृतसारभृते उत्कृष्टपुण्यभृते ईदृग्भाग्यसम्पन्न इत्यर्थः । कापि कस्मि
यूनि भावमनुरागं भजते । किलेत्यैतिह्ये ॥ २७ ॥

इस समय प्रत्येक क्षणमें यौवनके वेगसे कोई अपूर्व अर्थात् अत्यन्त सुन्दरी होती
वह दमयन्ती एड़ीसे चोटी तक पुण्यके सारसे परिपूर्ण किसी युवकमें अनुराग कर रही
जगत्सुन्दरी वह दमयन्ती स्वयं जिसे चाहती है, उस युवकके पुण्यजन्य भाग्याति
क्या वर्णन किया जाय ? अर्थात् वह अत्यन्त भाग्यशाली है । प्रतिक्षण उसके सौन्द
वृद्धिका वर्णन करते हुए नारदजीने उस दमयन्तीका किसी भाग्यशाली युवक में स्वयं
करना कहकर अहल्या आदिकी इच्छा करनेसे कामवासनामें प्रसिद्ध इन्द्रकी उत्क
अधिक बढ़ा दिया है]॥ २७ ॥

कथ्यते न कतमः स इति त्वं मां विवक्षुरसि किं चलदोष्ठ ? ।
अर्धवर्त्मनि रुणत्सि न पृच्छां निर्गमेण न परिश्रमयैनाम् ॥२८

कथ्यत इति । किञ्च, चलदोष्ठस्त्वं स युवा कतम इति मां विवक्षुर्वक्तुमिच्छु
किम् । तर्हि अर्धवर्त्मन्यर्धोक्ते पृच्छां प्रश्नम् । भिदादित्वादङ् । न रुणत्सीति का
एनां पृच्छां निर्गमेनोच्चारणेन न परिश्रमय मा खेदय । कुतः न कथ्यते ।
पृष्टोऽपि न कथयामि, अतो न प्रष्टव्यमेवेत्यर्थः ॥ २८ ॥

हिलते हुए ओठवाले तुम 'वह युवक कौन है' यह (मुझसे) पूछना नहीं
हो क्या ? अर्थात् अवश्य हीं पूछना चाहते हो । आधे मार्गमें अपने प्रश्नको
रोकते हो ? अर्थात् रोकते ही हो, उसको (मुखसे) बाहर निकालकर अर्थात् उस प्र
पूछकर, उसे मत थकावो (मत पूछो, क्योंकि मैं उसे) नहीं कहूँगा । (अथवा–हि
हुए ओठवाले तुम 'उस (दमयन्तीके अनुरागभूत युवक को आप नहीं कहेंगे
इस प्रकार पूछनेके इच्छुक नहीं हो क्या ?··· । [तुम्हारे ओठके हिलनेसे
मालूम होता है कि तुम दमयन्तीके अनुराग विषयभूत स युवकका परिचय

---

१. '—भरेण' इति पाठान्तरम् ।

ते हीं, लेकिन उसे पूछना व्यर्थ है, उसका परिचय मैं नहीं दे सकता॥ अन्य भी व्यक्ति नेके प्रश्नका उत्तर नहीं देना चाहता है तो उसके ओठका हिलना देखकर उसे प्रश्न इच्छुक समझकर उसे प्रश्न करनेके पहले ही रोक देता है]॥ २८ ॥

यत्पथावधिरणुः परमः सा योगिधीरपि न पश्यति यस्मात्।
बालया निजमनःपरमाणौ ह्रीदरीशयहरीकृतमेनम् ॥ २६ ॥

किं कपटादकथनं, नेत्याह—यत्पथेति। परमो अणुर्यस्या योगिधियः पन्थाः, पथस्तस्यावधिः सीमा, सा योगिधीरपि। बालया निजमन एव परमाणुः। 'अणु-परिमाणं मनः' इति सूत्रणात्। तस्मिन् ह्रीरेव दरी गुहा तच्छयहरीकृतं, तद्गत-हरीकृतम्, एनं युवानं, यस्मान्न पश्यति तस्मान्न कथ्यत इति पूर्वेणान्वयः। योगि-धियोऽपि परमाणुस्वरूपग्राहित्वमेव नान्तःप्रवेशे शक्तिरित्यज्ञानादकथनं, न कपटात्। तु मन्दाक्षमन्थरतया न कथयतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

परमाणु योगियोंकी बुद्धिके मार्गकी अन्तिम अवधि है अर्थात् योगीलोग अधिकसे के सूक्ष्म पदार्थ परमाणु तक ही देख सकते हैं; बाला (दमयन्ती) के द्वारा अपने के परमाणुमें लज्जारूपी गुहामें सोनेवाले सिंह बनाये गये इसे (युवकको) वह योगि-भी नहीं देखती है। [जिस प्रकार गुहामें सोए हुए सिंहको अन्धकार होनेसे कोई नहीं देख सकता, उसी प्रकार दमयन्ती–मनोरूप परमाणुमें उसे रखती है और गुहाके न विशाल और अन्धकार युक्त लज्जामें सिंहके समान छिपा रखा है अर्थात् लज्जाके न उस युवकका नाम अपने मनमें ही रखती है, किसीसे बतलाती नहीं; अत एव उस उसका नाम कोई नहीं जानता जो आपसे बतला सके। योगीलोग मनके बराबर परि-माणवाले परमाणु तकका प्रत्यक्ष करते हैं, किन्तु वह युवक दमयन्तीके परमाणु परिमाण के भी भीतर रहनेसे उस मनसे भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से अज्ञेय है। यही कारण है कि के बल पर भी मैं उसका नाम नहीं बतला सकता]॥ २९ ॥

सा शरस्य कुसुमस्य शरव्यं सूचिता विरहवाचिभिरङ्गैः।
तातचित्तमपि धातुरधत्त स्वस्वयंवरमहाय सहायम् ॥ ३० ॥

तर्हि कामुकीत्वमात्रं वा कथमस्याः प्रतीतमत आह—सेति। सा भैमी, विरह-वाचिभिः विरहव्यञ्जकैरङ्गैः कार्श्यपाण्डिमादिपरिक्लिष्टैरिति भावः। कुसुमशरस्य कामबाणस्य शरव्यं लक्ष्यं, सूचिता। कुत्रचिद्युनि बद्धभावेत्येतावन्मात्रमवगते-त्यर्थः। तर्हि तत्पित्रा वा वरविशेषज्ञानं विना विवाहोपायः कथं चिन्तितस्तत्राह—तातचित्तमपि (कर्म), स्वस्वयंवरमहाय धातुः सहायमधत्त अकरोत्। सहकारीच-कारेत्यर्थः। तत्पित्रापि धातृप्रेरणया स्वयंवर एवोपायश्चिन्तित इति भावः ॥ ३० ॥

(पाण्डुता, दुर्बलता आदिके द्वारा) विरहको बतलानेवाले कामबाणका लक्ष्य

(निशाना) बनी हुई अपनेको प्रकट करनेवाली वह (दमयन्ती) पिताके चित्तो स्वयंवरोत्सवके लिये भाग्यका सहायक बना दिया है । [दमयन्तीके पिताने उसके पाण्डुता, दुर्बलता आदि विरहचिह्नोंको देख 'यह कामबाणपीडित हो रही है' यह 'जैसा ब्रह्मा करेंगे वैसा होगा' यह विचारकर उसके स्वयंवरोत्सवकी तैयारी की है]

मन्मथाय यदथादित राज्ञां हूतिदूत्यविधये विधिराज्ञाम् ।
तेन तत्परवशाः पृथिवीशाः सङ्गरं गरमिवाकलयन्ति ॥ ३१ ॥

अस्तु राज्ञामनागमे किं कारणमुक्तं तत्राह—मन्मथायेति । अथ विधिर्विधा राज्ञां हूतिः स्वयंवराह्वानं, तदेव दूत्यं दूतकर्म । 'दूतस्य भावकर्मणोः' इति य स्ययः । तस्य विधये करणाय मन्मथायाज्ञामादेशमदित दत्तवानिति यत् । तेन दानेन तत्परवशाः मन्मथपरतन्त्राः । शिवभागवतवत्समासः । पृथिवीशाः स गरमिवाकलयन्ति विषमिव मन्यन्ते । 'विषं स्याद्गरलं गरः' इति हलायुधः ॥ ३

इस (दमयन्तीके स्वयंवरके लिये प्रेरित होने) के बाद ब्रह्माने राजाओंको आ (बुलाना) रूपी दूतकार्यके लिये मन्मथ (मनको मथन करनेवाले) कामदेवको आज्ञा है, उस कारण उस मन्मथ (कामदेव) के पराधीन राजालोग युद्धको विषके समान हैं । [स्वयंवरका समाचार सुनकर कामके वशीभूत सब राजा वहां जानेकी तैयारी युद्ध करना कोई भी नहीं चाहता । जिस प्रकार एकके ही प्राणघातक विषको सेवन कोई साधारण बुद्धिवाला भी नहीं चाहता, उसी प्रकार अनेकोंके प्राणघातक संगर (गर = महाविष) अर्थात् युद्धको भी कोई राजा नहीं चाहता] ॥ ३१ ॥

येषु येषु सरसा दमयन्ती भूषणेषु यदि वापि गुणेषु ।
तत्र तत्र कलयापि विशेषो यः स हि क्षितिभृतां पुरुषार्थः ॥ ३२ ॥

येष्विति । किञ्च, दमयन्ती, भूषणेषु हारादिषु, यदि वा, गुणेषु दयादा दिषु वा, येषु येषु सरसा साभिलाषा, तत्र तत्र तेषु तेषु भूषणेषु गुणेषु च क मात्रयापि यो विशेषः क्षितिभृतां स हि स एव । 'हि हेतावधारणे' इत्यमरः । पार्थः प्रयोजनम्, यथाकथञ्चिद्भैमीमनोरञ्जनमेव पुरुषार्थो न तु क्षात्रधर्मः इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

दमयन्ती जिन २ भूषणों (हार, मुकुट केयूर आदि) में अथवा गुणों (शोभा आदि आठ पुरुष-गुणों, या उदारता-दया आदि गुणों) में अनुराग करती है, (भूषणों या गुणों) में (एक दूसरे की अपेक्षा) थोड़ी-सी भी विशेषता लाना ही रा का पुरुषार्थ हो रहा है । [पहले राजालोग जो युद्धके लिये पुरुषार्थका संग्रह करते अब दमयन्तीके प्रिय भूषणों तथा शोभा आदि गुणोंके संग्रहमें दत्तचित्त हैं, अत एव पुरुषार्थ दिखाकर प्राणत्यागपूर्वक स्वर्गलाभ करना कोई राजा नहीं चाहता है] ॥ ३२ ॥

शैशवव्ययदिनावधि तस्या यौवनोदयिनि राजसमाजे ।
आदरादहरहः कुसुमेषोरुल्ललास मृगयाभिनिवेशः ॥ ३३ ॥

शैशवेति । कुसुमेषोः कामस्य, यौवनोदयिनि यौवनप्रादुर्भाववति, राजसमाजे समूहे विषये, तस्याः भैम्याः, शैशवव्ययदिनं बाल्यापगमदिनम्, अवधिः सीमा तत्तथा, तद्दिनमारभ्येत्यर्थः। अहरहः प्रत्यहम् । वीप्सायां द्विर्भावः। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । आदरात् मृगयायामभिनिवेशः आग्रहः । उल्ललास ववृधे । सर्वेषां यूनां भैमीयौवनोद्देशात् प्रभृति स्मरव्यसनमेव वर्तते, न समरव्यसनमित्यर्थः ॥

इस दमयन्तीके बचपन बीतनेके दिनसे लेकर अर्थात् युवावस्था प्रारम्भ होनेके दिनसे, प्राप्त करते हुए (अथवा—युवावस्था तथा ऐश्वर्य-समृद्धिवाले) राज-समुदाय में देवकी मृगया (शिकार) का आग्रह प्रतिदिन अधिक बढ़ रहा है। [दमयन्तीके युवती दिनसे युवक राज-समुदाय कामदेवके शिकार (वशीभूत) हो रहे हैं] ॥ ३३ ॥

इत्यमी वसुमतीकमितारः सादरास्त्वदतिथिर्भवितुं न ।
भीमभूसुरभुवोरभिलाषे दूरमन्तरमहो नृपतीनाम् ॥ ३४ ॥

इतीति । इतीत्थममी नृपाः वसुमत्याः कमितारः कामयितारः सन्तः तृच् । वा कमितारः । ताच्छील्ये तृन् । 'न लोक-' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । आर्धधातुके वा' इति विकल्पादुभयत्रापि णिजभावः । त्वदतिथिर्भवितुं साकाङ्क्षा न । तथा हि, नृपतीनां भीमभूः भैमी सुरभूः द्यौस्तयोरभिलाषे स्यानुरागे दूरमन्तरं महत्तारतम्यम्, अहो, स्वर्गेऽप्यरुचिरित्याश्चर्यम् । एतेन अतिशायिसौन्दर्यं दमयन्त्या इति व्यज्यते । भीमदेशसुरदेशयोः महान् विप्रकृष्टार्थान्तरप्रतीतिः । अत्रोत्तरवाक्यार्थेन स्वर्गारुच्या पूर्ववाक्यार्थातिथ्यानादरस्य समर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ३४ ॥

इस कारण पृथ्वीको चाहनेवाले पृथ्वीको चाहते हैं (दमयन्तीको प्राप्त करनेके लिये र ही रहना चाहते हैं), तुम्हारे अतिथि होनेके लिये (युद्धमें प्राणत्यागकर स्वर्गमें के लिये) आदर नहीं करते (स्वर्गमें आना नहीं चाहते)। अथवा—इस प्रकार दमयन्तीके इच्छुक पृथ्वीको चाहनेवाले (पहिले युद्धमें शत्रुको जीतकर भूमिको चाहनेवाले राजालोग) तुम्हारे अतिथि होनेके लिये आदर नहीं करते (युद्धमें मरकर स्वर्ग पाना चाहते)। अहो ! भीमनगरी (कुण्डिनपुरी), तथा देवभूमि (स्वर्ग) को राजाओंके बहुत दूरका अन्तर है, भीमकी राजधानी कुण्डिनपुरीको स्वर्गकी अपेक्षा पास राजालोग समीपस्थ कुण्डिनपुरीको ही जाना चाहते हैं, स्वर्गको नहीं । अथवा—भीम(दमयन्ती) और देवकन्या (अमराङ्गना) को राजाओंके चाहनेमें बहुत दूरका है अर्थात् राजालोग देवाङ्गनाओंसे भी अधिक सुन्दरी दमयन्तीको ही चाहते हैं,

देवाङ्गनाओंको नहीं। [अन्य भी कोई व्यक्ति कष्ट उठाकर (युद्ध करनेमें तथा दूरदेश बड़ा कष्ट होता है) एवं प्राणोंको देकर बहुत दूरदेश (जैसे स्वर्ग) में जाकर वहां तुच्छ (देवाङ्गना) को प्राप्त करने की चाहना छोड़कर जीते जी आनन्दपूर्वक थोड़ी दूर (स्थित कुण्डिनपुर) जाकर सर्वोत्तम वस्तु (दमयन्तीरूप अमूल्य स्त्रीरत्न) पानेकी करनेमें अधिक आदर करता है, यह उचित है] ॥ ३४ ॥

तेन जाग्रदधृतिर्दिवमागां सङ्ख्यसौख्यमनुसर्तुमनु त्वाम् ।
यन्मृधं क्षितिभृतां न विलोके तन्निमग्नमनसां भुवि लोके ॥ ३५

एवं राज्ञां स्वर्गानागमने हेतुमुक्त्वाथ स्वस्यागमने हेतुमाह–तेनेति । यत भुवि लोके भूलोके, तस्यां दमयन्त्यां, निमग्नमनसाम् आसक्तचेतसां क्षिति मृधं युद्धं, न विलोके न पश्यामि । तेन युद्धालाभेन जाग्रदधृतिः संमूर्छदसन्तोषः असन्तुष्टः सन्, सङ्ख्यसौख्यं युद्धसुखम् । 'मृधमास्कन्दनं सङ्ख्यम्' इत्यमरः । सर्तुमनुभवितुं, त्वामनु त्वामुद्दिश्य, दिवं स्वर्गमागाम् ॥ ३५ ॥

उस दमयन्तीमें आसक्त चित्तवाले राजाओंका युद्ध भूलोकमें मैं नहीं देखता हूं, बढ़ते हुए असन्तोषवाला (अथवा—असंतुष्ट अधैर्ययुक्त, अत एव जागरूक) मैं यु सुखको प्राप्त करनेके लिये तुम्हारे पास स्वर्गमें आया हूं । [नारदजी सदा कलह उनका यही काम ही है कि इधर-उधर कर परस्परमें लोगोंको लड़ा दें, इसीसे लोक झगड़ा लगानेवाले व्यक्तिको देखकर लोग कहते हैं कि—'देखो ये नारदजी आगये'। नारदजीका इन्द्रके पास पहुंचनेका यह आशय है कि—इन्द्र ही कोई उपाय करें, राजओंमें युद्ध छिड़ जाय] ॥ ३५ ॥

वेद यद्यपि न कोऽपि भवन्तं हन्त हन्त्रकरुणं विरुणद्धि ।
पृच्छ्यसे तदपि येन विवेकप्रोञ्छनाय विषये रससेकः ॥ ३६

वेदेति । हन्तृष्वकरुणं समूलघातं हन्तारं भवन्तं कोपि न विरुणद्धि न जानाति । हन्तेति हर्षे । वेद यद्यपि एतावद्वेद्म्येव । 'विदो लटो वा' इति णलादेशः । यद्यपीत्यवधारणे, तदपि तथापि पृच्छ्यसे । अज्ञः पृच्छति न वि आह—येन कारणेन विषये भोग्ये रससेको रागानुबन्धो जलसेकश्च वि विशेषज्ञानस्य चित्राद्यसाङ्कर्यस्य च प्रोञ्छनाय प्रमार्जनाय, विषयतृष्णालु पृच्छामीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

यद्यपि 'प्रहार करनेवालोंमें तुम निर्दय हो (प्रहार करनेवालोंको निर्दय हो कर देते हो, अतः) तुमसे कोई वैर नहीं करता है, यह मैं जानता हूँ; तथापि तुमसे हूँ (कि—युद्ध होगा या नहीं । अथवा—युद्धके लिये तुमको उत्साहित करता हूं), अभिलपित विषयमें अधिक अनुराग (पक्षान्तरमें—जलके द्वारा धोना) ज्ञानाभाव

जलमें—पङ्क आदिको धोनेके लिये) होता है, यह आश्चर्य है अर्थात् अत्यन्त अभीष्ट में अधिक स्नेहके कारण ज्ञानकी कमी हो जाती है' [विषयको जानते हुए भी लोग अनुरागके कारण उसमें अपनी अजानकारी व्यक्त करते हुए उस विषयको अधिक कराना चाहते हैं]॥ ३६ ॥

एवमुक्तवति देवऋषीन्द्रे द्रागभेदि मघवाननमुद्रा ।
उत्तरोत्तरशुभो हि विभूनां कोऽपि मञ्जुलतमः क्रमवादः ॥ ३७ ॥

एवमिति । देवऋषीन्द्रे नारदे । 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः । एवमुक्तवति मघोनः आनने मुद्रा मौनं मघवाननमुद्रा । 'मघवा बहुलम्' इति विक-तुवादेशाभावः । द्राक् झटित्यभेदि स्वयमेव भिद्यते स्म । 'कर्मवत्कर्मणा तुल्य-' इति कर्तुः कर्मवद्भावात् 'कर्मकर्तरि लुङ्' । तङादिकार्यं 'यगात्मनेपदचिण्-वद्भावाः प्रयोजनम्' इति वचनात् । 'क्रियमाणं तु यत्कर्म स्वयमेव प्रसिध्यति । ः स्वगुणैर्यस्मात् कर्मकर्तेति तं विदुः ॥' इति ॥ तथाहि, विभूनां प्रभूणां, कोऽपि ञ्जुलतमोऽतिहृद्यः क्रमवादः प्रश्नोत्तरक्रमेणोक्तिः । उत्तरोत्तरशुभः उपर्युपरि भो हि । अर्थान्तरन्यासः ॥ ३७ ॥

र्षिनारदजीके ऐसा (श्लो० २१–३६) कहनेपर इन्द्रकी मुखमुद्रा (मौन न) शीघ्र भङ्ग हो गयी अर्थात् इन्द्र शीघ्र बोले । उत्तरोत्तर शुभ (अथवा=उत्तर प्रत्यु- से शुभ) बड़े लोगोंका क्रमशः कुछ बोलना अत्यन्त मनोहर होता है । (अथवा—बड़े-का अत्यन्त मनोहर कुछ भी क्रमसे बोलना उत्तरोत्तर शुभ या उत्तर प्रत्युत्तरसे शुभ ता है । अथवा—बड़ेलोगोंका बोलना क्रमशः कुछ अनिर्वचनीय उत्तरोत्तर शुभ अतिशय र होता है । [बड़ेलोग जैसा क्रमबद्ध उत्तर प्रत्युत्तररूपसे अत्यन्त मनोहर बातचीत ते हैं, वैसा साधारण व्यक्ति नहीं करता । अथवा—बड़ेलोगोंका अतिशय मनोहर क्रमबद्ध न पहले या बादमें शुभकारक होता है, अतः इन्द्र फिर भी बोले]॥ ३७ ॥

अनुजे मम निजे दनुजारौ जाग्रति स्वशरणे रणचर्चा ।
यद्भुजाङ्कमुपधाय जयाङ्कं शर्मणा स्वपिमि वीतविशङ्कः ॥ ३८ ॥

अनुज इति । निजे स्वीये अनुजे दनुजारौ उपेन्द्रे स्वशरणे स्वरक्षके स्वगृहे वा णं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । जाग्रति जागरूके सति । मम रणचर्चा रणचिन्ता ा! न कापीत्यर्थः । जयोऽङ्कश्चिह्नं यस्य तं तद्भुजाङ्कं, यस्यानुजस्य भुजोत्सङ्गमुप-उपधानीकृत्य वीतविशङ्को निरातङ्कः सन् शर्मणा सुखेन स्वपिमि शये । यथा जने जाग्रति राजा शय्यागारे सुखेन भुजमुपधाय स्वपिति तद्वदिति भावः । इह स्सुप्तिः अस्वप्नत्वादमराणाम् ॥ ३८ ॥

ने (मेरे) घरमें (अथवा—मेरे रक्षक, अथवा—आत्मीयजनों अर्थात् देवोंके रक्षक)

अपने छोटे भाई दानवशत्रु (विष्णु) के सावधान (या जागरूक, या योगक्षेमके लिये
रहनेपर, पक्षान्तरमें—जागते रहनेपर) मुझे युद्धकी क्या बात (या चिन्ता)
विजयरूप चिह्नसे (अथवा—विजयसूचक शङ्ख-चक्र आदिसे) चिह्नित जिसके बा
तकिया बनाकर निर्भय मैं सुखपूर्वक सोता हूँ । [अन्य भी व्यक्ति रक्षकके जागने
निर्भय हो सुखपूर्वक सोता है ॥ आत्मीय-रक्षक विष्णुके जागरूक रहनेपर युद्ध
चर्चा नहीं है, जिसे देखकर आप प्रसन्न होंगे] ॥ ३८ ॥

विश्वरूपकलनादुपपन्नं तस्य जैमिनिमुनित्वमुदीये ।
विग्रहं मखभुजामसहिष्णुर्व्यर्थतां मदशनि स निनाय ॥ ३९ ॥

विश्वेति । तस्योपेन्द्रस्य विश्वरूपकलनात् सर्वार्थसाक्षात्करणात्, यद्वा
मत्स्यकूर्माद्यनन्तरूपधरणादन्यत्र विश्वार्थरूपणात्, विश्वरूपाणि सूत्राणि
यनात् (हेतोः), जैमिनिमुनित्वमुदीये उत्पन्नम् । इण् गतौ कर्तरि लिट् ।
तच्च युक्तमित्यर्थः । कुतः, स उपेन्द्रः, मखभुजां विग्रहं विरोधमन्यत्र शरीरम्,
हिष्णुर्मदशनिं मम वज्रायुधम्, अन्यत्र 'वज्रहस्तः पुरन्दर' इत्यादिवाक्यजातं,
स्वायुधेनैव तत्कार्यकरणान्निष्प्रयोजनत्वम्,अन्यत्रविग्रहवद्देवतानिरासेन अर्थ
न्निरभिधेयत्वं च निनाय । अतो जैमिनिमुनित्वं युक्तमित्यर्थः । प्रकृताप्रकृत

उस विष्णुके ('सर्वं विष्णुमयं जगत्' इस वचनके अनुसार) विश्वरूपको स्वीकार
(पक्षान्तरमें—जैमिनीके द्वारा 'विश्वरूप' नामक सूत्रग्रन्थ बनानेसे सिद्ध जैमिनि
उत्पन्न होता है (विष्णु विश्वरूप हैं तथा जैमिनि मुनि विश्वमें हैं; अतः उनका
मुनित्व सिद्ध होना संगत ही है), क्योंकि देवताओंका (असुरोंके साथ) युद्ध हो
सहते हुए (अपने सुदर्शन चक्रसे असुरोंका संहारकर युद्धको समाप्त करते हुए) उस
मेरे वज्रको व्यर्थ बना दिया है (असुर-संहाररूप मेरे वज्रका काम वह विष्णु ही
हैं, अतः मुझे वज्र उठाना ही नहीं पड़ता । पक्षान्तरमें—देवताओंके शरीरको नहीं
(जैमिनि मुनिके मतमें देवता शरीरधारी नहीं है) उस जैमिनी मुनिने मेरे वज्रको
पितार्थक (अथवा जैमिनी, सुमन्तु आदि ६ को वज्रधारी बतलाकर 'वज्रपाणि इन्द्र
वचनसे सिद्ध मेरे वज्रको निष्फल अर्थात् असत्य) कर दिया है । [जैमिनि मुनि
को नहीं मानते, किन्तु मन्त्रमय देवताशरीर मानते हैं और इन्द्रके आयुध वज्रको
वादमात्र मानते हैं । विशेष प्रपञ्च इस श्लोककी टीकामें या जैमिनी मुनिके रचित
ही देखना चाहिये, विस्तार-भयसे उसे यहाँ नहीं दिया जा रहा है] ॥ ३९ ॥

ईदृशानि मुनये विनयाब्धिस्तस्थिवान् स वचनान्युपहृत्य ।
प्रांशुनिःश्वसितपृष्ठचरी वाङ् नारदस्य निरियाय निरोजाः ॥

ईदृशानीति । विनयाब्धिः स इन्द्रो मुनये ईदृशानि युद्धनिराशानि

समर्प्य, तस्थिवान् तूष्णीं स्थितः। अथ नारदस्य प्रांशुनिःश्वसितस्य पृष्ठे पृष्ठचरी पश्चाद्गामिनी दीर्घनिश्वासपूर्विकेत्यर्थः। चरेष्टः। निरोजाः दीना निरियाय निर्जगाम ॥ ४० ॥

विनयके समुद्र इन्द्र ऐसी बातें (श्लो० ३८–३९) मुनि नारदजीसे कहकर चुप हो (फिर युद्धकी आशा नहीं होनेसे) लम्बी सांस लेकर वह (नारदजी) दीन वचन [अन्य कोई व्यक्ति भी अपनी अभीष्ट सिद्धिको नहीं पूरी होती देखकर लम्बी सांस दीन वचन बोलता है] ॥ ४० ॥

स्वारसातलभवाहवशङ्की निर्वृणोमि न वसन् वसुमत्याम् ।
द्यां गतस्य हृदि मे दुरुदर्कः क्ष्मातलद्वयभटाजिवितर्कः ॥ ४१ ॥

स्वरिति। वसुमत्यां भूलोके वसन् स्वश्च रसातलं च स्वारसातले स्वर्गपाताले इति रेफलोपे दीर्घः। तयोर्भवमाहवं शङ्कत इति तच्छङ्की सन्। न निर्वि- न सन्तुष्यामि। द्यां स्वर्गं गतस्य मे हृदि क्ष्मातले भूपाताले। 'अधः स्वरूप- तलम्' इत्यमरः। तयोर्द्वये भटानामाजिवितर्कों युद्धशङ्का दुरुदर्को दुरुत्तरः। फलमुत्तरम्' इत्यमरः। एवं पातालगतस्य इतरलोकाजिवितर्क इति शेषः॥४१॥

त्युलोकमें रहता हुआ मैं स्वर्ग तथा पातालमें होनेवाले युद्धकी शङ्कासे सुखी नहीं होता र्गमें आये हुए मेरा मृत्युलोक तथा पातालमें वीरोंके युद्ध करनेका वितर्क करना निष्फल [परिशेषात्—पातालमें गये हुए मेरा स्वर्ग तथा मृत्युलोकके वीरोंको परस्परमें युद्ध करने तर्क भी निष्फल है। प्रत्यक्ष युद्धको देखनेसे ही मुझे सुखप्राप्ति होती है, अतः मृत्यु- में रहता हुआ स्वर्ग तथा पातालके वीरोंका, स्वर्गमें रहता हुआ मृत्युलोक तथा पाताल- वीरोंका और पातालमें रहता हुआ स्वर्ग तथा मृत्युलोकके वीरोंका युद्ध होनेका वितर्क मैं सुखी नहीं हो सकता; क्योंकि मैं किसी एक लोकमें रहकर अन्य लोकमें होनेवाले प्रत्यक्ष नहीं देखनेके कारण सुखी नहीं हो सकूंगा] ॥ ४१ ॥

वीक्षितस्त्वमसि मामथ गन्तुं तन्मनुष्यजगतेऽनुमनुष्व ।
किं भुवः परिवृढा न विवोढुं तत्र तामुपगताः विवदन्ते ॥ ४२ ॥

वीक्षित इति। त्वं वीक्षितोऽसि। एतदेवागमनफलमित्यर्थः। तत्तस्मात्फलान्त- वात्। अथानन्तरं मां मनुष्यजगते गन्तुं मर्त्यलोकं गन्तुमित्यर्थः। गत्यर्थकर्मणि तीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि' इति चतुर्थी। अनुमनुष्व अनुजानीहि। तत्र र्त्यलोके, तां दमयन्तीं, विवोढुं परिणेतुम् उपगता भुवः परिवृढाः, प्रभवो भूपतयः भौ परिवृढः' इति निपातः। न विवदन्ते न कलहायिष्यन्ते किम्? अपि तु सर्वे एव विवादं करिष्यन्तीति भावः। सामीप्ये लट्। भावनादिसूत्रेण वदेरकर्मकत्वात् विम-

तावात्मनेपदम् । भैमीं परिणेतुमागतानां राज्ञां तत्सौन्दर्यमुग्धानामहमेवास्या रूप इत्यादि विवादो भविष्यतीति भावः ॥ ४२ ॥

तुम्हें मैंने देख लिया अर्थात् तुमसे भेंट-मुलाकात हो गयी, अव मुझे मत्यंलोकमें लिये छुट्टी दो। वहां (मत्यंलोकमें, अथवा—कुण्डिनपुरमें) उस (दमयन्ती) के विवाह करनेके लिये आये हुए राजालोग क्या विवाद नहीं करेंगे ? [उस सुन्दरीके मिलनेपर उसको पानेवाले राजाके साथ अवश्यमेव अन्य राजालोग युद्ध करेंगे, अतः देखनेका आनन्द मुझे अनायास ही मत्यंलोकमें मिल जायेगा, इस कारण अव मुझे जाने दो]॥ ४२ ॥

इत्युदीर्य स ययौ मुनिरुर्वीं स्वर्पतिं प्रतिनिवर्त्य[1]जवेन ।
वारितोऽप्यनुजगाम स[2] यान्तं तं कियन्त्यपि पदान्यपराणि ॥ ४

इतीति। स मुनिरित्युदीर्य स्वर्पतिमिन्द्रम्, 'अहरादीनां पत्यादिषु' वैकल्पिको रेफादेशः। प्रतिनिवर्त्य जवेनोर्वीं ययौ। स इन्द्रो वारितो निवर्तितो यान्तं गच्छन्तम्। इणो लटः शत्रादेशः। तं मुनिमपराण्यपि कियन्ति कति पदानि। आसीममित्यर्थः। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। अनुजगाम ॥ ४३ ॥

यह (श्लो० ४१-४२) कहकर वह मुनि (नारदजी) इन्द्रको लौटाकर वे लोकको चले (पाठभेदसे—इन्द्रको वलपूर्वक लौटाकर भूलोकको चले)। मना क भी (वह इन्द्र) कुछ पैर (कदम) जाते हुए (नारदजीकी इच्छा न होनेपर भी उनके पीछे चले। ('सयत्नं' पाठमें यत्नपूर्वक वह इन्द्र) जाते हुए नार पीछे चले। 'सजन्तां' पाठमें—मना करनेपर भी कुछ और पैर (कदम) पीछे अर्थात् चलते हुए इन्द्रको वलात् लौटाकर नारदजी भूलोकको चले)॥ ४३ ॥

पर्वतेन परिपीय गभीरं नारदीयमुदितं प्रतिनेदे ।
स्वस्य कश्चिदपि पर्वतपक्षच्छेदिनि स्वयमदर्शि न पक्षः ॥ ४४॥

पर्वतेनेति। पर्वतेन मुनिना गिरिणा च गभीरं, नारदीयमुदितं नारद परिपीय प्रतिनेदे प्रतिदध्वने तदेवानुक्तमित्यर्थः। पर्वते सन्निकृष्टे प्रतिनादो इति भावः। नदेर्लिट्। 'अत एकहल्मध्येनादेशादेर्लिटि' इत्येत्वाभ्यासलोपौ। तु न किञ्चिन्निवेदितवानित्याह—पर्वतपक्षच्छेदिनीन्द्रे स्वस्य कश्चिदपि पक्षः प्रयोजनं गरुच्च। 'पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु' इति वैजयन्ती। नादर्शि न दर्शितः। तत्साहचर्यमात्रलोभादागत्य स्वस्य पृथक्साध्याभावा मेवानुक्तम्। नतु पृथक्किञ्चिन्निवेदितमित्यर्थः। पर्वतपक्षच्छेदित्वादिन्द्र पर्वतेन स्वपक्षो न प्रकाशित इति ध्वनिः ॥ ४४ ॥

---

१. 'बलेन' इति पाठान्तरम् । २. 'सयत्नं, 'स यन्तं' सजन्ताम्' इति पाठान्त

पर्वत मुनिने (पक्षान्तरमें—पहाड़ने) नारदजी (पक्षान्तरमें—जलद अर्थात् मेघ) के गम्भीर (अर्धगम्भीर, पक्षान्तरमें—उच्च) कथन (पक्षान्तरमें—गरजना) सुनकर प्रतिध्व (नारदजीका कथन ठीक है, ऐसा स्वीकार; पक्षान्तरमें—प्रतिध्वनि) किया। अपने सिद्धान्तका खण्डन करनेवाले, (पक्षान्तरमें—पहाड़ोंका पंख काटनेवाले; इन्द्र) इनका कोई भी पक्ष (सिद्धान्त, पक्षान्तरमें-पंख नहीं दिखलाया। [पर्वत मुनि नारदजीके साथ स्वर्गमें गये थे, अतः मित्रकी बातका समर्थन किया, पक्षान्तरमें मेघकी गर्जना सुनकर पहाड़ने (गुफासे) प्रतिध्वनि की। अपने सिद्धान्तका इन्द्रके द्वारा खण्डन हो जानेकी आशङ्कासे पर्वत मुनिने स्वयं अपना कोई मत वहां नहीं दिया। बुद्धिमान् व्यक्ति अपने मतको खण्डित होनेवाला मानकर चुप ही रह जाता है, वहां अपने मतका प्रतिपादन नहीं करता। पक्षान्तरमें—इन्द्र जब पर्वतोंका पंख काटते हैं तब पर्वतको अपना पंख इन्द्रके द्वारा काटनेके भयसे नहीं दिखाना स्वाभाविक ही है] ॥ ४४ ॥

पाणये बलरिपोरथ भैमीशीतकोमलकरग्रहणार्हम्।
भेषजं [1]चिरचिताशनिवासव्यापदामुपदिदेश रतीशः ॥ ४५ ॥

इन्द्रस्तु भैम्यामनुरक्तोऽभूदित्याह—पाणय इति। अथ नारदनिर्गमनान्तरं, रतीशः कामो बलरिपोरिन्द्रस्य पाणये चिरचितानां चिरसञ्चितानाम्, अशनिवासेन अशनिसम्पर्केण याःव्यापदो विदाहाः तासां भैमीशीतकोमलकरस्य ग्रहं ग्रहणमेवार्हम् उचितं, भेषजमौषधमुपदिदेश। वीराभिभवेन श्रृङ्गारः प्रवृद्ध इति भावः। अत्र कामनिर्देशस्य भैमीपाणिग्रहणस्याशनिवासतापशमनार्थत्वोत्प्रेक्षा व्यञ्जकप्रयोगाद्गम्या ॥

इस (नारदजीके जाने) के बाद कामदेवने इन्द्रके हाथके लिये चिरकालतक वज्रके निवाससे (पाठा० ग्रहण किये रहनेसे उत्पन्न) महान् रोगके योग्य, दमयन्तीके ठंढे तथा कोमल हाथका ग्रहण अर्थात् विवाह करना औषध बतलाया। [इन्द्रके हाथमें सर्वदा दाहक और वज्र रखनेसे दाह तथा कर्कशतारूप महान् रोग हो गया, उसको दूर करनेके लिये कामदेवरूपी वैद्यने भैमीके शीतल तथा कोमल हाथको ग्रहण करना योग्य औषध बतलाया अर्थात् इन्द्र दमयन्तीको पानेके लिए कामपीडित हो गये। अन्य भी व्यक्ति कर्कशता तथा दाहकता शान्त करनेके लिए ठंढा तथा कोमल पदार्थका उपयोग करते हैं] ॥

नाकलोकभिषजो सुषमा या पुष्पचापमपि चुम्बति सैव।
वेद्मि तादृगभिषज्यदसौ तद्द्वारसंक्रमितवैद्यकविद्यः ॥ ४६ ॥

ननु कामस्य कुतो वैद्यविद्येत्यत आह—नाकेति। नाकलोकभिषजोरश्विनोर्या सुषमा सौन्दर्यं सैव पुष्पचापं काममपि चुम्बति स्पृशति=तस्मादपि। तावेव सुष-

---

1. 'चिरधृता—' इति पाठान्तरम्।

मावन्ताविति भावः। असौ कामः सा सुषमैव द्वारं तेन सङ्क्रमिता वद्यकं भैषज्यम्। 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्'। तदेव विद्या यस्मिन् सः। अतएव स्ववैद्यसदृशः सन् अभिषज्यत् चिकित्सितवान्। भिषज्यतेः कण्ड्वादियगन्ता वेद्मीत्युत्प्रेक्षायाम्। वाक्यार्थः कर्म॥ ४६॥

स्वर्गलोकके दोनों वैद्यों (अश्विनीकुमारों) की जो श्रेष्ठ शोभा है, वह कामदेव करती है (अश्विनीकुमारोंके समान कामदेव भी अत्यन्त सुन्दर है) उस (श्रेष्ठ शो द्वारा वैद्यक विद्याको प्राप्त करनेवाला यह कामदेव वैसा (अश्विनीकुमारोंके समान, इन्द्रके हाथके लिए दमयन्तीका पाणिग्रहण रूप) चिकित्सा किया। [कामदेवको अश्विनीकुमारोंके समान होनेके कारण कामदेवका वैद्य होकर इन्द्रके लिए औषध असङ्गत नहीं है। अन्यत्र भी किसी व्यक्तिमें किसी दूसरे व्यक्तिके एक गुणके साथ गुण भी पहुंच जाता है]॥ ४६॥

मानुषीमनुसरत्यथ पत्यौ खर्वभावमवलम्ब्य मघोनी।
खण्डितं निजमसूचयदुच्चैर्मानमाननसरोरुहनत्या॥ ४७॥

अथेन्द्राण्या ईर्ष्यानुभावमाह—मानुषीमिति। अथेन्द्रस्य भैमीरागान्तरं, स्त्री मघोनी शची। 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति ङीप्। 'श्वयुवमघोनामतद्धित' सम्प्रसारणे गुणः। पत्यौ खर्वभावं नीचत्वमवलम्ब्य मानुषीं मानुषस्त्रीं, 'जाते इत्यादिना ङीप्। अनुसरत्यनुवर्तमाने सति, आननसरोरुहनत्या शिरोनमनेन, रुन्नतं निजं मानं सर्वोत्तरत्वाहंकारं खण्डितं भग्नमसूचयत्। आकारेणैव निर्ज मवेदयत्। न तु वाचा किञ्चिदूचे। गम्भीरनायिकत्वादिति भावः॥ ४७॥

इस (इन्द्रको दमयन्तीकी इच्छा होने) के बाद इन्द्राणीने नीचताका अवल मानुषी (दमयन्ती) के पीछे पति इन्द्रके चलनेपर (इन्द्रद्वारा दमयन्तीको चाहने मुखकमलको नम्रकर (अधोमुखी होकर) अपने उच्च मान (पतिकृत अत्यधिक आद इन्द्राणीरूप उच्चपद, पक्षान्तरमें—ऊंचा प्रमाण) को खण्डित हुआ बतलाया। अथ नीचताका अवलम्बनकर मुखकमलको नम्रतासे पतिको मानुषीका अनुगमन करनेसे ने अपने उच्च मानको खण्डित बतलाया। अथवा–पतिके मानुषीके पीछे गमन इन्द्राणीने खर्वभाव (दीनभाव) को अवलम्बनकर मुख–कमलके नीचा करनेसे मान (कृत आदरपूर्वक स्नेह) को खण्डित बतलाया। यहां प्रथम अर्थमें—जिस इन्द्रने वा (नीचता] को ग्रहण किया, उसी इन्द्र का मान [ऊँचाई) घटना चाहिये, किन्तु मान न घटकर इन्द्राणीका घटा, यह आश्चर्य है। द्वितीय अर्थमें—इन्द्र यह समझते मैं इन्द्राणीको छोड़कर एक मानुषी (कोई अन्य देवाङ्गना नहीं] के पीछे चल (पीछे चलनेसे दासभाव प्रकट होता है] अतः इन्द्राणीके सामने अपना मुख भी नहीं कर पाते थे। तृतीय अर्थमें—पतिको मानुषीके अनुगमन करनेसे इन्द्राणीको

तथा सपत्नीका अनुगमनके समाचारसे अपार दुःख हुआ, अत एव उसका दीनभाव एवं लज्जा तथा कष्टके होनेसे उल्लासहीन होनेसे मुखको नीचा किये रहना स्वाभाविक ही है] ॥ ४७ ॥

यो मघोनि दिवमुच्चरमाणे रम्भया मलिनिमालमलम्भि ।
वर्ण एव स खलूज्ज्वलमस्याः[1] शान्तमन्तरमभाषत भङ्ग्या ॥ ४८ ॥

अथान्यासामपि कासांचिदप्सरसामीर्ष्यानुभावानाह—य इत्यादि । मघोनीन्द्रे, 'श्वयुवमघोनाम्' इत्यादिना सम्प्रसारणे गुणः। दिवमाकाशम्, उच्चरमाणे उत्पतति सति, 'उदश्चरः सकर्मकात्' इत्यात्मनेपदम् । रम्भया यो मलिनिमा मालिन्यम्, मत्यन्तम्, अलम्भि अलाभि । 'विभाषा चिण्णमुलोः' इति वा नुमागमः । स वर्णो मलिनिमैव, अस्या रम्भायाः, अन्तरमन्तरङ्गम्, उज्ज्वलं रोपाद्दत्युज्ज्वलं ज्वलितं सत् भङ्ग्या कयाचिद्रीत्या भवितव्यताप्राबल्यधियेत्यर्थः । शान्तं शमितं निर्वापितमित्यर्थः । 'वा दान्त' इत्यादिना निपातः । अभाषत खलु । निर्वाणाला- मलिनमित्याख्यदित्यर्थः । अन्तःकरणवैवर्ण्यमूलत्वाद्बाह्यवैवर्ण्यस्येति भावः ॥४८॥

इन्द्रको स्वर्ग छोड़कर चलनेपर रम्भाको जो मलिनता (उदासी, पक्षान्तरमें—कालिमा) हुई, वह वर्ण (उदासी या कालिमा) ही प्रकारान्तरसे इस (रम्भा) के निर्मल (पक्षान्तरमें—शृङ्गार-रस-युक्त) अन्तःकरणको शान्त (नष्ट अर्थात् कालिमायुक्त, पक्षान्तरमें—शान्त-रस-युक्त) बतलाया । (अथवा—……उसके शान्त अन्तःकरणको जलता हुआ (इन्द्र-विरह-जन्य दुःख या इन्द्रके नीच कर्मसे सन्तप्त) बतलाया । [उज्ज्वलमें थोड़ी-सी भी कालिमा शीघ्र मालूम पड़ने लगती है । अथवा—जो शृङ्गार रससे युक्त है वह शान्तरससे युक्त हुआ यह आश्चर्य है ॥ जब इन्द्र दमयन्तीको पानेकी इच्छाकर स्वर्गसे मर्त्यलोक जाने लगे तब रम्भा भी खिन्न हो गयी] ॥ ४८ ॥

जीवितेन कृतमप्सरसां तत्प्राणमुक्तिरिह युक्तिमती नः ।
इत्यनक्षरमवाचि घृताच्या दीर्घनिःश्वसितनिर्गमनेन ॥ ४९ ॥

जीवितेनेति । अप्सरसां नोऽस्माकं जीवितेन कृतं, कष्टत्वादिति भावः । तत्तस्मादस्मिन्समये प्राणमुक्तिः, प्राणत्याग एव युक्तिमती युक्तेति घृताच्या नाम देव्या दीर्घनिःश्वसितस्य निर्गमनेन निष्क्रमणमुखेन, अनक्षरमशब्दप्रयोगं, यथा तथा अवाचि । वचेर्ब्रूञो वा कर्मणि लुङ् । उक्तमिवेत्यर्थः । अत एव व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा ॥ ४९ ॥

(अब) हम अप्सराओंका जीना व्यर्थ है, अत एव प्राणोंका छूट जाना (मर जाना)

---

[1] 'खलूज्ज्वलदस्याः' इति पाठान्तरम् ।

ही ठीक है' इस प्रकार घृताचीने लम्बा श्वास निकलनेसे मुखसे विना बोले ही कह
[प्राण भी श्वासरूप हैं, अतएव अधिक दुःखके कारण लम्बा श्वास निकलनेसे
प्राणोंका बाहर निकल जाना (मेरा मर जाना) ही अच्छा है, ऐसा विना मुखसे
केवल संकेतसे ही घृताचीने कह दिया। अन्य किसी मरणासन्न व्यक्तिका जब श्वास
बढ़ जाता है, तब वह मुखसे कुछ कहे विना ही हाथ आदिके संकेतसे अपना मनोगत
कह देता है ॥ इन्द्र-विरहकी भावी आशङ्कासे घृताची लम्बा श्वास लेने लगी] ॥ ४९

साधु नः पतनमेवमितः स्यादित्यभण्यत तिलोत्तमयापि।
चामरस्य पतनेन कराब्जात्तद्विलोलन[1]वलद्भुजनालात् ॥ ५०॥

साध्विति। तिलोत्तमयापि देव्या तस्य चामरस्य विलोलनेन आन्दोलनेन
वलमानो भुजो बाहुरेव नालो यस्य तस्मात्, 'वलतेरात्मनेपदमनित्यं ज्ञाप
इत्याह वामनः। चक्षिङो ङित्करणं ज्ञापकम्। कराब्जात् पाणिकमलाच्चाम
पतनेन, अवयवपारवश्यादिति भावः। एवञ्चामरवदेव नोऽस्माकमपि इतः स्व
पतनमेव साधु स्यादित्यभण्यत। भणितमिवेति पूर्ववदुत्प्रेक्षा भुजनालात् करा
दिति सावयवरूपकेण संसृष्टा ॥ ५० ॥

चामर डुलानेसे चञ्चल भुज-नालवाले हाथसे चामरके गिर जानेसे 'हमलोगोंका
(स्वर्ग) से पतन हो जाना ही अच्छा है' ऐसा तिलोत्तमा नामकी अप्सराने भी
[इन्द्रके भावी विरहकी आशङ्कासे इन्द्रको चामर डुलाती हुई तिलोत्तमाके हाथसे चिन्ता
परवशताके कारण चामर गिर पड़ा] ॥ ५० ॥

मेनका मनसि तापमुदीतं यत्पिधित्सुरकरोदवहित्थाम्।
तत्स्फुटं निजहृदः पुटपाके पङ्कलिप्तिमसृजद्बहिरुत्थाम् ॥ ५१॥

मेनकेति। मेनका नाम काचिद्देवी मनस्युदीतमुत्पन्नं, तापमाधिं, पिधित्सुः
धातुमिच्छुः सती, अवहित्थामाकारगुप्तिमकरोदिति यत्, तदाकारगोपनमेव,
स्वमनसः, पुटपाके गूढपाके, बहिरुत्थामुत्थितां, बाह्यामित्यर्थः। 'आतश्चोप
इति कर्तरि क्तप्रत्ययः। पङ्कलिप्तिं पङ्कलेपं, स्फुटमसृजत्। पुटपाके बाह्यः
ऽन्तः पच्यमानद्रव्यस्येवाकारगोपनमेव बलात् क्रियमाणं गोप्यस्यान्तस्ता
व्यञ्जकमभूदित्यर्थः ॥ ५१ ॥

मेनकाने मनमें उठे हुए (पाठान्तरसे—बढ़े हुए] सन्तापको बन्द रखने [
पक्षान्तरमें—रोकनेकी इच्छा करती हुई जो आकारगोपन क्रिया [भावको छिपाया]
अपने हृदयके पुटपाकमें मानो बाहरसे कीचड़को लपेटा। [किसी औषधका

---

[1] 'चलद्–' पाठान्तरम् ।

करते समय उसका कोई लेशमात्र भी तत्त्व बाहर न निकल जाय, इसलिये उस औषधको दो सकोरोंमें बन्दकर ऊपरसे कपड़कूट मिट्टीका लेप कर देते हैं, तब वह औषध लेशमात्र भी बाहर नहीं निकलने पाता और भीतरमें तप्त होकर जलता है। इसके प्रतिकूल किसी वस्तु या औषधका खुला पाक करते हैं तो उसकी सुगन्ध आदि बाहर फैल जाता है तथा वह वस्तु भी जल जाती है। इसी प्रकार प्रकृतमें मेनकाने सन्ताप तथा आकारगोपनरूप दो सकोरोंके मध्यमें स्थित अपने हृदयरूपी औषधको पकाते हुए बड़े कष्टका अनुभव किया तथा वह कष्ट देर तक होता रहा, खुले हुये पाकके समान शीघ्र नष्ट नहीं हुआ॥ मेनकाको इन्द्रके भावी विरहसे अत्यन्त कष्ट हुआ]॥ ५१ ॥

उर्वशी गुणवशीकृतविश्वा तत्क्षणस्तिमितभावनिभेन ।
शक्रसौहृदसमापनसीम्नि स्तम्भकार्यमपुषद्वपुषैव ॥ ५२ ॥

उर्वशीति । गुणैः सौन्दर्यादिभिर्वशीकृतविश्वा रञ्जिताखिलप्रपञ्चा, उर्वशी नाम काचिद्देवी, तत्क्षणे तत्समये, यः स्तिमितभावः स्तैमित्यं निष्क्रियाङ्गत्वलक्षणः स्तम्भो नाम सात्त्विकस्तस्य निभेन मिषेण। 'मिषं निभञ्च निर्दिष्टम्' इति हलायुधः। वपुषैव सुहृदयशब्दाद्युवादित्वादण्प्रत्यये हृद्भावान्नोभयपदवृद्धिः। अत एव 'सौहृददौहृद-शब्दावणि हृद्भावौ' इति वामनः। शक्रसौहृदस्य समापनसीम्नि समाप्तिस्थाने, स्तम्भकार्यं जाड्यकृत्यं, स्थूणाकृत्यञ्च, अपुषत्। 'स्तम्भः स्थूणाजडत्वयोः' इति विश्वः। स्तम्भोत्थानावधिकं मे शक्रसौहृदमिति निर्णयमकरोदित्यर्थः। 'पुषादि' इत्यादिना च्लेरङादेशः ॥ ५२ ॥

गुणसे संसारको वशीभूत करनेवाली उर्वशीने उस समय (इन्द्रका मानुषीकी चाहना करनेकी बात सुननेके समय) जड़ताके व्याजसे इन्द्रके अनुरागकी समाप्तिकी सीमाके स्तम्भ (स्तम्भरूप सात्त्विक भाव, पक्षान्तरमें—पत्थर आदिका खम्बा) को शरीरसे ही बतला दिया। [जिस प्रकार लोकमें किसी सीमाका निश्चय करनेके लिये वहां पत्थर आदिका खम्बा गाड़ दिया जाता है, उसी प्रकार इन्द्रके भावी विरहको सुनकर उर्वशी स्तम्भ नामक सात्त्विक भावको व्यक्त किया॥ उर्वशी इन्द्रके भावी विरह-कल्पनासे जड़ हो गयी] ॥५२॥

कापि कामपि बभाण बुभुत्सुं शृण्वति त्रिदशभर्तरि किञ्चित् ।
एष कश्यपसुतामभिगन्ता पश्य कश्यपसुतः [1]शतयज्ञः ॥ ५३ ॥

अथ कासाञ्चिदप्सरसां वागारम्भानाह—कापीत्यादि। कापि देवी, बुभुत्सुमिन्द्रं, जिगमिषितं देशं जिज्ञासमानां कामपि देवीं त्रिदशभर्तरि इन्द्रे शृण्वति सत्येव। तच्छ्रवणार्थमेवेत्यर्थः। किञ्चिद्बभाण। किं तदाह—कश्यपसुतः शतयज्ञो बहुयाजी एष इन्द्रः, कश्यपसुतां काश्यपीं, क्षितिमभिगन्ता अभिगमिष्यति। गमेर्लुट्। पश्य। दिवं विहाय

---

[1] 'शतमन्युः' इति पाठान्तरम्।

भुवं गच्छतीत्याश्चर्यं पश्येत्यर्थः । स्वयं कश्यपसुतस्तत्सुतां भगिनीमेव गच्छ -श्चर्यं व्यज्यते ॥ ५३ ॥

देवराज इन्द्रके सुनते रहनेपर किसी देवाङ्गनाने इन्द्रके विषयमें जाननेकी इच्छा -वाली किसी अन्य देवाङ्गनासे कहा—सौ (अश्वमेध) यज्ञ करनेवाला यह कश्यप मुनि पुत्र (इन्द्र) कश्यपपुत्री अर्थात् काश्यपी (पृथ्वी) को जाना चाहता है, देखो'। (-मुनिका पुत्र जिसने सौ अश्वमेध यज्ञके फलस्वरूप दुर्लभ इन्द्रपद प्राप्त किया, वह पुनः को जाना चाहता है, यह बड़ी मूर्खताकी बात देखो । अथवा—एक महामुनिका पुत्र भी सौ यज्ञ करनेवाला यह कश्य+प=कश्यप (मद्यपी) की पुत्रीके साथ संगम चाहता है, यह देखो, ऐसा तो एक पामर भी नहीं करेगा, उसमें भी एक मुनिपुत्र महायाज्ञिक ऐसा काम करे, यह बड़े खेद तथा आश्चर्यकी बात है । अथवा—कश्यप -सौ यज्ञ करनेवाला यह पुत्र कश्यप मुनिकी पुत्री (अपनी बहन) के साथ संगम चाहता है, इसका महानीचतापूर्ण यह कार्य देखो । अथवा—मद्यपानकर्ताका पुत्र कर्ताकी पुत्रीके साथ संगम करना चाहे, यह कोई बड़े आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि पानकर्ताके पुत्रका महायाज्ञिक होकर भी ऐसा कार्य करना कोई आश्चर्य नहीं होता। पतित होनेसे जो कुछ नीचतम कार्य कर दे, वह थोड़ा ही है। पाठभेदमें—सौ क्रोध (-न्तरमें—सौ यज्ञ) लक्षणासे तज्जन्य सौ अपराध करनेवाला व्यक्ति ऐसा नीच कार्य -कोई आश्चर्य नहीं है ॥ इन्द्रने लोकापवादकी भी कोई चिन्ता नहीं की] ॥ ५३ ॥

आलिमात्मसुभगत्वसगर्वा कापि शृण्वति मघोनि बभाषे ।
वीक्षणेऽपि सघृणासि नृणां किं यासि न त्वमपि सार्थगुणेन ॥

आलिमिति । आत्मनः सुभगत्वेन सगर्वा सुभगमानिनीत्यर्थः । कापि, मघोनि शृण्वति सत्येव, आलिं सखीं बभाषे । तदेवाह—नृणां मनुष्याणां वीक्षणेऽपि । सङ्गतावित्यर्थः । सघृणा सजुगुप्सासि । सा त्वमपि सार्थगुणेन सङ्घधर्मेण, -गतिकस्वरूपेणाविवेकित्वेनेति यावत् । न यासि किम् ? विवेकेन चेन्न यास्येवेत्य

इन्द्रके सुनते रहनेपर अपने सौन्दर्यका अभिमान करनेवाली किसी देवाङ्गनाने कहा—'मनुष्योंको देखनेमें भी घृणा करती हो ? (फिर सङ्गति करना कैसे सम्भव तुम भी इन्द्रके सहचर-समुदायके गुणसे अर्थात् सहचर बनकर (भूलोकमें) क्यों जाती हो ? अर्थात् जावो । [जो तुम मनुष्योंमें घृणाकर मर्त्यलोकको इन्द्रके साथ जाती और इन्द्र उसी मानुषीके साथ विवाह तक करनेके लिए (केवल देखने या सम्भाष करनेके लिये ही नहीं) जा रहा है, अतः तुम इन्द्रसे भी अच्छी हो । अथवा— तुम गुण (प्रेमरूप रस्सी) से बंधकर इन्द्रके साथ नहीं जावोगी अर्थात् अवश्य अथवा—सहचर गुणसे (गतानुगतिक न्यायसे इन्द्रके साथ) नहीं जावोगी क्या !

कुछ भी विचार होगा तो नहीं जावोगी। थोड़ा भी विवेक रखनेवाला व्यक्ति गतानुगतिक-को छोड़कर विवेक द्वारा काम लेता है, कामान्ध इन्द्र वैसा नहीं करनेसे विवेकशून्य हो या है] ॥ ५४ ॥

अन्वयुर्द्युतिपयःपितृनाथास्तं मुदाथ हरितां कमितारः।
वर्त्म कर्षतु पुरः परमेकस्तद्गतानुगतिको न महार्घः ॥ ५५ ॥

अन्वयुरिति। अथेन्द्रप्रयाणानन्तरं, हरितां कमितारो दिशां कामयितारो दिक्प-लाः, इन्द्रानुयानार्हा इत्यर्थः। व्याख्यातमेतत्। द्युतिपयःपितृणां नाथा वह्निवरुण-यमाः, तमिन्द्रं, मुदा औत्सुक्येन, अन्वयुरनुयाताः। 'लङः शाकटायनस्यैव' इति जुसादेशः। तथा हि, एकः परमेक एव पुरः, वर्त्म कर्षतु मार्गं करोतु। स्य मार्गकर्तुः गतमनुगतिर्यस्य स महार्घो महामूल्यः दुर्लभ इति यावत्। न वति। पुरोग एव दुर्लभस्तत्पृष्ठानुयायिनस्तु सर्वत्र सुलभा एवेति न किञ्चिदत्र चित्रमित्यर्थः ॥ ५५ ॥

इसके (इन्द्रके दमयन्तीके साथ विवाहार्थ स्वर्गसे प्रस्थान करनेके) बाद दिक्पाल पति, पितृपति तथा जलपति (क्रमशः—अग्नि, यम और वरुण) भी हर्षसे (दमयन्ती-देखने) उस इन्द्रके पीछे चले। कोई एक व्यक्ति किसी नये मार्गको चालू कर दे, फिर के पीछे चलनेवाले व्यक्ति दुर्लभ नहीं हैं। [जो सर्वप्रथम किसी नये रास्तेको चालू करता है, संसारमें वही व्यक्ति दुर्लभ है, बादमें उसके पीछे चलनेवाले अनेकों हो जाते हैं ॥५५॥

प्रेषिताः पृथगथो दमयन्त्यै चित्तचौर्यचतुरा निजदूत्यः।
तद्गुरुं प्रति च तैरुपहाराः सख्यसौख्यकपटेन निगूढाः ॥५६॥

प्रेषिता इति। अथो अनन्तरं, तैरिन्द्रादिभिः, चित्तचौर्ये दमयन्त्याश्चित्ताकर्षणे, तुरा निजदूत्यः दमयन्त्यै पृथक् प्रेषिताः। तद्गुरुं तत्पितरं भीमञ्च प्रति, सख्यसौ-ख्यकपटेन मैत्रीसुखव्याजेन, निगूढाः गुप्ताः, उपहारा उपायनानि प्रेषिताः ॥ ५६ ॥

इसके बाद इन लोगों (इन्द्र, अग्नि, वरुण तथा यम) ने दमयन्तीके पास चित्तको भूत करनेमें चतुर अपनी २ दूतियोंको (परस्पर में) गुप्त रूपसे अलग २ भेजा— राजा या उस नगरवासियोंसे छिपाकर······दूतियों को भेजा। और उस दमयन्तीके के लिये मित्रके सुखभाव या सुखाधिक्यके व्याजसे (बहुमूल्य होनेके कारण) चित्तको नेवाले परस्परमें छिपाकर (एक दूसरेको न जनाकर) उपहार (रत्न आदिका भेंट) भेजा। [उनमें प्रत्येक लोकपालने यही सोचा कि मेरा दूती तथा उपहारका भेजना दोनों सहागत लोकपालोंको मालूम नहीं है। लोकमें भी एक वस्तुके लिये इच्छा नेवाले जब कई व्यक्ति होते हैं, तब वे परस्परमें एक दूसरेसे छिपाकर उसको पानेका करते हैं] ॥ ५६ ॥

चित्रमत्र विबुधैरपि यत्तैः स्वर्विहाय बत भूरनुसस्रे ।
द्यौर्न काचिदथवास्ति निरूढा सैव सा चरति यत्र हि चित्तम् ॥

चित्रमिति । विबुधैर्देवैः विद्वद्भिश्च, तैरिन्द्रादिभिः, स्व स्वर्गं, विहाय, बत भू
भूरनुसस्रे अनुसृतेति यत् । अत्र चित्रं काकुः, न चित्रमित्यर्थः । कुतः, अथवा
स्वर्गश्च, काचिदपि निरूढा प्रसिद्धा नास्ति । किन्तु यत्र चित्तं चरति रमते,
सा द्यौर्हि ॥ ५७ ॥

देवता (पक्षान्तरमें—विशिष्ट विद्वान्) भी उन लोगोंने जो स्वर्ग छोड़कर पृ
अनुसरण किया अर्थात् पृथ्वीपर आये, इसमें आश्चर्य है । (जब साधारण ज्ञान रखने
व्यक्ति भी पृथ्वीको छोड़ स्वर्गलाभ करनेका प्रयत्न करता है, तब विशिष्ट ज्ञानवान्
लोगोंने उल्टे स्वर्गको छोड़कर पृथ्वीपर आगमन किया, यह आश्चर्यका विषय
अथवा—………आगमन किया, इसमें आश्चर्य है ? अर्थात् कोई आश्चर्य नहीं (क्यों
'स्वर्ग' इस नामसे प्रसिद्ध कोई (स्थान आदि) नहीं हैं, किन्तु जहांपर जिसका
चलता है अर्थात जिस स्थानादिमें मन अनुराग करता है, उसके लिये वही स्वर्ग है।(
देवताओंका स्वर्ग छोड़कर भूमिपर आना उचित ही है) ॥ ५७ ॥

शीघ्रलंघितपथैरथ वाहैर्लम्भिता भुवममी सुरसाराः ।
वक्रितोन्नमितकन्धरबन्धाः शुश्रुवुर्ध्वनितमध्वनि दूरम् ॥ ५८ ॥

शीघ्रेति । शीघ्रं लंघितपथैरतिक्रान्ताध्वभिः, रथवाहै रथाश्वैर्भुवं लम्भि
प्रापिताः, अमी सुरसाराः सुरश्रेष्ठाः, वक्रिताश्चलिताः, उन्नमिताश्च कन्धराः ग्रीवा
यस्मिन् स बन्धः कायसंस्थानविशेषो येषां ते सन्तः, अध्वनि दूरं ध्वनिं शुश्रुवुः

इसके बाद शीघ्र रास्ता तय करनेवाले घोड़ों (या विमानादि सवारियों) से भू
पहुँचे हुए उन श्रेष्ठ देवताओंने गर्दनको थोड़ा टेढ़ाकर ऊँचा किये हुए, दूरके शब्दको
(अथवा—अन्य वार्तालापको छोड़कर अर्थात् चुपचाप होकर दूरकी ध्वनिको सुना ॥

किं घनस्य जलधेरथवैवं नैव संशयितुमप्यलभन्त ।
स्यन्दनं परमदूरमपश्यन्निःस्वनश्रुतिसहोपनतं ते ॥ ५९ ॥

किमिति । ते देवाः, किं घनस्य ध्वनितम्, मेघस्तनितम्, अथवा जलधेः
नितम्, एवं संशयितुमपि नालभन्तैव । एतावन्मात्रविलम्बोऽपि नास्तीत्यर्थः ।
श्च' इत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः । किन्तु, निःस्वनस्य पूर्वोक्तध्वनितस्य, श्रुत्या
सहोपनतं प्राप्तम्, अदूरमासन्नं, स्यन्दनं परं रथमेवापश्यन्निति रथवेगोक्तिः ।
सन्देहसहोक्त्योः संसृष्टिः ॥ ५९ ॥

ये देवता जब तक 'यह मेघका शब्द है ? या समुद्रका' ऐसा संदेह करने के लि

नहीं पा सके, (तब तक) ध्वनि सुननेके साथ ही पहुंचे हुए अत्यन्त समीपमें रथ देखा। [ध्वनिके साथ ही रथके आनेसे उसका शीघ्र चलना तथा गम्भीर शब्द होना होता है] ॥ ५९ ॥

सूतविश्रमदकौतुकिभावं भावबोधचतुरं तुरगाणाम् ।
तत्र नेत्रजनुषः फलमेते नैषधं बुबुधिरे विबुधेन्द्राः ॥ ६० ॥ ✓

सूतेति। एते विबुधेन्द्रास्तत्र रथे सूतस्य सारथेः, विश्रमदो विश्रान्तिप्रदः, कौतुकिभावो विनोदित्वं यस्य तं, विनोदार्थं स्वयं प्रतिपन्नसारथ्यमित्यर्थः। अत्र तुरगाणां भावबोधचतुरम् अश्वहृदयवेदिनं, नेत्रजनुषो नेत्रसत्तायाः फलं, नासेचनकमित्यर्थः। नैषधं निषधानां राजानं नलम्। जनपदशब्दात् क्षत्रिया- बुबुधिरे ज्ञातवन्तः ॥ ६० ॥

देवेन्द्रोंने उस रथपर सारथिको विश्राम देनेके कौतूहलवाले तथा घोड़ोंके भाव- चतुर और नेत्रके जन्म लेनेका फलभूत नलको जाना। [सारथिको हटाकर स्वयं हांकते हुए, घोड़ोंके हृदयङ्गत आशयके ज्ञाता और नेत्रप्राप्तिका फलरूप अर्थात् नेत्रोंको नन्दित करनेवाले नलको उस रथपर देवताओंने देखा] ॥ ६० ॥

वीक्ष्य तस्य वरुणस्तरुणत्वं यद्बभार निबिडं जडभूयम् ।
नौचिती जडपतेः किमु सास्य प्राज्यविस्मयरसस्तिमितस्य ॥ ६१ ॥

वीक्ष्येति। वरुणस्तस्य नलस्य, तरुणत्वं तारुण्यं, तारुण्यभूषितरूपमित्यर्थः। यन्निबिडं जडभूयं जडत्वं स्तम्भाख्यं सात्त्विकमित्यर्थः। 'भुवो भावे' इति क्यप्। भार। प्राज्येन प्रभूतेन, विस्मयरसेनाद्भुतरसेन, जलेन च। स्तिमितस्य निश्चलस्य, पतेः स्तब्धपतेश्चेति डलयोरभेदात्, सा जडभूयं, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता। चिती उचितकर्म, न किमु? भवत्येवेत्यर्थः। विस्मयरसाविष्टस्य स्तम्भसत्त्वादिति । जलसिक्तस्य स्वयं जडभावस्य जाड्यमुचितमिति व्यज्यते ॥ ६१ ॥

वरुण नलका सौन्दर्य देखकर जो अत्यन्त जडता (स्तब्धता, दीनता जलरूपता) धारण लिये वह अत्यधिक आश्चर्य रससे स्तब्धीभूत जलपति (जलाधीश, पक्षान्तरमें—जडा- अर्थात् मूर्खराज) के लिये उचित नहीं था क्या? अर्थात् उचित ही था। [वरुण तारुण्य-सौन्दर्यको देखकर दमयन्तीके पानेकी आशा छोड़कर खिन्न हो गए, —चिन्ताके कारण उत्पन्न जडतासे स्तब्ध हो गये। जडाधीश (मूर्खराज —जलपति) वरुणके लिये जडभाव (जडता, पक्षा०—जलत्व) धारण करना ही है ॥ ६१ ॥

रूपमस्य विनिरूप्य तथातिम्लानिमाप रविवंशवतंसः ।
कीर्त्यते यदधुनापि स देवः काल एव सकलेन जनेन ॥ ६२ ॥

रूपमिति । रविवंशवतंसो यमः, अस्य नलस्य, रूपं सौन्दर्यं, विनि
विभाव्य । तथा तेन प्रकारेण, अतिम्लानिमतिवैवर्ण्यम् , अतिकालिमानमित्य
आप । यद्यथा, अधुनापि स देवो यमः, सकलेन जनेन । काल एव काल इ
कीर्त्यते । तथा म्लानिमापेति पूर्वेणान्वयः । नलेर्ष्यानुभावकालिमयोगादयं का
तु प्राण्यायुःकलनादिति भावः । अत्र यच्छब्दस्य कारणपरत्वेन व्याख्याने स
पेक्षितार्थाभिधामनन्वयश्च स्यात् । प्रकारार्थत्वे तु न कश्चिद्विरोधः । प्रकारार्थ
निपातानामनेकार्थत्वादविरुद्धमित्यर्थः ॥ ६२ ॥

सूर्य-कुल-भूषण यमने इस नलके रूपको अच्छी तरह देखकर उस प्रकारकी अ
कालिमाको प्राप्त किया, जिससे आज भी उस देव (यम) को सब लोग 'काल' (
पक्षान्तरमें—'काल' नामवाले) ही कहते हैं। [जो सूर्य-कुलभूषण है, उसको अ
प्रकाशमान उज्ज्वल होना चाहिये, किन्तु उस यमको इसके विपरीत काला हो
तात्कालिक नलको देखनेसे उत्पन्न अतिशय मलिनता ही कारण है॥ यम भी न
देखकर दमयन्तीको पानेकी आशा छोड़ अत्यन्त खिन्न हो गये] ॥ ६२ ॥

यद्बभारः दहनः खलु तापं रूपधेयभरमस्य विमृश्य ।
तत्र भूदनलता जनिकर्त्री मा तदप्यनलतैव तु हेतुः ॥ ६३ ॥

यदिति । दहनोऽग्निरस्य नलस्य, रूपमेव रूपधेयं सौन्दर्यम् । 'नामरूप
गेभ्यः स्वार्थे धेयो वक्तव्यः' इति स्वार्थे धेयप्रत्ययः । तस्य भरं समृद्धिं, वि
विचार्य, तापं बभार खल्विति यत् । तत्र तापभरणे, अनलता अग्नित्वं, जनि
जन्मकरी, उत्पादिका मा भूत् । नलरूपदर्शनजन्यतापे तस्या अप्रयोजकत्वादि
भावः । किन्तु तदपि तथापि चित्रमनलतैवाग्नित्वमेव हेतुरिति विरोधः । नला
भावहेतुरिति परिहारः । अतएव विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ६३ ॥

अग्निने इस नलके अत्यन्त सौन्दर्यको देखकर जिस सन्तापको ग्रहण किया, उ
उत्पादक अनलता (अग्नित्व) नहीं हुआ (स्वयं अपनेको सन्तप्त करना अर्थात् एक
का ही कर्ता तथा कर्म होना असम्भव है), तथापि अनलता (अ + नलता अर्थात् नला
ही उसका कारण हुआ । [अग्निने यह सोचकर सन्ताप धारण किया कि—यदि मैं
होता तब दमयन्ती मुझे ही वरण करती, अब मुझे नल नहीं होनेसे वह इस नलको
करेगी, अतः नलाभाव ही उस अग्निका सन्ताप-कारण हुआ, अग्नित्व नहीं] ॥ ६३

कामनीयकमधःकृतकामं काममक्षिभिरवेक्ष्य तदीयम् ।
कौशिकः स्वमखिलं परिपश्यन् मन्यते स्म खलु कौशिकमेव ॥ ६

कामनीयकमिति । कौशिक इन्द्रः, अधःकृतकामं तिरस्कृतमदनं, तदीयं नलीयं,
कामनीयकं कमनीयत्वं सौन्दर्यम् । 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्'। कामं प्रकाम-
भिः । सहस्रेणेति भावः । अवेक्ष्य, अथ स्वमात्मानमखिलं यथा तथा, साकल्ये-
र्थः । परिपश्यन् कौशिकमुलूकमेव । 'महेन्द्रगुग्गुलुलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः'
मरः । मन्यते स्म खलु । नलस्यात्मनश्चैतावदन्तरमित्यमंस्तेत्यर्थः । तथा चास्य
विराशं मनो बभूवेति भावः ॥ ६४ ॥

कौशिक (इन्द्र) ने कामदेवको तिरस्कृत करनेवाली नलकी सुन्दरताको नेत्रों (सहस्र-
) से अच्छी तरह देखकर अपनेको सर्वत्र अच्छी तरह देखते हुए कौशिक (उल्लू)
जानते थे । ['नलके सामने मैं उल्लूके समान ही हूँ' ऐसा इन्द्र समझते थे । कौशिकका
होना उचित ही है । सहस्र नेत्र होनेसे नलकी सुन्दरता तथा अपनेको अच्छी
देखकर इन्द्रका वैसा मानना भ्रमशून्य ही था] ॥ ६४ ॥

रामणीयकगुणाद्वयवादं मूर्तमुत्थितममुं परिभाव्य ।
विस्मयाय हृदयानि वितेरुस्तेन तेषु न सुराः प्रबभूवुः ॥ ६५ ॥

रामणीयकेति । सुरा इन्द्रादयः, अमुं नलं, मूर्तं मूर्तिमन्तम् , उत्थितमुत्पन्नं राम-
णीयकं सौन्दर्यं, कामनीयकवत्सिद्धं, तदेव गुणस्तस्याद्वयमेकमेवेति वादं प्रवादं, परि-
भाव्य त्रिजगदेकसुन्दरं मत्वेत्यर्थः । हृदयानि चित्तानि, विस्मयायाद्भुतरसाय,
ददुः । तेन दानेन, तेषु हृदयेषु विषये न प्रबभूवुः तेषां नेशिरे । दत्तद्रव्ये
निवृत्तेरिति भावः । विस्मयाकृष्टचित्ता बभूवुरिति परमार्थः ॥ ६५ ॥

(इन्द्र आदि चारों) देवोंने सौन्दर्यगुणक अद्वैतवादरूप उत्पन्न मूर्तिमान् इस (नल)
विचारकर ('ऐसा सौन्दर्य संसारमें कहीं नहीं देखा या सुना' ऐसा विचारकर ।
अपने) हृदयको आश्चर्यके लिये दान कर दिया अर्थात् वे आश्चर्ययुक्त हो गये, उस
उन (अपने अपने हृदय) पर उनका अधिकार नहीं रहा अर्थात् हृदयशून्य होकर
देव यह नहीं सोच सके कि 'अब हमें क्या करना चाहिये ? ।' [अन्य भी कोई व्यक्ति
को अपनी कोई वस्तु देकर फिर उसका अधिकारी नहीं रहता, अतएव अपने अपने
को विस्मयके लिये दानकर (समर्पितकर) विचारक हृदयपर उनका अधिकार न
से उनका विचारशून्य होना उचित ही है ।] ॥ ६५ ॥

प्रैयरूपकविशेषनिवेशैः संवदद्भिरमराः श्रुतपूर्वैः ।
एष एव स नलः किमितीदं मन्दमन्दमितरेतरमूचुः ॥ ६६ ॥

प्रैयरूपकमिति । अमरा इन्द्रादयः, श्रुतपूर्वैः पूर्वं श्रुतैः, 'सुप्सुपा' इति समासः ।
,संवदद्भिः प्रत्यक्षसंवादं व्रजद्भिः, प्रियरूपस्य भावः प्रैयरूपकं सौन्दर्यम् । मनो-

ज्ञादित्वाद् वुञ् । तस्य विशेषेषु तत्तदवयवेषु । 'विशेषोऽवयवे व्यक्त' इत्युत्प लायाम् । निवेशैस्संस्थानैर्लिङ्गैः सः श्रुतपूर्वो नल एष एव किमिति हस्तनिर्दे इतीदं वाक्यं मन्दमन्दं मन्दप्रकारं, 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावः। रेतरमूचुः ॥ ६६ ॥

(इन्द्र आदि चारों) देव पहले (लोगोंसे) सुने गये (और इस समय) आप मिलते-जुलते हुए सुन्दर रूपकी अधिकता होनेसे 'वह नल यहीं है क्या ?' ऐसा आप धीरे धीरे कहने लगे ॥ ६६ ॥

तेषु तद्विधवधूवरणार्हं भूषणं स समयः स रथाध्वा ।
तस्य कुण्डिनपुरं प्रतिसर्पन् भूपतेर्व्यवसितानि शशंसुः ॥ ६७ ॥

तेष्विति । तस्य भूपतेर्नलस्य, सा प्रसिद्धा विधा प्रकारः सौन्दर्यादिसाधा धर्मो यस्यास्तस्या वध्वाः वरणे अर्हमुचितं भूषणं, स समयः स्वयंवरकालः, नपुरं प्रतिसर्पन्, तदभिमुखः स रथाध्वा च व्यवसितानि नलोद्योगान् तेषु धिकृत्य शशंसुः तेभ्यः शशंसुरित्यर्थः । आधारत्वविवक्षायां सप्तमी । एतैर्लिङ्गै स्वयंवरयात्रेयमिति निश्चिक्युरित्यर्थः ॥ ६७ ॥

उस प्रकारकी (सर्वलोकप्रसिद्ध) वधूको वरण करनेके योग्य भूषण, वह (का) समय और कुण्डिनपुरको जानेवाले उस नलके रथका, मार्ग उस राजा नलके को देवताओंसे बतला दिया । [नलके भूषण, स्वयंवरका समय तथा उधर जाते हुए रथको देखकर देवताओंने समझ लिया कि नल स्वयंवरमें ही जा रहे हैं] ॥ ६७ ॥

धर्मराजसलिलेशहुताशैः प्राणतां श्रितममुं जगतस्तैः ।
प्राप्य हृष्टचलविस्तृततापैश्चेतसा निभृतमेतदचिन्ति ॥ ६८ ॥

धर्मेति । जगतः प्राणतां प्राणत्वं जगज्जीवनत्वं, तत्प्रियतां वा । श्रितममुं प्राप्यासाद्य, हृष्टाः जगत्प्राणभूतपुरुषदर्शनात्सन्तुष्टाः, चलास्तल्लावण्यदर्शना श्लथानुरागाः, विस्तृततापा रागशैथिल्यादेव विस्तृतविरहतापाश्च तैस्तथो प्रकृतैर्धर्मराजसलिलेशहुताशैः चेतसा, निभृतं निगूढम् । एतदनन्तरश्लोकत्रयं, माणमचिन्ति चिन्तितम् । अत्र यमो हृष्टो वरुणश्चलो वह्निर्विस्तृततापः, क्रमात पादनपरश्चोत्तरश्लोकत्रयमिति कैश्चिद्[1] व्याख्यातम् । तदयुक्तम् । न ह्येतेषामेते प्रतिनियताः । किंतु, त्रयाणामेकाभिप्रायेणाप्येते धर्मास्साधारणाः, अत एवोत्तर त्रयमपि सर्वविषयम् । अत एवानन्तरश्लोके 'नः' इति बहुवचनोपादानम् । यदपि नन्तरश्लोकद्वये एकवचनोपादानम्, तदपि प्रत्येकाभिप्रायादविरुद्धम् । किञ्च,

---

[1] 'प्रकाश'व्याख्याकारै'र्नारायणै'रित्यवधेयम् ।

मवसेत्याद्युपसंहारश्लोके परस्परमुखदर्शनोक्त्या त्रयाणामेकाभिप्रायावगमाच्च लमुक्तमेव युक्तमुत्पश्यामः ॥ ६८ ॥

संसारके प्राणरूप (सौन्दर्यादिसे प्राणवत् प्रिय, अथवा–पालनादिके द्वारा प्राणदानकर्ता, ना–श्वासवायुरूप) नलको पाकर प्रसन्न, चञ्चल और अधिक सन्तापयुक्त धर्मराज), वरुण तथा अग्निने चित्तमें गुप्त भावसे यह विचार किया—[अथवा–नलको दक्षरूप होनेसे यमादिको ऐसे सुन्दर व्यक्तिके देखनेसे हर्ष, 'हम स्वयंवरमें अब लित हों या नहीं यह विचार आनेसे चञ्चलता, और 'अब दमयन्ती इस नलको छोड़ हमलोग.को नहीं वरण करेगी' इस विचारसे अधिक सन्ताप हुआ। अथवा—नलके प्राणरूप तथा धर्मराजका लोकप्राणका अपहरणकर्ता होनेसे हर्षित होना, वरुणका प्राण अर्थात् जगत्प्राण नलरूप वायुको प्राप्तकर मेघके समान चञ्चल होना, अग्निका जगत्प्राण नलरूप वायुको प्राप्त करनेसे सन्ताप बढ़ना (अधिक प्रज्वलित) युक्तियुक्त ही है अर्थात् नलको स्वयंवरमें जाते देख यमको क्रोध, वरुणको घबड़ाहट अग्निको अधिक सन्ताप हुआ और वे मनमें इस प्रकार सोचने लगे यहां क्रमशः हर्षित, वरुणका चञ्चल और अग्निका सन्तप्त होना नारायणसम्मत यह अर्थ मल्लिको अभीष्ट नहीं है; परन्तु अपने मत के पुष्ट्यर्थ जो हेतु प्रदर्शित किये हैं, वे कहाँ तक युक्त हैं, यह विचारक विद्वान् ही विचार करें] ॥ ६८ ॥

नैव न प्रियतमोभयथासौ यद्यमुं न वृणुते वृणुते वा।
एकतो हि धिगमूमगुणज्ञामन्यतः कथमदःप्रतिलम्भः ॥ ६९ ॥

चिन्ताप्रकारमेवाह—नैवेत्यादिना श्लोकत्रयेण। असौ दमयन्ती, अमुं नलं, यदि वृणुते वृणुते वा। उभयथापि पक्षद्वयेऽपि, नोऽस्माकं प्रियतमा न भवत्येव। कुतः, यस्मादेकतः प्रथमपक्षे अगुणज्ञाममूं धिक्। तत्सङ्गतेरसुखावहत्वादिति भावः। न्यतो नलवरणपक्षे कथमदःप्रतिलम्भः अमुष्याः परिग्रहः। परदारत्वादिति भावः॥

'यदि यह दमयन्ती इस नलको नहीं वरण करती है, अथवा वरण करती है' दोनों से वह मेरी प्रियतमा नहीं होगी, क्योंकि प्रथम पक्षमें अर्थात् नलको नहीं वरण करती गुणको नहीं पहचाननेवाली इस दमयन्तीको धिक्कार है (ऐसी गुणकी अनभिज्ञा न्तीको मैं वरणकर कोई आनन्द नहीं कर सकूंगा) तथा दूसरे पक्षमें अर्थात् यदि न्ती नलको वरण करती है तब इस दमयन्तीकी प्राप्ति मुझे किस प्रकार होगी ? ॥६९॥

मामुपैष्यति तदा यदि मत्तो वेद नेयमियदस्य महत्त्वम्।
ईदृशी न कथमाकलयित्री मद्विशेषमपरान्नृपपुत्री ॥७०॥

मामिति। इयं दमयन्ती, इयदेतावदस्य नलस्य, मत्तो मत्सकाशान्महत्त्वमाधिक्यं, न वेद यदि, तदा मामुपैष्यति। तर्हि त्वद्गतदेवत्वाद्युत्कर्षज्ञानात्त्वामेव वरि-

व्यतीस्यत आह—इदृशीति । ईदृशी सर्वापरोक्तनलगतविशेषानभिज्ञा नृप अपरादपरस्मान्नलादित्यर्थः । 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति विकल्पान्न स्मान्नलं मद्विशेषं मदीयोत्कर्षं च कथमाकलयित्री ज्ञात्री । तृन्नन्तादीकारः । 'न लो इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः ॥ ७० ॥

यदि यह दमयन्ती इस नलके इस महत्त्वको नहीं जानती है, तब मुझे वरण क (किन्तु) ऐसी (विशेष गुणको नहीं जाननेवाली) राजकुमारी दमयन्ती अन्य राजा मेरी विशिष्टताको कैसे समझेगी ? [यदि दमयन्ती मुझसे उत्कृष्ट गुणोंवाले नलको वरण करेगी, तो अन्य राजाओंसे उत्कृष्ट गुणवाले मुझे वरण करेगी ? इसकी क्या की जाय ? अर्थात् दमयन्तीको पाना अब असम्भव-सा मालूम होता है] ॥ ७० ॥

नैषधे बत वृते दमयन्त्या व्रीडितो हि न बहिर्भवितास्मि।
स्वां गृहेऽपि वनितां कथमास्यं ह्रीनिमीलि खलु दर्शयिताहे ॥ ७

नैषध इति । किंच, दमयन्त्या नैषधे नले, वृते सति, व्रीडितः सन् बहि भवितास्मि हि । बहिः क्वापि जनसमक्षं स्थातुं न शक्ष्यामीत्यर्थः । भवतेर्लुट् । खेदे । गृहेऽपि, स्वां वनितां भार्यां, ह्रिया निमीलति संकुचतीति ह्रीनिमीलि । प्रत्ययः । आस्यं कथं खलु दर्शयिताहे दर्शयिष्यामि । दृशेर्ण्यन्तात्कर्तरि लुट् वादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम् इत्यणि कर्म्या वनितायाः वैकल्पिकं कर्म अत्र णेरणादिसूत्रस्थयद्ग्रहणसामर्थ्यलब्धाश्रूयमाणकर्मत्वाभावेन तद्विष 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदमिति केचित् । अणिकर्तृकर्मश्रवणेऽपि तदतिरिक्त श्रवणादश्रूयमाणकर्मत्वमस्त्येवेति णेरणादिसूत्रविषयत्वमेवेति भाष्यकारः । तत्सम्यग्विवेचितमस्माभिः किरातार्जुनीयव्याख्याने घण्टापथे 'स सन्ततं द गतस्मयः' इत्यत्र ॥ ७१ ॥

दमयन्तीके द्वारा नलको वरण करनेपर लज्जित मैं बाहर नहीं होऊंगा और स सङ्कोचयुक्त अपना मुख घरमें अपनी स्त्रीको भी कैसे दिखलाऊंगा ? ॥ ७१ ॥

इत्यवेत्य मनसात्मविधेयं किञ्चन त्रिविबुधी बुबुधे न।
नाकनायकमपास्य तमेकं सा स्म पश्यति परस्परमास्यम् ॥ ७२

इतीति । त्रयाणां विबुधानां समाहारस्त्रिविबुधी यमादिदेवत्रयम्, इति पूर्व कत्रयोक्तप्रकारेण । मनसाऽवेत्यालोच्य, किञ्चनात्मविधेयं स्वकर्तव्यं, न बुबुधे वेद । किञ्च, सा त्रिविबुधी, तमेकं नाकनायकमिन्द्रमपास्य अपवार्य, परस्पर पश्यति स्म । इतिकर्तव्यतामूढास्त्रयोऽपि केवलमन्योन्यमुखान्यपश्यन्नित्यर्थः ।

इस प्रकार (श्लो० ६९–७१) तीनो देवों (यम, वरुण तथा अग्नि) ने मनर्द

अपना कर्तव्य नहीं समझा। (पाठभेदसे—इस प्रकार तीनों देवोंने मनमें अपना अर्थात् नलसे अपने सौन्दर्यादिमें कमी समझकर (क्या करना चाहिये, क्या नहीं) भी नहीं समझा। (किन्तु) एक उस स्वर्गाधिपति इन्द्रको छोड़कर वे तीनों एक दूसरे मुख देखते रहे (अथवा—एक उस स्वर्गाधिपति इन्द्रको छोड़ इस प्रकार मनमें विचार उन तीनोंने अपना कर्तव्य नहीं समझा, किन्तु परस्परमें एक दूसरे का मुख देखते ॥ वे तीनों किंकर्तव्यमूढ होकर एक दूसरेका मुंह ताकने लगे ॥ ७२ ॥

किं विधेयमधुनेति विमुग्धं स्वानुगाननमवेक्ष्य ऋभुक्षाः ।
शंसति स्म कपटे पटुरुच्चैर्वञ्चनं समभिलष्य नलस्य ॥ ७३ ॥

किमिति। कपटे परवञ्चने, पटुः, ऋभुक्षा इन्द्रः। अधुना किं विधेयमिति विमुग्धमितिकर्तव्यतामूढम् । स्वस्यानुगानामनुयायिनां यमादीनामाननमवेक्ष्य तेषां दृष्ट्वेत्यर्थः । नलस्य वञ्चनं समभिलष्य अभिसन्धाय । उच्चैः शंसति जगाद ।

कपट करनेमें बहुत चतुर इन्द्र 'इस समय क्या करना चाहिये इस विषयमें ज्ञानशून्य अनुगामियों (यम, वरुण तथा अग्निरूप साथियों) को देखकर नलको वञ्चित करने दखकर कहने लगे—[अन्य भी कोई धूर्त मनुष्य अपने साथियोंको कर्तव्यमें मोहित कर उनको छोड़कर किसी प्रकार केवल अपना कार्य सिद्ध करना चाहता है] ॥७३॥

सर्वतः कुशलभागसि कच्चित्त्वं स नैषध इति प्रतिभा नः ।
स्वासनार्धसुहृदस्तव रेखां वीरसेननृपतेरिव विद्मः ॥ ७४ ॥

सर्वत इति। सर्वतः सप्तस्वङ्गेषु, कुशलभागसि कच्चित्। 'कच्चित् कामप्रवेदने' इत्यमरः। न च त्वां न वेद्मीत्याह—त्वं स प्रसिद्धो नैषधः नल इति नोऽस्माकं, (प्रतिभा) प्रतीतिः। कुतस्तव, रेखामाकृतिं, स्वासनार्धसुहृदो ममार्धासनभाजो, वीरसेननृपतेरिव तत्सदृशीं विद्मः तत्सादृश्यात्तत्पुत्रो नलस्त्वमिति प्रतीम इत्यर्थः॥७४॥

'तुम सब प्रकार (अपने सप्ताङ्ग राज्यादि, अथवा शरीरादिके विषयमें) कुशलयुक्त हो न?। 'तुम वह (लोक-प्रसिद्ध) नैषध (निषधपति नल) हो' यह हम लोगोंका अनुमान है। (हमलोग) अपने (इन्द्रके) आधे आसनके (ऊपर बैठनेसे) मित्र वीरसेन राजाके तुल्य लक्षण तुममें देखते हैं। [एक दीपकसे जलाये गये दूसरे दीपकके समान सेनाकी आकृति पुत्रमें होनेसे तुम्हारे पिता जो वीरसेन राजा स्वर्गमें मेरे साथ आधे आसनपर बैठनेसे मित्र थे, उनके लक्षण तुम्हारेमें दीख पड़ते हैं, अतः मित्रपुत्र होनेके कारण अपरिचित भी तुमसे कुशल-पूछना अनुचित या आश्चर्यकारक नहीं है] ॥ ७४ ॥

क प्रयास्यसि नलेत्यलमुक्त्वा यात्रयात्र शुभयाजनि यन्नः ।
तत्तयैव फलसत्वरया त्वं नाध्वनोर्धमिदमागमितः किम् ॥ ७५ ॥

क्वेति । हे नल, क्व प्रयास्यसीत्युक्त्वा पृष्ट्वा अलं, न प्रष्टव्यमित्यर्थः । खल्वोः' इत्यादिना क्त्वाप्रत्ययः । कुतः, यद्यस्मान्नोऽस्माकमत्र यात्रया इहा नेन, शुभया त्वद्दर्शनेन सफलया, अजन्यभावि । भावे लुङ् । तत्तस्मात्, सत्वरया फलार्थिन्या तया, यात्रयैव कर्त्र्या, त्वमिदमध्वनोऽर्धमर्धमार्गमायि न किम् ? । अस्मदर्थमेवेदं तवागमनमित्यर्थः ॥ ७५ ॥

'हे नल ! कहां जावोगे' यह कहना निरर्थक है, क्योंकि हमलोगोंकी यहांपर (मार्गमें या इस कार्यारम्भमें) यात्रा शुभ हो गयी । सो तुम्हें फलमें शीघ्रता करने अर्थात् शीघ्र सफल होनेवाली इस यात्राने ही यहां आधे रास्तेमें नहीं ला दिया है [तुम्हारी सहायतासे शीघ्र सफल होनेवाली हमलोगोंकी यात्राने ही हमारा सहा बननेके लिये यहां बीच रास्तेमें तुम्हें ला दिया है, इससे 'कहां जावोगे ?' यह पू व्यर्थ है ॥ लौकिक व्यवहारके अनुसार भी कहीं जाते रहनेपर 'कहां जावोगे' इस प्र पूछना अशुभ माना जाता है] ॥ ७५ ॥

एष नैषध ! स दण्डभृदेष ज्वालजालजटिलः स हुताशः ।
यादसां स पतिरेष च शेषं शासितारमवगच्छ सुराणाम् ॥ ७६ ॥

के यूयमत आह—एष इति । हे नैषध ! नल ! एष इति पुरोवर्तिनो हस्त निर्देशः । स प्रसिद्धो दण्डभृद्यमः, एष ज्वालजालैर्जटिलो जटावान् । ज्वालामाल लीत्यर्थः । 'वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलौ' इत्यमरः । पिच्छादित्वादिलच् । स हुताशोऽग्नि एष च स यादसां पतिर्वरुणः, शेषं शिष्टं स्वमित्यर्थः । सुराणां शासितारम् अवग देवेन्द्रं विद्धि ॥ ७६ ॥

हे नल ! यह दण्डधारी (यम) हैं, ज्वाला-समूहरूप जटाको धारण किये हुए ये हैं, ये जलाधीश (वरुण) हैं और शेष (मुझे) देवताओंका शासक अर्थात् देवराज समझो । ['दण्डभृत्' आदि विशेषण उनके प्रति आदराधिक्य दिखाने या 'इनकी अनुल्लङ्घनीय है' यह नलको संकेत करनेके लिये हैं, साथ ही अपनेको सब देवों शासक बतलाकर इन्द्रने 'मेरी आज्ञा विशेष रूपसे अनुल्लङ्घनीय है, अतः मैं भविष्य दूत-कार्य करनेको कहूँ, उसे तुम्हें अवश्य स्वीकार करना चाहिये । अन्यथा तुम्हें भोगना पड़ेगा, क्योंकि 'जो देवोंका शासक है, उसे मनुष्यका शासन करना सरल है' इस बातकी ओर नलको सङ्केत किया है] ॥ ७६ ॥

अर्थिनो वयममी समुपैमस्त्वां किलेति फलितार्थमवेहि ।
अध्वनः क्षणमपास्य च खेदं कुर्महे भवति कार्यनिवेदम् ॥

अर्थिन इति । हे नल ! अमी वयमर्थिनः सन्तस्त्वां समुपैमः किल प्राप्नुमः

पूर्वादिणो लटि मस्। इति फलितार्थमवेहि विद्धि। क्षणमध्वनः खेदमपास्य श्रमं नीत्वा भवति त्वयि कार्यनिवेदं कार्यविशेषनिवेदनम्। विदेर्ण्यन्ता-प्रत्ययः। कुर्महे ॥ ७७ ॥

संक्षेपमें फलितार्थ कथन यह है कि ये हमलोग याचक होकर तुम्हारे पास आ रहे हैं। कुछ समय तक रास्तेकी थकावट दूरकर (थोड़ी देर सुस्ताकर) आपसे हमलोग अपने कार्यकी प्रार्थना करेंगे' ॥ ७७ ॥

ईदृशीं गिरमुदीर्य बिडौजा जोषमाप न विशिष्य बभाषे।
नात्र चित्रमभिधाकुशलत्वे शैशवावधि गुरुर्गुरुरस्य ॥ ७८ ॥

ईदृशीमिति। बिडौजाः इन्द्रः, ईदृशीं सामान्यनिर्दिष्टां, गिरमुदीर्य जोषं मौनमाप। 'तूष्णीं जोषं भवेन्मौनम्' इति हलायुधः। विशिष्य विविच्य, न बभाषे विशेषं नाचष्टेत्यर्थः। अत्रास्मिन्नभिधाकुशलत्वे उक्तिचातुर्ये, चित्रं विस्मयो न। गुरुः अस्येन्द्रस्य शैशवमवधिर्यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा तदारभ्येत्यर्थः। गुरुराचार्यो गुरुर्बृहस्पतिः। वाचस्पतिशिष्यस्य वाग्मित्वं किं चित्रमित्यर्थः। 'गुरुर्गीष्पतिपित्राद्यौ' इति वैजयन्ती ॥ ७८ ॥

ऐसा वचन (श्लो० ७४–७७) कहकर इन्द्र चुप हो गये, विशेष रूपसे (दमयन्ती के लिये मेरा दूत बनो' इस प्रकार स्पष्ट रूपसे) नहीं कहे। (इन्द्रके) इस प्रकार कहने की चतुरतामें कोई आश्चर्य नहीं है, जिसके शिक्षक बचपनसे ही बृहस्पति हैं ॥ ७८ ॥

अर्थिनामहृषिताखिललोमा स्वं नृपः स्फुटकदम्बकदम्बम्।
अर्चनार्थमिव तच्चरणानां स प्रणामकरणादुपनिन्ये ॥ ७९ ॥

अर्थीति। अर्थिनाम्ना अर्थिनामश्रवणेन, हृषिताखिललोमा रोमाञ्चिततनुः, 'हृषेर्लोमसु' इति वैकल्पिक इडागमः। नृपः, स्वमात्मनं, तच्चरणानामर्चनार्थं स्फुटकदम्बकदम्बं विकसितनीपकुसुमवृन्दमिवेत्युत्प्रेक्षा। प्रणामकरणात्तद्व्याजादुपनिन्ये समर्पयामास ॥ ७९ ॥

'अर्थी' अर्थात् इन्द्रादि याचकोंके नाम (अथवा–'याचक' इस शब्द) से रोम-रोममें हर्षित नलने हर्षसे खिले हुए कदम्ब–समूहके समान अपनेको मानो उनकी पूजा करनेके लिये प्रणाम करनेसे चरणोंको समर्पण कर दिया। ['अर्थी' का नाम सुनकर हर्षसे नल विकसित कदम्बके समान रोमाञ्चित हो गये। फिर जैसे कोई देवताओंके चरणोंमें पुष्प समर्पण कर उनकी पूजा करता है। वैसे ही पुष्पित कदम्ब–समूहके समान अपने शरीरको साष्टाङ्ग दण्डवत् करनेसे उनके चरणोंपर रख दिया] ॥ ७९ ॥

दुर्लभं दिगधिपैः किममीभिस्तादृशं कथमहो मदधीनम् ।
ईदृशं मनसिकृत्य विरोधं नैषधेन समशायि चिराय ॥ ८०॥

दुर्लभमिति । दिगधिपैरमीभिरिन्द्रादिभिः, दुर्लभं किं तादृशं दुर्लभं वस्तु मदधीनं मदायत्तम्, अहो, ईदृशं विरोधं मनसिकृत्य निधाय । 'अनत्याधान मनसी' इति गतिसंज्ञापक्षे 'कुगतिप्रादयः' इति समासे क्त्वो ल्यबादेशः । नैष नलेन, चिराय चिरं समशायि संशयितम् । विचारितमित्यर्थः । भावे लुङ् ॥ ८

'(मेरे याचक बननेवाले) इन दिक्पालोंको क्या दुर्लभ है ? अर्थात् कुछ नहीं, (अपने प्रभावसे या स्वर्गस्थ कल्पवृक्षादिके द्वारा सब कुछ इनको सुलभ ही है) और (इन देवताओंसे दुर्लभ) वस्तु मेरे अधीन कैसे है ?' ऐसी विरुद्ध बातों को मनमें बहुत देर तक नल संशय में पड़े रहे ॥ ८० ॥

जीवितावधि वनीपकमात्रैर्याच्यमानमखिलैः सुलभं यत् ।
अर्थिने परिवृढाय सुराणां किं वितीर्य [1]परितुष्यतु चेतः ॥ ८१॥

विचारप्रकारमेवाह द्वादशश्लोक्या—जीवितेत्यादि । यद्यस्मादखिलैर्वनीपक त्रैर्यैः कैश्चिद्याचकैः । 'वनीपको याचनको मार्गणो याचकार्थिनौ' इत्यमरः । जी तावधि प्राणपर्यन्तं, याच्यमानं वस्तु सुलभम् । सुराणां परिवृढाय प्रभवे अर्थि किं वस्तु वितीर्य दत्त्वा, चेतः परितुष्यतु सन्तुष्येत् । प्राणान्तं वस्तु सर्वार्थिसा रणं ततोऽधिकमिन्द्राय देयं किमस्तीति विचारितमित्यर्थः । वितरणे चेतसः स्वविवक्षया वितरणपरितोषयोः समानकर्तृकत्वसिद्धिः ॥ ८१ ॥

जब सब याचकोंको मांगे गये (मेरे) प्राणतक सुलभ हैं (योग्य एवं अयोग्य पा बिना विचार किये ही मैं सामान्य याचकोंको भी सरलतासे अपने प्राण भी दे हूँ) तब याचक देवराज (इन्द्र) के लिये क्या (प्राणोंसे भी अधिक कौन-सा प देकर (मेरा) चित्त सन्तुष्ट होवे ? [संसारमें जीवन ही सर्वश्रेष्ठ पदार्थ माना गया है जब मैं सामान्य याचकको भी अनायास ही दे सकता हूँ, तब अत्यन्त उत्तम पात्र देवराज इन्द्रके लिये प्राणोंसे भी उत्तम वस्तु देना उचित है, किन्तु प्राणाधिक कोई देने योग्य नहीं दीख पड़नेसे नल संशयमें पड़े रहे] ॥ ८१ ॥

भीमजा च हृदि मे परमास्ते जीवितादपि धनादपि गुर्वी ।
न स्वमेव मम सार्हति यस्याः षोडशीमपि कलां किल नोर्वी ॥ ८

नन्वस्ति लोकोत्तरं वस्तु भैमी, सा दीयतामित्यत आह—भीमजेति । भूयस्या भैम्याः षोडशीमपि कलां नार्हति षोडशांशसाम्यमपि न प्राप्नोतीत्य

---

[1] 'मम तुष्यतु' इति पाठान्तरम् ।

व एव धनादपि । किं वहुना, जीवितादपि गुर्वी अधिका सा भीमजा दमयन्ती ।मे हृदि हृदये, परं सम्यगास्ते । किंतु मम स्वमेव न भवति । अद्याप्यस्वआद्स्वस्यादेयत्वात् । स्वत्वेऽपि 'देयं दारसुताद्दते' इति दारणां दाननिषेधाच्च आरस्तदवस्थ एवेति भावः ॥ ८२ ॥

ध्व तथा मेरे प्राणोंसे भी श्रेष्ठ भीमकुमारी दमयन्ती केवल मेरे हृदयमें है (वाहरमें हैं तथा वाहरमें स्थित वस्तुको ही किसीके लिये दिया जा सकता है, अथ च) पृथ्वी—आत्तम) भी जिसके सोलहवें भागके (रूपयेमें एक आना) भी योग्य नहीं, वह दमयन्ती पत नहीं है । [वह दमयन्ती मेरे हृदयमें वसी हुई है, किन्तु विधिवत् पिताके द्वारा दान(या उसके द्वारा स्वयंवरण) न करनेतक उसपर मेरा अधिकार नहीं हैं, अपने अधिकारकी वस्तुको ही कोई किसीके लिये दे सकता है, अधिकारसे वाहरकी वस्तुको नहीं । —जिस दमयन्तीके सोलहवें भागके योग्य मेरा स्वरूप ही नहीं, है, फिर सम्पूर्ण कैसे होगी ? अथवा —मेरे जीवन तथा पृथ्वीरूप धनसे भी अधिक वह दमयन्ती मेरे में ही रहती है, अत एव तथा स्त्री-पुत्रके दानका शास्त्रीय निषेध होनेसे उसे नहीं जा सकता—इन्द्र उसे नहीं पा सकते] ॥ ८२ ॥

मीयतां कथमभीप्सितमेषां दीयतां [1]द्रुतमयाचितमेव ।
तं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः ॥ ८३ ॥

पूर्वविचारमेवाह—मीयतामिति । एषामभीप्सितं वस्तु कथं मीयतां ज्ञायेत । स्योपयोगमाह-अयाचितं यथा तथा द्रुतं कथं दीयताम्, दातव्यमित्यर्थः । अर्थिवाचैव विज्ञाय दीयतामित्यत आह—यो दाता वाञ्छामर्थ्याकांक्षां कलयन्नपि । अर्थिवागवसरं सहते याञ्चाकालं प्रतीक्षते, तं दातारं धिगस्तु स इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

न(इन्द्रादि) का इष्ट कैसे जाना जाय ? (या विना जाने ही) शीघ्र दे दिया जाय, के स्थानपर 'कथं' पाठ ठीक है, उसी पाठमें 'विना जाने कैसे दे दिया जाय ?' यह प्रकरणसंमत होता है) । याचकोंकी इच्छा ('यह मुझसे मांगना चाहता है' ऐसी इच्छा)को जानता हुआ भी जो 'दाता' याचकके कहनेकी प्रतीक्षा करता है, उस दाताको धिक्कार है । [श्रेष्ठ दातालोग 'याचक मुझसे मुंह खोलकर किसी वस्तुको मांगे, तब मैं उसे दूंगा' ऐसा नहीं करते, किन्तु 'यह मुझसे मांगना चाहता है' इतना ही जानकर उसके लिये अपरिमित दान दे देते हैं, क्योंकि वे याचकके याचनाजन्य दीन वचनको सुनना पसन्द नहीं करते] ॥ ८३ ॥

---

[1] 'कथ–' इति पाठान्तरम् ।

प्रापितेन चटुकाकुविडम्बं लम्भितेन बहुयाचनलज्जाम् ।
अर्थिना यदघमर्जति दाता तन्न लुम्पति विलम्ब्य ददानः ॥

शीघ्राप्रदाने दोषमाह—प्रापितेनेति । चटुकाकुभ्यां चटूक्तिकाकुयोगाभ्यां भ्यां, विडम्बं विडम्बनां हास्यत्व, प्रापितेन, दात्रेति शेषः । बह्वधिकं, यथा याचनेन देहीति वादेन, लज्जां लम्भितेन प्रापितेन, अत्रापि दात्रेति शेषः । करणभूतेन, उक्तरूपेणार्थिपीडनेनेत्यर्थः । दाता यदघं पापमर्जति सम्पादयति, म्ब्य ददानो दाता, तदघं न लुम्पति न विहन्ति । तस्य पापस्य प्रायश्चि नास्तीत्यर्थः ॥ ८४ ॥

विलम्बसे दान देनेवाला दाता चाटु ('मुझे कुछ दान दीजिये' इस प्रकार कहना अथवा—प्रियभाषण यथा—'आप बड़े धर्मात्मा हैं, दानी हैं' इत्यादि वचन काकु (दीनतापूर्ण वचन, यथा—आप कृपापूर्वक मुझे कुछ देवें, मैं बहुत निर्धन हूँ' इत्यादि वचन) से हास्यपात्रता (या पराभव) को प्राप्त करानेवाला और बहुत करनेसे लज्जाको प्राप्त करानेवाला (दाता) याचकके द्वारा (या याचकके कारणसे पापको प्राप्त करता है, उसे (दानके द्वारा) दूर नहीं करता (दान करनेसे उस प्रायश्चित्त नहीं होता) । ['प्रकाश' टीकाकारने—तृतीयान्त पदोंको अर्थीका विशेषण कर—'चाटु तथा दीन वचन कहनेसे पराभूत तथा अनेक बार याचना करनेसे दाता अर्थीसे जो पापार्जन करता है उस पापको दूर नहीं करता है । विलम्बसे देनेवाला पुण्यार्जनके स्थानपर पापार्जन करता है । अतः शीघ्रातिशीघ्र दान श्रेयस्कर है] ॥ ८४ ॥

यत्प्रदेयमुपनीय वदान्यैर्दीयते सलिलमर्थिजनाय ।
याचनोक्तिविफलत्वविशङ्का[१]त्रासमूर्च्छनचिकित्सितमेतत् ॥ ८५

यदिति । वदान्यैर्दातृभिः, प्रदेयं देयद्रव्यमुपनीयार्थिजनाय सलिलं दीय यत् । एतत्सलिलदानं याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कया देहीति वादवैफल्यशङ्क भयं तेन यन्मूर्च्छनं तस्य चिकित्सितमित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा किमर्थं तत्सलि मिति भावः ॥ ८५ ॥

दान योग्य वस्तुको (याचकके) समीप लाकर दान करनेवाला जो याचक (उसके हाथपर सङ्कल्पका) जल देता है, वह (जलदान कार्य) याचनाकी उक्ति होनेकी शङ्कासे उत्पन्न भयसे होनेवाली मूर्च्छाकी चिकित्सा है । (पाठभेदसे—प्रार्थना वह याचना) की उक्तिकी निष्फलताकी शङ्कासे बढ़नेवाली अकाल मृत्युकी चिकित्सा [मूर्च्छा आनेवाले व्यक्तिपर पानी छिड़ककर जिस प्रकार उसकी मूर्च्छाकी चिकि

---

[१] 'त्रासमूर्च्छदपमृत्युचिकित्सा' इति पाठान्तरम् ।

दूर करते हैं, उसी प्रकार 'हमारा मांगना व्यर्थ न होवे' इस प्रकारके सन्देहसे उत्पन्न होनेवाली मूर्च्छाकी चिकित्सा दान देते समय याचकके हाथपर दिया गया संकल्पका होती है। अर्थात् उस सङ्कल्पजलके हाथमें आते ही याचकको अपनी याचनाकी होनेसे संसय दूर हो जाता है]॥ ८५॥

अर्थिने न तृणवद्धनमात्रं किन्तु जीवनमपि प्रतिपाद्यम् ।
एवमाह कुसवज्जलदायी द्रव्यदानविधिरुक्तिविदग्धः ॥ ८६ ॥

अर्थिन इति । कुशवतो जलस्य दायो दानम् । ददातेर्घञ् । युगागमः । स प्रतिपाद्यतया अस्मिन्विधावस्तीति कुशवज्जलदायी सकुशजलदानप्रतिपादक इत्यर्थः । उक्तिविदग्धः। अभिधाव्यापारमन्तरेणार्थादेवार्थान्तरप्रतिपादनचतुरः इत्यर्थः। द्रव्यदानविधिर्धनदायकशास्त्रमेवमाह। किमिति अर्थिने धनमात्रं धनमेव। 'मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे' इत्यमरः। तृणवत्तृणमिव न प्रतिपाद्यं न देयम्। किंतु जीवनम् असुमपि तथा देयमिति। सकुशं जलं देयमिति च गम्यते। अर्थ्यनपेक्षितकुशजलदानं शास्त्रतो द्रव्यदानविधेरयमेवाभिप्राय इति भावः॥ ८६॥

पवित्र कुशके साथ संकल्पजलको दिलानेवाली, बोध करानेमें चतुर वस्तुको दानकी विधि अर्थात् शास्त्रीय विधान, 'याचकके लिये तृणके समान धनको ही नहीं, किन्तु प्राणोंको भी देना चाहिये' ऐसा कहता है। ['कुशवत्सलिलोपेतं दानं सङ्कल्पपूर्वकम्'], (कुश तथा जलसे युक्त सङ्कल्पपूर्वक दान करे) इस शास्त्रीय वचनमें पवित्र कुशाके साथ सङ्कल्प कर दान करनेका विधान है, अतः इस शास्त्रीय वचनका यह आशय है कि-दाता जिस प्रकार तृणवत् (तृणके समान, पक्षान्तरमें—तृणयुक्त) धनको तुच्छ समझकर याचकके लिये देता है, उसी प्रकार जीवन (प्राण, पक्षान्तरमें—सङ्कल्पजल) भी याचकके लिये देना चाहिये अर्थात् याचकके लिये तृणवत् (कुशायुक्त) जलको। पक्षान्तरमें—तृणके समान प्राणोंको) भी देना चाहिये]॥ ८६॥

पङ्कसङ्करविगर्हितमर्हं न श्रियः कमलमाश्रयणाय ।
अर्थिपाणिकमलं विमलं तद्वासवेश्म विदधीत सुधीस्तु ॥ ८७ ॥

पङ्केति। पङ्कः पाप कर्दमश्च। 'पङ्कोऽस्त्री कर्दमैनसोः' इति वैजयन्ती। तत्सङ्करेण विगर्हितं, कमलं श्रियः आश्रयणाय नार्हम्। तत्तस्मात्सुधीर्विमलं निष्पङ्कमर्थिपाणिकमलं तद्वासवेश्म लक्ष्मीनिवासस्थानं, विदधीत। सर्वथा धनं पात्रपाणिष्वेव निक्षेप्तव्यम्। न तु भूमाविति भावः॥ ८७॥

कीचड़ (पक्षान्तरमें—पाप) के संसर्गसे दूषित (पक्षान्तरमें–निन्दित) कमल लक्ष्मी (पक्षान्तरमें—सम्पत्ति) का आश्रय अर्थात् निवासस्थान नहीं है, अत एव विद्वान् (दाता) निर्मल (पक्षान्तरमें—सुपात्र होनेसे अनिन्दित) याचकके हस्तकमलको उस

लक्ष्मी (पक्षान्तरमें—सम्पत्ति) के रहनेका घर बनावे । ['लक्ष्मीका वासस्थान
यह शास्त्रवचन जलाशयमें उत्पन्न कीचड़युक्त मलिन कमलको लक्ष्मीका वासस्थान
बतलाता, किन्तु सत्पात्र होनेसे अनिन्दित याचकके करकमलको लक्ष्मीका वा
बतलाता है, अतः विद्वान्को अपना धन भी सत्पात्रके करकमलमें देना चाहिये।
सामान्य भी व्यक्ति कीचड़से युक्त स्थानको अपना वासस्थान बनाना पसन्द नहीं
तो लक्ष्मीको कीचड़युक्त कमल क्यों पसन्द होगा ? अर्थात् कदापि नहीं होगा]॥

याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय बत जन्म न यस्य ।
तेन भूमिरतिभारवतीयं न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः ॥ ८८ ॥

याचमानेति । यस्य धनिनो जन्म याचमानजनमानसवृत्तेरर्थिजनमनो
पूरणाय न भवति । बतेति खेदे । तेनैकेनैव पापीयसा । इयं भूमिरतिभारवती
द्रुमादिभिर्बहुभिरपीत्यर्थः । तेभ्यः प्रजानां बहूपकारलाभादिति भावः ॥ ८८ ॥

जिसका जन्म याचना करते हुए मनुष्यके मनोरथको पूर्ण करनेके लिये नहीं है,
कि एक उसीसे यह पृथ्वी भारवाली है; वृक्षोंसे नहीं, पहाड़ोंसे नहीं और समुद्रोंसे
[क्योंकि जड़ होते हुए भी वे वृक्षादि फल-फूल, धातु-औषध तथा रत्न आदिके द्वारा
देते ही हैं ॥ मनुष्यको अपना जन्म दान देकर सफल बनाना चाहिये]॥ ८८॥

मा धनानि कृपणः खलु जीवन् तृष्णयार्पयतु जातु परस्मै ।
तत्र नैष कुरुते मम चित्रं यत्तु नार्पयति तानि मृतोऽपि ॥ ८९

मेति । कृपणः कष्टलुब्धो, जीवन् प्राणन् , तृष्णया अतिगार्धनेन, जातु
परस्मै याचमानाय धनानि, ना (मा) र्पयतु न प्रयच्छतु । एष कृपणस्तत्र
ह्णानर्पणे, मम चित्रं विस्मयं, न कुरुते । किंतु, मृतोऽपि तानि धनानि,
न प्रयच्छतीति यत्तत्र चित्रं कुरुते विरोधात् । नार्पाणि नृपसम्बन्धीनि
तदाभासीकरणाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ८९ ॥

कृपण जीते-जी लोभसे धनको कभी किसीके लिये भले नहीं दे, उसमें मुझे
नहीं होता, किन्तु मरकर भी उस धनको जो नहीं देता है (पक्षान्तरमें—राजाके
करता है) यह आश्चर्य है । [यहांपर 'नहीं देता है' इस पक्षमें मरनेके बाद
आश्चर्य होना विरोध है, क्योंकि मरनेपर कुछ भी वस्तु किसीको दे सकना
"राजाके अधीन कर देता है (मरनेपर शास्त्रीय वचनानुसार राजा उसकी सम्पत्तिको
अधीन कर लेता है) यह विरोधका परिहार है । अथवा—जो जीता हुआ किसीको
देता, वह मरनेपर राजाके लिये दे देता है, यह आश्चर्य है ॥ जब मरनेपर लोभसे
धनको राजा ले ही लेता है और उससे कोई पुण्य या आत्मस्वार्थकी सिद्धि भी
तब जीते ही लोभ छोड़कर मनुष्यको दान करना चाहिये]॥ ८९ ॥

माममीभिरिह याचितवद्भिर्दातृजातमवमत्य जगत्याम् ।
यद्यशो मयि निवेशितमेतन्निष्क्रयोऽस्तु कतमस्तु तदीयः ॥ ९० ॥

मामिति । जगत्यां भुवि भुवने वा । 'जगती भुवने भूम्याम्' इति विश्वः । दातृ-
मवमत्यावधीर्य, मां याचितवद्भिरमीभिर्देवैर्यद्यशो मयि निवेशितं स्थापितम्,
ष्क्रयः एतस्य यशसो निष्क्रयः प्रतिनिधिभूतः । कतमस्तु पदार्थस्तदीयोऽस्तु,
दिसम्बन्धी स्यात् । किं वितीर्य अनृणो भविष्यामीत्यर्थः ॥ ९० ॥

स संसारमें अन्य दाताओंके समुदायको छोड़कर मुझसे याचना करनेवाले इन्होंने
द्रादिने) मेरे जिस यशको स्थापित किया है (अथवा—कल्पवृक्ष आदिके रहते उनको
कर इस लोकमें मेरे जिस यशको स्थापित किया है), उसका बदला (देनेके योग्य) कौन
हो ? । ['भूमिस्थ अन्यान्य दाताओंको या स्वर्गस्थ कल्पवृक्ष आदिको छोड़कर कहीं
नहीं याचना करनेवाले इन्द्रादिने भी नलसे याचना की थी, इस प्रकार जो मेरे
स श्रेष्ठ यशको स्थापित किया है, उसका बदला चुकानेके लिये कोई वस्तु नहीं दीखती,
देकर मैं इनसे ऋणमुक्त होऊँ । अधिक देना तो दूर रहा, याचना करनेपर भी
के द्वारा स्थापित महान् यशका बदला चुकाना ही मेरे लिये अशक्य प्रतीत हो
है] ॥ ९० ॥

लोक एष परलोकमुपैता हा विहाय निधने धनमेकः ।
इत्यमुं खलु तदस्य निनीषत्यर्थिबन्धुरुदयद्दयचित्तः ॥ ९१ ॥

लोक इति । एष लोको जनः, हा कष्टं, निधने अन्त्यकाले, धनं विहाय, एकः
की, परलोकमुपेता उपैष्यति । इणो लुट् । इति हेतोरुदयद्दयमुद्यत्कृपञ्चितं यस्य
र्थैव, बन्धुरस्य लोकस्य, तद्धनम् असुं परलोकं, निनीषति नेतुमिच्छति खलु ।
तु बन्धवः स्वयमेव सर्वस्वं गृह्णन्ति । नैनं प्रापयन्तीत्ययमेवापद्बन्धुः सङ्ग्राह्य
ति भावः ॥ ९१ ॥

ह जन मरनेपर धनको छोड़कर अकेला (असहाय) परलोकको जायेगा, हा कष्ट
तः दयायुक्त चित्तवाला याचक-बन्धु उस (परलोकगत व्यक्ति) के इस धनको इसके
(या—परलोकमें) पहुंचाना चाहता है । जैसे कोई व्यक्ति अपना सामान छोड़कर
बाहर जाता है तो उसके सामान (सब वस्तुओं) को उसके प्रिय बन्धु दयाकर उसके
पहुंचा देते हैं, उसी प्रकार याचक भी अकेले परलोक में गये (मरे) हुए व्यक्ति के
नको 'दान की हुई वस्तु ही मरनेपर परलोकमें जीवको मिलती है' इस शास्त्रीय वचन
नुसार स्वर्ग में पहुंचा देता है । अथवा—पुत्र-पौत्रादि बान्धव तो मरे हुए व्यक्ति के
को स्वयं ले लेते हैं, किन्तु दयालु याचकरूप बन्धु उक्त शास्त्र-वचनानुसार उसे
लोकगत व्यक्तिके पास पहुंचा देता है, अतः पुत्र-पौत्रादिसे भी याचक बन्धु ही श्रेष्ठ है,
स कारण याचकको तो अवश्य ही दान देना चाहिये] ॥ ९१ ॥

दानपात्रमधमर्णमिहैकग्राहि कोटिगुणितं दिवि दायि ।
साधुरेति सुकृतैर्यदि कर्तुं पारलौकिककुसीदमसीदत् ॥ ९२ ॥

दानेति । साधुः सज्जनो वार्धुषिकश्च । 'साधुः त्रिषु हिते रम्ये वार्धुषौ
'पुमान्' इति वैजयन्ती । इहास्मिन् लोके, एकं गृह्णातीत्येकग्राही । दिवि
एकं कोटिगुणितं कोटिश आवृत्तं, दायि दातृ । 'वस्त्रधान्यहिरण्यानां चतुस्त्रि
मता' इति लोके वृद्धैः परिमितिरस्ति । इदं त्वपरिमितदायीत्यर्थः । 'आवश्य
मर्ण्ययोर्णिनिः' इत्याधमर्ण्ये णिनिप्रत्ययः । 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति
प्रतिषेधाद् द्वितीया । दानपात्रं नामाधमर्णं धनग्राहीति रूपकम् । 'उत्तमर्णा
द्वौ प्रयोक्तृग्राहकौ क्रमात्' इत्यमरः । सुकृतैरेति यदि । तदा असीददविना
परलोके भवं पारलौकिकं, 'परलोकाच्चेति वक्तव्यम्' इति भवार्थे ठक्प्र
कुसीदं वृद्धिजीवनं कर्तुः अलमिति शेषः । 'कुसीदं वृद्धिजीविका' इत्यमरः । '
मुपतिष्ठते, इति न्यायाददातुः न किञ्चिदामुष्मिकं सुखम् । दातुः पुनरनन्त
सर्वथा अर्थिने दातव्यमिति भावः ॥ ९२ ॥

एक लेकर स्वर्गमें करोड़गुना देनेवाले दानपात्ररूप अधमर्ण (ऋण लेनेवाले)को
लौकिक व्याजको विनाशरहित करनेके लिये पुण्योंके द्वारा यदि कोई प्राप्त करता
सज्जन ही प्राप्त करता है । इस लोकमें ऋण लेनेवाला कोई भी व्यक्ति मूल धन
दुगुना-चौगुना ही देता है तथा किसीके मर जानेपर वह मूल धन भी नहीं मिलता
याचकरूप ऋण-गृहीता यहां पर एक लेकर 'पात्र के लिये दिया गया दान प
अनन्तगुना प्राप्त होता है' इस शास्त्रीय वचनके अनुसार परलोक में करोड़ोंगुना
नष्ट नहीं होनेवाला व्याज देता है, अतएव ऐसा उत्तम ऋण-ग्रहीताको बड़े भाग्य
सज्जन ही प्राप्त करता है ॥ अत एव सत्पात्रमें अवश्य दान देना चाहिये] ॥ ९२ ॥

एवमादि स विचिन्त्य मुहूर्तं तानवोचत पतिर्निषधानाम् ।
अर्थिदुर्लभमवाप्य च हर्षाद्याच्यमानमुखमुल्लसितश्रि ॥ ९३ ॥

एवमादीति । स निषधानां पतिः नलः, एवमादि मुहूर्तमल्पकालं, विचि
अर्थिभिर्दुर्लभं हर्षादुल्लसितश्रि वर्धमानश्रीकं, प्रसन्नमित्यर्थः । शैषिकस्य क
पिकत्वान्नपुंसकत्वं ह्रस्वत्वम् । याच्यमानमुखं दातृमुखं चावाप्य प्रसन्नमुखो
त्यर्थः । तानिन्द्रादीनवोचत ॥ ९३ ॥

निषध देशवासियोंके राजा 'नल' इस प्रकार (श्लो० ८१-९२) मुहूर्तमात्र विचार
याचकों से दुर्लभ, याच्यमान (दाता) के मुखको अत्यन्त शोभासम्पन्न (हर्षित)
याचना करनेकी बात सुनकर नलके प्रसन्न मुखको देखकर ('हमारा कार्य सिद्ध हो
आशासे हर्षित) हुए उन (इन्द्रादि देवों) से बोले—॥ ९३ ॥

नास्ति जन्यजनकव्यतिभेदः सत्यमन्नजनितो जनदेहः ।
वीक्ष्य वः खलु तनूममृतादां दृङ्निमज्जनमुपैति सुधायाम् ॥ ९४ ॥

नास्तीति । जन्यजनकयोः कार्यकारणयोर्व्यतिभेदो नास्ति, कार्यं स्वोपादानाद्‌मित्यर्थः । जनदेहः अन्नजनितः भुक्ताहारपरिणामश्चेत्येतदुभयं सत्यमित्यर्थः । अमृतमदन्तीत्यमृतादः । 'अदोऽनन्ने' इति खच्प्रत्ययः । तेपाममृतादाममृतवो युष्माकं, तनूं मूर्तिं, वीक्ष्य दृष्टिः सुधायां निमज्जमुपैति खलु सुधामज्जननुभवतीत्यर्थः । जनदेहानामन्नजन्यत्वे तद्वदेव युष्मद्देहानामपि तथात्वे कथमेकार्यकारित्वं न स्यादित्यर्थः । युष्मद्दर्शनादेव तावत्कृतार्थोऽस्मीति भावः ॥

न्य तथा जनक अर्थात् कार्य तथा कारणमें भेद नहीं है यह, और जन-शरीर अन्न पदार्थ) से उत्पन्न है, यह (ये दोनों) कथन सत्य है । अमृतको खानेवाले आपशरीरको देखकर (मेरी) दृष्टि अमृतमें निमग्न हो रही है अर्थात् अमृतमें स्नान जो सुख मिलता है, वह सुख आपलोगोंको देखनेसे मिल रहा है । [यहां अमृत तथा उन इन्द्रादिका शरीर अमृत-भक्षण करके उत्पन्न होनेसे कार्य है; अतः उस शरीरके देखनेसे अमृतदर्शनके समान आनन्द होना स्वाभाविक ही है । अथवा- जन-देह जन्य-जनक भेदसे रहित है] ॥ ९४ ॥

मत्तपः क्व नु तनु क्व फलं [1]वा यूयमीक्षणपथं व्रजथेति ।
ईदृशान्यपि दधन्ति पुनर्नः पूर्वपूरुषतपांसि जयन्ति ॥ ९५ ॥

दिति । तनु स्वल्पं मत्तपः क्व ? । यूयमीक्षणपथं व्रजथेति फलं युष्मद्दर्शनरूपं लं वा क्व ? । वैरूप्यादिति भावः । अत एव विरूपघटनारूपो विषमालङ्कारः । ईदृशानि ईदृङ्महाफलान्यपि दधन्ति पुष्णन्ति । 'वा नपुंसकस्य' इति नुमा । पुनः शब्दो वाक्यालङ्कारे नोऽस्माकं पूर्वपूरुषतपांसि जयन्ति तानीदानीं न्तीत्यर्थः ॥ ९५ ॥

रा थोड़ा-सा तप कहां? (महापुण्यसे प्राप्त होने योग्य) आप लोग जो दृष्टिगोचर हो रहे फल कहां? (थोड़ेसे पुण्यके द्वारा अधिक पुण्यके मिलने योग्य आपलोगोंका दर्शन दुर्लभ है) । ऐसे (आपके दर्शनरूप फलको उत्पन्न करनेवाले । अथवा — ऐसे फलरूपरिणत हुए), हमारे पूर्वजोंके पुण्य ही सर्वोत्कृष्ट हो रहे हैं (जिनके प्रभावसे आपलोगोंके सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है । अथवा—सर्वोत्कृष्ट, हमारे पूर्वजोंके पुण्य ऐसे (आप के दर्शनरूप फलमें) परिणत हो रहे हैं) । ['ईदृशान्यपि फलानि ददन्ति' पाठान्तरमें—

---

[1] 'यत्' इति पाठान्तरम् ।

२. ईदृशान्यपि फलानि ददन्ति' इति 'ईदृशं नमन्ति फलं नः' इति पाठान्तरे ।

ऐसे (दुर्लभ आपलोगोंके दर्शनरूप) फलोंको देते हुए, मेरे पूर्वजोंके पुण्य उत्कृष्ट हो 'परिणमन्ति फलं नः' पाठान्तरमें—ऐसे फलको परिणत होते हुए......] ॥ ९५ ॥

प्रत्यतिष्ठिपदिलां खलु देवीं कर्म सर्वसहनव्रतजन्म ।
यूयमप्यहह पूजनमस्या यन्निजैः सृजथ पादपयोजैः ॥ ९६ ॥

प्रतीति । इलां देवीं भूदेवतां, सर्वसहनं विश्वावमानसहनमेव व्रतं येन सा सहेति ख्यायते । तस्माज्जन्म यस्य तत्तज्जन्यमित्यर्थः । क्रियत इति कर्म (कर्तृ) प्रत्यतिष्ठिपत् प्रतिष्ठापयामास खलु । 'तिष्ठतेरित्' इति णौ चङ्युप इकारः । यद्यस्माद्यूयमपि निजैः पादैरेव पयोजैरिति रूपकम् । अस्या इलायाः पूजां सृजथ । कुरुध्वमित्यर्थः । अहहेत्यद्भुते ॥ ९६ ॥

सबके भारको सहन करनेके व्रतसे उत्पन्न कर्म (पुण्य) ने इस (पृथ्वी) देवीको ही प्रतिष्ठायुक्त कर दिया, यह आश्चर्य है ! क्योंकि (पृथ्वीको कभी भी स्पर्श नहीं वाले दिक्पालरूप) आपलोग भी अपने चरण-कमलोंसे इस (पृथ्वी देवी) का पूज रहे हैं । [पृथ्वीने सबके भारको सहन करनेका व्रत ग्रहणकर उससे उत्पन्न पुण्य पदको प्राप्त किया, इसी कारण चरणसे पृथ्वीका स्पर्श नहीं करनेवाले आपलोग आद चरण-कमलसे देवीपदपर प्रतिष्ठित पृथ्वीकी पूजा कर रहे हैं । [अन्य भी व्यक्ति देवीका पूजन कमलोंसे करता है ॥ इस वाक्यसे आपलोगोंको इस भूलोकमें आनेका उद्देश्य है ? यह प्रश्न ध्वनित होता है] ॥ ९६ ॥

जीवितावधि किमप्यधिकं वा यन्मनीषितमितो नरडिम्भात् ।
तेन वश्चरणमर्चतु सोऽयं ब्रूत वस्तु पुनरस्तु किमीदृक् ॥ ९

जीवितेति । इतो नरडिम्भान्मानुषशिशोः, जीवितावधि प्राणान्तं, ततोऽधिकं किमपि मनीषितमीप्सितं यद्वस्तु सोऽयं नरडिम्भः, तेन वस्तुना, वश्चरण पूजयतु । ईदृगलभ्यं वस्तु पुनः किमस्तु किं स्याद्, ब्रूत ॥ ९७ ॥

इस मानव-बालकसे प्राणोंतक या इससे भी अधिक जो अभिलषित (आपलोगों हो, उस (अभिलषित वस्तु) से यह मानव-बालक आपलोगोंके चरणका पूजन करे, ऐसी वह वस्तु कौन-सी है ? कहिये । [प्राणों तक या प्राणाधिक भी कोई वस्तु इस वबालक अर्थात् मुझसे जो वस्तु आपलोगोंको अभिलषित हो, निःसङ्कोच होकर साधारण मानव-बालक होकर भी उस वस्तुको आपलोगोंके चरणमें समर्पित करूं [आपलोग मुझसे क्या चाहते हैं ? यह बतलाइये, मैं उसे अवश्य दूंगा]' ॥ ९७ ॥

एवमुक्तवति मुक्तविशङ्के वीरसेनतनये विनयेन ।
वक्रभावविषमाममथ शक्रः कार्यकैतवगुरुर्गिरमूचे ॥ ९८ ॥

एवमिति । एवं वीरसेनतनये नले, विनयेन अकपटेन, मुक्तविशङ्के विस्रब्धमुक्तोक्ति सति । अथ कार्येषु कर्तव्यार्थेषु यानि कैतवानि कपटानि तेषां गुरुरुपदेष्टा वक्रः । वक्रभावः प्रतिकूलाभिप्रायः, तेन विषमां प्रतिकूलां गिरमूचे उवाच ॥ ९८ ॥

इस प्रकार वीरतनय नलके निर्भय होकर विनयके साथ कहनेपर काममें कपटाचार्य (अथवा—कार्यमें कपट करनेमें गुरुरूप) इन्द्रने कुटिलतासे विषम (विषतुल्य) वचन कहा ॥ ९८ ॥

पाणिपीडनमहं दमयन्त्याः कामयेमहि महीमिहिकांशो ! ।
दूत्यमत्र कुरु नः स्मरभीतिं निर्जितस्मर ! चिरस्य निरस्य ॥ ९९ ॥

पाणीति । हे महीमिहिकांशो भूतलहिमांशो ! 'प्रालेयं मिहिका च' इत्यमरः । वयं दमयन्त्याः पाणिपीडनमहं विवाहोत्सवं कामयेमहि अभिलषेमहि । हे निर्जितस्मर ! अत एव स्मरभीतिं चिरस्य निरस्य दूरतो निरस्येत्यर्थः । 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः । अत्रोद्वाहकृत्ये नोऽस्माकं दूत्यं दूतकर्म । 'दूतस्य भागकर्मणी' इति यत्प्रत्ययः । कुरु ॥ ९९ ॥

हे पृथ्वीचन्द्र नल ! हमलोग दमयन्तीका विवाहोत्सव चाहते हैं । (देहसौन्दर्य और जितेन्द्रिय होनेसे) कामको जीतनेवाले ! बहुत कालसे काम-भय (कामजन्य विरहपीडा) को छोड़कर इस दमयन्तीके विवाहोत्सवरूप कार्यमें हमलोगोंका दूत-कर्म करो । [जितेन्द्रिय और सुन्दरतम होनेसे तुमने काम-विजय कर लिया है, अतः तुम्हें दमयन्ती-विरहसम्बन्धी कामपीडा नहीं होनी चाहिए, तथा उक्त गुणके कारण काम-विजयी होनेसे तथा काम-भय त्याग कर देनेसे दूत-कर्मके समय दमयन्तीको देखकर भी तुम्हारे मनमें कोई कामज विकार नहीं होगा और न तो कामजन्य पीडाका ही कोई भय रहेगा । अतः दमयन्तीके यहाँ हमलोगोंका दूत-कर्म करनेके योग्य हो और पृथ्वीचन्द्र होनेसे तुम हमलोगोंका दूत-कर्म करके हमारे सन्तापका नाश करो । पक्षान्तरमें—इन्द्र अपने साथी अग्नि आदि तीनों देवोंसे भी कपटकर केवल अपना दूत-कर्म करनेके लिए नलसे कह रहे हैं, यथा—हे पृथ्वीचन्द्र (नल) ! मैं उत्सववाले दमयन्तीके विवाहको चाहता हूँ, हमलोगोंमें-से (मेरा) दूत-कर्म करो, हे काम-विजयिन् ! इस विषयमें भयको छोड़ो (अथवा—विलम्बको छोड़ो अर्थात् दूत-कर्म करनेमें विलम्ब मत करो), मुझसे भयको स्मरण करो अर्थात् दूत-कर्म नहीं करनेपर या इस कार्यमें विलम्ब करनेपर मैं तुम्हें शाप दूँगा, इस बातको तुम स्मरण रखो] ॥ ९९ ॥

आसते शतमधिक्षिति भूपास्तोयराशिरसि ते खलु कूपाः ।
किं ग्रहा दिवि न जाग्रति ते ते भास्वतस्तु कतमस्तुलयाऽस्ते ॥१००॥

आसत इति । अधिक्षिति क्षितौ । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । शतं भूपाः आसते

अपरिमिताः सन्तीत्यर्थः । अत्र त्वं तोयराशिरसि । ते भूपाः कूपाः खलु, भूप
त्येऽपि तेषां तव च समुद्रकूपयोरिव महदन्तरमित्यर्थः । तथाहि-दिव्याकाशे ।
ग्रहाश्चन्द्रादयो न जाग्रति न प्रकाशन्ते किम् ? किंतु कतमो ग्रहो भास्वतस्तु
साम्येनास्ते । न कोऽपीत्यर्थः । तद्वत्तवापि न कोऽपि भूपस्तुल्य इति दृष्टान्तालङ्का

भूतलपर सैकड़ों राजा हैं, किन्तु (गाम्भीर्य, औदार्य आदि गुणोंके कारण) तुम
हो, तथा वे (अन्य राजा) कूप हैं । स्वर्गमें क्या वे-वे ग्रह नहीं चमकते हैं, किन्तु
समान कौन ग्रह है ? अर्थात् कोई भी नहीं है । [जिस प्रकार समुद्रकी अपेक्षा
अत्यन्त तुच्छ हैं, उसी प्रकार गाम्भीर्य और औदार्य आदि गुणोंसे युक्त तुम्हारी
अन्य सैकड़ों राजा अत्यन्त तुच्छ हैं तथा जिस प्रकार स्वर्गमें सूर्यके समान कोई ग्रह
उसी प्रकार भूलोकमें तुम्हारे समान कोई राजा भी नहीं । यही कारण है कि अन्य
राजाओंको छोड़कर 'याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा' (गुणी दातामें
भी याचना अच्छी है, किन्तु गुणहीन दातामें सफल भी याचना अच्छी नहीं) इस
अनुसार हमलोग तुम्हींसे याचना कर रहे हैं] ॥ १०० ॥

विश्वदृश्वनयना वयमेते त्वद्गुणाम्बुधिमगाधमवेमः ।
त्वामिहैव[1] मनिवेश्य रहस्ये निर्वृतिं न हि लभेमहि सर्वे ? ॥१०

विश्वेति । विश्वं पश्यन्तीति विश्वदृश्वानि सर्वदर्शीनि । दृशेर्ण्यन्तात्
तानि नयनानि येषां ते वयमेवागाधं गम्भीरम्, तव गुणाः दयादाक्षिण्यवशित्व
सन्धत्वादयः, तानेवाम्बुधिमवेमः अवगच्छामः । इणो लटो मस् । हि यस्मात्,
स्मिन् , रहस्ये रहस्यकृत्ये, त्वामेव विनिवेश्य नियोज्य, सर्वे वयं निर्वृतिं सु
लभेमहीति काकुः । लभेमह्येव, प्रागुक्तगुणाढ्यत्वादिति भावः ॥ १०१ ॥

विश्वदर्शी नेत्रवाले अर्थात् सर्वज्ञ हमलोग ही तुम्हारे अथाह (औदार्य आदि)
समुद्रको जानते हैं । हम सब तुमको इस (दमयन्तीके पास दूत-कर्मरूप) गुप्त
नियुक्तकर सुख नहीं पायेंगे क्या ? अर्थात् अवश्य सुख पायेंगे (पाठभेदसे—
तुमको इस गुप्त कार्यमें इस प्रकार बिना नियुक्त किये सुख नहीं पायेंगे) । [
हमारे दूत-कर्मको करके हमें सुखी करो, अन्यथा यदि तुम दूत-कर्म नहीं करोगे
कष्ट होगा और उस अवस्थामें हम तुम्हें शाप दे देंगे । 'पूर्वोक्त कपटपूर्ण इन्द्रके
अन्य यमादि देवता समझ न लें, इस कारण यहाँपर कपटाचार्य इन्द्रने 'सर्वे' (
पद कहा है] ॥ १०१ ॥

६ शुद्धवंशजनितोऽपि गुणस्य स्थानतामनुभवन्नपि शक्रः ।
क्षिप्नुरेनमृजुमाशु सपक्ष सायकं धनुरिवाजनि वक्रः ॥ १०

---

[1] 'त्वामिहैक—' इति पाठान्तरम् ।

शुद्धेति। शुद्धे अव्रणे, वंशे कुले, वेणौ च। जनितोऽपि। 'वंशो वेणौ कुले वर्गे' ति विश्वः। गुणस्य शौर्यादेः मौर्व्याश्च। 'सत्त्वादौ रूपादौ शौर्यादौ तन्तुषु प्रयो-गाः। गुणशब्दः शिञ्जिन्याम्' इति हलायुधः। स्थानतामाश्रयत्वमनुभवन्नपि शक्रः ऋजुमकुटिलबुद्धिम्, अवक्रञ्च। सपक्षं सुहृदं सपत्रं च, एनं नलं, सायकं धनुश्चाप 'अथास्त्रियौ धनुश्चापौ—' इत्यमरसिंहाभिधानात्पुँल्लिङ्गप्रयोगः। अथवायं शब्द-कारान्तोऽप्यस्तीति उणादौ भ्रमशक्यादिसूत्रेण धनधातोः सौत्रे उप्रत्ययविधानात्। क्षिप्नुः क्षेप्ता सन्, क्षिपेः क्नुः। 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद् द्विती-। वक्रो जिह्मोऽजनि। श्लिष्टविशेषणेयमुपमेति केचित्। प्रकृताप्रकृतश्लेष इत्यन्ये॥

उत्तम कुल (कश्यप मुनिके वंश) में उत्पन्न भी, गुण (दया, दाक्षिण्य आदि) की ताको जानते हुए (नल गुणी हैं, अतः इनके साथ निष्कपट व्यवहार करना चाहिए, ह बात समझते हुए) भी, (शुद्ध अन्तःकरण होनेसे) सरल तथा आठों दिक्पालोंके युत होनेसे (या यज्ञ आदि द्वारा सर्वदा देवोंको सन्तुष्ट करनेसे) अपने पक्षको अर्थात् इस (नल) को (अपने दूत-कर्मके लिए दमयन्तीके पास) भेजते हुए इन्द्र धनुषके न कुटिल (कपटी) हो गये। धनुषपक्षमें—जैसे-दृढ़ बांससे बना हुआ भी, डोरी ञ्चा) के स्थानको प्राप्त किया हुआ भी सीधे तथा पंखोंसहित बाणको फेंकनेवाला टेढ़ा हो जाता है, (वैसे इन्द्र भी टेढ़े अर्थात् कपटयुक्त हो गये)। [नलको दम-के स्वयंवरमें स्वयं सम्मिलित होते हुए जानकर भी इन्द्र ने उन्हें अपना दूतकार्य-के लिए दमयन्तीके पास भेजते हुए महाकपटपूर्ण कार्य करना चाहा]॥ १०२॥

तेन तेन वचसैव मघोनः स स्म वेद कपटं पटुरुच्चैः।
आचरत्तदुचितामथ वाणीमार्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः॥ १०३॥

तेनेति। उच्चैः पटुरतिकुशलः, स नलः, तेन तेन वचसैव मघोनः इन्द्रस्य कपटं स्म विवेद। अथ वेदानन्तरं, तदुचितां तस्य कपटस्योचितामनुरूपां वाणी-रत्। स्वयमपि कपटोक्तिमेवाकरोदित्यर्थः। तथाहि—कुटिलेषु विषये, आर्ज-कौटिल्यं नीतिर्न हि। ततः कुटिलेनैव भवितव्यम्। अन्यथा महान्तमनर्थं-यादिति भावः॥ १०३॥

(श्लेषोक्ति तथा वक्रोक्तिको समझनेमें) अत्यन्त चतुर उस नलने इन्द्रकी उन-उन बातों श्लो० ९९-१०१) से ही कपटको जान लिया। (अथवा—चतुर नलने उन २ बातोंसे ही के कपट अर्थात् धूर्तताको जान लिया) इसके बाद उस(कपटव्यवहार)के योग्य कहा; क्योंकि कुटिलोंमें सरलता रखना नीति नहीं है। ['शठे शाठ्यं समाचरेत्' (शठमें शठता करनी चाहिए)' नीतिके अनुसार नल भी कपटी इन्द्रसे उपयुक्त वचन ले—]॥ १०३॥

७ सेयमुच्चतरता दुरितानामन्यजन्मनि मयैव कृतानाम्।
युष्मदीयमपि या महिमानं जेतुमिच्छति कथापथपारम् ॥ १०४ ॥

सेयमिति। सेयमन्यजन्मनि जन्मान्तरे, मयैव कृतानां दुरितानामुच्च महत्ता। तया किमपराद्धं, तदाह—या पापमहत्ता कथापथस्य वाग्वृत्तेः, पारं दू वाच्यमित्यर्थः। युष्मदीयमपि महिमानं प्रभावमाज्ञारूपं जेतुमुल्लङ्घितुमिच्छ पापातिरेकाद्युष्मदाज्ञोल्लङ्घनेच्छा मे जायते इति विनयोक्तिः। सर्वथा युष्मद्वि न क्रियत इति परमार्थः ॥ १०४ ॥

दूसरे जन्ममें मेरे ही (पूर्वजोंके नहीं) द्वारा किये गये पापोंकी यह अधिकता है, (मेरे जन्मान्तरीय पापोंकी अधिकता) अत्यधिक एवं सर्वपूजित होनेसे (पक्षान्तरमें अतिनिन्दनीय होनेसे) कहनेमें भी अशक्य आपलोगोंकी महिमा (पक्षान्तरमें— पूर्ण दमयन्तीकी प्राप्ति करनेके अभिमान) को जीतना चाहती है। [आप जैसे दिक्पालों एवं देवेन्द्रकी आज्ञाके पालनका सुअवसर यद्यपि बड़े भाग्यसे मनुष्यों होता है, किन्तु मैं पूर्वजन्मकृत अपने ही पापाधिक्यके कारण उसका पालन नहीं कर हूँ। पक्षान्तरमें—यह मेरा पूर्वजन्मकृत पापाधिक्य है कि आप जैसे श्रेष्ठ दिक्पाल देवराज इन्द्रतक भी ऐसे कपटपूर्ण बातोंको कह रहे हैं, अतः उन्हें समझ जानेके उनका पालन नहीं करूँगा, एवं दमयन्तीको पानेका जो उत्साहपूर्ण अभिमान आप है, उसे मैं नष्ट करूँगा। पहले (श्लो० ९५) नलने देवोंको याचनारूप सत्फल प्राप्त अपने पूर्वजोंके तपको कारण बतलाया, और यहाँ उसके सर्वथा विपरीत देवोंकी मानना रूप असत्कार्यमें अपने ही पूर्वजन्मकृत पापोंको कारण बतलाया, इससे नल विवेक सूचित होता है] ॥ १०४ ॥

वित्त चित्तमखिलस्य न कुर्यां धुर्यकार्यपरिपन्थि तु मौनम्।
ह्रीगिरास्तु वरमस्तु पुनर्मा स्वीकृतैव परवागपरास्ता ॥ १०५ ॥

ननु कुटिलोक्तेर्वरं मौनमत आह—वित्तेति। हे देवाः, अखिलस्य जनस्य, वित्त विदित्वा ब्रूतेत्यर्थः। तर्हि, कीदृक् चित्तं तदाह—धुर्येति। धुर्यस्य इष्टसा मर्थस्य, कार्यस्योपायप्रयोगस्य, परिपन्थि विरोधि, मौनं तु न कुर्याम्। किन्तु परिहारोक्त्या ह्रीरस्तु। वरम्, कार्यविरोधिनो मौनाल्लज्जावहमपि परिहारव साध्वित्यर्थः। तर्हि मौनादेव परिहारे किं प्रतिषेधरौक्ष्येण तत्राह—परेति। वाक् प्रार्थनोक्तिरपरास्ता अप्रतिषिद्धा सती, स्वीकृतैव पुनः। अप्रतिषिद्धम मिति न्यायादङ्गीकृतैव तु मास्तु ॥ १०५ ॥

(यद्यपि आपलोग) सबके मन (मनोगत भाव) को जानते हैं, (तथापि मैं) लषित या श्रेष्ठ कार्य (दमयन्तीकी प्राप्तिरूप) का बाधक मौन-धारण नहीं

रे निषेध) वचनसे लज्जा भले ही हो, (किन्तु) निषेध नहीं किया गया दूसरों अन्य लोगों) का वचन स्वीकृत न होने पाये । [यदि मैं निषेध नहीं करूँगा, तब 'मौनं स्वीकार-लक्षणम्' सिद्धान्तके अनुसार आपलोगोंके कहे हुए दमयन्तीके पास जाकर दूतकार्य करनेका वचन स्वीकृत समझा जायगा, अतः निषेध करना मेरे लिए लज्जाजनक भले हो, किन्तु दमयन्तीकी प्राप्तिमें बाधक मौन-धारण नहीं करूँगा] ॥ १०५ ॥

यन्मतौ विमलदर्पणिकायां सम्मुखस्थमखिलं खलु तत्त्वम् ।
तेऽपि किं वितरथेदृशमाज्ञां या न यस्य सदृशी वितरीतुम् ॥ १०६ ॥

तत्र तावत्तानुपालभते—यदिति । येषां वो मतावेव विमलदर्पणिकायां निर्मलदर्पणे, अखिलं तत्त्वं वस्तु सम्मुखस्थं प्रत्यक्षं खलु । ते सर्वज्ञा अपि यूयमीदृशमु- कारम् । 'त्यदादिषु—'इत्यादिना दृशेः कञ्प्रत्ययः । आज्ञां किं वितरथ दत्त । रणत आह—येति । या यस्य मे वितरीतुं दातुं, सदृशी योग्या न । तस्माद्यूयं पालभ्या इत्यर्थः ॥ १०६ ॥

निर्मल दर्पणरूप, जिन आपलोगोंकी बुद्धिमें सम्पूर्ण तत्त्व (कर्तव्य तथा अकर्तव्य कार्य) हैं, वे आपलोग, जिसे जो आज्ञा देना ठीक नहीं है, उसे (मुझे) वह आज्ञा क्यों हैं ? [सुन्दर, युवा तथा दमयन्तीका कामुक मेरे लिए दमयन्तीके पास आपलोगोंका -कर्म करनेकी आज्ञाका पालन करना अयोग्य होनेपर भी उक्त आज्ञा आपलोग क्यों दे रहे हैं ? यह आज्ञा मुझे देना आपलोगोंको उचित नहीं है] ॥ १०६ ॥

यामि यामिह वरीतुमहो तद्दूततां तु करवाणि कथं वः ।
ईदृशां न महतां बत जाता वञ्चने मम तृणस्य घृणापि ॥ १०७ ॥

अथाष्टभिरयोग्यतामेवाह—यामीत्यादि । इहास्मिन् समये, यां भैमीं वरीतुम् । वा' इति दीर्घः । यामि गच्छामि । तद्दूततां तु तस्यामेव विषये दूत्यं तु वः करवाणि । अहो ईदृशां महतां वः । तृणस्य तृणकल्पस्य, मम वञ्चने प्रता- घृणा कृपा जुगुप्सा वापि, न जाता । बतेति खेदे ॥ १०७ ॥

जिस दमयन्तीका वरण करनेके लिए मैं जा रहा हूँ, वह मैं उस दमयन्ती का -कर्म कैसे करूँगा ? अर्थात् कभी नहीं करूँगा, अहो (आपलोगोंका ऐसा कहना आश्चर्य)। ऐसे (सर्वज्ञ एवं दिक्पाल होनेसे विश्वपूज्य) बड़े आपलोगोंको तृण (रूप मुझ नल) ठगनेमें दया (या घृणा) नहीं हुई ? खेद ! । [बड़े लोगोंको पहले तो उचित है कि किसीको ठगनेका विचार ही न करें, यदि करें भी तो उन्हें बड़े लोगोंको ही ठगना चाहिए। मनुष्य होनेसे देवताओंकी अपेक्षा अत्यन्त तुच्छ मुझे ठगनेमें तो आप जैसे देवताओंको दया होनी चाहिए 'ऐसा तुच्छ काम मैं क्यों करूं' इस विषयमें घृणा होनी चाहिए। अथवा—कपटका उत्तर कपटसे ही नल दे रहे हैं कि—बड़े लोगोंके समुदायमें

ऐसे (दूसरोंको ठगनेवाले) आपलोगोंकी पूजा करनेमें तृणवत् तुच्छ मुझे घृणा आती ? अर्थात् अवश्य आती है (ऐसे निन्दित कर्म करनेवाले आपलोगोंकी साथमें पूजा करनेमें जब मुझ-जैसे तुच्छ मनुष्यको भी घृणा हो रही है तो बड़े आपलोगोंकी पूजा कैसे करेंगे ? अर्थात् कदापि नहीं करेंगे)। अथवा—ऐसे अत एव असाधु आपलोगोंकी पूजा तृणकी जाति (तुच्छोंके बीच) में भी करते घृणा होती है । आपलोग तृणके समान भी पूज्य नहीं है अर्थात् दूसरेको ठगनेके अमहान् (तुच्छ) आपलोगोंसे तृण अधिक पूज्य है, परन्तु आपलोग नहीं]॥ १०७॥

उद्भ्रमामि विरहान्मुहुरस्या मोहमेमि च मुहूर्तमहं यः ।
ब्रूत वः प्रभवितास्मि रहस्यं रक्षितुं स कथमीदृगवस्थः ॥ १०८॥

उद्भ्रमामीति । किञ्च, योऽहमस्या भैम्याः विरहान्मुहुरुद्भ्रमामि उन्मा मुहूर्तमीषत्कालं, मोहं मूर्च्छां च एमि प्राप्नोमि । ईदृगवस्थः सोऽहं, वो युष्माकं, रक्षितुं गोप्तुं, कथं प्रभवितास्मि प्रभविष्यामि, न शक्ष्यामीत्यर्थः । ब्रूत । ब्रुवो

जो (मैं) इस (दमयन्ती) के विरहसे उन्मादयुक्त अर्थात् पागल और दो घड़ी मूर्च्छित हो जाता हूँ, ऐसी अवस्थावाला मैं आपलोगोंके गुप्त सन्देशको छिपानेके कैसे समर्थ होऊँगा ? कहिये । [जैसे कोई पागल व्यक्ति किसीकी गुप्त बातको भी समक्ष प्रकाशित कर देता है तथा मूर्च्छित व्यक्ति किसी आवश्यक बातको भी नहीं रहनेसे भूल जाता है; वैसे ही मैं भी आपलोगोंका रहस्य (दमयन्तीको वरण की इच्छा) को नहीं छिपा सकूँगा या भूल जाऊँगा, अतः मुझे दूत बनाकर वहाँ आपलोगोंका कार्य सिद्ध होना तो दूर रहा, पहले ही सबको विदित होनेसे बिगड़ जाय

यां मनोरथमयीं हृदि कृत्वा यः श्वसिम्यथ कथं स तदग्रे ।
भावगुप्तिमवलम्बितुमीशे दुर्जया हि विषया विदुषापि ॥ १०९॥

यामिति । योऽहं मनोरथमयीं सङ्कल्परूपां, यां भैमीं, हृदि कृत्वा प्राणिमि । अथ सोऽहं तदग्रे तस्याः भैम्याः पुरः, भावगुप्तिं कामविकारगोपन लम्बितुं, कथमीशे शक्नोमि । तथाहि । विदुषा विवेकिनापि विषया दुर्जया इत्यर्थान्तरन्यासः ॥ १०९ ॥

जो (मैं) सङ्कल्परूप जिस दमयन्तीको हृदयमें करके जीता हूँ, वह मैं उस यन्तीके आगे (अपने रोमाञ्च, स्वेद, स्तम्भ, स्वरभङ्ग, शरीरकम्पन, विवर्णता रोदनरूप सात्त्विक) भावोंको कैसे छिपा सकूँगा ? अर्थात् कदापि नहीं छिपा क्योंकि विद्वान् भी विषयोंको दुःखसे जीतते हैं । [अत एव मैं आपलोगोंका कार्य योग्य कदापि नहीं हूँ] ॥ १०९ ॥

यामिकाननुपमृद्य च मादृक् तां निरीक्षितुमपि क्षमते कः।
रक्षिलक्षजयचण्डचरित्रे पुंसि विश्वसिति कुत्र कुमारी॥ ११०॥

यामिकानिति। किञ्चेति चार्थः। मादृक् मद्विधः, क्षत्रिय इत्यर्थः। कः यामान्-
क्षन्तीति यामिकाः प्रहररक्षकाः 'रक्षती'ति ठक्।ताननुपमृद्य अहत्वा। तां भैमीं,
रीक्षितुमपि क्षमते। किं पुनराभाषितुमिति भावः। तथैव क्रियतां तत्राह—
क्षीति। रक्षिणां लक्षाणि तेषां जयेन मर्दनेन चण्डचरित्रे क्रूरकर्मणि, पुंसि कुमारी
न्या, कुत्र विश्वसिति, न कुत्रापीत्यर्थः। क्वोद्वाहप्रसङ्गः। क्व चान्तःपुरमर्दनमिति
वः॥ ११०॥

मेरे-जैसा (सुन्दर या क्षत्रिय) कौन पुरुष, पहरेदारोंको विना मारे (अन्तःपुरमें रहनेवाली) उस (दमयन्ती) को देख भी सकेगा? (विना पहरेदारोंको मारे सुरक्षित अन्तःपुरमें रहनेवाली दमयन्तीको देखना भी असम्भव है, उससे बात करनेकी कौन कहे!)। लाखों पहरेदारों या रक्षक पुरुषोंको जीतनेसे प्रचण्ड आचरणवाले पुरुषमें कुमारी (कोमल हृदयवाली दमयन्ती) विश्वास कैसे करेगी? अर्थात् कदापि ऐसे दारुण पुरुषमें विश्वास नहीं करेगी। [अथवा—……आचरणवाले किस पुरुषमें कुमारी दमयन्ती विश्वास करेगी? अर्थात् किसी भी पुरुषमें विश्वास नहीं करेगी, अतः मुझसे दूत-कर्म कराना आपलोगोंकी स्वार्थहानि करनेवाला है]॥ ११०॥

आदधीचि किल दातृकृतार्घं प्राणमात्रपणसीम यशो यत्।
आददे कथमहं प्रियया तत्प्राणतः शतगुणेन पणेन॥ १११॥

आदधीचीति। प्राणमात्रं जीवितमेव, पणसीमा मूल्यावधिर्यस्मिन् कर्मणि
यथा तथा। 'पणो मूल्ये ग्लहे माने' इति वैजयन्ती। आदधीचि दधीचिमारभ्य
भिविधावव्ययीभावः। किलेति प्रसिद्धौ। दातृभिर्वदान्यैः कृतार्घं निश्चितमूल्यम्।
'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः। यद्यशः तद्यशः प्राणतो जीवाच्छतगुणेन प्रिययैव,
तेन मूल्येन, अहं कथमाददे स्वीकरिष्यामि। हीनक्रयस्य परावर्त्यत्वादिति भावः।
अत्र परिवृत्तिरलङ्कारः। 'समन्यूनाधिकानाञ्च यथा विनिमयो भवेत्। साकं समाधि-
न्यूनैः परिवृत्तिरसौ मता॥' इति लक्षणात्। तत्र प्राणैर्यशसो न्यूनपरिवृत्तिः, हीन-
मूल्यत्वात्। प्रियया यशसोऽधिकपरिवृत्तिरधिकमूल्यत्वादिति भावः॥ १११॥

दधीचितक दाताओंने जिस यशका मूल्य—प्राणमात्र-दानस्वरूप सीमा निश्चित की है, उस यशको मैं प्राणोंसे चौगुने मूल्यसे अर्थात् दमयन्तीके दान करनेसे क्यों लूँ?। [दधीचितक दातालोगोंने भी अधिकसे अधिक अपना प्राण दान करके जो महादानी होनेका यश पाया है, वैसे प्राणोंसे सैकड़ोंगुनी प्रिय दमयन्तीको (उसके यहाँ आपके दूतकर्मद्वारा) देकर नहीं लेना चाहता। कोई भी चतुर व्यक्ति किसी वस्तुको उसके नियत मूल्यसे सौगुना

मूल्य देकर उसे कदापि नहीं लेता है। अतः मैं आपका दूत-कर्म नहीं करूंगा। याचक होकर आपने ब्राह्मण दधीचिके भी प्राण ले लिये अर्थात् ब्रह्महत्या करनेमें भी सङ्कोच नहीं किया, तब मुझ क्षत्रियकी बात ही क्या है ?] ॥ १११ ॥

अर्थना मयि भवद्भिरिवास्यै कर्तुमर्हति मयापि भवत्सु ।
भीमजार्थपरयाचनचाटौ यूयमेव गुरवः करणीयाः ॥ ११२॥

अर्थनेति । अस्यै दमयन्त्यै । तादर्थ्ये चतुर्थी । मयि विषये, भवद्भिरिव मया भवत्सु विषये अर्थना प्रार्थना कर्तुमर्हति कर्तव्येत्यर्थः । अथ कथं कामुकमुखा मिनीलिप्सेति चेद्यथा भवता तथेत्याह—भीमजेति । भीमजार्था या परयाचनचा परप्रार्थनारूपा प्रियोक्तिस्तस्यां यूयमेव गुरवः उपदेष्टारः करणीयाः । करोमि भावः ॥ ११२ ॥

इस दमयन्तीके लिए जिस प्रकार आपलोगोंने मुझसे याचना की है, उसी मैं आपलोगोंसे याजना करता हूँ । भीमकुमारी (दमयन्ती) के लिए दूसरेसे याचना दीन वचन कहनेमें (दीन वचन कहकर दमयन्तीकी याचना करनेमें) आपलोग ही बनानेके योग्य हैं । [यदि आपलोग देवता होकर भी मुझ-जैसे एक सामान्य मनुष्य दमयन्तीके लिए याचना करते हैं, तब मैं एक साधारण मानव होकर दिक्पाल एवं दे पति होनेके कारण श्रेष्ठ आपलोगोंसे ही दमयन्तीकी याचना करता हूँ, क्योंकि नीति कहती है—'महाजनो येन गतः स पन्थाः'] ॥ ११२ ॥

अर्थिता प्रथमतो दमयन्तीं यूयमन्वहमुपास्य मया यत् ।
ह्रीर्न चेद्व्यतियतामपि तद्वः सा ममापि सुतरां न तदस्तु ॥ ११

अथ प्रथमप्रार्थकत्वाभिमानः, तर्हि स्वयमेव प्रथम इत्याह—अर्थिता इ मया अन्वहमनुदिनम् । 'अनश्च' इत्यव्ययीभावः, समासान्तष्टच् । यूयमु प्रथमतो दमयन्तीमर्थिताः । अर्थयतेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः । इति यत् त प्रथमप्रार्थनं व्यतियतां व्यतिक्रमतामपि । इणो लटः शत्रादेशः । वः ह्रीर्न चे सा ह्रीर्ममापि सुतरां नास्तु मा भूत् ॥ ११३ ॥

(यदि आपलोग यह कहें कि हमने दूत-कर्मके लिए पहले याचना की है, यह भी नहीं, क्योंकि) पहले प्रतिदिन पूजा करके आपलोगोंसे मैंने दमयन्तीकी याचना की है, (दमयन्तीके लिए मेरी याचना) का उल्लङ्घन करनेवाले आपलोगोंको यदि लज्जा न है तो वह (लज्जा) मुझे भी स्वतः नहीं हो । [यदि आप-जैसे महान् दिक्पालोंको मेरी याचनाको पूर्ण न करनेमें लज्जा नहीं आती है तो भक्त होनेके कारण आपलो छोटे मुझको भी लज्जा आना उचित नहीं, क्योंकि गीतामें भी भगवान् कृष्णने कहा है 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः'] ॥ ११३ ॥

कुण्डिनेन्द्रसुतया किल पूर्वं मां वरीतुमुररीकृतमास्ते।
व्रीडमेष्यति परं मयि दृष्टे स्वीकरिष्यति न सा खलु युष्मान् ॥११४॥

कुण्डिनेति। कुण्डिनेन्द्रसुतया दमयन्त्या। 'न लोक–' इत्यादिना निष्ठायोगे तिषेधात् कर्तरि तृतीया। पूर्वमेव मां वरीतुमुररीकृतमङ्गीकृतमास्ते। तथा नमङ्गीकृतं किलेत्यर्थः। किलेति वार्तायाम्। कर्मणि क्तः। अङ्गीकारस्य कथ-द्धार्थत्वमङ्गीकृत्य, 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' इति तुमुन्प्रत्ययः। ततो मयि दृष्टे व्रीडमेष्यति। एवं च सा युष्मान्न स्वीकरिष्यति खलु ॥ ११४ ॥

कुण्डिनपुराधीशकी कन्या दमयन्तीने पहलेसे ही मुझे वरण कर लिया है, ऐसा है। (अतः सहसा) मुझे देखनेपर वह (सात्त्विक भावोंके उदय होनेसे) लज्जित गी और निश्चय है कि आपलोगोंको वरण नहीं करेगी। [जब दमयन्तीने पहलेसे झे वरण कर लिया है, तब मेरा साक्षात्कार होनेपर आपलोगोंको वरण करना तो दूर आपलोगोंके वरण करनेके प्रस्तावको भी नहीं सुनना चाहेगी, अतः उसके लिए लोगोंको इच्छा करना व्यर्थ ही है] ॥ ११४ ॥

तत्प्रसीदत विधत्त न खेदं दूत्यमत्यसदृशं हि ममेदम्।
हास्यतैव सुलभा न तु साध्यं तद्विधित्सुभिरनौपयिकेन ॥ ११५ ॥

दिति। तत्तस्मात्, प्रसीदत प्रसन्नाः स्थ, खेदं क्लेशं, न विधत्त न कुरुत। दं दूत्यमत्यसदृशमत्यन्तायोग्यं, हि। कुतः? अनौपयिकेन अनुपायेन, उपायं र्थः। 'उपायाद्ध्रस्वत्वञ्च' इति स्वार्थे ठक् ह्रस्वत्वं च। तद्दूत्यं विधित्सुभि-भिर्हास्यतैव सुलभा, साध्यं प्रयोजनन्तु न सुलभम्। अनुचितकर्मारम्भोऽ-भवेन्न फलायेत्यर्थः ॥ ११५ ॥

स कारण आपलोग (मेरे ऊपर) प्रसन्न होवें, ('इस नल ने हमारा दूत-कर्म नहीं स कारण अपने मनमें) खेद न करें। क्योंकि यह (दूत-कर्म) मेरे लिए अत्यन्त चित है। अनुचित उस (दूत-कर्मरूपी कार्य) को करनेकी इच्छा करनेवाले आप का (वन-समाजमें) उपहास ही सुलभ होगा (दमयन्तीकी प्राप्तिरूप), कार्य नहीं होगा ॥ ११५ ॥

ईदृशानि गदितानि तदानीमाकलय्य स नलस्य बलारिः।
शंसति स्म किमपि स्मयमानः स्वानुगाननविलोकनलोलः ॥ ११६ ॥

ईदृशानीति। स बलारिः इन्द्रः, तदानीं नलस्येदृशानि गदितानि वाक्यानि, आकलय्य आकर्ण्य। स्मयमानो मन्दं हसन्। स्वानुगानां यमादीनाम्, आनन-

विलोकने लोलो लोलुपस्सन् । स्ववाक्यानुमोदनार्थमिति भावः । किमपि
क्यं शंसति स्म शशंस ॥ ११६ ॥

उस समय नलके ऐसे (श्लो० १०४–११५) कथनोंको सुनकर अपने
(यमादि तीनों दिक्पालों) का मुख देखते हुए (देखिये, यह नल मनुष्य होकर
पहले हमलोगोंकी याचना स्वीकार करके भी अब उसे पूरी नहीं कर रहा है,
आपलोगोंकी इस विषयमें क्या इच्छा है ?, अथवा—यह नल इतना चतुरतासे बोल
इस अभिप्रायसे अपने साथियोंका मुख देखते हुए) तथा कुछ मुस्कुराते हुए
(अथवा मुस्कुराते हुए कुछ बोले)— ॥ ११६ ॥

नाभ्यधायि नृपते ! भवतेदं रोहिणीरमणवंशभवेन ।
लज्जते न रसना तव वाम्यादर्थिषु स्वयमुरीकृतकाम्या ॥ ११७॥

नेति । हे नृपते ! भवता इदम् । सेयमुच्चतरेत्यादि प्रतिषेधवाक्यम् ।
मणवंशभवेन सोमवंश्येनेव नाभ्यधायि । किंत्वसोमवंश्येनेवाभिहित
प्रतिश्रुतपरित्यागादिति भावः । कुतः, अर्थिषु विषये स्वयमुरीकृतकाम्या
मनोरथपूरणा तव रसना, वाम्यात् प्रातिकूल्यान्न लज्जते । ततो न सोम
प्रतिभासीत्यर्थः ॥ ११७ ॥

"हे राजन् ! चन्द्रवंशोत्पन्न आपने यह (श्लो० १०४–११४) नहीं कहा !
अवश्य कहा । स्वयं (हमलोगोंकी) कामना अर्थात् याचनाको स्वीकार करनेवाली
जिह्वा आपके (हमलोगों) से प्रतिकूल होने (पहले स्वीकार करं फिर बदल
नहीं लज्जित होती ? अर्थात् उसे अवश्य ही लज्जित होना चाहिए। [चन्द्रवंशोत्प
किसीकी याचनाको अस्वीकार नहीं करता और उसे स्वीकार कर यथावत्
करता है, आपने तो मानो 'आप चन्द्रवंशोत्पन्न ही नहीं हैं' ऐसी बात कही।
रोहिणीरमण अर्थात् बैलके वंशमें उत्पन्न (पशु) आपने यह नहीं कहा ?
स्वीकारकर अब जो अस्वीकार कर रहे हैं, यह पशुके समान कार्य है, पशु भी
हुए घास आदिको फिर जुगाली करनेके लिए पेटसे बाहर वमन करता (निकालता)
लज्जित नहीं होता, वैसे ही आप कर रहे हैं । अथवा—रोहिणीरमण (मद्य पीनेवाले
राम) के वंशमें उत्पन्न आपने यह नहीं कहा ? ठीक है जो मद्य पीनेवालेके
व्यक्ति है, पहले यह किसी बातको स्वीकार कर बादमें अस्वीकार करनेमें लज्जित
अतः शुद्ध चन्द्रवंशोत्पन्न आपको ऐसा करना उचित नहीं है] ॥ ११७ ॥

भङ्गुरञ्च वितथं न कथं वा जीवलोकमवलोकयसीमम् ।
येन धर्मयशसी परिहातुं धीरहो चलति धीर ! तवापि ॥ ११८॥

भङ्गुरमिति । हे धीर विद्वन् ! इमं जीवलोकं प्राणिजातम् । भङ्गुरं

समिदो घुरच्'। वितथं दुःखमयत्वाद्विफलञ्च। कथं वा नावलोकयसि न सि, न जानासीत्यर्थः। येनाज्ञानेन तवापि धीर्धर्मयशसी। अभंगुरावितथे ति भावः। परिहातुं चलति। अहो अस्थिरविषयलौल्यात् स्थिरसुकृतपरित्यागो सामनुचित इत्यर्थः ॥ ११८ ॥

हे वीर नल ! तुम इस प्राणि-समूहको विनाशशील (स्वप्नके समान) निष्फल क्यों देखते हो? जिससे धर्म और यश (दोनों) को छोड़नेके लिए तुम्हारी बुद्धि चलायमान हो रही है, अहो ! आश्चर्य है। [संसारको विनश्वर एवं स्वप्नके समान असत्य देखनेवाले आपको, धर्म तथा यश दोनोंको तिलाञ्जलि देनेका विचार करना कदापि शोभा देता। अतः आपको हमारा दूत-कर्म अवश्य करना चाहिए] ॥ ११८ ॥

कः कुलेऽजनि जगन्मुकुटे वः प्रार्थकेप्सितमपूरि न येन।
इन्दुरादिरजनिष्ट कलङ्की कष्टमत्र स भवानपि मा भूत् ॥ ११९ ॥

इति। जगन्मुकुटे जगद्भूषणे, वः कुले प्रार्थकेप्सितमर्थिमनोरथः येन नापूरि तम्। स कोऽजनि जातः, न कोऽपीत्यर्थः। 'दीपजन—' इत्यादिना कर्तरि चिण्। आदिर्युष्माकं कूटस्थ इन्दुः कलङ्की अजनिष्ट जातः। कष्ट! अत्र लोके पि सकलङ्को मा भूत्। अपकीर्तिं मा कुरुष्वेत्यर्थः ॥ ११९ ॥

आपके, संसारमें मुकुटरूप वंशमें कौन पैदा हुआ, जिसने याचककी अभिलाषा पूरी [illegible] थी ! अर्थात् सभीने याचकोंकी अभिलाषा पूरी की है। सर्वप्रथम चन्द्र ही कलङ्की (कलङ्क-पक्षा०—मृगचिह्नित) हुआ, कष्ट है ! अब आप भी वह (कलङ्कयुक्त) न होइये। [आप-के कार्यसे कुलमें कलङ्क न लगे, ऐसा काम कीजिये। अथवा—आपके कुलमें आदि अर्थात् केवल चन्द्रमा ही कलङ्की हुआ दूसरा नहीं, अतः आप हमलोगोंकी याचनाको स्वीकारकर कलङ्की मत बनिये। अथवा—जब आपके कुलका आदि पुरुष ही कलङ्की है, आपको भी हमारी याचनाको पहले स्वीकार करनेके बाद फिर अस्वीकार करनेसे कलङ्की बनना आश्चर्य नहीं है ॥ आप हमारी याचनाको अस्वीकृत न करें] ॥ ११९ ॥

यापदृष्टिरपि या मुखमुद्रा याचमानमनु या च न तुष्टिः।
त्वादृशस्य सकलः स कलङ्कः शीतभासि शशकः परमङ्कः ॥ १२० ॥

थ विचार्यमाणे त्वमेव कलङ्की न शशाङ्क इत्याह—येति। त्वादृशस्य याचमानमनु अर्थिनं प्रति, याप्यपदृष्टिर्विकृतदर्शनं, या च मुखमुद्रा मौनं, या न तुष्टि-रसन्तोषश्च, स सकलो विकारः कलङ्कः। शीतभासि चन्द्रे, शशकः परं केवलमङ्कः सादिवत् चिह्नं, न तु कलङ्क इत्यर्थः ॥ १२० ॥

याचकको देखकर जो दुर्दृष्टि (बुरी निगाहसे देखना), जो मौन और जो सन्तोषाभाव है; तुम्हारे-जैसे (धर्मात्मा एवं धैर्यशाली पुण्यश्लोक) व्यक्तिके लिए सम्पूर्ण कलङ्क है।

(वस्तुतः) चन्द्रमा (तुम्हारे वंशका आदि प्रवर्तक) में भी कोई कलङ्क नहीं है, (वह) केवल शशक (का चिह्न) है। [तुम्हारा वंशप्रवर्तक चन्द्रमा कलङ्की नहीं, याचकोंको देखकर जो तुम प्रसन्न दृष्टिसे नहीं देखते, याचना पूरा करनेके लिए करके भी फिर उसे पूरा नहीं करते और जो सन्तुष्ट नहीं होते; यह सब तुम्हारे-जैसे लिये कलङ्क है, अतः तुम्हें हमलोगोंके प्रति वैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए] ॥

नाक्षराणि पठता किमपाठि प्रस्मृतः किमथ वा पठितोऽपि ।
इत्थमर्थिजनसंशयदोलाखेलनं खलु चकार नकारः ॥

किञ्चेदमर्थिषु ते नास्तिवाद इत्याह—नेति । अक्षराणि पठता शैशवे मातृ राण्यभ्यस्यता भवता, नकारो निषेधवाची नशब्दो नापाठि किम् । अथवा, प ऽपि प्रस्मृतो विस्मृतः । इत्थमर्थिजनस्य संशय एव दोला तया खेलनं नकारश्चकार । अत्रार्थिनामीदृक्संशयासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति स चोक्तसंशयोत्थापित इति सङ्करः ॥ १२१ ॥

अक्षरों (वर्णमाला) को पढ़ते हुए तुमने 'न' अक्षरको नहीं पढ़ा क्या ? अथवा भी भूल गये । इस प्रकार 'न' कारने याचक लोगोंके सन्देहरूपी झूलेकी क्रीडा कर [झूलेमें दोनों ओर दो रस्सियाँ रहती हैं, पर 'यहाँ आपने 'न' अक्षरको नहीं पढ़कर उसे भूल गये ?' ये दो संदेह ही दो रस्सियाँ हैं, उस प्रकारके झूलेपर मानो क्रीडा कर रहा है ॥ आपने अब तक किसीको याचना करनेपर 'नहीं' नहीं अतः अब भी हमलोगोंको 'नहीं' मत कीजिये]' ॥ १२१ ॥

अब्रवीत्तमनलः क्व नलेदं लब्धमुज्झसि यशः शशिकल्पम् ।
कल्पवृक्षपतिमर्थिनमेनं नाप कोऽपि शतमन्युमिहान्यः ॥

अब्रवीदिति । अथानलोऽग्निस्तं नलमब्रवीत् । हे नल ! इदं वक्ष्यमाणं, हस्तप्राप्तं, शशिकल्पं चन्द्रप्रतिमं, यशः, क्वोज्झसि कुत्र त्यजसि । किं तद्यश इह लोके, अन्यस्त्वद्व्यतिरिक्तः, कोऽपि कल्पवृक्षपतिमनन्यार्थिनमित्यर्थः । शतमन्युमिन्द्रं, अर्थिनं नाप । तदेतद्धस्तगतमिन्द्रयाच्यत्वयशो वृथा मा त्यर्थः ॥ १२२ ॥

अग्नि उस नलसे बोले—'हे नल ! चन्द्रमाके समान (अत्यन्त निर्मल) यशको कहाँ छोड़ रहे हो ? इस लोकमें दूसरे किसीने (व्यक्तिने) भी कल्पवृक्षके स्वामी इन्द्रको याचक रूपमें नहीं पाया है। [यदि तुम इन्द्रकी याचना पूरी नहीं करोगे दूसरे किसीसे याचनाकर दमयन्तीके यहाँ दूत-कर्मके लिए भेजेंगे, इस अवस्थामें वृक्षका स्वामी अर्थात् कल्पनामात्रसे दूसरेकी इच्छा पूर्ण करनेवालेका स्वामी यज्ञोंको करनेवाले, अतः सत्पात्र इन्द्र भी नलसे याचना किये थे' ऐसा निर्मल

यो तुम्हें प्राप्त हो रहा है, वह दूसरेको प्राप्त हो जायेगा; अतः ऐसा (मिलते हुए उत्तम त्याग) करना तुम्हें उचित नहीं। और कदाचित् ये इन्द्र कल्पवृक्षसे ही दमयन्तीको तो वह अपनी दानशीलतावश तथा अपना स्वामी होनेके कारण इनके लिए दमयन्तीको दे देगा, इस अवस्थामें तुम्हें दमयन्ती नहीं मिल सकेगी, इस प्रकार तुम उक्त यशो- तथा दमयन्तीलाभ दोनोंसे हाथ धो बैठोगे । इस कारण भी तुम्हें इनकी याचना पूरी चाहिए। और भी–यदि तुम इनकी याचना पूरी नहीं करोगे, तब शतमन्यु अर्थात् क्रोधवाले होनेसे ये तुम्हें शाप भी दे देंगे, इस कारण भी इनकी याचना तुम्हें पूरी चाहिए। यहाँ अग्नि भी इन्द्रके साथ कपटपूर्ण व्यवहार कर नलसे कहते हैं कि— इन्द्र कल्पवृक्षके पति हैं अर्थात् कल्पवृक्षसे भी अपना काम पूरा करा सकते हैं तथा क्रोध करनेवाले हैं, अतः महाक्रोधी होनेसे अपात्र हैं, अतः जिसकी याचना दूसरे पूरी कर सकें तथा महाक्रोधी होनेसे जो अपात्र है, उसको दान न देकर जिसको कोई ता नहीं तथा जो सत्पात्र है, उसको अर्थात् मुझे दान देना चाहिए अर्थात् आप मेरा करें] ॥ १२२ ॥

न व्यहन्यत कदापि मुदं यः स्वःसदामुपनयन्नभिलाषः ।
तत्पदे त्वदभिषेककृतां नः स त्यजत्वसमतामदमद्य ॥ १२३ ॥

वेति । स्वःसदः स्वर्वासिनः । 'सत्सूद्विष–' इत्यादिना क्विप् । तेषां नः सम्बन्धी भिलाषो मनोरथो मुदमुपनयन् स्वसिद्ध्या सन्तोषमावहन्, कदापि न व्यहन्यत हतः । अद्य, तत्पदे तद्व्यवसिते, तत्सम्पादकाधिकार इत्यर्थः । 'पदं व्यवसित- स्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । त्वदभिषेककृतां त्वां स्थापयतां, नः सम्बन्धी भिलाषः । असमता असाधारण्यं, स्वसिद्धावनन्यापेक्षत्वमिति यावत् । तन्मदं तु । अद्य प्रभृति स्वार्थसाधने स्वयमेव समर्थाः सुरा इत्यहङ्कारं मुञ्चाम र्थः ॥ १२३ ॥

स्वर्गनिवासी हम लोगोंकी जो अभिलाषा कभी नष्ट नहीं हुई, उसके स्थानपर आपको भिषिक्त करते हुए हमलोगों की वह अभिलाषा आज असमानता (मेरे समान कोई नहीं है) के अभिमानको छोड़ दे । [हमलोगोंकी अभिलाषा आजतक यह 'समझती थी कि मैं पूरी होकर स्वर्ग–निवासी देवताको हर्षित करती हूँ, अत एव मेरे समान कोई नहीं है, उसको अभिमान हो गया, किन्तु आज आपसे याचना करनेके कारण उस अभिलाषा अपना उक्त अभिमान छोड़ देना चाहिए॥ आप हमलोगोंकी अभिलाषा पूरी करें]' १२३ ॥

अब्रवीदथ यमस्तमहृष्टं वीरसेनकुलदीप ! तमस्त्वाम् ।
यत्किमप्यभिबुभूषति तत्किं चन्द्रवंशवसतेः सदृशं ते ॥ १२४ ॥

अब्रवीदिति । अथ यमः अहृष्टमसन्तुष्टं, तं नलमब्रवीत् । हे वीरसेनकुलदीप !

किमपि यत्तमो मोहोऽन्धकारश्च त्वामभिबुभूषति अभिभवितुमिच्छति । तच्च वसतिः स्थितिर्यस्य तस्य ते सदृशं किम् । न हि चान्द्रस्य तेजसस्तमसाभि युक्त इत्यर्थः ॥ १२४ ॥

इसके बाद (दमयन्तीकी प्राप्तिमें बाधा आ जानेसे) हर्षरहित उस नलसे यम बो 'हे वीरसेन वंशके दीपक नल ! तुमको जो कुछ (थोड़ा सा अतर्कनीय) तम (अ पक्षान्तरमें—अन्धकार) पराजित करना चाहता है, वह चन्द्रवंशमें रहनेवाले अर्थात् वंशोत्पन्न तुम्हारे लिए योग्य है क्या ? अर्थात् कदापि नहीं । [चन्द्रवंशी राजा लोग देकर भी याचकोंकी आशा पूरी करते थे, अतः तुम्हें भी हमलोगोंको निराश नहीं चाहिए। तथा—दीपकके पास एवं चन्द्रमामें रहनेवालेके पास अन्धकार होना उचित अतः तुम्हें भी अज्ञानमें न पड़कर हमलोगोंकी याचना पूरी करनी चाहिए। चन्द्रको तम अर्थात् राहुसे पराजित होनेके समान तुम्हारा ऐसा करना उचित ही है]

रोहणः किमपि यः कठिनानां कामधेनुरपि या पशुरेव ।
नैनयोरपि वृथा भवदर्थी हा विधित्सुरसि वत्स ! किमेतत् ॥ १

रोहण इति । यो रोहणो मणीनामाकरोऽद्रिः, सोऽपि कठिनानां मध्ये कठिनः । या कामधेनुः सापि पशुरेव । एनयोः पशुपाषाणयोरपि सम्ब 'द्वितीयाटौस्वेनः' इतीदंशब्दस्य एतच्छब्दस्य वा अन्वादेशविषये एनादे अर्थी वृथा विफली नाभवत् । हे वत्स, किमेतद्विधित्सुर्विधातुमिच्छुरसि । विषादे । हा कष्टं पशुपाषाणाभ्यामपि तुच्छवृत्तिरसीत्यर्थः ॥ १२५ ॥

जो कठिनों (पक्षान्तरमें—निष्ठुरों) में रोहण (रोहण नामक पर्वत, सुमेरु रत्नोंका उत्पत्तिस्थान वैदूर्य पर्वत) है, वह कुछ (अत्यन्त कठोर या अत्यन्त या अत्यन्त कृपण) है, तथा जो कामधेनु है, वह पशु (ज्ञानशून्य, पक्षान्तरमें-मूर्ख है । इन दोनोंके यहाँ भी कोई याचक निराश नहीं हुआ, तो हा ! हे वत्स ! तुम करना चाहते हो ? [अत्यन्त निष्ठुर तथा कृपण वैदूर्य या मेरु पर्वत और पशु कामधेनु भी यदि अर्थियोंको निराश नहीं करते तो अत्यन्त कोमल स्वभाववाले तथा तुमको ऐसा करनेकी (याचना पूरी न करनेकी) इच्छा करना उचित नहीं है, चूँकि बच्चे हो और बच्चेको सावधान कर देना बड़ोंका धर्म है; अतः हम तुम्हें सावधान रहे हैं', यह 'वत्स' शब्दसे ध्वनित होता है] ॥ १२५ ॥

याचितश्चिरयति क नु धीरः प्राणने क्षणमपि प्रतिभूः कः ।
शंसति द्विनयनी दृढनिद्रां द्राङ्निमेषमिषघूर्णनपूर्णा ॥१२६॥

याचित इति । क नु कुत्र, धीरः सुधीर्याचितः सन् चिरयति विलम्बते । कुत्रापि विलम्बत इत्यर्थः । कुतः, क्षणमपि प्राणने जीवने, प्रतिभूर्लग्नकः

त्यर्थः । द्राङ्निमेषमिषेण शीघ्रपक्ष्मपातव्याजेन, घूर्णनेन कनीनिकाभ्रमणेन विवयनी नयनद्वन्द्वमेव, दृढनिद्रां मरणं, शंसति। नयनघूर्णनवत्क्षणिकं जीवनमित्यर्थः ॥ १२६ ॥

याचना करनेपर धीर दाता कहाँ विलम्ब करता है ? अर्थात् कहींपर कोई धीर दाता नहीं करता, किन्तु याचना करते ही तुरन्त दे देता है। क्षणमात्र भी जीनेमें कौन (जिम्मेदार) है ? अर्थात् किसी व्यक्तिके क्षणमात्र जीनेकी जिम्मेदारी कोई नहीं करता। शीघ्र निमेष (पलक गिरना) के व्याजसे घूरनेसे परिपूर्ण दोनों नेत्र महानिद्रा मरणको कह रहे हैं। [जितने समयमें निमेष होता है, उतने ही समयमें मरण हो है, अत एव बुद्धिमान्को विना विलम्ब किये याचककी अभिलाषा पूरी करनी ए]॥ १२६ ॥

अभ्रपुष्पमपि दित्सति शीतं सार्थिना विमुखता यदभाजि ।
स्तोककस्य खलु चञ्चुपुटेन ग्लानिरुल्लसति तद्घनसङ्घे ॥ १२७ ॥

अभ्रपुष्पमिति । शीतं शीतलमभ्रपुष्पमुदकम् । 'मेघपुष्पं घनरस' इत्यमरः । खपुष्पं, तद्वद्दुर्लभं वस्त्विति च गम्यते । दित्सति दातुमिच्छत्यपि । न तु परिददातीत्यर्थः, घनसङ्घे मेघवृन्दे, अर्थिना याचकेन, स्तोककस्य चातकस्य । 'अथ सारङ्गः स्तोककश्चातकः समौ' इत्यमरः । चञ्चुपुटेन सा प्रसिद्धा विमुखता । पक्षिमुखत्वं पराङ्मुखत्वञ्च । अभाजीति यत् । तत्तस्माद्वैमुख्यभजनात् । ग्लानिर्जलभरमलिनत्वं वैवर्ण्यं चोल्लसति स्फुरति । अत्रार्थिन एव वैमुख्ये दातुरियं ग्लानिः किमुत वैमुख्ये । तस्मात्तादृशस्य तवेदमर्थिवैमुख्यमनुचितमिति भावः ॥ १२७ ॥

चातकके याचक मुखमें (विलम्ब होनेसे) जो विमुखता (पक्षीके मुखका भाव) हुई, उस से ठंडा जल देनेवाले मेघ-समूहमें मलिनता दिखलाई पड़ती है। पक्षान्तरमें—अल्पके याचकने जो विमुखता (निराशता) धारण की, इस कारणसे दुर्लभ आकाश-पुष्प (वर्षा-जल) देनेकी इच्छा करते हुए मेघ-समूहमें कालिमा अर्थात् जन्मभरके लिए कलङ्क हो गया। [तुच्छ तिर्यक् योनिमें उत्पन्न चातकके याचना करनेपर थोड़ा विलम्बकर दुर्लभ आकाश-पुष्प (पक्षा०—ठंडा जल) देनेके इच्छुक मेघ-समूहमें भी जब कालिमारूप कलङ्क लगा, तब हमलोग-जैसे सत्पात्रोंको पहले देनेको कहकर फिर निराश करनेपर तुम्हें बड़ा कलङ्क लगेगा, अतः शीघ्र ही हमलोगोंकी याचना तुम्हें पूरी कर देनी चाहिए] ॥ १२७ ॥

ऊचिवानुचितमक्षरमेनं पाशपाणिरपि पाणिमुदस्य ।
कीर्तिरेव भवतां प्रियदारा दाननीरझरमौक्तिकहारा ॥ १२८ ॥

ऊचिवानिति । पाशपाणिर्वरुणोऽपि, पाणिमुदस्य उद्यम्य, एनं नलम्, उचितं युक्तम्, अक्षरं वाक्यम्, ऊचिवान् उक्तवान् । यदुक्तं तदाह—कीर्तिरिति । दाननीराणां झरः

दानजलप्रवाहः, स एव मौक्तिकहारो यस्यास्तथोक्ता कीर्तिरेव भवतां गु
प्रियदाराः प्रियकलत्रम् । 'पुं भूम्नि दाराः' इत्यमरः । एतेन भार्याया अपि
प्रियतमेति भावः । अतो दमयन्तीलोभान्न कीर्तिं जहीत्यर्थः । अत्र
लङ्कारः ॥ १२८ ॥

हाथमें पाश धारण करनेवाले अर्थात् वरुण भी हाथ उठाकर इस नलसे अ
कहे-'आप (-जैसे राजा, पाठान्तरमें—राजाओं) की दानमें दिये जानेवाले स
प्रवाहरूपी मुक्ताहारयुक्त कीर्त्ति ही प्रिय स्त्री है । [अतः तुम्हें दमयन्तीको वरण
अभिलाषा छोड़कर हमलोगोंका दूत-कर्म करके कीर्त्ति (-रूपा उत्तम स्त्री) से
करना चाहिए] ॥ १२८ ॥

चर्म वर्म किल यस्य नभेद्यं यस्य वज्रमयमस्थि च तौ चेत् ।
स्थायिनाविह न कर्णदधीची तन्न धर्ममवधीरय धीर ! ॥

चर्मेति । यस्य कर्णस्य चर्म त्वक् नभेद्यमभेद्यम् । नञर्थस्य न शब्दस्य
पा' इति समासः । वर्म कवचं किल । यस्य दधीचेरस्थि च वज्रमयं किल ।
प्रसिद्धौ । तौ महासत्त्वशालिनौ कर्णदधीची । इह जगति, स्थायिनौ न चेत् ।
हे धीर धीमन् ! धर्मं नावधीरय नावमन्यस्व । कर्णादीनामस्थिरत्वम् । तद्व
स्थैर्यं दृष्ट्वा त्वमपि तथैवाचरेत्यर्थः ॥ १२९ ॥

जिस (कर्ण) का चमड़ा अभेद्य कवच होगा तथा जिस (दधीचि) की अभे
वज्रमय थी, वे कर्ण तथा दधीचि इस संसारमें स्थिर नहीं (क्रमशः होंगे और इ
कारणसे हे धीर ! (बुद्धिमान् नल !) धर्मका त्याग मत करो । [द्वापर युगमें इ
राजा कर्ण अभेद्य कवच बनानेके लिए अपने शरीरका चमड़ा इन्द्रको दे देंगे, त
युगमें हुए महर्षि दधीचिने वृत्रासुरको मारनेके लिए इन्द्रके याचना करनेपर वज्र
लिये अपनी हड्डी दे दी थी, वे दोनों (कर्ण तथा दधीचि) इस संसारमें क्रमशः
नहीं रहेंगे और न रहे । यहाँ कर्ण तथा दधीचिको क्रमशः द्वापर तथा सत्य यु
मानकर उक्त व्याख्या की गयी है । किसी-किसी व्याख्याकर्ताका कल्प-भेद मानकर क
दधीचि—दोनोंको ही भूतकालके अभिप्रायसे ही एक साथ वर्णन करना विरुद्ध
इस व्याख्यामें दोनोंको मृत्युने नहीं छोड़ा, अतः तुम्हें भी हमलोगोंकी याचना
धर्मार्जन करना चाहिए । यह अर्थ समझना चाहिए] ॥ १२९ ॥

अद्य यावदपि येन निबद्धौ न प्रभू विचलितुं बलिविन्ध्यौ ।
आश्रुतावितथतागुणपाशस्त्वादृशेन विदुषा दुरपासः ॥

अद्येति । येन सत्यसन्धत्वपाशेन, निबद्धौ बलिर्वैरोचनिः स च विन्ध्य
अद्य यावदेतद्दिनपर्यन्तं, विचलितुमपि प्रभू समर्थौ न स्तः । आश्रुतस्य

स्य अवितथता सत्यता, सैव गुणः उत्कृष्टधर्मः स एव पाशो बन्धः, त्वादृशेन गुणा स दुरपासः दुरुच्छेदः । बलिविन्ध्यादिदृष्टान्तेन यावज्जीवनिर्बन्धेनापि प्रतिज्ञातार्थनिर्वाहः कार्य इत्यर्थः ॥ १२० ॥

दैत्यराज बलि तथा विन्ध्य पर्वत जिस (सत्यप्रतिज्ञत्वरूप गुणपाश) से बँधे हुए आज भी विचलित होने (अपनी स्वीकृत बातको झूठा करने) में समर्थ नहीं हुए अर्थात् जिस बातको स्वीकृत किये, उसका आजतक पालन कर रहे हैं; तब तुम्हारे-जैसे ('आस्थित' नामवाले-जैसे सुप्रसिद्ध) विद्वान्को उस सत्यप्रतिज्ञत्व-गुण-पाशका त्याग नहीं करना चाहिये। [जब अत्यन्त उच्छृङ्खल स्वभाववाले दैत्योंका राजा बलि तथा जड़ एवं कठोरतम विन्ध्य पर्वत भी स्वीकार की हुई अपनी बातपर आजतक डटे हुए हैं (उसे झूठा नहीं करते), तब आप भी हमलोगोंके दूत-कर्मको स्वीकृतकर 'अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति' इसको स्मरणकर अब उससे पराङ्मुख मत होइये ॥ पहले राजा बलि वामन भगवान्को तीन पैर भूमि दानकर उनसे वचनबद्ध होकर आजतक पाताललोकमें रहते हैं, तथा सुमेरु-को जीतनेकी इच्छासे बढ़ते हुए विन्ध्य पर्वतको देख सूर्य-मार्ग रुकनेकी आशङ्कासे युक्त देवोंकी प्रार्थनासे दक्षिण दिशाको जाते हुए अपने गुरु अगस्त्य मुनिको साष्टाङ्ग दण्डवत् करनेवाला विन्ध्यपर्वत उनके कहनेसे आजतक वैसे ही पड़ा हुआ है, ये दोनों पौराणिकी कथायें जाननी चाहिये] ॥ १३० ॥

प्रेयसी जितसुधांशुमुखश्रीर्या न मुञ्चति दिगन्तगतापि ।
भङ्गिसङ्गमकुरङ्गदृगर्थे कः कदर्थयति तामपि कीर्तिम् ॥ १३१ ॥

प्रेयसीति। प्रेयसी प्रियतमा, जिता सुधांशुमुखानां चन्द्रादीनां श्रीर्यया सा। अन्यत्र, जितसुधांशुर्मुखश्रीर्यस्याः सा तथोक्ता। या कीर्तिर्दिगन्तगतापि देशान्तरगतापि, न मुञ्चति। तामपि कीर्तिं भङ्गिसङ्गमः भङ्गुरसङ्गतिर्यस्याः तस्याः कुरङ्गदृशोऽर्थे तदर्थम् । तादर्थ्येऽव्ययीभावः । कुत्सितोऽर्थः कदर्थः । 'कोः तत्पुरुषेऽचि' इति कुशब्दस्य कदादेशः, तं करोति कदर्थयति व्यर्थयतीत्यर्थः । सर्वे नामास्थिरार्थे स्थिरं जह्यादिति भावः ॥ १३१ ॥

चन्द्रमा आदिकी शोभाको जीतनेवाली (पक्षान्तरमें—चन्द्रमुखी अर्थात् चन्द्रमाके समान शोभायुक्त मुखवाली स्त्रीकी शोभाको जीतनेवाली) जो परमप्रिया (कीर्तिरूपिणी स्त्री) दिशाओंके अन्त अर्थात् बहुत दूरतक जाकर भी (पतिको) नहीं छोड़ती, उस कीर्ति (रूपिणी स्त्री) को भङ्गुर (विनाशशील) सहवासवाली मृगनयनी (पक्षान्तरमें—भङ्गुर सहवासवाली लोकमोहिनी होनेसे निन्दित दृष्टिवाली ऐसी स्त्री) के लिये कौन (पुरुष) कलङ्कित करेगा ? अर्थात् कोई नहीं । [कीर्तिरूपिणी स्त्री श्वेत होनेसे चन्द्र, तारा आदिको, पक्षा०—चन्द्रमुखी स्त्रीको भी जीतनेवाली है तथा दूरतम स्थानमें जाकर भी पतिका सहवास

नहीं छोड़ती, अतः परमसाध्वी है। इसके विपरीत चन्द्रमुखी मृगनयनी स्त्री धोबे जानेपर साथ छोड़ देती है। अथवा—कीर्ति-भिन्न स्त्रीकी दृष्टि अन्यजनमोहिनी निन्दनीय है, अतः यह स्त्री वैसी साध्वी नहीं है, इस कारण परमसाध्वी स्त्रीको एवं अनित्य सङ्गवाली सपत्नीके लिये कोई नहीं छोड़ता। साथ ही—त्रिकालदर्शी भविष्यमें कलिके प्रभावसे दमयन्तीका साथ छूटनेकी ओर भी सङ्केतकर कह रहे वियुक्त होनेवाली दमयन्तीके लिये स्थायी रूपसे मिलनेवाली कीर्तिका त्याग मत करो]॥१

यान् [1]वरं प्रति परेऽर्थयितारस्तेपि यं वयमहो स पुनस्त्वाम्।
नैव नः खलु मनोरथमात्रं शूर ! पूरय दिशोऽपि यशोभिः॥१३

यानिति। परे अन्ये जनाः, वरं प्रति इष्टलाभमुद्दिश्य, यानस्मानर्थयित ताच्छील्ये तृन्। 'न लोक'—इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीया। ते वयमपि त्वामर्थयितारः स्मः। अहो, स त्वं पुनर्नोऽस्माकं, मनोरथमात्रं मनोरथमेव पूरय। किंतु, हे शूर ! यशोभिर्दिशोऽपि पूरय खलु। तस्मादस्मन्मनोरथपूरणे दिगन्तविश्रान्ता कीर्तिर्भविष्यति। अन्यथा, अपकीर्तिरपि तादृशी भविष्यतीति भा

दूसरेलोग भी जिन (हमलोगों) से अभीष्ट वरकी याचना करते हैं (पाठभेद दूसरेलोग जिनसे केवल याचना करते हैं अर्थात् देते कुछ भी नहीं), वे हमलोग याचना करते हैं, यह आश्चर्य है। फिर वह तुम हे (दान-) शूर ! केवल हमलो मनोरथको ही पूर्ण मत करो, किन्तु (सबलोगोंको वर देनेवाले इन्द्रादि दिक्पाल भी यहाँ याचक बने, ऐसे) यशसे दिशाओं को भी पूर्ण कर दो। [हमलोगोंकी याचना करनेसे तुम्हारा यश सब दिशाओंमें फैल जायेगा, अतः तुम्हें ऐसा अवसर नहीं चाहिये] ॥ १३२ ॥

अर्थितां त्वयि गतेषु सुरेषु म्लानदानजनिजोरुयशःश्रीः।
अद्य पाण्डु गगनं सुरशाखी केवलेन कुसुमेन विधत्ताम् ॥ १३३॥

अर्थितामिति। अद्य सुरशाखी कल्पवृक्षः सुरेष्वस्मासु त्वयि विषये, गतेषु सत्सु म्लाना अर्थ्यभावक्षीणा, दानजा दानजन्या, निजा उरुर्महती यश कीर्तिसम्पद्यस्य सः, तथा सन्, केवलेन कुसुमेन गगनं पाण्डु शुभ्रं, विधत्ता न तु वितरणेन यशसा। स्वार्थिनामन्यार्थित्वेन तन्निदानदानकथास्तमिया भावः ॥ १३३ ॥

हमलोगोंके तुम्हारे यहाँ याचक होनेपर, मलिन हो गयी है दानजन्य विशाल शोभा जिसकी, ऐसा कल्पवृक्ष आज आकाशको केवल पुष्पोंसे ही श्वेत करे। [

---

1. 'परम्' इति पाठान्तरम्।

ी याचना पूरी करनेसे कल्पवृक्षके यश तथा पुष्प दोनोंसे ही आकाशमण्डल श्वेत था, किन्तु अब दिक्पाल हमलोगोंके तुम्हारे यहाँ याचक हो जानेपर कल्पवृक्षकी कीर्ति आजसे नहीं रह जायेगी, अतः वह केवल अपने पुष्पोंसे ही आकाश-ण्डलको श्वेत करेगा। हमारी याचना पूरी करके आजसे तुम कल्पवृक्षसे भी बड़ा दानी जाओगे] ॥ १३३ ॥

प्रवसते भरतार्जुनवैन्यवत्स्मृतिधृतोऽपि नल ! त्वमभीष्टदः ।
स्वगमनाफलतां यदि शङ्कसे तदफलं निखिलं खलु मङ्गलम् ॥१३४॥

अत्र यात्रावैफल्यशङ्कया ते सङ्कोचस्तावदनाशङ्कनीय एवेत्याह—प्रवसत इति । नल! प्रवसते प्रयाणं कुर्वते, भरतः शाकुन्तलेयः, अर्जुनो हैहयः, वैन्यः पृथुः, तैस्तु-तद्वत्। 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः'। स्मृत्या धृतः स्मृतिधृतः, स्मर्यमाणोऽप्यभी-ष्टार्थप्रदस्त्वं स्वगमनस्य स्वयात्रायाः अफलतां वैफल्यं शङ्कसे यदि, तत्तर्हि, निखिलं सर्वमपि मङ्गलं यात्राकालिकं त्वत्स्मरणलक्षणं मङ्गलाचरणमफलं खलु। च—'वैन्यं पृथुं हैहयमर्जुनञ्च शाकुन्तलेयं भरतं नलं च। एतान्नृपान्यः स्मरति णे तस्यार्थसिद्धिः पुनरागमश्च ॥' इति शास्त्रमप्रमाणं स्यादित्यर्थः। तथा च स्मरणादन्येषामर्थसिद्धिस्तस्य तथाऽर्थसिद्धौ कः सन्देह इति भावः ॥ १३४ ॥

हे नल! भरत (दुष्यन्तपुत्र), अर्जुन (सहस्रार्जुन) और वैन्य (राजा पृथु) के स्मरण करनेपर यात्रा करते हुए व्यक्तिके अभीष्टको देनेवाले तुम यदि अपने जाने-निष्फलताका सन्देह करते हो, तब तो वह सम्पूर्ण मङ्गल निश्चित ही निष्फल हो जायेगा। [यात्रा करते समय भरत आदिके समान तुम्हारे नामका स्मरणमात्र करनेसे करनेवाले व्यक्तिका मनोरथ पूर्ण हो जाता है, अतः साक्षात् मङ्गलस्वरूप तुम्हारी ही यदि निष्फल हो जायेगी तब तो अन्य लोगोंके लिये उक्त मङ्गलकारक वचन भी हो जायेगा, अतः तुम्हें हमलोगोंके दूत-कर्म करनेमें निष्फल होनेकी शङ्का कदापि करनी चाहिये] ॥ १३४ ॥

[1]इष्टं नः प्रति ते प्रतिश्रुतिरभूद्वाद्य स्वराह्लादिनी
धर्मार्थी सृज तां श्रुतिप्रतिभटीकृत्यान्विताख्यापदाम् ।
त्वत्कीर्तिः पुनती पुनस्त्रिभुवनं शुभ्राद्वयादेशनाद्
द्रव्याणां शितिपीतलोहितहरिन्नामान्वयं लुम्पतु ॥ १३५ ॥

---

[1] 'इष्टिम्' इति पाठान्तरम्। 'तिलक जीवात्वोस्तु 'इष्टिम्' इत्येव पाठोऽङ्गी-कृतः' इति म. म. शिवदत्तोक्तिश्चिन्त्या, जीवातौ 'इष्टम्' इत्येव पाठमङ्गीकृत्य व्याख्यानदर्शनात्।

इष्टमिति । अद्य नोऽस्माकम्, इष्टमिच्छां, यागञ्च प्रति । 'इष्टिर्यागेच्छयोः'
मरः । यजेरिषेश्च स्त्रियां क्तिन् । 'वचि स्वपि—'इत्यादिना यजेः सम्प्रसारणम् । '
इत्यादिना षत्वम् । इषेः क्तिन्प्रत्ययापवाद इति काशिकायाम् । तथा प्रयोगप्राब
साधुत्वं द्रष्टव्यम् । स्वः स्वर्गम्, अन्यत्र स्वरैरुदात्तादिभिराह्लादिनी धर्मोऽर्थः
जनमभिधेयं च यस्याः सा धर्मार्था या प्रतिश्रुतिः । जीवितावधि किमप्यधिकं
श्लोकोक्तास्मन्मनोरथपूरणप्रतिज्ञा अभूत्, तां प्रतिश्रुतिं श्रुतिप्रतिभटीकृत्य वेद
निधीकृत्य, सत्यापयित्वेत्यर्थः । अन्विताख्यापदां सृज । सत्यत्वेन श्रुतिप्रति
कृत्य प्रतिश्रुतिरित्यन्वर्थनामाक्षरां कुरु । सत्यप्रतिज्ञो भवेत्यर्थः । अस्य फलमा
खेनाह—स्वत्कीर्तिरि'ति । स्वत्कीर्तिः पुनस्त्वद्यशस्तु, त्रिभुवन भुवनत्रयं, समा
द्विगुरेकवचनम्, पात्रादित्वान्नपुंसकत्वम् । पुनती पावयन्ती । पुनातेः शतरि
द्रव्याणां नीलपीतादिद्रव्याणां, शुभ्रः शुक्लगुणः । 'गुणे शुक्लादयः पुंसि' इत्यम
तेनाद्वयादेशनादभेदापादनाच्छितिपीतादिनामभिर्वाचकपदैरन्वयं वाच्यत्व
सम्बन्धं, लुम्पतु निवर्तयतु । अर्थिमनोरथपूर्त्या कीर्तिं सम्पादयेत्यर्थः । अत्र
दीनां वस्तूनां स्वगुणत्यागेन कीर्तिगुणग्रहणात्तद्गुणालङ्कारः । 'तद्गुणः स्वगु
गादन्योत्कृष्टगुणाहृतिः' इति लक्षणात् ॥ १३५ ॥

हमलोगोंके मनोरथ (पक्षान्तरमें—यज्ञ) के प्रति मधुर स्वरसे आह्लादित करने
(अथवा—स्वर्गके समान आह्लादित करनेवाली, अथवा—अकारादिरू
(अ इ उ ऋ क……) से आह्लादित करनेवाली; पक्षान्तरमें—उदात्त आदि स्वरों से
दित करनेवाली, पाठभेदसे—देवताओंको आह्लादित करनेवाली) जो धर्मार्थ तुम्हारी
श्रुति (प्रत्युत्तर, पक्षान्तरमें—श्रुति अर्थात् वेदकी प्रतिनिधि वाणी) हुई; उसे श्रुति (
का प्रतिभट अर्थात् प्रतिद्वन्दी (वेदतुल्य) बनाकर सार्थक करो । तुम्हारी कही हुई
का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति, श्रवण-मनन-आचरणादि द्वारा) तीनों लोकों (पक्षान्त
त्रिभु+वन अर्थात् सत्त्व आदि तीनो गुणोंसे उत्पन्न+अत्यन्त गहन=संसार) को नि
द्वारा पवित्र करती हुई निर्मलता (पक्षान्तरमें—दो-हीन अद्वैत ब्रह्म) के विस्तार (
न्तरमें—उपदेश) से द्रव्यों (सांसारिक पदार्थों) के मेचक (कपोतकण्ठवत् वर्णविशेष),
लाल तथा हरा इनके सम्बन्ध या नामको नष्ट करो । [हमलोगोंके मनोरथके प्रति
मधुर स्वरसे आह्लादित करनेवाले धर्मार्थ अपने प्रत्युत्तरको वेदतुल्य सार्थक कीजिये
इससे संसारको पवित्र करनेवाली फैलती हुई एकमात्र निर्मल कीर्तिसे समस्त वस्तु
कर्बुर, पीला, लाल और हरा—इन रंगोंको नष्ट कीजिये अर्थात् अपनी कीर्तिसे
सभी वस्तुओंको श्वेत वर्णकी बनाइये । जो आपकी प्रतिश्रुति है, उसे श्रुति (वेद-वा
प्रतिभट करना उचित ही है । वेदवाक्य भी यज्ञके उद्देश्यसे कहे जाते हैं, उस यज्ञके
देवोंको आह्लादित करनेवाले होते हैं, अथवा—उदात्तादि स्वरोंसे देवताओं तथा श्रोता
आह्लादित करनेवाले होते हैं । वह श्रुति (वेद) सत्त्वादि गुणोंसे उत्पन्न एवं वनके

संसारको पवित्र करती है तथा सर्वदोपवर्जित अद्वैत ब्रह्मका 'एकमेवाद्वितीयं' इत्यादि वेदान्त वाक्योंका प्रतिपादन करती हुई 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां……' श्रुत्युक्त मायाका नाश करती है ॥ तुमने पहले हमलोगोंसे याचना पूरी करनेका वचन कहा है, उसे वेदवाक्यके समान सत्यकर अपनी शुभ्र कीर्तिको संसारमें फैलावो]॥

यं प्रासूत सहस्रपादुदभवत्पादेन खञ्जः कथं
सः च्छायातनयः सुतः किल पितुः सादृश्यमन्विष्यति ।
एतस्योत्तरमद्य नः समजनि त्वत्तेजसां लङ्घने
साहस्रैरपि पङ्गुरंघ्रिभिरभिव्यक्तीभवन्भानुमान् ॥ १३६ ॥

यमिति । यं शनैश्चरं, सहस्रं पादाः रश्मयोऽङ्घ्रयश्च यस्य सः, सहस्रपात् सूर्यः । रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः । 'सङ्ख्यासु पूर्वस्य' इति समासान्तलोपः । प्रसूतवान्, सः छायातनयः शनैश्चरः । 'मन्दश्छायासुतः शनिः' इत्यमर। कथं पादेन खञ्जो विकलः सन् । 'येनाङ्गविकार' इति तृतीया । उदभवदु ! सुतः पितुः सादृश्यमन्विष्यति किल प्राप्नोति खलु । एतस्य प्रश्नस्याद्य तेजसां लङ्घने साहस्रैः सहस्रसङ्ख्यैरपि । 'अण् च' इति मत्वर्थीयोऽण्प्रत्ययः । अङ्घ्रिभिः पङ्गुः खञ्जः, पूर्ववत्तृतीया । अभिव्यक्तीभवन् भानुमान् सूर्यः नोऽस्माकं समजनि सञ्जातः । जनेः कर्तरि लुङ् । 'दीपजन—' इत्यादिना जनेश्चिण् । लुक् । अत्रार्कस्यापङ्गोः पङ्गुत्वोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । तद्धेतुत्वञ्च शनैश्चरपङ्गु-त्वेत्युत्प्रेक्षा इति तयोः सङ्करः ॥ १३६ ॥

जिसको सहस्रपाद (सहस्र पैरोंवाला, पक्षान्तरमें—सहस्र किरणोंवाला सूर्य) ने किया, वह छाया-पुत्र (शनिश्चर) पैरसे लंगड़ा कैसे हुआ ?, क्योंकि पुत्र पिताके होना है । हमलोगोंको इस (सन्देह) का उत्तर आज मिला कि तुम्हारे तेजोंको सहस्र (पक्षान्तरमें—किरणों) से भी लांघनेमें सूर्य पङ्गु (लंगड़ा अर्थात् असमर्थ) हो गया. [तुम्हारे तेजोंको सहस्र पैरों (पक्षा०—किरणों) से लांघनेके लिये प्रतिज्ञा करके भी सूर्य प्रतिज्ञाको पूरी नहीं कर सकता, परन्तु आपने अपनी प्रतिज्ञाको पूर्ण किया, अतः तेजसे भी आपका तेज अधिक है]' ॥ १३६ ॥

इत्याकर्ण्य क्षितीशस्त्रिदशपरिषदस्ता गिरश्चाटुगर्भा
वैदर्भीकामुकोऽपि प्रसभविनिहितं दूत्यभारं बभार ।
अङ्गीकारं गतेऽस्मिन्नमरपरिवृढः संभृतानन्दमूचे
भूयादन्तर्धिसिद्धेरनुविहितभवच्चित्तता यत्र तत्र ॥ १३७ ॥

इतीति । क्षितीशो नलः, त्रिदशपरिषदः सुरसङ्घस्य इत्येवंरूपाश्चाटुगर्भाः प्रिय-

प्रायास्ता गिर आकर्ण्य वैदर्भीकामुकः सन्नपि 'लषपत-'इत्यादिना कर्मेरुकञ्प्रत्य अत एव 'न लोक-'इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् मधुपिपासुवद्द्वितीयासमासः । भविनिहितं बलादारोपितं दूत्यमेव भारं बभार । अस्मिन्नले, अङ्गीकारं गते मरपरिवृढो देवेन्द्रः । हे नरेन्द्र ! यत्र कुत्रापि, अन्तर्धिसिद्धेः अन्तर्धानशक्तेरनु तभवच्चित्तता अनुसृतत्वन्मनस्कता, भूयात् भवच्चितानुसारेण सर्वत्र तवान्तर्धा क्तिरस्तु इति सम्भृतानन्दं सहर्षमूचे । तिरस्करिणीविद्यां प्रादादित्यर्थः ॥ १३७ ॥

भूमिपति नल दमयन्तीका कामुक होते हुए भी इस प्रकार (श्लो० ११७–१३ चाटु (प्रिय भाषण अर्थात् खुशामदी) से युक्त, देव-समूहके उन वचनोंको सुनकर रखे हुए दूत-कर्मरूप भारको ग्रहण किया (देवोंके दूत्यकर्मको दुःखसे स्वीकृत किया इसे नलके स्वीकार करनेपर देवराज इन्द्रने अत्यन्त आनन्दपूर्वक कहा कि—'अन्त होनेकी सिद्धि जहां-तहां तुम्हारी इच्छाके अनुसार होवे अर्थात् तुम जहां अन्तर्धान हो चाहो वहां अन्तर्धान हो जावो और जहां प्रत्यक्ष होना चाहो वहां प्रत्यक्ष हो जावो' ॥ १३

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य भव्ये महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्पञ्चमः ॥ १३८ ॥

श्रीहर्षमित्यादि । सुगमम् । श्रीमत्याः विजयप्रशस्तेः ग्रन्थविशेषस्य र तातस्य निर्माणकर्तुरित्यर्थः ॥ १३८ ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु'समाख्याने पञ्चमः सर्गः समाप्तः ॥ ५ ॥

* * *

कवीश्वरसमूहके·········किया, उसके रचित 'विजयप्रशस्ति' नामक ग्रन्थका ·········यह पञ्चम सर्ग समाप्त हुआ । शेष अर्थ चतुर्थ सर्गवत् जानें ॥ १३८ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित'का पञ्चम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

* * *

इति साहित्य-व्याकरणाचार्य-साहित्यरत्न-रिसर्चस्कॉलर-मिश्रोप-
नामक-पण्डित-श्रीहरगोविन्दशास्त्रिकृत'मणिप्रभा'-
व्याख्यायां चतुर्थपञ्चमसर्गौ समाप्तौ ।

* * *

षष्ठः सर्गः

दूत्याय दैत्यारिपतेः प्रवृत्तो द्विषां निषेद्धा निषधप्रधानः ।
स भीमभूमीपतिराजधानीं लक्ष्यीचकाराथ रथस्यदस्य ॥ १ ॥

दूत्यायेति । अथ दूत्याङ्गीकारानन्तरं, द्विषां निषेद्धा निवारयिता, निषधानां जन-दानां, प्रधानः मुख्याधिपतिरित्यर्थः । स नलः दैत्यारिपतेः देवेन्द्रस्य, दूतकर्मणे । तस्य भावकर्मणी’ इति यत्प्रत्ययः । प्रवृत्त उद्युक्तः सन्, स रथस्यदस्य रथवेगस्य, मभूमीपतिराजधानीं कुण्डिननगरीं, लक्षीचकार लक्ष्यमकरोत् । गमनं चकारेत्यर्थः ॥

अनन्तर शत्रुओंको निवारण करनेमें समर्थ और देवराज इन्द्रके दूत-कर्म करनेके लिये ए उस निषधराज नलने भीम राजाकी राजधानी (कुण्डिनपुरी) को रथवेगका लक्ष्य या अर्थात् कुण्डिनपुरीकी ओर रथको बढ़ाया ॥ १ ॥

भैम्या समं नाजगणद्वियोगं स दूतधर्मे स्थिरधीरधीशः ।
पयोधिपाने मुनिरन्तरायं दुर्वारमप्यौर्वमिवौर्वशेयः ॥ २ ॥

भैम्येति । अधीशो मनोनियमनसमर्थः । अत एव, दूतधर्मे दूतकृत्ये, स्थिरधीर-बुद्धिः, स नलः, भैम्या समं सह । ‘साकं सत्रा समं सह’ इत्यमरः । वियोगम्, शेयः उर्वशीपुत्रो मुनिरगस्त्यः ‘और्वशेयः कुम्भयोनिरगस्त्यो विन्ध्यकूटनः’ इति युधः । पयोधिपाने दुर्वारम्, उर्व्या अपत्यमौर्वो वरुणभयान्मातृगुप्त इति स्वामी । र्वं वडवानलमिव अन्तरायं नाजगणदन्तरायत्वेन नामन्यत । भैमीवियोगमपि प्रतिज्ञाभङ्गभयात् दूत्यमेव दृढतरमवलम्बितवानित्यर्थः । अन्तरायविशेषण-त्वमत्रापि योजनीयम् ॥ २ ॥

स्थिरबुद्धि या वशी वह राजा नल, उर्वशी-पुत्र (अगस्त्य मुनि) समुद्रपान करनेमें वडवाग्निको जिस प्रकार नहीं गिने (उसकी चिन्ता नहीं किये), उसी प्रकार दूत-में (होनेवाले विकारादि सात्त्विक भावरूप) दुर्वार दमयन्तीके विरहको नहीं गिने । न्द्रादिके दूतकर्म करनेपर मेरा दमयन्तीसे सदा के लिये विरह हो जायेगा एवं उसे देखने होनेवाले सात्त्विक विकार आदि भावोंको रोकना कष्टसाध्य होगा, इसकी नलने कोई न्ता नहीं की । अथ च—उर्वशी (‘उरु अश्नाति’ इस विग्रहसे बहुत खानेवाली) के पुत्र स्त्य मुनिको भी दुर्वार वडवाग्निकी बिना चिन्ता किये विशाल समुद्रको खाना अर्थात् ना उचित ही है] ॥ २ ॥

नलप्रणालीमिलदम्बुजाक्षीसंवादपीयूषपिपासवस्ते ।
तदध्ववीक्षार्थमिवानिमेषा देशस्य तस्याभरणीबभूवुः ॥ ३ ॥

नलेति । ते इन्द्रादयो देवाः, नल एव प्रणाली जलनिर्गममार्गः, तया मिलत्

प्रवहत्, अम्बुजाक्षीसंवादपीयूषं दमयन्तीसंवादामृतं, पिपासवः पातुमिच्छवः मधुपिपासुवत् द्वितीयासमासः। तदध्ववोक्षार्थं नलमार्गप्रतीक्षार्थमिव अनि सन्तः इत्युत्प्रेक्षा। तस्य देशस्य नलनिर्गमनप्रदेशस्याभरणीबभूवुः। तदा पर्यन्तं तत्रैव तस्थुरित्यर्थः ॥ ३ ॥

नलरूप नालेसे आनेवाले कमलनयनी दमयन्तीका संवाद (रहस्यकथा) अमृतको पीनेके इच्छुक तथा मानो नलके (आनेकी प्रतीक्षामें उनके मार्गको एकटक) के लिये निमेषरहित वे इन्द्रादि देव उस स्थानके आभरण बन गये। [दमयन्तीके नल क्या संवाद लाते हैं ? यह सुननेके इच्छुक वे इन्द्रादि चारो देव उनके आगमन को ऊपर मुख किये एकटक देखते हुए वहीं ठहर गये] ॥ ३ ॥

तां कुण्डिनाख्यापदमात्रगुप्तामिन्द्रस्य भूमेरमरावतीं सः।
मनोरथः सिद्धिमिव क्षणेन रथस्तदीयः पुरमाससाद ॥ ४ ॥

तामिति। तस्यायं तदीयः नलीयः, स रथः, तां कुण्डिनमिति यदा नामपदं, तन्मात्रेण गुप्तां छन्नाम्, अमरावतीमिन्द्रराजधानीम्, तत्कल्पामि भूमेरिन्द्रस्य भीमभूपतेः, पुरं, मनोरथः सिद्धिमिव क्षणेन आससाद प्राप ॥

उस नलका रथ, जिस प्रकार मनोरथ (मनरूपी रथ, अथवा–अभिलाष) सिद्धि करता है, उस प्रकार (पृथ्वीके इन्द्र भीम) की 'कुण्डिनपुर' नामसे गुप्त (या सु अमरावतीको क्षणमात्रमें प्राप्त किया। [अथवा—वस्तुतः में राजा भीमकी वह रा कुण्डिनपुरी नहीं थी, किन्तु अमरावती अर्थात् इन्द्रकी राजधानी थी और नाममा होनेसे भिन्न प्रतीत होती थी॥ इससे नलके रथका वेगातिशय तथा दूत-कर्म अधिक तत्परता और कुण्डिनपुरीकी शोभा–सम्पत्तिकी अधिकता व्यक्त होती है]

भैमीपदस्पर्शकृतार्थरथ्या सेयं पुरीत्युत्कलिकाकुलस्ताम्।
नृपो निपीय क्षणमीक्षणाभ्यां भृशं निशश्वास सुरैः क्षताशः ॥ ५

भैमीति ॥ नृपो नलः, इयं भैमीपदस्पर्शेन कृतार्थरथ्या सफलमार्गा, सा माणा पुरी कुण्डिनपुरीत्युत्कलिकया उत्कण्ठया, आकुलः क्षुभितः सन्। णाभ्यां, तां पुरीं, निपीय सतृष्णं दृष्ट्वा, सुरैः क्षताशः भिन्नाशः सन् भृशं पुनिश

'दमयन्तीके चरणोंके स्पर्शसे कृतार्थ मार्गोंवाली वही यह नगरी है' इस व्याकुल (क्षुब्ध अथवा व्याप्त) राजा नल उस नगरीको क्षणमात्र अर्थात् थोड़ी देर लम्बा श्वास लेने लगे, क्योंकि देवोंने उनकी आशा नष्ट कर दी थी (अथवा– निश्वास लेने लगे, क्योंकि देवोंने उनकी आशा अत्यन्त (बिल्कुल ही) नष्ट कर [पहले तो दमयन्तीके सम्बन्धसे युक्त पुरीका स्मरणकर नलको उत्कण्ठा हुई, किन्तु दूत-कर्म का स्मरणकर दमयन्तीके साथ वहां विचरण आदि करनेकी आशा नष्ट हो उन्होंने दीर्घ श्वास लिया] ॥ ५ ॥

स्विद्यत्प्रमोदाश्रुलवेन वामं रोमाञ्चभृत्पक्ष्मभिरस्य चक्षुः ।
अन्यत्पुनः कंप्रमपि स्फुरन्तं तस्याः पुरः प्राप नवोपभोगम् ॥ ६ ॥

अथैवं विद्यमानस्य तस्येष्टसिद्धिसूचकं दक्षिणाक्षिस्पन्दनं जातमित्याह— स्विद्यदिति। अस्य नलस्य, वामं चक्षुः, प्रमोदाश्रुलवेन आनन्दबाष्पकणेन, स्विद्यत् स्विन्नं सत्, पक्ष्मभिः उन्मिषद्भिरिति शेषः। रोमाञ्चभृद्रोमाञ्चितं सत्, तस्याः पुरः नगर्याः, स्फुरन्तं प्रकाशमानं, नवोपभोगं अपूर्वदर्शनमाद्यसङ्गमञ्च प्राप। अन्यत् दक्षिणं तु कम्प्रमपि कम्प्रञ्च सत् तं प्राप। वामाक्ष्णः स्वेदरोमाञ्चावेव। दक्षिणस्य तु वेपथुरप्यधिकः सात्त्विकः संवृत्त इत्यर्थः। प्रथमसङ्गमे कम्पस्वेदरोमाञ्चादयो जायन्ते। पुरुषस्य दक्षिणाक्षिस्पन्दनं शुभाय भवतीति निमित्तवेदिनः। अत्रानन्दाश्रुपक्ष्मोत्क्षेपाक्षिस्पन्देषु स्वेदादिसात्त्विकरूपणाद्रूपकम्। तदुल्लासितनवोपभोगव्यवहारसमारोपात् पुरीचक्षुषोः स्त्रीपुंसत्वप्रतीतेः रूपकसङ्कीर्णा समासोक्तिरलङ्कारः ॥६॥

(दमयन्तीकी नगरीको देखनेसे उत्पन्न) हर्षसे उत्पन्न थोड़ी आंसूसे 'स्वेद' नामक सात्त्विक भावको, तथा पक्ष्म (पपनी–वरौनी) के द्वारा 'रोमाञ्च' नामक सात्त्विक भावको धारण करता हुआ नलका वांया नेत्रने, और फड़कनेसे 'कम्प' नामक सात्त्विक भावको धारण करता हुआ दाहिना नेत्रने उस नगरी ('कुण्डिनपुरी',–पक्षा० तद्रूप नायिका) के सामने नये उपभोगको किया। [नव–नायिकाके साथ उपभोग करनेसे 'स्वेद' रोमाञ्च तथा 'कम्प' नामके सात्त्विक भाव होते हैं। यहां नगरीको नायिका तथा नलके नेत्रोंको नायक समझना चाहिये। पुरुषका वांया नेत्र वरौनियोंमें आंसूसे युक्त हो तथा दाहिना नेत्र फड़के तो कार्य-लाभ-सूचक शुभ शकुन होता है, ऐसा सामुद्रिक शास्त्रका सिद्धान्त है, अतः इस शकुन द्वारा भविष्यमें नलको ही दमयन्ती पतिरूपमें वरण करेगी, ऐसा सूचित हुआ। अथवा–नलका वांया नेत्रने वरौनियोंसे 'रोमाञ्च' को तथा हर्षजन्य आंसूसे 'स्वेद' को धारण करता हुआ भी उस नगरीके उपभोग को नहीं ही प्राप्त किया अर्थात् आंसूसे भरे होनेके कारण नगरीको अच्छी तरह नहीं देख सका और दाहिना नेत्रने स्फुरित होनेसे 'कम्प' भावको धारण करता हुआ उस नगरीके नये उपभोगको प्राप्त किया अर्थात् उस नगरीको पहला अवसर होनेसे अच्छी तरहसे देखा। यहां पर जो नेत्र नलका वाम अर्थात् प्रतिकूल है, उसे नल-प्रिया दमयन्तीकी नगरीरूपिणी नायिकाका उपभोग नहीं करना तथा जो नेत्र नलका दक्षिण अर्थात् अनुकूल है, उसे नल–प्रिया दमयन्तीकी नगरीरूपिणी नायिकाका उपभोग करना नलके लिये अत्यन्त शुभ शकुन हुआ] ॥ ६ ॥

रथादसौ सारथिना सनाथाद्राजावतीर्याशु पुरं विवेश।
निर्गत्य बिम्बादिव भानवीयात्सौधाकरं मण्डलमंशुसंघः ॥ ७ ॥

रथादिति। असौ राजा नलः सारथिना सनाथात् सहितात् रथादवतीर्य अंशुसङ्घः अर्कांशुसमूहः, भानवीयात् बिम्बान्निर्गत्य सौधाकरं चान्द्रं मण्डलमिव आशु

पुरं कुण्डिनं विवेश। "सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्छितास्तमो नैश-
मपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्तः।" इति शास्त्रादियमुपमा ॥ ७॥

उस नलने सारथि-युक्त रथसे उतरकर शीघ्र ही नगरमें प्रवेश किया, जिस प्रकार कि
समूह सूर्य-बिम्बसे निकलकर चन्द्रमण्डलमें प्रवेश करता है। [नगरमें प्रवेश करनेसे
माके समान नलकी शोभा हुई। ज्यौतिष-सिद्धान्तके अनुसार सूर्य-मण्डलके प्रकाशसे
चन्द्रमण्डलमें प्रकाश होता है] ॥ ७ ॥

चित्रं तदा कुण्डिनवेशिनस्सा नलस्य मूर्तिर्ववृते नदृश्या।
बभूव तच्चित्रतरं तथापि विश्वैकदृश्यैव यदस्य मूर्तिः ॥ ८ ॥

चित्रमिति। तदा तस्मिन्समये, कुण्डिनवेशिनः कुण्डिनप्रविष्टस्य नलस्य
तथा दर्शनीया मूर्त्तिर्नदृश्या अदर्शनीया। नञर्थस्य नशब्दस्य 'सुप्सुपा'
समासः। ववृते जाता, चित्रं विरोधादिति भावः। इन्द्रवरादृश्यत्वं गतेत्यविरो
तथाप्यदृश्यापि अस्य मूर्तिर्विश्वैकदृश्येति यत्तच्चित्रतरं बभूव, दृश्यत्वादृश्यत्व
रोधादिति भावः। विश्वस्यैकस्यैव दृश्या दृष्टिप्रियैवेत्यविरोधः। अत्र विरो
भासयोः संसृष्टिः ॥ ८ ॥

उस समय कुण्डिनपुरमें प्रवेश करनेवाले नलकी मूर्ति (सबसे देखी जानेवाली
सुन्दरतम आकृति) अदृश्य (पक्षा०—असुन्दर) हो गयी, यह आश्चर्य है, तथापि
नलकी मूर्ति जो सबसे देखी जानेवाली (पक्षा०—संसारमें एकमात्र सुन्दर) हो गयी,
अधिक आश्चर्य है। [इन्द्रके दिये हुए वरदान (५।१३७) से नल नगरमें प्रवेश करते
अन्तर्धान हो गये] ॥ ८ ॥

जनैर्विदग्धैर्भवनैश्च मुग्धैः पदे पदे विस्मयकल्पवल्लीम् ।
विगाहमाना पुरमस्य दृष्टिरथाददे राजकुलातिथित्वम् ॥ ९ ॥

जनैरिति। अथास्य नलस्य, दृष्टिर्विदग्धैरभिज्ञैः जनैः मुग्धैः सुन्दरैः भवनैश्च
पदे विस्मयकल्पवल्लीं आश्चर्यावहामित्यर्थः। पुरं विगाहमाना विभावयन्ती।
कुलातिथित्वमाददे। क्रमादसौ राजभवनं ददर्शेत्यर्थः ॥ ९ ॥

इसके बाद चतुर मनुष्यों तथा मनोहर महलोंसे पग-पगपर विस्मयरूप कल्प
प्राप्त करती हुई अर्थात् चतुर मनुष्यों एवं सुन्दर भवनोंको देखकर आश्चर्यित होती हुई
नलकी दृष्टिने क्रमशः राज-भवनके अतिथित्वको प्राप्त किया अर्थात् राजभवनको दे
(अथवा प्रथम पाठा० चतुर······होती हुई इस नलकी दृष्टिने विलम्बसे राज-भवन
देखी। अथवा द्वितीय पाठा०—चतुर·····प्राप्त करते हुए नलकी दृष्टि·········। जब
कुण्डिनपुरीमें प्रवेश किया तब वहांपर पग-पग पर चतुर मनुष्यों तथा सुन्दर भवनों
देखकर कल्पलता प्राप्तिके समान आश्चर्य करते हुए वे बहुत देरके बाद राज-
पास पहुंचे] ॥ ९ ॥

लीनश्चरामीति हृदा ललज्जे हेलां दधौ रक्षिजनेऽस्त्रसज्जे ।
द्रक्ष्यामि भैमीमिति संतुतोष दूत्यं विचिन्त्य स्वमसौ शुशोच ॥१०॥

लीन इति । असौ नलः, अस्त्रैः सज्जे सन्नद्धे । 'सन्नद्धो वर्मितस्सज्जः' इत्यमरः । जने राजकुलरक्षकवीरवर्गे, हेलामवज्ञां दधाविति गर्वोक्तिः । लीनः (कष्टं शू-) गूढश्चरामीति हेतोर्हृदा ललज्जे । भैमीं द्रक्ष्यामीति संतुतोष । स्वं स्वकीयं, विचिन्त्य शुशोचेति निर्वेदोक्तिः । अत्र गर्वलज्जाहर्षनिर्वेदानां बहूनां भावानां रोपमर्देन समावेशाद्भावशबलतोक्ता ॥ १० ॥

नलने हथियारोंसे सुसज्जित रक्षकों (पहरेदारों) में तिरस्कार धारण किया (हथि- सुसज्जित होनेपर भी ये पहरेदार मेरा क्या बिगाड़ेंगे ? इस भावनासे उन्हें तिर- र्वक देखा)। छिपकर (मैं) घूम रहा हूं, यह (सोचकर) हृदयसे लज्जित हुए (यद्यपि दार मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते, तथापि मैं राजा एवं शूरवीर होकर भी चोरके छिपकर (इन्द्रके दिये वरदान (५।१३७) से अन्तर्धान होकर) घूम रहा हूँ, यह कर मन ही मन वे लज्जित हुए । दमयन्तीको देखूंगा, यह (सोचकर) अत्यन्त तुष्ट अपनेको दूत सोचकर (मुझे इन्द्रादि देवोंका दूत होनेसे दमयन्तीको अब अपनी नहीं समझनी चाहिये, अतः उसे देखनेसे आनन्दित होनेका विचार करना व्यर्थ है चारकर) शोक करने लगे । [यहां पर 'हृदा' पदका सब क्रियाओंके साथ सम्बन्ध नलने उक्त चारों विचारोंको हृदयसे (मनमें) ही किया, प्रकटरूपसे हाथ-पैर कोई व्यापार नहीं किया, यह समझना चाहिये] ॥ १० ॥

अथोपकार्याममरेन्द्रकार्यात्कक्ष्यासु रक्षाधिकृतैरदृष्टः ।
भैमीं दिदृक्षुर्बहु दिक्षु चक्षुर्दिशन्नसौ तामविशद्विशङ्कः ॥ ११ ॥

अथेति । अथानन्तरं, असौ नलः, कक्ष्यासु गृहप्रकोष्ठेषु । 'कक्ष्या प्रकोष्ठे हर्म्यादेः नः । रक्षायामधिकृतैः, रक्षिजनैः, अदृष्टस्सन् भैमीं दिदृक्षुः द्रष्टुमिच्छुः । अत एव चक्षुर्बहु भूयिष्ठं, दिशन् विशङ्कस्सन्, तां पूर्वनिर्दिष्टां, उपकार्यां राजसदनम् । कार्या राजसद्मनि' इति विश्वः । अमरेन्द्राणां कार्यात् प्रयोजनात् हेतोरविशत् ॥ ११ ॥

इसके बाद देवताओं तथा इन्द्रके (अथवा-प्राधान्यतः देवराज अर्थात् इन्द्रके) कार्य की प्राप्तिरूप कार्य, अथवा-अन्तर्धि होनेका वरदानरूप कार्य) से कक्षाओं (ड्यौ-) पर स्थित रक्षकों (पहरदारों) से नहीं देखे गये, (अत एव) निर्भय, और दमय- को देखनेके इच्छुक इस नलने दिशाओंमें नेत्रको बहुत फेंकते हुए अर्थात् सब ओर र देखते हुए उस राजभवनमें प्रवेश किया ॥ ११ ॥

अयं क इत्यन्यनिवारकाणां गिरा विभुर्द्वारि विभुज्य कण्ठम् ।
दशां दधौ विस्मयनिस्तरङ्गां विलंघितायामपि राजसिंहः ॥ १२ ॥

अयमिति । विभुः समर्थः, राजा सिंह इव राजसिंहः राजश्रेष्ठः, उपमितसमासः ।

स नलः, अयं क इत्यन्यस्थ स्वव्यरितिक्तजनस्य, निवारकाणां, रक्षिणां, गिरा न (हेतुना) कण्ठं विभुज्य किं दृष्टोऽस्मीति शङ्कया ग्रीवां विवलय्य वक्रीकृ विलंघितायामतिक्रान्तायामपि द्वारि। विस्मयेन कथमेते मामद्राक्षुरित्या निस्तरङ्गां निर्निमेषां, दृशं दधौ। सिंहस्य ग्रीवाभङ्गेन लंघिताध्वदर्शनं युक्तं भावः ॥ १२ ॥

समर्थ राजसिंह (राजाओंमें सिंहके समान पराक्रमी, नलने) द्वारके लांघ जाने "यह कौन है ?" इस प्रकार दूसरोंको रोकनेवालों (द्वारपालों) के वचनसे (मुझे देखकर ये द्वारपाल मना कर रहे हैं क्या ? इस कारण) गर्दनको पीछे मोड़कर इ। न्द्रके वरदानके प्रभावसे अन्तर्हित होनेपर भी मुझे इन लोगोंने कैसे देख लि आचार्य) से निश्चल दृष्टि डाली (निर्भय होकर देखा)। [आगे बढ़े हुए किसी 'यह कौन है ?, ऐसा कोई टोकता है तो वह वहींसे गर्दनको पीछेकी ओर मोड़क है, यह सर्वानुभव सिद्ध है। सिंहको उपमा देनेसे नलकी शूरता तथा निर्भयता सू है तथा सिंह भी आगे चलता हुआ पीछेकी ओर गर्दनको मोड़कर देखता चलता है इसी आधार पर सिंहावलोकन' न्याय प्रचलित हुआ ॥ १२ ॥

अन्त:पुरान्तस्स विलोक्य बालां कांचित्समालब्धुमसंवृतोरुम्।
निमीलिताक्षः परया भ्रमन्त्या संघट्टमासाद्य चमच्चकार ॥ १३॥

अन्तरिति। स नलः, अन्तःपुरस्यान्तरभ्यन्तरे, अव्ययमेतत्। समालब्धुं यितुम्। असंवृतोरुमनाच्छादितोरुदेशां, काञ्चिद्बालां स्त्रियं विलोक्य, निमील स्सन् पराङ्गनादर्शनपापभीत्येति भावः। भ्रमन्त्या तत्र सञ्चरन्त्या परया संघट्टमभिघातं आसाद्य, द्वयोरपि दृष्टिप्रतिबन्धादिति भावः। चमच्चकार स्म। चमदित्यनुकारिशब्दः ॥ १३ ॥

अन्तःपुर (निवास) में उद्वर्तन (तैल आदि की मालिश या उबटन) करने जङ्घेको उघारी हुई किसी स्त्रीको देखकर (नग्नस्त्रीका देखना शास्त्र-विरुद्ध होने आंखको बन्द किये हुए वे नल घूमती हुई दूसरी स्त्रीके साथ आघात (एक दूसरे लगनेपर चकित हो गये। [इन्द्रके वरदानसे अन्तर्धान तथा परस्त्री-दर्शनका करनेके लिए आंख मूदे हुए स्थित नल जब स्वेच्छासे घूमती हुई किसी दूसरी लगी तो 'अरे, यह किसकी ठोकर लगी ?' यह सोचते हुए सहसा चकित हो गये]

अनादिसर्गस्रजि वानुभूता चित्रेषु वा भीमसुता नलेन।
जातैव यद्वा जितशम्बरस्य सा शाम्बरीशिल्पमलक्षि दिक्षु ॥

अनादीति। अनादौ सर्गस्रजि सृष्टिपरम्परायां वा, क्वचिज्जन्मान्तर चित्रेषु आलेख्येषु, अनुभूता। अत्यन्ताननुभूतेऽर्थे भ्रमासम्भवादिति भावः। मास्त्वनुभव इति शेषः। किंतु, जितशम्बरस्य मायिनोऽपि मायिनः, कामस्य

तं मायासृष्टिः । 'स्यान्माया शाम्बरी' इत्यमरः । जातैव, सा भीमसुता नलेन लति प्रतिदिशमलक्ष्यत । लक्षेः कर्मणि लुङ् । अत्रालीकभैमीसाक्षात्कारो न्तरानुभवाद्वा केवलमदनमायाबलाद्वेति हेतूत्प्रेक्षा ॥ १४ ॥

नादि सर्ग-परम्परामें या चित्रोंमें प्रत्यक्ष की गयी, या "शम्बर" नामक मायाकुशल विजयी कामदेवकी मायाकी चतुर रचना बनी हुई (माया द्वारा यथावत् सम्पादित) तीको नलने दिशाओंमें देखा । [अथवा—शम्बरारि (कामदेव) की मायाकी उत्तम बनी हुई दमयन्तीको……… । अथवा नलके द्वारा कामदेवकी मायाकी उत्तम बनी हुई दमयन्तीको…… । शत्रुको जीतनेके बाद कोई विजेता उसकी सम्पत्तिको धीन कर लेता है, वैसे ही कामदेवने माया करनेमें चतुर शम्बर दैत्यको जीतकर मायाको भी स्वाधीन कर लिया है अतएव वह (कामदेव) भी माया करनेमें अत्यन्त होकर नलके सामने मायारूपिणी दमयन्तीको सब दिशाओंमें दिखलाने लगा, माया-वस्तुका सुन्दरतम होना तथा एक ही होनेपर सब दिशाओंमें दृष्टिगोचर होना पूर्णतः है। वैसे ही दमयन्ती भी नलको सब दिशाओंमें दृष्टिगोचर हो रही थी। पहले नहीं देखी वस्तुका दृष्टिगोचर होना असम्भव होनेसे अनादि सृष्टि-परम्परामें दमयन्तीको द्वारा दृष्टिगोचर होनेकी कल्पना की है, किन्तु पूर्वजन्मगत बातोंके स्मरणगोचर नहीं के चित्रोंमें दमयन्तीके दृष्टिगोचर होनेकी द्वितीय कल्पना की गयी है और चित्रगत के जड होनेसे उसका देखना, चलना-फिरना तथा आलिङ्गन आदि करना असम्भव कामद्वारा मायाकल्पित दमयन्तीको कहा गया है॥ जिस प्रकार गन्धर्वनगरको नहीं में उसका सर्वथा अभाव रहनेपर भी मायावश उसका अनुभव होने लगता है, प्रकार दमयन्तीका वास्तविकमें वहां अभाव होनेपर भी मनमें सतत कल्पित उसके नमें उसका प्रत्यक्षवत् नलको अनुभव होना उचित ही है] ॥ १४ ॥

अलीकभैमीसहदर्शनान्न तस्यान्यकन्याप्सरसो रसाय ।
भैमीभ्रमस्यैव ततः प्रसादाद्भैमीभ्रमस्तेन न तास्वलम्भि ॥ १५ ॥

अलीकेति । अन्याः कन्या अप्सरस इव । उपमितसमासः । अप्सरः कल्पा अपि तत्रत्याः स्त्रियः, अलीकभैम्या सह दर्शनाद्धेतोः तस्य नलस्य रसाय रागाय, न् । ततोऽपि तासामपकृष्टत्वादिति भावः । तर्हि, किं सारूप्यात्तास्वपि भैमी-नाभूदत आह—भैमीति । तत इति सार्वविभक्तिकस्तसिः । ततः तस्य भैमी-स्यैव प्रसादात्तेन नलेन तास्वन्तःपुरस्त्रीषु भैमीभ्रमो नालम्भि न प्राप्तः । अत्यन्ता-त्वादिति भावः ॥ १५ ॥

सतत कल्पनाजन्य मोहके कारण असत्य (अभाव रहनेपर) भी दमयन्तीके साथ अप्सराओंके समान अन्य कन्याएं (दूसरी स्त्रियां) उस नलके अनुरागके लिए नहीं क्योंकि उस दमन्ती सम्बन्धी भ्रमके सामर्थ्यसे ही नलने उन स्त्रियोंमें भ्रमको नहीं या । [यद्यपि नलने वास्तविक दमयन्तीको कभी भी प्रत्यक्ष रूपसे नहीं देखा था,

तथापि अन्य स्त्रियोंमें अप्सराओंके समान सौन्दर्य होनेपर भी दमन्तीकी अपेक्षा न्यूनता होनेके कारण नलने दमयन्ती-भिन्न उन स्त्रियोंको दमयन्ती समझने नहीं किया, अत एव उन स्त्रियोंका अप्सरस्तुल्य सौन्दर्य भी नलको अपने प्रति नहीं कर सका ॥ १५ ॥

भैमीनिराशे हृदि मन्मथेन दत्तस्वहस्ताद्विरहाद्विहस्तः ।
स तामलीकामवलोक्य तत्र क्षणादपश्यन्व्यषदद्विबुद्धः ॥ १६ ॥

भैमीति । भैम्या निराशे सुरैः हृताशे, हृदि, मन्मथेन दत्तस्वहस्ताद्दत्ता ज्जनितादित्यर्थः । विरहाद्विहस्तो विह्वलः, स नलः अलीकां तां भैमीमव क्षणात् विबुद्धः निवृत्तभ्रमः, तत्र तामपश्यन् व्यषदत् विषण्णोऽभूत् । सदे लृदित्वाच्च्लेरङादेशः । 'सदिरप्रतेः' इत्यड्व्यवायेऽपि षत्वम् । भैमीशून्यत्वे ह्वान् भ्रम एव तस्याशास्योऽभवदिति भावः ॥ १६ ॥

दमयन्तीसे निराश, हृदयमें कामदेवके द्वारा हस्तावलम्ब अर्थात सहारा दिये विरहसे विहस्त अर्थात् व्याकुल नल वहां (राजभवनमें, अथवा-हृदयमें) उस दमयन्तीको देखकर क्षणभरमें सजग होकर (मुझ दूतको दमयन्तीप्राप्तिका विचार कुछ अधिकार नहीं ऐसा विचार होनेपर) उसे नहीं देखते हुए विषादसे युक्त [जिस कामदेवने नलके लिये हाथ दिया उस कामदेवको विहस्त हाथसे हीन होना था, किन्तु नल ही विहस्त (हाथसे रहित। पक्षा०—व्याकुल) हुए, यह आश्चर्य है। हृदयके दमयन्तीसे निराश होनेपर कामदेवके द्वारा······। दूत-कर्म स्वीकार भैमीके विषयमें निराश होनेसे शान्त विरहको कामदेवने फिर सहारा देकर बढ़ाया। हजन्य भ्रमसे नलने दमयन्तीको देखा, किन्तु दूत होनेके कारण क्षणमात्रमें ही भ्र होनेपर दमयन्तीको नहीं देखा, इस प्रकार दमयन्तीको नहीं दिखलानेवाला बोध ही हुआ, वह भ्रम नष्ट हो गया अत एव नलको कष्ट हुआ] ॥ १६ ॥

प्रियां विकल्पोपहृतां स यावद्दिगीशसन्देशमजल्पदल्पम् ।
अदृश्यवाग्भीषितभूरिभीरुभवो रवस्तावदचेतयत्तम् ॥ १७ ॥

प्रियामिति । स नयः, विकल्पोपहृतां विभ्रमोपनीतां, प्रियां दमयन्तीं, गीशसन्देशं इन्द्रादिवाचिकं, अल्पमजल्पदकथयत् । तावददृश्यया अलक्ष्य वाचाहेतुकर्त्र्या, भीषिता वित्रासिताः । 'भियो हेतुभये षुक्' । ताश्च ता भूय भीरवो भयशीलाः स्त्रियः ताभ्यो भवतीति तद्भवो रवः कलकलः, तं नलम दबोधयत् । चेततेर्भौवादिकात् णिच् ॥ १७ ॥

उस नलने सङ्कल्पकल्पित (या भ्रम-कल्पित) प्रिया दमयन्तीसे दिक्पालोंके संदेश तक थोड़ा कहा तभी तक अदृश्य (भूतादिकथित) वचनसे अत्यन्त डरी हुई उन के शब्दने उनको सचेत कर दिया। (सङ्कल्पकल्पित दमयन्तीसे ही नल भ्रमवश

ताओंका सन्देश जबतक थोड़ा ही कह पाये थे कि 'यह शब्द कहांसे हो रहा है ? कोई ोचर नहीं होता। अतः डरी हुई कन्याओंने जब कोलाहल किया तब नल सावधान र हो गये] ॥ १७ ॥

पश्यन् स तस्मिन्मरुतापि तन्व्याः स्तनौ परिस्प्रष्टुमिवास्तवस्त्रौ ।
अक्षान्तपक्षान्तमृगाङ्कमास्यं दधार तिर्यग्वलितं विलक्षः ॥ १८ ॥

पश्यन्निति। स नलः तस्मिन्नन्तःपुरे मरुतापि अचेतनेनापीति भावः। परिस्प्रष्टुं ष्टुमिव। अस्तवस्त्रौ अवनीतांशुकौ तन्व्याः स्तनौ पश्यन् विलक्षो विलज्जित-, अक्षान्तपक्षान्तमृगाङ्कं, अक्षान्तः असोढः पक्षान्ते पौर्णमास्यां मृगाङ्कः चन्द्रो दास्यं, तिर्यग्वलितं साचीकृतम्। दधार धृतवान्। यत्राचेतनस्य वायोरपि ज्ञा तत्रायं निर्विकार एवेत्यहो जितेन्द्रियत्वमस्येति भावः ॥ १८ ॥

स अन्तःपुरमें अचेतन वायु (पक्षान्तरमें-'वायु' देव) से भी कृशाङ्गीके स्तनोंको (या मर्दन) करनेके लिए वस्त्रशून्य (उघारे-नग्न किये) गये स्तनोंको देखते हुए नायक होनेसे परस्त्रीका स्तन देखना अनुचित होनेसे लज्जित या उदासीन होकर) न्द्रको नहीं सहन करनेवाला (नलका) मुख तिर्यक् भावको धारण कर लिया अर्थात् ओर मुड़ गया। [नलका मुख पूर्णचन्द्र रूप है, तथा पूर्णचन्द्रके सामने अर्थाद् (उजेले) में प्रच्छन्न कामुकका किसी स्त्रीके साथ स्तनमर्दनरूप संभोग करना अस- होनेसे वहांसे चन्द्ररूप मुखको हट जाना ही उचित है.] ॥ १८ ॥

अन्तःपुरे विस्तृतवागुरोऽपि बालावलीनां वलितैर्गुणौघैः ।
न कालसारं हरिणं तदक्षिद्वन्द्वं प्रभुर्बन्धुमभून्मनोभूः ॥ १९ ॥

अन्तरिति। अन्तःपुरे बालावलीनां स्त्रीसमूहानां, बवयोरभेदाद्रोमसमूहानां च, ः पुनः पुनः प्रवृत्तैः आवर्तितैश्च गुणानां कटाक्षविक्षेपादीनां सूत्राणां चौघैः वागुरः प्रसारितमृगबन्धनीकोऽपि। 'वागुरा मृगबन्धनी' इत्यमरः। मनोभूः मृगयुरिति शेषः। तस्य नलस्याक्षिद्वन्द्वमेव कालसारम्, कृष्णसारम्, अक्षि- कालेन कनीनिकाकार्ष्ण्येन सारं श्रेष्ठं, हरिणञ्च बन्धुमाक्रष्टुं संयन्तुं च प्रभुः नाभूत्। जितेन्द्रियत्वादस्येति भावः। अत्राक्ष्यादिषु हरिणत्वादिरूपणान्मनो- मृगयुत्वं गम्यत इत्येकदेशवर्तिरूपकम् ॥ १९ ॥

अन्तःपुरमें अपने बालाओंके समूहोंका नृत्यकर्मादि या अङ्गतोडना आदि गुण समूहोंसे -बाल-समूहोंके बटी हुई रस्सियोंसे) जालको फैलाया हुआ भी कामदेव (रूपी) काली कनीनिका (आंखकी पुतली) ही सारभूत है जिसमें ऐसे श्वेतवर्ण, नलके नेत्रोंको (पक्षान्तरमें-कालसारनामक दोनों हरिणोंको बांधने (फँसानेमें) समर्थ हुआ। (बालोंकी बटी हुई रस्सियोंके जालको जंगलमें भी फैलानेवाला व्याधा मृगोंको लेता है, और नगर या एक मकानमें मृगोंको फंसाना तो अत्यन्त सरल है, किन्तु

अन्तःपुरकी कन्याओंकी अङ्ग-भङ्गी आदि भावोंको देखने पर भी नल जितेन्द्रिय ऐ कामदेवके वशीभूत नहीं हुए] ॥ १९ ॥

दोर्मूलमालोक्य कचं रुरुत्सोस्ततः कुचौ तावनुलेपयन्त्याः ।
नाभीमथैष श्लथवाससोऽनु मिमील दिक्षु क्रमकृष्टचक्षुः ॥ २०॥

दोरिति । एष नलः, कचं केशपाशं, रुरुत्सोः रोद्धुं बन्धुमिच्छोः, कस्याश्चि बाहुमूलमालोक्य । ततोऽनन्तरं, कुचावनुलेपयन्त्याः तौ कुचावालोक्य, अथ वाससः स्रस्तांशुकायाः नाभीमालोक्य, अन्वनन्तरं, दिक्षु पुरः पार्श्वभागेषु कृष्टचक्षुः प्रत्याहृतदृष्टिः सन्, मिमील निमीलिताक्षोऽभूत् । तत्र तथा यथे स्त्रीमण्डले तस्य पापभीरोर्नेत्रनिमीलनमेव प्राप्तमित्यर्थः ॥ २० ॥

केशको बांधनेकी इच्छा करनेवाली किसी कन्याके (दोनों हाथोंके ऊपर उठानेके उसके) बाहुमूल (कांख) को देखकर, इसके बाद दोनों स्तनोंपर कुङ्कुमादिका लेपन हुई उसके स्तनोंको देखकर फिर शिथिल वस्त्रावालीकी नाभीको देखकर इस नलने ऊपरसे नीचेकी ओर दृष्टि करते हुए अन्तमें दृष्टियोंको बन्दकर लिया । (उक्त तीनों क्रमशः एक ही बाला में अथवा विभिन्न क्रियायुक्त अनेक बालाओंमें देखकर नलने कक्ष, स्तन तथा नाभिके दर्शनका परिहार करनेके लिए ऊपरसे नीचेकी ओर दृ हुए अन्तमें परिहार न होनेपर उसे (दृष्टिको) सर्वथा बन्द कर लिया । इससे भी उत्तम नायक होना सिद्ध होता है] ॥ २० ॥

मीलन्न शेकेऽभिमुखागताभ्यां धर्तुं निपीड्य स्तनसान्तराभ्याम् ।
स्वाङ्गान्यपेतो विजगौ स पश्चात्तमङ्गसङ्गोत्पुलके पुनस्ते ॥ २१ ॥

मीलन्निति । मीलन्निमीलिताक्षः, स नलः, अभिमुखमन्योन्याभिमुखमागत तथापि स्तनाभ्यां निमित्तेन सान्तराभ्यां सव्यवधानाभ्यां काभ्यांचित् स्त्रीभ्यां मध्ये निरुध्य धर्तुं ग्रहीतुं, न शेके शक्यो नाभूत् । स नलः, पश्चादपेतोपसृतः स्वा विजगौ; परस्त्रीसंस्पर्शदोषाद्विजगर्हे, निनिन्द । ते स्त्रियौ पुनः, पुंसोऽङ्ग उत्पुलके उद्गतरोमाञ्चे जाते ॥ २१ ॥

परस्पराभिमुख आती हुई दो बालिकायें (मध्यस्थित) नेत्र मूंदे हुए उस अच्छी तरह नहीं पकड सकीं, किन्तु उन दोनोंके अत्युन्नत स्तन ही परस्परमें सट गये उन दोनोंके बीचसे हटकर पुरुष-संसर्गसे रोमाञ्चयुक्त उन दोनों कन्याओंको देख नलने अपने शरीरावयवोंकी निन्दाकी (अथवा-उन दोनोंसे अलग हटकर नलने शरीरावयवोंकी निन्दाकी तथा वे दोनों कन्याएं पुरुषस्पर्शसे 'रोमाञ्च' नामक भावसे युक्त हो गयीं । [उन दोनों कन्याओंके स्तन इतने बड़े थे कि उन दोनों मध्यमें नलके रहनेपर भी वे परस्परमें सट गये, पर नलको वे दोनों अच्छी तरह नहीं सकीं, किन्तु केवल उनके शरीरका स्पर्श मात्र हुआ, जिससे सावधान नलने

र होकर मेरे शरीरने परस्त्रीका स्पर्श कर लिया, अतः ये बड़े दोषी हैं, इस प्रकार शरीरावयवों की निन्दा की। उधर नलके शरीरका स्पर्श होनेसे उन दोनों कन्याओं रोमाञ्च हो गया। इससे नलका अत्यन्त उत्तम नायकत्व सिद्ध होता है]॥ २१॥

निमीलनस्पष्टविलोकनाभ्यां कदर्थितस्ताः कलयन् कटाक्षैः।
स रागदर्शीव भृशं ललज्जे स्वतः सतां ह्रीः परतोऽपि गुर्वी ॥ २२ ॥

निमीलनेति। निमीलनं च स्पष्टविलोकनञ्च ताभ्यां कदर्थितः निषिद्धस्पर्शन-ड़ितः। स नलः; ताः स्त्रियः, कटाक्षैः कलयन् निर्विकल्पेन गृह्णन्। रागेण तीति रागदर्शी, स इव भृशं ललज्जे। कष्टं कामुकदृष्ट्या पश्यामीति भृशं परित-प्त इत्यर्थः। नन्वप्रकाशेऽर्थे का लज्जा तत्राह—सतां सत्पुरुषाणां परतोऽपि स्वत एव र्वी, अकामादप्यकार्यकरणे परस्मादपि स्वस्मादेव लज्जते सज्जन इत्यर्थान्तरन्यासः॥

(इस प्रकार) आंख बन्द करने तथा स्पष्ट देखनेसे व्याकुल वह नल उन (अन्तःपुरमें बालाओं) को कटाक्ष (सङ्कुचित नेत्र) से देखते हुए अनुराग-सहित देखनेवालेके न अत्यन्त लज्जित हुए। क्योंकि आवरण रहित सज्जनोंको दूसरोंकी अपेक्षा अपने धिक लज्जा होती है। [आंख बन्द करनेसे परस्त्रियोंके धक्का आदि (श्लो० १३, २१) लने तथा आंख खोलनेपर परस्त्रीके स्तन जघन नाभि आदिका दर्शन (श्लो० १८, २०) दोष लगनेसे व्याकुल नलने आंखको कुछ संकुचित कर लिया अर्थात् न तो सर्वथा बन्द या और न सर्वथा खोला ही, अतः जिस प्रकार रागी पुरुष परस्त्रीको थोड़े सङ्कुचित से देखता है, वैसे वे अपनेको समझकर बहुत लज्जित हुए। यद्यपि दूसरेके सामने ही को लज्जा हुआ करती है, किन्तु यह नियम साधारण व्यक्तियोंके लिये है, बड़े सज्जन ग तो दूसरेके न रहनेपर भी स्वयं अपने मनमें ही अधिक लज्जित होते हैं, अतः अदृश्य र भी नल मन ही मन बहुत लज्जित हुए]॥ २२॥

रोमाञ्चिताङ्गीमनु तत्कटाक्षैर्भ्रान्तेन कान्तेन रतेर्निसृष्टः।
मोघःशरौघः कुसुमानि ना भूत्तद्धैर्यपूजां प्रतिपर्यवस्यन्॥ २३॥

रोमाञ्चितेति। रोमाञ्चिताङ्गीमनु पुमङ्गसङ्गात् पुलकितगात्रीमुद्दिश्य, तस्य स्य, कटाक्षैः कटाक्षवीक्षणैः, भ्रान्तेन अयमस्यामनुरक्त इति मन्वानेन, रतेः न्तेन कामेन, निसृष्टः प्रयुक्तः कुसुमान्येव शरौघः तस्य नलस्य, धैर्यस्य निर्वि-रचित्तत्वस्य पूजां प्रतिपूजायां पर्यवस्यन् पूजात्वेन परिणमन्। मोघो व्यर्थो भूत्। शत्रोरपि गुणः पूज्यो भवेदिति भावः। अत्र नलधैर्यभङ्गार्थं प्रयुक्तस्य कुसु-रजालस्य, न केवलं तदभञ्जकत्वं प्रत्युत तत्पूजकत्वमापन्नमित्यनर्थोत्पत्तिलक्षणो मालङ्कारः॥ २३॥

(नलके शरीर-स्पर्शसे) रोमाञ्चयुक्त स्त्रीको लक्ष्य नलके कटाक्ष (श्लो० २१ के अनु-र संकुचित नेत्रसे देखने) से (ये दोनों परस्पर अनुरक्त हो गये, ऐसा समझनेसे)

भ्रमयुक्त रतिपति (कामदेव) के द्वारा छोड़े गये पुष्परूप वाण–समूह उस नलके पूजाके लिए चरितार्थ होकर व्यर्थ नहीं हुए। [कामदेवके वाण छोड़नेपर भी नलके कोई विकार नहीं होनेसे यद्यपि बाणको व्यर्थ होना चाहिए था, किन्तु मुख्य लक्ष्य नहीं होनेपर भी नलके धैर्यकी पूजामें पुष्परूप वे वाण चरितार्थ हो गये, अर्थात् जैसे व्यक्ति किसीके धैर्य आदि गुणकी पूजा करनेके लिए पुष्प चढ़ाता है, वैसे ही कामदे पुष्परूप वाण भी परस्पर अनुरागोत्पादन रूप मुख्य प्रयोजनके पूर्ण न होनेपर भी नलके धैर्यकी पूजा रूप अन्य प्रयोजनमें सफल हो गये। परस्त्रीमें अनुरागोत्पन्न न कारण शत्रुभूत कामद्वारा भी धैर्यको पुष्पोंसे पूजित होना उचित ही है]॥ २३॥

हित्वैव वर्त्मैकमिह भ्रमन्त्याः स्पर्शः स्त्रियाः सुत्यज इत्यवेत्य।
चतुष्पथस्याभरणं बभूव लोकावलोकाय सतां स दीपः ॥ २४॥

हित्वेति । सतां सः दीपः सुजनश्रेष्ठः, सतां भावानां प्रकाशकः प्रदीपश्च स इह अन्तःपुरे भ्रमन्त्यास्सञ्चरन्त्याः स्त्रियाः स्पर्शः एकमभिन्नं वर्त्म हित्वैव सु इत्यवेत्य निश्चित्य लोकावलोकाय सञ्चारिजनदर्शनाय । अन्यत्र, लोकानां ज व्यवहाराय । चतुर्णां पथां समाहारः चतुष्पथं, 'तद्धितार्थ' इत्यादिना समाहारे 'ऋक्पूरब्धूः—' इत्यादिना समासान्तः। 'पथस्संख्याव्ययादेः' इति नपुंसकत्वम्। आभरणं बभूव । तत्र स्थित इत्यर्थः । क्लिष्टैकमार्गे स्त्रीसंबाधादक्लिष्टे चतुष्पथे स्थि समन्तादवलोकितवानित्यर्थः। चतुष्पथस्थो दीपो लोकावलोकाय कल्पत इति

सज्जनोंके प्रकाशक (पक्षान्तरमें–वर्तमान वस्तुओंको दिखलानेवाला) दीपक नल 'एक सङ्कीर्ण मार्गको छोड़कर ही यहां (अन्तःपुरमें) घूमती हुई स्त्रीका स्पर्श तासे छूट सकता है, ऐसा समझकर लोगोंको देखनेके लिए (पक्षा०–लोगोंको यहां वस्तुएं दिखलानेके लिये) चौरास्तेके भूषण बने (चौरास्तेपर खड़े हो गये)। [सोचा कि स्त्रियां यहां पर इधर उधर आती जाती रहती हैं, अतः मैं सङ्कीर्ण रास्तेको कर यदि चौरास्तेपर खड़ा हो जाता हूं तो किसी स्त्रीका स्पर्श न होनेसे मुझे पर जन्य दोष नहीं लगेगा अतः सज्जनोंके दीपकरूप वे अन्तःपुरके लोगोंको देखने चौरास्तेपर खड़े होकर उस प्रकार वहां की शोभा बढ़ाने लगे, जिस प्रकार चौरास्तेपर हुआ दीपक आने–जानेवाले लोगोंके लिये वहांपर स्थित सब पदार्थोंको प्रकाशित हुआ उस चौरास्तेकी शोभा बढ़ाता है]॥ २४॥

उद्वर्तयन्त्या हृदये निपत्य नृपस्य दृष्टिर्न्यवृतद् द्रुतैव ।
वियोगिवैरात् कुचयोर्नखाङ्कैरर्धेन्दुलीलैर्गलहस्तितेव ॥ २५ ॥

उद्वर्तयन्त्या इति । नृपस्य दृष्टिरुद्वर्तयन्त्या गात्रमुन्मार्जयन्त्याः, हृदये निपत्य अर्धेन्दुलीलैरर्धचन्द्राभिख्यैः, कुचयोर्नखाङ्कैः, कर्तृभिः, वियोगिषु स्वप्रयुक्तविरोधात्। गले हस्तो गलहस्तः तद्वती कृता गलहस्तिता हस्तेन

ता नुन्नेवेत्युत्प्रेक्षार्थः । सत्वन्तात् करोतीति णिचि णाविष्ठवद्भावे विण्मतोर्लुक् । कर्मणि क्तः । 'अर्धेन्दुश्चन्द्रशकले गलहस्तनखाङ्कयोः' इति विश्वः । द्रुता तैव न्यवृतत् न्यवर्तिष्ट । पापभयादिति भावः ॥ २५ ॥

(कुङ्कुमादिसे) लेप करती हुई किसी स्त्रीके वक्षः स्थलपर पड़ी हुई नलकी दृष्टि दोनों र अर्द्धचन्द्राकार नखचिह्नके द्वारा वियोगियोंके साथ विरोध होनेसे मानो गलहस्तित में हाथ डालकर बाहर निकाली गयी अर्थात् 'गर्दनिया' दी हुईके समान) झट लौट । [जैसे कोई व्यक्ति किसीके द्वारा गलेमें हाथ डालकर अपमानके साथ शीघ्र बाहर दिया जाता है, वैसे ही स्त्रियोंके दोनों स्तनोंपर अर्द्धचन्द्राकार नखचिह्नने वियोगी के साथ वैर होनेसे नल दृष्टिको भी शीघ्र बाहर कर दिया। चन्द्रमाका विरहियोंके वैर होना सुप्रसिद्ध है, अतः अर्द्धचन्द्राकार नखक्षतके द्वारा विरहिणी नलदृष्टिको बाहर करना उचित ही है ॥ परस्त्रीके आवरण रहित स्तनोंसे पाप भीरु नलने दृष्टिको शीघ्र हटा लिया] ॥ २५ ॥

तन्वीमुखं द्रागधिगत्य चन्द्रं वियोगिनस्तस्य निमीलिताभ्याम् ।
द्वयं द्रढीयः कृतमीक्षणाभ्यां तदिन्दुता च स्वसरोजता च ॥ २६ ॥

तन्वीति । तन्वीमुखमेव चन्द्रं व्यस्तरूपकम् । द्रागधिगत्य हठाद् दृष्ट्वा निमीताभ्यामिति भावः । वियोगिनस्तस्येक्षणाभ्यां तस्य तन्वीमुखस्येन्दुता च स्वयोः रोजता चेति द्वयं द्रढीयो दृढतरं कृतमित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा कथं तत्सन्निधौ तयो मीलनमिति भावः ॥ २६ ॥

चन्द्ररूप कृशाङ्गीके मुखको प्राप्त (देख) कर झट बन्द हुए नलके नेत्रोंने कृशाङ्गी मुखके त्व तथा अपने (नेत्रद्वयको) कमलत्व—इन दोनों बातोंको अच्छी तरह प्रमाणित कर । [चन्द्रतुल्य कृशाङ्गी-मुखको देखकर नलने अपने नेत्र झट बन्दकर लिये, इससे को देखकर कमल ही बन्द हो जाता है, तथा कमल चन्द्रको देखकर ही बन्द होता है दोनों बातोंको, अथवा—कृशाङ्गीका मुख चन्द्र ही है और नलके नेत्र कमल ही हैं—इन- दोनों बातोंको उन्होंने दृढ कर दिया] ॥ २६ ॥

चतुष्पथे तं विनिमीलिताक्षं चतुर्दिगेताः सुखमग्रहीष्यन् ।
संघट्य तस्मिन् भृशभीनिवृत्तास्ता एव तद्वर्त्म न चेददास्यन् ॥ २७ ॥

नन्वङ्गसंघट्टनानन्तरं तास्तं किमिति न गृह्णन्तीत्यत आह—चतुष्पथ इति । चतुष्पथे, विनिमीलिताक्षं तं नलम् । चतसृभ्यो दिग्भ्यः । एता आगताः । आङ्पूर्वादिणः कर्तरि क्तः, उत्तरपदसमासः । तास्सुखमक्लेशेन अग्रहीष्यन् गृह्णीयुः, तस्मिन्नले संघट्य अभिहत्य । आधारत्वविवक्षायां सप्तमी । भृशया गाढया भिया निवृत्तास्ता एव तस्य नलस्य वर्त्म नादास्यन् न दद्युश्चेत् । किंतु, स्वयमेव अस्य तया मार्गं दत्वा भयात् पलायितानां तासां, कुतस्तद्ग्रहणधार्ष्ट्यमित्यर्थः । क्रियातिपत्तौ लृङ् ॥ २७ ॥

(पाप-जनक परस्त्री-दर्शन न होनेके लिये) चौरास्तेपर नेत्र बन्दकर खड़े हुए चारो ओरसे आयी हुई स्त्रियां, उनका धक्का लगनेसे डरकर यदि अलग नहीं हो उन्हें सुखपूर्वक अर्थात् अनायास ही पकड़ लेतीं ॥ २७ ॥

संघट्टयन्त्यास्तरसात्मभूषाहीराङ्कुरप्रोतदुकूलहारी ।
दिशा नितम्बं परिधाप्य तन्व्यास्तत्पापसन्तापमवापभूपः ॥ २८ ॥

संघट्टयन्त्या इति । तरसा संघट्टयन्त्या अभिघ्नन्त्यास्तन्व्याः, आत्मनो भूष राणां भूषणवज्राणां, अङ्कुरेषु कोटिषु प्रोतं सक्तं दुकूलं हरतीति तद्धारी भूपः, तस्याः कटिं दिशा परिधाप्य संवस्त्य दिगम्बरं कृत्वा । तत्पापेन वस्त्रापहरण सन्तापमवाप ॥ २८ ॥

(अपने शरीरके साथ) वेगपूर्वक धक्का लगनेसे अपने भूषणमें जड़े हुए हीरोंके रोंमें फँसे हुए (स्त्रीके) वस्त्रको हरण करते हुए राजा नलने उस (स्त्री)के दिगम्बर (वस्त्ररहित) कर उस (परस्त्रीको वस्त्र-रहित करने) के पापसे उत्पन्न धारण किया । [यदि मेरे भूषणोंमें ये हीरे नहीं जड़े गये होते, या हीरा जड़े हुए योंको मैं नहीं पहना होता, तब उनमें कपड़ेके नहीं फँस जानेसे नङ्गी नहीं होती, भूषणोंको धारण कर मैने पापका कार्य किया है, इस प्रकार राजा नलको दुःख हुआ]

हतः कयाचित्पथि कन्दुकेन संघट्य भिन्नः करजैः कयापि ।
कयाचनाक्तः कुचकुङ्कमेन संभुक्तकल्पः स बभूव ताभिः ॥ २९ ॥

हत इति । स नलः, पथि कयाचित्कन्दुकेन हतः । कयापि संघट्य अभिहत्य जैर्नखैर्भिन्नः । कयाचन, कुचकुंकुमेन अक्तो लिप्तः । एवं ताभिः सम्भुक्तप्रायो बभूव

मार्गमें अर्थात् चौरास्तेपर स्थित नलको किसी स्त्रीने गेंदसे मारा (अदृश्य होनेके गेंद खेलती हुई स्त्रीका गेंद उनके शरीरसे टकरा गया) किसी स्त्रीने उनसे धक्का नाखूनोंसे खरोचा और किसी स्त्रीने (धक्का लगनेसे) स्तनोंके कुङ्कुमसे रंग दिया, (अन्तःपुरकी स्त्रियों) के द्वारा वे नल (स्त्रियोंके साथ) संभोग किये हुएके समान गये । [स्वयं स्त्रियोंने ही सब कुछ किया नलने स्वयं कोई व्यापार नहीं किया, अतः परस्त्री-सम्भोगजन्य दोष नहीं हुआ] ॥ २९ ॥

छायामयः प्रैक्षि कयापि हारे निजे स गच्छन्नथ नेक्ष्यमाणः ।
तच्चित्तयान्तर्निरचायि चारु स्वस्यैव तन्व्या हृदयं प्रविष्टः ॥ ३० ॥

छायामय इति । कयापि स्त्रिया निजे हारे छायामयः प्रतिविम्बरूपः, स प्रैक्षि प्रेक्षितः । ईक्षतेः कर्मणि लुङ् । अथ गच्छन् अपसरन्, अत एव नेक्ष्य अनिरीक्ष्यमाणः सन् । स चित्ते यस्यास्तया तद्गर्भितचित्तया तन्व्या, स्वस्यैव प्रविष्ट इति अन्तरन्तःकरणे चारु साधु निरचायि निश्चितः । स च्छायानलः शातिक्रमात्तस्या हारादेवापेतो न चित्तादिति सौन्दर्यातिशयोक्तिः ॥ ३० ॥

किसी स्त्रीने अपने मुक्ताहारमें प्रतिविम्बित नलको देखा (फिर अन्यत्र) जाते हुए उनको (अपने हारमें प्रतिविम्ब रूपसे भी) नहीं देखा, अतः उनके (सौन्दर्याधिक्यसे) चित्तवाली (अथवा—अभी मैंने अपने हारमें प्रतिविम्बित एक तरुणको देखा था, और वह नहीं दिखलायी पड़ता अतः कहां गया ऐसी चिन्तावाली) कृशाङ्गीने 'वह मेरे में ही प्रविष्ट हो गया है। इस प्रकारका ठीक ही निश्चय किया। [उस नलकी सुन्दरता उस कृशाङ्गीके हृदयमें जम गयी अतः वह अपने हारमें प्रतिविम्बित नलको देख उन आसक्त होकर काम—पीडित हो गयी] ॥ ३० ॥

तच्छायसौन्दर्यनिपीतधैर्याः प्रत्येकमालिङ्गदमू रतीशः ।
रतिप्रतिद्वन्द्वतमासु नूनं नामूषुनिर्णीतरतिः कथञ्चित् ॥ ३१ ॥

तच्छायेति । रतीशः कामः, तस्य नलस्य छाया तच्छायं, मणिकुट्टिमादिगतं प्रतिविम्बम् । "विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्" इति नपुंसकत्वम् । सौन्दर्येण निपीतधैर्या अमूः स्त्रीः प्रत्येकमेकैकामेवालिङ्गत् । अत्रोत्प्रेक्ष्यते—रतेः प्रतिद्वन्द्वतमासु रतिसदृशीष्वमूषु मध्ये स रतीशः, कथञ्चिदपि निर्णीतरतितनिजपत्नीको नाभूत् । नूनम्, अन्यथा कथं प्रत्येकमालिंगेदित्यर्थः । सर्वास्वपि थविकारः प्रादुर्भूत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

(अपने हारों तथा मणिमय फर्श एवं दीवालोंमें प्रतिविम्बित) नलके प्रतिविम्बके सौ- से नष्ट धैर्यवाली इन प्रत्येक स्त्रियोंको रतिपति (कामदेव) ने आलिङ्गन किया, क्योंकि की प्रतिद्वन्दिनी (रतिके समान) उन स्त्रियों में 'यही रति है' ऐसा निश्चय नहीं कर सका। [एकको आलिङ्गन करनेपर अन्य स्त्रीको अत्यन्त सुन्दर देख उसे ही रति समझ भी आलिङ्गन किया, इसी प्रकार सब स्त्रियोंको कामने आलिङ्गन किया, जैसे कोई भ्रमसे एक वस्तुको अपना समझकर पहले उसे लेता है, किन्तु फिर दूसरी वस्तुको समझता है तो पहले ली हुई वस्तुको छोड़कर दूसरीको ले लेता है और वास्तविक नहीं होने तक ऐसा ही करता है, वैसा ही रतितुल्य उन स्त्रियोंमें भी रतिका ठीक २ न करसकनेवाले कामदेवका कहना भी अनुचित या दोषजनक कार्य नहीं है की छायागत सुन्दरताको देखकर अन्तः पुरकी सब स्त्रियां काम—पीडित हो गयीं] ॥ ३१ ॥

तस्माददृश्यादपि नातिबिभ्युस्तच्छायरूपाहितमोहलोलाः ।
मन्यन्त एवादृतमन्मथाज्ञाः प्राणानपि स्वान् सुदृशस्तृणानि ॥ ३२ ॥

तस्मादिति । सुदृशः स्त्रियः, तच्छायारूपेण तत्प्रतिविम्बसौन्दर्येणाहितः दितो मोहः चित्तभ्रमो यासां ता अत एव लोला आसक्ताः सत्यः । अदृश्यादपीति हेतूक्तिः । तस्मान्नलान्नातिविभ्युः । शृङ्गारेण भयानकस्तिरस्कृत इत्यर्थः । तथाहि— तमन्मथाज्ञा मन्मथपरतन्त्राः सत्यः, स्वान् स्वकीयान्, प्राणानपि तृणानि

मन्यन्त एव । मन्यकर्मण्यनादरे चतुर्थ्या वैभाषिकत्वात् द्वितीया। प्राणानपि तृणी तदा तत्सङ्गमलालसानां तासां तस्माद्भयं कुत इति भावः ॥ ३२ ॥

उन (नल) के प्रतिविम्बकी सुन्दरतासे उत्पन्न मोहसे चञ्चल या सतृष्ण (उनके करनेकी इच्छा करनेवाली) वे सुनयनाएं उस अदृश्य नलसे भी अधिक नहीं डरीं, कामदेवकी आज्ञाके वशीभूत (कामपीडित) उन स्त्रियोंने अपने प्राणोंको भी तृण सम [श्रृङ्गार तथा भयानक रसमें परस्पर विरोध होनेसे उन स्त्रियोंमें कामवासनाके श्रृङ्गार रसका आविर्भाव होनेपर भयानक रसका न होना स्वाभाविक ही है, तथा जो प्राणोंको भी तृण समझता है, उसको भय न होना उचित ही है ॥ काम-पीडित होकर स्त्रियां अदृश्य नलको भी प्राण-पणसे चाहने लगीं] ॥ ३२ ॥

जागर्ति तच्छायदृशां पुरा यः स्पृष्टे च तस्मिन्विससर्प कम्पः।
द्रुतं गते तत्पदशब्दभीत्या स्वहस्तितश्चारुदृशां परं सः ॥ ३३ ॥

जागर्तीति ॥ पुरा पूर्वं, तच्छायदृशां तत्प्रतिविम्बदर्शिनीनां चारुदृशां, यः कम्पो जागर्ति स्फुरति । ततस्तस्मिन् स्पृष्टे च सति विससर्प प्रससार। स द्रुतं शीघ्रं गते अपगते सति तस्य पदशब्दाद्भीत्या कर्त्र्या परं स्वहस्तवान् कृतः स्वहस्तः, प्रवलीकृत इत्यर्थः, स्वहस्तशब्दान्मत्वन्तात् "तत्करोति" इति णाविष्ठवद्भावे विण्मतोर्लुक्। ततः कर्मणि क्तः ॥ ३३ ॥

उस (नल) की छायाको देखनेवाली सुलोचनाओंका जो कम्प पहले उत्पन्न हु वह कम्प उस (नल) का स्पर्श करनेपर बढ़ गया (दर्शनसे कम्परूप सात्विक भाव कम तथा स्पर्शसे अधिक होना उचित ही है। (किन्तु परस्त्री-दर्शनजन्यपाप न लिये वहांसे नलके शीघ्र हटनेपर उनके पैरोंकी ध्वनिसे उत्पन्न भयसे सहारा दिये समान वह कम्प अत्यन्त बढ़ गया । [प्रथम दोनों अवस्थाओंमें उत्तरोत्तर बढ़नेवाला श्रृङ्गाररससे उत्पन्न था, पुनः तृतीयावस्थामें होनेवाले अत्यन्त अधिक कम्प भयानक उत्पन्न था ॥ ३३ ॥

उल्लास्यतां स्पृष्टनलाङ्गमङ्गं तासां नलच्छायपिबाऽपि दृष्टिः।
अश्मैव रत्यास्तदनर्ति पत्या छेदेऽप्यबोधं यदहर्षि लोम ॥ ३४ ॥

उल्लास्येति ॥ रत्याः पत्या कामेन स्पृष्टं नलाङ्गं येन तत्तासामङ्गमुल्लास्यतामुत्प्राप्यताम् । उल्लासयतेः कर्मणि लोट्। नलच्छायस्य नलप्रतिविम्वस्य पिबा, नीत्यर्थः। 'पाघ्रा'इत्यादिना शप्रत्ययः, पिबादेशश्च । तासां दृष्टिरपि उल्लास्यतां तयोश्चेतनत्वादिति भावः। छेदे कर्तनेऽप्यबोधं बोधरहितम्, अचेतनं लोम, हर्षितमिति यत्। हृषेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ्। तदश्मैव पाषाण एव, अनर्ति अश्मवत् प्रायं रोमहर्षणं कुर्वाणस्य कामस्य किमसाध्यमिति भावः। अत्र रोमहर्षणाश्मवर्तन वाक्यार्थयोर्यत्तच्छब्दावगतसामानाधिकरण्यानुपपत्त्या सादृश्याक्षेपाद्वाक्यार्थवृत्ति दर्शनालङ्कारः। लक्षणं तूक्तम् ॥ ३४ ॥

रतिपति कामदेव नलके शरीरको स्पर्श करनेवाले उन स्त्रियोंके अङ्गोंको तथा नलके म्बको देखनेवाले उनके नेत्रोंको (भले ही हर्ष होनेसे) उल्लासित करे (यह कोई की बात नहीं है किन्तु) काटनेपर भी चेतनाशून्य रोमको जो उसने हर्षित कर दिया के शरीरको रोमाञ्च युक्त कर दिया), वह पत्थरको ही नचा दिया। [चेतनायुक्त र या नेत्रको उल्लासित करना सामान्य बात है, किन्तु कामदेवने—जो बाल काटनेपर चेतनाहीन रहते हैं उनको हर्षित कर जड़ पत्थरको नचानेके समान आश्चर्यकारक काम ॥ सब स्त्रियां नलके शरीरका स्पर्शकर तथा उनके प्रतिबिम्बको देखकर रोमाञ्चित यीं] ॥ ३४ ॥

यस्मिन्नलस्पृष्टकमेत्य हृष्टा भूयोऽपि तं देशमगान्मृगाक्षी ।
निपत्य तत्रास्य धरारजःस्थे पादे प्रसीदेति शनैरवादीत् ॥ ३५ ॥

यस्मिन्निति ॥ मृगाक्षी यस्मिन् देशे नलस्य स्पृष्टकं आलिङ्गनविशेषम् । "यद्यो-मुखमागताया अन्यापदेशाद् व्रजतो नरस्य । गात्रेण गात्रं घट्टते तदेतदा-स्पृष्टकमाहुरार्याः ॥" इति रतिरहस्येऽभिधानात् । एत्य प्राप्य, हृष्टा तं देशं ऽप्यगात् । पुनः स्पर्शलोभादिति भावः । किंतु तत्र देशे धरारजःस्थे भूपरागनिष्ठे लस्य पादे पादप्रतिकृतौ निपत्य, प्रसीद मां पुनः स्पर्शेनानुगृहाणेति शनैर-त् । न तु स्पर्शं लेभे । तस्यापगमादिति भावः ॥ ३५ ॥

मृगनयनी जिस स्थानपर नलके (सम्मुख अन्य कार्यसे जाती हुई उनके) शरीरके से 'स्पृष्टक' नामक आलिङ्गनको प्राप्तकर हर्षित हुई थी, उस स्थानपर (उनके आलि-ङ्गनको पानेके लिये) पुनः गयी (किन्तु वहांसे नलके हट जानेके कारण उनके आलि-ङ्गनको नहीं प्राप्त करनेसे) वहांपर भूमिकी धूलिमें स्थित (चिह्नित) इस नलके गिरकर (प्रणाम) प्रसन्न होइये, ऐसा धीरेसे कहा। [परकीया नायिका परपुरुषके सुखानुभवकर पुनः संभोगादिके लिये वहां जानेपर उसे प्रसन्न करनेके लिये पैरों-रकर दूसरा कोई न सुन ले इस कारण धीरेसे प्रार्थना करती है। वह स्त्री नलमें अत्य-क्त हो गयी] ॥ ३५ ॥

भ्रमन्नमुष्यामुपकारिकायामायास्य भैमीविरहात्कृशीयान् ।
असौ मुहुः सौधपरम्पराणां व्यधत्त विश्रान्तिमुपत्यकासु ॥ ३६ ॥

भ्रमन्निति ॥ भैमीविरहात् कृशीयान् अतिकृशोऽसौ नलः । अमुष्यामुपका-कायां राजसद्मनीत्यर्थः । भ्रमन् सञ्चरन्, आयास्य परिश्रम्य, मुहुः सौधपरम्परा-णाम्, उपत्यकास्वासन्नभूमिषु । अत्र सौधानां पर्वतसाधर्म्यात् गौणोऽयं प्रयोगः । "उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः" इति त्यकन्प्रत्ययस्य पर्वतासन्नभूमिसंज्ञात्वेन नात् । "उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमि"रित्यभिधानात्तथैव प्रयोगाच्च । संज्ञात्वादेव सेकाराभावः । विश्रान्तिं व्यधत्त विश्रान्तोऽभूदित्यर्थः ॥ ३६ ॥

दमयन्तीके विरहसे अत्यन्त कृश यह (नल) अन्तःपुरमें घूमते-घूमते अत्यन्त प्रासाद-समूहोंके पासकी भूमिमें बार-बार विश्राम किये। [जैसे अत्यन्त दुर्बल घरमें भी चलते चलते थककर बार-बार विश्राम करता है, वैसे विरहदुर्बल नलका करना उचित ही है ॥ बहुत देरतक घूमते-घूमते थककर नल एक जगह बैठकर करने लगे] ॥ ३६ ॥

उल्लिख्य हंसेन दले नलिन्यास्तस्मै यथादर्शि तथैव भैमी।
तेनाभिलिख्योपहृतस्वहारा कस्या न दृष्टाजनि विस्मयाय ॥ ३७

किं चात्र विश्रान्तो विनोदाय भैमीप्रतिकृतिमालिख्याद्राक्षीदित्याह श्लोक उल्लिख्येति ॥ नन्वदृष्टपूर्वां तां कथमलिखदिति शङ्कां निरस्यन्नाह—पूर्वं नलिन्या दले भैमी यथा येन प्रकारेण उल्लिख्य तस्मै नलायादर्शि दर्शिता। तेन नलेन अभिलिख्य उपहृतस्वहारा कण्ठार्पितनिजमुक्ताहारा, तदा वि त्यर्थः। दृष्टा सती कस्या विस्मयाय नाजनि न जाता, सर्वस्या अपि जातेत्यर्थः।

हंसने कमलके पत्तेपर चित्र बनाकर जैसी दमयन्तीको नलके लिये दिख (विश्राम करते समय बैठे हुए) उस नलने वैसा ही चित्र बनाकर उस (चित्र यन्ती) को अपना हार पहना दिया, हार पहनी हुई चित्रगत उस दमयन्तीको किस स्त्रीको आश्चर्य नहीं हुआ ? अर्थात् सभीको आश्चर्य हुआ। [थककर विश्रा हुए नलने मनोविनोदके लिये पहले हंसके द्वारा कमलपत्रपर चित्रित दमयन्तीके दमयन्तीका चित्र बनाकर उसे अपना हार पहना दिया, उसे देख सभी अन्तःपुरकी 'किसने राजकुमारीका चित्र बनाकर हार पहना दिया ?' इस प्रकार आश्चर्य करने

कौमारगन्धीनि निवारयन्ती वृत्तानि रोमावलिवेत्रचिह्ना।
सालिख्य तेनैक्ष्यत यौवनीयद्वाःस्थामवस्थां परिचेतुकामा ॥ ३८

कौमारेति ॥ तेन नलेन यौवनस्येयं यौवनीया। वृद्धाच्छः। तस्यां द्वारि प्रमुखे च तिष्ठतीति यौवनीयद्वाःस्था। "खरवसानयोर्विसर्जनीयः" इति विसर्जनीये तस्य वा सत्वम्। तामवस्थां दौवारिकदशां यौवनप्रवेशदशां च, प कामा अभ्यसितुकामा। अत एव रोमावलिरेव वेत्रं दण्डः तच्चिह्नं यस्याः कौमारगन्ध एषामस्तीति कौमारगन्धीनि शैशवसंस्पर्शीनि, वृत्तानि चाप निवारयन्ती सा दमयन्ती आलिख्य ऐक्ष्यत। ईक्षतेः कर्मणि लङ्। वयःसन्धौ मानान्तामालिख्य अद्राक्षीदित्यर्थः। रूपकालङ्कारः ॥ ३८ ॥

बाल-सम्बन्धी कुछ-कुछ आचरणों (चञ्चलता या बाल्यक्रीडा आदि) को निवारण (छोड़ती) हुई रोमावलीरूप वेंतकी छड़ीके चिह्नसे युक्त तथा युवावस्थासम्बन्धी स्थित अवस्थाको स्वीकृत या उससे परिचय करनेकी इच्छा करनेवाली दमयन्तीको (चित्रित) कर नल देखते रहे। [दमयन्तीका बाल्य समाप्तप्राय है तथा वह

प्रवेश कर रही है, जैसे द्वारपालरूपमें स्थित अन्य कोई व्यक्ति छड़ी लेकर किसीको ता है, वैसे ही यह दमयन्ती भी उस बाल्यक्रीडादिको युवावस्थाके आरम्भमें नाभिके त्पन्न होती हुई रोमावलिरूप बेंतको धारणकी हुई रोक रही है तथा युवावस्थासम्बन्धी वस्थाका परिचय (युवावस्थामें प्रवेश) कर रही है] ॥ ३८ ॥

पश्याः पुरन्ध्रीः प्रति सान्द्रचन्द्ररजःकृतक्रीडकुमारचक्रे ।
चित्राणि चक्रेऽध्वनि चक्रवर्तिचिह्नं तदङ्घ्रिप्रतिमासु चक्रम् ॥ ३९ ॥

पश्या इति ॥ सान्द्राणि चन्द्ररजांसि कर्पूरपांसवः । 'अथ कर्पूरमस्त्रियाम् । सारश्चन्द्रसंज्ञः' इत्यमरः । तैः कृतक्रीडं कुमारचक्रं, बालसङ्घो यस्मिन् तस्मिन् वनि चक्रवर्तिचिह्नं सार्वभौमलक्षणं, तस्य नलस्य, अङ्घ्रिप्रतिमासु पादन्यासेषु । चक्ररेखाः पश्यन्तीति पश्याः पश्यन्तीः, "पाघ्रा"इत्यादिना शप्रत्ययः पश्याः । पुरन्ध्रीः प्रति स्त्रिय उद्दिश्य चित्राणि चक्रे । तासामाश्चर्याणि जनया- र्थः ॥ ३९ ॥

घन कर्पूर-धूलिमें (या सघन कर्पूर-धूलिसे) खेले हैं राजकुमार जिसमें ऐसे मार्गमें नलके पैरोंके चिह्नोंमें चक्रवर्तीका चिह्नभूत चक्रने देखती हुई स्त्रियोंको आश्चर्यित कर या। [नल जिस मार्गसे गये वह मार्ग बहुत-सी कर्पूरधूलिवाला था तथा वहां पर राजकुमार क्रीडा कर चुके थे, उस मार्गमें नलके पैरके चिह्न पड़ गये, उन चिह्नोंमें र्तीके लक्षणभूत चक्रका चिह्न था, उसे देखकर स्त्रियां आश्चर्य करने लगीं कि कौन र्ती इस मार्गसे गया है, जिसके पैरोंके चिह्नमें यह चक्र दीख रहा है। उन खेलनेवाले कुमारोंके पादचिह्नकी अपेक्षा बड़ा होनेके कारण 'यह चिह्न किसी राजकुमारका ही है' सन्देह उन स्त्रियों को नहीं हुआ] ॥ ३९ ॥

तारुण्यपुण्यामवलोकयन्त्योरन्योन्यमेणीक्षणयोरभिख्याम् ।
मध्ये मुहूर्तं स बभूव गच्छन्नाकस्मिकाच्छादनविस्मयाय ॥ ४० ॥

तारुण्येति ॥ तारुण्यपुण्यां यौवनमनोज्ञाम् । 'पुण्यं मनोज्ञ' इति विश्वः अन्यो- न्यमभिख्यां शोभामवलोकयन्त्योरेणेक्षणयोः मृगाक्ष्योर्मध्ये गच्छन् मुहूर्तम्, ईषत्का- लम्, आकस्मिकाच्छादनेन निर्हेतुकव्यवधानेन विस्मयाय बभूव । अत्र व्यवधान- कारणं विना व्यवधानोक्तेरकारणे कार्योत्पत्तिलक्षणो विभावनालङ्कारः ॥ ४० ॥

यौवनावस्थाकी मनोज्ञ शोभाको परस्पर देखती हुई दो मृगनयनी स्त्रियोंके बीचमें ते हुए वे नल क्षणमात्र आकस्मिक आवरण (रुकावट) होनेसे उनके आश्चर्यके लिये ए। [इच्छानुसार अन्तर्द्धि सिद्धिके वरदान (५।१३७) पानेसे नलको अपनी इच्छाके नुसार स्वयं अदृश्य होनेपर भी उनकी छायाके अदृश्य नहीं होने तथा उनके शरीर तथा स्त्रादिका स्पर्श दूसरोंको होनेमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिये] ॥ ४० ॥

पुरःस्थितस्य क्वचिदस्य भूषारत्नेषु नार्यः प्रतिबिम्बितानि ।
व्योमन्यदृश्येषु निजान्यपश्यन् विस्मित्य विस्मित्य सहस्रकृत्वः ॥

पुर इति ॥ क्वचिद्देशे नार्यः पुरःस्थितस्य नलस्य अदृश्येषु भूषारत्नेषु प्रतिबिम्बितानि प्रतिबिम्बानि, व्योमनि शून्ये विस्मित्य विस्मित्य विस्मिता भूत्वा । सहस्रकृत्वः सहस्रवारमपश्यन् । अत्रापि निरालम्बनप्रति शंनोक्तेरकारणे कार्योत्पत्तिलक्षणो विभावनालङ्कारः ॥ ४१ ॥

स्त्रियोंने (अपने) आगे स्थित नलके भूषण-मणियोंमें अपने प्रतिबिम्बोंको आश्चर्यित होकर हजारों (अनेकों) वार आकाशमें देखा । [आकाशमें किसीकी कदापि प्रतिबिम्बित नहीं होती, किन्तु हमलोगोंका प्रतिबिम्ब आकाशमें दीखता अन्तःपुरकी स्त्रियोंने बहुत वार आश्चर्यचकित होकर प्रतिबिम्बोंको देखा] ॥ ४१ ॥

तस्मिन् विषज्यार्धपथान्निवृत्तं तदङ्गरागच्छुरितं निरीक्ष्य ।
विस्मेरतामापुरनुस्मरन्त्यः क्षिप्तं मिथः कन्दुकमिन्दुमुख्यः ॥

तस्मिन्निति ॥ इन्दुमुख्यः स्त्रियः, मिथः क्षिप्तम्, अन्योन्यं प्रति प्रेरितं तस्मिन्नले विषज्य लग्नीभूत्वा अर्धः पन्थाः अर्धपथः, विशेषणसमासे समा "अर्धं नपुंसकम्" इत्येकदेशसमास इति केचित् । तत्र समांशनिबन्धः । वृत्तं प्रत्यागच्छन्तं, तस्य नलस्याङ्गरागेण च्छुरितं रूषितं, कन्दुकं निरीक्ष्य रन्त्यः कुत एतदिति पुनःपुनरनुसन्दधाना विस्मेरतां विस्मितत्वमापुः । "स्मिपस्मि" इत्यादिना रप्रत्ययः ॥ ४२ ॥

चन्द्रमुखियां परस्परमें एक दूसरेको लक्ष्यकर फेंका गया, किन्तु नलके शरीरमें आधे रास्तेमें ही गिरा हुआ तथा उनके शरीर-राग (चन्दन आदि) से व्याप्त गेंद (किसका यह अङ्गराग इसमें लग गया ? तथा यह आधे रास्तेमें ही क्यों गिर पड़ा विचार करती हुई आश्चर्यित हो गयीं ॥ ४२ ॥

पुंसि स्वभर्तृव्यतिरिक्तभूते भूत्वाप्यवीक्षानियमव्रतिन्यः ।
छायासु रूपं भुवि तस्य वीक्ष्य फलं दृशोरानशिरे महिष्यः ॥

पुंसीति । महिष्यो राजदाराः, स्वभर्तृव्यतिरिक्तभूते पुंसि परपुरुषे विषये क्षानियमेन अनिरीक्षासङ्कल्पेन, व्रतिन्यः व्रतवत्यो भूत्वा तस्य नलस्य भुवि भूमौ छायासु प्रतिबिम्बेषु रूपंसौन्दर्यं वीक्ष्य दृशोः फलमानशिरे प्रापुः आदेः" इत्यभ्यासदीर्घः । "अश्नोतेश्च" इति नुडागमः ॥ ४३ ॥

अपने पति (राजा भीम) के अतिरिक्त पुरुषको न देखनेका नियम पूर्वक करनेवाली होकर भी पटरानियोंने मणिमय भूमि (फर्श) पर (पड़ी हुई) नलकी में उनका रूप देखकर नेत्रोंका फल प्राप्त कर लिया । [प्रतिबिम्बमें नलका रू उनका व्रत-भङ्ग भी नहींहुआ । तथा सुन्दरतमरूप देखनेसे उनके नेत्र भी सफल

विलोक्य तच्छायमतर्कि ताभिः पतिं प्रति स्वं वसुधापि धत्ते ।
यथा वयं किं मदनं तथैनं त्रिनेत्रनेत्रानलकीलनीलम् ॥ ४४ ॥

विलोक्येति ॥ ताभिः राजमहिषीभिः, तस्य नलस्य, छाया अनातपरेखा तच्छा- । नीलमिति शेषः । विलोक्य यथा वयं, स्वं स्वकीयं, पतिं भीमं, प्रत्युद्बुद्धम्, दध्महे । तथा वसुधापि स्वं पतिं भीममेव प्रत्युद्बुद्धम् । किन्तु, त्रिनेत्रस्य स्य, नेत्रानलकीलैर्नेत्राग्निज्वालैः, नीलं कृष्णवर्णम्, एनं मदनं धत्ते किमित्यतर्कि तवत् । नलच्छाये वसुधागते तस्मिन्मदनत्वोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः । नलच्छा- क्षीणां मदनविभ्रमः, नले तु किमु वक्तव्यमिति शेषः ॥ ४४ ॥

के प्रतिबिम्बको देखकर उन (पटरानियों) ने ऐसा तर्क किया—"जिस प्रकार पति (भीम) के प्रति हमलोग मदनको (हृदयमें) धारण करती हैं, उसी प्रकार अपने पति (भीम) के प्रति शिवजीकी नेत्राग्निकी ज्वालासे श्यामवर्ण मदनको करती है । [अथवा—जिस प्रकार हमलोग लज्जावश भीमके प्रति कामको छिपाती प्रकार पृथ्वी अपने पति भीमके प्रति शिवजीके तृतीय नेत्राग्निकी ज्वालासे श्यामवर्ण को (अन्तःकरणमें) छिपाती है । भीमको भूपति होनेसे पृथ्वीका भी पति सर्वसिद्ध है । छायाके श्याम वर्ण होनेसे यहां शिवनेत्राग्नि-ज्वालाका वर्णन है, अग्नि- ालासे कोई भी पदार्थ श्यामवर्ण (धूम्रयुक्त) हो जाता है] ॥ ४४ ॥

रूपं प्रतिच्छायिकयोपनीतमालोकि ताभिर्यदि नाम कामम् ।
तथापि नालोकि तदस्य रूपं हारिद्रभङ्गाय वितीर्णभङ्गम् ॥ ४५ ॥

न्वेवं नलविलोकिनीनामासां कथं न परपुरुषनिरीक्षणे व्रतलोपस्तत्राह— ति ॥ प्रतिच्छायैव प्रतिच्छायिका । स्वार्थे कः । "कात्पूर्वस्य" इतीकारः । नीतं रूपं छायात्मकं स्वरूपं ताभिः स्त्रीभिरालोकि यदि आलोकितं चेत् । कामं थेष्टमालोक्यतां नाम । तथापि हारिद्रभङ्गाय हरिद्राखण्डाय वितीर्णभङ्गं दत्तपरा- , तत्स्वरूपमित्यर्थः । अस्य तत्प्रसिद्धं रूपं स्वरूपं नालोकि नालोकितम् । रूपदर्शने दोषः, न प्रतिच्छायादर्शन इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

न (पटरानियों) ने प्रतिबिम्बमें यद्यपि नलका स्वरूप (या सौन्दर्य) अच्छी तरह थापि हल्दीके टुकड़े (या सुवर्ण) को (अपनी सुन्दरतासे) पराजित करनेवाले (नल) के उस (अति प्रसिद्ध एवं अवर्णनीय) रूपको नहीं देखा ॥ ४५ ॥

भवन्नदृश्यः प्रतिबिम्बदेहव्यूहं वितन्वन्मणिकुट्टिमेषु ।
पुरं परस्य प्रविशन् वियोगी योगीव चित्रं स रराज राजा ॥ ४६ ॥

भवन्निति । वियोगी विरही अयोगो च । स राजा नलः, अदृश्यो भवन् स्वयम- सन् मणिकुट्टिमेषु मणिनिबद्धभूमिषु, प्रतिबिम्बदेहानां व्यूहं समूहं, वितन्वन् स्तारयन् । योगिपक्षे बहूनि योगशरीराणि युगपत् कल्पयन् । तथा परस्य राजा-

न्तरस्य, पुरं नगरम्। अन्यत्र जीवान्तरस्य शरीरं परकायं प्रविशन्। 'पुरं पु च' इति विश्वः। योगी अणिमादिसिद्धिमानिव, रराज चित्रम् ॥ ४६ ॥

वियोगी (दमयन्ती-विरहयुक्त) नल अदृश्य होकर मणिमय भूमिमें प्रतिबि देह-समूहको विस्तृत करते हुए तथा दूसरेके नगर (अथवा एक गृहसे दू पक्षान्तरमें—दूसरेके शरीरमें) प्रवेश करते हुए योगी अर्थात् मुनिके समान शोभ यह आश्चर्य है। [वियोगीका योगीके समान होना आश्चर्यकारक होता ही है। अपने कायव्यूहका विस्तार करता है, अदृश्य होता है तथा वियोगी अर्थात् विषयों होता है] ॥ ४६ ॥

पुमानिवास्पर्शि मया भ्रमन्त्या छाया मया पुंस इव व्यलोकि।
ब्रुवन्निवातर्कि मयापि कश्चिदिति स्म स स्त्रैणगिरः शृणोति ॥ ४

पुमानिति। भ्रमन्त्या मया पुमानिवास्पर्शि स्पृष्टः। मया पुंसः छायेव विलोकिता। मयापि कश्चित् ब्रुवन् लपन्निव, अतर्कि तर्कितः। सर्वत्र कर्मणि इत्येवंरूपाः स्त्रैणस्य स्त्रीसमूहस्य गिरः। यद्वा, स्त्रीषु भवाः स्त्रैणाः गिरः। " भ्यां नञ्स्नञौ भवनात्" इति भवार्थे नञ्प्रत्ययः। स नलः, शृणोति स्म। स्मे" इति भूते लट् ॥ ४७ ॥

'घूमती हुई मैंने पुरुषके समान किसीका स्पर्श किया, मैंने पुरुषके समान प्रतिबिम्ब देखा, मैंने पुरुषके 'समान किसीके शब्दका अनुमान किया' इस प्रकार (या दमयन्तीसे कहते हुए) स्त्री-समूहके (अथवा—स्त्री—सम्बन्धी) वचनको नल ने सु

अम्बां प्रणम्योपनता नताङ्गी नलेन भैमी पथि योगमाप।
स भ्रान्तभैमीषु न तां विवेद सा तं च नादृश्यतया ददर्श ॥ ४

अम्बामिति ॥ नताङ्गी व्यानतगात्री भैमी। अम्बां मातरम्। 'अम्बा जननी माता च' इति हलायुधः। प्रणम्योपनता सती, नलेन पथि यो किन्तु स नलो भ्रान्तभैमीषु अलीकभैमीषु मध्ये तां न विवेद विविच्य ना सा च तं नलम् अदृश्यतया न ददर्श। अत्र रूपसाम्याद्भ्रान्तभैम्याः भ्रान्त सहाभेदाभिधानात् सामान्यालङ्कारः। "सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्त इति लक्षणात् ॥ ४८ ॥

माताको प्रणाम कर आयी हुई नताङ्गी दमयन्तीने रास्तेमें नलका स्पर्श कर लि नलने भ्रान्तिसे शतशः कल्पित दमयन्तीके बीचमें उसको वास्तविक दमयन्ती नहीं उस (दमयन्ती) ने भी अदृश्य होने से नलको नहीं देखा। [दोनोंमेंसे वास्तवि किसीने किसीको नहीं पहचाना] ॥ ४८ ॥

प्रसूप्रसादाधिगता प्रसूनमाला नलस्य भ्रमवीक्षितस्य।
क्षिप्तापि कण्ठाय तयोपकण्ठे स्थितं तमालम्बत सत्यमेव ॥ ४९

प्रस्विति। प्रसूप्रसादाधिगता मातृप्रसादलब्धा। "जनयित्री प्रसूर्माता जननी" त्यमरः। प्रसूनमाला पुष्पमालिका। तया भैम्या भ्रमवीक्षितस्य भ्रान्तिदृष्टस्य स्य कण्ठाय क्षिप्ताप्युपकण्ठे समीपे स्थितं सत्यमेव तथ्यमेव तं नलमालम्बत । मणिप्रभायां मणिबुद्धिन्यायादिति भावः ॥ ४९ ॥

भा द्वारा प्रसन्नतासे दी हुई पुष्पकी माला, भ्रान्तिसे देखे जाते हुए नलके कण्ठके लिये यी भी वास्तविक नलको अवलम्बित हुई। [नलको दमयन्ती सर्वदा सब दिशाओंमें देखा करती थी, अतः उसी भ्रान्तिमें देखे जानेवाले नलको लक्ष्यकर दमयन्तीने द्वारा प्रसादरूपमें प्राप्त पुष्प-मालाको फेंका और वह वास्तविक नलके गलेमें पड़ गयी। द्वारा 'भविष्यमें' दमयन्ती नलको ही जयमाल पहनावेगी' यह शकुन सूचित है] ॥ ४९ ॥

स्ववासनादृष्टजनप्रसादः सत्येयमित्यद्भुतमाप भूपः।
क्षिप्तामदृश्यत्वमितां च मालामालोक्य तां विस्मयते स्म बाला ॥५०॥

स्ववासनेति ॥ भूपो नलः, वासनया निरन्तरभावनया, दृष्टस्य जनस्य, अलीकभैम्याः प्रसादोऽनुग्रहभूता इयं स्रक् सत्या सत्यभूतेति हेतोरद्भुतमाप। बाला भैमी च, स्वयमात्मना न्यस्ताम्। अथ अदृश्यत्वमितां प्राप्तां तां मालामालोक्य आलोच्य विस्मयते स्म विस्मिताभूत् ॥ ५० ॥

सर्वदा भावनामें देखी जाती हुई दमयन्तीका प्रसाद यह माला सत्य है, इस कारण (नल) आश्चर्यित हुए भ्रान्ति-दृष्ट व्यक्तिकी दी हुई वस्तु भी असत्य ही होती है, पर पुष्पमाला तो असत्य नहीं है, सो कैसे हुआ इस कारण नलको आश्चर्य हुआ) तथा फेंकी पुष्पमालाको पुनः न देखकर बाला (दमयन्ती) भी आश्चर्ययुक्त हो गयी मैंने जिस मालाको अभी फेंका, वह कहां अदृश्य हो गयी ? यह दमयन्तीको आश्चर्य हुआ) ॥ ५० ॥

अन्योन्यमन्यत्रवदीक्षमाणौ परस्परेणाध्युषितेऽपि देशे।
आलिङ्गितालीकपरस्परान्तस्तथ्यं मिथस्तौ परिषस्वजाते ॥ ५१ ॥

अन्योन्यमिति ॥ तौ भैमीनलौ, परस्परेणाध्युषिते देशेऽपि अन्योन्यमिति कर्मव्यतिहारे। नलो भैमीं सा च नलमित्यर्थः। अन्यत्रवद्देशान्तर इवेक्षमाणौ, अन्यत्र स्थिताविव पश्यन्तावित्यर्थः। आलिङ्गितमालिङ्गनम्, अलीकं यस्य तदालिङ्गितालीकम्, एतदालिङ्गनं मिथ्येत्यभिमानं, परस्परस्यान्तरन्तःकरणं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा। अव्ययोत्तरपदो बहुव्रीहिः। अव्ययं रेफान्तं क्रियाविशेषणम्। मिथोऽन्योन्यं तथ्यं यथार्थमेव। परिषस्वजाते श्लिष्यतः। "उपसर्गात्सुनोति" इत्यादिना षत्वम्। पूर्ववासनया परस्परचेष्टां मिथ्येति मन्यमानावेव तथ्यमचेष्टेतामित्यर्थः ॥ ५१ ॥

परस्पर एक स्थानपर स्थित वे दोनों (दमयन्ती तथा नल) ने परस्परमें एक अन्यत्र स्थितके समान देखते हुए तथा यह आलिङ्गन मेरा पूर्ववत् भ्रान्तिवश है ऐसा हृदयमें समझते हुए वास्तवमें सचमुच ही परस्पर आलिङ्गन कर लिया। [नल एक स्थानपर ठहरे थे, दमयन्ती भी वहीं ठहरी थी, वहां दोनोंने परस्परमें एक देखते हुए आलिङ्गन कर लेनेपर भी मनमें यही समझा कि यह आलिङ्गन भी वैसा ही भ्रमजन्य है जैसा पहले कई वार हो चुका है] ॥ ५१ ॥

स्पर्शं तमस्याधिगतापि भैमी मेने पुनर्भ्रान्तिमदर्शनेन ।
नृपस्तु पश्यन्नपि तामुदीतस्तम्भो न धर्तुं सहसा शशाक ॥ ५२॥

स्पर्शमिति ॥ भैमी तं तथ्यं स्पर्शम् अधिगता प्राप्तापि । पुनरस्य नलस्य नेनादृश्यत्वेन, भ्रान्तिं मेने । अतो नलं धर्तुं न शशाकेति शेषः । नृपस्तु पश्य दीतस्तम्भो निष्क्रियाङ्गत्वलक्षणः सात्त्विको यस्य, स सन् । तां भैमीं, सहसा ग्रहीतुं न शशाक । अन्यथा धरेदिति भावः । उदीतेति ईङ् गताविति दीर्घ धातुनानिष्पन्नम् । अत्र स्तम्भपदार्थस्य विशेषणगत्या धारणाशक्तिहेतुकत्वात् हेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ५२ ॥

नलके वास्तविक स्पर्शका अनुभव करनेवाली भी दमयन्तीने उनको नहीं देखने स्पर्शको भ्रमजन्य ही माना, तथा उसे (दमयन्तीको) देखते हुए भी वे राजा (नल) (नामक सात्त्विक भाव) के उत्पन्न होनेसे सहसा उस दमयन्तीको पकड़ नहीं सके ।

स्पर्शातिहर्षादृतसत्यमत्या प्रवृत्य मिथ्या प्रतिलब्धबोधौ ।
पुनर्मिथस्तथ्यमपि स्पृशन्तौ न श्रद्दधाते पथि तौ विमुग्धौ ॥ ५३

स्पर्शेति । विमुग्धौ रागान्धौ, तौ दमयन्तीनलौ, पतिस्पर्शनातिहर्षोऽति नन्दः, तस्माद्धेतोस्तदन्यथानुपपत्त्या, आदृतया दृढीकृतया, सत्यमत्या स्पर्श इति बुध्या प्रवृत्य पुनर्व्यापृत्य मिथ्याप्रतिलब्धबोधौ प्रवृत्तेऽपि भान्मिथ्येति निश्चितबोधौ, मिथ्येति बुद्धवन्तावित्यर्थः । पुनरित्थमुभयदर्शना मिथोऽन्योन्यं, तथ्यं यथार्थमपि स्पृशन्तावपि, न श्रद्दधाते न विशश्वसतुः । लिटि तङ् । श्रच्छब्दस्य "श्रदन्तरोरुपसङ्ख्यानमि"त्युपसर्गत्वाद्धातोः प्राक् प्र

प्रथम स्पर्शसे उत्पन्न अत्यन्त हर्षसे उसे सत्य मानकर फिर आलिङ्गनमें प्रवृत्त स्पर्श न होनेसे 'वह स्पर्श भ्रान्तिजन्य था' इस मिथ्याबुद्धिसे प्रथम-स्पर्श-जन्य सत्य दूर हो जानेपर फिर (तृतीय वार) वास्तविक स्पर्श करते हुए भी वे दोनोंने मोहित इस (वास्तविक तृतीय स्पर्शमें भी विश्वास नहीं किया) (इस सत्य स्पर्शको भी भ्रा ही माना) ॥ ५३ ॥

---

१. "मिथ्याप्रतिलब्धबाधौ" इति पाठान्तरम् ।

सर्वत्र संवाद्यमबाधमानौ रूपश्रियातिथ्यकरं परं तौ ।
न शेकतुः केलिरसाद्विरन्तुमलीकमालोक्य परस्परं तु ॥ ५४ ॥

सर्वत्रेति ॥ तौ भैमीनलौ, रूपश्रिया सौन्दर्यसम्पदा, सर्वत्र सर्वावयवेषु संवाद्यं संवादार्हं, परस्परानुरूपमित्यर्थः । अत एव परमत्यन्तमातिथ्यकरं मिथः सत्का- री । अलीकमसत्यं परस्परन्तु कर्म आलोक्य । अबाधमानौ मिथ्येत्यमन्यमानौ, रसात् क्रीडारागाद्विरन्तुं निवर्तितुं न शेकतुः, किंत्वलीकेनापि परस्परेण क्रीडि- तवन्तावित्यर्थः ॥ ५४ ॥

वे दोनों (दमयन्ती तथा नल) सौन्दर्य-सम्पत्तिसे सब अवयवोंमें परस्पर संवादके (परस्पर अविरुद्ध अर्थात् मिलता जुलता हुआ । अतएव परस्परमें एक दूसरेका) सत्कार करनेवाले अलीकको परस्पर देखकर असत्य नहीं समझते हुए क्रीडासे विरत हुए । अथवा अत्यन्त सौन्दर्य-शोभासे परस्परको अत्यन्त सुखकारक बहुत स्थानोंमें स्पर्शादिसे) सत्यरूप मानते हुए वे दोनों (दमयन्ती तथा नल) असत्यको भी परस्पर क्रीडारससे विरत नहीं हुए । [कुछ स्थानोंमें असत्य स्पर्शादि होनेपर भी अनेक सत्य स्पर्शादि होनेसे उन दोनोंने क्रीडाका त्याग नहीं किया] ॥ ५४ ॥

परस्परस्पर्शरसोर्मिसेकात्तयोः क्षणं चेतसि विप्रलम्भः ।
स्नेहातिदानादिव दीपिकार्चिर्निमिष्य किञ्चिद्द्विगुणं दिदीपे ॥ ५५ ॥

परस्परेति ॥ तयोर्भैमीनलयोः, चेतसि विप्रलम्भो विरहः, परस्परस्पर्शरसस्य अन्योन्यस्पर्शसुखस्य, ऊर्मिभिः सेकात् क्षणं स्नेहस्य तैलादेरतिदानाद्दीपिकार्चिर्दीप- ज्वालेव किञ्चिदीपन्निमिष्य निवार्य, द्वौ गुणावावृत्ती यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा द्विगुणम्, अधिकं दिदीपे प्रजज्वाल । सोऽप्युद्दीपक एवाभूदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

उन दोनोंके चित्तमें स्थित विरह आपसके स्पर्श-रसकी अधिकताके सिञ्चनसे (परस्पर- के स्पर्शानन्दरूपी जलके तरङ्गके द्वारा सींचनेसे) क्षणमात्र कुछ सङ्कुचित-सा होकर अधिक स्नेह (प्रेम, पक्षान्तरमें—तैल) के देनेसे दीपकके लौके समान फिर द्विगुणित उद्दीप्त होने (बढ़ने, पक्षान्तरमें—जलने) लगा । जैसे अधिक तेल डालने से दीपकका पहले कुछ बुझता-सा होकर फिर द्विगुणित होकर जलने लगता है, वैसे ही अधिक स्पर्शादि सुख द्वारा वैसे ही क्षणमात्र शान्त भी उन दोनोंका विरह तत्काल ही अत्यन्त तीव्र हो गया । मिलन नहीं होनेपर विरह उतना दुःसह नहीं होता, जितना मिलन होनेके बाद दुःसह होता है] ॥ ५५ ॥

वेश्माप सा धैर्यवियोगयोगाद्बोधञ्च मोहञ्च मुहुर्दधाना ।
पुनःपुनस्तत्र पुरः स पश्यन् बभ्राम तां सुभ्रुवमुद्भ्रमेण ॥ ५६ ॥

वेश्मेति ॥ सा भैमी, धैर्यवियोगयोर्योगाद्यथासंख्यं मुहुर्बोधञ्च मोहञ्च दधानेति यथासंख्यालङ्कारः । वेश्म निजावासमाप । स नलस्तत्र तां सुभ्रुवं भैमीम् उद्भ्रमेण

भ्रान्त्या पुनः पुनः पुरोऽग्रे पश्यन् बभ्राम । प्राप्त्याशयेति भावः । एतेन चाप सञ्चारिभाव उक्तः । 'चापलं त्वनवस्थानम्' इति लक्षणात् ॥ ५६ ॥

वह दमयन्ती धैर्य तथा वियोगके संसर्गसे (क्रमशः) ज्ञान ('यहां नल कहांसे इस प्रकारका ज्ञान) तथा मोह ('यह नल ही है' इस प्रकारका मोह । अथवा— को बारबार धारण करती हुई कुमारीगृहको चली गयी । तथा वे नल भ्रान्तिके कारण भौंहोंवाली उसे (दमयन्तीको) बारबार आगे देखते हुए (दमयन्तीको पानेकी इ उस कुमारी-भवनमें घूमने लगे । [नलके इस कार्यसे 'चपलता' नामक सञ्चारी सूचित होता है] ॥ ५६ ॥

पद्भ्यां नृपः सञ्चरमाण एष चिरं परिभ्रम्य कथं कथंचित् ।
विदर्भराजप्रभवानिवासं प्रासादमभ्रङ्कषमाससाद ॥ ५७ ॥

पद्भ्यामिति ॥ एष नृपः पद्भ्यां सञ्चरमाणो गच्छन् । "समस्तृतीयायु इति तृतीया । चिरं परिभ्रम्य कथंकथञ्चित् पादचारक्लेशादतिकृच्छ्रेण, विद प्रभवः कारणं यस्यास्तस्याः वैदर्भ्याः निवासम् । अभ्रं कषतीत्यभ्रंकषमत्यु "सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कष" इति खच्प्रत्यये मुमागमः । प्रासादं सौधमाससाद ।

पैदल घूमते हुए इस राजा नलने देरतक घूमकर किसी प्रकार (पैदल चलनेका अभ्यास नहीं होनेके कारण बड़े कष्टसे) विदर्भराज-कुमारी (दमयन्ती) के निवा (पाठान्तरसे—कुमारीके मनोहर) प्रासादको प्राप्त किया ॥ ५७ ॥

सखीशतानां सरसैर्विलासैः स्मरावरोधभ्रममावहन्तीम् ।
विलोकयामास सभां स भैम्यास्तस्य प्रतोलीमणिवेदिकायाम् ॥५८

सखीति ॥ नलस्तस्य प्रासादस्य प्रतोल्यां प्राङ्गणे या मणिवेदिका तस्यां स शतानां सरसैः सानुरागैर्विलासैर्लीलाभिः स्मरावरोधभ्रममावहन्तीं कामान्तःपु न्तिकरीं भैम्याः सभामास्थानीं विलोकयामास ॥ ५८ ॥

उस नलने उस राजकुमारी-भवनके प्राङ्गण (या गली) को वेदी (चौतरे) पर सखियोंके द्वारा शृङ्गार भावयुक्त विलाससे कामदेवके अन्तःपुरके भ्रमको पैदा कर दमयन्तीकी सभाको देखा । [दमयन्तीकी सखियोंको रतिके समान सुन्दरी होने देवके अन्तःपुरका भ्रम दर्शकोंको हो जाता था । वैसा ही नलको भी भ्रम हुआ] ॥ ५

कण्ठः किमस्याः पिकवेणुवीणास्तिस्रो जिताः सूचयति त्रिरेखः ।
इत्यन्तरस्तूयत कापि यत्र नलेन बाला कलमालपन्ती ॥ ५९ ॥

अथ कण्ठ इत्यादिभिः चतुर्दशभिस्तां सभां वर्णयति—कण्ठ इति । यत्र स कलं मधुरमालपन्ती कापि बाला । नलेन तिस्रो रेखा अस्य सन्तीति त्रिरेखः कण्ठः पिकवेणुवीणास्तिस्रो जिताः सन्तीति सूचयति किमिति अन्तरन्तःकरणे

स्तुता। अत्र कण्ठरेखात्रयस्य विशेषणगत्या निजपिकादित्रयविजयसूचकत्वोत्प्रेहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गसङ्कीर्णेयमुत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

जिस सभामें नलने बोलती हुई किसी (दमयन्तीकी सखी) की, "तीन रेखावाला कण्ठ कोयल, वंशी तथा वीणाको (अपने मधुर स्वरसे) जीत लेनेकी सूचना कर है क्या ?" ऐसी मनमें प्रशंसा की। [नल दमयन्तीकी कम्बुकण्ठी किसी सखीका स्वर सुनकर मोहित हो गये तीन रेखाओंसे युक्त कण्ठ 'कम्बुग्रीव' नामक शुभ लक्षण होता है। ऐसा सामुद्रिक शास्त्रका वचन है] ॥ ५९ ॥

एतं नलं तं दमयन्ति ! पश्य त्यजार्तिमित्यालिकुलप्रबोधान् ।
श्रुत्वा स नारीकरवर्तिशारीमुखात् स्वमाशङ्कत यत्र दृष्टम् ॥ ६० ॥

एतमिति ॥ स नलो यत्र सभायां, नारीकरवर्तिशारीमुखात् कान्ताकरगतशारिमुखात्, हे दमयन्ति ! तमेतं नलं पश्य । आर्तिं पीडां त्यज । इत्येवंरूपान् आलिप्रबोधान् आलिकुलस्य सखीजनस्य, प्रबोध्यते एभिरिति, प्रबोधान् आश्वास-, करणे घञ्प्रत्ययः । श्रुत्वा स्वकीयात्मानं दृष्टमाशङ्कत । एतं नलं पश्येति निर्देशाभिर्दृष्टोऽस्मीति शङ्कितवानित्यर्थः । शारीवाक्ये नारीवाक्यभ्रमादिति भावः । एव भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यत इति वस्तुनालङ्कारध्वनिः ॥ ६० ॥

जहांपर नलने सखाके हाथपर बैठी हुई मैनाके मुखसे "हे दमयन्ती ! उस (चिराभि-) इस नलको देखो (विरह—) पीड़ाको छोड़ दो" इस प्रकार (दमयन्तीके प्रति से) आश्वासन वचनोंको सुनकर 'इन लोगोंने हमको देख लिया क्या ?' ऐसी आशङ्का । [यदि इन लोगोंने मुझे देखा नहीं होता तो ये सारिकाको ऐसा क्यों पढ़ाती ? —मैनाके वचनको ही नलने साक्षात् सखीका वचन समझकर वैसी आशङ्का की] ॥

यत्रैकयालीकनलीकृतालीकण्ठे मृषाभीमभवीभवन्त्या ।
तद्दृक्पथे दौहदिकोपनीता शालीनमाधायि मधूकमाला ॥ ६१ ॥

यत्रेति ॥ यत्र सभायां, तद्दृक्पथे नलदृष्टिपथे, मृषाभीमभवा आरोपितभैमी, तया भवन्त्या एकया सख्या अलीकनलः, आरोपितनलः, असः स कृता नलीकृता तस्या आल्याः सख्याः कण्ठे दौहदिकया धात्र्या उपनीता या माला, शालीनं लज्जामन्थरं यथा तथा आधायि आहिता। दधातेः कर्मणि । "आतो युक् चिण्कृतोः" इति युगागमः। एतेन भैम्याः स्वयंवरत्वरा नलैकताव्यक्तं सदस्यजीवातुरासीदित्यर्थः ॥ ६१ ॥

हांपर दमयन्तीका वेष धारण की हुई एक सखीने नलका वेष धारण की हुई दूसरी गलेमें धाई (पाठभेदसे—मालिन) से लाई हुई महुएकी मालाको नलके सामने ही त डाल दिया। [इससे स्वयंवरकी शीघ्रता तथा एकमात्र नलमें ही चित्तका होना भविष्यमें दमयन्ती लाभरूप शुभ शकुन सूचित होता है, अथवा—दमयन्तीको लिये उसकी सखियां भी उसकी अभिलषित क्रीडा करती थीं] ॥ ६१ ॥

चन्द्राभमाभ्रं तिलकं दधाना तद्वन्निजास्येन्दुकृतानुबिम्बम् ।
सखीमुखे चन्द्रसखे[1] ससर्ज चन्द्रानवस्थामिव कापि यत्र ॥ ६२ ॥

चन्द्राभमिति । यत्र सभायां, कापि कान्ता, चन्द्राभं चन्द्रनिभं, आभ्रम कारं तिलकं चन्द्रसखे सखोमुखे तद्वता आभ्रतिलकवता, निजास्येन्दुना कृत विम्बं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा दधाना रचयन्ती चन्द्रानवस्थां स वेत्युत्प्रेक्षा । अत्र तिलकक्रियोत्पत्तौ स्वच्छद्रव्यतया परस्पराभिमुखावस्थित दितरेतराभ्रतिलकसंक्रान्तेरितरेतरतिलकचन्द्रपरम्परानन्तत्वादनवस्था क्रिया त्तिश्चेति भावः ॥ ६२ ॥

एक सखी चन्द्रतुल्य सखीके मुखमें 'अभ्र' नामक अतिशय निर्मल द्रवद्रव्यसे समान तिलक कर रही थी,. और उस अभ्रनामक द्रवद्रव्यके तिलकसे युक्त चन्द्र उस (तिलक करनेवाली) का मुख प्रतिबिम्बित हो रहा था, इस प्रकारव हुतसे चन्द्र हो जानेसे जिस दमयन्ती-सभामें तिलक करनेवाली सखीने चन्द्रमाकी अनवस्था (दर, या असंख्यता, या दुर्दशा कर दी । [तिलक करनेवाली सखीका मुखचन्द्र तथा च तुल्य तिलक ये दो चन्द्र हुए ; जिसके मुखचन्द्रमें चन्द्रतिलक करती थी, उसका मुख तथा चन्द्रतुल्य तिलक—ये भी दो चन्द्र हुए, दोनों सखियोंके उक्त दो-दो चन्द्र एक दू प्रतिबिम्बित होनेसे प्रथम सखीका मुखचन्द्र तथा चन्द्रतुल्यतिलक दूसरी सखीके मुख तथा चन्द्रतुल्यतिलकमें प्रतिबिम्बित हुआ, तथा उसी प्रकार उस द्वितीय सखीके चन्द्र पहली सखीके मुखचन्द्र तथा चन्द्रतुल्य तिलकमें प्रतिबिम्बित हुए । इस प्रकार हो उस सखीने अनेक चन्द्रको उस दमयन्ती-सभामें उपस्थित कर चन्द्रमाकी अनवस्था दी । जहांपर कोई वस्तु अधिक प्राप्त होती है, उसका उतना आदर नहीं होता, आदर एक वस्तुका होता है ॥ सब सखियोंका मुख चन्द्रमाके समान था] ॥ ६२ ॥

दलोदरे काञ्चनकैतकस्य क्षणान्मषीभावुकवर्णरेखम् ।
तस्यैव यत्र स्वमनङ्गलेखं लिलेख भैमी नखलेखिनीभिः ॥ ६३ ॥

दलेति ॥ यत्र सभायां, भैमी, काञ्चनकैतकस्य स्वर्णकेतकीकुसुमस्य, पत्रमध्ये, क्षणात् झटिति मषीभावुकाः श्यामीभवन्त्यः, वर्णरेखा अक्षरवि यस्मिन् तम् । तस्य नलस्यैव कृते स्वं स्वकीयम्, अनङ्गलेखं कामसन्देशं, लेखिनीभिः लेखनिकाभिः लिलेख ॥ ६३ ॥

जिस सभामें दमयन्तीने, सुवर्णकेतकीके भीतरवाले पत्तेपर नखरूपी कलमसे, मात्रमें स्याही (के समान काली) होनेवाली वर्ण-रचना है जिसको ऐसे, नल अपने कामपत्र (पतिके समीप भेजे जानेवाले कामवासनाजन्य प्रेमसूचक पत्र) को

---

[1] "चन्द्रसमे" इति पाठान्तरम् ।

न्तीने सोनेके समान पीले एवं कोमल केतकीके भीतरवाले पत्तेपर नाखूनसे नलको जो पत्र लिखा, वह थोड़ी देरमें ही स्याहीसे लिखे हुए के समान काला होगया। [विरहिणियोंका अपने प्रेमीको पत्र लिखना तथा केतकी पत्रपर नखचिह्न करनेपर थोड़े समयबाद उस नख-चिह्नका काला हो जाना अनुभवसे सिद्ध है] ॥ ६३ ॥

विलेखितुं भीमभुवो लिपीषु सख्याऽतिविख्यातिभृतापि यत्र ।
अशाकि लीलाकमलं न पाणिमपारि कर्णोत्पलमक्षि नैव ॥ ६४ ॥

विलेखितुमिति ॥ यत्र सभायां लिपीषु चित्रकर्मसु । कृदिकारादक्तिनो वा ङीष्व- नः। अतिविख्यातिभृता अतिचतुरयापीत्यर्थः। सख्या भीमभुवो भैम्याः लीलाकमलं विलेखितुम् अशाकि। भावे लुङ्। शकेत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः पाणिं तु नाशाकि। न्ययोत्कृष्टत्वात्। तथा कर्णोत्पलं विलेखितुमपारि पर्याप्तं, पूर्ववल्लुङ्। “पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेष्वि”ति तुमुन् प्रत्ययः। अक्षि तु नापार्येव सर्वोपमानातीतत्वात्तस्येति भावः ॥ ६४ ॥

जिस दमयन्ती-सभामें चित्रकारी करनेमें अत्यन्त निपुण कोई सखी चित्रपटपर दमयन्तीके लीलाकमलका चित्र बना देनेपर भी उसके हाथका चित्र नहीं बना सकी, तथा कानोंके भूषणभूत कमलोंका चित्र बना देनेपर भी उसके नेत्रोंका चित्र नहीं बना सकी। व्यक्ति लौकिक वस्तुओंको ही चित्रित करनेमें समर्थ होता है। अलौकिक वस्तुको चित्रित करनेमें समर्थ नहीं होता। दमयन्तीके हाथ तथा नेत्र अलौकिक (अनुपम सुन्दर) एव चित्रकारी करनेमें अत्यन्त निपुण भी उसकी सखी उसके लीलाकमल तथा कर्णोत्पलके ही चित्रोंको बना सकी, हाथ तथा नेत्रको नहीं] ॥ ६४ ॥

भैमीमुपावीणयदेत्य यत्र कलिप्रियस्य प्रियशिष्यवर्गः ।
गन्धर्ववध्वः स्वरमध्वरीणतत्कण्ठनालैकधुरीणवीणः ॥ ६५ ॥

भैमीति ॥ यत्र सभायां, गन्धर्ववध्वो गन्धर्वाङ्गना एव। कलिप्रियस्य प्रियकलहस्य नारदस्य। “वा प्रियस्य” इति बहुव्रीहौ प्रियशब्दस्य परनिपातः। प्रियशिष्यवर्गः। स्वर एव मधु क्षौद्रं तेनारीणमरिक्तं पूर्णमिति यावत्। “ल्वादिभ्यः” इति निष्ठानत्वम्। तेन तस्या भैम्याः कण्ठनालेन सह एकधुरं वहन्तीत्येकधुरीणाः समानाः। “एकधुराल्लुक् च” इति खच्प्रत्ययः। ता वीणा यस्य सः सन्नेत्यागत्य भैमीमुपावीणयत् वीणया उपगायति स्म। “सत्यापपाशे”त्यादिना णिचि लङ्। विद्यायां गन्धर्वीणामप्युपास्या भैमीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

जिस दमयन्ती-सभामें नारदजीका शिष्य-समुदाय तथा स्वररूप मधुसे परिपूर्ण उस (दमयन्ती)के कण्ठ-नालके सदृश वीणावाली गन्धर्व-स्त्रियां आकर वीणासे दमयन्तीकी करती थीं। [दमयन्तीका कण्ठस्वर इतना मधुर था कि नारदजीसे वीणा बजानेकी शिक्षा पायी हुई गन्धर्वोंकी स्त्रियां भी अपनी वीणाके स्वरका संवाद (ठीक-ठीक मिलान)

करनेके लिये दमयन्तीके पास आकर गान करती थीं। यहां 'कण्ठनाल' शब्दके
जिस प्रकार नालके ऊपर कमल रहता है, उसी प्रकार कण्ठके ऊपर मुखके रहनेसे
का मुखको "कमल" होना सिद्ध किया गया है] ॥ ६५ ॥

नावा स्मरः किं हरभीतिगुप्तेः[1] पयोधरे खेलति कुम्भ एव।
इत्यर्धचन्द्राभनखाङ्कचुम्बिकुचा सखी यत्र सखीभिरूचे ॥ ६६ ॥

नावेति ॥ यत्र सभायां, अर्धचन्द्राभनखाङ्कचुम्बी अर्धचन्द्राकारनखक्षत
यस्याः सा सखी। स्मरः हरभीत्या गुप्तेः, गुप्त्यर्थमित्यर्थः सम्बन्धसामान्ये
पयसां क्षीराणां नीराणाञ्च धरः पयोधरः कुचः। "पयः स्यात् क्षीरनीरयोः"
विश्वः। तस्मिन्नेव कुम्भ इति व्यस्तरूपकम्। नावा नखाङ्केनैवेति शेषः खेलति
परिहाराय विहरति किमिति रूपकसङ्कीर्णयमुत्प्रेक्षा इति सखीभिरूचे उक्ता॥

जिस दमयन्ती-सभामें अर्द्धचन्द्राकार नख क्षतसे चिहित स्तनोंवाली सखीसे
कहा कि—"तुम्हारे स्तन (पक्षा०—-जलाधार) रूप घटमें शिवजीसे डरकर
करनेवाला कामदेव नौकासे क्रीडा करता है क्या?"। [नावके अर्द्धचन्द्राकार
शिवजीके दाहजन्य भयसे जलाधार शीतल स्थानमें कामदेवका आत्मरक्षार्थ निवास
उचित ही है, अन्य भी कोइ व्यक्ति दाहशान्तिके लिये शीतल जलमें नौकामें क्रीडा
हुआ निर्भय होकर आत्मरक्षा करता है। अथवा—-कामदेवने सोचा कि शिवजीके
शरीरमें पार्वतीजी हैं, अतएव उनके भयसे (परस्त्रीके स्तनका स्पर्श शिवजी करें
पार्वतीजी कदापि सहन नहीं करेंगी, इस भयसे) शिवजी तुम्हारे स्तनका स्पर्श नहीं
अतः तुम्हारा स्तन शिवजीके द्वारा भयसे अमर्दित होनेसे मेरे लिये अत्यन्त सुरक्षि
है ऐसा मानकर निर्भय कामदेव वहां क्रीडा करता है। अथवा—-(पार्वतीजीके
शिवजीके द्वारा नहीं स्पर्शकी गयी हे सखि! (इस पक्षमें 'हरभीतिगुप्ते' यह शब्द
सम्बुद्धि पद होजायेगा)। अथवा—शिवजीके भयरूप ईति=परचक्रसे अपनी रक्षा
वाला (इस अर्थमें 'हरभीतिगुप्' यह शब्द कामदेवका विशेषण हो जायेगा तथा
षष्ठ्यन्त 'तव' केस्थानमें आदिष्ट होगा)॥ नखक्षतयुक्त स्त्रीस्तनको देखकर कामबुद्धि
सखीने वैसे स्तनोंवाली सखीसे उपहासपूर्वक उक्त वचन कहा] ॥ ६६ ॥

स्मराशुगीभूय विदर्भसुभ्रूवक्षो यदक्षोभि खलु प्रसूनैः।
स्रजं सृजन्त्या तदशोधि तेषु यत्रैकया सूचिशिखां निखाय ॥ ६७

स्मरेति। प्रसूनैः कुसुमैः स्मराशुगीभूय कामवाणा भूत्वा विदर्भसुभ्रुवो
वक्षो हृदयमक्षोभि क्षोभितं खल्विति यत्। तत् क्षोभणवैरं, यत्र सभायां,
प्रसूनेषु सूचिशिखां सूच्यग्रं, निखाय निकुट्य, स्रजं मालां, सृजन्त्या

---

१. 'गुप्ते' इति पाठान्तरम्।

विक्रान्तया, अशोधि निर्यातितम्। हृदयच्छेदिनां हृदयच्छेद एव प्रतीकार इति भावः ॥ ६७ ॥

जिस दमयन्ती-सभामें, फूलोंने कामवाण बनकर जो विदर्भकुमारी दमयन्तीके हृदयको बिद्ध किया, उस वैरका माला बनाती हुई एक स्त्रीने उन फूलोंमें सूईका नोक चुभाकर बदला ले लिया। [कामबाण बनकर जिन फूलोंने दमयन्तीके हृदयमें गड़कर उसे पीडित किया उनके हृदय (बीच) में सूई चुभाकर ही वैरका बदला लिया जा सकता है। यह प्रकार सखी दमयन्तीको पीडित करनेवाले पुष्पसे उसकी सखीने वैसा ही किया। अन्य कोई व्यक्ति पीडित करनेवाले शत्रुके शरीरमें शस्त्र छुभाकर वैरका बदला लेता है। दमयन्ती सभामें मालिन फूलोंकी माला गूथ रही थी] ॥ ६७ ॥

यत्रावदत्तामतिभीय भैमी त्यज त्यजेदं सखि साहसिक्यम् ।
त्वमेव कृत्वा मदनाय दत्से बाणान् प्रसूनानि गुणेन सज्जान् ॥ ६८ ॥

यत्रेति। यत्र सभायां, तां स्रक्स्रष्ट्रीं, सखीं, भैमी अतिभीय अत्यन्तं भीत्वा। धातोः क्त्वो ल्यबादेशः। अवदत्। किमिति, हे सखि! इदम्। सहसा वर्तत इति साहसिकः अविमृश्यकारी, "ओजस्सहोऽम्भसा वर्तते" इति ठक्। तस्य कर्म साहसिक्यं, ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ्प्रत्ययः। त्यज त्यज। कुतः त्वमेव प्रसूनान्येव बाणान् गुणेन तन्तुना ज्यया च। 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती। सज्जान् सक्तान् कृत्वा, मदनाय दत्से ददासि। तदेतत्त्वत एव दहतो वह्नेः तुना सन्धुक्षणमिति भावः ॥ ६८ ॥

जिस दमयन्ती-सभामें अत्यन्त डरकर दमयन्तीने उस (माला बनानेवाली) से कहा कि—तुम विवेक शून्य कार्य करना (माला गूथना) छोड़ो-छोड़ो; (क्योंकि) तुम्हीं फूलों को गुणों (धागों, पक्षा०– धनुषकी प्रत्यञ्चाओं) से सजाये हुए बाणोंको कामदेवके लिये देती हो। [तुम ऐसी मेरी उपकार करनेवाली सखी हो कि बाणोंको प्रत्यञ्चासे युक्तकर मेरे वैरी कामदेवके लिये देनेसे मुझे पीडित करनेमें उसकी सहायता कर रही हो, अतः इस अविवेकपूर्ण कामको शीघ्र छोड़ दो। पुष्पमाला देखकर कामपीडा बढ़ने लगी, तब उसने सखीसे उपालम्भयुक्त उक्त वचन कहे] ॥ ६८ ॥

आलिख्य सख्याः कुचपत्रभङ्गीमध्ये सुमध्या मकरीं करेण ।
यत्रावदत्तामियमालि[1] यानं मन्ये त्वदेकावलिनाकनद्याः ॥ ६९ ॥

आलिख्येति। यत्र सभायां, सुमध्या कापि कान्ता सख्याः कुचयोः पत्रभङ्गीनां पत्ररचनानां मध्ये मकरीं करेणालिख्य तां सखीमवदत्। किमिति, हे आलि सखि, इयं मकरी त्वदेकावलेरेव हारविशेषस्यैव। 'एकावल्येकयष्टिका' इत्यमरः। नाकनद्या

---

[1] 'मिदमालि' इति पाठान्तरम्।

मन्दाकिन्या इति रूपकम् । यानं वाहनं, 'मकरीवाहना गङ्गा' इति प्रसिद्धिः।
अत्रोत्प्रेक्षा। तस्याश्चोक्तरूपकेण सङ्करः ॥ ६९ ॥

जिस दमयन्ती–सभामें सुन्दर कटिवाली सखीने (दूसरी) सखीके स्तनोंपर
नाके बीचमें हाथसे मकरीको चित्रितकर उससे कहा कि—"हे सखी ! यह मकरी
एकावली (एक लड़ीकी मुक्तामाला) रूप गङ्गाका मानो वाहन है ।" [एकावली
च्छतम होनेसे गङ्गा तथा तत्समीपवर्ती स्तनस्थ मकरीको गङ्गाका वाहन होनेकी
चित्रकारिणी सखीने अपनी सखीसे परिहासमें की है] ॥ ६९ ॥

तामेव सा यत्र जगाद भूयः पयोधियादः कुचकुम्भयोस्ते ।
सेयं स्थिता तावकहृच्छयाङ्कप्रियास्तु विस्तारयशःप्रशस्तिः ॥७०॥

तामिति ॥ यत्र सा पूर्वोक्ता प्रसाधिका तामेव सखीं भूयो जगाद।
पयोधेर्यादो जलग्राहः समुद्रसम्भव इत्यर्थः। किञ्च, तावकस्य हृच्छयस्य
जस्याङ्को मकरस्तस्य प्रिया दयिता। ते तव, कुचकुम्भयोः स्थिता, सेयं
विस्तारयशसस्तयोरेव परीणाहकीर्तेः प्रशस्तिः स्तुतिवर्णावलिरस्तु ॥ ७० ॥

जिस दमयन्ती–सभामें (स्तनोंपर मकरी–रचना करनेवाली) वह सखी
बोली कि—"तुम्हारे दोनों स्तन–कलशोंपर समुद्री जन्तु तुम्हारे हृदयमें स्थित
चिह्नभूत (मकर की प्रिया) इन स्तनोंके विस्तारका कीर्तिलेख होवे । [तुम्हारे
विशाल तथा अगाध हैं कि समुद्रको छोड़कर यह जल जन्तु यहां निवासकर तुम्हारे
बड़े होनेकी कीर्तिको लिखितरूपमें स्थिर कर रहा है। तथा हृदय स्थित कामदेव
मकरके समीप ही उसकी प्रिया मकरीका भी रहना उचित ही है। अन्य भी कोई
प्रियके पास ही सर्वदा रहना पसन्द करती है। 'प्रकाश'कारने कामदेव चिह्न
स्थानपर 'मीन' अर्थ किया है] ॥ ७० ॥

शारीं चरन्तीं सखि मारयैनामित्यक्षदाये कथिते कयापि ।
यत्र स्वघातभ्रमभीरुशारीकाकूत्थसाकूतहसः स जज्ञे ॥ ७१ ॥

शारीमिति । यत्र स नलः, कयापि । कितवया इति शेषः। हे सखि,
चरन्तीं भ्रमन्तीं, शारीमक्षोपकरणं दारुविकारं, शारिकाख्यां शकुन्तिका
न्तरेण शकुन्तिकाया भयोत्पत्तिः। 'शारी स्वक्षोपकरणे तथा शकुनिकान्तर'
विश्वः। मारय प्रहर। इति अक्षदाये अक्षा पाशकाः। 'अक्षास्तु देवका पाशका
इत्यमरः। तेषां सम्बन्धी दायो दानम्। 'दायो दाने यौतकादिधने वित्ते च
इति वैजयन्ती। तस्मिन् कथिते स्वघाते आत्ममारणे, भ्रमेण भ्रान्त्या, भीरो
शार्याः शारिकायाः, काक्वा विकृतस्वरेण उत्थः उत्थितः, साकूतः भावगर्भो
हासो यस्य सः, "स्वनहसोर्वा" इति विकल्पादप्प्रत्ययः। जज्ञे जातः ॥ ७१ ॥

जिस दमयन्ती–सभामें 'हे सखी ! (एक घरसे दूसरे घरमें) चलती हुई

टी-सतरंज आदिका मोहरा) को मारो, ऐसा शतरंज आदिके खेलनेमें किसी सखीके नेपर नल अपने मारे जानेके भ्रमसे डरनेवाली मैनाके दीनयुक्त वचन (मुझे मत रो,......) से साभिप्राय हँसने लगे। [यद्यपि सखीने खेलमें मोहरेको मारनेके लिये ा, किन्तु ‘सारी’ शब्दके समानार्थक होनेसे उसे अपने मारे जानेको कहा गया मानकर मैना ‘मुझे मत मारो’ आदि दीन वचन कहने लगी, यह सुन नलको हंसी आ गयी मोहरेको मारनेके कहनेपर भी यह मैना अपने, मारे जानेकी शङ्कासे ऐसा दीन वचन रही है॥ सभामें सखियां शतरंज आदि खेल रही थीं]॥ ७१ ॥

भैमीसमीपे स निरीक्ष्य यत्र ताम्बूलजाम्बूनदहंसलक्ष्मीम् ।
कृतप्रियादूत्यमहोपकारमरालमोहद्रढिमानमूहे ॥ ७२ ॥

भैमीति। यत्र सभायां, नलो भैमीसमीपे ताम्बूलस्य जाम्बूनदहंसो हिरण्मयाकारः करकः तस्य लक्ष्मीं निरीक्ष्य, कृतः प्रियाया भैम्या दूत्यमेव महोपकारो तस्मिन् मराले हंसे, मोहस्य भ्रमस्य द्रढिमानं दार्ढ्यम् ‘र ऋतो हलादेर्लघो’ ऋकारस्य रभावः। ऊहे ऊढवान्। वहेः कर्तरि लिट्। “वचिस्वपि” इत्यादिना सम्प्रणम् ॥ ७२ ॥

जिस दमयन्ती-सभामें वह नल दमयन्तीके पास में रखे हुए हंसाकार पानदानकी को देखकर प्रियाके यहां दूत-कर्म रूप महान उपकार करनेवाले हंसके अतिशय से (‘प्रिया दमयन्तीके पास हमारा दूतकर्म करनेवाला यही हंस है क्या ?’ इस भ्रमसे) हो गये। [हंसाकार वह पानदान ऐसा उत्तम बना था कि उसे देखकर नल-जैसे चतुर को भी सजीव हंसका भ्रम हो गया] ॥ ७२ ॥

तस्मिन्नियं सेति सखीसमाजे नलस्य सन्देहमथ व्युदस्यन्[1] ।
अपृष्ट एव स्फुटमाचचक्षे स को[2]ऽपि रूपातिशयः स्वयं ताम् ॥७३॥

तस्मिन्निति। अथ सभावलोकनानन्तरं तस्मिन् सखीसमाजे नलस्य सन्देहं का त्र भैमीति संशयं व्युदस्यन्, स प्रसिद्धः कोऽपि रूपातिशयः सौन्दर्यविशेषः। मपृष्ट एव तां भैमीं, सा भैमी इयमिति स्फुटमाचचक्षे। आचख्यौ। विश्वातिशायिसौन्दर्यसाक्षात्कारादियं दमयन्तीति निश्चिकायेत्यर्थः ॥ ७३ ॥

इस (सभाको देखने) के बाद उस सखी-समूहमें नलके (‘इनमें कौन-सी दमयन्ती है’, इस प्रकारके) सन्देहको ‘यह वही दमयन्ती है’ इस प्रकार दूर करता हुआ उसी सौन्द-शयने विना पूछे ही उस दमयन्तीको स्वयं ही कह दिया। [पहले एकसे एक सुन्दरी रियोंको देखकर नल ‘इनमें कौन दमयन्ती है’ यह निर्णय नहीं कर सके थे, किन्तु जब मामें दमयन्ती आई तब उसके अतिशय सौन्दर्यको देखकर विना पूछे ही नलने निश्चय र लिया कि यही ‘दमयन्ती है] ॥ ७३ ॥

---

[1] “व्युदस्य” इति पाठान्तरम्। [2] “एव” इति पाठान्तरम्।

भैमीविनोदाय मुदा सखीभिस्तदाकृतीनां भुवि कल्पितानाम् ।
नातर्कि मध्ये स्फुटमप्युदीतं तस्यानुबिम्बं मणिवेदिकायाम् ॥७४॥

भैमीति । भैम्या विनोदायौत्सुक्यापनोदाय मुदा कौतुकेन, सखीभिर्भुवि कल्पितानां तस्य नलस्याकृतीनां प्रतिकृतीनां मध्ये मणिवेदिकायां स्फुटमुदी तस्य नलस्य अनुबिम्बं नातर्कि न तर्कितम् । तत्रापि स्वकल्पिताकृतिसाम्या भाव । अत एव सामान्यालङ्कारः । तेन च भ्रान्तिमान् व्यज्यत इत्यलङ्का ङ्कारध्वनिः ॥ ७४ ॥

दमयन्तीके मन बहलावके लिये भूमिपर बनाये गये नलके चित्रोंके बीचमें, फर्शपर सचमुच प्रतिबिम्बित नलकी छाया (परछाईं) को भी सखियोंने नहीं किया । [सखियोंने दमयन्तीके मनको बहलानेके लिये नलके अनेक चित्र नलके प्रतिबिम्बित शरीरको भी बिलकुल समानाकार होनेसे उसे भी चित्र हो दमयन्तीके मनोविनोदके लिये सखियोंने बहुतसे नलके चित्र मणिमय वेदियों (पर बनाये थे] ॥ ७४ ॥

हुताशकीनाशजलेशदूतीर्निराकरिष्णोः कृतकाकुयाच्ञाः ।
भैम्या वचोभिः स निजां तदाशां न्यवर्तयद्दूरमपि प्रयाताम् ॥७५

हुताशेति । कृताः काका याच्ञाः प्रार्थना याभिस्ताः चित्तचालनचतुरो त्यर्थः । हुताशकीनाशजलेशाः वह्नियमवरुणाः । 'प्रेतपतिः पितृपतिश्च कीनाश' हलायुधः । तेषां दूतीः निराकरिष्णोः परिहरन्त्याः । "अलं कृञ्" इत्यादिना च्प्रत्ययः । "न लोक" इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीया । भैम्याः वचोभि नलो दूरं प्रयाताम् इन्द्रादिकपटेन लुप्तप्रायामपि निजां स्वकीयां तदाशां भैम न्यवर्तयत् निवर्तितवान् । पुनस्तत्प्रत्याशामकार्षीदित्यर्थः ॥ ७५ ॥

दीनतापूर्वक याचना करनेवाली अग्नि, यम तथा वरुणकी दूतियोंको मना करने दमयन्तीकी बातोंसे बहुत दूर तक गयी हुई भी दमयन्ती विषयक अपनी आशाको पुनः लौटाया । [इन्द्रादिका दूत-कर्म करने तथा दमयन्तीको इन्द्रादि द्वारा चाहनेके नलको दमयन्तीके पानेकी आशा नहीं रह गयी थी, किन्तु अग्नि आदिकी दूतियोंको दमयन्तीने स्पष्ट मना कर दिया यह देख नलको फिरसे दमयन्तीकी प्राप्तिकी आशा गयी । दूर तक भी गया हुआ भी कोई व्यक्ति जैसे वचनों (बुलाने) से वापस लौट है, वैसे ही दूर तक गयी (छूटी) हुई नलकी आशा भी फिर लौट आयी] ॥ ७५ ॥

विज्ञप्तिमन्तः सभयः स भैम्यां मध्येसभं वासवशम्भलीयाम् ।
सम्भावयामास भृशं कृशाशस्तदालिवृन्दैरभिनन्द्यमानाम् ॥ ७६ ॥

विज्ञप्तिमिति ॥ स नलो मध्येसभं सभाया मध्ये "पारे मध्ये षष्ठ्या वा" व्ययीभावे नपुंसकह्रस्वत्वम् । तदालिवृन्दैः भैमीसखीसङ्घैरभिनन्द्यमानां,

याम्, इन्द्रदूतीसम्बन्धिनीं, कामिनोः सन्धात्री शम्भली । 'कुट्टनी शम्भली' इत्यमरः । भैम्यां विषये विज्ञप्तिं वक्ष्यमाणं विज्ञापनम्, अन्तः सभयः इन्द्रवाङ्गीकरिष्यतीति बिभ्यदेवेत्यर्थः । अत एव कृशाशः शिथिलभैमीप्राप्त्याशश्च । भृशं सम्भावयामास । अत्यवधानेन शुश्रावेत्यर्थः । विज्ञप्तिमिति क्तिन् प्रत्ययः । "ण्यासश्रन्थोयुच्" इति तदपवादेन युचो विधानात् । अत एव विज्ञप्तिप्रभृतयोऽपशब्देषु परिगणिता भट्टपादैः । तथाप्यभियुक्तप्रयोगो दुर्वारः ॥

दमयन्तीकी सभाके बीचमें दमयन्तीकी सखियोंके द्वारा अभिनन्दित की जाती हुई, की दूती (कुट्टिनी) की विज्ञप्ति अर्थात् प्रार्थनाको मनमें भययुक्त तथा दमयन्ती-प्राप्तिकी आशा रखते हुए नलने सुना । [जब दमयन्तीकी सभामें इन्द्रकी दूतीने दमयन्तीसे सन्देश कहा, तब सखियोंने उसका अभिनन्दन किया—"जब देवराज इन्द्र भी तुम्हें वरना चाहते हैं, तब उन्हें अवश्य वरण करना उचित है" ऐसा समर्थन किया, यह सके मनमें भय हो रहा था कि 'दमयन्ती सखियोंकी बातको तथा इन्द्रदूतीकी प्रार्थनाको इन्द्रको ही वरण कर लेगी क्या ?' तथा इसी कारण दमयन्तीके पानेकी आशा हो थी, ऐसे नलने इन्द्र-दूतीकी प्रार्थनाको सावधान होकर सुना] ॥ ७६ ॥

लिपिर्न दैवी सुपठा भुवीति तुभ्यं मयि प्रेषितवाचिकस्य ।
इन्द्रस्य दूत्यां रचय प्रसादं विज्ञापयन्त्यामवधानदानम् ॥ ७७ ॥

लिपिरिति ॥ दैवी लिपिर्देवलिपिः । भुवि भूलोके, सुपठा पठितुं शक्या "ईष-" इत्यादिना खल्प्रत्ययः । नेति हेतोस्तुभ्यं, व्याहृतार्था वाग्वाचिकं, सन्देशवचः । 'सन्देशवाग्वाचिकं स्यात्' इत्यमरः । "वाचो व्याहृतार्थायाम्" इति ठक् । तं येन तस्य इन्द्रस्य दूत्यां मयि विज्ञापयन्त्याम् । अवधानस्यैकाग्र्यस्य नेन प्रसादं रचय अनुग्रहं कुरु ॥ ७७ ॥

पृथ्वीपर देव-लिपि नहीं पढ़ी जा सकती' इस कारण तुम्हारे लिये सन्देश भेजनेवाले का सन्देश सुनाती हुई इन्द्रकी दूती (मुझ) पर अवधान-दानरूप प्रसाद करो (सावधान होकर मेरी बात सुनने की कृपा करो)। [यदि मर्त्यलोकवासी देवताओंका लेख सकते तो इन्द्र स्वयं पत्र लिखकर तुम्हारे समीप भेजते, किन्तु वैसा करनेमें मनुष्योंके होनेके कारण ही इन्द्रने तुम्हारे पास स्वयं पत्र न लिखकर अपना सन्देश कहनेके मुझे भेजा है, अतः सावधान होकर ।इन्द्रका सन्देश सुनो । अथवा—'भाग्यमें क्या है' यह कोई मर्त्यलोकवासी नहीं पढ़ सकता, किन्तु देवता पढ़ सकते हैं, अतः देव- इन्द्रके जिस सन्देशको मैं कह रही हूँ, उसे तुम सुनो]। ७७ ॥

सलीलमालिङ्गनयोपपीडमनामयं पृच्छति वासवस्त्वाम् ।
शेषस्त्वदाश्लेषकथाविनिद्रैस्तद्रोमभिः सन्दिदिशे भवत्यै ॥ ७८ ॥

सलीलमिति ॥ हे भैमि, वासवस्त्वां सलीलं सविलासम्, आलिङ्गनया आलि-

ङ्गनेन । आङ्पूर्वाल्लिङ्गयतेश्चौरादिकाद्युच् । उपपीडमुपपीड्य गाढमालि “सप्तम्यां चोपपीड” इत्यत्र चकारात्तृतीयोपपदो णमुल्प्रत्ययः । “तृतीयाप्र न्यतरस्याम्” । इति विकल्पाद्समासः । अनामयं पृच्छति । “क्षत्रबन्धुमना इति स्मरणादिति भावः । शेषः कार्यशेषस्तु त्वदाश्लेषकथया पूर्वोक्तत्वदालि ङ्गेन विनिद्रैर्हर्षितैस्तस्येन्द्रस्य रोमभिर्भवत्यै संदिदिशे सन्दिष्टः । कर्मणि त्वदालिङ्गनप्रार्थनैवानन्तरं वक्तव्यः कार्यशेषोऽपीति भावः ॥ ७८ ॥

इन्द्रने विलासपूर्वक आलिङ्गनसे सम्यक् उपपीडितकर तुमसे अनामयको पूछा है, और आलिङ्गनकी चर्चासे हर्षित इन्द्रके रोमोंने शेष सन्देशको तुम्हारे लिये कहा है। [तिके वचनानुसार क्षत्रियसे 'अनामय' पूछनेका धर्म होनेसे इन्द्रने तुमसे आलि तुम्हारा अनामय पूछा है। तथा तुम्हारे आलिङ्गनके स्मरण होनेके कारण वे रो होनेसे गद्गद होकर मुखसे और कोई बात नहीं कह सके हैं। तुम्हें इन्द्र हृदयसे हैं ; अतः तुम उन्हींको स्वयंवरमें वरण करना] ॥ ७८ ॥

यः प्रेर्यमाणोऽपि हृदा मघोनस्त्वदर्थनायां ह्रियमापदागः ।
स्वयंवरस्थानजुषस्तमस्य बधान कण्ठं वरणस्रजैव[१] ॥ ७९ ॥

य इति ॥ हे भैमि, मघोनः इन्द्रस्य यः कण्ठस्त्वदर्थनायां विषये हृदा प्रेर्य ऽपि ह्रियमेवागोऽपराधमापत् । हीनस्याधिकं प्रति याच्ञासङ्कोचेऽप्यपराध भावः । स्वयंवरस्थानजुषः स्वयंवरमागतस्य अस्येन्द्रस्य तमपराधिनं कण्ठं स्रजा भर्तृवरणमालिकया त्वं वधान । ईदृशापराधिनामीदृग्वन्ध एव दण्ड भावः । सर्वथा लज्जां प्रविहाय प्रार्थनां कुर्वतो महेन्द्रस्य मनोरथपूरणं का तात्पर्यार्थः ॥ ७९ ॥

(हे दमयन्ती !) इन्द्रके जिस कण्ठने तुम्हारी याचनाके लिये हृदयसे प्रेरित हो भी लज्जारूप जिस अपराधको प्राप्त किया, स्वयंवरमें आये हुए इन्द्रके उस कण्ठको वर ही (पाठभेदसे—वरणमालासे शीघ्र) बाँधो। [हार्दिक इच्छा होनेपर भी लज्जावश कण्ठसे कुछ नहीं कह सके, और मेरे द्वारा अपना सन्देश भेजा, अतः उस अपराधी स्वयंवरमें इन्द्रके आनेपर सब लोगोंके सामने ही वरण-मालासे बाँधकर कठोर द अन्य भी किसी अपराधीको सबके सामने बाँधकर दण्डित किया जाता है, जिससे कभी ऐसा अपराध न करे ॥ इन्द्र तुम्हें हृदयसे चाहते हैं, अतः स्वयंवरमें उन्हींके माला पहनाना] ॥ ७९ ॥

नैनं त्यज क्षीरधिमन्थनाद्यैरस्यानुजायोद्गमितामरैः श्रीः ।
अस्मै विमथ्येक्षुरसोदमन्यां श्राम्यन्तु नोत्थापयितुं श्रियं ते ॥

नेति ॥ हे भैमि, एनमिन्द्रं, न त्यज । तथा हि, यैरमरैः अस्येन्द्रस्य

---

[१] '—स्रजाशु' '—स्रजा तु' इति पाठान्तरे ।

य। तादर्थ्ये चतुर्थी। क्षीराणि धीयन्तेऽस्मिन्निति क्षीरधिः क्षीरोदधिः। ण्यधिकरणे च" इति किप्रत्ययः। तस्य मन्थनात् मथनादुपायात्; मन्थते- वादिकस्येदित्वान्नुमागमः। श्रीः रमा उद्गमिता उत्थापिता। ते अमराः अस्मै य। पूर्ववच्चतुर्थी। इक्षुरस एवोदकं यस्य तमिक्षुरसोदं नामाब्धिम् "उदक- संज्ञायाम्" इत्युदादेशः। विमथ्य मथित्वा अन्यां श्रियम् उत्थापयितुं न न्तु न प्रयस्यन्तु। द्वितीयया श्रिया त्वयैव उपेन्द्रवदिन्द्रस्यापि लक्ष्मीपतित्वे वैषम्याय देवतानां लक्ष्म्यन्तरसम्पादनप्रयासो न स्यादिति भावः। अत्राम- लक्ष्म्यन्तरोत्पादनप्रयत्नासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ८० ॥

स इन्द्रको मत छोड़ो (अवश्य वरण करो; क्योंकि) जिन देवताओंने क्षीरसागरके ने इस इन्द्रके अनुज अर्थात् उपेन्द्र (विष्णु) के लिये लक्ष्मीको निकाला, वे देवता इस लिये इक्षुरस समुद्रको मन्थनकर दूसरी लक्ष्मीको निकालनेके लिये मत थकें। न्होंने बहुत परिश्रमसे क्षीरसमुद्रके मन्थनसे लक्ष्मीको निकालकर इस इन्द्रके छोटे भाईके लिये उसे दे दिया, अब यदि तुम इन्द्रको वरण नहीं करोगी तो बड़े भाई होनेसे तुल्य इस इन्द्रके लिये क्षीरसमुद्रमें उत्पन्न उस लक्ष्मीसे भी अधिक सुन्दरी लक्ष्मीको लिये क्षीरसमुद्रसे भी अधिक मधुर इक्षु-रस-समुद्रका मन्थनकर पूर्वापेक्षा श्रेष्ठ को निकालनेके लिये देवताओंको फिर परिश्रम करना पड़ेगा; अतएव तुम देवताओं- को परिश्रम न करना पड़े, ऐसी कृपाकर इन्द्रको वरण कर लो। तुम विष्णुप्रिया लक्ष्मी- से अधिक सुन्दरी हो, अतः तुम्हें पाकर इन्द्र कृतकृत्य हो जावें] ॥ ८० ॥

लोकस्रजि द्यौर्दिवि चादितेया अप्यादितेयेषु महान्महेन्द्रः।
किंकर्तुमर्थी यदि सोऽपि रागाज्जागर्ति कक्ष्या किमतः परापि ॥ ८१ ॥

लोकेति ॥ लोकस्रजि स्वर्गादिलोकपंक्तौ द्यौः स्वर्गो महती। दिवि च अदित्या पत्यानि पुमांसः आदितेयाः देवाः, महान्तः। कृदिकाराङ्ङीषन्तात् स्त्रीभ्यो ढक्। येष्वपि महेन्द्रो महान्। स महेन्द्रोऽपि रागात् किंकर्तुं सेवितुमर्थी इच्छुर्यदि। शब्दस्यास्य सर्वादिपठितस्य निपातितत्वाद्धातोः प्राक् प्रयोगः। अर्थयतेरिच्छा- र्थेषु समानकर्तृकेषु तुमुन्। अतोऽस्मादिन्द्रसेव्यत्वात् परा कक्ष्यापि उत्कृष्टावस्था जागर्ति स्फुरति किम्? न जागर्तीत्यर्थः। अत्र लोकादिषु पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्त- रोत्कर्षोक्तेः सारालङ्कारः। 'उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार' इति लक्षणात् ॥ ८१ ॥

(चौदहों) भुवनोंमें स्वर्ग श्रेष्ठ है, स्वर्गमें देवता (अदिति-कुमार) श्रेष्ठ हैं, अदिति- रोंमें इन्द्र श्रेष्ठ हैं, वे इन्द्र भी अनुरागसे (बिना किसी प्रेरणा या दबावके तुम्हारा होना चाहते हैं (तो) इससे आगे भी कोई श्रेणी जागरूक है? अर्थात् कोई नहीं। वरण करनेसे तुम्हें भूलोक छोड़कर श्रेष्ठ स्वर्गलोक मिलेगा, स्वर्गवासी गन्धर्व,

---

1 'कक्षा'।

किन्नर, विद्याधर तथा रणमें मरकर देवत्वप्राप्त वीररूप देवयोनियोंमें भी श्रेष्ठ अदि रूप देवयोनिको प्राप्त करोगी और उन अदिति–पुत्ररूप देवोंसे भी श्रेष्ठ महेन्द्र-पत्नी तथा सर्वश्रेष्ठ वे महेन्द्र तुम्हारा दास होकर रहेंगे ; अतः अग्नि, वरुण तथा यमको कर सर्वश्रेष्ठ इन्द्रको ही तुम वरण करना] ॥ ८१ ॥

पदं शतेनाप मखैर्यदिन्द्रस्तस्मै स ते याचनचाटुकारः ।
कुरु प्रसादं तदलं कुरुष्व स्वीकारकृद्भ्रूनटनक्रमेण ॥ ८२ ॥

पदमिति ॥ इन्द्रः शतेन मखैः मखशतेन यत्पदमिन्द्रत्वलक्षणं स्थानमाप स इन्द्रस्तस्मै पदाय तत्पदस्वीकारायेत्यर्थः । ते तव याचनेन प्रार्थनया चाटु प्रियंवदः । जात इति शेषः । "न शब्दश्लोके"त्यादिना टप्रत्ययनिषेधात् कर्म प्रसादमनुग्रहं कुरु । तदैन्द्रं पदं स्वीकारकृता अंगीकारव्यञ्जकेन भ्रूनटनक्रमेण क्षेपव्यापारेण, अलं कुरुष्व ॥ ८२ ॥

इन्द्रने सौ (अश्वमेध) यज्ञोंसे जिस पदको पाया है, उस (को देने) के लिये वह इन्द्र याचनारूप प्रिय वचन कह रहा है, तुम कृपा करो तथा उस इन्द्रपदको सं सूचक भ्रूचालन-श्रमसे सुशोभित करो । [सौ अश्वमेध यज्ञोंसे प्राप्त पदको देनेके लिये तुमसे याचना तथा खुशामद चाटुकारी कर रहे हैं, उसे तुम केवल भ्रूके संचालनमा स्वीकार करो । तुम इन्द्रकी भी स्वामिनी हो, अतः स्वामिनीको किसी प्रार्थनाकी स्वी देनेके लिये मुखसे बोलनेकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु स्वामी केवल भ्रू-सङ्के ही स्वीकृति दे देता है । तुम इन्द्रको वरणकर महापुण्य–लभ्य इन्द्राणीपद प्राप्त करो इसके लिये अपनी भ्रूको हिलाकर अपनी स्वीकृति दे दो] ॥ ८२ ॥

मन्दाकिनीनन्दनयोर्विहारे देवे भवेद्देवरि माधवे च ।
श्रेयश्श्रियां यातरि यच्च सख्यां तच्चेतसा भाविनि भावय त्वम् ॥

मन्दाकिनीति ॥ भावयतीति भाविनि विचारचतुरे भैमि ? मन्दाकिनीनन्द विहारे क्रीडायां माधवे देवे उपेन्द्रे देवरि देवरे भर्तृभ्रातरि सति । 'स्यालाः स्यु पत्न्याः स्वामिनो देवृदेवरौ' इत्यमरः । "दिवेर्ऋः" इति ऋ प्रत्ययः । श्रियां व्याम् । यतत इति यातरि । देवृभार्यायाम् । 'भार्यास्तु भ्रातृवर्गस्य यातरः परस्परम्' इत्यमरः । 'यतेर्वृद्धिश्च' इति तृन्प्रत्ययः । सख्यां सत्याञ्च यच्छ्रेयो त्कर्षः भवेत् । तत्त्वं चेतसा विभावय विचारय । अयाचितोपनतं महच्छ्रे परिहर्तव्यमित्यर्थः । अत्र नन्दनविहारक्रियायाः माधवदेवृकत्वश्रीयातृकत्वसु सामस्त्येन यौगपद्यात् समुच्चयालङ्कारभेदः । 'गुणक्रियायौगपद्ये समुच्चय उदा इति लक्षणात् ॥ ८३ ॥

हे विचारशील दमयन्ती ! स्वर्गङ्गा तथा नन्दनवनके विहारमें, लक्ष्मीपति देव (

)के देवर होनेमें (पाठा०—देव इन्द्रके पति होनेमें और लक्ष्मी-पतिके देवर , तथा लक्ष्मीकी पति-भ्रातृ-पत्नी रूपमें सखी होनेमें जो कल्याण होगा, उसे हृदयसे । [इन्द्रको वरण करनेमें तुम्हें मन्दाकिनीमें जलक्रीडा तथा नन्दनवनमें विहार मिलेगा, अग्नि आदि देवोंको वरण करोगी तो केवल मन्दाकिनीमें जलक्रीडा आनन्द मिलेगा, परन्तु नन्दनवनमें विहार करनेका आनन्द नहीं मिलेगा। इन्द्रके वरणपर लक्ष्मीपति विष्णु तुम्हारे देवर हो जायेंगे, किन्तु अग्नि आदिके वरण करने-को देवररूपमें नहीं प्राप्त कर सकोगी तथा इन्द्रके वरण करनेपर लक्ष्मी तुम्हारी गी, अग्नि आदि किसीके वरण करनेपर सम्पत्तिरूप लक्ष्मीकी तो प्राप्ति होगी किन्तु लक्ष्मी सखी नहीं होगी। इसके अतिरिक्त यदि इन्द्रादि देवोंको छोड़कर भूमिष्ठ राजकुमारका वरण करोगी तो उक्त सब सुखोंसे सर्वथा वञ्चित रह जाओगी, अतः राजकुमारको तथा अग्नि आदि देवोंको छोड़कर इन्द्र को ही वरण करना] ॥ ८३ ॥

रज्यस्व राज्ये जगतामितीन्द्राद्याच्ञाप्रतिष्ठां लभसे त्वमेव।
लघूकृतस्वं बलियाचनेन तत्प्राप्तये वामनमामनन्ति ॥ ८४ ॥

रज्यस्वेति। हे भैमि, जगतां राज्ये, त्रैलोक्याधिपत्ये, रज्यस्व अनुरक्ता भव। र्थनायां लोट्। रञ्जेः स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम्। इत्येवंरूपां याच्ञां प्रार्थनामेव प्रतिष्ठां न्द्रात्त्वमेव लभसे। तथाहि, तस्य त्रैलोक्यराज्यस्य प्राप्तये लाभाय बलेर्वैरो-याचनेन लघूकृतमल्पीकृतं, स्वमात्मा येन तं विष्णुमपीति शेषः। तं वामनं ष्णुं चामनन्ति। यदर्थं विष्णोरपि याच्ञालाघवं प्राप्तम्। प्रार्थनां विना तुभ्यं दीयते देवेन्द्रेणेत्यहो ते भागधेयमित्यर्थः। व्यतिरेकेण दृष्टान्ता ॥ ८४ ॥

नों लोकोंके राज्यमें तुम अनुरक्त होवो अर्थात् तीनों लोकोंका राज्य करो' इस न्द्रसे याचना-गौरवको तुम्हीं पा रही हो, (अन्य कोई स्त्री नहीं)। जिस (तीनों के राज्य) को पानेके लिये बलि (दैत्योंका राजा) के यहाँ याचना करनेसे अपनेको नेवाले (विष्णुको विद्वान् लोग) वामन कहते हैं। [शत्रुभूत निकृष्ट दैत्योंके राजा र्वश्रेष्ठ साक्षात् विष्णुने जिस त्रैलोक्यके राजाकी याचनाकर अपनी आत्माको करनेके कारणसे ही छोटा (गौरव-हीन) किया तथा उस त्रैलोक्यराज्यको इन्द्रके दिया, उसी त्रैलोक्यराज्यको तुम्हें देनेके लिये इन्द्र तुमसे याचना कर रहे हैं, यह केवल तुम्हें ही प्राप्त हुआ है दूसरे किसी व्यक्तिको नहीं। जिस त्रैलोक्यराज्यको विष्णु अपनेसे निकृष्ट बलिसे मांगकर अपना गौरव नष्ट कर संसारमें वामन) कहलाये, उसी त्रैलोक्यराज्यको सर्वश्रेष्ठ देवराज इन्द्र अपनेसे निकृष्ट मानुषी र्थना करते हुए देना चाहते हैं; अतः विष्णु तथा इन्द्रसे भी तुम्हारा गौरव अधिक है। इसकारण तुम इन्द्रको ही वरण करना] ॥ ८४ ॥

यानेव देवान्नमसि त्रिकालं न तत्कृतघ्नीकृतिरौचिती ते ।
प्रसीद तानप्यनृणान्विधातुं पतिष्यतस्त्वत्पदयोस्त्रिसन्ध्यम् ॥ ८५

यानिति ॥ हे भैमि, यानेव देवानिन्द्रादीन् । त्रयः काला यस्मिन् कर्म त्रिकालं, यथा तथा । नमसि त्रिसन्ध्यं नमस्करोषीत्यर्थः । तेषां देवानां कृत स्तदीयप्रत्युपकारपरिहारेण कृतघ्नकरणं, ते तव, औचिती, औचित्यं न । त्वया अकृतज्ञा न क्रियन्तामिति भावः । तिसृणां सन्ध्यानां समाहारस्त्रिसन्ध्यं, त्रयेऽपीत्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । 'वा टावन्त' इति नपुंसकत्वम् । त्वत्प पतिष्यतः नमस्करिष्यतः तान् देवानप्यनृणान् विधातुं, प्रतिप्रणामस्वीकारेण णान् कर्तुं प्रसीद । तान् वृणीष्वेत्यर्थः ॥ ८५ ॥

जिन देवोंको ही त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न, सायं) नमस्कार करती हो, उन को ही कृतघ्न बनाना तुम्हें उचित नहीं है । (इन्द्रको तुम्हारे वरण करनेपर) तीनों (मध्याह्न तथा सायं) सन्ध्याओंमें तुम्हारे चरणोंपर गिरने अर्थात् आकर भविष्यमें करनेवाले उन देवोंको भी अनृण करनेके लिये प्रसन्न होवो । [आजतक तुम जिन प्रणाम करती हो, वे तुम्हारे ऋणी हैं, जब तुम इन्द्रको वरण करोगी, तब वे देव छोड़कर इन्द्रके साथ तुम्हारे पैरों पर नतमस्तक होकर प्रणाम करनेसे तुमसे अनृण मुक्त) हो जायेंगे तथा कृतघ्न नहीं बनेंगे ॥ तुम इन्द्रको वरणकर स्वर्गमें इन्द्रके साथ सनपर बैठकर देवताओंकी प्रणम्या बनो] ॥ ८५ ॥

इत्युक्तवत्या निहितादरेण भैमीगृहीता मघवत्प्रसादः ।
स्रक्पारिजातस्य ऋते नलाशां वासैरशेषामपुपूरदाशांम् ॥ ८६।

इतीति । इतीत्थमुक्तवत्या शक्रदूत्या । आदरेण निहिता समर्पिता । गृहीता स्वीकृता मघवतः प्रसादोऽनुग्रहभूता । स्ववतंसत्वेन अभिमतेति पारिजातस्य स्रङ् मालिका नलस्याशां तृष्णां दिशं च ऋते विना । तस्या (नलस्य) विपरीतशङ्काकरत्वादिति भावः । 'आशा तृष्णादिशोः' इति यद्यपि, 'अन्यारादितरर्त' इति ऋतेशब्दयोगात् पञ्चम्येव विहिता , तथापि द्वितीयाप्यस्तीत्याहुः । तथा, 'फलति पुरुषाराधनमृत' इति प्रयोगश्च । अशेषा दिशम् । सर्वा अपीत्यर्थः जातावेकवचनम् । वासैर्निजवासनाभिरपुपूरत् पूरितव 'पूरी पूरण' इति चौरादिकस्य धातोरल्लोपित्वात् 'नाग्लोपिशास्वृदिताम्' इत्युप स्वनिषेधः । अभ्यासह्रस्वः । द्वयोरप्याशयोरभेदाध्यवसायाद्विनोक्तिनिर्वाहः ॥

ऐसा (श्लो० ७७–८५) कहनेवाली इन्द्रदूतीके द्वारा सादर दी गयी तथा (प्रसाद मानकर, भूषण मानकर नहीं) दमयन्तीसे ग्रहण की गयी पारिजातकी नलकी आशाको छोड़कर सब दिशाओं (पक्षा०—इन्द्रदूतीकी आशा) को वास (पक्षा०—दमयन्तीके पास आने)से पूरा कर दिया । [अथवा—ऐसा कहनेवाली

था इन्द्रका प्रसाद समझकर दमयन्तीके द्वारा सादर ग्रहण की गयी……। ी गयी पारिजात मालाको जब दमयन्तीने इन्द्रका प्रसाद मानकर सादर ले ने सोचा कि "इन्द्रकी भेजी हुई पारिजात-मालाको बड़े आदरके साथ दम- ी है, अतः मालूम पड़ता है कि यह इन्द्रमें ही अब अनुरक्त हो रही है, इस ों वरण करेगी, मुझे नहीं", ऐसा विचार कर आते ही नलदमयन्तीकी प्राप्तिसे े। इधर उस प्रकार आदरपूर्वक पारिजात-मालाको लेती हुई दमयन्तीको ूतीने सोचा कि दमयन्ती इन्द्रमें अनुरक्त होकर ही आदरके साथ उनकी माला ः हमारी आशा पूरी हो गयी। किन्तु नल तथा इन्द्रदूती--दोनों ही भ्रममें मयन्ती 'मालाको (देवराज इन्द्र प्रसादको) ग्रहण नहीं करनेसे पूज्य देवताका ' ऐसा विचारकर ही पारिजात-मालाको लिया था 'इन्द्रने प्रेमपूर्वक मुझे णमें इस पारिजात-मालाको भेजा है' ऐसा समझकर भूषणरूपमें नहीं ॥ ८६ ॥

! विचार्यालमिहेति कापि योग्यं सखि स्यादिति काचनापि[1]।
ार एवोत्तरमस्तु वस्तु मङ्गल्यमत्रेति च काप्यवोचत् ॥ ८७ ॥

ति ॥ आर्ये भैमि, इहेन्द्रवरणे विचार्यं अलम्। विचारो न कर्तव्य इति अवोचत्। सखि भैमि, योग्यमिदं युक्तं स्यादिति काचनाप्यवोचत्। ोऽङ्गीकार एव मङ्गल्यमुत्तरमुत्तररूपं वस्त्वस्त्विति काप्यवोचत् ॥ ८७ ॥

य दमयन्ती से) किसी सखीने "हे आर्ये! इस विषयमें विचार मत करो े वरण करनेका निश्चय कर लो" ऐसा, किसी सखीने "यह (इन्द्र वरण- ोग्य है" ऐसा और किसी सखीने "इस (इन्द्रको वरण करनेके विषय) में) अङ्कार हो मङ्गल वस्तु होवे" ऐसा कहा। [सब सखियोंने इन्द्रको े लिये ही दमयन्तीसे कहा] ॥ ८७ ॥

वा वः किमहं कदापि वक्तुं विशेषः परमस्ति शेषः।
रिते भीमजया न दूतीमालिङ्गदालीश्च मुदामियत्ता ॥ ८८ ॥

ेति। हे सख्यः, अह कदापि वो युष्माकं, अनाश्रवा अवचनकारिणी ु वक्तुं विशेषः शेषोऽस्ति। किंतु, वक्तव्यशेषः कश्चिदस्तीत्यर्थः। इति ैम्या, ईरिते उक्ते सति दूतीमिन्द्रशम्भलीमालीभैंमीसखीश्च मुदामिय- प्रापत्। स्वोक्तमङ्गीकृत्य तत्र किञ्चिद्वरदानमपेक्षत इति भ्रान्त्या न्दमविन्दन्तेत्यर्थः ॥ ८८ ॥

ुमलोगोंके कथनको कभी नहीं सुना है क्या? अर्थात् सर्वदा मैंने तुमलोगोंके ार ही किया है, किन्तु कहनेके लिये कुछ विशेष बाँकी है" ऐसा दमयन्तीके

---

[1] "-नापि" इति पाठान्तरम्।

कहनेपर इन्द्र-दूतीको तथा सखियोंको हर्षकी परिमिति (परिमित हर्ष) ने नहीं आलि किया अर्थात् अपरिमित हर्षने आलिङ्गन किया (दमयन्तीके ऐसा कहनेपर अपने क सफल होते देख इन्द्रदूती तथा सखियों को अपरिमित हर्ष हुआ। दूतीने सोचा कि इ कथनको किसी नियमको करके (वरदान आदि मांगकर) दमयन्ती पूरा करना चा है, इसी कारण 'कहनेके लिये कुछ विशेष बाँकी है' ऐसा कह रही है, तो इसके शेष कथ पूरा करनेसे हमारा कार्य सिद्ध हो जायगा अर्थात् यह इन्द्रको वरण कर लेगी यह सोच अपरिमित आनन्द हुआ। अथवा—अपरिमित हर्षने नहीं आलिङ्गन किया, क्योंकि द यन्तीने 'कुछ विशेष कहना बाँकी है' ऐसा कह दिया था, अतः···. अथवा—तुमलोगों कहना मैंने कभी नहीं किया है क्या? मुझे विशेष कहनेके लिये और कुछ बाँको है क (इस प्रकार 'किम्' शब्दका दोनों वाक्योंके साथ सम्बन्ध करे) ऐसा दमयन्तीके कहने पर·········] ॥ ८८ ॥

भैमीं च दूत्यं च न किञ्चिदापमिति स्वयं भावयतो नलस्य।
आलोकमात्राद्यदि तन्मुखेन्दोरभून्न भिन्नं हृदयारविन्दम् ॥ ८९ ॥

भैमीति ॥ भैमीञ्च दूत्यञ्च किञ्चित्किञ्चन तयोरेकञ्च। नापं न प्रापम्। आप्लं रङि सिप्। स्त्रीरत्नलाभो मा भूत, परोपकारोऽपि न सिद्ध इत्यर्थः। इति स्वयमा त्मनि भावयतो भैमीचित्तचलनभ्रान्त्या चिन्तयतो नलस्य, हृदयमेवारविन्दं, तन्मु खेन्दोः भैमीमुखचन्द्रस्यालोकमात्रात् दर्शनमात्रात् प्रकाशमात्राच्च। 'आलोको द नोद्योतौ' इत्यमरः। भिन्नं विदीर्णं विकसितञ्च नाभूद्यदि नाभूत् किम्। तन्मुखद र्शनादनया विश्वास्य हतोऽस्मीति विदीर्णहृदयोऽभूदेवेत्यर्थः। इन्दुप्रकाशात् कथमर विन्दविकास इति विरोधश्च ध्वन्यते ॥ ८९ ॥

"मैंने दमयन्ती या दूत कार्य—इन दोनोंमेंसे किसीको नहीं पाया" ऐसा स्वयं सोच हुए नलका हृदय-कमल दमयन्तीके मुखचन्द्रको देखने मात्रसे विदीर्ण नहीं हुआ क्या! अर्थात् अवश्य विदीर्ण हुआ। [अथवा—···हुए नलका हृदय कमल जो विदीर्ण नहीं हु वह दमयन्तीके मुखचन्द्रके देखनेसे ही नहीं हुआ। नलने विचारा कि प्रियारूपमें दमयन्ती पानेसे तो मैं वञ्चित रहा ही किन्तु परोपकार तथा स्वयशोवृद्धिरूप श्रेयसे भी मैं वञ्चित र गया, क्योंकि मेरे कार्यको यह दूती हो पूरा कर रही है, यह सोच (अपनी समझ अनुसार, वास्तविकमें नहीं) इन्द्रानुरक्त दमयन्तीके मुख-चन्द्रको देखते रहनेपर भी नल हृदय विदीर्ण हो गया, चन्द्रदर्शन होते रहनेपर भी कमलका विकसित होना कवि-सम विरुद्ध है। अतएव नारायणभट्ट-सम्मत द्वितीय व्याख्यान ही ठीक प्रतीत होता है, उस अनुसार उक्त बात सोचते हुए नलका हृदय-कमल उस दमयन्तीके मुखचन्द्रको देखने मात्र ही विदीर्ण (खण्डित, पक्षा०—विकसित) नहीं हुआ, अपितु सङ्कुचित रहा। चन्द्रमाके देखनेसे कमल विकसित नहीं होता, किन्तु सङ्कुचित ही रहता है] ॥ ८९ ॥

षत्स्मितक्षालितसृक्किभागा दृक्संज्ञया वारिततत्तदालिः ।
जा नमस्कृत्य तयैव शक्रं तां भीमभूरुत्तरयांचकार ॥ ९० ॥

दिति ॥ भीमभूः भैमी, ईषत्स्मितेन मन्दहासेन क्षालितौ धौतौ सृक्किणी तावेव भागौ यया सा सती। 'प्रान्तावोष्ठस्य सृक्किणी' इत्यमरः। दृक्संज्ञयैव निषिद्धास्तास्ताः पूर्वोक्तविरुद्धप्रलापिन्यः आलयः सख्यः, यया सा च तयेन्द्रदूतीदत्तया स्रजा सहैव। 'वृद्धो यूना' इति सूत्रकारप्रयोगादेव ज्ञाप- हशब्दाप्रयोगेऽपि सहार्थे तृतीया। शक्रं नमस्कृत्य, स्रजं शक्रञ्च नमस्कृत्ये- न तु तामवतंसीकृत्य। तस्य नलस्य जीवनार्थमिति भावः। तामिन्द्रदूतीमु- कार उत्तरमाचष्ट। 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच् ॥ ९० ॥

मुस्करानेसे ओष्ठप्रान्तको श्वेत करनेवाली तथा नेत्रसङ्केतसे उन-उन सखियोंको इन्द्रको वरण करने की सम्मति दी थी) मना करती हुई उस दमयन्ती ने उस (इन्द्रकी पारिजात) मालाके साथ ही इन्द्रको प्रणाम कर दूतीको उत्तर दिया। [अथवा— प्रणाम कर उस मालासे ही दूतीको उत्तर युक्त कर दिया अर्थात् इन्द्रने यह माला जानकर प्रसादरूपमें भेजी है, न कि प्रेयसी जानकर पुष्पाभरणरूपमें, क्योंकि यन्ती उस मालाको प्रिय इन्द्रद्वारा भेजा गया पुष्पाभरणोपहार समझती तो उसका प्रणाम नहीं करती, अपितु हृदयसे लगाकर चुम्बनादिद्वारा इन्द्रमें प्रेम प्रदर्शित इसीसे दूतीके वचनका उत्तर दमयन्तीने दे दिया। जैसे कोई व्यक्ति किसीकी स्वीकार नहीं करता तो उस बातको सुनकर थोड़ा-सा मुस्कुरा कर ही और समर्थक न्धुजनोंको संकेतसे ही रोककर उसके बातका उत्तर दे देता है, इन्द्रदूतीकी बातोंका करनेवाली सखियोंको आँखके इशारेसे रोककर तथा दूतीकी ओर मुस्कुराकर वथा को प्रणाम कर दमयन्तीने भी दूतीकी बातको स्वीकृत नहीं करनेका सङ्केत कर दिया] ॥

स्तुतौ मघोनस्त्यज साहसिक्यं वक्तुं कियत्तं यदि वेद वेदः ।
वृथोत्तरं[1] साक्षिणि हृत्सु नृणामज्ञातृविज्ञापि समापि तस्मिन् ॥ ९१ ॥

स्तुताविति ॥ हे दूति, मघोन इन्द्रस्य स्तुतौ विषये साहसिक्यं साहसमविमृ- कारित्वं त्यज, न स्तुहीत्यर्थः। कुतः अशक्यत्वादित्याह। त शक्रं कियदल्पं वक्तुं नाति वेदः, श्रुतिरेव वेद वेत्ति, नान्यः। अतः स्तुतेर्विरमेति भावः। तर्हि किम- रं तत्राह—नृणां हृत्सु विषये साक्षिणि साक्षिभूते 'साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्' इनिप्रत्ययः। तस्मिन्मघोनि अज्ञातॄनज्ञान् विज्ञापयति विबोधयतीति तथो- ता। समसम्बन्ध्युत्तरमपि वृथा। अज्ञस्योत्तराकांक्षा न सर्वज्ञस्येति भावः ॥ ९१ ॥

(दूती !) इन्द्रकी प्रशंसा करनेका साहस छोड़ो, यदि उनको कुछ (असम्पूर्णतया) है तो वेद जानता है (इन्द्रकी महिमाको वेद भी सम्पूर्णतया नहीं जानता

---

[1] 'मृषोत्तमम्' इति पाठान्तरम् ।

तो फिर दूसरे कैसे जान सकते हैं अतः इन्द्रकी महिमा बहुत बड़ी है)। मनुष्योंके साक्षी (मानव हृदयकी समस्त बातको जाननेवाले अर्थात् अन्तर्यामी) उस इन्द्रको, जाननेवालेको बतलानेवाला मेरा उत्तर व्यर्थ है। [महामहिमशाली तथा सर्वान्तर्यामी मुझे कोई उत्तर देना व्यर्थ है, क्योंकि 'मेरा हृदय नलासक्त है, वे इस बातको जानते हैं]

आज्ञां तदीयामनु कस्य नाम नकारपारुष्यमुपैतु जिह्वा।
प्रह्वा तु तां मूर्ध्नि निधाय मालां बालापराध्यामि विशेषवाग्भिः ॥९

तथाप्यविनयपरिहाराय किञ्चिद्विज्ञापयामीत्याह—अज्ञामिति। तदीयामैन्द्रीमाज्ञामनु तामुद्दिश्य कस्य नाम जिह्वा नकारो नञुच्चारणमेव पारुष्यमुपैतु प्रतिरौक्ष्यं भजेत्। न कोऽपि तदाज्ञोल्लङ्घनसाहसिकोऽस्तीत्यर्थः। किन्तु. बाला रहं प्रह्वा नम्रा सती तामाज्ञामेव मालां मूर्ध्नि निधाय, विशेषवाग्भिरतिवाग्भिरध्यामि अपराधं करोमि। स च बालचापलात् सोढव्य इत्यर्थः ॥ ९२ ॥

उन इन्द्रकी आज्ञाको लक्ष्यकर किसकी जिह्वा निषेध करने ('नहीं' कहने) की करेगी अर्थात् कोई भी उनकी आज्ञाको अस्वीकार नहीं करेगा। बाला मैं नम्र होकर मालाको शिरसे लगाकर (नमस्कार कर) विशेष वचनोंसे अपराध कर रही हूँ [बालक समझकर इन्द्रभगवान् मुझे क्षमा करेंगे] ॥ ९२ ॥

तपःफलत्वेन हरेः कृपेयमिमं तपस्येव जनं नियुङ्क्ते।
भवत्युपायं प्रति हि प्रवृत्तावुपेयमाधुर्यमधैर्यसर्ज्जि[1] ॥ ९३ ॥

तप इति। तपःफलत्वेन इन्द्रोपासनरूपस्य तपसः फलत्वेनोपलक्षिता फल त्यर्थः। इयं मत्परिजिघृक्षारूपा कृपा हरेरिन्द्रस्य। इमं जनं मां तपस्येव पुनरपीन्द्रोपासनायामेव नियुङ्क्ते प्रेरयति। "स्वराद्यन्तोपसृष्टादिति वक्तव्यम्" इत्या पदम्। ननु महदेतत्फलं प्राप्तं किं तपसेत्याशंक्य, सत्यम्, तदेव स्वादु कर्तुमित्या भवतीति। हि यस्मादुपायं प्रति प्रवृत्तौ साधनगोचरप्रवृत्तौ विषये उपेयस्य साध्य माधुर्यं स्वादुत्वमेव, अधैर्यमस्थैर्यं सजयति कारयतीत्यधैर्यसजि भवति। साधनप्रवृत्तिचापलं कारयतीत्यर्थः। सिद्धान्तस्योपस्कार=(उपदंश) प्रवृत्ति प्रवृत्तिरिति भावः ॥ ९३ ॥

तपके फलसे परिणत इन्द्रकी यह कृपा इस जन (मुझ) को फिर तपमें ही कर रही है। प्राप्त करने योग्य (फल) की श्रेष्ठता उपाय करनेके लिये प्रवृत्त होनेमें कर देता है। [पूर्वजन्ममें की हुई इन्द्रोपासनारूप तपस्याका फल है कि इन्द्र मुझे रहे हैं, अतः उनकी यह कृपा मुझे पुनः इन्द्रोपासना करनेके लिये प्रेरित कर रही है पुनः किये हुए इस तपके फल-स्वरूप नलको प्राप्त कर सकूँ, क्योंकि श्रेष्ठ फलको

---

[1] "अधैर्यसर्जि" "अधैर्यकारि" इति पाठान्तरे।

नुप धैर्य छोड़कर उपायमें अधिकसे अधिक संलग्न हो जाता है। अत एव नल-के मुझे पुनः तपस्या करनी पड़ेगी]॥ ९३ ॥

शुश्रूषिताहे तदहं तमेव पतिं मुदेऽपि व्रतसम्पदेऽपि ।
विशेषलेशोऽयमदेवदेहमंशागतं तु क्षितिभृत्तयेह ॥ ६४ ॥

तमाह—शुश्रूषिताह इति । तत्तस्मादर्थित्वादहं तमिन्द्रमेव पतिं शुश्रूषिताहे वे। 'शुश्रूषा श्रोतुमिच्छायां परिचर्यावधानयोः' इति विश्वः । 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां इति शृणोतेः सन्नन्तात्तङि लुट् । तासः सकारस्य हकारः । किंतु, मुदेऽपि य च व्रतसम्पदेऽपि पातिव्रत्यसम्पत्त्यर्थञ्च क्षितिभृत्तया राजत्वेन इह कस्मिं-अंशेन मात्रया आगतमवतीर्णम् । 'अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो इति स्मरणात् । अत एव, अदेवदेहं देवदेहरहितं मानुषविग्रहं सन्तम् । न तु दिति शेषः (तं (शुश्रूषिताह इति पूर्वेणान्वयः) । अयं विशेषलेशोऽल्पीयान् स च सोढव्यः, अन्यथा मे व्रतलोपः स्यादिति भावः ॥ ९४ ॥

तथा पातिव्रत्यरूप व्रत–पालनके लिये राजा होनेसे (इन्द्रके) अंश भूत और व (मनुष्य) शरीर वाले उस इन्द्रकी ही सेवा करूंगी, थोड़ा–सा यही विशेष है। अष्टदिक्पालके अंशभूत होनेसे नल भी इन्द्रके अंश ही हैं और देव न होकर मनुष्य इतना थोड़ा–सा भेद होना यदि मुझ बालिका के लिये अपराध हो तो इस छोटेसे को भगवान् इन्द्र क्षमा करें, क्योंकि इतने मात्रके भेदसे ही मेरी तपस्या (पातिव्रत्य–) पूर्ण होती है तथा मुझे हर्ष भी होता है]॥ ९४ ॥

अश्रौषमिन्द्रादरिणी[1] गिरस्ते सतीव्रतातिप्रतिलोमतीव्राः ।
स्वं प्रागहं प्रादिषि नामराय किं नाम तस्मै मनसा नराय ॥९५॥

थं व्रतलोपस्तदाह - अश्रौषमिति । हे इन्द्रदूति, सतीव्रतस्य पतिव्रताधर्मस्य प्रतिलोमाः अत्यन्तप्रतिकूलाः । अत एव, तीव्रा दुःश्रवाश्च । ते गिरः इन्द्रे आदरिणी आदरवती अश्रौषम्, इन्द्रो महती देवतेति भयभक्तिभ्यामश्रौषम् । न तु, दिति भावः । कथं तर्हि तमेव पतिं भजिष्यामीत्युक्तं तत्राह—प्राक् पूर्वमहं आत्मानं, अमराय देवात्मने तस्मै इन्द्राय न प्रादिषि न प्रादां नाम । किंतु, नराय रलयोरभेदान्नलरूपाय च तस्मै मनसा प्रादिषि । ददातेर्लुङि तङ् । "स्था-घ्वोरिच्च" इतीकारः । अतः साक्षादिन्द्रभजने मम व्रतलोपः स्यादेवेत्यर्थः ॥ ९६ ॥

पातिव्रत्य व्रतके अत्यन्त प्रतिकूल होनेसे तुम्हारी कठोर बातको मैंने इन्द्रमें आदरयुक्त सुना (पाठा०–इन्द्रको अत्यन्त प्रशंसायुक्त तथा पातिव्रत्य व्रतके सर्वथा प्रतिकूल तुम्हारी कठोर बातको मैंने सुना। मैंने पहले मनसे अपनेको देवता इन्द्रके लिये नहीं है, किन्तु नर (मनुष्य, पक्षा–'रलयोरभेदः' सिद्धान्तके अनुसार नल) के रूप इन्द्र

---

[1] "दरिणीर्गिरस्ते" इति पाठान्तरम् ।

(राजा होनेसे इन्द्रके अंशरूप) के लिये मनसे दिया है। [देवरूप इन्द्रका सन्देश
सुननेसे एक प्रकार उनका अपमान होगा, मनुष्यको देवताका अपमान करना उचित
इसी विचारसे मैंने इन्द्रका सन्देश सुना है, कुछ उनमें अनुराग होनेसे उक्त संदेशको
सुना है। यदि सानुराग होकर इन्द्रकी बात सुनती तो मनसे मनुष्य रूपमें
अर्थात् नलके लिये अपनेको पहले समर्पण कर देनेके कारण परपुरुष–विषयक सन्देश
मेरा पातिव्रत्यरूपधर्म नष्ट हो जाता] ॥ ९५ ॥

तस्मिन्विमृश्यैव वृते हृदैषा नैन्द्री दया मामनुतापिकाभूत् ।
निर्वातुकामं भवसम्भवानां धीरं सुखानामवधीरणेव ॥ ९६ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन् नरे हृदा हृदयेन, विमृश्यैव वृते सति इदमेव
सम्यङ्निश्चित्यैव प्रवृत्तेरित्यर्थः। एषा ऐन्द्री, दया परिजिघृक्षालक्षणा
निर्वातुकामं मोक्तुकामम्, इदमेव साध्विति निश्चित्य मोक्षे प्रवृत्तमित्यर्थः।
कैवल्यनिर्वाण' इत्यमरः। धीरं निर्विकारचित्तं, विद्वांसम् । भवसम्भवानां
अवधीरणा सांसारिकसुखसंन्यास इव ममानुतापिका हा कष्टमसाधुकृतामिति
पश्चात्तापकारिणी नाभूत्। 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति षष्ठीप्रतिषेधात्
द्वितीया ॥ ९६ ॥

विचारकर ही हृदयसे उसे (नलको) वरणकर लेनेपर इन्द्रकी यह दया (
विवाह करनेकी अभिलाषा), मुक्ति चाहनेवाले धैर्यवान् या विवेकीको सांसारिक
तिरस्कारके समान मुझको सन्तप्त करनेवाली न होवे। [जिस प्रकार मुक्ति
विवेकी व्यक्तिको सांसारिक सुखोंका त्याग सताता नहीं अर्थात्—"इन सांसारिक
त्यागकर व्यर्थमें मैं मुक्ति–लाभके झमेलेमें पड़ा" इस प्रकार विवेकी पुरुष
करता, उसी प्रकार मैंने नलको बहुत सोच–विचारकर पहले ही हृदयसे वरणकर
अतः 'इन्द्र मुझे पत्नीरूपमें स्वीकार करनेकी दया करने की कृपाकर रहे हैं इस
मुझे पश्चात्ताप नहीं होता। मोक्षार्थी विवेकशील व्यक्तिके लिये जिस प्रकार सांसारिक
तुच्छ एवं व्यर्थ है, उसी प्रकार इन्द्रकी उक्त प्रार्थना भी मेरे लिये तुच्छ और व्यर्थ है] ॥

वर्षेषु यद्भारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु ।
तत्रास्मि पत्युर्वरिवस्ययाहं शर्मोर्मिकिर्मीरितधर्मलिप्सुः ॥ ९७ ॥

विमृश्य कृतमित्युक्तमथैनं विमर्शप्रकारमेव श्लोकचतुष्टयेनाह - वर्षेष्वित्यादि
आर्यधुर्याः श्रेष्ठाः आश्रमेषु ब्रह्मचर्यादिषु चतुर्षु गार्हस्थ्यं गृहस्थाश्रममिव। वर्षेषु
वृतादिषु नवसु यद्भारतं वर्षं स्तुवन्ति प्रशंसन्ति। तत्र भारतवर्षे अहं पत्युर्
स्यया शुश्रूषया। 'वरिवस्या तु शुश्रूषा' इत्यमरः। वरिवस्यतेः
'अ प्रत्ययात्' इति अकारप्रत्यये टाप्। शर्मोर्मिभिः सुखपरम्पराभिः,
चितं तत्सहचरधर्मं लिप्सुर्लब्धुमिच्छुरस्मि। 'शर्मशातसुखानि च। चित्रं
रकल्माषशबलैताश्च कर्बुर' इति चामरः ॥ ९७ ॥

(मनुआदि) चार आश्रमोंमें गृहस्थाश्रमके[1] समान वर्षोंमें जिस भारतवर्षकी रते हैं[2], उस इस भारतवर्षमें पति (नल) की सेवाके द्वारा मङ्गल-तरङ्गसे चित्रित करना चाहती हूँ ॥ ९७ ॥

र्गे सतां शर्म परं न धर्मा भवन्ति भूमाविह तच्च ते च ।
ष्ट्यापि तुष्टिः सुकरा सुराणां कथं विहाय त्रयमेकमीहे ॥ ९८ ॥

स्वर्गेऽपि सुखधर्मौ स्त इत्यत आह—स्वर्ग इति । स्वर्गे सतां स्वर्गवासि- नां । शर्म परं सुखमेव (अस्ति) । धर्माः सुकृतानि न भवन्ति इहास्यां तच्छर्म च ते च धर्माश्च भवन्ति सम्भवन्ति । किञ्चेह इष्ट्या यागेन सुराणां ष्टि सुकरा सुसम्पाद्या । एवं सति कथं त्रयं शर्मधर्मतुष्टिरूपं विहायैकं सुखमीहे । न प्रेक्षावत्कृत्यमिति भावः । तस्मात् स्वर्गादपि भूलोक एव श्लाघ्य इत्यर्थः ॥

में निवास करनेवालोंको केवल सुख होता है, धर्म नहीं होते, इस भूमि पर वह सुख धर्म—दोनों ही होते हैं। (भारत-भूमिमें निवास करते हुए) यज्ञके द्वारा भी ओं का हर्ष (उत्पादन) किया जा सकता है, तो मैं तीन (सुख, धर्म तथा सब ओंका हर्ष) को छोड़कर एक (केवल सुख) क्यों चाहूं? [भारतके भोग एवं होनेसे वहां रहकर सुख तथा धर्म दोनों ही साधन सुलभ हैं, साथ ही मिमें रहकर यज्ञोंके द्वारा सब देवताओं को (केवल इन्द्रको ही नहीं) भी किया जा सकता है, इस प्रकार नलको वरणकर भारतभूमिमें रहती हुई मैं सुख, सब देवताओंको प्रसन्न रखना—तीनों कार्य सम्पादन कर सकती हूं; इसके यदि मैं इन्द्रको वरणकर लेती हूं तो स्वर्गको केवल भोग-भूमि होनेसे वहां सुख लाभ तो कर सकती हूं, परन्तु धर्म तथा देव-हर्षोत्पादनका नहीं, बल्कि इन्द्रको करनेपर—पहले हृदयसे नलको वरण कर लेनेके बाद फिर मेरा पातिव्रत्य धर्म नष्ट जायेगा और यम, अग्नि एवं वरुण भी मुझपर रुष्ट हो जायेंगे, क्योंकि उन तीनों देवोंने

---

[1] तदाह मनुः—"यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माच्छ्रेष्ठतमो गृही ॥ (३ ७७-७८)

[2] तथा च "वर्षधराचक्रम्" (अभि, चिन्ता० ४।१३) इत्यस्य व्याख्याने हेमचन्द्रा- र्या आहुः—
तं प्रथमं वर्षं ततः किम्पुरुषं स्मृतम् । हरिवर्षं तथैवान्यन्मेरोर्दक्षिणतो द्विजः (?) ॥
कं चोत्तरं वर्षं तस्यैवानु हिरण्मयम् । उत्तराः कुरवश्चैव यथा वै भारतं तथा ॥
पूर्वतो मेरोः केतुमालं तु पश्चिमे । नवसाहस्रमेकैकमेतेषां द्विजसत्तम ! ॥ इति ।
इलावृत्तञ्च तन्मध्ये मेरुस्स्थितः ।"

भी अपना-अपना सन्देश दूतियोंके द्वारा भेजा था; अतः मैं इन्द्रको वरणकर अपने पा
त्रत्य धर्मको नष्टकर तथा अग्नि आदिको रुष्टकर स्वर्गमें केवल सुख पाना नहीं चाह
किन्तु पूर्ववत् नलको ही वरणकर सुख प्राप्तिके साथ ही धर्मरक्षा तथा यशके
इन्द्र और अग्नि आदि देवताओंके साथ ही अन्य सभी देवोंको प्रसन्न करना श्रेय
समझती हूं] ॥ ९८ ॥

साधोरपि स्वः खलु गामिताधोगामी[1] स तु स्वर्गमितः प्रयाणे ।
इत्यायतिं[2] चिन्तयतो हृदि द्वे द्वयोरुदर्कः किमु शर्करे न ॥ ९९ ॥

इतोऽपि कारणात् भूलोक एव श्रेयानित्याह—साधोरिति । किंच, साधोःसुकृ
नोऽपिस्वः स्वर्गादधोगामिता गमिष्यत्ता खलु । (साधुरपि कदाचिदधःपतत्येवेत्यर्
स साधुरितोस्मात् भूलोकात्, प्रयाणे तु स्वर्गं गामी गमिष्यति । "ते तं भुक्त
स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" इति गीतावाक्यात् । "भविष्य
गम्यादयः" इति गामिन्शब्दस्य भविष्यदर्थता । "अकेनो" इति षष्ठीप्रतिषेध
कर्मणि द्वितीया । इतीत्थमायतिमुत्तरकालम् । 'उत्तरः काल आयतिः' इत्यमर
हृदि चिन्तयतो विवेकिनो द्वयोः स्वर्भूलोकयोः उदर्कमुत्तरफलम् । 'उदर्कः फल
त्तरम्' इत्यमरः । द्वे शर्करे न किमु, शर्करे एवेत्यर्थः । एका शर्करा (इक्षुसम्भव
शिलाशकलप्राया, मृत्प्राया अपरापीक्षुविकारा । तत्र क्रमादुद्वावप्युदर्कौ द्वे श
तत्कल्पावित्यर्थः । अत एव निदर्शनालङ्कारभेदः । 'शर्करा खण्डविकृतावुप
शर्करांशयोः' इति विश्वः ॥ ९९ ॥

सज्जनका भी स्वर्गसे चलकर (क्षीणपुण्य होनेपर) अधोगमन होता है तथा य
(भूमिसे) चलकर (मरकर) स्वर्ग-प्राप्ति होगी, इस प्रकार उत्तरफलको (पाठा०-द
उत्तरफलोंको) सोचते हुए (व्यक्ति) के हृदयमें दोनोंका फल दो शर्कराएं (प्रथम श
कंकड़, द्वितीय शर्करा शक्कर) नहीं हैं क्या ? [पुण्यक्षीण होने पर स्वर्गवासी स
अधो लोकमें आता है, अतः यह तो अनिष्टकारक फल होनेसे कंकड़ रूप (नीरस त
कठोर) है तथा मरकर सज्जन भूमिसे पुण्यातिशयसे स्वर्गमें जाता है, अतः इसका
श्रेयस्कर होनेसे शक्कर रूप (मधुर, एवं सरस) है । अतः मैं नलको वरणकर भूमि
रहना पसन्द करती हूं] ॥ ९९ ॥

प्रक्षीण एवायुषि कर्मकृष्टे नरान्न तिष्ठस्युपतिष्ठते यः ।
बुभुक्षते नाकमपथ्यकल्पं धीरस्तमापातसुखोन्मुखं कः ॥ १०० ॥

प्रतीक्षण इति । किंच यो नाकः कर्मकृष्टे कर्मार्जिते आयुषि प्रक्षीणे सत्येव नरा
मनुष्यानुपतिष्ठते सङ्गच्छते । तिष्ठति सति नोपतिष्ठते "उपाद्देवपूजा" इत्यादि
सङ्गतिकरणे तङ् । आपाते प्रारम्भे, सुखोन्मुखं सुखप्रवणं, न तु परिणाम इत्यर्थः

---

१. "गमी" इति पाठान्तरम् । २. "इत्यायती" इति पाठान्तरम् ।

व अपथ्यकल्पं अपथ्यान्नसदृशं, तं नाकं, स्वर्गं धीरो धीमान्, क बुभुक्षते भोक्तुमिच्छति । अपथ्यान्नभोजनवदासन्नमरणाधिकारः नाकभोगः कस्मै नाम इत्यर्थः ॥ १०० ॥

त्त कर्मोपार्जित आयुके क्षीण होते ही मनुष्योंको प्राप्त होता है, आयुके रहते नहीं होता (अथवा—पुण्यानुरूप स्वर्गमें स्थिति कालरूप आयुके क्षीण········। अथवा —पुण्यकर्मके क्षयसे आयुके क्षीण········। अथवा—········आयुके क्षीण होनेपर रता है अर्थात् वह स्वर्ग पुण्यक्षय होने पर मनुष्यको अधोलोकमें भेज देता है), के समान तथा विचार नहीं करनेपर सुखकारक प्रतीत होनेवाले उस नाक) को कौन विवेकशील पुरुष भोग करना चाहेगा ? अर्थात् कोई (पाठा०—अविचारित रमणीय सुखके लिए उद्युक्त कौन धीर पुरुष अपथ्यके समान भोगना चाहेगा ? अर्थात् कोई नहीं)। [इस कारण वास्तविक सुख प्राप्तिके लिये को वरणकर भारत भूमिमें ही रहना चाहती हूं, इन्द्रको वरणकर अन्तमें अहितकर सेवन-तुल्य स्वर्ग सुखको नहीं चाहती] ॥ १०० ॥

इतीन्द्रदूत्यां प्रतिवाचमर्धे प्रत्युह्य सैषाभिदधे वयस्याः ।
किञ्चिद्विवक्षोल्लसदोष्ठलक्ष्मीजितापनिद्रद्दलपङ्कजास्याः ॥ १०१ ॥

इतीति । सैषा भैमी, इतीत्थमिन्द्रदूत्यां विषये, प्रतिवाचं प्रत्युत्तरम् । अर्धे प्रत्युह्य मध्ये निरुध्य, असमाप्यैवेत्यर्थः। “उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः” इति ह्रस्वः । किञ्चिद्विवक्षया यत्किञ्चिद्वक्तुमिच्छया, उल्लसतः स्फुरतः, ओष्ठस्य लक्ष्म्या शोभया जितद्दलं विकसत्पत्रं यस्य तत् । अपनिपूर्वाद्द्रातेः शतृप्रत्ययः । तच्च तत्पङ्कजञ्च आस्यं यासां ता वयस्याः सखीः अभिदधे उवाच । दधातेः कर्तरि लिटि ॥ १०१ ॥

स दमयन्तीने इन्द्रकी दूतीको उत्तर देना आधेमें ही रोककर (इन्द्रवरणके पक्षमें) कहनेकी इच्छासे हिलते हुए ओठोंकी शोभासे जीते गये विकसित पत्रवाले कमलके मुखवाली सखियोंसे कहा । [दमयन्ती जब इन्द्रकी दूतीसे कह रही थी, उसी समय ओष्ठकम्पनसे इन्द्रको वरण करनेके पक्षमें ये सखियां कुछ कहना चाहती हैं, अतः न आत्मीय लोगोंको ही सम्हालना ठीक है, ऐसा समझकर वह दमयन्ती दूतीसे के बीचमें ही रोककर सखियोंसे बोली—] ॥ १०२ ॥

अनादिधाविस्वपरम्परायां[1] हेतुस्रजस्स्रोतसि वेश्वरे वा ।
आयत्तधीरेष जनस्तदार्याः ! किमीदृशः पर्यनुयुज्य कार्यः ॥ १०२ ॥

अनादीति । हे आर्याः, एष जनः अनादि यथा तथा, धाविन्याः प्रवहन्त्याः, परम्परायाः स्वदेहपरम्परायाः इत्यर्थः । तत्सम्बन्धिन्याः हेतुस्रजः हेतुभूतकर्म-

---

[1] 'अनादिधारिस्वपर—' 'अनादिधाविश्वपर—' इति पाठान्तरे ।

परम्परायाः स्रोतसि प्रवाहे वा । 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी'ति वचनात्, ईश्वरे वा एष एव कारयितेति श्रुतेः । आयत्तधीः । न तु स्वाधीनबुद्धिरित्यर्थः । निरीश्वरसे रमतभेदात् पक्षद्वयोक्तिः, तत्तस्मात्, ईदृशः परतन्त्रः एष जनः, पर्यनुयुज्योपाल कि कार्यः कारयितुं शक्यः । कारयतेरचो यत् । अतः स्वयमपि दैवपरतन्त्रा न पर्य योज्येति भावः ॥ १०२ ॥

"हे मान्य सखियां ! यह जन (मैं या संसार) अनादिसे चलती हुई अपने जीवमात्र के समूहके ('अनादिधारि–' पाठा०–'अनादिको धारण करनेवाला अर्थात् रहित, 'अनादिधाविश्वपर–' पाठा०–' अनादिधारी संसार समूहके) शुभाशुभ कर्म हेतुभूत परम्पराके प्रवाहमें या ईश्वरमें अधीन बुद्धिवाला है अर्थात् मैं या संसार—कोई स्वतन्त्र बुद्धिवाले नहीं हैं, किन्तु कर्मानुसार या ईश्वरेच्छानुसार बुद्धिवाले हैं। इस प्र ऐसे जन (मुझसे या संसारसे) क्या कोई आक्षेप या कोई प्रश्न करना उचित है ? अर्थ कदापि नहीं। [मैं या संसार कर्मानुसार अथवा ईश्वरेच्छानुसार ही सब कुछ करते स्वतन्त्र बुद्धिसे कुछ नहीं करते, अथवा—अनादिसे चलनेवाले अनेक कल्पोंमें मेरा नलका दाम्पत्यभाव चला आ रहा है, तदनुसार ही मैं नलको वरण करना चाहती हूं स्वतन्त्र बुद्धिसे नहीं। अतः तुम लोगोंको 'तुम नलको क्यों वरण करती हो ? इन्द्रको नहीं वरण करती, इत्यादि प्रश्न या आक्षेप करना उचित नहीं है। तुमलोग मेरे विषय कुछ मत बोलो, सभी चुप रहो] ॥ १०२ ॥

नित्यं नियत्या परवत्यशेषे कः संविदानोऽप्यनुयोगयोग्यः ।
अचेतना सा च न वाचमर्हेद्वक्ता तु वक्त्रश्रमकर्म भुङ्क्ते ॥ १०३ ॥

ननु दैवपारतन्त्र्येऽपि मा मूढः पर्यनुयोज्यः । विद्वांस्तु पर्यनुयोज्य एवेत्या क्य आह—नित्यमिति । अशेषे जने नित्यं सर्वदा नियत्या दैवेन परवति परत सति संविदानो विद्वानपि । "समो गम्यृच्छि" इत्यादिना विदेरात्मनेपदम् । कः अनु योगयोग्यः उपालम्भार्हः । विदुषापि नियतेरलङ्घ्यत्वादिति भावः । तर्हि नि तिरेव पर्यनुयुज्यताम्, तत्राह—अचेतना सा नियतिश्च वाचं पर्यनुयोगवाक्यं अचेतनोपालम्भस्यारण्यरुदितकल्पत्वादिति भावः । तथाप्युपालम्भे दोषमाह—व अचेतनोपालब्धा तु वक्त्रस्य श्रमः श्रान्तिरेव, क्रियत इति कर्म वाग्व्यापार तद् भुङ्क्ते । वाग्विग्लापनादन्यत्फलं न किञ्चिदस्तीत्यर्थः ॥ १०३ ॥

सम्पूर्ण संसारके भाग्याधीन रहनेपर कौन व्यक्ति प्रश्न या आक्षेपके योग्य है (क्यों करते हो ?' इत्यादि प्रश्न या आक्षेप किसीसे नहीं करना चाहिये)। अचेतन (भाग्य भी आक्षेप या प्रश्नके योग्य नहीं (क्योंकि अचेतनको कुछ कहनेसे) कहनेवा व्यक्ति मुख श्रमरूप कर्मको भोगता है (कहनेवालेका मुख दुखता है, उसका फल नहीं होता)। अतः तुमलोग मेरे विषयमें कुछ मत कहो, क्योंकि तुमलोगोंका क निष्फल होगा] ॥ १०३ ॥

क्रमेलकं निन्दति कोमलेच्छुः क्रमेलकः कण्टकलम्पटस्तम् ।
प्रीतौ तयोरिष्टभुजोःसमायां मध्यस्थता नैकतरोपहासः ॥ १०४ ॥

नु सुरेन्द्रं विहाय नलस्वीकारे जगत्युपहास्यता स्यात्तत्राह—क्रमेलकमिति ।
च्छुः कोमलेच्छुः मृद्वाहारी गजाश्वादिः । "न लोक" इत्यादिना षष्ठीप्र-
मधुपिपासुवद् द्वितीयासमासः । क्रमेलकमुष्ट्रन्निन्दति । 'उष्ट्रे क्रमेलकमय-
' इत्यमरः । कण्टकेषु लम्पटो लोलुपः क्रमेलकः । 'लोलुपं लोलुभं लोलं लम्पटं
विदुः' इति हलायुधः । तं कोमलेच्छुं निन्दति । इष्टभुजोस्तयोर्द्वयोः प्रीतौ
समायां तत्र एकतरस्योपहासो मध्यस्थता "माध्यस्थ्यं न । यस्य यदिष्टं तुष्टि-
तस्य तत्र प्रवृत्तौ सर्वस्याप्यात्मदृष्टान्तेन सन्तोष्टव्येऽप्युपहसन्तः स्वयमेवो-
भवन्तीति भावः ॥ १०४ ॥

ल पदार्थको चाहनेवाला (गौ, घोड़ा आदि या पुरुष आदि) ऊंटकी निन्दा करता
कण्टकोंमें लालसा रखनेवाला ऊंट उस मधुर चाहनेवाले (गौ, घोड़ा, आदि या
की निन्दा करता है । अपने २ अभिलषित पदार्थको खानेवाले दोनोंके समान प्रेम
उन दोनों-ऊंट या मधुर भक्षक गौ-घोड़ा-आदि-में एकका उपहास करना मध्य-
र्थात् पक्षपात-शून्यता नहीं है अर्थात् उन दोनोंमें से किसी एकको भला समझना
रेका उपहास करना एकके विरुद्ध पक्षपात करना है । अथवा-स्वाभिलषित पदार्थ
या कण्टक) खानेवाले दोनोंके प्रेमके समान होनेपर एकका उपहास नहीं करना
किन्तु मध्यस्थ (उदासीन-तटस्थ) हो जाना चाहिये । [मैं अपने अभीष्ट
अच्छा समझ रही हूं, तथा यह दूती इन्द्रको, हम दोनों का क्रमशः नल तथा
समान प्रेम है, इस कारण तुम लोगोंको मेरा या दूतीका उपहास छोड़कर तटस्थ
चाहिये] ॥ १०४ ॥

गुणा हरन्तोऽपि हरेर्नरं मे न रोचमानं परिहारयन्ति ।
न लोकमालोकयथापवर्गात्त्रिवर्गमर्वाञ्चममुञ्चमानम् ॥ १०५ ॥

नु नलादपि गुणाधिके हरौ कथमरुचिरत आह—गुणा इति । सत्यं हरन्तोऽपि
हरन्तोऽपि हरेरिन्द्रस्य गुणाः मे मह्यं, "रुच्यर्थानां प्रीयमाणः" इति चतुर्थी ।
नं मनोहरं तं नरं न परिहारयन्ति न त्याजयन्ति । कुतः, अपवर्गान्मोक्षा-
कृष्टं, त्रिवर्गं धर्मार्थकामानमुञ्चमानमत्यजन्तं, लोकं नालोकयथ ? न पश्य-
थ । न गुणमपेक्षते रागवृत्तिरिति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ १०५ ॥

के मनोहर भी गुण मेरे लिये (मुझे) रुचते हुए नर (मनुष्य, 'रलयोरभेदः'
के अनुसार 'नल') को नहीं छुड़ाते हैं अर्थात् मैं नलको ही चाहती हूं, इन्द्रको
(रे सखियां ! तुमलोग) मोक्षसे हीन त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म और काम) को नहीं
संसारको नहीं देखती हो । [संसार जिस प्रकार मोक्षको छोड़कर उससे

हीन त्रिवर्गका ही सेवन करता है, उसी प्रकार मैं भी इन्द्रको छोड़कर नलको
चाहती हूं, इसमें केवल रुचि ही मुख्य कारण है, अतः तुम लोगोंको कुछ भी
नहीं चाहिये] ॥ १०५ ॥

आकीटमाकैटभवैरि तुल्यः स्वाभीष्टलाभात् कृतकृत्यभावः ।
भिन्नस्पृहाणां प्रति चार्थमर्थं द्विष्टत्वमिष्टत्वमपव्यवस्थम् ॥ १०६ ॥

ननु महेन्द्रं प्राप्य कृतकृत्या भव, किं नलप्रार्थनया, दुःखायसेऽत आ
आकीटमिति। आकीटं कीटादारभ्य, आकैटभवैरि तत्पर्यन्तम्। उभयत्राप्यभि
धावव्ययीभावः। स्वाभीष्टलाभात् कृतकृत्यभावः, कृतार्थत्वाभिमानस्तुल्यः सा
रणः। ममाप्यभीष्टलाभात् कृतकृत्यता नेन्द्रलाभादित्यर्थः। तर्हीन्द्र एवेष्यता
त आह—भिन्नस्पृहाणां भिन्नरुचीनां जनानामर्थमर्थं प्रत्यर्थम्। द्विष्टत्वमिष्टत्वञ्च
मपगता व्यवस्था घटत्वपटत्वादिवत् प्रतिनियमो यस्य तदपव्यवस्थमव्यवस्थम
स्थितम्। अपित्वापेक्षिकम्। तस्मादिन्द्रोऽपि मया नेष्यते को दोष इत्यर्थः ॥

कीड़ेसे लेकर पुरुषोत्तम विष्णु भगवान् तक (सबके लिये) अपने-अपने अभीष्ट-
कृतकृत्यता होना सामान्य है। भिन्न-भिन्न वस्तु चाहनेवालोंके वस्तु-वस्तुके विषयमें
भाव तथा प्रेमभाव अनियत है। [अपने अभीष्टलाभसे छोटासे छोटा कीड़ा जिस प्र
प्रसन्न होता है, उसी प्रकार अपने अभीष्ट लाभसे सर्वश्रेष्ठ विष्णु भगवान् तक भी
बड़े प्राणी प्रसन्न होते हैं। भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें स्पृहा रखनेवालोंमें से किसीको
पदार्थ अभीष्ट है तो दूसरेको वही पदार्थ अनभीष्ट है, अतः किसी वस्तुका अभीष्ट या अन
होना निश्चित नहीं है। इसमें रुचि ही मुख्यकारण है, अतः मुझे नल ही रुचते हैं,
कारणसे इस विषयमें तुम लोगोंको बोलना उचित नहीं] १०६ ॥

अग्राध्वजाग्रन्निभृतापदन्धुं बन्धुर्यदि स्यात् प्रतिबन्धुमर्हः ।
जोषं जनः कार्यविदस्तु वस्तु प्रच्छ्या निजेच्छा पदवीं मुदस्तु ॥१०

अग्राध्वेति। अग्रश्चासावध्वा चेति समानाधिकरणसमासः। अत एव 'अग्रह
अग्रहादयो गुणगुणिनोर्भेदाभावादि'ति वामनः। तस्मिन्नग्राध्वनि पुरोमार्गे,
स्फुरत् आसन्न इति यावत्। स चासौ निभृता नियता आपदेवान्धुः कूपः।
वान्धुः प्रहिः कूप' इत्यमरः। तं प्रतिबन्धुमर्हो निवारितुं शक्तो बन्धुः स्याद्यदि
जनो बन्धुजनः कार्यवित् कार्यज्ञोऽपि। प्रश्नपर्यन्तं जोषमस्तु तूष्णीमास्ताम्
न तु मां निवारयेदित्यर्थः। कुतस्तर्हि ते कार्यविज्ञानं तदाह—मुदः श्रेयसः।
तु, निजेच्छैव प्रच्छ्या प्रष्टव्या। सैव मे प्रवर्तिका नान्यः कश्चिदस्तीत्यर्थः।
सत्यमयमेव परमार्थ इत्यर्थः। प्रच्छेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि 'ऋहलोर्ण्यत्'॥

सामने रास्तेमें स्थित नियत विपत्तिरूप कुआ है जिसके ऐसे (बीच रास्तेमें स्थित
पस्थ कूपमें गिरनेके समान विपत्तिमें शीघ्र ही अवश्य फँसने वाले) बन्धुको मना

तो वह यदि वन्धु है तो कार्यज्ञाता भी उस वन्धुको प्रश्न करने तक चुप रहना इसलिए मेरे विषयमें तुम लोगोंको नहीं वोलना चाहिये । श्रेयमार्गको अपनी प्रति पूछना ही (वास्तविक) वस्तु अर्थात् तत्त्व है । [अथवा—रास्तेके आगेमें हुए आपत्तिरूप कूप है जिसके ऐसा वन्धु यदि हो तो उसीको मना करना चाहिये। विषयमें ऐसा नहीं है) कार्यज्ञ वन्धुजनको तो चुप ही रहना चाहिये। अपनी इच्छासे मार्गकी वस्तुको ही तुम लोगोंको पूछना चाहिये ।] प्रथम अर्थमें—हितैषी वन्धु-का है कि यदि कोई वन्धु आपत्तिरूपमें गिरनेवाला है तो उसे 'तुम इस मार्गसे जाओ, अन्यथा सामने रास्तेके मध्यवर्ती कूपमें गिर पड़ोगे अर्थात् इस अनिष्टकारक बन्द करो, अन्यथा विपत्तिमें फंस जावोगे' इस प्रकार मना करना चाहिये । किन्तु विषयमें ऐसा नहीं होनेसे तुम लोगोंमें से अपनेको कार्यज्ञका अभिमान करने वाली किसीको मुझे मना नहीं करना चाहिये, क्योंकि 'क्या मेरे लिये हित कारक है तथा अनिष्ट कारक है ? इस विषयमें अपनी इच्छा ही हर्षकारक मार्गकी वस्तु हुआ करती द्वितीय अर्थमें—रास्तेमें तृण आदिसे आच्छादित होनेसे नहीं मालूम पड़नेवाले कूपमें वन्धुको गिरनेकी आशङ्का हो तो हितैषी वन्धुको उसे मनाकर देना चाहिये कि 'इस तृणादिसे आच्छादित कूप है, उस रास्तेसे मत जाओ अन्यथा उसमें गिर पड़ोगे बिना समझे कोई वन्धु अज्ञानवश अनिष्टकर कार्य कर रहा हो तो उसे मनाकर देना चाहिये, किन्तु मेरे विषयमें ऐसा नहीं है, मैंने नलको सर्वथा सोच-समझकर ही मनसे किया है, उसमें कोई अनिष्ट नहीं होनेवाला है, अत एव तुम लोगोंको चुप रहना उचित है। तुम लोगोंकी भी जिस पुरुषमें अनुरागरूप इच्छा होती है, वही ठीक होता है, अतः मेरे विषयमें भी वैसा ही समझना चाहिये । मेरे कार्य (नलानुराग) जाननेवाला व्यक्ति (तुमलोग) तो चुप रहो, तथा नहीं जानने वाला व्यक्ति (इन्द्रदूती) कुछ कहे, परन्तु उसका कोई महत्त्व नहीं] ॥ १०७ ॥

इत्थं प्रतीपोक्तिमतिं सखीनां विलुप्य पाण्डित्यबलेन बाला ।
अपि श्रुतस्वर्पतिमन्त्रिसूक्तिं दूतीं बभाषेऽद्भुतलोलमौलिम् ॥ १०८ ॥

इत्थमिति । बाला भैमी, इत्थं सखीनां प्रतीपोक्तिमतिं प्रतिकूलोक्तिबुद्धिमित्थं बलेन प्रागल्भ्यावलम्बेन विलुप्य निषिध्य श्रुताः स्वर्पतिमन्त्रिणः शक्रस-बृहस्पतेः सूक्तयो वाचो यया तामपि "अहरादीनां पत्यादिषु" इति रेफा-। अद्भुतेन, अहो बृहस्पतेरपि प्रगल्भेत्याश्चर्येण लोलमौलिं कम्पशिरसं शिरः न्तीमित्यर्थः । दूतीं बभाषे ॥ १०८ ॥

दमयन्तीने इस प्रकार (श्लो० १०२—१०७) सखियोंके प्रतिकूल कहनेके विचार-बलसे निषेधकर स्वर्गाधीश इन्द्रके मन्त्री अर्थात् बृहस्पतिके सूक्तियोंको सुनी आश्चर्यसे मस्तकको हिलाती हुई दूतीसे फिर बोली—[जिस प्रकार किसीके अधिक

पाण्डित्य पूर्ण वचनको सुनकर कोई समझदार व्यक्ति आश्चर्यसे चकित होकर सिर हि लगता है, उसी प्रकार (दमयन्तीके पाण्डित्य पूर्ण वचनको सुनकर 'अरे ! यह दमयन्ती बृहस्पतिके समान या उनसे भी अधिक पाण्डित्यपूर्ण बात कह रही है' ऐसा विचार क कारण) दूती भी सिर हिला रही थी] ॥ १०८ ॥

6) परेतभर्तुर्मनसैव दूतीं नभस्वतैवानिलसख्यभाजः ।
त्रिस्रोतसैवाम्बुपतेस्तदाशु[1] स्थिरास्थमायातवतीं निरास्थम् ॥ १०९ ॥

परेतेति । मनसैव आकर्षकेणेति शेषः । आगमनसाधनेनेत्यर्थः । एवं वायु योरपि द्रष्टव्यम् । परेतभर्तुः यमस्य दूतीं, नभस्वता वायुनैव अनिलसख्यभाजो दूतीं त्रिस्रोतसा गङ्गयैव अम्बुपतेर्वरुणस्य दूतीं स्थिरास्थं दृढाभिनिवेशं यथा त आशु शीघ्रमायातवतीं सतीं, तदा आगमनक्षण एव निरास्थं पर्यहार्षम् । "अस वक्तिख्यातिभ्योऽङ्" इत्यस्यतेर्लुङि च्लेरङादेशः । 'अस्यतेस्थुक्' इति थु यमादिदूत्यो दूरादेव निरस्ताः इन्द्रगौरवात्त्वया एतावन्तं कालं समभाषीत्यर्थ अत्र मनोवायुगङ्गानां क्रमाद्यमादिविधेयत्वेन तत्प्रियार्थं ताभिरेवातिवेगवतीभि आनीता (यमादीनां दूत्यः) इत्युत्प्रेक्षार्थः ॥ १०९ ॥

क्रमशः मन, वायु तथा गङ्गासे ('दमयन्तीको हम अवश्य अपने पक्षमें कर लूंगी' ऐ दृढ विश्वास पूर्वक आई हुई यम, अग्नि तथा वरुणके दूतियोंको शीघ्र ही मना कर दिय अथवा—"दृढ विश्वास पूर्वक शीघ्र आई हुई"……दूतियोंको मना कर दिया। अथवा— (नलमें दृढ आस्था करके मैंने) उक्त दूतियोंको शीघ्र मना कर दिया। अथवा—मैंने विश्वास पूर्वक यमकी दूतीको मानो मनसे, अग्निकी दूतीको मानो वायुसे तथा वरुणकी को मानो गङ्गासे मना कर दिया है। परेतपति यमके प्राणहर्ता होनेसे प्राणके मनो होनेसे यम-दूतीका मन रूपी वाहनसे आना, अग्निके वायु-मित्र होनेसे अग्नि-दूतीका रूपी वाहनसे आना तथा वरुणके जलाधीश होनेसे वरुण-दूतीका गङ्गा-प्रवाहसे आना (दूतीका मनोवेगसे, अग्निदूतीका वायुवेगसे तथा वरुणदूतीका गङ्गा-प्रवाह-वेगसे अत्यन्त आना प्रतीत होता है) कार्यकी शीघ्रताके कारण उचित ही है। प्रकृतमें इन्द्रदूतीसे दमय का यह कहना है कि मैंने बहुत आशा लेकर आयी हुई यमादिकी दूतियोंको पहले शीघ्र मना कर दिया, केवल देवराज इन्द्रके गौरव के कारण (अनुरागके कारण नहीं) इन्द्रका सन्देश सुनकर तुम्हें मना कर रही हूं, अतः तुम्हें या इन्द्रको मनमें खेद न करना चाहिये] ॥ १०९ ॥

भूयोऽर्थसेनं यदि मां त्वमात्थ तदा पदावालभसे मघोनः ।
सतीव्रतैस्तीव्रमिमं तु मन्तुमन्तः परं वज्रिणि मार्जितास्मि ॥ ११० ॥

भूय इति । हे शक्रदूति ! त्वं भूयः पुनरेनमर्थमिन्द्रं वृणीष्वेत्यमुमर्थं मामा

---

[1] "त्वदाशु" इति पाठान्तरम् ।

दि । "ब्रुवः पञ्चानाम्" इत्यादिना सिपस्थादेशो ब्रुव आहश्च । "आहस्थ" कारस्य थकारादेशः । तदा मघोनः पदावङ्घ्री । 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' । आलभसे हिनस्सि स्पृशसि वा । वज्रिणि इन्द्रे विषये अन्तरन्तरङ्गे परं त्वेन गृह्यमाणमित्यर्थः । इमं तीव्रं दुस्सहं मन्तुं निजाज्ञोल्लङ्घनापराधम् । पराधो मन्तुश्च' इत्यमरः । सतीव्रतैः पतिव्रतानियमैः मार्जितास्मि मार्जि- । मृजेर्लुटि मिप् । पतिव्रताधर्मज्ञः सर्वज्ञो भगवान् मघवा मामस्मादपरा- त्वतीत्यर्थः ॥ ११० ॥

दि तुम मुझसे इस विषय (इन्द्रको वरण करने) को फिर कहती हो तो इन्द्रके चरणों- ते है (या इन्द्रके चरणोंकी हिंसा करती हो)। वज्रधारी इन्द्रसे हृदयमें अत्यन्त तीव्र द्रकी आज्ञाका अपालनरूप) अपराधका तो सतीव्रतोंसे मैं यथावत् मार्जन करती न्द्राज्ञाका निषेध करना मुझे हृदयमें बहुत तीव्र अपराध प्रतीत हो रहा है, परन्तु से विवश होकर मेरा ऐसा करना उचित जान कर इन्द्र भगवान् क्षमा करेंगे। -रम् = यथावत् अच्छी तरह हृदयमें स्थित इस अपराधको…… । अथवा—अन्तः नलको वर (पति) रूपमें रखनेके (इन्द्र—मतानुसार) तीव्र अपराधको । अथवा— कर भी इन्द्ररूप परपुरुषके अनुराग—विषयक सन्देशको सुननेसे तीव्र अपराधको वरूप (लोकपालांश होनेसे) इन्द्रमें सतीव्रतोंसे मार्जित करती हूं, अर्थात् मैंने न्देशको केवल देवराजके गौरवकी दृष्टिसे सुना है, अनुराग वश नहीं, इसमें मेरा रंत्र ही प्रमाण है] ॥ ११० ॥

इत्थं पुनर्वागवकाशनाशान्महेन्द्रदूत्यामवयातवत्याम् ।
विवेश लोलं हृदयं नलस्य जीवः पुनः क्षीबमिव प्रबोधः ॥ १११ ॥

त्थमिति । इत्थमुक्तप्रकारेण पुनर्वागवकाशनाशात् भूयोवचनावकाशनिवृत्तेः । दूत्यामवयातवत्यां गतायां नलस्य जीवोऽन्तरात्मा लोलं चलाचलं हृदयं क्षीबं । 'मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबा' इत्यमरः । 'क्षीबृ मद' इति धातोः कर्तरि क्तः । सर्गाद् फुल्लक्षीबकृशोल्लाघा' इति निपातनात्साधुः । प्रबोधो विवेक इव पुनर्वि- ष्टवांत इवाभूत् । तदा विशश्वास उच्छ्वास चेत्यर्थः ॥ १११ ॥

स प्रकार (श्लो० ११०) फिर कहनेके अवसरका सर्वथा नाश हो जानेसे इन्द्र—दूतीके नेपर उन्मत्तमें ज्ञानके समान नलके चञ्चल हृदयमें जीवने पुनः प्रवेश किया। [इन्द्र सन्देश तथा दमयन्ती—सखियोंके द्वारा उसका समर्थन सुनकर नलका निर्जीवप्राय चञ्चल हो रहा था कि 'मुझे न तो प्रिया दमयन्तीका ही लाभ हुआ और न तो दूत— श्रेय का ही' (दे० श्लो० ८९), अतः यमादिके दूतीके समान इन्द्रदूतीको भी मना पर नलके जानमें जान आ गया कि अब मैं दूतकर्म कर यशोलाभ करूंगा या प्रिय- रूपमें दमयन्तीको ही प्राप्त करूंगा। उन्मत्त व्यक्तिका भी हृदय चञ्चल रहने पर ज्ञान- रहता है तथा ज्ञान आने पर उसको शान्ति मिलती है] ॥ १११ ॥

श्रवणपुटयुगेन स्वेन साधूपनीतं दिगधिपकृपयात्तादीदृशःसन्निधानात्[1] ।
अलभत मधुबालारागवागुत्थमित्थं निषधजनपदेन्द्रः पातुमानन्दसान्[2]

श्रवणेति । निषधानां जनपदानाम्, इन्द्रो नलो दिगधिपानाम्, इन्द्रा कृपया तिरोधानशक्त्यनुग्रहरूपया आत्तात् प्राप्तादीदृशः सन्निधानादप्रकाशसा ध्यात् स्वेन स्वकीयेन श्रवणपुटयुगेन साधूपनीतमर्पितमित्थमुक्तरीत्या वा भैम्याः रागवाग्भ्यः अनुरागवचनेभ्यः उत्था यस्य तत्तदुत्थं मधु क्षौद्रं, रसामृ त्यर्थः । आनन्दसान्द्रः सुखमयः सन् पातुमलभत तत्पानं लब्धवानित्य "शकधृष" इत्यादिना तुमुन् प्रत्ययः ॥ ११२ ॥

निषध देशाधिपति नलने इन्द्र दिक्पालों (इन्द्रादि) की कृपासे प्राप्त सामीप्य (पा संविधान = उपाय) के कारण अपने कर्णपुटद्वयसे अच्छी तरह लाये गये तथा बाल न्तीके अनुरागसे उत्पन्न इस प्रकार (श्लो०—११०) के मधुको अत्यन्त आनन्दयुक्त (पाठा०—अत्यन्त आनन्द पूर्वक) पीने के लिये प्राप्त किया । [नलने सोचा कि- कृपाकर इन्द्रादि दिक्पाल अपने दूत-कर्ममें मुझे नियुक्त नहीं किये होते तो मुझे दम सानुराग मधुर वचनको अपने कानोंसे सुनने का यह सुअवसर नहीं मिलता, यह नलने उस वचनको सुन बड़ा आनन्दानुभव किया । अन्य भी कोई व्यक्ति किसी द्वारा लाये हुए मधुको पात्रोंसे पीकर आनन्दित होता है] ॥ ११२ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
षष्ठः खण्डनखण्डतोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे तन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमद्भास्वरः ॥ ११३

श्रीहर्षमिति । श्रीहर्षमित्यादि सुगमम् । सहजात् सोदरात्, समानक त्यर्थः । खण्डनखण्डतः खण्डनखण्डाख्यात् ग्रन्थात् । यद्वा खण्डनं नाम तदेव खण्डः इक्षुविकारः । 'स्यात् खण्डश्शकले चेक्षुविकारमणिदोषयोः' इति वि ततस्तस्मादपि क्षोदक्षमे संघर्षणसहे षष्ठः सर्गः, अगमत् समाप्त इत्यर्थः ॥ ११३

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु' समाख्याने षष्ठः सर्गः समाप्तः ॥ ६ ॥

एक ग्रन्थकर्ता होनेसे सहज 'खण्डन खण्ड' नामक ग्रन्थसे या 'खण्डन' नामक शक्करसे भी विचारयोग्य (विचार करनेसे उत्तरोत्तर सरस, पक्षा०—शक्कर जितना जाता है, उत्तरोत्तर उतना ही स्वच्छ तथा मधुर होता जाता है, ऐसा) यह षष्ठसर्ग पूर्ण (शेष व्याख्यार्थ ४र्थ सर्गवत् समझना चाहिये) ॥ ११३ ॥

* * *

---

[1] "संविधानम्" इति पाठान्तरम् ।

[2] "—सान्द्रम्" इति पाठान्तरम् ।

सप्तमः सर्गः

अथ प्रियासादनशीलनादौ मनोरथः पल्लवितश्चिरं यः।
विलोकनेनैव स राजपुत्र्याः पत्या भुवः पूर्णवदभ्यमानि[1] ॥ १ ॥

अथेति। अथ इन्द्रदूतीगमनानन्तरम्। भुवः पत्या नलेन, "पतिस्समास एव" नियमादसमासे घिसंज्ञाऽभावात् घिकार्याऽभावः, प्रियाया दमयन्त्याः आसादनं शीलनं परिचितिः, तदादौ विषये आदिशब्दादाश्लेषादिसङ्ग्रहः। यो तः चिरं चिरात्प्रभृति पल्लवितः सञ्जातपल्लवः, स मनोरथो राजपुत्र्या विलोने पूर्णवत् फलितवदभ्यमानि अभिमेने। तथा ननन्देत्यर्थः। मन्यतेः लुङ् ॥ १ ॥

इन्द्रदूतीके लौट जानेके बाद राजा नलका, जो मनोरथ प्रिया दमयन्तीको पानेके परिचय करने (उन-उन अङ्गोंके रूपादि कल्पना करने। अथवा—……को पाने तथा परिचय) आदि ('आदि' शब्दसे आलिङ्गन, सम्भोग आदिका संग्रह है) के विषयमें पहले त हुआ था: उसको उन्होंने राजकुमारी दमयन्तीके सम्यक् प्रकारसे देखनेसे ही पूर्णके मान लिया। [दमयन्तीकी प्राप्ति न होने पर भी केवल उसको देखनेसे ही नलको न्तीको प्राप्तिका आनन्द हुआ] ॥ १ ॥

प्रतिप्रतीकं प्रथमं प्रियायामथान्तरानन्दसुधासमुद्रे।
ततः प्रमोदाश्रुपरम्परायां ममज्जतुस्तस्य दृशौ नृपस्य ॥ २ ॥

प्रतीति। तस्य नृपस्य दृशौ नेत्रे प्रथमं प्रियायां भैम्यां, तत्रापि प्रतिप्रतीकं प्रत्यवयवं ममज्जतुः तामवयवशो ददर्शेत्यर्थः। अथ तदनन्तरं अन्तः अन्तरात्मनि आनन्दसुधासमुद्रः तस्मिन् ममज्जतुः दर्शनफलमानन्दं अनुबभूवतुरित्यर्थः। करणे कर्तृत्वोपचारः। ततः प्रमोदाश्रुपरम्परायामानन्दवाष्पप्रवाहे ममज्जतुः। अत्र दृग्रूपैकाधेयस्य क्रमात्प्रियावयवाद्यनेकाधारवृत्तित्वकथनात् पर्यायालङ्कारभेदः। "एकमनेकस्मिन्नाधारे वर्तते यदि। एकस्मिन्नथवानेकं पर्यायालङ्कृतिर्द्विधा" ॥ इति लक्षणात् ॥ २ ॥

पहले नलकी दृष्टिने प्रिया दमयन्तीके प्रत्येक अवयवमें, फिर अन्तःकरणमें उत्पन्न आनन्दसमुद्रमें तथा इसके बाद आनन्दाश्रुपरम्परामें निमग्न हो गयी। [नलको प्रियाके प्रत्येक अवयवोंके देखनेसे आन्तरिक आनन्द हुआ तथा दोनों आखोंमें हर्षसे आँसू आ गये] ॥ २ ॥

महाद्वयस्यान्वभवत्प्रमोदं रोमाग्र एवाग्रनिरीक्षितेऽस्याः।
यथौचितीत्थं तदशेषदृष्टावथ स्मराद्वैतमुदं तथासौ ॥ ३ ॥

यथेति। असौ नलः, अस्या भैम्याः, रोमाग्र एव रोमाग्रमात्रे अग्रे प्रथमं निरीक्षिते

---

[1] "—वन्यमानि" इति पाठान्तरम्।

दृष्टे सति यदा ब्रह्मैवाद्वयमद्वितीयं वस्तु तस्य प्रमोदं दृगानन्दमन्वभवदि
आनन्दस्य ब्रह्माभेदेऽप्युपचारात्तद्व्यपदेशः । अथाऽग्रदर्शनानन्तरं तस्य रो
अशेषदृष्टौ कृत्स्नदर्शने सति, द्वयोर्भावो द्विता, द्वितैव द्वैतम् । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थे
प्रत्ययः । तद्रहितमद्वैतं स्मर एवाद्वैतमद्वितीयं वस्तु तस्य मुदमन्वभवत् ।
ब्रह्मानन्दात् स्मरानन्दोऽधिक इति विवक्षितम् । तथा शेषापि रोमाग्रादधिकं,
यथाल्पदर्शनादल्पानन्दः, अधिकदर्शनादधिकानन्द इति यथा तथा—
इत्थमौचितीकारणानुरूपं कार्यजन्मोचितमेवेत्यर्थः । अत्र ब्रह्मानन्दस्मरानन्दयो
स्मिन्नेव क्रमेण वृत्तिकथनात् 'एकस्मिन्नथ वानेकम्' इत्युक्तलक्षणो
पर्यायालङ्कारभेदः ॥ ३ ॥

नलने इस दमयन्तीके रोमाग्रको पहले देखनेपर अद्वैत ब्रह्मका आनन्द प्राप्त किया,
उसको (दमयन्तीको या रोमको) सम्पूर्ण देखकर जैसा उचित था, इस प्रकार कामदे
आनन्दको प्राप्त किया। [सुन्दरी जिस दमयन्तीके केवल रोमाग्रमात्र देखनेसे जब
ब्रह्मानन्द होता है, तब उसे शेष रूपमें देखनेसे कामदेवजन्य आनन्द होना उचित ह
नलको दमयन्तीके देखनेसे जो आनन्द हुआ, उसकी तुलनामें ब्रह्मानन्द भी तुच्छ
होता था] ॥ ३ ॥

वेलामतिक्रम्य चिरं मुखेन्दोरालोकपीयूषरसेन तस्याः ।
नलस्य रागाम्बुनिधौ विवृद्धे तुङ्गौ कुचावाश्रयति स्म दृष्टिः ॥ ४ ॥

वेलामिति । नलस्य दृष्टिः तस्या मुखेन्दोरालोको दर्शनं प्रकाशश्च । 'आलो
दर्शनद्योतौ' इत्यमरः । स एव पीयूषममृतं तस्य रसेन स्वादेन, रागाम्बुनि
अनुरागसमुद्रे पृथुं महतीं वेलां कालं मर्यादां च । 'वेला कालमर्यादयोरपि'
विश्वः । अतिक्रम्य विवृद्धे प्रवृद्धे सति तुङ्गौ कुचावाश्रयतिस्म । मुखलग्ना
रागवशात्कुचयोः पपातेत्यर्थः । अत्र दृष्टिविशेषणसामान्याच्चन्द्रोदये समुद्रवृद्धौ
जनभयादुत्सेधाश्रयजनप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः । तेन चाब्धिमज्जनभयादि
त्प्रेक्षा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ४ ॥

नलकी दृष्टिने उस दमयन्तीके मुखरूपी चन्द्रमाके दर्शनरूपी अमृतके रस (पा
प्रेम) से बड़ी मर्यादा (तट, पक्षा०—दूत-कर्म सम्बन्धी मर्यादा) का उल्लङ्घन कर
रूपी समुद्रके बढ़नेपर ऊंचे दोनों स्तनोंका अवलम्बन किया। [अन्य कोई व्यक्ति भी स
बढ़नेपर उच्च स्थानका आश्रय करता है। नल दमयन्तीका मुखचन्द्र देख अपने दूतक
को भूल गये और उसके विशाल स्तनोंको सानुराग होकर देखने लगे] ॥ ४ ॥

मग्नां सुधायां किमु तन्मुखेन्दोर्लग्ना स्थिता तत्कुचयोः किमन्तः ।
चिरेण तन्मध्यममुञ्चतास्य दृष्टिः कृशीयः स्खलनाद्भिया नु ॥ ५ ॥

मग्नेति । अस्य नलस्य दृष्टिस्तस्या भैम्याः मुखेन्दोस्सुधायां मग्ना किमु,
योरन्तरभ्यन्तरे च लग्ना स्थिता किम् । उभयत्राप्यन्यथा कथं तावान् विलम्ब

किंच कृशीयः कृशतरं तन्मध्यं कर्म स्खलनाद्भिया नु भयेन किम् । चिरेणा-रज्जुसञ्चारिवदिति भावः । उत्प्रेक्षात्रयस्य सजातीयस्य संसृष्टिः ॥ ५ ॥

की दृष्टि दमयन्तीके मुखरूपी चन्द्रमाके अमृतमें मग्न हुई थी क्या ? अथवा—दमय-(मृणाल सूत्रके लिये भी मध्यमें अवकाश शून्य) दोनों स्तनोंके बीचमें अँटक (उलझ) क्या ? अथवा—(अत्यन्त पतला होनेसे) गिरनेके भयसे उस दमयन्तीके अत्यन्त भाग (कटिप्रदेश) को देरसे छोड़ा क्या ? [अन्य भी कोई व्यक्ति कीचड़ फंसकर, संकीर्ण स्थानमें अँटक कर अथवा तार वा रस्सी आदिपर चलते समय भयसे बड़ी सावधानीसे चलकर उसे बहुत विलम्बसे छोड़ता है । नल दमयन्तीके स्तनोंको देखनेके बाद कृशतम कटिभागको बहुत विलम्ब तक देखते रहे] ॥ ५ ॥

प्रियाङ्गपान्था कुचयोर्निवृत्य निवृत्य लोला नलदृग्भ्रमन्ती ।
बभौतमां तं मृगनाभिलेपतमः समासादितदिग्भ्रमेव ॥ ६ ॥

ति । प्रियाया अङ्गेषु, पन्थानं गच्छतीति पान्था नित्यपथिका, 'पन्थो ण' इति पथो णप्रत्ययः, पन्थादेशश्च । लोला सतृष्णा नलस्य दृक् दृष्टिः कुच-आवृत्य भ्रमन्ती तयोः कुचयोः मृगनाभिलेपः कस्तूरिकालेपनमेव तमः समासादितः प्राप्तः दिग्भ्रमो यया सेवेत्युत्प्रेक्षा । बभौतमां अतिशयेन बभौ । इति तमप्प्रत्यये 'किमेत्तिङ्' इत्यादिना तिङ्गादामुप्रत्ययः ॥ ६ ॥

दमयन्तीके अङ्गोंकी पथिक रूपिणी नलकी चञ्चल दृष्टि स्तनोंपर कस्तूरीके लेपरूपी दिशाकी भ्रान्तिको पायी हुई के समान, बारम्बार लौटकर स्तनों पर घूमती हुई शोभमान हुई । [अन्य भी कोई पथिक अन्धकारमें दिग्भ्रम होनेसे बारम्बार लौट स्थान में आ जाता है । नल दमयन्तीके अन्य अङ्गोंको देखते हुए पुनः पुनः स्तनोंको देखने लगते थे] ॥ ६ ॥

विश्रम्य तच्चारुनितम्बचक्रे दूतस्य दृक् तस्य खलु स्खलन्ती ।
स्थिरा चिरादास्त तदूरुरम्भास्तम्भावुपाश्लिष्य करेण गाढम् ॥ ७ ॥

विश्रम्येति । दूतस्य तस्य नलस्य दृक् दृष्टिः तस्याश्चारु नितम्ब एव चक्रं विश्रम्य श्रान्त्वा स्खलन्ती चलन्ती तस्या ऊरू एव रम्भास्तम्भौ करेणां-हस्तेन च गाढमुपाश्लिष्य स्थिरा निश्चला सती चिरादास्त उपविष्टा खलु । । अत्र दृष्टिविशेषणसाम्याङ्क्रमणक्रीडाकारिबालकप्रतीतेः समासोक्तिः । स्तम्भाविति रूपकेण सङ्करः । बालिका हि क्रीडया चिरं चक्रमुक्रान्त्वा निकटस्तम्भादिकमवलम्ब्य चरति ॥ ७ ॥

दमयन्तीके सुन्दर नितम्बरूपी चक्रमें (पक्षा०—चक्रतुल्य नितम्बमें, या नितम्ब) घूमकर दूत उस नलकी दृष्टि वहांसे स्खलित हो (फिसल) कर उस दमयन्तीके स्तम्भके समान (पक्षा०—कदली-स्तम्भरूप) ऊरुद्वयको हाथसे (पक्षा०—किरणसे

अच्छी तरह पकड़कर बहुत विलम्ब तक रुकी रही। [जिस प्रकार कोई व्यक्ति घूमते-घूमते वहांसे गिरता है तो किसी खम्भे आदिको हाथसे देर तक अच्छी तरह रहता है, वैसे ही नलकी दृष्टिने किया। नल दमयन्तीका नितम्ब देखनेके बाद दमयन्तीका केलेके खम्भोंके समान सुन्दर ऊरुओंको देखते रहे] ॥ ७ ॥

वासः परं नेत्रमहं न नेत्रं किमु त्वमालिङ्ग्य तन्मयापि ।
उरोनितम्बोरु कुरु प्रसादमितीव सा तत्पदयोः पपात ॥ ८ ॥

वास इति । हे भैमि, वासः परं वस्त्रमेव नेत्रम् आच्छादनम् , अहं नेत्रं काकुः, नास्मि किमु अस्म्येवेत्यर्थः । 'नेत्रं पथि गुणे वस्त्रे तरुमूले विलोचने' विश्वः । तत् तस्मात् नेत्रत्वाविशेषात्त्वं मया अपि, उरश्च नितम्बश्च ऊरु च समाहारः उरोनितम्बोरु । प्राण्यङ्गत्वाद्द्वन्द्वैकवद्भावः । तदालिङ्ग्याश्लेषय प्रसा लिङ्गनानुग्रहं कुरु इतीव इति मनीषयेवेत्युत्प्रेक्षा । सा नलदृष्टिस्तस्याः भैम्याः पपात पदे अपि ददर्शेत्यर्थः ॥ ८ ॥

(हे दमयन्ति !) केवल वस्त्र ही 'नेत्र' है, मैं नेत्र नहीं हूं क्या ? अर्थात् मैं भी हूं, इस कारण मुझे (नयन-वाचक 'नेत्र' को) भी (वस्त्र-वाचक 'नेत्र'के समान) नितम्ब और ऊरुका आलिङ्गन करावो (या प्रत्यक्ष दिखलावो) मानो इसप्रकार कहती नल-दृष्टि दमयन्तीके चरणोंपर गिर पड़ी। (जैसे अन्य कोई व्यक्ति अपने समकक्ष समान स्थान पानेके लिये राजा आदि श्रेष्ठ अधिकारीके चरणोंपर गिरता है, वैसे नल भी किया। नलकी दृष्टि दमयन्तीकी छाती, नितम्ब और ऊरुको देखनेके पैरों पर पड़ी ॥ ८ ॥

दृशोर्यथाकाममथोपहृत्य स प्रेयसीमालिकुलं च तस्याः ।
इदं प्रमोदाद्भुतसंभृतेन महीमहेन्द्रो मनसा जगाद ॥ ९ ॥

दृशोरिति । अथ महीमहेन्द्रस्स नलो दृशोः स्वाक्ष्णोः प्रेयसीं भैमीं, आलिकुलं सखीवर्गं च यथाकाममुपहृत्योपहारीकृत्य यथेच्छं दृष्ट्वेत्यर्थः । प्रमोद ताभ्यामानन्दविस्मयाभ्यां संभृतेन पूर्णेन मनसा इदं वक्ष्यमाणं जगाद मुवाचेत्यर्थः ॥ ९ ॥

इसके बाद महीपति नल प्रिया दमयन्ती तथा उसके सखी-समुदायको अच्छी देखकर हर्ष तथा आश्चर्यसे परिपूर्ण मनसे यह कहने अर्थात् विचारने लगे ॥ ९ ॥

पदे विधातुर्यदि मन्मथो वा ममाभिषिच्येत मनोरथो वा ।
तदा घटेतापि न वा तदेतत्प्रतिप्रतीकाद्भुतरूपशिल्पम् ॥ १० ॥

पद इति । विधातुः पदे ब्रह्मणः स्थाने, मन्मथो वा मम मनोरथो वा च्येत यदि तदा तत्प्रसिद्धम् एतत् पुरोवर्ति प्रतिप्रतीकं प्रत्यवयवम् अद्भुतं रूप

निर्माणं घटेतापि न वा घटेत, तन्मनसापि निर्मातुमशक्यं किमुत ब्रह्मणेत्यर्थः। रूपशिल्पस्य प्रसिद्धब्रह्मसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेस्तथा मन्मथाद्यसम्बन्धेऽपि तया तत्सम्बन्धोक्तेश्च, तद्रूपकातिशयोक्तिभेदौ ॥ १० ॥

दि ब्रह्माके पदपर कामदेवको या मेरे मनोरथको अर्थात् मुझको अभिषिक्त कर दिया र्थात् हम दोनोंमें से किसीको ब्रह्माका कार्य सौंप दिया जाता; तब ऐसा (या इस के) प्रत्येक अवयवोंकी सुन्दरतासे आश्चर्यकारक कारीगरी (रचना) होती या तो। [दमयन्तीका यह रूप लोकातिशायी एवं जगद्विलक्षण है] ॥ १० ॥

तरङ्गिणी भूमिभृतः प्रभूता जानामि शृङ्गाररसस्य सेयम् ।
लावण्यपूरोऽजनि यौवनेन यस्यां तथोच्चैस्तनताघनेन ॥ ११ ॥

तरङ्गिणीति । सेयं दमयन्ती भूमिभृतो भीमभूभर्तुरेव भूधरादिति श्लिष्टरूप। भुवः प्रभव इत्यपादानत्वात्पञ्चमी । प्रभूता सम्भूता । शृङ्गाररसस्य तरङ्गिणी जानामि इति वाक्यार्थः कर्म । इति जानामीत्यर्थः । उत्प्रेक्षा । तथाहि—यस्यां तया तेन प्रकारेण उच्चैस्तनता उन्नतकुचत्वम् । तथा घनेन सान्द्रेण संपूर्णेन न, उच्चैः तारं स्तनता गर्जता स्तनशब्द इति धातोर्भौवादिकाल्लटः शत्रादेः। मेघेन। 'घनो मेघे मूर्तिगुणे त्रिषु मूर्ते निरन्तर' इत्यमरः। लावण्यपूरोऽजनि यौवनेन च लावण्यं वर्धत इति प्रसिद्धम्। मेघवर्धितपूरत्वं तरङ्गिण्यां युक्तवादः। यौवनेन घनेनेति व्यस्तरूपकम्। उच्चैस्तनताघनेनेति शब्दश्लेषः। पिता च भैम्याः शृङ्गारतरङ्गिणीत्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ११ ॥

दमयन्ती महीपाल भीमसे उत्पन्न शृङ्गार रससे अभियुक्त है (पक्षा०—यह शिखरसे निकले हुए जलवाली नदी है), जिस दमयन्तीमें उच्चतम स्तनोंके हुए यौवनसे लावण्यका प्रवाह उत्पन्न हो रहा है (अथवा—बढ़े हुए यौवनसे प्रवाह उत्पन्न हुआ और उच्चतम स्तन हुए। पक्षा०—जिस नदीमें, अधिक गरजते से जलका प्रवाह हुआ)। [दमयन्तीके अत्युन्नत स्तनोंमें अधिक सौन्दर्य और बादमें हुई, और नदीमें मेघके गरजनेके बाद तेज पानीका प्रवाह हुआ] ॥ ११ ॥

अस्यां वपुर्व्यूहविधानविद्यां किं द्योतयामास नवामवाप्ताम्[1] ।
प्रत्यङ्गसङ्गस्फुटलब्धभूमा लावण्यसीमा यदिमामुपास्ते ॥ १२ ॥

अस्यामिति । अत्र सामर्थ्याद्ब्रह्मणः कर्तुरध्याहारः । ब्रह्मा अवाप्तां स्वभ्यस्तां साधारणीं, वपुर्व्यूहविधानविद्यां शरीरसंस्थानविशेषनिर्माणविज्ञानम् अस्यां न्त्यामेव द्योतयामास किम् । नूनं विधातुरात्मनः स्त्रीसृष्टिकौशलप्रकाशनार्थमि-त्युत्प्रेक्षा । यद्यस्मात्, प्रत्यङ्गसङ्गेन प्रत्यवयवव्याप्त्या, स्फुटं लब्धो भूमा

---

[1] "नवां स कामः" इति पाठान्तरम् ।

विस्तारो यया सा लावण्यसीमा सौन्दर्यसर्वस्वमिमां दमयन्तीम् उपास्ते अस्यामेव वर्तत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

(ब्रह्माने कहींसे) प्राप्त नवीन शरीर-रचनाकी विद्याको इस दमयन्तीमें नहीं किया है क्या ? अर्थात् अवश्यमेव व्यक्त किया है, क्योंकि अङ्ग-अङ्गमें वर्तमान रहनेसे ज्ञात होती हुई अधिकतावाली लावण्यकी सीमा इस दमयन्तीकी सेवा करती है दमयन्तीके प्रत्यङ्गमें अधिकतम सौन्दर्यसे ज्ञात होता है कि ब्रह्माने इसके लिये कहींसे शरीर-रचनाकी विद्या प्राप्त की है। (अथवा—इस दमथन्तीके प्रत्यङ्गमें स्पष्टतः आधिक्यवाली सौन्दर्य-सीमाने इस दमयन्तीमें कहींसे प्राप्त नवीन शरीर-रचनाकी नहीं प्रकट किया है क्या ? अर्थात् अवश्य ही प्राप्त किया है; क्योंकि······इसको सेवा है। अथवा—इस दमयन्तीके प्रत्यङ्गमें स्पष्टतः वर्तमान आधिक्यवाली सौन्दर्यसीमा जो उपासना करती है (दासी या शिष्याके समान सेवा करती है), अतः नयी (शरीररचनाकी विद्याको प्राप्त किया है क्या ? [अन्य भी कोई व्यक्ति गुरुके समीप रहकर वर्णनातीत श्रेष्ठ विद्याको प्राप्त करता है। पाठा०--'कामदेव' को कर्ता मानकर सब पक्षोंमें पूर्ववत् अर्थसङ्गति करनी चाहिये) ॥ १२ ॥

जम्बालजालात्किमकर्षि जम्बूनद्या न हारिद्रनिभप्रभेयम्।
अप्यङ्गयुग्मस्य न सङ्गचिह्नमुन्नीयते दन्तुरता यदत्र ॥ १३ ॥

जम्वालेति। हरिद्रया रक्तं वस्तु हारिद्रं, हरिद्रामहारजनाभ्यामण् वक्तव्यः। सदृशी तन्निभा प्रभा यस्याः सा इयं दमयन्ती जम्वूनद्या मेरुपार्श्ववर्ति जम्वालजालात्पङ्कराशेर्जाम्वूनदत्वात्। 'निपद्वरस्तु जम्वालः पङ्कोऽस्त्री शाद इत्यमरः। नाकर्षि न कृष्टा किम्। सुश्लिष्टाङ्गत्वात् सर्वाङ्गेषु हेमकर्दमेन प्रसृष्ट स्यर्थः। कुतः? यद्यस्मात् अत्रास्यां भैम्याम् अङ्गयुग्मस्य अवयवद्वयस्य स सन्धानचिह्नम्। दन्तुरता औन्नत्यमपि "दन्त उन्नत उरच्" नोन्नीयते न्नीयते ॥ १३ ॥

हरिद्रामें रंगे हुए (या सुवर्ण) के समान कान्तिवाली यह दमयन्ती जम्बू नदी (पर्वतके समीपस्थ नदी या जामुनके रससे उत्पन्न नदी) के पङ्कसमूहसे अर्थात् सुवर्ण आकृष्ट हुई है क्या ? अर्थात् अवश्य आकृष्ट हुई है; क्योंकि इस दमयन्तीमें दो जोड़की उच्चता-नीचता नहीं मालूम पड़ती है। [जैसे पङ्क-समूहसे आकृष्ट निकाली वस्तुमें पङ्क लगे रहनेसे उसकी उच्चता-नीचता नहीं मालूम पड़ती; किन्तु वह वस्तु मालूम पड़ती है, उसीप्रकार दमयन्तीके दो अङ्गोंके जोड़ोंकी उच्चता-नीचता भी (होनेसे) नहीं मालूम पड़ती, अतः यह दमयन्ती अवश्य ही जम्बूनदीके पङ्कसे है तथा सुवर्णतुल्य कान्ति होनेसे भी उक्त जम्बू नदीके सुवर्णमय पङ्क-समूहसे होनेकी पुष्टि होती है। यह दमयन्ती स्वर्णकान्ति तथा अतिकोमलाङ्गी है]॥ १३ ॥

सत्येव साम्ये सदृशादशेषात् गुणान्तरेणोच्चकृषे यदङ्गैः ।
स्यास्ततः स्यात्तुलनापि नाम वस्तु त्वमीषामुप[1]मावमानः ॥ १४ ॥

ीति। यद्यस्मात् अस्या भैम्या अङ्गैः कर्तृभिः साम्ये सत्येव अशेषात्सदृ-न्द्रादेः “पञ्चमी विभक्ते” इति पञ्चमी। गुणान्तरेण केनापि गुणविशेषेणोच्च-स्थानेपूत्कृष्टैरभावीत्यर्थः। भावे लिट्। तत उन्नतत्वाद्धेतोः तुलना समीकरण-नाम ? काकुः। स्यात् किं ? न स्यादेवेत्यर्थः। तथा हि–वस्तुतः परमार्थतस्तु ङ्गानामुपमा तुलना तस्या अवमानोऽपमानः उत्कृष्टानामसमानैः सह सम-मवमान एवेत्यर्थः ॥ १४ ॥

कारणसे इस दमयन्तीके प्रत्येक अङ्ग सम्पूर्ण समान (चन्द्र, कमल, बन्धूक आदि) ता रहनेपर ही अन्य गुणोंसे श्रेष्ठ हो गये, इस कारण इस दमयन्तीकी उनके साथ ? अर्थात् नहीं है। (अथवा–उपमा भले ही होवे, किन्तु) वास्तविकमें तो इनकी मान ही है (अथवा–उपमा देना इनका अपमान है)। [कवि–समयके अनुसार दार्थ कम गुणवाला तथा उपमान पदार्थ अधिक गुणवाला होता है तभी दोनोंका मेयभाव यथार्थ होता है, किन्तु वर्तुलता (गोलाई) आदिके कारण दमयन्तीके मुख में समानता होने पर भी चन्द्रकी अपेक्षा दमयन्तीके मुखमें अधिक आह्लादकता, पूर्णता अर्थात् क्षयहीनता, कलङ्क–शून्यता आदि अधिक गुण हैं, इसी प्रकार इन्दीवरको दमयन्तीके नेत्रोंके समान होनेपर भी दमयन्तीके नेत्रोंमें कटाक्ष–आदि अधिक गुण हैं, तथा लालिमासे बन्धूक पुष्प (दुपहरियाका फूल) को दमयन्ती के समान होनेपर भी दमयन्तीके अधरमें अम्लानता, नित्य विकासिता, हास्यता धिक गुण हैं (इसी प्रकार अन्यान्य अवयवोंके विषयमें भी समझना चाहिये), अतः के मुख आदि अवयवोंका उपमेय तथा चन्द्र आदिको उपमान बनाना उनका र करना है, क्योंकि उपमान एवं उपमेयके गुणोंकी परस्पर समानता रहने तक ना तो संभव है, किन्तु उपमा में कम गुण और उपमेयमें अधिक गुण होनेपर देना उसका तिरस्कार करना है। लोकमें भी बहुत बड़े तथा बहुत छोटेके साथ करना बड़ेका अपमान समझा जाता है] ॥ १४ ॥

पुराकृतिस्त्रैणमिमां विधातुमभूद्विधातुः खलु हस्तलेखः ।
येयं भवद्भावि पुरन्ध्रिसृष्टिः सास्यै यशस्तज्जयजं प्रदातुम् ॥ १५ ॥

ति। विधातुः स्रष्टुः, पुराकृतिः पूर्वसृष्टिः तत्र स्त्रैणं स्त्रीसमूहः पूर्वा स्त्रीसृ-ष्टिः। इमां भैमीं विधातुं स्रष्टुं हस्तलेखः अभूत् खलु। लेखनाभ्यासिभिर्ह-र्थमेव यल्लिख्यते स हस्तलेखः तादृशीयमिति निदर्शनानुप्राणिता पूर्वसृ-

---

[1] 'माश्मानः' इति पाठान्तरम् ।

[2] 'पुराकृति स्त्रैण—' इति पाठान्तरम् ।

ष्टिर्भैमीनिर्माणार्थाभ्यासरूपत्वोत्प्रेक्षा । किंच येयं भाविनीनां पुरन्ध्रीणां सृष्टिः अस्यै भैम्यै तासां पुरन्ध्रीणां जयेन जातं तज्जयजं यशो प्रदातुमिति फलोत्प्रेक्षा ॥

प्रथम रचनामें स्त्री-समूह (पाठा०-प्रथम रचनारूप स्त्री-समूह इस दमयन्तीकी र करनेके लिये ब्रह्माका प्रथम अभ्यास था । (दूसरा भी कोई कारीगर किसी उत्तम पदा रचना करनेके लिये पहले अभ्यासार्थ उस निर्मातव्य पदार्थसे कम गुणवाले पदार्थकी र करता है) । और स्त्रियोंकी रचना हो रही है तथा भविष्यमें होगी वह तो इस दमय लिये उन (वर्तमानमें होती हुई तथा भविष्यमें होनेवाली स्त्री-रचना) की विजयसे होने यशको देनेके लिये है । [पहले तो ब्रह्माने सुन्दरी इस दमयन्ती की रचना करनेके अभ्यासार्थ उर्वशी आदि देवाङ्गनाओंकी रचना की, तथा वर्तमानमें जो वे स्त्रियोंकी र कर रहे हैं और भविष्यमें जो स्त्रियोंकी रचना करेंगे, वह रचना दमयन्तीने अपने सौन्द वर्तमान तथा भावी सब स्त्रियोंको जीत लिया है, ऐसा दमयन्तीका यश हो इस उद्देश्यसे दमयन्तीके समान सुन्दरी भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान कालमें कोई स्त्री नहीं है] ॥ १

भव्यानि हानीरगुरेतदङ्गात् यथा यथानर्ति तथा तथा तैः ।
अस्याधिकस्योपमयोपमाता दाता प्रतिष्ठां खलु तेभ्य एव ॥ १६ ॥

भव्यानीति । भव्यानि रम्याणि चन्द्राद्युपमानवस्तूनि, एतस्या भैम्याः, मुखादेर्यथा यथा हानीरपकर्षान् "ग्लाम्लाजहातिभ्यो निर्वक्तव्य" इति स्त्रियां निप्रत्ययः क्तिनोऽपवादः । अगुरगमन्, "इणो गा लुङि" इति गादेशे "गा स्था" इत्यादिना सिचो लुक् । "आत" इति झेर्जुसादेशः । तथा तथा तैश्चन्द्राद्यु मानैरनर्ति हर्षान्नृत्यं कृतमित्यर्थः । नन्वपकर्षे कथं हर्षः ? तत्राह—उपमाता "मातेर्माङि वा तृन्" । अधिकस्योत्कृष्टस्यास्य भैम्यङ्गस्योपमया उपमानीकरणे अथ वा गत्यन्तराभावात् तैरेव तुलनया तेषामेवोपमानीकरणेनेत्यर्थः । तेभ्यश्चन्द्रा दिभ्य एव प्रतिष्ठां दाता दास्यति । ददातेर्लुट् । तथा च यथा कथंचित् प्रतिष्ठाल उपमेयत्वेन वा, उपमायामुपमानत्वेन वा कविप्रसादाच्चन्द्रादीनां पुनः प्रति भविष्यति इत्यनर्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

सुन्दर (चन्द्रमा, कमल आदि) पदार्थोंने इस दमयन्तीके शरीरसे जैसे-जैसे जितनी-जितनी (पराजय होनेसे) हानि उठायी, वैसे-वैसे अर्थात् उतना-उतना ही उन्होंने नृत्य किया अर्थात् प्रसन्न हुए । (हानि उठानेपर भी उनके प्रसन्न होनेका यह था कि उन्होंने सोचा कि) उपमा देनेवाला (कवि आदि) इस दमयन्ती-शरी उपमासे उन्हीं लोगों (चन्द्रमा, कमल आदि पदार्थों) के लिये प्रतिष्ठा देगा । [दमयन्ती शरीरके लिये अन्य उपमाका अभाव होनेसे उपमाता कवि आदि 'दमयन्तीका मुख चन्द्र समान है, नेत्र कमलके समान है, इत्यादि उपमा देकर चन्द्रमा, कमल आदिकी प्रतिष्ठा बढ़ायेंगे, यही उन सुन्दर चन्द्रमा, कमल आदि पदार्थोंके पराजयजन्य हानि पर भी प्रसन्न होकर नृत्य करनेका कारण है] ॥ १६ ॥

नास्पर्शि दृष्टापि विमोहिकेयं दोषैरशेषैः स्वभियेति मन्ये ।
न्येषु तैराकुलितस्तदस्यां वसत्यसापत्न्यसुखी गुणौघः ॥ १७ ॥

ति। दृष्टापि विमोहिका दर्शनमात्रेणापि व्यामोहिकेयं दमयन्ती अशेषैर्दोषैः स्मानपि मोहयिष्यतीत्यात्मीयभयेनैव नास्पर्शि न स्पृष्टेति मन्ये । भीरवो हि भयहेतून् स्प्रष्टुमेव बिभ्यतीति भावः । तत्तस्मात् दोषस्पर्शा- । अन्येषु स्त्र्यन्तरेषु तैर्दोषैराकुलितः पीडितो गुणौघोऽस्यां भैम्यामसापत्न्येन त्वेन सुखी सन् वसति "प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानाम्" इत्यपवादोऽ- ष्ट इति भावः ॥ १७ ॥

नसे भी (कामजन्यभावसे) मोहित (पक्षा०—मूर्च्छित) करनेवाली इस दमयन्ती दोषोंने अपने भयसे स्पर्शतक नहीं किया, ऐसा मैं मानता हूँ। अत एव अन्य न दोषोंसे व्याकुल गुण–समूह शत्रु रहित अर्थात् निष्कण्टक होनेसे निश्चिन्त होकर न्तीमें रहता है। ['जो दमयन्ती केवल देखनेसे ही मोहित या मूर्च्छित करती है र्कमें रहनेसे न जाने हमारी क्या दुर्दशा हो जायेगी?' इस भयसे दमयन्तीके भी दोष नहीं आया अर्थात् दमयन्ती सभी दोषोंसे अछूता रहीं, तथा वे दोष अन्य हते हुए वहां रहनेवाले गुण–समूहको परस्पर वैरभाव होनेसे कष्ट देने लगे, इस ष्टदायक दोषोंसे रहित दमयन्तीको सुरक्षित स्थान समझकर वह गुणसमूह यहीं ह गया। लोकमें भी भयप्रद स्थानको छोड़कर सुरक्षित स्थानमें लोग निवास , अत एव दोषोंने भयप्रद दमयन्तीको छोड़कर अन्य स्त्रियोंमें तथा गुणोंने अन्य दोषोंके रहनेसे उस स्थानको भयप्रद समझकर दमयन्तीमें निवास किया॥ में एक भी दोष नहीं है तथा सभी गुण विद्यमान हैं] ॥ १७ ॥

औज्झि प्रियाङ्गैर्घृणयैव रूक्षा न वारिदुर्गात्तु वराटकस्य ।
न कण्टकैरावरणाच्च कान्तिर्धूलीभृता काञ्चनकेतकस्य ॥ १८ ॥

ज्झीति। प्रियाङ्गैर्भैमीगात्रैः वराटकस्य बीजकोशस्य कमलकर्णिकाया इत्यर्थः। कोशो वराटकः" इत्यमरः। रूक्षा परुषा कान्तिर्घृणयैव रौक्ष्यजुगुप्सयैव औज्झि । उज्झ विसर्गे कर्मणि लुङ्। वारिदुर्गाद्वारिदुर्गस्थत्वात्तु न। किं च काञ्चन- धूलीभिर्भृता पूर्णा कान्तिरौज्झि रजःकीर्णत्वादेवोज्झिता कण्टकैरावणात्तु न। दोषदूषितत्वाच्च भैमीकायकान्तिसाम्यमर्हति। महती तत्कायकान्तिरित्यर्थः॥

दमयन्तीके अङ्गोंने कमलगट्टेकी शोभाको 'रूक्ष (तीव्र, कठोर) है' इस घृणासे दिया, 'जलरूपी (अथवा—कमलरूपी) दुर्गमें वह कान्ति रहती है' इस भयसे नहीं और सुवर्ण केतकीपुष्पकी शोभाको 'यह धूलि (पराग) वाली है' इस घृणासे ही दिया, 'कांटोंसे घिरी रहनेसे सुरक्षित होनेसे अजेय है' इस भयसे नहीं छोड़ा।

[दमयन्तीकी शरीर शोभा कमलकोष तथा केतकी पुष्पसे भी क्रमशः अधिक स्निग्ध गौरवर्ण थी] ॥ १८ ॥

प्रत्यङ्गमस्यामभिकेन रक्षां कर्तुं मघोनेव निजास्त्रमस्ति ।
वज्रञ्च भूषामणिमूर्तिधारि नियोजितं तत् द्युतिकार्मुकं च ॥ १९ ॥

प्रत्यङ्गमिति । अस्यां भैम्याम् । अभिकामयत इत्यभिकेन कामुकेन ' कामनोऽभिकः' इत्यमरः । "अनुकाभिकाभीकः कमिता" इति निपातनात्सा मघोना इन्द्रेण प्रत्यङ्गं रक्षां कर्तुं नियोजितं नियमितं भूषामणीनां वज्रमणीनां माकारं धारयतीति तद्धारि निजास्त्रं वज्रं च तेषां मणीनां द्युतय एव कार्मुकं नुश्चास्तीव इन्द्रनियोगात् भूषामणितत्प्रभाव्याजेन अवरोधरक्षार्थं वज्रायुधं प्रत्यङ्गमावृत्य तिष्ठतीवेत्युत्प्रेक्षा ॥ १९ ॥

इस दमयन्तीमें कामुक इन्द्रने प्रत्येक अङ्गमें (दोषोंसे) रक्षा करनेके लिये भूषणोंमें हुए हीरा आदि मणियोंके रूपको धारण करनेवाला वज्र और उन मणियोंसे निकल कान्तिरूप धनुषरूप अपने शस्त्रको नियुक्त कर दिया है। [दमयन्तीके भूषणोंमें जड़े मणि बहुमूल्य हैं और उनसे चकाचौंध करनेवाली इन्द्रधनुषके समान अनेक रंगोंकी नि निकल रहीं हैं, और वह दमयन्ती सब दोषोंसे रहित है] ॥ १९ ॥

अस्याः सपक्षैकविधोः कचौघः स्थाने मुखस्योपरि वासमाप ।
पक्षस्थतावन्बहुचन्द्रकोऽपि कलापिनां येन जितः कलापः ॥ २० ॥

अथासर्गसमाप्तेर्दमयन्त्याश्चिकुरादिपादनखान्तवर्णनमारभते—अस्या इत्यादि अस्या भैम्याः कचौघः केशपाशः सपक्षः सदृशः सुहृद्भूतश्चैक एव विधुश्चन्द्रो तस्य सपक्षैकविधोः "तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य" इति वैकल्पिकः द्भावः । मुखस्योपरि वासं स्थितिमाप, स्थाने युक्तम् । कुतः येन कचौघेन पक्ष गरुन्निष्ठाः स्ववर्ग्याश्च तावन्तो बहवश्चन्द्रकाः मेचकाः चन्द्राश्च यस्य सोऽपि । चन्द्रकमेचकौ' इत्यमरः । चन्द्रपक्षे "शेषाद्विभाषा" इति कप् । कलापिनां बर्हि कलापो बर्हं जितः अनेकचन्द्रसहायविजयिनः एकचन्द्रविजयस्तदुपर्यवस्थानं च चित्रमित्यर्थः ॥ २० ॥

जिसके समान होनेसे केवल चन्द्र ही जिसका सपक्ष (पक्षवाला) है, ऐसे दमयन्ती मुखके ऊपर केश-समूहने निवास किया यह उचित ही है, जिस (केश-समूह) ने पं स्थित बहुत चन्द्रक (चन्द्राकार मेचक च्छवि चिह्न-विशेष, पक्षा०—चन्द्रमा) वाले मयूरोंके पुच्छ-समूहको जीत लिया। (जिस केश-समूहने बहुत चन्द्रमा (पक्षा०चन्द्र से युक्त मयूर-पक्षको जीत लिया, उसे एक चन्द्रमा ही जिसके पक्षमें हैं, उसके ऊपर रह सर्वथा उचित ही है। लोकमें भी बहुत पक्षपातियोंवाले व्यक्तिको जीतनेवालेके लिये

ने व्यक्तिका जीतना अति सरल होता है॥ दमयन्तीके केश-समूहमें भी पुष्प टित चन्द्राकार भूषण (क्लिप……) लगे रहनेसे वह मयूरपंखसे भी अधिक हो रहा है] ॥ २० ॥

अस्या यदास्येन पुरस्तिरश्च तिरस्कृतं शीतरुचान्धकारम् ।
टस्फुरद्भङ्गकचच्छलेन तदेव पश्चादिदमस्ति बद्धम् ॥ २१ ॥

स्या इति । अस्या भैम्याः आस्येनैव शीतरुचा मुखचन्द्रेण यदन्धकारं तमः । रोऽस्त्रियां ध्वान्तम्’ इत्यमरः । पुरो अग्रे तिरश्च पार्श्वयोश्च तिरस्कृतं तदन्धकारं स्फुटं स्फुरन् भङ्गः कौटिल्यं पराजयश्च येषां तेषां कचानां छलेन पश्चाद्बद्धमुत्प्रेक्षा । तिरस्कृतो हि भग्नोत्साहः क्वचित्पृष्ठभागे बद्धस्तिष्ठतीति भावः ॥२१॥

स दमयन्तीके मुखचन्द्रने सामने तथा तिर्छे या पार्श्वोंमें जो अन्धकारको हटाया पराजित किया), वह अन्धकार ही स्फुरित होते हुए टेढ़े (पक्षा०—पराजित) होनेसे मानो पीछे (मुखके पीछले भागमें, पक्षा०—हाथ पीछे करके अर्थात् मुश्क) बंधा हुआ है । [लोकमें भी पराजित व्यक्तिके हाथोंको पीठके पीछे करके बांध से ही मुखसे पराजित अन्धकाररूप केश पीछे चोटी रूपमें बँधे हुए हैं । दमयन्तीके टिल तथा अत्यन्त काले हैं] ॥ २१ ॥

स्याः कचानां शिखिनश्च किन्तु विधिं कलापौ विमतेरगाताम् ।
तेनायमेभिः किमपूजि पुष्पैरभर्त्सि दत्त्वा स किमर्धचन्द्रम् ॥ २२ ॥

स्या इति । अस्या भैम्याः कचानां केशानां शिखिनो बर्हिणश्च कलापौ केशपाशौ । ‘कलापो भूषणे बर्हे तूणीरे संहते कच’ इत्यमरः । विमतेर्मिथो विवादातां स्वतारतम्यं प्रष्टुमगमतां किं नु । “इणो गा लुङि” इति गादेशः । विना अयं केशपाशः एभिः पुष्पैरिति हस्तेन पुरोवर्तिनिर्देशः अपूजि किम् । पूज्यत्वादिति भावः । स शिखिकलापः अर्धचन्द्रं चन्द्रकं गलहस्तं च दत्त्वा भर्त्सितः किं महाजनद्वेषिणो नीचस्य शास्यत्वादिति भावः । अर्धचन्द्रस्तु के गलहस्ते बाणभेदः’ इति विश्वः । शिखिकलापस्य चन्द्रकवत्त्वं केशपाशस्य ं ब्रह्मदत्तं शाश्वतमिति भावः । अत्रोत्तरोत्प्रेक्षयोः प्रथमोत्प्रेक्षासापेक्षत्वात् सङ्करः ॥ २२ ॥

स दमयन्तीके केशोंके साथ विरोध होनेके कारण मयूरके पंख ब्रह्माके पास (निर्णयके गये थे क्या ? (जो) उस (ब्रह्मा) ने इस केशसमूहकी इन (दमयन्तीके केश- गूंथे हुए) पुष्पोंसे पूजाकी तथा उस (मयूरके पंख) को अर्द्धचन्द्र, (गर्दनियां अर्द्ध चन्द्राकार चिह्न) देकर बाहर निकाल दिया क्या ? । [उत्तम तथा अधम जा मध्यस्थ ब्रह्माने श्रेष्ठ गुणवाले दमयन्तीके केश-समूहके साथ स्पर्द्धा करनेवाले ले मयूर-पक्षोंको देखकर श्रेष्ठ गुणवाले दमयन्ती केश-समूह की तो पुष्पोंसे तथा अधम गुणवाले मयूर-पंखों को अर्द्धचन्द्र देकर बाहर निकाल दिया । लोकमें ते हैं०

भी श्रेष्ठ व्यक्तिके साथ स्पर्द्धा करनेवाले अधम व्यक्ति को अर्द्धचन्द्र देकर (गर्दनमें हाथ कर) बहिष्कृत कर देते हैं तथा श्रेष्ठ व्यक्ति की पुष्पादिसे पूजा (आदर-सत्कार) हैं। दमयन्तीका केश-समूह मोरके पंखोंसे भी अत्यधिक सुन्दर था] ॥ २२ ॥

केशान्धकारादथ दृश्यफालस्थलार्धचन्द्रास्फुटमष्टमीयम् ।
एतां यदासाद्य जगज्जयाय मनोभुवा सिद्धिरसाधि साधु ॥ २३ ॥

केशेति । केशः केशपाश एवान्धकारस्तस्मात् अथानन्तरं दृश्यो दर्शनार्हः स्थलं ललाटभाग एवार्धचन्द्रो यस्यास्सा इयं दमयन्ती अष्टमी । तत्राप्यन्धकारा न्तरदृश्यार्धचन्द्रत्वात्कृष्णाष्टमी शुक्लपक्षे विपर्ययात्स्फुटमित्युत्प्रेक्षायाम् । यद्यस्मान्मनोभुवा जगज्जयाय एतामासाद्य साधु सिद्धिः जगज्जयसिद्धिः साधिता । कृष्णाष्टम्यां जैत्रयात्रायां जयसिद्धिरिति ज्योतिर्विदः । यथाह पितामह “जयदा विजिगीषूणां यात्रायामसिताष्टमी । श्रवणेनाथ रोहिण्या जययोगो यदि ॥” इति ॥ २३ ॥

केशरूपी अन्धकारके बाद (अथवा—नीचेके भागमें) सुन्दर दिखलायी पड़ते हुए टरूपी चन्द्रमावाली यह दमयन्ती मानो (कृष्णपक्ष की) अष्टमी है (क्योंकि कृष्णपक्ष अन्धकार के बाद चन्द्र दृष्टिगोचर होता है, यहां केशरूप अन्धकारके बाद ललाट दृष्टिगोचर हुआ है, अतः दमयन्ती कृष्णपक्षकी अष्टमी ही है). क्योंकि इसे (दमयन्ती पक्षा०—अष्टमी तिथिको) प्राप्तकर कामदेवने संसारको जीतनेके लिये सम्यक् प्रकारसे सिद्धि साधा । [अन्य भी व्यक्ति कृष्णपक्षकी अष्टमी तिथि में मन्त्र—तन्त्रादि को सिद्ध करते हैं

पुष्पं धनुः किं मदनस्य दाहे श्यामीभवत्केसरशेषमासीत् ।
व्यधाद्द्विधेशस्तदपि क्रुधा किं भैमीभ्रुवौ येन विधिर्व्यधत्त ॥ २४ ॥

पुष्पमिति । मदनस्य दाहे दाहकाले, पुष्पमेव धनुः श्यामीभवन्तः के किञ्जल्का एव शेषो यस्य तदासीत् किम् । किञ्च ईशो हरः तदपि क्रुधा क्रोधेन द्वि व्यधात् द्वेधा व्यभजत् किम् । येन द्विधा विभक्तेन पुष्पेण विधिर्वेधाः भैम्या भ्रुवौ व्यधत्त असृजदित्युत्प्रेक्षा ॥ २४ ॥

पुष्पधन्वा (कामदेव) के दाहमें पुष्पके धनुष का भी (दाहके कारण) पुष्प—परागमात्र शेष रह गया, उसे भी शङ्करजीने क्रोधसे दो टुकड़ा कर दिया (कृष्णवर्ण परागमात्रावशिष्ट एवं द्विधा खण्डित) जिससे ब्रह्माने दमयन्तीके दोनों भौंहें बनाया ॥ [दमयन्तीकी भौंहें कृष्णवर्ण तथा कामचापके तुल्य जगन्मोहक हैं] ॥ २४ ॥

भ्रूभ्यां प्रियाया भवता मनोभूचापेन चापे घनसारभावः ।
निजां यदप्लोषदशामपेक्ष्य संप्रत्यनेनाधिकवीर्यतार्जि ॥ २५ ॥

भ्रूभ्यामिति । किञ्च प्रियाया भैम्याः भ्रूभ्यां भवता भ्रूयुगत्वेन परिणमता भुवश्चापेन घनसारभावो दृढस्थिरांशत्वं कर्पूरत्वं च । ‘सारो बले स्थिरांशे च ।

नियाम्। घनसार' इति चामरः। आपे प्राप्तः। आप्नोतेः कर्मणि लिट्। लाद्, निजामप्लोषदशामपेक्ष्य अदाहावस्थात इत्यर्थः। संप्रत्यनेन मनोभूचापेन वीर्यता अधिकपराक्रमोऽपि आर्जि प्रापि। कर्मणि लुङ्। 'वीर्यं पराक्रमे रेतसि' वैजयन्ती। दग्धस्यापि स्मरचापस्य तद्भ्रूभूतस्य पूर्वाभ्यधिकपराक्रमदर्शनान्नूनं रभावः प्राप्त इत्युत्प्रेक्षा ॥ २५ ॥

दमयन्तीके भ्रूद्वय बनते हुए काम-धनुषने धनुषमें दृढसारता (पक्षा०—कर्पूरभाव) कर लिया, क्योंकि अपने नहीं जलनेके भावको देखकर इस समय (जलनेपर) पराक्रमको प्राप्त किया। [कामचाप जलनेके पहलेकी अपेक्षा इस समय अर्थात् बाद केशरमात्रावशिष्ट एवं खण्डित होनेके बाद दमयन्तीका भ्रूयुग बनकर जग- होनेसे अधिक वीर्यशाला हो गया है। [कर्पूर भी जलनेसे पहलेकी अपेक्षा जलनेके अधिक शीतकर एवं सुगन्धियुक्त होता है] ॥ २५ ॥

स्मारं धनुर्यद्विधुनोज्झितास्या यास्येन भूतेन च लक्ष्मरेखा।
एतद्भ्रुवौ जन्म तदाप युग्मं लीलाचलत्वोचितबालभावम् ॥ २६ ॥

स्मारमिति। यत्स्मरस्येदं स्मारं धनुः। अस्या भैम्या आस्येन भूतेन आस्यभावं विधुना चन्द्रेणोज्झिता, या लक्ष्मरेखा कलङ्करेखा च तद्युग्मं तदुभयं कर्तृ। लत्वयोर्विलासचञ्चलत्वयोरुचितो योग्यो बालभावः केशत्वं बवयोरभेदाच्छि- न यस्मिन् जन्मनि तत्तथोक्तम्। एतस्या भैम्या भ्रुवौ जन्मभ्रूरूपेणोत्पत्तिमाप। मुखमकलङ्कचन्द्रः भ्रुवौ च स्मरधनुश्चन्द्रलक्ष्मणोरपरावतार इत्युत्प्रेक्षा ॥२६॥

कामदेवका धनुष है वह तथा इस दमयन्तीका मुख बने हुए चन्द्रमाके द्वारा छोड़ा —इन दोनोंने विलाससे चञ्चलताके (अथवा—विलास और चञ्चलताके) योग्य वाले (पक्षा०—बचपनवाले) जन्मको प्राप्त किया है। [एक तो मदन-दाहमें दग्ध धनुष, तथा दूसरा दमयन्तीका मुख बननेके लिए चन्द्रमाने जो अपनी कलङ्करेखा वह-इन दोनोंने ही दमयन्तीके दो भ्रू रूपमें जन्म लिया है, जिस जन्ममें (भ्रूपक्षमें) एवं चञ्चलतायुक्त केश हैं तथा (जन्म पक्षमें) विलास एवं चञ्चलतायुक्त बचपन दमयन्तीका भ्रूद्वय दग्ध काम-धनुष तथा चन्द्रकलङ्कके समान कृष्णवर्ण, विलासयुक्त एवं रक है] ॥ २६ ॥

इषुत्रयेणैव जगत्त्रयस्य विनिर्जयात्पुष्पमयाशुगेन।
शेषा द्विबाणी सफलीकृतेयं प्रियादृगम्भोजपदेऽभिषिच्य ॥२७॥

इति। पुष्पमयाशुगेन कामेन कर्त्रा इषुत्रयेण करणेन जगत्त्रयस्य 'उभयप्राप्तौ ' षष्ठी। विनिर्जयात् शेषा शिष्टा 'त्रिष्वन्यस्मिन्नुपयुक्त' इति वैजयन्त्यां विशेष्यलिङ्गता। इयं द्विबाणी बाणद्वयं समाहारे द्विगोर्ङीप्। इयमिति । प्रियाया दृशोरेवाम्भोजयोः पदे स्थाने अभिषिच्य सफलीकृतेत्युत्प्रेक्षा। परिणतिरेवास्यादृष्टिसृष्टिरन्यथा कथमेतत्सकलयुवलोकक्षोभकत्वमिति भावः॥

पुष्पबाण (कामदेव) ने तीन बाणोंसे ही तीनों लोकोंको जीत लेनेसे शेष बचे हु
बाणोंको प्रिया दमयन्तीके नेत्रकमलके पद पर अभिषिक्त कर सफल किया है। [काम
तीन बाणोंसे तीनों लोकों पर विजय पाकर शेष दो बाणों की व्यर्थता का निवारण
लिये उन्हें प्रियाके नेत्रकमलपदपर प्रतिष्ठितकर सार्थक किया और तीन बाणोंसे तीनों
पर विजय पाने की अपेक्षा दमयन्तीके नेत्र बने हुए दो बाणोंसे ही तीनों लोकोंपर
पाना इनकी अधिक सफलता है] ॥ २७ ॥

सेयं मृदुः कौसुमचापयष्टिः स्मरस्य मुष्टिग्रहणार्हमध्या ।
तनोति नः श्रीमदपाङ्गमुक्तां मोहाय या दृष्टिशरौघवृष्टिम् ॥ २८॥

सेयमिति । मृदुः कोमला मुष्टिग्रहणार्हं हस्तेन ग्राह्यं मध्यमवलग्नं
यस्यास्सा सेयं दमयन्ती स्मरस्य कौसुमी कुसुममयी चापयष्टिर्धनुर्दण्ड इत्यु
कुतः ? येयं नोऽस्माकं मोहाय मूर्च्छनाय श्रीमतः शोभनादपाङ्गान्मुक्तां दृष्टि
शराणामोघस्य वृष्टिं तनोति करोति, सा कथं न कामचापयष्टिरिति भावः ॥ २८

मध्यमें मुट्ठीसे ग्रहण करने योग्य अर्थात् अतिशय कृश कटिवाली (धनुषपक्षमें
ग्रहण करने योग्य मध्य भागवाली) कोमल (कोमलाङ्गी, धनुपपक्षमें-झुकनेवाली
नम्र) कामदेवकी धनुर्लता है, जो यह (दमयन्ती, पक्षा०-धनुर्लता) ·हम लोगोंको
करनेके लिए शोभा-सम्पन्न नेत्रप्रान्तसे दृष्टि (कटाक्ष) रूपी बाण समूहोंकी वृष्टिको
कर रही है । [जैसे कामदेवकी मध्यमें पतली मुट्ठीसे ग्राह्य नम्र धनुर्लता पुष्प
वर्षा कामियोंको मोहित करनेके लिये करती है, उसी प्रकार कृश कटिवाली मृदु यह
हमलोगोंको मोहित करनेके लिए कटाक्ष वर्षा कर रही है] ॥ २८ ॥

आघूर्णितं पक्ष्मलमक्षिपद्मं प्रान्तद्युतिश्वैत्यजितामृतांशु ।
अस्या इवास्याश्चलदिन्द्रनीलगोलामलश्यामलतारतारम् ॥ २९ ॥

आघूर्णितमिति । आघूर्णितं प्रचलितं पक्ष्मलं पक्ष्मवत् । "सिध्मादिभ्यश्च"
लच् । प्रान्तद्युतेः कनीनिकाप्रान्तकान्तेः, श्वैत्येन धावल्येन जितामृतांशु अव
चन्द्रं चलत् इन्द्रनीलस्य गोलं मण्डलमिवामला श्यामला तारा स्थूल
कनीनिका यस्य तदस्या अक्षिपद्ममस्या अक्षिपद्ममिव असदृशमित्यर्थः । अनन्व
लङ्कारः । 'एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेनानन्वयो मतः' इति लक्षणात् ॥ २९ ॥

घुरता हुआ, श्रेष्ठ बरौनियोंसे युक्त, किनारे की शोभाकी श्वेतिमासे अमृत
(चन्द्रमा) को जीतनेवाला और चञ्चल इन्द्रनील मणिके समान गोल निर्मल
बड़ी पुतलीवाला इस दमयन्ती का नेत्रकमल इस (दमयन्तीके नेत्र कमल) के
अर्थात् उक्त गुणवाले दमयन्तीके नेत्रकमलको उपमा संसारमें कहीं नहीं है ॥ २९ ॥

कर्णोत्पलेनापि मुखं सनाथं लभेत नेत्रद्युतिनिर्जितेन ।
यद्येतदीयेन ततः कृतार्था स्वचक्षुषी किं कुरुते कुरङ्गी ॥ ३० ॥

वी। नेत्रद्युत्या नेत्रकान्त्या निर्जितेनैतदीयेन भैम्याः संवन्धिना कर्णोत्पलेनाथं सहकृतं मुखं लभेत यदि, ततः कृतार्था कुरङ्गी स्वचक्षुषी किंकुरुते कदर्थयेः। स्वमुखस्य तादृङ्नेत्रसानाथ्यं तावदास्तां तन्नेत्राभिभूतकर्णोत्पलेनापि तावत्यैव द्युत्या स्वचक्षुषी उपेक्षेत। तदपि दुर्लभमिति भावः ॥ ३० ॥

दमयन्तीकी नेत्रशोभासे पराजित इस दमयन्तीके कर्णोत्पल (कानोंके भूषण) से भी सनाथ (युक्त, पक्षा०–नाथ सहित) मुखको यदि पा जाय तब कृतकृत्य मृगी अपने नेत्रोंको कदर्थित अर्थात् उपेक्षित कर देगी (अथवा–नेत्रोंको क्या करेगी उनका त्याग ही कर देगी)। [दमयन्तीके नेत्रोंकी समानता करना तो मृगीके लिये बहुत दूर की बात है, दमयन्तीके नेत्रोंसे पराजित कर्णभूषणरूप कमलोंकी भी नहीं कर सकती है, अतः यदि उन कर्णभूषणभूत कमलोंसे भी उनका मुख सनाथ हो तो वे अपनेको कृतकृत्य समझकर नेत्रोंकी उपेक्षा कर देंगी] ॥ ३० ॥

त्वचः समुत्सार्य दलानि रीत्या मोचात्वचः पञ्चषपाटनानाम् ।
गृहीतैर्विधिरुत्पलौघादस्यामभूदीक्षणरूपशिल्पी ॥ ३१ ॥

इति। विधिर्विधाता मोचात्वचो रम्भात्वचः। 'रम्भा मोचांशुमत्फला' इत्यपञ्चषाः पञ्चषाणि। "संख्ययाव्यय" इत्यादिना वहुव्रीहौ। "वहुव्रीहौ संख्येय" समासान्तो डच्। तेषां पाटनानां विदलनानां रीत्या प्रकारेण तावत्पाटयित्वा त्वच एव दलानि समुत्सार्य पञ्चषाणि वाह्यावरणान्यपनीयेत्यर्थः। ततो गृहीत्पलौघाच्च गृहीतैस्सारैः सितासितवर्णैर्लावण्यद्रव्यैः अस्यां दमयन्त्याम् ईक्षणशिल्पी अक्षिसौन्दर्यनिर्माता अभूदित्युत्प्रेक्षा ॥ ३१ ॥

केलेके छिलकेसे क्रमशः पांच या छः छिलकों और कमल–पुष्पोंसे क्रमशः पांच छिलकोंको अलग कर केलेसे तथा कमल–समूहसे लिये गये सारभूत वस्तुओंसे इनके नेत्रोंको रमणीय बनानेमें कलाकार बन गये। [ब्रह्माने इस दमयन्तीके नेत्रोंके गौर वर्ण केलेके पांच-छः छिलकोंको अलगकर उसके अन्तःसारसे तथा कमलके वाहरी पांच–छः दलों) को अलगकर दमयन्तीके नेत्रोंकी नीलिमाको बनाकर कुशल कलाकार हो दमयन्तीके नेत्र कदली गर्भके समान गौर वर्ण तथा कमलपत्रके समान नीलवर्ण हैं ॥

चकोरनेत्रैणदृगुत्पलानां निमेषयन्त्रेण किमेष कृष्टः ।
सारः सुधोद्गारमयः प्रयत्नैर्विधातुमेतन्नयने विधातुः ॥ ३२ ॥

चकोरेति। विधातुरेतन्नयने विधातुं प्रयत्नैः कर्तृभिः चकोरनेत्रयोरेणदृशोर्मृगयोरुत्पलानां च सुधोद्गारमयोऽमृतनिष्यन्दमयः। एषोऽग्रे दृश्यमानः सारो निमेषो निमीलनं तेनैव यन्त्रेण निष्पीडनसाधनेन कृष्टः आकृष्टः किमित्युत्प्रेक्षा ॥

दमयन्तीके नेत्रोंको बनानेके लिये ब्रह्माके प्रयत्नोंने अर्थात् ब्रह्माने प्रयत्नपूर्वक चकोरके नेत्र, मृगोंके नेत्र तथा कमलोंके अमृतका झरना रूप सार (श्रेष्ठ द्रव्य) निपमेरूपी

यन्त्र (कोल्हू) से खींचा (पेलकर निकाला) है क्या ? [चकोरका नेत्र चन्द्रिका का करनेसे, हरिणके चन्द्रमाके अङ्कमें निवास करनेसे तथा उत्पलका चन्द्रवंशी होनेसे रात्रिमें चन्द्रामृत–सम्बन्ध होनेसे उसके श्रेष्ठवस्तु का आकर्षण करना उचित ही है। भी गन्ने आदिके सारभूत रसको कोल्हूमें पेलकर यत्नपूर्वक निकालते हैं दमयन्तीके चकोरनेत्र, हरिणनेत्र तथा कमलसे भी श्रेष्ठ हैं] ॥ ३२ ॥

ऋणीकृता किं हरिणीभिरासीदस्याः सकाशान्नयनद्वयश्रीः ।
भूयोगुणेयं सकला बलाद्यत्ताभ्योऽनयालभ्यत बिभ्यतीभ्यः ॥३३॥

ऋणीकृतेति । हरिणीभिरस्या दमयन्त्याः उत्तमर्णाया इति भावः । सकाश यनद्वयस्य श्रीः शोभा ऋणीकृता ऋणत्वेन गृहीतासीत् किमित्युत्प्रेक्षा । यतस् अनया भैम्या बिभ्यतीभ्यः त्रस्यन्तीभ्यः, त्रासावस्थायां शोभातिशयः । अतिशं निःशेषमृणं दीयत इति भावः । ताभ्यो हरिणीभ्यो भूयोगुणा द्वित्रिगुणेयं नयन सकला निश्शेषा बलादलभ्यत लब्धा ॥ ३३ ॥

हरिणियोंने इस दमयन्तीके पाससे दोनों नेत्रोंकी कान्तिको ऋण लिया है क्योंकि इस दमयन्तीने डरती हुई उन मृगियोंसे अनेक गुणित (कई गुना) ब्याज नेत्रद्वयकी शोभाको बलात्कारसे ग्रहण किया है । [लोकमें भी प्रसिद्धि है कि उत्तमर्ण(दाता) ऋणगृहीताको ऋणरूपमें धनादि देखकर बादमें डरते हुये ऋणगृहीतासे ब्याज कई गुना मूलधन बलात्कारपूर्वक ले लेता है । हरिणीके नेत्रोंसे दमयन्तीके नेत्रों अनेक गुनी उत्तम है] ॥ ३३ ॥

दृशौ किमस्याश्चपलस्वभावे न दूरमाक्रम्य मिथो मिलेताम् ।
न चेत्कृतः स्यादनयोः प्रयाणे विघ्नः श्रवःकूपनिपातभीत्या ॥ ३४॥

दृशाविति । चपलस्वभावे चञ्चलशीले, अस्या भैम्याः दृशौ दूरमाक्रम्य पर्यन्तं गत्वेत्यर्थः। मिथो न मिलेतां न सङ्गच्छेयाताम्, काकुः । मिलतेर्लिङि तद मादेशः । किं त्वनयोर्दृशोः प्रयाणे दूरगमने श्रवसी श्रोत्रे एव कूपाविति तयोर्निपाताद्भीत्या कर्ण्यो विघ्नः कृतो न स्याच्चेत् । अत्र दृशोः कर्णान्तविश्रान्त कूपपातभयहेतुकत्वोत्प्रेक्षारूपकोज्जीवितेति सङ्करः ॥ ३४ ॥

इस दमयन्तीके चञ्चल स्वभाववाले (कर्णान्तविशाल) नेत्र दूर तक जाकर क्या नहीं मिल जाते ? अर्थात् अवश्य मिल जाते, किन्तु इन नेत्रोंके जानेमें गिरनेका भय बाधा नहीं करता। [दमयन्तीके नेत्र कानतक पहुंचे हुए हैं तथा स्वभाव वाले हैं । अतः वे और भी आगे बढ़कर परस्परमें (शिरके पिछले भागमें अवश्य मिल जाते, किन्तु कूपवत् गम्भीर कानमें गिरनेके भयसे वे आगे नहीं बढ़कर रुक गये हैं।] जिस प्रकार कूपमें गिरनेके भयसे अन्य भी कोई व्यक्ति आगे नहीं

र दमयन्तीके नेत्रोंने भी किया है । दमयन्तीके नेत्र कर्णान्त विशाल तथा चञ्चल हैं ॥

केदारभाजा शिशिरप्रवेशात्पुण्याय मन्ये मृतमुत्पलिन्या ।
ता यतस्तत्कुसुमेक्षणेयं यतश्च तत्कोरकदृक् चकोरः ॥ ३५ ॥

रेति । केदारः क्षेत्रविशेषः पर्वतविशेषश्च । तं भजतीति तद्भाक् । 'केदारः स्यौ क्षेत्रभेदालवालयोः' इति विश्वः । तयोत्पलिन्या शिशिरप्रवेशात् शिशिहेतोः पुण्याय धर्माय मृतं मन्ये । भावे क्तः । मन्य इत्युत्प्रेक्षायाम् । यतो केदारमरणादियं भैमी तस्या उत्पलिन्याः कुसुमे पुष्पे एव ईक्षणे यस्याः सा यतश्चकोरश्च तत्कोरकावेव दृशौ यस्य स जातः । केदारक्षेत्रमरणादुत्तमजन्मलागमः ॥ ३५ ॥

वा आलवाल अर्थात् थालेमें (पक्षा०—केदारेश्वर नामक शङ्करजीके समीपमें) लिनी शिशिर ऋतु (पक्षा०—ठण्डे जल) में प्रवेश करनेसे पुण्य अर्थात् धर्मकार्यके गयी है, क्योंकि उस कमलिनीका पुष्प इस दमयन्ती का नेत्र हुआ और उस कमकोरक चकोरका नेत्र हुआ अर्थात् दमयन्ती का नेत्र कमलिनीके पुष्पके समान रका नेत्र कमलिनीके कोरकके समान हुआ । [विना अधिक पुण्यके कमलिनी-कमलिनी-कोरकको क्रमशः दमयन्ती तथा चकोर का नेत्र बनना असम्भव है । केदार (क्यारी पक्षा०—केदार क्षेत्र) में रहती तथा शिशिर ऋतु (पक्षा०—ण्डे) में नष्ट हो जाती है, अतः उसने बड़ी तपस्या की है, जिसके कारण उसके पुष्पको दमयन्ती तथा चकोरके नेत्र बननेका शुभ फल मिला हुआ है । कोरककी सकी शोभा अधिक होती है, अतः 'दमयन्तीके नेत्र चकोर नेत्रसे भी अधिक सुन्दर यं ध्वनित होता है] ॥ ३५ ॥

सादसीया तिलपुष्पतूणं जगत्त्रयन्यस्तशरत्रयस्य ।
श्वासानिलामोदभरानुमेयां दधद्द्विबाणीं कुसुमायुधस्य ॥ ३६ ॥

सेति । अमुष्या इयमदसीया, नासा नासिका, जगत्त्रये न्यस्तं प्रयुक्तं शरत्रयं न कुसुमायुधस्य सम्बन्धिनीं निश्वासानिलस्य निश्वासमारुतस्य आमोदभरेण तिशयेन अनुमेयां द्विबाणीं शिष्टं बाणद्वयम् । समाहारे द्विगोर्ङीप् । दधत् मेव तूणमिषुधिरित्युत्प्रेक्षा ॥ ३६ ॥

नों लोकों को जीतने की भावनासे तीन बाणों का प्रयोग कर देनेपर कुसुमायुध) के बचे हुए दो बाणों को अपने अन्दर धारण करती हुई, इस दमयन्तीकी नाक ष्पोंसे निर्मित मानो तुणीर (तरकस) है । क्योंकि इसकी नाक से निश्वास पवनकी गन्ध निकल रही है इसीसे पता चलता है कि कामदेवने अपने बचे हुए दो पुष्पको इसी दमयन्तीकी नाक के अन्दर रखा है । यदि ऐसा न होता तो इसकी निश्वास में सुगन्धि नहीं निकलती ॥ ३६ ॥

बन्धूकबन्धूभवदेतदस्या मुखेन्दुनानेन सहोज्जिहानम्[1] ।
रागश्रिया शैशवयौवनीयां स्वमाह सन्ध्यामधरोष्ठलेखा ॥ ३७ ॥

बन्धूकेति । अस्या भैम्याः अधरोष्ठलेखा अनेन मुखेन्दुना सहोज्जिहान बन्धूकबन्धूभवत् । बन्धुजीवकुसुमसमीभवत् एतत्पुरोवर्ति स्वमात्मान 'आत्मनि स्वम्' इत्यमरः । रागश्रिया आरुण्यसम्पदा, शैशवयौवनयोरेतत्सम्ब सन्ध्यामाह । अहोरात्रसन्धाविव वयःसन्धौ भवा सन्ध्या स्वयमेवेति स्वरागसम् कथयति इवेत्युत्प्रेक्षाव्यञ्जनाप्रयोगाद्गम्या ॥ ३७ ॥

इस दमयन्ती की यह नीचेकी ओष्ठरेखा अर्थात् ओष्ठ इस (सामने दृष्टिगोचर हुए) मुख चन्द्रके साथ उत्पन्न होते (उदय प्राप्त करते) हुए राग (लालिमा) की शो दुपहरिया फूलके समान होते हुए (अपनेको बाल्य और यौवनके मध्यवर्तिनी) सन्ध्या कहती है । [दमयन्ती का बचपन समाप्त हो रहा है तथा युवावस्था प्रारम्भ हो रही है, इस समय उसके अधरोष्ठ दुपहरिया फूलके समान लाल हो रहे हैं तथा मुख चन्द्रमाके उ हो रहा है । जिस प्रकार दिन और रात्रिके बीचमें लाल वर्ण की सन्ध्या होती है तथा उ समय चन्द्रोदय भी होता है । अतः यहां बचपन और यौवनावस्थाको दिन-रात, मुख चन्द्रमा तथा अधरोष्ठ रेखा को सन्ध्या होना बतलाया गया है] ॥ ३७ ॥

अस्या मुखेन्दोरधरः सुधाभूर्बिम्बस्य युक्तः प्रतिबिम्ब एषः ।
तस्याथ वा श्रीर्द्रुमभाजि देशे संभाव्यमानास्य तु विद्रुमे सा ॥३८

अस्या इति । अस्याः भैम्याः एषोऽधरः अधरोष्ठः मुखेन्दोः सुधायाममृते भ त्याविर्भवतीति सुधाभूः, बिम्बस्य बिम्बफलस्य प्रतिबिम्बः सदृशो युक्तः । व च बिम्बफलात्कश्चिद्विशेषोऽस्तीत्यर्थः । तस्य बिम्बफलस्य श्रीः शोभा, द्रुमभा द्रुमवति देशे सम्भाव्यमाना । अस्याधरस्य त्वसौ श्रीः विद्रुमे प्रवाले विगतद्रुमे सम्भव्यत इत्यर्थः । 'विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः । विद्रुमसमश्रीरि

इस दमयन्तीके मुखरूपी चन्द्रमाके अमृतमें उत्पन्न अधरोष्ठ बिम्बफलके सदृश है यह है, या काकुसे………बिम्बफलके सदृश है ? अर्थात् नहीं (क्योंकि अधोरोष्ठ मुखचन्द्र- सुधामें उत्पन्न है और बिम्बफल सुधामें उत्पन्न नहीं है, अत एव यह इसके अधरोष्ठके सदृ कदापि नहीं हो सकता) । इस बिम्बफलकी शोभा वृक्षस्थानमें (पक्षा०—जङ्गली देश सम्भावित है और इसकी (दमयन्तीके अधरोष्ठकी) शोभा विद्रुम अर्थात् मूंगेमें पक्षा०— वृक्ष रहित स्थान अर्थात् नगरमें है, अत एव जङ्गली देशमें उत्पन्न होनेवाला नगरमें उ होनेवालेकी समानता कदापि नहीं कर सकता । [पाठ भेदसे—इस दमयन्तीके मुख चन्द्रमें स्थित यह अधरोष्ठ अमृतमें उत्पन्न बिम्बफलका प्रतिबिम्ब (सदृश) है यह उचित है श्वेतवर्ण मुखरूप चन्द्रमें सुधोद्भव अधररूप बिम्बफलका प्रतिबिम्बित (पक्षा०—सदृ

---

[1] 'सहोज्जिहाना' इति पाठान्तरम् ।

विश ही है। अथवा—बिम्बफल सुधोत्पन्न नहीं होनेसे मुखचन्द्रमें स्थित सुधाखनि के समान कदापि नहीं हो सकता है। ('तो फिर अधरोष्ठ का सादृश्य कहां मिलेगा' शङ्काको दूर करनेके लिये कहते हैं)। अथवा—बिम्बफलकी शोभा वृक्षके आश्रय करने-(वाला) स्थानमें है बिम्बफल सुधोत्पन्न होनेपर भी वृक्षदेशस्थ होनेसे मुखचन्द्रस्थ की शोभा नहीं कर सकता और विद्रुम अर्थात् मूंगेमें (पक्षा०-वृक्षहीन स्थानमें) इसके की शोभा होना सम्भव है, पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रवाल अर्थात् मूंगा वृक्ष स्थानमें उत्पन्न होनेके कारण अधरोष्ठके सदृश होनेपर भी सुधोत्पन्न नहीं होनेसे अध- के सदृश नहीं हो सकता। दमयन्ती का अधर बिम्बफल तथा मूंगेसे भी अत्यन्त है]॥ ३८ ॥

जानेऽतिरागादिदमेव बिम्बं बिम्बस्य च व्यक्तमितोऽधरत्वम् ।
द्वयोर्विशेषावगमाक्षमाणां नाम्नि भ्रमोऽभूदनयोर्जनानाम् ॥३९॥

जान इति। अतिरागादतिलौहित्याद्धेतोः इदं पुरोवर्त्यैव बिम्बं बिम्बनामार्हं स्य च इतोऽस्मादधरत्वमपकृष्टत्वमोष्ठत्वं च व्यक्तं तदेवाधरनामार्हं प्रतीयत ते। एवं स्थिते द्वयोरनयोरधरबिम्बयोर्नाम्नो विषये विशेषावगमे इदमस्य नि निर्धारणे अक्षमाणामसमर्थानां जनानां भ्रमोऽभूत्। जाने जानामीत्युत्प्रेक्षा।३९।

अधिक लालिमा होनेसे यही (दमयन्तीका पुरोदृश्यमान ओष्ठ ही) बिम्बफल है, ल का इससे अर्थात् इस दमयन्तीके ओष्ठसे (दमयन्तीके ओष्ठकी अपेक्षा लालिमा कम) अधरत्व (नीचापन) अर्थात् हीनता स्पष्ट है। इन दोनों (दमयन्तीका ओष्ठ और फल)के विशेष को जाननेमें असमर्थ या मुग्ध लोगोंको नाममें भ्रम हो गया है। -विशेषको जाननेमें असमर्थ लोगोंको इन दोनोंके नाममें भ्रम हो गया है।) [यह नियम उपमान और उपमेयमें उपमान अधिक गुण तथा उपमेय कम गुणवाले होते हैं, अतः लालिमा होनेसे दमयन्तीके ओष्ठको उपमान एवं कम लालिमा होनेसे बिम्बफल होना उचित है, किन्तु दोनोंके गुणोंके तारतम्य नहीं समझने वाले लोगोंने दमयन्तीके को उपमेय मान कर अधर (बिम्बफलसे हीन) और बिम्बफलको उपमान मान लिया; यही कारण है कि लोकमें भी दमयन्ती का ओष्ठ 'अधर' कहलाने लगा। वस्तुतः में के ओष्ठमें बिम्बफलसे भी अधिक राग (लालिमा, पक्षा०-अनुराग) है] ॥ ३९ ॥

मध्योपकण्ठावधरोष्ठभागौ भातः किमप्युच्छ्वसितौ यदस्याः ।
तत्स्वप्नसंभोगवितीर्णदन्तदंशेन किं वा न मयापराद्धम् ॥ ४० ॥

मध्येति। यद्यस्मात्, अस्याः सम्बन्धिनौ मध्यस्याधरमध्यप्रदेशस्य उपकण्ठौ हितौ अधरोष्ठस्य भागौ तदुभयपार्श्वे इत्यर्थः। किमप्युच्छ्वसितौ किंचिदुच्छूनौ स्फुरतः। तत्तस्मात्, स्वप्नसम्भोगे वितीर्णो दत्तो दन्तदंशो दन्तक्षतं येन तेन नापराद्धं किं वा। स्वप्ने स्वकृतदन्तक्षतमेतदित्युत्प्रेक्षा ॥ ४० ॥

(इस दमयन्तीके अधरोष्ठके) मध्यभागके समीपवर्ती, कुछ सूजे हुए अर्थात् कुछ ऊँ उठे हुए दोनों अधरोष्ठ जो शोभमान हो रहे हैं, सो स्वप्नमें सम्भोगकालमें (अपरा करते समय) दांतोंसे काटनेवाले मैंने (अथवा—स्वप्न-सम्भोगकालमें दाँतोंसे काटनेसे अपराध नहीं किया है क्या? अर्थात् अवश्यमेव अपराध किया है। [दमयन्तीके अधरो दोनों प्रान्त स्वभावतः कुछ ऊँचे उठे हुए हैं, यह सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार शुभ लक्षण किन्तु नल उस उठे हुए अधर-प्रान्तोंको स्वप्नकालीन सम्भोग में किये गये दन्तदंशन-ज समझकर अपना अपराध मानते हैं। दन्तदंशन करनेपर उस स्थानका शोथयुक्त होना स नुभवसिद्ध है] ॥ ४० ॥

विद्या विदर्भेन्द्रसुताधरोष्ठे नृत्यन्ति कत्यन्तरभेदभाजः ।
इतीव रेखाभिरपश्रमस्ताः संख्यातवान् कौतुकवान्विधाता ॥ ४१ ॥

विद्या इति । कौतुकवान् विनोदी विधाता विदर्भेन्द्रसुताया अधरोष्ठे कति वि अन्तरभ्यन्तरे अभेदभाजः भेदरहिताः सत्यो नृत्यन्ति विहरन्ति इति जुगुप्सयेति शे इतिना गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । अपश्रमः श्रमरहितः सन् ताः विद्या रेखा संख्यातवानिव गणितवान् किमित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा वृथा रेखासृष्टिः स्यादिति भा

'दमयन्तीके अधरोष्ठपर भेदोपभेदसहित कितनी विद्याएँ नाचती हैं अर्थात् दमयन्ती कि विद्याओं को जानती हैं,' इस विषयमें कौतुक युक्त ब्रह्माने रेखाओंसे काम रहित होकर बड़ सरलता पूर्वक (दमयन्तीकी विद्याओंको) गिना। [दमयन्तीके अधरोष्ठपर जो रेखाएं वे दमयन्तीकी भेदोपभेद सहित विद्याओंकी संख्या-सूचक चिह्न हैं अर्थात् दमयन्ती इ विद्याओं में निपुण थी। लोकमें भी कोई व्यक्ति किसी की गणना करते समय विस्मरण होनेके लिये रेखाओंके द्वारा सरलता पूर्वक उसे गिन लेता है] ॥ ४१ ॥

संभुज्यमानाद्य यथा निशान्ते स्वप्नेऽनुभूता मधुराधरेयम् ।
असीमलावण्यरदच्छदेयं कथं मयैव प्रतिपद्यते वा ॥ ४२ ॥

संभुज्यमानेति । इयं भैमी, अद्य मया निशान्ते निशावसाने अपररात्र इत्य तत्कालस्वप्नस्य सत्यत्वादिति भावः । स्वप्ने संभुज्यमाना मधुराधरा मनोज्ञाध सत्यनुभूता दृष्टा मयैव इत्थमनेन प्रकारेण स्वप्नविकारेणैव असीमलावण्यो रदच्छ दन्तच्छदो यस्या सा सती कथं वा प्रतिपद्यते दृश्यते चित्रमित्यर्थः । स्वप्नदृष्टस्या र्थस्य जागरे सत्यसंवादादाश्चर्यम् ॥ ४२ ॥

प्रातःकालमें (अथवा—गृहमें) इसके साथ सम्भोग (पक्षा०—इसका आस्वाद करते हुए मैंने मधुर (मीठे-मीठे) अधरोष्ठवाली अनुभव किया (पक्षा०—खाया), इस समय अनन्त (वेहद) सौन्दर्ययुक्त ओष्ठवाली इसे मैं कैसे देख रहा हूं या प्राप्त कर रहा हूं? यह आश्चर्य है। [स्वप्नमें देखी या पायी गयी वस्तु प्रायः प्रत्यक्षमें असत्य हु करती हैं, अतः इसे मैंने स्वप्नमें जैसा मधुर रसयुक्त अधरोष्ठवाली अनुभव किया था,

वैसी ही इसे पा रहा हूँ, यह आश्चर्य है। अथवा—प्रातःकाल (गौओंको खोलनेके देखा गया स्वप्न प्रायः सत्य होता है, ऐसा ज्यौतिषशास्त्रका सिद्धान्त है, अतः इस जैसा मैंने स्वप्नमें देखा, वैसा ही इस समय प्रत्यक्षमें प्राप्त कर रहा हूँ, यह । स्वप्नदृष्ट वस्तुको उसी रूपमें जागते हुए भी प्राप्त करनेपर आश्चर्य होना स्वाभा- है। पक्षा०—जो अत्यन्त मधुकर (मीठा) है, वह ओष्ठ अत्यधिक नमकीन है, यह ऐसा आश्चर्यजनक है, विरोध का परिहार 'जो अत्यन्त मधुर है, वह अत्यधिक सौन्द- र्य करने से होता है] ॥ ४२ ॥

यदि प्रसादीकुरुते सुधांशोरेषा सहस्रांशमपि स्मितस्य ।
कौमुदीनां कुरुते तमेव निर्मित्य[1] देवः सफलं स[2] जन्म ॥ ४३ ॥

ति। एषा भैमी, स्मितस्य निजमन्दहासस्य सहस्रांशं सहस्रतमांशमपि । संख्याशब्दस्य पूरणार्थत्वं त्रिभागवत्। सुधांशोः प्रसादीकुरुते यदि दद्या- त्। तर्हि स देवः सुधांशुः कौमुदीनां स्वचन्द्रिकाणां जन्म। तमेव स्मित- निमित्य स्वकौमुदीषु निक्षिप्य "डुमिञ् प्रक्षेपणे" इति धातोः समासे क्त्वो । सफलं कुरुते। यथा बिन्दुमात्रगङ्गाजलमिश्रणेनान्यजलं सफलं भवति भावः। अत्र कौमुदीनां संभावनामात्रेण स्मितांशासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धो- क्तिभेदः ॥ ४३ ॥

यदि वह दमयन्ती अपने मुस्कान का हजारवां भाग भी चन्द्रमा को प्रसन्न हो कर दे दे तो अर्थात् चन्द्रमा इस (मुस्कान का सहस्रांश) को (चाँदनीमें) मिलाकर उसके सफल करे। [पाठा०—उस मुस्कान को चाँदनीसे आरतीद्वारा पूजन कर जन्मको चाँदनीके या अपने जन्मको सफल करता। एक बूँद गङ्गाजलसे जिस प्रकार बहुत-सी पवित्र हो जाती है, उसी प्रकार दमयन्तीके सहस्र स्मितको चन्द्रिकामें मिला भी जन्मको सफल करता। इस अर्थको श्री पं. जीवानन्दजीने "सर्वत्र पावनी स्थानेषु दूष्यति। म्लेच्छस्पर्शे सुराभाण्डे कूपोदकविमिश्रणे ॥" वचनके आधारपर बतलाया है; किन्तु उस तीनों स्थानोंको छोड़कर अन्य जलमें मिलाया हुआ गङ्गाजल सब जलको जिस प्रकार पवित्र कर देता है, उसी प्रकार यहां समझना है] ॥ ४३ ॥

चन्द्राधिकैतन्मुखचन्द्रिकाणां दरायतं तत्किरणाद्घनानाम् ।
पुरः[3] परिस्रस्तपृषद्द्वितीयं रदावलिद्वन्द्वति बिन्दुवृन्दम् ॥ ४४ ॥

न्द्रेति। तस्य चन्द्रस्य किरणाद्रश्मेः चन्द्रकान्तेः, घनानां सान्द्राणां तन्मुखस्य

---

[1] "निमिच्छ्य" इति पठित्वा 'अर्थात्कौमुदीभिरेव पूजनं कृत्वा नीराजनं व्याख्यातवन्तो नारायणभट्टाः 'प्रकाश' व्याख्यायाम्।

[2] "सजन्मा" इति पाठान्तरम्। [3] "पुरःसरत्रस्त" इति पाठान्तरम्।

चन्द्राधिकत्वाच्चन्द्रिकाणामपि ततोऽधिकमिति भावः। अत एवाह—चन्द्राधि स्यैतन्मुखस्य चन्द्रिकाणां सम्बन्धि दरायतमीषद्दीर्घं पुरः परिस्रस्तानि प्रथमं स पृषन्ति बिन्दवो यस्य तद्द्वितीयं विन्दुवृन्दं रदावलिद्वन्द्वति,तदिव आचरति " प्रातिपदिकेभ्यः क्विप्" इत्याचारक्विवन्ताल्लट्। प्रथमनिस्सृता विन्दुपङ्क्तिरधस्त पङ्क्तिः उत्तरानन्तरजातेत्युत्प्रेक्षा ॥ ४४ ॥

चन्द्रमाकी किरणोंसे सघन अर्थात् अधिक इस दमयन्तीके मुखकी चाँदनी का अधिक एवं पहले गिरी हुई बूंदोंका दूसरा बूंदोंका समुदाय दोनों (ऊपर तथा नीचेवा ओरके दन्तसमूहके समान हो रहे हैं। [दमयन्तीका मुख चन्द्रमाकी अपेक्षा अधिक सु है, अतः उसकी चांदनी (प्रकाश–शोभा) भी चन्द्रमाकी चांदनीकी अपेक्षा सघन अधिक है (अथवा— चन्द्रमाकी अपेक्षा अधिक सुन्दर दमयन्ती–मुख–चन्द्रकी चन्द्रिका मेघरूप है), उक्त चांदनीसे (अथवा—चांदनीरूप मेघसे) पहले जो विन्दु समूह गिरे छोटे २ थे वे तो दमयन्तीके नीचेवाले दांत हुए तथा पहले गिरे हुए बिन्दु समूहसे कुछ जो विन्दुसमूह गिरे, वे दमयन्तीके ऊपर वाले दांत हुए। दमयन्तीके नीचेवाले दांत छोटे तथा ऊपरवाले उनसे कुछ बड़े २ हैं, जो सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार शुभसूचक है] ॥

सेयं ममैतद्विरहार्तिमूर्च्छातमीविभातस्य विभाति सन्ध्या।
महेन्द्रकाष्ठागतरागकर्त्री द्विजैरमीभिः समुपास्यमाना ॥ ४५ ॥

सेति। महेन्द्रस्य काष्ठामुत्कर्षं गतोऽनुरागः। अन्यत्र पूर्वदिग्गतो रागो लौ त्यम्। 'काष्ठोत्कर्षे स्थितौ दिशि' इत्यमरः। 'रागोऽनुरागे लौहित्ये' इति विश्व तस्य कर्त्री जनयित्री अमीभिर्द्विजैर्दन्तैः विप्रैश्च। 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः समुपास्यमाना सेव्यमाना सेयं दमयन्ती मम एतस्या भैम्या, विरहार्त्या वि पीडया या मूर्च्छा सैव तमी रजनी। 'रजनी यामिनी तमी' इत्यमरः। तस्य विभातस्य संबन्धिनी सन्ध्या प्रातःसन्ध्या विभाति। सन्ध्याधर्मसम्बन्धात्सन्ध्या त्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ४५ ॥

इन्द्रके अनुरागको वढानेवाली (पक्षा०—इन्द्रदिशा अर्थात् पूर्वदिशामें लालिमाको क वाली) तथा इन दांतों (पक्षा०—ब्राह्मणों) से पूजित होती हुई यह दमयन्ती, इस यन्तीके विरहजन्य पीडासे उत्पन्न मेरी मूर्च्छारूपी रात्रिके प्रातःकाल की सन्ध्या (शोभमान हो रही है। [जिस प्रकार प्रातःकालकी सन्ध्या पूर्व दिशाको लालिमा करनेवाली तथा रात्रिका नाश करनेवाली होती है, एवं ब्राह्मण लोग सन्ध्योपासनादिसे सेवा करते हैं; उसी प्रकार यह दममन्ती भी इन्द्रके अनुरागको उत्पन्न करनेवाली है, दांतों पूजित (शोभित) है और इसके विरहसे होनेवाली पीडाजन्य मेरी मूर्च्छारूपिणी रात्रि नाश करनेवाली सन्ध्यारूप है अर्थात् प्रातःकालकी सन्ध्या जैसे रात्रिका नाश करती है वैसे ही अब दमयन्ती–विरहजन्य पीडासे उत्पन्न मेरी मूर्च्छाका भी नाश हो जायेगा] ॥

जौ द्विजानामिह राजदन्ताः संविभ्रति श्रोत्रियविभ्रमं यत् ।
द्वेगरागादिमृजावदाताश्चत्वार एते तदवैमि मुक्ताः ॥ ४६ ॥

श्चत्वारो ये दन्तास्तान् वर्णयति—राजाविति । यत् यस्मात्, इहास्यां दन्तानां विप्राणां च राजौ पङ्क्तौ । उद्वेगं पूगफलम् । 'घोण्टा तु पूगः क्रमुको खपुरोऽस्य तु । फलमुद्वेगम्' इत्यमरः । तस्य रागो रक्तता । आदिशब्दात् लेपसंग्रहः । अन्यत्रोद्वेगो व्यग्रता । रागो विषयाभिलाषः आदिशब्दाद्द्वे-ग्रहः । तेषामुद्वेगरागादीनां मृजया मार्जनेन । 'पिद्भिदादिभ्योऽङ्' । अवदाताः ते चत्वारो राजदन्ताः दन्तानां राजानो दन्तश्रेष्ठाः । "राजदन्तादिषु परम्" न्तशब्दस्योपसर्जनस्य परनिपातः । श्रोत्रियाश्छन्दांस्यधीतवन्तः वेदपारगाः । च्छान्दसौ समौ' इत्यमरः । "श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीत" इति निपातः । तेषां भ्रमं संविभ्रति तस्यान्मुक्ताः मौक्तिकानि अपवृत्ताश्च । 'मुक्ता तु मौक्तिके मुक्ता तु मोचित' इति विश्वः । अवैमि जानामि इति वाक्यार्थः कर्म । ॥ ४६ ॥

दन्तपङ्क्तिमें सुपारीकी लालिमा (या जलायी हुई सुपारी) आदि (कत्था, सैंधव, नादि) के द्वारा रगड़नेसे निर्मल श्रेष्ठ दांत (पक्षा०—इस ब्राह्मणपङ्क्तिमें उद्वेग ता), अनुराग आदि (द्वेष, ईर्ष्या, काम आदि अथवा—उत्कृष्ट वेगवाले अनुराग) दूर करनेसे निर्मल (अर्थात् पापहीन अन्तिम समयमें शोभमान जो चार ब्राह्मण) के भ्रमको उत्पन्न कर रहे हैं, इस कारणसे इन्हें (इन चार दांतोंको, पक्षा०— ब्राह्मणोंको) मैं मुक्ता (मोतीके समान, पक्षा०—मुक्ति पाया हुआ) जानता हूं । र ब्राह्मणोंमें भी वेदपाठी ब्राह्मण रागादिको छोड देते हैं, वे पापमुक्त होकर मुक्ति पा लेते हैं उसी प्रकार सुपारी कत्था आदि दांतोंमें रगड़नेसे मोतीके समान हो जाते हैं, उनमें भी सामनेवाले ही चारो दाँतोंको अधिक रगड़ते हैं अत एव वे ही स्वच्छ भी रहते हैं। दमयन्तीके आगेवाले चारो दांत सुपारी आदिके रगड़ते रहनेसे समान स्वच्छ हैं] ॥ ४६ ॥

रीषकोशादपि कोमलाया वेधा विधायाङ्गमशेषमस्याः ।
प्रकर्षः सुकुमारसर्गे समापयद्वाचि मृदुत्वमुद्राम् ॥ ४७ ॥

षेति । वेधाः विधाता शिरीषस्य कोशात्कुड्मलादपि कोमलाया अस्या शेषमङ्गं विधाय सुकुमारसर्गे कोमलसृष्टौ प्राप्तकर्षो लोके लब्धोत्कर्षः सन् मार्दवभङ्गीं वाचि भैमीवाण्यां समापयत् समापितवान् । सर्वाति-शायि वाङ्माधुर्यमिति भावः ॥ ४७ ॥

शिरीषके कलिकासे भी अधिक सुकुमार शरीरवाली इस दमयन्तीके सम्पूर्ण कर सुकुमार वस्तुके बनानेमें प्रतिष्ठा (नामवरी) प्राप्तकर सुकुमारताके

अन्तिम सीमाको इसके वचनमें समाप्त कर दिया। [शिरीषपुष्प अत्यधिक
(कोमल) होता है-जैसा कविकुलदिवाकर कालीदासने भी पार्वतीका वर्णन करते
कुमार सम्भवमें कहा है—"शिरीषपुष्पाधिक सौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे
(१।४१)"। तो कलिकामें स्वभावतः अधिक सुकुमारता होना सिद्ध है। ब्रह्माने द
अङ्गोंको शिरीषपुष्पकलिकासे भी अधिक सुकुमार बनाया, अतः सुकुमार पदार्थोंकी
ख्याति पाकर उन्होंने दमयन्तीके वचनमें सुकुमारताकी समाप्ति कर दी अर्थात् दम
वचनसे अधिक सुकुमारता (मृदुता) अन्यत्र कहीं नहीं हो सकती, सुकुमारता की
सीमा दमयन्तीका वचन ही है, यह निश्चय कर दिया। दमयन्तीका वचन अत्यन्त मृ

प्रसूनबाणाद्वयवादिनी सा कापि द्विजेनोपनिषत्पिकेन ।
अस्याः किमास्यद्विजराजतो वा नाधीयते भैक्षभुजा तरुभ्यः ॥ ४

नन्वितोऽपि मधुरा कोकिलवाणी, नेत्याह—प्रसूनेति । प्रसूनबाणमेवाद्
द्वितीयं वस्तु तद्वदतीति तत्प्रतिपादिका कापि उपनिषत् पिकवाग्रूपा सा
सकाशात्। भिक्षाणां समूहो भैक्षम् । 'भैक्षं भिक्षा कदम्बकम्' इत्यमरः।
दिभ्योऽण्'। तद्भुजा तद्भोजिना ब्रह्मचारिणो भिक्षाशित्वस्मरणादिति भावः।
पिकाख्येन द्विजेन पक्षिणा विप्रेण च, अस्या भैम्या आस्यमेव द्विजरा
ब्राह्मणोत्तमश्च। ततस्तस्मान्नाधीयते वा किम् ? अधीयत एवेत्यर्थः। अस्या
धिक्योपलम्भादिति भावः। उत्प्रेक्षा ॥ ४८ ॥

(आम आदि) वृक्षोंसे भिक्षा समूहको खानेवाली अर्थात् आममञ्जरीरूप भिक्षा
को खानेवाली पक्षी कोयल इस दमयन्तीके मुखरूपी चन्द्रमासे कामदेव रूप
प्रतिपादन करनेवाली उपनिषद् विद्या अर्थात् तद्रूप दमयन्तीकी मधुवाणीको नहीं
है क्या ? अर्थात् पढ़ती ही है। पक्षा०—वृक्ष (रूप ग्रहाश्रमियोंसे मांगकर) भिक्षा
खानेवाला ब्राह्मण (दमयन्तीके मुखरूप) श्रेष्ठ ब्राह्मणसे (कामदेवरूप) अद्वैत
प्रतिपादन करनेवाली उपनिषद् विद्याको नहीं पढ़ता है क्या ? अर्थात् अवश्य पढ़
[जिस प्रकार ब्रह्मचर्यावस्थामें रहता हुआ एवं गृहाश्रमियोंके यहां मांगकर भिक्षान्नको
हुआ ब्राह्मणश्रेष्ठ ब्राह्मण (आचार्य) के पास जाकर अद्वैत ब्रह्मका प्रतिपादन करने
उपनिषद्को पढ़ता है, उसी प्रकार कोयल भी आमके वृक्षोंसे भिक्षान्नरूपमें प्राप्त म
को खाकर एकमात्र कामका प्रतिपादन करनेवाली विद्या (कामविद्या) को इसके
चन्द्रसे पढ़ती है अर्थात् इस दमयन्तीकी मधुरवाणीको सीखती है। दमयन्तीकी
भी मधुर है] ॥ ४८ ॥

पद्माङ्कसद्मानमवेक्ष्य लक्ष्मीमेकस्य विष्णोः श्रवणात्सपत्नीम् ।
आस्येन्दुमस्या भजते जिताब्जं सरस्वती तद्विजिगीषया किम् ॥ ४

पद्माङ्केति। सरस्वती वाग्देवता एकस्य विष्णोः पत्युरिति शेषः। श्रवणात्

हेतोः। समान एकः पतिर्यस्याः सा सपत्नी। "नित्यं सपत्न्यादिषु" इति कारश्च, एतस्मादेव निर्देशात्समानशब्दस्य सभावः। तां लक्ष्मीं पद्माङ्क- पद्मोत्सङ्गनिकेतनामवेक्ष्य तस्या लक्ष्म्या विजिगीषया जिताब्जं पद्मविजयिन- हास्येन्दुमाननेन्दुं किं भजत इत्युत्प्रेक्षा। दुर्बलोऽपि वैरनिर्यातनार्थी प्रबल- त इति भावः। सरस्वत्या विष्णुपत्नीत्वं पुराणप्रसिद्धम्। तथार्चास्वपि दृश्यते पुरुषोत्तमस्य जगन्नाथस्य पार्श्वे लक्ष्मीसरस्वत्यौ तयोः सुरतवादोपचारश्च ॥४९॥

नतो एक विष्णु भगवान्के आश्रयसे सपत्नी (सौत) लक्ष्मीको कमल-गृहवाली अर्थात् सपत्नी लक्ष्मीके सुन्दर कमलरूप गृहको देखकर उसको जीतनेकी इच्छासे (वा चन्द्रमा) को जीतनेवाले इस दमयन्तीके मुखरूपी चन्द्रको सेवन करती है ॥ [लक्ष्मी तथा सरस्वती दोनों ही विष्णु भगवान् की पत्नी होनेसे वे परस्परमें ती हैं, उनमें लक्ष्मीका निवास स्थान कमल है, अतएव सपत्नी लक्ष्मीके सुन्दर निवा- कमलको देखकर सरस्वतीको स्वभावतः ईर्ष्या हुई कि 'मेरी सपत्नी लक्ष्मीका स्थान सुन्दर कमल है, अतः उससे भी सुन्दर मेरा निवास स्थान होना चाहिए विचार आनेपर, चन्द्रोदय होनेपर कमलके सङ्कुचित होनेसे कमल-विजयी भी विजेता दमयन्ती-मुखचन्द्रका सरस्वती सेवन करने लगी अर्थात् दमयन्तीके निवास करने लगी। अन्य भी कोई स्त्री सपत्नीके ऐश्वर्यपर ईर्ष्या करके उससे ऐश्वर्य पाना चाहती है और उसे प्राप्तकर अधिक प्रसन्न होती है। सरस्वतीका यन्तीके मुखमें सर्वदा रहता है अर्थात् दमयन्ती बड़ी विदुषी नारी है] ॥ ४९ ॥

ण्ठे वसन्ती चतुरा यदस्याः सरस्वती वादयते विपञ्चीम् ।
देव वाग्भूय मुखे मृगाक्ष्याः श्रोतुः श्रुतौ याति सुधारसत्वम् ॥५०॥

इति। मृगाक्ष्या अस्या भैम्याः कण्ठे वसन्ती नित्यसन्निहिता. चतुरा ती विपञ्चीं वीणां यद्वादयते वादयति तद्वादनमेव, स वीणाध्वनिरेवेत्यर्थः। वाग्भूय वाग्भूत्वा। अभूततद्भावे च्विः। "ऊर्यादिच्विडाचश्च" इति गतित्वात् क्त्वो ल्यबादेशः। श्रोतुः श्रुतौ श्रोत्रे सुधारसत्वं याति। व्यञ्जकप्रयोगाद्- क्षा ॥ ५० ॥

दमयन्तीके कण्ठमें निवास करती हुई (वीणावदनमें) चतुर सरस्वती जो नामकी अपनी वीणाको बजाती है, वही (वह वीणावादन ही) मृगलोचनी के मुखमें वचन रूपमें परिणत होकर सुननेवालेके कानमें अमृत रस बन जाता है ॥ दमयन्तीकी वाणी वीणाके समान मधुर एवं सुननेवालोंको मोहित करनेवाली है] ॥५०॥

---

१. तदुक्तं वैजयन्तीकोपे—

"विश्वावसोस्तु महती तुम्बुरोस्तु कलावती ।
महती नारदस्य स्यात्सरस्वत्यास्तु कच्छपी ॥" इति ।

विलोकितास्या मुखमुन्नमय्य किं वेधसेयं सुषमासमाप्तौ ।
धृत्युद्भवा यच्चिबुके चकास्ति निम्ने मनागङ्गुलियन्त्रणेव ॥ ५१ ॥

विलोकितेति । इयं दमयन्ती, सुषमायाः परमशोभानिर्माणस्य समाप्तौ अस्या मुखमुन्नमय्य विलोकिता । अस्या सौष्ठवपरीक्षार्थमवलोकितमुखी किमि त्प्रेक्षा । कुतः ? यद्यस्मात्, मनाङ्निम्ने ईषन्नते चिबुके अधरोष्ठाधःस्थमुखा 'ओष्ठस्याधश्चिबुकम्' इति हलायुधः । धृत्युद्भवा निपीड्यग्रहणसम्भवा, यन्त्रणा मुद्रणेव चकास्ति अङ्गुष्ठपदमिव भातीत्यर्थः । अङ्गुष्ठाग्रं चिबुकाग्रे इतराङ्गुलीभिरधोनिवेशिताभिरुन्नमय्य मुखमपश्यदिवेति भावः ॥ ५१ ॥

अत्युत्कृष्ट शोभाके पूरा होनेपर (अतिश्रेष्ठ शोभासामग्रियोंसे इस दमयन्तीको लेने पर) ब्रह्माने उठाकर दमयन्तीके मुखको देखा है क्या ? (अथवा—……… दमयन्तीके मुखको उठाकर देखा है क्या) ? जो थोड़े गर्तयुक्त अर्थात् कुछ दबे हुए ग्रहण करनेसे उत्पन्न अङ्गुलि (अंगूठेका निपीडन जन्य) चिह्न शोभित हो रहा [जिस प्रकार कोई कारीगर किसी वस्तुको पूरा बना लेनेपर उसे धीरेसे उठाकर देख कि 'यह मेरी रचना सुन्दर हुई या नहीं' और उसमें सरसता अर्थात् तत्कालका होनेसे आर्द्रता रहनेसे बहुत धीरेसे उठाने या छूनेपर भी थोड़ा-सा चिह्न पड़ जाता वहां वह वस्तु कुछ दब जाती है; उसी प्रकार ब्रह्माने भी परमशोभा सामग्रियोंसे दम रचनाकर इसके मुखको धीरेसे उठाकर सुन्दरताका परीक्षण (जांच) किया है, यहीं है कि इसकी ठुड्ढी (मुखका निचला भाग) में थोड़ा-सा गढा हो (दब) गया दमयन्तीका अङ्ग इतना सुकुमार है कि वह एक अङ्गुलिके निपीडन (दबाव) को नहीं सकता, उसमें सदाके लिये चिह्न पड़ जाता है। ठुड्ढीके नीचे मध्य भागमें थोड़ा-सा (दबा) रहना सामुद्रिक शास्त्रमें शुभ लक्षण माना गया है] ॥ ५१ ॥

प्रियामुखीभूय सुखी सुधांशुर्वसत्यसौ[1] राहुभयव्ययेन ।
इमां दधाराधरबिम्बलीलां तस्यैव बालं करचक्रवालम् ॥ ५२ ॥

प्रियेति । असौ सुधांशुः प्रियामुखीभूय भैमीमुखं भूत्वा राहोर्विधुन्तुदात् व्ययेन भयनिवृत्त्या सुखी वसति । तस्य सुधांशोरेव बालं प्रत्यग्रं करचक्र अंशुमण्डलमिमां दृश्यमानां अधरबिम्बलीलां दधार । अधरबिम्बं भूत्वा ति त्युत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ ५२ ॥

यह चन्द्रमा प्रिया (दमयन्ती) का मुख होकर राहुसे निर्भय होनेसे सुखी होकर है, उसी (चन्द्रमा) का बाल (उदयकालीन) किरण समूह अधर-बिम्बकी लीला (पक्षा०—क्रीडा) को धारण कर लिया है। [जिस प्रकार कोई व्यक्ति शत्रुके भयसे अपना रूप बदलकर सुखपूर्वक कहीं निवास करता है, उसी प्रकार किरणरूप परि

---

[1] "वसत्ययं" इति पाठान्तरम् ।

दमयन्तीका मुख होकर यहां राहुसे भय नहीं होनेसे सुख पूर्वक निवास । बालकोंका क्रीडा करना स्वाभाविक होनेसे चन्द्रमाके वाल अर्थात् उदयकालीन सूर भी दमयन्तीके अधरविम्वकी क्रीडा कर रहे हैं । दमयन्तीका मुख चन्द्रके तथा सायंकालीन चन्द्रविम्वके समान है] ॥ ५२ ॥

अस्या मुखस्यास्तु न पूर्णिमास्यं[1] पूर्णस्य जित्वा महिमा हिमांशुम् ।
भ्रूलक्ष्मखण्डं दधदर्धमिन्दुर्भालस्तृतीयः खलु यस्य भागः ॥ ५३ ॥

अस्या इति । पूर्णिमायाः पौर्णमास्या आस्यं मुखीभूतं हिमांशुं जित्वा पूर्णस्य सतः अस्या भैम्या मुखस्य महतो भावो महिमा महत्त्वं नास्तु न स्यात् । स्यादेव जेतुर्महिमेत्यर्थः । किं च यस्य मुखस्य तृतीयो भागः तृतीयांशभूतः, ललाटं भ्रूरेव लक्ष्मखण्डः लाञ्छनैकदेशस्तं दधत् दधानः अर्धमिन्दुरर्धेन्दुः । युक्तमर्धचन्द्रात्पूर्णचन्द्रस्य महत्त्वमिति भावः । अत्र मुखस्य पूर्णेन्दुत्वं र्धचन्द्रत्वं च क्रमात्पूर्णिमास्यं हिमांशुं भ्रूलक्ष्मखण्डमिति च रूपकाभ्यातमुत्प्रेक्ष्यत इति रूपकसङ्कीर्णयोरुत्प्रेक्षयोः परस्परमुपकार्योपकारकभावाभावेन सङ्करः ॥ ५३ ॥

माके मुखरूप (पूर्णिमा–सम्बन्धी) चन्द्रमाको जीत कर इस दमयन्तीके पूर्ण पक्षा०—गोलाकार) मुखकी महिमा नहीं होगी ? अर्थात् अवश्य होगी । भ्रूरूपी के) लाञ्छनके खण्डको धारण करता हुआ, जिस मुखका तृतीयांश (तीसरा भाग) था चन्द्रमा होता है । [दमयन्तीका ललाट उसके मुख का तृतीय भाग (एक हिस्सा) है और वह आधे चन्द्रमाके वरावर होनेसे अधिक है; चन्द्रमामें जो लाञ्छन वड़ा है किन्तु दमयन्ती–मुखमें चन्द्र–लाञ्छनका एक टुकड़ा अर्थात् थोड़ा–सा है. अतः अधिक गुणयुक्त होनेसे दमयन्तीका पूर्ण मुख पूर्णिमाके सम्पूर्ण चन्द्रमाको अवश्य महिमा पानेके योग्य है । जिसका तृतीयांश आधेके वरावर है तथा कलङ्क भी उसकी महिमा होना उचित ही है] ॥ ५३ ॥

धत्त धाता मुखपद्ममस्याः[2] सम्राजमम्भोजकुलेऽखिलेऽपि ।
रोजराजौ सृजतोऽदसीयां नेत्राभिधेयावत एव सेवाम् ॥ ५४ ॥

धत्तेति । धाता अस्या मुखमेव पद्मम् । 'वा पुंसि पद्मम्' इति पुंल्लिङ्गता । मिति विशेषणात् । अखिलेऽप्यम्भोजकुले पद्मजाते विषये सम्राजं राजराजं । अत एव राजराजत्वादेव नेत्राभिधेयौ नेत्रशब्दवाच्यौ सरोजानां राजानौ जौ अमुष्य मुखपद्मस्य सम्बन्धिनीमदसीयां सेवां सृजतः कुरुतः । 'येनेष्टं

---

[1] "पूर्णमास्यं" इति "पौर्णमास्यं" इति च पाठान्तरे ।

[2] "वदनाब्जमस्याः" इति पाठान्तरम् ।

राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः। शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्' इत्यमरः। नेत्राख्यसरोजराजसेव्यत्वेन भैमीमुखपद्मस्य सम्राट्त्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ५४ ॥

ब्रह्माने इस दमयन्तीके मुखकमलको सम्पूर्ण कमल-समूहमें सम्राट् (बादशाह, अधिक शोभनेवाला) बनाया है, इसी कारण नेत्रसंज्ञक दो कमलरूपी राजा इस (यन्तीके मुख) की (शोभा बढ़ाकर) सेवा करते हैं। [सम्राट्के अधीन होनेसे राजा का सम्राट् की सेवा करना नीतिके अनुकूल ही है। दमयन्ती का मुख कमलसे भी धिक सुन्दर है] ॥ ५४ ॥

दिवारजन्यो रविसोमभीते चन्द्राम्बुजे निक्षिपतः स्वलक्ष्मीम्।
अस्या यदास्ये न तदा तयोः श्रीरेकश्रियेदं तु कदा न कान्तम् ॥

दिवेति। चन्द्रश्चाम्बुजं च ते दिवारजन्योर्दिनरात्र्योर्यथासङ्ख्यं रविसो भीते अपहारशङ्किनी सती स्वलक्ष्मीं यदा अस्या भैम्या आस्ये निक्षिपतस्तदा दिवाचन्द्रस्य रात्रावम्बुजस्य च श्रीः शोभा न भवति। इदमस्या आस्यं तु कस्मिन्काले दिवा नक्तं वा एकश्रिया चन्द्राम्बुजयोरन्यतरश्रिया न कान्तम्, तु सर्वदा कान्तमेव। अत्रोक्तयथासङ्ख्यसङ्कीर्णया भैमीमुखे चन्द्राम्बुजलक्ष्मीनि त्प्रेक्षिताभ्यां कादाचित्कशोभाभ्यां मुखस्य अकादाचित्कश्रीकत्वेन व्यतिरेको इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ५५ ॥

दिन और रात्रिसे डरे हुए (क्रमशः) चन्द्रमा तथा कमल अपनी शोभाको दमयन्तीके मुखमें रखते हैं (अथवा अपनी सम्पत्तिको धरोहर रखते हैं), तब उन दोनों अर्थात् दिनमें चन्द्रमाकी तथा रात्रिमें कमल की शोभा नहीं होती है और यह दमयन्ती मुख किस समय (दिन या रात्रिमें उन दोनोंमें से) एक (चन्द्रमा या कमल) की शोभा सुन्दर नहीं रहता? अर्थात् सर्वदैव (चन्द्रमा या कमल की शोभासे) सुन्दर रहता चन्द्रमा की शोभा दिनमें तथा कमलकी शोभा रात्रिमें नहीं होती, किन्तु दमयन्तीके मुख शोभा दिन-रात रहती है; अत एव दमयन्ती का मुख चन्द्रमा तथा कमलसे श्रेष्ठ है। भी किसी बलवान् से डरा हुआ व्यक्ति अपनी सम्पत्तिको किसी विश्वासपात्रके पास रखकर निश्चिन्त हो जाता है। तथा भयकारणके दूर होनेपर धरोहर रखी हुई सम्पत्तिको मांगने आता है तो उसे वापस दे देता है। इस प्रकार दिन से डरा हुआ तथा रात्रिसे डरा हुआ कमल अपनी २ शोभा रूप सम्पत्तिको दमयन्ती-मुखके पास रूपमें रख देते और दिनके व्यतीत होने पर रात्रिमें चन्द्रमा तथा रात्रिके व्यतीत होने दिनमें कमल अपनी २ शोभारूप सम्पत्तिको लेकर शोभित होते हैं। इस कारण चन्द्रमाकी शोभासे तथा रात्रिमें कमलकी शोभासे अर्थात् सर्वदा ही दमयन्ती का शोभित रहता है, अतएव नित्य शोभा सम्पन्न होनेसे चन्द्रमा तथा कमलकी अपेक्षा का मुख अधिक सुन्दर है] ॥ ५५ ॥

अस्या मुखश्रीप्रतिबिम्बमेव जलाच्च तातान्मुकुराच्च मित्रात् ।
भ्यर्थ्य धत्तः खलु पद्मचन्द्रौ विभूषणं याचितकं कदाचित् ॥ ५६ ॥

स्या इति । पद्मचन्द्रौ यथाक्रमं तातज्जनकात् जलाच्च । मित्रादाकारसाम्यात् मुकुराच्च अस्या मुखश्रियः प्रतिबिम्बमेव याचितकं याच्ञानिर्वृत्तम् । 'याच्ञाचितकम्' इत्यमरः । "आप्तमित्ययाचिताभ्यां कक्कनौ" इति कन्प्रत्ययः । कदाचिदभ्यर्थ्य धत्तो दधाते खलु । एतदीयमेव सुहृल्लब्धमनयोर्याचितकमा स्वाभाविकमित्युत्प्रेक्षा ॥ ५६ ॥

और चन्द्रमा (क्रमशः) पिता जल और मित्र दर्पणसे इस दमयन्तीके मुखकी (स्नानादिके समय जलमें तथा शृङ्गारके समय दर्पणमें प्रतिबिम्बित) प्रतिबिम्ब) को याचनाकर याचनामें मिले हुए भूषणको कभी २ (दिनमें कमल तथा न्द्रमा) धारण करते हैं । [कमल जलसे उत्पन्न होता है, अतः जल कमलका पिता न्व कान्तिकी समानता होनेसे दर्पण चन्द्रमाका मित्र है । दमयन्तीके मुखश्री की नादि करते समय जलमें तथा शृङ्गार करते समय दर्पणमें पड़ती है, अतः स्व-न कमल तथा चन्द्रमा क्रमशः पितृस्थानीय जल तथा मित्रस्थानीय दर्पणसे दम-प्रतिबिम्बित मुखश्रीकी छायाको मंगनी मांगकर दिनमें कमल तथा रात्रिमें चन्द्रमा के रूपमें धारण करते हैं तथा मंगनीमें मिले हुए होनेके कारण ही उसे सर्वदा नहीं रहते । लोकमें भी जिसके पास कोई भूषण नहीं रहता, वह पिता और मित्रसे मंगनी कभी २ अपनेको उस भूषण से भूषित करता है, 'सर्वदा धारण करनेपर उस भूषण फिर कभी नहीं देगा' इस भयसे उस भूषणको कभी २ ही धारण करता है, नहीं । जब दमयन्तीकी मुखश्रीकी परछाहींके समान भी कमल तथा चन्द्रमाकी नहीं रहती, तब उसकी साक्षात् मुखश्रीकी समानता वे दोनों कैसे कर सकते कदापि नहीं कर सकते, अतः दमयन्तीकी मुखश्री कमल तथा चन्द्रमासे बहुत है] ॥ ५६ ॥

अर्काय पत्ये खलु तिष्ठमाना भृङ्गैर्मितामक्षिभिरम्बुकेलौ ।
भैमी मुखस्य श्रियमम्बुजिन्यो याचन्ति विस्तारितपद्महस्ताः ॥ ५७ ॥

र्केति । पत्ये भर्त्रे, अर्काय तिष्ठमानाः स्वाभिलाषं प्रकाशयन्त्यः कामुक्यःसत्य । "श्लाघह्नुङ्" इत्यादिना चतुर्थी । "प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च" इत्यात्मनेपदम् । पद्मिन्यः अम्बुकेलौ जलक्रीडाकाले भृङ्गैरेवाक्षिभिर्मितामुपलब्धां मुखस्य शोभां विस्तारिताः प्रसारिताः पद्मा एव हस्ता यासां ताः सत्यो भैमीं खलु । स्वरितेत्वाद्याचेरुभयपदित्वम् । दुहादित्वाद्द्विकर्मकत्वम् । अत्र भैमीमुखश्रीयाच्ञोत्प्रेक्षया मुखस्य पद्माधिक्यव्यतिरेकः प्रतीयते ॥ ५७ ॥

सूर्यके लिये अपने आशयको प्रकाशित करती हुईं कमलिनियां (दमयन्तीकी)

जलक्रीडा (के समय) में भ्रमररूपी नेत्रोंसे देखी या मालूम की हुई दमयन्तीमुखको को कमलरूप (पक्षा०–कमलतुल्य) हाथको फैलाकर (दमयन्तीसे) मांग रही है (…………पसार कर सूर्यसे मांग रही हैं कि—'आप दमयन्तीके मुख की शोभा को दें। पतिसे मांगी हुई वस्तु सरलतासे मिल जाती है, [कमलिनीयों का पति उनके प्रति कामुकी कमलिनियोंने अपने भ्रमररूप नेत्रोंसे जलक्रीडाके समय दमयन्तीके की शोभाको देखकर उसे अत्यन्त सुन्दर होनेसे कमलरूप हाथ फैलाकर दमयन्तीसे करती हैं कि—'हे दमयन्ती ! तुम अपने मुखकी शोभाको मुझे दो, जिसके द्वारा अपने पति सूर्यको प्रसन्न (अपनी ओर आकृष्ट) कर सकें। अन्य भी कोई व्यक्ति अपने सुन्दर वस्तु नहीं रहनेपर दूसरे से मांगकर अपने को भूषित एवं पतिको आकृष्ट करता क्रीडा–समयमें मांगी हुई वस्तु सरलतासे प्राप्त हो जाती है। दमयन्तीकी मुखशोभा नीसमूह से भी अधिक सुन्दर है]॥ ५७ ॥

अस्या मुखेनैव विजित्य नित्यस्पर्धी मिलत्कुङ्कुमरोषभासा।
प्रसह्य चन्द्रः खलु नह्यमानः स्यादेव तिष्ठन् परिवेषपाशः ॥ ५८॥

अस्या इति। नित्यं स्पर्धत इति नित्यस्पर्धी चन्द्रः मिलन्ती व्याप्नुवन्ती मेव रोषभाः क्रोधप्रभा यस्य तेन। अस्या मुखेनैव विजित्य प्रसह्य बलात्कृत्य मानो बध्यमानः तिष्ठन् परिवेष एव पाशो बन्धनप्रग्रहो यस्य स स्यादेवेत्युत्प्रेक्षा।

(उबटन या लेपके समय) लगाये गये कुङ्कुमरूप क्रोधकान्तिवाले दमयन्तीके साथ सर्वदा स्पर्द्धा करनेवाला चन्द्रमा बलात् बांधा जाता हुआ अर्थात् बाँधा गया रूप (चन्द्रमाके चारों ओर दिखलायी पड़ने वाला गोलाकार घेरा) पाश (जाल या युक्त (जालसे बंधा हुआ) रहता ही है। [जिस प्रकार बलवान्‌के साथ स्पर्द्धा करने दुर्बल व्यक्तिको वह बलवान् व्यक्ति क्रोधसे लाल २ मुखकर उसे जीत कर रस्सीमें बांध है और वह बंधा हुआ पड़ा रहता है, उसी प्रकार अधिक शोभावाले दमयन्तीके मुखके स्पर्द्धा करनेवाले चन्द्रमाको उस मुखने परिवेपरूप रस्सोसे बांधकर छोड़ दिया है]॥ ५

विधोर्विधिर्बिम्बशतानि लोपंलोपं कुहूरात्रिषु मासि मासि।
अभङ्गुरश्रीकममुं किमस्या मुखेन्दुमस्थापयदेकशेषम् ॥ ५९ ॥

विधोरिति। विधिर्विधाता विधोश्चन्द्रस्य बिम्बशतानि मासि मासि मासे "पद्दन्" इत्यादिना मासशब्दस्य मासित्ययमादेशः। कुहूरात्रिषु नष्टचन्द्रा लोपं लोपं लुप्त्वा लुप्त्वा आभीक्ष्ण्ये "णमुल् च" इति णमुल्प्रत्ययः। आभी द्वे भवत इति वक्तव्यम्। "आभीक्ष्ण्यं पौनः पुन्यम्" इति काशिका। अभङ्गु श्रीकमनश्वरशोभं, "शेषाद्विभाषा" इति कप्। अमुमस्या मुखेन्दुम्। एकशेषमे शिष्यमाणमस्थापयत् स्थापितवान्। किमित्युत्प्रेक्षा। व्याकरणे सरूपाणामेक वदिति भावः ॥ ५९ ॥

चन्द्रमाके सैकड़ों बिम्बोंको (क्षयशील कान्ति होने से) प्रत्येक महीनेके कुहू (चन्द्रकला बिल्कुल ही नहीं दिखलायी पड़े वह अमावस्या) की रात्रियोंमें बार बार नष्टकर स्थिर एक बचे हुये इस दमयन्तीके मुखचन्द्रको रचा है क्या?। [लोकमें भी कोई शिल्पी कान्तिवाली निकृष्ट वस्तुओंको नष्टकर स्थिर कान्तिवाली केवल एक वस्तुको ही रख । 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (पा० सू० १।२।६४) से भी समान रूपवाले अनेक (लोप) होकर एक ही शेष रह जाता है और उसीसे उन लुप्तका भी कार्य सम्पन्न उसी प्रकार अविनाशशील कान्तिवाले दमयन्तीके मुखसे ही आकाशस्थ अन्य भी कार्य सम्पन्न होता है । प्रत्येक मासमें क्षयशीलकान्तिवाले आकाशस्थ चन्द्र नित्य स्थिर कान्तिवाला दमयन्तीका मुखचन्द्र ही श्रेष्ठ है] ॥ ५९ ॥

पोलपत्रान्मकरात्सकेतुर्भ्रूभ्याञ्जिगीषुर्धनुषा जगन्ति ।
ह्यावलम्ब्यास्ति रतिं मनोभू रज्यद्द्वयस्यो मधुनाधरेण ॥ ६० ॥

लेति । मनोभूः कपोलपत्रात् पत्रभङ्गादेव मकराद्धेतोः सकेतुः केतुमान् इत्यर्थः । भ्रूभ्यामेव धनुषा जगन्ति जिगीषुः जेतुमिच्छुः अधरेणैव मधुना वसन्तेन च रज्यद्वयस्योऽनुरक्तसखः इहास्यां रतिं प्रीतिं स्वदेवीं चावल। जगज्जिगीषोः कामस्य सर्वापि साधनसम्पत्तिरस्यामेवास्तीत्यर्थः । अत्र दावारोप्यमाणस्य केत्वादेस्तादात्म्येन प्रकृतजगज्जयोपयोगित्वात् परिणामा। 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम' इति लक्षणात् ॥ ६० ॥

(स दमयन्तीके) कपोलमें बनी हुई पत्र रचना रूप मकरसे पताकासहित तथा) दोनों भ्रूरूप धनुषसे संसार का विजयाभिलाषी कामदेव मधुतुल्य (मधुर) अधरोष्ठसे प्रीतियुक्त (पक्षा०–अधरोष्ठरूप मधु अर्थात् वसन्तसे अनुरक्त) होते वाला कामदेव रति (अनुराग, पक्षा०–अपनी प्रिया) को लेकर इस दमयन्तीके है । [दमयन्तीका मुख कामदेवके जगद्विजय-सम्बन्धी सब सामग्रियोंसे पूर्ण है, मयन्तीके कपोलमें चन्दनादिसे बनायी हुई रचनामें मकर कामदेवकी पताका है, भ्रूयुगल कामदेवका धनुष है तथा मधुर और रक्तवर्ण अधर ही कामदेवका वसन्त नामक मित्र है; अत एव इस दमयन्ती-मुखमें ही अनुराग (पक्षा०–रति अपनी स्त्री) को साथ लेकर कामदेव जगतका विजयी हो रहा है अर्थात् कामदेवके द्विजयके साधन मकरयुक्त पताका, धनुष, मित्र वसन्त ऋतु और रति–ये सब न एक दमयन्तीके मुखमें उपलब्ध हो रहे हैं ।] ॥ ६० ॥

वियोगबाष्पाञ्चितनेत्रपद्मच्छद्मान्वितोत्सर्गपयःप्रसूनौ ।
कर्णौ किमस्या रतितत्पतिभ्यां निवेद्यपूपौ विधिशिल्पमीदृक् ॥ ६१ ॥

वियोगेति । ईदृगपूर्वं विधिशिल्पं ब्रह्मनिर्माणमस्याः कर्णौ वियोगेन हेतुना ञ्चितयोरश्रुयुक्तयोः नेत्रपद्मयोः । छद्मेत्यपह्नवभेदः । तेन छद्मनान्विते मिलिते

उत्सर्गपयःप्रसूने दानोदकमिश्रकुसुमे ययोस्तौ रतितत्पतिभ्यां सम्प्रदाने चतु निवेद्यावर्पणीयौ पूपावपूपौ किम् । 'पूपोऽपूपः पिष्टकः स्यात्' इत्यम नैवेद्यसमर्पणेन पुष्पाञ्जलिमुत्सृजन्ती साश्रुनेत्रयोगात्तत्कर्णयोस्ताद्दक्पुष्पयुक्तनि रनैवेद्यापूपत्वोत्प्रेक्षया सापह्नवया कर्णान्तविश्रान्तलोचनत्वं वस्तु व्यज्यते ॥ ६१॥

विरहजन्य आँसूसे पूजित (या शोभित) नेत्ररूप पद्मके बहानेसे दिये गये जल पुष्पसहित, दमयन्ती के कान कामदेव तथा रति (रूप देवद्वय) के लिये समर्पण अर्थात् चढ़ाने योग्य दो मालपूआ रूप हैं, ऐसा ब्रह्माने बनाया है क्या ? । [किसी देव प्रसन्न करनेके लिये मालपूआ नैवेद्यरूपमें चढ़ाया जाता है, उसके साथ पूजनमें तथा पुष्पका होना भी आवश्यक है । यहां पर ब्रह्माने इन दोनों कानोंको कामदेव रतिरूप देवद्वयके लिये समर्पण करने योग्य नैवेद्यस्थानीय दो मालपूए बनाये हैं, उसके साथ जलस्थानीय विरहजन्य आँसू तथा पुष्पस्थानीय नेत्रकमल हैं, इस कामदेव-दम्पतीको पूजनद्वारा प्रसन्न करनेके लिये सब पूजनद्रव्योंको ब्रह्माने किया है । दमयन्तीके कानोंको देखकर कामवृद्धि होती है] ॥ ६१ ॥

इहाविशद्येन पथातिवक्रः शास्त्रौघनिष्यन्द[१]सुधाप्रवाहः ।
सोऽस्याः श्रवः पत्रयुगे प्रणाली रेखेव धावत्यभिकर्णकूपम् ॥ ६२॥

इहेति । अतिवक्रः शास्त्राणामोघः समूहस्तस्य निष्यन्दः सारः स एव सुध वाहो येन पथा वर्त्मना यया प्रणाल्या इहास्यां भैम्यामविशत् प्रविष्टः, श्रवसी पत्रे दले इव श्रवःपत्रे तयोर्युगे युग्मे या रेखा सा वक्रप्रणाली सुधाप्र हपदवीव । 'द्वयोः प्रणाली पयसः पदव्याम्' इत्यमरः । अभिकर्णकूपं धावति रन्ध्रमभिगच्छति । यथा कुतश्चिन्निःसृतं जलं वक्रगत्या कयाचित्प्रणाल्या कञ्चि न्प्रदेशं गच्छति तद्वदिति भावः । अत्र कर्णस्य रेखायां सुधाप्रणालीत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥

अत्यन्त टेढ़ा (व्यङ्गयादिजन्य क्लिष्टता होनेसे दुर्बोध, पक्षा०—टेढ़ा बहनेवाला) समूहके सारभूत अमृत (पाठा०—रस) का प्रवाह जिस मार्गसे इस (दमयन्तीके में प्रवेश किया, वह इस दमयन्तीके कर्णद्वयमें रेखारूपी प्रणाली (उक्त सुधा प्रवाहका रूप मार्ग) कानोंके छिद्ररूप कूपमें अर्थात् कानोंके छिद्रमें जा रही है [जैसे सीधी टेढ़ी नाली अर्थात् जलमार्ग रहता है, वैसे ही जलादि द्रव पदार्थोंका प्रवाह भी होता अथवा जिस २ मार्गसे जलादि द्रव पदार्थ बहते हैं वैसी ही टेढ़ी या सीधी नाली (मार्ग) भी बन जाती है, उसी मार्गसे बहता हुआ जल कूएँ आदि निम्न स्थानोंमें प्रविष्ट जाता है । दमयन्तीके कानोंमें जो टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएं दीख रही हैं, वे रेखाएं नहीं, शास्त्रसमूहके सारभूत अमृतप्रवाहके कानके छिद्रोंमें प्रवेश करनेके मार्ग हैं । दमयन्तीके टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओंसे युक्त हैं तथा दमयन्ती सब शास्त्रोंके तत्त्वको जाननेवाली विदुषी है।]

---

१. "रसप्रवाहः" इति पाठान्तरम् ।

अस्या यदष्टादश संविभज्य विद्याः श्रुती दध्रतुरर्धमर्धम् ।
कर्णान्तरुत्कीर्णगभीरलेखः किं तस्य संख्यैव न वा नवाङ्कः ॥ ६३ ॥

अस्या इति । अस्याः श्रुती कर्णौ अष्टादश विद्याः वेदवेदाङ्गादिकानि वेद्यस्था- संविभज्य द्विधाकृत्य यदर्धमर्धं दध्रतुः बिभ्रतुः । कर्णस्यान्तर्गर्भे उत्कीर्ण उत्पा- म्भीरो दूरगतो लेखोऽवयवविन्यासः तस्यार्धस्य सङ्ख्यैव मूर्ता नवसङ्ख्यैव । यद्वा नवानामङ्को नवाङ्को नवसङ्ख्याचिह्नं वा न भवति किम् । भवत्येवे- उत्प्रेक्षा ॥ ६३ ॥

दमयन्तीके दोनों कानोंने अठारह (विद्याओंको) दो भागोंमें बांटकर आधा २ अर्थात् नव २ विद्याओंको प्रत्येक कानने ग्रहण किया; कानके भीतर लिखे गम्भीर (दृढतम–अमिट) लेखवाला उस (अठारह विद्याओंके आधे भाग) का नव संख्या (अथवा–आश्चर्यजनक नया चिह्न रूप संख्या) ही नहीं है क्या ? । [चार ऋक्, साम, यजुः और अथर्व), छः वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, और छन्द), मीमांसा, न्याय, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्वविद्या, अर्थशास्त्र, पुराण शास्त्र–ये अठारह विद्याएं हैं । दमयन्तीके दोनों कानोंने उन अठारह विद्याओंको भागोंमें बाँट कर नव–नव विद्याओंको प्रत्येक ने ग्रहण किया, वही नव की संख्या उसके कानोंके भीतरमें लिख दी है । अन्य भी कोई शिल्पी किसी बातको चिरस्थायी लिये शिला आदि पर उसे गम्भीर (अमिट या चिरस्थायी) वर्णोंमें अङ्कित कर देता देता) है । दमयन्तीके कानोंमें नव नव संख्याके समान रेखा है, जो सामुद्रिक अनुसार शुभसूचक लक्षण है ।] ॥ ६३ ॥

मन्येऽमुना कर्णलतामयेन पाशद्वयेन च्छिदुरेतरेण ।
एकाकिपाशं वरुणं विजिग्येऽनङ्गीकृताऽऽयाससती रतीशः ॥ ६४ ॥

मन्य इति । रतीशो रतिपतिः अमुना कर्णलतामयेन कर्णपाशरूपेण च्छिदुरा- च्छिदुरेतरेणाभङ्गुरेण । "विदिभिदिच्छिदेः कुरच्" इति कर्मकर्तरि कुरच् । द्वयेन पाशायुधयुग्मेन । 'पाशो बन्धनशस्त्रयोः' इत्यमरः । एकाकी अद्वितीयः यस्य तमेकाकिपाशम् । वरुणमनङ्गीकृता परिहृता, आयासततिः प्रयासपर- येन सोऽनायासः सन् विजिग्ये जिगाय । मन्य इत्युत्प्रेक्षायाम् । "विपराभ्यां इत्यात्मनेपदम् । अधिकसाधनेनाल्पसाधनः सुजय इति भावः ॥ ६४ ॥

कामदेवने (दमयन्तीके) कर्णलतारूप इन दो दृढ पाशों (पाश नामक शस्त्रों) से पाशवाले वरुणको अनायास ही जीत लिया है, ऐसा मैं मानता हूँ । [कामदेवने दमय- कर्णपाशद्वयको अपना अस्त्र बनाकर एक पाशवाले वरुणको जीत लिया है; अतः पराजित होकर दमयन्तीको पानेकी आशासे उसके स्वयम्वरमें आयेगा, इस भविष्य

कथांशकी सूचना इस पद्यके द्वारा मिलती है। दो शस्त्रोंवाले योद्धाद्वारा एक शस्त्रवाले यो
का अनायास पराजित होना स्वाभाविक ही है ।] ॥ ६४ ॥

आत्मैव तातस्य चतुर्भुजस्य जातश्चतुर्दो[1]रुचिरः स्मरोऽपि।
तच्चापयोः कर्णलते भ्रुवोर्ज्ये वंशत्वगंशौ [2]चिपिटे किमस्याः ॥ ६५ ॥

आत्मेति। चतुर्भुजस्य चतुर्बाहोः तातस्य स्वजनकस्य विष्णोरात्मा स्वरूपे जातः। "आत्मा वै पुत्रनामासि" इति श्रुतेः। स्मरोऽपि चतुर्दोर्भिः चतुर्बाहु रुचिरः तस्य चतुर्बाहोः स्मरस्य चापयोरस्या भ्रुवोः अस्या एव कर्णौ लतेव वंश त्वक्सारस्य त्वगंशौ त्वग्भागमयौ चिपिटे अनते ऋजू इत्यर्थः। "इनच्पिटच्चिकचि च" इति नेः पिटच्-प्रत्यये नेश्चिरादेशः। नासान्तवाचिना तत्त्वमात्रं लक्ष्यते। मौर्व्यौ किम्। 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः। अत्र स्मरस्य चतुर्भुजत्वं त भैमीभ्रुवोस्तच्चापयुगत्वं तत्कर्णयोरेव ज्यात्वं च उत्प्रेक्ष्यते ॥ ६५ ॥

चार भुजाओंवाले पिता (श्रीकृष्ण भगवान्) का आत्मारूप उत्पन्न हुआ कामदेव चार भुजाओंवाला रुचिकर (पाठा०-उचित ही) हुआ है, (अथवा-कामदेवका चतु होना उचित है, (क्योंकि वह) चतुर्भुज पिता (श्रीकृष्ण भगवान्) का स्वरूप है उस चतुर्भुज कामदेवके (दमयन्तीका) भ्रूरूप दो धनुषोंकी, (दमयन्तीके) कर्णलता बांसके त्वक् (ऊपरी) भाग दो प्रत्यञ्चाएं हैं क्या ?। [कामदेवके पिता कृष्ण भगव चतुर्भुज हैं, अत एव "आत्मा वै पुत्रनामासि" इस वेदवाक्यके अनुसार कामदेव भी चतु उत्पन्न हुआ है, यह ठीक ही है। चतुर्भुज कामदेवके दो धनुष दमयन्तीके दोनों भ्रू हैं उनको प्रत्यञ्चा (डोरी) दमयन्तीके दोनों कर्णलताएं हैं। विना चढ़ाये हुए धनुषकी प्रत्य धनुषके कोणमें रहती है. और दोनों कर्णलताएं भी भ्रूद्वयरूप धनुषके कोणमें हैं।]॥६

/ ग्रीवाद्भुतैवावटुशोभितापि प्रसाधिता माणवकेन सेयम्।
आलिङ्ग्यतामप्यवलम्बमाना [3]सरूपताभागखिलोर्ध्वका या ॥ ६६ ॥

ग्रीवेति। या ग्रीवा वटुना माणवकेन शोभिता अलंकृता न भवतीत्यवटुशो भिता। तथापि माणवकेन वटुना प्रसाधितेति विरोधः। 'अपिर्विरोधे'। अवटुशोभि कृकाटिकालंकृता। 'अवटुर्घाटा कृकाटिका' इत्यमरः। माणवकेन विंशतिसरेण मुक्ता हारेण प्रसाधितेति विरोधः। 'विंशतिसरो माणवकोऽल्पत्वात्' इति क्षीरस्वामी। 'भवेन्माणवको हारभेदे बाले कुपूरुषे' इत्यभिधेयः। किञ्च, आलिङ्ग्यतामालिङ्गनीय त्वमवलम्बमानाप्याश्रयन्त्यपि सरूपताभाक् सारूप्ययोगी अखिलोऽन्यून ऊर्ध्व आलिङ्ग्यत्वम् इति भावप्रधानो निर्देशः। यस्या सा। 'अङ्क्यालिङ्ग्योर्ध्वकास्त्व

---

१. "—रुचितः" इति पाठान्तरम्।
२. " चिपिटौ" इति पाठान्तरम्।
३. "सुरूपता…'काया" इति पाठान्तरम्।

'हरीतक्याकृतिस्त्वङ्क्यो यवमध्यस्तथोर्ध्वकः । आलिङ्ग्यश्चैव गोपुच्छा मध्य-
मया ॥' इति च । आलिङ्ग्योऽप्यूर्ध्वक इति विरोधः । आलिङ्ग्यतामालि-
पूर्ध्वक ऊर्ध्वभाग इत्यविरोधः । सेयं ग्रीवाद्भुतैवोक्तविरोधादुक्तलक्षणयो
ति भावः । अत्र विरोधाभासयोः संसर्गात् सजातीयसंसृष्टिः ॥ ६६ ॥

दमयन्तीकी) ग्रीवा अर्थात् गर्दन अद्भुत ही है, जो बालकसे शोभित नहीं
माणवक (बालक) से प्रसाधित अर्थात् सुशोभित है, यह विरोध है; इसका
प्रकार है कि—जो गर्दन अवटु अर्थात् गर्दनको घाँटी या गर्दनके पिछले भाग
होनेपर भी माणवक अर्थात् बीस (या सोलह या चालिस) लड़ियोंवाली मोती की
है और आलिङ्ग्यता (गोपुच्छाकार मृदङ्ग भाव) को धारण करती हुई
को धारण करती है तथा सम्पूर्ण ऊर्ध्वक (यवमध्याकार मृदङ्ग) वाली है (यहाँ
है, क्योंकि) जो गोपुच्छाकार अर्थात् गावदुम है, वह समान रूपवाली तथा यवम-
(मध्यमें स्थूल और दोनों किनारों पर पतली), इस प्रकार तीन आकृतिवाली नहीं
), इस विरोधका भी परिहार इस प्रकार है कि—जो गर्दन आलिङ्गन योग्यताको
हुई भी समान रूपवाले अर्थात् सब भागोंमें बराबर ऊपरी भाग ('काया'
—ऊपरी शरीर मुख नेत्र नासिका ललाट आदि) वाली है। ('सुरूपता' पाठा०—
सम्पूर्ण ऊपरी भागवाली है। अथवा—'—मानाऽसुरूपता—' पाठमें—अकारका
अत्यन्त प्रिय होनेके कारण प्राणरूपताको धारण करनेवाला सम्पूर्ण ऊपरी
पाठभेदसे शरीर) वाली है) ॥ ६६ ॥

कवित्वगानप्रियवादसत्यान्यस्या विधाता न्यधिताधिकण्ठे ।
रेखात्रयन्यासमिषादमीषां वासाय सोऽयं विबभाज सीमाः ॥ ६७ ॥

वेति । विधाता अस्या अधिकण्ठं कण्ठे । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । कवित्वं
च प्रियवादश्च सत्यं च तानि चत्वारि न्यधित निहितवान् । सोऽयं विधाता
कवित्वादीनां चतुर्णां वासाय कण्ठे असङ्कीर्णस्थितये रेखात्रयन्यासमिषात्
त्रिरेखा सती लक्ष्मसम्पत्तिरिति भावः । सीमा मर्यादा विबभाज मध्य-
विन्यासेन चतुर्धा विभक्तवान्, अविवादायेति भावः । अत्र ग्रीवागतभाग्य-
सीमाविभागचिह्नत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ६७ ॥

ने इस दमयन्तीके कण्ठमें कविता, सङ्गीत, मधुर भाषा और सत्यको रख दिया है,
उसने इन चारों (कविता आदि) के निवास (अपने-अपने मर्यादित नियमित)
रहनेके लिये तीन रेखाओंको रखनेके बहानेसे सीमाओंका विभाजन कर दिया
प्रकार एक स्थानपर चार व्यक्तियोंके रहनेपर उनके रहनेके स्थानकी सीमा
वे परस्परमें कभी विवाद नहीं करते और अपने-अपने नियमित स्थानमें रहते
प्रकार दमयन्तीके कण्ठमें कविता आदिको रखकर ब्रह्माने उनके अपने-अपने नियत
(पक्षा०—मर्यादापर) रहनेके लिये तीन रेखाओंके बहाने सीमा बना दी है।

तीन रेखा करनेपर स्थानके चार भाग हो जाते हैं। दमयन्ती कविता सङ्गीत आदि पण्डिता तथा कण्ठमें तीन रेखा होने से कम्बुकण्ठी (शङ्खके समान कण्ठवाली–अतएव लक्षणयुक्त) है] ॥ ६७ ॥

बाहू प्रियाया जयतां मृणालं द्वन्द्वे जयो नाम न विस्मयोऽस्मिन्।
उच्चैस्तु तच्चित्रममुष्य भग्नस्यालोक्यते निर्व्यथनं यदन्तः ॥ ६८ ॥

बाहू इति। प्रियाया बाहू मृणालं जयतां नाम। जयतेर्लोटि तसस्तामादे अस्मिन् द्वन्द्वे युग्मे कलहे च। 'द्वन्द्वं कलहयुग्मयोः' इत्यमरः। जयो नाम विस्म द्भुतो न, किंतु भग्नस्य जितस्यामुष्य मृणालस्य अन्तर्गर्भे अन्तःकरणे च व्यथनस्य भावो निर्व्यथनमव्यथं छिद्रं च 'छिद्रं निर्व्यथनं रोकम्' इत्यमरः। अर्थाभावे अ यीभावः। यद्विलोक्यते तदुच्चैर्महच्चित्रं भग्नोऽप्यव्यथ इति विरोधात्। छिद्रं वि क्यत इत्यविरोधः। मृणालस्यान्तश्छिद्रत्वात्। विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ६८॥

प्रिया (दमयन्ती) के दोनों बाहु कमलनालको जीत लें, इस द्वन्द्व (बाहुओं, पक्षा- युद्ध) में विजय होना आश्चर्य नहीं है; किन्तु यह बड़ा आश्चर्य है कि भग्न हुए (प्रि बाहुद्वयसे पराजित हुए, पक्षा०–तोड़े गये) इस (कमलनाल) का हृदय (पक्षा०–भी भाग) व्यथारहित (पक्षा०–छिद्रयुक्त) देखा जाता है। [दमयन्तीके दो बाहु एक क नालको जीत लें, इसमें आश्चर्य नहीं, क्योंकि दोसे एकका पराजित होना स्वाभावि है. अथवा–दमयन्तीके दो बाहु युद्धमें कमलनालको जीत लें, इसमें आश्चर्य नहीं, क्यों युद्धमें एक पक्षका पराजित होना स्वाभाविक ही है। किन्तु पराजित व्यक्तिका हृ व्यथित हो जाता है, पर कमलनालका हृदय व्यथित अर्थात् व्यथायुक्त नहीं दिखलाई प यह बड़ा आश्चर्य है (यहां विरोधालङ्कार है, उसका परिहार यह है कि तोड़े हुए कम नालका भीतरी भाग छिद्रयुक्त दिखलायी पड़ता है। दमयन्तीके बाहु कमलनालसे सुन्दर हैं] ॥ ६८ ॥

अजीयतावर्तशुभंयुनाभ्यां दोर्भ्यां मृणालं किमु कोमलाभ्याम्।
निस्सूत्रमास्ते घनपङ्कमृत्सु मूर्तासु नाकीर्तिषु तन्निमग्नम् ॥ ६९ ॥

अजीयतेति। आवर्तोऽम्भसां भ्रमः स इव शुभंयुः शुभवति नाभिर्यस्याः सा तस्या भैम्याः। 'शुभंयुस्तु शुभान्वितः' इत्यमरः। "अहंशुभयोर्युस्' इति शु मिति मकारान्ताव्ययान्मत्वर्थीयो युस्प्रत्ययः। कोमलाभ्यां मृदुभ्यां दोर्भ्यां भुजाभ्यां मृणालमजीयत किमु मार्दवगुणेन जितं किमित्युत्प्रेक्षा। कुतः, घनासु सान्द्रा पङ्करूपासु मृत्स्वेव मूर्तासु मूर्तिमतीष्वकीर्त्तिषु तन्मृणालं निमग्नं निस्सूत्रं निर्व्य निर्मर्यादं नास्ते किं काकुः। अपराजितत्वे कथमकीर्तिपङ्कपात इति भावः ॥ ६९ ॥

आवर्त (पानीका भौंर) के समान शुभलक्षणयुक्त नाभिवाली (दमयन्ती) के को दोनों बाहुओंने कमलनालको जीत लिया है क्या ? (क्योंकि) वह (कमलनाल) सूत्र

विना, पक्षा०—निरवधि या निरुपाय होकर) गाढ़ी कीचड़रूप मिट्टीवाले साकार
हुआ या फँसा हुआ नहीं है ? अर्थात् फँसा हुआ है ही । [वहुत कोमल कमलनालके
(धागा) नहीं होता है । जैसे पराजित व्यक्ति अपकीर्तिमें फँसा हुआ निरुपाय
है, उसी प्रकार दमयन्तीके वाहुओंसे पराजित कमलनाल गाढ़े कीचड़रूप साकार
फँसा हुआ निरुपाय हो रहा है । कीर्तिका स्वरूप श्वेत तथा अपकीर्तिका काला
, अतएव यहां कृष्णवर्ण कीचड़के साकार अपकीर्ति कहा गया है । दमयन्तीके वाहु
मृणाल (कमलनाल) से भी अधिक कोमल हैं] ॥ ६९ ॥

ज्यन्नखस्याङ्गुलिपञ्चकस्य मिषादसौ हैङ्गुलपद्मतूणे ।
मैकपुङ्खास्ति विशुद्धपर्वा प्रियाकरे पञ्चशरी स्मरस्य ॥ ७० ॥

दिति । रज्यन्तः स्वभावरक्ताः नखा यस्य तस्य । "कुपिरजोः प्राचां श्यन्
दं च" । अङ्गुलिपञ्चकस्य मिषात् असौ पुरोवर्तिनी हैमाः सौवर्णाः एके केवला
रागा पुङ्खाः कर्तर्याख्या मूलप्रदेशा यस्याः सा । 'कर्तरी पुङ्खः' इति यादवः ।
पर्वा निर्व्रणग्रन्थिः सरलग्रन्थिरित्यर्थः । स्मरस्य पञ्चशरी शरपञ्चकम् । समा-
ङीप् । प्रियाकरे भैमीपाणावेव हिङ्गुलेन रक्तं हैङ्गुलं तस्मिन्नेव पद्मतूणे
र्तते इत्युत्प्रेक्षा ॥ ७० ॥

नखवाली पांच अङ्गुलियोंके बहानेसे स्वर्णमय पंखवाली विशुद्ध (छिद्रादि दोष
पक्षा०—सीधी) पर्वों (गाठों, पक्षा०—अङ्गुलिके पोरों) वाली कामदेव की यह पञ्चवा-
(पांच वाण) प्रियाके हाथ (रूप) हिङ्गुलसे रंगे हुए कमलरूप तरकसमें स्थित हैं ।
देवके वाण पुष्पमय हैं, अतः तरकस भी पुष्पमय है, वह पुष्प रक्त कमल है, वर-
को हिङ्गुलसे रंगा जाता है, प्रियाका हाथ ही कामबाणोंको रखनेका तरकस है,
नख वाणोंके पंख हैं और पांच अङ्गुलियां कामदेवके पांच वाण हैं । दमयन्तीका
नोत्पादक तथा हिङ्गुलसे रंगे हुए के समान अत्यन्त रक्त वर्णवाला है] ॥ ७० ॥

अस्याः करस्पर्शनगर्धिऋद्धिर्बालत्वमापत् खलु पल्लवो यः ।
भूयोऽपि नामाधरसाम्यगर्वं कुर्वन् कथं वाऽस्तु स न प्रवालः ॥ ७१ ॥

स्या इति । यः पल्लवः किसलयः अस्याः करेण स्पर्शनं गृध्नातीति तद्गर्धनी
द्धिर्यस्य स कृतस्पर्धः सन्नित्यर्थः । "ऋत्यकः" इति प्रकृतिभावः । वालत्वं
प्रत्यग्रत्वं मूर्खत्वं चापत् खलु । 'मूर्खेऽर्भकेऽपि वालः स्यात्' इत्यमरः ।
धिकस्पर्धी मूर्खो भवतीति भावः । भूयोऽपि नाम पुनरपि किल मूर्खत्वं
त्यर्थः । अधरसाम्येन गर्वं कुर्वन् अधरसाम्याभिमानं कुर्वन् स पल्लवः प्रवालः
वाच्यः बवयोरभेदात् प्रकर्षेण वालश्च कथं वा नास्तु न स्यात् ?
त्यर्थः । अल्पोऽधिकतरस्पर्धी त्वतिमूर्ख इति भावः । अधिकतरश्च कराद्-
सर्वस्वत्वात् । तथा चाधरसाम्यं तावदास्ताम् । पल्लवस्य करसाम्यपि दूरा-
त्यर्थः । ततश्च प्रवालशब्दस्य पल्लवप्रवृत्तिनिमित्तमप्येतदेवेति भावः ॥ ७१ ॥

इस दमयन्तीके हाथको छूने (समानता करने) के महालोभी पल्लवने निश्चय ही (बचपन अर्थात् नवीनता) को प्राप्त किया (क्यों कि लाल वर्ण होनेसे नवीन हाथकी समानता कर सकता है । अथवा—बालत्व अर्थात् मूर्खताको प्राप्त किया (गया), क्योंकि जो पल्लव (पद्+लव=पल्लव) अर्थात् दमयन्तीके पैरके लेश (क्षुद्रतम के बरावर है, वह (दमयन्तीके पैरके क्षुद्रतम भागके समान वस्तु) उसके हाथकी करके मूर्ख ही कहलायेगी । और फिर (दमयन्तीके) अधर की समानता का करने वाला वह पल्लव प्रवाल (अत्यधिक नवीन अर्थात् अतिशय लाल वर्णवाला) लिये अत्यन्त नया क्यों नहीं होगा । (क्योंकि अतिशय नवीनत्व (नया होकर) बहुत प्राप्त किये विना वह अधर की समानता नहीं कर सकता है) अथवा—दमयन्तीके समानता का अभिमानी वह पल्लव प्रवाल (प्र+वाल=प्रवाल) अर्थात् अधिक मूर्ख नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा । [जो पल्लव (दमयन्तीके पैरके क्षुद्रतम भागके होनेसे) पहले हाथकी समानता करके मूर्ख बन चुका है, वही पल्लव फिर हाथसे भी रकी समानता करने का अभिमान (इच्छा मात्र ही नहीं, किन्तु अभिमान भी) महामूर्ख क्यों नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा । लोकमें भी हीनतम व्यक्ति मध्यम की समानता करने की इच्छा करने पर मूर्ख तथा अत्युत्तम व्यक्तिकी समान होने का मान करनेपर महामूर्ख समझा जाता है । दमयन्तीके हाथ ही पल्लवसे अधिक सुन्दर रक्त वर्ण हैं तो फिर अधर का क्या कहना है ? अर्थात् वह तो पल्लवसे अधिक सुन्दर एवं वर्ण है ही] ॥ ७१ ॥

अस्यैव सर्गाय भवत्करस्य सरोजसृष्टिर्मम हस्तलेखः ।
इत्याह धाता हरिणेक्षणायां किं हस्तलेखीकृतया तयास्याम् ॥ ७२॥

अस्येति । अस्य भवत्करस्य भवत्याः पाणेः सर्गायैव सरोजसृष्टिः मम हस्त रेखाभ्यास इति विधाता अस्यां हरिणेक्षणायां भैम्यां हस्तलेखीकृतया अभ्यासी हस्तकृतपद्मरेखीकृतया च तया सरोजसृष्ट्या करणेनाह किम् ? भैम्यै कथं किमित्युत्प्रेक्षा ॥ ७२ ॥

“इस तुम्हारे हाथके बनानेके लिये ही कमलकी रचना मेरा हस्तलेख अर्थात् रेखाभ्यास है” इस प्रकार ब्रह्मा मृगनयनी इस दमयन्तीमें हाथमें रेखा की गयी (या लिखी गयी) उस कमल-रचना द्वारा कहते हैं क्या ? । [दमयन्तीके हाथमें कमला रेखा (चिह्न) है, अतः मालूम पड़ता है कि ब्रह्मा इस दमयन्तीके हाथमें कमलरेखा ‘हमने तुम्हारे हाथकी रचना करनेके लिये ही अभ्यासार्थ रेखारूपसे हाथमें अङ्कित सृष्टि की है’ यह कह रहे हैं । दूसरा कोई भी शिल्पी उत्तम वस्तु बनानेके पहले रेखा बनाकर अभ्यास कर लेता है । दमयन्तीके हाथ कमलसे भी सुन्दर तथा कमल होनेसे शुभ लक्षण सम्पन्न हैं] ॥ ७२ ॥

किं नर्मदाया मम सेयमस्या दृश्याऽभितो बाहुलता मृणाली ।
कुचौ किमुत्तस्थतुरन्तरीये स्मरोष्मशुष्यत्तरबाल्यवारः ॥ ७३ ॥

किमिति । स्मरोष्मणा स्मरसन्तापेन शुष्यत्तरमतिशुष्यत् । बाल्यमेव वाः वारि लत्या भैम्या एव नर्मदायाः क्रीडाप्रदायाः रेवायाश्च सम्बन्धिनी । 'रेवा तु इत्यमरः । अभित उभयतो दृश्या सेयं बाहुलता मृणाली बिसलता किम् ? नर्मदाया विधेयप्राधान्यात् मृणाल्याः साक्षात् सम्बन्धात् "अभितः परितः" इवा द्वितीया नास्ति । कुचावेवान्तरीये अपामन्तस्तटे 'द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं वारिणस्तटम्' इत्यमरः । "सुप्सुपा" इति समासः । "ऋक्-पूः" इत्यादिना न्तोऽकारः । "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्" उत्तस्थतुरुत्थितौ किम् ? ऊर्ध्वकर्म- परस्मैपदं रूपकोज्जीविता उत्प्रेक्षा ॥ ७३ ॥

सन्ताप (पक्षा०—कामरूपी सन्ताप अर्थात् धूप) से अधिक सूख रहा है, जल जिसका ऐसी तथा मुझे आनन्द देनेवाली इस दमयन्तीके (पक्षा०—इस नामक नदीके) दोनों ओर दिखलायी पड़ती हुई (अथवा—दर्शनीय अर्थात् सुन्दर विसलता है क्या ? और दोनों स्तन जलके भीतर ऊपर उठे हुए दो द्वीप अर्थात् क्या ? कुछ टीकाकारोंने "स्मरोष्मशुष्यत्तरबाल्यवार:" विशेषण पदको केवल उत्त- ही अन्वय किया है) । [जिस नर्मदा नदीमें दोनों ओर सुन्दर विसलता दृष्टि- होती है तथा धूपसे पानी के सूखनेसे दोनों ओर ऊपर उठे टापू दृष्टिगोचर होते हैं, कामके द्वारा दमयन्तीका बचपन दूर होता जा रहा है और स्तन बढ़ गये हैं, विसलताके समान मालूम पड़ रही हैं] ॥ ७३ ॥

तालं प्रभुस्यादनुकर्तुमेतावुत्थानसुस्थौ पतितं न तावत् ।
परं च नाश्रित्य तरुं महान्तं कुचौ कृशाङ्ग्याः स्वत एव तुङ्गौ ॥ ७४ ॥

तालमिति । तावत् पतितं च्युतं तालफलं कर्तृ उत्थानेन ऊर्ध्वावस्थानेन सुस्थौ अपतितावित्यर्थः । एतौ कुचौ अनुकर्तुं न प्रभु समर्थं न स्यात्, पतिताऽ- कुतः साम्यमिति भावः । परं पतितं च महान्तमतितुङ्गं तरुमाश्रित्य, तुङ्ग शेषः । स्वत एव तुङ्गौ कृशाङ्ग्याः कुचौ अनुकर्तुं न प्रभु कुतः स्वाभाविकौ । अस्वाभाविकस्वाभाविकौन्नत्ययोः कथं साम्यमिति भावः ॥ ७४ ॥

पेड़से गिरा हुआ) तालफल सर्वदा ऊपर हुए अर्थात् उन्नत दमयन्तीके दोनों स्तनोंकी (बराबरी) करनेमें समर्थ नहीं है अर्थात् समानता नहीं कर सकता, और दूसरा गिरा हुआ) तालफल बड़े पेड़का आश्रयकर स्वतः एव विना किसीको आश्रय किये आप ऊँचे इसके दोनों स्तनोंकी समता करनेमें समर्थ नहीं है । [जो गिरा हुआ है उसकी और जो दूसरे के आश्रयसे ऊँचा बना हुआ है वह स्वभावतः एव ऊँचा रहने

शलेकी समता नहीं कर सकता है; क्योंकि उनमें परस्परमें वहुत अन्तर है। दमय
दोनों स्तन तालफलके समान वड़े हैं तथा ऊपर को उठे हुए अर्थात् उन्नत हैं]॥ ७४॥

एतत्कुचस्पर्धितया घटस्य ख्यातस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वम् ।
तस्माच्च शिल्पान्मणिकादिकारी प्रसिद्धनामाजनि कुम्भकारः ॥७

एतदिति ॥ एतत्कुचस्पर्धितया ख्यातस्य लोके प्रसिद्धस्य घटस्य कुम्
शास्त्रेषु निदर्शनत्वं तत्र तत्र दृष्टान्तत्वमजनि । किञ्च मणिकादिकारी अलिञ्जर
महाभाण्डनिर्माता कुलालः 'अलिञ्जरः स्यान्मणिकः' इत्यमरः । तस्मादेव शिल्
घटनिर्माणात् कुम्भकार इत्येव प्रसिद्धनामाजनि महत्संसर्ग इव तत्सद्
ख्यातिकर इति भावः ॥ ७५ ॥

इस दमयन्तीके स्तनोंका स्पर्द्धी होनेसे प्रसिद्ध घड़ा शास्त्रोंमें दृष्टान्त वन गया (
"जो कृत्रिम है वह अनित्य है, जैसे-घड़ा" इस प्रकार अन्य वस्तुओंको छोड़कर
घड़ेका ही दृष्टान्त दिया जाता है (प्रसिद्धके साथ स्पर्द्धा करनेवाला अप्रसिद्ध भी प्रसि
जाता है) । और कुण्डा, कमोरा आदि वनाने वाला कुलाल दमयन्ती कुचद्वयस्पर्द्धी
कारीगरी अर्थात् घड़ा बनानेसे ही 'कुम्भकार' अर्थात् कुम्हार नामसे प्रसिद्ध हो
[यद्यपि कुलाल अर्थात् कुम्हार कुण्डा मांड़ आदि बड़े, वड़े एवं कसोरा, पुरवा,
दिअरी आदि छोटे-छोटे भी वर्तनोंको वनाता है, किन्तु दमयन्ती के स्तनद्वयकी
करनेवाले घड़ेको वनाने के कारण ही उसका 'कुम्भकार' नाम पड़ा है]॥ ७५॥

गुच्छालयस्वच्छतमोदबिन्दुवृन्दाभमुक्ताफलफेनिलाङ्के ।
माणिक्यहारस्य विदर्भसुभ्रूपयोधरे रोहति रोहितश्रीः ॥ ७६ ॥

[1]गुच्छेति । माणिक्यमयस्य हारस्य रोहितश्रीः लोहिता कान्तिः विदर्भसुभ्रू
धरे भैमीकुचे रोहन्ति प्रादुर्भवन्ति । किम्भूते—गुच्छो हारविशेष आलय
येषां तानि स्वच्छतमानि निर्मलतरा (मा) णि उदबिन्दुवृन्दवज्जलबिन्दुसमू
वदाभा येषां तानि मुक्ताफलानि तैः फेनिलः फेनयुक्त इव उज्ज्वलतरोऽङ्को
यस्य । मुक्ताहारमाणिक्यहाराभ्यां भैमीकुचौ शोभेते इति भावः । अथ च पयो
मेघे रोहितश्रीः ऋजुशक्रधनुःशोभा प्रादुर्भवतीत्युक्तिः । 'हारभेदा यष्टिभेदाद्गु
गुच्छार्द्धगोस्तनाः, 'इन्द्रायुधं शक्रधनुस्तदेव ऋजुरोहितम्' 'रोहिते लोहितो र
इत्यमरः । फेनिलः, मत्वर्थे 'फेनादिलच्च' इतीलच् ॥ ७६ ॥

'गुच्छ' नामक हारके अत्यन्त निर्मल जलविन्दु समूहके समान मोतियोंसे मानो फे
युक्त, सुन्दर भ्रूवाली विदर्भराजकुमारी दमयन्तीके स्तनपर (पक्षा०—मेघमें) माणिक्यों

---

१. 'जीवातु' व्याख्याऽनुपलब्धेरत्र 'नारायण' भट्टकृता 'प्रकाश' व्याख्यै
मयोपयुक्ततया प्रकाशितेत्यवधेयं पाठकैरिति ।

कान्ति (पक्षा०–सीधे० इन्द्रधनुष की शोभा) प्रकटित हो रही है । [दम-
स्वच्छतम मोतियोंके हार की श्वेत कान्ति तथा माणिक्य मणियोंके हारकी लाल कान्ति पड़ती है, वह श्वेतफेनयुक्त मेघमें सरल इन्द्रधनुषकी लालकान्ति–जैसी मालूम पड़ती था किसीके मतसे ७० लड़ियोंकी मुक्तामालाको 'गुच्छ' कहते हैं] ॥ ७६ ॥

निःशङ्कसङ्कोचितपङ्कजोऽयमस्यामुदीतो मुखमिन्दुबिम्बः ।
चित्रं तथापि स्तनकोकयुग्मं न स्तोकमप्यञ्चति विप्रयोगम् ॥ ७७ ॥

शङ्केति । निःशङ्कं यथा तथा सङ्कोचितानि मुकुलितानि पङ्कजानि येन मुखमेवेन्दुबिम्बोऽस्यां भैम्यामुदीत उदितस्तथापीन्दूदयेऽपि स्तनावेव कोकौ कौ । 'कोकश्चक्रश्चक्रवाकः' इत्यमरः । तयोर्युग्मं स्तोकमल्पमपि विप्रयोगं न गच्छति चित्रं मुखेन्दूदयेऽपि कुचकोकयोरवियोग इति रूपकोत्थापितो भास इति सङ्करः ॥ ७७ ॥

शङ्क होकर पद्मको संकुचित करनेवाला यह मुखरूप चन्द्रबिम्ब (या चन्द्रबिम्ब रूप ख दमयन्तीमें उदित हुआ है, तथापि स्तनरूप चक्रवाकमिथुन अर्थात् चकवा–चकई की जोड़े भी विरह को नहीं प्राप्त कर रहे हैं अर्थात् दोनों स्तन सटे हुए हैं, यह है। दमयन्तीका मुख साक्षात् चन्द्रमा है अत एव उसने [दिनमें कमलबन्धु सूर्यके चन्द्रमा सूर्यके भयसे कमलको सङ्कुचित नहीं कर पाता; किन्तु दमयन्तीके मुखचन्द्र र्यसे कोई भय है ही नहीं, अतः यह (दमयन्ती मुखचन्द्र) निश्शङ्क होकर स्तन लको सङ्कुचित करता है, अत एव दमयन्तीका स्तनद्वय कमलके कोरकके आकार है। चन्द्रमाके उदय एवं कमलके संकुचित होनेपर रात्रि हो जाती है और उस समय चकईका परस्परमें विरह रहता है—वे एक साथ नहीं रहते, किन्तु यहां चन्द्रके मलके सङ्कुचित होनेपर भी स्तनद्वयरूप चकवा–चकईको जोड़ी परस्परमें थोड़ा भी समयके लिये भी अलग नहीं है (दोनों स्तन बड़े बड़े होनेके कारण परस्परमें हैं), यह आश्चर्य है । अथवा—सूर्यसे डरा हुआ प्राकृत चन्द्रमा केवल रातमें ही को सङ्कुचित करता है, दिनमें नहीं, अतएव रात्रिका समय होनेसे चकवा–चकईका वियोग होना (अलग हो जाना) ठीक है ; इस दमयन्तीका मुखचन्द्रमाने तो सूर्यसे होकर दिनमें भी कमलका सङ्कोच कर दिया है, अतएव रात न होनेसे चकवा–(स्तनद्वय) का थोड़ा भी वियोग नहीं है । (दोनों स्तन थोड़ा भी अलग-अलग), किन्तु विशाल होनेके कारण परस्परमें मिले हुए हैं, यह आश्चर्य है ? अर्थात् कोई नहीं है, इस प्रकार काकुद्वारा द्वितीयार्थकी सङ्गति होती है। दमयन्तीके स्तन कमला-चक्रवाकाकार तथा बड़े-बड़े होनेसे परस्परमें मिले हुए हैं]॥ ७७ ॥

आभ्यां कुचाभ्यामिभकुम्भयोः श्रीरादीयतेऽसावनयोः क ताभ्याम् ।
गोपायितमौक्तिकौ तौ प्रव्यक्तमुक्ताभरणाविमौ यत् ॥ ७८ ॥

आभ्यामिति । आभ्यां कुचाभ्यामिभकुम्भयोः श्रीः शोभा सम्पच्च, आ गृह्यते ताभ्यामिभकुम्भाभ्यामनयोः कुचयोः असौ श्रीः क्कादीयते ? न क्कापि यत् यस्मात् तौ इभकुम्भौ भयेन कुचभीत्या गोपायितमौक्तिकौ अन्तर्गुप्तमुक्ता गोपायतेः कर्मणि क्तः । इमौ कुचकुम्भौ प्रव्यक्तं प्रकाशितं मुक्ताभरणं याभ्यां यथा राज्ञा हृतधनो भयाद्धनशेषं गोपायति राजा तु प्रकाशयति तद्वदित्यर्थः । कुम्भश्रिय आदानादखण्डितस्वश्रीकत्वाच्च ताभ्यामप्यधिकौ कुचकुम्भाविति भा

ये (दमयन्तीके) दोनों स्तन हाथीके (मस्तकस्थ) कुम्भकी शोभा (पक्षा०—सम् अर्थात् धन) ले लेते हैं और वे (हाथीके कुम्भ) इन (दोनों स्तनों) की शोभा (प सम्पत्ति) को कहां लेते हैं ? अर्थात् नहीं लेते ; क्योंकि उन हाथीके दोनों कुम्भोंने (राजरूप दमयन्तीके स्वन पुनः मेरी गज-मुक्तारूप सम्पत्तिको न छीन लें इस अपने गजमुक्ताको भीतर छिपा रखा है तथा ये दमयन्तीके दोनों स्तन स्पष्ट दृश्यमान मु भूषणवाले हैं अर्थात् अपने मुक्ताओंको बाहर दिखला रहे हैं । (राजा या बलवान् प्रजाके धनको बलात्कारसे छीन लेते हैं और उन्हें बाहर सबके सामने दिखलाते हैं, नहीं ; तथा दुर्बल प्रजा या दुर्बल व्यक्ति उस प्रकार धनके छीने जानेपर बचे हुए धनको छिपाकर रखता है, क्योंकि उसे भय रहता है कि बचे हुए मेरे इस धनको फिर न छीन लें । उसी प्रकार नृपरूप दमयन्तीके स्तनद्वय प्रजारूप हाथीके कुम्भ शोभा या धनको छीनकर गजमुक्ताभरणको बाहर धारण किये हुए हैं (पक्षा०—ग द्वयसे ये स्तनद्वय अधिक शोभावाले हैं) और हाथीके कुम्भद्वयने शेष बचे हुए गजमु भीतर छिपा रखा है ॥ दमयन्तीके स्तनद्वय हाथीके कुम्भद्वयसे अधिक सुन्दर हैं] ॥

करामजाग्रच्छतकोटिरर्थी ययोरिमौ तौ तुलयेत् कुचौ चेत् ।
सर्वं तदा श्रीफलमुन्मदिष्णु जातं वटीमप्यधुना न लब्धुम् ॥ ७८

कराग्रेति । कराग्रे हस्तस्याग्रे जाग्रत् प्रकाशमानः शतकोटिः वज्रं तत्सङ्ख्यं च यस्य स महेन्द्रो ययोः कुचयोः कर्मणोरर्थी ताविमौ महेन्द्राभ्यर्थितौ कुचौ वटीं क्षुद्रकपर्दिकामपि 'वटः कपर्दे न्यग्रोधः' इति विश्वः । अपचयविवक्षायां लिङ्गप्रयोगः । 'स्त्री स्यात्काचिन्मृणाल्यादिविवक्षापचये यदि' इत्यमराभिधानात् लब्धुं न जातं न शक्तं निःस्वमित्यर्थः । सर्वं श्रीफलं बिल्वफलं कर्तृ । 'बिल्वे शा ल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलावपि' इत्यमरः । तुलयेदात्मनोपचिनुयाच्चेत् तदा उन्म ष्णु उन्मादि स्यादित्यर्थः । "अलङ्कृञ्" इत्यादिना इष्णुच् । उपमातीते व उपमात्वाभिमानः । ।तथा धनिकैकलभ्ये वस्तुनि निःस्वस्य लिप्सा चोन्माद त्यर्थः ॥ ७९ ॥

जिसकी मुठ्ठीमें वज्र (पक्षा०—सौ करोड़=एक अरब धन) प्रकाशित हो रहा अर्थात् वर्तमान है, वह इन्द्र (पक्षा०—अरबपति महाधनिक) जिन (दोनों स्तनों)

अर्थात् कामुक होनेसे स्वर्गाप्सराओंको छोड़कर मर्दन करना चाहता है (पक्षा०—होकर भी जिनसे याचना करता अर्थात् भिक्षा मांगता है), उनकी समता फूटी नहीं पानेवाला सम्पूर्ण श्रीफल (बेल) करे तो वह पागल है। अथवा—जिसकी ……याचना है, उनकी समता यदि उन्मादित करनेवाला अर्थात् पका हुआ सम्पूर्ण करे तो वह (श्रीफल) फूटी कौड़ी (लक्षणासे स्तनशोभाका लेशमात्र) भी नहीं स्तनोंकी समता पके हुए सम्पूर्ण (बहुत-से) बिल्वफल भी नहीं कर सकते एक बिल्वफल कैसे कर सकता है? अथवा—जिन स्तनोंको स्वर्गकी अप्सराओंको वज्रधारी इन्द्र या महाधनिक कोई अरबपति चाहता है, उसे एक निर्धन व्यक्ति अवश्य ही वह पागल समझा जायेगा। पके हुए बिल्वफलसे भी सुन्दर सरस तथा दमयन्तीके दोनों स्तन हैं] ॥ ७९ ॥

स्तनावटे[1] चन्दनपङ्किलेऽस्या जातस्य यावद्युवमानसानाम् ।
हारावलीरत्नमयूखधाराकाराः स्फुरन्ति स्खलनस्य रेखाः ॥ ८० ॥

स्तनेति । चन्दनेन पङ्किले पङ्कवति । "पिच्छादित्वादिलच्" । अस्याः स्तनयोः पाते । 'प्रपातस्त्वतटो भृगुः' इत्यमरः । जातस्य यावन्ति युवमानसानि तेषां सम्बन्धिनः साकल्यार्थस्य यावच्छब्दस्य विशेषणसमासः । स्खलनस्य नमार्गा हारावलीरत्नानां मयूखधारा रश्मिपङ्क्तयः एवाकारा यासां ताः स्फुरन्ति रत्नमयूखधारासु युवमानसस्खलनरेखाङ्कत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ८० ॥

चन्दनसे पङ्किल (कीचड़युक्त) इस दमयन्तीके स्तनरूप अवट (प्रपात—झरनेके पानी मार्ग) में सम्पूर्ण तरुणोंके मनके स्खलित होनेकी रेखाएं अर्थात् चिह्न) हारोंके रत्नोंकी किरणोंकी धारारूपमें स्फुरित हो रही हैं। [दमयन्तीके एक पर्वत है, यह निरन्तर सौन्दर्यजलके बहते रहनेसे चन्दनलेपरूपी कीचड़से पिच्छिल (फिसलने योग्य स्थान) हो रहा है, अतः वहां उसे देखकर सभी का चित्त आकृष्ट होता है (उसे मर्दनादिद्वारा भोग करना चाहता है) किन्तु हो जाता है (ठहरता नहीं, बिछला (रपट) कर गिर पड़ता है), उसीके चिह्नरूप ये हारके रत्नोंकी किरण धाराएं हैं। अन्यत्र भी ऊंचे स्थानसे कोई तो उसके गिरनेके चिह्न पड़ जाते हैं। पाठभेदसे—चन्दनसे पङ्किल……स्तनरूपी ……। शेष अर्थ पूर्ववत् है। दमयन्तीके स्तनोंको देखकर सभी तरुण पुरुष उसे ते हैं, किन्तु किसीको वहां स्थान नहीं मिलता है] ॥ ८० ॥

येन मध्येऽपि सतोदरेण यत् प्राप्यते नाक्रमणं बलिभ्यः ।
शुद्धौ तदनङ्गराज्ये[2] विजृम्भितं भीमभुवीह चित्रम् ॥ ८१ ॥

---

[1] "स्तनावरे" इति पाठान्तरम् ।

[2] "तदनङ्गराज्यविजृम्भितम्" इति पाठान्तरम् ।

क्षीणेनेति । इहास्यां भीमभुवि भैम्यां भयङ्करस्थाने च क्षीणेन कृशेन दुर्बले च मध्ये अवलग्ने प्रबलशत्रुमध्ये च सता वसतापि उदरेण त्रिवल्यधोभागेन एव वलिभ्यः त्रिवलिभ्यः । बवयोरभेदात् बलिभ्यो बलवद्भ्यश्च सकाशात् मणमभिव्याप्तिरभिभवश्च न प्राप्यते इति यत् तदनाक्रमणं चित्रं, वलिसमीपे लस्यानाक्रमणं चित्रमित्यर्थः । किञ्च सर्वेषामङ्गानां करचरणादीनां स्वाम्यमात्या च शुद्धौ सत्यामनङ्गस्य अङ्गहीनस्य कामस्य च राज्ये विजृम्भितं तदिदमन्य त्यर्थः । अत्र वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायाद्विरोधाभासः ॥ ८१ ॥

इस भीमकुमारी दमयन्तीमें (पक्षा०—भयङ्कर भूमिमें) क्षीण अर्थात् अत्यन्त (पक्षा०–दुर्बल) और बीचमें स्थित (पक्षा०–कटि=कमरमें स्थित) उदर अर्थात् त्रिवलि अधोभागस्थ पेट जो त्रिवलियोंसे (पक्षा०–तीन बलवान् पुरुषोंसे) आक्रान्त अर्थात् नहीं होता है; यह आश्चर्य है । सम्पूर्ण हाथ–पैर आदि अङ्गोंके (पक्षा०–अमात्य, मित्र सात राज्याङ्गों के) शुद्ध अर्थात् निर्दोष रहने पर अनङ्ग (अङ्गहीन, पक्षा०–कामदेव) राज्यमें अर्थात् युवावस्थामें विलसित हो रहा है यह दूसरा आश्चर्य है । [भयङ्कर दुर्बलके निवास करते रहनेपर भी उसपर तीन बलवानों का आक्रमण नहीं करना आश्चर्य अथवा—जो सर्वाङ्ग शुद्ध है वह अनङ्ग (अङ्ग रहित) राज्य है यह आश्चर्य है; यहां है, उसका परिहार 'काम देवका राज्य है' अर्थ द्वारा करना चाहिये । 'अथवा—जो भीम की भूमि है अर्थात् राजा भीमके निषध राज्यमें 'अनङ्ग' (अनङ्गदेशसे भिन्न) रा यह आश्चर्य है ? अर्थात् कोई आश्चर्य नहीं है । अथवा—जो भीम अर्थात् शिवजीकी भूमि अर्थात् जहां शिवजी का राज्य है वहां कामदेवका राज्य है, यह आश्चर्य है । अथवा— अर्थात् जङ्गल और पर्वत आदिसे बीहड़ भूमिमें रहनेवाले दुर्बलपर बलवान् का नहीं करना आश्चर्य है अर्थात् कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि वैसे बीहड़ स्थानमें रहने व्यक्ति वहांके सभी स्थानोंसे परिचित एवं भागने, दौड़ने में अभ्यस्त हो जाता है, वहां पर बलवान् भी बाहरी व्यक्ति आक्रमणकर सफल नहीं होता । अभी दमयन्तीकी तरुणावस्था होनेसे त्रिवलियोंमें सूक्ष्म रेखामात्र हैं, वे पेटपर लटक नहीं गयी हैं । हाथ आदि सम्पूर्ण अङ्ग सुडौल एवं हृष्ट–पुष्ट हैं और उनमें कामदेव का साम्राज्य हो रहा है]

मध्यं तनूकृत्य यदीदमीयं वेधा न दध्यात् कमनीयमंशम् ।
केन स्तनौ संप्रति यौवनेऽस्याः सृजेदनन्यप्रतिमाङ्गदीप्तेः ॥ ८२ ॥

मध्यमिति । वेधा इदमीयमेतदीयं मध्यमवलग्नं तनुकृत्य निर्माणकाले यित्वा कमनीयमंशमुद्धृतं भागं न दध्यात् यदि क्वचिन्न स्थापयेद्यदि, संप्रति यौवने अनन्यप्रतिमाऽनन्योपमाङ्गदीप्तिर्यस्यास्तस्याः भैम्याः स्तनौ केन सृजेत् ? नूनमुद् दृधृतसारेण अस्याः स्तनौ निर्मितवानित्युत्प्रेक्षा ॥ ८२ ॥

यदि ब्रह्मा इस दमयन्तीकी कटिको पतली करके सुन्दर भागको (कहीं पर

तो वे इस समय अर्थात् युवावस्थामें अनुपम अङ्गकान्तिवाली इस दमयन्तीके दोनों शेष (सुन्दर सामग्री) से बनाते। (अथवा—ब्रह्मा कटिको पतली करके इस के सुन्दर भागको·········)। [जिस प्रकार कोई शिल्पी किसी वस्तुको बनाते समयमें बननेवाली वस्तु के लिये उसकी कुछ सुन्दर सामग्रियोंको सुरक्षित रखकर उन्हीं सुरक्षित सामग्रियोंसे दूसरी वस्तुको भी वैसी ही सुन्दर बनाता है, उसी प्रकार ब्रह्मा कटिको बनाते समय बचायी हुई सुन्दर सामग्रीसे इसके स्तनोंको बनाया है। यदि सम्पूर्ण सामग्रीको कटि भागके बनाने में ही व्यय कर देते तो पुनः दमयन्तीकी युवावस्था आनेपर अनुपम कान्तिवाली दमयन्तीके स्तनोंको बनानेके लिये संसारमें सुन्दर सामग्री नहीं मिलनेसे उन्हें ऐसा सुन्दर नहीं बना सकते। दमयन्तीको कटि पतली एवं है तथा स्तन भी वैसे ही सुन्दर हैं]॥ ८२ ॥

गौरीव पत्या सुभगा कदाचित् कर्त्रीयमप्यर्धतनूसमस्याम्।
इतीव मध्ये निदधे विधाता रोमावलीमेचकसूत्रमस्याः ॥ ८३ ॥

गौरीति। सुभगा भर्तृवल्लभा इयं दमयन्ती कदाचित् गौरीव पत्या भर्त्रा अर्धतनूसमस्याम्, अर्धाङ्गसङ्घट्टनां कर्त्री करिष्यतीति मत्वेति शेषः। विधाता मध्ये अर्धाङ्गमध्ये रोमावलीमेव मेचकसूत्रसीमानिर्णयार्थं नीलसूत्रं निदध इव स्थान् किमित्युत्प्रेक्षा ॥ ८३ ॥

सौभाग्यवती या सुन्दरी यह दमयन्ती पार्वतीके समान किसी समय (विवाह होनेपर) साथ आधे शरीरको सङ्घटित करेगी, मानो इसी वास्ते ब्रह्माने इस दमयन्तीके (शरीर मध्यमें रोमावलीरूप नील एवं चमकदार सूत्र (के चिह्न) को रख दिया है। [जैसे मिस्त्री काष्ठ आदिको बीचमें काले सूत्रसे चिह्नितकर विभाग कर देता है, वैसे ही दमयन्तीके शरीरके मध्यमें रोमावलि रूप काले सूतका चिह्न कर दिया है कि विवाह होनेपर यह दमयन्ती भी पार्वतीके समान पतिकी अर्द्धाङ्गिनी बनेगी]॥ ८३ ॥

रोमावलीरज्जुमुरोजकुम्भौ गम्भीरमासाद्य च नाभिकूपम्।
मद्दृष्टितृष्णा विरमेद्यदि स्यान्नैषां बतैषा सिचयेन गुप्तिः ॥ ८४ ॥

रोमावलीति। मद्दृष्टेस्तृष्णा पिपासाऽपि रोमावलीमेव रज्जुं सरोजावेव कुम्भौ गम्भीरं नाभिमेव कूपञ्चासाद्य लब्ध्वा तदा विरमेत् शाम्येत्। अमीभिरुपायैः लावण्यामृतमुद्धृत्य सुष्ठु पीत्वेत्यर्थः। एषां साधनानामेषा सिचयेन वस्त्रेण 'वस्त्र-माच्छादनं सिचयः पटः' इति हलायुधः। गुप्तिश्छादनं न स्याद्यदि। बतेति खेदे। रूपकालङ्कारः ॥ ८४ ॥

मेरी दर्शनपिपासा (दमयन्तीके) रोमावलीरूपी रस्सीको, स्तनरूपी घड़ोंको तथा नाभि गम्भीर कूपको प्राप्तकर विरत, अर्थात् पूर्ण हो जाती, यदि ये रोमावली आदि कपड़ेसे (पक्षा०—खड्गधारी पहरेदार पुरुषोंसे) गुप्त (ढके हुए, पक्षा०—सुरक्षित) नहीं होते। [जिस

प्रकार रस्सी, घड़ा और गम्भीर कुएको पाकर भी खड्गधारी पुरुषोंसे राजकीय कूपके रहनेसे मनुष्यकी प्यास शान्त नहीं हो सकती, उसी प्रकार इन रोमावली आदिके ढके रहनेके कारण मेरी दर्शनेच्छा पूरी नहीं होती। अथवा—रोमावली आदि यदि ढके नहीं रहते तो उन्हें देखकर (नग्न परस्त्रीको देखनेका शास्त्रोंमें निषेध होने से) हो जाता, अतः इनका कपड़ेसे ढका रहना ही अच्छा है। दमयन्तीकी रोमावली समान लम्बी, स्तन घड़ेके समान बड़े तथा नाभि कूएके समान गहरी हैं और कामुक कामतृष्णाको दूर करनेवाले हैं] ॥ ८४ ॥

उन्मूलितालानबिलाभनाभिश्छिन्नस्खलच्छृङ्खलरोमदामा ।
मत्तस्य सेयं मदनद्विपस्य प्रस्वापवप्रोच्चकुचास्तु वास्तु ॥ ८५ ॥

उन्मूलितेति । उन्मूलितमुत्पाटितमालानं स्तम्भो यस्मात् विलात तदाभा तन्निभा नाभिर्यस्याः सा । छिन्नं त्रुटितं स्खलच्छृङ्खलमिव रोमदाम रो लिर्यस्याः सा । प्रस्वापस्य वप्रौ निद्रार्हौ मृत्कूटाविव उच्चौ कुचौ यस्याः सा दमयन्ती मत्तस्य मदनद्विपस्य वास्तु वसतिरस्तु स्यात् । औपम्यगर्भविशेषणं कम् ॥ ८५ ॥

(मदमत्त हाथीसे) उखाड़े गये बांधनेके खूंटेके बिलके समान (गहरी) नाभि टूटकर पड़ी हुई लोहेकी शृङ्खला (हाथी बांधनेका सीकड़) के समान रोमावलीवाली (उस मत्त गजके) सोनेके लिये मिट्टीकी ढेरके बनाये चौतरेके समान ऊंचे स्तनोंवाली दमयन्ती मतवाले कामदेवरूप हाथीका घर है। [दमयन्तीकी नाभि बहुत गम्भीर, वली लोहेकी शृङ्खलाके समान लम्बी और ऊंचे २ स्तन साक्षात् कामदेवके स्थिर नि स्थान हैं] ॥ ८५ ॥

रोमावलिभ्रूकुसुमैः स्वमौर्वीचापेषुभिर्मध्यललाटमूर्ध्नि ।
व्यस्तैरपि स्थास्नुभिरेतदीयैर्जैत्रः स चित्रं रतिजानिवीरः[1] ॥ ८६ ॥

रोमावलीति । रतिर्जाया यस्य स रतिजानिः कामः स एव वीरः । 'जाय निङ्' । मध्ये ललाटे मूर्ध्नि च मध्यललाटमूर्ध्नि । प्राण्यङ्गत्वात् द्वन्द्वे नपुंसक तस्मिन् व्यस्तैरसंहितैः स्थास्नुभिः स्थायिभिः । 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' । एतदीयै रो वली च भ्रुवौ च कुसुमानि च तैरेव स्वस्य मौर्वीचापमिषवश्च तैः जेतैव जैत्रो ज लः । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययः । चित्रं भिन्नदेशस्थैरपि चापादिभिर्वि इत्याश्चर्यमित्यर्थः । अत एव विरूपघटनारूपो विषमालङ्कारः ॥ ८६ ॥

---

[1] क्वचिदेतदर्थकमेवाधस्तनं पद्यं दृश्यते "पाठान्तरमिदम्, पूर्वश्लोकेनैव ग र्थत्वात्; एवमङ्केऽपि न पठन्ति" इति सुखावबोधाख्यव्याख्याकारो जिनरा तत्पद्यं यथा—

"पुष्पाणि बाणाः कुचमण्डनानि भ्रुवौ धनुर्भालमलङ्करिष्णु ।
रोमावलीमध्यविभूषणं ज्या तथापि जेता रतिजानिरीशः ॥" इति ।

रतिपति (कामदेव) कटि, ललाट तथा मस्तकमें अलग-अलग (क्रमशः) स्थित
में रोमावली, भ्रू तथा पुष्परूप अपने प्रत्यञ्चा (धनुषकी डोरी) रूप धनुष और
नों लोक का) विजयी हो रहा है, यह आश्चर्य है । [अच्छासे अच्छा भी दूसरा
प्रत्यञ्चा, धनुष तथा बाण—तीनों को एकत्र करके ही किसीको जीत सकता है,
कामदेवरूप योद्धाकी प्रत्यञ्चा दमयन्तीकी कटिमें रोमावली है, धनुष ललाटमें भ्रू
मस्तकमें पुष्प हैं; इस प्रकार तीनों अलग-अलग हैं, तथापि वह कामदेव त्रैलो-
ी हो रहा है, यह आश्चर्य है] ॥ ८६ ॥

स्याः खलु ग्रन्थिनिबद्धकेशमल्लीकदम्ब[1]प्रतिबिम्बवेशात् ।
प्रशस्तीरजताक्षरेयं पृष्ठस्थली हाटकपट्टिकायाम् ॥ ८७ ॥

ा इति । अस्याः भैम्याः पृष्ठस्थली कायपश्चाद्भागः । 'पृष्ठं तु चरमं तनोः' । सैव हाटकपट्टिका हेमफलकं तस्यां ग्रन्थिना बन्धेन निबद्धेषु संयतेषु केशेषु दम्बं मल्लीकुसुमनिकुरम्बं तत्प्रतिबिम्बस्य वेशात् प्रवेशाद्धेतोः इयं रजता-मयवर्णा स्मरप्रशस्तिः स्मरवर्णना खलु नैर्मल्यात् पृष्ठफलप्रतिबिम्बितानि ल्लिकाकुसुमानि हेमफलकविन्यस्ता राजती मदनप्रशस्तिवर्णावलीव भाती-
॥ ८७ ॥

दमयन्तीकी पीठरूपो सुवर्णपट्टिका (सुनहला बोर्ड) पर, गांठोमें बाँधे अर्थात् गुथे मल्लिकाके पुष्पोंके समूहके प्रतिबिम्बित होनेके बहानेसे रुपहले अक्षरोंमें काम-शस्ति लिखी गयी है । [दमयन्तीकी पीठ सुवर्णके समान गौर वर्णवाली तथा बोर्डके ज्ज्वल है, उसमें केशोंमें गुथे हुए मल्लिकाके पुष्प-समूह प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, वे रजत वर्णोंसे लिखित प्रशस्तिके समान मालूम पड़ते हैं । महापुरुषोंकी प्रशस्ति रजताक्षरोंमें लिखी जाती है] ॥ ८७ ॥

क्रेण विश्वं यदि[2] मत्स्यकेतुः पितुर्जितं वीक्ष्य सुदर्शनेन ।
जिगीषत्यमुना नितम्बद्वयेन[3] किं दुर्लभदर्शनेन ॥ ८८ ॥

क्रेणेति । मत्स्यकेतुः कामः सुदर्शनेन सुदर्शनाख्येन सुलभदर्शनेन च णो चक्रेण विश्वं जितं वीक्ष्य यदि वीक्ष्य किल असुना दुर्लभदर्शनेन र्शनेन कटीफलकद्वयेनेव चक्रेण जगज्जिगीषति जेतुमिच्छति किमित्युत्प्रेक्षा ॥

कामदेव पिता (श्रीकृष्ण भगवान्) के सुदर्शन (सुदर्शन नामक, पक्षा०— सुन्दर) चक्रसे संसारको यदि (पाठा०—युद्धमें) जीता गया देखकर दुर्लभ दर्शन-

---

[1] "—कदम्बम्" इति पाठान्तरम् ।

[2] "युधि" इति पाठान्तरम् ।

[3] "नितम्बमयेन" इति पाठान्तरम् ।

वाले इस (दमयन्तीके) नितम्बद्वयसे (पाठा०—नितम्बरूप चक्रसे) संसारको चाहता है क्या ? । [पिता श्रीकृष्ण भगवान्ने यदि संसारको सर्वप्रत्यक्ष चक्र सुदर्शन जीत लिया तो मुझे अप्रत्यक्ष चक्रातुल्य गोलाकार दमयन्तीके नितम्बद्वयसे संसारको चाहिये । इस प्रकार कामदेव पितासे भी बढ़कर काम करना चाहता है] ॥ ८८ ॥

रोमावलीदण्डनितम्बचक्रे गुणञ्च लावण्यजलञ्च बाला ।
तारुण्यमूर्तेः कुचकुम्भकर्तुर्विभर्ति शङ्के सहकारिचक्रम् ॥ ८९ ॥

रोमावलीति । बाला दमयन्ती तारुण्यमेव मूर्तिः स्वरूपं यस्य तस्य यौवन स्येत्यर्थः । कुचावेव कुम्भौ तयोः कर्तुः निर्मातुः कुम्भकारस्य रोमावल्येव दण्ड च नितम्ब एव चक्रञ्च ते गुणः सौन्दर्यादिः तमेव गुणं सूत्रञ्चेति श्लिष्टस्य लावण्यमेव जलञ्च सहकारिचक्रं सहकारिकारणकलापं विभर्ति शङ्के। रूपको तेयमुत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ८९ ॥

बाला दमयन्ती युवावस्थाके स्तनकलशको बनानेवाले (कुम्हार) के लिये (रोमावलीको दण्ड, नितम्बको चक्र, अर्थात् कुम्हारका चाक, सौन्दर्य आदि गुणको लावण्यको पानी (इन घड़ा बनानेवाले के) सहकारी समूहको धारण करती है। [बनानेके लिए दण्ड, चाक, सूत तथा पानीका होना आवश्यक है, अत एव दमयन्ती स्तनकलश बनानेवाले कुम्हारके लिये सब सामग्रियोंको उपस्थित करती है] ॥ ८९ ॥

अङ्गेन केनापि विजेतुमस्या गवेष्यते किञ्चलपत्रपत्रम् ।
नो चेद्विशेषादितरच्छदेभ्यस्तस्यास्तु कम्पस्तु कुतो भयेन ॥ ९० ॥

अङ्गेनेति । अस्याः सम्बन्धिना केनाप्यवाच्येनाङ्गेन मदनमन्दिरेणेत्यर्थः । च पत्रमश्वत्थदलं 'बोधिद्रुमश्चलदलः' इत्यमरः । विजेतुं गवेष्यते अन्विष्यते कि त्प्रेक्षा । 'मार्गत्यन्विष्यति गवेषयत्यन्विष्यति च' इति मल्लभट्टः । नो चेन्नान्वि चेत् तस्याश्वत्थपत्रस्य कुतः कस्मादन्यस्मात् भयेनेतरच्छदेभ्यः वृक्षान्तरप पञ्चमीविभक्तेः । विशेषादतिशयात् कम्पस्तु अस्तु स्यात् । नान्यत्कम्पकारणं इत्यर्थः । बलिनान्विष्यमाणो दुर्बलो कम्पत इति च प्रसिद्धम् । अत्र सामुद्रि "अश्वत्थदलसङ्काशं गुह्यं गूढमपि स्थितम् । यस्याः सा सुभगा नारी पुण्यैरवाप्यते" ॥ ९० ॥

इस दमयन्तीका अवर्णनीय अर्थात् अतिसुन्दर (पक्षा०—अश्लील होनेसे नाम लेने योग्य) कोई अङ्ग अर्थात् योनि पीपलके पत्तेको अच्छी तरह जीतनेके लिये है क्या ? नहीं तो किसके भयसे उस पीपलके पत्तेमें दूसरे पत्तोंसे अधिक कम्पन हो [चूंकि पीपलका पत्ता अन्य पत्तोंकी अपेक्षा अधिक कांपता है, इससे अनुमान होता है दमयन्तीका सर्वसुन्दर अग्राह्यनामा अङ्ग उसको जीतनेके लिये खोज रहा है और भयसे वह कांप रहा है। अन्य भी कोई बलवान् पुरुष दुर्बलको जीतनेके लिये

से वह उसके भयसे अधिक कांपता रहता है। दमयन्तीका योनि पीपलके पत्तेसे ान होनेसे सामुद्रिक शास्त्रोक्त शुभ लक्षणसे युक्त है] ॥ ९० ॥

भ्रूश्चित्ररेखा च तिलोत्तमास्या नासा च रम्भा च यदूरुसृष्टिः ।
ष्टा ततः पूरयतीयमेकाऽनेकाप्सरःप्रेक्षणकौतुकानि ॥ ९१ ॥

ति। यद् यस्मात् अस्या भैम्या भ्रूश्चित्ररेखा अद्भुतविन्यासा अप्सराश्च, सिका तिलात् तिलकुसुमात् उत्तमा तिलोत्तमा नामाप्सराश्च, तथा ऊरु-म्भा कदली अप्सराश्च। 'रम्भाकदल्यप्सरसोः' इति विश्वः। ततः तस्मात् ष्टा सती अनेकासामप्सरसां प्रेक्षणात्कौतुकानि पूरयति तादृशान् मान-न् जनयतीत्यर्थः। अत्रैकस्यानेकात्मकताविरोधाभासनात् विरोधाभासा-, स च श्लेषमूल इति सङ्करः ॥ ९१ ॥

स कारण इस दमयन्तीको भ्रू चित्र रेखावाली (पक्षा०—चित्रलेखा नामकी अप्सरा) तिलपुष्पसे उत्तम (पक्षा०—तिलोत्तमा नामकी अप्सरा) है, और ऊरुरूप यष्टि म्भके समान या तद्रूप (पक्षा०—रम्भा नामकी अप्सरा) है; उस कारण अकेली ती अनेक अप्सराओंके देखनेके कुतूहलको पूरा करती है। [इस दमयन्तीकी क तथा ऊरुके देखनेसे क्रमशः चित्रलेखा, तिलोत्तमा और रम्भा नामकी अप्सराओं आनन्द मिलता है, यही कारण है कि इन्द्र उन अप्सराओंको छोड़कर इस दमय-प्त करनेकी इच्छा कर रहे हैं। लोकमें भी देखा जाता है कि पृथक्-पृथक् स्थित स्तुओंको छोड़कर एकत्रित उन सब वस्तुओंको प्राप्त करना चाहता है।] ॥९१॥

म्भापि किं चिह्नयति प्रकाण्डं न चात्मनः स्वेन न चैतदूरू ॥
स्यैव येनोपरि सा दधाना पत्राणि जागर्त्यनयोर्भ्रमेण ॥ ६२ ॥

म्भेति। रम्भा कदल्यपि आत्मनः प्रकाण्डं स्कन्धं स्वेन स्वात्मना स्वयमित्यर्थः। दिभ्य उपसङ्ख्यानात् तृतीया। न चिह्नयति किमेतस्या ऊरू च न चिह्नयति यो व्यत्यासपरिहाराय द्वयोरन्यतरस्यापि चिह्नं न चकार किमित्युत्प्रेक्षा। कुतः, भ्रमेण सा रम्भा अनयोरूर्वोर्भ्रमेणोरुभ्रान्त्येत्यर्थः। स्वस्यैव स्वकीयस्कन्ध-उपरि पत्राणि दलानि प्रतिपक्षोपरिधेयानि साक्षरपत्राणि च दधाना जागर्ति। सौन्दर्ये सङ्घर्षिणी रम्भापि स्वस्मिन्नेव ऊरुभ्रान्त्या पत्रावलम्बनकरणात् भ्रान्ति-लङ्कारः। तन्मूला चोक्तोत्प्रेक्षेति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ९२ ॥

कदली (केलेका वृक्ष) अपने स्तम्भको स्वयं चिह्नित नहीं करती है क्या? तथा इस न्तीके ऊरुद्वयको चिह्नित नहीं करती है क्या? (अपने तथा दमयन्तीके ऊरुद्वयको समान होनेसे भेद करनेके लिए अपनेको तथा इसके ऊरुद्वयको भी अवश्यमेव करती है), (अथवा—कदली भी अपने स्तम्भ (खम्बे) को अपना है ऐसा जानती क्या! तथा इस दमयन्तीके ऊरुद्वयको 'ये दोनों ऊरु दमयन्तीके हैं' ऐसा नहीं जानती

क्या ? (अपने स्तम्बको अपना तथा दमयन्तीके ऊरुद्वयको दमयन्तीका ऊरुद्वय झती है क्या ?) क्योंकि इन दोनों (दमयन्तीके ऊरु) के भ्रमसे अपने ऊपर पत्रोंको की, पक्षा०–प्रतिपक्षीके ऊपर रखने योग्य लिखित पत्रोंको) धारण कर रही है। पक्षीके ऊपर लिखितपत्र रखनेका नियम होनेसे कदलीने चाहा कि प्रतिपक्षी उक्त में साक्षर पत्र रख दूँ, किन्तु उक्त ऊरुद्वयके भ्रमसे उसने अपने ही ऊपर पत्रोंको लिया)। [केलेके खम्बेके ऊपर पत्तेका होना सर्वप्रत्यक्ष है। दूसरा कोई व्यक्ति दो के समान आकार होनेसे भ्रममें पड़कर दूसरेमें करने योग्यको अपनेमें कर लेता है। न्तीके ऊरु कदलीस्तम्भके समान रमणीय हैं] ॥ ९२ ॥

विधाय मूर्धानमधश्चरञ्चेन्मुञ्चेत्तपोभिः स्वमसारभावम् ।
जाड्यञ्च नाञ्चेत् कदली बलीयस्तदा यदि स्यादिदमूरुचारुः ॥ ९३

विधायेति । कदली रम्भा तपोभिः तपश्चर्याभिः मूर्धानमधश्चरमधोवर्तिनं शिरोऽवुध्न्योरुत्तराधरभाववैपरीत्यञ्च लब्ध्वेत्यर्थः। स्वं स्वकीयमसारभावं रत्वञ्च मुञ्चेच्चेत् वलीयो जाड्यमेकान्तशैत्यञ्च नाञ्चेत् न गच्छेत्। तदानीम्, चारुः अस्या उरू इव चारुः शोभना स्याद्यदि स्यादेवेत्यर्थः। अत्र कदल्याः रस्त्वादिधर्मासम्बन्धेऽपि सम्बन्धसम्भावनया सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेद सर्वस्वकारः ॥ ९३ ॥

यदि कदली मस्तक (ऊपरी भाग) को नीचेकी ओर करके तपस्यासे अपनी ताको छोड़ देती तथा अत्यधिक अर्थात् नित्य रहनेवाली जडता (मूर्खता, पक्षा०–शीतल को छोड़ देती, तो इस दमयन्तीके ऊरुके समान सुन्दर हो सकती। [दमयन्तीके ऊपरमें मोटा तथा नीचेमें क्रमशः पतला है, कोमल होते हुए भी ससार (वलयुक्त) है ग्रीष्ममें शीतल तथा शीतकालमें उष्ण है, किन्तु कदली इसके सर्वदा विपरीत (ऊपरमें तथा नीचेमें मोटी, कोमल तथा निःसार और सब समयमें शीतल) है, अतः वह लिए ऊपरका भाग नीचे कर ले, कोमलताका त्यागकर सारयुक्त वन जाय तथा शीतलताका त्यागकर दे, तब दमयन्तीके समान हो सकती है। अन्य भी कोई किसी उत्तम व्यक्तिकी समानता पानेके लिये तपस्याके द्वारा मस्तक नीचाकर असारता तथा जडताका त्यागकर उसकी समानता पाता है। दमयन्तीका अनुपम है] ॥ ९३ ॥

ऊरुप्रकाण्डद्वितयेन तस्याः करः पराजीयत वारणीयः ।
युक्तं ह्रिया कुण्डलनच्छलेन गोपायति स्वं मुखपुष्करं सः ॥ ९४॥

ऊर्विति । तस्याः दमयन्त्याः ऊरुप्रकाण्डयोः ऊरुश्रेष्ठयोः ऊरुस्तम्भयोर्वा वारणीयो वारणसम्बन्धी करो हस्तः पराजीयत पराजितः, स करः ह्रिया स्वं मुखभूतं पुष्करमग्रं वक्त्रं पङ्कजञ्च 'मुखं निःसरणे वक्त्रप्रारम्भोपाययोरपि । पुष्करं

पयः करिकराग्रयोः' इति विश्वः । कुण्डलनस्य भुग्नीकरणस्य च्छलेन गोपा- विते युक्तम् । सपह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ९४ ॥

(पक्षा०– कृशाङ्गी) दमयन्तीके उरुस्तम्भद्वयने हाथीके हाथ (सूंढ़) को जित लिया व (पराजित) वह हाथ (हाथीका सूंढ़) लज्जासे अपने मुखकमल (पक्षा०– पुष्करको हाथीके सूंढ़के अग्रभागको 'पुष्कर' कहते हैं) लपेटनेके वहानेसे छिपा वह उचित ही है । [लोकमें भी पराजित भलामानुष व्यक्ति लज्जासे अपने मुखको है-सबके सामने मुख नहीं दिखाना चाहता]॥ ९४ ॥

अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे भृगुर्महान् यत्कुचशैलशीली ।
नानारदाह्लादि मुखं श्रितोरुर्व्यासो महाभारतसर्गयोग्यः ॥ ९५ ॥

ह्यामिति । अस्यां दमयन्त्यां मुनीनामपि मोहं भ्रान्तिमासक्तिमिति यावत् । र्कयामि । उत्प्रेक्षा । कुतः, यत् यस्मात् महानधिको भृगुप्रपातो मुनिविशेषश्च, कुचावेव शैलौ शीलयति परिचिनोतीति तच्छीली मुखं नानाप्रकारैः रदैर्द- ह्लादयतीति तत्तथोक्तम् । अन्यत्र नारदमुनिमाह्लादयतीति नारदाह्लादि, भवतीति अनारदाह्लादि, तत् नेति नानारदाह्लादि, नारदाह्लादि इत्यर्थः । महाप्रभः रतसर्गयोग्यः सुरतसम्पादनार्हः । अन्यत्र महाभारतस्य इतिहा- सों निर्माणे योग्यः क्षमो व्यासो विस्तारो द्वैपायनश्च श्रिता ऊरू सक्थिनी श्रितोरुः । 'सक्थि क्लीबे पुमानूरुः' इत्यमरः । अत्र श्लेषमूलया मुनिमोहो- मुनयोऽप्यस्यां मुह्यन्ति किमुतान्ये इति वस्तु व्यज्यते ॥ ९५ ॥

) इस दमयन्तीमें मुनियोंके भी मोह (होने) का तर्क करता हूं, क्योंकि–बड़ा गिरनेका तटरहित पर्वतीय स्थान–विशेष) स्तनरूपी पर्वतका परिशीलन करता ०–बड़े तपस्वी भृगु मुनि स्तनरूपी पर्वतका परिशीलन करते हैं, वहां रहते हैं– लिये निवास करते हैं, या कामुक होकर उन्नत स्तनोंका मर्दन करना चाहते –अतट अर्थात् पर्वतीय प्रपात दमयन्तीके स्तनके शील–स्वभावका परिशीलन करता वह आज तक भी इन स्तनोंके स्वभावको नहीं प्राप्त कर सका है); (दमयन्ती) अनेक अर्थात् बत्तीस दांतोंसे आह्लादित करनेवाला है (पक्षा०–मुख नारद मुनिको करनेवाला नहीं है ऐसा नहीं, किन्तु आह्लादित करनेवाला ही है अर्थात् नारद इसको गान विद्या सिखाने या स्वयं सीखनेके लिए इसके मुखको प्राप्तकर आह्ला- ते हैं, या–नारद मुनि भी कामुक होकर चुम्बनेच्छासे इस दमयन्तीके मुखको देख- दित होते हैं) और अत्यन्त कान्तियुक्त तथा रतिके योग्य (ऊरुका) विस्तार आश्रय कर रहा है अर्थात् ऊरुद्वयका विस्तार (मोटापन) अतिशय कान्तियुक्त एवं है [पक्षा०–महाभारत नामक इतिहास ग्रन्थकी रचना करनेवाले व्यास मुनि याके भ्रमसे इसके) ऊरुद्वयका आश्रय कर रहे हैं, या दमयन्तीका कामुक होकर इच्छासे इसके ऊरुद्वयका आश्रय कर रहे हैं]॥ ९५ ॥

क्रमोद्गता पीवरताधिजङ्घं वृक्षाधिरूढिं विदुषी किमस्याः ।
अपि भ्रमीभङ्गिभिरावृताङ्गं वासो लतावेष्टितकप्रवीणम् ॥ ९६ ॥

क्रमेति । अस्याः भैम्या अधिजङ्घं जङ्घयोः विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । क्रमेणा ...र्यात् उद्गता उदिता पीवरता पीनत्वं वृक्षाधिरूढमाश्लेषविशेषं विदुषी किं ... किम् ? "न लोक" इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । किञ्च भ्रमीभङ्गिभिर्वेष्टनविशेषैः ... ताङ्गमाच्छादितगात्रं वासो वस्त्रमपि लतावेष्टितके आलिङ्गनविशेषे प्रवीणं ... उभयत्राप्यन्यथा कथमित्थमाश्लिष्येदिति भावः । अनयोर्लक्षणमुक्तं रतिरहस्ये ... "रमणचरणमेकेनाङ्घ्रिणाक्रम्य भिन्नं श्वसितमपरपादेनाश्रयन्ती तदूरुम् । ... भुजमेकं पृष्ठतोऽस्यार्पयन्ती पुनरपरभुजेन प्राञ्चयन्ती तदङ्गम् ॥ तरुमिव ... चुम्बनार्थाधिरूढा यदभिलषितरागात् तच्च वृक्षादिरूढम् । प्रियमनुकृतवल्ली... वेष्टयन्ती द्रुममिव सरलाङ्गी मन्दसीत्का तदीयम् ॥ वदनमुचितखेदा कम्पमा... नार्थं नमयति विनदन्ती तल्लतावेष्टितं स्यात् ॥" इति ॥ ९६ ॥

इस दमयन्तीकी जङ्घाओंमें क्रमशः ऊपरको बढ़ती हुई स्थूलता (मोटाई) ... वृद्धिके क्रम (पक्षा०—आलिङ्गन विशेष) को जानती है क्या ? तथा लपेटनेके क्रमसे ... ढका हुआ वस्त्र लताके (समान) लिपटनेके क्रम (पक्षा०—आलिङ्गन विशेष) में ... क्या ? [जिस प्रकार वृक्ष जड़में पतला तथा क्रमशः ऊपरमें मोटा होता है, वैसे ... दमयन्तीकी जङ्घाएं भी हैं । पक्षा०—ये जङ्घाएं 'वृक्षारूढ'[1] नामक आलिङ्गनको जानने... तथा जिस प्रकार वृक्षमें लता लिपटी हुई रहती है, उसी प्रकार इसके शरीरमें ... लिपटा रहता है, पक्षा०—'लतावेष्टितक'[2] नामक आलिङ्गनको जानता है] ॥ ९६ ॥

अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिलक्ष्मीजम्भद्विषद्दारनवाम्बिकानाम् ।
चतुर्दशीयं तदिहोचितैव गुल्फद्वयाप्ता यदद्दश्यसिद्धिः ॥ ९७ ॥

अरुन्धतीति । इयं दमयन्ती अरुन्धती वसिष्ठपत्नी च कामपुरन्ध्री रतिश्च ... पद्मा च जम्भद्विषद्दाराः शची च नवाम्बिका ब्राह्मीप्रभृतयो नवमातरश्च ... श्यत्वसिद्धिरस्तीति प्रसिद्धिरिति भावः । तासां त्रयोदशानां चतुर्दशी इयमपि ...

---

[1] टीकातिरिक्तमपि वृक्षारूढालिङ्गनलक्षणमन्यत्रेत्थमुक्तम् , तद्यथा—
"वृक्षारोहणवद्यत्र क्रमादाक्रम्यतेऽङ्गकम् । वृक्षाधिरूढकं नाम बुधा आलिङ्गनं विदुः ॥"
अन्यच्च—"बाहुभ्यां कण्ठमालिङ्ग्य कामिनी कान्त उत्थिते ।
अङ्कमारोहते तस्य वृक्षारूढः स उच्यते ॥" इति ॥

[2] लतावेष्टितकालिङ्गनलक्षणमपि टीकोक्तभिन्नमन्यत्रोक्तम् तद्यथा—
'सव्यापसव्ययोगेन लतावत्परिवेष्टनैः । यत्र प्रत्यङ्गमाश्लिष्टं लतावेष्टितकं तु तत् ॥"
अन्यच्च—"उपविष्टं प्रियं कान्ता सुप्ता वेष्टयते यदि ।
तल्लतावेष्टितं ज्ञेयं कामानुभववेदिभिः ॥" इति ।

त्प्रेक्षा । तत् तस्मात् तदन्तःपातित्वात् इहास्यां दमयन्त्यां गुल्फौ पाद-
ौ। 'तद्ग्रन्थिघुटिके गुल्फौ' इत्यमरः । तयोर्द्वयेनाप्ता प्राप्ता या च सा अदृश्य-
यददृश्यसिद्धिः येयं गुल्फयोरदृश्यत्वसिद्धिरित्यर्थः । सतीति शेषः । यत्तदो-
न्धात्सा उचितैव तत् सम्बन्धिनोऽपि तद्वत् सिद्धिर्युक्तैवेत्यर्थः । गूढगुल्फत्वं
ं तदस्यामस्तीति भावः ॥ ९७ ॥

न्धती, कामपत्नी रति, लक्ष्मी, इन्द्राणी तथा नव मातृकाएँ इनकी चौदहवीं यह ी है, अतः उनकी जो अदृश्य सिद्धि है, वह इस दमयन्तीमें गुल्फ (दोनों पैरोंके जोड़पर दोनों ओर उठी हुई हड्डी अर्थात् गट्टों) को प्राप्त हुई है, वह उचित ही है। मातृकाएं—चामुण्डा आदि सप्त[1] माताएं और गौरी तथा सरस्वती—ये नव मातृकाएं हैं, —ब्रह्माणी, माहेशी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंह, माहेन्द्री, चण्डिका और महा- नवमातृकाएं[2] हैं। अरुन्धती आदि तेरह महादेवियोंको जिस प्रकार अदृश्य सिद्धि वैसी ही चौदहवीं दमयन्तीके भी गुल्फोंमें अदृश्य सिद्धि प्राप्त है। अथवा—अरुन्धती पातिव्रत्य धर्मके कारण जो अदृश्य सिद्धि प्राप्त है वह इस दमयन्ती` गुल्फोंमें अर्थात् उनकी सिद्धि इस दमयन्तीके चरणोंपर लोटती है, अत एव उनसे भी यह अधिक पतिव्रता है। अथवा—अरुन्धती आदिके गुल्फोंमें प्राप्त जो अदृश्य सिद्धि है, उनके गुल्फकी हड्डियां नहीं दिखलाई पड़तीं वह सिद्धि चौदहवीं इस दमयन्तीमें भी यह दमयन्ती भी गुल्फोंकी हड्डियोंके नहीं दिखलाई पड़नेसे अरुन्धती आदिके ही सामुद्रिकशास्त्रोक्त सुलक्षणवाली है। अथवा—अरुन्धती आदि तेरहों महादेवियोंमें सिद्धि है वह सामान्य है क्योंकि यह दमयन्ती उनमें चौदहवीं है अर्थात् चतुर्दशी है और उक्त अरुन्धती आदि तेरह देवियां प्रतिपदादि त्रयोदशी तिथि पर्यन्तके हैं, अत एव चतुर्दशी तिथिरूप इस दमयन्तीमें तो सिद्धि गुल्फोंमें प्राप्त है अर्थात् लेटती है। या आप्त (कभी नहीं व्यभिचरित होनेवाली अर्थात् बिल्कुल नियत) एव यह दमयन्ती उन अरुन्धती आदि महादेवियोंसे भी विशिष्ट है। दमयन्तीके दोनों गट्टोंके छिपे हुए होनेसे यह दमयन्ती सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार शुभ लक्षणसे है] ॥ ९७ ॥

अस्याः पदौ चारुतया महान्तावपेक्ष्य सौक्ष्म्याल्लवभावभाजः ।
जाता प्रवालस्य महीरुहाणां जानीमहे पल्लवशब्दलब्धिः ॥ ९८ ॥

---

[1] तदुक्तम्—"ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ।
वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा सप्त मातरः ॥" इति ।

[2] तदुक्तमागमे—"ब्रह्माणी चैव माहेशी कौमारी वैष्णवी तथा ।
वाराही नारसिंही च माहेन्द्री चण्डिका तथा ॥
महालक्ष्मीरिति प्रोक्ताः क्रमेणैता नवाम्बिकाः ॥" इति ।

अस्या इति । चारुतया सौन्दर्यगुणेन महान्तौ अस्याः पदौ पादौ अवेक्ष्य। 'पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । सौक्ष्म्यात् तदपेक्षयाऽल्पत्वादिति भावः। लवभावभाजोऽल्पत्वभाजी महीरुहाणां प्रवालस्य किसलयस्य पल्लवशब्दलक्षि पद्भ्यां लवोऽल्प इति व्युत्पत्त्या पल्लवसंज्ञा प्राप्तिर्जाता जानीमह इत्युत्प्रेक्षाम इत्यर्थः । "अस्मदोर्द्वयोश्च" इति विकल्पादेकस्मिन्नेव बहुवचनम् ॥ ९८ ॥

सुन्दरतासे श्रेष्ठ इस दमयन्तीके चरणोंको देखकर (दमयन्तीके चरणोंकी अपेक्षा) इत्थं ताके कारण अल्पता (लघुता) को प्राप्त किये हुए, पेड़ोंके नवीन पत्तोंका 'पल्लव' (दमयन्ती के पैरका लेश है जिसमें ऐसा) नाम पड़ गया है, यह हमलोग समझते हैं। [पेड़ोंके नये अरुण वर्ण पत्तोंकी अपेक्षा दमयन्तीके चरण अत्यधिक लाल हैं] ॥ ९८ ॥

जगद्वधूमूर्धसु रूपदर्पात् यदेतयाऽधायि पदारविन्दम् ।
तत्सान्द्रसिन्दूरपरागरागैः ध्रुवं प्रवालप्रबलारुणं तत् ॥ ९९ ॥✓

जगदिति । यत् यस्मात्, एतया भैम्या रूपदर्पात् सौन्दर्यगर्वात्, द्वयसुभं पदारविन्दं द्वेऽपि पदारविन्दे इत्यर्थः । जगद्वधूमूर्धसु अधायि निहितं, धाञः कर्मणि लुङ् । "आतो युक्चिण्कृतोः" इति युगागमः । तत् तस्मात् , तेषु मूर्धसु ये सान्द्र सिन्दूरपरागरागाः तैः प्रवालाद्विद्रुमादपि प्रबलारुणमधिकारुणं ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा ॥९९

जो इस दमयन्तीने सौन्दर्यके अभिमानसे संसार की स्त्रियोंके शिरपर दोनों चरणोंको रखा, उस कारणसे (अथवा—वे ही दोनों चरण) मानों उन संसार की स्त्रियोंके सध सिन्दूरकी धूलिके रंग लालिमासे नवपल्लव (या मूंगा) से भी अधिक लाल हो गये हैं। संसारकी सधवा स्त्रियां जो शिरपर नवपल्लव या मूंगेसे भी अधिक अरुण वर्ण सिन्दूरपरा धारण करती हैं, वह अधिक सौन्दर्यशालिनी दमयन्तीका चरण द्वय है। दमयन्ती जग की समस्त सुन्दरियोंसे भी अत्यधिक सुन्दरी है, तथा इसके चरणोंकी शोभा नवपल्लव, मूं और सिन्दूरपरागके समान है ॥ ९९ ॥

रुषारुणा सर्वगुणैर्जयन्त्या भैम्याः पदं श्रीः स्म विधेर्वृणीते ।
ध्रुवं स तामच्छलयद्यतः सा भृशारुणैतत्पदभाग्विभाति ॥ १०० ॥

रुषेति । श्रीः लक्ष्मी रुषा पराजयक्रोधेन अरुणा सती सर्वगुणैर्जयन्त्या आत्मान मतिक्रामन्त्या भैम्याः पदं स्थानं विधेः सकाशात् वृणीते स्म वव्रे। स विधिस्तां श्रियमच्छलयत् प्रतारितवान् ध्रुवं स्थानार्थविवक्षया पदप्रार्थनायामङ्घ्रिदानादिति भावः । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्म्यङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । यतः सा श्रीरेतत्प भागे तस्याः भैम्याः अङ्घ्रिभाक् सती शोभा रूपेणेति भावः । भृशारुणा विभाति आरुण्यप्रत्यभिज्ञानात् तदङ्घ्रिरेवैतत्स्थानमिति जानीम इत्यर्थः ॥ १०० ॥

क्रोधसे लाल लक्ष्मी (पक्षा०—शोभा) ने सम्पूर्ण गुणोंसे विजय करती हुई इस दमयन्तीके पद (स्थान, स्वरूप या शोभा) को (चरणको नहीं) ब्रह्मासे वर मांगा (फिर) उस ब्रह्माने

क्ष्मी (पक्षा०—शोभा) को अवश्य ही ठग दिया, क्योंकि वह (लक्ष्मी, पक्षा०—) अत्यन्त लाल (रक्तवर्ण) इस दमयन्तीके चरणोंको प्राप्त कर शोभती है। [दमय- राजित लक्ष्मी या शोभाने तो ब्रह्मासे दमयन्तीके पद अर्थात् दमयन्तीका संसारमें जो या शोभा है वही मेरा भी हो ऐसा वर मांगा था, किन्तु ब्रह्माने उसे अत्यन्त रक्तवर्ण चरणोंको प्रदान किया। अथवा—अत्यन्त अरुण वह लक्ष्मी या शोभा इस दमय- चरणोंको प्राप्तकर शोभती है, इस पक्षमें 'भृशारुणा' शब्दका सम्बन्ध पहलेके समान के चरणोंसे न होकर लक्ष्मी या शोभासे है, अतः लक्ष्मी दमयन्तीके चरणोंकी सेवा हुई शोभित होती है या दमयन्तीके चरणों की शोभा अत्यन्त लाल है, यह अर्थ होता ह्माने लक्ष्मीको भी दमयन्तीका स्थान नहीं दिया, किन्तु उसके चरण सेवाका देकर ठग दिया, अतः प्रतीत होता है कि लक्ष्मी भी दमयन्तीके स्थानको पानेकी ता नहीं रखती, केवल उसके पैरोंके भजन (सेवन) करनेकी ही योग्यता रखती है, रण है कि ब्रह्माने लक्ष्मीको 'पद' शब्दका अर्थान्तर कर उक्त प्रकारसे ठग दिया]१००

यानेन तन्व्या जितदन्तिनाथौ पदाब्जराजौ परिशुद्धपार्ष्णी ।
जाने न शुश्रूषयितुं स्वमिच्छू नतेन मूर्ध्ना कतरस्य राज्ञः ॥१०१॥

नेति। यानेन गत्या दण्डयात्रया च जितो दन्तिनाथो गजश्रेष्ठो गजपतिश्च तौ परिशुद्धः निर्दोषो वशीकृतश्च पार्ष्णिः पश्चाद्भागः पार्ष्णिग्राहश्च ययोस्तौ पदाब्जे एव राजानौ पदाब्जराजौ कतरस्य राज्ञः पत्युः परिपन्थिनश्च नतेन त्यै रौद्रशान्तये च नम्रेण मूर्ध्ना स्वमात्मानं सेव्यं शुश्रूषयितुं सेवयितु- मभिलाषुकौ न जाने। अत्र पदाब्जराजाविति रूपकस्य श्लेषेणाङ्गाङ्गिभावेन ॥ १०१ ॥

(गज तुल्य गति, पक्षा०—विजय यात्रा) से गजराजको विजय किये हुए तथा शुद्ध , पक्षा०—वशमें किये गये) पार्ष्णि (चरणका पृष्ठभाग, पक्षा०—पार्ष्णिग्राह) वाले कृशाङ्गी (दमयन्ती) के दोनों चरणकमलरूपी राजा किस राजा राजा, पक्षा०—पराजित राजा) के नम्र मस्तकसे (प्रणयकलहमें दमयन्तीको मान- करते समय नम्रमस्तकसे, पक्षा०—अनुचिताचरण के कारण कुपित विजयी राजा करनेके लिये नम्र मस्तक से) अपनी सेवा करानेके लिये इच्छुक हैं अर्थात् सेवा चाहते हैं, यह मैं नहीं जानता हूं। [जिस प्रकार हाथीवाले राजाओंको विजयी एवं पार्ष्णिगत राजा वाला कोई राजा किसीपर कुपित होकर पैरोंपर नम्र मस्तक होकर करनेसे उसके द्वारा सेवा कराता है, उसी प्रकार अपनी गजगतिसे गजराजोंके विजयी रहित पृष्ठभागवाले दमयन्तीके चरणकमलरूप राजा विवाह होनेपर प्रणयकलहमें न्तीको मानत्याग करनेके लिये पैरोंपर नवमस्तक पतिभूत किस राजाके द्वारा चाहता हैं, यह ज्ञात नहीं है। दमयन्ती गजगामिनी है]॥ १०१ ॥

कर्णाक्षिदन्तच्छदबाहुपाणिपदादिनः स्वाखिलतुल्यजेतुः ।
उद्वेगभागद्वयताभिमानादिहैव वेधा व्यधित द्वितीयम् ॥१०२॥

कर्णेति । स्वस्या यान्यखिलानि तुल्यानि शष्कुलीकमलाद्युपमानवस्तूनि
जेतुः भाषितपुंस्कत्वात् पुंवद्भावः । कर्णश्चाक्षि च दन्तच्छदश्च बाहुश्च पाणिश्च
कर्णाक्षिदन्तच्छदबाहुपाणिपदम् । प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः, तदादिर्यस्य तत्
शब्दात् कुचादिसंग्रहः । तदादिनोऽवयवजातस्य अद्वयताभिमानात् अद्वितीय
र्वात् उद्वेगभाक् रोषभाक् वेधा इहास्यामेव भैम्यां द्वितीयं कर्णादिकं व्यधित
वान् । तदवयवानामप्रतिमतया परस्परमेवौपम्यमासीत् । यथा कर्णस्येतर
करस्येतरकरणेत्यर्थः ॥ १०२ ॥

अपने उपमानभूत समस्त वस्तुओंको जीतनेवाले कान, नेत्र, दांत, ओष्ठ, बाहु, हाथ
पैर आदि ('आदि' पदसे स्तन, जघन, अङ्गुल्यादि) के अपने समान दूसरेके न
अभिमान होनेसे कुपित ब्रह्माने वहींपर अर्थात् कान आदिके समीपमें ही दूसरे कान
बना दिये । [दमयन्तीके कान, नेत्र, दांत, ओष्ठ, बाहु, हाथ और पैर आदि अपने
भूत क्रमशः पाश, कमल, पल्लव, लता, पल्लव या कमल और कमल आदि को सौन्द
शयसे पराजित कर 'हमारे समान कोई भी संसारमें सौन्दर्यशाली नहीं है' ऐसा
करने लगे, यह देख ब्रह्मा घबड़ा गये और उन्हें क्रोध आ गया, इससे उन्होंने उनके
वैसे ही सौन्दर्यशाली दूसरे कान, नेत्र आदिकी सृष्टि कर दी । अन्य भी कोई व्यक्ति
मानी व्यक्तिके पास ही में उसके प्रतिद्वन्द्वी वैसे ही व्यक्तिको नियुक्त कर देता है
यह अभिमान न करे । दमयन्तीके वाम कानके समान दाहिना कान तथा दाहिने
समान बांया कान है, इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये । दमयन्तीके कान
समानता परस्परमें ही एक दूसरेसे है, सांसारिक पाश, कमल, पल्लव आदि पदार्थोंसे

तुषारनिःशेषितमब्जसर्गं विधातुकामस्य पुनर्विधातुः ।
पञ्चस्विहास्याङ्घ्रिकरेष्वभिख्याभिक्षाऽधुना माधुकरीसदृक्षा ॥१०

तुषारेति । तुषारेण निःशेषितं नाशितमब्जसर्गं पद्मसृष्टिं पुनर्विधातुका
स्रष्टुकामस्य विधातुरधुना इहास्यां भैम्यां पञ्चसु आस्यं चाङ्घ्री च करौ च
अधिकरणैतावत्त्वे चेत्येकवद्भावप्रतिषेधः । इहाधिकरणं समानाधारत्वाद्वर्तिपदार्थ
तस्यैतावत्त्वं पञ्चत्वमभिख्याभिक्षा शोभायाच्ञा । 'अभिख्यानामशोभयोः'
मरः । माधुकरी नाम पञ्चभिक्षा तया सदृक्षा सदृशी "दृशेः क्सश्च वक्तव्यः"
क्सप्रत्ययः । वर्तते इति शेषः । एतदास्यादिपञ्चके यावल्लावण्यं तावत्
नास्तीत्यर्थः ॥ १०३ ॥

हिम (तुषार, पाला) से सर्वथा नष्ट कमलोंकी पुनः रचना करनेके इच्छुक
इस समय इस दमयन्तीके (कमलसे अधिक शोभा सम्पत्तियुक्त) मुख, दोनों

—इन पाँचोंमें शोभाकी याचना मधुकरी भिक्षाके समान होती है। [मधुकरी गृहाश्रमियोंसे ली जाती है, यह शास्त्र वचन है। दमयन्तीके मुख, चरणद्वय कमलसे अधिक एवं नित्य शोभायुक्त रहनेवाले हैं] ॥ १०३ ॥

एष्यन्ति यावद्गणनाद्दिगन्तान् नृपाः स्मरार्ताः शरणे प्रवेष्टुम् ।
इमे पदाब्जे विधिना[1]पि सृष्टास्तावत्य एवांगुलयोऽत्र[2] रेखाः ॥१०४॥

ष्यन्तीति। स्मरार्ता नृपा इमे पदाब्जे शरणे प्रवेष्टुं यावन्ती गणना यस्य यावद्गणनात् यावत्सङ्ख्याकात् दिगन्तात् यावत् सङ्ख्याकेभ्यः दिगन्तेभ्य । जातावेकवचनम्, एष्यन्ति, अत्रानयोः पदाब्जयोः तावत्य एव तत्सङ्ख्या ख्य एव रेखाः सृष्टाः, स्वयंवरार्थमागामिनां राज्ञामपादानदिक्सङ्ख्यासूचकरेखा ताङ्गुलयः सृष्टा इत्युत्प्रेक्षा ॥ १०४ ॥

मपीडित राजालोग शरणभूत इन (दमयन्ती) दोनों चरणोंमें प्रवेश करने के जितनी दिशाओंके अन्तसे आवेंगे, ब्रह्माने भी इन चरणोंमें उतनी ही अर्थात् दश ओंको रेखारूपमें बना दी है (पाठा०—..........अङ्गुलियां रेखा रूपमें नहीं बना अर्थात् बना दी हैं)। [दमयन्तीके दोनों पैरोंकी दश अङ्गुलियोंको ब्रह्माने इस से बनाया है कि दशों दिशाओंके अन्ततकके राजा कामपीडित होकर रक्षा पानेके त दोनों चरणोंके पास आवेंगे] ॥ १०४ ॥

प्रियासखी[3]भूतवतो मुदेदं व्यधाद्विधिः साधुदशत्वमिन्दोः ।
एतत्पदच्छद्मसरागपद्म सौभाग्यभाग्यं कथमन्यथा स्यात् ॥१०५॥

येति। विधिर्विधाता प्रियायाः भैम्याःसखीभूतवतः सुहृद्भूतस्य अभूततद्भावे , भवतेः क्तवतुप्रत्ययश्च। इन्दोरिदं साधुदशत्वं समीचीनावस्थत्वं सम्यक् परिपाकं मुदा सन्तोषेण व्यधात् विहितवानित्यर्थः। अन्यथाऽस्येन्दोःएतस्याः छद्म च्छलं यस्य तस्य सरागपद्मस्य सौभाग्ये सौन्दर्ये भाग्यं कथम् ? एतच्च- नसरोजसादृश्यं कथमित्यर्थः ॥ १०५ ॥

दमयन्ती मित्र के (पाठा०—पैरके नख) बने हुए चन्द्रमाकी अच्छी अवस्था —दश संख्यात्व) को प्रसन्न ब्रह्माने कर दिया है। नहीं तो दमयन्तीके चरणके रक्तकमलकी शोभाको पानेका भाग्य चन्द्रमाको कैसे होता ?। [जब ब्रह्मा के चरणोंकी रचनाकर रहे थे तब चन्द्रमा आकर उन चरणोंकी विनम्र भावसे सके चरणोंका मित्र बन गया अथवा—पाठान्तरसे दशनखरूप बनकर चरणोंकी

---

[1] "विधिना निसृष्टा" इति पाठान्तरम् ।

[2] "न रेखाः" इति पाठान्तरम् ।

[3] "प्रियानखी" इति पाठान्तरमेव समीचीनं प्रतिभाति ।

सेवाकी यह देख ब्रह्मा चन्द्रमापर प्रसन्न हो गये और हर्षसे चन्द्रमाकी दशा अच्छी दी। यही कारण है कि जो चन्द्रमा पहले पद्मकान्तिको रात्रिमें उसके मुकुलित हो नहीं प्राप्त करता था, उस पद्मकान्तिको पानेका सौभाग्य प्राप्त कर लिया है, वे पद्म न्तीके चरण ही हैं। अन्य भी किसी व्यक्तिपर जब जगत्सृष्टि-कर्ता ब्रह्मा प्रसन्न होते उसकी अच्छी दशा कर देते हैं और उस व्यक्तिको सद्भाग्य प्राप्त होजाता है। दमय चरण-नख चन्द्रतुल्य तथा चरण अरुण पद्मतुल्य हैं] ॥ १०५ ॥

यशः पदाङ्गुष्ठनखौ मुखञ्च बिभर्ति पूर्णेन्दु चतुष्टयं या।
कला चतुःषष्टिरुपैतु वासं तस्यां कथं सुभ्रुवि नाम नास्याम् ॥१०६॥

यश इति। या सुभ्रूर्यशः कीर्तिः पदाङ्गुष्ठयोर्नखौ मुखञ्चेति पूर्णेन्दुचतुष्टयं बि र्ति। तस्यामस्यां सुभ्रुवि सुन्दर्यां कलानां, षोडशभागानां विद्यानां च चतु षष्टिः चतुःषष्टि वासं निवासं कथं नाम नोपैतु उपैत्वेवेत्यर्थः। चन्द्रचतुष्टये प्रति षोडशकलत्वाच्चतुःषष्टिकलासम्पत्तिरित्यर्थः। द्वयीनामपि कलानामभेदाध्यवसा अयं निर्देशः ॥ १०६ ॥

जो दमयन्ती यश, दोनों पैरों (पाठा०—हाथों) के अँगूठोंके दो नख तथा मुख- चार पूर्ण चन्द्रोंको धारण करती हैं, अतः सुन्दर भ्रूवाली इस दमयन्तीमें चौंसठ क क्यों नहीं निवास करें। [दमयन्तीका यश, पैरके अँगूठोंके दोनों नख तथा मुख चन्द्ररूप हैं, उन्हें धारण करनेवाली दमयन्तीमें प्रत्येक पूर्ण चन्द्रमामें १६-१६ कला होनेसे (१६×४=६४) चौंसठ कलाएं दमयन्तीमें अवश्य ही रहती हैं। दमय ६४ कलाओंमें प्रवीण है] ॥ १०६ ॥

सृष्टातिविश्वा विधिनैव तावत्तस्यापि नीतोपरि यौवनेन।
वैदग्ध्यमध्याप्य मनोभुवेयमवापिता वाक्पथपारमेव ॥१०७॥

सृष्टेति। इयं तावत् विधिनैव अतिविश्वा विश्वमतिक्रान्ता विश्वातिशायिनी त्यर्थः। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीययेति समासः। सृष्टा निर्मिता अथ यौवने तस्य विधिकृतातिशयस्याप्युपरि नीता ततोऽप्यतिशयं प्रापितेत्यर्थः। अथ मनोभु वैदग्ध्यं प्रागल्भ्यमध्याप्य वाक्पथस्य वाङ्मार्गस्य पारस्परतीरमवाङ्मनसगोच त्वमेवावापिता। अत्र क्रमेणैकस्यानेकधर्मसम्बन्धकथनात् एकस्मिन्नर्थवानेकमिथु लक्षणपर्यायभेदः ॥ १०७ ॥

पहले तो ब्रह्माने ही इस दमयन्तीको संसारका अतिक्रमण करनेवाली अर्थात् विश्वा शायिनी सुन्दरी बनाया, (फिर) युवावस्थाने इसे उस विश्वातिशायी सौन्दर्यके आ पहुँचाया अर्थात् उस विश्वातिशायी सौन्दर्यको और अधिक बढ़ाया, (फिर) कामदे विदग्धता अर्थात् सब विषयोंमें चतुरताको पढ़ाकर इसे अवर्णनीय ही बना दिया। (भी कोई पढ़ा हुआ समुद्र व्यक्ति वाङ्मयको अभ्यासकर लेनेपर श्रेष्ठ-श्रेष्ठ शिक्ष

वती ज्ञानराशिको उत्तरोत्तर बढ़ाकर संसारमें सबसे श्रेष्ठ बन जाता है। दमयन्ती सौन्दर्यवाली, युवावस्थाको प्राप्त तथा कामचातुरीमें अतिनिपुण है) ॥ १०७ ॥

इति स चिकुरादारभ्यैतां नखावधि वर्णयन्
हरिणरमणीनेत्रां चित्राम्बुधौ तरदन्तरः।
हृदयभरणोद्वेलानन्दः सखीवृतभीमजा-
नयनविषयीभावे भावं दधार धराधिपः ॥१०८॥

ति। इतीत्थं स धराधिपो नलो हरिणरमणीनेत्रामेतां भैमीं चिकुरात् केश-रभ्य नखावधि पदाङ्गुष्ठनखान्तं वर्णयंश्चित्राम्बुधौ आश्चर्यसागरे तरदन्तरः न्तरङ्गस्तथाहृदये भरणात् पूरणात् उद्वेलो निःसीमः आनन्दो यस्य स सन् या भीमजाया भैम्या नयनविषयीभावे दृग्गोचरत्वे भावमभिप्रायं दधार, त्यक्षीभवितुमैच्छदित्यर्थः ॥ १०८ ॥

प्रकार (श्लो० २०—१०६) मृगीतुल्य नेत्रवाली इस दमयन्तीके केशसे नखतक रते हुए, आश्चर्यरूप समुद्रमें तैरते हुए अन्तःकरणवाले, (दमयन्तीके देखनेमात्रसे) परिपूर्ण होनेसे तटाक्रान्त आनन्द (-रूप समुद्र)वाले होते हुए वे राजा नल परिवृत भीमतनया (दमयन्ती) के प्रत्यक्ष (सामने) होनेका विचार किया कट हो गये। [जैसे समुद्र भीतर जलके भरजानेपर उसे तटके बाहर फेंक देता है, दमयन्तीको देखकर नलका हृदय पहलेसे ही आनन्दपूर्ण हो गया था, फिर उसके वर्णन करनेसे वह आनन्दसागर उमड़ पड़ा। 'अष्टमसर्गके प्रथम श्लोकमें द्वारा नलको देखे जानेका वर्णन होनेसे '…… तस्याः प्रत्यक्षीभवितुमैच्छत् दमयन्तीके प्रत्यक्ष (सामने प्रकट) होनेकी नलने इच्छाकी) यह अर्थ ठीक नहीं न्तु 'प्रकटो जातः' (प्रकट हुए) यह नारायणभट्ट-सम्मत अर्थ युक्त प्रतीत होता है] ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणितिभ्रातर्ययं तन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्सप्तमः ॥ १०९॥

र्षमित्यादि। गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणितिर्नामास्य कृतः प्रबन्धः तद्भ्रातरि कर्तृक इत्यर्थः ॥ १०९ ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु' समाख्याने
सप्तमः सर्गः समाप्तः ॥ ७ ॥

---

[१] "—भगिनी—" इति पाठान्तरम्।

एक ग्रन्थकर्ता होनेसे गौडोर्वीशकुलशस्तिंभणिति अर्थात् गौड देशके राजाके वं प्रशंसाको कहनेवाले (पक्षा०—उक्त 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणिति' नामवाले विशेष । पाठा०—गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभगिनी अर्थात् गौड देशके राजाके कुलकी प्र पक्षा०—'गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति' नामक ग्रन्थविशेष रूपी बहन] का सहोदर…… यह सप्तम सर्ग समाप्त हुआ । (शेष अर्थ पूर्ववत् जानें) ॥ १०९ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का सप्तम सर्ग समाप्त हुआ ॥७॥

अष्टमः सर्गः

अथाद्भुतेनास्तनिमेषमुद्र[1]मुन्निद्ररोमाणममुं युवानम् ।
दृशा पपुस्ताः सुदृशः समस्ताः सुता च भीमस्य महीमघोनः ॥१॥

अथेति । अथ नलप्रादुर्भावानन्तरमद्भुतेन दमयन्तीसाक्षात्कारजन्यवि वशेन अस्ता निमेषमुद्रा निमीलनबन्धो यस्य तं निर्निमेषमित्यर्थः । उन्निद्रो हृष्टरोमाणमिति च विस्मयानुभावोक्तिः । युवानममुं नलमन्यत्राद्भुतेन नल क्षात्कारविस्मयेन अस्तनिमेषमुद्राः उन्निद्ररोमाणो युवतय इति परिणामः ता अमी सभासदाः समस्ताः सुदृशः स्त्रियः दृशा पपुरतितृष्णया ददृशुरि तथा महीमघोनो भूदेवेन्द्रस्य भीमस्य सुता भैमी च पूर्वोक्तविस्मयानुभ युवतिश्चेति भावः । तं दृशा पपावित्यर्थः । भैम्याः पृथगुपादानं दर्शनस्यानु वैकत्वलक्षणविशेषद्योतनार्थः ॥ १ ॥

इस (नलके प्रत्यक्ष होने) के बाद दमयन्ती–दर्शनजन्य आश्चर्यसे निमेषरहि रोमाञ्चयुक्त इस युवक (नल) को सम्पूर्ण सुलोचनाओं (सुन्दर नेत्रवाली सखि तथा राजा भीमकी पुत्री (दमयन्ती) ने सहसा (अर्थात् अतर्कितावस्थामें नलके वहां होने से उत्पन्न) आश्चर्यसे निमेष रहित (एकटक) होकर नेत्रसे (एकवचन 'नेत्र' प्रयोग होनेसे कटाक्षपूर्वक) देखा । [परम सुन्दरी दमयन्तीके देखनेसे आश्चर्यचकि निर्निमेष एवं रोमाञ्चित हो ही रहे थे, किन्तु अन्तःपुरमें उनके सहसा प्रकट हो सखियों सहित दमयन्ती भी आश्चर्य चकित होकर निमेषरहित दृष्टिसे युवक दर्शनीय नलको देखने लगी। यहां 'सुदृशः' (सुन्दर नेत्रवाली) विशेषण देकर पान करना कहनेसे सुन्दर नेत्र होनेसे अधिक पान करने अर्थात् नलको देख सखियोंका सामर्थ्याधिक्य भी ध्वनित होता है। सब सखियोंके सहित दम नलको देखा] ॥ १ ॥

---

१. "—मुद्र—" इति पाठान्तरम् ।

कियच्चिरं दैवतभाषितानि निह्नोतुमेनं प्रभवन्तु नाम ।
लजालैः पिहितः स्वयं हि प्रकाशमासादयतीक्षुडिम्भः ॥ २ ॥

यमिन्द्रादिवाक्यातिक्रमेण कथमासां प्रादुरासीदित्यत्रोत्तरमाह—कियदिति । तानि आहत्य एवं दूत्यमाचरत्वेवंरूपाणीन्द्रवाक्यानि कियच्चिरं कियन्तं मित्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, अव्ययविशेषणत्वात् किमिति नपुंसकलि। 'क्रियाव्ययानां भेदकान्येकत्वेऽपि' इति नपुंसकलिङ्गशेषेष्वमरः । एनं ह्नोतुमाच्छादयितुं प्रभवन्तु शक्नुवन्तु नाम न शक्नुवन्तु खल्वित्यर्थः । वायां लोट् । तथाहि—पलालजालैः व्रीह्यादितृणपूगैः पिहितः संरक्षणार्थमाः इक्षुडिम्भः इक्षुप्ररोहः स्वयं स्वत एव प्रकाशं प्रादुर्भावमासादयति इत्थङ्कामिनोऽप्यतिप्रौढरागस्य दुर्वारो विकार इति भावः । अत्र नलेक्षुडिम्भयोतिबिम्बभावेन समानधर्मनिर्देशाद्दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २ ॥

ओंके कथन (अन्तर्द्धानरूप वरदानः, दे० ५।१३७) कितनी देरतक इस नलको के पुआलसे ढका हुआ गन्ने (ईख) का अङ्कुर स्वयमेव प्रकाशित हो जाता पुआलके ऊपर आ जाता) है । [यहां पर 'गन्ने' के अंकुरका दृष्टान्त देकर के अङ्कुरसे अन्तिम कालमें प्राप्त होनेवाले मधुर गुड–शर्करा आदिके समान वं प्रकट होनेका फल भी भविष्यमें मधुर अर्थात् उत्तम ही होगा, यह सूचित] ॥ २ ॥

पाङ्गमप्याप दृशोर्न रश्मिर्नलस्य भैमीमभिलष्य यावत् ।
राशुगः सुभ्रुवि तावदस्यां प्रत्यङ्गमापुङ्खशिखं ममज्ज ॥ ३ ॥

ङ्गमिति । अस्य नलस्य दृशो रश्मिः भैमीमभिलष्य कामयित्वा यावदपाङ्गपाङ्गदेशमपि नाप भैमीं तु नापेति किमु वक्तव्यं तावदेव स्मराशुगोऽस्यां भैम्यां प्रत्यङ्गमापुङ्खशिखं समूलाग्रमित्यर्थः । अभिविधावव्ययीभावः । न्योन्यरागोक्तिः । अत्र दृष्टिपातस्मरपातयोः करणयोः पौर्वापर्यभङ्गोक्तिरित्यभेदः ॥ ३ ॥

दृष्टि दमयन्तीकी अभिलाषा करके जब तक (अतिनिकटवर्ती) नेत्रप्रान्तको भी (फिर दूरस्थ दमयन्ती तक पहुंचनेकी बात ही क्या है ?) तभी तक कामदेवका दमयन्तीके प्रत्येक अङ्गमें फल (बाणाग्रभाग) लेकर पङ्खतक अर्थात् पूरा बाण प्रविष्ट [जबतक नल दमयन्तीको अच्छीतरह नहीं देख सके तभी तक प्रथमतः नलके दमयन्ती की कामवासना उन्हें देखकर अत्यन्त बढ़ गयी] ॥ ३ ॥

क्रमं विक्रमशक्तिसाम्यादुपाचरद्द्वावपि पञ्चबाणः ।
के न वैमत्य[1]ममुष्य कस्माद्बाणैरनर्द्धार्द्धविभागभाग्भिः ॥ ४ ॥

---

[1] "वैमुख्य—" इति पाठान्तरम् ।

पुनरप्यन्योऽन्यानुरागमेवाह—यदिति। पञ्चवाणो विषमेषुः द्वावपि भैमी अक्रममविद्यमानक्रमं युगपदित्यर्थः। विक्रमेण या शक्तिस्तस्याः साम्यात् साम्य लभ्य ल्यब्लोपे पञ्चमी। उपाचरत् उपाचचार विषमैः वाणैर्युगपत् उभावप्येवं प्रहृतवानिति। अमुष्य समौपचरणस्य अर्धार्धंशो विभागभाजो न भवन्तीति तथे विषमसङ्ख्यैः अशक्यसमविभागैरित्यर्थः। वाणैः शरैः कर्तृभिः पञ्चभिरिति भा वैमत्यमसम्मतिः कस्मात् कथं न चक्रे कृतं महच्चित्रमिति भावः। अत्र विषमैर्युग भयत्र समरप्रहारविरोधस्य स्मरमहिम्ना समाधानाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः॥ ४॥

पञ्चवाण (पांच वाणोंवाला अर्थात् कामदेव) पराक्रमसे उत्साहका अवल (अथवा—मानसिक उत्साहरूप वलके सामर्थ्य या समानतासे, अथवा—पक्षियोंके आक्र जो शक्ति उसकी समानतासे अर्थात् जिस प्रकार कवूतर एक साथ खलिहान आदिमें और दानोंको चूँगते हैं उसके समानतासे, अथवा—पक्षियोंकी वुद्धिके अर्थात् एक दाना चुंगना उसकी समानतासे, अथवा—विक्रमतुल्य नल और शक्ति की तुल्य अथवा—विक्रमरूप नल और शक्तिरूपा दमयन्तीकी समानतासे) एक साथ (दमयन्ती-नल) को प्रहृत किया, (अथवा—नल-दमयन्तीको विक्रम-शक्तितुल्य पूजित या सत्कृत किया); वह (प्रहार करना) इस (कामदेव) का पांच वाण हो आधा विभाग करनेके अयोग्य वाणोंसे विमतिभाव (विरुद्धभाव) क्यों नहीं किया! आश्चर्य है)। [यदि पञ्चवाण कामदेव दमयन्ती और नलको एक साथ वाणोंसे आहत करके आगे पीछे आहत करता तो जिसे पहले आहत करता उसमें अधिक अनुराग जिसे वादमें आहत करता उसमें कम अनुराग सिद्ध होता; इस प्रकार दोनोंका पर समान अनुराग नहीं प्रतीत होता। इससे कामदेवने एक साथ ही दोनोंको आह परस्परमें दोनोंका समान अनुराग है, यह सिद्ध किया है। इसी प्रकार अपने वाणोंकी पांच होनेसे विना आधा-आधा विभाग किये अर्थात् विना ढाई-ढाई वाण किये पूरे पांच-पांच वाणोंसे आहत कर कामदेवने उनका परस्परमें समान अनुराग होना किया। यदि कामदेव पांच वाण होनेसे उनका ठीक आधा-आधा विभाग नहीं हो था और जो वाण आधा होता वह खण्डित होनेसे निष्क्रिय हो जाता और यदि सब को आधा २ विभाग करते तो सबके सव निष्क्रिय हो जाते और प्रत्येक वाणोंके आदि पृथक् धर्म होनेसे जिस वाणको आधा २ करता तो उसका गुण नष्ट हो जाता या भी परस्पर वैमत्य (विरोध) होता कि मुझे क्यों दो टुकड़ा किया दूसरे को क्यों किया तथा यदि नल या दमयन्तीमेंसे किसीको दो और किसीको तीन वाणोंसे आहत तव भी कम दो वाणसे जो आहत होता उसमें कम अनुराग तथा तीन वाणोंसे जो होता उसमें अधिक अनुराग सिद्ध होता, अतः ऐसा न्यूनाधिक वाणोंसे प्रदान दोनों को समान वाणोंसे ही तथा एक साथ ही कामदेवने जो प्रहार किया, आश्चर्य है] ॥ ४ ॥

तस्मिन्नलोऽसाविति साऽन्वरज्यत् क्षणं क्षणं क्वेह स इत्युदास्त ।
पुरः स्म तस्यां वलतेऽस्य चित्तं दूत्यादनेनाथ पुनर्न्यवर्ति ॥ ५ ॥

स्मिन्निति । सा भैमी तस्मिन् पुंसि असौ नल इति हंसादिमुखश्रुतरूपसंवा- इति मत्वा क्षणं क्षणमल्पकालमत्यन्तसंयोगे द्वितीया । अन्वरज्यदनुरक्ताऽ- एतेन हर्षः सूचितः । पुरे स नलः क्वेहेत्यसम्भावितमिति मत्वेत्यर्थः । इति नैवो- त्वादप्रयोगः । क्षणमुदास्त उदासीना स्थिता । आसेः कर्तरि लङ् तङ् । एतेन सूचितः, तथा चास्या भावसन्धिरासीदित्यर्थः । अथ नलस्य तस्यां भाव- माह—अस्य नलस्य चेतः पुरः प्रथमं तस्यां दमयन्त्यां वलते स्म चचालेति । पुनः दूत्यादनेन कर्त्रा नलेन न्यवर्ति नीचकृत्ये स्थितस्य इदमनुचितमिति रेण निवर्तितमिति विषादोक्तिः, रागस्तु समप्ररूढ एवानयोरिति भावः ॥५॥

दमयन्ती उस (नल) में यह नल हैं यह मानकर अनुरक्त होती थी, वे यहां पुर या इस नगरमें भी) कहां से या कैसे आ गये ? यह मानकर उदासीन हो ती और उस नलका चित्त उस दमयन्तीमें पहले (पाठा०—बारबार) चञ्चल हो था, किन्तु बादमें दूत होनेसे वे अपने चित्तवृत्तिको हटा (रोक) लेते थे । [पहले तो नों को हर्ष तथा बादमें नलके अन्तः पुरमें आनेकी संभावना न होनेसे दमयन्ती था स्वय देवोंके दूत होनेसे दमयन्तीमें अनुराग करना अनुचित होनेसे नलको ता हो जाती थी । इस प्रकार पूर्व वचन (श्लो० ४ के) अनुसार दोनोंमें समान व्यक्त किया गया है] ॥ ५ ॥

[1]याचिदालोक्य नलं ललज्जे कयापि तद्भासि हृदा ममज्जे ।
[2]तं कापि मेने स्मरमेव कन्या भेजे मनोभूवशभूयमन्या ॥ ६ ॥

तत्सखीनामपि तदा शृङ्गारभावा बभूवुरित्याह—कयेति । कयाचित्कन्यया लोक्य ललज्जे लज्जितं, भावे लिट् । कयापि तद्भासि तल्लावण्ये हृदा ममज्जे हृदि भावितमित्यर्थः । एतेन तत्प्राप्तिसङ्कल्पो गम्यते, भावे लिट् । कापि कन्या स्मरमेव मेने, इति विस्मयोक्तिः । अन्या कन्या मनोभुवो वशभूयं वशत्वं भाव" इति क्यप् । भेजे । एतेन औत्सुक्यं गम्यते ॥ ६ ॥

को देखकर कोई (पाठा०—कोई कुलीन) सखी लज्जित हो गयी, कोई सखी सौन्दर्यमें हृदयसे मग्न हो गयी (सौन्दर्यके देखने मात्रसे कामपराधीन होकर हो गयी), किसी सखीने उनको (साक्षात्) कामदेव ही माना और कोई सखी परवश हो गयी ॥ ६ ॥

---

[1] "पुनः" इति पाठान्तरम् ।

[2] "तं वीक्ष्य काचित्कुलजा" इति पाठान्तरम् ।

कस्त्वं कुतो वेति न[1] जातु शेकुस्तं प्रष्टुमप्यप्रतिभातिभारात् ।
उत्तस्थुरभ्युत्थितिवा[2]ञ्छयेव निजासनान्नैकरसाः कृशाङ्ग्यः ॥ ७

कस्त्वमिति । कृशाङ्ग्यः स्त्रियः एकरसा आनन्दरसपरवशाः सत्य इत्यर्थः । एवाप्रतिभाया अप्रतिपत्तेरतिभारादतिमहत्त्वादिति कर्तव्यता मोहातिरेकादि तं नलं कस्त्वं कुतो वा आगत इति प्रष्टुमपि जातु कदापि न शेकुः । किञ्च अभ्यु तिवाञ्छया प्रत्युत्थानेच्छयेवोत्तस्थुः निजासनात्तु नोत्तस्थुः, तस्य तेजो विशे ठान्मनसैवोत्तस्थुः । न तु वपुषा रसपारवश्यादिति भावः ॥ ७ ॥

कृशाङ्गी बालाएं एक रस (आनन्दके परवश, पाठा०—अनेकरस अर्थात् भय, और आनन्दके परवश) हो (अत एव) प्रतिमा-हीन हो जानेसे 'तुम कौन हो ! आये हो ??' ऐसा नहीं पूछ सकीं; किन्तु एक रस (पाठा०—अनेकरस) होकर प्रतिभा- हो जानेसे) अभ्युत्थानकी इच्छासे अपने आसनसे (भी) नहीं उठीं (अपि तु तेजोविशेषसे मनसे ही अभ्युत्थान किया अर्थात् सभी नलको सहसा देखकर किंकर्तव्य हो गयीं । पाठा०—''''''अभ्युत्थानकी इच्छासे ही अपने आसनसे उठ गयी अर्थात् हो गयीं)। [अन्य भी कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट व्यक्तिके सहसा आनेपर उसका नाम आनेका कारण निष्प्रतिभ होकर नहीं पूछना, किन्तु मानो विवश हो खड़ा हो जाता है

स्वाच्छन्द्यमानन्दपरम्पराणां भैमी तमालोक्य किमप्यवाप ।
महारयं निर्झरिणीव वारामासाद्य धाराधरकेलिकालम् ॥ ८ ॥

स्वाच्छन्द्यमिति । भैमी तं नलमालोक्य किमप्यनिर्वाच्यमानन्दपरम्प स्वाच्छन्द्यमुच्छृङ्खलत्वम् । 'स्वच्छन्दो निरवग्रहः' इत्यमरः । निर्झरिणी गिरि धाराधरकेलिकालं मेघविहारकालं वर्षाकालमासाद्य वारां वारिणाम् । 'आपः स्त्री वार्वारि' इत्यमरः । महारयमिवाप ॥ ८ ॥

दमयन्तीने उस नलको देखकर अनिर्वचनीय आनन्दाधिक्यको उस प्रकार प्राप्त जिस प्रकार पर्वतीय नदी वर्षाकालको प्राप्तकर जलके बड़े वेगको प्राप्त करती है। [दर्शनसे दमयन्ती को वर्णनातीत आनन्द हुआ ॥ ८ ॥

तत्रैव मग्ना यदपश्यदग्रे नास्या दृगस्याङ्गमयास्यदन्यत् ।
नादास्यदस्यै यदि बुद्धिधारां विच्छिद्य विच्छिद्य चिरान्निमेषः ॥

तत्रेति । अस्या भैम्या दृक् दृष्टिरस्य नलस्य यत् अङ्गमग्रे प्रथममपश्यत् तत्रैव सती अन्यदस्याङ्गं नायास्यत् नागमिष्यत्, यदि निमेषः पक्ष्मपातः चिराद्वि विच्छिद्य विरमय्य विरमय्य बुद्धिधारां ज्ञानपरम्पराम् अस्यै दृशे नादास्यत् न

---

१. "न शक्नुवत्यः" इति पाठान्तरम् ।
२. "वाञ्छयैव निजासनादेकरसाः" इति पाठान्तरम् ।

वौ खूङ्। निमेषकृतबुद्धिविच्छेदादङ्गान्तरप्राप्तिः, न तु तृष्णयेति भावः ॥९॥

मयन्तीकी दृष्टि इस नलके जिस अङ्गमें पहले पड़ी उसीमें मग्न होकर (फँस कर र) दूसरे अङ्गको नहीं प्राप्त होती अर्थात् दूसरे अङ्गको नहीं देखती, यदि निमेष गिरना) बहुत देरमें रुक-रुककर इस (दमयन्ती या दृष्टि) का बुद्धिविच्छेद देता। [बहुत विलम्बतक एकटक देखते रहनेके बाद पलक गिरनेसे बुद्धि-विच्छेद हो दमयन्ती नलके दूसरे २ अङ्गोंको देखती थी, पहले देखे जाते हुए अङ्गको र्वथा सन्तुष्ट हो जानेके कारण दूसरे अङ्गको नहीं देखती थी]॥ ९ ॥

शापि सालिङ्गितमङ्गमस्य जग्राह नाग्रावगताङ्गहर्षैः ।
ङ्गान्तरेऽनन्तरमीक्षिते तु निवृत्य सस्मार न पूर्वदृष्टम् ॥ १० ॥

वि। सा भैमी दृशा आलिङ्गितं प्राप्तमस्य नलस्याङ्गमङ्गान्तरं अग्रावगताङ्गगृहीताङ्गजनितानन्दैः तत्पारवश्येनेत्यर्थः । न जग्राह नाज्ञासीत् । अथ कथरं अङ्गान्तरे ईक्षिते गृहीते तु निवृत्य पूर्वदृष्टमङ्गं न सस्मार तस्य तस्य लोकोति भावः ॥ १० ॥

दमयन्तीने नेत्रसे आलिङ्गित अर्थात् देखे हुए भी नलके अङ्गको पूर्वज्ञात हर्षके कारण और बादमें दूसरे अङ्गके देखनेपर पहले देखे हुए अङ्गका स्मरण नहीं किया। जिस अङ्गको दमयन्ती देखती थी, उसीको अत्यन्त रमणीय होनेके कारण देखने थी, पहले देखे हुए अङ्गका स्मरण तक भी वह नहीं करती थी। अन्य कोई पूर्वदृष्ट वस्तुका स्मरण करता है, पर दमयन्तीने स्मरण नहीं किया यह आश्चर्य है। भी कोई व्यक्ति उत्तम वस्तु प्राप्तकर पूर्वप्राप्त वस्तुका स्मरण नहीं करता। एक दूसरेसे बढ़कर सुन्दर थे]॥ १० ॥

लैकमस्यापघनं विशन्ती तद्दृष्टिरङ्गान्तरभुक्तिसीमाम् ।
रं चकारोभयलाभलोभात् स्वभावलोला गतमागतञ्च ॥ ११ ॥

ति। स्वभावलोला अभिमतविषयलाभे किमु वक्तव्यमिति भावः। तद्दृष्टिरस्य नलस्य एकमपघनमवयवम्। "अपघनोऽङ्ग"मित्ययान्तो निपातः। ङ्गान्तरभुक्तिसीमावयवान्तरदेशं विशन्ती चिरमुभयोः लाभे लोभाद्वर्धनात्। त्तो नित्यम्" इत्यत्र पृथक्सूत्रकरणादेव नित्यमजादेशे सिद्धे पुनर्नित्यग्रहस्य वृत्तावप्ययजर्थमिति कैयटः। गतमागतञ्च चकार उभयोरपि तथा दिति भावः ॥ ११ ॥

लके एक अङ्गको (देखनेके बाद उसे) छोड़कर दूसरे अङ्गके देखनेकी सीमामें डी हुई स्वभावतः चञ्चल दमयन्ती-दृष्टिने दोनों (अङ्गों) के सौन्दर्य लाभ होनेके गमनागमन किया अर्थात् कभी पूर्वदृष्ट अङ्गको देखा तो कभी दूसरे अङ्गको [जो स्वभावतः चञ्चल है वह बार २ इधर-उधर जाता-आता है, उसमें भी कदा-

चित् अभिलषित वस्तुकी प्राप्ति होने लगे तब तो वह (स्वभाव-चञ्चल व्यक्ति) अवस बार-बार इधर-उधर अर्थात् दोनों ओर आता जाता है । उसी प्रकार दमयन्तीकी दृष्टि स्वभाव चञ्चल (स्त्री की दृष्टिका चञ्चल होना गुण है, दोष नहीं) होनेसे कभी नलके दृष्ट अङ्गको देखती थी तो कभी नये दूसरे अङ्गको देखती थी, क्योंकि वह यह चाहती कि दोनों अङ्गोंमेंसे जो अङ्ग अधिक सुन्दर हो उसे मैं देखूं, किन्तु बार-बार ऐसा करनेपर नलके दोनों या सभी अङ्गोंके एकसे एक सुन्दर होनेके कारण निर्णय नहीं कर सकने कारण उसे बार-बार गमनागमन करना पड़ा । अन्य भी कोई अधिक लाभेच्छु व्या अधिक लाभ होनेकी सम्भावना होनेपर या अधिक लाभ होते रहने तक एकसे दूसरे स्था बार-बार गमनागमन करता है] ॥ ११ ॥

निरीक्षितञ्चाङ्गमवीक्षितञ्च दृशा पिबन्ती रभसेन तस्य ।
समानमानन्दमियं दधाना विवेद भेदं न विदर्भसुभ्रूः ॥ १२ ॥

निरीक्षितमिति । इयं विदर्भसुभ्रूर्वैदर्भी तस्य नलस्य सम्बन्धि निरीक्षितं अवीक्षितं चाङ्गं दृशा रभसेन पिबन्ती तृष्णया पश्यन्ती समानमानन्दं दधाना भेदं दृष्टपूर्वमिदमदृष्टपूर्वमिति विवेकं न विवेद । उभे अप्यनवद्यया अपूर्ववदेव प्रीते इत्य

उस नलके सम्यक् प्रकारसे देखे हुए तथा नहीं देखे हुए अङ्गको सादर देखती समान आनन्दको धारण करती हुई विदर्भराजकुमारी दमयन्तीने (दोनोंमें) कोई भेद न समझा । [अन्य कोई भी व्यक्ति देखे हुए पदार्थमें अनुत्कण्ठित तथा नहीं देखे हुए पदा उत्कण्ठित रहता है, किन्तु नलके सब अङ्गोंके एकसे एकके बढ़कर सुन्दर होनेसे दमयन्ती तथा अदृष्ट दोनों प्रकारके अङ्गोंमें कोई भेद नहीं जान सकी, अपि तु उसने दोनों ही प्रकार अङ्गोंमें समान आनन्दको प्राप्त किया । अन्य भी कोई योग साधनेवाली नारी व घट तथा वेदवाक्यादिसे ब्रह्मका प्रत्यक्ष (वास्तविक स्वरूपका ज्ञान) होनेपर वेदादि वा से विचारकर निःसारभूत घटादि का त्याग एवं ससार ब्रह्मका ग्रहण कर महान् आनन्द करती है । किन्तु दमयन्तीने दोनों अङ्गोंमें जो समान आनन्द प्राप्त किया, यह आश्च अथवा—जगन्मात्रके ब्रह्मस्वरूप होनेके कारण वह वस्तु पूर्वदृष्ट हो या न हो, किन्तु साधक वह व्यक्ति उक्त दोनों प्रकारको वस्तुओं में ब्रह्मानन्दको समान रूपसे प्राप्त कर है उसी प्रकार उक्त द्विविध अङ्गोंके -नलसम्बन्धी होनेसे अभेद होनेके कारण उनसे दम न्तीको समान आनन्द प्राप्त हुआ, यह ठीक ही है] ॥ १२ ॥

सूक्ष्मे घने नैषधकेशपाशे निपत्य निष्यन्दतरीभवद्भ्याम् ।
तस्यानुबन्धं न विमोच्य गन्तुमपारि तल्लोचनखञ्जनाभ्याम् ॥१३॥

सूक्ष्म इति । सूक्ष्मे तनीयसि घने सान्द्रे दृढे च नैषधस्य नलस्य केशपाशे के कलापे केशापबन्धने च । 'घनं सान्द्रे दृढे हार्द्ये पाशः पद्यादिबन्धने' इति विश्वः निपत्य निष्पन्दतरीभवद्भ्यामेकत्र विस्मयादन्यत्र यन्त्रलग्नाच्च निश्चलीभवद्भ्यां

भैम्याः लोचने एव खञ्जनौ नेत्रोपमानपक्षिणौ। 'खञ्जरीटस्तु खञ्जनः' ...। ताभ्यां तस्य केशपाशस्य सम्बन्धिनमनुबन्धं तत्र सक्तिं बन्धनञ्च विमोच्य ...ता गन्तुं नापारि न शेके। पारयतेर्भावे लुङ्। श्लिष्टविशेषेणं रूपकम् ॥१३॥

...ले तथा सघन नलके केश-समूहमें (पक्षा०—केशरूपी जालमें) संलग्न होकर ...-गिर कर अर्थात् फँसकर) निश्चल होते हुए (अनुरागसे निश्चल भावसे देखते ...—जालसे छुटकर बाहर निकलनेमें असमर्थ होते हुए) उस दमयन्तीके नेत्ररूपी ...पक्षी उस केशके अनुराग (पक्षा०—बन्धन) को छोड़कर अन्यत्र जाने (पक्षा०—...छूटकर बाहर निकलने) के लिये समर्थ नहीं हो सके। [जिस प्रकार खञ्जन ...) पक्षी महीन एवं सघन केशनिर्मित जालमें फँसकर बाहर निकलनेमें असमर्थ ...ते हैं, उसी प्रकार खञ्जनके तुल्य सुन्दर दमयन्तीका नेत्रद्वय महीन एवं सघन नलके ...मूहको देखनेमें संलग्न होकर अनुरागवश उसे छोड़कर दूसरे अङ्गको देखनेमें असमर्थ ...। सूक्ष्म एवं सघन होनेसे शुभ लक्षणोंसे युक्त नलके केशसमूह को दमयन्ती सानु-...र देखने लगी ॥ १३ ॥

भूलोकभर्तुर्मुखपाणिपादपद्मैः परीरम्भमवाप्य तस्य ।
दमस्वसुर्दृष्टिसरोजराजिश्चिरं न तत्याज सबन्धुबन्धम् ॥ १४ ॥

भूलोकेति। दमस्वसुर्दृष्टय एव सरोजानि क्रियाभेदाद्बहुत्वं तेषां राजिः भूलोक-...स्य नलस्य मुखं च पाणी च पादौ च मुखपाणिपादम् प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। ...पद्मानि तैः सह परीरम्भमाश्लेषमवाप्य समाना बन्धवः सबन्धवः। "जाति-...स" इत्यादिना समानशब्दस्य 'स' भावः। तेषु बन्धमासक्तिं चिरं न तत्याज। ...था हि बन्धवः चिरमनाश्लिष्य न मुञ्चन्तीति भावः। पद्मत्वसजातित्वात् ...बन्धुत्वम् ॥ १४ ॥

...मयन्तीके नेत्ररूप कमलसमूहने उस राजा नलके मुख, हाथ और चरणरूप कमलोंका ...कर अर्थात् देखकर समान बन्धुके बन्धन (अनुराग-बन्धन अर्थात् दर्शनासक्ति) को ...नहीं छोड़ा। [जिस प्रकार कोई व्यक्ति समान बन्धुको प्राप्तकर देरतक उसका ...न करना नहीं छोड़ता, उसी प्रकार दमयन्तीके कमल तुल्य नेत्र नलके कमलतुल्य ...हाथ और पैरको देरतक देखते रहे। नलके मुखादि तथा दमयन्तीके नेत्रके कमलतुल्य ...परस्परमें उनका समान बन्धुत्व होना उचित ही है] ॥ १४ ॥

तत्कालमानन्दमयी भवन्ती भवत्तरानिर्वचनीयमोहा ।
सा मुक्तसंसारिदशारसाभ्यां द्विस्वादमुल्लासमभुङ्क्त मृष्टम् ॥ १५ ॥

तत्कालमिति। तस्मिन् काले तत्कालम् अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। आनन्दमयी ...ती आनन्दात्मिका सती टित्वादुभयत्र ङीप्। तथा च भवत्तरोऽतिशयेन भवन्

---

1. 'अमुक्त' इति पाठान्तरम्।

चित् अभिलषित वस्तुकी प्राप्ति होने लगे तब तो वह (स्वभाव-चञ्चल व्यक्ति) अवश बार-बार इधर-उधर अर्थात् दोनों ओर आता जाता है। उसी प्रकार दमयन्तीकी दृष्टि स्वभाव चञ्चल (स्त्री की दृष्टिका चञ्चल होना गुण है, दोष नहीं) होनेसे कभी नलके दृष्ट अङ्गको देखती थी तो कभी नये दूसरे अङ्गको देखती थी, क्योंकि वह यह चाहती कि दोनों अङ्गोंमेंसे जो अङ्ग अधिक सुन्दर हो उसे मैं देखूं, किन्तु बार-बार ऐसा करनेपर नलके दोनों या सभी अङ्गोंके एकसे एक सुन्दर होनेके कारण निर्णय नहीं कर सके कारण उसे बार-बार गमनागमन करना पड़ा। अन्य भी कोई अधिक लाभेच्छु व्या अधिक लाभ होनेकी सम्भावना होनेपर या अधिक लाभ होते रहने तक एकसे दूसरे स्थ बार-बार गमनागमन करता है] ॥ ११ ॥

निरीक्षितञ्चाङ्गमवीक्षितञ्च दृशा पिबन्ती रभसेन तस्य ।
समानमानन्दमियं दधाना विवेद भेदं न विदर्भसुभ्रूः ॥ १२ ॥

निरीक्षितमिति। इयं विदर्भसुभ्रूर्वैदर्भी तस्य नलस्य सम्बन्धि निरीक्षितं अवीक्षितं चाङ्गं दृशा रभसेन पिबन्ती तृष्णया पश्यन्ती समानमानन्दं दधाना भेदं दृष्टपूर्वमिदमदृष्टपूर्वमिति विवेकं न विवेद। उभे अप्यनवद्यया अपूर्ववदेव प्रीते इत्य

उस नलके सम्यक् प्रकारसे देखे हुए तथा नहीं देखे हुए अङ्गको सादर देखती समान आनन्दको धारण करती हुई विदर्भराजकुमारी दमयन्तीने (दोनोंमें) कोई भेद न समझा। [अन्य कोई भी व्यक्ति देखे हुए पदार्थमें अनुत्कण्ठित तथा नहीं देखे हुए पदा उत्कण्ठित रहता है, किन्तु नलके सब अङ्गोंके एकसे एकके बढ़कर सुन्दर होनेसे दमयन्ती तथा अदृष्ट दोनों प्रकारके अङ्गोमें कोई भेद नहीं जान सकी, अपि तु उसने दोनों ही प्रका अङ्गोंमें समान आनन्दको प्राप्त किया। अन्य भी कोई योग साधनेवाली नारी व घट तथा वेदवाक्यादिसे ब्रह्मका प्रत्यक्ष (वास्तविक स्वरूपका ज्ञान) होनेपर वेदादि से विचारकर निःसारभूत घटादि का त्याग एवं ससार ब्रह्मका ग्रहण कर महान् आनन्द करती है। किन्तु दमयन्तीने दोनों अङ्गोंमें जो समान आनन्द प्राप्त किया, यह आश्च अथवा—जगन्मात्रके ब्रह्मस्वरूप होनेके कारण वह वस्तु पूर्वदृष्ट हो या न हो, किन्तु साधक वह व्यक्ति उक्त दोनों प्रकारकी वस्तुओं में ब्रह्मानन्दको समान रूपसे प्राप्त कर है उसी प्रकार उक्त द्विविध अङ्गोंके नलसम्बन्धी होनेसे अभेद होनेके कारण उनसे दम न्तीको समान आनन्द प्राप्त हुआ, यह ठीक ही है] ॥ १२ ॥

सूक्ष्मे घने नैषधकेशपाशे निपत्य निष्यन्दतरीभवद्भ्याम् ।
तस्यानुबन्धं न विमोच्य गन्तुमपारि तल्लोचनखञ्जनाभ्याम् ॥१३॥

सूक्ष्म इति। सूक्ष्मे तनीयसि घने सान्द्रे दृढे च नैषधस्य नलस्य केशपाशे केश कलापे केशापबन्धने च। 'घनं सान्द्रे दृढे हार्द्ये पाशः पक्ष्यादिबन्धने' इति विश्वः निपत्य निष्पन्दतरीभवद्भ्यामेकत्र विस्मयादन्यत्र यन्त्रलग्नाच्च निश्चलीभवद्भ्यां

भैम्याः लोचने एव खञ्जनौ नेत्रोपमानपक्षिणौ। 'खञ्जरीटस्तु खञ्जनः' । ताभ्यां तस्य केशपाशस्य सम्बन्धिनमनुबन्धं तत्र सक्तिं बन्धनञ्च विमोच्य गन्तुं नापारि न शेके। पारयतेर्भावे लुङ्। श्लिष्टविशेषेणं रूपकम् ॥१३॥

तथा सघन नलके केश-समूहमें (पक्षा०—केशरूपी जालमें) संलग्न होकर -गिर कर अर्थात् फँसकर) निश्चल होते हुए (अनुरागसे निश्चल भावसे देखते —जालसे छुटकर बाहर निकलनेमें असमर्थ होते हुए) उस दमयन्तीके नेत्ररूपी पक्षी उस केशके अनुराग (पक्षा०—बन्धन) को छोड़कर अन्यत्र जाने (पक्षा०— छूटकर बाहर निकलने) के लिये समर्थ नहीं हो सके। [जिस प्रकार खञ्जन) पक्षी महीन एवं सघन केशनिर्मित जालमें फँसकर बाहर निकलनेमें असमर्थ हैं, उसी प्रकार खञ्जनके तुल्य सुन्दर दमयन्तीका नेत्रद्वय महीन एवं सघन नलके को देखनेमें संलग्न होकर अनुरागवश उसे छोड़कर दूसरे अङ्गको देखनेमें असमर्थ । सूक्ष्म एवं सघन होनेसे शुभ लक्षणोंसे युक्त नलके केशसमूहको दमयन्ती सानुकर देखने लगी ॥ १३ ॥

भूलोकभर्तुर्मुखपाणिपादपद्मैः परीरम्भमवाप्य तस्य ।
दमस्वसुर्दृष्टिसरोजराजिश्चिरं न तत्याज सबन्धुबन्धम् ॥ १४ ॥

भूलोकेति। दमस्वसुर्दृष्टय एव सरोजानि क्रियाभेदाद्बहुत्वं तेषां राजिः भूलोकस्य नलस्य मुखं च पाणी च पादौ च मुखपाणिपादम् प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। पद्मानि तैः सह परीरम्भमाश्लेषमवाप्य समाना बन्धवः सबन्धवः। "जाति-" इत्यादिना समानशब्दस्य 'स' भावः। तेषु बन्धमासक्तिं चिरं न तत्याज। हि बन्धवः चिरमनाश्लिष्य न मुञ्चन्तीति भावः। पद्मत्वसजातित्वात् बन्धुत्वम् ॥ १४ ॥

यन्तीके नेत्ररूप कमलसमूहने उस राजा नलके मुख, हाथ और चरणरूप कमलोंका कर अर्थात् देखकर समान बन्धुके बन्धन (अनुराग-बन्धन अर्थात् दर्शनासक्ति) को नहीं छोड़ा। [जिस प्रकार कोई व्यक्ति समान बन्धुको प्राप्तकर देरतक उसका न करना नहीं छोड़ता, उसी प्रकार दमयन्तीके कमल तुल्य नेत्र नलके कमलतुल्य हाथ और पैरको देरतक देखते रहे। नलके मुखादि तथा दमयन्तीके नेत्रके कमलतुल्य परस्परमें उनका समान बन्धुत्व होना उचित ही है] ॥ १४ ॥

तत्कालमानन्दमयी भवन्ती भवत्तरानिर्वचनीयमोहा ।
सा मुक्तसंसारिदशारसाभ्यां द्विस्वादमुल्लासमभुङ्क्त मृष्टम् ॥ १५ ॥

तत्कालमिति। तस्मिन् काले तत्कालम् अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। आनन्दमयी आनन्दात्मिका सती टित्वादुभयत्र ङीप्। तथा च भवत्तरोऽतिशयेन भवन्

---

1. 'अमुक्त' इति पाठान्तरम्।

अनिर्वचनीयो निर्वक्तुमशक्यो मोहः अप्रतिपत्तिर्यस्याः सा आनन्दमग्नेत्यर्थः।
भैमी विमुक्तसंसारिणोर्दशे अवस्थे तयोर्यौ रसौ स्वादौ ताभ्यां द्वौ स्वादौ
तद्द्विस्वादन्तादृक् स्वादमित्यर्थः। मृष्टं शुद्धमुल्लासमुल्लासतामभुङ्क्त मु
"भुजोऽनवन" इति लुङ् तङ्। आनन्दपारवश्यान्नैव किञ्चिद्विवेदेत्यर्थः॥ १५॥

उस (नलको देखनेके) समय (नलके अलभ्य दर्शनलाभसे) आनन्दस्वरूपा
अत्यन्त अनिर्वचनीय मोह (अज्ञान या किंकर्तव्यमूढता, अथवा अतिशय सुरक्षित
पुरमें नल कैसे आगये, वे नहीं हैं क्या? इत्यादि भ्रम) वाली उस दमयन्तीने (
नलदर्शनजन्य आनन्दसे) मुक्त तथा (मोह या भ्रम होनेसे) संसारीकी अवस्थाओं से
उल्लास या मधुर द्विविध स्वादको प्राप्त किया। [मुक्त व्यक्ति ससारी नहीं होता एवं सं
रहता हुआ व्यक्ति मुक्त भी नहीं होता; किन्तु दमयन्तीने एक साथ ही दोनों अवस्था
आनन्द प्राप्त किया, यह आश्चर्य की बात है]॥ १५॥

दूते नलश्रीभृति भाविभावा कलङ्किनीयं जनितेति[1] नूनम्।
न स व्यधान्नैषधकायमायं विधिः स्वयं दूतमिमां प्रतीन्द्रम्॥ १६

अथ भैमी दूतसम्भाषणं विवक्षुर्नलैकबद्धप्राणायाः तस्यास्पदमनौचित्यं
परिहरति—दूत इत्यादि। नलस्य श्रियमिव श्रियं बिभर्तीति नलश्रीभृत्
इत्यर्थः। निदर्शनालङ्कारः। तस्मिन् दूते भाविभावा भविष्यदनुरागा इयं
कलङ्किनी भग्नव्रता जनिता भविष्यतीति मत्वा जनिधातोर्लुट्। विधिर्विधाता
भैमीं प्रति नैषधस्य काय एव माया कपटं यस्य तं नलरूपधारिणं स्वयं साक्षा
मेव दूतं न संन्यधात् न कल्पितवान्, उक्तदोषपरिहारायैवेन्द्रस्य तादृशीं
नाजीजनदित्यर्थः। नूनमिति वितर्के। वस्तुविचारत्वान्नायमुत्प्रेक्षालङ्कारः। दूत
तिरोहितस्यापि तस्य वस्तुनो नलत्वान्नायं कलङ्क इति भावः॥ १६॥

नलकी शोभा अर्थात् स्वरूपको धारण करनेवाले दूतमें भावी भाव करनेवाली
(पतिव्रता) दमयन्ती (अन्य पुरुषमें भाव करनेसे) निश्चय ही कलङ्कयुक्त न होगी,
लिये उस ब्रह्माने इस दमयन्तीके स्वयं इन्द्रको ही नलरूपधारी दूत नहीं बनाया। [
इन्द्र स्वयं नलका रूप धारण कर दूत बनकर दमयन्तीके यहां जायेंगे तो नलरूपधारी इ
वास्तविक नल समझकर अनुराग करनेके कारण पतिव्रता दमयन्तीको दोष लगेगा,
विचारसे ब्रह्माने इन्द्रको नलरूपधारी दूत बनाकर दमयन्तीके यहां नहीं भेजा। दूत
आनेपर भी वास्तविक नल होनेसे उनमें अनुराग करनेवाली पतिव्रता दमयन्तीके पाति
कोई क्षति नहीं हुई]॥ १६॥

पुण्ये मनः कस्य मुनेरपि स्यात्प्रमाणमास्ते यदघेऽपि धावत्।
तच्छिन्ति चित्तं परमेश्वरस्तु भक्तस्य हृष्यत्करुणो रुणद्धि॥ १७॥

---

[1] "जनिमेति" इति पाठान्तरम्।

न्द्रेऽपि समागते तदनभिलाषेनोक्तदोषावकाशः कुत इत्याशङ्क्य चित्त-गिकत्वान्न तथा श्रद्धेयमित्याह—पुण्य इति। मुनेर्यतेरपि किमुतान्यस्येति कस्य मनः पुण्ये स्यात् पुण्य एव प्रमाणं न कस्यापीत्यर्थः। कुतः, यद्य-पापेऽपि धावदुच्छृङ्खलं प्रवर्तमानं तन्मन एव प्रमाणं निश्चायकमास्ते। किन्तु स्या उद्यत्कृपः परमेश्वर एव तच्चिन्ति पापचिन्तकं भक्तस्य चित्तं रुणद्धि ति। तस्मात् विधिविलसितमेवैतदिन्द्रचेष्टितमिति भावः ॥ १७ ॥

भी मुनिका चित्त पुण्यमें (सत्कार्यमात्रमें ही) निश्चित रहता है ? अर्थात् किसी नहीं, क्योंकि पाप (कर्म) में भी दौड़ता है (विना विचार किये प्रवृत्त होना है), करुणाकर परमेश्वर या ब्रह्मा भक्तके उस (पाप या परमेश्वर) की चिन्ता करने को रोकते हैं अर्थात् पापकर्मसे वचा लेते हैं। [अत एव विषय निःस्पृह मुनियोंके प्रवृत्ति भी सहसा पापकी ओर होती है परन्तु वे भगवत्कृपासे पापसे वच जाते योन्मुख दमयन्ती का चित्त नलके निश्चय नहीं रहनेपर भी तद्रूप नलमें अनुरक्त भी भगवत्कृपासे वास्तविक नलमें ही अनुरक्त हुआ। इस कारण उसके पातिव्रत्य लेशमात्र भी क्षति नहीं पहुंची] ॥ १७ ॥

लीकदृष्टे मदनोन्मदिष्णुर्यथाप शालीनतया[1] न मौनः ।
थैव तथ्येऽपि नले न लेभे मुग्धेषु कः सत्यमृषाविवेकः ॥१८॥

यति धार्ष्ट्यदोषं परिहरति–सेति। मदनोन्मदिष्णुः उन्मदशीला "अलङ्कृञ्नि" ना इष्णुच्। सा भैमी यथा अलीकदृष्टे मिथ्यादृष्टे शालीतनया अधृष्टतया । कौलीने अधृष्टाकार्यकारिणी" इति निपातः। मौनं नाप तदैव तथ्येऽपि नले । एतत्सत्येऽनुचितमित्याशङ्क्य अर्थान्तरन्यासेन परिहरति। मुग्धेषु मदनो-षु सत्यमृषा सत्यासत्ययोर्विवेको विवेचना नास्तीत्यर्थः। अत एव न धार्ष्ट्य-ति भावः ॥ १८ ॥

न्मत्ता वह दमयन्ती जिस प्रकार असत्यदृष्ट (स्वप्न-भ्रमादिमें देखे गये) नलमें स्यासे मौन नहीं रही, उसी प्रकार (अन्तःपुरमें दूतरूपमें आनेसे) सत्य दृष्ट र्विक देखे गये) नलमें भी मौन नहीं रही अर्थात् नलको वहां देखकर बोली। [ठीक मोहित व्यक्तियोंमें वास्तविक या अवास्तविक का कौन विचार है अर्थात् कोई नहीं। —'अत्यन्तसलज्ज' शब्द दमयन्तीका विशेषण है। सिद्धान्तवागीश महोदयने जो ' शब्दका 'निर्लज्ज या अतिप्रगल्भ' अर्थ किया है, वह 'स्यादधृष्टे तु शालीनः' ३।१।२६), 'अथाधृष्टे शालीनशारदौ' (हैम ३।९७), 'अधृष्टौ च प्रोक्तौ शालीन-(हला०—२।२२०); के वचनोंसे विरुद्ध होनेके कारण चिन्त्य है] ॥ १८ ॥

---

[1] "शालीनतमा" इति पाठान्तरम्।

व्यर्थीभवद्भावपिधानयत्ना स्वरेण साथ श्लथगद्गदेन ।
सखीजने[1] साध्वससन्नवाचि स्वयं तमूचे नमदाननेन्दुः ॥१९॥

व्यर्थीभवदिति । अथ ह्रिस्वादभागानन्तरं व्यर्थीभवन् भावपिधाने आकारो यत्नो यस्याः सा गोप्तुमशक्येत्यर्थः । सा भैमी सखीजने साध्वसेन सन्नवाचि त्तमुखे कुण्ठिते सति, अन्यथा सखीमुखेनैव ब्रूयादिति भावः । नमदाननेन्दु नम्रमुखी सती श्लथगद्गदेन स्खलितेन स्वरेण तं नलं स्वयमूचे । कर्तरि लिङ् " चचिः" ॥ १९ ॥

अपने भावको छिपानेमें असफल वह दमयन्ती भयसे सखियोंके चुप होनेपर (ल नम्रमुखी होकर उन नलसे स्वयं बोली—[नलको सहसा अन्तःपुरमें उपस्थित देखकर सखियों को बोलनेमें असमर्थ देखकर दमयन्ती नलसे बोली । अन्यथा सखियोंसे ही लिये वह कहती] ॥ १९ ॥

नत्वा शिरोरत्नरुचापि पाद्यं सम्पाद्यमाचारविदातिथिभ्यः ।
प्रियाक्षरालीरसधारयापि वैधी विधेया मधुपर्कतृप्तिः ॥२०॥[2]

अथास्यातिथ्यं चिकीर्षुस्त्रिभिस्तत्कर्तव्यतामाह—नत्वेत्यादि । आचारविद्गृ स्थेन अतिथिभ्यो नत्वा पदयोर्निपत्य शिरोरत्नस्य रुचा कान्त्यापि पाद्यं पादा "पादार्घाभ्यां च" इति यत्प्रत्ययः । सम्पाद्यं, किञ्च प्रियाक्षराल्या प्रियवाक्य केन या रसधारा आनन्दलहरी तयापि वैधा विधिप्राप्तमधुपर्केण या तृप्तिः सा वि सम्पाद्या मुख्यानुकल्पोऽप्यनुष्ठेय इति भावः ॥ २० ॥

आचारज्ञ व्यक्तिको अतिथियोंके लिये प्रणामकर चूडामणि-कान्तिसे भी पाद्य (प्रक्षालनार्थ जल) देना चाहिये और प्रिय भाषणरूप रसधारासे भी विधिप्राप्त मधु तृप्ति करनी चाहिये । (पाठा०—'भाषणद्वारा भी मधुपर्कतृप्ति करनी चाहिये' आप-जैसे महापुरुषमें मेरा बोलना धृष्टता नहीं है) ॥ २० ॥

स्वात्मापि शीलेन तृणं विधेयं देया विहायासनभूर्निजापि ।
आनन्दवाष्पैरपि कल्प्यमम्भः पृच्छा विधेया मधुभिर्वचोभिः ॥२

स्वात्मापीति । किञ्च शीलेनाचारप्रमाणेन स्वात्मा स्वदेहोऽपि । 'आत्मा जीव देहः' इति वैजयन्ती । तृणं विधेयं तृणवदर्पणीयम्, निजापि आसनभूरुपवेशन विहाय स्वयं तत उत्थाय देया, आनन्दवाष्पैरप्यम्भः पादोदकं कल्प्यम्, मधुभि

---

१. "सखचये साध्वसबद्धवाचि" इति पाठान्तरम् ।

२. क्वचित्तृतीयचतुर्थपादयोर्व्यत्यासेन (वैधी विधेया मधुपर्कतृप्तिः प्रिया रालीरसधारयाऽपि इत्येवं) तथा "उक्त्यापि युक्ता मधुपर्कतृप्तिर्न तद्गिरस्वा धृष्टता मे" इति पाठान्तरम् ।

वचोभिः पृच्छा कुशलप्रश्नः । 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः । भिदादिप्रत्ययः । विधेया कर्तव्या । 'तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता । ऽतिथिः सायमपि वाग्भूतृणोदकैः' इति स्मरणात् तृणाद्यसम्भवे तत्स्थाने रादिकमपि देयम् । अशक्तस्यानुकल्पेनापि शास्त्रार्थसिद्धेरिति भावः ॥ २१ ॥

र्वाद शीलके द्वारा (या सदाचार या स्वभावसे) अपने शरीरको भी तृण बनाना अर्थात् तृण जिसप्रकार अतिनम्र होता है उसी प्रकार अपने शरीरको नम्र करना (प्रणामादिसे नम्र बनना चाहिये, पक्षा०—शरीरको तृण स्थानीय बनाना चाहिये), सन की भूमिको भी छोड़कर देना चाहिये (स्थानान्तरके न होनेपर अपना आसन छोड़कर उसे बैठनेके लिये देना चाहिये), आनन्दजन्य आंसूको जल (पादप्रक्षाल) बनाना चाहिये (जलके मिलनेकी सम्भावना नहीं होनेपर आनन्द जन्य आंसू ल-स्थानीय समझना चाहिये, पक्षा०—अतिथिको देखकर हर्षित होना चाहिये ।) धुर वचनोंसे (कुशलादि) प्रश्न करना चाहिये । [अतिथि से मधुर भाषणकर उसके श, कुशल, आगमन कारण आदिके विषयमें प्रश्न करना चाहिये] ॥ २१ ॥

पदोपहारेऽनुपनम्रतापि सम्भाव्यतेऽपां त्वरयापराधः ।
तत्कर्तुमर्हाञ्जलिसञ्जनेन स्व[1]संभृतिप्राञ्जलतापि तावत् ॥२२॥

इति । पदोपहारे पादोपचारप्रस्तावे त्वरया वेगेन आपामुदकानां अनुपनम्रता तत्वमपराधः अपचारः सम्भाव्यते अपराधत्वेन गृह्यत इत्यर्थः । तत् तस्मात् सञ्जनेनाञ्जलिबन्धेन तत्पूर्वकत्वमित्यर्थः । स्वस्यात्मनः संभृत्या सम्भरणेन नेन प्राञ्जलता आर्जवं विधेयमिति यावत् सापि तावत्कर्तुमर्हा आतिथ्यसामर्थ्ये विनयाचरणेनापि तच्चित्तोपार्जनं कर्तव्यम् । अन्यथा प्रत्यवायादिति । २२ ॥

प्रक्षालनार्थं शीघ्र जल नहीं लाना अपराध माना जाता है, उसे करनेके लिये तबतक न्धं) हाथ जोड़नेसे समीपमें अपनी उपस्थिति (अथवा-स्वयं विनम्रता, अथवा—-समाधी) करनी चाहिये अर्थात् जल आनेके पूर्व हाथ जोड़कर विलम्बसे जल अपराध की क्षमा-याचना करनी चाहिये । (अथवा—जल लानेके पूर्व स्वयं अतिसामने हाथ जोड़कर उपस्थित नहीं होना अपराध समझा जाता है, अतः तबतक (जल पूर्व) हाथ जोड़कर अतिथिके सामने नमस्कार कर उपस्थित होना चाहिये, इससे आतिथ्य-सत्कार सम्पन्न हो जाता है) ॥ २२ ॥

पुरा परित्यज्य मयात्यसर्जि स्वमासनं तत्किमिति क्षणन्न ।
अनर्हमप्येतदलङ्क्रियेत प्रयातुमीहा यदि चान्यतोऽपि ॥२३॥

इति । मया स्वमात्मीयमासनं पुरा पूर्वं त्वद्दर्शनक्षण एव परित्यज्य तत

---

[1] "सुसंभृति" इति पाठान्तरम् ।

उत्थायेत्यर्थः । अत्यसर्जि अदायि तदेतदासनमनर्हमत्यश्लाघ्यमपि यदि वा कुतः प्रयातुमीहा वा तथापि किमिति क्षणं नालङ्क्रियेत भक्तजनानुकम्पया मत्रोपवेष्टव्यमिति भावः ॥ २३ ॥

मैंने पहले ही अपने आसनको छोड़कर (आपके लिये) दे दिया है, तो अयोग्य इस आसन को, यदि अन्यत्र जानेकी इच्छा हो तथापि क्षणमात्र (थोड़े समय तक) नहीं अलङ्कृत करते हैं ? [मेरा भाग्य इतना उत्तम नहीं कि आप मेरे यहां पधारें, यदि अन्यत्र जाना चाहते हों, तथापि आपके पधारते ही छोड़े गये मेरे अयोग्य भी आप थोड़े समय तक अलङ्कृत करनेकी कृपा कीजिये] ॥ २३ ॥

निवेद्यतां हन्त समापयन्तौ शिरीषकोषम्रदिमाभिमानम् ।
पदौ कियद्दूरमिमौ प्रयासे निधित्सते तुच्छदयं मनस्ते ॥२४॥

निवेद्यतामिति । शिरीषकोषस्य म्रदिमाभिमानं मार्दवगर्वं समापयन्तौ यन्तौ इमौ पदौ । 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तुच्छदयं निष्कृपं ते (कर्तृ) कियद्दूरं कियच्चिरमित्यर्थः । प्रयासे निधित्सते निधातुमिच्छति । सन्नन्ताल्लटि तङ् । "सनिमीमा" इत्यादिना इसादेशः । अत्र "लोपोऽभ्यासस्य" अभ्यासलोपः । निवेद्यतां ज्ञाप्यतां वाक्यार्थः (कर्म) । हन्तेत्यनुकम्पायाम् ॥

शिरीष—पुष्पकी कोमलताके अभिमानको चूर करनेवाले अर्थात् शिरीष-पुष्प अधिक कोमल इन चरणोंको निर्दय आपका मन कितनी दूरतक प्रयास (कार्य) में लगावेगा अर्थात् आप कहां तक जावेंगे ? कृपाकर कहिये ॥ २४ ॥

अनायि देशः कतमस्त्वयाद्य वसन्तमुक्तस्य दशां वनस्य ।
त्वदाप्तसङ्केततया कृतार्था श्रव्यापि नानेन जनेन संज्ञा ॥२५॥

अनायीति । अद्य त्वया कतमो देशो वसन्तमुक्तस्य वनस्य दशामनायि रिक्तीकृत इत्यर्थः । नयतेर्द्विकर्मकत्वात् प्रधाने कर्मणि लुङ् । किञ्च त्वदाप्तसङ्के त्वयि लब्धसङ्गतिकतया कृतार्था सफला संज्ञा नामानेन जनेन आत्मना श्रोतुमर्होपि न किमिति काकुः । कश्च अचोदयत् कुतः आगतः किञ्च ते नामधेयं वेदनेनाप्यनुग्राह्योऽयं जन इति भावः ॥ २५ ॥

आज आपने किस देशको वसन्तमुक्त वनकी अवस्थावाला वना दिया है ! सङ्केतसे कृतार्थ नामको भी यह जन (मैं दमयन्ती) नहीं सुन सकता है क्या ! [कहांसे आ रहे हैं तथा आपका शुभ नाम क्या है ?] ॥ २५ ॥

तीर्णः किमर्णोनिधिरेव नैष सुरक्षितेऽभूदिह यत्प्रवेशः ।
फलं किमेतस्य तु साहसस्य न तावदद्यापि विनिश्चिनोमि ॥२६॥

तीर्ण इति । सुरक्षिते साधुगुप्ते अत्यन्तदुष्प्रवेश इत्यर्थः । इहान्तःपुरे प्रवेशो भूदिति यत् एष प्रवेशः अर्णोनिधिरर्णव एव तीर्णो न किम् ? अर्णवतरणतुल्यं

र्थः। किन्तु एतस्य साहसस्य फलं किमद्यापि चिरं विमृश्यापीत्यर्थः। तावन्न वोमि निश्चेतुं न शक्नोमीत्यर्थः। अत्रान्तःपुरप्रवेशार्णवतरणलक्षणवाक्यार्थयो-मानधिकरण्यान्यथाऽनुपपत्त्या तत्तुल्यमिति सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तु-यो वाक्यार्थनिष्ठनिदर्शनाभेदः ॥ २६ ॥

जो आपने सुरक्षित अन्तःपुरमें भी प्रवेश किया है' यह समुद्रपार नहीं किया है क्या ? आपका सुरक्षित इस अन्तःपुरमें प्रवेश करना बाहुसे समुद्र पार करनेके समान है। स साहस का फल क्या है (यहां आनेका इतना कठिन प्रयास आपने क्यों किया यह मैं अबतक निश्चित नहीं कर सकी हूं। [आप सुरक्षित इस अन्तःपुरमें आनेके प्रयास करने का प्रयोजन बतलाइये] ॥ २६ ॥

तव प्रवेशे सुकृतानि हेतुं मन्ये मदक्ष्णोरपि तावदत्र ।
न लक्षितोरक्षिभटैर्यदाभ्यां पीतोऽसि तन्वा जितपुष्पधन्वा ॥२७॥

ति। अथवा अत्रान्तःपुरे तव प्रवेशे मदक्ष्णोः सुकृतान्यपि तावत् यावद-री हेतुः श्रोतव्य इति भावः। हेतुं कारणं मन्ये कुतः, यद्यस्मात् तन्वा मूर्त्या, ष्पधन्वा जितकामः त्वं रक्षिभटैः रक्षकयोधैर्नलक्षितः अलक्षितः सन्। नञर्थस्य स्य "सुप् सुपा" इति समासः। आभ्यां मदक्षिभ्यां पीतोऽतितृष्णया दृष्टोऽ सुकृतविशेषं विना कथमीदृगभूतरूपसाक्षात्कारलाभ इति भावः ॥ २७ ॥

हां आपके प्रवेश करनेमें मेरे नेत्रोंका पुण्य भी कारण है, क्योंकि शरीर (की शोभा) देवके जीतनेवाले आपको पहरेदारोंने नहीं देखा, अतः मेरे नेत्र देख रहे हैं। [यदि ते हुए आपको पहरेदार देख लेते तो मैं आपका दर्शन नहीं पा सकती, अत एव मेरा ण्य है कि आप यहां तक आनेमें सफल हुए] ॥ २७ ॥

यथाकृतिः काचन ते यथा वा दौवारिकान्धङ्करणी च शक्तिः ।
रुच्यो रुचीभिर्जित[1]काञ्चनीभिस्तथासि पीयूषभुजां सनाभिः ॥२८॥

थेति। यया यतस्ते तव आकृतिर्मूर्तिः काचन अमानुषीत्यर्थः। यथा वा यतश्च नियुक्ता दौवारिकाः तत्र नियुक्त इति ठक्। "द्वारादीनां च" इत्यैजागमः। अन्धीक्रियन्ते अनयेति अन्धङ्करणी दृष्टिप्रतिबन्धिका "आढ्यसुभग" इत्या- करणार्थे ख्युन्प्रत्ययः। "अरुर्द्विषत्" इत्यादिना मुमागमः, ख्युन्नन्तत्वात् शक्तिश्च काचनेत्यनुषज्यते। किञ्च जितकाञ्चनीभिर्जितहरिद्राभिः। निशाख्या नी पीता हरिद्रा वरवर्णिनी' इत्यमरः। समासान्तविधेरनित्यत्वात् "नद्यृतश्च" भावः। टावन्तपाठे जितकनकाभिरित्यर्थः। रुचीभिर्दीप्तिभिः, कृदिकाराद- वा वक्तव्यः, रोचत इति रुच्यो देदीप्यमानोऽसि "राजसूयसूर्य" इत्यादिना यबन्तो निपातः। तथा ततो मूर्तिप्रभावतेजोभिः पीयूषभुजां देवानां समाना

---

[1] "काञ्चनाभि" इति पाठान्तरम्।

नाभिमूर्मूलं यस्य स सनाभिर्बन्धुरसि कश्चिद्दिव्यपुरुष उत्प्रेक्ष इत्यर्थः । “ज्योति पद” इत्यादिना समानशब्दस्य सभावः ॥ २८ ॥

जिस कारण ल'कोत्तर अनिर्वचनीय तुम्हारा रमणीय रूप है और द्वारपालोंको करनेका (उनसे अदृष्ट होनेका) लोकोत्तर अनिर्वचनीय सामर्थ्य है, उस कारणसे (पाठा०—सुवर्ण) को जीतनेवाली कान्तियोंसे रुचिकर तुम अमृतभोजी देवताओंके हो । (अथवा—……सामर्थ्य है और हल्दी (पाठा०—सुवर्ण) को जीतनेवाली रुचिकर हो, उस कारण तुम अमृतभोजी देवताओंके समान हो । [सुन्दरतम सामर्थ्य कान्तिसे मैं आपको देवता मानती हूं, आप कोई देवता हैं क्या ?] ॥ २८ ॥

न मन्मथस्त्वं स हि नास्तिमूर्तिर्न वाश्विनेयः[1] स हि नाद्वितीयः।
चिह्नैः किमन्यैरथवा तवेयं श्रीरेव ताभ्यामधिको विशेषः ॥२९॥

नेति । त्वं देवेष्वपीति शेषः । मन्मथः कन्दर्पो नासि । हि यस्मात् स मन्म अस्तिमूर्तिः विद्यमानमूर्तिः न भवतीति नास्तिमूर्तिः अनङ्गः । सुबधिकारे “ चीरादिवचनम्” इति बहुव्रीहौ न-समासः । आश्विनेयोऽश्विनीपुत्रः न । हि यस्मा सोऽद्वितीय एकाकी न । अथवा अन्यैश्चिह्नैरभिज्ञानैः किम् ? किन्तु तवेयं श्रीः ताभ्यां द्वाभ्यामधिकोऽसाधारणो विशेषो व्यावर्तकधर्मः । तस्मादन्यः कोऽपि त्तरस्त्वमिति तत्त्वं किन्तु नलश्चेदसि धन्या भवामीति भावः ॥ २९ ॥

आप मन्मथ (कामदेव—मनको मथन करनेवाला) नहीं हैं, क्योंकि वह है (अथच आप मनको मथन करनेवाले नहीं, अपितु हर्षित करनेवाले हैं, यह भी होता है), अथवा—आप अश्विनीकुमार नहीं हैं, क्योंकि वह अकेला नहीं है (रहते हैं, अकेला कभी नहीं रहते, और आप अकेले हैं), अथवा दूसरे चिह्नों (होना या द्वितीयसे सहित होना) से क्या ? अर्थात् कुछ प्रयोजन नहीं है; उन (अश्विनीकुमारसे, अथवा कामदेव तथा अश्विनीकुमारसे) यह शोभा ही विशेषता है अर्थात् आपकी जो लोकोत्तर अधिक शोभा है, उसीसे आपको देखकर कामदेव तथा अश्विनीकुमार होनेका सन्देह नहीं होता, अतएव उनके अशरीरी या दोनोंका साथ रहना—इन चिह्नोंसे कोई प्रयोजन नहीं है । [कामदेव तथा अश्विनीकु अधिक सुन्दर आप कौन हैं ?] ॥ २९ ॥

आलोकतृप्तीकृतलोक ! यस्त्वामसूत पीयूषमयूखमेतम्[2] !
कः स्पर्धितुं धावति साधु सार्धमुदन्वता नन्वयमन्ववायः ॥३०॥

आलोकेति । आलोकेन दर्शनेन स्वत्कर्मकेण उद्योतेन च । ‘आलोकौ दर्शनोद्यो

---

१. “—चाश्विनेयः—” इति पाठान्तरम् ।
२. “—मेनम्—” इति पाठान्तरम् ।

। तृप्तीकृतलोक! सन्तर्पितलोकेति सम्बुद्धिः। यः अन्ववायो वंशः एतं पीयूषमयूखं चन्द्रमिति रूपकम्, असूताजनयत्। अत एवोदन्वता उदधिना। "उदन्वानुदधिश्च" इति निपातनात्साधुः। साधु सम्यक् स्पर्धितुं धावति समन्ववायः कः उदधितुल्यः ते वंशश्च क इति वक्तव्य इत्यर्थः। रूपकसङ्कीर्णसमालङ्कारः। नन्विति सम्बोधने ॥ ३० ॥

(पक्षा०—प्रकाश अर्थात् चाँदनी) से संसार (पक्षा०—लोगों) को तृप्त ! जो वंश अमृतकिरण अर्थात् चन्द्ररूप तुमको उत्पन्न किया है, वह कौन वंश साथ स्पर्द्धा करनेके लिये सम्यक् प्रकारसे अग्रसर हो रहा है ?। [आपका वह वंश है, जो प्रकाशसे लोकतृप्तिकर चन्द्रमाको उत्पन्न करनेवाले समुद्रके साथ लोकतृप्तिकर आपको उत्पन्नकर स्पर्द्धा करनेके लिये अच्छी तरहसे अग्रसर हो रहा आप किस वंशमें उत्पन्न हुए हैं ?] ॥ ३० ॥

भूयोऽपि बाला नलसुन्दरं तं मत्वाऽमरं रक्षिजनाक्षिबन्धात्।
आतिथ्यचाटून्यपदिश्य तत्स्थां श्रियं प्रियस्यास्तुत वस्तुतः सा ॥३१॥

नलमेव मत्वैतावदुक्त्वा पुनर्नलसदृशमन्यं मत्वाऽन्यथा व्याहरतीत्याह—भूयोऽपीति। भूयः पुनरपि सा बाला भैमी तं पुरुषं रक्षिजनस्याक्षिबन्धादन्धीकरणरूपत्वाद्धेतोर्नलसुन्दरममरं कञ्चिद्देवं मत्वा आतिथ्यान्यतिथ्यर्थानि "अतिथेर्ञ्यः"। चाटूनि प्रियवाक्यानि अपदिश्य व्याजीकृत्य तस्मिन् पुरुषे तिष्ठतीति तत्स्थां तन्निष्ठां "सुपि स्थः" इति कः। प्रियस्य नलस्य श्रियं शोभां वस्तुतः परमार्थत एवैव अस्तुत स्तुतवती स्तौतेर्लुङि तङ्। अत्रान्यधर्मस्यान्यसम्बन्धासम्भवात् प्रियमिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनाभेदः। न चैवं परपुरुषगुणस्तुतिप्रसङ्गः, नलतथात्वेऽपि तस्यास्तथाभिमानाभावादिति ॥ ३१ ॥

वह दमयन्ती नलतुल्य सुन्दर उनको पहरेदारोंकी दृष्टिको व्यर्थ करनेसे देवता अतिथिसत्कारसम्बन्धी प्रिय कथनके बहानेसे उनमें स्थित प्रिय नलकी शोभाकी प्रशंसा करने लगी। [बाला अर्थात् अपरिपक्व ज्ञानवाली होनेसे दमयन्तीका वास्तविक भी कारण-विशेषसे देवता समझना उचित ही है] ॥ ३१ ॥

वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्।
खलत्वमल्पीयसि जल्पितेऽपि[1] तदस्तु वन्दिभ्रमभूमितैव ॥३२॥

अथ सर्वथापि स्तुतिकरणे कारणमाह—वागिति। गुणैरद्भुतैः अधिके स्तुत्यर्हे। वस्तुनि विषये मौनिता तूष्णींभावश्चेत् असह्यशल्यं दुस्सहशल्यप्रायं वाग्जन्मनः वाक्सत्ताया वैफल्यं स्यात्। अथैतत्परिहारायाह—अल्पीयसि जल्पिते अत्यल्पेऽपि। भावे क्तः। खलत्वं दौर्जन्यमसहिष्णुत्वं स्यादित्यर्थः। तत्तस्माद्वन्दी

---

[1] "जल्पिते तु" इति पाठान्तरम्।

स्तुतिपाठकोऽयमिति भ्रमस्य भूमिता विषयित्वमेवास्तु । 'वन्दिनः स्तुतिपा इत्यमरः । अवन्दिषु वन्दिभ्रमः श्रोतृदोषो न वाग्वैफल्यं खलत्वे एव स्तोतृदो प्रत्युत सुगुणस्तुतिस्तस्य गुण एवेति तदङ्गीकरणमिति भावः ॥ ३२ ॥

अत्यधिक गुणयुक्त वस्तुके विषयमें चुप लगाना अर्थात् उसको प्रशंसा न करना कोंटेके समान वचनके जन्मलेनेके निष्फलता होती है (अथवा—वह वचनके जन्म विफलता असह्य शल्यरूप होता है और थोड़ा बोलनेमें दुष्टता होती है; इस वन्दियोंके भ्रमका स्थान बनना ही ठीक है । [अतिगुणवान् वस्तुके विषयमें कुछ बोलना बोलनेवालेके लिये शल्यतुल्य दुःखदायी होता है, तथा उसके विषयमें थोड़ा बो उसकी दुष्टता प्रकट होती है, इस कारण गुणसम्पन्न पुरुषकी विस्तृत प्रशंसा करने व्यक्तिको सुननेवाला भले ही वन्दी (भाट, चारण आदि) समझें, किन्तु उस गुणीकी प्र करना ही उचित है । इस पद्यको कविकी या स्वयं दमयन्तीकी ही उक्ति समझनी चाहिये

कन्दर्प एवेदमविन्दत त्वां पुण्येन मन्ये पुनरन्यजन्म ।
चण्डीशचण्डाक्षिहुताशकुण्डे जुहाव यन्मन्दिरमिन्द्रियाणाम् ॥३

अथ स्तौति—कन्दर्प इत्यादि । कन्दर्प एव पुण्येन सुकृतवशेन इदं त्वां मन्यजन्म जन्मान्तरं पुनरविन्दतेति मन्ये इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा कथमीदृ भावः । किं तत्पुण्यं तदाह—चण्डीशस्य हरस्य चण्डं क्रूरमक्षि तृतीयनेत्रं तदेव हु शस्तस्य कुण्डमग्न्यायतनं तस्मिन्निन्द्रियाणां मन्दिरमिन्द्रियाणामाश्रयः मिति यावत् तज्जुहाव तेन पुण्येनेति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ३३ ॥

जो (कामदेवने) शङ्करजीके भयङ्कर (तृतीय) नेत्ररूप अग्निकुण्डमें अपने हवन कर दिया, उसी पुण्यसे कामदेव ही आपको पुनर्जन्मरूपमें प्राप्त किया है, मानती हूं । [कामदेवको शङ्करजीने नहीं जलाया, किन्तु वह पहलेसे भी अधिक शरीर पानेके लिये अपने शरीरको शङ्करजीके तृतीय नेत्ररूपी अग्निकुण्डमें हवन पुनर्जन्ममें आपको पाया है । अन्य कोई भी व्यक्ति सामान्य वस्तुको अग्निकुण्ड करनेसे उत्पन्न पुण्यके द्वारा पहलेकी अपेक्षा अधिक सुन्दर वस्तुको प्राप्त करता है। कामदेवसे भी अत्यधिक सुन्दर हैं] ॥ ३३ ॥

शोभायशोभिर्जितशैवशैलं करोषि लज्जागुरुमौलिमैलम् ।
दस्रौ हठात् श्रीहरणादुदस्रौ कन्दर्पमप्युज्झितरूपदर्पम् ॥३४॥

शोभेति । किञ्च हठात् प्रसह्य श्रियः सौन्दर्यस्य हरणाद्धेतोः शोभायशोभिः सौन्द र्यंकीर्तिभिः जितशैवशैलं निर्जितकैलासमैलमिलाया अपत्यं पुरूरवसम् । " दम्" इत्यणप्रत्ययः । पर्यवसानाद्विशेषलाभः । लज्जया गुरुमौलिं दुर्भरशिरसं करोषि दस्रावश्विनीसुतावुदस्रावुद्गतबाष्पौ करोषि, रोदयसीत्यर्थः । कन्दर्पमप्युज्झितरू दर्पं करोषि, कायकान्त्या सर्वानतिशय्य खेलसीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

र) हठसे शोभाका हरण करनेसे सौन्दर्यकीर्तिसे कैलासको जीतनेवाले पुरुरवाको स्तक करते हैं, हठसे······जीतनेवाले अश्विनीकुमारोंको अश्रुयुक्त कर देते ना देते हैं और हठसे·····जीतने वाले कामदेवको सौन्दर्याभिमानसे हीन ते॥ ३४ ॥

मि हंसावलयोवलक्षास्त्वत्कान्तिकीर्तेश्चपलाः पुलाकाः[1] ।
डीय युक्तं पतिताः स्रवन्तीवेशन्तपूरं परितः प्लवन्ते ॥३५॥

मीति। वलक्षा धवलाः हंसावलयः तव कान्तिकीर्तेः सौन्दर्यकीर्तेः चपलाः पुलाकास्तुच्छधान्यानीत्यवैमि जानामीत्युत्प्रेक्षा। 'स्यात्पुलाकस्तुच्छधान्ये' वलोऽर्जुनः' इति चामरः। अत एवोड्डीयोत्पत्य पतिताः स्रवन्तीनां निम्न-न्तानां पल्वलानां च पूरं प्रवाहं परितः समन्ततः। "अभितः परितः" द्वितीया। प्लवन्ते इति युक्तं पुलकानां जलोपरि प्लवनमुचितमेवेत्यर्थः॥३५॥

) श्वेत हंस-समूहको आपकी कान्तिकीर्तिका चञ्चल पुआल (पाठा०—बलाका) (इसी कारण) उड़कर पुनः गिरे हुए वे नदी तथा छोटे २ गढोंके (जल) चारो तरफ तैरते हैं। [जिस प्रकार धान्यका निःसार भाग पुआल या पुआल (पुअरसी) उड़कर गिरनेपर नदियों तथा गढोंके पानी पर तैरती रहती है, उसी रियों तथा छोटे जलाशयोंके जलके सब ओर रहनेवाले श्वेत हंस-समूहको भी मैं न्तिकीर्तिको पुआल या पुअरसी समझता हूँ, श्वेततम कान्तिकीर्तिके पुआलका ना उचित है। आपकी कान्तिकीर्ति हंस-समूहसे भी अतिशय स्वच्छ ती है] ॥ ३५ ॥

त्पदाङ्गुष्ठमपि श्रिता श्रीर्ध्रुवं न लब्धा कुसुमायुधेन ।
[2]लमेतत् खलु चिह्नमस्मिन्नर्धेन्दुरास्ते नख[3]वेषधारि ॥ ३६ ॥

दिति। कुसुमायुधेन कामेन भवतः पदाङ्गुष्ठं श्रिता श्रीरपि न लब्धा न प्राप्ता वच्छ्रिता श्रीस्तु दूरापास्तेति भावः। तथा हि—तं कामं जेतुः स्मरहरस्य त् "न लोक" इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। तज्जेतुरिति समासपाठे तृजन्तेन साधुश्चायमेव पाठः। तृन्नर्थस्य ताच्छील्यस्यानुपयोगात् रतीशजेतुरिति स्त्वयुक्त एव प्रकृतार्थस्य सर्वनामोपादेयस्य स्वशब्दोपादाने पौनरुक्त्य-। हस्तेन निर्दिशन्स्याह—एतदर्धेन्दुरूपं चिह्नमस्मिन्नङ्गुष्ठे नखकैतवेनास्ते. वभेदः। अर्धेन्दुचिह्नधारणादयमपि कामजेता यद्वा तच्चिह्नधारणात् स्मरस्य जेतेत्युभयथापि कथमेतच्छ्रीलाभः कामदेवस्येति भावः ॥ ३६ ॥

---

1. "बलाकाः" इति पाठान्तरम्। २. "तज्जेतुरेतत्" इति "रतीशजेतुः" इति रे। ३. "नखकैतवेन" इति पाठान्तरम्।

आपके (पैरके) अङ्गुष्ठकी शोभाको भी निश्चय ही कामदेव नहीं पा सका, क्योंकि (कामदेव) को जीतने वाले (शिवजी) का यह अर्धचन्द्ररूपी चिह्न नखका वेष इस (अङ्गुष्ठ) में है । [शिवजीका भालस्थ अर्द्धचन्द्ररूप चिह्न आपके चरणोंके अत एव स्वविजयी शिवजीके भयसे कामदेव उस अंगूठेको शोभाको भी नहीं पा फिर आपके सम्पूर्ण शरीर या अन्य किसी एक शरीरको भी शोभाको कैसे पा अन्य भी कोई व्यक्ति अपने विजेताके चिह्नको देखकर भयसे वहां नहीं जाता है । जिस अर्द्धचन्द्ररूप चिह्नको शिवजी अपने शिरपर धारण करते हैं, वह चिह्न चरणाङ्गुष्ठमें है, अतः कामविजयी शिवजीसे भी आपकी शोभाके श्रेष्ठ होनेसे णाङ्गुष्ठश्रीको कामदेवका नहीं पाना ठीक ही है] ॥ ३६ ॥

राजा द्विजानामनुमासभिन्नः पूर्णा तनूकृत्य तनुं तपोभिः ।
कुहूषु दृश्येतरतां किमेत्य सायुज्यमाप्नोति भवन्मुखस्य ॥ ३७ ॥

राजेति । द्विजानां राजा चन्द्रो ब्राह्मणोत्तमश्च अनुमासं प्रतिमासं भिन्नः सन् अर्धेन्दुरन्यथैकस्य प्रतिकुहूषु मुखसायुज्याभावादिति भावः । पूर्णां राका भावः । तनुं शरीरं तपोभिः प्रत्यहं देवताभ्यः कलासमर्पणरूपैरिति भावः । कुहूषु अमावास्यासु दृश्येतरतामदृश्यतामेत्य भवन्मुखस्य सायुज्यमैक्यं किमित्युत्प्रेक्षा । यथा कश्चिद्ब्राह्मणः तीव्रेण तपसा ब्रह्मसायुज्यमाप्नोति तद्वदि अन्यथा कथं कुहूषु न दृश्यत इति भावः ॥ ३७ ॥

द्विजराज (चन्द्रमा, पक्षा०–ब्राह्मणश्रेष्ठ) प्रत्येक मासमें भिन्न होता हुआ पूर्ण कलाओंसे परिपूर्ण, पक्षा०—हृष्टपुष्ट या समस्त) शरीरको कृश करके 'कुहू' संज्ञक वस्थाओंमें अदृश्य होकर आपके मुखके सायुज्य (समानता) को प्राप्त करता है [जिस प्रकार कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण अपने समस्त शरीरको चान्द्रायण–सान्तपन आदि क्षीणकर अदृश्य होकर ब्रह्म सायुज्यको प्राप्त करता है, उसी प्रकार चन्द्रमा भी प्रत्येक सोलह कालाओंसे पूर्ण अपने पूर्ण शरीरको देवताओंके लिये प्रतिदिन एक एक समर्पण रूप तपस्यासे क्षीण करके 'कुहू' (सम्पूर्ण अदृश्य चन्द्रवाली अमावस्या में अदृश्य होकर आपके मुखके सायुज्य (एकीभाव अर्थात् सरूपता) को प्राप्त क्या ? । इस पद्यके "अनुमासभिन्नः" शब्द देनेसे प्रत्येक मासमें भिन्न २ चन्द्रमा है, चन्द्रमा प्रत्येक मासकी पूर्णिमाको पूर्ण तथा अमावस्याको क्षीण होता है समझना चाहिये] ॥ ३७ ॥

कृत्वा[1] दृशौ ते बहुवर्णचित्रे किं कृष्णसारस्य तयोर्मृगस्य ।
अदूरजाग्रद्विदरप्र[2]णालीरेखामयच्छद्विधिरर्धचन्द्रम् ॥ ३८ ॥

---

१. "विधाय चित्रे तव धीरनेत्रे" इति पाठान्तरम् ।
२. "—प्रणालीच्छला· दृ—" इति पाठान्तरम् ।

न्ती। विधिर्विधाता बहुभिर्वर्णैः सितासितरूपैश्चित्रे सुदृश्ये तल्लक्षणत्वादिति ते तव दृशौ कृत्वा निर्माय कृष्णसारस्य मृगस्य सम्बन्धिन्योः तयोर्दृ-समीपे जाग्रत्याविदरप्रणाल्याः स्फुटनमार्गस्य नेत्रप्रान्तवर्त्यर्धचन्द्ररेखा-च्छलात्। 'विदरः स्फुटनं भिदा' इत्यमरः। अर्धचन्द्रं गलहस्तिकामय-म्यकत्वानर्हत्वादिति भावः। 'अर्धचन्द्रस्तु चन्द्रके गलहस्ते वाणभेदेऽपि' वः। छलादयच्छदिति सापह्नवोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ ३८ ॥

ने बहुत वर्णों (कृष्ण, श्वेत और रक्तरूप) से विचित्र (अथवा—आश्चर्यजनक) कृष्णसार (केवल कृष्ण अर्थात् काला ही जिसमें सारभूत है अन्य श्वेत तथा रक्त) मृगके उन नेत्रोंके पार्श्वस्थित गर्तरूप रेखाके बहानेसे अर्द्धचन्द्र (गलहस्त अर्थात्) दिया है क्या ? । [आपके नेत्रोंको ब्रह्माने कृष्ण-श्वेत-रक्तवर्णसे बहुत विचित्र देख कृष्णसार (जिसमें केवल कृष्ण वर्ण ही सारभूत था, अन्य वर्ण नहीं थे ऐसे) आपकी आँखोंसे समानता करने लगीं, अतः भले-बुरेके परीक्षक ब्रह्माने आँखोंको गर्दनियां देकर बहिष्कृत कर दिया, वही चिह्न मृगों की आंखोंके नीचे) रूप रेखामें दृष्टि गोचर हो रहा है। अन्य भी किसी बड़ेकी बराबरी करनेवाले को न्यायकर्ता परीक्षक गर्दनमें हाथ डालकर बाहर कर देता है] ॥ ३८ ॥

धः स मोहात् सुभगान्नदेहाददद्भवद्भ्रूरचनाय चापम् ।
भ्रूभङ्गजेयस्तव यन्मनोभूरनेन रूपेण यदा तदाभूत् ॥ ३९ ॥

इति। भवद्भ्रुवो रचनाय निर्माणाय चापमुपादानत्वेन ददत् ब्रह्मण इति 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुम्प्रतिषेधः। स मनोभूर्मोहादविमृश्यकारित्वलक्षणा-निमित्तान्मुग्धो मुग्धशब्दवाच्योऽभूत् सुभगात् सुन्दराद्देहात्तु न। पूर्वं कायः मुग्ध इत्युच्यते। सम्प्रति तु मौग्ध्यादित्यर्थः। 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इति। कुतः यद्यस्मात् तवानेनेति हस्तनिर्देशः। रूपेण सौन्दर्येण करणेन यदा र्दित्यर्थः। भ्रूभङ्गेण भ्रूक्षेपमात्रेण जेयो जेतुं शक्योऽभूत्। कामस्त्वां रूपेण ऽपि चापेनापि शक्नुयात्। सम्प्रति चापदानादुभयथापि भ्रष्टोऽभूदिति। ३९ ॥

के भ्रूद्वयकी रचना करनेके लिए कामदेवने ब्रह्माको अपना चाप देता हुआ मोह) से मुग्ध (मूढ) हो गया, आपके सौन्दर्यसे मुग्ध (सुन्दर) नहीं हुआ; इस ह कामदेव सर्वदा आपके भ्रूभङ्ग मात्रसे (केवल भ्रूको थोड़ा टेढ़ा करनेसे ही आपके) के द्वारा जीतने योग्य हो गया। [चाप सहित होकर भी कामदेव जब आपको नहीं सका था तब अपने धनुषको आपके भ्रूद्वय बनानेके लिये देकर धनुषसे रहित वह कैसे जीत सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं जीत सकता, वह क्षुद्रतम शत्रुके समान कुटिल करनेसे ही जीतने योग्य हो गया है । अन्य भी कोई मूर्ख अपना श त्रुके

लिये देकर फिर शस्त्ररहित होनेसे उसे कदापि नहीं जीतता है। आपका भ्रू
धनुषके समान जगन्मोहक है]॥ ३९ ॥

मृगस्य नेत्रद्वितयं त्वदास्ये विधौ विधुत्वानुमितस्य दृश्यम् ।
तस्यैव च[1] त्वत्कचपाशवेशः पुच्छे स्फुरच्चामरगुच्छ एषः ॥ ४० ॥

मृगस्येति । त्वदास्ये विधौ त्वन्मुखचन्द्रे दृश्यं दृग्गोचरीभूतं नेत्रद्वितयं वि चन्द्रत्वेनानुमितस्य चन्द्रस्य मृगाविनाभावादिति भावः । मृगस्यैव तदीयमेवे किञ्च एषः तव कचपाशवेशः केशपाशसन्निवेशः तस्यैव मृगस्य पुच्छे वालधौ चामरगुच्छ इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा कथमनयोरीदृशी शोभेति भावः ॥ ४० ॥

आपके मुखरूपी चन्द्रमें दिखायी पड़ते हुए, चन्द्रत्वसे अनुमान किये गये मृगके नेत्र हैं (अथवा—"चन्द्रमें चन्द्रत्वसे"नेत्र दिखायी पड़ते हैं) तथा यह आपके केश (केश-समूह) का वेश (रचना) उसी मृगके पूंछमें शोभित होते हुए चामर गु (अथवा—यह शोभमान केशपाशवेश उस मृगका ही स्फुरित होते हुए चामरके गुच्छ पूंछ है) । [आपका मुख चन्द्ररूप, नेत्रद्वय मृगनयनरूप और केश-समू पुच्छरूप है] ॥ ४० ॥

आस्तामनङ्गीकरणाद्भवेन दृश्यः स्मरो नेति पुराणवाणी ।
तवैव देहं श्रितया श्रियेति नवस्तु वस्तु प्रतिभाति वादः ॥ ४१ ॥

आस्तामिति । स्मरो भवेनेश्वरेणानङ्गीकरणादशरीरीकरणाद्धेतोर्दृश्यो नेति पु वाणी पुरातनवादस्तावदास्ताम् । तवैव देहं श्रितया "द्वितीयाश्रितातीते" स्यादि समासः । श्रिया सौन्दर्येण न दृश्य इति नवो नूतनो वादस्तु वस्तु परमार्थः भाति तदैतिह्यमात्रमिदं तु प्रत्यक्षमित्यर्थः । अतः पराजयलज्जानिमित्तमस्यादर्श मित्युत्प्रेक्षा ॥ ४१ ॥

'कामदेव शिवजीके द्वारा (भस्म करनेके कारण) शरीर रहित करनेसे दृष्टिगोचर होता' यह पुराणवाणी (पुराणोंमें लिखित वचन, पक्षा०—पुरानी बात) रहे अर्थात् पड़ी रहे, आपके हो शरीरका आश्रय की हुई (अथवा—शरीरका आश्रयकी हुई शरीर धारणकी हुई आपकी) शोभासे ही (परजयजन्य लज्जाके कारण) कामदेव (दृष्टिगोचर, पक्षा०—सुन्दर) नहीं है, यह नया (अथवा—अपूर्व) वाद ठीक जचता है [अथवा—आपकी शरीर-शोभासे ही कामदेव अदृश्य हो गया है । अन्य कोई भी किसीसे पराजित होकर लज्जावश किसीके सामने नहीं आता है। अथवा—प्रतिभाका अतिवाद (अतिशयित कथन) है । वाणी एवं स्त्री जीर्ण है तथा वाद एवं नया पुरु अतः इन दोनोंमें बहुत बड़ा अन्तर है । पुरानी पड़ी हुई बातकी अपेक्षा नयी बा

---

[1] "चञ्चत्कच".....पुच्छः" इति पाठान्तरम् ।

त्या एवं विश्वास करना उचित है । आपकी शरीर शोभा कामदेव से भी है] ॥ ४१ ॥

त्वया जगत्युच्चितकान्तिसारे यदिन्दुनाऽशीलि शिलोञ्छवृत्तिः ।
रोपि तन्माणवकोऽपि मौलौ स यज्वराज्येऽपि महेश्वरेण ॥ ४२ ॥

ति । त्वया जगति उच्चितकान्तिसारे गृहीतलावण्यसर्वस्वे सति इन्दुना वेव वृत्तिः जीविका । 'उञ्छो धान्यकणादानं कणिकांशार्जनं शिलम्' इति । अशीलि शीलितेति यत् तत्तस्माद्धेतोः मनोरपत्यं पुमान् मानवः "तस्या- इत्यणप्रत्यये णत्वम् । "अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः । नकार- मूर्धन्यस्तेन सिद्ध्यति माणवः ॥" तेन सोऽल्पो माणवकः । बालोऽपि स इन्दु- महादेवेन महाराजेन च मौलौ शिरसि तथा यज्वराज्ये द्विजराजत्वेऽप्या रोपित इत्युत्प्रेक्षा । प्रकृष्टधर्मः कस्मै फलाय न भवतीति भावः, त्रैलोक्याह्ला- कोऽपि तल्लावण्यलेश एवेति तात्पर्यार्थः ॥ ४२ ॥

के अच्छी तरह चुने गये कान्तिके सारभूतवाले संसारके होने पर या संसारमें ने जो शिल (कटे हुए खेतोंमेंसे एक-एक मञ्जरी अर्थात् बालको चुंगना) और उञ्छ ए खेतोंमें एक-एक दाना चुंगना) वृत्तिका जो परिशीलन (एक बार ही नहीं सर्वदा) किया, उस कारण छोटे बच्चे (पक्षा०—प्राथमिक अवस्थावाले अर्थात् बालचन्द्र) को भी महेश्वर (शिवजी, पक्षा०—महाराज या महाधनिक) ने र तथा यज्ञकर्ताओं (द्विजों = ब्राह्मणों) के राज्यपर अर्थात् द्विजराज पदपर स्थापित (आपने संसारकी कान्तिके सारभूत पदार्थों को अच्छी तरह एक-एक करके चुंग हां चुंगनेसे निःसार या अल्पसार पदार्थों का त्याग ध्वनित होता है)—तो े हुए उन सामान्य पदार्थों को ही अन्नके बालों तथा दानोंके समान उस प्रकार न प्रकार मुनिजन अपनी जीविकाके लिये काटकर किसानों द्वारा धान्यके खेतोंसे के बाद एक-एक बाल या दानों को चुंगते हैं (इस प्रकार जीविका करना तपस्या र्ण साधन माना गया है), उस पुण्य प्रभावसे शङ्करजीने बाल भी चन्द्रमाको स्तकपर रखा तथा द्विजराज (ब्राह्मणों का राजा = अतिश्रेष्ठ) बनाया, अथवा— हाराजने अपने मस्तकपर रखा और ब्राह्मण-श्रेष्ठ माना । अथवा—उक्त प्रकारसे ञ्छवृत्ति द्वारा जीविका करनेवाले ब्रह्मचारी बालकको महाराज या महाधनिक माथे चढ़ाते (पूज्य मानते) और ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ समझते हैं । अथवा—महाधनिक णवक (२० लड़ीवाले बहुमूल्य हार[1]) को कण्ठमें धारण करते हैं, किन्तु इसे र धारण किया यह अधिक आश्चर्य है । अथ च शिलोञ्छद्वारा जीवन-निर्वाह करनेसे

---

[1] विविधहाराणां लतासंख्याबोधाय मत्कृता नामलिङ्गानुशासन (अमरकोष) स्यामर टिप्पणी (२।६।१०६, पृ० २२३-२२४) द्रष्टव्या ।

अधिक पूज्य होनेके कारण मस्तकपर धारण किया जाना उचित ही है। आपकी
संसारके सारभूत सुन्दर पदार्थों वाली तथा चन्द्रमाकी शोभा आपकी शोभासे अत्यन्त
है, अतः जब अतितुच्छ शोभावाला चन्द्रमा जगत् का आह्लादक है वो फिर आपके
क्या कहना है। आप चन्द्रमासे भी अत्यधिक सुन्दर हैं] ॥ ४२ ॥

आदेहदाहं कुसुमायुधस्य विधाय सौन्दर्यकथादरिद्रम्।
त्वदङ्गशिल्पात्पुनरीश्वरेण चिरेण जाने जगदन्वकम्पि ॥ ४३ ॥

आदेहेति। ईश्वरेण शम्भुना कुसुमायुधस्य कामस्य देहदाहादारभ्य आदेह
मर्यादायामव्ययीभावः। जगल्लोकं सौन्दर्यकथादरिद्रं सौन्दर्यवार्ता–शून्यं वि
चिरेण त्वदङ्गस्य शिल्पान्निर्माणात् विश्वं पुनरन्वकम्पि अनुकम्पितं त्वया
सौन्दर्यभरितं कृतमिति जान इत्युत्प्रेक्षा। तव मूर्तिमतः कामात् को भेद
भावः ॥ ४३ ॥

शङ्करजीने कामदेवके शरीर–दाहसे लेकर संसारको सौन्दर्यकी चर्चासे शून्य
फिर बहुत दिनोंके बाद आपके शरीरकी कारीगरी (रचना) से संसारपर दया की। [
कामके शरीरको जलानेपर संसारमें कहीं सुन्दरता का नामतक शेष नहीं रह गया
किन्तु बहुत दिनों बाद आपकी इस सुन्दरतम शरीरसे फिर संसारपर शङ्करजीने
किया है। मानो आप दूसरा काम ही हैं। अन्य भी कोई ईश्वर (ऐश्वर्य–सम्पन्न राजा
किसीको दरिद्र बनाकर बादमें अनुग्रहकर उसकी पूर्ति कर देता है] ॥ ४३ ॥

मही कृतार्था यदि मानवोऽसि जितं दिवा यद्यमरेषु कोऽपि।
कुलं त्वयालङ्कृतमौरगं चेन्नाधोऽपि कस्योपरि नागलोकः ॥ ४४

महीति। मनोरथं मानवो मनुष्योऽसि यदि "तस्येदम्" इत्यण्प्रत्ययः। मही
तार्था अमरेषु कोऽप्यसि यदि दिवा द्युलोकेन जितं सर्वोत्कर्षेण स्थितं नपुंसके
क्तः। त्वया औरगं कुलं नागकुलमलङ्कृतं चेत् नागोऽसि चेदित्यर्थः। अधः
स्थितोऽपि नागलोकः कस्य लोकस्योपरि न। सर्वस्याप्युपरि वर्तत इत्यर्थः। "
परिष्टात्" इति निपातः ॥ ४४ ॥

आप यदि मानव हैं तो (मृत्यु लोकमें निवास करनेके कारण) भूमि कृतार्थ हो
यदि देवताओंमें कोई हैं तो स्वर्गने (सबको) जीत लिया, और यदि नागवंशको
किये हैं अर्थात् नागवंशमें जन्म लिये हैं तो (नागवंशका निवास स्थान होनेसे
नीचे रहता हुआ भी नागलोक किसके ऊपर (किस लोकसे श्रेष्ठ) नहीं है? अर्थात्
मर्त्य आदि लोकोंसे नागलोक (पाताल) ही श्रेष्ठ है। [आपके मानव होनेपर
("मह्यते=पूज्यते इति मही" इस विग्रहसे 'पूज्य' अर्थवाली भूमि) वास्तविक
हो गयी और देवकुलोत्पन्न होनेसे दिव् ("दीव्यति=विजिगीषते इति द्यौ" इस
'विजयी' अर्थवाली दिव् अर्थात् स्वर्ग) भी विजयी हो गया और आपके नागवंशोत्पन्न

लोक 'न गच्छन्तीति अगाः, न अगाः नागाः, तेषां लोकः' इस विग्रहसे गमनशील
से अधोभागस्थ भी नागलोक आपके जन्म स्थान होनेसे सर्वोपरि गामी हो गया।
दानव, देव और नाग—इनमेंसे किस वंशमें उत्पन्न हुए हैं] ॥ ४४ ॥

सेयं न धत्तेऽनुपपत्तिमुच्चैर्मच्चित्तवृत्तिस्त्वयि चिन्त्यमाने ।
ममौ स भद्रं चुलुके समुद्रस्त्वयात्तगाम्भीर्यमहत्त्वमुद्रः ॥ ४५ ॥

सेयमिति । त्वयि चिन्त्यमाने स्वरूपतो गुणतश्च विभाव्यमाने सति सेयं विभा-
वी मच्चित्तवृत्तिः उच्चैर्महतीमनुपपत्तिं न धत्ते समुद्रस्यास्यचुलुके अनुपपन्नता-
करोतीत्यर्थः । तत्र हेतुमुत्प्रेक्षते स समुद्रः त्वया आत्ता गृहीता गाम्भीर्य-
एव मुद्राचिह्नं यस्य स सन् । अत एव चुलके मुनिमुष्टिगर्भे ममौ भद्रं युक्त-
। अन्यथा कथं तथा महतो गम्भीरस्य तस्य मुनिचुलुकितेति भावः । अत्र
र्येत्यादिविशेषणगत्या निर्देशात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तत्सङ्की-
क्षा भद्रमिति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्या ॥ ४५ ॥

इसका (गाम्भीर्य एवं महत्त्व का) विचार करनेपर मेरी चित्तवृत्ति इसमें अनुपपत्ति
हीनता) को नहीं धारण करती है अर्थात् उस बातको असङ्गत नहीं समझती है।
यह है कि) आपके द्वारा महत्त्व तथा गाम्भीर्य की मर्यादाको ले लेने पर (उन
से हीन) समुद्र (अगस्त्य मुनिके) चुल्लुमें समा गया। ['इतने विशाल समुद्रको
मुनिने बहुत ही छोटे अपने चुल्लुमें लेकर किस प्रकार पान कर लिया, यह बात
मेरे मनमें युक्तिसङ्गत नहीं जान पड़ती थी, किन्तु अब वह बात युक्तिसङ्गत इस लिये
पड़ती है कि आपने समुद्रके महत्त्व तथा गाम्भीर्यरूप मर्यादा को ले लिया है, अत
समुद्र तुच्छ हो जानेके कारण अगस्त्य मुनिके चुल्लुमें समा गया।' अन्यथा इतने
किसीके चुल्लुमें समा जाना सर्वथा असम्भव ही था। आप समुद्रसे भी अधिक
तथा गाम्भीर्य गुणसे युक्त हैं] ॥ ४५ ॥

संसारसिन्धावनुबिम्बमत्र जागर्ति जाने तव वैरसेनिः ।
बिम्बानुबिम्बौ हि विहाय धातुर्न जातु दृष्टातिसरूपसृष्टिः ॥ ४६ ॥

संसारेति । किञ्चात्रास्मिन् संसारसिन्धौ वैरसेनिः नलस्तवानुबिम्बं जागर्ति स्फुर-
जाने तर्कयामीत्यर्थः । कुतः, हि यस्माद्बिम्बानुबिम्बौ विहाय वर्जयित्वा धातुः
रूपसृष्टिः जातुः कदाचिदपि न दृष्टा । अन्यथा कथमेतदत्यन्तसादृश्यमित्यर्थः ।
नल एवेति मे प्रतिभातीति भावः ॥ ४६ ॥

इस संसाररूपी (निरवधि) समुद्रमें नल आपके प्रतिबिम्ब हैं' ऐसा मैं जानती हूं,
बिम्ब और अनुबिम्बको छोड़कर ब्रह्माकी अत्यन्त समान रूपवाली रचना कभी नहीं
है। [ब्रह्मा समान रूपवाली दो रचनाओं को कभी नहीं करते और आपकी
नलके अनुबिम्ब (प्रतिबिम्बित होनेवाली वस्तु) के समान है, अत एव प्रतिबिम्बके

छायारूप होनेसे आप नल ही ज्ञात होते हैं, नहीं तो नलके स्वरूपके साथ इतनी सम क्यों है ?] ॥ ४६ ॥

इयत्कृतं केन [1]महीजगत्यामहो महीयः सुकृतं जनेन ।
पादौ यमुद्दिश्य तवापि पद्मारजःसु पद्मस्रजमारभेते ॥ ४७ ॥

इयदिति । महीजगत्यां भूलोके केन जनेन इयदेतावन्महीयो महत्तरं सुकृतं महो, यं जनमुद्दिश्य तवापि पदौ पद्मारजःसु मार्गधूलिषु पद्मस्रजं पद्ममालाम कुर्वाते अहो, यं जनमुद्दिश्यागतस्त्वं स धन्यो वक्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ४७ ॥

भूलोकमें किस आदमीने इतना अत्यधिक पुण्य किया है ? आश्चर्य है, जिसके (अतिसुकुमार एवं सम्राट्) आपके भी चरण मार्गकी धूलियोंमें (चिह्नोंके द्वारा) मालाका आरम्भ करते हैं अर्थात् चिह्नरूपसे कमल–मालाकी रचना कर देते हैं। (पा हे पृथ्वीपति (नल) के समान कान्तिवाले !) । [जिस आदमीके उद्देश्यसे चरणोंमें चिह्न होनेसे चक्रवर्ती भी आप पैदल ही मार्गकी धूलियोंमें चल रहे हैं, वह व्यक्ति मह्यापुण्यात्मा है] ॥ ४७ ॥

ब्रवीति मे किं किमियं न जाने सन्देहदोलामवलम्ब्य संवित् ।
[2]कस्यापि धन्यस्य गृहातिथिस्त्वमलीकसम्भावनयाथवालम् ॥ ४८ ॥

ब्रवीतीति । इयं मे संवित् बुद्धिः सन्देहमेव दोलामस्मदुद्देशेन वा अन्योद्दे वा आगतस्त्वमित्येवंरूपामवलम्ब्य आरुह्य किं किं ब्रवीति किमपि किमपि यतीत्यर्थः । अतो न जाने न निश्चिनोमि । अथवा अलीकसम्भावनया मिथ्या केणालं तत्साध्यं नास्तीत्यर्थः । अत एव गम्यमानसाधनत्वापेक्षया करणत्वात् इति न्यासोद्योतकारः । किन्तु कस्य धन्यस्य ममान्यस्य वा गृहातिथिरसि त्वमे कम्पस्वेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

मेरी बुद्धि सन्देह (ये नल ही हैं, या दूसरा कोई है ?, ये मेरे ही उद्देश्यसे यहां या दूसरे किसीके उद्देश्यसे आये हैं, इत्यादि अनेक प्रकारके संशय) रूपी झूलेका कर अर्थात् उक्तरूपके अनेक सन्देहोंमें पड़कर क्या–क्या कह रही है ? यह मैं नहीं अथवा आप किसी धन्य (महापुण्यात्मा) के अतिथि हैं (पाठा०—आप किस धन्यके हैं ?), अन्यथा (आप नल ही हैं या मेरे ही यहां आये हैं ऐसी) सम्भावना करना है [क्योंकि मेरे इतने अधिक पुण्य कहां हैं ? जो आप नल हों या मेरे उद्देश्यसे आये हों] ॥ ४८ ॥

प्रागेव तावत् तव [3]रूपसृष्टं निपीय दृष्टिर्जनुषः फलं मे ।
अपि श्रुती नामृतमाद्रियेतां तयोः प्रसादीकुरुषे गिरश्चेत् ॥ ४९ ॥

---

[1] “महीमहेन्द्रमहः” इति पाठान्तरम् । [2] “कस्यासि” इति पाठान्तरम् । [3] “रूपसृष्टिं” इति पाठान्तरम् ।

वैति । तावन्मे दृष्टिः तव रूपेणाकारेण सृष्टमुत्पादितममृतं निपीय जनुषो फलं प्राप्तैव अथ श्रुती श्रोत्रेऽप्यमृतं नाद्रियेतान्न पिबेतां किमिति काकुः एवेत्यर्थः । चेद्यदि तयोः श्रुत्योः गिरं वाक्यं प्रसादीकुरुषे किमपि वदसा- । सर्वथा प्रश्नदानं उचितमेवेत्यर्थः ॥ ४९ ॥

हले मेरी दृष्टिने आपके रूपसे सम्पादित अमृत (पाठा०—आपकी रूपरचना) का जन्मके फलको प्राप्त कर लिया, अब कान भी (आपके भाषणरूप) अमृत का आदर गे क्या ? (आपका वचनामृत नहीं सुनेगें क्या ?) अर्थात् अवश्य आदर करेंगे, (अपने) वचनको उन दोनों (कानों) का प्रसाद करेंगे । [आप अपना वचना- मेरे कानोंको भी सन्तुष्ट कीजिये अर्थात् मेरे प्रश्नोंका उत्तर अवश्य दीजिये] ॥

इत्थं मधूत्थं रसमुद्गिरन्ती तदोष्ठबन्धूकधनुर्विसृष्टा ।
र्णात्प्रसूनाशुगपञ्चबाणी वाणीमिषेणास्य मनो विवेश ॥ ५० ॥

इत्थमिति । इत्थं मधुनः क्षौद्रादुत्थमुत्पन्नम् । 'आतश्चोपसर्गे'' इति कप्रत्ययः । सदृशं रसमुद्गिरन्ती स्रवन्ती तस्या ओष्ठ एव बन्धूकं बन्धुजीवकुसुमम् । बन्धुजीवः' इत्यमरः । तदेव धनुः तेन विसृष्टा मुक्ता प्रसूनाशुगस्य कुसु- पञ्चानां बाणानां समाहारः पञ्चबाणी । "तद्धितार्थ" इत्यादिना समाहारे । अकारान्तोत्तरपदत्वात्स्त्रियां "द्विगोः" इति ङीप् । वाणीभिषेण वाग्व्याजे- कर्णात् कर्णं प्रविश्य ल्यब्लोपे पञ्चमी । अस्य नलस्य मनो विवेश कर्णद्वारा त्यर्थः ॥ ५० ॥

इस प्रकार (८।२०—४९) मधूत्पन्न रस अर्थात् मधुसदृश मधुर रस (या पुष्पराग) ती या निकालती हुई उस (दमयन्ती) के ओष्ठरूप दुपहरियाके फूल तद्रूप धनुषसे पुष्पधन्वा (कामदेव) की पञ्चबाणी (पांच बाणोंका समूह) वाणी (दमयन्ती— के व्याजसे इस नलके कान द्वारा (कानमें प्रवेशकर) मनमें प्रविष्ट हो गयी । के द्वारा धनुषसे छोड़े गये पांचों बाणोंके समान दमयन्तीकी वाणीसे नलके मनमें हो गया] ॥ ५० ॥

अमज्जदा[1]मज्जमसौ सुधासु प्रियं प्रियाया वदनान्निपीय ।
द्विषन्मुखेऽपि स्वदते स्तुतिर्या तन्मिष्टता नेष्टमुखे त्वमेया[2] ॥५१॥

अमज्जदिति । असौ नलः प्रियाया वदनात् प्रियं प्रियवाक्यं निपीय सुधासु मज्जानं धातुमभिव्याप्येत्यर्थः । अभिविधावव्ययीभावः । "अनश्च" इति टच् । अमज्जदमृतास्वादसुखमन्वभूदित्यर्थः । तथा हि—द्विषन्मुखेऽपि तन्मु- दित्यर्थः । या स्तुतिः स्वदते स्वादूभवति इष्टमुखे प्रियजनमुखे तु तस्याः ता स्वादुता अमेया अपरिच्छेद्या न किमिति काकुः ? अपि तु परिच्छेत्तुम-

---

1. "—दाकण्ठमसौ" इति पाठान्तरम् । २. "प्रमेया" इति पाठान्तरम् ।

शक्यैवेत्यर्थः । अत्रेष्टमुखस्तुतेः द्विषन्मुखस्तुत्यपेक्षया कैमुत्येन स्वादुत्वोत्कर्ष
पादनादर्थापत्यलङ्कारः । तस्य वाक्यभूतस्य आमज्जं सुधामज्जनहेतुत्वाद्वाक्यार्थ
काव्यलिङ्गमिति सङ्करः ॥ ५१ ॥

ये (नल) प्रिया (दमयन्ती) के मुखसे प्रियवचनका पानकर (प्रिय वचनको सुनकर) 'मज्जा' नामक धातुतक (पाठा०—कण्ठतक) अमृतमें डूब गये । जो प्रशंसा शत्रुके मुखसे अर्थात् शत्रुके द्वारा कहने पर भी रुचती है, फिर उसकी मधुरता प्रियके मुखमें (प्रिय मुखके द्वारा कहने पर) अपरिमित नहीं होगी क्या अर्थात् प्रियजनके द्वारा की गयी प्रशंसा अवश्यमेव अधिक रुचिकर होगी (पाठा०—उसकी मधुरता प्रियजनके मुखमें परिमित होगी अर्थात् अपरिमित ही होगी) । [पहले तो शत्रुलोग किसीकी प्रशंसा करते ही और कोई शत्रु यदि किसीकी प्रशंसा करता भी है तो साधारण तथा थोड़ी ही करता इसके सर्वथा विपरीत प्रियजन बहुत बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा करते हैं, अतः यदि शत्रुकृत प्रशंसा भी रुचती है तो फिर प्रियजनकृत प्रशंसा कितना अधिक रुचेगा इसका प्रमाण नहीं जा सकता । प्रिया दमयन्तीके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनकर नलको अत्यधिक प्रसन्नता हुई

पौरस्त्यशैलं जनतोपनीतां गृह्णन् यथाहर्पतिरर्घ्यपूजाम् ।
तथातिथेयीमथ संप्रतीच्छन्नस्या वयस्यासनमाससाद ॥५२॥

पौरस्त्येति । अथ नलः अह्नः पतिः अहर्पति सूर्यः "अहरादीनां पत्यादिषु ङ्ख्यानम्" इति रेफादेशः । यथा जनानां समूहो जनता । ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल् तया उपनीतां समर्पिताम् अर्घार्थं जलमर्घ्यं "पादार्घाभ्याञ्च" इति यत्प्रत्ययः तदेव पूजा तां गृह्णन् स्वीकुर्वन् पुरो भवः पौरस्त्यः । दक्षिणा पश्चात् पुरसस्त्यक् तं शैलमुदयाद्रिमाससादेति शेषः । तथा अतिथिषु साधुमातिथेयीं पूजां, "पथ्यतिथि वसतिस्वपतेर्ढञ्" । सम्प्रतीच्छन् प्रतिगृह्णन् अस्या भैम्याः वयसा तुल्या "नौवयोधर्मे"त्यादिना यत्प्रत्ययः । तस्या आसनमाससाद । न तु भैम्याः दूत्यावस्थायामनौचित्यादिति भावः । उपमालङ्कारः ॥ ५२ ॥

इसके बाद जनसमूहसे अर्पित अर्घ्य-(अर्घार्थ जल) पूजाको ग्रहण करते हुए सूर्य प्रकार उदयाचलको प्राप्त करते (उदयाचलपर आरूढ होते) हैं, उसी प्रकार अतिथि पूजाको स्वीकार करते हुए वे (नल) इस (दमयन्ती) की सखीके आसनको (प्रियाके द्वारा दिये आसनको) प्राप्त किया अर्थात् उसपर बैठे । [स्वयं दूत होनेके दमयन्तीके आसनपर बैठना अनुचित होनेसे वे उसकी सखीके आसन पर बैठे] ॥

अयोधि तद्धैर्यमनोभवाभ्यां तामेव भूमीमवलम्ब्य भैमीम् ।
आह स्म यत्र स्मरचापमन्तश्छिन्नं भ्रुवौ तज्जयभङ्गवार्ताम् ॥५३॥

अयोधीति । तस्य नलस्य धैर्यमनोभवाभ्यां कर्तृभ्यां तां भैमीमेव रणभूमि व्यस्तरूपकम् । अवलम्ब्य प्राप्य अयोधि, भावे लुङ् । यत्र युद्धे युद्धभूमौ वा

च्छिन्नं भ्रूवौ भैमीभ्रुवावेव स्मरचापं पूर्ववद्रूपकं तयोर्धैर्यमनोभवयोर्जयभङ्ग-ग्राह स्म स्मरचापभङ्गात् स एव भग्न इति भावः । कथञ्चित्कामं निरुध्य धैर्य-मवलम्बितवानित्यर्थः ॥ ५३ ॥

ब नलके धैर्य तथा कामदेवने उस दमयन्तीरूप युद्धभूमिका अवलम्बनकर (दमय-न्तीको अपना-अपना विषय बनाकर) युद्ध किया, जिस (युद्धभूमि) में बीचमें कटा (दमयन्तीका) भ्रूद्वयरूप कामधनुषने उन (नलके धैर्य तथा कामदेव) के (क्रमशः) जय पराजयको बतला दिया । [दमयन्तीका भ्रूद्वय मध्यच्छिन्न कामधनुष था, अतएव टूटे धनुषवाले कामदेवकी पराजय तथा नलके धैर्यका विजय हुई जिसका धनुष टूटता उसका पराजित होना उचित ही है, यहां कामका धनुष टूट गया । अतः वही नल धैर्यके पराजित हुआ अर्थात् नलने दूत होने के कारण अपने सहज धैर्यसे दमयन्ती-विषयक वासनाको रोक लिया । दमयन्तीके भ्रूद्वय बीचमें मिले हुए नहीं होनेसे सामुद्रिकशास्त्रके-अनुसार शुभ लक्षणसे युक्त हैं यह भी सूचित होता है] ॥ ५३ ॥

अथ स्मराज्ञामवधीर्य धैर्यादूचे स तद्वागुपवीणितोऽपि ।
विवेकधाराशतधौतमन्तः सतां न कामः कलुषीकरोति ॥५४॥

अथेति । अथ स नलस्तस्या भैम्या वाचा उपवीणितो वीणया उपनीतोऽपि वीणाकृष्टचित्तोऽपीत्यर्थः । "सत्यापपाश" इत्यादिना वीणाशब्दादुपगाने णिचि क्तः । धैर्याद्धैर्यं विधाय ल्यब्लोपे पञ्चमी । स्मरस्याज्ञामवधीर्य अवज्ञाय ऊचे च । तथा हि-विवेकानां धराशतैर्धौतं क्षालितं सतां विदुषामन्तरन्तःकरणं कामो न कलुषीकरोति न विकर्तुं शक्नोतीत्यर्थः । अत्र पूर्वार्धे स्मरधैर्ययोर्धावितचि-त्ते धैर्यनियमनात्परिसङ्ख्यालङ्कारः । "एकस्य वस्तुनो भावादनेकत्रैकदा यदा । नियमः सा हि परिसङ्ख्या निगद्यते ॥" इति लक्षणात् । तस्योत्तरार्धे समान्येन समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थसरूपोऽर्थान्तरन्यास इति सङ्करः ॥५४॥

इसके बाद उस दमयन्तीके वाणीरूप वीणासे प्रशंसित भी नल धैर्यका अवलम्बनकर कामाज्ञा (कामवासना) को दबाकर बोले; विचारकी सैकड़ों धाराओंसे धोये गये, सज्जनोंके अन्तःकरणको काम मलिन नहीं करता है । [पहले नलको दमयन्तीकी वाणीरूप वीणासे प्रशंसित होनेके कारण दमयन्ती-विषयक काम-वासना उत्पन्न हुई, किन्तु उन्होंने अपना कर्तव्य विचारकर सहज धैर्यसे उस कामवसनाको दबा दिया, क्योंकि सज्जनोंका मन सैकड़ों विवेक धाराओंसे अत्यन्त स्वच्छ रहनेके कारण कामवासनासे कलुषित कभी नहीं होता । लोकमें भी जिसे सैकड़ों धारायुक्त जलसे धोया जाता है, वह अत्यन्त स्वच्छ होता है] ॥ ५४ ॥

हरित्पतीनां सदसः प्रतीहि त्वदीयमेवातिथिमागतं माम् ।
वहन्तमन्तर्गुरुणादरेण प्राणानिव स्वःप्रभुवाचिकानि ॥५५॥

हरिदिति । मां गुरुणा आदरेण अतिप्रयत्नेन स्वःप्रभूणामिन्द्रादीनां व्याहृता वाचो वाचिकानि सन्देशवाक्यानि । 'सन्देशवाग्वाचिकं स्यात्' इत्यमरः। "व्याहृतार्थायाम्" इति ठक्। प्राणानिव त्वदीयानेवेत्यर्थः। अन्तरन्तरात्मनि वर्त हरित्पतीनामिन्द्रादिदिक्पालानां सदस आस्थानादागतं त्वदीयमेवातिथिं अर्थं त्वामेवोद्दिश्यागतं विद्धीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

बड़े आदरसे स्वर्गाधीशोंके संदेशोंको (अपने या उन्हींके) प्राणोंके समान हृदयमें धा करते हुए तथा दिक्पालोंकी सभासे आये हुए मुझको तुम तुम्हारा (अपना) ही अ जानो । [इन्द्रादि दिक्पालोंके जिन वाचिक संदेशोंको मैं हृदयमें आदरपूर्वक धारण कर हूं, वे प्राणोंके समान प्रिय हैं. अतएव उनको सुनकर पालन करना तुम्हारा कर्तव्य है, मैं दिक्पालोंके स्थानसे तुम्हारे ही यहां आया हूं] ॥ ५५ ॥

विरम्यतां भूतवती सपर्या निविश्यतामासनमुज्झितं किम् ।
या दूतता नः फलिना विधेया सैवातिथेयी पृथुरुद्भवित्री ॥५६॥

विरम्यतामिति । सपर्या पूजा भूतवती भूतैव भवतेः क्तवतुप्रत्यये ङीप्। विर तामवसीयतां भावे लोट्। विनिश्यतां उपविश्यतां किं किमर्थमासनमुज्झि त्यक्तम् ? फलिना फलवती, "फलबर्हाभ्यामिनज्वक्तव्यः" । विधेया कर्तव्या नोऽस्म या दूतता दूत्यं सैव पृथुर्महती आतिथेयी अतिथिपूजा उद्भवित्री भाविनी ॥ ५६ ॥

पूजा (अतिथि–सत्कार) हो गयी, (इससे) विरत होवो, बैठो, (दूतरूप मुझे कर) आसनको क्यों छोड़ दिया ? (अतिथि–सत्कार करना गृहस्थमात्रका धर्म है, मैंने आसन छोड़ दिया है और आपका अतिथि सत्कार करना चाहती हूं, ऐसा मत क्योंकि) सफल की जानेवाली मेरी जो दूतता है, वही बड़ी (महत्त्वपूर्ण) अतिथि- होगी । [तुम अतिथि सत्कारको छोड़कर मेरी दूतताको जो सफल करेगी, वही मेरा भारी अतिथि–सत्कार होगा । तुम मेरे दूत-कर्मको सफल करो] ॥ ५६ ॥

कल्याणि ! कल्यानि तवाङ्गकानि कच्चित्तमां चित्तमनाविलं ते ।
अलं विलम्बेन गिरं मदीयामाकर्णयाकर्णतटायताक्षि ॥५७॥

कल्याणीति । हे कल्याणि ! भद्रे ! तवाङ्गकानि कोमलान्यङ्गानि कल्यानि कच्चित्तमां ? किञ्चिदिति प्रश्नार्थमव्ययम् । 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः। "अतिशायने तमबिष्ठनौ" इति तमप् । "किमेत्तिङव्ययघात्" इत्यामुप्रत्ययः। ते चित्तमनाविलमकलुषं कच्चितमाम् ? आकर्णतटात्कर्णतटपर्यन्तं मर्यादायामव्य यीभावः । ततः "सुप्सुपा" इति समासे आकर्णतटायते अक्षिणी यस्याः सेति "बहु व्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्," "षिद्गौरादिभ्यश्च" इति ङीप् । "अम्बार्थनद्यो र्ह्रस्वः" । हे आकर्णतटायताक्षि ! विलम्बेनालं मदीयां गिरमाकर्णय ॥ ५७ ॥

हे भद्रे ! तुम्हारे कोमल शरीर नीरोग (स्वस्थ) हैं न ? और तुम्हारा चित्त प्रस

हे आनतक विशाल नेत्रोंवाली (दमयन्ती) ! (कार्यमें बाधक होनेसे अधिक कुशल) विलम्ब करना व्यर्थ है, मेरी बात सुनो । [किसी कार्यको पूरा करनेके लिए शरीर एवं चित्तका प्रसन्न रहना अत्यावश्यक होनेसे तथा धर्मशास्त्रके वचनानुसार नीरोग-सम्बन्धी कुशल पूछनेका विधान होनेसे प्रश्नान्तरमें अधिक समय न उक्त विषयमें ही कुशल प्रश्न करनेके बाद अपनी देव-दूत-सम्बन्धिनी बात सुननेके दमयन्तीको सावधान कर देते हैं] ॥ ५७ ॥

कौमारमारभ्य गणा गुणाना हरन्ति ते दिक्षु धृताधिपत्यान् ।
ुराधिराजं सलिलाधिपञ्च हुताशनञ्चार्यमनन्दनञ्च ॥५८॥

कौमारमिति । हे भैमि ! कौमारं तव कुमारवय आरभ्य "प्राणभृज्जातिवयोव-त्रादिभ्योऽञ्" । ते तव गुणानां गणाः दिक्षु धृताधिपत्यान् दिशामधीशान् राजमिन्द्रं सलिलाधिपं वरुणञ्च हुताशनमग्निश्च अर्यमनन्दनं सूर्यतनयं हरन्ति आकर्षयन्ति ॥ ५८ ॥

मारावस्थासे आरम्भकर तुम्हारे गुणोंके समूह दिशाओंमें आधिपत्य (स्वामित्व) को करनेवाले अर्थात् दिक्पाल—देवराज इन्द्र, जलाधीश वरुण, अग्नि और सूर्यपुत्र यमको करते हैं । [तुम्हारी कौमारावस्थासे ही तुम्हारे गुण-समूहको सुनकर उक्त इन्द्रादि दिक्पाल तुमसे आकृष्ट हो गये हैं] ॥ ५८ ॥

चरच्चिरं शैशवयौवनीयद्वैराज्यभाजि त्वयि खेदमेति ।
तेषां रुचश्चौरतरेण चित्तं पञ्चेषुणा लुण्ठितधैर्यवित्तम् ॥५९॥

चरदिति । शैशवयौवनयोरिदं शैशवयौवनीयं, "वृद्धाच्छः" तच्च तत् द्वैराज्यं राज्ञोः (कर्म) ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्प्रत्ययः । तद्भाजि शैशवयौवनाख्यराज्यद्व-यायामित्यर्थः । एतेनास्या वयःसन्धिरुक्तः, तस्यां त्वयि चिरं चरद्वर्तमानं न्द्रादीनां चित्तं (कर्तृ) रुचः कान्तेश्चौरतरेण विरहितेजोहारिणेत्यर्थः । लुण्ठितधैर्यवित्तमपहृतधैर्यधनं सत् खेदमेति द्वैराज्ये प्रजानां चोरबाधा इति भावः । अत्र वयोद्वयद्वैराज्ये पञ्चेषुणा चोरेण तेषां धैर्यवित्तं हृतमिति । तद्धेतुकत्वात् खेदस्य वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमिति सङ्करः ॥ ५९ ॥

तथा तारुण्यकी (दो अवस्थारूप) राज्यद्वयके प्राप्त अर्थात् बाल्य तथा तारुण्यकी के मध्यमें स्थित तुममें बहुत समयसे वर्तमान उन (इन्द्रादि चारो दिक्पालों) विरहियोंके मुखकी) कान्ति की अतिशय चोरी करनेवाले पञ्चबाण (कामदेव) से अपहरण किये—चुराये) गये, धैर्यरूपी धनवाला चित्त कब तक खेदको प्राप्त करेगा ? यौवनावस्था की सन्धिमें स्थित तुममें उन इन्द्रादि दिक्पालोंका चित्त आसक्त हो और विरही होनेसे उनकी कान्तिको चुराने (नष्ट करने) वाला एवं पांच बाण वाला कामदेवरूप डांकू उनके धैर्यरूपी धनको लूट लिया है । ऐसा (कान्ति

एवं धैर्यसे हीन) उन दिक्पालोंका चित्त कबतक खिन्न रहेगा अर्थात् तुम उनपर अनुग्रह करोगी ? [लोकमें भी दो राज्यों की सीमाके मध्यमें चलनेवाले व्यक्तिको जब बाण आदि शस्त्र धारण करनेवाला कोई प्रसिद्ध चोर या डांकू लूट लेता है खिन्न रहता है। बाल्य–तारुण्यकी वयःसन्धिमें स्थित तुममें इन्द्रादि दिक्पालोंका आसक्त हैं, तुम्हारे विरहसे उनकी कान्ति नष्ट हो गई है और उनका धैर्य छूट गया है

तेषामिदानीं किल केवलं सा हृदि त्वदाशा विलसत्यजस्रम् ।
आशास्तु नासाद्य तनूरुदाराः पूर्वादयः पूर्ववदात्मदाराः ॥ ६० ॥

तेषामिति । इदानीं तेषामिन्द्रादीनां हृदि सा प्रसिद्धा त्वदाशा केवलं तृष्णा एव आशा दिक् च । 'आशा दिगतितृष्णयोः' इति वैजयन्ती । विलसति किल विजृम्भते खलु । आत्मदाराः स्वभार्याः पूर्वादयः प्राच्यादयः दिशस्तु उदारा दक्षिणा महतीश्च तनूरासाद्य पूर्ववत् हृदि न विलसन्ति । महति ख्याते दक्षिणे दानशौण्डके' इति वैजयन्ती । अपूर्वनायिकानुरक्ते हृदि यिकाश्चतुरा अपि न लगन्ति । तथा महत्यो दिशः परमाणौ हृदि न भावः । त्वदाशापरवशास्ते स्वकीयं प्राच्याद्याशापरिपालनाधिकारमपि स्थिता इति तात्पर्यार्थः । अत्रोभयोराशयोरेकत्र हृदि प्राप्तौ एकस्या भैम्याशा तन्नियमनात्परिसङ्ख्या । यद्यप्येकस्य उभयत्र प्राप्तावेकत्र नियमनं परिसङ्ख्ये रिकाणां लक्षणं तथापि मीमांसकैरुभयोरेकत्र प्राप्तावेकस्यैव नियमनमित्यङ्गी मत्कारकारित्वाविशेषाच्च उपलक्षणत्वेनोभयाङ्गीकारे को विरोधः ? अथवा हृदयस्य आशाद्वयप्राप्तावेकत्रैव नियमनाद्वापि लभ्यत इति सर्वथा परिसङ्ख्या स्येव । स च शिष्टशब्दोपात्तयोराशयोरभेदाध्यवसायाच्छ्लेषभित्तिकाभेद शयोक्त्युत्थापितेति सङ्करः ॥ ६० ॥

इस समय उन (इन्द्रादि दिक्पालों) के हृदयमें वह तुम्हारी (त्वद्विषयिणी) (अत्यधिक तृष्णा, पक्षा०—दिशा) ही बढ़ रही हैं, स्वपत्नीरूप पूर्व आदि दिशाएं (अनुकूल, पक्षा०—विशाल) शरीरको प्राप्तकर पहलेके समान नहीं विलसित होती [जिस प्रकार अपूर्व नायिकानुरक्त चित्तमें चतुर एवं अनुकूल नायिकाएं भी नहीं हैं, उसी प्रकार विशाल भी पूर्व पत्नीरूप दिशाएं उन इन्द्रादि दिक्पालोंके परमाणु हृदयमें नहीं समाती है । तुम्हें पानेकी अतितृष्णके परवश वे इन्द्रादि देव अपने दिक् कार्यको भी भूल गये हैं] ॥ ६० ॥

अनेन सार्धं तव यौवनेन कोटिं परामच्छिदुरोऽध्यरोहत् ।
प्रेमापि तन्वि[1] ! त्वयि वासवस्य गुणोऽपि चापे सुमनःशरस्य ॥ ६१ ॥

अनेनेति । हे भैमि ! वासवस्य त्वय्यसीमा निरवधिः प्रेमा अनुरागो

---

[1] "भैमि" इति पाठान्तरम् ।

यौवनेन सार्धमच्छिदुरोऽविच्छिन्नः सन् । "विदिभिदिच्छिदेः कुरच्" । त्कर्षमध्यरोहत् । तथा सुमनःशरस्य पुष्पेषोश्चापे गुणो मौर्व्यपि परामु- टिमटनिमध्यरोहत् । 'अत्युत्कर्षाश्रयः कोटयः' इत्यमरः । अत्र प्रेमगुणयोः व विशेषणसाम्येनौपम्योपगमात् केवलप्रकृतविषया तुल्ययोगिता तयोरेव मिति श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायरूपादतिशयोक्तिमूला यौवनेन सार्धमिति न्धोक्तेः सहोक्तिरित्यनयोः सङ्करः ॥ ६१ ॥

! (पाठा०—हे भैमि !) तुममें इन्द्रका अखण्डित (या अतिशय दृढ) प्रेम इस युवावस्थाके साथ अत्यन्त अधिक बढ़ गया है तथा पुष्पबाण (कामदेव) की धनुषकी दूसरी कोटी (किनारे) पर चढ़ गयी है। [तुम्हारे युवावस्थाके प्रारम्भ तुममें प्रेम हो गया है, जैसे-जैसे तुम्हारी युवावस्था बढ़ती जाती है, वैसे- इन्द्रका प्रेम भी दृढ़ होता जाता है; इतना ही नहीं, किन्तु कामदेव भी अपने दूसरे किनारेपर प्रत्यञ्चा चढ़ा लिया है अर्थात् तुम्हारी बढ़ती हुई युवावस्थाके प्रेम भी तुममें बढ़ता जाता है और वे क्रमशः अधिक काम पीडित होते]॥ ६१ ॥

ची प्रयाते विरहं[1] दधत्ते तापाच्च रूपाच्च शशाङ्कशङ्की ।
पराधैर्निदधाति भानौ रुषारुणं लोचनवृन्दमिन्द्रः ॥ ६२ ॥

मिति । इन्द्रस्ते विरहं दधत् दधानः सन् अत एव प्राचीं दिशं प्रयाते प्राप्ते करणे तापाच्चन्द्रस्यापि विरहितापकारकत्वादिति भावः । रूपाच्च उदयकाले रक्तत्वादिति भावः । शशाङ्कशङ्की चन्द्र इति भ्रान्त्या परापराधैश्चन्द्रदोषै- भिः हेतुभिः रुपाऽरुणं लोचनवृन्दं निदधाति क्रोधाद्दहन्निव अक्षिसहस्रेणा- त्यर्थः । क्रोधान्धस्य कुतः सापराधानपराधविवेक इति भावः । अत्र कविस- येन भानौ शशाङ्कभ्रमाद्भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ६२ ॥

विरहको धारण करते हुए इन्द्र (पाठा०—ये इन्द्र तुम्हारे विरहसे) पूर्व दिशाको होनेपर अर्थात् सूर्योदय होनेपर सन्ताप तथा रूपसे चन्द्रोदय होनेपर विरही न्तापसे तथा उदय कालमें रक्त वर्ण होने के कारण रूपसे सूर्यमें ही चन्द्रमाकी हुए अर्थात् सूर्यको चन्द्रमा मानते हुए दूसरेके अर्थात् चन्द्रमाके अपराधोंसे नेत्र-समूहको क्रोधसे रक्तवर्ण कर लेते हैं। [प्रातःकाल जब रक्तवर्ण सूर्य उदय तुम्हारे विरहसे युक्त इन्द्र सन्ताप-कारक एवं लाल वर्ण होनेसे सूर्यको ही चन्द्रमा —यह चन्द्रमा मुझे बहुत सन्तप्त करता है, इस प्रकारके चन्द्र-सम्बन्धी अपराधके सूर्यपर ही आंखोंको लाल करते हैं, क्रोधी पुरुषको अपराधी तथा अनप- विवेक नहीं रह जाता है। इन्द्र तुम्हारे विरहसे चन्द्रोदय होनेपर तो सन्तप्त

---

[1] "विरहादयं ते" इति पाठान्तरम् ।

नै०

होते ही हैं, किन्तु सूर्योदय होनेपर भी अर्थात् दिनमें भी तुम्हारे विरहसे सन्त रहते हैं] ॥ ६२ ॥

त्रिनेत्रमात्रेण रुषा कृतं यत्तदेव योऽद्यापि न संवृणोति ।
न वेद रुष्टेऽद्य सहस्रनेत्रे गन्ता स कामः खलु कामवस्थाम् ॥ ६

त्रिनेत्रेति । त्रिनेत्र एव त्रिनेत्रमात्रः । 'मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारण' इत्यमरः । तन्मात्रेण रुषा यत्कृतमनङ्गत्वमिति भावः । तदेव यः कामोऽद्यापि न संवृ नाच्छादयितुं शक्नोतीत्यर्थः । स कामोऽद्य सहस्रनेत्रे इन्द्रे रुष्टे क्रुद्धे सति काम दशां गन्ता गमिष्यति । गमेर्लुट् । न वेद न जाने खलु । वाक्यार्थः कर्म । लटो वा" इति मिपो णलादेशः । त्रिनेत्रमास्कन्द्य नष्टः कामः सहस्रनेत्रं कथं त्यर्थः । कामस्त्वत्कृते निःशङ्कमिन्द्रं दुःखाकरोतीति तात्पर्यार्थः ॥ ६३ ॥

केवल तीन नेत्रोंवाले (शङ्करजी) ने क्रोधसे जो (अनङ्गत्व=शरीराभाव ; उसी (अनङ्गत्व) को जो काम आज भी नहीं पूरा कर सका है तो सहस्र नेत्रोंवाले के रुष्ट होनेपर वह कामदेव किस (वर्णनातीत) अवस्थाको प्राप्त करेगा, यह जानता हूं । [जो कामदेव क्रोधसे तीन नेत्रोंवाले शङ्करजीके द्वारा की गयी अपनी बहुत दिन बीतनेपर भी आजतक पूरा नहीं कर सका, वह कामदेव हजार नेत्रोंवाले रुष्ट होने पर जिस अवस्थाको पावेगा, वह कल्पनातीत ही है । लोकमें भी कोई किसी साधारण शत्रुद्वारा की गयी हानि की पूर्ति करनेमें असमर्थ है तो वह बड़े शत्रु की गयी हानिको पूरा कर लेगा यह सर्वथा असम्भव ही है। कामदेव इन्द्रको सर्वदा कर रहा है] ॥ ६३]

पिकस्य वाङ्मात्रकृताद्व्यलीकान्न स प्रभुर्नन्दति नन्दनेऽपि ।
बालस्य चूडाशशिनोऽपराधान्नाराधनं शीलति शूलिनोऽपि ॥ ६

पिकस्येति । सः प्रभुरिन्द्रः पिकस्य कोकिलस्य वाङ्मात्रकृतात् न तु कायकृतादिति भावः । व्यलीकादप्रियान्नन्दने नन्दनाख्ये आनन्दकरेऽपीति वने न नन्दति किमुतान्यत्रेति भावः । किञ्च बालस्य कृशस्य चूडाशशिनोऽप अपकारात् सन्तापरूपात् किमुत पूर्णेन्दोरिति भावः । शूलिनः शिवस्याप्या पूजां न शीलति नाचरति । "शीलसमाधौ" इति भौवादिकाल्लट् । इन्द्रो विर वश्यादावश्यकं किमपि कर्म न करोतीत्यर्थः । अत्रानन्दशिवाराधनसम्बन्धे म्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ६४ ॥

प्रभु (निग्रहानुग्रह-समर्थ) वे इन्द्र कोयलके केवल वचनमात्रसे (कामके शरीरसे नहीं) किये गये अप्रिय कार्यसे (आनन्दकारक) 'नन्दन' (नामक अपने में भी आनन्दित नहीं होते हैं और बाल (एक कलामात्र) (शिवजीके) चूडामें चन्द्रमाके अपराधसे शिवजीका पूजन भी नहीं करते हैं । [जो नन्दन अर्थात्

है, उनमें भी आनन्दित नहीं होना आश्चर्य है, अथवा लोकमें भी अप्रिय बोलनेवाले हें आनन्दित नहीं होता है। तथा केवल एक कलावाला ही चन्द्रमा इन्द्रको इतना सताता है कि वे उसी अपराधसे नित्य कृत्यरूप शिवजीका पूजन भी छोड़ दिये हैं, माका चन्द्रमा होता तो इन्द्रको कितना कष्ट होता?, अथवा—बाल शत्रुको भी स्थानपर आश्रय देनेवाले शूलधारीके समीप कोई व्यक्ति नहीं जाता है। तुम्हारे व्याकुल इन्द्रको पिककूजन नहीं रुचता, तथा उन्होंने नित्यकर्मरूप शिवपूजन भी या है] ॥ ६४ ॥

तमोमयीकृत्य दिशः परागैः स्मरेषवः शक्रदृशां [1]दिशन्ति।
कुहूगिरं चञ्चुपुटं द्विजस्य राकारजन्यामपि सत्यवाचम् ॥ ६५ ॥

मोमयीति। स्मरेषवः कुसुमेषुबाणाः परागैः रजोभिः करणैर्दिशः शक्रदृशां तमोमयीकृत्य तत्प्रकृतवचने मयडन्तादभूततद्भावे च्विः। अत एव दिक्तम-सम्बन्धे तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः। कुहूः कुह्वाख्या गीः कूजितं यस्य। अन्यत्र अमावास्येति गीर्वचनं यस्य। 'कुहूः स्यात्कोकिलालापनष्टेन्दुकलयोरपि' इति। तस्य द्विजस्याण्डजस्य कोकिलस्येत्यर्थः। अन्यत्र विप्रस्य 'दन्तविप्राण्डजा इत्यमरः। चञ्चुपुटं मुखं राकारजन्यां पूर्णिमायामपि सत्यवाचं दिशन्त्यादिश-यन्तीत्यर्थः। राकायामपि कुह्वामिव तमन्धीकुर्वन्तीत्यर्थः। अत्र श्लिष्टोपात्त-पि कुह्वोर्द्विजयोश्चाभेदाध्यवसायमुक्त्वा कुहूत्वसत्यवादित्वस्य विरुद्धस्यापि तिशयोक्तिहेतुना सिद्धेर्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं सत् श्लेषातिशयोक्तेर्विरोधैरङ्गैः ते। तेन शक्रस्य राकायां कुहूभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यत इत्यूह्यम् ॥६५॥

मदेवके बाण (पुष्पमय होनेसे) परागों (पुष्प-मकरन्दों, पक्षा०—धूलियों) के शाओंको अन्धकारमय बनाकर 'कुहू' शब्द करनेवाले द्विज (पक्षी अर्थात् कोयल, —ब्राह्मण) के चञ्चुपुट (पक्षा०—मुख) को पूर्णिमा की रात्रिमें भी सत्यवचनवाला शब्द कुहू (अदृष्ट चन्द्रकलावाली अमावास्या तिथि) ही है पूर्णिमा नहीं, ऐसा (पाठा०—करते) हैं। [कामदेवके बाण पुष्पमय हैं, अतः इन्द्रको लक्ष्यकर उनके परागोंसे पूर्णिमा तिथिको भी इन्द्र अमावास्या ही समझते हैं, कोयल कूहू ता है तो उसके द्वारा कामपीडित इन्द्र पूर्णिमा तिथिको भी अमावस्या मानते हैं। सिद्ध वचनवाला ब्राह्मण भी पूर्णिमाको अमावस्या कहता है तो वह अपने उस अमावस्या तिथिको ही पूर्णिमा सिद्ध कर देता है। इन्द्र तुम्हारे कामुक वचन सुननेसे कामान्ध हो रहे हैं और उन्हें चन्द्र सन्तप्त कर रहा है] ॥ ६५ ॥

रैः प्रसूनैस्तुदतः स्मरस्य स्मर्तुं स किं नाशनिना करोति।
भेद्यमस्याहह! वर्म न स्यादनङ्गता चेद्गिरिशप्रसादः ॥ ६६ ॥

---

1. "सृजन्ति" इति पाठान्तरम्।

शरैरिति । स इन्द्रः प्रसूनैरेव शरैस्तुदत आत्मानं विध्यतः स्मरस्य स्मरमि "अधीगर्थ"—इत्यादिना कर्मणि शेषे षष्ठी । अशनिना वज्रेण स्मर्तुं न करोति स्मृतिमात्रशेषं कुर्यादेव । किन्तु तस्य स्मरस्य गिरिशस्य प्रसादः प्रसादलब्धमि कार्यकारणयोरभेदोपचारः । सोल्लुण्ठश्चैतदनङ्गता अभेद्यं वर्मेति रूपकम् । न च्चेत् । अहहेत्यद्भुते खेदे वा साङ्गत्वे पुनर्वज्रलक्ष्यलाभादेनं हन्यादेवेत्यर्थः । पीडयत्येनमनङ्गोऽपीति भावः ॥ ६६ ॥

इन्द्र पुष्परूप बाणोंसे पीडित करते हुए कामदेवको वज्रके द्वारा स्मरणीय क्या कर देता अर्थात् अवश्य ही कर देता, अहह ! अर्थात् आश्चर्य (या खेद) है, यदि का प्रसादरूप (कामदेवको) अनङ्गता ही उसका अभेद्य कवच नहीं होता। [पुष्पमय अर्थात् अतिशय कोमल भी बाणोंसे इन्द्रको सर्वदा पीडित कर रहा है, ऐसे शस्त्रवाले शत्रुको इन्द्र अतितीक्ष्ण वज्रसे अवश्य नामशेष कर देते अर्थात् मार डालते, शिवजीने उस कामदेवको भस्मकर अनङ्ग (शरीर–शून्य) बना दिया है और वही (शरीर–शून्यता) उस कामदेवका दृश्य लक्ष्य नहीं होनेसे अभेद्य कवच हो रहा है, कारण है कि इन्द्र तीक्ष्ण वज्रसे भी उसपर विजय नहीं पाते हैं। अदृश्य लक्ष्यका करना किसी शूरवीरके लिये सम्भव नहीं होता है। इस प्रकार शिवजीने काम जलानेसे अनङ्ग बनाकर एक प्रकार वरदान ही दे दिया है, जो वह तीक्ष्ण वज्रधारी दे इन्द्रको भी निरन्तर पीडित करता जाता है और वे उसका कुछ नहीं कर पाते] ॥६६

धृताधृतेस्तस्य भवद्वियोगान्नाना[1]र्द्रशय्यारचनाय लूनैः ।
अप्यन्यदारिद्र्यहराः प्रवालैर्जाता दरिद्रास्तरवोऽमराणाम् ॥ ६७ ॥

धृतेति । अन्येषां दारिद्र्यं हरन्तीत्यन्यदारिद्र्यहरा अपि । हरतेरनुद्यमनेऽच् । राणां तरवः कल्पद्रुमा भवत्या वियोगात् सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावो व धृताऽधृतिररतिर्येन तस्येन्द्रस्य नानाविधानामार्द्रशय्यानां शिशिरशयनानां लूनैः प्रवालैः दरिद्रा रिक्ता जाताः, तापस्तु तथापि नापेत इति भावः । सुरद्रु प्रवालदारिद्र्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ६७ ॥

तुम्हारे विरहमें अधीर उस (इन्द्र) के अनेक आर्द्र (ठण्डी या विरह सन्ताप जाती हुई, या सन्तापके कारण सूखनेसे दूसरी–दूसरी) शय्याओंके लिये तोड़े गये ल्लवोंसे दूसरोंकी दरिद्रता दूर करनेवाले भी देववृक्ष (कल्पतरु, मन्दार आदि) दरिद्र हो रहे हैं। [तुम्हारे विरहसे सन्तप्त इन्द्रकी इतनी अधिक नयी–नयी शीतल देववृक्षोंके नवपल्लवोंसे बनायी जाती है कि उन देववृक्षोंके पल्लव तो समाप्त हो गये, इन्द्रका सन्ताप दूर नहीं हुआ] ॥ ६७ ॥

---

१. "—दनार्द्र—इति, "—"दन्यान्य—" इति च पाठान्तरे ।

वैर्गुणास्फालभवैः स्मरस्य स्वर्णाथकर्णौ बधिरावभूताम् ।
गुरोः शृणोतु स्मरमोहनिद्राप्रबोधदक्षाणि किमक्षराणि ॥ ६८ ॥

र्वीति । स्वर्णाथस्य स्वर्गनाथस्येन्द्रस्य "पूर्वपदात्संज्ञायामगः" इति णत्वम् । लस्य गुणास्फालभवैः ज्याघट्टनप्रभवैः रवैः बधिरावभूताम् । एवं बाधिर्ये सति गुरोः सकाशात् स्मरमोह एव निद्रा तस्याः प्रबोधे दक्षाण्यक्षराणि विवेकज्ञानवाक्यानि शृणोतु शृणुयात् किम् ? न शृणोत्येवेत्यर्थः । त्वद्विरहमोहान्धमेनं रपि बोधयितुं न प्रभवतीति भावः ॥ ६८ ॥

कामदेवके प्रत्यञ्चा (धनुषकी डोरी) के खींचनेसे होनेवाले शब्दों (धनुष्टङ्कारों) से इन्द्र (इन्द्र) के कान बहरे हो गये हैं, अत एव वे (इन्द्र) कामजन्य मोह–निद्राको में समर्थ, गुरु (बृहस्पति, पक्षा०–श्रेष्ठजन) के अक्षरों अर्थात् वचनों (उपदेशों) (या कैसे) सुनें । [किसी महान् शब्द अर्थात् कोलाहलके होते रहनेपर बहरे र सुननेमें असमर्थ) कानोंसे दूसरे गुरुजनोंकी भी बात नहीं सुनाई पड़ती है । में इतना अधिक आसक्त हो गये हैं कि वे अपने गुरु बृहस्पतिके उपदेशोंको भी नते हैं] ॥ ६८ ॥

अनङ्गतापप्रशमाय तस्य कदर्थ्यमाना मुहुरामृणालम् ।
मधौ मधौ नाकनदीनलिन्यो वरं वहन्तां शिशिरेऽनुरागम् ॥ ६९ ॥

ङ्गेति । नाकनद्याः स्वर्णद्या नलिन्यो मधौ मधौ वसन्ते वसन्ते तस्येन्द्रस्यान- शमाय मुहुरामृणालं मृणालपर्यन्तम् , अभिविधावव्ययीभावः । कदर्थाः वस्तूनि, "कोः कत्तत्पुरुषेऽचि" इति कोः कदादेशः । कदर्थाः क्रियमाणाः कद- नाः उत्पीड्यमानाः सत्य इत्यर्थः । तत्करोतीति ण्यन्तात्कर्मणि लटः शानजा- शिशिरेऽनुरागं वरम् । वरमिति मनाक् प्रिये । वहन्तां वासन्तिकोपचाराणां तत्र पूर्वोक्तोपद्रवभयादिति भावः । वहेः स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम् ॥ ६९ ॥

(इन्द्र) के काम–सन्तापकी शान्तिके लिए प्रत्येक वसन्त ऋतुमें पीडित होती हुई, कमलिनियां शिशिर ऋतुमें अधिक प्रेम करती हैं। [शिशिर ऋतुमें कमलिनि- तथा पत्ते ही नष्ट होते हैं, मृणाल (डण्ठल) नष्ट नहीं होते, किन्तु वसन्त ऋतुमें विरहमें इन्द्रके अधिक कामसन्तप्त होनेपर उसकी शान्तिके लिए कमलिनोंके को उखाड़–उखाड़कर उपयोग करनेसे वे अत्यन्त पीडित (नष्ट) हो रही हैं. अत शिशिर ऋतुमें भी वे स्नेह करती हैं, क्योंकि वही शिशिर ऋतु उन कमलि- की रक्षा वसन्त ऋतुकी अपेक्षा अधिक करती है। लोकमें भी कोई व्यक्ति अत्यन्त होनेपर रक्षा करनेवाले शत्रुमें भी स्नेह करने लगता है। इन्द्र तुम्हारे विरहसे प्रत्येक ऋतुमें अधिक कामजन्य सन्तापसे पीडित होते हैं] ॥ ६९ ॥

दमस्वसः सेयमुपैति तृष्णा [1]जिष्णोर्जगत्यग्रिमलेख्यलक्ष्मीम् ।
दृशां यदब्धिस्तव नाम दृष्टित्रिभागलोभार्तिमसौ बिभर्ति ॥ ७० ॥

दमेति । हे दमस्वसः ! दमयन्ति ! जिष्णोः शक्रस्य 'जिष्णुर्लेखर्षभः
इत्यमरः । सेयं तृष्णा आशा जगति अग्रेभवमग्रिमम्, "अग्रादिपश्चाड्डिमच् वक्त
तच्च तल्लेख्यं च तस्य लक्ष्मीमुग्रगण्यतामुपैति अपूर्वत्वादिति भावः । कुतः यत
दृक्शामब्धिराकरोऽसाविन्द्रस्तव दृष्टेस्त्रिभागस्तृतीयांशः सङ्ख्याशब्दस्य वृत्ति
पूरणार्थत्वाङ्गीकारात् । तत्र लोभेन तृष्णया आर्तिमाधिं बिभर्ति नाम धत्ते
तदेतदाढ्यतमस्य कणिकालोभवच्चित्रीयत इत्यर्थः । तल्लेशलाभ एव स्वदृष्टि
फलमित्यभिमानस्तस्येति भावः ॥ ७० ॥

हे दमयन्ति ! विजयशील (पाठा०–इन्द्र) की प्रसिद्ध अर्थात् अत्यन्त बढ़ी हुई
तृष्णा संसारमें अग्रिम लेखकी शोभा (अग्रगण्यता) को प्राप्त कर रही है, जो ने
समुद्र अर्थात् बहुत नेत्रोंवाला (इन्द्र) भी तुम्हारे नेत्रके तृतीयांश (तिहाई भाग)
कटाक्षके लोभकी पीडाको धारण करते हैं । [जो नेत्रोंका समुद्र है अर्थात् सहस्र ने
है, वह भी तुम्हारे नेत्रके तृतीयांश (तिहाई भाग) के लोभसे पीडित हो रहा है ।
बात संसारमें सर्वप्रथम गिनी जायेगी तथा संसारमें भी जिसके पास हजारोंकी
है, वह एक तृतीयांशके लिए लोभकर दुःखित हो तो वह सर्वप्रथम गणनीय
होगी । और देवोंका राजा इन्द्र भी तुम मानुषीको पानेके लिए दुःखित हो रहा है
संसारमें सर्वप्रथम गणनीय बात होगी । इन्द्र तुम्हारे कटाक्ष की प्राप्तिके लोभसे
हो रहे हैं] ॥ ७० ॥

अग्न्याहिता नित्यमुपासते यां देदीप्यमानां तनुमष्टमूर्तेः ।
आशापतिस्ते दमयन्ति ! सोऽपि स्मरेण दासीभवितुं न्यदेशि ॥

अथ भगवतोऽग्नेरवस्थां वर्णयति—अग्नीति । अग्न्याहिता आहिताग्नयः, "
ताग्न्यादिषु" इति निष्ठायाः परनिपातः । यां देदीप्यमानां जाज्वल्यमानां
मानां, दीप्यतेर्यङन्तात्कर्तरि लट् । शानजादेशः । अष्टमूर्तेरीश्वरस्य तनुं
पासते, हे दमयन्ति ! आशापतिर्दिक्पतिः सोऽग्निरपि स्मरेण कर्त्रा तव दासी
न्यदेशि दासो भवेत्यादिष्ट इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

(अब (श्लो० ७१ से ७६ तक) नल अग्निके दूतकार्यको आरम्भ करते हैं—)
होत्रीलोग अष्टमूर्ति (शङ्करजी) की देदीप्यमान जिस मूर्ति अर्थात् अग्निकी सर्वदा
करते हैं, कामदेवने दिक्पाल उस अग्निको भी तुम्हारा दास बननेके लिये आज्ञा दे
है । [कामवशीभूत अग्नि भी, कामदेवको भस्म करनेके कारण शत्रु कामदेवको भी

---

[1]. "हरेः—" इति पाठान्तरम् ।

का दास बनो' इस आज्ञाका पालन करनेको तैयार हो रहा है। अग्नि भी तुम्हारा र दास बनने की इच्छा कर रहे हैं] ॥ ७१ ॥

द्गोचरस्तं खलु पञ्चबाणः करोति सन्ताप्य तथा विनीतम् ।
स्वयं यथास्वादिततप्तभूयः परं न सन्तापयिता स भूयः ॥ ७२ ॥

दिति । पञ्चबाणः कामस्त्वद्गोचरस्त्वामेव लक्षीकृत्य इत्यर्थः । तमग्निं सन्ताप्य थ प्रकारेण विनीतं शिक्षितं करोति खलु । यथा येन प्रकारेण स्वयं स्वादितम-तप्तभूयं तप्तत्वं येन स सन् । "भुवो भावे" इति भावे क्यप् । भूयः पुनः न सन्तापयिता न सन्तापयिष्यति स्वयमनुभूतदुःखः स्वात्मदृष्टान्तेन परं तथा करोतीति भावः ॥ ७२ ॥

देव तुम्हें लक्ष्यकर उस अग्निको सन्तप्तकर इतना अधिक विनीत कर रहा है प-दुःखका स्वयं अनुभव किये हुए वे अग्नि फिर किसीको सन्तप्त नहीं करेंगे। अग्निको यह अनुभव नहीं था कि सन्तापसे कितनी अधिक पीडा होती है, अतः को सन्तप्त किया करते थे, किन्तु अब तुम्हारे विरहमें कामदेवके द्वारा स्वयं प दुःखका अनुभव कर लेने पर वे इस बातको समझ जायेंगे कि सन्तापसे बहुत डा होती है, और भविष्यमें अपना दृष्टान्त रखकर दूसरे किसीको सन्तप्त नहीं रेंगे। लोकमें भी जब तक स्वयं दुःखका अनुभव नहीं होता तभी तक कोई व्यक्ति सताया करता है; किन्तु स्वयं दुःख पाया हुआ व्यक्ति अपने अनुभूत दुःखके से दूसरोंके दुःखको समझकर किसीको नहीं सताता है। तुम्हारे विरहमें अग्नि से अत्यधिक सन्तप्त हो रहे हैं] ७२ ॥

दाहि यस्तेन दशार्धबाणः पुरा पुरारेर्नयनालयेन ।
निर्दहंस्तं भवदक्षिवासी न वैरशुद्धेरधुनाधमर्णः ॥ ७३ ॥

हीति । यो दशार्धबाणः पञ्चेषुः पुरा पुरारेर्नयनालयेन नयनाश्रयेण नेत्रा-दाहि दग्धः स पञ्चेषुरधुना भवदक्षिवासी त्वन्नेत्रनिष्ठः सन् तमग्निं वैरशुद्धेर्वैरनिर्यातनादधमर्णः ऋणी न अनृणोऽभूदित्यर्थः । यो यथा करोति स तस्य तथैव प्रतिकृत्य निर्वैरो भवतीति भावः ॥ ७३ ॥

शिवजीके जिस नेत्रस्थित अग्निने कामदेवको जलाया था, इस समय तुम्हारे नेत्रमें कामदेव उस (अग्नि) को अत्यन्त जलाता (तुम्हारे विरहसे सन्तप्त करता) बदला लेनेसे (उस अग्निका) ऋणी नहीं है। [पहले कामदेवको शिवजीके अग्निने जलाया था, अब वही कामदेव तुम्हारे नेत्रमें रहता अर्थात् कटाक्षद्वारा अत्यन्त सन्तप्त करता हुआ पुराने वैरका बदला चुका दिया है। जिस अग्निने पहले) रूप पुरुषके नेत्रका आश्रय कर कामदेवको सामान्य रूपसे ही जलाया, इसकी रूप तुम्हारे नेत्रमें स्थित कामदेव उस अग्निको अत्यन्त (सामान्यरूपसे नहीं,

किन्तु विशेष रूपसे) जलाता हुआ वैरका बदला चुकानेसे अग्निकी अपेक्षा कामदेव अधिक पुरुषार्थ प्रकट होता है। लोकमें भी ऋण लिया हुआ व्यक्ति मूल सूदके साथ अधिक धन देकर ऋणसे मुक्त हो जाता है। तथा जो किसीकी थोड़ी करता है, वह व्यक्ति हानि करनेवाले व्यक्तिकी अत्यधिक हानिकर अपने वैरका चुका लेता है। कामोद्दीपक तुम्हारे नेत्रोंको देखकर अग्नि तुम्हारे विरहसे अत्यन्त हो रहे हैं] ॥ ७३ ॥

सोमाय कुप्यन्निव विप्रयुक्तः स सोममाचामति हूयमानम् ।
नामापि जागर्ति हि यत्र शत्रोस्तेजस्विनस्तं कतमे सहन्ते ॥ ७४ ॥

सोमायेति । विप्रयुक्तस्त्वद्वियुक्तोऽग्निः सोमाय चन्द्राय कुप्यन्निव जिघांस वेत्यर्थः । "क्रुधद्रुह" इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । हूयमानं यज्ञे दीयमानं सोमरसमाचामति पिबति । तथा हि यत्र पुरुषे शत्रोर्नामापि जागर्ति प्रकाश शत्रुनामधारिणं तेजस्विनः परावमानासहिष्णवः, 'अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राण येष्वपि' इति लक्षणात् । कतमे सहन्ते न केऽपीत्यर्थः । तेजस्विनां शत्रुनामाप ह्यमिति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपार्थान्तरन्यासः ॥ ७४ ॥

विप्रयुक्त (विरहयुक्त, पक्षा०—ब्राह्मणोंसे युक्त) वह (अग्नि) सोम (चन्द्रमा) कोप करते हुएके समान, (यज्ञोंमें) हवन किये जाते हुए सोम (सोमलता) को भक्षण हैं अर्थात् उसे नष्ट करते हैं। ('चन्द्रमापर क्रोधकर सोमलताको नष्ट करनेसे क्या लाभ यह शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि) जहां (जिस पुरुषमें) शत्रुका नाम भी रहता उसको कौन तेजस्वी सहते हैं ? अर्थात् कोई भी तेजस्वी नहीं सहते। [तेजस्वियोंको शत्रु नाम भी असह्य होता है, अतः तुम्हारे विरहमें अग्निको पीडित करनेसे शत्रुभूत सोम चन्द्रमाके नामको सोम अर्थात् सोमलतामें देखकर यज्ञोंमें हवन की गयी सोमलताका आचमन कर जाते हैं अर्थात् आचमन करनेके समान अत्यन्त सरलतासे नष्ट कर देते हैं। चन्द्रमा भी अग्निको तुम्हारे विरहमें अत्यन्त पीडित कर रहा है] ॥ ७४ ॥

शरैरजस्रं कुसुमायुधस्य कदर्थ्यमानस्तव[1] कारणाय ।
अभ्यर्चयद्भिर्विनिवेद्यमानादप्येष[2] मन्ये कुसुमाद्बिभेति ॥ ७५ ॥

शरैरिति । हे तरुणि ! तव कारणाय त्वदर्थे त्वत्कृते, तादर्थ्ये चतुर्थी । कुसुमा युधस्य शरैः कुसुमबाणैरजस्रं कदर्थ्यमानः पीड्यमान एषोऽग्निः अभ्यर्चयद्भिः द्भिर्विनिवेद्यमानात्समर्प्यमाणादपि कुसुमाद्विभेति मन्ये । उत्प्रेक्षा ॥ ७५ ॥

तुम्हारे कारण (पाठा०—हे तरुणि ! तुम्हारे लिए) पुष्पवाण (कामदेव) के (पुष्पों) से अत्यन्त पीड्यमान यह (अग्नि, पाठा०—यह देव अर्थात् अग्नि) पूजा वालोंके द्वारा चढ़ाये गये (एक) पुष्पसे भी डरता है। ऐसा मैं मानता हूं। [पुष्पायुध

---

१. "तरुणि त्वदर्थे" इति पाठान्तरम् । २. "एष देवः" इति पाठान्तरम् ।

सुममय बाणोंसे अग्नि इतना पीडित हो रहे हैं कि पूजामें चढ़ाये गये एक पुष्पको भी -बाण समझकर भयभीत हो जाते हैं। लोकमें भी किसीसे पीडित व्यक्ति पीडा उद्देश्यसे नहीं आने पर भी उसे देखकर यह मुझे पीडित करनेके लिये ही आया है, समझकर भयभीत हो जाता है] ॥ ७५ ॥

मरेन्धने वक्षसि तेन दत्ता संवर्तिका शैवलवल्लिचित्रा ।
चकास्ति चेतोभवपावकस्य धूमाविला कीलपरम्परेव ॥ ७६ ॥

मरेन्धन इति । तेनाग्निना स्मरेन्धनेन कामाग्निदाह्ये वक्षसि दत्ता तापशान्तये शैवलवल्लिभिश्चित्रा कर्बुरा संवर्तिका नवदलम् । 'संवर्तिका नवदलं बीजकोशो' इत्यमरः । चेतोभवपावकस्य कामाग्नेर्धूमाविला कीलपरम्परा ज्वालाव- चकास्ति दीप्यते । 'वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलौ' इत्यमरः ॥ ७६ ॥

(अग्नि) के द्वारा कामदेवके इन्धन (अपनी) छातीपर रखा हुआ शेवाल-लतासे (कर्बुर) कमल कामाग्निके धूम-मलिन ज्वाला-समूहके समान शोभित होता है। तुमसे विरहित अग्निके हृदयको जलाता है, अतः कामस्वरूप अग्निका इन्धन पदार्थ) अग्निका हृदय हुआ, इसके अतिशय सन्तप्त होनेसे अग्नि अपनी छातीपर के लिये शेवालयुक्त कमल रख लिये, उनमें शेवाल तो कामरूप अग्निके धूमके तथा कमल पिङ्गलवर्ण ज्वालाके समान शोभते अर्थात् मालूम पड़ते हैं। तुमसे विर- अग्निको कामदेव अत्यन्त सन्तप्त कर रहा है] ॥ ७६ ॥

पुत्री सुहृद्येन सरोरुहाणां यत्प्रेयसी चन्दनवासिता दिक् ।
धैर्यं विभुः सोऽपि तवैव हेतोः स्मरप्रतापज्वलने जुहाव ॥ ७७ ॥

अथ यमस्य विरहावस्थां वर्णयति—पुत्रीति । येन सरोरुहाणां सुहृत्सूर्यः पुत्री वान् एतेनाभिजन उक्तः । चन्दनैर्मलयजैः द्रुमैर्वासिता सुरभिता दिक् दक्षिणा सी यस्य प्रियतमा एतेन भोगसम्पत्तिरुक्ता । स विभुर्वैवस्वतोऽपि तथैव हेतो- र्निमित्तादेव । "षष्ठी हेतुप्रयोग" इति षष्ठी । धैर्यं स्मरस्य प्रतापज्वलने प्रतापाग्नौ परवशो वर्तत इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

(श्लो० ७७ से ७९ तक) नल यमका दूत कार्य करना आरम्भ करते हैं-) कमलों (सूर्य) जिससे पुत्रवान् हैं तथा चन्दन (चन्दन वृक्ष, पक्षा०—चन्दनलेप) से दिशा अर्थात् दक्षिण दिशा जिसकी परम प्रिया स्त्री है; सर्वसमर्थ वह (यम) भी कारणसे (अपने) धैर्यको कामदेवके प्रतापरूपी अग्निमें जला दिये हैं। [प्रथम यमका उत्तम कुल तथा द्वितीय पादसे भोग सम्पत्तिका उल्लेख किया गया है; अतः कुलोत्पन्न तथा भोग साधन सम्पन्न भी यम तुम्हारे लिये कामपीडित होकर अपना रहे हैं। अथ च जिसके पिता (सूर्य) कमलोंके मित्र हैं तथा परम प्रिया चन्दनसे

---

1 "राज" इति पाठान्तरम् ।

सुरभित है, वे दोनों शीतल पदार्थ (कमल तथा चन्दन) भी यमके कामज सन्तापको करनेमें असमर्थ हो रहे हैं, यह आश्चर्य है]॥ ७७ ॥

तं दह्यमानैरपि मन्मथैधं हस्तैरुपास्ते मलयः प्रवालैः ।
कृच्छ्रेऽप्यसौ नोज्झति तस्य सेवां सदा यदाशामवलम्बते यः ॥७

तमिति । मलयो मलयाद्रिः मन्मथैधं कामाग्नीन्धनम् । 'काष्ठं दार्विन्धनन्त्वे इत्यमरः । तं यमं दह्यमानैस्तदङ्गसङ्गात्पञ्चवाणैरपि प्रवालैः पल्लवैरेव हस्तैरुपास्ते शीतोपचारमाचरतीति भावः । युक्तञ्चैतदित्याह—यो जनः सदा यस्याशां देशम् रागञ्चावलम्बते । असौ जनः कृच्छ्रे आपद्यपि तस्य सेवां नोज्झति न त्यजति यदुपजीवी तस्य तत्सेवा विपत्स्वपि कर्तुमुचितेत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥ ७८ ॥

मलय पर्वत कामदेवके इन्धनरूप उस (यम) की (यमशरीरके अधिक जलते रहने जलते हुए भी (अपने) हाथरूप पल्लवोंसे सेवा करता है, जो (मलय पर्वत) जिस (की आशा (दक्षिण दिशा, पक्षा०—भरोसा) का सर्वदा अवलम्बन करता है, वह (पर्वत) कष्टमें (अपने हाथरूप पल्लवोंके जलते रहनेपर अथवा कामाग्निसे यमके दुः होनेपर) भी उस (यम) की सेवाको नहीं छोड़ता है (यह उचित ही है)। [लोकमें कोई व्यक्ति जिसका भरोसा रखता है या जिसके राज्यमें रहता है; उसके ऊपर कष्ट पड़ने स्वयं कष्ट सहता हुआ भी उसकी सेवामें संलग्न रहता है । कामाग्निसे सन्तप्त यम शरीर पर मलयाचलमें उत्पन्न पल्लवोंको शीतलता पानेके लिए रखते हैं, किन्तु वे सन् शरीरपर पड़नेसे जल जाते हैं । यम तुम्हारे लिए अत्यन्त सन्तप्त हो रहे हैं]॥ ७८॥

स्मरस्य कीर्त्येव सितीकृतानि तद्दोःप्रतापैरिव तापितानि ।
अङ्गानि धत्ते स भवद्वियोगात् पाण्डूनि चण्डज्वरजर्जराणि ॥ ७९॥

स्मरस्येति । स यमो भवद्वियोगात्पाण्डूनि चण्डेन तीव्रेण ज्वरेण जर्ज अत एव क्रमात् स्मरस्य कीर्त्या सितीकृतानि धवलीकृतानीव तस्य स्मर दोःप्रतापैस्तापितानीव स्थितानीत्युभयत्राप्युत्प्रेक्षा । अङ्गानि धत्ते । अत्र यथा ङ्ख्योत्प्रेक्षयोः सङ्करः ॥ ७९ ॥

वे यम तुम्हारे वियोगके कारणसे पाण्डुवर्ण तथा तीव्र ज्वरसे जर्जरित (अतएव क्रमशः मानो कामदेवकी कीर्तिसे श्वेत किये गये तथा उस कामदेवके बाहु-प्रतापसे सन्तप्त शरीरों धारण करते हैं । [विरहियोंके शरीरका पाण्डुवर्ण तथा जर्जरित होना प्रसिद्ध है, अत यमके भी शरीर के जर्जरित होनेमें कविने उत्प्रेक्षा की है कि यमके शरीर कामदेव कीर्तिसे पाण्डु तथा बाहु-प्रतापसे जर्जरित हो गये हैं । श्वेत कीर्तिसे शरीरका श्वेत (पाण्डु होना तथा प्रतापसे जर्जरित होना उचित ही है]॥ ७९ ॥

यस्तन्वि ! भर्ता घुसृणेन सायं दिशः समालम्भनकौतुकिन्याः ।
तदा स चेतः प्रजिघाय तुभ्यं यदा गतो नैति निवृत्य पान्थः ॥ ८०॥

अथ वरुणस्य विरहं वर्णयति—य इत्यादि । हे तन्वि ! कृशाङ्गि ! यो देवः सायं कुङ्कुमेन समालम्भने अनुलेपने कौतुकिन्याः कुतूहलवत्याः आतपारुण्यात् लिप्तवक्षासमानाया इत्यर्थः । दिशः प्रतीच्या भर्ता प्रातः प्राच्या अपि तथा-यावृत्यर्थं सायं ग्रहणम् । स वरुणः तदा तस्मिन् काले तुभ्यञ्चेतः प्रजिघाय वान् । "हेरचङि" इति कुत्वम् । यदा यस्मिन् काले गतः प्रयातः नित्यं पन्थानं तीति पान्थो निवृत्य नैति नायाति अपुनरावृत्तिलिङ्गान्नूनं चित्रास्वात्योः प्रहित-नुत्प्रेक्षा । "नन्दन्ति न निवर्तन्ते चित्रास्वात्योर्गता नरा" इति वचनात् । एवात्र कवेः पान्थशब्दप्रयोगः "पथो ण नित्यम्" इति नित्याध्वगमने पथिन् णप्रत्ययपान्थादेशयोर्विधानात् । अत एव "नित्यग्रहणं प्रत्ययार्थविशेषणम्" काशिकायाम् । तच्चित्तं त्वय्येव सानन्दं विहरति न निवर्तत इति तात्पर्यम् ॥

(अब (श्लो० ८० से ८३ तक) नल वरुणके दूतकार्यको आरम्भ करते हैं—) हे ! जो (वरुण) सायङ्कालमें कुङ्कुमसे शरीर–लेपन करने वाली दिशा (पश्चिम दिशा) मी हैं, वे (वरुण) भी तुम्हारे लिए मनको तब भेज दिये हैं, जब (से लेकर अब गया हुआ वह पथिक अर्थात् वरुण का मन लौट कर नहीं आता है। [स्त्री पतिके म्भोग करनेकी इच्छासे सायङ्कालमें अपने शरीरमें जिस प्रकार कुङ्कुम आदिका लेप है, उसी प्रकार अपने पति वरुणके साथ सम्भोग को चाहने वाली पश्चिम दिशा साय-में रक्तवर्ण हो जाती है, ऐसी उस पश्चिम दिशाके स्वामी वरुणने अपने मनको तुममें समयतक आसक्त कर रखा है कि तुमसे उसका मन अभीतक विमुख नहीं हुआ है। भी तुम्हें चाह रहे हैं] ॥ ८० ॥

तथा न तापाय पयोनिधीनामश्वामुखोत्थः क्षुधितः शिखावान् ।
निजः पतिः संप्रति वारिपोऽपि यथा हृदिस्थः स्मरतापदुःस्थः॥ ८१॥

थेति । तथा क्षुधितः बुभुक्षितः । "वसतिक्षुधोः" इति निष्ठायामिडागमः । मुखोत्थः शिखावान् वडवाग्निः पयोनिधीनां तापाय न भवति यथासौ स्मर-न दुःखं तिष्ठतीति दुःस्थोऽस्वस्थो निजः पतिर्वरुणः हृदि तिष्ठतीति हृदिस्थः क्षण एव वारीणि पातीति वारिपो वारिरक्षकोऽपि सन् तापाय भवति तथा क्षिस्थोऽपि वडवाग्निर्न तापयतीत्यर्थः । ईदृक् तापासम्बन्धेऽपि सम्बन्धो-तिशयोक्तिभेदः ॥ ८१ ॥

मसन्तापसे अस्वस्थ जल-रक्षक भी हृदयस्थ (स्मरणीय, पक्षा०—बीचमें स्थित) पति (वरुण) समुद्रोंको जैसा सन्तापकारक हो रहा है, वैसा (हृदयस्थ, पक्षा०—में स्थित एवं जल-रक्षक) वडवामुखसे उत्पन्न भूखा अग्नि अर्थात् क्षुधार्त वडवाग्नि भी सन्तापकारक नहीं होता है। [वरुण तथा वडवाग्नि—इन दोनोंके जल-रक्षकत्व हृदिस्थत्वके समान होनेपर भी समुद्रोंको वडवाग्नि वैसा सन्तप्त नहीं करता, जैसा तुर वरुण सन्तप्त करता है। समुद्रोंके बीचमें वडवाग्नि रहता है और जलाधीश होने

से वरुण भी उनके हृदयमें निवास करते हैं, उनमें वडवाग्निके द्वारा समुद्रोंको उतना
नहीं होता, जितना कामसन्तप्त वरुणके द्वारा होता है, अतः वडवाग्निकी अपेक्षा विरह
ही अधिक दाहक है। लोकमें भी सज्जन दास दुःखित या शोकसन्तप्त स्वामीको देख
अधिक दुःखित या सन्तप्त होते हैं] ॥ ८१ ॥

यत्प्रत्युत त्वन्मृदुबाहुवल्लीस्मृतिस्रजं गुम्फति दुर्विनीता ।
ततो विधत्तेऽधिकमेव तापं तेन श्रिता शैत्यगुणा मृणाली ॥ ८२ ॥

यदिति । तेन वरुणेन श्रिता सन्तापशान्तये सेविता शैत्यमेव गुणो यस्याः
शैत्यगुणा शीतलैकस्वभावेत्यर्थः । तथापि दुर्विनीता प्रतिकूलचारिणी मृणाली
मृणालम् । अल्पत्वविवक्षायां स्त्रीलिङ्गता । 'स्त्री स्यात्काचिन्मृणाल्यादिर्विवक्ष
चये यदि' इत्यमरः । "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" इति ङीष् । यद्यस्मात्त्व
बाहू वल्याविव तयोः स्मृतीनां स्रजं मालां गुम्फति रचयति अजस्रं स्मारयती
ततस्त्वद्बाहुस्मारकत्वाद्धेतोः प्रत्युत वैपरीत्येन । प्रत्युतेत्युक्तवैपरीत्य इति ग
ख्यानम् । अधिकं तापमेव विधत्ते वितन्यते एतेनास्य ज्वरावस्थोक्ता । अत्र
त्याः कविसम्मतसादृश्याद्बाहुवल्लीस्मारकत्वोक्तेः स्मरणालङ्कारः । तदुपजीवन
तस्यास्तापशान्तिहेतोस्तद्विपरीततापकार्योत्पत्तिकथनाद्विरुद्धकार्योत्पत्तिलक्षणो
मालङ्कारभेद इत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ८२ ॥

उस वरुणके द्वारा धारण की गयी शीतल गुणवाली (फिर भी सन्ताप करनेसे) दुर्वि
अर्थात् दुष्टस्वभाववाली मृणाली जिस कारण तुम्हारे बाहुलताके स्मरण-मालाको गूंथ
अर्थात् तुम्हारे बाहुलताके स्मरणोंको दिलाती है, अतएव वह अधिक सन्तापको देती
[लोकमें भी लाभके लिए रखा गया दुर्जन लाभकी जगह हानि ही करता है। तापशा
लिये धारणकी हुई मृणाललता समान सादृश्य होनेसे तुम्हारी बाहुवल्लीका स्मरण
वरुणके सन्तापको घटानेकी अपेक्षाव ढ़ाती ही है] ॥ ८२ ॥

न्यस्तं ततस्तेन मृणालदण्डखण्डं बभासे हृदि तापभाजि ।
तच्चित्तमग्नैर्मदनस्य बाणैः कृतं शतच्छिद्रमिव क्षणेन ॥ ८३ ॥

न्यस्तमिति । ततस्तदनन्तरमपि तेन वरुणेन तापभाजि हृदये न्यस्तं
लदण्डस्य बिसकाण्डस्य खण्डं सकलं तस्य वरुणस्य चित्ते मग्नैर्मदनस्य बाणैः
शतं छिद्राणि यस्य तत्तथा कृतमिव प्रतिकूलाचरणरोषाच्छतधा प्रणीतमिव
उत्प्रेक्षा ॥ ८३ ॥

सन्तापयुक्त हृदयमें (छातीपर) उस (वरुण) के द्वारा रखा गया मृणालदण्डका
उस (वरुण) के चित्तमें धसे हुए काम-बाणोंसे मानों तत्काल किये गये सैकड़ों छिद्रोंसे
किये गयेके समान शोभित होता है। [स्वभावतः सच्छिद्र कमल नाल-खण्ड वरुणके
निमग्न कामबाणोंसे छिद्रयुक्त किया गया-सा ज्ञात होता है। तुम्हारे विरहसे वरुण
बाणोंसे जर्जरित हो रहे हैं] ॥ ८३ ॥

इति त्रिलोकीतिलकेषु तेषु मनोभुवो विक्रमकामचारः ।
अमोघमस्त्रं भवतीमवाप्य मदान्धतानर्गलचापलस्य ॥ ८४ ॥

इतीति । हे भैमि ! भवतीमेवामोघमस्त्रमवाप्य मदान्धतया अनर्गलचापलउच्छृङ्खलचेष्टितस्य मनोभुवः कामस्य त्रिलोकीतिलकेषु त्रिभुवनभूषणेषु न्द्रादिषु विषये इतीत्थं विक्रमस्य कामचारः स्वाच्छन्द्यवृत्तिर्वर्तत इति शेषः ॥८४॥

तीनों लोकके भूषणरूप उन (इन्द्र, अग्नि, यम तथा वरुण) में तुम अमोघ अस्त्रको (स्थित) मदान्धतासे निर्बाध चपलतावाले कामदेवके इस प्रकार (श्लो० ५८ से वर्णित क्रमसे) पराक्रमकी स्वेच्छाचारिता हो रही है। [लोकमें भी अन्य कोई व्यक्ति सफल अस्त्र पाकर तथा चपलताके वशीभूत होकर निर्बाध रूपसे श्रेष्ठ लोगोंमें ना दुर्व्यवहार करने लगता है, और मदान्ध होनेसे चञ्चल व्यक्तिका बड़े लोगोंमें भी चितका विचार छोड़कर दुर्व्यवहार करना कोई आश्चर्य नहीं है; अथ च-मदान्ध चपल हाथीका श्रेष्ठ लोगोंमें भी अपना पराक्रमका स्वच्छन्द प्रयोग करना आश्चर्य है। मदान्ध कामदेव तुमको साधन बनाकर त्रैलोक्य श्रेष्ठ इन्द्रादिको निरन्तर पीडित ता है] ॥ ८४ ॥

सारोऽथ धारेव सुधारसस्य स्वयंवरः श्वो भविता तवेति ।
सन्तर्पयन्ती दमयन्ति ! तेषां श्रुतिः श्रुती नाकजुषामयासीत् ॥ ८५ ॥

सार इति । अथानन्तरसमये हे दमयन्ति ! तव स्वयंवरः श्वः परेऽह्नि भविता ष्यतीति श्रुतिर्वार्ता। 'श्रुतिः श्रोत्रे अथाम्नाये वार्तायां श्रोत्रकर्मणि' इति विश्वः। रसस्य सारः सारभूता धारेव सन्तर्पयन्ती नाकजुषामिन्द्रादीनां श्रुति श्रोत्रे अयाप "सारोत्थे"ति पाठे सारप्रभवेत्यर्थः ॥ ८५ ॥

दमयन्ति ! 'तुम्हारा स्वयम्वर कल होगा' यह बात अमृत रसके सारभूत (पाठा०— न्न) धाराके समान सन्तृप्त करती हुई उन स्वर्गनिवासियों (इन्द्रादि देवों) के दोनों में पहुंचती है अर्थात् इन्द्रादि देवोंने तुम्हारे स्वयंवरके समाचारको बड़े आनन्दके साथ है ॥ ८५ ॥

समं सपत्नीभवदुःखतीक्ष्णैः स्वदारनासापथिकैर्मरुद्भिः ।
अनङ्गशौर्यानलतापदुःस्थैरथ प्रतस्थे हरितां मरुद्भिः ॥ ८६ ॥

सममिति । अथ स्वयंवरवार्ताश्रवणानन्तरमनङ्गस्य शौर्यानलेन प्रतापाग्निना तस्तेन दुःस्थैरस्वस्थैर्हरितां दिशां सम्बन्धिभिर्मरुद्भिर्देवैरिन्द्रादिभिः स्वस्वामिसम्बन्धे षष्ठीसमासः । समानः पतिर्यस्याः सा सपत्नी । "नित्यं सापत्न्यादिषु" ङीप् नकारश्च । तद्भवेन दुःखेन तीक्ष्णैर्दुःसहैः स्वदाराणां नासासु पन्थानं गच्छपथिकैः पान्थैर्मरुद्भिः समं वायुभिः सह 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः । प्रतस्थे भावे लिट् । शच्यादिभिरिन्द्रादिकलत्रैरागामिसापत्न्यदुःखाद्दीर्घमुष्णञ्च निः-

श्वसितमित्यर्थः । अत्र पवनामरप्रस्थानयोः कार्यकारणभावात्तदङ्गलक्षणातिशयो स्थापितः सहोक्त्यलङ्कारः । "सहार्थेनान्वयो यत्र भवेदतिशयोक्तितः । कल्पितौप पर्यन्ता सा सहोक्तिरिहोच्यते ॥" इति लक्षणात् ॥ ८६ ॥

इस (स्वयंवर-समाचार सुनने) के बाद कामदेवके प्रतापाग्निरूप सन्तापसे दिक्पाल (इन्द्रादि), सपत्नीजन्य दुःखसे तीव्र (तेज और उष्ण, पक्षा०-असह्य) (अपनी) स्त्रियोंके नासामार्गगामी वायुओंके साथ चल दिये । [तुम्हारे स्वयंवर चारसे जब इन्द्रादि देव चलने लगे तब उनकी स्त्रियोंने हमारी सपत्नी (सौत) लिये ये हमारे पति जा रहे हैं, इस दुःखसे नाकके रास्ते लम्बा-लम्बा निःश्वास स्व-स्व-पत्नियोंके उष्ण तथा तीव्र निःश्वास वायुके साथ गमन करनेसे कविने उनके (यन्ती लाभरूप) कार्यकी सिद्धिमें अशकुन होना सूचित किया है । लोकमें भी जानेके छींक होनेसे जन्ताको अनिष्ट होता है ।] ॥ ८६ ॥

अपास्तपाथेयसुधोपयोगैस्त्वच्चुम्बिनैव स्वमनोरथेन[1] ।
क्षुधञ्च निर्व्यापयता तृषञ्च स्वादीयसाध्वा गमितः सुखं तैः ॥ ८७ ॥

अपास्तेति । पथि साधु पाथेयम् । 'पाथेयं संबलं स्मृतम्' इति यादवः । " तिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्" । तच्चासौ सुधा च तस्या उपयोगोऽपास्तो यैरिन्द्रादिभि बुभुक्षां तृषं तृष्णां पिपासां निर्वापयता शमयता स्वादीयसा अमृतादपि स्वादु त्वच्चुम्बिना भवद्गोचरेण स्वयं मनोरथेनैवाध्वा सुखं गमितो नीतः, अमृतमप्युत्स त्वद्ध्यानमात्रसम्बन्धाः प्राप्ता इत्यर्थः ॥ ८७ ॥

पाथेय (रास्तेका कलेवा) रूप अमृतका उपयोग (पाठा०-उपभोग) नहीं किये उन (इन्द्रादि देवों) ने भूख और प्यासको दूर करते हुए तथा (अमृतसे भी) स्वादिष्ट त्वद्विषयक मनोरथ (तुम्हें पानेकी आशा, पक्षा०-मनरूपी रथ) से ही (मानो मनोरथसे अर्थात् दमयन्तीको प्राप्तकर इस-इस प्रकार रमण करेंगे, इत्यादि नासे) मार्गको सुखपूर्वक पूरा (तय) कर लिया है । [भूख-प्यासकी शान्तिके पथिक मार्गका पाथेय लेकर चलता है, किन्तु इन्द्रादि देवोंने अमृतरूप उत्तम पाथेय उपयोग नहीं किया (उसे साथमें भी नहीं लाये); क्योंकि त्वद्विषयक मनोरथसे ही भूख-प्यासने नहीं सताया, अतएव उनका मार्ग सुखपूर्वक पूरा हो गया । शब्दके प्रयोगसे वे इन्द्रादि देव तुम्हारे लिये मनके समान अतितीव्रगामी रथसे आये अत्यन्त शीघ्र यहां पहुंचे । मनके समान रथका तीव्रवेग होनेसे मार्गमें उनका समय कम लगा, इस कारण भी वे इन्द्रादि मार्गमें भूख-प्यासससे पीडित नहीं हुए तथा श्रेष्ठ पाथेयका भी उपयोग नहीं किया । अन्य भी पथिक तीव्र वेगसे चलनेवाली द्वारा अपने अभीष्ट स्थानको सुखपूर्वक शीघ्र पहुंच जाता है तथा रास्तेमें बहुत समय

---

१. "सुधोपभोगैः" इति, ततोऽग्रे "त्वच्चुम्बिनेव" इति च पाठान्तरम् ।

भूख-प्याससे व्याकुल नहीं होनेके कारण पाथेयका भी उपयोग नहीं करता]॥८७॥

प्रिया मनोभूशरदावदाहे देवीस्त्वदर्थेन निमज्जयद्भिः ।
सुरेषु सारैः क्रियतेऽधुना तैः पादार्पणानुग्रहभूरियं भूः ॥ ८८ ॥

प्रिया इति। त्वमेवार्थः प्रयोजनं तेन निमित्तेन प्रिया दयिताः देवीः शच्यादि- मनोभुवः कामस्य शरा एव दावो दवाग्निस्तस्य दाहे विरहानले निमज्जयद्भिः सुरेषु सारैः श्रेष्ठैरिन्द्रादिभिरधुना इयं भूर्विदर्भदेशः पादार्पणमेवानुग्रहस्तस्य भूः क्रियते कुण्डिनोपकण्ठ एव तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ ८८ ॥

तुम्हारे लिए प्रिय देवियों (या देवी अर्थात् सती प्रियाओं) को काम–बाणरूप दावा- दाहमें मग्न करते अर्थात् विरहके कारण कामबाणाग्नि पीडित करते हुए, देवोंमें वे (इन्द्रादि) इस समय इस (कुण्डिनपुरीकी) भूमिको चरणके अर्पणरूप अनुग्र- स्थान बना रहे हैं। [जो देव पृथ्वी पर कभी नहीं चरण रखते थे, वे देवश्रेष्ठ इन्द्रादि लिये इस भूमिपर पधारे हुए हैं और उनकी प्रिया देवाङ्गनाएं विरह पीडित हैं] ॥ ८८ ॥

अलङ्कृतासन्नमहीविभागैरयं जनस्तैरमरैर्भवत्याम् ।
अवापितो जङ्गमलेख्य[1]लक्ष्मीं निक्षिप्य सन्देशमयाक्षराणि ॥ ८९ ॥

अलङ्कृतेति। अलङ्कृत आसन्नमहीविभागो भूप्रदेशो यैस्तैः समीपं गतैस्तैरमरैरयं स्वयमित्यर्थः। भवत्यां विषये त्वां प्रतीत्यर्थः। सन्देशमयाक्षराणि सन्देशरू- वाक्यानि निक्षिप्य अर्पयित्वा जङ्गमलेख्यस्य चललेख्यस्य लक्ष्मीमवापितः हं सन्देशहर इत्यर्थः ॥ ८९ ॥

(इस कुण्डिनपुरीकी) समीपस्थ भूमिके हिस्सेको सुशोभित किये हुए अर्थात् कुण्डिन- पासमें ठहरे हुए उन इन्द्रादि देवोंने इस आदमीको अर्थात् मुझे तुममें अर्थात् लिये सन्देशमय अक्षरोंको रख (या लिख) कर चल लेखकी शोभाको प्राप्त कराया तुम्हारे लिये अपना सन्देश मुझे सुनाकर जङ्गम (चलनेवाला) लेख बनाया है। नपुरीके पासमें ही ठहरे हुए इन्द्रादिने तुम्हारे लिये अपना मौखिक सन्देश मेरे भेजा है] ॥ ८९ ॥

[2]एकैकमेते परिरभ्य पीनस्तनोपपीडं त्वयि सन्दिशन्ति ।
त्वं मूर्च्छतान्नः स्मरभिन्नशल्यैर्मुदे विशल्यौषधिवल्लिरेधि ॥ ९० ॥

एकैकमिति। एते देवाः एकैकं प्रत्येकमेवेत्यर्थः। वीप्सायां द्विरुक्तिः। "एकं बहु- वद्"ति बहुव्रीहिवद्भावात्सुलोपः क्रियाविशेषणं चैतत् अन्यथैकत्वनपुंसकत्वा- केषुचित्पुस्तकेषु "प्रत्येकमि"त्येव पाठः। पीनस्तनयोरुपपीड्य पीनस्तनोप- "सप्तम्यां चोपपीडरुधकर्षः" इति णमुल्प्रत्ययः। परिरभ्यालिङ्ग्य सन्दिशन्ति

---

[1] "-लेख-" इति पाठान्तरम्। [2] "प्रत्येकमेते" इति पाठान्तरम्।

वाचिकं कथयन्ति । किमिति–स्मर एव भिल्लोऽन्त्यजभेदः । 'मूलाश्लेपादयो कथ्यन्ते ह्यन्त्यजातयः' इति हलायुधः । तस्य शल्यैः शूरैर्मूर्च्छतां मुह्यतां नोऽस्मा मुदे त्वं विशल्या उद्धृतशल्या च सा औषधिर्वल्ली विशल्यकरणीलता । एधि अस्तेर्लोण्मध्यमैकवचन"ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इत्येकारः । "हुझल्भ्यो हेर्धिः(१) "धि च" इति सकारलोपः ॥ ९० ॥

ये (इन्द्रादि चारों देव) एक-एक (पाठा०—प्रत्येक) बड़े-बड़े स्तनोंको ज करते हुए आलिङ्गनकर तुम्हारे विषयमें अर्थात् तुमको सन्देश भेजे हैं कि—तुम कामदे भील (मारनेवाला व्याधा) के बाणोंसे मूर्च्छित होते हुए हमलोगोंकी विशल्य (रहित करनेवाली) नामक औषधि-लता बनो अर्थात् हमलोगोंको वरणकर हमलो कामपीडा दूर करो ॥ ९० ॥

त्वत्कान्तिमस्माभिरयं पिपासन् मनोरथाश्वासनयैकयैव ।
निजः कटाक्षः खलु विप्रलभ्यः कियन्ति यावद्गण वासराणि ॥ ९१ ॥

अथ षोडशभिः श्लोकैः सन्देशमेवाह—त्वदित्यादि । हे भैमि ! त्वत्कान्तिं त्व वण्यामृतं पिपासन् पातुमिच्छन्, पिबतेः सनन्ताल्लटः शत्रादेशः । अयं निजोऽ दीयः कटाक्षोऽस्माभिः कियन्ति वासराणि यावत् कियद्दिनपर्यन्तमित्यर्थः । अत्य संयोगे द्वितीया, अवधौ यावच्छब्दः । एकया मनोरथेन मनोरथप्राप्त्या या आश्वास तयैव अयं ते मनोरथ इदानीमेव प्राप्स्यत इत्येवमुपसान्त्वनयैव विप्रलभ्यः प्रता खलु ? भण पथिकैस्तृषित इवेति भावः । अलं कालयापनया, दिदृक्षवो वयमनुग्र नीया इति तात्पर्यार्थः ॥ ९१ ॥

तुम्हारे सौन्दर्यको पीनेकी इच्छा करनेवाले इस अपने कटाक्षको हमलोग कि दिनोंतक केवल एक ही मनोरथके आश्वासन (तुम्हें प्रिया दमयन्ती अवश्य प्राप्त होगी, ऐ शान्त्वना) से वञ्चित करते रहेंगे ? यह निश्चतरूपसे कहो । [जिस प्र मार्गमें चलते-चलते प्यासे हुए बच्चेको 'थोड़ी दूर चलनेपर शीघ्र ही पानी मि इस प्रकार शान्त्वना देकर कुछ समयतक ही उसे वञ्चित किया जा सकता है, अर्थात् अनेक दिनोंतक नहीं, उसी प्रकार हमलोगोंका कटाक्ष अर्थात् दृष्टि तु सौन्दर्यकी प्यासी है, उसे तुम्हारी प्राप्तिरूप मनोरथपूर्णताके आश्वासनसे हमलो कितने दिनोंतक वञ्चित करते रहेंगे ? यह निश्चत कहो, क्योंकि बहुत दिनोंतक एक ही आश्वासनसे वञ्चित करते रहना हमलोगोंके लिए अशक्य है । अतः तुम शी ही हमलोगों को स्वीकृत करो] ॥ ९१ ॥

---

(१) "चिन्त्यमिदम् धि च" इति सकारलोपानवकाशात् । अत्र हि 'ध्वसोरे वभ्यासलोपश्चे'ति एत्वे तस्याभीयतयाऽसिद्धत्वेन हेर्ध्यादेशे "श्नसोरल्लोप" इ अल्लोपे 'एधि' इत्यस्य सिद्धत्वादिति बोध्यम् ।

जे सृजास्मासु भुजे भजन्त्यावादित्यवर्गे परिवेषवेषम् ।
सीद निर्वापय तापमङ्गैरनङ्गलीलालहरीतुषारैः ॥ ९२ ॥

इति । हे भैमि ! निजे स्वीये भुजे बाहू आदित्यवर्गे सुरवर्गे सूर्यवर्गे परिवेषस्य वेष्टनस्य सूर्यपरिधेश्च वेषमाकारं भजन्त्यौ सृज कुरु आलिङ्ग· परिवेषो रवेः पार्श्वमण्डले वेष्टने तथा, इत्यजपालः । प्रसीद प्रसन्ना भव अनङ्ग- हरीभिर्मदनविहारोर्मिभिः तुषारैः शीतलैरङ्गैस्तापं निर्वापय शमय ॥ ९२ ॥

अपनी भुजाओंको आदित्य समूह (देव-समूह, पक्षा०—सूर्य-समूह) परिवेष (वेष्टन, पक्षा०—सूर्यमण्डलका घेरा) की शोभावाली बनाओ । —यदि हमलोगोंपर तुम्हारी कृपा है तो आवो, शीघ्र अङ्कपाली (कण्ठमें ेष्टितकर आलिङ्गन) को दो) प्रसन्न होवो, (पाठा०—हे सुन्दर अङ्गोंवाली) ंशकी तरङ्गोंसे शीतल (अपने) अङ्गोंसे (हमलोगोंके कामजन्य) सन्ताप करो । [सूर्य-समूहमें परिवेषका होना, तथा तरङ्गोंकी शीतलतासे सन्तापका होना उचित हो है ॥ सकाम तुम्हारे शरीर-स्पर्शसे हमलोगोंका सन्ताप जायेगा, अतः अविलम्ब प्रसन्न होकर हमलोगोंका आलिङ्गन करो] ॥ ९२ ॥

यस्व नो घातय नैवमस्माननङ्गचाण्डालशरैरदृश्यैः ।
िन्ना वरं तीक्ष्णकटाक्षबाणैः प्रेमस्तव प्रेमरसात्पवित्रैः ॥ ९३ ॥

स्वेति । हे भैमि ! नोऽस्माकं दयस्व अस्माननुकम्पस्वेत्यर्थः । "अधीगर्थद· र्मणि" इति षष्ठी । अदृश्यैरलक्ष्यैरनङ्ग एव चाण्डालस्तस्य शरैरेवमस्मान् न मारय । किन्तु प्रेमैव रसोऽनुरागो जलं च तस्मात्पवित्रैः शुद्धैस्तव तीक्ष्णैः बाणैर्भिन्ना विदारिताः सन्तः प्रेमः प्रियामहे । प्रपूर्वादिणो लडुत्तमबहुवच· नं मनाक् प्रियम् । जीवनासम्भवे वरं चाण्डालहस्तमरणात्तीर्थमरणमिति ९३ ॥

म) दया करो, अनङ्ग (काम, पक्षा०—शरीरहीन होनेसे अदृश्य) रूप अदृश्य बाणोंसे हमलोगोंको मत मरवावो । तुम्हारे प्रेमरस (पक्षा०—जल) (पूर्ण, पक्षा०—शुद्ध) तीक्ष्ण कटाक्षरूप बाणोंसे विदीर्ण हमलोग भले ही च्छी तरह) प्रसन्न होंगे । [चण्डालके अपवित्र बाणोंसे मरनेकी अपेक्षा जलके नेसे पवित्र तीक्ष्ण बाणोंसे मरजाना हमलोग अच्छा मानते हैं । तुम्हारे मलोग अदृश्य काम-बाणोंसे आहत हो रहे हैं, अतः वैसा न करके तुम प्रत्यक्षमें आकर प्रेमपूर्ण तीक्ष्ण कटाक्षोंसे हमलोगों पर प्रहार करो, उस तीक्ष्ण कटाक्षप्रहारसे हमलोग बहुत प्रसन्न होंगे । लोकमें भी किसीसे प्रेरित

---

१. "अनुग्रहोऽस्मासु यदि त्वदीयस्तदेहि देहि द्रुतमङ्कपालीम्" इति पादद्वय- र्वचित्पाठः । २. "तन्वङ्गि" इति पाठान्तरम् ।

चण्डालके अदृश्य बाणोंसे पीडित होनेवाला व्यक्ति उसकी अपेक्षा प्रत्यक्ष हुए उस प्रेरक व्यक्तिके तीक्ष्ण बाणोंसे मर जाना उत्तम मानता है] ॥ ९३ ॥

त्वदर्थिनः सन्तु परःसहस्राः प्राणास्तु नस्त्वच्चरणप्रसादः।
विशङ्कसे कैतवनर्तितञ्चेदन्तश्चरः पञ्चशरः प्रमाणम् ॥ ९४॥

त्वदिति। हे भैमि! त्वामर्थयन्त इति त्वदर्थिनः त्वत्कामुकाः सहस्र परःसहस्राः सहस्राधिकसङ्ख्याका इत्यर्थः। 'परःशताद्यास्ते येषां परा सङ्ख्या धिका' इत्यमरः। पञ्चमीति योगविभागात् समासः, राजदन्तादित्वादुपसर्ज सहस्रशब्दस्य परनिपातः। पारस्करादित्वात् सुडागमः। सन्तु, नोऽस्माकं प्राण त्वच्चरणयोः प्रसादोऽनुग्रहः वयं त्वदेकायत्तजीविता इत्यर्थः। अथ कैतव कपटनाटकं विशङ्कसे चेत् अन्तश्चरो हृदयान्तर्वर्ती पञ्चशरः प्रमाणम्, काम साक्षी स हि महती देवतेति भावः ॥ ९४ ॥

सहस्रोंसे अधिक लोग तुम्हे चाहनेवाले (भले ही) हों, किन्तु हमलोगोंके तुम्हारे चरणोंके प्रसाद हैं। तुम्हारे चरणोंके प्रसन्न होनेपर ही हमलोग जी सकते हैं, अन्यथा नहीं); यदि तुम (हमलोगोंके इस कथनमें) कपटभाव आशङ्का करती हो तो (इस विषयमें हमलोगोके भीतर स्थित) कामदेव ही अर्थात् साक्षी है। [भीतरतक घूमनेवाला तथा देवरूप होनेसे कामदेव ही हमलो बातको सत्यरूपमें प्रमाणित करेगा, अतः ऐसे प्रामाणिक साक्षीके रहते तुमको हमलो बातमें आशङ्का नही करनी चाहिये ॥ तुम्हारे विना हमलोग नहीं जीवेंगे, कृपाकर हमलोगोंको वरण करो] ९४ ॥

[नास्माकमस्मान्मदनापमृत्योस्त्राणाय पीयूषरसायनानि।
सुधारसादभ्यधिकं प्रयच्छ प्रसीद वैदर्भि! निजाधरं नः ॥ १ ॥]

अस्माकमिति। हे वैदर्भि दमयन्ति! मदनः कामो धत्तूरो वा स एव अप रकालमरणं तस्मात्त्राणाय रक्षणाय पीयूषममृतमेव रसायनानि रसायनभेषजानि समर्थानीति शेषः। 'अस्माकमि'त्यस्य मदनापमृत्युना त्राणेन पीयूषरसायनैर्वा सम्बन्धो यथेष्टं कार्यः। ततो हेतोः प्रसीद अस्मासु प्रसन्ना भव। कीदृशी प्रसन्नतेत्य सुधेति। सुधाऽमृतमेव रसो रसायनौषधं माधुर्यादिषड्रसा वा तस्मादभ्यधिकम शयितमपमृत्युवारणे आस्वादने वेत्यर्थः। निजाधरं स्वाधरं प्रयच्छ देहि, पाद शेषः। अत्र 'प्रसीद' पदोपादानाद्देवानामतिशयितं दीनवचनमिति सू

---

१. अयं श्लोको वक्ष्यमाण (८।१०४) श्लोकार्थक एवं म० म० शिवदत्त भिष्टिप्पण्यां क्षाचित्कत्वेनोल्लिखित इति मयाऽप्यसौ देव-राष्ट्र-वाण्योः व्याख्यातोऽनूदितश्चेति बोध्यम्। परं तैः "अस्माक……" इति पाठ उल्लिखितो न यथार्थसङ्गतिक इति मया तत्र "नास्माक……" इति पाठः परिवर्तितः।

अपमृत्युभीतो मानवो रसायनौषधसेवनेनापि त्राणमलभमानस्तस्मादुत्तमं-सेवित्वा प्राणरक्षणं कामयते। स्त्रीणामधरेऽमृतस्थितिः "केचिद्वदन्त्यमृत-सुराणां केचिद्वदन्ति वनिताऽधरपल्लवेषु।" इति कविजनोक्त्या प्रसिद्धैव। व्यमानस्य महागुणस्यापि भेषजादेर्गुणास्तत्सेविनः पुरुषस्य सात्म्यं प्रतिपद्य रोगप्रशमनार्थं शक्ता भवन्ति यथा नवीनभेषजमित्यतोऽपि नित्यसेव्यमान-स्यामृतापेक्षया दमयन्त्यधरस्थामृतभेषजयाचनं देवानां नासङ्गतमित्यवधेयम्॥

वन्ति? इस मदन (कामदेव) रूप अपमृत्यु (अकालमृत्यु या दुर्गतिपूर्वक से बचानेके लिये हमलोगोंका अमृतरूपी रसायन औषध नहीं समर्थ है प्रसन्न होवो, अमृतरूपी रस (रसायन औषध, पक्षा०—षड्रस भोजन) धिक (अपमृत्युनाशक होनेसे अथवा माधुर्यातिशययुक्त होनेसे श्रेष्ठ) अपना हमलोगोंको पान करनेके लिये) दो। ['प्रसीद' पदके कहनेसे अपमृत्युसे देवोंकी अतिदीनता सूचित होती है। जिसप्रकार लोकमें भी जब कोई व्यक्ति औषधोंके सेवन करनेसे स्वास्थ्यलाभ नहीं करता तो उन रसायनोंको त्यागकर धिक गुणकारी रसायनको किसी दूसरेसे आर्त होकर मांगता है, उसी प्रकार के विरहसे कामपीडित देवोंका अमृतसेवनसे अपनी पीडा शान्त होती हुई न दमयन्तीसे कामपीडा-शामक अधरामृतकी याचना करना उचित ही है तथा देखा जाता है कि जिस औषधका नित्य सेवन किया जाता है वह उन रोगी सात्म्य हो जाता है (उसका रोगपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जैसे किसी विषैले नित्य खानेवाला व्यक्ति उससे नहीं मरता और दूसरा (नहीं खानेवाला) मर जाता है), अतः अमृत देवताओंका नित्य भोज्य पदार्थ होनेसे सात्म्य की कामपीडारूपी रोगके दूर करनेमें सर्वथा अनुपयुक्त है इस कारण भी ओंका दमयन्तीके अधरस्थ अमृतरूपी दूसरी दवाका पानकर कामपीडारूपी को शान्त करनेकी इच्छा करना उचित ही है। स्त्रियोंके अधर तथा स्वर्गमें स्थिति कविसमयके अनुसार निर्णीत है]॥ १॥

कमध्यासितमेतदन्तस्तावद्भवत्या हृदयं चिराय।
स्त्वयालङ्क्रियतामिदानीमुरो मुरं विद्विषतः श्रियेव॥ ९५॥

कमिति। भवत्या पूज्यया। भवतेर्डवतुप्रत्ययः। "उगितश्च" इति ङीप्। कमेतदन्तर्वर्ति हृदयं स्वान्तं चिराय चिरात्प्रभृति अध्यासितं तावदधि-। अवधारणे तावच्छब्दः। निरन्तरचिन्तयेति भावः। किं त्विदानीं बहिर्वा-हृदयं वक्षः 'हृदयं वक्षसि स्वान्तम्' इति विश्वः। मुरं मुरस्य विद्विषतो हृदयं द्विषोऽमित्र इति शतृप्रत्ययः। "द्विषः शतुर्वा" इति विकल्पात् इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। श्रियेवालङ्क्रियताम्॥ ९५॥

पूज्य आप हमलोगोंके इस हृदय (अन्तःकरण, पक्षा०—भीतर) में स्थित है ; आप वहिर्दृश्यमान हृदय (छाती) को उस प्रकार अलङ्कृत करें जिस प्रकार लक्ष्मी हृदयको अलङ्कृत करती है । [चिरकालसे निवास किये हुए स्थानको पुनः सं सुशोभित करनेमें तुम्हें निषेध नहीं करना चाहिये, क्योंकि विष्णुके भीतर हृदयमें कालसे स्थित लक्ष्मी उनके बाहर हृदयको भी सुशोभित करती है ॥ तुम्हें हमलो समयसे हृदयसे चाहते हैं, अतः अब तुम हमलोगोंको स्वीकार करनेकी कृपा करो] ।

दयोदयश्चेतसि चेत्तवाभूदलङ्कुरु द्यां विफलो विलम्बः ।
भुवः[1] स्वरादेशमथाचरामो भूमौ धृतिं यासि यदि स्वभूमौ ॥

दयेति । तव चेतसि दयोदयः दयाविर्भावः अभूच्चेत् द्यां स्वर्गमलङ्कुरु वि विफल इत्यर्थः । 'शुभस्य शीघ्रम्' इति न्यायादिति भावः । अथाथवा स्वजन्मस्थाने भूमौ भूलोके धृतिं सन्तोषं यासि यदि तर्हि भुवो भूमेः स्व स्वर्गसंज्ञामाचरामः वयं चात्रैव स्थास्याम इत्यर्थः । स्वाधिष्ठित एव स्वर्ग इति

तुम्हारे चित्तमें (हमलोगोंके ऊपर) यदि दयाका उदय हुआ है तो (तुम) अलंकृत करो, विलम्ब करना निष्फल (व्यर्थ) है अर्थात् विलम्ब मत करो । अथवा उत्पत्तिकी भूमि अर्थात् अपनी जन्मभूमिमें (निवास करनेसे) यदि तुम सन्तुष्ट होओ हमलोग पृथ्वीको हो स्वर्ग बना देंगे अर्थात् पृथ्वीपर ही तुम्हारे साथ रहते हुए स्वर्गको भोग-सामग्रियोंसे पूर्ण कर देंगे (पाठा०-यदि तुम्हें अपनी जन्मभूमिमें तो हमलोग पृथ्वीको ही स्वर्ग बना देंगे) । [तुम्हारी इच्छाके अनुसार हमलोग पृथ्वी —दोनोंमेंसे कहीं भी तुम्हारे साथ रहनेके लिये तैयार हैं, इस कारण शीघ्र गोंको स्वीकार कर तुम बतलाओ कि कहां रहना चाहती हो ?] ॥ ९६ ॥

धिनोति नास्मान् जलजेन पूजा त्वयान्वहं तन्वि ! वितन्यमाना ।
तव प्रसादाय नते तु मौलौ पूजास्तु नस्त्वत्पदपङ्कजाभ्याम् ॥

धिनोतीति । हे तन्वि ! त्वया अन्वहमनुदिनं वीप्सायामव्ययीभावे नपुंसकादन्यतरस्याम्" इति समासान्तः, "अह्नष्टखोरेव" इति टिलोपः । माना क्रियमाणा जलजेन जातावेकवचनम् । जलजैः पूजा अस्मान् न प्रीणयति । किन्तु तव प्रसादाय प्रसादार्थं नते नम्रे मौलौ मूर्ध्नि त्वत्पद नोऽस्माकं पूजा अस्तु । प्रणयापराधेषु त्वत्पादताडनार्थिनो वयमिति भावः ।

हे तन्वि ! तुम्हारे द्वारा प्रतिदिन कमलोंसे विशिष्ट रूपसे को जानेवाली पूजा प्रसन्न नहीं करती है, (अतएव, प्रणयकुपित) तुम्हें प्रसन्न करनेके लिए नम्र मस्तकोंपर तुम्हारे चरण-कमलोंसे पूजा होवे । [तुम देव मानकर हमलोगोंकी जो पूजा करती हो, उससे हमलोग प्रसन्न नहीं हैं, अतः तुम्हारे स्वीकार कर लेनेपर

---

[1] "चमामेव देवालयतां नयामो भूमौ रतिश्चेत्तव जन्मभूमौ" इति

में कुपित हुई तुमको प्रसन्न करनेके लिये जब तुम्हारे चरण कमलोंपर मस्तक तुम उन चरण–कमलोंसे हमलोगोंके मस्तकके ऊपर प्रहारकर (पक्षा०— मस्तकपर चरणरूप कमलोंको रखकर) जो पूजा करोगी उसीसे हमलोग सन्तुष्ट कमल–पुष्पकी अपेक्षा अतिशय श्रेष्ठ चरण–कमलों द्वारा की गयी पूजासे हम- प्रसन्न होंगे। हमलोगोंको तुम पतिरूपमें स्वीकार करो] ॥ ९७ ॥

र्वितीर्णैः करवाम वामनेत्रे ! भवत्या किमुपासनासु ।
अङ्ग ! त्वदङ्गानि निपीतपीतादर्पाणि पाणिः खलु याचते नः ॥ ९८ ॥

र्णैरिति । हे वामनेत्रे ! चारुलोचने ! भवत्या त्वया निजोपासनासु पूजासु समर्पितैः स्वर्णैः कनककमलादिभिः किं करवाम न किमपीत्यर्थः । यतः स्वासिनो वयमिति भावः । किन्तु, अङ्गेत्यामन्त्रणे, निपीतो गृहीतः पीतायाः दर्पः कान्तिगर्वो यैस्तानि, 'निशाख्या काञ्चनी पीता हरिद्रा वरवर्णिनी' । त्वदङ्गानि नोऽस्माकं पाणिर्याचते खलु । पीतदर्पाणीति पुंल्लिङ्गपाठे स्वर्णादिद्रव्याणां दर्पमिति व्याख्येयम् । स्वर्णादुत्कृष्टवस्तुसम्भवे अपकृष्ट- ङ्कारो न युक्त इति भावः । साधुश्चायमेव पाठः । अन्यथा स्वर्णसञ्चारिणां स्वर्णादुत्कर्षे वक्तव्ये हरिद्रामात्रादुत्कर्षोक्त्यनौचित्यादिति ॥ ९८ ॥

लोचने ! (हमलोगोंकी) पूजाओंमें दिये (दक्षिणा रूपमें चढ़ाये) गये सुवर्णोंसे क्या करेंगे अर्थात् पूजामें चढ़ाये गये उन सुवर्णोंकी सुवर्ण पर्वत (सुमेरु पर्वत) स करनेवाले हमलोगोंको कोई आवश्यकता नहीं है। हे अङ्ग (हे प्रिये)! हम- हाथ सुवर्ण आदि पीले पदार्थोंके अभिमानको अच्छी तरह नष्ट करनेवाले तुम्हारे याचना करता है । [जो हमलोग स्वर्णपर्वत पर निवास करते हैं तो पूजामें अर्पित सुवर्णोंकी चाहना करना हमलोगोंके लिये उचित नहीं है, हां, तुम्हारे जिन अङ्गोंने ने सुवर्ण आदि श्रेष्ठ द्रव्योंके अभिमानको सर्वथा चूर्णित कर दिया है, उन्हें ही हम है। तुम्हारे गौर वर्णवाले अङ्ग सुवर्णादिसे भी अधिक सुन्दर एवं पीले हैं, अतएव उन्हें ही चाहते हैं। पीले वर्णवाले पदार्थोंके दर्पका अतिशय पान करनेवालेको अपेक्षा अधिक पीला होना उचित ही है, अतः उन्हीं श्रेष्ठ अङ्गोंकी हम याचना करते को निराश करना अनुचित होनेसे तुम अपने सुवर्णातिशय गौर अङ्गोंको देकर याचना पूरी करो] ॥ ९८ ॥

कलादा इव दुर्विदग्धं त्वद्गौरिमस्पर्धि दहेम हेम ।
प्रसूननाराचशरासनेन सहैकवंशप्रभवभ्रु ! बभ्रु ॥ ९९ ॥

मिति । प्रसूननाराचशरासनेन कामचापेन सह एकवंशप्रभवे एककारणोत्पन्ने सदृशे इति यावत् । भ्रुवौ यस्याः सा तद्भ्रूरित्यूङन्तोत्तरपदो बहुव्रीहिः । अनूङन्तस्य भ्रूशब्दस्योवङ्स्थानस्यानदीत्वात् सम्बुद्धावम्बार्थेत्यादिना

नदीह्रस्वो न स्यात्। ननु ऊङन्त इत्युक्तं कथमूकारादिति चेत्, सत्यम्, जातेश्चारज्ज्वादीनामित्यत्र “अलाबूः, कर्कन्धूः” इति भाष्यकारेणोदाहरणा प्यूङस्त्येवेति ज्ञायते। अत एव वामनः–“ऊकारादप्यूङ्प्रवृत्ते”रिति। तदेतत् ग्विवेचितमस्माभिः कुमारसम्भवसञ्जीविन्यां, विमानना सुभ्रु ! कुतः इत्यत्र। तस्याः सम्बुद्धिः एकवंशप्रभवभ्रु ! वयं कलाः स्वर्णखण्डान् द्यन्ति न्तीति कलादाः स्वर्णकारा इव। ‘कलादा रुक्मकारका’ इत्यमरः। तव सह स्पर्धत इति तत्स्पर्धि अत एव प्रबलविरोधितया दुर्विदग्धमविदग्धं च वभ्रु पिङ्गलम्। ‘वभ्रु स्यात् पिङ्गले त्रिषु’ इत्यमरः। हेम सुवर्णं दहेम। र्धापराधादविशुद्धेश्चास्माकं दाह्यस्वर्णसमर्पणात् सर्वानवद्याङ्गसमर्पणमेव णमिति भावः ॥ ९९ ॥

हे कामदेवके चापके साथ एक वंश (कुल, पक्षा०—बांस) में उत्पन्न सुन्दर वाली ! सुवर्णकार (सुनार) के समान हमलोग तुम्हारे (शरीरकी) गौरताके साथ करनेवाले (अतएव अर्थात् बड़ेकी समानता करनेसे ही) दुर्विनीत पिङ्गल वर्णवाले जलाते हैं। [तुम्हारे शरीरकी शोभासे कम शोभावाले सुवर्ण तुम्हारे शरीरकी स्पर्द्धा करनेके कारण अग्निमें जलते हैं, हमलोग तुम्हारे हैं, अतएव तुम्हारे स्पर्द्धीको अग्निमें डालकर दण्डित करते हैं। अतएव हमलोगोंको सामान्य श्यकता नहीं है, अपि तु स्वर्णाधिक सुन्दर अपना शरीर देकर हमलोगोंको कृतार्थ

सुधासरःसु त्वदनङ्गतापः शान्तो न नः किं पुनरप्सरस्सु।
निर्वाति तु त्वन्ममताक्षरेण सूनाशुगेषोर्मधुशीकरेण ॥ १००॥

सुधेति। हे भैमि ! सुधासरःसु अमृतसरसीषु नोऽस्माकं शान्तः अप्सरःस्वपां सरःसु ऊर्वश्यादिवेश्यासु वा किं पुनः किमुत ? किन्तु गेषोः कामबाणस्य मधुशीकरेण मकरन्दबिन्दुना तत्सदृशेनेत्यर्थः। तव ममताव्यञ्जकवाक्येन मदीया यूयमित्येवंरूपेण निर्वाति शाम्यति। तापः स तत्सङ्गमैकसाध्यो नोपायान्तरसाध्य इत्यर्थः ॥ १०० ॥

हे दमयन्ति ! अमृत सरोवरमें स्नान करनेपर भी हमलोगोंका शान्त नहीं हुआ, अतः रम्भा आदि वेश्याओंके साथ रमण करनेसे उसको आशा ही नहीं। किन्तु काम बाणके मकरन्द बिन्दुके सदृश तेरे ममता मेरे हो) वाक्य से वह शान्त होता है। [तेरे विरहसे जो हमलोगोंका ताप है, तेरे सङ्गमसे ही निवृत्त हो सकता है, अन्यथा नहीं] ॥ १०० ॥

खण्डः किमु त्वद्गिर एव खण्डः किं शर्करा तत्पथशर्करैव।
कृशाङ्गि ! तद्भङ्गिरसोत्थकच्छतृणन्नु दिक्षु प्रथितं तदिक्षुः ॥ १०१

खण्ड इति। हे कृशाङ्गि ! खण्डः खण्डशर्करा त्वद्गिर एव त्वद्वचस एव

किमु ? 'स्यात्खण्डः शकले चेक्षुविकारमणिदोषयोः' इति विश्वः। तथा शर्करा शर्करा तस्या गिरः पन्थास्तत्पथः तस्मिन् मार्गे शर्करा शिलाशकलप्रचुर- किम् ? 'शर्करा खण्डविकृतावुपला कर्परांशयोः' इत्युभयत्रापि विश्वः। दिक्षु प्रख्यातमिक्षुरिक्ष्वाख्यं तत् तृणं तव गिरः त्वद्गिरः भङ्गी भङ्गवान् तरङ्गितो शृङ्गारादिरुदकं च तदुत्थं कच्छे अनूपे तृणं नु ? उत्सेति पाठे रसोत्सो रसप्रवाहः कच्छतृणं किमित्यर्थः। 'जलप्रायमनूपं स्यात् पुंसि कच्छस्तथाविधः' इत्यमरः। अन्यथा कथं खण्डादीनामीदृङ्माधुर्यमिति भावः। किंवादयस्तूत्प्रेक्षाया- त्रयस्य संसृष्टत्वात्सजातीयसंसृष्टिः। अत्र द्रव्ये वैशेषिककारः—"मत्स्य- खण्डसिताः क्रमेण गुणवत्तमाः। यथा यथा हि नैर्मल्यं मधुरत्वं तथा तथा॥ निर्मलत्वाच्च तथा सिततमक्रमात्। वालुकेव भृशं सूक्ष्मा सुस्निग्धा सित- ॥ मत्स्याण्डाकृतिसादृश्ययोगान्मत्स्यन्दिका स्मृता। स्फटिकोपलखण्डाभः शर्करा समा॥ शर्करा निर्मला सैव सिता तु सितशर्करा। निर्मलेव सिता राजराज इतीरिता" ॥ इति ॥ १०१ ॥

कृशाङ्ग ! तुम्हारी वाणी का खण्ड (लेशमात्र) खण्ड (खाँड़) है क्या ?, उस री वाणी) के मार्गकी शर्करा (छोटे-छोटे कङ्कड़) शर्करा (शक्कर अर्थात् चीनी) है और उस (तुम्हारी वाणी) की भङ्गी (व्यङ्ग्यादि पूर्ण रचना) के रस (शृङ्गारादि ०—जल) के किनारेमें उत्पन्न जो तृण है, वह दिशाओंमें (चारों तरफ अर्थात्) इक्षु अर्थात् गन्ना कहलाया क्या ? । [तुम्हारी वाणीके खण्ड होनेसे ही वह खण्ड) कहलाया और उसमें माधुर्य हुआ, तुम्हारी वाणीके रास्तेमें शर्करा छोटे-छोटे)रूप होनेसे ही वह शर्करा (शक्कर) कहलाया और उसी सम्बन्धसे उसमें माधुर्य तथा तुम्हारी वाणीके शृङ्गारादिरसपूर्ण (या जलपूर्ण) तट प्रान्तज तृणही सर्वत्र इक्षु) कहलाया और उसमें भी उसी वाणीके सम्बन्धसे मधुरता आयी। तुम्हारी वाणीकी खाँड़, शक्कर तथा गन्नेके अत्यन्त तुच्छ होनेसे वे उस वाणीके खण्ड, मार्गके कङ्कड़ उत्पन्न तुच्छ तृण रूप हैं, एवं तुम्हारी उस वाणीके सम्बन्धसे ही उनमें भी मधुरता है॥ तुम्हाणी वाणी खाँड़, शक्कर तथा गन्नेसे भी अत्यधिक मधुर है] ॥ १०१ ॥

ददाम किं ते सुधयाधरेण त्वदास्य एव स्वयमास्यते यतः[1] ।
विधुं[2] विजित्य स्वयमेव भावि त्वदाननं तन्मखभागभोजि ॥ १०२ ॥

किञ्च नेष्टदानेन त्वदाराधने शक्ता वयं किन्तु त्वत्करुणैकशरणा इत्याशयेनाह— ति। ते तुभ्यं किं ददाम किं वितराम दातव्यं किमपि नास्तीत्यर्थः। अमृत- चेत् तवैवास्तीत्याह। कुतः यतो यस्मात् कारणात् सुधया अधरेणाधर- त्वदास्य एव स्वयं साक्षादास्यते स्थीयते, भावे लट्। यज्ञभागोऽस्तीति चेत्

---

[1] "हि" इति पाठान्तरम्।

[2] "चन्द्रं" इति पाठान्तरम्।

सोऽपि ते जयलभ्य इत्याह—त्वदाननं कर्तृं विधुं चन्द्रं स्वयमेव परानपेक्षं विजि तस्य विधोर्मखे यागे भागमंशं भोक्तुं शीलमस्येति तद्भोजि भावि भवि तत्स्थानाधिपत्यादत्र धर्मलाभ इति भावः ॥ १०२ ॥

तुमको हमलोग क्या दें ? (तुमको देने योग्य कोई उत्तम पदार्थ हम लोगोंके पास है) जिसे देकर हमलोग तुम्हें प्रसन्न कर सकें), क्योंकि (पाठा० निश्चयसे) अधरस्थ तो तुम्हारे मुखमें स्वयं निवास करता है (अतः देवभोज्य अमृत भी अपूर्व पदार्थ न तुमको देना ठीक नहीं है, तुम्हारा मुख चन्द्रमाको जीतकर स्वयं ही उस (चन्द्रमा) के भागको प्राप्त करेगा (अतः स्वयं प्राप्य यज्ञ भाग भी तुमको देना ठीक नहीं [समस्त श्रेष्ठ वस्तुओंसे तुम्हें सम्पन्न रहनेके कारण कोईभी वस्तु तुम्हें देने योग्य नहीं जिसे देकर हमलोग तुम्हें प्रसन्न कर सकें] ॥ १०२ ॥

प्रिये ! वृणीष्वामरभावमस्मदिति त्रपोदञ्चि वचो न किन्नः ।
त्वत्पादपद्मे शरणं प्रविश्य स्वयं वयं येन जिजीविषामः ॥ १०३ ॥

त्वदायत्तमेवेत्याह—प्रिय इति । हे प्रिये ! दमयन्ति ! अस्मदस्मत्तः अमर ममरत्वमविनाशित्वं च वृणीष्वेत्येवंरूपं नोऽस्माकं वचः त्रपामुदञ्चतीति त्रपो लज्जावहं न भवति किम् ? भवत्येवेत्यर्थः । कुतः, येन कारणेन तव पादावेव प एव शरणं प्रविश्य रक्षकं प्राप्य वयं स्वयमनामयं जिजीविषामो जीवितुमिच्छा स्वयं क्षुधितस्यान्नार्थिनस्तद्दातुः क्षुन्नैपज्यप्रतिज्ञावत् परिहासास्पदमेवेति भावः

'हे प्रिये ! हम लोगोंसे (तुम) अमरत्व का वर मांगो ऐसा हम लोगों का लज्जा-पूर्ण बात नहीं है क्या ? अर्थात् अवश्यमेव लज्जा पूर्ण बात है; क्योंकि तुम्हारे कमलमें शरण पाकर हम लोग स्वयं जीना चाहते हैं । [स्वयं दूसरेके चरणोंमें प्राप्तकर जीनेकी इच्छा करनेवाला व्यक्ति उसीको अमरत्व का वरदान देना चाहे वचन लज्जास्पद ही होगा ॥ १०३ ॥

अस्माकमस्मान्मदनापमृत्योस्त्राणाय पीयूषरसोऽपि नासौ ।
प्रसीद तस्मादधिकं निजन्तु प्रयच्छ पातुं रदनच्छदन्नः ॥ १०४ ॥

न चामृतसेविनां वः कुतो मरणप्रसक्तिरिति वाच्यमित्याह—अस्माक हे दमयन्ति ! अस्मान्मदनादेवापमृत्योः सकाशादस्माकं त्राणाय रक्षणाय पीयूषरसोऽपि नालम् , किन्तु तस्मात् पीयूषरसादधिकं निजं त्वदीयं रदनच्छद पातुं नोऽस्मभ्यं प्रयच्छ देहि प्रसीद प्रसन्ना भव ॥ १०४ ॥

यह अमृतरस (पाठा०—अमृतरूपी रसायन औषध) भी हम लोगोंको इस रूप अपमृत्यु (अकाल मरण या दुर्गतिपूर्वक मरण) से बचानेके लिये नहीं है, (हम लोगों को दुर्गत करके मार डालेगा और अमृत उससे हम लोगोंको नहीं बचा सके इस कारण उससे अधिक (श्रेष्ठ अमृत युक्त) अपना अधर पान करनेके लिए हम

होवो । [यदि कोई साधारण औषध रोगीकी प्राणरक्षा नहीं करता, तब उससे श्रेष्ठ औषध उस रोगीको पिलाकर उसकी प्राणरक्षा करना उचित माना जाता है, पीनेसे हम लोगोंके प्राणरक्षा नहीं हो सकती, इस कारण तुम अमृतसे भी गुणवाले अपने अधरामृतका पान कराकर हम लोगोंकी प्राणरक्षा करो] ॥ १०४ ॥

लुष्टश्चापेन रोपैरपि सह मकरेणात्मभूः केतुनाऽभू-
द्धत्तां नस्त्वत्प्रसादादथ मनसिजतां मानसो नन्दनः सन् ।
भ्रूभ्यां ते तन्वि ! धन्वी भवतु तव सितैर्जैत्रभल्लः स्मितैस्ता-
दस्तु त्वन्नेत्रचञ्चत्तरशफरयुगाधीनमीनध्वजाङ्कः ॥ १०५ ॥

ष्ट इति । हे तन्वि ! दमयन्ति ! आत्मना स्वयमेव भवतीत्यात्मभूः कामः कीयैः चापेन रोपैर्बाणैः, 'पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः । मकरेणैव केतुना प्लुष्टो दग्धोऽभूत् । स आत्मभूरथेदानीं तव प्रसादाद्धेतोः नोऽस्माकं तव च त्यर्थः । "त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्" इति युष्मदस्मदोरेकशेषे परशेषः । मानसो म्बन्धी नन्दनः पुत्रः आनन्दयिता च सन् । 'नन्दनो हर्षके सुते' इति विश्वः । जातो मनसिजस्तस्य भावस्तत्ता तां "सप्तम्यां जनेर्डः, हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञा- इत्यलुक् । धत्तां दधातु "तुह्योस्तातङाशिष्यन्यतरस्याम्" । प्लुष्टः दग्ध आत्म- स्तु मनसोऽप्यात्मत्वादित्यर्थः । "आत्मा देहमनोब्रह्मस्वभावधृतिबुद्धिषु" विश्वः । त्वय्यस्मासु च कामस्तुल्यवृत्तिरस्त्विति भावः । किञ्च ते तव भ्रूभ्यां चापवान् भवतु । धन्वन्शब्दाद्व्रीह्यादिपाठादिनिः । तव सितैर्निर्मलैः स्मितैः जैत्रा भल्ला यस्य सः,जित्वरेषुः स्तात्भवतु अस्तेर्लोटि तेस्तातङादेशः । त्रे एव चञ्चत्तरावतिचञ्चलौ शफरौ तयोर्युगं तदधीनस्तल्लभ्यो मीनरूपो ध्वज लाञ्छनं यस्य सोऽस्तु त्वन्नेत्राभ्यां मीनध्वजवानस्त्वित्यर्थः । अत्र यथा- सङ्कीर्णो रूपकालंकारः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ १०५ ॥

त्मभू (स्वयम् या मनसे उत्पन्न होने वाला=कामदेव) धनुष, बाणों तथा मकररूप के साथ दग्ध हो गया अर्थात् जल गया; फिर वह तुम्हारी तथा हम लोगोंकी प्रसन्न- अर्थात् हम दोनोंके सहयोगसे मनः सम्बन्धी पुत्र (पक्षा०—मनका आनन्ददाता) होता मनसिजभाव को धारण करे (मनके भी आत्मा-होनेसे फिर आत्मभू बने) । और हे ! (वह मनसिज) तुम्हारे भ्रूद्वयसे धनुषवाला होवे, श्वेत वर्ण मुस्कानोंसे विजयी होवे और तुम्हारे नेत्ररूपी शोभमान (या चञ्चल) मीनद्वयवाली पताकाके चिह्न अर्थात् उक्तरूप मीनद्वयचिह्नित पताका वाला बने । [चाप, बाण तथा पताकाके हुआ भी कामदेव हमारे तथा तुम्हारे साथसे मनसे उत्पन्न, मनको आनन्दित तथा उक्त प्रकारसे धनुष आदिसे पुनः युक्त होवे] ॥ १०५ ॥

स्वप्नेन प्रापितायाः प्रतिरजनि तव श्रीषु मग्नः कटाक्षः
श्रोत्रे गीतामृताब्धौ त्वगपि ननु तनूमञ्जरीसौकुमार्ये।
नासा श्वासाधिवासेऽधरमधुनि रसज्ञा चरित्रेषु चित्तं
तन्नस्तन्वङ्गि! कैश्चिन्न करणहरिणैर्वागुरा लम्भितासि ॥१०६॥

स्वप्नेनेति। हे तन्वङ्गि! तनून्यङ्गानि यस्यास्तस्याः सम्बुद्धिः। "अङ्गगा पठेभ्यः" इति ङीप्। कृशाङ्गि! प्रतिरजनि रजन्यां रजन्यां, वीप्सायामव्ययीभा स्वप्नेन (कर्त्रा) प्रापितायाः स्वप्नदृष्टायाः तव श्रीषु सौन्दर्यलहरीषु नोऽस्मा कटाक्षो मग्नः गीत एवामृताब्धौ सुधासमुद्रे श्रोत्रे मग्ने, तनूः मूर्तिरेव मञ्जरी मगुच्छः तस्याः सौकुमार्ये मार्दवे त्वगपि मग्ना। ननु श्वासाधिवासे निश्वासमा सौरभे नासा मग्ना अधरमधुन्यधरामृते रसज्ञा रसना मग्ना चरित्रेषु चेष्टासु मग्नं तत् तस्मात् कैश्चित् करणैरिन्द्रियैरेव हरिणैस्त्वं वागुरा मृगबन्धिनी लम्भिता न प्रापासि सर्वैरपि प्रापितेत्यर्थः। अस्माकं सर्वेन्द्रियसम्मोहनं ते शिल्पमिति भावः। अत्र चतुर्थपादार्थस्य पूर्वषड्वाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थ काव्यलिङ्गं तच्च करणहरिणैरित्यादिरूपकेण सङ्कीर्यते। पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ १०।

हे तन्वि! प्रत्येक रात्रिमें स्वप्नमें देखी गयी तुम्हारी शोभाओंमें कटाक्ष (हम लो दृष्टि), गीतरूप अमृत समुद्रमें दोनों कान, निश्चित रूपसे शरीर–मञ्जन को सुकुमा त्वक् (चर्मेन्द्रिय), श्वास वायुकी विशिष्ट सुगन्धिमें नाक, अधरामृतमें रसज्ञ (रसको वाली जीभ) और चरित्रोंमें चित्त (मन) डूब गया; इस कारणसे तुमने हम लोगोंके इन्द्रियोंको जालमें नहीं फँसा लिया है? अर्थात् हम लोगोंकी सभी इन्द्रिय (नेत्र, त्वक्, नाक, जीभ और मन) रूप हरिणियाँ तुम्हारी शरीर–शोभादि रूप जालमें गयी हैं [अथवा—जिस कारणसे प्रतिरात्रिको स्वप्नमें देखी गयी तुम्हारी शोभामें लोगोंकी दृष्टि डूब गयी, अतः दर्शन–शक्तिसे शून्य होनेके कारण हम लोगोंकी कान इन्द्रियरूप हारणियां तुम्हारे गीत–समुद्रादिरूप जालमें फँस गयीं। दृष्टिहीन व्यक्तिका फँसना अत्यन्त सरल होता है॥ हम लोगों की प्रत्येक इन्द्रियां तुम्हारे वशीभूत होरही अत एव तुम हम लोगोंको वरण करनेकी कृपा करो] ॥ १०६ ॥

इति धृतसुरसार्थवाचिकस्रङ्निजरसनातलपत्रहारकस्य।
सफलय मम दूततां वृणीष्व स्वयमवधार्य दिगीशमेकमेषु ॥१०७॥

इतीति। इतीत्थं धृता सुरसार्थस्येन्द्रादिवृन्दस्य वाचिकस्रक् सन्देशवाक्यप म्परा येन तस्य निजस्य रसनातलस्यैव पत्रस्य लेखस्य यो हारकस्तस्य मम दूत सफलय सफलां कुरु, एषु मध्ये एकं दिगीशं स्वयमात्मनैवावधार्य निश्चित्य वृणीष्व। वाचिको व्याख्यातः। अत्र नलदूत्यसाफल्यस्य वरणवाक्यार्थहेतु

ङ्कारः । स च रसनातलपत्रस्य यो हारकस्तस्येति रूपकेण सङ्कीर्यते । पुष्पि-
वृत्तम् ॥ १०७ ॥

प्रकार (श्लो० ५७ से १०६ तक) देवसमूहके वाचिक (मौखिक सन्देश) रूप अपने जिह्वातलरूपी पत्रपर धारण (अङ्कित) कर यहां उसे पहुंचानेवाली मेरी दूतता करो, स्वयं निश्चयकर उनमेंसे किसी एकका वरण करो । [मैंने उन इन्द्रादि मौखिक सन्देशको जिह्वातलरूपी पत्रपर धारणकर तुम्हारे पास पहुंचा दिया है, स्वयं ही विचारकर उनमेंसे किसी एकको स्वीकार करो; क्योंकि मैंने इन्द्रादि चारों दूतता करना स्वीकार किया है, अतः उनमें-सं किसी एकको स्वीकार करनेके लिये निर्णय देना या विशेष रूपसे समर्थन करना मेरा अन्याय पूर्ण पक्षपात होगा, इससे स्वयंही निर्णयकर उन चारोंमेंसे किसी एकको स्वीकार करो] ॥ १०७ ॥

न्दयेन्द्रमथ मन्मथमग्नमग्निं केलीभिरुद्धर तनूदरि ! नूतनाभिः ।
द्योदितदयं शमने मनो वा नो वा यदीत्थमथ तद्वरुणं वृणीथाः ॥१०८॥

नन्दयेति । हे तनूदरि ! कृशोदरि ! नूतनाभिरभिनवाभिः केलीभिः क्रीडाभिः मग्नमिन्द्रमानन्दय, अथवा तादृशमेव अग्निं ताभिरुद्धर, अथवा शमने दितदयं जातानुकम्पं मनः आसाद्य निवेशय । इत्थं नो वा यदि अथ तर्हि वरुणं वृणीथाः वृणीष्व ॥ १०८ ॥

कृशोदरि ! इन्द्रको आनन्दित करो, अथवा मन्मथमग्न (मनको मथन करनेवाले में डूबे हुए) अग्निका नयी-नयी केलियोंसे उद्धार करो (ऊपर निकालो अर्थात् करो), अथवा यममें दयायुक्त मनको लगावो और यदि ऐसा नहीं है अर्थात् इन्द्र, और यमको नहीं चाहती हो तो वरुणको वरण करो । [इन इन्द्रादि चारों देवोंमें-से एकका वरणकर हमारी दूतताको सफल करो] ॥ १०८ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
स्यागादयमष्टमः कविकुलादृष्टाध्वपान्थे महा-
काव्ये चारुणि वैरसेनिचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १०९ ॥

श्रीहर्षमित्यादि । कवीनां कुलेन समूहेन अदृष्टे अध्वनि यत्पान्थं नित्यपथिकं चारुणि शोभने वैरसेनेर्नलस्य चरिते तस्य श्रीहर्षस्य महाकाव्ये निसर्गो-ज्ज्वलोऽयमष्टमः सर्गः अगात् सम्पूर्ण इति भावः ॥ १०९ ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु'समाख्याने अष्टमः सर्गः समाप्तः ॥ ८ ॥

कुल समूहके·····किया, उसके रचित, तथा कवि-समूहसे पहले नहीं देखे गये नित्य गमन करनेवाले अर्थात् कवि-समूहोंके अदृष्टपूर्व रचनाओंसे पूर्ण सुन्दर चरित महाकाव्यमें यह अष्टम सर्ग समाप्त हुआ । शेष व्याख्या चतुर्थ सर्गवत् जानें ॥

* नवमः सर्गः *

इतीयमक्षिभ्रुवविभ्रमेङ्गितैः स्फुटामनिच्छां विवरीतुमुत्सुका।
तदुक्तिमात्रश्रवणेच्छयाऽशृणोद्दिगीशसन्देशगिरो न गौरवात् ॥ १ ॥

अथ दमयन्तीवृत्तान्तं वक्तुं विततबहुतरदूतवाक्यश्रवणजनितामिन्द्राद्यनु शङ्कां तावद्वारयति—इतीति। इयं दमयन्ती अक्षिणी च भ्रुवौ च अक्षिभ्रुवं द्व वद्भावः। "अचतुर" इत्यादिना समासान्तादिनिपातनात् साधुः। तस्य वि विकारः स एव इङ्गितं चेष्टा तैरेव स्फुटां व्यक्तामनिच्छामिन्द्रादिविषयामिति तथा विवरीतुं वाचा निषेद्धुमुत्सुका उद्युक्ता सती। 'इष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः' इत्यम निषेधस्य ज्ञानपूर्वकत्वात् तज्ज्ञानार्थमशृणोदित्यर्थः। किञ्च तदुक्तिमात्रश्रवणे नलवागमृतपिपासया चेत्यर्थः। दिगीशसन्देशगिरः अशृणोत्। मात्रपदव्यावर्त्य गौरवादिति। न तु दिगीशादीनां गौरवात्। अस्मिन् सर्गे वंशस्थवृत्तम्। ल न्तूक्तमादिमसर्गे ॥ १ ॥

उस दमयन्तीने नेत्र तथा भ्रूके विकार (या विलास) की चेष्टाओंसे स्पष्ट अनि (इन्द्रादिमें या उनके सन्देश सुननेमें प्रेमके अभाव) को विशेषरूपसे प्रकट करनेके उत्कण्ठित हो केवल नलकी उक्तिमात्रको सुननेकी इच्छासे ही दिक्पालोंके सन्देशवचनों सुना, (उन दिक्पालोंका सन्देश महत्त्वपूर्ण होनेसे सुनना ही चाहिये इत्यादि) गौ नहीं सुना। (अथवा—……इच्छासे ही सुना, दिक्पालोंके सन्देशवचनके गौरवसे सुना)। [जिस कार्यको करनेकी इच्छा नहीं रहती, उससे सम्बद्ध बातको भी सुनते मनुष्यके नेत्र तथा भ्रू आदि अनिच्छासे सङ्कोचादि द्वारा विकृत हो जाते हैं, उसी नलोक्त दिक्पाल-सन्देशोंको सुनते समय दमयन्तीने नेत्र एवं भ्रूको विकृतियुक्त कर सन्देश पालनेकी अनिच्छा प्रकटकी, किन्तु अन्तःपुरमें प्रविष्ट इस व्यक्तिकी आकृति सौम्य है अतः इसके वचन भी अतिशय मधुर होनेसे अवश्य सुनने चाहिये, इस उसके कहे हुए दिक्पालोंके सन्देशोंको उसने सुना, दिक्पालोंका सन्देश होनेसे यह महत्त्वपूर्ण होगा या नहीं सुननेसे हमें पाप होगा इत्यादि गौरवका ध्यानकर देवोंका सन्देश नहीं सुननेसे वे हमें शापसे दण्डित करेंगे इस भयसे डरकर नहीं दमयन्तीने दिक्पालोंके सन्देशको सुनते समय ही नेत्र-भ्रू-विकारके द्वारा उनमें अनिच्छा प्रकटकी] ॥ १ ॥

तदर्पितामश्रुतवद्विधाय तां दिगीशसन्देशमयीं सरस्वतीम्।
इदं तमुर्वीतलशीतलद्युतिं जगाद वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी ॥ २ ॥

तदिति। वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी दमयन्ती तेन नलेनार्पितां प्रयुक्तां दिगीशसन्देश मयीं तद्रूपां सरस्वतीं वाचमश्रुतवद्विधायाश्रुतामिव कृत्वा। "तेन तुल्यं क्रिया चे तिः"। उर्वीतलशीतलद्युतिं भूलोकचन्द्रं तं नलमिदं वक्ष्यमाणं जगाद गदितवती

विदर्भराजकुमारी (दमयन्ती) उस नलके द्वारा कही गयी दिक्पालोंके सन्देशोंसे भरी वाणीको अनसुनीकर भूतलचन्द्र उस नलसे बोली—। [दिक्पालोंके सन्देशमें आस्था रनेसे दमयन्तीका उसे अनसुनी करना ठीक ही है। जब दूरतम आकाशका चन्द्रमा भूतलस्थ लोगोंका आह्लादक होता है, तब भूतलस्थ चन्द्रमा नलके अत्यन्त समीप होनेसे वासियोंके लिये आह्लादित होना आश्चर्य नहीं है] ॥ २ ॥

मयाङ्ग ! पृष्टः कुलनामनी भवानमू विमुच्यैव किमन्यदुक्तवान् ।
न मह्यमत्रोत्तरधारयस्य किं ह्रियेऽपि सेयं भवतोऽधमर्णता ॥ ३ ॥

मयेति । हे अङ्ग ! भोः श्रीमन् ! मया भवान् कुलनामनी पृष्टः सन् पृच्छतेर्दुहादिप्रधाने कर्मणि क्तः, 'अप्रधाने दुहादीनाम्'मिति वचनात् । किं किमर्थममू नामनी विमुच्य अन्यदुक्तवान् किमप्यसङ्गतमिव प्रलपसीति भावः । तदकथने क्षेपस्तत्राह—नेति । अत्र कुलनामप्रश्ने मह्यमुत्तमर्णायै इति शेषः । "धारेरुत्तमर्ण" इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । धारयतीति धारयः "अनुपसर्गाल्लिम्पविन्दधारि"· दिना शप्रत्ययः । उत्तरस्य धारयः तस्य भवतः तव सेयमधमः ऋणेन अधमर्णः । मयूरव्यंसकादित्वात् तत्पुरुषः । तस्य भावस्तत्ता सा ह्रियेऽपि न किम् ? लोके मार्गेण याच्यमानस्याधमर्णस्य तदप्रदानं लज्जायै भवत्येव, भवतस्तु सापि नास्तीति भावः ॥ ३ ॥

हे अङ्ग ! (आत्मीय बन्धो !) मुझसे कुल तथा नाम पूछे गये आप उन (कुल तथा नाम) को छोड़कर (इन्द्रादिके संदेशरूप अप्रासङ्गिकवात) दूसरा कुछ क्यों कहे ? (ऐसा आपको उचित नहीं था)। इस (उत्तर देनेके विषय) में मेरे उत्तररूपी ऋणको किये हुए आपका यह ऋणित्व अर्थात् ऋण धारण करनेका भाव क्या लज्जाके लिए है अर्थात् लज्जाके लिए है ही । [किसीसे ऋण लेकर मांगनेपर भी उसे नहीं चुकाना व्यक्तिके लिए भी लज्जाकी बात होती है तो आप-जैसे सत्पुरुषके लिये तो ऐसा बहुत ही लज्जाकी बात है। क्योंकि मैंने आपसे आपका कुल तथा नाम पूछा है, अतः उनका उत्तर जबतक नहीं देते हैं तबतक एक प्रकारसे उत्तर देनेके लिये मेरे ऋणी हैं अपना कुल तथा नाम बतलाकर ही ऋणमुक्त हो सकते हैं, किन्तु आपने अपना कुल नाम न कहकर जो दिक्पालोंका सन्देश-बहुल अप्रासङ्गिक बातें कहीं, उससे आपको भानी चाहिये, कोई भी भला आदमी किसी भी भले आदमीसे उचित प्रश्नका उत्तर ऐसी बे-सिर-पैरकी बातें नहीं कहता, अतः आपने यह उचित नहीं किया है] ॥३॥

अदृश्यमाना क्वचिदीक्षिता क्वचिन्ममानुयोगे भवतः सरस्वती ।
क्वचित्प्रकाशां क्वचिदस्फुटार्णसं सरस्वतीं जेतुमनाः सरस्वतीम् ॥४॥

अदृश्यमानेति । ममानुयोगे प्रश्ने विषये । 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः । क्वचित् कुलनामविषये अदृश्यमाना अप्रकाशितेत्यर्थः । क्वचित् कुत आगतः कस्य

स्वमित्यत्र ईक्षिता दृष्टा प्रकाशितार्थेति यावत् ईदृशी भवतः सरस्वती क्वचि प्रकाशोदकां क्वचिदस्फुटार्णसमप्रकाशोदकां सरस्वतीं वाचं सरस्वतीं नदीं 'सरस्वती नदीभेदे गोवाग्देवतयोर्गिरि। स्त्रीरत्ने चापगायाञ्च' इति विश्वः। मनो यस्याः सा जेतुमनाः। "तुं काममनसोरपि" इति मकारलोपः। अत्र नल सरस्वतीनदीधर्मसम्बन्धात्तज्जिगीषोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या। तया व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ४ ॥

मेरे प्रश्न (आपके कुल तथा नामको पूछने) के विषयमें कहीं पर (कुल-नाम बतलानेसे) नहीं दिखलायी देती हुई तथा कहीं पर ('कहांसे कहांपर आये हैं' इस प्रश्न 'दिक्पालोंकी सभासे आये हुए मुझे अपना ही अतिथि समझो (८।५५)' ऐसा देनेसे) दिखलायी देती हुई आपकी वाणी कहीं पर (बाहर जलप्रवाह होनेसे) दिख देती हुई तथा कहींपर (भीतर जल-प्रवाह होनेसे) नहीं दिखलायी देती हुई सरस्व नदीको जीतना चाहती है। [जिस प्रकार सरस्वती नदीका जलप्रवाह कहीं पर दिख देता है और कहीं पर नहीं दिखलाई देता, उसी प्रकार आपने कुल तथा नामको नहीं बतलाया और कहांसे आये हैं ? इस प्रश्नका उत्तर (८ । ५५) बतलाया; अप्रासङ्गिक बातको छोड़कर अपना कुल तथा नाम बतलाइये] ॥ ४ ॥

गिरः श्रुता एव तव श्रवःसुधाः श्लथा भवन्नाम्नि तु न श्रुतिस्पृहा।
पिपासुता शान्तिमुपैति वारिणा न जातु दुग्धान्मधुनोऽधिकादपि॥

गिर इति। श्रवः सुधाः कर्णामृतानि तव गिरः श्रुता एव, किन्तु भवन्ना विषये श्रुतिस्पृहा श्रवणेच्छा न श्लथा न निवृत्ता। न च सुरसन्देशश्रवणादेव तृप्तिरित्याह-तथा हि पिपासुता पिपासेत्यर्थः। वारिणा वारिपानेनैव शान्तिमु अधिकादनल्पादपि दुग्धात् क्षीरात् मधुनः क्षौद्राद्वा जातु कदापि न शाम्यति तद्वदत्रापीति। दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ५ ॥

कानोंको (सन्तृप्त करनेसे) अमृत आपके वचन (मैंने) सुने, (किन्तु) आपके नाम विषयमें कानोंकी अभिलाषा अर्थात् 'आपका नाम क्या है ?' ऐसी इच्छा शिथिल नहीं हुई इतना अधिक आपके मधुर वचन सुननेपर भी मैं आपका नाम सुनना चाहती हूं; क्योंकि प्यास पानीसे ही शान्त होती है, अधिक दूध या शहदसे कभी नहीं। [जिस कारण अधिक भी दूध या मधुसे प्यास नहीं शान्त होती, किन्तु पानीसे ही शान्त होती है, उसी प्रकार आपके नाम सुननेकी मेरी इच्छा दूसरी बातोंसे नहीं शान्त होती; अतएव कृपाकर अपना नाम बतलाइये। यहांपर प्यासका दृष्टान्त देनेसे यह सूचित होता है कि प्यासे व्यक्तिको जल पिलानेसे ही पुण्य होता है, अधिकसे अधिक दूध या शहद देने या पिलानेसे नहीं, उसी प्रकार अपना नाम बतलानेसे मेरी तद्विषयिणी इच्छाकी निवृत्ति करके आप पुण्य लाभ कीजिये, दूसरी बातें कहनेसे कुछ लाभ नहीं है, प्याऊ लगाकर प्यासे व्यक्तियोंकी प्यासको पानी द्वारा शान्त करनेसे पुण्यलाभ होनेकी बात सर्वविदित है] ॥ ५ ॥

बिभर्ति वंशः कतमस्तमोऽपहं भवादृशं नायकरत्नमीदृशम् ।
तमन्यसामान्यधियावमानितं त्वया महान्तं बहु मन्तुमुत्सहे ॥ ६ ॥

बिभर्तीति । तमोऽपहं भवादृशमीदृशं नायकरत्नं राजश्रेष्ठं हारमध्यमणिं च । को नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि' इति विश्वः । कतमो वंशः कुलं वेणुश्च । वेणौ कुले वर्गे' इति विश्वः । बिभर्ति ? किमर्थमिति चेत् । अन्यसामान्यधिया सर्वसाधारणबुद्ध्या अवमानितं दृष्टं तथाप्यद्य त्वया महान्तं तमुत्कृष्यमाणं वंशं न्तुं बहुं कर्तुमुत्सहे, सर्वोऽपि हि वंशो मान्यैः पुरुषधौरेयैरेव प्रकाशते न त इति भावः । अत्र मध्यमणिरूपार्थान्तरप्रतीतिर्ध्वनिरेव । अत्र वेणोर्मुक्तायो- प्रमाणम् । 'करीन्द्रजीमूतवराहशङ्खमत्स्या[1]ब्धिशुक्त्युद्भववेणुजानि । मुक्ता- प्रथितानि लोके तेषां तु शुक्त्युद्भवमेव भूरि' ॥ इति ॥ ६ ॥

ौन वंश (सूर्य या चन्द्रमाके कुलमें कौनसा कुल, पक्षा०—कौन-सा बांस) अन्धकार न या क्रोध —नाशक आप—जैसे (परमश्रेष्ठ) नायक रत्न (नायकोंमें रत्नतुल्य —मालाके मध्यमें स्थित श्रेष्ठ मणि) को धारण करता है अर्थात् आप किस वंश —रत्नोत्पादकबांस) में उत्पन्न हुए हैं ? अन्य साधारण बुद्धिसे अपमानित तथा महान् अर्थात् महत्त्वको प्राप्त उस (कुल, पक्षा०—बांस) का मैं बहुमान (अधिक र) करनेके लिये उत्साह करती हूं । [कोई भी कुल या बांस आरम्भसे स्वयमेव उन्नत ता है, पहले वह सर्वमामान्य दृष्टिसे देखे जानेके कारण अपमानित ही रहता है से उस वंशमें उत्पन्न कोई महापुरुष ही उन्नत करता है । अतएव आप बतलाइये कि ने किस वंशमें जन्म लेकर उसे उन्नत किया है ?] ॥ ६ ॥

इतीरयित्वा विरतां पुनः स तां गिरानुजग्राहतरां नराधिपः ।
विरुत्य विश्रान्तवतीं तपात्यये घनाघनश्चातकमण्डलीमिव ॥ ७ ॥

इतीति । इतीरयित्वा इत्थं व्याहृत्य विरतां तूष्णीभूतां तां भैमीं स नराधिपः तपात्यये ग्रीष्मान्ते विरुत्य पिपासया आक्रन्द्य विश्रान्तवतीं विरतां चातकानां ीं समूहं घनाघनो वर्षुकाब्द इव । 'वर्षुकाब्दो घनाघनः' इत्यमरः । पुनर्गिरा न गर्जितेन चानुजग्राहतरामतिशयेनानुगृहीतवान् । आदरात् प्रत्युवाचेत्यर्थः । तिङ्" इत्यादिना आम्प्रत्ययः ॥ ७ ॥

स राजा नल, ऐसा (श्लो० ३–६) कहकर चुप हुई उस दमयन्तीपर ग्रीष्मकालके ोलकर विश्रान्त (प्याससे थकी) चातकमण्डलीपर बरसनेवाले मेघके समान अतिशय किया । [जिस प्रकार ग्रीष्म कालके बाद बोलते-बोलते प्याससे थककर चातक- के चुप होजानेपर मेघ बहुत गरज और बरसकर उसे अनुगृहीत करता है उसी प्रकार वंश तथा नाम सुननेके लिये बहुत समयसे उत्सुक एवं बार-बार पूछकर चुप हुई

---

[1] "-स्याहि-" इति पाठः समीचीनो भाति, अहेरपि रत्नोपलब्धेर्दर्शनात् ।

दमयन्ती को नलने पुनः बोलकर अनुगृहीत किया । नल दमयन्तीके बार-बार पूछने पुनः बोले—] ॥ ७ ॥

अये ! ममोदासितमेव जिह्वया द्वयेऽपि तस्मिन्ननतिप्रयोजने।
गरौ[२] गिरः पल्लवनार्थलाघवे मितञ्च सारञ्च वचो हि वाग्मिता ॥

अये इति । अये ! दमयन्ति ! न विद्यते अतिप्रयोजनमधिकप्रयोजनं तस्मिन् द्वयेऽपि कुलनाम्नोर्युगलेऽपि मम जिह्वया उदासितं माध्यस्थ्येन 'नपुंसके भावे क्तः' । तथा हि-पल्लवनं विस्तरणं वृथाशब्दप्रलपनमिति तच्चार्थलाघवञ्च वक्तव्यार्थसङ्कोचनञ्च गिरः वाचः गराविव विषप्रायावुभावित्यं मितमल्पाक्षरं सारं महार्थञ्च वचो वाक्यं वाग्मिता वक्तृत्वम्, अन्यथा वाचा स्यादिति भावः । "वाचो ग्मिनिः" । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्या

हे दमयन्ति ! विशेष प्रयोजनसे हीन उन दोनों (कुल तथा नामके कहने) जिह्वाने उदासीनता धारणकी अर्थात् विशेष प्रयोजन नहीं होनेके कारणसे ही मैंने कुल तथा नाम नहीं कहा, (क्योंकि बातको) अत्यन्त बढ़ाना और अर्थका सङ्कोच (थोड़ेमें कहने योग्य बातको बहुत बढ़ाकर कहना तथा बहुत अर्थवाली बातको थोड़े कहना)—ये दोनों ही वचनके विष (विषतुल्य) हैं, (अत एव विषतुल्य ऐसा माध्यस्थ्य धारणकर छोड़नाही उचित है); क्योंकि (शब्दमें) परिमित तथा (सारयुक्त वचन (कहना) ही पाण्डित्य है । [पूछने परभी निःसार बातका उत्तर अनुचित मानकर ही मैंने मेरे वंश तथा नामके विषयमें तुम्हारे पूछने परभी उत्तर दिया है] ॥ ८ ॥

वृथा कथेयं मयि वर्णपद्धतिः कयानुपूर्व्या समकेति केति च।
क्षमे समक्षव्यवहारमावयोः पदे विधातुं खलु युष्मदस्मदी ॥ ९ ॥

कुलनामकथनं वृथेत्युक्तं, तत्र नामकथनस्य वैयर्थ्यमाह—वृथेति । पद्धतिरक्षरपङ्क्तिः । कयानुपूर्व्यानुक्रमेण मयि समकेति संज्ञात्वेन सङ्केतितेतीयं प्रश्नोक्तिश्च वृथा । किमुतोत्तरमिति भावः । नामरूपापरिज्ञाने कथमावयोः संवादस्तत्राह-आवयोस्तव मम चेत्यर्थः । त्यदाद्येकशेषे यत्परं तदिति वचनाद् शेषता । अक्ष्णोः समीपे समक्षं सम्मुखेन । समीपार्थेऽव्ययीभावे शरत्प्रभृति समासान्तः । व्यवहारं मिथःसंकथां विधातुं युष्मच्चास्मच्च युष्मदस्मदी पदे मित्येतौ शब्दावित्यर्थः । क्षमे समर्थे खलु ॥ ९ ॥

'मुझमें कौन वर्ण समूह (कौन-कौन-से अक्षर) किस आनुपूर्वी (क्रम) से हैं; यह चर्चा (प्रश्न) भी व्यर्थ है (तो तत्सम्बन्धी उत्तर तो सर्वथा व्यर्थ है ही । हम दोनोंके प्रत्यक्ष व्यवहार (बातचीत) करनेके लिये युष्मद् और अस्मद् (शब्द)

---

२. "गरः" इति पाठान्तरम् ।

हैं। ['तुम यह कहो, मैंने यह कहा' इत्यादि प्रकारसे ही प्रत्यक्षमें बातचित तन तथा वंशका भी परिचय देना व्यर्थ है]॥ ९ ॥

यदि स्वभावान्मम नोज्ज्वलं कुलं ततस्तदुद्भावनमौचिती कुतः ।
अथावदातं तदहो विडम्बना यथा तथा प्रेष्यतयोवसेदुषः ॥ १० ॥

कथने च कारणमाह—यदीति। मम कुलं स्वभावादुज्ज्वलमकलङ्कं न यदि, र्हि तस्य कुलस्योद्भावनं प्रकटनं कुत औचिती औचित्यं नोचितमित्यर्थः। णोरभेदोपचारात् औचिती व्याख्यातव्या। अथावदातमुज्ज्वलं तथापि यथा कथञ्चिदपि प्रेष्यतया किङ्करतया उपसेदुषः प्राप्तस्य मम तत् कुलोद्भावनं बना परिहासः। अहो ॥ १० ॥

दि मेरा वंश स्वभावसे ही निर्मल (निर्दोष-श्रेष्ठ) नहीं है तो उसका कहना किस चित है? अथवा (यदि मेरा वंश स्वभावतः) निर्मल है तो दूत बनकर आये हुए उसे कहना विडम्बना है, अहो ! आश्चर्य है । [यदि मेरा वंश नीच है तो नीच दोष उस वंशका परिचय देना कैसे सम्भव है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपना भी नहीं बतलाता तो भला वंशका दोष कैसे बतला सकता है ? और यदि मेरा निर्मल तो भी मैं इस समय दूसरे का दूत बनकर तुम्हारे पास आया हूं और किसी उच्च उत्तम कोई व्यक्तिका किसीके दूतका कार्य करना अच्छा नहीं समझा जाता, इस ने उच्च कुल होने पर भी इस समय तुमसे बतलाना मेरे कुल का उपहास ही है; यही है कि मैं अपना नाम तथा वंश नहीं बतलाता]॥ १० ॥

इति प्रतीत्यैव मयावधीरिते तवापि निर्बन्धरसो न शोभते ।
हरित्पतीनां प्रतिवाचिकं प्रति श्रमो गिरां ते घटते हि संप्रति ॥११॥

इतीति। इतीत्थं प्रतीत्य कुलनामकथनं वृथेति निश्चित्यैव मयाऽवधीरिते ते सति तवापि निर्वन्धरसो निर्वन्धेच्छा न शोभते। किंतु सम्प्रति हरित्पती न्द्रादीनां प्रतिवाचिकं प्रतिसन्देशं प्रत्युत्तरं प्रतीत्यर्थः। ते तव गिरां श्रमः वाग्व्यापारो घटते युज्यते हि ॥ ११ ॥

(श्लो० ८–१०) विश्वाससे ही मुझसे तिरस्कृत (उत्तर नहीं दिये गये प्रश्नके)में तुम्हारा भी अधिक आग्रह नहीं शोभता है (अथवा—इस विश्वाससे ही मैंने श्न (के उत्तर देने) का तिरस्कार किया है अर्थात् कुल-नाम नहीं बतलाये हैं, भी (उस विषयमें) अधिक आग्रह नहीं शोभता है; अत एव) इस समय के प्रतिवाचिक (सन्देशका प्रत्युत्तर) के प्रति तुम्हारे वचनों का श्रम उचित है न्द्रादि दिक्पालोंके सन्देश देना युक्त है । [निरर्थक मेरे नाम तथा कुलके उत्तरके श्नको छोड़कर प्रासङ्गिक दिक्पालोंके सन्देशोंका उत्तर देना युक्त है]॥ ११ ॥

तथापि निर्बध्नति ! तेऽथवा स्पृहामिहानुरुन्धे मितया न किं गि
हिमांशुवंशस्य करीरमेव मां निशम्य किं नासि फलेग्रहिग्रहा ॥१

तथापीति। तथापि वैयर्थ्येऽपि निर्बध्नति ! निर्बन्धकारिणि ! बध्नातेः श दुगितश्चति ङीबन्तात् सम्बुद्धिः। इहार्थे ते तव स्पृहां वाञ्छां मितया गिरा रुन्धे नानुवर्ते किम्? अनुरोत्स्याम्येवेत्यर्थः। कुलस्वरूपमात्रं कथयामी रुधेर्लटि तङ्। मां हिमांशुवंशस्य करीरं सोमकुलाङ्कुरमेव निशम्य फलं गृ फलेग्रहिः सफलः ग्रहः आग्रहो यस्याः सा सफलाभिनिवेशा नासि किम्? त न तुष्यसि किमित्यर्थः। "फलेग्रहिरात्मम्भरिश्चे"ति निपातनात् साधुः॥ १२।

अथवा तथापि (कुल तथा नामके नहीं बतलानेका कारण कहनेपर भी) हे आग (आग्रह करनेवाली दमयन्ति)! परिमित वचनसे (थोड़े शब्दोंमें उत्तर देनेसे) इस में तुम्हारी उत्कट इच्छाको (मैं) क्यों न रोक दूं? (अथवा—इच्छा का क्यों नहीं करूं अर्थात् अनुकूल बनकर उत्तर दे दूं?) चन्द्रवंश (चन्द्रकुल, पक्षा०-चन्द्ररू का करीर (बालक, पक्षा०—अङ्कुर अर्थात् कोपल) ही मुझको सुनकर तुम सफल वाली नहीं हो क्या? अर्थात् अवश्य ही सफल आग्रहवाली हो। [जिस प्रकार बांस बड़े बांस उत्पन्न होते , उनमें छोटे-से कोपलका कोई विशिष्ट स्थान नहीं रहता, चन्द्रवंशमें बहुतसे बड़े राजा हो चुके हैं, उनमें मैं एक बालक (अप्रसिद्ध सामान्य हूं, मेरा कोई विशिष्ट स्थान नहीं है। इस प्रकार कहते हुए नलने अपनेको प्रका किया है, अपि तु अपनेको साधारण बतलाकर छिपाया है]॥ १२॥

महाजनाचारपरम्परेदृशी स्वनाम नामाददते न साधवः।
अतोऽभिधातुं न तदुत्सहे पुनर्जनः किलाचारमुचं विगायति॥१

कुलमुक्तं नाम तु न वाच्यमित्याह—महाजनेति। महाजनानां सतामा परम्परा सम्प्रदायः ईदृशी। तामेवाह—साधवः सन्तः स्वनाम नाददते न गृ नाम। नामेति प्रसिद्धौ—"नामानुकीर्तनं पुंसामात्मनश्च गुरोः स्त्रियाः। हरत्यायु"रिति निषेधादिति भावः। अतो निषेधात् तत् पुनस्तन्नाम तु अभि नोत्सहे न शक्नोमि। "शकधृष" इत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः। तथा हि—जनो अचारमुचमाचारत्यजं विगायति किल गर्हते खलु॥ १३॥

महापुरुषोंके आचारकी ऐसी परम्परा है कि सज्जन लोग अपनानाम नहीं लेते, कारण मैं उसे (नामको) कहनेके लिये उत्साह (इच्छा) नहीं करता हूं अर्थात् नहीं चाहता हूं; क्योंकि आचार छोड़नेवालेको लोक निन्दा करता है। [अतएव मैं बड़ोंके

---

१. "ततो-" इति पाठान्तरम्।

२. तदुक्तम्—"आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः॥" इति।

र आत्मनिन्दा कराना नहीं चाहता, इसी कारण अब तुम्हें भी मेरे नाम जाननेके र नहीं करना चाहिये] ॥ १३ ॥

दोऽयमालप्य शिखीव शारदो बभूव तूष्णीमहितापकारकः ।
थास्य रागस्य दधा पदे पदे वचांसि हंसीव विदर्भजाददे ॥ १४ ॥

इति । अहितानामरीणामपकारकः अपकर्ता अन्यत्राहीनां तापकारकोऽ- रः । अयं नलः शरदि भवः शारदः, "सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्" । केकीव अदः इदं वचनमालप्य व्याहृत्य तूष्णीं बभूव । अथानन्तरमस्य सम्बन्धिनि पदे सुप्तिङन्तरूपे पदे विषये रागस्य श्रवणेच्छाया दधातीति धी प्रत्यक्षरं सुधास्वादविच्छिन्नतृष्णेत्यर्थः । "ददातिदधात्योर्विभाषा" ातेरप्रत्यये श्लाविति द्विर्भावः, 'अजाद्यतष्टाप्' । अन्यत्र पदे पदे चरणद्वये पुटे रागस्य लौहित्यस्य दधा । 'राजहंसास्तु ते चञ्चूचरणैर्लोहितैः सिता' । विदर्भजा वैदर्भी हंसीव वचांस्याददे उवाचेत्यर्थः । शरदि निःशब्दाः राजहंसाः शब्दायन्ते तद्वदिति भावः ॥ १४ ॥

का अपकारक (शत्रुओंको मारनेवाले, पक्षा०—भोक्ता होनेके कारण सर्पोंको नेवाले), शारद (निपुण, पक्षा०—शरत्कालीन) मोरके समान ये नल यह श्लो० ८—१३) कहकर चुप हो गये । इस (नलके चुप होने) के बाद इस (नल) (सुबन्त-तिङन्तरूप प्रत्येक पद) में अनुरागको धारण करनेवाली विदर्भेश- मयन्ती (पक्षा०—शरद् ऋतु आनेसे इस मयूरके चुप होनेके बाद मुख-राग लिमा) को प्रत्येक चरणोंमें धारण करती हुई हंसी अर्थात् राजहंसी (राजहंसका पैर लाल होते हैं) के समान वचनको ग्रहण किया अर्थात् बोली । [वर्षा ऋतुमें बोली प्रिय होती है, शरद् ऋतुमें मयूरकी बोलीमें रूक्षता आ जाती है और वह तु आनेपर चुप हो जाता है तथा राजहंसी मधुर बोलने लगती है । यहां नलको कहनेसे उनके वचनमें कुछ रूक्षता तथा दमयन्तीको राजहंसी तुल्य कहनेसे वचनमें मधुरता सूचित की गयी है तथा नलके केवल अपना वंशमात्र ही बतलाकर करनेसे उनके वचनमें शरत्कालीन मयूरके समान रूक्षता और अग्रिम वचनोंमें शंसा करते हुए ही पुनः नाम विषयक प्रश्न करनेसे दमयन्तीके वचनमें शरत्का- हंसी-वचनके समान मधुरताका होना उचित ही है । तथा शरत्कालमें मयूरस्था- य उक्त प्रकारसे रूक्ष वचन बोलकर चुप होना और उसके बाद राजहंसी- दमयन्तीका मधुर वचन बोलनेका आरम्भ करना भी उचित ही है] ॥ १४ ॥

धांशुवंशाभरणं भवानिति श्रुतेऽपि नापैति विशेषसंशयः ।
यत्सु मौनं वितता कियत्सु वाङ्महत्यहो वञ्चनचातुरी तव ॥ १५ ॥

सुधांश्विति। भवान् सुधांशुवंशाभरणमिति श्रुतेऽपि विशेषविषये त्रापि क इति सन्देहो नापैति अतो विशेषो वक्तव्य इति भावः। अथावा न्नोच्यते तर्हि कियद्वाच्यं तदेव विविच्यतामित्याह—कियत्स्वर्थेषु मौनं विषयेषु वाग्वितता विस्तृता न किञ्चिदत्र नियामकमस्तीति भावः। किंतु नचातुरी प्रतारणाचातुर्यं महती। अहो! औचितीवच्चातुरी व्याख्येया॥ १५

'आप चन्द्रवंशके आभरण हैं' यह सुननेपर भी (मेरा) विशेष सन्देह(ये दूसरा कोई है, इस प्रकारका नाम-विषयक सन्देह) दूर नहीं होता है (अपना नाम बतलाकर मेरा सन्देह सर्वथा दूर कर दीजिये), कुछ विषयों (नाम में मौन तथा कुछ विषयों (कहांसे आये, कहां आये इत्यादि) में अत्यन्त इन्द्रादि दिक्पालोंके पाससे तुम्हारे ही यहां अतिथि आये हैं, उनके संदेश लाये हैं बहुत विस्तृत) आपकी बोलनेकी चतुराई है, यह आश्चर्य है। [आप मेरे कुछ उत्तर न देकर तथा कुछ प्रश्नोंका बढ़ाचढ़ाकर उत्तर देकर जो मुझे ठगनेकी रहे हैं, इससे मुझे बड़ा आश्चर्य होता है] ॥ १५ ॥

मयापि देयं प्रतिवाचिकं न ते स्वनाम मत्कर्णसुधामकुर्वते।
परेण पुंसा हि ममापि सङ्कथा कुलाबलाचारसहासनासहा ॥

अथ यदुक्तं नामकथनं निषिद्धमिति तत्र प्रतिवन्दीं गृह्णाति—मयापीति। नाम मम कर्णसुधां कर्णामृतमकुर्वते अश्रावयते इत्यर्थः। ते तुभ्यं मयापि चिकं प्रतिसन्देशनं न देयं, कुतः, हि यस्मान्ममापि परेण पुंसा सङ्कथा कुलाबलानां कुलाङ्गनानामाचारस्य सहासनं सहवासस्तस्य न सहत अक्षमा। 'पचाद्यच्'। कुलस्त्रीसमाचारविरुद्धेत्यर्थः॥ १६॥

अपने नामको मेरे कानोंमें अमृत नहीं बनाते हुए (अपना नाम मुझसे नहीं हुए) आपके लिये मैं भी प्रत्युत्तर (इन्द्रादि दिक्पालोंके सन्देशका उत्तर) नहीं क्योंकि परपुरुषके साथ विशेष गोष्ठी अर्थात् सम्भाषण कुलाङ्गनाके आचारके विरुद्ध है। [जिस प्रकार नाम ग्रहण आपके लिये सज्जनाचार विरुद्ध (श्लो०— उसी प्रकार परपुरुषके साथ सम्भाषण करना भी मेरे लिये कुलीन स्त्रियोंके विरुद्ध है; अतएव जब तक आप अपना नाम नहीं बतलायेंगे, तब तक मैं भी आपके का उत्तर नहीं दूंगी] ॥ १६ ॥

हृदाभिनन्द्य प्रतिवन्द्यनुत्तरः प्रियागिरः सस्मितमाह स स्म ताम्।
वदामि वामाक्षि! परेषु मा क्षिप स्वमीदृशं माक्षिकमाक्षिपद्वचः॥

हृदेति। स नलः प्रियाया गिरो वाक्यानि हृदा हृदयेन अभिनन्द्यानुमोद्य वन्द्याः पूर्वश्लोकोक्त्या अनुत्तरः तां प्रियां सस्मितमाह स्म उक्तवान्। इति भूते लट्। हे वामाक्षि! चारुलोचने! वदामि। मक्षिकाभिः कृतं

मधु क्षौद्रं माक्षिकादि' इत्यमरः। तेन कृतमित्यर्थे संज्ञायामित्यण्प्रत्ययः। निराकुर्वद् तत्सदृशमित्यर्थः। ईदृशं लोकोत्तरं स्वं वचः परेषु परपुरुषेषु मा निधेहि सत्यं कुलस्त्रीणां परपुरुषसम्भाषणमनुचितमङ्गीकृतं च स्वयं तु न इति भावः ॥ १७ ॥

पुरुषके साथ सम्भाषण करना कुलाङ्गनाओंके आचारसे विरुद्ध होनेके कारण आपसे अपना नाम नहीं बतलानेतक उत्तर नहीं दूंगी, इस प्रकारके दमयन्तीके) प्रतिबन्दीसे अनुत्तर (उत्तर देनेमें असमर्थ) वं नल प्रिया (दमयन्ती) के (अथवा—प्रिय वचनोंको अर्थात् मेरा नाम जाननेके लिए यह इतना आग्रह है तथा परपुरुषसे भाषण नहीं करना चाहती ऐसी प्रिय वार्तोंको) सुनकर के साथ उस दमयन्तीसे बोले—हे वामाक्षि ! (सुन्दर नेत्रवाली, या कटाक्ष करनेसे वाली, दमयन्ति !) मैं कहता हूं अर्थात् अपना नाम बतलाता हूं। मधुको तिरस्कृत ऐसा (अनिर्वचनीय) अपना वचन दूसरों (परपुरुषों) में मत कहो। —सस्मित अर्थात् हंसते-हंसते मधुको तिरस्कृत ………। अथवा—उक्तरूप पुरुषसे मत कहो, किन्तु इन्द्रादि दिक्पालोंसे ही कहो। अथवा—ऐसे आत्मीय परपुरुषोंमें मत फेंको अर्थात् मुझे परपुरुष मत समझो, किन्तु इन्द्रादिके दूत होनेसे ही समझो, अतएव इन्द्रादिके सन्देशका उत्तर मुझे देने में कुलाङ्गनाचारका भङ्ग झो। अथवा—मधुका तिरस्कार करनेवाला अर्थात् अतिशय मधुर वचन दूसरोंसे , किन्तु मुझसे ही कहो। अथवा—मुझे परपुरुषमें मत फेंको अर्थात् परपुरुष मत किन्तु नल ही समझो] ॥ १७ ॥

रोषि नेमं फलिनं मम श्रमं दिशोऽनुगृह्णासि न कञ्चन प्रभुम् ।
त्वमित्थमर्हासि सुरानुपासितुं रसामृतस्नानपवित्रया गिरा ॥ १८ ॥

रोषीति। हे भैमि ! भीमजे ! मम इमं श्रमं सुरकार्यप्रयासं फलिनं फलवन्तं न् फलिनः फली' इत्यमरः। "फलबर्हाभ्यामिनज्वक्तव्यः।" न करोषि कथं, मपि दिशः प्रभुं दिगीशं नानुगृह्णासि, त्वमित्थं रसो माधुर्यमेवामृतं तत्र वगाहेन पवित्रया पूतया गिरा सुरानुपासितुमर्हसि स्नाताधिकारत्वाद्देवपू- इति भावः ॥ १८ ॥

रे इस परिश्रम (इन्द्रादि का दूत बनकर यहां तक आनेका प्रयास) को सफल होगी ? (अपितु सफल करना चाहिये), किसी एक दिक्पालको (स्वयंवर में वरनेका आश्वासन देकर) अनुगृहीत नहीं करती हो ? अर्थात् करना चाहिये। तुम त्कारसे (प्रतिवन्दी बनाकर) माधुर्यरसरूपी अमृतसे स्नान करनेके कारण पवित्र से देवोंकी (इन्द्रादि चारों दिक्पालोंकी या इनमेंसे किसी एक दिक्पालकी) उपासना योग्य हो अर्थात् मुझको जैसे प्रतिवन्दी (श्लो० १५) बना दिया है, वैसे देवताओं-

को वरणकर उन्हें प्रतिवन्दी वनाकर उनकी सेवा करो। [चारो दिक्पालोंमेंसे वरण करनेका प्रतिसन्देश देकर उनका सम्मान करो] ॥ १८ ॥

सुरेषु सन्देशयसीदृशीं बहुं रसस्रवेण स्तिमितां न भारतीम्।
मदर्पिता दर्पकतापितेषु या प्रयातु दावार्दितदाववृष्टिताम् ॥ १९

सुरेष्विति । ईदृशीं लोकोत्तरां वहु प्रभूतां रसस्रवेण रसप्रवाहेन स्तिमितां भारतीं सुरेषु न सन्देशयसि सन्देशं न करोषि । सन्देशशब्दात् तत्करोतीति ण्यन्ताट्टि लिप्। या भारती दर्पकेण कन्दर्पेण तापितेषु तेषु मयार्पिता सती दावाग्निदग्धाऽरण्ये या वृष्टिः तत्तां प्रयातु सन्तापसंहरणात् तत्सदृशी निदर्शनालङ्कारः। 'दवदावौ वनारण्यवह्नी' इत्यमरः ॥ १९ ॥

माधुर्य रसके क्षरण से परिपूर्ण अथवा वक्रोक्त्यादिसे सरस ऐसी बहुत-सी देवोंमें नहीं सन्देश देती हो (तुम ऐसी वाणी का सन्देश देवोंके लिए दो ; अर्पण की गयी अर्थात् सुनायी गयी (अथवा—तुम्हारे द्वारा मुझमें अर्पणकी इन्द्रादिके लिये प्रतिसन्देशरूपमें मुझसे कही गयी) जो वाणी कामदेवसे (देवों) में दावाग्निसे पीडित वनमें वृष्टिके समान होती है। [जिस प्रकार जलते हुये वन के सन्ताप को वृष्टि शान्त करती है, उसी प्रकार मुझसे कही गयी माधुर्यरसपूर्ण तुम्हारी वाणी कामानल सन्तप्त देवोंके सन्तापको दूर करे तुम्हें देवोंके लिए सन्देश देना उचित है] ॥ १९ ॥

यथा यथेह त्वदपेक्षयानया[1] निमेषमप्येष जनो विलम्बते।
रुषा शरव्यीकरणे दिवौकसां तथा तथाद्य त्वरते रतेः पतिः ॥

यथा यथेति । हे भैमि ! एष अयं जनः स्वयमित्यर्थः। यथा यथा दित्यर्थः। इह त्वत्समीपे त्वदपेक्षया त्वदनुरोधेन निमेषमपि विलम्बते, कामो रुषा दिवौकसां देवानां शरव्यीकरणे लक्ष्यीकरणे तथा तथाद्य त्वर क्षिप्रमेव प्रतिवाचं देहीत्यर्थः ॥ २० ॥

यह जन अर्थात् मैं तुम्हारी उत्तर देनेके अनुरोध से (पाठा०—अपेक्षासे उपेक्षासे, प्रतिसन्देश नहीं देनेसे) जैसे-जैसे निमेषमात्र भी बिलम्ब करता है, रतिपति (कामदेव) देवोंको बाणो का निशाना बनाने में आज शीघ्रता करता है। [तुम बहुत शीघ्र अर्थात् निमेष मात्र भी विलम्ब नकर उत्तर दो] ॥ २० ॥

इयच्चिरस्यावदधान्ति मत्पथे किमिन्द्रनेत्राण्ययशान्निर्नं निर्ममौ।
धिगस्तु मां सत्वरकार्यमन्थरं स्थितः परप्रेष्यगुणोऽपि यत्र न ॥

इयदिति । मत्पथे मदागमनमार्गे इयच्चिरस्य इयच्चिरमित्यर्थः। अत्यन्त

---

[1] "त्वदुपेक्षया—" इति पाठान्तरम् ।

र्थेऽव्ययम् । चिराय चिरात्राय 'चिरस्याद्याश्चिरार्थका' इत्यव्ययेष्वमरः । न्ति अवहितानि सन्ति । "वा नपुंसकस्य" इति शतुर्नुमागमः । इन्द्रने- (कर्म) अशनिर्वज्रो न निर्ममौ किम् ? नूनं, वज्रमयानीत्यर्थः । अन्यथा विलम्बनसहत्वमिति भावः । सत्वरकार्ये क्षिप्रकर्तव्ये मन्थरं मन्दं मां धिग- यं निन्दा प्राप्तेत्यर्थः । कुतो यत्र मयि परेषां प्रेष्यः कर्मकरः तस्य यो गुणः रित्वलक्षणः सोऽपि न स्थितः । त्वदीयप्रत्युत्तरविलम्बनान्ममेयमदक्षता प्राप्ते- दं परप्रेष्यभाव इति भावः ॥ २१ ॥

ने विलम्ब तक मेरे मार्गमें सावधान अर्थात् मेरे मार्गको देखती हुईं इन्द्रकी आंखों े नहीं बनाया क्या ? (वज्र ने ही इन्द्रकी आंखोंको इतना दृढ़ बना दिया है कि ा विलम्ब करने पर भी मेरे मार्गको देखते रहनेमें समर्थ हो सकी हैं। अन्यथा वे विलम्ब सहन करनेमें कभी भी समर्थ नहीं होतीं) । शीघ्र किये जानेवाले का मैं ुरुको धिक्कार है, जिसमें दूसरेके दूत (अथवा—श्रेष्ठ दूत) का गुण भी नहीं है। गये दूतको शीघ्र वापस जाकर भेजनेवालेसे उसके कार्यकी सिद्धि या असिद्धि समाचार कहना चाहिये, किन्तु तुम्हारे उत्तर देनेमें विलम्ब करनेके कारण ही ह दोष आ रहा है, अतएव तुम शीघ्र दिक्पालोंके सन्देशका उत्तर देकर मुझे करो] ॥ २१ ॥

इदं निगद्य क्षितिभर्तरि स्थिते तयाऽभ्यधायि स्वगतं विदग्धया ।
अधिस्त्रि तं दूतयतां भुवः स्मरं मनोदधत्या नयनैपुणव्यये ॥ २२ ॥

इदमिति । क्षितिभर्तरि भूपे इदं निगद्य स्थिते तूष्णीं भूते सति, स्त्रीष्वधिस्त्रि र्थेऽव्ययीभावे नपुंसकह्रस्वः । भुवः स्मरं भूलोकमन्मथं तं पुरुषं दूतयतां े निषिद्धमत्यतिसुन्दरमेनं दूतं कुर्वतामित्यर्थः । यथा भरतः—'नोज्ज्वलं ं च नार्थवन्तं न चातुरम् । दूतं वापि हि दूतीं वा बुधः कुर्यात्कदाचन ॥' । नयनैपुणव्यये नीतिचातुर्यशून्यत्वे मनो दधत्या निदधत्या एते नीतिशून्या जानन्त्येवेत्यर्थः । अत एव विदग्धया कुशलया दमयन्त्या स्वगतमप्रकाशं तथा आत्मन्येवाभ्यधायि अभिहितं, 'सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं ' इति दशरूपके लक्षणात् । अहो बुद्धिमान्द्यमेषां यदेनं कामं दूत्ये नियुक्तवन्त भावः ॥ २२ ॥

स प्रकार (श्लो० १७–२१) कहकर राजा (नल) के (मौन धारणकर) स्थित र पृथ्वीके कामदेव उसको स्त्री (मुझ दमयन्ती) में दूत करते हुए अर्थात् दूत बनाकर ुर, इन्द्रादि) की नीतिकी निपुणताकी समाप्तिमें मन (अपने मन) को धारण हुई अर्थात् भूलोकमें कामदेवरूप उस पुरुषको मुझ स्त्रीके विषयमें दूत बनाकर इन्द्रादि नीति ज्ञानसे शून्य हैं ऐसा अपने मन में समझती हुई, (अत एव) चतुर

उस दमयन्तीने स्वगत (आप ही आप—दूसरेके द्वारा नहीं सुनने योग्य) [अथवा······भेजते हुए इन्द्रादिके मनको नीति निपुणतासे हीन धारण कर (समझती) हुई·········। इतने सुन्दर तथा चतुर व्यक्तिको मेरे पास दूत भेजने इन्द्रादि दिक्पाल नीति में चतुर नहीं है, ऐसा समझकर दमयन्तीने अपने-आप कहा]

जलाधिपस्त्वामदिशन्मयि ध्रुवं परेतराजः प्रजिघाय स स्फुटम्।
मरुत्वतैव प्रहितोऽसि निश्चितं नियोजितश्चोर्ध्वमुखेन तेजसा॥२

स्वगतवाक्यमेवाह—जलेति । जलाधिपो वरुणः लडयोरभेदात् जड मयि विषये मां प्रतीत्यर्थः। त्वामदिशदतिसृष्टवान् ध्रुवम् ?। स प्रसिद्धः परे यमः प्रेतमुख्यश्च त्वां प्रजिघाय प्रहितवान् स्फुटमसन्दिग्धम्। मरुतो देवाः मरुत्वता इन्द्रेण वातुलेन च। 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः। प्रहितोऽसि तमूर्ध्वमुखेन तेजसा अग्निना स्थूलदृशा च नियोजितः प्रेषितोऽसि। प्रेषितवन्तः त्वञ्च प्रेषितः सत्यमेवैतत् निष्फलोऽयमारम्भ इति स्वगत स्यर्थः॥ २३॥

मेरे विषयमें (अत्यन्त सुन्दरी एवं युवती मेरे पास) तुमको (लोकोत्तर सु युवकको) निश्चय ही जलाधीश (वरुण, पक्षा०—'डलयोरभेदः, इस वचनके अनुसा अर्थात् मूर्खोंके राजा) ने भेजा है। स्पष्ट ही उस (प्रसिद्ध) परेतराज (यम, प मरे हुए लोगों अर्थात् अचेतनोंके राजा=अतिशय अचेतन) ने भेजा है। (तुम) ही मरुत्वान् (इन्द्र, पक्षा०—वायु-समूह) से ही भेजे गये हो। ऊपर मुखवा (अग्नि, पक्षा०—ऊपर मुखवाले पिशाच) से ही (दूत कार्यमें) नियुक्त हुए हो। मुखवाले व्यक्तिका नीचेकी वस्तुका देखना असम्भव होनेसे ऊर्ध्व मुख अग्निने सुन्दरताको नहीं देखा, यह ठीक ही है)। वरुण, यम, इन्द्र तथा अग्नि वस्तुतः वे जडोंका राजा, मृतकों (अचेतनों) का राजा, वायुसमूह (आंधी) और ऊर्ध्वमुख ही हैं; जिन्होंने भूलोकके कामदेवरूप तुमको मेरे पास दूतरूप में भेजते हुए य विचारा कि इस युवक सुन्दर पुरुषको देखकर युवती एवं सुन्दरी दमयन्ती आसक्त और यदि हम लोगोंको वरण करना चाहती भी होगी तो इसे देख हम लोगोंको वरण क विचार छोड़कर इसे ही वरण कर लेगी, अतः इसे वहां भेजना उचित नहीं है]॥ २

अथ प्रकाशं निभृतस्मिता सती सतीकुलस्याभरणं किमप्यसौ।
पुनस्तदाभाषणविभ्रमोन्मुखं मुखं विदर्भाधिपसम्भवादधे॥ २४॥

अथेति। अथ स्वगतोक्त्यनन्तरं सतीकुलस्य पतिव्रतावर्गस्य किमप्यनिर्वा माभरणमलङ्कारभूता असौ विदर्भाधिपसम्भवा वैदर्भी निभृतस्मिता गम्भीरस्मि सती प्रकाशं यथा तथा पुनस्तेन सहाभाषणमेव विभ्रमो विनोदः तत्रोन्मुखमु मुखसास्यमादधे आबभाषे इत्यर्थः॥ २४॥

सके (पूर्व श्लोकोक्त स्वगत भाषण) के बाद परोक्ष रूपसे स्मित की हुई, पतिव्रता तिव्रता-समूहका कोई (अनिर्वचनीय) भूषण-स्वरूप यह विदर्भराजकुमारी (दम-)ने फिर उस (नल) के साथ सम्भाषणके विलासमें उत्कण्ठित मुखको प्रकटरूपसे किया अर्थात् वहां उपस्थित सखी आदि सब लोग द्वारा सुन सकें ऐसे बोली। [अथवा ल या प्रसन्न मुखको धारण किया, 'सती' तथा 'सती कुलका आभरण' कहनेसे ने पहले जिस पुरुष (नल) को मनसे वरण कर लिया है, अब दिक्पालोंका सन्देश र भी अपने निश्चयपर ही दृढ़ रहेगी यह सूचित होता है। पुनः बोलने में साथ सम्भाषग करनेकी उत्कण्ठा ही कारण है, इन्द्रादि दिक्पालोंके सन्देशका नहीं] ॥ २४ ॥

वृथापरीहास इति प्रगल्भता ननेति च त्वादृशि वाग्विगर्हणा ।
भवत्यवज्ञा च भवत्यनुत्तरादतः प्रदित्सुः प्रतिवाचमस्मि ते ॥ २५ ॥

थेति। भवति पूज्ये त्वादृशि विषये वृथा परीहास इति वाक्। "उपसर्गस्य मनुष्ये बहुल" मिति परेर्दीर्घः। प्रगल्भता प्रागल्भ्यं दोषावहेत्यर्थः। कार्य-रणयोरभेदोपचारः। ननेति च वागत्यन्तनिषेधोक्तिश्च, आभीक्ष्ण्ये द्विर्भावः। र्हणा गर्होक्तिः स्यादित्यर्थः। अनुत्तरात् उत्तराप्रदानात् अवज्ञा अनादरदोषो ति। अतो हेतोस्ते तुभ्यं प्रतिवाचं प्रत्युत्तरं प्रदित्सुः प्रदातुमिच्छुरस्मि। परमा-तु प्रत्युत्तरानर्हमेव दाक्षिण्यात्ते वदामीति तात्पर्यम् ॥ २५ ॥

आप-जैसे (श्रेष्ठ व्यक्ति) में 'यह धृष्टता है' ऐसा कहना परिहास है (अथवा— परिहास है' ऐसा कहना धृष्टता है), 'नहीं नहीं' ऐसा वचन निन्दा है, आपके उत्तर नहीं देनेसे (आपका) अपमान होता है. इस कारण मैं आपका उत्तर देना हूं। [यदि मैं आपसे 'आप मेरे साथ धृष्टताकर यह बात कह रहे हैं' ऐसा कहूं तो सखियां मेरा परिहास करेंगी कि 'ऐसे श्रेष्ठ व्यक्तिके साथ इस प्रकारका अनुचित दमयन्ती कह रही है, इसे ऐसे अपरिचित पुरुषके साथ ऐसा वर्ताव करना नहीं ये, (अथवा—यदि मैं आप-जैसे श्रेष्ठ व्यक्तिसे 'आप मेरे साथ परिहास कर रहे हैं' हूं तो मेरी सखियां एक अपरिचित व्यक्तिके साथ ऐसा कहने पर मुझे धृष्ट समझेंगी। र यदि मैं आपको निषेध करती हूं तो उक्त प्रकार से वे सखियां मेरी निन्दा करेंगी, आपके बातोंका बिल्कुल ही उत्तर नहीं देती हूं तो आपका अपमान होता है, बस, रणसे मैं आपकी बातोंका उत्तर देना चाहती हूं, इन्द्रादि दिक्पालोंके सन्देशका र्ण समझकर नहीं उत्तर देना चाहती। इन्द्रादि दिक्पालोंकी अपेक्षा मैं आपको ही दृष्टिमे देखती हूँ] ॥ २५ ॥

कथं नु तेषां कृपयापि वागसावसावि मानुष्यकलाञ्छने जने ।
स्वभावभक्तिप्रवणं प्रतीश्वराः कया न वाचा मुदमुद्गिरन्ति वा ॥ २६ ॥

कथमिति । तेषामिन्द्रादीनां कृपयापि (कर्त्र्या) मनुष्यस्य भावो मानुष्य "योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्" । तदेव लाञ्छनं कलङ्को यस्य तस्मिन्निर्दोषजनवि स्मिन्नित्यर्थः । असौ वागस्मान् वृणीष्वेति वचनं कथमसावि सूता अनुचित त्यर्थः । सूतेः कर्मणि लुङ् । वा अथवा ईश्वराः स्वामिनः स्वभावभक्तिप्रवणं प्रति कया वाचा मुदं नोद्गिरन्ति भक्तवात्सल्यात् नीचमपि भक्तजनमत्यु वाचा बहु कुर्वन्ति कृपालवः स्वामिन इत्यर्थः । तथा च तद्वचनमुपचारत्वेन गृ न तु कर्तव्यतयेति भावः ॥ २६ ॥

मनुष्यत्वसे लाञ्छित (चिह्नित, पक्षा०—लाञ्छन 'दोष') युक्त जनमें अर्थात् उन (इन्द्रादि दिक्पालोंकी यह वाणी 'तुम मुझे वरण करो' यह कहना) कृपासे भी नहीं है । अथवा स्वभावतः भक्तितत्पर (भक्तजन) के प्रति प्रभुलोग किस वचन से ह प्रकट नहीं करते, स्वाभाविक भक्तिमें तत्पर सदोष व्यक्तिको भी जिस किसी वाणीसे नाकर सर्व समर्थ (ऐश्वर्य–सम्पन्न) लोग अपना हर्ष प्रकट करते ही हैं, अत एव म होनेसे लाञ्छनयुक्त (सदोष) मुझसे लाञ्छनरहित (निर्दोष) देवता वरण करने याचना करते हैं वह एक मात्र मेरी स्वाभाविक भक्तिसे प्रसन्न उनका मेरे ऊपर होकर कृपा करना ही हैं । वे देवता केवल मेरे नमस्कार करनेके योग्य हैं, वरण क योग्य नहीं] ॥ २६ ॥

अहो महेन्द्रस्य कथं मयौचिती सुराङ्गनासङ्गमशोभिताभृतः ।
ह्रदस्य हंसावलिमांसलश्रियो बलाकयेव प्रबला विडम्बना ॥ २७ ॥

अहो इति । सुराङ्गनासङ्गमेन शोभत इति तच्छोभि तस्य भावस्तत्ता बिभर्तीति तद्भृतो महेन्द्रस्य हंसावल्या मांसला मांसवती सान्द्रतरेति यावत् सिध्मादित्वाल्लच् । सा श्रीर्यस्य तस्य ह्रदस्य सरसो बलाकयेव मया निमित्तेन प्र महती विडम्बना परिहासः कथमौचिती न कथञ्चिदित्यर्थः । अहो, सुरस्त्रीजने मानुषीमनुसरतो महेन्द्रस्यामृतमप्यवधीर्योदकपानप्रवृत्तिरपि सम्भा एवेति भावः ॥ २७ ॥

देवाङ्गना (इन्द्राणी, या उर्वशी आदि अप्सराओं) के सङ्गमको शोभाभावको प्र करनेवाले महेन्द्रकी बलाका (बकपङ्क्ति या बकस्त्री) से हंसावलि (हंस-समूह) पूर्ण शोभावाले तालावके समान मुझसे बड़ी भारी विडम्बना हो है, अहो यह आश्च [हंस–पङ्क्तिसे शोभित रहनेवाले तडागको एक बलाकासे शोभित करनेकी बातके सम देवाङ्गनाओंके साथ सम्भोग करनेवाले इन्द्रका तुच्छतम मुझ मानुषीको चाहना परिहा मात्र है, अथ च हंसकी अपेक्षा बलाकाके समान देवाङ्गनाओंकी अपेक्षा अतितुच्छ इन्द्रके द्वारा मेरी चाहना करना मेरा केवल परिहास है, अतः ऐसा कदापि न हो सकता] ॥ २७ ॥

पुरःसुरीणां भण केव[1] मानवी न यत्र तास्तत्र तु सापि शोभिका ।
अकाञ्चनेऽकिञ्चननायिकाङ्गके किमारकूटाभरणेन न श्रियः ।। २८ ।।

पुर इति । सुरीणां सुरस्त्रीणां, "जातेरस्त्रीविषयादि"त्यादिना ङीप् । पुरोऽग्रे
वी मानुषी केव न कापि । तुच्छेत्यर्थः । इवशब्दो वाक्यालङ्कारे भण वद । किंतु
लोके ताः सुरस्त्रियो न सन्ति तत्र सा मानव्यपि शोभत इति शोभिका शोभ-
ता, "प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्ये"तीकारः । अकाञ्चने काञ्चनाभरणरहिते, अकारान्तो-
पदो बहुव्रीहिः । नास्ति किञ्चनास्येत्यकिञ्चनो निःस्वः । उच्चावचाकिञ्चनाऽकुतो-
नीति मयूरव्यंसकादिषु निपातनात्तत्पुरुषः । तस्य नायिका भार्या तस्या
के देहे आरकूटस्य रीतिविकार आरकूटम् । 'रीतिः स्त्रियामारकूटम्' इत्यमरः ।
भरणेन श्रियः शोभा न । किन्तु, सुरस्त्रीविहारिणो महेन्द्रस्य मानुषीकामुकत्वं
नाभरणत्त्यागोरारकूटाभरणस्पृहेव महत्परिहासास्पदमित्यहो कष्टमिति भावः ।
दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २८ ॥

देवियोंके आगे मानुषी क्या है (पाठा०—किससे, किस गुणसे श्रेष्ठ है ? अर्थात् किसी
गुणसे श्रेष्ठ नहीं है) अर्थात् कुछ नहीं है—वह तुच्छ है । जहांपर वे देवियां) नहीं
हांपर वह (मानुषी) शोभती है, सुवर्णसे वर्जित निर्धन व्यक्तिकी स्त्रीके शरीरमें
के एक भूषणसे भी शोभा नहीं होती है क्या ? अर्थात् अवश्य होती है । ["निरस्त-
देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते" नीतिके अनुसार जहां देवियां नहीं हैं, वहीं अर्थात् देवियों
त भूलोकमें ही मैं सुन्दरी हूं किन्तु देवियोंके सामने अर्थात् देवियोंसे परिपूर्ण स्वर्गमें
सौन्दर्य किसी गणनामें नहीं है, अत एव देवाङ्गनाओंको छोड़कर मुझे चाहना
के लिये स्वर्णका त्यागकर पीतलके एक भूषणकी इच्छा करनेके समान असम्भव या
ासास्पद है] ॥ २८ ॥

यथा तथा नाम गिरः किरन्तु ते श्रुती पुनर्मे बधिरे तदक्षरे ।
पृषत्किशोरी कुरुतामसङ्गतां कथं मनोवृत्तिमपि द्विपाधिपे ।। २९ ।।

यथा तथेति । यथा तथा येन तेन प्रकारेण ते गिरः किरन्तु वर्षन्तु नाम । किन्तु,
मम श्रुती श्रोत्रे पुनस्तदक्षरे तासां गिरां वर्णमात्रेऽपि विषये बधिरे । अश्रुतप्रायं
त्यर्थः । तथा हि—पृषत्किशोरी कुरङ्गयुवतिः । 'पृषच्च पृषतो बिन्दौ कुरङ्गेऽपि
कीर्तितः' इत्यजपालः । द्विपाधिपेऽपि श्रेष्ठगजेऽपि असङ्गतामयुक्तां मनोवृत्तिम-
लापं कथं कुरुतां कुर्यात्, तत्प्रायमिदं नो मनीषितमिति भावः । अत्रापि
न्तालङ्कारः ॥ २९ ॥

वे (इन्द्रादि दिक्पाल) जैसे-तैसे (जिस किसी तरह से या इच्छासे) बातें कहें
न्तु मेरे) कान उनके अक्षर (एक भी अक्षरके सुननेमें, फिर अधिक बातोंको कौन

---

[1] "केन" इति "कैव" इति च पाठान्तरम् ।

कहे ?) बहरे हैं । (पक्षा०—वेद भी जैसे-तैसे अर्थात् अप्रामाणिक तथा अनर्गल ग्रहण नहीं करते) । बालमृगी गजराजमें अनुचित मनोवृत्तिको भी कैसे करे ?। [निकृष्ट पशुजातीय एवं बाल अर्थात् अबोध मृगी भी श्रेष्ठतम गजराजकी अनुचित इच्छा करती तो भला मैं मनुष्य होकर श्रेष्ठतम इन्द्रादिकी इच्छा कैसे कर सकती हूं, अत उनकी उटपटांग (बे-सिर-पैरकी) बातोंका एक अक्षर भी नहीं सुनती, पूरी बातें तो असम्भव ही है] ॥ २९ ॥

अदो निगद्यैव नतास्यया तया श्रुतौ लगित्वाभिहितालिरालपत् ।
प्रविश्य यन्मे हृदयं ह्रियाह तद्विनिर्यदाकर्णय मन्मुखाध्वना ॥ ३० ॥

अद इति । अदः इदं वचो निगद्योक्त्वैव नतास्यया अवनतमुख्या तया न्त्या श्रुतौ श्रोत्रे लगित्वा आसन्ना भूत्वाभिहिता कथिता आलिः सखी आलपितवती । किमित्यत आह—इयं दमयन्ती ह्रिया लज्जया मे मम हृदयं यद्वच आह ब्रूते । मम मुखेनैवाध्वना विनिर्यद्विनिर्गच्छत् तद्वचः श्रृणु ॥ ३० ॥

यह (श्लो० २५-२९) कहकर झुकी हुई उस (दमयन्ती) के द्वारा पास जाकर कही गयी सखी बोली—(हे दूत !) लज्जासे मेरे हृदयमें घुसकर (दमयन्तीने) जो कहा, मेरे मुखरूपी मार्गसे निकलते हुए उसे तुम सुनो । [इतना बाद दमयन्तीने झुककर लज्जासे स्वयं न कहकर सखीके कानमें कहा कि 'अब कहो'। फिर वह सखी दूतसे बोली । चित्र आदिमें नलका रूप जैसा दमयन्तीने तथा नलने भी अपने वंश एवं नामका परिचय देते हुए कहा था, उससे ये नल ही हैं दमयन्तीको प्रायः विश्वास हो गया था, अतएव लज्जाभूषण एक कुलाङ्गनाके लिये पति परपुरुष के सामने स्वयं ही अपना प्रेम प्रकट करनेमें लज्जा होना अनुचित है, दमयन्तीने झुककर सखीके कानमें अपने नल-विषयक प्रेमकी बात कहने के लिये तो उसकी सखी दमयन्तीकी ओरसे बोलने लगी । लोकमें भी लज्जाशील कोई अपनी बात स्वयं नहीं कहकर अपना मनोभाव जाननेवाले प्रिय मित्रादिके द्वारा कहलाता

बिभेति चिन्तामपि कर्तुमीदृशीं चिराय चित्तार्पितनैषधेश्वरा ।
मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थितिर्लवादपि त्रुट्यति चापलात् किल

बिभेतीति । चिराय चिरात्प्रभृति चित्तेऽर्पितः स्थापितो नैषधेश्वरो नलो यया स्त्री ईदृशीं परविषयां चिन्तामपि कर्तुं बिभेति । कुत इत्यत आह—मृणालस्य रिव च्छिदुरा च्छेदशीला, "विदिभिदिच्छिदेः" इत्यादिना कर्मकर्तरि कुरच् । पतिव्रताया या स्थितिः मर्यादा सा लवादल्पादपि चापलाल्लौल्याद्धेतोः किल त्रुटति खलु । "वा भ्राश" त्यादिना श्यन्प्रत्ययः ॥ ३१ ॥

सखी दमयन्तीकी ओरसे कह रही है, अतएव सखीका कथन दमयन्तीका ही कथन ना चाहिये) चिर कालसे चित्तमें निषधराज (नल) को स्थापित की हुई मैं ऐसा द्रादि दिक्पालोंका वरण करूं या नहीं) विचार भी करने में डरती हूं (फिर वरण तो दूर की बात है, क्योंकि) मृणाल तन्तुके समान शीघ्र टूटनेवाली पतिव्रता मर्यादा भी चञ्चलता करनेसे अवश्य ही टूट जाती है। [बहुत दिनोंसे मैंने नलको अपने में स्थापित किया है, अतः इन्द्रादिके वरण करने या न करनेका विचार करनेमें भी य लगता है कि जिस मनमें नल बहुत दिनोंसे रहते हैं, वे उसके गतिविधिको तरह समझते हैं और यदि उस मनने दूसरेको वरण करने या नहीं करनेका विचार या तो निषधेश्वर एक विशाल देशका राजा होनेसे उसको (मुझे) बहुत कठोर दण्ड मनके द्वारा ही किसी बातका विचार करना सम्भव होनेसे वहां बहुतकालसे स्थित के लिये उसकी स्थिति जानना अत्यन्त सरल बात है और यह भी कारण है कि के मनमें भी परपुरुषको वरण करने या न करनेका विचार आनेसे उसके सतीत्वकी टूट जाती है, अतएव मैं इन्द्रादि दिक्पालोंके सन्देशपर मनसे विचार भी नहीं चाहती, कार्यसे उन्हें स्वीकार करना तो दूर की बात है, साक्षात् कार्यरूपमें स्वीकृत हुएका त्याग करना सर्वथा असम्भव ही है। मैंने निषधेश्वर नलको बहुत समयसे वरणकर लिया है, अतः इन्द्रादिको वरण करनेका विचार भी नहीं करूंगी] ॥ ३१ ॥

ममाशयः स्वप्नदशाज्ञयापि वा नलं विलङ्घ्येतरमस्पृशद्यदि ।
कुतः पुनस्तत्र समस्तसाक्षिणी निजैव बुद्धिर्विबुधैर्न पृच्छ्यते ॥३२॥

ममेति । अथवा ममाशयश्चित्तवृत्तिः स्वप्नदशायाः स्वप्नावस्थायाः आज्ञयापि लं विलङ्घ्य इतरं पुरुषं यदि अस्पृशत् प्राप्तवान् । तर्हि समस्तस्य साक्षिणी स्वकीया बुद्धिरेव तत्र विषये कुतः पुनर्विबुधैः इन्द्रादिभिः न पृच्छ्यते नानु- ते। सर्वसाक्षिणः स्वयं किं न जानन्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

वा मेरी चित्तवृत्ति स्वप्नावस्थाकी आज्ञासे (स्वप्नावस्थामें) भी नलको छोड़कर सरेका स्पर्श करे (मनसे स्वप्नमें भी यदि मैं नलके अतिरिक्त किसी की इच्छा से) इस विषयमें सबकी साक्षिणी अर्थात् सबके मनोभावको जाननेवाली अपनी ही विबुध (इन्द्रादि देव, पक्षा०—विशिष्ट पण्डित) वे क्यों नहीं पूछते हैं ?। दमयन्ती स्वप्नमें भी नलके अतिरिक्त किसी दूसरे पुरुषका विचार करेगी क्या ?' को सब कुछ जाननेवाली अपनी बुद्धिसे ही विशिष्ट ज्ञानी इन्द्रादि देव क्यों नहीं ते ? अर्थात् स्वयं बुद्धिमान् रहते हुए भी इन्द्रादिने जो सन्देश आपके द्वारा मेरे भेजा है, वह अबुद्धिपूर्वक ही भेजा है और अबुद्धिपूर्वक किया गया कार्य कदापि नहीं होता है। इन्द्रादिके अबुद्धिपूर्वक किये गये प्रस्तावको मैं कदापि स्वीकार नहीं गी] ॥ ३२ ॥

अपि स्वमस्वप्नमसूषुपन्नमी परस्य दारानन्वैतुमेव माम् ।
स्वयं दुरध्वार्णवनाविकाः कथं स्पृशन्तु विज्ञाय हृदापि तादृशीम् ॥३

अपीति । अमी इन्द्रादयः देवाः अस्वप्नं स्वप्नवर्जितं स्वमात्मानं मां पर
दारानन्वैतुमज्ञातुमेव असूषुपन् स्वापितवन्तः । स्वापेर्णौ चङि "द्युतिस्वाप्यो
सम्प्रसारणम् । अन्यथा सर्वज्ञानां तेषामस्मिन्नेवांशे कथमज्ञानमित्यर्थः । तदे
पादयति—स्वयं दुष्टोऽध्वा दुरध्वः, "उपसर्गादध्वन" इति समासान्तोऽच् ।
एवार्णवस्तस्य नावा तरन्तीति नाविकाः कर्णधाराः सन्तः "नौ द्व्यचष्ठन्"
ठन्प्रत्ययः । कथं तादृशीं मां हृदा विज्ञायापि स्पृशन्तु स्पृशेयुः । स्वयममार्गनि
काणां तत्प्रवृत्तिरनर्हेति भावः ॥ ३३ ॥

ये (इन्द्रादि देव) मुझे परस्त्री (दूसरेकी अर्थात् नलकी स्त्री) नहीं समझनेके लि
ही अस्वप्न अर्थात् नहीं सोनेवाले (देवोंको नहीं नींद आना पुराणादिमें प्रसिद्ध
अपनेको सुला लिया क्या ? (क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता तो) कुमार्गरूपी स
कर्णधार (समुद्रमें यात्रा करनेवालोंको सुरक्षित पार करनेवाले नाविकके समान कु
प्रवृत्त मनुष्यको रोककर सन्मार्गमें प्रवृत्त करनेवाले वे इन्द्रादि दिक्पाल) हृदयसे
(परस्त्री) जानकर भी (अथवा—परस्त्री जानकर भी हृदयसे) कैसे स्पर्श करे
[कुमार्गसे बचानेवाले वे देव हृदयसे मुझे परस्त्री जानकर भी स्पर्शसे दूषित करना न
हैं, अतः मालूम पड़ता है कि सर्वदा जागरूक रहनेवाले वे इन्द्रादि देव 'यह दम
दूसरेकी स्त्री है' इस बातको नहीं जाननेके लिये मानो सो गये थे, और सोये हुए पु
द्वारा किया गया कार्य अबुद्धिपूर्वक होता है उसपर कोई बुद्धिमान् व्यक्ति विचार न
करना चाहता, अतएव अबुद्धिपूर्वक किये गये इन्द्रादिके कार्यपर विचार करना मूर्खता है

अनुग्रहः केवल एष मादृशे मनुष्यजन्मन्यपि यन्मनो जने ।
स चेद्विधेयस्तदमी तमेव मे प्रसद्य भिक्षां वितरीतुमीशताम् ॥३४॥

अनुग्रह इति । मनुष्येषु जन्म यस्य तस्मिन्नपि मादृशे जने यन्मनश्चित्तं व
एष केवलोऽनुग्रह एव किन्तु सोऽनुग्रहो विधेयः कर्तव्यश्चेत्तर्हि अमी इन्द्रादयो दे
प्रसन्ना भूत्वा मे मह्यं तं नलमेव भिक्षां वितरीतुं दातुम्, "ऋतो वा" इति दीर्घः ।
ईशतामीश्वरा एव भवन्तु । नलसङ्घट्टनेनैवानुग्राह्योऽयं जनो नान्यथा मन्त
इति भावः ॥ ३४ ॥

मनुष्यमें उत्पन्न मेरे—जैसे (सामान्य) व्यक्तिमें जो (इन्द्रादि दिक्पालोंका) म
(अनुरक्त) है, यह केवल (मुझपर उन लोगोंका) अनुग्रह है और यदि वह अनुग्र
(उन देवोंको मुझपर) करना है तो प्रसन्न होकर (वे) उसी (नल) को मेरे लि
भिक्षा देनेके लिए होवें । [तुच्छ मानुषी मुझपर देवोंके मनका अनुरक्त होना अ

ग्य है, अतएव वे इन्द्रादि देव उस नलको ही पतिरूपमें भिक्षा देकर कृपाको
र्दें करें] ॥ ३४ ॥

अपि द्रढीयः शृणु मे प्रतिश्रुतं स पीडयेत् पाणिमिमं न चेन्नृपः ।
हुताशनोद्बन्धनवारिवारितां निजायुषस्तत्करवै स्ववैरिताम् ॥ ३५ ॥

अपीति । हे धीर ! द्रढीयः दृढतरं मम प्रतिश्रुतं प्रतिज्ञामपि शृणु । तामेव
तामाह—स नृपः नलः इमं मदीयं पाणिं न पीडयेत् न गृह्णीयाच्चेत्तर्हि निज-
युः स्वेनात्मना वैरितां शात्रवं हुताशनञ्च उद्बन्धनञ्च वारि च तैः वारितां निवृत्तिं
करवाणि ॥ ३५ ॥

ीर, (तुम) मेरी अत्यन्त दृढ प्रतिज्ञाको सुनो; यदि वे राजा (पक्ष°—मानवरक्षक-
े नल मानवके नाते मेरी रक्षा अवश्य करेंगे, यह ध्वनित होता है) इस हाथको
नहीं किये अर्थात् मेरे साथ विवाह नहीं किये तो मैं अपनी आयुके अपने शत्रुभावको
उद्बन्धन (डाल आदि ऊंचे स्थानोंमें बांधना), या पानीसे निवृत्तकर लूंगी अर्थात्
में जलकर, डाल आदिमें अपनेको बांधकर या पानीमें डूबकर वैरी अपनी आयुको नष्टकर
र्थात् मर जाऊंगी । ['यदि मेरे दुर्भाग्यवश या इन्द्रादिके अनुरोध वा बलप्र-
कारण यदि नल मुझसे विवाह नहीं करेंगे तो मैं अग्नि आदि के द्वारा आत्म-
कर लूंगी, किन्तु दूसरे किसीका वरण नहीं करूंगी' यह मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा सुन
ेर इतना सुनने पर भी आप कुछ पुनः कहेंगे तो वह अनुचित ही नहीं, अपि तु
ष भी होगा] ॥ ३५ ॥

निषिद्धमप्याचरणीयमापदि क्रिया सती नावति यत्र सर्वथा ।
घनाम्बुना राजपथेऽतिपिच्छिले क्वचिद्बुधैरप्यपथेन गम्यते ॥३६॥

ात्मनो व्यापादनमयुक्तमित्यत्राह—निषिद्धमिति । यत्रापदि यदि सती
क्रिया सर्वथा सर्वप्रकारेण नावति न रक्षति । तत्र निषिद्धमप्याचरणीयम् ।
हि राजपथे राजवीथ्यामपि घनाम्बुना सान्द्रोदकेन मेघजलेनातिपिच्छिले
सति बुधैः विद्वद्भिः अपथेनामार्गेणापि क्वचित्प्रदेशे गम्यते । "पथो विभाषा"
समासान्तः । "अपथं नपुंसकम्" । सर्वथा स्त्रीणां प्राणत्यागेनापि पातिव्रत्यं
यमिति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ३६ ॥

पत्तिमें निषिद्ध (कार्य) भी करना चाहिये, जहां (जिस आपत्तिमें या जिस स्थान
्थानमें) श्रेष्ठ कार्य सर्वथा नहीं बचा सकता हो । अधिक जलसे राजमार्ग (सड़क, या
रास्ते) के पङ्कयुक्त होनेपर विद्वान् (विवेकशील व्यक्ति) भी कहींपर मार्गको
चलते हैं । आत्महत्या करना शास्त्र विरुद्ध होनेपर भी आपत्तिसे छुटकारा न हो
ऐसी अवस्थामें वह आत्महत्या करना भी शास्त्र विरुद्ध नहीं होता है, अतएव नलको

प्राप्ति न होनेपर कामसन्ताप नहीं सह सकनेके कारण मुझे आत्महत्या कर लेना ही
त्तिसे छुटकारा पानेका एकमात्र सरल उपाय है, नलके अतिरिक्त दूसरे किसे
करना नहीं] ॥ ३६ ॥

स्त्रिया मया वाग्मिषु तेषु शक्यते न जातु सम्यग्विवरीतुमुत्तरम् ।
तदत्र मद्भाषितसूत्रपद्धतौ प्रबन्धृतास्तु प्रतिबन्धृता न ते ॥ ३७ ॥

स्त्रियेति । वाग्मिषु वावदूकेषु तेष्विन्द्रादिषु विषयेषु स्त्रिया मया उत्तरं
यथा भवति तथा विवरीतुं प्रपञ्चयितुं जातु कदाचिदपि न शक्यते । तत्
कारणात् अत्र मद्भाषितानां वचनानामेव सूत्राणां पद्धतौ मार्गे विषये ते तव
न्धृता प्रबन्धकर्तृत्वमस्तु, प्रतिबन्धृता प्रतिबन्धकर्तृत्वं नास्तु । उभयत्रापि
द्बन्धेस्तल् । अस्मिन्निषेधोत्तरे ममानुकूलो भव, न प्रतिकूल इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

स्त्री मैं विद्वान् उन (इन्द्रादि देवों) के विषयमें सम्यक् प्रकारसे उत्तर देने
कदापि समर्थ नहीं हूं, इस कारण मेरे भाषण सूत्रसमुदायमें आप प्रबन्धकार (
व्याख्या करने वाला) बनें, प्रतिबन्धक (बाधक) न बनें । [मैं स्त्री जाति स्वल्प बुद्धि
हूं और वे इन्द्रादि दिक्पाल पुरुष जाति एवं बुद्धिमान् हैं, अतः उनके प्रति मैं विस्तृ
उत्तर नहीं दे सकती; इस कारण आप संक्षेप में कहे गये मेरे उत्तर को उनके सामने
प्ताक्षर सूत्रोंकी विस्तृत भाष्य तथा वार्तिकादि व्याख्यानके समान स्पष्ट रूपसे कह दें,
मेरे उत्तर का प्रतिकूल अर्थ कहकर बाधक न बनें । जिस प्रकार संक्षिप्ताक्षर सूत्रों
सार ही उसके व्याख्यानभूत भाष्य या वार्तिक आदि प्रबन्ध किये जाते हैं, प्रतिकूल
उसी प्रकार आप भी मेरे उत्तरोंके अनुकूल ही इन्द्रादिसे कहें, प्रतिकूल न कहें] ॥ ३७

निरस्य दूतः स्म तथा विसर्जितः प्रियोक्तिरप्याह कदुष्णमक्षरम् ।
कुतूहलेनेव मुहुः कुहूरवं विडम्ब्य डिम्भेन पिकः प्रकोपितः ॥ ३८ ॥

निरस्येति । स दूतः तथा तेन प्रकारेण निरस्य न्यक्कृत्य विसर्जितः सन्
हलेन हेतुना डिम्भेन शिशुना मुहुः कुहूरवं विडम्ब्य अनुकृत्य प्रकोपितः
कोकिल इव प्रिया उक्तिः वचनं यस्य स तादृशोऽपि कदुष्णमीषत्परुषं, "कवं
इति कोः कदादेशः । अक्षरं वाक्यमाह ॥ ३८ ॥

उस प्रकार (श्लो० ३०–३७ पाठा०—दमयन्ती तथा दमयन्तीकी ओरसे बोलने
उसकी सखीसे) खण्डनकर प्रेषितप्राय (प्रायः भेजा गया-सा) प्रिय भाषण करनेवाला
दूत (नल), बालकके द्वारा कौतूहलसे बार बार 'कूहू' शब्दका अनुकरण कर रुष्ट किये
कोकिलके समान कुछ कटु अक्षर (अप्रिय वचन) कहने लगा-(अथवा—खण्डितकर
जित दूत उस प्रकार प्रियभाषी भी दूत···) । [जब कोयल बोलता है, तब बालक
शब्दको सुननेके लिये उसके शब्दका अनुकरण 'कुहू–कुहू' शब्द करते हैं, उससे वह

गया है ऐसी कोयलकी प्रकृति है; उसी प्रकार दूत नल भी दमयन्तीके बारबार आग्रह कुछ रूक्षतायुक्त वचन बोले] ॥ ३८ ॥

हो मनस्त्वामनु तेऽपि तन्वते त्वमप्यमीभ्यो विमुखीति कौतुकम् ।
वा निधिर्निर्धनमेति किञ्च तं स वा[1] कवाटं घटयन्निरस्यति ॥३९॥

इति। ते इन्द्रादयोऽपि त्वामनु त्वामुद्दिश्य मनस्तन्वते कुर्वन्ति अहो त्वमपि अमीभ्य इन्द्रादिभ्यः विमुखी पराङ्मुखीति यत्कौतुकं चित्रमि- किञ्च क्व वा लोके निधिर्निर्धनमेति, क्व वा स निर्धनः कदाचिद्दैवयोगादा- तं निधिं वा कवाटं घटयन् निरस्यति द्वारं पिधाय निषेधतीत्यर्थः। ईदृशं मिति दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ३९ ॥

(अतिशय श्रेष्ठ इन्द्रादि) तुम्हारे प्रति (या–पीछे) मन को बढ़ाते हैं अर्थात् तुम्हें है, यह (उत्तम देवोंका निकृष्ट मानुषीको चाहना) आश्चर्य है। तुम भी उन (श्रेष्ठ) से पराङ्मुख हो, यह बड़ा आश्चर्य है। निधि दरिद्रको कहां आती है ? अथवा किवाड़ बन्दकर (पाठा०—वह दरिद्र वचनरूपी किवाड़ बन्द करता हुआ) हां रोकता है ? । ['हीन व्यक्तिको श्रेष्ठ व्यक्ति चाहे' यह आश्चर्य की बात है और व्यक्ति श्रेष्ठ व्यक्तिके चाहने पर भी उससे विमुख रहे (उसे न चाहे)' यह और की बात है। इस कारण 'इन्द्रके चाहने पर भी तुम उन्हें नहीं चाहती' यह बड़े की बात है; क्योंकि दरिद्र व्यक्तिके पास महानिधि कहीं भी नहीं आती, और उसके दरिद्र उसे रोकनेके लिये किवाड़ बन्द नहीं करता ये दोनो बातें एकसे एक बढ़कर त करनेवाली हैं। तुम्हें इन्द्रका चाहना दरिद्रके पास निधि आनेके समान तथा उन्हें मना करना आये हुए निधिको रोकनेके लिये किवाड़ बन्द करनेके समान है। कहीं देखा ही गया और न सुना ही गया, अतः तुम्हारा देवों से विमुख होना अनुचित है] ॥ ३९ ॥

हाखिलस्त्रीषु वहेऽवहेलया महेन्द्ररागाद्गुरुमादरं त्वयि ।
मीदृशि श्रेयसि संमुखेऽपि तं[2] पराङ्मुखी चन्द्रमुखि ! न्यवीवृतः ॥

इति। हे चन्द्रमुखि ! महेन्द्रस्य रागाद्धेतोः। त्वयि गुरुं महान्तमादरमखिल- विषये अवहेलया अनादरेण सह वहे त्वय्यादरमन्यास्वनादरं च वहामि, भाग्यवतीं मन्य इत्यर्थः। वहेः स्वरितेत्त्वादात्मनेपदं, सहोक्तिरलङ्कारः। श्रेयसि सन्मुखे अभिमुखे सत्यपि त्वं पराङ्मुखी सती, तं पूर्वोक्तमादरं वृतः निवर्तितवत्यसि। वृतेर्णौ चङि सिचि रूपम्। "उरदि"त्यकारे सन्वद्भावे कारः ॥ ४० ॥

चन्द्रमुखि ! तुममें इन्द्रके अनुराग करनेसे मैं सम्पूर्ण स्त्रियोंमें अनादरके साथ अधिक

---

[1] "वाक्कवाटम्" इति पाठान्तरम्। [2] "किम्" इति पाठान्तरम्।

आदर करता हूं (अथवा—हे चन्द्रमुखि ! इन्द्रके······साथ तुममें अधिक आदर कर ऐसे कल्याणके सामने आनेपर भी तुम विमुख होती हुई (उस कल्याणसे मुंह मोड़ती उसको वापस लौटा रही हो (पाठा०—विमुख होती हुई क्यों वापस लौटा रही ['देवराज इन्द्र भी तुममें अनुराग करते हैं, इस कारण तुम ही परम सुन्दरी हो, स्त्रियां नहीं, इस प्रकार मैं तुमको अधिक आदर तथा दूसरी स्त्रियोंको अनादरसे दे परन्तु ऐसे सामने आये हुए कल्याणको पराङ्मुखी होकर लौटानेसे मैं अब तुम्हें मानता हूँ, पूर्वोक्त श्लोक (३८) के अनुसार नलने कुछ कटु वचन कहा] ॥ ४०॥

दिवौकसं कामयते न मानवी नवीनमश्रावि[1] तवाननादिदम्।
कथं न वा दुर्ग्रह दोष एष ते हितेन सम्यग्गुरुणापि शाम्यते ॥४

दिवौकसमिति । मानवी मानुषी, दिवौकसं देवं न कामयते नापेक्षत इति नवीनमश्रुतपूर्वं वचस्तवाननादश्रावि श्रुतम् [illegible], एष ते तव दुर्ग्रहदोषः सूर्या दोषश्च। 'अथार्कादिनवग्रहाः' इति वैजयन्ती। हितेनाप्तेनानुकूलेन च गुरुणा पि गीष्पतिना च। 'गुरुर्गीष्पतिपित्राद्योः' इत्यमरः। कथं वा सम्यङ् न शाम् निवर्त्यते। शमेर्ण्यन्तात्कर्मणि लट्। गुरुरात्मवतां शास्ता, "किं कुर्वन्ति ग्र केन्द्रस्थाने बृहस्पतौ" इति वचनादपत्यशासने ग्रहान्तरनिरासे च गुर्वोरेवाधि दिति भावः। अत्राभिधायाः प्रकृतार्थनियन्त्रणादप्रकृतार्थप्रतीतिर्ध्वनिरेव न शो

'मानुषी देवको नहीं चाहती है' यह नवीन (नयी बात, पाठा०—विचित्र बात) मुखसे (मैंने) सुनी, ('संसारमें सभी लोग अपनेसे श्रेष्ठ की चाहना करते हैं' सम्मत सिद्धान्तसे विपरीत होने से तुमने विलकुल ही नयी बात कही)। तुम्हारे ग्रह (बुरे हठ) दोषको हित (हितकारी) पिता आदि गुरुजन भी क्यों नहीं अच्छी शान्त (दूर) करते हैं ? अथवा—तुम्हारे अच्छी तरहसे हितकारी पिता आदि गुरु दुराग्रह दोषको क्यों नहीं शान्त करते हैं ?। तुम्हारे हितैषी पिता आदि गुरुजनको कि तुम्हारे इस दुराग्रह को छुड़ाकर तुम्हें इन्द्र आदि देवोंमें से किसी एकको वरण उपदेश दें। अथवा-तुम्हारे इस दुष्ट ग्रह अर्थात् शनि-सूर्य आदिके दोष अर्थात् आदिको (केन्द्र या उच्च स्थानमें रहनेसे) हितकारक गुरु (बृहस्पति ग्रह) क्यों सर्वथा शान्त करते हैं ! अथवा—तुम्हारे वरण-सम्बन्धी इन्द्रादिके आग्रह दोषको आचार्य) गुरु भी क्यों नहीं सर्वथा दूर करते ? तुम्हारा दुराग्रह हितकारक पिता आदि, श्रेष्ठस्थान (केन्द्र) आदिपर स्थित होनेसे हित (उस दोषका नाशक) बृहस्पति नहीं सर्वथा शान्त करता ? अथ च इन्द्रके तुम्हारे विषयमें अनुरागको अपना शिष्य बृहस्पतिरूप गुरु क्यों नहीं सर्वथा दूर करेगा ?, अथवा—सर्वत्र 'सम्यक्' शब्दका 'हित' शब्दके साथ करके अर्थ लगाना चाहिये] ॥ ४१ ॥

---

[1] "विचित्र" इति पाठान्तरम् ।

नुग्रहादेव दिवौकसां नरो निरस्य मानुष्यकमेति दिव्यताम् ।
योऽधिकारे स्वरितत्वमिष्यते कुतोऽयसां सिद्धरसस्पृशामपि ॥४२॥

मानुषीं देवा न ग्रहीष्यन्तीति यदि तदपि नेत्याह—अनुग्रहादिति । दिव- वं द्यौरोको येषामिति वा पृषोदरादित्वात्साधुः । तेषां दिवौकसां देवाना- व नरो मानुष्यकं मनुष्यभावं निरस्य "योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्" इति स्ये"ति लोपे "प्रकृत्याऽके राजन्यमनुष्ययुवान" इति प्रकृतिभावा"दपत्यस्य ऽनाती"ति यलोपाभावः । दिव्यतामेति तत्परिग्रहाद्देवभूयमपि ते भवितेति था हि—रसः पारदः । 'देहधात्वम्बुपारद' इति रसशब्दार्थेषु विश्वः । स हि लाल्लोहान्तरसुवर्णीकरणे समर्थः सिद्धरस उच्यते । तत्स्पृशामयसामपि र्णीभूतायसामपीत्यर्थः । अयोऽधिकारे अयःप्रस्तावे स्वरितत्वमधिकृतत्वं णनेति यावत् । "स्वरितेनाधिकार" इति वैयाकरणपरिभाषाश्रयणादेवं । स्वृ शब्दोपतापयोरिति धातोर्दैवादिकात् क्तः । कुत इष्यते नेष्यत । रसस्पृष्टायसः स्वर्णीभाव इव तवापि तत्स्पृष्टाया देवत्वमेव न मानुष- कं । अत्र दृष्टान्तालङ्कारः स्पष्टः ॥ ४२ ॥

देवोंके अनुग्रहसे ही मनुष्यभाव को छोड़कर दिव्यभाव (देवत्व) को पाता मनुष्यसे देव बन जाता है । औषधादि से सिद्ध पारद (पारा) का स्पर्श करने वालोंका लोहेके अधिकार (प्रस्ताव) में (पाठा०—विकारमें अर्थात् लोहेके बने)पना कहां से होती है अर्थात् नहीं होती । [जिस प्रकार औषधसे तैयार किये के स्पर्शसे जब लोहा सोना बन जाता है, तब उसे लोह नहीं कहा जाता, किन्तु जाता है; उसी प्रकार जब इन्द्रादि देवोंमें से किसीको वरण कर लेगी, तब तुम र रह कर देवी बन जाओगी, क्योंकि देवोंके अनुग्रहसे जब सामान्य मनुष्य भी ता है तब जिस तुमको देव बड़े अनुरागसे चाहते हैं, उस तुमको मानुषी नहीं , किन्तु देवी बना लेगें; अत एव देवोंके स्वीकार करने पर तुम मानुषी से देवी गी तब मानुषी देवों को नहीं चाहती यह तुम्हारा कहना भी असङ्गत है तथा— धिकारः (पा० सू० १।३।११)" इस पाणिनिके सूत्र द्वारा अधिकारका अभाव र फिर कहांसे अधिकार हो सकता है ?। देवोंके अनुग्रहसे तुम देवी बन जावोगी, को वरण करो] ॥ ४२ ॥

रिं परित्यज्य नलाभिलाषुका न लज्जसे वा विदुषिब्रुवा कथम् ।
चितेच्छोः करभाच्छमीरतादुरुं वदे त्वां करभोरु ! भो इति ॥४३॥

मिति । हरिमिन्द्रं देवं परित्यज्य नलं नरमभिलाषुका ताच्छील्येनाभिलषन्ती इत्यादिना उकञ् । "न लोक" इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात्कर्मणि द्विती- दिपाठात्समासः । अत एव विदुषी ज्ञात्री "विदेः शतुर्वसुः" "उगित-

श्चेति" ङीप्। ब्रवीतीति ब्रुवा विदुष्या ब्रुवा विदुषीब्रुवेति कर्मणि विदुषीमात्मानं ख्यापयन्ती पण्डितम्मन्येत्यर्थः। "घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगो ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः" इति ह्रस्वः, ब्रुञः पचाद्यच्। एतस्मादेव निपातनाद्गु देशयोरभावः। ईदृशी त्वं कथं न लज्जसे मणिं विहाय काचग्रहणवत्कथं न करमित्यर्थः। अत एवाद्य त्वामहमेवं व्याकरिष्यामीत्याह—उपेक्षितेति। परिहृतेक्षुकाण्डात् शमीरताच्छमीभक्षणलालसात् करभादुष्ट्रात् उरुं मौ न्त्वाम्भोः! करभोरु! हे करभोर्विति सम्बोध्य वदे वक्ष्यामि। भासना ज्ञानार्थे तङ्। न तु करभः करभागविशेषः तद्वदुरू यस्या इति व्युत्पत्त्येत्यर्थः। मणिबन्धादिकनिष्ठान्तर उष्ट्रकः' इत्युभयत्रापि विश्वः। अथ सम्बोधनार्थका प्याट् पाडङ्ग हे है भोः' इत्यव्ययेष्वमरः। चादिपाठान्निपातसंज्ञायाम् 'ओत्' प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिसन्धिः। अनव्ययपक्षेऽपि भवच्छब्दतकारस्य रुत्वादिकार्य स्यासिद्धत्वादवादेशनिवृत्तौ भो इत्येव सन्धिः, किन्त्वत्र स्त्रीसम्बोधने "उगितश्च" इति ङीप्प्रत्यये भवतीति सम्बुद्धिः स्यात्। न तु भो इति। त्यत्र करभ इवोरू यस्या इति "उरूत्तरपदादौपम्य" इत्यूङ्प्रत्ययः। कर भोरूः इति पक्षे तु मनुष्यजातिविवक्षायां ब्रह्मबन्धूरित्यादिवत्। "ऊङुतः" प्रत्यये नदीह्रस्वः। यथाह वामनः—"मनुष्यजातेर्विवक्षाविवक्षे" इति। मुष्ट्रचेष्टितवत् त्वच्चेष्टितं हास्यास्पदं जातमिति भावः ॥ ४३ ॥

१इन्द्रको छोड़कर नल (राजा नल, पक्षा०—नरसल नामका तृण विशेष; रभेदः' इस वचनके अनुसार नर अर्थात् मनुष्य अर्थात् नरसल तृणके समान तु को चाहती हुई तथा अपने को पण्डिता कहती हुई तूँ क्यों नहीं लज्जित करभोरु ! गन्नेको छोड़कर (कड़वी तथा कण्टकादिवाली) शमीमें अनुरक्त (ऊँटसे भी अधिक हीन बुद्धिवाली) तुम्हे क्यों न कहूँ ? [इन्द्रको छोड़कर मानवको चाहने वाली तुममें बुद्धिका लेश भी नहीं है, अतः फिर भी अपनेको समझनेमें तुम्हें लज्जा आनी चाहिये और इस कारण 'तुम मानुषी होने मात्रसे (ऊंटसे बड़ी) हो, हाथीके सूंड या हाथके मणिबन्धसे कनिष्ठा अङ्गुलितकके समान सुन्दर जघन होनेसे 'करभोरू' नहीं हो। अथ च ऊंटसे भी बड़ी अर्थात् मूर्खा हो' ऐसा मैं क्यों न कहूं अर्थात् तुम्हारे विषयमें ऐसा कहना अनुचित ऊंटको भी कभी-कभी ऊँचे-नीचेका ज्ञान होता है, परन्तु तुममें उतना भी नहीं है तुम ऊँटसे भी हीन ज्ञानवाली हो] ॥ ४३ ॥

विहाय हा सर्वसुपर्वनायकं त्वयाहृतः[1] किं नरसाधिमभ्रमः।
मुखं विमुच्य श्वसितस्य धारया वृथैव नासापथधावनश्रमः ॥४४॥

---

[1] "त्वयाधृतः" इति "वृथा धृतः" इति च पाठान्तरे।

ति। किञ्च हा बत ! त्वया सर्वसुपर्वनायकं देवेन्द्रं विहाय नरे मनुष्ये
साधुत्वभ्रान्तिः। पृथ्वादिपाठात् साधोरिमनिच्प्रत्ययः। किं किमर्थं-
अथवा नियतिः केन लङ्घ्यत इत्याशयेनाह—श्वसितस्य धारया निश्वा-
(कर्त्र्या) मुखं मुखद्वारं विपुलं विमुच्य वृथैव नासापथेन नासारन्ध्रे-
धावनश्रम आहृतः खल्विति शेषः। तद्वत्तवापि ईदृशी भवितव्यतेति
ष्टान्तालङ्कारः ॥ ४४ ॥

प्रभु (इन्द्र) को छोड़कर तुमने मनुष्यमें श्रेष्ठताके भ्रमका क्यों आदर
मनुष्यको श्रेष्ठ क्यों समझा ! (अथवा—'रलयोरभेदः' इस नियमके अनुसार
क्यों समझा ?) अथवा—'किंनर—' पद को एक मान कर निन्दित मनुष्य
निन्दित नल, अथवा—देवापेक्षासे हीन 'किन्नर' देव योनि-विशेष) को श्रेष्ठ
; पाठा०—धारण किया, व्यर्थमें धारण किया ? मुख छोड़कर श्वास धारा
) को नाकके मार्गसे चलने का प्रयास करना व्यर्थ है। [सब देवोंके स्वामी
कर मनुष्य (या नल या किन्नर) को उनसे श्रेष्ठ समझने का आग्रह करना
बिलको छोड़कर सङ्कीर्ण नाकके बिलसे श्वास लेनेके श्रमके समान व्यर्थ श्रम
एव तुम ऐसे भ्रममें न पड़कर देवराज इन्द्रको वरण करो] ॥ ४४ ॥

ऽनले जुह्वति सूरयस्तनूर्दिवे फलायान्यजनुर्भविष्णवे ।
पुनः कर्षति सैव विह्वला बलादिव त्वां वलसे न बालिशे ! ॥४५॥

इति। किञ्च सूरयः सन्तः अन्यस्मिन् जनुषि जन्मान्तरे भविष्णवे भाविन्यै।
ष्णुर्भविता' इत्यमरः। "भुवश्च" इति इष्णुच्प्रत्ययः। "भाषायामपीष्यते"
त्वात् पुंवद्भावः। दिवे स्वर्गायैव फलाय तनूः शरीराणि तपोऽनले जुह्वति
। "अदभ्यस्ता" दित्यदादेशः। त्वां पुनः सा प्राणान्तिकतपःसाध्या द्यौरेव
सुका सती बलाद्बलात्कारादिव करे कर्षति हे बालिशे ! मूढे ? 'शिशावज्ञे
' इत्यमरः। न वलसे न चलसि नेच्छसीत्यर्थः। अहो ते दुर्बुद्धिरिति
४५ ॥

लोग दूसरे जन्ममें होने वाले स्वर्ग (की प्राप्ति रूप) फलके लिये तप (चान्द्रा-
तपश्चर्यारूप) अग्निमें अपने शरीरोंको हवन करते हैं अर्थात् चान्द्रायणादि व्रत
को कृश करते हैं, वही (इन्द्रादि रूप स्वर्ग) व्याकुल होकर तुम्हें बार बार
खींच रहा है; (किन्तु) हे मूर्खे ! (तुम उसे) नहीं चाहती (यह आश्चर्य है) ।
को पानेके लिये विद्वान्लोग भी (मूर्ख नहीं या एक ही विद्वान् नहीं; अपि तु
विद्वान्) तपस्यादिके द्वारा अपनेको हवन कर देते हैं, वही स्वर्ग अपने यहां आश्रय
हठपूर्वक तुम्हें बार बार खींच रहा है, फिर भी तुम उसे नहीं चाहती, यह बड़ी
तुम अपना मूर्खता पूर्ण दुराग्रह छोड़कर इन्द्रादिको वरण करो] ॥ ४५ ॥

यदि स्वमुद्बन्धुमना विना नलं भवेर्भवन्तीं हरिरन्तरिक्षगाम्।
दिविस्थितानां प्रथितः पतिस्ततो हरिष्यति न्याय्यमुपेक्षते हि कः।

अथ यदुक्तं नलालाभे हुताशनोद्बन्धनादिना मरिष्यामीति तत्रोत्तरमा
यदीत्यादिना चतुष्टयेन। हे मुग्धे! नलं विना नलालाभे स्वमात्मानमुद्बन्धु
यस्याः सा उद्बन्धुमनाः पाशेन मर्तुकामा। "तुं काममनसोरपि" इति मकारलो
भवेर्यदि स्याश्चेत् ततोऽन्तरिक्षगां भवन्तीं दुर्मरणदोषादन्तरिक्षगतां सतीं स्व
शेषः। दिविस्थितानामन्तरिक्षगतानां स्वर्गतानां च प्रथितः पतिः प्रसिद्धः स्व
हरिरिन्द्रो हरिष्यति ग्रहीष्यति जन्मान्तरेऽपि त्वां न त्यक्ष्यतीत्यर्थः। तथा
न्याय्यं न्यायप्राप्तं वस्तु क उपेक्षते न कोऽपीत्यर्थान्तरन्यासः। अस्वामिक
राजगामित्वं न्याय्यमिति भावः॥ ४६॥

(अब दूत नल पूर्व (५।३५) श्लोकोक्त दमयन्तीके वचनका खण्डन क्रमशः
श्लोकों (५।४६-४९) में कर रहे हैं—) यदि तुम नलके विना अपनेको बाँधनेको (
आदिमें बाँधकर मरने) की इच्छा करती हो तो अन्तरिक्षमें जाती हुई तुमको स्वर्ग
(इन्द्र) वहां से अर्थात् अन्तरिक्षसे हरण कर लेंगे; न्याययुक्त वस्तु की कौन उपेक्षा
है? [आत्महत्या कर जब तुम अन्तरिक्ष में जाने लगोगी तब तुम्हें स्वर्गपति इन्द्र ग्रह
लेंगे, क्योंकि 'विना स्वामीकी वस्तु जिस राजाके राज्यमें जाती है, वह उस राजा
की हो जाती है' इस प्रकारसे भी इन्द्र तुम्हें प्राप्त कर लेंगे, और इन्द्रका वह कार्य
संगत होगा अतः तुम स्वयं ही इन्द्रको वरण कर लो]॥ ४६॥

निवेक्ष्यसे यद्यनले नलोज्झिता सुरे तदस्मिन्महती दयाहता[१]।
चिरादनेनार्थनयापि दुर्लभं स्वयं त्वयैवाङ्ग! यदङ्गमर्प्यते॥४७॥

निवेक्ष्यस इति। हे मुग्धे! नलेनोज्झिता सती अनले निवेक्ष्यसे यदि अ
नैस्पृह्यादग्निं प्रवेक्ष्यसि चेदित्यर्थः। आधारत्वविवक्षया सप्तमी। "नेर्विश" इत्या
नेपदम्। तत् तर्हि अस्मिन्ननले अनलाख्ये सुरेऽपि तदधिष्ठातरि देवे च भू
इति भावः। महती दया आहता कृता स्वीकृतेत्यर्थः। कुतः यद्यस्मादनेना
चिरादर्थनया याञ्चयापि दुर्लभमङ्गं शरीरम्, अङ्ग! अयि! त्वयैव स्वयमा
अर्प्यते दीयते तथा स स्फुटतममेव जीवग्राहं ग्रहीष्यतीति भावः। अत्र नला
जीवितजिहासोरनलग्रहणबुद्धिरूपानर्थोक्तेर्विषमप्रभेदः। "विरुद्धकार्यस्योत्पत्ति
नर्थस्य वा भवेत्। विरूपघटना चासौ विषमालङ्कृतिस्त्रिधेति" लक्षणात्॥ ४७॥

यदि नलसे त्यक्त (नलसे अविवाहित) तुम अनल (अग्नि, पक्षा०—नलभिन्न
नियुक्त होयेगी अर्थात् अग्निमें प्रवेश करोगी, तब इस देव अर्थात् अग्नि पर तुमने
दया का आदर किया अर्थात् दया की (पाठा०—दया धारण की; क्योंकि) चिर

---

१. "दया कृता" इति, "दया धृता" इति च पाठान्तरम्।

दुर्लभ (अपने) शरीरको हे अङ्ग! इस अग्निके लिये, स्वयं समर्पण कर समयमें अग्नि तुम्हारे शरीरकी याचना कर रहे हैं, पर तुम नहीं दे रही में नलके विवाह न करने पर अपने शरीरको मरनेके लिए अग्निमें छोड़ना के लिये स्वयं समर्पण करना, अग्निपर तुम्हारी बड़ी कृपा होगी, क्योंकि आलिङ्गनादिके लिए नायिकासे याचना करने पर न देना तथा बादमें स्वयं र्पण करना नायकके विशेष आनन्दका कारण माना जाता है। क्या करने पर होगा, तुम यह नहीं समझती, अत एव मैं तुम्हें इतना कह रहा हूं यह सूचक 'अङ्ग' पदसे ध्वनित होती है] ॥ ४७ ॥

जितं तत्खलु पाशपाणिना विना नलं वारि यदि प्रवेक्ष्यसि ।
त्वदाख्यान् बहिरप्यसूनसौ पयःपतिर्वक्षसि वक्ष्यतेतराम् ॥४८॥

मिति। हे मुग्धे! नलं विना वारि प्रवेक्ष्यसि यदि मरणार्थमिति शेषः। पाशः पाणौ यस्य तेन पाशपाणिना वरुणेन प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ जितं जितमभीक्ष्णं जितं खलु। भावे क्तः। "नित्यवीप्सयोरि"ति नित्यार्थे 'नित्यमाभीक्ष्ण्ये' इति काशिका। तदा वारिप्रवेशकाले असौ पयःपतिर्व-त्वदाख्यान् त्वन्नामकान्। बहिरप्यसून् बहिर्वर्तिनः प्राणान् वक्षसि वक्ष्यते-स्वरितेत्त्वात् लृटि तङि तरप्यामुप्रत्ययः। सोऽपि त्वां जीवग्राहं ग्रहीष्य-अत एव पूर्व एवालङ्कारः ॥ ४८ ॥

तुम नलके विना (नलके नहीं मिलने पर मरनेके लिए) पानीमें प्रवेश करोगी अवश्य ही जीत लिया (क्योंकि) उस समय (पानीमें प्राणत्याग करनेके लिए करने पर) पानीके स्वामी ये वरुण तुम्हारे नाम वाले अर्थात् दमयन्ती रे प्राणोंको बाहर भी हृदयमें वहन करेंगे। [अब तक तो वरुण तुमको भीतर ही ग्रहण करते हैं, किन्तु जब तुम मरनेके लिये जलमें प्रवेश करोगी तब वे बाहर भी हृदयसे आलिङ्गन करेंगे, यह उनकी बड़ी भारी विजय होगी] ॥४८॥

ष्यसे यद्यत एव दूषणादुपायमन्यं विदुषी स्वमृत्यवे ।
तिथिः स्वेन गता गृहान् कथं न धर्मराजं चरितार्थयिष्यसि ॥४९॥

ष्यस इति। अथ विदुषी पण्डिता विदग्धा त्वं यदि तु अत एव दूषणादे-न्धनादिना स्वमृत्यवे स्वमरणाय अन्यमुपायमनशनादिकं करिष्यसे, तिथिरतिथिप्रिया त्वं स्वेन स्वत एव गृहान् धर्मराजगेहं गता सती धर्म-मतिथिसत्तममिति भावः। कथं न चरितार्थयिष्यसि न कृतार्थं करि-ष्यमेवेदं कृतयुगधर्मत्वात् स्वयं गत्वार्थिमनोरथपूरणस्येति भावः ॥ ४९ ॥

दोष (उद्बन्धन, अग्नि-प्रवेश और जल प्रवेश करनेसे क्रमशः इन्द्र, अग्नि मुझे प्राप्त कर लेंगे इस दोष) से पण्डिता तुम किसी दूसरे उपाय (मरनेका

यत्न) को करोगी तो अतिथिको प्रिय मानने वाली तूँ घरपर आये हुए धर्मराज (क्यों नहीं कृतार्थ करोगी ? [नलके नहीं मिलनेपर उद्बन्धनादि मरण-साधनों कारणों (२।४६-४८) से दूषित समझ कर यदि तुम किसी दूसरे उपायका करेगी तब मरने पर यमके यहां सबका जाना निश्चित होनेसे वे चिराभिलषित कृतार्थ हो जायेंगे; अत एव किसी प्रकार भी नलको न पाकर मरनेमें इन्द्रादि से कोई एक तुम्हें पालेगा यह सोच कर तुम्हें नलको वरण करनेका दुराग्रह इन्द्रादिमें से किसी एकका वरण कर लेना ही श्रेयस्कर है] ॥ ४९ ॥

निषेधवेषो विधिरेष तेऽथवा तवैव युक्ता खलु वाचि वक्रता।
विजृम्भितं यस्य किल ध्वनेरिदं विदग्धनारीवदनं तदाकरः ॥५०

निषेधेति । हे विदग्धे ! अथवा तव एष इन्द्रादिनिषेधो निषेधवेषो विधिरङ्गीकार एव । तथा हि-वाचि वचने वक्रता वक्रोक्तिचातुरी रीति यावत्। सा तवैव युक्ता खलु । कुतः, इदं वक्रवाक्यं वञ्चनाचातुर्यं व्यंञ्जकवृत्तेर्विजृम्भितं विजृम्भणं, "नपुंसके भावे क्तः" । विदग्धनारीवदनं स्त्रीमुखं तदाकरस्तस्य ध्वनेरुत्पत्तिस्थानमित्यर्थान्तरन्यासः । ततः स्थूणा न्यायेन विधिमेव द्रढयितुमेतन्निषेधनाटकमिति निषेधेन विधिरेव भावः ॥ ५० ॥

अथवा निषेधरूपमें यह तुम्हारी स्वीकृति ही है अर्थात् तुम इन्द्रादि को स्वीकार रही है (क्योंकि) तुम्हारे ही वचनमें व्यङ्गयोक्ति उचित है। जिस ध्वनि-(नामक उत्तम काव्य) का यह विजृम्भित (विलास) है, चतुर स्त्रियोंका मुख उस(का खजाना है अर्थात् चतुर स्त्रियोंके मुखसे ही उत्तमरूपसे व्यङ्गयके बाहुल्य देखी जाती है ॥ [तुम व्यङ्गयपूर्वक निषेध करती हुई भी इन्द्रादिको स्वीकार ही हो ऐसा मैं मानता हूं] ॥ ५० ॥

भ्रमामि ते भैमि ! सरस्वतीरसप्रवाहचक्रेषु[1] निपत्य कत्यदः।
त्रपामपाकृत्य मनाक् कुरु स्फुटं कृतार्थनीयः कतमः सुरोत्तमः ॥५

एवं सुरस्वीकारपक्षमेव सिद्धवत्कृत्य निर्बंध्य पृच्छति—भ्रमामीति। हे ते तव सरस्वती वाक् नदीभेदश्च;तस्यारसः शृङ्गारो जलञ्च तस्य प्रवाहस्तस्य पुटभेदाख्यावर्तेषु वक्रोक्तिरूपेष्वित्यर्थः। वक्रेष्विति पाठेऽप्ययमेवार्थः। पुटभेदाः स्युरित्यत्र' 'वक्राणीति' पाठस्यापि स्वामिनाङ्गीकारात् । कति कियन्त चक्राणि यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा निपत्य भ्रमामि मुह्याम्यावर्ते च। अत्र प्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायान्निपातनादिक्रियानिर्वाहः। अलं वक्रोक्त्येति किन्तु कतमः सुरोत्तमः कृतार्थनीयो वरणीयः ? एतदेव त्रपां मनागपाकृत्य

---

[1] वक्रेषु" इति पाठान्तरम् ।

स्फुटं कुरु व्यक्तं ब्रूहीत्यर्थः। नात्र लज्जितव्यम्, "आहारे व्यवहारे च त्यक्त-सुखी भवेदिति" न्यायादिति भावः ॥ ५१ ॥

हे दमयन्ति ! तुम्हारी वाणीके रस माधुर्य (पक्षा०—सरस्वती नदीका जल) के (वक्रोक्ति आदि पक्षा०—धारा) के चक्रों (समूहों, पक्षा०—भँवरों) में गिरकर घूमूंगा भ्रममें पड़ा रहूंगा (पक्षा०—चक्कर लगाता रहूंगा)? (अतः) लज्जाको कम कर स्पष्ट करो (अथवा—लज्जाको कम कर थोड़ा स्पष्ट करो अर्थात् संकेत करो—) किस देव श्रेष्ठको (वरण करनेसे) कृतार्थ करोगी ?। [जिस प्रकार कोई व्यक्ति जल प्रवाहके भँवरमें पड़कर चक्कर काटता रहता है, उसी प्रकार मैं तुम्हारे रसयुक्त वक्रोक्त्यादिके समूहमें पड़कर यह नहीं निर्णय कर सका हूं कि तुम्हारा स्पष्ट क्या है ? अर्थात् किस देवश्रेष्ठ (दिक्पाल होनेसे या तुम्हारे वरण करनेसे देवश्रेष्ठवा होना उचित ही है) को वरण करोगी ? अतः थोड़ा सङ्कोच छोड़कर स्पष्ट कहो] ॥५१॥

मतः किमैरावतकुम्भकैतवप्रगल्भपीनस्तनदिग्धवस्तव ।
सहस्रनेत्रान्न पृथङ् मते मम त्वदङ्गलक्ष्मीमवगाहितुं क्षमः ॥ ५२ ॥

अथैकस्मिन्नेव नामग्राहमनुरागमष्टभिः पृच्छति—मत इत्यादि। हे भैमि ? वतकुम्भयोः कैतवेन मिषेणेत्यपह्नवभेदः। प्रगल्भौ कठोरौ पीनौ च स्तनौ यस्या-स्याः दिशः प्राच्याः धवः पतिरिन्द्रस्तव मतः सम्मतः किम् ? 'किंशब्दः प्रश्ने। बुद्धी" त्यादिना वर्तमाने क्तः। क्तस्य च वर्तमान इति तद्योगात्तवेति षष्ठी। एतदित्याह—मम मते मत्पक्षे त्वदङ्गस्य लक्ष्मीं लावण्यसम्पदमवगाहितुं सम्य-ष्टुं सहस्रनेत्रात् सहस्राक्षात् पृथगन्योऽपि इत्यर्थः। "पृथग्विने" त्यादिना पञ्चमी। क्षमो न। अत्रोत्तरवाक्यार्थेन पूर्ववाक्यार्थसमर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्य-म्। 'हेतोर्वाक्यार्थहेतुत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति लक्षणात्। तस्य पूर्वोक्ता-न संसृष्टिः ॥ ५२ ॥

ऐरावतके कुम्भ (मस्तकस्थ मांसपिण्ड) के व्याजसे कठोरस्तनवाली दिशा (पूर्व दिशा) का पति अर्थात् इन्द्र तुम्हें अभीष्ट है क्या ?, मेरे मतमें इन्द्रके विना (दूसरा कोई) तुम्हारे शरीरकी शोभाको देखनेमें समर्थ नहीं है। [तुम्हारे सम्पूर्ण शरीरमें शोभा फैली हुई है, उसे एक साथ सम्यक् प्रकारसे देखनेके लिये अधिक (सहस्र) नेत्रों वाला इन्द्र ही समर्थ हो सकता है, दूसरा कोई दो नेत्रवाला नहीं; अत एव तुम इन्द्रको चाहती हो तो मेरी भी इसमें सम्मति है] ॥ ५२] ॥

प्रसीद तस्मिन् दमयन्ति ! सन्ततं त्वदङ्गसङ्गप्रभवैर्जगत्प्रभुः ।
पुलोमजालोचनतीक्ष्णकण्टकैस्तनुं घनामातनुतां स कण्टकैः ॥५३॥

प्रसीदेति। हे दमयन्ति ! तस्मै इन्द्राय प्रसीद प्रसन्ना भव। क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी। जगत्प्रभुः स इन्द्रः सन्ततं तनुं निजाङ्गं त्वदङ्गसङ्गप्रभवैरत एव पुलोमजायाः शच्याः

लोचनयोस्तीक्ष्णकण्टकैर्निशितबर्बुरादिद्रुमावयवविशेषैस्तथा व्यथाकरैः सपत्नीभावै रित्यर्थः । कण्टकैः पुलकैः 'वेणौ द्रुमाङ्गे रोमाञ्चे क्षुद्रशत्रौ च कण्टकः' इति उभयत्रा वैजयन्ती । घनां सान्द्रामातनुतां करोतु, शच्याः सपत्नी भवेत्यर्थः । अत्र पुलके कण्टकत्वारोपाद्रूपकालङ्कारः ॥ ५३ ॥

हे दमयन्ति ! उन (इन्द्र) के लिये प्रसन्न होवो, संसारके स्वामी (वे इन्द्र) तुम्हारे शरीरके सङ्ग (आलिङ्गनादि स्पर्श) से उत्पन्न (तथा सौतमें प्रेम करनेसे इन्द्राणीके नेत्रोंके लिये तीक्ष्ण काँटे) रोमाञ्चोंसे शरीरको सर्वदा परिपूर्ण करें । [तुम्हारे आलिङ्गनादि जब इन्द्रके शरीरमें पूर्णतया रोमाञ्च होगा, तब सौतमें प्रेम करनेके कारण वह रोमाञ्च इन्द्राणीके नेत्रोंके तीक्ष्ण काँटोंके समान मालूम पड़ेगा । अथ च—सौतके शरीरसे उत्प सन्तानको पतिके क्रोडमें देखनेसे दूसरी सौतके नेत्रोंमें काँटे-जैसा चुभता है, उसे वह नहीं सहन करती, अतः तुम्हारे शरीरके सङ्गसे उत्पन्न कण्टक (रोमाञ्च, पक्षा०—सन्तान) को पति इन्द्रके शरीरमें देखनेसे इन्द्राणीको काँटे चुभने-जैसी वेदना होगी ॥ तुम इन्द्रको वरण करो] ॥ ५३ ॥

[1]अबोधि तत्त्वं दहनेऽनुरज्यसे स्वयं खलु क्षत्रियगोत्रजन्मनः ।
विना तमोजस्विनमन्यतः कथं मनोरथस्ते वलते विलासिनि ॥५४॥

अबोधीति । हे विलासिनि ! विलासशीले ! "वौ कषलसकत्थस्रम्भः" इति घिनुणप्रत्ययः । तत्त्वं त्वन्मनोरथस्वरूपमबोधि बुद्धम् । कर्मणि लुङ् । तदेवाह-स्वयं स्वमित्यर्थः । दहने जातवेदसि अग्निदेवे अनुरज्यसे अनुरक्तासि खलु । रञ्जेर्देवादिकात् स्वरितेतः कर्तरि लट् । "अनिदिताम्" इत्यादिना अनुनासिकलोपः । कुतः, क्षत्रियगोत्रे जन्म यस्यास्तस्यास्ते ओजस्विवंशजाया इत्यर्थः । मनोरथः ओजस्विनं तमग्निं विनाऽन्यतोऽन्यत्र सार्वविभक्तिकस्तसिः । कथं वलते प्रवर्तते न कथमपी त्यर्थः । एतेनोभयोरोजस्वित्वेन समागमानुरूप्याद्दहनानुरागित्वं ते युक्तमिति समर्थ नाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं व्यक्तमेव ॥ ५४ ॥

स्वयं (विना किसीकी प्रेरणा किये ही) अग्निमें अनुरक्त हो रही हो तुम्हारे मनोरथका स्वरूप मैंने समझ लिया । क्षत्रिय वंशमें उत्पन्न हुई तुम्हारा मनोरथ (अभिलाषा, पक्षा०—मनोरूपा या मनके समान तीव्रगामी रथ) उस तेजस्वी (अग्नि) के विना दूसरे (तेजसे हीन किसी व्यक्ति) में प्रवृत्त होता है ? अर्थात् नहीं होता है । [तुम क्षत्रिय वंशमें उत्पन्न होनेसे तेजस्विनी हो, और तेजस्विनीका तेजस्वी व्यक्ति में ही अनुराग होना उचित है, क्योंकि तेजस्वी व्यक्तिका मनके तुल्य रथ या वाहना अन्य किन् ब्राह्मणादि शान्त व्यक्तिके प्रति कभी नहीं जाता, अतः तुम्हारा अग्निमें स्नेह करना ठीक है]॥

---

[1] "असंशयं रज्यसि जातवेदसि" इति पाठान्तरम् ।

त्वयैकपत्न्या तनुतापशङ्कया ततो निवर्त्यं न मनः कथञ्चन ।
हिमोपमा तस्य परीक्षणक्षणे सतीषु वृत्तिः शतशो निरूपिता ॥५५॥

च दाहाद्भेतव्यमित्याह—त्वयेति । एकपत्न्या मुख्यपतिव्रतया, अत एव त्वया शङ्कया देहदाहसम्भावनया वा ततोऽग्नेर्मनः कथञ्चन कथञ्चिदपि न निवर्त्यं निवर्तयितव्यं, वृतेर्ण्यन्ता "दचो यदिति" यत्प्रत्ययः । कुतस्तस्याग्नेः परीक्षणक्षणे र्वेन पातिव्रत्यपरीक्षावसरे सतीषु विषये हिमेनोपमा साम्यं यस्यास्सा वृत्तिः । शतकृत्वो निरूपिता निर्धारिता, न तु घुणाक्षरवत् सकृदित्यर्थः । तस्मात् व भेतव्यं प्रत्युत स एव साध्वीं त्वां दग्धुं बिभेतीति भावः । अत्र पूर्ववाक्यस्यै- पदार्थहेतुकत्वात्पदार्थहेतुकमेकं काव्यलिङ्गम्, तस्याप्युत्तरवाक्यार्थहेतुकत्वाद्वा- हेतुकञ्चेत्यनयोः, सङ्करः ॥ ५५ ॥

मुख्य पांतव्रता तुमको (अपने) शरीरके सन्तापकी शङ्कासे उस (अग्नि) से मनको प्रकार नहीं लौटाना चाहिये अर्थात् तुम्हें अग्निमें ही अनुरक्त रहना चाहिये; कि) परीक्षा (सतीत्व आदिकी परीक्षा) के समयमें उस (अग्नि) का व्यवहार ताओं (के विषय) में सैकड़ों बार (अथवा—सैकड़ों पतिव्रताओंमें) हिम (बर्फ) के (ठण्डा) निश्चित हो चुका है । [यह प्रसिद्ध एवं सबके अनुभवसे सिद्ध बात है कि सन्तापकारक है, परन्तु जब-जब सतियोंकी परीक्षा हुई है तब तब उनके विषयमें सन्तापकारक अर्थात् उष्ण न होकर शीतल हो गयी है, और तुम भी सतियोंमें हो, अतः तुम्हें अग्निसे सन्तापजन्य पीडा होनेका भय नहीं करना चाहिये] ॥५५॥

स धर्मराजः खलु धर्मशीलया त्वयास्ति चित्तातिथितामवापितः ।
ममापि साधु[1] प्रतिभात्ययं क्रमश्चकास्ति योग्येन हि योग्यसङ्गमः ॥५६॥

प इति । अथवा स प्रसिद्धो धर्मराजो यमः धर्मं शीलयतीति धर्मशीला धर्म- णी । "शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः" । तया त्वया चित्तातिथितां चित्तगो- मवापितोऽस्ति खलु ? कामितः किमित्यर्थः । खलुशब्दो जिज्ञासायाम् । वाक्यालङ्कारजिज्ञासानुनये खलु' इत्यमरः । तथा चेद्वरमित्याह—ममाप्ययं क्रमणं प्रवृत्तिः साधु यथा तथा प्रतिभाति परिस्फुरति । तथा हि—योग्येन सह स्य समागमः सम्बन्धश्चकास्ति शोभते, उभयोर्धार्मिकत्वादिति भावः । अर्था- न्यासोऽलङ्कारः ॥ ५६ ॥

धर्मशील तुमने धर्मराजको मनका अतिथि बनाया है अर्थात् तुम धर्मराजको मनसे हो क्या ? । मुझे भी यह क्रम (प्रवृत्ति) अच्छी जचती है; क्योंकि योग्यके साथ (ही) सङ्गम शोभता है । ['धर्मशील तुम धर्मराजको चाहती हो' इस विषयमें की सम्मति है, अत एव तुम धर्मराज (यम) को अवश्य वरण करो] ॥ ५६ ॥

---

1. "साधुः" इति पाठान्तरम् ।

अजातविच्छेदलवैः स्मरोत्सवै[1]रगस्त्यभासा दिशि निर्मलत्विषि ।
धुतावधिं कालममृत्युशङ्किता निमेषवत्तेन नयस्व केलिभिः ॥ ५७ ॥

अजातेति । हे भैमि! अगस्त्यभासा निर्मलत्विषि दिशि दक्षिणस्यां दिशीत्यर्थः तेन धर्मराजेन सह । "वृद्धो यूने"ति ज्ञापकात् सहाप्रयोगेऽपि सहार्थे तृतीया। अविद्यमानं मृत्युशङ्कितं मरणशङ्का यस्याः सा सती अन्तकस्यैवात्मदासत्वादि भावः । अजातो विच्छेदलवो विघ्नलेशो येषु तैः स्मरोत्सवैः सम्भोगैरेव केलिभिर्वि नोदैः धुतोऽवधिरन्तो यस्य तमनन्तकालं निमेषवत् निमेषतुल्यं नयस्व याप वरान्तरस्वीकारे दुर्लभमिदं सौभाग्यमिति भावः ॥ ५७ ॥

अगस्त्य (अगस्त्य मुनि या अगस्त्य नक्षत्र) के प्रकाशसे निर्मल कान्तिवाली दि (दक्षिण दिशा) में उस (यम) के साथ (यमके ही अपना पति होनेसे) मृत्युकी शङ्का रहित होकर लेशमात्र भी भङ्ग नहीं होने वाली कामके उत्सवरूप (पाठा०—कामसे उत्प क्रीडाओंसे निरवधि अर्थात् अनन्त समयको निमेषके समान व्यतीत करो । [अगस्त्य मुनि प्रसन्न होकर यमकी दक्षिण दिशाको निर्मल करते हैं, उस दिशामें; और लोगोंके मारनेवा होने पर भी पति होनेसे अपने मरनेकी शङ्का छोड़कर निरन्तर होनेवाली कामक्रीडा अनन्त समयको निमेष मात्र समयके समान (सुख का बहुत अधिक समय भी अत्यन्त थोड़ा ज्ञात होता है अतः अधिक आनन्द दायक होने से अनन्त समय भी तुम्हें निमेषके बराबर मालूम पड़ेगा) व्यतीत करो। तुम धर्मराजको वरण कर अनन्त समय तक उनके साथ काम क्रीडा करो] ॥ ५७ ॥

शिरीषमृद्वी वरुणं किमीहसे पयःप्रकृत्या मृदुवर्गवासवम् ।
विहाय सर्वान् वृणुते स्म किन्न सा निशापि शीतांशुमनेन हेतुना॥

शिरीषेति । अथवा शिरीषमृद्वी त्वं पयःप्रकृत्या जलस्वभावेन वरुणशरीरस्य तथात्वात् कारणगुणवशेनेत्यर्थः । मृदुवर्गे वासवमिन्द्रं श्रेष्ठं वरुणमीहसे किमिच्छसि वा ? तदपि योग्यमेवेति शेषः । तथा हि—सा मृदुस्वभावा निशापि अनेनैव मृदुस्व भावत्वेन हेतुना कारणेन । "सर्वनाम्नस्तृतीया च" इति तृतीया । सर्वांस्तीक्ष्णान् सूर्यादीन् विहाय शीतांशुं न वृणुते स्म किम् ? वृणुत एव । दृष्टान्तालङ्कारः ॥५८॥

शिरीष (के फूल) के समान कोमल तुम जल–प्रकृतिक होनेसे कोमल पदार्थोंके इन्द्र अर्थात् सबसे अधिक कोमल वरुणको चाहती हो क्या ? वह (विख्यात) रात्रि भी इस कारण सबोंको छोड़कर (कठिन पदार्थों या सूर्य आदि कठिन ग्रहों) को छोड़कर ठण्डे किरणों वाले चन्द्रमा को नहीं वरण करती है क्या ? अर्थात् अवश्य वरण करती है। [जिस प्रकार कोमल स्वभाववाली रात्रि अन्य ग्रह या कठिन पदार्थों को छोड़ कर कोमल चन्द्रमा को वरण करती है, उसी प्रकार शिरीषके–पुष्पोंके समान कोमलाङ्गी तुम जलस्वभाव

---

[1] "स्मरोद्भवैः" इति पाठान्तरम् ।

से अतिशय कोमल वरुणको वरण करना चाहती हो तो यह चाहना उत्तम है ॥ [मृदु होनेके कारण तुम भी अन्य इन्द्र, अग्नि, यमको छोड़कर अतिशय कोमल प्रकृति वरुणको वरण करो] ॥ ५८ ॥

असेवि यस्त्यक्तदिवा दिवानिशं श्रियः प्रियेणानणुरामणीयकः ॥
सहामुना तत्र पयःपयोनिधौ कृशोदरि! क्रीड यथामनोरथम् ॥५९॥

असेवीति। हे कृशोदरि ! अनणु महद्रामणीयकं रमणीयत्वं यस्य सोऽतिरमणीयो यः पयःपयोनिधिः त्यक्ता द्यौः येन तेन श्रियः प्रियेण लक्ष्मीपतिना दिवा च निशा च दिवानिशमहोरात्रयोरित्यर्थः। द्वन्द्वैकवद्भावे अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। असेवि सेवितः। तत्र पयःपयोनिधौ क्षीराब्धौ अमुना वरुणेन सह यथामनोरथं यथेच्छं क्रीड, लक्ष्मीनारायणवदिति भावः ॥ ५९ ॥

लक्ष्मीके पति (विष्णु) ने स्वर्गको छोड़कर रात–दिन अतिशय सौन्दर्यवाले जिसका सेवन किया है, हे कृशोदरि ? उस क्षीरसमुद्र (या समुद्र) में इस (वरुण) के साथ इच्छानुसार क्रीडा करो। [स्वर्गको भी छोड़कर विष्णु भगवान् रात–दिन पयोनिधिमें रहते हैं, अतः ज्ञात होता है कि वह स्वर्गसे भी अधिक सुन्दर है, और वह पयोनिधि इस वरुणको स्वीकार करनेसे इच्छापूर्वक क्रीडा करनेके लिए तुम्हें प्राप्त हो रहा है, अतएव तुम वरुणको स्वीकारकर पयोनिधिमें विष्णुके समान क्रीडा करो] ॥ ५९ ॥

इति स्फुटं तद्वचसस्तयादरात् सुरस्पृहारोपविडम्बनादपि ।
कराङ्कसुप्तैककपोलकर्णया श्रुतञ्च तद्भाषितमश्रुतञ्च तत् ॥ ६० ॥

इतीति। इतीत्थं स्फुटं स्फुटार्थं तत्पूर्वोक्तं तद्भाषितं नलवाक्यं तद्वचसो नलवचसः आदरात् सम्बन्धसामान्ये षष्ठी। तद्वचनस्यानुरागाच्चेत्यर्थः। सुरेष्विन्द्रादिषु स्पृहाया अभिलाषस्यारोप एव विडम्बनं परिहासः तस्मादपि कारणात् कराङ्के करोत्सङ्गे सुप्तं विश्रान्तमेकं कपोलकर्णं द्वन्द्वादौ श्रुतस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धादेककपोल एककर्णश्च यस्यास्तयेत्यर्थः। तया दमयन्त्या श्रुतमश्रुतञ्च सुरस्पृहारोपरोपात् करतलेनैकं कर्णं पिधाय नलादरादेकेन श्रुतं नतु द्वाभ्यामित्यर्थः। एककपोलरोधस्तु चिन्तावशादिति मन्तव्यम्। अत्रादरविडम्बनयोः श्रुताश्रुताभ्यां हेतुहेतुमद्भावेन यथासङ्ख्यसम्बन्धात् यथासङ्ख्यालङ्कारः ॥ ६० ॥

इस प्रकार (श्लो० ३८–५९) स्पष्ट नलके वचनको एक हाथ पर कपोल तथा कानको रखी हुई उस (दमयन्ती) ने उस (नलाकृति दूत) के वचनको आदरसे तथा देवोंमें स्पृहाके आरोपकी विडम्बनासे क्रमशः सुना भी और नहीं भी सुना। [दमयन्ती नलाकृतिको दूतमें देखकर उनके वचन को सुननेमें उत्सुक थी और यह दूत इन्द्रादि देवोंमें स्पृहा रखनेवाली निःसार बातें कह रहा है जिनको कि पतिव्रताधर्मके विपरीत होनेसे नहीं सुनना चाहती थी, इस प्रकार हाथके ऊपर कपोल तथा कान रखे हुए दमयन्तीने नलाकृति सुन्दर होनेके आदरसे

उस वचनको सुना तथा देवविषयक स्पृहासे परिपूर्ण होनेसे निःसार उस बातको नहीं सु
हाथपर कपोल तथा कानके रखनेसे पतिव्रता दमयन्तीने एक कान बन्द कर लिया था,
एक कानके द्वारा सुना गया वचनका आधा सुना जाना उचित ही है। हाथपर कपोल रखने
दमयन्तीका उक्तबातको सुनते हुए चिन्तित होना सूचित होता है] ॥ ६० ॥

चिरादनध्यायमवाङ्मुखी मुखे ततः स्म सा वासयते दमस्वसः।
कृतायतश्वासविमोक्षणाथ तं क्षणाद्बभाषे करुणं विचक्षणा ॥ ६१॥

चिरादिति। ततो नलवाक्यानन्तरं सा दमस्वसा दमयन्ती अवाङ्मुखी चिन्
भरात् नम्रमुखी सती मुखे वाचि चिराच्चिरमनध्यायं मौनम्, "अध्यायन्याये
दिना घञन्तो निपातः। "गतिबुद्धि" इत्यादिना अणिकर्तुः कर्मत्वम्। वासयते
वासितवती, लटि "लट् स्मे" इति भूते लट्। "न पादम्" इत्यादिना वसे
न्तात्तस्य परस्मैपदप्रतिषेधात् "णिचश्चे"त्यात्मनेपदम्। किन्तु विचष्ट इति विच
वक्त्री सा "अनुदात्तेतश्च हलादे"रिति युच्प्रत्यये टाप्। "असनयोश्च प्रतिषेधो वक्त
इति ख्याञादेशाभावः। कृतमायतश्वासस्य विमोक्षणं विमोचनं यया सा सती
निश्वस्येत्यर्थः। मोक्षयतेश्चौरादिकात् ल्युट्। तं नलं क्षणात् क्षणं विलम्ब्येत्य
करुणं दीनं यथा तथा बभाषे एते मौनश्वासावाङ्मुखत्वादयश्चिन्तानुभावा ज्ञे
"ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृ"दिति लक्षणात् ॥ ६१ ॥

उसके बाद नीचे मुखकी हुई दमयन्तीने चिरकाल तक मुखमें अनध्याय को कर
अर्थात् कुछ समय तक चुप रही। इस (चुप रहने) के बाद लम्बी सांसको छोड़कर
चतुर दमयन्ती क्षण (मुहूर्त) भरमें करुण (करुणायुक्त, अथवा—करुण पूर्वक, अथवा
('अकरुण' पदच्छेद करके) अकरुण अर्थात् निष्ठुर, वचन) बोली—[मौन धारण कर
अधोमुखी होना तथा दीर्घ श्वास छोड़नेसे दूत—वचन सुननेसे दमयन्तीका चिन्तित हो
सूचित होता है। दीर्घश्वास छोड़नेसे आँधी का आना और उसमें क्षणमात्र अनध्याय रख
बाद ही अध्ययनका आरम्भ करना धर्मशास्त्रके अनुसार उचित होनेसे दमयन्तीका वैसा
करना उसके 'विचक्षण' विशेषणकी औचित्य–प्रतीति कराता है] ॥ ६१ ॥

विभिन्दता दुष्कृतिनीं मम श्रुतिं दिगिन्द्रदुर्वाचिकसूचिसञ्चयैः।
प्रयातजीवामिव मां प्रति स्फुटं कृतं त्वयाप्यन्तकदूततोचितम् ॥ ६२॥

विभिन्दतेति। दुष्कृतिनीं पापिष्ठां पापोक्तिग्राहित्वादिति भावः। मम श्रुतिं श्रो
दिगिन्द्राणामिन्द्रादीनां दुर्वाचिकानि दुष्टसन्देशा एव सूचयस्तासां सञ्चयैः समूहै
भिन्दता विदारयता परपुरुषप्रसङ्गत्वादिति भावः। त्वयापि प्रयातो जीवो जीवितं
यस्यास्तां प्रेतामिव मां प्रति स्फुटं व्यक्तं यथा तथा अन्तकदूततया यमदूतत्वस्योचित
(कर्म) कृतम्। पतिव्रतानां परपुरुषवार्तापि यमयातनाया नातिरिच्यत इति भाव

तुमने भी अर्थात् नलके समान सुन्दर एवं सज्जन भी तुमने नहीं सुनने योग्य (

सन्देशको सुननेसे) पापी मेरे कानोंको दिक्पालोंके दुष्ट सन्देशरूपी सूइयोंके से छेदते हुए (अत एव) मरी हुई के समान मेरे प्रति स्पष्ट ही यमदूतके योग्य काम है। [सती होनेके कारण मेरे कानोंको परपुरुष सम्बन्धी कोई बात नहीं सुननी , किन्तु मेरे कानोंने सुनकर पाप किया है और मैं मृतप्राय हो गयी हूं, तथा सुन्दर होनेसे मधुरभाषी होना उचित होने पर भी तुमने ऐसे कर्णकटु सन्देश रूपी सूइयोंसे कानोंको मर्माहत करते हुए यमदूतका ही वास्तवमें कार्य किया है। यमदूत भी मरे हुए अङ्गोंमें बहुत-सी सूइयोंको धसा-धसाकर उन्हें पीडित करते हैं। 'दुष्कृतिनीं' शब्द ' शब्दका विशेषण मानकर 'पापिनी मेरे प्रति' भी अर्थ हो सकता है। अथवा— कृतिनीं' अर्थात् पाप रहित कानोंको……। तुम इन्द्र आदि चारो दिक्पालोंके दूत भी केवल यमके दूतका कार्य किया, यह सर्वथा अनुचित किया। अन्य भी बौद्ध आदि दोष हीन श्रुति अर्थात् वेदको दुष्ट वचनोंसे दूषित करते हैं]॥ ६२ ॥

त्वदास्यनिर्यन्मदलीकदुर्यशो[1]मसीमयत्वाल्लिपिरूपभागिव ।
श्रुतिं ममाविश्य भवद्दुरक्षरं सृजत्यदः कीटवदुत्कटा रुजः ॥ ६३ ॥

त्वदिति। त्वदास्यान्निर्यत् निर्गच्छत् ममालीकमारोपितत्वान्मिथ्याभूतं दुर्यशो समज्ञा तदेव मसी तन्मयत्वाल्लिपिरूपभाक् लिप्यक्षरतां प्राप्तमिव स्थितमदः भवतो दुरक्षरमतः किमित्यादि दुर्वाक्यं कीटवद्दंशादिजन्तुवत् मम श्रुतिं श्रोत्र- विश्य उत्कटा महत्तराः रुजः व्यथा सृजति जनयति । रूपकोत्प्रेक्षासङ्कीर्णेयमुपमा ॥

तुम्हारे मुखसे निकली हुई मेरी मिथ्या कीर्तिरूपी मषी (स्याही) मय होनेसे लिपि) रूपको प्राप्त (पाठा०—……मषीमयी तथा लिपिरूपको प्राप्त, अथवा—…… तथा सुन्दर लेखरूपको प्राप्त), यह आपका दुष्ट अक्षर (वाला वचन) मेरे कानमें कीड़ेके समान तीव्र पीडा करता । [आपका मुख मषीपात्र (दावात) तुल्य है न्द्रादिके अनुराग विषयक मेरे अपयशके तुल्य मषीमय (अपयशके कृष्णवर्ण होनेसे मषी (स्याही) कहना उचित ही है) अर्थात् स्याहीसे लिखा गया, तुम्हारा कहना, क्षर वाला है और उसके सुननेसे मेरे कानों में ऐसी तीव्र पीडा हो रही है, जैसे बाहर के भीतर प्रवेश किया हुआ कीडा तीव्र पीडा करता है। तुम्हारा सन्देश कर्णकटु पतिव्रताके लिए अपकीर्तिकारक है, अतः उसे मैं कदापि स्वीकार नहीं करूंगी]॥६३॥

तमालिरूचेऽथ विदर्भजेरिता प्रगाढमौनव्रतयैकया सखी ।
त्रपां समाराधयतीयमन्यया भवन्तमाह स्म[2] रसज्ञया मया ॥ ६४ ॥

तमिति। अथानन्तरं विदर्भजेरिता दमयन्तीचोदिता आलिः सखी तं नलमूचे। आह—सौम्य ! इयं सखी भैमी प्रगाढं दृढं मौनव्रतं यस्यास्तया एकया

---

[1] "—मसीमयं सल्लिपि—" इति पाठान्तरम् । [2] "स्वरसज्ञया" इति नारायणभट्टैर्व्याख्यातं पाठान्तरं युक्तमिति बोध्यम् ।

रसज्ञया जिह्वया त्रपां समाराधयति भजते। देवताराधने मौनं युक्तमिति भाव मया मद्रूपया अन्यया रसज्ञया जिह्वया कामाभिज्ञया च भवन्तमाह स्म। रवाच्यं लज्जया स्वयं वक्तुमशक्ता मन्मुखेन वक्तीत्यर्थः ॥ ६४ ॥

इस (दमयन्तीक इतना (श्लो० ६२–६३) कहनेके) के बाद दमयन्तीसे प्रेरित बोली—(पक्षा०—दृढ मौनरूप व्रतको धारण करनेवाली) अर्थात् बिलकुल मौन रसज्ञा (जीभ, पाठा०—अपनी जीभ) से लज्जाको आराधना (मौन रहकर धारण) करती है, तथा दूसरी रसज्ञा (अपने रस अर्थात् अभिप्रायको जाननेवाली, पाठ अपनी रसज्ञा) मुझसे अर्थात् मेरे द्वारा आपके प्रति कहलाती है। [मेरी सखी दम स्वयं कहने में लज्जित होकर अपने अभिप्रायको मेरे द्वारा आपके प्रति कहला रही दृढ व्रतमें आसक्त व्यक्तिको कार्यान्तरासक्त होनेसे आराध्यदेवकी आराधनामें त्रुटि भय होनेसे उसका उस कार्यान्तरमें अपने भावको जाननेवाले दूसरे व्यक्तिको नि करना उचित ही है] ॥ ६४ ॥

तमर्चितुं संवरणस्रजा नृपं स्वयंवरः सम्भविता परेद्यवि।
ममासुभिर्गन्तुमनाः पुरःसरैस्तदन्तरायः पुनरेष वासरः ॥ ६५ ॥

स्वयमेव दमयन्ती भूत्वाह—तमित्यादि। मम संवरणस्रजा तं नृपं नलम मर्चयितुमर्चतेर्भौवादिकात्तुमुन्। परेद्यवि परेऽहनि "सद्यः परुत्" इत्यादिना नि तनात् साधुः। स्वयंवरः सम्भविता सम्भविष्यति। किंतु पुरः सरन्तीति पुर पुरोगास्तैः "पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तें"रिति टप्रत्ययः। ममासुभिः प्राणैः सह गन्तुं यस्य स गन्तुमनाः प्राणानादाय गन्तुकाम इत्यर्थः। "तुं काम मनसोरपि" मकारलोपः। एष वासरः पुनः वासरस्तु तस्य स्वयंवरस्यान्तरायो विघ्नः। दि त्रविलम्बोऽपि दुःसह इति भावः। एतेन कालाक्षमत्वलक्षणमौत्सुक्यमुक्तम् ॥ ६

मेरी वरणमालासे उस राजा (नल) की पूजा (वरणमाला पहनाकर उन्हें उनका आदर) करनेके लिये कल स्वयंवर होगा, आगे जानेवाले मेरे प्राणोंके साथ इच्छा करनेवाला (मुझे पहले मारकर व्यतीत होनेवाला) यह (आजका) दिन (स्वयंवर) का विघ्नरूप है। [जिस राजा नलके लिये मेरी इतनी उत्सुकता है कि होता हुआ भी यह दिन मुमूर्षु व्यक्तिके प्राणोंके समान नहीं व्यतीत हो रहा है एक दिनका विलम्ब भी मुझे असह्य हो रहा है, तो उनको छोड़कर मैं इन्द्रादिको करूंगी यह कैसे सम्भव है ? अर्थात् कदापि ऐसा होना सम्भव नहीं है] ॥ ६५ ॥

तदद्य विश्रम्य दयालुरेधि मे दिनं निनीषामि भवद्विलोकिनी।
नखैः किलाख्यायि विलिख्य पक्षिणा तवैव रूपेण समः स मत्प्रियः।

---

१. नारायणभट्टैरिमौ श्लोकौ (६५–६६) "श्लोकद्वयमेकान्वयम्" इत्युक्त सहैव व्याख्यातौ।

किमत आह—तदिति। तत्तस्मात् औत्सुक्यादद्य विश्रम्य मे मम दयालु- अद्यास्मद्गेहे निवासेन मामनुगृहाणेत्यर्थः। अस्तेर्लोटि सिपि "हुझल्भ्यो "ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इत्येकारः। तन्निवासस्य फलमाह—भवन्तं विलो- भवद्विलोकिनी सती दिनं निनीषामि, त्वद्विलोकनेन दिनं नेतुमि- त्यर्थः। मद्दर्शनात् कथं ते कालयापनमित्याशङ्क्याह—स मत्प्रियो नलः दूतहंसेन नखैर्विलिख्य तवैव रूपेणाकारेण समः सदृश आख्यायि किल, खलु। ख्यातेः कर्मणि लुङ्। चिणो युगागमः। अतस्त्वद्दर्शनात् दिनं । सदृशदर्शनादीनां कालविनोदनसाधनत्वाद्वियोगिनामिति प्रागेवोक्तमनुस- ॥ ६६ ॥

आजका दिन नल-वरणमें विघ्नस्वरूप हो रहा है), अतएव आज विश्रामकर) आप मुझपर दयालु होवें, (क्योंकि) आपको देखती हुई मैं (इस) बिताना चाहती हूं। पक्षी अर्थात् राजहंसने नखोंसे लिखकर आपके ही रूपके मेरे प्रिय (नल) को बतलाया है, [अतएव प्रियके समानाकार आपको उस प्रियकी बुद्धिसे देखनेसे मुझे परपुरुष-दर्शनजन्य दोष भी नहीं लगेगा, इस प्रकार देखते रहनेसे मेरे प्राणोंको बचाकर आप दयालु बनिये]॥ ६६ ॥

दृशोर्द्वयी ते विधिनास्ति वञ्चिता मुखेन्दुलक्ष्मीं तव यन्न वीक्षते।
असावपि श्वस्तदिमां नलानने विलोक्य साफल्यमुपैतु जन्मनः॥६७॥

विश्रामे न केवलं ममैव साफल्यं किन्तु तवापीत्याह—दृशोरिति। हे ! विधिना स्रष्ट्रा ते तव दृशोर्द्वयी वञ्चितास्ति विफलीकृता वर्तते। यत् तव मुखेन्दुलक्ष्मीं न वीक्षते स्वमुखस्य स्वचक्षुषा द्रष्टुमशक्यत्वादिति । तत्तस्मादसौ ते दृग्द्वय्यपि श्वः परेऽहनि इमां त्वन्मुखलक्ष्मीं नलानने उभयनिष्ठत्वात् समानधर्मस्येति भावः। जन्मनः साफल्यमुपैतु। अत्र दूते दूतनलमुखलक्ष्म्योर्भेदेऽप्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः॥ ६७ ॥

भी दोनों आँखें भाग्य (या ब्रह्मा) से वञ्चित (ठगी गयी) हैं जो तुम्हारे मुखकी नहीं देखती हैं, इससे ये आँखें भी नलके मुखमें इस शोभाको देखकर जन्मकी को प्राप्त करें। [कोई भी व्यक्ति अपने मुखकी शोभाको अपने नेत्रोंसे नहीं देखता आदिमें भी प्रत्यक्ष शोभाको नहीं देखता, किन्तु उसके प्रतिबिम्बको देखता है, दि तुम आज यहां रहकर विश्राम कर लोगे तो मेरे प्राण बचानेसे परोपकार पुण्यभागी बनोगे तथा अपने मुखकी कान्तिको ही मेरे प्रिय नलके मुखमें देखकर (क्योंकि ऐसा दूसरेके लिये असम्भव ही है) होनेसे अपने नेत्रोंको भी सफल । इस कारण आज तुम्हें 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा' या 'एक पन्थ दो काज' वचनोंका अनुसरणकर यहां रुक जाना चाहिये]॥ ६७ ॥

ममैव पाणौकरणेऽग्निसाक्षिकं प्रसङ्गसम्पादितमङ्ग ! सङ्गतम् ।
न हा सहाधीतिधृतः स्पृहा कथं तवार्यपुत्रीयमजर्यमर्जितुम् ॥६८॥

ममैवेति । किञ्च अङ्ग ! भो ! मम पाणौकरणे पाणिग्रहण एव "नित्यं पाणावुपयमने" इति पाणौ शब्दस्य गतित्वात् "कुगतिप्रादयः" इति सम अग्निसाक्षिकं यथा तथा विवाहाग्निसन्निधावेवेत्यर्थः। प्रसङ्गात् स्वयंवर सम्पादितं सङ्गतमुभयोरानुरूप्याद्युक्तम् । आर्ययोः श्वशुरयोः पुत्र आर्यपुत्रो भर्ता तदीयमार्यपुत्रीयं, "वृद्धाच्छः" न जीर्यतीत्यजर्यं सङ्गतं रामसुग्रीवयोरिव सख्यमित्यर्थः। "अजर्यं सङ्गत"मिति यत्प्रत्ययान्तो निपातः। अर्जितुं सम्पा सहाधीतिः सब्रह्मचारिता तां धारयतीति धृत् सारूप्यभृदित्यर्थः। क्विप्। तस्य तव स्पृहा कथं नास्ति। हेति विषादे। सर्वथा स्पृहणीया तत् रित्यर्थः ॥ ६८ ॥

हे अङ्ग ! मेरे विवाहमें ही अग्नि–साक्षिपूर्वक प्रसङ्ग (इन्द्रादिके दूतकार्य- सुअवसर) से प्राप्त यह (नलके साथ आपकी) मैत्री है (इन्द्रादिके दूतकार्यके मेरे विवाहमें ही अनायास प्राप्त तथा विवाहकी अग्निके सामने होनेसे दृढतम मैत्री नलके साथ हो जायगी, समानकी मैत्री समानके साथ अनायास ही होनेसे यह तुम्हें नहीं खोना चाहिये)। कुल-शील-रूप आदिसे समान तुम्हारा तथा श्रेष्ठ पितावाले नलकी कभी शिथिल नहीं होनेवाली मित्रताको प्राप्त करनेके लिये तुम्हें क्यों नहीं होती ? हाय ! खेद है। (अथवा—हे अङ्ग ?...............प्रसङ्ग दोनोंके योग्य होनेसे योग्यतम, श्रेष्ठ माता–पिताके पुत्र (नल) की दृढ मित्रता चाहना तुम्हें क्यों नहीं होती ? हाय ! खेद है)। [संसारमें एक कार्यके प्रसङ्गमें ही यदि दूसरा कार्य भी सिद्ध होनेकी आशा होती है तो बुद्धिमान् व्यक्ति उस त्याग नहीं करते, अतएव तुम्हें इस इन्द्रादि दूतकार्यके प्रसङ्गसे अनायास प्राप्त त्याग नहीं करना चाहिये। साथ ही जैसे तुम उत्तम कुलोत्पन्न एवं शील सम्पन्न हो, नल भी हैं अग्निके साक्षी होनेसे वह मैत्री अत्यन्त दृढतम होगी, ऐसे उत्तम तुम नहीं चाहते यह खेद एवं आश्चर्य है। और नलके साथ तुम अध्ययन अर्थात् कुल–शीलादिके समान होनेसे तुम दोनोंका सतीर्थ्य–भाव है तथा सती मैत्री करना भला कौन नहीं चाहता ? तथा जिस प्रकार इन्द्रादिके साथ मेरा करानेके लिये तुम प्रयत्नशील हो, वैसे नलके साथ भी विवाह करानेके लिये तुम्हें शील होना चाहिये, क्योंकि इन्द्रादि देव तो केवल १–१ दिशाओंके पति हैं और राजा सब दिक्पालोंका अंश होनेसे इन्द्र आदिकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, अतएव तुम रहकर नलसे मित्रता अवश्य करो। 'अङ्ग' पदके सम्बोधन करनेसे—'तुम मेरे अति निकटके व्यक्ति हो अतः इतना अधिक तुमको मैं कह रही हूँ' यह होता है] ॥ ६८ ॥

दिगीश्वरार्थं न कथञ्चन त्वया कदर्थनीयास्मि कृतोऽयमञ्जलिः ।
प्रसद्यतां नाद्य निगाद्यमीदृशं दधे दृशौ बाष्परयास्पदे भृशम् ॥६९॥

दिगीश्वरेति । किञ्चाहं त्वया दिगीश्वरार्थं कथञ्चनापि कदर्थनीया निर्वन्धनीया न, अयमञ्जलिः कृतः प्रार्थये त्वामित्यर्थः । प्रसद्यतां प्रसन्नेन भूयतां, भावे । अद्य ईदृशं दिगीशसन्देशरूपं न निगाद्यं न वाच्यम्, "ऋहलोर्ण्यत्", "गद- दिनानुपसर्गादेव यतो विधानात् । किं बहुना—भृशं बाष्परयास्पदे अश्रु- यौ दृशौ दधे धारयामि रोदिमीत्यर्थः । नैवं दुःखाकर्तुमुचितमिति भावः ॥६९॥

न दिक्पालोंके लिये मुझे किसी प्रकार मत कदर्थित करो (सताओ), मैं हाथ जोड़ती न होवो, आज ऐसा मत कहो, क्योंकि (ऐसा करनेसे मैं) अधिकअश्रुयुक्त नेत्रवाली अर्थात् रोने लगती हूं । [कल ही मेरे शुभ विवाहका स्वयंवर है, अतएव प्रसन्नताके मुझसे तुम दिक्पालोंके अनुराग आदिका वर्णन कदापि न करो, क्योंकि वैसा मैं पीड़ाके वेगको नहीं रोक सकनेके कारण रो पड़ती हूं और विवाह-जैसे शुभ रोना अमङ्गलसूचक है, अतः मैं हाथ जोड़ती हूं, तुम मेरे ऊपर कृपा करो और न्ध में आगे कुछ मत कहो] ॥ ६९ ॥

वृणे दिगीशानिति का कथा तथा त्वयीति नेक्षे नलभामपीहया ।
सतीव्रतेऽग्नौ तृणयामि जीवितं स्मरस्तु किं वस्तु तदस्तु भस्म यः ॥७०॥

णे इति । किञ्च दिगीशान् वृणे इति का कथा, अत्यन्तासम्भावितमित्यर्थः । हि—नलस्य भां कान्तिमपि त्वन्निष्ठामिति शेषः । त्वयीति त्वयि परपुरुषे इति हेतोः तथेहया तादृगनुरागेण नेक्षे । इह त्वयि या नलभा तां नलभा- केचित् योजयन्ति । नन्वेवं सुरावधीरणे बलवद्विरोध इत्याशङ्कयाह—सतीव्रते एवाग्नौ जीवितं तृणयामि तृणीकरोमि, जीवितास्पृहाणां पतिव्रतानां न यमिति भावः । स्मरभयन्तु दूरापास्तमित्याह—स्मरस्तु तत्प्रसिद्धं किं कः पदार्थो भवेत् न कोऽपीत्यर्थः । कुतः यः स्मरो भस्म भस्मीभूतः व्रतैक- सोऽपि तुच्छः किं करिष्यतीत्यर्थः । चारित्रैकपरायणाः सत्यो न किञ्चिद्गण- भावः ॥ ७० ॥

दिक्पालोंको वरण करूँगी' इसकी क्या बात है ? (दिक्पालोंको वरण करनेकी कोई नहीं है), तुममें नलकी कान्तिको भी (मैं) वैसा (अनुरागके साथ) चेष्टा दि) से नहीं देखती हूं (अथवा—यहां स्थित तुममें नलकी कान्तिको भी मैं उस (नल-विषयक अनुरागके समान) नहीं देखती हूं । अथवा—यहां स्थित तुममें कान्तिको भी मैं वैसी (जैसी हंसने नखसे नलका चित्र बनाकर दिखलाया था) कान्तिको भी नहीं देखती हूं । इस प्रकार इन्द्रादि दिक्पालोंके वरण नहीं करनेमें विरोध होनेका भी मुझे भय नहीं है, क्योंकि नलके नहीं मिलनेपर) सतीव्रत-

रूपी अग्निमें (अथवा—तीव्रता (काष्ठादिके अधिक एवं सूखा होनेसे अधिक सहित अग्निमें) जीवनको तृणतुल्य कर दूंगी अर्थात् धधकती अग्निमें तृणके समान जलकर मर जाऊंगी। कामदेव तो क्या वस्तु है ? अर्थात् कुछ नहीं, जो (भस्ममात्र अर्थात् भस्मवत् अकिञ्चित्कर है अथवा—जो कामदेव भस्म है वह क्या वस्तु अर्थात् अत्यन्त तुच्छ वस्तु है। अथ च—जो 'स्मर' (स्मरणीय-स्मृतिमात्रमें होने काममें आने योग्य नहीं अर्थात् मृत) है वह क्या वस्तु है ? अतएव कामदेव भस्मवत् से सामान्य व्यक्तिका भी कुछ नहीं कर सकता तो मुझ जैसी सतीका क्या कर सका

न्यवेशि रत्नत्रितये जिनेन यः स धर्मचिन्तामणिरुज्झितो यया।
कपालिकोपानलभस्मनः कृते तदेव भस्म स्वकुले स्तृतं तया ॥७

न्यवेशीति। हे सौम्य ! यो धर्माख्यः चिन्तामणिर्जिनेन देवेन अर्हता जैनपरिभाषया सद्दृष्टिज्ञानवृत्ताख्ये रत्नत्रये न्यवेशि निवेशितः "सद्दृष्टिज्ञानवृ धर्मं धर्मेश्वरा विदु"रिति तैरुक्तत्वात्। विशेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्। स धर्मचिन्ता यया स्त्रिया कपाली हरः तत्कोपानलभस्मनस्तद्रूपस्य कामस्य कृते, कृत इति ध्यर्थेऽव्ययम्। उज्झितस्त्यक्तः तया स्त्रिया तदेव भस्म स्वकुले स्तृतं विस्तृ कामाख्यभस्मान्धतया चरित्रत्यागिन्या स्त्रिया स्वकुलमेव भस्मसात् कृतं दित्यर्थः। अतो नलैकव्रताया ममाग्रे महेन्द्रादिनामग्रहणमपि न कार्यमितिभावः

जिनेन्द्र (या बुद्ध) ने जिस (धर्मरूप चिन्तामणि) को रत्नत्रय (तीन रत्न सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र रूप तीन रत्नों) में रखा है, उस चिन्तामणिको जिस स्त्रीने कपालधारी (शिवजी, पक्षा०—कपाल धारण करनेसे व्यक्ति-विशेष) के क्रोधाग्निसे भस्म अर्थात् कामदेव के लिये छोड़ दिया (काम होकर चरित्रका त्यागकर दिया), उस स्त्रीने अपने वंशमें वही भस्म फैला [जिनेन्द्रने सम्यक् चरित्ररूपी धर्मचिन्तामणिको तीन रत्नों (रत्नत्रय) में गिना है उत्तम पदार्थको जिसने कपालधारी (अकिञ्चन भिक्षुक) के क्रोधाग्निसे भस्म कामदेवके लिये त्याग करती है, वह उत्तम एवं निर्मल पदार्थपर भस्म फेंकनेके अपने निर्मलकुलको दूषित कर देती है; अतः मैं अपने चारित्ररूपी धर्मका त्यागकर कलङ्क नहीं लगाऊंगी अर्थात् एक वार नलको वरणकर लेनेपर पुनः इन्द्रादिमेंसे वरण नहीं करूंगी] ॥ ७१ ॥

निपीय पीयूषरसौरसीरसौ गिरः स्वकन्दर्पहुताशनाहुतीः।
कृतान्तदूतं न तया यथोदितं कृतान्तमेव स्वममन्यतादयम् ॥ ७२ ॥

निपीयेति। असौ नलः पीयूषरसस्यामृतरसस्य उरसा निर्मिता औरस आत्मजाः सदृशीरित्यर्थः। "उरसोऽण् च" इत्यणप्रत्ययः। संज्ञाधिकारादभिधेयवि इति काशिका। स्वकन्दर्पहुताशनस्य निजकामाग्नेराहुतीरुद्दीपनीर्गिरो भैमीवाक्य

स्वमात्मानं तया भैम्या यथोदितं यथोक्तं तदनतिक्रमणेनेत्यर्थः । "यथासा-इत्यव्ययीभावः । कृतान्तदूतं नामन्यत किन्त्वदयं निर्दयं यथा तथा स्वं मेवामन्यत । दूतधर्मत्वात् निर्दाक्षिण्यं वक्ष्यामीत्यमन्यतेत्यर्थः ॥ ७२ ॥

(नल) अमृत-रस-तुल्य तथा अपनी कामाग्निकी आहुतिरूप अर्थात् बढ़ानेवाली (दमयन्तीका कथन) सुनकर उसने जैसा यमका दूत कहा था (श्लो० ६६) हीं, किन्तु अपनेको निर्दय यम ही माना (अथवा—अपनेको सम्यक् प्रकार यम ना)। [यमदूत तो केवल प्राणियोंको यमके समीप पहुँचा देते हैं, उन्हें निर्दयता-पीडित करनेवाला तो यम ही है, अतएव मैंने ऐसी पतिव्रताको इन्द्रादिका सन्देशसे पहुँचाया है वह निर्दय यमके कार्य-जैसा है। ऐसे निर्दयतापूर्वक इन्द्रादिके दूत-नेपर भी उनमें अननुरक्त तथा अपनेमें अनुरक्त दमयन्तीको देखकर नलका न होना उचित ही है] ॥ ७२ ॥

स भिन्नमर्मापि तदार्तिकाकुभिः स्वदूतधर्मान्न विरन्तुमैहत ।
शनैरशंसन्निभृतं विनिश्वसन् विचित्रवाक्चित्रशिखण्डिनन्दनः ॥७३॥

स इति । विचित्रवाक्षु चित्रशिखण्डिनन्दनो बृहस्पतिः । 'जीव आङ्गिरसो वाच-चित्रशिखण्डिजः' इत्यमरः । स नलस्तस्याः भैम्या आर्त्या, निमित्तेन काकुभिः भिर्भिन्नमर्मापि विदीर्णहृदयोऽपि स्वदूतधर्मादकपटभूताद्विरन्तुं नैहत । किन्तु स्वेच्छाभङ्गान्निभृतं विनिश्वसन् शनैरस्वरया अशंसदब्रवीत् ॥ ७३ ॥

दमयन्तीके पीडायुक्त वचनोंसे भिन्नमर्मवाले भी वे (नल) अपने दूत-धर्मसे हीं हुए। धीरेसे (दमयन्तीसे छिपाकर) दीर्घश्वास लेते हुए, आश्चर्यजनक बातों (के)में बृहस्पति वे नल बोले—(अथवा—विरत नहीं हुए और दीर्घश्वास.......वे नल पीडित होनेके कारण) धीरेसे बोले—)। [दमयन्तीके वचनोंसे कामपीडित होने-नलका दूत-कर्मसे विरक्त न होना उनका धीरोदात्त नायक होना सूचित करता है]

दिवोधवस्त्वां यदि कल्पशाखिनं कदापि याचेत निजाङ्गनालयम्[1] ।
कथं भवेरस्य न [2]जीवितेश्वरी न मोघयाच्ञः स हि भीरु! भूरुहः ॥७४॥

व इति । वक्ष्यमाणविभीषिकानुगुणमामन्त्रयते—हे भीरु! भयशीले! "भियः क्लौ" इति क्रुप्रत्ययः । "ऊङुतः" इत्यूङ् । "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" । दिवोधवः इन्द्रः कदापि निजाङ्गनालयं कल्पशाखिनं त्वां याचेत यदि दुह्यादिपाठाद्द्विकर्मकम् । तदा कथमस्येन्द्रस्य जीवितेश्वरी न भवेः भवेरेवेत्यर्थः । कुतः हि स्य भूरुहः कल्पवृक्षः न मोघयाच्ञः सफलप्रार्थनः ॥ ७४ ॥

सामादि चार उपायोंके प्रयोगमें निपुण नल अष्टम सर्गमें इन्द्रादि दिक्पालोंका

---

1. "निजाङ्गणालयम्" इति पाठान्तरम् । २. "जीवितेश्वरा" इति "प्रकाश" न्तं पाठान्तरम् ।

दमयन्तीमें अनुराग वर्णन करनेसे साम, इस सर्गमें "अहो मनस्स्वामनु तेऽपि इत्यादि श्लोकों (९।३९—४५) से उन देवोंका अनुग्रह कहनेसे दान, "यदि स्वमु विना नलम्" इत्यादि श्लोकों (९।४६—४९) से भेदका प्रदर्शन करनेके बाद भेद तथा दण्डका प्रयोग करते हुए दमयन्तीको इन्द्रादिके पक्षमें लानेकी चेष्टा करते हैं। हे भीरु ! यदि स्वर्गाधीश (इन्द्र) अपने आँगनमें स्थित अर्थात् अत्यन्त निकटस्थ कल्प तुमको कभी याचना करेंगे तो तुम इस (इन्द्र) की प्राणेश्वरी (पत्नी) कैसे नहीं हो अर्थात् तुम्हें अवश्य ही इन्द्रकी पत्नी होना पड़ेगा: क्योंकि वह कल्पवृक्ष याचनाको नि करनेवाला नहीं है। [इन्द्र स्वर्गके पति हैं और उनके आँगनमें ही कल्पवृक्ष है, तुम्हारे अस्वीकार करनेपर भी यदि इन्द्र चाहेंगे तो कल्पवृक्षसे तुम्हें मांगेंगे और दूसरे किसी भी याचनाको विफल नहीं करनेवाला वह कल्पवृक्ष अपने स्वामी इन्द्रकी याच कदापि विफल नहीं करेगा और तुम्हें इन्द्रके लिए दे देगा तो तुम्हें इन्द्रकी पत्नी ही पड़ेगा, अतः अच्छा मार्ग यही है कि तुम स्वयं इन्द्रको स्वीकार कर लो] ॥ ७४ ॥

शिखी विधाय त्वदवाप्तिकामनां स्वयं हुतस्वांशहविः स्वमूर्तिषु ।
क्रतुं विधत्ते यदि सार्वकामिकं कथं स मिथ्यास्तु विधिस्तु वैदिकः ॥

शिखीति । शिखी अग्निः त्वदवाप्तिकामनां विधाय स्वमूर्तिषु स्वविग्रहेषु वनीयादिषु स्वयमेव हुतं स्वांशं स्वदेवताकं हविर्येन सः सार्वकामिकं सर्वका योजनकं, "प्रयोजन" मिति ठक् । क्रतुं विधत्ते यदि तदा स वैदिको वेदा विधिरनुष्ठानं कथं तु मिथ्यास्तु निष्फलः स्यात् । अत्र स्वशब्दत्रयेण क्रमा कर्तृदेवताहवनीयादिरूपताप्रतिपादनात् कर्मणि प्रमादानवकाशः सूचितः । त दप्रामाण्यादनलसादसीति सिद्धमिति भावः ॥ ७५ ॥

तुम्हें पानेकी इच्छाकर अपनी मूर्तियों (दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि और आह ग्निरूप अग्नित्रय) में अपने अंशभूत हविष्यको स्वयं हवन करनेवाला अग्नि यदि मिक (सर्वकार्यसाधक) यज्ञ करेंगे तो वह वैदिक विधि (यज्ञानुष्ठान क्रिया) मिथ्या होगी ?। [यहांपर अग्निको ही यजमान, देवता और आहवनीयका तीन 'स्व' शब्दों प्रतिपादन किया गया है। जो अग्निदेव दूसरोंके द्वारा किये गये यज्ञका फल दे वैदिक विधिको सत्य करते हैं, तो वे तुम्हें पानेके लिए स्वयं यज्ञ करके अवश्य अतः अग्निको पहले स्वेच्छासे ही तुम स्वीकार कर लो] ॥ ७५ ॥

सदा तदाशामधितिष्ठतः करं वरं प्रदातुं वलितादृलादपि ।
मुनेरगस्त्याद्वृणुते स धर्मराड् यदि त्वदाप्तिं भण का तदा गतिः ॥

सदेति । स धर्मराड्यमः सदा सर्वदा तस्य धर्मराजस्याशां दिशम्, दक्षि धितिष्ठतोऽधिवसतः । अत एव बलादपि वरमेव करं बलिं प्रदातुं वलिताद् दगस्त्यान्मुनेस्त्वदाप्तिं त्वत्प्राप्तिं वृणुते यदि, तदा का गतिः ? भण । वाक्यार्थः

सर्वदा उन (धर्मराज) की दिशामें रहनेवाले तथा कर (राज-भाग) देनेके वे हुए अगस्त्य मुनिसे वलपूर्वक भी तुमको वर मांग लेंगे (अथवा—वलपूर्वक राजके पास कर देनेके लिए आये हुए अगस्त्य मुनिसे तुमको वर मांग लेंगे) गति होगी? कहो। [अगस्त्य मुनि सर्वदा धर्मराजकी दिशा दक्षिणमें रहनेसे रूप हैं, अतएव वे कर देनेके लिए धर्मराजके पास आवेंगे तो धर्मराज तुम्हें हो वरदान कररूपमें अगस्त्य मुनिसे वलपूर्वक (राजाका वलपूर्वक प्रजासे कर लेना नहीं है) भी मांगेंगे तो तुम्हें यमराजके लिए अगस्त्यजी अवश्य ही दे देंगे, इस तुम धर्मराजके हाथसे किसी तरह नहीं वच सकती, अतः तुम धर्मराजको स्वयं र कर लो। 'धर्मराज' शब्दके प्रयोगसे उनका वह कार्य धर्म विपरीत नहीं हो यह नित होता है] ॥ ७६ ॥

तोः कृते जाग्रति वेत्ति कः कति प्रभोरपां वेश्मनि कामधेनवः ।
दर्थमेकामपि याचते स चेत् प्रचेतसः पाणिगतैव वर्तसे ॥ ७७ ॥

भोरिति। किञ्च क्रतोः कृते क्रत्वर्थमपां प्रभोः वरुणस्य वेश्मनि कति काम- जाग्रति वर्तन्ते को वेत्ति? असङ्ख्याकाः सन्तीत्यर्थः। स वरुणस्त्वदर्थं त्वत्सि- त्वैकामपि गां याचते चेत्, दमयन्तीं देहीति प्रार्थयते चेत् तर्हि प्रचेतसो वरु- पाणिगतैव वर्तसे। तदा कस्त्वां मोचयिष्यतीति भावः ॥ ७७ ॥

के लिये वरुणके घरमें कितनी कामधेनु हैं यह कौन जानता है? अर्थात् वहुत-सी) वह वरुण तुम्हारी याचना यदि एक (कामधेनु) से भी करेंगे तो तुम (वरुण, पक्षा०—उत्कृष्ट चित्तवाले) के हाथमें ही हो। [जिस किसी अपरिचित की भी याचना को एक भी कामधेनु पूरी कर देती है, तो जिस वरुणके घरमें ही अनेक कामधेनु हैं, उनमें-से एक कोई भी स्वामी वरुणके याचना करनेपर तुम्हें लिए दे देगी, अतएव तुम स्वयं ही वरुणको पहलेसे ही प्रसन्नतापूर्वक वरण कर लो। भी यज्ञादिके लिये गौका पालना सर्वविदित है] ॥ ७७ ॥

न सन्निधात्री यदि विघ्नसिद्धये पतिव्रता पत्युरनिच्छया शची ।
स एव राजव्रजवैशसात् कुतः परस्परस्पर्द्धिवरः स्वयंवरः ॥ ७८ ॥

नेति। किञ्च पतिव्रता शची पत्युरिन्द्रस्यानिच्छया असम्मत्या कारणेन विघ्न- ते स्वयंवरविघातार्थं सन्निहिता न यदि=न स्यात् चेत्। विशसति हिनस्तीति शो हिंसकः, पचाद्यच्। तस्य कर्म वैशसं, युवादित्वादण्प्रत्ययः। राजव्रजस्य कस्य वैशसान्मिथो विरोधाद्धेतोः परस्परस्पर्धिनोऽन्योन्यसङ्घर्षिणो वरा वोढारो र् स तथोक्तः स्वयंवर एव कुतः कुतस्तरां नलवरणमिति भावः। स्वयंवरे सन्निधानादविघ्नसिद्धिरिति शास्त्रम्। तथा च रघुवंशे—'सान्निध्ययोगात् किल त्याः स्वयंवरक्षोभकृतामभावः' इति ॥ ७८ ॥

("दिवोधवस्त्वां यदि कल्पशाखिनं" आदि चार श्लोकों९–७४–७७से प्रत्येक
विषयमें भेदका प्रतिपादनकर उपाय-प्रयोग-निपुण नल अब दण्डका प्रतिपादन करते हैं
पतिव्रता इन्द्राणी पतिकी अनिच्छा (इन्द्रकी इच्छाको तुम्हें नहीं पूरी करने) से
साधने (दूर करने) के लिए यदि (स्वयंवरस्थलमें) नहीं रहेगी तो राज-समूहको
(तुम्हें प्राप्त करने के लिए द्वेष) से परस्पर वरणार्थियोंवाला वह स्वयंवर ही कहांसे
कैसे होगा ? अर्थात् कदापि नहीं होगा । [स्वयंवरमें इन्द्राणी उपस्थित रहकर विघ्न
करती हैं, यह शास्त्र-वचनसे प्रमाणित है। इन्द्राणी पतिव्रता हैं, अतः सपत्नीरूपसे
पानेकी इच्छा करनेवाले इन्द्रको बुरा नहीं मानेंगी और तुम्हारे द्वारा इन्द्रकी
पूरी नहीं होगी तब इन्द्र यह चाहेंगे कि इन्द्राणी स्वयंवरमें जाकर विघ्ननिवारण
और पतिव्रता इन्द्राणी भी पतिदेवकी स्वयंवरमें इन्द्राणीके सम्मिलित होनेकी
नहीं होनेसे नहीं आवेगी तो परस्परमें तुम्हें वरण करनेके इच्छुक राजाओंमें
होनेसे तुम्हारा स्वयंवर ही निर्विघ्न पूरा नहीं हो सकेगा, अतएव तुम्हें इन्द्रका
लेना चाहिये] ॥ ७८ ॥

निजस्य वृत्तान्तमजानतां मिथो मुखस्य रोषात् परुषाणि जल्पतां
मृधं किमच्छत्रकदण्डताण्डवं भुजाभुजि क्षोणिभुजां दिदृक्षसे ॥

निजस्येति । मिथो रोषात् परुषाणि जल्पतो निजस्य मुखस्य वदनस्य वृत्तान्त-
मजानतां रोषान्ध्यात् स्वोक्तमप्यविजानतां क्षोणिभुजां सम्बन्धि अच्छत्रका
भङ्गेनापनीतच्छत्त्रा ये दण्डास्तेषां ताण्डवं तदेव मृधं युद्धं दण्डादण्डीत्यर्थः।
तेषामपि भङ्गे भुजाभ्यां भुजाभ्यां प्रवृत्तं युद्धं भुजाभुजि युद्धं च गम्यमानार्थ
च-शब्दाप्रयोगः "तत्र तेनेदमिति सरूपे" इति बहुव्रीहाविच् कर्मव्यति
इतीच्प्रत्ययः । तिष्ठद्गुपाठादव्ययीभावसंज्ञा । दिदृक्षसे द्रष्टुमिच्छसि "ज्ञाश्रुस्मृ
सनः" इत्यात्मनेपदम् ॥ ७९ ॥

आपसमें कटु वचन बोलते हुए अपने मुखके वृत्तान्तको (भी) क्रोधके कारण
जानते ('किसके प्रति क्या कहना चाहिये' इस बातको नहीं समझते) हुए (
क्रोधसे आपसमें कटु बोलते हुए अपने मुखके व्यापारको नहीं समझते हुए) राजा
(शस्त्रके छिन्न-भिन्न हो जानेके बाद, छत्ररहित छत्रोंके दण्डोंके ताण्डव अर्थात्
दण्डोंकी लड़ाई तथा उसके भी टूट जानेपर बाहुकी) लड़ाई अर्थात् मल्लयुद्धको
चाहती है क्या ? (अथवा········राजाओंका शस्त्रोंसे छत्ररहित दण्डोंके ताण्डववाला
देखना चाहती हो क्या ?) [इन्द्राणीके स्वयंवरमें विघ्ननिवारणार्थ नहीं आनेपर
राजाओंमें भयङ्कर युद्ध होगा] ७९ ॥

अपार्थयन् याज्ञिककृत्क्रतिश्रमं ज्वलेद्रुषा चेद्वपुषा तु नानलः ।
अलं नलः कर्तुमनग्निसाक्षिको विधिं विवाहे तव सारसाक्षि ! कम् ॥

व्यर्थयन्निति । हे सारसाक्षि ! सरोरुहाक्षि ! 'सारसं सरसीरुहम्' इत्यमरः । तव नलोऽग्निः याज्ञिकस्य फूत्कृतिश्रमं याजकफूत्कृतिश्रमं समिन्धनप्रयासम- व्यर्थयन् रुषा रोषेणैव ज्वलेत् वपुषा स्वरूपेण तु न ज्वलेच्चेत् तदा नलः भावादग्निसाक्षिको न भवतीत्यनग्निसाक्षिकस्तं कं विधिमनुष्ठानं कर्तुमलं शक्तः ञ्चिदित्यर्थः ॥ ८० ॥

याजक (हवनकर्ता पुरोहित आदि) के फूंकनेको व्यर्थ करता हुआ अग्नि यदि क्रोधसे शरीर (ज्वाला) से नहीं जले तो नल तुम्हारे विवाहमें अग्निसाक्षित्वके विना विधि (लाजा होम आदि कार्य) को करने के लिये समर्थ होगा? अर्थात् किसी विधिको समर्थ नहीं होगा। [क्रोधके कारण अग्निके हवनकर्ताओं द्वारा फूंकनेपर भी नहीं नलके साथ तुम्हारा सविधि विवाह नहीं हो सकेगा, अतः तुम अग्निको वरण कर लो]॥

वरायाः कुलजं वरस्य वा यमः कमप्याचरितातिथिं यदि ।
न गन्ता विफलीभविष्णुतां स्वयंवरः साध्वि ! समृद्धिमानपि ॥८१॥

पतिंवराया इति । किञ्च यमोऽन्तकः पतिं वृणीत इति पतिंवरा वधूः । "संज्ञायां " इत्यादिना खच् । "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" । तस्या वरस्य वोढुर्वा कुलजं जनमतिथिमभ्यागतमाचरिता यदि मारयिष्यति चेदित्यर्थः । "अनद्यतने । हे साध्वि ! समृद्धिमान् सर्वसाधनसम्पन्नोऽपि स्वयं व्रियते अस्मिन्निति स्वयं- स्वयंवरकर्म । "ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च" इत्यप्प्रत्ययः । विफलीभविष्णुतां "भुवश्च" इति प्रत्ययः । कथं न गन्ता, गमिष्यत्येवेत्यर्थः । गमेर्लुट् । वृथा नलैकासक्तिहता- भावः ॥ ८१ ॥

पतिको वरण करनेवाली तुम्हारे या पति (नल) के कुलमें उत्पन्न (किसी)को यदि अतिथि बना लेंगे अर्थात् तुम्हारे या नलके कुलमें उत्पन्न किसी व्यक्तिकी जायेगी तो हे पतिव्रते ! समृद्धियुक्त भी स्वयंवर कैसे होगा ? अर्थात् अशौचके स्वयंवर रुक जायेगा, अतएव तुम नलको वरण करनेका दुराग्रहकर यमको रुष्टकर या नलके कुलमें उत्पन्न किसी आत्मीय बान्धवकी मृत्युका कारण बननेकी मूर्खता] ॥ ८१ ॥

अपां पतिः स्वामितया परः सुरः स ता निषेधेद्यदि नैषधक्रुधा ।
नलाय लोभायतपाणयेऽपि तत् पिता कथं त्वां वद संप्रदास्यते ॥८२॥

अपामिति । हे साध्वि ! अपांपतिः स प्रसिद्धः परः सुरः स्वामितया अप्पतित्वा- नले क्रुधा क्रोधेन ता अपो निषेधेत् प्रतिबध्नीयात् यदि तर्हि लोभेन आयत- प्रसारितहस्तायापि लौल्याज्जलं विना जिघृक्षतेऽपीत्यर्थः । नलाय पिता भीम- कथं सम्प्रदास्यते न कथञ्चिदित्यर्थः । वद । वाक्यार्थः कर्म ॥ ८२ ॥

दूसरे देव अर्थात् वरुण स्वामी होनेसे नल–विषयक क्रोधके कारण जलको यदि देंगे तो तुम्हारे पिता लोभ (तुम्हें पानेके लोभ) से हाथ फैलाये हुए नलके लिये

कैसे देंगे ? कहो। [कन्यादानका जलके साथ करनेका शास्त्रीय विधान होनेसे वरुणके निषेध करनेपर तुम्हारे पिता तुम्हारा कन्यादान नहीं कर सकेंगे, इस प्रकार नलको नहीं प्राप्त कर सकोगी, अतः वरुणको ही वरण कर लो] ॥ ८२ ॥

इदं महत्तेऽभिहितं हितं मया विहाय मोहं दमयन्ति ! चिन्तय।
सुरेषु विघ्नैकपरेषु को नरः करस्थमप्यर्थमवाप्तुमीश्वरः ॥ ८३ ॥

सम्प्रति हितार्थसंग्रहकारिकामाह—इदमिति। हे दमयन्ति ! मया इदं मह ते तव तुभ्यं वाभिहितं, मोहं मौढ्यं विहाय चिन्तय विमृश। तथा हि-सुरे एवैकः परं प्रधानं येषां तेषु विघातकेषु सत्सु को नरः करस्थमप्यर्थं वस्त्ववाप्तुं शक्तः, न कोऽपीत्यर्थान्तरन्यासः। तस्माद्लं दुरन्तेन बलवद्विरोधेनेति भावः ॥

हे दमयन्ति ! मैंने यह (श्लो० ७४-८२) तुम्हारे लिये बहुत बड़ा हितकारक कहा है, तुम मोह (नलके मोह) को छोड़कर विचार करो। देवोंके एकमात्र लिये तैयार होनेपर कौन आदमी (पक्षा०—"रलयोरभेदः" नीतिके अनुसार कौन हाथमें स्थित वस्तुको पानेके लिये समर्थ होता है ? अर्थात् कोई नहीं। [यदि किसी मनुष्य भी विघ्न करता है तो प्रायः वह काम भी पूरा नहीं होता, तो फिर देवों (नहीं, किन्तु अनेक (या ४ चार) देवों) के केवल विघ्न करनेमें ही लग जानेपर मनुष्यकी शक्ति नहीं है कि हाथमें आयी हुई भी वस्तुको प्राप्त कर ले। अतएव तुम हितकारी वचन मानकर तथा नलका मोह छोड़कर इन्द्रादि दिक्पालोंमें-से वरण करो] ॥ ८३ ॥

इमा गिरस्तस्य विचिन्त्य चेतसा तथेति सम्प्रत्ययमाससाद सा।
निवारितावग्रहनीरनिर्झरी नभोनभस्यत्वमलम्भयद्दृशी ॥ ८४ ॥

इमा इति। सा दमयन्ती इमास्तस्य दूतस्य गिरश्चेतसा विचिन्त्य पर्या तथेति सम्प्रत्ययं विश्वासमाससाद। अथ निवारितावग्रहो निष्प्रतिबन्धो नीरनि ययोस्ते दृशौ लोचने नभोनभस्यत्वं श्रावणभाद्रपदत्वम्। 'नभाः श्रावणिकश्च स्युर्नभस्यः प्रोष्ठपदपदा भाद्रपदाः समाः' इत्यमरः। अलम्भयत् प्रापयदित्युप शयोक्ती। तत्र लभेः प्राप्त्यर्थत्वेऽपि तदुपसर्जनगत्यर्थविवक्षायां "गतिबुद्धी"त्यादि अणिकर्तुः कर्मत्वं, गत्युपसर्जनप्राप्त्यर्थत्वे तु कर्मत्वं नास्त्येव। यथा माघे " सितिम्ने"त्यत्र। यदाह वामनः—"लभेर्गत्यर्थत्वाण्णिच्यणौ कर्तुः कर्मत्वाकर्म इति। लभेश्चेति नुमागमः ॥ ८४ ॥

उस दमयन्तीने उस नलके इन वचनों (९।७४-८२) को मनसे अर्थात् मनो पूर्वक (अच्छी तरह) विचारकर 'वैसा ही है' ऐसा विश्वास कर लिया (अथवा— वैसा ही है, यह मनसे निश्चय कर लिया) और बादमें वर्षाके प्रतिबन्धसे रहित (अव जल-प्रवाहयुक्त नेत्रोंको श्रावण-भाद्रपद मास बना लिया। [सूखाके नहीं पड़नेपर

श्रावण-भाद्रपद मासमें वर्षा होनेसे जल प्रवाहरूपसे बहने लगता है, वैसे ही दमय-न्तीके नेत्रोंसे अनवरोध अश्रुधारा गिरने लगी। दमयन्ती नलकी बातपर विश्वासकर बहुत रोने लगी] ॥ ८४ ॥

स्फुटोत्पलाभ्यामलिदम्पतीव तद्विलोचनाभ्यां कुचकुड्मलाशया ।
निपत्य बिन्दू हृदि कज्जलाविलौ मणीव नीलौ तरलौ विलेसतुः[1] ॥८५॥

स्फुटेति। अथ कज्जलेनाञ्जनेनाविलौ मलिनौ बिन्दू अश्रुबिन्दू तद्विलोचनाभ्यां स्फुटोत्पलाभ्यामलिदम्पतीव भृङ्गमिथुनमिव कुचकुड्मलयोराशया लौल्येन हृदि निपत्य तरलौ चञ्चलौ हारमध्यगौ नीलौ मणी इव इन्द्रनीलरत्ने इव। "ईदा-द्यन्तं प्रगृह्यत्वे मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्य" इत्युभयत्रापि प्रगृह्यत्वनिषेधात् सव-र्णदीर्घः। विलेसतुः विरेजतुः। "अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि" त्येत्वाभ्यासलोपौ॥

विकसित कमलद्वयसे (अधिक सुगन्धि पानेकी आशासे उड़कर) कृष्णवर्ण भ्रमरमिथुन जिस प्रकार कमलकलिका पर बैठने को जाता है, उसी प्रकार उस दमयन्तीके नेत्रद्वयसे स्तनकुड्मलकी प्राप्तिकी आशासे, कज्जलसे काले आंसूके दो बूंद हृदयपर गिरकर चञ्चल नीले रंगके रत्न अर्थात् नीलम मणिके समान शोभने लगे। [दमयन्तीके नेत्र विकसित कमल, स्तन कमलकलिका, कज्जल कृष्ण अश्रुबिन्दुद्वय भ्रमरदम्पति एवं हृदय पर लटकते हारमध्यस्थ नीलमके दो दानोंके समान हैं। [भ्रमरमिथुन विकसित कमलके रसका पानकर विकसित होनेवाले कमलपर चला जाता है। भ्रमरमिथुन समान कज्जल कृष्ण अश्रुबिन्दुद्वय नेत्रोंके हृदयस्थ स्तनपर गिरा] ॥ ८५ ॥

धुता पतत्पुष्पशिलीमुखाशुगैः शुचेस्तदासीत् सरसी रसस्य सा । ०
रयाय बद्धादरयाश्रुधारया सनालनीलोत्पललीललोचना ॥ ८६ ॥

धुतेति। पतद्भिः पुष्पशिलीमुखाशुगैः पुष्पबाणैर्विशिखैरन्यत्र पतन्तः पुष्पाणि शिलीमुखा अलयश्च येषां तैराशुगैर्वायुभिः। धुता कम्पिता। 'अलिबाणौ शिलीमुखौ, आशुगौ वायुविशिखौ' इति चामरः। रयाय बद्धादरया रययुक्तया अश्रुधारया सनालनीलोत्पलस्य लीलेव लीला ययोस्ते लोचने यस्याः सा भैमी तदा शुचेः रसस्य शृङ्गारस्य सम्बन्धिनि अन्यत्र शुचेर्ग्रीष्मस्य सम्बन्धिनि, कार्श्यादिति भावः। ग्रीष्मशृङ्गारयोः शुचिरित्यभिधानात् रसस्य जलस्य सरसी सर आसीत्। अत्र भैम्याः शृङ्गारसरसीत्वेन ग्रीष्माम्बुसरसीत्वेन च रूपणाद्रूपकालङ्कारः। तस्य श्लेषोप-मामङ्गाभ्यां सङ्करः स्पष्टः ॥ ८६ ॥

गिरते हुए पुष्पबाण (कामदेव) के बाणोंसे (अथवा—पुष्पोंपर गिरते अर्थात् आते हुए भ्रमरों तथा वायुओंसे या भ्रमरयुक्त वायुओंसे, अथवा—हंसादि पक्षियों, भ्रमरों तथा

---

[1] "विरेजतुः" इति 'प्रकाश' कारसम्मतं पाठान्तरम् ।

वायुओंसे, अथवा—'धुतापतत्………' पदमें 'आपतत्' पदच्छेद करके 'गिरते हु स्थानमें 'आते हुए' अर्थ समझना चाहिये) पोडित (पक्षा०—कम्पित) तथा वेग आग्रहयुक्त अर्थात् अतिवेगयुक्त अश्रुधारासे नालसहित कमलके समान नेत्रवा (दमयन्ती) उस समय 'विप्रलम्भ' नामक शृङ्गार रस (पक्षा०—ग्रीष्मके जल या जल, या शोकरस) का तडाग बन गयी थी। नेत्रसे धाराप्रवाह अश्रु गिरनेसे नेत्र समान, अश्रुधारा कमलनालके समान वर्णित है, ग्रीष्म ऋतुमें पानीके कम रहनेसे नाल दिखलायी पड़ता तथा जल निर्मल हो जाता है और वह सनाल कमल होने लगता है। [दमयन्ती उस समय कामपीड़ित होकर धारा प्रवाह आंसू गिरा रोने लगी] ॥ ८६ ॥

अथोद्भ्रमन्ती रुदती गतक्षमा ससम्भ्रमा लुप्तरतिः स्खलन्मतिः।
व्यधात्प्रियावाप्तिविघातनिश्चयान्मृदूनि दूना परिदेवितानि सा॥

अथेति। अथ स्मरविकारोदयानन्तरं प्रियावाप्तिविघातस्य प्रियप्राप्तिप्रति निश्चयात् दूना परितप्ता "स्वादय ओदित" इत्योदित्वातिदेशात् "ओदितश्च" दूङो निष्ठानत्वम्। अत एव सा दमयन्ती उद्भ्रमन्ती उन्माद्यन्ती रुदती मुञ्चती गतक्षमा नष्टधैर्या ससम्भ्रमा सत्वरा लुप्ता रतिर्विषयान्तरस्पृहा यस्याः स्खलन्ती मतिस्तत्त्वावधारणशक्तिर्यस्याः सा सती मृदूनि परहृदयद्रावणानि वितानि विलापवचनानि व्यधात्। अथ प्रियावाप्तिविघातप्रयुक्तचिन्ताविषाद उद्भ्रमादय इत्यनुसन्धेयम् ॥ ८७ ॥

इसके बाद प्रिय (नल) को प्राप्त नहीं होनेके निश्चयवाली वह दमयन्ती, होती हुई, रोती हुई, दुःख सहनेमें असमर्था या धैर्यहीन, (जीवनको भारभूत मा घबड़ाई हुई, (किसी अन्य विषयमें) स्नेह न करती हुई, किंकर्तव्यमूढ तथा परित हुई सुननेवालोंको दयार्द्र करनेवाला विलाप करने लगी ॥ ८७ ॥

त्वरस्व पञ्चेषुहुताशनात्मनस्तनुष्व भस्मसमचयं यशश्चयम्।
विधे! परेहाफलभक्षणव्रती पताद्य तृष्यन्नसुभिर्ममाफलैः ॥ ८८ ॥

अथ त्रयोदशभिः श्लोकैः परिदेवितान्येवाह—त्वरस्वेत्यादि। हे पञ्चेषुहुता कामाग्ने! त्वरस्व त्वरितो भव। भस्मसमजाश्चयं राशिमेवात्मनस्ते यशश्चयं यशो तनुष्व विस्तारय स्त्रीवधख्यातिं सम्पादयेत्यर्थः। हे विधे! विधातः! परेषामीहा लस्य क्रियाफलस्य भक्षणे व्रती नियमी सन् न तु तपस्व्यन्तरवद्वन्यफलभक्षण त्यर्थः। अद्याफलैर्नलानवाप्त्या निष्फलैर्ममासुभिः प्राणैः तृप्यन् तृप्तः सन् पत भव। स्त्रीवधपातकी भवेत्यर्थः ॥ ८८ ॥

(अतिसन्तापकारक होनेसे) हे कामरूप अग्नि! शीघ्रता करो, मेरे भस्मम चितामें जल जानेसे भस्मबहुल) कीर्तिसमूहको फैलाओ, हे विधे! दूसरेकी चेष्टाके

वाला अर्थात् दूसरोंके अभोष्टफलमें प्रतिवन्धक तुम मेरे निष्फल (निरर्थक) तृप्त होते हुए पतित हो जावो [दूसरोंकी चेष्टाके फलको नष्ट करनेका व्रत रखनेवाले विरुद्ध मेरे प्राणोंसे तृप्त होते हो—मुझ निरपराधिनी स्त्रीका वध करते हो—इस व्रत- पापके कारण पतित हो जावो अर्थात् नरक चले जाओ या स्वर्गभ्रष्ट हो जावो; होनेसे पतित होना उचित ही है । अथवा—दूसरोंके अभीष्ट फलको नष्ट करनेमें रहने एवं मुझ स्त्रीके प्राणोंसे तृप्त होनेके कारण तुम पतित हो जावो] ॥८८॥

भृशं वियोगानलतप्यमान ! किं विलीयसे न त्वमयोमयं यदि ।
स्मरेषुभिर्भेद्य ! न वज्रमप्यसि ब्रवीपि न स्वान्त ! कथं न दीर्यसे ॥ ८९ ॥

भृशमिति । हे भृशं वियोगानलेन तप्यमान ! दह्यमान ! हे स्वान्त ! हृदय ! त्वं यदि तर्हि किं न विलीयसे अयोघनस्यापि तापात् विलयनदर्शनादयोम- नासीति भावः । हे स्मरेषुभिर्भेद्य ! अत एव वज्रमपि नासि वज्रस्य लोहले- भावादिति भावः । किन्तु कथं न दीर्यसे न विदलसि वज्रादन्यस्य लोहलेख्य- भावः । न ब्रवीपीति काकुः । किमिति न ब्रूपे स्वत्स्वरूपमित्यर्थः ॥ ८९ ॥

विरहाग्निमें सन्तप्त होते हुए (हृदय) ! यदि तुम लोहमय हो तो क्यों नहीं द्रवित ो ? (अग्निमें तपता हुआ लोहा द्रवित हो जाता है और तुम द्रवित नहीं होते हो लोहमय नहीं हो अर्थात् लोहसे भी कठिन हो) । [हे कामाग्निसे भिन्न होने हृदय ! तुम वज्र भी नहीं हो (क्योंकि वज्र पुष्पवाणोंसे कभी भेद्य नहीं होता), क्यों दीर्ण होते हो, नहीं बोलते हो अर्थात् तुम्हें बोलना चाहिये कि तुम्हारा स्वरूप ?] ८९ ॥

विलम्बसे जीवित ! किं द्रव द्रुतं ज्वलत्यदस्ते हृदयं निकेतनम् ।
जहासि नाद्यापि मृषा सुखासिकामपूर्वमालस्यमहो तवेदृशम् ॥ ९० ॥

विलम्बस इति । हे जीवित ! प्राणवायो ! किं विलम्बसे द्रुतं द्रव शीघ्रं गच्छ । यतस्ते तव अदो निकेतनमावासगृहं हृदयं ज्वलति प्रज्वलति । अद्यापीदानी- मृषा वृथा सुखासिकां सुखासनं धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्यः । न जहासि । गेहे न वस्तव्यमित्यर्थः । तथा तव जीवनस्य ईदृशमालस्यमपूर्वं नूतनमहो ॥

जीवित ! क्यों विलम्ब करते हो ? शीघ्र भागो (क्योंकि) तुम्हारा घर (निवास) यह हृदय (कामाग्निसे) जल रहा है; अब भी सुखपूर्वक बैठनेको नहीं छोड़ते तुम्हारा ऐसा यह आलस्य विचित्र है । [महा आलसी भी व्यक्ति घरमें आग लगते ही नहीं बैठा रहता, किन्तु शीघ्र घरसे भाग जाता है, किन्तु विरहाग्निसे अपने निवासरूप हृदयके जलते रहनेपर भी तुम नहीं निकलते (मैं नहीं मर जाती) आलस्य करनेसे बड़ा आश्चर्य होता है । कामाग्निपीडित प्राणोंको त्यागकर मेरा मर अच्छा है] ॥ ९० ॥

दृशौ ! मृषापातकिनो मनोरथाः कथं पृथू वामपि विप्रलेभिरे।
प्रियश्रियः प्रेक्षणघाति पातकं स्वमश्रुभिः क्षालयतं शतं समाः ॥

दृशाविति। हे दृशौ ! मृषापातकिनोऽनृतपातकिनो मनोरथा नलदि पृथू महत्यौ विप्रलम्भानर्हे इत्यर्थः। वां युवामपि कथं विप्रलेभिरे वञ्चयाम साहसिकाः किन्न कुर्युरित्यर्थः। मनोरथा वां विफला इत्यर्थः। किञ्च प्रियश्रियो सौन्दर्यस्य प्रेक्षणघाति दर्शनघातकं स्वं स्वकीयं पातकं जन्मान्तरकृतमिति अश्रुभिः शतं समाः वत्सरान्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। क्षालयतं गुरुपापं श्चित्तापनोद्यमित्यर्थः। अहो मे दर्शनाशापि निरस्तेति भावः ॥ ९१ ॥

हे दोनों नेत्र ! असत्य (सर्वदा संसारको ठगने) से पातकी (पतित) विशाल (बड़े, पक्षा०—श्रेष्ठ) भी तुम दोनोंको कैसे ठग लिया ? (अथवा—पातकी थोंने असत्यसे विशाल भी तुम दोनोंको कैसे ठग लिया ? अथवा—तुम दोनोंके मनोरथोंने………।) 'हम तुम दोनोंको नलका दर्शन करा देंगे' ऐसा विश्वास देकर दर्शन न करानेसे असत्यभाषी मनोरथोंने तुम दोनोंके साथ अन्याय किया। तथा मनोरथोंके उनसे छोटे होनेसे बड़े नेत्रोंको छोटे मनोरथोंके द्वारा ठगा जाना अनुचित है। प्रिय (नल) की शोभाके देखनेका विनाशक अपने पापको आंसुओं (जलों) से सैकड़ों वर्ष धोवो। [जिस प्रकार कहीं धब्बा लग जाता है तो उसे पानी वार धोया जाता है। उसी प्रकार नल शोभाका दर्शन नहीं करनेसे जो पाप हुआ है, वर्षों तक रोनेसे उसका प्रायश्चित्त करो। नलके दर्शन तक या उसके अभावमें जीवनभर रोना पड़ेगा] ॥ ९१ ॥

प्रियं न मृत्युं न लभे त्वदीप्सितं तदेव न स्यान्मम यत्त्वमिच्छसि।
वियोगमेवेच्छ मनः ! प्रियेण मे तव प्रसादान्न भवत्यसावपि॥

प्रियमिति। हे मनः ! तव ईप्सितमाप्तुमिष्टं प्रियं न लभे, तदलाभे ईप्सितं मरणञ्च न लभे तस्मात् त्वं मम यदिच्छसि तन्न स्यादित्यन्वयव्यतिरेकदर्शन भावः। अतो मे प्रियेण वियोगमेवेच्छ तव प्रसादादसौ वियोगो मे मम न नलप्राप्त्यभावे मरणमेव मे शरणमित्यर्थः। अत्र संयोगार्थं वियोगप्रार्थनाद्विचि लङ्कारः। "विचित्रं स्वविरुद्धस्य फलस्याप्त्यर्थमुद्यमः" इति लक्षणात् ॥ ९२ ॥

हे मन ! (मैं) तुम्हारे प्रिय (नल) को नहीं पाती हूं और तुम्हारे मृत्युको भी नहीं पाती हूं, तुम जो चाहते हो वही मेरा कार्य नहीं होता है अर्थात् तुम्हारी इच्छाके विपरीत ही मेरा सब कुछ होता है, (अत एव तुम) प्रिय (नल) विरह की इच्छा करो, कि तुम्हारी प्रसन्नतासे मेरा वह (नलके साथ विरह) भी न [तुम जिस नल या मृत्युको चाहते हो उनमें-से एक भी नहीं हो रहा है-सर्वथा विपरीत ही हो रहा है अतएव तुम यदि नलका विरह चाहोगी तो उसके भी विप

के साथ मेरा संयोग हो जायेगा और यह कार्य तुम्हारी कृपासे होगा, अतएव तुम करो] ॥ ९२ ॥

न काकुवाक्यैरतिवामसङ्गजं द्विषत्सु याचे पवनन्तु दक्षिणम् ।
दिशापि मद्भस्म किरत्वयं तया प्रियो यया वैरविधिर्वधावधिः ॥ ९३ ॥

ति । द्विषत्सु चन्द्रादिवैरिमध्ये अतिवाममतिवक्रमङ्गजं कामं काकुवाक्यैः करु- णैः न याचे न प्रार्थये, किन्तु दक्षिणं दक्षिणदिग्भवं दाक्षिण्यवन्तं च पवनं याचे, कि? अयं पवनो यया दिशा प्रियो नलः सञ्चरते तया दिशा तद्दिग्भागेनापि किरतु क्षिपतु । प्रार्थनायां लोट् । ननु दक्षिणोऽपि शत्रुपक्ष्यः कथमुपकरिष्यति वैरविधिर्वैराचरणं वधावधिर्मरणान्तः मरणान्तानि वैराणीति न्यायादित्यर्थः ॥

शत्रुओंमें (चन्द्र, चन्दन, काम, मलयानिल आदि बहुत-से शत्रुओंमें) अत्यन्त वाम प्रतिकूल (अथवा—स्त्रीका या स्त्री वचनका उल्लङ्घन करनेवाला, अथवा—रति है जिसकी ऐसा, अथवा—रति (स्वस्त्री) का सुन्दर पति, अथवा—रति अर्थात् विरही अनुरागमें प्रतिकूल) अङ्गज अर्थात् कामदेव (पक्षा०—पुत्र) से दीन वाक्यों द्वारा ना नहीं करती हूं, किन्तु दक्षिण (अनुकूल, पक्षा०—दाक्षिण्य गुणसे युक्त, या दिशासे आनेवाले) पवनसे याचना करती हूं । (प्रतिकूल आचरण करनेवाले पुत्रसे याचना नहीं करता, किन्तु दक्षिण (दाक्षिण्य गुण युक्त, या अनुकूल) शत्रुसे वचन कह कर याचना कर लेता है, मेरी याचना यह है कि यह दक्षिण पवन (मेरे मरनेके बाद चितामें जलानेसे उत्पन्न भस्म) को उस दिशामें फेंके अर्थात् जिस दिशामें प्रिय (नल) हैं, (क्योंकि) वैरका अन्त मरणतक होता है । [मर- भी किसीसे कोई वैर नहीं रखता, अतः दक्षिण पवन (मलयानिल) के अपना नेपर भी मैं उससे दीन वचन कहकर प्रार्थना करती हूं कि दक्षिण दिशामें स्थित देशसे मेरे मृत शरीरके भस्मको उत्तर दिशामें स्थित निषध देशमें उड़ाते हुए पहुंचा के साथ सम्बद्ध देशमें मेरे भस्मको पहुंचानेसे मुझे कृतार्थ करे] ॥ ९३ ॥

अमूनि गच्छन्ति युगानि न क्षणः कियत् सहिष्ये न हि मृत्युरस्ति मे ।
स मां न कान्तः स्फुटमन्तरुज्झिता न तं मनस्तच्च न कायवायवः ॥

अमूनीति । गच्छन्ति विपरिवर्तमानान्यमूनि युगानि न क्षणः एकोऽप्ययं क्षणो यत इत्यर्थः । कियत् सहिष्ये, मृत्युर्मरणञ्च मे नास्ति हि स कान्तस्तु अन्तरात्मनि मां नोज्झिता नोज्झिष्यति, स्फुटं तं कान्तं मनश्च नोज्झिता मनश्च कायवायवः प्राणा नोज्झितारः । हन्त का गतिरिति भावः ॥ ९४ ॥

ये युग बीत रहे हैं, क्षण (एक क्षणका समय) नहीं बीत रहा है (अथवा—कष्टप्रद ये रहे हैं, हर्षकारक एक क्षण भी नहीं बीत रहा है । क्षणमें एक वचन, युगमें बहु- तथा 'गम्' धातुमें वर्तमानका प्रयोग होनेसे एक क्षणका समय भी अनेकों युगोंके

समान होकर बीत रहा है, अभी बीत नहीं गया है न मालूम कबतक बीतेगा ? यह होता है, कब तक मैं (दुःख) सहूंगी, मेरी मृत्यु भी नहीं है; [क्योंकि निश्चय ही (प्रिय, या मनोरम नल) अन्तरात्मामें मुझे नहीं छोड़ेगा, और उसे (नलको) मेरा नहीं छोड़ेगा तथा उस मनको काय-वायु अर्थात् शरीरस्थ प्राणवायु नहीं छोड़ेगा (प्रकार) परम्पराके सर्वदा बने रहनेसे मेरी मृत्यु भी दुर्लभ है] ॥ ९४ ॥

मदुग्रतापव्ययसक्तशीकरः सुराः ! स वः केन पपे कृपार्णवः ।
उदेति कोटिर्न मुदे मदुत्तमा किमाशु सङ्कल्पकणश्रमेण वः ॥९५॥

मदिति । हे सुराः ! मदुग्रतापव्यये मदतितीव्रसन्तापशान्तौ शक्ता शीकरा यस्य स प्रसिद्धो वो युष्माकं कृपार्णवः केन पपे पीतः । अगस्त्येन प्रसिद्ध इवेति भावः । त्वल्लोभेनैव पीत इत्यत्राह—सङ्कल्पकणश्रमेण अभिध्यानलेशप्रया मत्तोऽप्युत्तमा कोटिः स्त्र्यन्तरमित्यर्थः । वो युष्माकं मुदे आशु नोदेति किमु दिवदिति भावः । तस्मादनुकम्पनीये जने विपरीताचरणमनुचितमिति तात्पर्यार्थः

हे देवों ! मेरे तीव्र (नल-विरहजन्य) सन्तापके नाश करनेमें समर्थ बिन्दुवाला लोगोंका कृपासमुद्र किसने पी लिया है 'एक जल-समुद्रको तो अगस्त्य मुनिने पी था' यह पुराणादिमें उल्लिखित वचनोंसे ज्ञात है, किन्तु आप लोगोंके जिस कृपा समुद्र एक बूंद भी हमारे सन्तापको दूर करनेमें समर्थ है, उसे किसने पी लिया अर्थात् आप मुझपर कृपा क्यों नहीं करते ? आप लोगोंके लेशमात्र सङ्कल्प (इच्छा) के परि शीघ्र ही मुझसे उत्तम करोड़ों स्त्रियां आप लोगोंके हर्षके लिए नहीं उत्पन्न हो जायेंगी [अर्थात् यदि आप लोगोंके थोड़ी-सी इच्छा मात्र करनेसे मुझसे भी उत्तम करोड़ों उत्पन्न होकर आप लोगोंको हर्षित कर सकती हैं तो एक तुच्छ मुझे चाहकर आप क्यों पीड़ित कर रहे हैं, अतः कृपाकर मुझे चाहना छोड़ दीजिये] ॥ ९५ ॥

ममैव वाहर्दिवमश्रुदुर्दिनैः प्रसह्य वर्षासु ऋतौ प्रसञ्जिते ।
कथं नु शृण्वन्तु सुषुप्य देवता भवत्वरण्ये रुदितं न मे गिरः ॥९६

अथ मदीयमार्तघोषं देवा नाकर्णयन्तीत्यत्राह—ममैवेति । वा अथवा दिवा च अहर्दिवमहरहरित्यर्थः । ममैवाश्रुदुर्दिनैरश्रुवर्षैरित्यर्थः । प्रसह्य बला ऋतौ वर्षर्तौ 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा' इत्यमरः । "ऋत्यक" इति भावः । प्रसञ्जिते प्रवर्तिते सति देवताः सुष्ठु सुप्त्वा सुषुप्य । "वचिस्वपी" त्यादि सम्प्रसारणम् । "सुविदुर्भ्यः सुपिसूतिसमा" इति षत्वम् । मे गिरः कथं नु शृण्वन्तु सुषुप्तस्य तदयोगादत एव मे गिरः कथमरण्ये रुदितम् । "क्षेपे" इति समासः "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक् । न भवतु । विधेयप्राधान्यादेकव नम् । सम्भावनायां लोट् । निष्फलं वचनमरण्यरुदितप्रायमित्यर्थः । वर्षासु भगव हरेः स्वापादन्यत्रापि देवतात्वसामान्यादारोप्यव्यपदेशः । अत्र तत्कालस्य वर्षा

ां स्वापेन चासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिद्वयम्, तथा तद्गिरामरण्य-सम्भवेन सादृश्याक्षेपान्निदर्शनाभेदः तेन सङ्कीर्णः ॥ ९६ ॥

वा रात-दिन मेरे ही अश्रुरूपी दुर्दिनों (मेघाच्छन्न दिनों) से वर्षा ऋतुके होनेसे देवलोग मेरी प्रार्थनाको कैसे सुनें ?, (अतएव) मेरे वचनका अरण्यरोदन (जंगलमें से नहीं हो ? अर्थात् अरण्यरोदन होवे ही। [वर्षा ऋतुमें देवताओंका सोना पुराणादि प्रतीत है, उस वर्षा ऋतुको रात-दिन रोनेसे आंसुओंके द्वारा दुर्दिन बनाकर उत्पन्न किया है, अतएव मेरे द्वारा ही उत्पादित वर्षा ऋतुमें वे देवता सो रहे हैं या हुआ कोई भी व्यक्ति किसी की बात नहीं सुनता, यही कारण है कि सोये हुए लोग मेरी प्रार्थनाको नहीं सुन रहे हैं और वह अरण्य रोदन (सुन-सान स्थानमें) हो रहा है, अतएव इसमें मेरा ही अपराध है, देवता लोगोंकी कृपाकी कमी मेरे हीं है] ॥ ९६ ॥

यं न ते नैषध ! दृक्पथातिथिस्त्वदेकतानस्य जनस्य यातना ।
दे ह्रदे हा न कियद्गवेषितः स वेधसागोपि खगोऽपि वक्ति यः ॥

मिति । हे नैषध ! इयं त्वदेकतानस्य त्वत्परस्य 'एकतानोऽनन्यवृत्तिः' इत्य-नस्य स्वस्यैवेत्यर्थः । यातना तीव्रवेदना ते तव दृक्पथातिथिर्न दृग्गोचरो न, कर्षादिति भावः । किञ्च यः खगो हंसो वक्ति नलाय मद्यातनां निवेदयेत् स वेधसा अगोपि क्वापि गुप्तः । कुतः, ह्रदे ह्रदे सर्वेषु जलाशयेष्वित्यर्थः । यां द्विरुक्तिः । कियन्न गवेषितो नान्विष्टः । हा बतेत्यर्थः ॥ ९७ ॥

! तुम्हारेमें परायण अर्थात् तुम्हारे अधीन जीवनवाले मनुष्यकी अर्थात् मेरी ना (कठिनतम पीडा) तुम्हारे दृष्टिगोचर नहीं है। अर्थात् तुम्हें दूर देशमें रहनेसे यातना को नहीं देख रहे हो (अथवा—...... दृष्टिगोचर नहीं है ? अर्थात् मेरे यमें होनेसे तुम स्वाश्रित मेरी तीव्र यातनाको अवश्य देख रहे हो, परन्तु यह ना पद्यके उत्तरार्द्धसे विरुद्ध होनेसे हेय है) हाय ! खेद है कि जो पक्षी (राजहंस) री इस यातनाको तुमसे जाकर) कहता, उसे ब्रह्माने छिपा लिया है; (क्योंकि) शयों में मैंने उसे कितना नहीं खोजा ? अर्थात् प्रत्येक तडागोंमें खोजनेपर भी वह मिला अतः मालूम पड़ता है कि उसे उसके स्वामी ब्रह्माने छिपा लिया है, और वह हंस भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता, अन्यथा यदि वह मिल जाता तो मेरी इस यातनाको तुम्हें सुनाता और तुम आकर शीघ्र मुझे इस पीडासे ते, परन्तु ब्रह्माको यह इष्ट नहीं है, इसी कारण उसने उस हंसको कहीं छिपा है] ॥ ९७ ॥

मापि किं नो दयसे दयाधन ! त्वदङ्घ्रिमग्नं यदि वेत्थ मे मनः ।
निमज्जयन् सन्तमसे पराशयं विधिस्तु वाच्यः क्व तवागसः कथा ॥९८॥

ममापीति । हे दयाधन ! कृपानिधे ! मम मनस्त्वदङ्घ्रिमग्नं त्वच्चरणमग्नं यदि वेत्सि चेत् "विदो लटो वा" इति सिपस्थलादेशः । ममापि किं वो ममापि किं नानुकम्पसे, "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" इति षष्ठी । अथवा पर हृदयं सन्तमसे महामोहान्धकारे । 'विष्वक्सन्तमसम्' इत्यमरः । "अवसम स्तमसः" इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः । निमज्जयन् विधिस्तु वाच्य उपाल गसोऽपराधस्य कथा क्व । विधिना व्यामोहितो मामिमां न वेत्थ, न तु दित्यर्थः ॥ ९८ ॥

हे दयाधन (परमदयालो नल)! यदि मेरे मनको तुम्हारे (नलके) चरणों जानते हो तो मुझपर दया क्यों नहीं करते ? (अथवा—मेरे समक्ष क्यों नहीं अर्थात् प्रकट होते ? । अथवा) दूसरेके अभिप्राय (पक्षा०—अन्तःकरण) अन्धकार (पक्षा०—अज्ञान) में डुबानेवाला भाग्य ही निन्दाके योग्य है, तुम्हारे कौन बात है ? अर्थात् कोई नहीं । [मेरे दुर्भाग्यके कारण ही तुम्हें स्वयं या मेरी यातना नहीं मालूम है, अतः इसमें तुम्हारे अपराधकी कोई बात नहीं है, तक मेरी इस यातनाका समाचार पहुंचनेमें बाधक भाग्यका ही यह दोष है, निन्दनीय है, तुम नहीं] ॥ ९८ ॥

कथावशेषं तव सा कृते गतेत्युपैष्यति श्रोत्रपथं कथं न ते ।
दयाणुना मां समनुग्रहीष्यसे तदापि तावद्यदि नाथ ! नाधुना ॥

कथेति । हे नाथ ! तव कृते त्वदर्थं सा दमयन्ती कथैवावशेषोऽवसानं तव श्रोत्रपथं कथं नोपैष्यति उपैष्यत्येवेत्यर्थः । तदापि तच्छ्रवणकालेऽपि कृपालेशेन मां समनुग्रहीष्यसे तावदनुग्रहीष्यस्येवेत्यर्थः । "ग्रहोऽलिटी" तीर्थ अधुना न यदि न चेत् मास्तु पश्चादनुशोचनमपि महानुग्रह इति भावः ॥ ९९

हे नाथ ! वह (दमयन्ती) तुम्हारे अर्थात् नलके लिए मर गयी यह (कानोंतक क्यों नहीं जाय अर्थात् अवश्य जायगा ('मेरे लिये दमयन्ती मर ग बातको लोगोंके द्वारा तुम अवश्य सुनोगे । अतः) यदि इस समय मुझे अनुगृ करते हो तो उस समय (मरनेके बाद) भी लेशमात्र दयासे अच्छी तरह करोगे, ऐसी मैं सम्भावना करती हूं । मेरे मरनेपर भी कुछ शोक करना भी तुम्हारा बड़ा अनुग्रह होगा । दूसरा भी कोई स्वामी अज्ञान या दूरस्थ होने स्वामिभक्तके ऊपर यदि अनुग्रह नहीं करता, किन्तु उसी स्वामीके निमित्त मरे स्वामिभक्त व्यक्तिके लिये अवश्य पश्चात्ताप आदि करके उसे अनुगृहीत करता है]

समादरीदं विदरीतुमान्तरं तदर्थिकल्पद्रुम ! किञ्चिदर्थये ।
भिदां हृदि द्वारमवाप्य मैव मे हृतासुभिः प्राणसमः समङ्गम ॥

समेति । हे नाथ ! ममेदमान्तरं हृदयं विदरीतुं, "वृतो वा" इति दीर्घः ।

त्व, तत्तस्माद्विदारणाद्धेतोः हे अर्थिकल्पद्रुम ! किञ्चिदर्थये याचे किमिति ? मः प्राणतुल्यः त्वं हृदि भिदां भेदमेव। "षिद्भिदादिभ्योऽङ्"। द्वारमवाप्य लभ्या मे मम हतैस्त्वदप्राप्त्या विफलैरसुभिः सममेव मा गमः मा निर्गच्छ इ। "पुषादी" त्यादिना च्लेरङादेशः। "न माङ्योग" इत्यडागमाभावः। मणकाले त्वया जन्मान्तरेऽपि त्वत्प्राप्तिकामाया मे हृदयान्नापयातव्यम्। वापि स्मरन् भावं त्यजन्त्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भा-वितः" इति भगवद्वचनादिति भावः॥ १००॥

रा यह अन्तःकरण विदीर्ण होनेके लिये तैयार है अर्थात् शीघ्र विदीर्ण होना चाहता कारण हे याचकोंके कल्पवृक्ष (नल)! मैं कुछ अर्थात् बहुत छोटी याचना करती चकोंके कल्पवृक्ष होनेसे तुम मेरी याचनाको भी निष्फल नहीं करोगे यह मुझे है। वह याचना यह है कि—) हृदयमें भेदनरूप द्वारको प्राप्तकर (तुम्हें नहीं अभागे मेरे प्राणोंके साथ तुम मत चला जाना। [तुम मेरे प्राणोंके समान हो, अतः है कि तुम्हारे विना हृदयके विदीर्ण होनेपर हतभाग्य मेरे प्राण विदारणरूप द्वारसे जायेंगे, किन्तु तुम भी उसी द्वारसे मत निकल जाना अर्थात् जन्मान्तरमें भी हो मैं हृदयसे अनुरक्त होकर पुनः प्राप्त करूं, यही मेरी याचना है]॥ १००॥

इति प्रियाकाकुभिरुन्मिषन् भृशं दिगीशदूत्येन हृदि स्थिरीकृतः।
नृपं स योगेऽपि वियोगसन्मथः क्षणं तमुद्भ्रान्तमजीजनत् पुनः॥

इतीति। दिगीशदूत्येन हृदि स्थिरीकृतो निरुद्धः स वियोगमन्मथो विप्रलम्भ-रः। इतीत्थं प्रियायाः काकुभिः करुणोक्तिभिः उन्मिषन्नुद्बुद्धः सन् तं नृपं योगे धाने सत्यपि क्षणं पुनरुद्भ्रान्तमुद्भ्रान्तचित्तमुन्मत्तचित्तमिति यावत्। अजी-पदित्यर्थः। उन्मत्तचित्तविभ्रमः सन्निधिविप्रयोगः सर्वथा विकरोतीति ॥ १०१॥

पालोंके दूतकर्मसे हृदयमें शान्त विरह मन्मथ अर्थात् विप्रलम्भशृङ्गारने साक्षात्काररूप में भी इस प्रकार (९।८८–१००) प्रिया दमयन्तीके दीनवचनों से अत्यन्त बढ़ता क्षणमात्र उस राजा (नल) को फिर अतिशय उन्मादित (या विह्वल) कर दिया॥१०१॥

न्द्रदूत्यादि समस्तमात्मनस्ततः स विस्मृत्य मनोरथस्थितैः।
याः प्रियाया ललितैः करम्बिता विकल्पयन्नित्थमलीकमालपत्॥१०२॥

अथोन्मादानुभावः प्रलापः प्रवृत्त इत्याह—महेन्द्रेति। तत उन्मादोदयानन्तरं ल आत्मनो महेन्द्रदूत्यादि समस्तं सर्वकृत्यं विस्मृत्य मनोरथस्थितैः सङ्कल्प-ल्पितैर्विलासैः करम्बिता मिश्रिताः प्रियायाः क्रियाः शृङ्गारचेष्टा विकल्पयन्ना-यन्नित्थं वक्ष्यमाणप्रकारेणालीकमबुद्धिपूर्वकमालपत्॥ १०२॥

के बाद वे नल अपने सम्पूर्ण इन्द्रादिदूतकर्मादिको भूलकर मनोरथसे कल्पित

विलासोंसे मिश्रित प्रियाको क्रियाओं (विलास चेष्टाओं, या शृङ्गार चेष्टाओं) को हुए बिना समझे (अज्ञानपूर्वक) कहने लगे—। [उन्मादके कारण प्रणयकलह सम्भावना करते हुए दमयन्तीसे कहने लगे। उन्मादयुक्त व्यक्तिका अपना कर्तव्य तथा प्रलाप करना अनुचित नहीं होनेसे नलका भी इन्द्रादिके दूतकर्मको भूलकर पूर्वक दमयन्तीके सामने प्रलाप करना दोषजनक नहीं हुआ] ॥ १०२ ॥

अयि ! प्रिये ! कस्य कृते विलप्यते विलिप्यते हा मुखमश्रुविन्दु
पुरस्त्वयालोकि नयन्नयन्न किं तिरश्चलल्लोचनलीलया नलः ॥१०

अथ प्रलापमेवाष्टादशभिराह—अयीत्यादि । अयि प्रिये ! भैमि ! कस्य प्रति विलप्यते । भावे लट् । मुखम् अश्रुबिन्दुभिर्विलिप्यते । प्रदूष्यते । कर्म हेति खेदे । पुरोऽग्रे नमन् प्रणमन् अयं नलस्त्वया तिरश्चलतः तिर्यक् प्रसरतो नस्य लीलया विलासेन । साचीकृतदृष्ट्येत्यर्थः । नालोकि न दृष्टः किम् ? परोक्षवदुपालम्भो न युक्त इत्यर्थः ॥ १०३ ॥

हे प्रिये ! किसके लिये अर्थात् क्यों विलाप करती हो ? हाय ! तुम्हारा मुख की बूंदोंसे लिप्त (व्याप्त) हो रहा है, सामने नम्र होते हुए इस (नल) को अर्थात् मुझे तिर्यक् चञ्चल कटाक्षसे (अथवा—तिर्यक् चञ्चल नेत्र-विलास (कटाक्षादि) से मुझ नम्र होते हुए अर्थात् (प्रणय कुपित तुमको प्रसन्न करनेके लिए) चरणोंमें प्रणाम हुए इस नलको अर्थात् मुझे नहीं देखा क्या ? [प्रणयकुपित होनेसे तुम्हारे नेत्र हो रहे हैं तथा आँसुओंसे भर गये हैं, यही कारण है कि तुमको प्रसन्न करनेके लिये अपने चरणोंपर झुके हुए भी मुझको तुमने नहीं देखा है, अतएव अब रोना और प्रसन्न होवो] ॥ १०३ ॥

चकास्ति बिन्दुच्युतकातिचातुरी घनाश्रुबिन्दुस्रुतिकैतवात्तव ।
[1]मसारसाराक्षि ! ससारमात्मना तनोषि संसारमसंशयं यतः ॥

चकास्तीति । मसारसाराविन्द्रनीलमणिश्रेष्ठौ ताविवाक्षिणी यस्या सम्बुद्धिः । हे मसारसाराक्षि ! घनाश्रुविन्दुस्रुतेः सान्द्राश्रुबिन्दुच्युतेः । कैत विन्दोरनुस्वारस्य च्युतमेव च्युतकं विन्दुच्युतकं विचित्रवाक्यभेदः तत्राति चकास्ति भाति, ततस्तच्चातुर्यादेव संसारं भवं संसारशब्दञ्चात्मना स्वसाम ससारं सारवन्तं च्युतानुस्वारञ्च तनोषि असंशयं संशयो नास्तीत्यर्थः । अर्था व्ययीभावः । त्वया मे संसारसाफल्यमिति भावः । अत्र कैतवशब्देनाश्रुविन्दु स्ताद्रूप्यापह्नवेन वर्णात्मकविन्दुच्युतकत्वारोपादपह्नवभेदः, तदुपजीवनेन ससारमि श्लिष्टपदोपात्तप्रागुक्तार्थद्वयाभेदाध्यवसायेन विन्दुच्युतकाख्याकाव्यकरणोत्प्रे श्लेषमूला सापह्नवोत्प्रेक्षा सा चासंशयमिति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्येति ॥ १०४ ॥

---

[1] "मसारताराक्षि" इति पाठान्तरम् ।

लमके समान श्रेष्ठ नेत्रोंवाली (पक्षा०—नीलमके समान पुतलियोंसे युक्त नेत्रों- सघन (अविरल) अश्रुविन्दुओंके गिरनेके बहानेसे (पक्षा०—सघन अश्रुरूप नहीं रहनेसे) बूंदोंको गिरानेकी अत्यन्त चतुरता (पक्षा०—'विन्दुच्युतक' नामक रवाले विचित्र काव्यकी अत्यन्त चतुरता) शोभती है। जिस (चतुरता) से सार' (जगत्, पक्षा०—'संसार' शब्द) को अपने द्वारा निश्चय ही 'ससार' , पक्षा०—बिन्दु अर्थात् अनुस्वारके नहीं रहनेसे 'ससार' शब्द) कर रही तुम अविरल अश्रुविन्दुओंको जो गिरानेका बहाना कर रही हो, यह तुम्हारी को गिराने (पक्षा०—विन्दुच्युतक शब्दालङ्कारयुक्त विचित्र काव्यरचना की चतुरता है अर्थात् तुम सबसे अधिक अलीक रोदनमें चतुर हो। उस चतुरतासे सार भी) संसार (पक्षा०—'संसार' शब्द) को तुमने 'ससार' (श्रेष्ठ वस्तुसे क्षा०—'ससार' शब्द) कर दिया, अतएव संसारमें तुम्हारे-जैसा अलीक रोदन में चतुर नहीं है यह तुम्हारा अलीक रोदन भी बहुत ही शोभित हो रहा है। रचनामें किसी शब्दके विन्दु अर्थात् अनुस्वार हटा देनेसे उस शब्दका दूसरा अर्थ है, वह 'विन्दुच्युतक'[1] नामक शब्दालङ्कारसे युक्त विचित्र काव्य होता है] ॥१०४॥

अपास्तपाथोरुहि शायितं करे करोषि लीलानलिनं किमाननम् ।
नोषि हारं कियदश्रुणःस्रवैरदोषनिर्वासितभूषणे हृदि ॥१०५॥

स्तेति। हे प्रिये ! किं किमित्यपास्तं त्यक्तं पाथोरुट् लीलापयोरुहं येन करे शायितं स्थापितमारोपितमाननमेव लीलानलिनं करोषि, लीलाकमल- न करकपोलकरणे किं कारणमित्यर्थः। अदोषाण्येव निर्वासितानि परित्य- भूषणानि येन तस्मिन् हृदि अश्रुणःस्रवैरश्रुधाराभिरेव हारं कियत्तनोषि किमर्थं त्यर्थः ॥ १०५ ॥

के कारण) लीलाकमलसे शून्य हाथमें मुखको (रखकर उसे) लीलाकमल रही हो ? (चिन्ताको छोड़कर लीलाकमलको हाथमें ग्रहण करो, हाथ अर्थात् र मुख मत रखो)। विना अपराधके ही निकाले गये हारोंवाले अर्थात् हाररहित आंसुके गिरानेसे हारको कबतक बनाओगी ? (सापराध व्यक्तिको निर्वासित किया

---

[1] तद्यथा—"धर्माधर्मविदः साधुपक्षपातसमुद्यताः ।
गुरूणां वंचने निष्ठा नरके यान्ति दुःखिताम् ॥" इति ।
'ये धर्ममेवाधर्मं विदन्ति, साधुजनानां पक्षस्य नाशाय उद्यताः, गुरूणां वञ्चने वञ्चनाः सन्ति; ते नरके दुःखं प्राप्नुवन्ति' इति सामान्योऽर्थः। 'वंचन' शब्दगतस्या- नाशे 'ये धर्ममधर्मञ्च जानन्ति, साधुजनानां पक्षपातार्थमुद्यताः सन्ति, गुरूणां पराः सन्ति, हे नर ! ते के नरा दुखं प्राप्नुयन्ति न केऽपीत्यर्थः' इत्यन्योऽर्थो विन्दु- इतीदं पद्यं विन्दुच्युतकाख्यशब्दालङ्कारयुतं विचित्रं काव्यमिति बोध्यम् ।

(बाहर निकाला) जाता है, किन्तु तुमने अपराध नहीं करनेपर भी हारोंको निका है और उनके स्थानपर अश्रुबिन्दुओंको अविरल गिराकर हार-सा बना रही हो, य चित है, अतः रोना बन्द करो, हृदयको हारसे अलङ्कृत करो] ॥ १०५ ॥

दृशोरमङ्गल्यमिदं मिलज्जलं करेण तावत् परिमार्जयामि ते ।
अथापराधं भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभिः सममात्ममौलिना ॥१०

दृशोरिति । इदं ते दृशोरक्ष्णोर्मिलदुत्पद्यमानममङ्गल्यममङ्गलकारि तावत् करेण परिमार्जयामि परिमार्ज्मि, मृजेश्चौरादिकाल्लट् । अथाश्रुमार्जना अपराधमात्मवञ्चनदोषं भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभिः समं त्वच्चरणकमलरेणुभिः सहोक्त्यलङ्कारः । आत्मनो मौलिना मुकुटेन प्रणामेनेत्यर्थः । परिमार्जयामि ॥

(तुम्हारे) नेत्रोंमें लगे हुए अमङ्गलकारक इस जल (आंसू) को पहले (सम्यक् प्रकारसे) हाथसे परिमार्जित (दूर) करता हूं अर्थात् पोंछता हूं । इसके बाद चरणकमलद्वयकी धूलिके साथ (अपने किये गये तुम्हारे वञ्चनारूप) अपराधको मस्तकसे परिमार्जित (दूर) करता हूं । [रोना अशुभ है, अतः तुम मत रोवो, मेरे अपराधके कारण तुम रो रही हो तो उस अपराधको चरणकमलोंपर मस्तक क्षमा कराता हूं, अत एव तुम मेरा अपराध क्षमाकर प्रसन्न हो जावो] ॥ १०६ ॥

मम त्वदच्छाङ्घ्रिनखामृतद्युतेः किरीटमाणिक्यमयूखमञ्जरी ।
उपासनामस्य करोतु रोहिणी त्यजत्यजाकारणरोषणे ! रुषम् ॥

ममेति । हे अकारणमेव रोषणे ! कोपने ! "क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च" इति युच् रोहिणी लोहितवर्णा, "वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो न" इति ङीप् नकारश्च । मम टमाणिक्यमयूखानां मञ्जरी सैव रोहिणी चन्द्रप्रिया सैव तारा अस्य पुर तवाच्छाङ्घ्रिनखस्यैवामृतद्युतेश्चन्द्रस्योपासनां करोतु, रोहिण्याश्चन्द्रसेवौचित्य भावः। रुषं रोषं त्यज अभीक्ष्णन्त्यजेत्यर्थः । "नित्यवीप्सयोः" इति नित्यार्थे द्वि नित्यमभीक्ष्णम् । "प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मना" मिति भावः । लङ्कारः ॥ १०७ ॥

मेरी रोहिणी (लाल वर्ण, पक्षा०—'रोहिणी' नामकी तारा) मुकुटमें माणि किरणोंका समूह या मञ्जरीके समान कान्ति इस (प्रत्यक्षस्थित) तुम्हारे निर्मल चरण रूपी चन्द्रमाकी सेवा करे, हे निष्कारण क्रोध करनेवाली प्रिये ! क्रोधको छोड़ो छोड़ो । तुम्हारे चरणोंपर मस्तकसे प्रणाम करता हूं, तुम बहुत शीघ्र क्रोधको छोड़ो, निष्कारण मत करो । चन्द्रमाकी स्त्री 'रोहिणी' नामकी तारा चन्द्रमाकी जिस प्रकार उपासना है, उसी प्रकार मेरी रक्तवर्ण मुकुटमें जड़े हुए माणिक्योंकी लालवर्णवाली कान्ति चरणोंकी उपासना करती है, अतएव इस सेवासे निष्कारण क्रोधको छोड़कर तुम मेरे शीघ्र ही प्रसन्न हो जावो] ॥ १०७ ॥

मानं मयि चेन्मनागपि त्वयि श्रये तद्बहुमानमानतः ।
वक्त्रं यदि वर्तसे कियन्नमामि ते चण्डि! तदा पदावधि ॥१०८॥

वोपीति । हे चण्डि ! अतिकोपने ! मनागीषदपि मानं मयि रोषमपि तनोषि तर्हि त्वयि विषये आनतः सन् बहुमानं श्रये सन्मानं कुर्वे, प्रतिकोपाशक्तेः ावः । अतिकोपं चेति गम्यते । किञ्च वक्त्रं कियत् किञ्चिद्विनम्य विनमय्ये- । अन्तर्भावितो णिजर्थः । वर्तसे तदा ते पदावधि पादपर्यन्तं नमामि । पूर्वोक्त ायः ॥ १०८ ॥

तुम मुझमें थोड़ा भी मान करती हो, तो मैं तुम में नम्र होकर अधिक मान —सत्कार) करता हूं । (और) हे चण्डि (कोपशीले प्रिये) ! यदि मुखको कारणसे) कुछ अर्थात् थोड़ा भी झुकाकर रहती हो तो मैं (अपने मुखको) तुम्हारे तक झुकाता हूं । [तुम्हारे थोड़े मानको बहुत मानसे तथा थोड़ी मुखकी नम्रताको अपने मुखको नम्रकर क्रमशः तुम्हारे मान तथा क्रोधको दूर करता हूं । अतएव क्रोध छोड़कर तुम मेरे ऊपर प्रसन्न होवो] ॥ १०८ ॥

भुत्वभूम्नानुगृहाण वा न वा प्रणाममात्राधिगमेऽपि कः श्रमः ।
क याचतां कल्पलतासि मां प्रति क्व दृष्टिदाने तव बद्धमुष्टिता ॥१०९॥

त्वेति । हे भैमि ! प्रभुत्वभूम्ना प्रभुत्वप्रयुक्तगौरवेणानुगृहाण वा न वा, किन्तु मात्रस्याधिगमे स्वीकारेऽपि कः श्रमः को भार इत्यर्थः । अथ सोऽपि माभूत् मात्रेणापि किं नानुगृह्णासीत्याह—क्वेति याचतामर्थिनां कल्पलतासि, क्व ? त्वं । असीतित्वमर्थवाक्यालङ्करणयोर्युष्मदर्थानुवादेऽपीति गणव्याख्यानात् । मां दृष्टिदाने बद्धमुष्टिता लुब्धता क्व ? 'स्याद्बद्धमुष्टिः कृपणे कृपणादिषु चेष्यत' इति । विरूपघटनारूपो विषमालङ्कारः ॥ १०९ ॥

मेरे जीवनका एकमात्र आधार होनेसे मेरे ऊपर तुम्हारा पूर्ण प्रभुत्व है, अतएव उस) की बहुलतासे (मुझे) अनुगृहीत करो या न करो किन्तु केवल (मेरे) प्रणाममात्र कार करनेमें कौन प्रयास है ? (प्रभु प्रजा या दासजन पर अनुग्रह करे या न करे; दासके प्रणामको तो स्वीकार करता ही है, अतएव तुम मेरे अपराधको क्षमा करो करो; किन्तु मेरे प्रणामको तो अवश्य स्वीकार करो) । याचना करनेवालोंकी कल्प- हो यह कहां ? (तथा) मेरे प्रति दृष्टि मात्र देने अर्थात् एक नजर देखनेमें भी की बद्धमुष्टिता (कृपणता, पक्षा०—कुछ नहीं देना पड़े इसके लिए मुट्ठी बांध लेना) ! अर्थात् दोनोंमें महान् अन्तर है, अतः तुम केवल कटाक्षमात्रसे भी देखकर मुझे हीत करो ॥ १०९ ॥

रेषुबाधां सहसे मृदुः कथं हृदि द्रढीयः कुचसंवृते तव ।
मेत्य वैसारिणकेतनस्य वा व्रजन्ति बाणा विमुखोत्पतिष्णुताम् ॥११०॥

स्मरेति । हे भैमि ! मृदुः मृद्वङ्गी त्वं स्मरेषुबाधां कामबाणव्यथां कथं सह
अथवा विसरतीति विसारी स एव वैसारिणो मत्स्यः "विसारिणो मत्स्ये"
स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । तत्केतनस्य कामस्य बाणाः द्रढीयोभ्यां दृढतराभ्यां कुचाभ्यां सं
तव हृदि निपत्य विमुखाः कुचप्रतिहत्या पराङ्मुखाः । अत एवोत्पतिष्णवः
तनशीलाः, "अलङ्कृञि" त्यादिना इष्णुच्प्रत्ययः । तत्तां व्रजन्ति वा, अन्यथा
मुपेक्षस इति भावः ॥ ११० ॥

सुकुमारी तुम कामदेवके बाणोंकी पीडाको क्यों सहती हो ? अथवा मीनकेतन
(कामदेवके बाण दृढ स्तनोंसे संवृत तुम्हारे हृदयमें गिरकर अर्थात् लगकर विमुख
(लौट जाते, या मुड़ जाते) तथा उछल जाते हैं । [जिस प्रकार कठिन पत्थर आदि
हुए बाण या कील आदि मुड़ते तथा उछल जाते हैं, उसी प्रकार दृढ स्तनरूप कवचसे
क्षित तुम्हारे हृदयमें कामबाण कोई असर नहीं करते हैं, अन्यथा सुकुमारी तुम काम
बाणोंकी पीडाको कैसे सहती । दृढ कवचसे सुरक्षित योद्धाके शरीरमें बाणोंका असर
होना उचित ही है] ॥ ११० ॥

स्मितस्य संभावय सृक्कणा कणान् विधेहि लीलाचलमञ्चलं भ्रुवोः ।
अपाङ्गरथ्यापथिकीञ्च हेलया प्रसह्य[1] सन्धेहि दृशं ममोपरि ॥१११

स्मितस्येति । स्मितस्य कणान्मन्दहासलेशान् सृक्कणा ओष्ठप्रान्तेन । 'प्रान्ता
ष्ठस्य सृक्कणी' इत्यमरः । सम्भावय सम्मानय भ्रुवोरञ्चलमन्तं लीलया चलं च
विधेहि । तथा अपाङ्गरथ्या कटाक्षमार्गः । तत्र पन्थानं गच्छतीतिप थिकीं स
रिणीं "पथः ष्कन्" इति ष्कन्प्रत्यये "षिद्गौरादिभ्यश्च" इति ङीप् । दृशं ममो
परिष्टात्, "षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेने"ति षष्ठी । हेलया प्रसह्य बलात् सन्धेहि प्रसा
त्यर्थः । "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्चे" त्येकारः ॥ १११ ॥

ओष्ठप्रान्तसे मधुर हासके लेशोंको सुशोभित करो, भ्रूद्वयके प्रान्तको लीलासे च
करो अर्थात् विलासपूर्वक भ्रूक्षेप करो, नेत्रप्रान्तरूपी मार्गमें नित्य चलनेवाली
कटाक्ष करनेवाली दृष्टिको मेरे ऊपर अर्थात् मुझे लक्ष्यकर बलात्कारसे (पाठा०—
होकर विलाससे या अनायाससे) फेंको अर्थात् मुझे कटाक्षपूर्वक देखो (पाठा०—
होवो) ॥ १११ ॥

समापय प्रावृषमश्रुविप्रुषां स्मितेन विश्राणय कौमुदीमुदः ।
दृशावितः खेलतु खञ्जनद्वयी विकाशिपङ्केरुहमस्तु ते मुखम् ॥११

समापयेति । किञ्चाश्रुविप्रुषां प्रावृषं वर्षर्तुं वृष्टिमित्यर्थः । समापय मा रोदी
रित्यर्थः । प्रावृट्समाप्तेः फलमाह – स्मितेन मन्दहासेन कौमुदीमुदो विश्राणय
वितर । श्रण दान इति चौरादिकाल्लोट् । दृशावेव खञ्जनद्वयी खञ्जनपक्षियुगमितो

---

[1] "प्रसह्य" इति "प्रसीद" इति च पाठान्तरम् ।

खेलतु प्रसरतु, ते मुखं विकासि पङ्केरुहमस्तु, प्रसन्नं भवत्वित्यर्थः ॥११२॥

श्रु-विन्दुओंके वर्षाकालको समाप्त करो अर्थात् रोना बन्द करो, मधुर हासके चन्द्रि-को (मुझे) दो, चञ्चल होनेसे नेत्ररूप दो खञ्जन पक्षी इधर (मेरे पास, या मेरे) खेलें और तुम्हारा मुख विकसित कमल होवे। [वर्षाकालके समाप्त होनेपर शरद् निर्मल चांदनीका होना, खञ्जन पक्षीका खेलना और कमलका विकसित होना ही है, अतः तुम रोना बन्दकर हंसो, कटाक्षसे देखो और प्रसन्नमुखी होवो] ॥११२॥

सुधारसोद्वेलनकेलिमक्षरस्रजा सृजान्तर्मम कर्णकूपयोः ।
दृशौ मदीये मदिराक्षि ! कारय स्मितश्रिया पायसपारणाविधिम् ॥११३॥

सुधेति। हे मदिराक्षि ! मदकराक्षि ! “इषिमदी”त्यादिना औणादिकः किरच्प्र-। अक्षरस्रजा वर्णावल्या वाग्गुम्फेन कर्णकूपयोरन्तः सुधारसस्योद्वेलनकेलिमु-लीलां सृज। आलपेत्यर्थः। किञ्च मदीये दृशौ स्मितश्रिया करणेन पायसपा-विधिं पायसभोजनविधिमपि कारय। 'परमान्नन्तु पायसम्' इत्यमरः। “हृक्रो-रस्याम्” इति विकल्पादणि कर्तुः कर्मत्वम् ॥ ११३ ॥

र्णोंकी माला (वचन-समूह) से मेरे कर्णकूपद्वयके भीतर अमृतरसकी अतिशय क्रीडा ओ अर्थात् अपने वचनामृतसे मेरे कानोंको तृप्त करो, हे मतवाले नेत्रोंवाली ! मेरे दोनों को मधुर मुस्कानकी शोभासे खीरकी पारणा कराओ [आज तक मेरे नेत्रोंने तुम्हारे भावरूप उपवास व्रत किया है, अतः मधुर मुस्कानसे उन्हें पायस (दूधसे बने पदार्थ-) से पारणा करावो अर्थात् मधुर मुस्कानको दिखाकर उन्हें सन्तुष्ट करो। व्रतोंको पारणासे सन्तुष्टकर तृप्त करना उचित ही है] ॥ ११३ ॥

ममासनार्धे भव मण्डनं नन प्रिये ! मदुत्सङ्गविभूषणं भव ।
भ्रमाद्भ्रमादालपमङ्ग ! मृष्यतां विना ममोरः कतरत्तवासनम् ॥११४॥

ममेति। हे प्रिये ! ममासनार्धे मण्डनं भव। तत्रोपविशेत्यर्थः। नन। अत्यनु-तदित्यर्थः। किंतु मदुत्सङ्गविभूषणं भव, अङ्कमारोहेत्यर्थः। तदपि नेत्याह—भ्रमादालपं भ्रमादालपं भ्रमादालपमित्यर्थः। लपेर्लङ्। अङ्ग ! भो ! मृष्यतां तां, किंतु ममोरो वक्षो विना तवासनं कतरत् किमस्ति ? चापले द्वे भवत इति मिति ननेत्यादौ चापले द्विर्भावः। चापलं संभ्रमान्निवृत्तिः सम्भ्रमश्चानौचित्य-ति। अत्र मैम्याः क्रमेणाधारवृत्तिकथनात्पर्यायालङ्कारः। 'एकमनेकस्मिन्न-केस्मिन् वा क्रमेण पर्यायः' इति सर्वस्वकारलक्षणात् ॥ ११४ ॥

रे सिंहासनपर भूषण बनो अर्थात् सिंहासनको अलङ्कृत करो, नहीं नहीं, मेरे उत्सङ्ग , क्रोड अर्थात् गोदी) का विशिष्ट अलङ्कार बनो, हे अङ्ग ! यह भी अत्यन्त भ्रमसे) कहा (पाठा०—हे अङ्ग ! मैंने भ्रमसे कहा), क्षमा करो, मेरे वक्षःस्थलके अतिरिक्त

तुम्हारा आसन कौन-सा है? अर्थात् कोई नहीं। [तुम्हारे योग्य आसन मेरा वक्षः ही है, मेरा सिंहासन या उत्सङ्ग नहीं। उन्हें तो मैंने भ्रमसे कह दिया था, अतः क्षमा चाहता हूं]॥ ११४॥

अधीतपञ्चाशुगबाणवञ्चने ! स्थिता मदन्तर्बहिरेषि चेदुरः।
स्मराशुगेभ्यो हृदयं बिभेतु न प्रविश्य तत्त्वन्मयसंपुटे मम ॥ ११५

किञ्चोरःस्थलाद्यवस्थानेषु ममापि कामादभयमित्याह—अधीतेति। अभ्यस्ता पञ्चाशुगस्य पञ्चेषोर्बाणानां वञ्चना प्रतारणाविद्या यया सा तथोक्ता तस्याः सम्बुद्धिः। प्रायेण मनस्विनां लज्जावशंवदतया मदनवञ्चनताच्छील्यादित्थं सम्बो स्वहृदयप्राणसामर्थ्यसूचनार्थं हे भैमि! त्वं मदन्तर्ममाभ्यन्तरे स्थिता अवस्थिता अथ बहिरुरश्चैषि प्राप्नोषि चेत् तत्तर्हि मम हृदयं (कर्तृ) त्वन्मये त्वदात्मके सं पेटिकायां प्रविश्य स्मराशुगेभ्यः स्मरशरेभ्यो न बिभेतु। त्वया गुप्तस्य मे कु कामाद्भयमित्यर्थः ॥ ११५॥

हे कामवाणको वञ्चना करनेकी विद्याको पढ़ी हुई दमयन्ती! मेरे अन्तःकरण हृदयके भीतरमें स्थित तुम यदि वाहर (वक्षःस्थलपर) आवोगी तो त्वद्रूप सम्पुट (आदि) में प्रवेशकर मेरा हृदय कामदेवके वाणोंसे नहीं डरेगा। [सर्वदा अन्तःकरण स्थित यदि बाहर आकर आलिङ्गन करोगी तो मुझे कामदेव पीडित नहीं करेगा, क्यों वाहर-भीतर रूप दो सम्पुटोंमें प्रवेश करनेके कारण कामवाणोंसे मेरा हृदय निर्भय जायगा]॥ ११५॥

परिष्वजस्वानवकाशबाणता स्मरस्य लग्ने हृदयद्वयेऽस्तु नौ।
दृढा मम त्वत्कुचयोः कठोरयोरुरस्तटीयं परिचारिकोचिता ॥११६॥

परिष्वजस्वेति। हे प्रिये! परिष्वजस्व आलिङ्ग। तथा सति लग्ने मिथो नौ आवयोर्हृदयद्वये स्मरस्यानवकाशा नीरन्ध्रत्वान्निरवकाशा वाणा यस्य त भावस्तत्ता अस्तु। इत्थमालिङ्गनं स्मरशरप्रवेशानवकाशकारकमिति भावः। दृढा कठोरा ममेयमुरस्तटी कठोरयोस्त्वत्कुचयोः परिचारिका उचिता युक्ता। सम नगुणयोः सम्बन्धो युक्त इत्यर्थः। अत्र समालङ्कारः। "सा समालङ्कृतिर्योगे वस्तु नोरनुरूपयोः" इति लक्षणात् ॥ ११६॥

(तुम मेरा) आलिङ्गन करो, हम दोनोंके हृदयद्वयके मिल (परस्परमें अत्यन्त चिपक जानेपर कामबाणके प्रवेश करनेका भी अवकाश (खाली स्थान) नहीं रहेगा। दृढ (मजबू या विशाल) मेरी यह उरस्तटीको तुम्हारे कठिन दोनों स्तनों की सेविका होना उचित है। योग्य व्यक्तियोंका परस्पर समागम होना उचित ही है। परस्परमें अत्यन्त चिपके किसी स्थान या शरीर आदिमें तीसरे किसी सूक्ष्म वस्तुके प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं रहती; अतः तुम मेरा गाढ आलिङ्गन करो, जिससे कामपीडा दूर हो जाय]॥ ११६॥

[1]शुभाष्टवर्गस्त्वदनङ्गजन्मनस्तवाधरेऽलिख्यत यत्र लेखया ।
मदीयदन्तक्षतराजिरञ्जनैः स भूर्जतामर्जतु बिम्बपाटलः ॥ ११७ ॥

शुभेति । यत्र यस्मिन् तवाधरे रेखया रेखाभिरित्यर्थः । जातावेकवचनम् । ङ्गजन्मनः त्वदीयमन्मथोदयस्य सम्बन्धी शुभाष्टवर्गः शुभसूचकाष्टवर्गो ज्योति-प्रसिद्धः अलिख्यत रेखारूपेण लिखितः । रेखारूपस्यैव शुभावेदकत्वात् बिन्दु-त्व वैपरीत्याच्चेति भावः । मदीयदन्तक्षतानां राज्या रञ्जनैः बिम्बफलवत् पाटलः रः भूर्जतां भूर्जपत्रत्वमर्जतु भजतु । अर्जेर्भौवादिकाल्लोट् । अत्राधररेखाणाम-खात्वमधरस्य भूर्जपत्रत्वं चोत्प्रेक्ष्यते । तेन च कामोदयस्य शुभोदर्कत्वं ते । जन्मकालग्रहाधीनभाविशुभावेदको रेखाबिन्दुलेख्यश्चक्रविशेषोद्धार्यो ग्रह-वेशविशेषोऽष्टवर्गः ॥ ११७ ॥

तुम्हारे कामके उत्पत्ति (पक्षा०—विना शरीरसे उत्पन्न अर्थात् मानसपुत्र) का शुभ र्ग रेखाओंसे जिस तुम्हारे अधरमें (ज्योतिषी विद्वान् या ब्रह्मा द्वारा) लिखा गया रे दन्तक्षतसमूहके द्वारा रंगने से बिम्बफलके समान लाल वह अधर भूर्जपत्र बने । की कुण्डलीमें आठ रेखाओंवाला अष्टवर्ग ज्योतिषी विद्वान् लिखते हैं, उनमें रेखाओंका शुभ तथा बिन्दुओंका अशुभ माना जाता है और वह कुण्डली भोजपत्रपर लिखी है; यहां तुम्हारे अधरमें रेखाएं अष्टवर्गकी रेखाएं हैं और मेरे दन्तक्षत-समूह के द्वारा से तुम्हारा अधर ही भूर्जपत्र है । तुम्हारे अधरमें रेखाओंका होना सामुद्रिक शास्त्र- शुभसूचक है । प्राचीन कालमें वर्तमान काल-जैसा कागजकी सुलभता नहीं रहनेसे न्मपत्री (कुण्डली) को भूर्जपत्र पर लिखनेका वर्णन किया गया है । प्राचीन कालके ग्रन्थ अब भी ताडपत्र आदिमें ही उपलब्ध होते हैं ॥ ११७ ॥

तवाधराय स्पृहयामि यन्मधुस्रवैः श्रवःसाक्षिकमाक्षिका गिरः ।
अधित्यकासु स्तनयोस्तनोतु ते ममेन्दुरेखाभ्युदयाद्भुतं नखः ॥११८॥

तवेति । किञ्च तवाधराय स्पृहयामि । अधरं पातुमिच्छामीत्यर्थः । “स्पृहेरी-त” इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । कुत इति चेत्—यस्याधरस्य मधुस्रवैः माक्षिकद्रवैः गिरो वचनानि श्रवसी श्रोत्रे साक्षिणी यस्य तच्छ्रवः साक्षिकं माक्षिकं यासु ताः । प्रेया इति भावः । भवन्तीति शेषः । किञ्च ते स्तनयोरधित्यकासूर्ध्वभागेषु

---

1. “प्रकाश” व्याख्यायां ‘न वर्तसे……(९।११९) इत्यस्यानन्तरं व्याख्यातो वातु’ व्याख्याने सर्वत्रानुपलम्भात् कैश्चित्त्यक्तश्चायं श्लोकः ‘अयि प्रिये कस्य…… ९।०३)’ इत्यस्य व्याख्यायामतः प्रलापमेवाष्टादशभिराचष्टे’ इत्युक्त्या एतच्छ्लोकं ना तदष्टादशश्लोकपूर्त्यभावान्मद्रपुरस्थराजकीयपुस्तकालयस्थग्रन्थेऽस्य ‘जीवातु’ ख्योपलम्भादयं श्लोकोऽत्र स्थापित इत्यवधेयम् । ‘जीवातु’ व्याख्यामेधयमानेन जीवानन्दशर्म्मणाप्ययं श्लोको न व्याख्यातः ।

'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । "उपाधिभ्यान्त्यकन्नासन्नारूढयोः" इति त्यकन्प्रत्ययः । एतेन स्तनयोरद्रिरूपणं गम्यते । मम नखः इन्दुरेखामुद दद्भुतं चन्द्रकलोदयचित्रं तनोतु । कुचकुम्भयोर्नखक्षतञ्च कर्तुमिच्छामीत्यर्थः ॥११८

(मैं) तुम्हारे अधरको चाहता हूं अर्थात् अधरका पान करना चाहता हूं, जिसके क्षरणसे तुम्हारे वचन-कान है साक्षी, जिसका ऐसे मधु हैं। तुम्हारे स्तनद्वयरूप पर्व ऊपरी भागोंमें मेरा नख रेखाके उदयसे आश्चर्यका विस्तार करे अर्थात् स्तनोंपर नखक्ष करना चाहता हूं। [पर्वतके शिखरपर जिस प्रकार वक्र चन्द्रोदय होता है, उसी प्र तुम्हारे अति विशाल स्तनोंके ऊपर नखक्षतकर पर्वतपर वक्र चन्द्रोदय होने के आश्चर्य विस्तार करना चाहता हूं]॥ ११८ ॥

न वर्तसे मन्मथनाटिका कथं प्रकाशरोमावलिसूत्रधारिणी ।
तवाङ्गहारे रुचिमेति नायकः शिखामणिश्च द्विजराड्विदूषकः ॥११

नेति । हे भैमि ! त्वं मन्मथेन कविना कृता नाटिका रूपकविशेषो मन्मथनाटि सती कथं न वर्तसे, वर्तस एवेत्युत्प्रेक्षा । मन्मथोद्दीपनेति च प्रतीयते । उभयं श्लि विशेषणैरुपपादयति--प्रकाशं स्फुटं रोमावलिः सूत्रमिव रोमावलिसूत्रं तद्धारि अन्यत्र सूत्रधारः कथाप्रस्तावकः तद्वती सूत्रधारिणी तव अङ्गहारे मुक्ताहारे नाय मध्यमाणिक्यं रुचिं शोभामेति अन्यत्र नायकः कथानायकोऽङ्गहारे अङ्गविक्षेपे रुचिं प्रीतिमेति । शिखामणिः शिरोरत्नञ्च द्विजराजश्चन्द्रस्य विशेषेण दूषको निन्दको विदू पकस्ततोऽपि रमणीय इत्यर्थः । अन्यत्र द्विजराट् ब्राह्मणो विदूषको नायकस्य हास्य प्रायो नर्मसचिवः शिखामणिरादरणीय इत्यर्थः । एवं सूत्रधारादियोगात् कथं न ना कासीत्यर्थः । अन्यत्र यौवनालङ्कारादियुक्ता कथं न मन्मथोद्दीपनेत्यर्थः । "आलम्ब गुणश्चैव तच्चेष्टा तदलङ्कृतिः । तटस्थश्चेति विज्ञेयश्चतुर्थोद्दीपनक्रमः"। इति लक्षणात्

शोभमान (नाभिके अधोभागस्थ) रोमसमूहरूप सूत्रको धारण करनेवाली तुम कामो न्मादिनी नहीं हो क्या ? अर्थात् कामोन्मादिनी ही हो, तुम्हारे शरीर अर्थात् हृदयके हार (अथवा—हे अङ्ग ! तुम्हारे हारमें मध्य भागस्थ बड़ा मनिया (हारका दाना) शोभा प रहा है तथा (निर्मल, गोलाकार तथा आह्लादक होनेसे) चन्द्रमाको अत्यन्त तिरस्क करनेवाला मुकुट का मणि (अथवा—चोटीमें स्थापित मणि–विशेष) शोभित हो रहा है। [नाटिका[1] पक्षमें – स्पष्टतया रोमावलीरूप सूत्रधार (नान्दीके बाद कथांशको सर्वप्रथम सूचि

---

[1] नाटिकालक्षणं साहित्यदर्पण उक्तं विश्वनाथेन । तद्यथा—

'नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात्स्त्रीप्राया चतुरङ्किका । प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः ॥
स्यादन्तःपुरसम्बद्धा सङ्गीतव्यापृताऽथवा । नवानुरागा कन्याऽत्र नायिका नृपवंशजा ॥
सम्प्रवर्तेत नेताऽस्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः । देवी पुनर्भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥
पदे पदे मानवती तद्वशः सङ्गमो द्वयोः । वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः ॥"

ला पात्र-विशेष) वाली कविकी नाटिका (उपरूपकभेद गत लघुनाटक-विशेष) हो क्या ? अर्थात् अवश्य हो; तुम्हारे अङ्गहार अर्थात् नृत्यमें नायक अर्थात् मुख्य पात्र ो पा रहा है, तथा शिखामणि (नायकपूज्य चूडामणि) द्विजराज (ब्राह्मणादि का राजा अर्थात् ब्राह्मण) विदूषक (नायकका नर्मसचिव हास्यकारक पात्र) है] ॥ ११९ ॥

गिरानुकम्पस्व दयस्व चुम्बनैः प्रसीद शुश्रूषयितुं मया कुचौ ।
निशेव चान्द्रस्य करोत्करस्य यन्मम त्वमेकासि नलस्य जीवितम् ॥१२०॥

गिरा इति । गिरा सम्भाषणेनानुकम्पस्व, चुम्बनैर्दयस्व दयां कुरु, मया कुचौ षयितुं प्रसीद, अन्यथा कथमहं जीवेयमित्याशयेनाह—यत् यस्मात् चान्द्रस्य करस्य किरणसमूहस्य निशेव नलस्य मम त्वमेका जीवितमसि चन्द्रस्य दिवापि सम्भवात् करग्रहणं तस्य निशैकशरणत्वादिति द्रष्टव्यम् ॥ १२० ॥

नसे अनुकम्पा करो अर्थात् मुझसे बातें करके मुझे अनुकम्पित करो, चुम्बनोंसे नोंको देकर) दया करो, मुझसे स्तनोंकी शुश्रूषा करानेके लिये प्रसन्न होवो, चन्द्र- की किरण-समूहों का रात्रिके समान नलका अर्थात् मेरा एकमात्र तुम्हीं जीवन हो । प्रकार किरण-समूहोंसे युक्त चन्द्रमाका जीवन रात्रि है, उसी प्रकार मेरा प्राणाधार तुम्हीं हो; अत एव सम्भाषण कर, चुम्बन देकर तथा स्तन-मर्दन करा कर मुझे वित करो; अन्यथा मैं नहीं जी सकता हूं] ॥ १२० ॥

मुनिर्यथात्मानमथ प्रबोधवान् प्रकाशयन्तं स्वमसावबुध्यत ।
अपि प्रपन्नां प्रकृतिं विलोक्य तामवाप्तसंस्कारतयाऽसृजद्गिरः ॥१२१॥

मुनिरिति । अथैवं भ्रान्त्यनन्तरमसौ नलो मुनिर्यथा मुनिरिव प्रबोधवानुत्पन्नत- बोधः सन्नात्मानं स्वं स्वरूपं प्रकाशयन्तं सन्तमबुध्यत, नलरूपता प्रकाशितेत्य- र्थः । अथ प्रपन्नां प्राप्तां तां प्रकृतिं स्वभावं विलोक्यापि ज्ञात्वापि अवाप्तः द्धः संस्कारो निजदूतत्वस्मारकवासना येन तस्य भावस्तत्ता तया गिरो दूत्यानु- न्येव वाक्यान्यसृजदवोचदित्यर्थः । यथा मुनिर्योगलब्धात्मतत्त्वावबोधोऽपि वशात् बाह्यमनुसन्धत्ते तथा नलोऽपि प्रकटितात्मा पुनः संस्कारवशात् दूत्य- नुसरन्नुवाचेत्यर्थः ॥ १२१ ॥

सके बाद (गत श्लोकमें अपना नाम प्रकाशित करनेके बाद) यह नल मुनिके समान क हुए अपने स्वरूप ('मैं नल हूं' ऐसा) को प्रकाशित करते हुए समझ (यह ी है, ऐसा ज्ञान) कर प्रकृतिस्थ रोदन तथा विलापादिसे रहित उस दमयन्ती (अथवा— ने उद्बुद्ध अपनी प्रकृति) को देखकर फिर संस्कारको प्राप्त करने ('मैं दूत हूं' अतः -कार्यको छोड़ना उचित नहीं है, ऐसे संस्कारके उत्पन्न होने) से वचन बोले—

[शास्त्रादि अभ्यास तथा योग आदिके द्वारा संसारके आवागमन को दूर करनेमें स
ज्ञानको पाया हुआ योगी अपनेको स्वप्रकाश सच्चिदानन्दस्वरूप 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात्
ब्रह्म हूं' ऐसा जान लेता है, और वैसा जानकर पूर्व संस्कारोंसे या प्राप्त ब्रह्मज्ञानसे
गुणत्रयरूप एवं संसारोत्पादिनी अनादि अविद्याको पृथग्भूत जानकर 'मैं पहले मनुष्य
इत्यादि जानता है और इस प्रकार आत्मा तथा प्रकृति को विवेकके द्वारा जानकर
करता है, उसी प्रकार नलने दमयन्तीके विलापादिसे उन्मादित होकर पहले दूतधर्मको
कर बोलते हुए जब नाम बतलाकर अपना परिचय दे दिया, तब दूत-सम्बन्धी संस्
फिर उद्बुद्ध होने से दूतोचित वचन बोलने लगे] ॥ १२१ ॥

अये मयात्मा किमनिह्नुतीकृतः किमत्र मन्ता स तु मां शतक्रतुः ।
पुरः स्वभक्त्याथ नमन् ह्रियाविलो विलोकिताहे न तदिङ्गितान्यपि

अये इति । अये इति विषादे । 'अये विषादे क्रोधे च' इति विश्वः । मया आ
स्वरूपं किं किमर्थमनिह्नुतीकृतः प्रकाशितः, अत्रात्मप्रकाशने स शतक्रतुरिन्द्रस्
किं मन्ता मंस्यते । अथ पुरोऽग्रे स्वभक्त्या नमन् प्रणमन् ह्रिया आविलः कलुषः
तस्येन्द्रस्येङ्गितानि चेष्टितान्यपि न विलोकिताहे न विलोकयिष्यामि । लुटीट् ।
स्वमवलोकितुमपि नोत्सहे इत्यर्थः ॥ १२२ ॥

अरे ! मैंने अपने स्वरूपको क्यों प्रकाशित कर दिया अर्थात् 'मैं नल हूं' ऐसा दम
को क्यों जना दिया (यह तो बड़ा अनुचित हो गया), इस (मेरे दूतकर्मके) विषयमें
क्रतु (इन्द्र, पक्षा०—सैकड़ों अर्थात् बहुत अधिक क्रोध करनेवाले) क्या मानेंगे ? अर्थात्
मुझे अपने दूत-कर्मसे भ्रष्ट ही मानेंगे । पहले (दूत कर्मको स्वीकार करते समय)
इस समय (अपना कर्तव्यपालन न करनेके कारण) लज्जासे नम्र मैं उनकी चेष्टाओं (
जन्य भ्रूभङ्ग आदि विकारों) को भी नहीं देखूंगा, दुःख है । [कर्तव्यसे भ्रष्ट होनेके
में इन्द्रके सामने लज्जासे मुख भी ऊपर नहीं उठा सकूंगा । लोकमें भी कर्तव्यभ्रष्ट
स्वामीके सामने मुख नहीं उठाता] ॥ १२२ ॥

स्वनाम यन्नाम मुधाभ्यधामहं महेन्द्रकार्यं महदेतदुज्झितम् ।
हनूमदाद्यैर्यशसा मया पुनर्द्विषां हसैर्दूतपथः सितीकृतः[1] ॥ १२३ ॥

स्वेति । यद्यस्मात् मुधा वृथैव स्वनाम अभ्यधान्नाम ? अवोचं खलु !
तन्महेन्द्रकार्यमुज्झितं त्यक्तम् । अहो हनूमदाद्यैः दूतपथो यशसा सितीकृतो ध
लीकृतो मया पुनर्द्विषां हसैर्हासैः, "स्वनहसोर्वा" इत्यप्प्रत्ययः । सितीकृतो धवल
कृतः । यशोवद्धासस्यापि धवलत्वादिति भावः । विश्वेश्वरीये तु हासस्य धावल्येऽपि
शत्रुहासस्य मालिन्यापादकत्वादित्याशयेन मेचकीकृतमिति व्याख्यातम् ।

---

[1] "शितीकृतः" इति पाठान्तरम् ।

वक्रौ" इत्यमरः । अत्र हनूमद्ग्रहणं पूर्वकल्पाभिप्रायमन्यथा कृतत्रेतावर्तिपुरु-पौर्वापर्यविरोधादिति ॥ १२३ ॥

जो अपना नाम व्यर्थमें प्रकट कर दिया, यह महेन्द्रका बड़ा कार्य छोड़ दिया। आदिके द्वारा (ठीक २ दूतकार्य करके) यशसे श्वेत किये गये मार्गको मैंने की हँसी (उपहास) से श्वेत (पाठा०—काला अर्थात् दूषित) कर दिया। मान् आदि दूतोंने अपना दूतकार्य यथोचित करके यश प्राप्त किया तथा मैंने अपने यहां बतलाकर बड़ा अनुचित किया, अतः मेरे शत्रु 'इन्द्रादि दिक्पालोंका दूतकार्य कर नलने वहां पर अपना ही कार्य सिद्ध किया, या इन्द्रादिका नहीं किया, ऐसा करेंगे, इस प्रकार कर्तव्यभ्रष्ट होकर मैंने शत्रुओंका उपहास प्राप्त किया] ॥ १२३ ॥

धियात्मनस्तावदचारु नाचरं परस्तु यद्वेद स तद्वदिष्यति ।
जनावनायोद्यमिनं जनार्दनं क्षये जगज्जीवपिबं वदन् शिवम् ॥१२४॥

धियेति । अथवा तावदात्मनो धिया बुद्धिपूर्वकमित्यर्थः । अचार्वसाधु नाचरं स्थिते परोऽन्यो जनो यदचारु वदिष्यति तत्तु जनानामवनाय रक्षणायोद्यमिन-मिनं विष्णुमिति शेषः, जनानामर्दयतीत्यर्दनं संहर्तारम् । नन्द्यादित्वात् ल्युट् । अथ क्षये कल्पान्ते जगज्जीवानां पिबतीति पिबं संहर्तारं रुद्रमिति शेषः । त्रादिना" शप्रत्ययः । शिवं शान्तं वदन्, शिवमशिवमशिवं शिवञ्च वदन्नित्यर्थः । र एव वेद अनर्गलो लोकस्तावदास्तां ममानपराधित्वमन्तर्यामिसाक्षिकमिति ॥ १२४ ॥

(अथवा—) यह कार्य (स्व-नाम-प्रकाशन) मैंने बुद्धिसे नहीं किया अर्थात् पूर्वक (उन्मादित होनेसे अज्ञानपूर्वक) किया (अतः मेरा कोई अपराध नहीं है, भी) लोगोंकी रक्षाके लिए प्रयत्नशील (विष्णुको) जनार्दन (मनुष्योंको पीडित वाला) तथा प्रलयकालमें संसारके प्राणोंको पीने (नष्ट करने) वाले (रुद्रको) शिव ल करनेवाला) कहनेवाले दूसरे व्यक्ति (या शत्रु) जो (अज्ञानपूर्वक नाम प्रकाशित से दोषरहित होनेपर भी मुझे सदोष) कहेंगे, वह मैं जानता हूं। लोग अनर्गल बातें करते हैं, उसे रोकनेका कोई उपाय नहीं है ॥ १२४ ॥

स्फुटत्यदः किं हृदयं त्रपाभरात् यदस्य शुद्धिर्विबुधैर्विबुध्यताम् ।
विदन्तु ते तत्त्वमिदं तु दन्तुरञ्जनानने कः करमर्पयिष्यति ॥ १२५ ॥

स्फुटतीति । अदो हृदयं त्रपाभराल्लज्जातिभारात् स्फुटति किम् ? स्फुटिष्यति म् ? "आशंसायां भूतवच्च" इति चकारादाशंसायां भविष्यदर्थे वर्तमानवत्प्र-यः । यद्यस्मात् स्फुटनादस्य हृदयस्य शुद्धिर्विबुधैर्देवैर्विबुध्यतां ज्ञायताम् । अतः नमाशास्यमित्यर्थः । परन्तु ते विबुधास्तत्त्वं हृदयशुद्धिं विदन्तु, तथापि दन्तुर-

मतिर्विषमन्तदेवाह–जनानने कः करमर्पयिष्यति न कोऽपीत्यर्थः । कथञ्चिद्देवता त्यायनेऽपि जनप्रत्यायनं दुष्करमिति तात्पर्यार्थः ॥ १२५ ॥

('दमयन्तीके सामने अपने नामको प्रकाशितकर मैंने इन्द्रादि दिक्पालोंका दू नहीं किया' इस) लज्जाके बोझ (अधिकता) से यह मेरा हृदय क्यों विदीर्ण हो (ऐसा होना उचित नहीं है) क्योंकि विबुध (इन्द्रादिदेव, पक्षा०—विशिष्ट ज्ञानवा पण्डित) इसकी अर्थात् मेरे हृदयकी शुद्धिको अच्छी तरह जानें । वे देवता प्रकाश (सर्वान्तर्यामी होनेसे स्पष्ट दिखलाई पड़ता हुआ) इस तत्त्व (मेरी निष्कपट वृ को जानें, लोगोंके मुखपर हाथ कौन रखेगा (लोगोंके मुखको कौन बन्द करेगा)? कोई नहीं । [दुनियांके लोग चाहे कुछ कहें, सर्वान्तर्यामी देवता मेरी निष्कपट वृ जानते हैं, अतः मुझे लज्जित एवं दुःखित नहीं होना चाहिये] ॥ १२५ ॥

मम श्रमश्चेतनयानया फली बलीयसाऽलोपि च सैववेधसा ।
न वस्तु दैवस्वरसाद्विनश्वरं सुरेश्वरोऽपि प्रतिकर्तुमीश्वरः ॥ १२६ ॥

ममेति । मम श्रमो दूत्यप्रयासः अनया चेतनया स्वरूपनिगूहनबुद्ध्या सफलः स्यात् , बलीयसा बलवत्तरेण वेधसा दैवेन सा चेतनैवालोपि नाशिता तथा हि-दैवस्य स्वरसात् स्वेच्छातो विनश्वरं वस्त्वर्थं सुरेश्वरः शक्रोऽपि प्रति नेश्वरो न शक्त इत्यर्थान्तरन्यासः । ईदृशी भवितव्यतेति भावः ॥ १२६ ॥

इस चैतन्य ('मैं दूत हूं' ऐसे ज्ञान) से मेरा परिश्रम (दूतकर्म) सफल है, (चेतना) को बलवान् दैवने ही नष्टकर दिया (दैववश मेरा चैतन्य ही नष्ट हो अन्यथा मैं अपना नाम कदापि प्रकाशित नहीं करता, अतः मेरा कोई अपराध नहीं क्योंकि) दैवेच्छासे नाशशील पदार्थको देवेन्द्र भी ठीक करनेके लिये समर्थ नहीं हैं मनुष्य होकर मैं कैसे ठीक कर सकता हूं । [अतः मुझे अपनेको कर्तव्यभ्रष्ट नहीं मान चाहिये] ॥ १२६ ॥

इति स्वयं मोहमयोर्मिनिर्मितं प्रकाशनं शोचति नैषधे निजम् ।
तथा व्यथामग्नतदुद्दिधीर्षया दयालुरागाल्लघु हेमहंसराट् ॥ १२७ ॥

इतीति । इतीत्थं नैषधे नले मोहमयोर्मिणा अज्ञानविलसितेन निर्मितं नि मात्मीयं स्वयं प्रकाशनं स्वस्वरूपप्रकटनं प्रति शोचति व्यथमाने सति दयालुर्हं सराट् सुवर्णराजहंसः तथा व्यथामग्नस्य तस्य नलस्योद्दिधीर्षया उद्धर्तुमिच्छया, धरतेरुत्पूर्वात् सन्नन्तात् स्त्रियामप्रत्यये टाप् । लघु क्षिप्रमागादागतः ॥ १२७ ॥

इस प्रकार (श्लो० १२२–१२६) मोहरूपी महातरङ्गोंसे निर्मित (अपने नामके प्रकाशनको नलके सोचते (उस विषयको लेकर पश्चात्ताप करते) रहनेपर दयालु सुवर्ण राजहंस उस प्रकारकी अनिर्वचनीय अर्थात् बड़ी पीड़ामें फँसे हुए उस नलका उद्धार करने की इच्छासे शीघ्र आ गया ॥ १२७ ॥

लं स तत्पक्षरवोर्ध्ववीक्षिणं स एष पक्षीति भणन्तमभ्यधात् ।
वादयैनामति मा निराशतामसून् विहातेयमतः परं परम् ।। १२८ ।।

मिति । स राजहंसः तस्य हंसस्य पक्षरवेण निमित्तेनोर्ध्वं वीक्षत इति तथा एष स सर्वोपकारी पक्षीति भणन्तमेव नलमभ्यधात् अभिहितवान् । ! निर्दय ! एनां दमयन्तीमतिनिराशतां नैराश्यं मा नय प्रापय । कुतः अतः परं केवलमसून् प्राणान् विहाता विहास्यति । जहातेर्लुट् । तदेतत्प्राणत्राण- ा त्वया नैवमाशाच्छेदः कार्यं इत्यर्थः ॥ १२८ ॥

राजहंसने, उस (राजहंस) के पंखोंके शब्दसे ऊपर देखनेवाले तथा यह वही रा पूर्व परिचित एवं परमोपकारी राजहंस)है, ऐसा कहते हुए नलसे कहा कि (दमयन्ती) को प्राप्त (स्वीकृत) करो—हे निर्दय ! इस (दमयन्ती) को अत्यन्त मत करो (क्योंकि यदि तुम इस प्रकार (श्लो० १२२–१२६) अपने नामको करनेके लिए खेद करोगे तो) इसके बाद यह दमयन्ती केवल प्राणोंको ही र्थात् मर जायेगी (और इस कारण तुम्हें स्त्रीवधजन्य पाप लगेगा, अतएव अब ार करनेकी दया करो) (अथवा······हे निर्दय ! 'अतिमा इयम् अनिराशताम्' पनी शोभासे लक्ष्मीको जीतनेवाली इस दमयन्तीको निराश मत करो । अथवा— ···इसे स्वीकार करो । 'हे अतिम ! इयम् अनिराशताम्' अर्थात् 'अतिक्रान्त) शोभावाले नल ! इसे निराश मत करो' । तुम अत्यन्त सुन्दर हो और यह सुन्दरी है; अतः योग्यका योग्यके साथ ही समागम होना उचित होनेसे इसे करो, स्वीकार करो अन्यथा तुम्हें पतिरूपमें प्राप्त नहीं करनेसे यह शीघ्र ही मर और इसके विरहमें तुम भी अपना प्राण–त्याग कर दोगे; इस प्रकार दोनोंका में चला जायेगा, अतः विकल्प छोड़कर अब तुम इसे स्वीकार करने की दया करो ॥)

यन्निजसापराधतामियत्प्रयस्यापि यदर्थसिद्धये ।
साक्षीभवनोचितो भवान् सतां हि चेतः शुचितात्मसाक्षिका ।।१२६।।

विति । हे नल ! भवान् तदर्थस्य सुरकार्यस्य सिद्धये इयदेतावत् प्रयस्या- पि, यसु प्रयत्न इति धातोः समासे क्त्वो ल्यबादेशः । सुरेषु विषये निजां तामेव पश्यन् उत्प्रेक्षमाणः सन् कूटसाक्षीभवनस्य कपटसाक्षीभावस्य । चितः। उचितो न अनपराधिन्यात्मन्यपराधोत्प्रेक्षित्वमेव कूटसाक्षित्वं तत्ते मित्यर्थः । तथा हि–सतां चेतःशुचिता चित्तशुद्धिः आत्मसाक्षिका स्वप्रमा- हि । स्वयं प्रमितेऽर्थे किं विचारणयेत्यर्थः ॥ १२९ ॥

(इन्द्रादि दिक्पालों) के लिये इतना प्रयास करके भी देवताओंके विषयमें अपने (जैसे दयमन्तीके सामने अपना नाम प्रकाशितकर देवताओंके साथ विश्वासघात अपने दोष) को देखते हुए आप कपटसाक्षी (असत्य भाषण करनेवाला हे हैं०

गवाह) नहीं होते हो अर्थात् तुम निष्कपट कार्यकर्ता ही होते हो; क्योंकि सज्जनोंके शुद्धि (निष्कपटता) आत्मसाक्षिणी रहती है। [सज्जन व्यक्ति कपटयुक्त व्यवहार दूसरेके मालूम नहीं होने पर भी अपने मनमें स्वयं ही लज्जित होते हैं, अतः तुम्हारा अपने कर्तव्यपालनसे शुद्ध है तो दूसरे लोगोंके निन्दा या उपहास आदि करनेकी नहीं करनी चाहिये] ॥ १२९ ॥

इतीरिणापृच्छ्य नलं विदर्भजामपि प्रयातेन खगेन सान्त्वितः।
मृदुर्बभाषे भगिनीं दमस्य स प्रणम्य चित्तेन हरित्पतीन्नृपः ॥ १३

इतीति। इतीरिणा इत्थंवादिना नलं विदर्भजामपि भैमीं चापृच्छ्यामन्त्र्य तेन प्रयाणप्रवृत्तेन खगेन हंसेन सान्त्वितो बोधितः स नृपश्चित्तेन हरित्पतीन् दीन् प्रणम्य मृदुरार्द्रचित्तः सन् दमस्य भगिनीं दमयन्तीं बभाषे ॥ १३० ॥

उक्त प्रकार (श्लो० १२८–१२९) से कहनेवाले तथा नल और दमयन्तीसे पूछकर (अनुमति लेकर) गये हुए पक्षी (हंस) से आश्वासित वह राजा (नल) ('अब मेरा कोई कर्तव्य शेष नहीं है, अतएव आपलोग मुझे क्षमा करें' ऐसा कहते हुए) दिक्पालोंको प्रणामकर दयालु होते हुए दमयन्तीसे बोले—॥ १३० ॥

ददेऽपि तुभ्यं कियतीः कदर्थनाः सुरेषु रागप्रसवावकेशिनीः।
अदम्भदूत्येन भजन्तु वा दयां दिशन्तु वा दण्डममी ममागसा॥

दद इति। हे प्रिये ! सुरेषु विषये रागप्रसवे अनुरागजनने अवकेशिनीः असमर्था इत्यर्थः। 'वन्ध्योऽफलोऽवकेशी च' इत्यमरः। कियतीरियत्ता इत्यर्थः। कदर्थनाः कुत्सनाः। अश्लीलप्रयोगानिति यावत्। तुभ्यं केवलं प्रिय इति भावः। ददेऽपि ददाम्यपि अतिगर्हितमाचरामीत्यर्थः। अपि गर्हायाम्। सम्भावनाप्रश्नशङ्कागर्हासमुच्चय' इति विश्वः। किञ्चैवं सति अमी देवाः अदम्भ कपटेन दूत्येन दूतकर्मणा। 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः। वा भजन्तु आगसा अपराधेन मम दण्डं दण्डनं वा दिशन्तु, इतः परमिमां तु न र्थयामीति भावः ॥ १३१ ॥

देवोंमें अनुरागको उत्पन्न करनेमें वन्ध्य अर्थात् निष्फल, तुम्हें भी कितनी (परिमाणयुक्त) पीडा दूं ? (इन्द्रादि देवोंके विषयमें इतना अधिक कहनेपर भी उनके प्रति अनुरागाङ्कुर उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत तुम्हें और मुझे भी पीडा हो अतएव अब देवताओंमें अनुरागकर उन्हें वरण करनेके लिये कोई भी बात कहकर पीडित नहीं करूंगा), निष्कपट दूतता करनेसे ये (इन्द्रादिदेव) मुझपर दया करें मेरे अपराधों (कार्यसिद्धि नहीं करनेसे मेरे दोषों) का दण्ड दें। [देवलोग निष्कपट कार्य करके भी मेरे असफल होनेपर यदि दया न करके मुझे अपराधी समझकर

मैं सहन कर लूंगा, किन्तु देवोंके वरण करनेके विषयमें कुछ भी कहकर तुम्हें हीं करूंगा] ॥ १३१ ॥

अयोगजामन्वभवं न वेदनां हिताय मेऽभूदियमुन्मदिष्णुता ।
देति दोषादपि दोषलाघवं कृशत्वमज्ञानवशादिवैनसः ॥ १३२ ॥

गजामिति । इयमुन्मदिष्णुता उन्मत्तता । "अलङ्कृञ्" इत्यादिना इष्णुच्प्र- मे हितायोपकारायाभूत् । कुतः, अयोगजां वियोगोत्थां वेदनां नान्वभवम् । -अज्ञानवशात् अज्ञानबलादेनसः पापस्य कृशत्वं ज्ञानकृतापेक्षयाल्पत्वमिव माद्दोषादपि दोषस्य वियोगदुःखस्य लाघवमल्पत्वमुदेति तस्माद्दोषोऽपि उपकरोतीति भावः ॥ १३२ ॥

उन्मादशीलता भी मेरे हितके लिए हुई, (क्योंकि मैंने) विरहजन्य वेदनाको या (उन्मादीको किसीके प्रियाप्रियके कारण पीडा नहीं होती, अतः मुझे भी जो पीडाका अनुभव नहीं हुआ, यह अच्छा ही हुआ)। अज्ञानके कारण पापके समान (एक) दोषके कारण भी (दूसरे) दोषका लाघव होता है । [जानकारीमें से जितना दोष लगता है, उतना दोष अजानकारीमें पाप करनेसे नहीं लगता, क दोषसे भी दूसरे दोषमें अपेक्षाकृत कमी होती ही है। प्रकृतमें—यदि मुझे हीं होता तो मुझे और अधिक पीडा होती, उन्माद होना मेरे लिए अच्छा ही ।१३२ ॥

त्ययोगस्मरपावकोऽपि मे कदर्थनात्यर्थतयागमद्दयाम् ।
शामुन्माद्य यदद्य कारयन्मयात्मनो मामनुकम्पते स्म सः ॥१३३॥

ति । हे प्रिये ! इतीत्थं तव कदर्थनानां मदीयाप्रियोक्तिरूपकुत्सनानामत्यर्थ- याधिक्येन हेतुना मे मम सम्बन्धी अयोगे यः स्मरपावकः कामाग्निः सोऽपि मत् दयालुरभूदित्यर्थः । यद्यस्मादद्य स कामाग्निः (प्रयोजककर्ता) उन्माद्य ं कृत्वा मया प्रयोज्येन आत्मनो मत्स्वरूपस्य प्रकाशं प्रकाशनं कारयन् म्पते स्म । तस्मात् कामाग्नेरपि दयोत्पन्नेत्युत्प्रेक्षा । किं बहुना उन्मादप्रसा- नावप्यावां कृतार्थौ स्व इति तात्पर्यार्थः ॥ १३३ ॥

रो (मेरे द्वारा कहे गये अप्रिय वचनोंसे उत्पन्न) पीडाके आधिक्यसे मेरे विरहा- दया की, क्योंकि मुझे उन्मादितकर वह विरहानल मुझसे अपना अर्थात् नलका करता हुआ तुम्हें अनुकम्पित करता है। [त्वद्विषयक विरहानल यदि मुझे हीं करता तो मैं न तो उन्मादित ही होता और न अपने स्वरूपका ('मैं नल हूं' र) प्रकाशन ही करता, इस अवस्थामें मेरे विरहसे तुम मर जाती और तुम्हारे ी मर जाता, इस कारण विरहानलने अधिक पीड़ा देनेसे मुझे उन्मादितकर जो को मुझसे ही प्रकाशित कराया (मेरा नाम मुझसे ही कहलवाया), वह उसने

‘अपने प्रिय नलको मैं प्राप्त कर लूंगी’ ऐसा निश्चय होनेसे तुम्हारे प्राण बच जायें तुम्हारे प्राण बच जानेसे मेरे भी प्राण बच जायेंगे, अतएव विरहानलने मुझे पो उन्मादितकर तथा मेरे नामको प्रकाशित कराकर बड़ी दया की]॥ १३३॥

अमी समीहैकपरास्तवामराः स्वकिङ्करं मामपि कर्तुमीशिषे।
विचार्य कार्यं सृज मा विधान्मुधा कृतानुतापस्त्वयि पार्ष्णिविग्रहम्॥

अमी इति। अमी अमरास्तव समीहायां त्वत्कृतानुरागे एकपरा एकाग्रा त्वामपेक्षन्ते इत्यर्थः। त्वञ्च मामपि स्वकिङ्करं निजदासं कर्तुमीशिषे शक्नोषि शब्दात्तानपीत्यर्थः। “ईशः से” इतीडागमः। किन्तु विचार्य विमृश्य कार्यं उत्पादय। अतः अनुतापः पश्चात्तापः कृतः सन् त्वयि पार्ष्णिविग्रहं पार्ष्णिग्राह मुधा माविधात् माकार्षीत्। अविमृश्यकरणात्पश्चात्तापस्ते मा भूदित्यर्थः। वि दधातेर्लुङि “न माङ्योग” इत्यडभावः॥ १३४॥

ये देव तुम्हारी अभिलाषामें ही तत्पर हैं अर्थात् ये देव ही तुम्हें चाहते हैं तुम नहीं चाहती तुम मुझे भी (‘भी’ शब्दसे देवोंको भी वरणकर) अपना दास ब लिये समर्थ हो अर्थात् ‘मैं तुममें अनुराग नहीं करता’ यह बात नहीं है, किन्तु मैं यद्यपि चाहता हूं तथापि मेरा अनुराग अप्रयोजक है, (देवोंको या मुझे पतिरूपमें व दास बनानेमें तुम स्वतन्त्र हो, अतएव अब) विचार कर कार्यं करो, जिससे तुझे गये वरणरूप कार्यका पश्चात्ताप बादमें विरोध न करे। [देवोंको वरण करनेपर मैं न ही वरण करती तो अच्छा होता ऐसा तथा मुझे वरण करनेपर ‘मैं देवोंको वरण तो अच्छा होता’ ऐसा व्यर्थमें पश्चात्ताप न होवे, इस कारण सोचकर कार्य करो। प्रकार ‘देवोंमें भी इन्द्रको वरणकर ‘मैं यम, अग्नि, वरुण तथा नलमें-से किसीको करती तो अच्छा होता इत्यादि सबके सम्बन्धमें कल्पनाकर लेनी चाहिये] ॥ १३४॥

उदासितेनेव मयेदमुद्यसे भिया न तेभ्यः स्मरतानवान्नवा।
हितं यदि स्यान्मदसुव्ययेन ते तदा तव प्रेमणि शुद्धिलब्धये ॥१३

एतच्च माध्यस्थ्येनैवोच्यते न तु पक्षपातेनेत्याह—उदासितेनेति। उदासितेन दासीन्येन माध्यस्थ्येनैवेत्यर्थः, भावे क्तः कर्तरि वा। उदासितेन मध्यस्थेनैव म इदं पूर्वोक्तमुद्यसे। वदेः कर्मणि लटि यकि, “वचिस्वपी” त्यादिना सम्प्रसार तेभ्यः सुरेभ्यो भिया वा स्मरतानवात् कामप्रयुक्तकार्श्याद्वा न। युवादित्वाद त्ययः। तस्माद्विमृश्य कुर्विति भावः। अथ विमृश्यैव कुर्वे त्वद्वरणमेवेति निश्चय त्राह—मदसुव्ययेन मत्प्राणसमर्पणेन ते तव हितं पथ्यं प्रियं यदि स्यात्। तदा मत्प्रा समर्पणमिति शेषः। तव प्रेमणि विषये शुद्धिलब्धये आनृण्यलाभाय भवति। त्व तानुरागोपकारस्य प्राणसमर्पणमेव प्रत्युपकार इति भावः॥ १३५॥

मैं मध्यस्थ अर्थात् तटस्थ होकर ही यह (श्लो० १३४) वचन तुमसे कहता हूं,

के भयसे नहीं, या कामदौर्बल्यके कारण (अथवा—कामदौर्बल्यके भय) से नहीं; प्राणोंके व्यय (मरने) से भी तुम्हारा हित हो तो (वह मेरा मरण) तुम्हारे द्धि पाने (अनृण होने) के लिए होवे । [मैंने पूर्ववचन किसी पक्षपातसे, देवोंके अपनेमें कामकी शिथिलता होनेसे नहीं कहा है; किन्तु तटस्थतासे ही कहा है कि मुझमें-से किसी एकको वरण करो'। हां, तुम यह भी मत चिन्ता करो कि नको (नलको) नहीं वरण करूंगी तो मर जायेंगे, क्योंकि यदि मेरे मरनेसे हित हो तो उसके लिये मैं सहर्ष तैयार हूं अर्थात् मैं अपने प्राणोंसे तुम्हारा हित हूं, क्योंकि ऐसा करनेसे मैं तुम्हारे प्रेमका ऋणी नहीं रहूंगा] ॥ १३५ ॥

इतीरितैर्[1]नैषधसूनृतामृतैर्विदर्भजन्मा भृशमुल्ललास सा ।
ऋतोरधिश्रीः शिशिरानुजन्मनः पिकस्वरैर्दूरविकस्वरैर्यथा ॥ १३६ ॥

तीति । इतीत्थमीरितैरभिहितैर्नैषधस्य नलस्य सूनृतैः सत्यप्रियवाक्यैरेवामृतैः दर्भजन्मा वैदर्भी शिशिरमनु जन्म यस्य तस्य शिशिरानुजन्मनः शिशिराविनः ऋतोर्वसन्ततॊरधिका श्रीर्दूरविकस्वरैरतिश्लाघ्यैः पिकस्वरैर्यथा कोकिलैरिव भृशमुल्ललास जहर्ष। अत्र सूनृतानामुपमानभूतकोकिलालापवत्तादात्मितिश्राव्यत्वद्योतनार्थं वसन्तस्य शिशिरानुजन्मत्वेन व्यपदेशः ॥ १३६ ॥

प्रकार (श्लो० १३१–१३५) कहे गये पाठा०—ऐसे इन नलके सत्य तथा अमृतवचनोंसे वह विदर्भकुमारी दूर तक पहुंचनेवाले कोयलके स्वरोंसे वसन्तऋतुकी शोभाके समान अत्यन्त हर्षित हुई । [नलका मुझमें अनुराग है, देवोंसे यह डरते नल ही हैं, इत्यादि वचनोंसे दमयन्ती हर्षित हुई पिकस्वरके साथ नल वचनकी श्रीके साथ दमयन्तीकी उपमा देनेसे नलके वचनका पिकस्वरके समान मदनो- एवं मधुर होना और दमयन्तीका वसन्त ऋतुकी विशिष्ट शोभाके समान प्रिय होना होता है] ॥ १३६ ॥

नलं तदावेत्य तमाशये निजे घृणां विगानञ्च मुमोच भीमजा ।
जुगुप्समाना हि मनो द्रुतं तदा सतीधिया दैवतदूतधावि सा ॥१३७॥

नलमिति । तदा नलस्य स्वरूपगोपनकाले दैवतदूते धावति प्रवर्तत इति दैवधावि यथा तथा द्रुतं मनः सतीधिया पतिव्रतात्वाभिमानेन हेतुना जुगुप्समाना समाना भीमजा तदा नलस्य स्वरूपकथनकाले तं दूतं नलमवेत्य बुद्ध्वा निजे घृणां परपुरुष इति जुगुप्सां विगानमात्मनिन्दां च मुमोच ॥ १३७ ॥

समय (नलके अपने स्वरूपको छिपानेके समय) देव-समूहक दूतकी तरफ अर्थात् 'यह देवोंका दूत है' ऐसा समझनेवाले मनको सती बुद्धिसे जुगुप्सित हुई ('सती मैं देवदूत इस पुरुषसे सम्भापण कैसे करूं' इस प्रकार जुगुप्सित करती

---

[1] "इतीदृशैः" इति पाठान्तरम् ।

हुई, पाठा०—सतीबुद्धिसे बलात्कारसे लौटाती हुई) उस भीमकुमारी दमयन्तीने समय (नलके आत्मस्वरूपको प्रकट कर देनेपर) उसे (उस दूतको) नल अपने मनमें जुगुप्सा और निन्दाको छोड़ दिया। [यह मन स्वभावतः बुरा है, कारण यह जुगुप्सा तथा अनुचित करनेवाला है, ऐसी निन्दा उत्पन्न हुई थी, नलको पानेकी आशा न रहनेसे शरीरमें घृणा और सतीका परपुरुष उसमें भी दूतके साथ सम्भाषण करनेसे निन्दा उत्पन्न हुई थी। दमयन्तीने नलभिन्न देवदूतके अपने मनके अनुगमन करनेसे उस मनके विषयमें पहले जुगुप्सा तथा अनुचित होनेसे निन्दा की, किन्तु नलके निश्चय होनेके बाद' इस नलमें जो मेरा मन हुआ' यह उत्तम ही हुआ इस कारण हर्षित हुई] ॥ १३७ ॥

मनोभुवस्ते भविनां मनः पिता निमज्जयन्नेनसि तन्न लज्जसे।
अमुद्रि सत्पुत्रकथा त्वयेति सा स्थिता सती मन्मथनिन्दिनी धि

मनोभुव इति। हे मन्मथ ! मनोभुवो मनोजन्यस्य ते भाविनां संसारिणां पिता, तत् पितरं मनः एनसि एवं दुश्चिन्तापापे निमज्जयन्न लज्जसे। त्वया एवं द्रोहिणा सत्पुत्राणां कथा पितृभक्तताख्यातिरमुद्रि मुद्रिता निवारिता इत्येवं भैमी धियान्तःकरणेन मन्मथनिन्दिनी सती स्थिता। तूष्णीं स्थिता सती किञ्चिदुवाचेत्यर्थः॥ १३८ ॥

(सती दमयन्ती कामसे कहती है कि—) मनोभू अर्थात् मनसे उत्पन्न तुम्हारा पिता प्राणियोंका मन है, उसे (पितृस्थानीय मनको) पाप (परपुरुषाभिलाष में डुबाते अर्थात् लगाते हुए तुम लज्जित नहीं होते ? अर्थात् ऐसा अनुचित कार्य हुए तुम्हें लज्जा आनी चाहिए। तुम अर्थात् तुम्हारे-जैसे कुपुत्रोंने सुपुत्रोंकी कथा (पुत्रोंसे पिता पुण्यलोकको प्राप्त करते हैं, ऐसी कथा) को समाप्तकर किया है। इस बुद्धिसे कामदेवकी निन्दा करती हुई पतिव्रता वह दमयन्ती स्थित हुई (नलके जानेपर कामदेवकी निन्दा करनेसे विरत हुई, अथवा—कुछ बोली) ॥ १३८ ॥

प्रसूनमित्येव तदङ्गवर्णना न सा विशेषात् कतमत्तदित्यभूत्।
तदा कदम्बं निरवर्णि रोमभिर्मुदश्रुणा प्रावृषि हर्षमागतैः॥ १३९॥

प्रसूनमिति। सा प्रसिद्धा तदङ्गवर्णना भैमीशरीरस्तुतिः प्रसूनं सामान्यतः मेवाभूत्, किन्तु तत्प्रसूनं कतमत् किं जातीयमिति विशेषात् विशेषोल्लेखा तत्काले मुदश्रुणा प्रावृषि वर्षासु आनन्दबाष्पवर्षे सतीत्यर्थः। हर्षं विकासमा प्रावृषेण्यत्वात् कदम्बकुसुमविकासस्येति भावः। लोमभिः लोमव्याजेनेत्य कदम्बं कदम्बकुसुममिति निरवर्णि निरैक्षि प्रत्यक्षेणैवालक्षीत्यर्थः। 'निर्वर्ण निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः। तदा पुलकितं तदङ्गं बालकदम्बकल्पमा दित्यर्थः। एतच्च "स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू। अश्रुवैस्वर्यमि

परिकीर्तिता ॥" इत्युक्तसकलसात्त्विकोपलक्षणमिति द्रष्टव्यम् । तदङ्गस्य भेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ १३९ ॥

हले) 'पुष्प है' इतना ही दमयन्तीके शरीरका वर्णन हुआ, वह पुष्प कौन-सा नामका) है ?, इस प्रकार विशेष रूपसे वह (दमयन्तीके शरीरका वर्णन) नहीं (नलका निश्चय हो जानेपर हर्षाश्रुसे वर्षा ऋतुके होनेपर हर्षित रोमाञ्चों से अर्थात् के हर्षाश्रु गिरनेके बाद रोमाञ्च युक्त होनेपर वह पुष्प 'कदम्ब' है, यह वर्णन [वर्षाकालमें कदम्ब पुष्पको विकसित होनेसे हर्षाश्रुके बाद रोमाञ्चित दमयन्ती- को कदम्ब पुष्प माना गया है] ॥ १३९ ॥

मयैव संबोध्य नलं व्यलापि यत्स्वमाह मद्बुद्धमिदं विमृश्य तत् ।
असाविति भ्रान्तिम[2]साद्दमस्वसुः स्वभाषितस्वोद्भ्रमविभ्रमक्रमः॥१४०॥

वेति । मया नलमेव सम्बोध्य व्यलापीति यत् तदिदं मद्विलपितं विमृश्या- सौ नलः मद्बुद्धं स्वसम्बोधनलिङ्गेन मया ज्ञातमेव स्वमात्मानमाह । 'स्वो त्मनि स्वम्' इत्यमरः । अनया ज्ञातस्य मे किं गोपनेनेति मत्वा नलोऽह- कथितवानित्यर्थः । आहेति भूते णलन्तभ्रमादिति वामनः । अत्र तु वर्तमान- याह्वा गतिरिति । दमस्वसुः या भ्रान्ति स्तां भ्रातिमसौ नलः स्वेन भाषितः स्वोद्भ्रमविभ्रमाणां स्वोन्मादविलसितानां क्रमः 'अये प्रिये' इत्यादिश्लोकोक्त येन स सन् असात् असासीत् अच्छैत्सीदित्यर्थः । स्यतेर्लुङि "विभाषा घ्राधेट्- शसः" इति वा सिचो लुक् । उन्मादादात्मप्रकाशनमिति नलवाक्यादेवावगमात्तु त्वा दूतभ्रान्तिर्निवृत्तेरित्यर्थः ॥ १४० ॥

ने अर्थात् दमयन्तीने ही नलको सम्बोधितकर (श्लो० ९७-१००.) जो विलाप और इस नलने उस (विलाप) को मुझसे जाने गये अपनेको (दमयन्तीने मुझे लिया 'तभी मुझे नाम लेकर सम्बोधितकर रही है, ऐसा मानकर अपनेको) जो किया (श्लो० १०३-१२०), ऐसे दमयन्तीके भ्रमको, स्वयं (नल द्वारा ही) बतलाये (श्लो० १२२-१२६) हैं अपने उन्मादविलास (अथवा—उन्माद तथा विलास) द्वारा ऐसे नलने दूर (पाठा०—क्रम) कर दिया ['मुझसे पहचाने गये अपने)को जानकर ही नलने मेरे सामने अपने को प्रकट किया, ऐसे भ्रमको दमयन्तीने या] ॥ १४० ॥

विदर्भराजप्रभवा ततः परं त्रपासखी वक्तुमलं न सा नलम् ।
पुरस्तमूचेऽभिमुखं यदत्रपा ममज्ज तेनैव महाह्रदे ह्रियः ॥ १४१ ॥

विदर्भेति । सा विदर्भराजप्रभवा वैदर्भी ततः परं नलोऽयमिति ज्ञानानन्तरं सखी लज्जिता सती नलं वक्तुं साक्षात् सम्भाषितुं नालं न शशाक । कुतः,

---

[2] "-मशा-" इति पाठान्तरम् ।

पुरः पूर्वमत्रपा निस्त्रपा सती तं नलमभिमुखं यथा तथा ऊच इति यत् तेनैव हे
ह्रियो महाह्रदे महति लज्जाह्रद इत्यर्थः । घटस्य स्वरूपमितिवत् कथञ्चिद्भेदनिर्दे
ममज्ज मग्ना ॥ १४१ ॥

इसके बाद लज्जित विदर्भराजकुमारी (दमयन्ती) नलसे अधिक नहीं बोल
क्योंकि उस नलके आगे लज्जारहित होकर (नलका परिचय नहीं होनेसे स
छोड़कर जिस कारणसे बोली, उस कारणसे ही लज्जाके महाह्रद (विशाल
अर्थात् लज्जारूपी महातडागमें डूब गयी । [पुरुषका यथार्थ परिचय नहीं रहनेपर
बहुत बढ़-चढ़कर उससे बातें करना और बादमें परिचय होते ही अत्यन्त लज्जित
स्त्रियोंका स्वभाव होनेसे दमयन्तीका भी अत्यन्त लज्जित होना उचित ही है] ॥ १४१

यदापवार्यापि न दातुमुत्तरं शशाक सख्याः श्रवसि प्रियाय सा।
विहस्य सख्येव तमब्रवीत्तदा ह्रियाधुना मौनधना भवत्प्रिया ॥१४२

यदेति । सा भैमी, यदा अपवार्य व्यवधायापि सख्याः श्रवसि श्रोत्रे प्रिया
दातुं न शशाक तदा सख्येव विहस्य तं नलमब्रवीत् । किमिति अधुना भवत्प्रिया
ह्रिया मौनधना बद्धमौना, न तु वैराग्याद्‌द्वेषाद्वेति भावः ॥ १४२ ॥

जब वह (दमयन्ती) कोई आड़ करके (पर्दा करके या कुछ मुखको तिर्छा
अर्थात् नलकी दृष्टिसे छिपाकर) भी सखीके कान में नलका उत्तर नहीं कह सकी;
हंसकर सखीने ही कहा कि—"आपकी प्रिया इस समय लज्जासे मौनधना [मौन
धन जिसका ऐसी अर्थात् मौन धारण करनेवाली (लज्जासे चुप) हो गयी है] ॥ १४

पदातिथेयाँल्लिखितस्य ते स्वयं वितन्वती लोचननिर्झरानियम्।
जगाद यां सैव मुखान्मम त्वया प्रसूनबाणोपनिषन्निशम्यताम् ॥१

पदेति । इयं भवत्प्रिया लिखितस्य चित्रगतस्य ते पदयोरातिथेयान
साधून् पाद्यभूतानित्यर्थः । "पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्" । लोचननिर्झरान्
पूरान्वितन्वती यां प्रसूनबाणोपनिषदं कामरहस्यं जगाद त्वदागमात् प्रागिति
सैव प्रसूनबाणोपनिषन्मम मुखात् त्वया स्वयं निशम्यतां श्रूयताम् ॥ १४३ ॥

अविरल बहते हुए आंसुओंको (चित्रादिमें) लिखे गये आपके चरणोंका
(अतिथिके विषयमें सद्‌व्यवहारी) बनाती हुई अर्थात् चित्रादिमें लिखित आपके
गिरकर बहुत रोती हुई इस दमयन्ती ने जिस (कामोपनिषद् अर्थात् कामविषयक सत्य
को कहा है, उसी कामोपनिषद् को मेरे मुखसे सुनिये— । [मैं स्वकपोलकल्पित कुछ
कर रही हूं, जो कुछ कह रही हूँ, वह उपनिषद्वचनके समान सत्य वचन है; अतः
आपको सुनना और उसपर विश्वास करना चाहिये] ॥ १४३ ॥

असंशयं स त्वयि हंस एव मां शशांस न त्वद्विरहाप्तसंशयाम् ।
क चन्द्रवंशस्य वतंस ! मद्वधान्नृशंसता संभविनी भवादृशे ॥ १४४ ॥

असंशयमिति । हे चन्द्रवंशस्य वतंसावतंस ! "वष्टि वागुरिरल्लोपमवाप्योरुप- इत्यकारलोपः । स हंसः त्वद्विरहेणाप्तसंशयां प्राप्तप्राणसन्देहां मां त्वयि न शशंसैव असंशयम् । अन्यथा भवादृशे त्वद्विधे "त्यदादिषु" इत्यादिना यः । "आ सर्वनाम्न" इत्याकारादेशः । मद्वधाद्धेतोर्नृशंसता घातुकत्वं स्त्रीवध- कित्वमिति यावत् । 'नृशंसो घातुकः क्रूरः' इत्यमरः । क्व सम्भविनी सम्भवति पि सम्भवितेत्यर्थः । सज्जनस्य दयानिधेस्तव नेदृक्कार्यं युक्तमिमि भावः ॥१४४॥

चन्द्रवंशके भूषण (नल) उस हंसने ही तुमसे तुम्हारे वियोगसे प्राणसंशयको प्राप्त मयन्तीको प्रायः कहा है, किन्तु आप–जैसे (कुलीन तथा शूरवीर व्यक्ति) में ऐसी नीय) क्रूरता कहांसे सम्भव है ? अर्थात् कदापि नहीं सम्भव है । [एक सामान्य भी किसी सामान्य व्यक्तिको मारनेकी इच्छा नहीं करता तो आप–जैसे शूरवीर तथा आदमी स्त्रीवधरूपी क्रूर कार्य करे यह कदापि सम्भव नहीं है; अतः इसमें आपका दोष नहीं है] ॥ १४४ ॥

तस्त्वयास्येन विधुः स्मरः श्रिया कृतप्रतिज्ञौ मम तौ वधे कुतः ।
वेति कृत्वा यदि तज्जितं मया न मोघसङ्कल्पधराः किलामराः ॥१४५॥

जित इति । विधुश्चन्द्रस्त्वया आस्येन जितः । स्मरः श्रिया सौन्दर्येण जितः । कारणात् तौ विधुस्मरौ मम वधे कृतप्रतिज्ञौ त्वयि जेतरि स्थिते निरपराधां किमिति मारयत इत्यर्थः । अथ तवेति त्वदीयेति कृत्वा यदि तत्तर्हि मया जितं विना जीवनाभावात् मरणमेव मे प्रियमित्यर्थः । सेत्स्यति चैतदित्याह–अमरा सङ्कल्पस्य धरन्तीति धराः, "पचाद्यच्" न किल । सत्यसङ्कल्पाः खलु देवाः, च विधुस्मराविति भावः । अत्र नलापकारासमर्थयोर्विधुस्मरयोस्तदीयजनाप- कथनात् प्रत्यनीकालङ्कारः । "बलिनः प्रतिपक्षस्य प्रतीकारे सुदुष्करे । यस्तदीय- स्कारः प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥" इति लक्षणात् ॥ १४५ ॥

तुम्हारे मुखने चन्द्रमाको तथा शोभाने कामदेवको जीत लिया है, वे दोनों मेरे वधके क्यों प्रतिज्ञा किये हुए हैं ? 'यदि मैं तुम्हारी हूं' ऐसा समझकर (वे चन्द्रमा तथा देव) मुझे सता रहे हैं तो मैंने जीत लिया, देवतालोग असफल सङ्कल्पको नहीं धारण ते। [तुम्हारे मुख तथा शोभाने या तुमने उन चन्द्रमा तथा कामदेवके साथ विरोध ा है, परन्तु वे दोनों निरपराध मुझे क्यों सता रहे हैं ? कहो। जिस प्रकार विजित व्यक्ति ता व्यक्तिको नहीं सता सकनेके कारण उसके आश्रित अन्य व्यक्तियोंको सताया करता सी प्रकार यदि तुम्हारे मुख तथा शोभासे विजित क्रमशः चन्द्रमा तथा कामदेव तुम्हें ने में असमर्थ होनेसे तुम्हारा जानकर मुझे सता रहे हैं तो यह बात मुझे परम हर्ष वाली है, अतः मैंने भी जीत लिया, क्योंकि देवता मनमें कभी असफल या असत्य बात धारण करते अर्थात् 'सत्यसङ्कल्पधारी देवता भी मुझे तुम्हारा मानते हैं' यह मेरे लिये प्रसन्नताका विषय है] ॥ १४५ ॥

निजांशुनिर्दग्धमदङ्गभस्मभिर्मुधा विधुर्वाञ्छति लाञ्छनोन्मृजाम् ।
त्वदास्यतां यास्यति तावतापि किं वधूवधेनैव पुनः कलङ्कितः ॥१४६

निजेति । विधुश्चन्द्रः निजैरंशुभिः निर्दग्धस्य मदङ्गस्य मच्छरीरस्य भस्मभि ञ्छनोन्मृजां स्वकलङ्कपरिमार्जनम्, "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" । मुधा वृथैव वाञ्छति, मुखसाम्यार्थमिति शेषः। तथा हि—हे प्रिय ! वधूवधेन मद्वधपातकेनैव कलङ्कितः सन् तावतापि मदङ्गभस्मनोन्मार्जनेनापि त्वदास्यतां तत्तुल्यतामित्यर्थः यास्यति प्राप्स्यति किम् ? न यास्यत्येवेत्यर्थः। अत्र विधोर्नलास्यसाम्याय भैम्य भस्मभिः स्वकलङ्कमार्जनाद्वधूवधकलङ्कप्राप्तिकथनादनर्थोत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः

चन्द्रमा अपने किरणोंसे बिलकुल जलाये गये मेरे शरीरके भस्मोंसे (अपने) को मार्जित (भस्मसे रगड़कर कलङ्कको दूर) करना व्यर्थमें ही चाहता है, क्योंकि पुनः कलङ्कित (वह चन्द्रमा) उतनेसे भी तुम्हारे मुखश्रीको प्राप्त करेगा क्या ? कदापि नहीं प्राप्त करेगा। [जिस प्रकार लोकमें कोई व्यक्ति भस्मसे रगड़कर वर्तन धब्बेको दूर करना चाहता है, उसी प्रकार चन्द्रमा भी मुझे जलाकर उस मेरे शरीरके से अपना कलङ्क दूरकर तुम्हारे मुखकी शोभाको पाना चाहता है, किन्तु वह मेरे भस्मसे अपने कलङ्कको उक्त प्रकारसे दूर कर लेने पर भी स्त्री का वध करनेसे पुनः हो जायेगा अतः तुम्हारे मुखकी शोभाको वह चन्द्रमा कदापि नहीं पा सकता। मुझे मरणान्त पीडा दे रहा है] ॥ १४६ ॥

प्रसीद यच्छ स्वशरान् मनोभुवे स हन्तु मां तैर्धुतकौसुमाशुगः ।
त्वदेकचित्ताहमसून् विमुञ्चती त्वमेव भूत्वा तृणवज्जयामि तम् ॥१४

प्रसीदेति । हे प्रिय ! प्रसीद स्वशरान्मनोभुवे कामाय यच्छ देहि । "पाघ्रा दिना दाणो यच्छादेशः । स कामो धुतकौसुमाशुगः त्यक्तकुसुमबाणस्तैस्त्वच्छरै हन्तु हिनस्तु । तस्योपयोगमाह–अहं त्वय्येकस्मिंश्चित्तं यस्याः सा सती असून् प्राणा विमुञ्चती त्यजन्ती, "आच्छीनद्योर्नुम्" इति विकल्पान्नुमभावः । अत एव त्वमे भूत्वा, 'यं यं वापि स्मरन् भावम्' इत्यादिगीताप्रामाण्यादिति भावः । तं कामं तृण वत्तृणतुल्यं जयामि जेष्यामीत्यर्थः । आशंसायां वर्तमानवत्प्रत्ययः ॥ १४७ ॥

प्रसन्न होवो, अपने बाणोंको कामदेवके लिए दो, वह कामदेव अपने (कोमल) पुष्पके बाणोंको हटा कर उन (लोहमय तथा अतितीक्ष्ण आपके बाणों) से मुझे मार डाले। तुम्हारे (ध्यान) में परायण मैं प्राणोंको छोड़ती हुई नल (नलरूप) ही होकर उस (काम) को तृणके समान (अतिसरलतासे) जीत लूंगी। [कामदेव मुझे पुष्पमय बाणोंसे पीडित कर रहा है, मार नहीं रहा है, अतः यदि तुम लोहमय तथा अतितीक्ष्ण अपने बाण कामदेवको दे दोगे तो वह अपने अल्पसार पुष्पमय बाणोंसे मुझे पीडित करना छोड़कर आपके दिये हुए उन बाणोंसे मुझे शीघ्र मार डालनेमें समर्थ होगा और इस प्रकार मरनेके

तुम्हारेमें संलग्न चित्तवाली मैं त्वद्रूप (नल ही) हो जाऊंगी और फिर सरलतासे तुल्य कामदेवको जीतकर उससे बदला चुका लूंगी। कामदेव मुझे अत्यन्त पीडित कर है, अत एव ऐसे जीनेसे मरना अच्छा है] ॥ १४७ ॥

श्रुतिः सुराणां गुणगायनी यदि त्वदङ्घ्रिमग्नस्य जनस्य किं ततः ।
स्तवे रवेरप्सु कृताप्लवैः कृते न मुद्वती जातु भवेत् कुमुद्वती ॥१४८॥

ननु श्रुतयोऽपि देवानेव गायन्ति किमिति तत्तेषु वेदवेद्येषु विगानमत आह— रिति । श्रुतिर्वेदोऽपि सुराणां गुणगायनी गुणस्तोत्र्येव यदि, कर्तरि ल्युट्, त् ङीप् । त्वदङ्घ्रौ मग्नस्य त्वच्चरणैकशरणस्य जनस्य स्वस्येत्यर्थः । ततः किं कोऽर्थ इत्यर्थः । तथा हि—अप्सु कृताप्लवैः कृतावगाहैः जनैः रवेरर्कस्य स्तवे कृते सति कुमुदान्यस्यां सन्तीति कुमुद्वती कुमुदिनी, "कुमुदनडवेतसेभ्यो तुप्" टिलोपे ङीप् । जातु कदापि मुदस्यास्तीति मुद्वती मोदवती विकासवती न , कथमपीति शेषः । दृष्टान्तालंकारो लक्षणन्तूक्तम् ॥ १४८ ॥

वेद यदि देवोंका गुणगान करते हैं तो तुम्हारे चरणोंमें लीन उन वेदोक्त गुणगानों या से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। जलमें स्नान किये हुए (ब्राह्मण आदि) र्यकी स्तुति करनेपर कुमुद्वती कभी भी नहीं हर्षित होती। [जो जिसमें मग्न है, उसीके से उसे प्रसन्नता होती है, अतः तुममें मग्न मैं वेदस्तुत देवों को भी नहीं चाहती हूं] ॥

कथासु शिष्ये वरमद्य न ध्रिये ममावगन्तासि न भावमन्यथा ।
त्वदर्थमुक्तासुतयाशु[1] नाथ मां प्रतीहि जीवाभ्यधिक ! त्वदेकिकाम् ॥१४९॥

कथास्विति । हे नाथ ! कथासु शिष्ये कथामात्रशेषा भवामि मरिष्यामीत्यर्थः । असर्वोपयोग इति धातोर्दैवादिकात् प्राप्तकाले कर्तरि लट् । वरं मनाक् प्रियम् न ध्रिये न स्थास्ये न जीविष्यामीत्यर्थः । धृङ् अवस्थाने इति धातोस्तौदादि- प्राप्तकाले कर्तरि लट् । रिङ्शयग्लिङ्क्षु" इति रिङादेशः । अन्यथा जीवेन णे मम भावमाशयं नावगन्तासि नावगमिष्यसि, गमेर्लुटि सिप् । त्वदर्थे मुक्तासुतया त्यक्तप्राणतया आशु मां हे जीवाभ्यधिक ! अत एव त्वमेवैको यस्यास्तां त्वदेकिकां त्वदेकशरणामित्यर्थः । शैषिके कपि कात्पूर्वस्येकारः । हि जानीहि ॥ १४९ ॥

आज (इतनी पीडा देनेवाले दिनोंमें) भले ही कथाशेष हो जाऊंगी अर्थात् मर जाऊंगी, रहूंगी (जीऊंगी) नहीं; अन्यथा (मेरे जीवित रहनेपर तुम) मेरे भावको नहीं गे अर्थात् 'दमयन्ती मुझे प्राणपणसे चाहती है' ऐसा नहीं मानोगे। हे नाथ ! (पाठा०— नाथ अर्थात् हे प्राणनाथ अथवा—हे सुन्दरनाथ)! तुम्हारे लिए प्राणोंको छोड़नेसे णाधिक ! मुझे एकमात्र तुम्हारेमें परायण शीघ्र जानो। [लोकमें भी कोई व्यक्ति-

---

[1] "सुनाथ" इति "तया सुनाथ" इति च पाठान्तरम् ।

अल्पमूल्य वस्तुको छोड़ कर बहुमूल्य वस्तुको पाना चाहता है, अतः मैं भी तुम्हारो तुच्छ अपने प्राणोंको छोड़कर भी तुम्हें पाना चाहती हूं। स्वामी (पाठा०—श्रेष्ठ स्वा भी अपने स्वामीके लिये प्राणत्याग करनेवाले दासपर कृपाकर उसे अपनाता है, आप भी मुझे शीघ्र अपनाइये। 'मेरे लिये ही दमयन्तीने प्राणत्याग किया है' ऐसा लो मालूम करके ही 'दमयन्ती मुझे प्राणाधिक मानती थी, इसी लिए मेरे वास्ते उसने प्राणत्याग कर दिया' ऐसा तुम्हें भी विश्वास होगा, अन्यथा नहीं] ॥ १४९ ॥

महेन्द्रहेतेरपि रक्षणं भयाद्यदर्थिसाधारणमस्त्रभृद्व्रतम् ।
प्रसूनबाणादपि मामरक्षतः क्षतं तदुच्चैरवकीर्णिनस्तव ॥ १५० ॥

महेन्द्रेति । महेन्द्रहेतेर्वज्रायुधादपि यद्भयं तस्माद्रक्षणं, "भीत्रार्थानां भयहे इति क्रमादुभयत्रापादानत्वात् पञ्चमी । अर्थिष्वर्थिमात्रेषु साधारणमस्त्रभृतां प्रसूनमेव बाणो यस्य स कुसुमबाणः कामस्तस्मादपि मां स्त्रियमिति भावः अरक्ष अत एवावकीर्णिनः क्षतव्रतस्य । 'अवकीर्णी क्षतव्रतः' इत्यमरः । तव तदुच्चैर्महत् क्षतं सर्वाभयदानव्रतिनस्ते पुष्पभृतः स्त्र्युपेक्षणे महत्कष्टमापन्नमित्यर्थः ॥ १५० ॥

'महेन्द्र (सामान्यतः इन्द्र नहीं, किन्तु 'बड़े' इन्द्र) के शस्त्र (वज्र) के भयसे (डरे हुए व्यक्तिकी) रक्षा करना' यह सामान्यतः ('स्त्री की रक्षा नहीं करना, पुरुष रक्षा करना; या पुरुषकी रक्षा नहीं करना, किन्तु स्त्री की रक्षा करना' इत्यादि कि व्यक्ति-विशेषमें पक्षपात छोड़कर) शस्त्रधारियोंका व्रत है, (किन्तु पुष्पबाण अर्था कामदेव पक्षा०—कोमल पुष्पोंके बाण) से भी मेरी रक्षा नहीं करते हुए तुम्हारा (सर्वसाधारणकी रक्षा अर्थात् इन्द्रके बाणोंसे भी डरे हुएकी रक्षा करनेका) व्रत अच्छी त क्षतव्रत भग्न हो गया । [जब महेन्द्रके शस्त्र (वज्र) से भी डरे हुए व्यक्तिकी पक्षपातसे र होकर रक्षा करना शस्त्रधारियोंका व्रत है, तब सामान्य फूलके बाणोंसे भी मेरी रक्षा नहीं कर सकनेवाले व्रतभ्रष्ट आपका वह व्रत सर्वथा भग्न हो गया । अतएव तुम ऐसा न क पुष्पबाण (कामदेव) से मेरी रक्षा करो] ॥ १५० ॥

तवास्मि मां घातुकमप्युपेक्षसे मृषामरं हामरगौरवात् स्मरम् ।
अवेहि चण्डालमनङ्गमङ्ग ! तं स्वकाण्डकारस्य मधोः सखा हि सः ॥

तवेति । तवास्मि त्वदीयाहमस्मि, शरणागतत्राणं विहितमिति भावः । एवं सति मां घातुकं शरणागतस्त्रीहन्तारमपीत्यर्थः । "लषपते" त्यादिना उक्तम्, "न लोके"त्यादिना कर्मणि षष्ठीनिषेधात् द्वितीया । अत एव मृषामरमलीकामरं स्मरम् मरमिति गौरवादुपेक्षसे हा कष्टम् ! किं तु अङ्ग ! भोस्तमनङ्गं चण्डालमवेहि । कुतः हि यस्मात्सोऽनङ्गः स्वकाण्डकारस्य, स्वेषुकारस्य मधोर्वसन्तस्य पुष्पकरत्वात् स्वस्य पुष्पाशुगत्वाच्चेति भावः । 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाण' इत्यमरः । सखा हि इषुकारस्य चण्डालविशेषत्वात् तत्संसर्गिणोऽपि चण्डाला एवेत्यर्थः ॥ १५१ ॥

ैं तुम्हारी हूँ, मुझे मारनेवाले झूठे अमर (देव बने हुए) कामदेवको देवके गौरवसे करते हो, हाय ! खेद है । हे अङ्ग (सर्वथा आत्मीयजन) ! उस कामदेवको चण्डाल , क्योंकि वह अपने (कामदेवके) बाणों (पुष्पमय बाणों) को बनानेवाले वसन्तका है । [कामके बाणोंको बनानेवाला वसन्त ऋतु चण्डाल है, अतः उसका साथ करने- कामदेव भी संसर्ग दोषसे चण्डाल है, और वह तुम्हारा आश्रय करनेवाली अर्थात् में आयी हुई मुझे मार रहा है, तथा उसे अमर (देव) जानकर तुम उसकी उपेक्षा कर हो, यह ठीक नहीं है] ॥ १५१ ॥

लघौ लघावेव पुरः परे बुधैर्विधेयमुत्तेजनमात्मतेजसः ।
तृणे तृणेढि ज्वलनः खलु ज्वलन् क्रमात् करीषद्रुमकाण्डमण्डलम् ॥

लघाविति । बुधैस्तज्ज्ञैः पुरः पूर्वं लघौ लघावेव लघुप्रकारेऽल्पप्रकारएव । ारे गुणवचनस्ये"ति द्विर्भावः । परे शत्रौ पूर्वादिभ्यो विकल्पात् सर्वनामाभावः । तेजसः स्वप्रतापस्योत्तेजनमुद्दीपनं विधेयम्; तथा हि–ज्वलनोऽग्निः स नन्द्या- ाल्ल्युप्रत्ययः । तृणे ज्वलन् क्रमात्करीषाः शुष्कगोमयाः, 'गोविट्गोमयमस्त्रियाँ शुष्कं करीषोऽस्त्री' इत्यमरः । तेषां द्रुमकाण्डानां वृक्षस्कन्धानाञ्च मण्डलं समूहं ढि हिनस्ति दहति खल्वित्यर्थः । तृहि हिंसायां लट् "रुधादिभ्यः श्नम्", "तृणह गुणढत्वादिकार्यम् । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १५२ ॥

विद्वानोंको पहले छोटे–छोटे शत्रुपर ही अपने तेजको उत्तेजित करना चाहिये; क्योंकि में जलती हुई अग्नि क्रमसे कण्डा (सूखा उपला अर्थात् गोहरी) तथा वृक्षोंके स्कन्ध- को नष्ट करता (जलाता) है । [जिस प्रकार सर्वश्रेष्ठ तेजस्वी अग्नि भी अतिशय शत्रु घासकी भी उपेक्षा नहीं करता और उसे नष्ट करते हुए क्रमशः वृक्ष–स्कन्धरूप ड़े शत्रुओंको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार तुम्हें भी कामदेवको छोटा शत्रु समझकर की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । तुम मुझे कामदेवसे बचाओ] ॥ १५२ ॥

सुरापराधस्तव वा कियानयं स्वयंवरायामनुकम्प्रता मयि ।
गिरापि वक्ष्यन्ति मुखेषु तर्पणादिदं न देवा मुखलज्जयैव ते ॥ १५३ ॥

सुरेति । तव स्वयमेव वृणोतीति स्वयंवरा, "पचाद्यच्" । तस्यां मयि ुकम्प्रता अनुकम्पित्वं, "नमिकम्पि" इत्यादिना ताच्छील्ये रप्रत्ययः । भावार्थे प्रत्ययः । अयं कियान् सुरापराधः तत्प्रेषितस्यापि मया वृतत्वात्ते कोऽपराध र्थः । अथापराद्धत्वेऽपि मखेषु तर्पणात् प्रीणनात् देवास्ते मुखलज्जयैव मुखदा- ण्येनैव इदमपराद्धत्वं गिरापि न वक्ष्यन्ति । अपिशब्दान्मनसापि न स्मरि- न्तीत्यर्थः ॥ १५३ ॥

स्वयं (किसीके कहने–सुननेसे नहीं) वरण करनेवाली मुझमें दया करना अर्थात् मेरी नासे पत्नीरूप मुझे स्वीकार करना देवोंके विषयमें कितना अपराध है अर्थात् कोई बड़ा

अपराध नहीं, किन्तु अत्यन्त छोटा अपराध है। (मुझे पत्नी होनेपर) यज्ञोंमें सन्तुष्ट करें मुख (सम्मुख—सामनेमें) लज्जासे वे देव (अथवा—तुम्हारे मुखलज्जासे देव वचनसे (और हृदयसे भी) यह (अपराध-विषयक बात) नहीं कहेंगे । [मैं किसीके कहने-सुनने तुम्हें वरण नहीं करती, किन्तु स्वेच्छासे करती हूं, और तुम देवोंके दूतरूपमें यहां आ उनके कामकी उपेक्षा करके अपना काम करते, तब देवोंके प्रति तुम बड़ा अपराधी हो किन्तु तुमने ऐसा नहीं किया, वल्कि देवोंके दूतका कार्य अच्छी तरह किया, फिर भी तुम्हारे दूतकार्यसे प्रभावित नहीं होकर यदि स्वयं तुम्हें वरण करती हूं तो इसमें तुम्हा कोई बड़ा अपराध नहीं है और इस तुच्छ अपराधको भी ये देव, जब हम दोनों यज्ञों उन देवोंको हविष्यादिसे तृप्त करेंगे तो लज्जाके कारण वे मुखसे भी नहीं कहेंगे और हृदयमें ही रखेंगे अर्थात् परमदयालु वे देवता सन्तुष्ट होकर तुम्हारे इस तुच्छ अपराध उस प्रकार सर्वथा भूल जायेंगे, जिस प्रकार सामान्य अपराध करनेवाले दास पर उस उत्तम कार्यसे अत्यन्त सन्तुष्ट स्वामी भूल जाता है; अतः तुम देवोंके अपराधकी आश छोड़कर मुझे स्वीकृत करो] ॥ १५३ ॥

व्रजन्तु ते तेऽपि वरं स्वयंवरं प्रसाद्य तानेव मया वरिष्यसे।
न सर्वथा तानपि न स्पृशेद्दया न तेऽपि तावन्मदनस्त्वमेव वा ॥१५४॥

व्रजन्त्विति । अथवा हे नल ! ते देवा अपि ते तव सम्बन्धिनं स्वयंवरं व्रजन्तु वरं साध्वेवैतदित्यर्थः । कुतः, मया तानेव प्रसाद्य प्रसन्नान् कृत्वा वरिष्यसे । न च ते दुराधर्षा इत्याह–सर्वथा–तान् देवानपि दया न स्पृशेदिति न । किं तु स्पृशे देवेत्यर्थः । सम्भवस्य निषेधनिवर्तने द्वौ नञ्प्रतिषेधौ स्तः । तेऽपि तावन्मदनस्त्वमेव वा न । लोके त्वां मदनं च विना न कोऽपि निष्कृप इति भावः ॥ १५४ ॥

वे-वे अर्थात् सब देव भी श्रेष्ठ स्वयंवरमें (अथवा—स्वयंवरमें भले ही) आवें, मैं उन्हें ही प्रसन्न कर तुम्हें वरण करूंगी। क्या उन्हें भी (जैसे तुम्हें दया नहीं आती वैसे दया नहीं छूएगी अर्थात् दया नहीं आयेगी ? अर्थात् अवश्य दया आवेगी; क्योंकि वे (देव) भी कामदेव या तुम नहीं हो । [एक कामदेव ही ऐसा निर्दय है कि मुझे अत्यन्त पीड़ित कर रहा है, दूसरे तुम ऐसा निर्दय हो कि स्वयं वरण करनेकी इच्छावाली भी मुझे स्वीकृत नहीं करते, किन्तु वे इन्द्रादि देवता तुम दोनों–जैसे निर्दय नहीं हैं, जो मेरी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर दया न करें जब वे इस स्वयंवरमें आकर मुझपर दया करके तुम्हें वरण करनेके लिए मुझे आदेश दे देंगे, तब तो देवोंके प्रति तुम्हारे तुच्छतम अपराधकी भी आशङ्का नहीं रह जायेगी] ॥ २५४ ॥

इतीयमालेख्यगतेऽपि वीक्षिते त्वयि स्मरव्रीडसमस्ययाऽनया ।
पदे पदे मौनमयान्तरीपिणी प्रवर्तिता सारघसारसारणी ॥ १५५ ॥

इतीति । हे सौम्य ! आलेख्यगते चित्रगतेऽपि त्वयि वीक्षिते सति स्मरव्रीडयोः

या समछ्या अनया भैम्या पदे पदे वचने वचने स्थाने स्थाने अन्तर्गता स्येत्यन्तरीपमन्तस्तटं, 'द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्वारिणस्तटम्' इत्यमरः । पूः" इत्यादिना समासान्तोऽप्रत्ययः । "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ई"दितीकारः । यं मौनरूपमन्तरीपं यस्याः सा मौनान्तरीपोद्गतेत्यर्थः । सर्वधन्वीतिवदिन्नन्तो हिः, "अट्कुप्वाङि"त्यादिना णत्वम् । इतीयं उक्तरूपा सारघसारस्य मधुसारणी स्वल्पनदी । 'सारणी स्वल्पसरित्' इति विश्वः । प्रवर्तिता चित्रगतस्य एवं मधुवर्षिणी वागुक्तेत्यर्थः । अत्र विषयस्य वाचोऽनुपादानेन विषयिण्याः सारण्या एवोपनिबन्धात्तयोर्भेदेऽप्यभेदोक्तेश्चातिशयोक्तिभेदः॥ १९९ ॥

चित्रगत भी तुम्हें देखकर कामदेव तथा लज्जाके संक्षिप्त मिश्रणसे युक्त (यह मेरी दमयन्ती कामके वशीभूत होकर बोलना चाहती है, किन्तु लज्जावश नहीं बोलती) पद (बात–बात, पक्षा०—स्थान–स्थान) में अर्थात् प्रत्येक बात (पक्षा०—स्थान) मय अन्तरीप (टापू—जलवेष्टित शुष्क स्थान–विशेष) वाली यह दमयन्ती मधुके त पदार्थकी नदी (पाठा०—'..........पदार्थको बहानेवाली) हो जाती है। स प्रकार नदी टापुओंमें स्थान–स्थानपर रुक–रुककर बहती है, उसी प्रकार यह ती आपको चित्रमें भी देखकर काम एवं लज्जाके वशीभूत होकर बात–बातमें सरस रावाली नदीके तुल्य हो जाती है। अतएव जब यह चित्रमें भी आपको देखकर शीभूत हो जाती है तो प्रत्यक्ष आपको देखनेपर अपने (नल) में इस दमयन्तीका ग न होनेकी आशङ्का करना सर्वथा अनुचित है] ॥ १५५ ॥

चण्डालस्ते विषमविशिखः स्पृश्यते दृश्यते न 0
ख्यातोऽनङ्गस्त्वयि निजभिया किन्नु कृत्ताङ्गुलीकः ।
कृत्वा मित्रं मधुमधिवनस्थानमन्तश्चरित्वा
सख्याः प्राणान् हरति हरितस्त्वद्यशस्तज्जुषन्ताम् ॥ १५६ ॥

चण्डाल इति । हे नल ! विषमविशिखः कामस्ते तव सम्बन्धी चण्डालः श्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञयेति स्मरणात् । मादृङ्मारणार्थमेव त्वया कोऽपि चण्डाल इत्यर्थः । अत एव न दृश्यते न स्पृश्यते च एकत्रानङ्गत्वादन्यत्र निषेधाच्चेति भावः । किं च निजभिया स्वीयापराधदण्डभयेन त्वयि विषये उद्दिश्य कृत्ताङ्गुलीकः । अपराधेऽपि त्राणार्थं छिन्नाङ्गुलीकः । "नद्यृतश्च" इति । "प्रथमङ्गुलिविच्छेद उरोविन्यस्तमक्षरम् । तन्नामकरणं चेति दास्यमेतच्चतुष्टय" दासचिह्नत्वादिति भावः । अत एवाङ्गुलिविहीनत्वादनङ्गः ख्यातः किं नु ? किमत आह—मधुं वसन्तमपि मित्रं कृत्वा सहायञ्च कञ्चन सम्पाद्येत्यर्थः । न्तः करणमेव अधिवनस्थानमरण्यदेशं चरित्वा भ्रान्त्वा सख्याः स्वसख्या याः प्राणान् हरति तत्स्त्रीजन्यं त्वद्यशो दुर्यश इत्यर्थः । हरितो दिशो जुषन्तां

सेवन्तां दिगन्तविश्रान्तमस्त्वित्यर्थः । अत्र कामस्य चण्डालधर्मयोग्यचण्डालत्वेनो क्षणादुत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या । मन्दाक्रान्तावृत्तमुक्तम् ॥ १५६ ॥

तुम्हारा विषमवाण (पांच वाणोंवाला) कामदेव चण्डाल है, वह स्पर्श तो करता किन्तु दिखलायी नहीं देता, तुम्हारे विजय होते रहनेपर वह अनङ्ग (अङ्गसे रहि विख्यात है, फिर कटी हुई अङ्गुलिवाला होनेकी क्या वात है ? । वनभूमिमें वसन्तको बनाकर भीतर (हृदयके भीतर) में घुसकर सखी (दमयन्ती) के प्राणों को हर रहा दिशाएं (ऐसे मित्रवाले) तुम्हारी कीर्तिका सेवन करें । [पक्षा०—विषम (विषतुल्य विषमें बुझे हुए बाणोंवाला त्वत्सम्बन्धी चण्डाल (भयङ्कर बाणोंको ग्रहण करनेवाला) वह स्पर्श करता (छूकर पीडित करता) है, किन्तु दिखलायी नहीं देता । तुम्हारे उसका विजय करते रहनेपर वह अनङ्ग (शरीररहित) कहलाता है तो कटी हुई अङ्गु वाले (चण्डालकी अङ्गुलिका कटा हुआ रहना शास्त्रोंमें वर्णित है) का क्या कहना ? शरीर रहित चण्डालरूप कामदेव जब मुझे इतना पीडित कर रहा है तो सम्पूर्ण अं युक्त केवल एक अङ्गुलिसे रहित चण्डाल जितना अधिक पीडित करेगा ? उसका क्या क है ? जल अर्थात् द्रव पदार्थोंमें मदिराको मित्र बनाकर अर्थात् पीकर घरमें घुसकर तुम्हारा चण्डाल (मेरी) सखी दमयन्तीके प्राणोंको हरण कर (मार) रहा है, दि तुम्हारी कीर्ति अर्थात् व्यङ्ग्यसे अपकीर्तिको धारण करें । यदि तुम दमयन्तीको अनुगृही नहीं करोगे तो वह मर जायेगी और तुम्हारी अपकीर्ति सब दिशाओंमें फैल जाये अतएव तुम इसे अनुगृहीतकर इसकी प्राणरक्षा करो] ॥ १५६ ॥

अथ भीमभुवैव रहोऽभिहितां नतमौलिरपत्रपया स निजाम् ।
अमरैः सह राजसमाजगतिं जगतीपतिरभ्युपगम्य ययौ ॥ १५७ ॥

अथेति । अथ भैमीवाक्यश्रवणानन्तरं जगतीपतिर्नलः भीमभुवैव भैम्यैव रहो रहस्यभिहितां निजामात्मीयाममरैः सह राजसमाजस्य राजसभाया गतिं प्राप्तिम त्रपया स्ववरणलज्जया नतमौलिर्नम्रमुखः सन् अभ्युपगम्याङ्गीकृत्य ययौ । तोटक वृत्तम् । "इह तोटकमम्बुधिसैः कथित"मिति लक्षणात् ॥ १५७ ॥

इसके वाद (मैं जिस दूत–कार्यके लिए आया था, वह पूरा नहीं हुआ, अपि तु मुझे अब देवोंका प्रतिपक्षी बनकर स्वयंवरमें आना पड़ेगा ऐसी) लज्जासे नतमस्तक रा (नल) एकान्तमें भीमनन्दिनी (दमयन्ती) के द्वारा ही कहे गये देवोंके साथ राजस (स्वयंवर) में अपना आना स्वीकार कर चले गये ॥ १५७ ॥

श्वस्तस्याः प्रियमाप्तुमुद्धुरधियो धाराः सृजन्त्यास्रया-
न्मस्रोन्नम्रकपोलपालिपुलकैर्वेतस्वतीरश्रुणः ।
चत्वारः प्रहराः स्मरार्तिभिरभूत् सा यत् क्षपा दुःक्षपा
तत्तस्यां कृपयाखिलेव विधिना रात्रिस्त्रियामा कृता ॥ १५८ ॥

इति । श्वः परेऽहनि प्रियं नलमाप्तुमुद्धुरधियः सन्नद्धबुद्धेः अत एव स्यात्
हवेगान्नम्राश्चोन्नम्राश्च दन्तुरा इत्यर्थः । तैः कपोलपाल्योर्गण्डभित्त्योः पुलकै रोमा-
वत्वतीः वेतसलतावतीः, "कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्, मादुपधायाश्चे"त्यादिना
स्य वकारः । अश्रुणो धारा आनन्दबाष्पप्रवाहान् सृजन्त्या जनयन्त्यास्तस्या
यत् यस्मात् कारणात् चत्वारः प्रहरा अपि चतुर्याममात्रापीत्यर्थः । सा क्षपा
र्तिभिः स्मरपीडाभिर्दुःक्षपा दुरतिवाहाभूत्, तत् तस्मादस्यां भैम्यां कृपया
वैवेत्यर्थः । विधिना वेधसा अखिलैव सर्वापि रात्रिस्त्रियामा यामत्रयवत्येव कृता ।
मिति शेषः । गम्योत्प्रेक्षा ॥ १५८ ॥

कल प्रिय (नल) को पानेके लिये उत्कण्ठित बुद्धिवाली, और कपोल भित्तिपर ऊंच-
रोमाञ्चोंसे वेंतयुक्त नदीरूप अश्रु-धाराओंको बहाती हुई (नदीमें ऊंचे-नीचे वेंत
हैं और कपोलभित्तिमें ऊंचे-नीचे रोमाञ्च हो रहे हैं) उस दमयन्तीको वह चार प्रह-
ाली (एक) रात्रि काम-पीडाओंसे कष्टसे क्षीण होगी, अतएव उसपर कृपा करनेवाले
ने सम्पूर्ण रात्रिको (चार प्रहरोंवाली सम्पूर्ण रात्रिको एक प्रहर घटाकर)
ामा' अर्थात् तीन प्रहरवाली कर दिया । [रात्रि यद्यपि चार प्रहरोंकी होती है, तथापि
'त्रियामा' कहते हैं, इसीपर कविकुल शिरोमणि 'श्री हर्ष' ने उत्प्रेक्षा की है कि विर-
दमयन्तीके लिए चार प्रहरवाली एक रात्रिको भी व्यतीत करना दुःशक्य जानकर
ब्रह्माने सम्पूर्ण रात्रिको चार प्रहरके स्थानमें तीन प्रहरका बना दिया है । लोकमें
कोई दयालु व्यक्ति किसी दुखियाके दुःखसे दयार्द्र होकर उसके कठिन कार्यको सरल
देता है] ॥ १५८ ॥

तदखिलमिह भूतं भूत्यगत्या जगत्याः
पतिरभिलपति स्म स्वात्मदूतत्वतत्त्वम् ।
त्रिभुवनजनयावद्वृत्तवृत्तान्तसाक्षात्-
कृतिकृतिषु निरस्तानन्दमिन्द्रादिषु द्राक् ॥ १५९ ॥

तदिति । जगत्याः पृथिव्याः पतिर्नलः इह दमयन्तीसमक्षं भूतं वृत्तं तदखिलं
मनः स्वस्य दूतत्वं तत्त्वं दूतस्वरूपं त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनं,
द्धितार्थे"त्यादिना समाहारे द्विगुः । "द्विगुरेकवचनं" पात्रादित्वान्न स्त्रीत्वम् ।
स्मिन् जनानां यावन्तो वृत्ता यावद्वृत्तं "यावदवधारण" इत्यव्ययीभावः । याव-
द्वृत्तञ्च ते वृत्तान्ताश्च तेषां साक्षात्कृतौ साक्षात्करणे कृतिषु कुशलेष्विन्द्रादिषु विषये
क् सपदि निरस्तानन्दं तेषामिष्टविघाताद्विहतसन्तोषं यथा तथा भूतगत्या सत्य-
था । 'युक्ते क्ष्मादावृते भूतं प्राण्यतीते समे त्रिषु' इत्यमरः । अभिलपति स्म
तवान् । मालिनीवृत्तम् । "ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः" इति
णात् ॥ १५९ ॥

जगतीपति (राजानल) ने यहां (दमयन्तीके पास, या दमयन्तीके विषयमें) हुए सम्पूर्ण अपने दूतकार्यके सार (या यथार्थता) को बीते हुए क्रमसे (वहां जिस क्रमसे जैसी बात-चीत हुई थी उसी क्रमसे । अथवा—भूतगति-अन्तर्धान होकरव हां जानेके भूत तुल्यगति-से बीते हुए सम्पूर्ण अपने दूतकार्यके सारको देवोंके कार्य सिद्ध असफल होनेके कारण) आनन्दरहित होकर तीनों लोकोंके मनुष्योंके समस्त वृत्तान्तोंको साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) करनेवाले इन्द्र आदि देवोंसे शीघ्र कह दिये। [लोकोंके लोगोंके बातोंको प्रत्यक्ष करने तथा निष्कपट होकर समस्त बात स्पष्ट कह इन्द्र आदिको नलपर सन्देह करने या रुष्ट होनेका कोई अवसर ही नहीं आया]॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरःसुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
संदृब्धार्णववर्णनस्य नवमस्तस्य व्यरंसीन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥ १६०॥

श्रीहर्षमिति। सन्दृब्धं ग्रथितमर्णववर्णनमर्णववर्णनाख्यप्रबन्धो येन तस्येत्यर्थः 'ग्रथितं ग्रन्थितं दृब्धम्' इत्यमरः ॥ १६० ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु' समाख्याने नवमः सर्गः समाप्तः ॥ ९॥

कवीश्वर-समूहके··········किया, "अर्णववर्णन" नामक ग्रन्थके रचयिता, रचित सुन्दर नलके चरित अर्थात् "नैषध चरित"··········यह नवम सर्ग समाप्त शेष व्याख्या चतुर्थ सर्गके समान जाननी चाहिये ॥ १६० ॥

यह 'मणिप्रभा" टीकामें "नैषधचरित" का नवम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

रथैरथायुः कुलजाः कुमाराः शस्त्रेषु शास्त्रेषु च दृष्टपाराः।
स्वयंवरं शम्बरवैरिकायव्यूहश्रियः श्रीजितयक्षराजाः ॥ १ ॥

स्वयंवरवृत्तान्तं वर्णयति—रथैरित्यादि। अथ नलप्रयाणानन्तरं कुलजाः शस्त्रेषु शस्त्रविद्यासु शास्त्रेषु त्रय्यादिषु च दृष्टं पारं यैस्ते दृष्टपाराः पार- शम्बरवैरिणः कामस्य, यः कायव्यूहः शम्बरासुरजयार्थं मायया गृहीतो रसमूहः, तस्य श्रीरिव श्रीः शोभा येषां ते कन्दर्पकल्पा इत्यर्थः। सम्पदा जितो यक्षराजः कुबेरः यैस्ते कुमारा राजकुमाराः 'कन्या रूपमि'त्याद्युक्तसमग्रगुणसम्पन्ना इत्यर्थः। रथैः साधनैः स्वयं व्रियतेऽ- ति स्वयंवरस्तम्। 'ऋदोरप्'। स्वयंवरभुवं, तदा आयुः आयाताः। आङ् पूर्वा- 'लङः शाकटायनस्यैवेति' वैकल्पिको झेर्जुसादेशः। अत्र कायव्यूहश्रिय दर्शना, श्रीजितयक्षराजाश्च व्यतिरेकः इत्यलङ्कारयोः संसृष्टिः। अस्मिन् सर्गे न्द्रवज्रातदुपजातयश्च वृत्तानि ॥ १ ॥

के बाद (धनुष आदि) शस्त्र तथा (वेद आदि) शास्त्रविद्यामें पारङ्गत, कामदेवकी शोभाके समान शोभावाले, सम्पत्तिसे कुबेर को जीतनेवाले श्रेष्ठकुलोत्पन्न राजकुमार स्वयंवर स्थानको आये। ['कन्या वरके सौन्दर्य, माता सम्पत्ति, पिता विद्या, श्रेष्ठ कुल चाहते हैं'[१] इस नीतिके अनुसार स्वयंवरमें आये हुए राजकुमारोंमें गुण रहनेसे तथा हाथी घोड़ा आदि वाहनोंको छोड़कर रथोंके द्वारा आनेसे विवाह-योग्यता सूचित होती है। शास्त्रकी अपेक्षा शस्त्रकी ही क्षत्रियोंके लिये व्यक्त करनेके लिये यहां शस्त्रविद्याको पहले तथा शास्त्रविद्याको बादमें है]॥ १ ॥

नाभूदभूमिः स्मरसायकानां नासीदगन्ता कुलजः कुमारः।
नास्थादपन्था धरणेः कणोऽपि व्रजेषु राज्ञां युगपद्व्रजत्सु ॥ २ ॥

ति। कुलजः कुलीनः, कोऽपीति शेषः। कुमारः स्मरसायकानामभूमिरविषयो तथा अगन्ता स्वयंवराप्रयाता च नाभूत्। किञ्च राज्ञां व्रजेषु युगपद्व्रजत्सु णेः कणोऽपि भूलेशोऽप्यपन्था अपथं मार्गशून्य इत्यर्थः 'पथो विभाषा' विकल्पात् समासान्ताभावः। नास्थात् न स्थितः, 'गातिस्थे'त्यादिना सिचो । अत्र राज्ञां कार्त्स्न्येन स्मरेषुविषयत्वस्वयंवरगन्तृत्वाभ्यां सकलभूमेः न चासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥२॥

---

[१] क्तम्—'कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्॥
बान्धवा कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः॥' इति।

कोई भी संत्कुलोत्पन्न कुमार कामबाणके लक्ष्यसे हीन नहीं रहा और (नहीं आनेवाला नहीं रहा अर्थात् सभी कुलीन कुमार दमयन्तीके स्वयंवर का सुनकर कामवाणसे पीड़ित हो स्वयंवरमें आये । राज-समूहके एक साथ चलते (आते) रहनेपर भूमिका थोड़ा-सा भाग भी मार्गहीन नहीं रहा अर्थात् पृथ्वीका भाग राजाओंके स्वयंवरमें आनेसे मार्ग वन गया । [दमयन्तीके स्वयंवरका सुनकर कामवाण पीड़ित सभी राजकुमार पृथ्वीके सव भागोंसे स्वयंवरमें पहुंचे]॥ २

योग्यैर्व्रजद्भिर्नृपजां वरीतुं वीरैरनर्हैः प्रसभेन हर्तुम् ।
द्रष्टुं परैस्तानंनुरोद्धुमन्यैः स्वमात्रशेषाः ककुभो बभूवुः ॥ ३॥

योग्यैरिति । योग्यै रूपयौवनादिना सम्बन्धार्हैः नृपजां भैमीं वरीतुम्। वा' इति दीर्घः । अनर्हैः रूपयौवनादिशून्यैः, वीरैः प्रसभेन बलेन हर्तुं कैश्चिन्निःस्पृहैः केवलं द्रष्टुमेव स्वयंवरमिति शेषः, अन्यैस्तु तान् राजन्यादीन् सुपासितुं व्रजद्भिः करणैस्तद्राजन्यैरित्यर्थः। ककुभो दिशः स्वमात्रशेषाः मात्रावशिष्टा बभूवुः। अत्रापि ककुभां स्वमात्रशेषत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धो शयोक्तिभेदः ॥ ३ ॥

(श्रेष्ठवंश आदिसे) योग्य कुछ राजकुमार दमयन्तीको वरण करने (श्रेष्ठवंश आदिसे) अयोग्य (किन्तु) शूरवीर कुछ राजकुमार दमयन्ती को हरण करनेके लिये, (उक्त दोनों गुणोंसे हीन) कुछ लोग दमयन्ती या स्वयंवरको लिये और कुछ लोग आये हुए उन लोगोंकी सेवा करनेके लिये; इस प्रकारके उन लोगोंसे सव दिशाएं खाली हो गयीं । [स्वयंवरमें आनेवाले लोगोंमें कुछ ऐसे थे जो अपने श्रेष्ठवंश तथा गुणोंसे दमयन्तीको न्यायपूर्वक वरणकर ले जाना उक्त गुणोंसे हीन होनेसे अयोग्य कुछ शूरवीर राजकुमार दमयन्तीको वलात्कारसे ले जाना चाहते थे, जो न तो श्रेष्ठवंश आदिवाले थे और न शूरवीर ही थे लोग दमयन्तीको या स्वयंवरको देखने मात्रके लिये आ रहे थे और कुछ लोग हुए उन सवोंकी सेवाके लिये आ रहे थे; इस प्रकार झुण्डके झुण्ड आते हुए सव दिशाएं खाली हो गयीं । दमयन्तीके स्वयंवरमें किसी न किसी दिशाओंसे वहुत लोग आये]॥ ३ ॥

लोकैरशेषैरवनिश्रियन्तामुद्दिश्य दिश्यैर्विहितो प्रयाणे ।
स्ववर्तितत्तज्जनयन्त्रणार्तिविश्रान्तिमापुः ककुभां विभागाः ॥ ४

लोकैरिति । अवनिश्रियं भूलोकलक्ष्मीं तां भैमीमुद्दिश्याभिसन्धाय दिश्यै भवैः, 'दिगादिभ्यो यत्' । अशेषैर्लोकैर्जनैः प्रयाणे विहिते सति ककुभां

---

१. 'परिकर्त्तुमन्यैः' इतिपाठान्तरम् । अनुरोद्धुमित्यत्र उपरोद्धुमिति पाठान्तरम् ।

स्ववर्तिनां स्वनिष्ठानां तेषां तेषां जनानां यन्त्रणया सम्बन्धेनार्तेः पीडायाः विरतिमापुः, भारराहित्यात् सुखावस्थानं चक्रुरित्यर्थः ॥ तद्वदलघयतेत्युगम्या ॥ ४ ॥

ओंकी शोभा दमयन्तीके उद्देश्यसे दिशामें होनेवाले सब लोगोंके वहांसे यात्रा दिशाओंके विभागोंने अपने यहां रहनेवाले उन–उन आदमियोंके सम्बन्ध त्रणापूर्वक निवास) से उत्पन्न पीड़ाको विश्रान्तिको प्राप्त किया अर्थात् अपने–यहां रहनेवाले लोगोंके स्वयंवरमें चले जानेसे दिशाओंने थोड़ा हल्कापन किया ॥ ४ ॥

तलं यथेयुर्न तिला विकीर्णाः सैन्यैस्तथा राजपथा बभूवुः ।
भैमीं स लब्धामिव तत्र मेने यः प्राप भूभृद्भवितुं पुरस्तात् ॥ ५ ॥

तलमिति । यथा विकीर्णा उपरि क्षिप्तास्तिलास्तलं भूतलं नेयुः नाप्नुयुः सैन्यैः कैः । 'सेनायां समवेता ये सैन्यास्ते सैनिकाश्च ते' इत्यमरः । 'सेनाया वे'ति यः । राजपथा राजमार्गास्तथा तिलमात्रावकाशरहिता बभूवुः । तादृक्सम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धस्योक्तेरतिशयोक्तिभेदः । किञ्च तत्र समये यो भूभृत् पुरस्ताद्भवितुं गन्तुं प्राप प्राप्तः स राजा भैमीं लब्धामिव मेने । यदि पूर्वंगतो तर्हि स्वयं भैमीं लप्स्य इत्यभिमानादहंपूर्विकया सर्वे समाजग्मुरित्यर्थः ॥ ५ ॥

(ऊपरमें) बिखेरे गये तिल भी भूमिपर नहीं गिर सके, इस प्रकार राजमार्ग (सड़कें) से व्याप्त हो गये अर्थात् ठसाठस भर गये । (उस प्रकार ठसाठस भरनेसे तिल के भी स्थानसे शून्य) उस राज मार्गमें जो राजा आगे पहुंच सका, उसने दमयन्ती हुई–सी समझा । [उस प्रकार अत्यन्त सङ्कीर्ण राजमार्गमें सब राजा अहमहमिका आगे पहुंचूं' २ ऐसी इच्छा) से आगे पहुंचकर दमयन्तीकी प्राप्ति समझते थे] ॥ ५ ॥

नृपः पुरःस्थैः प्रतिरुद्धवर्त्मा पश्चात्तनैः कश्चन नुद्यमानः ।
यन्त्रस्थसिद्धार्थपदाभिषेकं लब्ध्वाप्यसिद्धार्थममन्यत स्वम् ॥ ६ ॥

नृप इति । पुरःस्थैर्जनैः प्रतिरुद्धवर्त्मा निरुद्धमार्गः पश्चात्तनैः पश्चाद्भवैः पृष्ठत रित्यर्थः । 'सायं चिरमि'त्यादिना ट्युल्प्रत्ययस्तुडागमश्च । नुद्यमानः प्रेर्यमाणः न नृपः यन्त्रस्थस्य तैलाकर्षणयन्त्रलग्नस्य सिद्धार्थस्य सर्षपस्य पदे स्थाने षेकं लब्ध्वापि सर्षपत्वं प्राप्यापीत्यर्थः । स्वमात्मानमसिद्धार्थमसर्षपममन्यतेति ः । अपिशब्दो विरोधद्योतनार्थः । असिद्धार्थं भैमीप्राप्तिरूपसिद्धिरहितमसन्य-विरोधाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः । अत्र संमर्दे यन्त्रस्थसर्षपवद्विशीर्णस्य मे कुतोऽ-द्धिरित्यमन्यतेत्यर्थः ॥ ६ ॥

गे चलनेवालोंसे रुके हुए मार्गवाला तथा पीछे चलनेवालोंसे (आगे बढ़नेके लिये) किया जाता हुआ कोई राजा कोल्हूमें पड़े हुए सरसोंके स्थानमें अभिषिक्त होकर

भी अपनेको असफल (दमयन्तीकी प्राप्ति) से वञ्चित माना । [पक्षा०—यन्त्रस्थित सि (सिद्ध मनोरथवाले) के स्थानमें अभिषेकको प्राप्तकर भी अपनेको असिद्धार्थ (मनोरथवाला) माना, यह विरोध होता है, इसका परिहार ऊपरके अर्थसे हो जा धक्केमें दोनों ओरसे कोल्हूके सरसोंके समान दवाया गया कोई राजा वहुत दुःखी अथवा—सङ्कीर्ण भागमें सरसोंके समान पीसे जाते हुए मुझे दमयन्ती कैसे प्राप्त हो अर्थात् नहीं प्राप्त होगी इस प्रकार दुःखी हुआ] ॥ ६ ॥

राज्ञां पथि स्त्यानतयानु[1]पूर्वीविलङ्घनाशक्तिविलम्बभाजाम् ।
आह्वानसंज्ञानमिवाग्रकम्पैर्दधुर्विदर्भेन्द्रपुरीपताकाः ॥ ७ ॥

राज्ञामिति । विदर्भेन्द्रपुरी कुण्डिनपुरं तस्यां पताकाः अग्रकम्पैः स्वाग्रच पथि मार्गे स्त्यानतया संहततया सैन्यसङ्कीर्णतयेत्यर्थः । 'संयोगादेरातो धातोर्य इति स्त्यायतेर्निष्ठानत्वम् । आनुपूर्वीविलङ्घनाशक्त्या अक्रमचङ्क्रमणाशक्त्या विल भाजां राज्ञामाह्वानसंज्ञानमाकारणचेष्टां दधुरिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ७ ॥

कुण्डिनपुरीकी पताकाएं (वायुसे) आगे हिलनेसे मार्गमें अत्यन्त सङ्कीर्णतासे (क्रमशःगतिको) उल्लङ्घन करनेमें असमर्थ होनेसे विलम्ब करनेवाले राजाओंको बुल सङ्केत करती थी । [लोकमें भी भीड़से पिछड़े हुए व्यक्तिको जिस प्रकार कोई हाथ आदिसे आगे वढ़नेका सङ्केत करता है, उसी प्रकार कुण्डिनपुरीकी वायुसे पताकाओंने भी भीड़से आगे वढ़नेमें असमर्थ राजाओंको शीघ्र आगे वढ़नेका सङ्केत कि राजाओंने दूरसे कुण्डिनपुरीकी पताकाओंको देखा] ॥ ७ ॥

प्राग्भूय कर्कोटक आचकर्ष सकम्बलं नागबलं यदुच्चैः ।
भुवस्तले कुण्डिनगामिराज्ञां यद्वासुकेश्चाश्वतरोऽन्वगच्छत् ॥ ८ ॥

प्रागिति । भुवस्तले भूपृष्ठे कुण्डिनगामिनाम् । श्रितादिषु गमिगाम्यादीना पसङ्ख्यानात् द्वितीयासमासः । राज्ञां सम्बन्धि सकम्बलं सप्रावारमुच्चैर्महद्य गजबलं (कर्म) कर्क इति पदच्छेदः । अटतीत्यटकः शीघ्रं गन्ता, हृद्यगतिर्वा । ' मन्यत्रापी'त्यौणादिकः क्वुन्प्रत्ययः । कर्कः श्वेताश्वः । 'पृष्ठ्यः स्थौरी सितः क इत्यमरः । जातावेकवचनम् । प्राग्भूय अग्रसरो भूत्वा प्रागिति च्व्यन्तस्य गति तिसमासे क्त्वो ल्यप् । आचकर्ष आकृष्टवान् । अश्वपूर्वं गजा गच्छन्तीति प्रसिद्ध तन्नागवलमश्वतरो गर्दभादश्वायामुत्पन्नो वेसराख्यो वाहनविशेषः । वत्सोक्षा भेभ्यश्च तनुत्वे' इति तरप्प्रत्ययः । तस्य तनुत्वमन्यपितृकतेति काशिका । सोऽन् गच्छत् । अत्रापि जातावेकवचनम् । अग्रतोऽश्वास्ततो गजास्ततोऽश्वतरा जग्मुरित्य अन्यत्र भुवस्तले रसातले कुण्डिनगामिनः वासुकेर्वासुकिमहानागस्य सम्ब सकम्बलं कम्बलाख्यनागेन्द्रसहितम् । 'कम्बलो नागराजे स्यात् सास्नाप्रावारयो

---

[1] '—नुपूर्व्या' इति पाठान्तरम् ।

त्रापि विश्वः । यदुच्चैर्नागबलमहिसैन्यं 'प्रहाश्राहिगजे नागाः' इत्युभयत्रापि ती । कर्कोटको नाम नागविशेषः प्राग्भूयाचकर्ष तं नागबलमश्वतरो नाम शेषोऽन्वगच्छत् । 'अश्वतरो वेसरे च नागराजान्तरेऽपि च' इत्युभयत्रापि । कम्बलकर्कोटकाश्वतरादियुक्तो वासुकिश्च सबल आगत इत्यर्थः । अत्रोभयोः गबलयोः प्रकृतत्वात् केवलं प्रकृतिश्लेषः ॥ ८ ॥

ऊपर कुण्डिनपुरीको जानेवाले, राजाओंके झूल-सहित जिस महान् हाथियोंके शीघ्रगामी (या दृढगामी) सफेद घोड़ेने आगे होकर आकृष्ट किया, उस हाथियोंके खच्चरोंके समूहने अनुगमन किया । (पहले घोड़े, मध्यमें हाथी और पीछे चलते थे) । (पक्षा०—पृथ्वीके नीचे अर्थात् पातालमें स्थित, कुण्डिनपुरीको जानेवाले ('वासुकि' नामक सर्पराज) के कम्बल नामके सर्पके सहित जिस महान् (सर्पोंके समूह) को कर्कोटक नामके सर्पने आगे होकर आकृष्ट किया, उस का अश्वतर नामके सर्पने अनुगमन किया) । [पातालवासी सर्पराज वासुकि भी क, कम्बल, अश्वतर' नामक सर्पोंकी सेनाओंके साथ कुण्डिनपुरीमें पहुंचे] ॥ ८ ॥

आगच्छदुर्वीन्द्रचमूसमुत्थैर्भूरेणुभिः पाण्डुरिता मुखश्रीः ।
विस्पष्टमाचष्ट दिशां जनेषु रूपं पतित्यागदशानुरूपम् ॥ ९ ॥

आगच्छदिति । आगच्छतामुर्वीन्द्राणां राज्ञाञ्चमूसमुत्थैर्भूरेणुभिः पाण्डुरिता कृता दिशां मुखश्रीः पतित्यागदशानुरूपं भर्तृप्रवासावस्थोचितरूपं प्रोषिते त्रा कृशेत्युक्ताकारं जनेषु विषये विस्पष्टमाचष्ट जनेभ्यः प्रकटीचकारेत्यर्थः । अत्रा- संस्यान्यत्रासम्भवाद्दिशां प्रोषितभर्तृकारूपमिव रूपमिति सादृश्याक्षेपादसम्भव- सम्बन्धाख्यो निदर्शनाभेदः हरिद्वधूनामिति देशान्तरपाठे रूपकं व्यक्तम् ॥ ९ ॥

(कुण्डिनपुरीको) आते हुए भूपालोंकी सेनासे उड़ी हुई धूलियोंसे पाण्डुरित दिशाओं की शोभाने (परदेशमें जानेके कारण अथवा सपत्नीको वरण करनेके कारण) के त्यागकी दशाके अनुकूल अवस्था अर्थात् मलिनता युक्त अवस्थाको लोगों में से कह दिया अर्थात् प्रकट कर दिया । [पतियोंको परदेशके लिये प्रस्थान करने सपत्नी लानेके लिये प्रस्थान करनेपर स्त्रियों का मुख मलिन होना ठीक ही है । नपुरीको आनेवाले राजाओंकी सेनाओंकी धूलिसे सब दिशाएं मलिन हो गयीं] ॥ ९ ॥

आखण्डलो दण्डधरः कृशानुः पाशीति नाथैः ककुभां चतुर्भिः ।
भैम्येव बद्ध्वा स्वगुणेन कृष्टैर्ययेे तदुद्वाहरसान्न शेषैः ॥ १० ॥

अथेन्द्रादिलोकपालवृत्तान्तमाह—आखण्डल इति । आखण्डलः इन्द्रः, दण्डधरो , कृशानुरग्निः, पाशी वरुण इति प्रसिद्धैः चतुर्भिः ककुभां नाथैः भैम्याः स्वगुणेन

---

1. 'कृष्टैः स्वयंवरे तत्र गतं न शेषैः' इति पाठान्तरम् ।

स्वसौन्दर्यगुणेनैव गुणरज्ज्वेति श्लिष्टरूपकं वद्ध्वा कृष्टैरिवेत्युत्प्रेक्षा। तदुद्वाहरस मीपरिणयरागादेव यये कुण्डिनं प्रति यातम्। यातेर्भावे लिट्। शेषैरवशिष्टैः नैर्ऋत दिभिः षड्भिर्न यये ॥ १० ॥

इन्द्र, यम, अग्नि और वरुण–ये चारों दिशाओं (क्रमशः पूर्व, दक्षिण, अग्नि और पश्चिम दिशाओं) के स्वामी दमयन्तीके द्वारा अपने गुण (सुन्दरता आदि पक्षा०—रस्सी) से बांधकर खींचे गयेके समान उस (दमयन्ती) के साथ विव अनुरागसे आये (पाठा०—उस स्वयंवरमें आये); शेष (नैर्ऋत्य, वायु, कुबेर, आदि दिक्पाल नहीं आये ॥ १० ॥

मन्त्रैः पुरं भीमपुरोहितस्य तद्बद्धरक्षं विशति क्व रक्षः ।
तत्रोद्यमं दिक्पतिराततान यातुं ततो जातु न यातुधानः ॥ ११ ॥

अथ षड्भिर्नैर्ऋताद्यनागमने कारणमाह—मन्त्रैरित्यादि। भीमस्य भीमभूप पुरोहितस्य मन्त्रैः रक्षोघ्नमन्त्रैर्बद्धरक्षं कृतरक्षणं तत् पुरं कुण्डिनपुरं रक्षो राक्षसः विशति न क्वापीत्यर्थः। ततो रक्षाबन्धाद्धेतोः यातुधानो नैर्ऋतः, दिक्पतिः जातु कदा तत्र पुरं यातुं गन्तुमुद्यमं नाततान न चकार ॥ ११ ॥

(शेष ६. दिक्पालोंके स्वयंवरमें नहीं आनेका कारण कहते हैं—) राजा भीम पुरोहितके मन्त्रोंसे सुरक्षित कुण्डिनपुरमें राक्षस कहां प्रवेश करें अर्थात् कहीं भी नहीं इसी कारणसे (नैर्ऋत्यका) दिक्पाल राक्षसने अर्थात् नैर्ऋत्यने वहां (कुण्डिनपुरमें जानेके लिये कभी उद्योग नहीं किया। [मन्त्रोंसे सुरक्षित स्थानोंमें राक्षसोंका प्रवेश न करना शास्त्रवचनसे सिद्ध है। जिस प्रकार लोकमें कोई मनुष्य स्वयं प्रवेश नहीं कर सके योग्य स्थानमें प्रवेश करनेके लिये कभी उद्योग नहीं करता है। उसी प्रकार नैर्ऋत्य दिशाके पतिका मन्त्ररक्षित कुण्डिनपुरमें अपना प्रवेश अशक्य मानकर वहां जानेके लिये उद्योग नहीं करना उचित ही है] ॥ ११ ॥

कर्तुं शशाकाभिमुखं न भैम्या मृगं दृगम्भोरुहनिर्जितं यत् ।
तस्या विवाहाय ययौ विदर्भान् तद्वाहनस्तेन न गन्धवाहः ॥ १२ ॥

कर्तुमिति। गन्धवाहो वायुः भैम्या दृगम्भोरुहाभ्यां नयनारविन्दाभ्यां निर्जितं मृगं स्ववाहनमृगमभिमुखीकर्तुं न शशाकेति यत् तेनाशक्तत्वेन तद्वाहनो मृगवाहनः सन् इति शेषः। तस्या भैम्या विवाहाय विदर्भान् जनपदान् न ययौ। वाहनं विना गन्तुमशक्यत्वादिति भावः ॥ १२ ॥

वायु दमयन्तीके द्वारा मुख-कमलसे जीते गये मृगको दमयन्तीके सम्मुख नहीं कर सके; उसी कारण मृगवाहन वायु उसके साथ विवाह करनेके लिये विदर्भदेशको नहीं गये। [दमयन्तीने अपने नेत्र-कमलसे मृगको जीत लिया है, वायु देवका वाहन वह मृग एक वार पराजित होनेसे वायुके द्वारा प्रेरित होनेपर भी दमयन्तीके सामने मुख नहीं कर

नो कारण (वाहनके अभावसे) वायव्य दिक्पाल वायुदेव विना वाहनके स्वयंवरमें नुचित होनेसे दमयन्तीके साथ विवाह करनेके लिये विदर्भ देशको नहीं गये, हारे हुए मृगका पुनः उसके सामने नहीं जाना उचित हो है] ॥ १२ ॥

जातौ न वित्ते न गुणे न कामः सौन्दर्य एव प्रवणः स वामः ।
स्वच्छस्वशैलेक्षितकुत्सवेरस्तां प्रत्यगान्न क्षितरां कुबेरः ॥ १३ ॥

श्रुतवित्तादिसम्पन्नः कुबेरः किमिति न यातस्तत्राह—जाताविति। कामः , अभिलाषः, जातावभिजने कौलीन्ये इत्यर्थः।प्रवणो न तत्परः, वित्ते धने च , गुणे श्रुतशीलादौ च न प्रवणः, किन्तु सौन्दर्यं एव प्रवणः। कुतः? स वामो वक्रः, सुन्दरश्च इत्यर्थः। अत एव भणन्ति—'कन्या वरयते रूपमि'ति। स्वच्छे स्फटिकमयत्वाद्बिम्बग्राहिणि स्वशैले कैलासे ईक्षिता कुत्सा गर्हा द् वेरं शरीरं यस्य सः, सम्यगवगतस्वकौरूप्य इत्यर्थः। स कुबेरः क्षित- त्रैलोक्यसुन्द रीमित्यर्थः। 'नद्याः शेषस्यान्यतरस्यामि'ति घादिपरो । तां दमयन्तीं प्रति नाऽगात्, कौरूप्यलज्जया न गत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

देव या कुमारी-विषयक इच्छा (श्रेष्ठ) जातिमें नहीं तत्पर है, (श्रेष्ठ) धनमें पर है और (श्रेष्ठ) गुणमें नहीं तत्पर है; किन्तु सुन्दरतामें ही तत्पर है;) वह काम वाम (प्रतिकूल, पक्षा०—सुन्दर) है, (ऐसा विचारकर) निर्मल (स्फटिकके समान स्वच्छ कैलास पर्वत) में अपने कुरूप शरीरको देखे हुए कुबेर दमयन्तीके प्रति (उसके साथ विवाह करनेके लिये स्वयंवरमें) नहीं आये । वरयते रूपम्' वचनके अनुसार कन्या केवल सुन्दरताको ही प्रमुखता देती है, ति, धन या गुणको नहीं; अतः जाति, धन तथा गुणमें उत्तम होते हुए भी उत्तर कुबेर सुन्दर नहीं होनेसे स्वयंवरमें नहीं आये] ॥ १३ ॥

भैमीविवाहं सहतेऽस्य कस्मादर्धं तनुर्या गिरिजा स्वभर्तुः ।
तेन व्रजन्त्या विदधे विदर्भानीशानयानाय तयान्तरायः ॥ १४ ॥

मीति। गिरिजा पार्वती स्वभर्तुरीश्वरस्य भैमीविवाहं कस्मात् सहते न कस्मा- र्थः। असहने कारणमाह—या भर्तुरर्द्धं तनुः समांशपरत्वान्नपुंसकत्वं, 'पुंस्यर्धोऽ- ऽशके' इत्यमरः। भर्तुरर्धाङ्गभूता कथं सापत्न्यं सहत इति भावः। तेना- न निमित्तेन विदर्भान् जनपदान् व्रजन्त्या तया देव्या ईशानस्येश्वरस्य यानाय र्थान् प्रति प्रयाणाय अन्तरायो विघ्नो विदधे विहितः। अचलत्यर्धे कथमर्धान्तरं रे चलने वा शरीरं विशीर्येत निष्क्रियं वा स्यात्। तस्मादीशानदिक्पालो नायात ः ॥ १४ ॥

जो पार्वती शिवजीका आधा शरीर है, वह (सपत्नी होनेसे) दमयन्तीके विवाहको सहन करती ? अर्थात् नहीं सहन करती; इसी कारण विदर्भ देशको जाती हुई उस

पार्वतीने ईशान (शिवजी) की यात्रामें विघ्न कर दिया । [ईशान कोणके स्वामी शि
का आधा शरीर पार्वतीका और आधा अपना है, पत्नी भागवाले आधे शरीरको छो
जाना असम्भव या निष्क्रिय होनेसे दमयन्तीके विवाहकी इच्छा रहनेपर भी शि
विदर्भ देशको नहीं जा सके ॥ सपत्नी लानेको असहन करना स्त्रियोंका स्वभाव हो
अतः पार्वतीका भी वैसा करना उचित ही है]॥ १४ ॥

स्वयंवरं भीमनरेन्द्रजाया दिशः पतिर्न प्रविवेश शेषः ।
प्रयातु भारं स निवेश्य कस्मिन्नहिर्महीगौरवसासहिः कः ॥ १५

स्वयंवरमिति । दिशः पतिर्दिक्पालः शेषः शेषाहिः भीमनरेन्द्रजाया
स्वयंवरं न प्रविवेश । कुतः स शेषो भारं भूभारं कस्मिन्निवेश्य निधाय प्रया
कस्मिन्नपीत्यर्थः । तथा हि महीगौरवं महीभारं सासहिर्भृशं सोढा । 'सहि
चलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ' इति किकिनौ तयोर्लिड्वद्भावात्
लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया । अन्योऽहिः सर्पः कोऽपि
कोऽपीत्यर्थः ॥ १५ ॥

दिशा (नीचेकी दिशा अर्थात् पाताल) के स्वामी शेषनाग भीमराजकु
(दमयन्ती) के स्वयंवरमें नहीं प्रवेश किये अर्थात् नहीं आये; (क्योंकि) वह (पृ
भारको किसपर रखकर आते, पृथ्वीके भारको अच्छी तरह सहन करनेवाला
(दूसरा) सर्प है ? अर्थात् कोई नहीं । [लोकमें भी अपने कार्यभारको अपने
व्यक्तिपर सौंपकर ही कोई वाहर जाता है, अन्यथा नहीं; अतः अधोदिक्पाल शेषनाग
पृथ्वीके भारको उठानेमें समर्थ किसी सर्पके नहीं मिलनेसे दमयन्तीके विवाहके साथ इ
होनेपर भी उसके स्वयंवरमें नहीं जा सके]॥ १५ ॥

ययौ विमृश्योर्ध्वदिशः पतिर्न स्वयंवरं वीक्षितधर्मशास्त्रः ।
व्यलोकि लोके श्रुतिषु स्मृतौ वा समं विवाहः क पितामहेन ॥

ययाविति । वीक्षितं सम्यक् परिशीलितं धर्मशास्त्रं येन स ऊर्ध्वदिशः पति
विमृश्यायुक्तमिति निश्चित्यैव स्वयंवरं न ययौ । तथा हि पितामहेन ब्रह्मणा
पित्रा च समं विवाहः । 'पितामहो विरिञ्चिः स्यात्तातस्तु जनकोऽपि च' इति वि
लोके क्व व्यलोकि दृष्टः ? श्रुतिषु वेदेषु स्मृतौ धर्मशास्त्रे वा क्व श्रुतः ? न
त्यर्थः । 'असपिण्डां यवीयसीम्' इति स्मरणादिति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थ
रूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १६ ॥

धर्म शास्त्रोंको देखे हुए ऊपर दिशाके स्वामी ब्रह्मा विचारकर स्वयंवरमें नहीं
लोकमें, वेदमें अथवा मन्वादि स्मृतिमें पितामह (बावा = पिताके पिता, पक्षा० — ब्रह्मा)
साथ विवाह कहां देखा गया है ? अर्थात् कहीं नहीं । [धर्मशास्त्रज्ञ ऊर्ध्वदिक्पाल पिता
का विचारकर उक्त कार्य करना उचित ही है]॥ १६ ॥

भैमीनिरस्तं स्वमवेत्य दूत्या मुखात् किलेन्द्रप्रमुखा दिगीशाः।
स्पन्दे मुखेन्दौ च वितत्य मान्द्यं चित्तस्य[1] ते राजसमाजमीयुः ॥१७॥

भैमीति। अथ पूर्वोक्ताश्चत्वार एव इन्द्रप्रमुखा दिगीशा दूत्याः स्वप्रेषितदूतिकायाः स्वमात्मानं भैम्या निरस्तं परिहृतमवेत्य ज्ञात्वा चित्तस्य मान्द्यं विषादजाड्यं गत्यां मुखेन्दौ च वितत्य प्रकाश्य विषादात् मन्दगतयो विवर्णमुखाश्च र्थः। एतेन सानुभावो विषाद उक्तः। राजसमाजमीयुः किल ॥ १७ ॥

द्र आदि दिक्पाल दूतीके मुखसे दमयन्तीके द्वारा अपनेको निरस्त (अस्वीकृत) र चित्तकी (पाठा०—धीरे-धीरे) मन्दता (विषादज जड़ता) को गमन तथा न्द्रमें भी विस्तृतकर अर्थात् विषादसे मन्दगति एवं उदासीन मुख होकर वे मूहमें पहुंचे ॥ १७ ॥

नलभ्रमेणापि भजेत भैमी कदाचिदस्मानितिशेषिताशा।
अभून्महेन्द्रादिचतुष्टयी सा चतुर्नली काचिदलीकरूपा ॥ १८ ॥

थोपायान्तरवैफल्यादिन्द्रादयः तां वञ्चयित्वा ग्रहीतुं प्रवृत्ता इत्याह—नलेति। राजसभाप्राप्त्यनन्तरं सा महेन्द्रादीनां चतुष्टयी भैमी कदाचित् कस्याञ्चिद्वेलायां ति भ्रमेण भ्रान्त्याप्यस्मान् भजेत वृणीतेत्येव शेषिताशा एतावन्मात्रावशेषित-शा सती। उपायान्तरोपगमादिति भावः। अलीकरूपा काल्पनिकस्वरूपा अत चिदनिर्वाच्या चतुर्नली नलचतुष्टयी अभूत्। चत्वारोऽपि नलरूपं दधुरित्यर्थः। तार्थेत्यादिना समाहारद्विगावकारान्तोत्तरपदत्वात् स्त्रियां 'द्विगो'रिति ङीप् ॥

मयन्ती नलके भ्रमसे (नल समझकर) भी हमलोगोंको वरण करले' एकमात्र इस ई आशावाले वे इन्द्र आदि चारों दिक्पाल असत्य रूपवाले कोई अर्थात् अनिर्वचनीय) चार नल बन गये। [इन्द्रादिने कपट से नलका रूप धारण कर लिया] ॥ १८ ॥

प्रयस्यतान्तद्भवितुं सुराणां दृष्टेन पृष्टेन परस्परेण।
तद्द्वैतसिद्धिर्न बतानुमेने स्वाभाविकात् कृत्रिममन्यदेव ॥ १९ ॥

प्रयस्यतामिति। असः स भवितुं तद्भवितुं नलीभवितुं तच्छब्दात् 'अभूततद्भावे '। प्रयस्यतां प्रयतमानानां यस्यतेः दैवादिकाल्लटः शत्रादेशः। सुराणां सम्ब-द्वयोर्भावो द्विता, द्वितैव द्वैतं, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्प्रत्ययः। तस्य नलस्य तसिद्धिर्द्वितीयनलत्वसिद्धिः। तदत्यन्तसारूप्यसिद्धिरिति यावत्। दृष्टेन नलतुल्यो जातो न वेति जिज्ञासितेन. परस्परेण नानुमेने। अतिप्रया-नलतुलां नारोहदेवेति भावः। बतेति खेदे। तथा हि—स्वाभाविकात् स्वभाव-द्रूपात् क्रियया निर्वृत्तं कृतकं रूपं 'ड्वितः क्त्रिः,' 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति क्त्रिमप् च। लक्षणमेव हीनमेवेत्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥१९॥

---

[1] 'चिरस्य' इति पाठान्तरम्।

नल होने (नलका रूप धारण करने) के लिये प्रयत्न करनेवाले देवोंके परस्प देखने तथा पूछनेसे नलके द्वितीय रूपकी सिद्धि नहीं हुई खेद है; (क्योंकि) स्वाभावि कृत्रिम (बनावटी) दूसरा अर्थात् हीन ही होता है। [नलका रूप धारणकर उन इन्द्रा देवोंने परस्परमें देखा तथा एक दूसरेसे 'मैं नलके समान हो गया क्या' ऐसा पूछा स्वयं भी उन्हें अपना-अपना रूप नलके समान नहीं मालूम पड़ा तथा स्वेतर देवद्वयने 'यह रूप वास्तविकमें नलतुल्य नहीं बना' ऐसा कहा। इस प्रकार वे इन्द्रादि देव न रूप धारणकर भी खेद है कि नलके समान नहीं हो सके] ॥ १९ ॥

पूर्णेन्दुमास्यं विदधुः पुनस्ते पुनर्मुखीचक्रुरनिद्रमब्जम् ।
स्ववक्त्रमादर्शतलेऽथ दर्शं दर्शं बभञ्जुर्न तथातिमञ्जु ॥ २०॥

पूर्णेन्दुमिति । ते देवाः पुनः पूर्णेन्दुं पूर्णचन्द्रमेवास्यं विदधुः मुखं चक्रुः। त पुनरनिद्रं विकचमब्जं पद्मं मुखीचक्रुः । नलमुखसाम्यलाभाय पुनश्चन्द्रेण पद्मेन मुखानि निर्ममुरित्यर्थः । अथानन्तरं स्ववक्त्रमादर्शतले दर्पणान्तर्दर्शं दर्शं दृष्ट्वा पुनः पुनर्दृष्ट्वेत्यर्थः। आभीक्ष्ण्ये णमुल् द्विर्वचनं च । तथा नलमुखवदतिमञ्जु सुन्दरं नेति बभञ्जुर्भग्नं चक्रुः निनिन्दुरित्यर्थः। अत्र पूर्णेन्द्वादिकारणसामान्ये विवक्षितकार्यानुत्पत्तिकथनाद्विशेषोक्तिरलङ्कारः । 'तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिर्निगद्यते' लक्षणात् ॥ २० ॥

उन इन्द्रादि देवोंने वार-वार पूर्ण चन्द्रमाको मुख बनाया तथा वार-वार खिले कमलको (नलके मुखकी समानता पानेके लिये) मुख बनाया और दर्पणमें वार-वार मुखको देखकर 'वैसा अर्थात् नलके समान अत्यन्त मनोहर नहीं है' (इस कारण) विगाड़ दिया (या उस बनावटी मुखकी) निन्दा की। [नलके मुखको पूर्ण चन्द्रमा समान मानकर इन्द्रादि देवों ने पहले अपने मुखको पूर्ण चन्द्रमासे बनाया, किन्तु द देखनेसे नलके मुख की सुन्दरता अपने मुखमें नहीं होनेसे 'नलके मुखको विकसित कमल समान सुन्दर मानकर उस पूर्ण चन्द्रनिर्मित अपने मुखको विगाड़कर उसके स्थान विकसित कमलसे अपना मुख बनाकर फिर दर्पणमें देखनेसे फिर भी नलके मु सुन्दरता अपने मुखमें नहीं आनेसे उसे भी विगाड़कर फिर उसके स्थानमें पूर्णचन्द्रसे मुखको बनाया। इस प्रकार अनेकबार पूर्ण चन्द्रमा तथा विकसित कमलसे अपने मु बना-बनाकर दर्पणमें देखनेपर नलके मुखकी सुन्दरता अपने मुखमें नहीं आनेसे वार-वार विगाड़ा और अपनी रचनाकी निन्दा की। लोकमें भी कोई कारीगर किसी व के समान बनाते हुए उसे वार-वार देखता और उसके समान नहीं होनेपर उसे विगाड़कर पुनः बनाता है, और फिर भी वैसा नहीं होनेपर निन्दा करता है। बार-बार पूर्ण चन्द्रमा तथा विकसित कमलसे मुखको बनानेपर भी वे इन्द्रादि देव नलके मुखकी सुन्दरता अपने मुखमें नहीं ला सके] ॥ २० ॥

तेषां त[१]था लब्धुमनीश्वराणां श्रियं निजास्येन नलाननस्य ।
नालं तरीतुं पुनरुक्तिदोषं बर्हिर्मुखानामनलाननत्वम् ॥ २१ ॥

ामिति। तथा तेन प्रकारेण निजास्येन प्रयोज्येन नलाननस्य श्रियं लब्धुं मिति णिजर्थो ग्राह्यः। यद्वा निजास्येन साधनेन तां श्रियं लब्धुं प्राप्तुमनी-समर्थानां बर्हिर्मुखानामग्निवक्त्राणाम्, 'अग्निमुखा वै देवाः' इति श्रुतेः। 'बर्हि-र्भुजः, बर्हिश्शुष्मा कृष्णवर्त्मा' इति चामरः। तेषामिन्द्रादीनां सम्बन्धि, नत्वं वह्निमुखत्वम्, अथ च नलस्याननमिव आननं येषां ते नलानना नपूर्वपदो बहुव्रीहिः। ते न भवन्तीत्यनलाननाः तेषां भावः इत्यनलाननत्वं तुल्याननराहित्यं, पुनरुक्तिदोषम् 'अग्निमुखा वै देवाः' इति श्रुत्या तेषां त्वे पूर्वं सिद्धेऽपि पुनर्वह्निमुखत्वसम्पादनमिति पुनरुक्तिः, अथ च पूर्वं नल-त्या नलाननतुल्याननराहित्ये सिद्धेऽपि पुनरलोकनलीभूत्वा चन्द्रादिनाऽपि ाननत्वाप्राप्त्या अनलाननत्वमिति पुनरुक्तिरित्येतादृशपुनरुक्तिदोषमित्यर्थः, परिहर्तुं, नालं न समर्थः, न तु नलाननत्वसम्भावनापीत्यर्थः। द्वयोरप्य-त्वयोर्भेदेऽपि श्लिष्टैकपदोपादानमहिम्नैकत्वाभिमानात्पौनरुक्त्यव्यपदेशः। ाननश्रीलिप्सूनां तेषां न केवलं तदलाभः प्रत्युत दुस्तरतरपुनरुक्तिदोषरूपा-प्तिश्चेति द्वितीयो विषमालङ्कारभेदः।'यत्रानर्थस्य वा भवे'दिति लक्षणात् ॥२१॥

प्रकार (नलके समान अपना मुख बनानेसे । पाठा०—तब अर्थात् नलके समान मुख बनाते समय) नलके मुखकी शोभाको अपने मुखसे प्राप्त कराने (या करने) असमर्थ उन अग्निमुख अर्थात् देवोंका अनलाननत्व (अग्निमुखत्व, पक्षा०—नलभि-) पुनरुक्ति दोषको दूर करनेके लिये समर्थ नहीं हुआ। [देव पहले अनलमुख मुख) (पक्षा०—नलभिन्नमुख) थे, वे अपना मुख नलके समान सुन्दर बनानेकी नेपर भी अनलानन (अग्निमुख, पक्षा—नलासदृशमुख) ही रह गये अर्थात् अन-को छोड़नेके लिये बहुत प्रयत्न करनेपर भी वे देव नलाननत्वको प्राप्त नहीं कर नु अनलाननत्वरूप पुनरुक्ति से युक्त ही रहे। अन्य भी कोई अपण्डित व्यक्ति दोषको दूर करनेमें जैसे समर्थ नहीं होता है, वैसे वे देव भी बहुत चेष्टा करनेपर ाननत्वको नहीं दूर कर सके] ॥ २१ ॥

प्रियावियोगक्कथितात्[२] किमैलाच्चन्द्राद्गृहीतैर्ग्रहपीडितात्ते ।
ध्माताद्भवेन स्मरतोऽपि सारैः स्वङ्कल्पयन्ति स्म नलानुकल्पम् ॥२२॥

मेति। ते देवाः प्रियावियोगेनोर्वशीविरहाग्निना क्वथितात् दग्धादैलादिलास्म-नसः कर्पूरादेरिवेति भावः। तथा ग्रहपीडिताद्राहुनिष्पीडिताच्चन्द्राच्च यन्त्र-डितात्तिलसर्षपादेरिवेति भावः। भवेन हरेण ध्मातात् स्मरतोऽपि कामाच्च

---

१. 'तदा' इति पाठान्तरम्। २. '—तादिवैला—' इति पाठान्तरम्।

मुखमारुतसन्धुक्षिताग्निदग्धात् खदिरकाष्ठादेरिवेति भावः। गृहीतैरुपात्तैः सारैःसा स्वमात्मानं नलस्यानुकल्पं प्रतिनिधिं कल्पयन्ति स्म किमित्युत्प्रेक्षा। अन्यथा त कल्पतापि कुत इति भावः। अन्येनापि क्वथनपीडिताग्निदाहादिना वस्तुसारः स कृष्यते। एतेन प्रियावियोगादिजन्यक्वथनादिरहितैलचन्द्रादितोऽपि नलस्य सौ र्याधिक्यं व्यज्यते। 'मुख्यः स्यात् प्रथमः कल्पोऽनुकल्पस्तु ततोऽधमः' इत्यमरः।

प्रिया (उर्वशी) के वियोगसे क्वथित पुरुरवासे (क्वथित करनेसे सिद्ध कपू समान), ग्रह अर्थात् राहुसे पीडित चन्द्रमासे (कोल्हूमें पेले गये तैलके समान), शिवजीके द्वारा जलाये गये कामदेवसे (फूंककर जलायी गयी खैर आदिकी लकड़ीके स भी लिये हुए सारभूत पदार्थसे वे देव अपनेको नलके समान बनावेंगे क्या ?। [प्रकार लोकमें कोई कारीगर आदि क्वाथकर, निचोड़कर तथा अग्निमें फूंककर तैयार गये सारभूत पदार्थसे किसी दूसरेके समान सुन्दर वस्तु बनाता है; उसी प्रकार वे दे उक्त एल, चन्द्र तथा कामसे सार लेकर अपनेको नलके समान सुन्दर बना सकते हैं, क प्रिया-विरह क्वथन रहित ऐल (पुरुरवा), ग्रह निष्पीडन रहित चन्द्र तथा शिवध्या कामदेवके तुल्य नल तीनोंसे अधिक श्रेष्ठ हैं] ॥ २२ ॥

नलस्य पश्यत्वियदन्तरं तैर्भैमीति भूपान् विधिराहृतास्यै।
स्पर्धां दिगीशानपि कारयित्वा तस्यैव तेभ्यः प्रथिमानमाख्यत् ॥२

नलस्येति। विधिर्ब्रह्मा नलस्य तैर्भूपैः सह इयत् एतत् परिमितम्, अन्तरं ता तम्यम्, इयं भैमी पश्यत्विति हेतोः एतान् भूपानाहृत आहृतवान्। हरतेर्लुङि 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिज्लोपः। किञ्च दिगीशानपि स्पर्धां कारयित्वा नलरूप णादिद्वारा दिगीशैरपि नलेन सह मत्सरङ्कारयित्वेत्यर्थः 'हृक्रोरन्यतरस्या विकल्पादणिकर्तुः कर्मत्वम्। तस्य नलस्यैव तेभ्य इन्द्रादिभ्योऽपि 'पञ्चमीवि इति पञ्चमी। प्रथिमानमाधिक्यमस्यै भैम्यै आख्यदाख्यातवान्। ख्यातेर्लुङि 'अ तिवक्तिख्यातिभ्योऽङि'ति च्लेरङादेशः। त्रैलोक्यातिशायि लावण्यमस्येति भै प्रत्याययितुमेव ब्रह्मा स्वयम्वरव्याजेन त्रिलोकीमेकत्राचकर्षेत्युत्प्रेक्षा ॥ २३ ॥

'दमयन्ती (अन्यान्य आये हुए राजाओंके साथ) इतने (पाठा०—इस) अ (तारतम्य) को देखे' इस कारण राजाओंको इस (दमयन्ती) के लिये बुलाया दिक्पालोंके द्वारा स्पर्द्धा कराकर उन दिक्पालोंसे नलकी ही श्रेष्ठताको दमयन्तीके बतलाया ['सब राजाओंमें नल ही श्रेष्ठ है' इस बातको दमयन्ती राजाओंको बिना प्रत्यक्ष देखे नहीं जान सकती थी, इस कारण ब्रह्माने नलसे राजाओंकी न्यूनता बतलानेके लि स्वयंवरमें राजाओंको दमयन्तीके सामने बुलाया। नलके हमलोगोंकी अपेक्षा अधिक सुन्द होनेसे बिना नलका रूप ग्रहण किये अपना देवरूप ग्रहणकर स्वयंवरमें जानेसे हमलोगों दमयन्ती नहीं वरण करेगी, किन्तु नलको ही वरण करेगी, अत एव नलके साथ देवों

कराकर ब्रह्माने दमयन्तीसे यह स्पष्ट सूचित कर दिया कि इन्द्रादि देवताओंसे ही अधिक सुन्दर है, क्योंकि कोई भी चतुर व्यक्ति अपने कार्यको साधनेके लिये ही स्पर्द्धा करता है छोटेके साथ नहीं, अत एव तुम (दमयन्ती) सर्वश्रेष्ठ नलको करो] ॥ २३ ॥

सभा नलश्रीयमकैर्यमाद्यैर्नलं विनाऽभूद्धृतदिव्यरत्नैः ।
भामाङ्गणप्राघुणिके चतुर्भिर्देवद्रुमैर्द्यौरिव पारिजाते ॥ २४ ॥

ति । सभा सा राजसभा नलश्रियो यमकैः पुनरुक्ताकारैस्तद्रूपधारिभिरि- धृतानि दिव्यानि रत्नानि यैस्तै रत्नाभरणभूषितैरित्यर्थः । यमाद्यैश्चतुर्भिर्नलं दा नलस्यानागमनात्तेन विनाभूतैरित्यर्थः । अत एव पारिजाते पारिजाताख्ये भामायाः सत्यभामायाः अङ्गणस्य चत्वरस्य प्राघुणिके अतिथौ सति, तथा सतीत्यर्थः । 'आवेशिकः प्राघुणिक आगन्तुरतिथिः स्मृतः' इति हलायुधः । रत्नैर्मूलादग्रपर्यन्तं धृतमुक्तादिदिव्यरत्नैः, चतुर्भिर्देवद्रुमैर्मन्दारादिभिः, 'पञ्चैते वो मन्दारः पारिजातकः । सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्' । द्यौः स्वर्ग इवाभूत् अभादित्यर्थः, मन्दारादिषु सत्स्वपि पारिजातं विना नं शोभते, तथा नलरूपधारिषु यमादिषु सत्स्वपि नलं विना स्वयंवरसभा भे । सभायामिन्द्रादयः समागता नलो नागत इति भावः ॥ २४ ॥

सभा (राजसभा) नलकी शोभाके यमक अर्थात् नलकी शोभाके प्रतिनिधिरूप नहीं) तथा दिव्य रत्नोंको पहने हुए यम आदि चारों दिक्पालोंसे 'पारिजात' देववृक्ष) के सत्यभामाके आँगनेमें अतिथि होनेपर अर्थात् सत्यभामाके यहां रूपमें पारिजातके जानेपर ऊपरसे नीचे तक दिव्य रत्नोंसे लदे हुए चार देववृक्षों र, सन्तान, कल्पवृक्ष तथा हरिचन्दन) से युक्त स्वर्ग ही हुई । [जिस प्रकार के विना दिव्यरत्नोंसे युक्त भी मन्दार आदि चार देववृक्षोंके रहनेपर भी स्वर्गकी नहीं होती, उसी प्रकार दिव्य रत्नोंको पहने हुए भी नलरूपधारी यमादि चार ोंके पहुंचनेपर भी उस राजसभा (स्वयंवर) की शोभा नहीं हुई । यम आदि दिक्पाल स्वयंवरमें नलका रूप धारणकर पहुंच गये और नल नहीं पहुंचे] ॥ २४ ॥

तत्रागमद्वासुकिरीशभूषाभस्मोपलेहस्फुटगौरदेहः ।
फणीन्द्रवृन्दप्रणिगद्यमानप्रसीदजीवाद्यनुजीविवादः ॥ २५ ॥

त्रेति । ईशभूषा योगपट्टसम्पादनार्थं तत्र वासात् ईश्वराभरणभूतः, अत भस्मन उपलेहेनोपलेपेन तदङ्गरागभस्मसङ्क्रमणेनस्फुटगौरदेहः शुभ्राङ्गः फणीन्द्रवृन्दैः सर्पराजगणैः प्राणिगद्यमानो व्याह्रियमाणः, 'नेर्गदनदे' ता णत्वम् । प्रसीदजीवशब्दावादिर्यस्य सोऽनुजीविवादः सेवकजन-

कोलाहलः यस्य स आदिशब्दाज्जयादि शब्दसंग्रहः वासुकिः तत्र स्व आगमदागतः ॥ २५ ॥

शिवजीका भूषण तथा (शिवजीके शरीरस्थ; पाठा०—शिवजीके योगपट्ट-सम्पाद निवास करनेसे, द्वितीय पाठा०—शिवजीके भूषण भस्मके लेपसे शुभ्र अर्थात् वर्ण शरीरवाला और कर्कोटक आदि नागराजोंसे कहे जाते हुए 'प्रसीद जीव' (प्रसन्न जीवो) आदि अनुचरोक्त वचनोंवाला वासुकि वहांपर (स्वयंवर स्थलमें) आया । [श्लोक (१०।८) से वासुकिके पातालसे चलनेका तथा इस श्लोकसे वासुकिके स्व पहुंचनेका वर्णन होनेसे पुनरुक्ति दोष नहीं है] ॥ २५ ॥

द्वीपान्तरेभ्यः पुटभेदनं तत् क्षणादवापे सुरभूमिपालैः ।
तत्कालमालम्भि न केन यूना स्मरेषुपत्त्रानिलतूललीला ॥ २६

द्वीपान्तरेभ्य इति । तत् पुटभेदनं कुण्डिनपुरं द्वीपान्तरेभ्यः, प्लक्षादिभ्यः,अपा पञ्चमी । सुराश्च भूमिपालाश्च तैः, अथवा सुरभूमयः देवभूमयः द्वीपान्तरल देवानां भोगदेहशालित्वेन द्वीपान्तराणाञ्च भोगभूमित्वेन सुरभूमित्वव्यपदेश भावः पालयन्ति ये तैः राजभिरित्यर्थः, क्षणादवापे अवाप्तम् । तथा हि तस्मिन् तत्कालं स्वयम्बरकालमित्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । केन स्मरेषूणां पत्त्रानिलेन तूलस्य कार्पासादेर्लीला इव लीला विलासः नाल न प्राप्तः । 'चिण्भावकर्मणो' रिति लभेः कर्मणि लुङि चिण् । 'विभाषा चिण्णमु इत्युपसृष्टाद्वैभाषिको नुमागमः । अत्राखिलयूनां कामुकत्वेन कुण्डिनप्राप्ति कारणेन द्विपान्तरस्थभूपानां झटिति कुण्डिनप्राप्तिरूपकार्यसमर्थनरूपोऽर्थान न्यासः ।स च तूललीलेति निदर्शनासङ्कीर्णः॥ २६ ॥

उस कुण्डिननगरको दूसरे (प्लक्ष, शाक आदि) द्वीपोंसे देवता तथा राजा लोग (द्वीपान्तररूप) देवभूमिके पालनेवाले राजालोग) शीघ्र आ गये; (क्योंकि) उस कौन युवक कामवाणके पङ्खकी हवासे रूईकी लीला (समानता) को नहीं प्राप्त कि अर्थात् सभी युवकोंने किया । [जिस प्रकार वायु वेगसे प्रेरित रूई उड़कर शीघ्र स्थानसे सुदूर दूसरे स्थानमें पहुंच जाती है, उसी प्रकार कामवाण-पीडित द्वीपान्तर राजा लोग भी शीघ्र ही कुण्डित नगरमें पहुंच गये] ॥ २६ ॥

रम्येषु हर्म्येषु निवेशनेन सपर्यया कुण्डिननाकनाथः ।
प्रियोक्तिदानादरनम्रताद्यैरुपाचरच्चारु स राजचक्रम् ॥ २७ ॥

रम्येष्विति । सः कुण्डिननाकनाथः कुण्डिनेन्द्रो भीमः राजचक्रं राजम रम्येषु हर्म्येषु निवेशनेन स्थापनेन सपर्यया अर्घ्यपाद्यादिपूजया तथा प्रियो प्रियवचनं दानं गन्धमाल्यताम्बूलादिसमर्पणमादरः समादरः सम्मानो वा, नम्र

णमेवमाद्यैरुपचारैराद्यशब्दाद्भोजनादिसंविधानसङ्ग्रहः । चारु सम्यगु- सन्तोषितवान् ॥ २७ ॥

नके स्वामी राजा भीमने सुन्दर प्रसादोंमें ठहराने, अर्घ्य–पादार्घ्य आदि, प्रिय न, माला, चन्दनादिलेप आदिके दान, आदर–सत्कार तथा नम्रता आदिसे उत्तम सत्कार किया ॥ २७ ॥

चतुःसमुद्रीपरिखे नृपाणामन्तःपुरे वासितकीर्तिदारे ।
औदार्यदाक्षिण्यदयादमानां चतुष्टयीरक्षणसौविदल्लाः ॥ २८ ॥

चैतदित्याह–चतुरिति । चतुःसमुद्रयेव परिखा वलयं यस्य तस्मिन् वासिताः कीर्तय एव दाराः कलत्राणि यस्मिन् तस्मिन् नृपाणां राज्ञामन्तःपुरे पृथिवी- भावः । औदार्यं त्यागः दाक्षिण्यं परचित्तानुवर्तनं दया कृपा दम इन्द्रिय- षां चतुष्टय्येव रक्षणे रक्षणार्थं, सौविदल्ला कञ्चुकिनः । 'सौविदल्लाः कञ्चुकिनः' । औदार्यादिगुणचतुष्टयेन नृपाणां कीर्त्तिः रक्ष्यते, तद्विहीनानां कुतः कीर्त्ति- भावः । स्वकीर्त्तिरक्षणार्थं तेन राज्ञा भीमेन ते राजनः सत्कृता इति तात्पर्यम् । ङ्कारः ॥ २८ ॥

र समुद्ररूप परिखा (खाई) वाले तथा कीर्तिरूपिणी स्त्रियोंको जहां ठहराया ऐसे राजाओंके (भूमिरूपी) अन्तःपुरमें उदारता, दाक्षिण्य (अनुकूल व्यवहार), दया और इन्द्रिय संयम—ये चारों (अन्तःपुरकी) रक्षामें कञ्चुकी (कञ्चुकी) हैं । [जिस प्रकार अन्तःपुरस्थ स्त्रियोंकी रक्षा कञ्चुकी करता है, उसी प्रकार पिणी स्त्रीकी रक्षा उदारता आदि चारों करते हैं । इनके विना कीर्तिकी रक्षा नहीं], इसी कारण चक्रवर्ती होकर भी राजा भीमने अपनेसे अवर (हीन) राजाओंका प्रकार (१०।२७) से सत्कार किया ॥ २८ ॥

अभ्यागतैः कुण्डिनवासवस्य परोक्षवृत्तेष्वपि तेषु तेषु ।
जिज्ञासितस्वेप्सितलाभलिङ्गं स्वल्पोऽपि नावापि नृपैर्विशेषः ॥२९॥

भ्यागतैरिति । अभ्यागतैर्नृपैः कुण्डिनवासवस्य कुण्डिनेन्द्रस्य भीमस्य सम्ब- परोक्षवृत्तेषु गूढनिष्पन्नेष्वपि अपिना प्रत्यक्षवृत्तानां परिग्रहः, तेषु तेषूपचारेषु सितस्य ज्ञातुमिष्टस्य प्रयत्नान्वेषणीयस्य इत्यर्थः । जानातेः सनन्तात् कर्मणि प्सितलाभस्य भैमीलाभस्य लिङ्गं चिह्नं गमकभूतः इति भावः । स्वल्पोऽपि उपचारतारतम्यं नावापि न लब्धः, यस्मिन् नृपे उपचारविशेषः परिलक्ष्येत एव भैमीं दास्यतीति हेतोः महानुपचारविशेषः कस्य क्रियते इति परिज्ञाने- नृपैः कुत्रापि तद्विशेषो नावगतः, भीमेन सर्वेषां राज्ञां तुल्य एव समादरः त एव सर्वेऽप्यमंसत यत् भैमीलाभो ममैव भविष्यतीति भावः ॥ २९ ॥

ये हुए राजाओंने कुण्डिनेश्वर (भोज) के उन–उन परोक्ष (प्रिय भाषण आदि)

व्यवहारोंमें भी जाननेके लिए अभीष्ट (दमयन्ती प्राप्तिरूप अपने अभीप्सित) ला कोई थोड़ा भी विशेष नहीं पाया । [आये हुए राजाओंने सोचा था कि 'राजा स्वयंवरमें आये हुए जिस राजाका अधिक सत्कार करेंगे उसीके लिए दमयन्ती भी अतः इस बातका पता लगानेपर उन्होंने किसी राजाके प्रत्यक्ष या परोक्षरूपसे गये सत्कारमें थोड़ी भी न्यूनाधिकता नहीं देखी, अतएव समस्त राजा यही समझते थे मुझे ही दमयन्ती मिलेगी; अथवा—गुप्त सत्कार-विशेषसे भीम राजाका अभिप्राय दुरूह था, अतः किसीको कुछ अनुमान नहीं हो सका कि दमयन्ती अमुक रा मिलेगी । राजा भीमने स्वयंवरमें आये हुए सब राजाओंका समान रूपसे सत्कार किया

अङ्के विदर्भेन्द्रपुरस्य शङ्के न सम्ममौ नैष तथा समाजः ।
यथा पयोराशिरगस्त्यहस्ते यथा जगद्वा जठरे मुरारेः ॥ ३० ॥

सर्वेषां राज्ञां कुण्डिननगरे समावेशो जात इत्याह—अङ्क इति । विदर्भे पुरस्य कुण्डिनपुरस्याङ्के अभ्यन्तरे एष समाजो राजसङ्घोऽगस्त्यहस्ते पयोराशिः स यथा मुरारेः जठरे जगद्वा यथा तथा न सम्ममौ न सम्मितः इति न, किन्तु त सम्ममावित्यर्थः । शङ्क इत्युत्प्रेक्षायाम् । मुनिहस्तहरिकुक्ष्यौपम्येन अल्पेऽपि समाजस्य महतः सम्मानोत्प्रेक्षणादुपमोत्प्रेक्षयोः सङ्करः । तेनाधाराधेययोरना रूप्यलक्षणाधिकालङ्कारस्तन्महत्वमत्यद्भुतं वस्तु च व्यज्यते ॥ ३० ॥

विदर्भराजकी नगरी कुण्डिनपुरमें अगस्त्य मुनिके हाथ (चुल्लू) में समुद्रके सम और विष्णुके उदरमें संसारके समान यह राज-समूह नहीं समाया ऐसा नहीं, अपि समाया ही । [स्वयंवरमें आये हुए सब राजा विशाल कुण्डिनपुरीमें बड़े आन निवास किये] ॥ ३० ॥

पुरे पथिद्वारगृहाणि तत्र चित्रीकृतान्युत्सववाञ्छयैव ।
नभोऽपि किर्मीरमकारि तेषां महीभुजामाभरणप्रभाभिः ॥ ३१ ॥

पुर इति । तत्र पुरे उत्सववाञ्छया विवाहोत्सवाभिलाषेण पन्थानो द्वारा गृहाणि च तान्येव चित्रीकृतानि तेषामभ्यागतानां महीभुजामाभरणप्रभाभिः नभो पि किर्मीरं चित्रमकारि। अपिशब्दात् पथिद्वारगृहाणि च चित्रीकृतानीति किं वाच्य 'चित्रं किर्मीरकल्माषः शबलैताश्च कर्बुरे' इत्यमरः । अत्र समृद्धिमद्वस्तुवर्णनादुदा लङ्कारः ॥ ३१ ॥

उस नगरमें उत्सवकी इच्छासे राजमार्गके द्वारोंके घर (अथवा—राजमार्ग, द्वार, त घर; अथवा—राजमार्गके द्वारवाले घर) चित्रित (रंग-विरंगे सजावटोंसे युक्त) किये गये थे (इसमें आश्चर्य नहीं है, किन्तु) उन राजाओंके भूषणोंकी कान्तिओं (किरणों) आकाश भी ('अपि' शब्दसे उक्त राजमार्गके द्वारोंके घर भी) चित्रित कर दिये (यह आश्चर्य है) ॥ ३१ ॥

विलासवैदग्ध्यविभूषणश्रीस्तेषां तथाऽभूत् परिचारकेऽपि।
अज्ञासिषुः स्त्रीशिशुबालिशास्तं यथागतं नायकमेव कञ्चित् ॥३२॥

सेति। तेषां राज्ञां परिचारके सेवकेऽपि विलासानां कटाक्षविक्षेपादिशृङ्गारवैदग्ध्यस्य वक्रोक्त्यादिभाषणे चातुर्यस्य विभूषणानां च श्रीः सम्पत्तिः तथा या स्त्रियः शिशवो बालिशाः अज्ञाश्च। 'शिशावज्ञे च बालिश' इत्यमरः। तं मागतं कञ्चिन्नायकं राजानमेव अज्ञासिषुरमंसत। विवेकिनस्तु तत्त्वत एव ति भावः। राजभृत्याश्च राजकल्पा इति राज्ञामैश्वर्योक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ३२ ॥

राजाओंके सेवकोंमें भी विलास (शृङ्गारपूर्ण कटाक्ष आदि), चातुर्य तथा भूषणों जड़े हुए सुवर्णालङ्कारों) की शोभा वैसी थी; जिससे स्त्री, बालक–मूर्ख (स्वल्पज्ञ) ये हुए उसीको कोई नायक (राजा) समझ लिया। [स्वयंवरमें आये हुए के सेवक भी कटाक्षादि शृङ्गारभावसे पूर्ण, चतुर तथा बहुमूल्य भूषण पहने थे ामान्य बुद्धिवाले उन्हें भी राजकुमार ही समझते थे] ॥ ३२ ॥

[1]अस्वेदगात्राश्चलचामरौघैरमीलनेत्राः प्रतिवस्तुचित्रैः।
अम्लानमाला विपुलातपत्रैर्देवा नृदेवाश्च भिदां न भेजुः ॥ ३३ ॥

श्लोकद्वयेन राज्ञां देवानां च भेदो दुर्लक्ष्य इत्याह—अस्वेदेत्यादि। चलचामरौघैरस्वेदानि गात्राणि येषां ते तथोक्ताः, वस्तूनि वस्तूनि प्रतिवस्तु, वीप्सायाभावः। चित्रैरद्भुतैः 'विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यं चित्रम्' इत्यमरः। मीला मीलकाः। हलः' इति स्त्रियामप्रत्यये टाप्। तदगृहीतानि अमीलानि अनिमिषाणि, मीलन्तीत्यमीलानि, पचाद्यच्। तानि नेत्राणि येषां ते तथोक्ताः अनि इत्यर्थः। तथा विपुलैरातपत्रैर्निमित्तैरम्लानमाला देवा इन्द्रादयः नृदेवा भिदां भेदं, 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' । न भेजुः। देवपक्षे सर्वत्र उपलक्षणे राजपक्षे हेतौ तृतीया। देवानां स्वेदाद्यभावस्य स्वाभाविकत्वात् चामरौउपलक्षितत्वं राजपक्षे तु स्वेदाभावस्यास्वाभाविकत्वेन चामरौघादीनां तत्त्वं बोध्यम्। अत्रास्वेदगात्रादिपदार्थानां विशेषणगत्या देवभेदाभावहेतुत्वात् कं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ३३ ॥

भावतः) पसीनेसे रहित शरीरवाले तथा चलते हुए चामरसमूहोंसे युक्त देव हुए चामरोंके समूहों (की हवा) से पसीनेसे रहित शरीरवाले राजा,) निमेषसे रहित तथा प्रत्येक पदार्थोंमें विचित्र देव और प्रत्येक (विचित्र) (के देखने) से आश्चर्यित राजा, एवं (स्वभावतः) मलिन नहीं होनेवाली

---

[1] न स्वेदिनश्चामरमारुतैर्न निमेषमात्राः प्रतिवस्तुचित्रैः।
म्लानस्रजो नातपवारणेन देवा नृदेवा विभिदुर्न तत्र ॥'
त्येवं पठित्वा 'प्रकाश' कृताऽयं श्लोको व्याख्यातः।
नै०

मालाओंवाले तथा विशाल छत्रोंवाले देव और विशाल (वड़े-वड़े) छत्रों (के होने नहीं मुर्झायी हुई मालाओंवाले राजा (परस्परमें) भेदको नहीं प्राप्त किये । [देवों स्वभावतः पसीना नहीं होता, नेत्रोंके पलक नहीं गिरते तथा उनकी माला नहीं मुर्झा ऐसे वहां उपस्थित इन्द्रादि देवोंमें तथा वहुत-से चामरोंकी हवासे सूखनेके कारण पसी रहित, अनेक प्रकारके विचित्र-विचित्र प्रत्येक पदार्थोंको आश्चर्यचकित होकर एक देखनेसे पलकको नहीं गिराते हुए और विशाल छत्रोंको लगानेसे धूपका प्रभाव पड़नेके कारण नहीं मुर्झायी हुई मालावाले राजाओंमें कोई भेद नहीं रहा । उक्त कारण समानधर्मा हो जानेसे 'ये देव हैं तथा ये मनुष्य हैं' यह कोई नहीं पहचान सक 'नारायणभट्ट' कृत 'प्रकाश' व्याख्यासम्मत पाठान्तरमें भी प्रायः ऐसा ही समझना चाहिये] ॥ ३३ ॥

अन्योऽन्यभाषानवबोधभीतेः संस्कृत्रिमाभिर्व्यवहारवत्सु ।
दिग्भ्यः समेतेषु नरेषु वाग्भिः सौवर्गवर्गो न नरैरचिह्नि ॥ ३४

अन्योऽन्येति । दिग्भ्यः समेतेषु समागतेषु नरेषु मनुष्येषु अन्योऽन्येषां भाषा मनवबोधेन निमित्तेन भीतेः सङ्कोचात् संस्कारेण निर्वृत्ताः संस्कृत्रिमाः, 'ड्वितः 'क्त्रेर्मप् च नित्यम्' ताभिर्वाग्भिर्व्यवहारोऽभिवादनव्यापारः तद्वत्सु देवभाषयैव भ माणेष्वित्यर्थः। स्वर्गः, भवाः इति सौवर्गाः, देवाः, भावार्थे 'तत्र भवः' इत्यण्, 'द्वा दीनाञ्च' इत्यैजागमः आद्यस्वरस्य वृद्धिनिषेधश्च तेषां वर्गः समूहः सौवर्गवर्गो समूहः, नरैः कुण्डिनवासिभिः, नाचिह्नि देवत्वेन नाज्ञायि, चिह्नशब्दात् 'तत्करो इति ण्यन्ताल्लुङि णाविष्ठवद्भावे 'विन्मतोर्लुक्' इति मतुपो लुक्। भेदे अभेदलक्ष तिशयोक्तिः ॥ ३४ ॥

परस्परकी भाषाओंके (विभिन्न होनेसे) नहीं समझनेके डरसे संस्कृत भाषा व्यवहार करनेवाले अर्थात् संस्कृत भाषा बोलनेवाले एवं दिशाओंसे आये हुए राजाओंमें देव-समूह (इन्द्र आदि चारो देवताओं) को लोगोंने नहीं पहचाना । [देव स्वभाषा होनेसे सर्वदा संस्कृत ही वोलते थे तथा अनेक देश-देशान्तरोंसे आये राजा भी अपने-अपने देशकी भाषाओंको वोलनेसे सब लोग नहीं समझ सकेंगे इस विचा संस्कृत ही वोलते थे । अत एव देवों तथा राजाओंकी भाषामें एक संस्कृतका ही व्यव उस स्वयंवरमें होनेसे वहां की जनताने देवोंको राजा ही समझ लिया । किसीने उन्हें देव हैं' ऐसा नहीं पहचाना] ॥ ३४ ॥

ते तत्र भैम्याश्चरितानि चित्रे चित्राणि पौरैः पुरि लेखितानि ।
निरीक्ष्य निन्युर्दिवसं निशाञ्च तत्स्वप्नसम्भोगकलाविलासैः ॥३

त इति । ते सर्वे नृपाश्च तत्र तस्यां पुरि कुण्डिने पौरैः चित्रे आलेख्ये लेखिता चित्राणि नानाविधान्याश्चर्याणि 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्' इत्यमरः । भैम्याश्चरिता

दिवसं निन्युः। तस्याः सम्बन्धिभिः स्वप्ने याः सम्भोगकलाः सुरतचेष्टास्ता साः विनोदास्तैर्निशाश्च निन्युः। एतेन जागरावस्थोक्ता॥ ३५॥

ने (देव तथा राजाओं) ने उस नगरमें नागरिकों (नगरवासी चित्रकारों) से आश्चर्यकारक दमयन्तीके चित्रोंको देखकर दिनको और उस (दमयन्ती) के म्भोगकी कला (चुम्वनादि) के विलासोंसे रात्रिको विताया । [स्वभावतः कभी वाले देवोंकी कामभ्रमको ही यहां स्वप्नावस्था माननी चाहिये । दमयन्तीको चिन्तामें वहां पहुंचे हुए देवों तथा राजाओंको नींद नहीं आती थी] ॥ ३५ ॥

विभ्रमं स्वप्नगतापि तस्यां निशि स्वलाभस्य ददे यदेभ्यः।
दर्थिनां भूमिभुजां वदान्या सती सती पूरयति स्म कामम् ॥ ३६ ॥

ति। सती सा भैमी तस्यां निशि स्वयंवरात्पूर्वरात्रौ स्वप्नगताऽपि अपि सम्भा- जागरे तु सम्भावितत्वादिति भावः। एभ्यो देवेभ्यो राजभ्यश्च स्वलाभस्य विभ्रमं भ्रान्तिमलीकसङ्गतिमित्यर्थः। ददे दत्तवतीति यत्तत्तस्माददलीकदाना- न्या सती भवन्ती। स्वप्राप्तिदानाद्वदान्यत्वं प्राप्तेर्मिथ्यात्वात्पतिव्रता च सती- र्थिनां भूमिभुजाञ्च कामं मनोरथं पूरयति स्म। एवं स्वकामुकानेकलोकोत्तरयुव ऽपि सा नलैकजीवितैव सती स्थितेत्यर्थः पतिव्रतायाः स्वकामुकानां सर्वेषां त्वं विरुद्धं, तस्याः स्वप्नदर्शनस्य अलीकत्वात् तेन तथाविधसर्वकामपूरणेऽपि वात् परिहारः ॥ ३६ ॥

(स्वयंवरके पूर्व दिनवाली) रात्रिमें स्वप्नमें भी देखी गयी उस पतिव्रता दमयन्तीने प्ति (दमयन्तीलाभ) का जो विभ्रम (विलास, पक्षा०—विशिष्ट भ्रम) इन था राजाओं) के लिये दिया, वह अर्थी (दमयन्तीको चाहनेवाले) राजाओं —भूमिपर आये हुए देवताओं) के काम (मनोरथ) को दानशीला होकर पूरा । [पतिव्रता दमयन्तीके लिये विलाससे समस्त राजाओंका काम पूरा करना होनेसे विरोध होता है और विशिष्ट भ्रम देने एवं स्वप्नमें दर्शन देनेसे उसका हो जाता है। अपने (दमयन्ती) को कामुक अनेक युवकोंके समूहोंके रहते भी न्ती एकमात्र नलको ही चाहती थी । स्वयंवर-दिनके पूर्ववाली रात्रिमें सब ने स्वप्नमें दमयन्तीको देखकर उसके साथ विलास करनेका अनुभव किया । दिनमें वस्तुका रात्रिमें स्वप्नमें देखना सर्वानुभवसिद्ध बात है] ॥ ३६ ॥

वैदर्भदूतानुनयोपहूतैः शृङ्गारभङ्गीष्वनुभाववत्सु ।
स्वयंवरस्थानजनाश्रयस्तैर्दिने परत्रालमकारि वीरैः ॥ ३७ ॥

ति। परत्र दिने परेऽहनि वैदर्भस्य भीमनृपतेर्दूतैरनुनयेन प्रार्थनेनोपहूतैः

—'वक्षिः' इति—'यद्भिः' इति—'विक्षिः' इति च पाठान्तराणि, तत्रान्त्य एव प्रतिभाति।

शृङ्गारभङ्गीषु रतिभावविजृम्भणेषु येऽनुभावाः कटाक्षविक्षेपादयस्तद्वत्सु। 'शृ भङ्गीष्वनुभाववद्भिरि'ति पाठे शृङ्गारचेष्टाः प्रकाशयद्भिरित्यर्थः। तैर्दिगन्तागतै स्वयंवरस्थानभूतो जनाश्रयो मण्डपः। 'मण्डपोऽस्त्री जनाश्रयः' इत्यमरः। अलमक अलंकृतम्। स्वयंवरस्थानं प्राप्तमित्यर्थः॥ ३७॥

विदर्भराज (भीम) के दूतोंके द्वारा विनयपूर्वक बुलाये गये (सूचित) चेष्टाओंमें अनुभाव युक्त (पाठा०—अनुभाव कराते हुए, अनुभाववाले, अनुभावके ज्ञात वे वीर स्वयंवरमें आये हुए राजा लोग स्वयंवर मण्डपको अलङ्कृत किये अर्थात् स्वयं मण्डपमें पहुंचे॥ ३७॥

भूषाभिरुच्चैरपि संस्कृते यं वीक्ष्याकृत प्राकृतबुद्धिमेव।
प्रसूनबाणे विबुधाधिनाथस्तेनाथ साशोभि सभा नलेन॥ ३८

भूषेति। विबुधाधिनाथ इन्द्रो यं नलं वीक्ष्य भूषाभिर्भूषणैरतिशयेन संस्कृतेऽ तेऽपि, 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इति सुडागमः। प्रसूनबाणे मन्मथे प्राकृतबुद्धि ग्जनबुद्धिमेव। नीचबुद्धिमेवेत्यर्थः, 'प्राकृतस्तु पृथग्जनः' इत्यमरः। अकृत कृतवा न तु सुन्दरबुद्धिमित्यर्थः। कृञः कर्तरि लुङि तङ्। 'ह्रस्वादङ्गादि'ति सिचो लो अथ राजागमनानन्तरं तेन नलेन सा सभा अशोभि। शोभां गमिता अलङ्कृ त्यर्थः। शोभयतेः कर्मणि लुङ् विबुधाधिनाथः पण्डितश्रेष्ठः सन्नपि संस्कृते प्राकृतबु संस्कृतभाषिते प्राकृतभाषितत्वबुद्धिमकृतेति विरोधाभासः सूच्यते॥ ३८॥

विबुधराज (देवोंके स्वामी इन्द्र, पक्षा०—विशिष्ट जाननेवालोंके स्वामी अर्थात् विशेषज्ञ) इन्द्रने जिसको देखकर श्रेष्ठ भूषणोंसे अलङ्कृत भी कामदेवको साधारण ही मा उस नलने उस सभाको बादमें सुशोभित किया। [पहले सब राजा लोग तथा दे स्वयंवर मण्डपमें जानेके बाद नल भी पहुंचे]। इन्हें देखकर विशिष्ट जाननेवालोंके रा अर्थात् श्रेष्ठ विशेषज्ञ इन्द्र बहुमूल्य भूषणोंसे अलङ्कृत कामदेवको भी नलसे तुच्छ सम विबुधराज पण्डितश्रेष्ठ होकर भी 'संस्कृत (देववाणी) को प्राकृत समझा' यह विरो भास है तथा पूर्वोक्त अर्थ (अलङ्कृत कामदेवको तुच्छ समझा) से उस परिहार होता है]॥ ३८॥

धृताङ्गरागे कलितद्युशोभां तस्मिन् सभां चुम्बति राजचन्द्रे।
गता बताक्ष्णोर्विषयं विलङ्घ्य क्व क्षत्रनक्षत्रकुलस्य लक्ष्मीः[1]॥ ३९॥

धृतेति। धृतोऽङ्गरागोऽनुलेपनमेवाङ्गरागः अङ्गस्य चन्द्रबिम्बस्य, रागो रक्त येन तस्मिन्, राजचन्द्रे नले कलितद्युशोभां कलिता प्राप्ता, द्युशोभा स्वर्गीयशो आकाशशोभा च यया तां, सभां चुम्बति प्राप्ते सति, क्षत्राणि क्षत्रिया एव, नक्षत्रा तत्कुलस्य लक्ष्मीरक्ष्णोर्विषयं विलङ्घ्य दृष्टिपथमतीत्य, क्व कुत्र, गता? बतेत्याश्च

---

[1] 'कान्तिः' इति पाठान्तरम्।

मिव नलोदये सर्वं क्षत्रकुलं निष्प्रभं जातमित्यर्थः । द्युशोभेत्यत्र शोभेव शोभास्याक्षेपात् निदर्शना, तया सहाङ्गाङ्गिभावेन रूपकस्य सङ्करः ॥ ३९ ॥

(कुङ्कुम आदिका शरीरलेप, पक्षा०—अपने बिम्बरूप शरीरमें लालिमा) किये हुए उस राजचन्द्र (राजाओंमें चन्द्रमाके समान नल, पक्षा०—राजा नल) के स्वर्गकी शोभाको प्राप्त (अथवा—स्वर्गको शोभित करनेवाली) सभा (स्वयंवर प्राप्त करनेपर क्षत्रियरूप नक्षत्रों (अथवा—क्षत्रियों और अक्षत्रियों अर्थात)की शोभा नेत्र विषयका उल्लङ्घनकर कहां चली गयी ? अर्थात कहां अदृष्ट हो है! [जिस प्रकार चन्द्रमाके आकाशमें उदय होते ही नक्षत्रों (ताराओं) की हो जाती है अर्थात वे चन्द्रमाके सामने फीके पड़ जाते हैं, उसी प्रकार स्वयंवर के पहुंचते ही क्षत्रिय राजा (तथा देवों) की शोभा नष्ट हो गयी अर्थात इतने दर नलको छोड़कर दमयन्ती हमलोगोंको नहीं वरण करेगी यह विचारकर ओं (तथा देवों) का मुख फीका पड़ गया] ॥ ३९ ॥

क् दृष्टयः क्षोणिभुजाममुष्मिन्नाश्चर्यपर्युत्सुकिता निपेतुः ।
नन्तरं दन्तुरितभ्रुवान्तु नितान्तमीर्ष्याकलुषा दृगन्ताः ॥ ४० ॥

ति । प्राक् पूर्वम्, अमुष्मिन्नले, क्षौणीभुजां राज्ञां, दृष्टयः पूर्णदृष्टयः, आश्चर्यपारवश्येन, पर्युत्सुकिताः उत्कण्ठिताः सत्यः, निपेतुः, अनन्तरं तु दन्तुरिताद्विपमितभ्रुवां, दृगन्ताः कोणदृष्टयः, नितान्तमीर्ष्यया कलुषाः सन्तो अत्रौत्सुक्येर्ष्याप्रयुक्तानां पूर्णापूर्णदृष्टीनां द्वयीनां क्रमेणैकस्मिन्नले निपतनो पर्यायभेदः । एकमनेकस्मिन् अनेकमेकस्मिन् वा क्रमेण पर्याय इति सूत्रत्सुक्येर्ष्यालक्षणविस्मयद्वेषसञ्चारिभावनिबन्धनात् भावालङ्कारः प्रियोऽपरति द्वयोः संसृष्टिः ॥ ४० ॥

के अत्यन्त सुन्दर होनेसे) आश्चर्यसे उत्कण्ठित, राजाओंकी दृष्टि उस नलपर क्षा०—शीघ्र) गिरी और बादमें कुटिल भ्रूवाले (उन राजाओं) के अत्यधिक लुपित नेत्रप्रान्त अर्थात अपूर्ण दृष्टि (उन नलपर) गिरी । [अथवा—इसके भ्रूवाली स्त्रियोंके अत्यन्त ईर्ष्यासे अर्थात 'मैं पहले देखूँ' इस प्रकारकी से कलुषित कटाक्ष बादमें गिरे अर्थात राजाओंके देखनेके बाद स्त्रियोंने नलको देखा । नलके सभामें आते ही अत्यन्त सुन्दर होनेसे उनको राजाओंने हो पहले उत्कण्ठासे देखा और इतने अधिक सुन्दर नलको छोड़कर दमयन्ती नहीं वरण करेगी' ऐसा विचार करते ही बादमें ईर्ष्यासे मलिन दृष्टि प्रान्तसे र्ष्याकलुषित दृष्टिका पूर्ण रूपसे नहीं देखना स्वभाव सिद्ध है] ॥ ४० ॥

नक्' इति पाठान्तरम् ।

सुधांशुरेष प्रथमो भुवीति स्मरो द्वितीयः किमसावितीमम् ।
दस्रस्तृतीयोऽयमिति क्षितीशाः स्तुतिच्छलान्मत्सरिणो निनिन्दुः ॥४

सुधांशुरिति । मत्सरिणः परशुभद्वेषिणः, क्षितीशाः भुवीति किमिति च पदद्व सर्वत्रान्वयः कार्यः; भुवि भूतले, एषः प्रथमः नवावतीर्णः, सुधांशुः मुख्यच किम् ? इति, असौ भुवि द्वितीयः स्मरः किम् ? इति, अयं तृतीयः दस्रः आश्विने भुवि किम् ? इति च, दस्रयोर्द्वित्वेऽप्येकत्वविवक्षया एकवचनं, द्वयेकत्वेऽपि द्वित्व वक्षायां द्वौ चन्द्रावविरुद्धम्; पुष्पवत् दारादिशब्दवन्नियतवचनत्वाभावात् । इतीत्थ इमं नलं, स्तुतिच्छलात् निनिन्दुः असमानसमीकरणेन स्तुतिर्लोकोत्तरस्य निन्दै भावः । चन्द्रत्वाद्युत्प्रेक्षात्रयस्य संसृष्टिः ॥ ४१ ॥

मत्सरी (दूसरेके शुभमें द्वेष करनेवाले) राजालोग यह पृथ्वीपर नवीन चन्द्रमा क्या ? (अथवा—पृथ्वीपर नया दूसरा चन्द्रमा है क्या ?), यह पृथ्वीपर दूसरा कामदे क्या ?, यह पृथ्वीपर तीसरा अश्विनी-कुमार है क्या ? इस प्रकार (उस नलकी) प्रश व्याजसे निन्दा की । [पहले तो नलकी चन्द्र आदि कहकर राजाओंने प्रशंसा बादमें यह नल है, चन्द्रमा आदि नहीं है ऐसा कहकर उन नलकी निन्दा की] ॥ ४१

आद्यं विधोर्जन्म स एष भूमौ द्वैतं युवाऽसौ रतिवल्लभस्य ।
नासत्ययोर्मूर्त्तिरियं तृतीया इति स्तुतस्तैः किल मत्सरैः सः ॥ ४२ ॥

आद्यमिति । स एष नलः, भूमौ भूतले, विधोरिन्दोः, आद्यं जन्म प्रथमाव इत्यर्थः, युवाऽसौ रतिवल्लभस्य कामस्य, द्वैतं द्वित्वं, द्वितीयकाम इत्यर्थः, इयं रूपा, नासत्ययोरश्विनोः, तृतीया मूर्त्तिः, इति स नलः, मत्सरैर्मत्सरवद्भिः, 'मत्स न्यशुभद्वेषस्तद्वत् कृपणयोरपि' इत्यमरः । 'अर्श आदिभ्योऽच्' इति मत्वर्थीयोऽका तैः स्तुतः किल ? स्तुतः खलु ? पूर्वश्लोकेन पुनरुक्तमपि कविना लिखितत्वात् पूर्ववत् ॥ ४२ ॥

'वह अर्थात् सुप्रसिद्ध यह (नल) पृथ्वीपर चन्द्रमाका पूर्वावतार है, यह युवक ! रतिपति (कामदेव) का द्वैत है अर्थात् पृथ्वीपर दूसरा कामदेव है, यह मूर्ति (मूर्त तृतीय अश्विनीकुमार है' इस प्रकार मत्सरी उन राजाओंने उस नलकी प्रशंसा की ॥ ४

इहेदृशाः[1] सन्ति कतीति दुष्टैर्दृष्टान्तितालीकनलावली तैः ।
आत्मापकर्षे किल मत्सराणां द्विषः परस्पर्द्धनया[2] समाधिः ॥ ४३ ॥

इहेति । दुष्टैः खलैः, तैर्नृपैः, इह सभायाम्, ईदृशाः नलसदृशाः, कति कियन्तो सन्तीति अलीकनलावली इन्द्रवरुणयमानलपङ्क्तिः, दृष्टान्तिता दृष्टान्तीकृता,

---

[1] 'मायानलोदाहरणान्मिथस्तैरूचे समाः सन्त्यमुना कियन्तः' इति पाठान्तर

[2] 'परस्पर्द्धितया' इति पाठान्तरम् ।

नलावलीं निर्दिश्य अत्र सभायां बहवो नलेन तुल्यरूपा विद्यन्ते, तत् कथं
पुनः पुनः वर्णयथ ? इति भावः। ननु नलसदृशानां बहूनां सत्त्वेऽपि स्वस्य
त्कर्षः ? इत्यत आह—मत्सराणां मत्सरिणाम्, आत्मनोऽपकर्षे शत्रुसकाशात्
सति, द्विषः प्रतिपक्षस्य, परेण पुरुषान्तरेण, स्पर्द्धनया सङ्घर्षणया, कोट्यन्त-
ण्यापादनेनेत्यर्थः, स्वार्थे ण्यन्तात् युच्। समाधिः किल आत्मापकर्षपरिहारः
र्थः, एतादृशाः कति सन्तीति समानकोट्यन्तरोद्घाटनेन दूषयित्वा तुष्यन्तीति
र्थः। अर्थान्तरन्यासः ॥ ४३ ॥

उन्होंने (उन राजाओंने) 'यहांपर ऐसे कितने अर्थात् अनेक हैं' ऐसा कहकर
नल-समूह (नलरूपधारी इन्द्रादि चारो देव) का दृष्टान्त अपने उक्त वचनके
उदाहरण दिया। (पाठा०—उन्होंने मायानलों (नलरूपधारी इन्द्रादि देवों) के
से 'इस (वास्तविक नल) के समान कितने अर्थात् अनेक हैं' ऐसा आपसमें
मत्सर (दूसरेके भलेमें द्वेष) करनेवालोंका शत्रुसे अपनी हीनता रहनेपर दूसरेकी
समाधान होता है। [नलको देखकर उनसे अपनेको तुच्छ मानकर ईर्ष्यालु
ने नलरूपधारी इन्द्रादि चारो देवोंको दिखाकर कहा कि—इस (वास्तविक नल)
न कई हैं, अतः इसके सौन्दर्यका कोई महत्त्व नहीं है। लोकमें भी स्वयं शत्रुकी
नहीं कर सकनेपर दूसरोंके साथ उस शत्रुकी समता करके अपने चित्तका समाधान
ता है] ॥ ४३ ॥

गुणेन केनापि जनेऽनवद्ये दोषान्तरोक्तिः खलु तत् खलत्वम् ।
रूपेण तत्संसददूषितस्य सुरैर्नरत्वं यददूषि तस्य ॥ ४४ ॥

णेनेति। केनापि गुणेन अनवद्ये अगर्ह्ये, सर्वगुणसम्पन्ने इत्यर्थः, 'अवद्यपण्ये'
ना निपातनात् साधुः। जने दोषान्तरोक्तिः कस्यचिदनवद्यधर्मस्य दोषत्वेनोद्भा-
त्यर्थः, तत्खलत्वं तदेव तस्य वक्तुर्दुष्टत्वं खलु। कुतः ? यद् यस्मात्, रूपेण
ेण, तस्यां संसदि तया संसदा वा अदूषितस्य, प्रत्युत स्तुतस्यैवेति भावः,
नलस्य सम्बन्धि, नरत्वं मनुष्यत्वं, सुरैरिन्द्रादिभिः, अदूषि अतिसौन्दर्यशाली
नरोऽयं न तु देव इति दोषत्वेनोद्घाटितमित्यर्थः। दूषयतेः कर्मणि लुङ्।
ोक्तस्य खलत्वस्य नरत्वदूषणेन समर्थनाद्विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्था-
ासः ॥ ४४ ॥

सी अर्थात् अनिर्वचनीय (अथवा—किसी एक भी) गुणसे मनुष्यके अनिन्दनीय
र भी दोषान्तर (दूसरे दोष, अथवा—गुणको ही दोष) बतलाना वह दुष्टता है; जो
उस सभामें (अथवा—उस सभासे) अदूषित (दूषित नहीं, प्रत्युत प्रशंसित) उस
नरत्व (मनुष्यभाव, पक्षा०—नलभाव) को दूषित किया। [सभामें प्रशंसित
रे भी यह नल 'नर' अर्थात् मनुष्य है देव नहीं है, इस प्रकार जो देवोंने नलके
ये भी दोष बतलाया यह उनकी दुष्टता थी] ॥ ४४ ॥

नलानसत्यानवदत् स सत्यः कृतोपवेशान् सविधे सुरेशान् ।
[1]नोभाविलाभूः किमु दर्पकश्च भवन्ति नासत्ययुजौ भवन्तः ? ॥ ४

नलानिति । सत्यः स नलो यथार्थनलः, असत्यान् नलान् अलीकभूतान्, रूपधारिणः इत्यर्थः, सविधे समीपे, कृतोपवेशान् उपविष्टान्, सुरेशान् सुरेन्द्रादी अवदत्; किमिति ? हे धन्याः । भवन्तः असत्यौ सत्यरहितौ न भवत इति नास वश्विनौ दस्रौ इति निपातनान्नञो नलोपाभावः । ताभ्यां युज्येते इति तद्युजौ तद्यु 'सत्सूद्विष-' इत्यादिना क्विप् । उभाविलायामिलादेव्यां भवति इति इलाभूरैलः पु रवाः, क्विप्, दर्पकः कामश्च, न भवन्ति किमु ? इति प्रश्नः । 'शेषे प्रथमः' इति प्र पुरुषः, चत्वारो यूयमश्विनौ पुरूरवाः कामश्च किं न भवथ इत्यपृच्छदित्यर्थः, निजरूपदर्शनादन्येषामिव स्वस्यापि विस्मयावेशाच्च इत्थमप्राक्षीदिति भावः ॥ ४

उस वास्तविक नलने पासमें बैठे हुए अवास्तविक नल बने हुए देवों (पाठा० सुन्दर वेषवाले अवास्तविक नलों) से कहा—आपलोग पुरूरवा तथा कामदेव—ये दो और दोनों अश्विनीकुमार नहीं हैं क्या ? । [जिस प्रकार नलको देखनेसे दूसरोंको आ हुआ था, उसी प्रकार नलरूपधारी असत्य नलोंको देखकर (वास्तविक) नलको आश्चर्य हुआ, अत एव उन्होंने उनसे उक्त प्रश्न किये] ॥ ४५ ॥

अमी [2]तमाहुः स्म यदत्र मध्ये कस्यापि नोत्पत्तिरभूदिलायाम् ।
अदर्पकाः स्मः सविधे स्थितास्ते नासत्यतां [3]नापि बिभर्त्ति कश्चित् ॥४

अमी इति । अथामी देवाः, तं नलम्, आहुः स्म ऊचुः, 'लट् स्मे' इति भूते ल उत्तरश्लोके 'तेभ्यः पराञ्चः परिभावयस्व' इति वक्ष्यते, तत्र हेतुमाह,—यदिति । यस्मात् कारणात्, ते तव, सविधे समीपे, स्थिताः, ये वयमिति शेषः, अत्रैते चतुर्षु अस्मासु, मध्ये कस्यापि इलायां बुधकलत्रे इलादेव्यां, भूमौ च, उत्पत्ति भूत, अत्र न कोऽप्येकः पुरूरवाः न कोऽपि च भौमः इत्यर्थः, किन्तु अदर्प दर्पकात् कामाद्भिन्नाः, दर्पशून्याश्च, तव सौन्दर्यातिशयदर्शनेन गर्वशून्या इत्यर्थ स्मः भवामः; कश्चिन्नासत्यताम् आश्विनेयत्वं सत्यत्वञ्च, न बिभर्त्ति अस्मासु कोऽपि नासत्यः, अथ च तव रूपधारणात् न कोऽपि सत्यः किन्तु सर्वे वयमसत्य इत्यर्थः । 'नासत्यावश्विनौ दस्रौ' इत्यमरः । नासत्यतां सत्यतां बिभर्त्तीति किन्त सत्यनला वयमित्यर्थान्तरम् ॥ ४६ ॥

इन इन्द्रादि देवोंने उस (नल) से कहा कि—(जो) हमलोग तुम्हारे पासमें बैठे इन (हम चारों) में किसीकी उत्पत्ति 'इला' नामकी स्त्री (पक्षा०—पृथ्वी) में न हुई है अर्थात् हम चारोंमें-से कोई इला-पुत्र पुरूरवा नहीं है (पक्षा०—पृथ्वीपर को

---

[1] 'उभौ किमैलश्च न दर्पकश्च' इति पाठान्तरम् ।

[2] 'तमीहग्जगुरत्र' इति पाठान्तरम् ।

[3] 'नात्र' इति पाठान्तरम् ।

हुआ है अपितु स्वर्गमें उत्पन्न हुआ है अर्थात् हम देव हैं, मनुष्य नहीं हैं), लोग कामदेव नहीं है (पक्षा०—निरभिमानी हैं), इन (हमलोगों) में श्विनीकुमारके भावको नहीं धारण करता है अर्थात् कोई अश्विनीकुमार (पक्षा०—कोई असत्यता नहीं धारण करता है ऐसा नहीं है अर्थात् धारण करता ही है अर्थात् हम सभी असत्य नल हैं सत्य नल नहीं हैं) ('ना' पदच्छेद करके) हमलोगोंमें कोई मनुष्य (अपने नलत्वको प्रमाणित लिये देवोंने अपनेको मनुष्य कहा है) असत्य नहीं है—हमलोग सच्चे अर्थात् नल ही हैं। [इन्द्र आदिने वाक्छलसे कपटपूर्वक नलसे कहा कि—हमलोग कामदेव और अश्विनीकुमार—इनमें कोई नहीं हैं; किन्तु हम नल हैं]॥ ४६ ॥

परान्नः परिभावयस्व[1] श्रिया विदूरीकृतकामदेवान्।
समाजे बहुषु भ्रमन्ती भैमी किलास्मासु घटिष्यतेऽसौ ॥ ४७ ॥

इति। पूर्वश्लोकस्थयच्छब्दापेक्षया तदो व्यवहारः। तत्तस्मादिलाभवता-, श्रिया सौन्दर्य्येण, विदूरीकृतकामदेवान् अधरीकृतमन्मथान्, नोऽस्मान्, ऐलादिभ्यः परानन्यान्, परिभावयस्व निश्चिनुष्व, अन्यच्च—हे सौम्य ! विदूरीकृतकामदेवान्नोऽस्मांस्तेभ्यः परानुत्कृष्टान्, विद्धि। अस्तु तावत्, अत्र गताः ? तत्राह—असौ भैमी अस्मिन् समाजे राजसङ्घे, बहुषु मध्ये पर्य्यटन्ती, अस्मासु घटिष्यते संयोक्ष्यते, तथा बहुषु अस्मासु नलरूपेष्विति अत एव भ्रमन्ती नल इति भ्रान्तिमती सती, अस्मासु घटिष्यते सङ्गमिष्यते, इति सम्भावनायाम्, इत्याशयेनात्रास्माकमागमनमिति भावः। अत्रार्थद्व- विवक्षितत्वात् केवलप्रकृतश्लेषः ॥ ४७ ॥

) शोभासे कामदेवको तिरस्कृत करनेवाले हमलोगोंको उन (पुरूरवा, कामदेव, कुमारों) से भिन्न जानो। इस समाजमें बहुतोंमें (अनेक राजाओंमें, अथवा—वाले हम पाचोंमें) घूमती हुई (पक्षा०—भ्रमसन्देह करती हुई) यह दमयन्ती (में-से किसी एक) में सङ्गत होगी अर्थात् वरण करेगी। [दमयन्तीको वरण अभिप्रायसे हमलोग यहां स्वयंवरमें आये हैं]॥ ४७ ॥

साम यन्नाम तवेह रूपं स्वेनाधिगत्य श्रितमुग्धभावाः।
धिगाशापतितान्नरेन्द्र ! धिक् चेदमस्मद्विबुधत्वमस्तु ॥ ४८ ॥

मेति। हे नरेन्द्र ! यत् यस्मात्, तव नाम रूपञ्च स्वेन आत्मना, अधिगत्य पि, श्रितमुग्धभावाः स्वीकृतमूढभावाः सन्तः, इह स्वयंवरे असाम भवाम, ति यावत्, अस्तेर्लोट्, तत्तस्मात्, आशापतितान् भैमीलाभाशया आपति-तान्, नः अस्मान्, धिक्, इदञ्चास्माकं विबुधत्वं देवत्वं विपश्चित्त्वञ्च धिगस्तु;

---

[1] 'परिकल्पयस्व' इति पाठान्तरम्।

अन्यच्च—यत्तव रूपमधिगत्य त्वद्वेशं धारयित्वा, श्रितमुग्धभावाः लब्धसौन्द सन्तः, 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इति विश्वः। असाम नाम दिव्यामहे खलु, गतिदीप्त्यादानेष्विति धातोर्लोट्' तत्तस्मात्, नोऽस्माकम्, आशापतितां दिक्पा धिक्, 'आशा तृष्णादिशोरपि' इति विश्वः, इदमस्मद्विबुधत्वञ्च। धिक्, तुच्छ पारत्वादिति भावः। 'विबुधः पण्डिते देवे' इति विश्वः। पूर्व एवालङ्कारः ॥ ४८

हे नरेन्द्र ! तुम्हारे नाम तथा रूपको स्वयं जानकर (या साक्षात् देखकर) मूढभाव हमलोग जिस कारण यहां (स्वयंवरमें) हैं अर्थात् आये हैं, उस कारण आशा (दमयन् पानेका विश्वास) से आये हुए (अथवा—गिरे हुए) हमलोगोंको धिक्कार है और हमलो इस विशिष्ट पाण्डित्यको भी धिक्कार है। पक्षा०—हे नरेन्द्र जिस कारण तुम्हारा धारणकर सौन्दर्यको प्राप्त किये हुए हमलोग शोभित हो रहे हैं, उस कारण हमलो दिक्पालत्वको–(अथवा—आशासे (ही दमयन्तीके पतिभाव) को अर्थात् हमलोग दमयन्तीका पति होना केवल आशा मात्र ही है, वास्तविक विचारनेपर दमयन्तीके बननेका कोई लक्षण हमलोग अपनेमें नहीं देखते हैं)–धिक्कार है और इस देवभावको धिक्कार है। पुनः, पक्षा०—अपनेमें (सब कुछ प्रयत्न करनेपर भी) तुम्हारे रूपको प्राप्तकर (अब हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये ऐसे ज्ञा रहित होनेसे) किंकर्तव्यमूढ होनेसे (अब नलको ही दमयन्ती वरण करेगी ईर्ष्यासे) तुम्हारे नाम (या प्रसिद्धि) को जिस कारणसे हमलोग नष्ट करते हैं (तुम्हा अतिरिक्त हमलोगोंके भी नलका रूप धारण करनेसे तुम्हारी नाम (या प्रसिद्धि) रहने देते हैं), उस कारण (इस प्रकार नलका रूप धारणकर यहां आनेसे दमय हमलोगोंको वरण करेगी इस) आशासे यहां आये हुए हमलोगोंको धिक्कार है, देवत्वको भी धिक्कार है। (अथवा—हे 'स्वेन' अर्थात् हे ज्ञातियोंमें श्रेष्ठ; अथवा हे धनके स्वामी !) ॥ ४८ ॥

सा वागवाज्ञायितमां नलेन तेषामनाशङ्कितवाक्छलेन ।
स्त्रीरत्नलाभोचितयत्नमग्नमेनं न हि स्म प्रतिभाति किञ्चित् ॥ ४९ ॥

सेति। अनाशङ्कितवाक्छलेन अनाकलितदेववाक्कपटेन, नलेन तेषां देवा सा वाक् पूर्वोक्ता व्याजोक्तिः, अवाज्ञायितमाम् अतिशयेनावज्ञाता, देववाक्यस्य पु स्फूर्त्तिक एवार्थो गृहीतो न तु तात्त्विक इत्यर्थः। 'जानातेरवपूर्वात् कर्मणि लु 'तिङश्च' इत्यनेनातिशयार्थे तमप् प्रत्ययः, ततस्तस्य घसंज्ञा, ततः 'किमेत्तिङव्ययघ दाम्वद्रव्यप्रकर्षे' इत्यनेनामुप्रत्ययः। कुतः ? हि यस्मात्, स्त्रीरत्नलाभे यः उचितय योग्यव्यापारो देवताऽनुध्यानादिः। तत्र मग्नम् आसक्तम्, एनं नलं प्रति, किञ्चि किमप्यन्यत्, न प्रतिभाति स्म न स्फुरति स्म; व्यासङ्गो हि महान् विवेकप्र बन्धक इति भावः ॥ ४९ ॥

न्द्रादिके वाक्छलको नहीं विचारनेवाले नलने उसे (देवताओंकी बातको) नहीं र्थात् उसका सीधा ही अर्थ समझा विशेष कपटको नहीं। क्योंकि स्त्रीरत्न) को पानेके उपायमें संलग्न इस नलको कुछ भी स्फुरित नहीं हुआ। [स्वयं को पानेके यत्नमें नलके संलग्न रहनेसे अन्यासक्त चित्तवाले नलने देवोंके कहनेका नहीं समझा, अन्यासक्त चित्त गूढाभिप्राय ज्ञानमें प्रतिबन्धक होता ही है] ॥४९॥

र्द्धया येन निजप्रतिष्ठां लिप्सुः स एवाह तदुन्नतत्वम् ।
र्द्धितुः स्वाभिहितस्वहानेः स्थानेऽवहेलां बहुलां न कुर्यात् ? ॥५०॥

वाक्यावज्ञां प्रति हेत्वन्तरमाह, य इति। योऽपकृष्टः, येनोत्कृष्टेन सह, स्पर्द्धया , निजप्रतिष्ठामुत्कर्षं, लिप्सुः लब्धुमिच्छुः, लभेः सनन्तादुप्रत्ययः, सः स्पर्द्धि-, तस्योत्कृष्टपुरुषस्य, उन्नतत्वमुत्कृष्टत्वम्, आह ब्रवीति, तच्चेष्टयैव तस्याप-स्फुटीभवतीत्यर्थः। तथा हि, कः प्रेक्षावान्, स्वेनैवाभिहिता स्वहानिः यों येन तस्य, स्पर्द्धितुर्बहुलां भूयसीम्, अवहेलामवज्ञां, न कुर्यात्? कुर्यादे-। 'रीढावमाननावज्ञाऽवहेलनमसूर्क्षणम्' इत्यत्रावहेलयेति क्षीरस्वामी स्थाने के द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः। भैमीलाभार्थं नलरूपधारणरूपया इन्द्रादि-नलस्य महानुत्कर्ष एव आसीत्, ततः नलेन तेषामवज्ञा युक्तैवेति भावः॥

(निकृष्ट व्यक्ति) जिस उत्कृष्ट व्यक्ति के साथ स्पर्द्धासे अपनी प्रतिष्ठाको है, वही (निष्कृष्ट व्यक्ति) उस (उत्कृष्ट व्यक्ति) की श्रेष्ठताको जिस कारणसे अर्थात् अपकृष्ट व्यक्तिकी चेष्टाएं ही उत्कृष्ट व्यक्तिकी श्रेष्ठताको व्यक्त करती हैं, णसे स्वयं (अपनी) निकृष्टताको बतलानेवाले स्पर्द्धालुके विषयमें कौन (बुद्धिमान्) अधिकतम उपेक्षा नहीं करता है अर्थात् सभी उपेक्षा करते हैं। [जो कोई व्यक्ति जिस किसी श्रेष्ठगुणी व्यक्तिके साथ स्पर्द्धाकर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना है, वही व्यक्ति अपनी हीनता तथा दूसरेकी श्रेष्ठताको स्वयं कह देता है, इस कारण क्तिके विषयमें अवज्ञा करना (उनकी बातोंको कोई महत्त्व नहीं देना) श्रेष्ठ व्यक्तिके-चित ही है। प्रकृतमें दमयन्तीको पानेके लिये अपना वास्तविक रूप तथा नाम इन्द्रादि चारो देवोंने नलका रूप तथा नाम धारण कर स्वयं ही नलकी श्रेष्ठता कर ली, अत एव नलका उनकी बातोंका महत्त्व नहीं देना अर्थात् उपेक्षा करना ही है] ॥ ५० ॥

गीर्देवतागीतयशःप्रशस्तिः श्रिया तडित्वल्ललिताभिनेता ।
तदाऽवैक्षत केशवस्तं स्वयंवराडम्बरमम्बरस्थः ॥ ५१ ॥

रिति। तदा तस्मिन् काले, केशवो विष्णुः, गीर्देवतया वाग्देवतया, गीता-शस्तिः कीर्त्तिप्रबन्धो यस्य सः, श्रिया लक्ष्मीदेव्या स्वशरीरस्थया, तडित्वतः तो मेघस्य, ललितस्य विलासस्य, अभिनेता अनुकर्त्ता सन्, अम्बरस्थः तं

स्वयंवराडम्बरं स्वयंवरसभायोजनं, मुदा हर्षेण, अवैक्षत, किमुतान्य इति भा लक्ष्मीसरस्वतीसहितः नारायणः स्वयंवरं द्रष्टुमाजगाम इति निष्कर्षः ॥ ५१ ॥

उस समय सरस्वती देवीसे वर्णित कीर्ति तथा गौरववाले (या कीर्ति प्रशंसावाले) श्री (स्वपत्नी, पक्षा०—पीताम्बर युक्त शरीर शोभा) से विजलीसे युक्त मेघकी शोभ अभिनय करनेवाले अर्थात् विजलीयुक्त मेघके समान शोभावाले, आकाशस्थ विष्णु स्वयम्वरका वह आयोजन हर्षसे देखने लगे। [उस स्वयंवरको देखनेके लिये वि भगवान् भी आकाशमें विराजमान हुए] ॥ ५१ ॥

अष्टौ तदाऽष्टासु हरित्सु दृष्टीः सदो दिदृक्षुर्निदिदेश देवः।
लैङ्गीमदृष्ट्वाऽपि शिरःश्रियं यो दृष्टौ मृषावादितकेतकीकः ॥ ५२ ॥

अष्टाविति। तदा तस्मिन् काले, सदः स्वयंवरसभां, दिदृक्षुः द्रष्टुमिच्छुः, आ इति शेषः, देवश्चतुर्मुखः, अष्टासु हरित्सु दिक्षु, अष्टौ दृष्टीः निदिदेश प्रेरयामास, अ दिगाहृतजनताऽवलोकनार्थः। यो देवः, लैङ्गीं ज्योतिर्लिङ्गसम्बन्धिनीं, शिरःश्रि लिङ्गस्योत्तरावधिमित्यर्थः, अदृष्ट्वाऽपि दृष्टौ लिङ्गशिरोदर्शनविषये, मृषा वदतीति मृ वादिनी सा कृता मृषावादिता मृषावादीकृतेत्यर्थः, मृषावादिशब्दात्तत्करोती ण्यन्तात् कर्मणि क्तः, पुंवद्भाव–टिलोपाद्यर्थं णाविष्ठवद्भावोपसङ्ख्यानाट्टिलोपः, केत येन स कूटसाक्षीकृतकेतकीकुसुम इत्यर्थः 'नद्यृतश्च' इति कप्समासान्तः। पुरा कि ब्रह्मा ज्योतिर्लिङ्गस्य शिरोदेशमदृष्ट्वाऽप्यद्राक्षमित्यसत्यमुक्त्वा तत्र शिवशिरःपति केतकीकुसुमं 'शिवशिरःस्थितं मां ब्रह्मा तत आनीतवान्' इति कूटसाक्षीचकारेति पौरा णिकी कथाऽत्रानुसन्धेया। तथा च शिवशिरःपारमिव स्वयंवरागतजनतासागरमष्ट भिर्दृष्टिभिः पश्यन्नपि नापश्यदिति निष्कर्षः ॥ ५२ ॥

उस समय सभाको देखनेके इच्छुक देव अर्थात् चतुर्मुख ब्रह्माने (आठो दिशाओं आये हुए लोगोंको देखनेके लिये) आठो दिशाओंमें दृष्टि डाली, जिस (ब्रह्मा) ने ज्योति लिङ्गके शिरकी शोभा नहीं देखकर भी (उस लिङ्गके) देखनेमें केतकी (नामक पुष्प) झूठा कहलवाया था। [जिस प्रकार ब्रह्माने विशालतम ज्योतिर्लिङ्गके शिरोभाग (ऊपर हिस्से) को विना देखे भी देखा हुआ वतलाया, उसी प्रकार विशालतम स्वयंवरको आठ नेत्रोंसे देखते हुए भी पूर्णतः नहीं देख सके]

पौराणिकी कथा—अपनी-अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करनेके लिए शिवजीकी आज्ञा उनके ज्योतिर्लिङ्गके पाद तथा शिरके भागको देखनेके लिए क्रमशः विष्णु तथा ब्रह्म क्रमशः पाताललोक तथा स्वर्गमें गये और वहांसे लौटकर विष्णुने 'मैंने आपके ज्योतिर्लिङ्गका पाद अर्थात् नीचेका भाग नहीं देखा' ऐसी सच्ची वात कह दी, किन्तु ब्रह्माने 'मैंने आपके ज्योतिर्लिङ्गका शिर अर्थात् ऊपरी भाग देख लिया है' ऐसी झूठी वात कही और अपने कथनकी सत्यता प्रमाणित करनेके लिये 'आपके ज्योतिर्लिङ्गके शिरपर स्थित मुझको ये

ऐसा केतकी पुष्पसे असत्य कहलवाकर झूठा साक्षी दिलवाया (इसी कारण के पुष्पका अपने पूजनमें शिवजीने सर्वथा त्याग कर दिया), यह पुराणकी नी चाहिये ॥ ५२ ॥

केन पर्यक्षिपदात्मनाऽद्रिं चक्षुर्मुरारेरभवत् परेण ।
द्वादशात्मा दशभिस्तु शेषैर्दिशो दशालोकत लोकपूर्णाः ॥ ५३ ॥

ति । द्वादश आत्मानो रूपाणि यस्य स द्वादशात्मा सूर्यः, एकेन आत्मना द्रिं मेरुं, पर्यक्षिपत् प्रदक्षिणीकृतवान्, परेणात्मना, मुरारेर्विष्णोः, चक्षुर्दक्षि- मभवत्, शेषैरवशिष्टैः, दशभिस्तैरात्मभिस्तु, लोकपूर्णाः जनसम्पूर्णाः, दश कत आलोकितवान् ॥ ५३ ॥

शात्मा (बारह आत्मावाले सूर्य) एक (आत्मा) से सुमेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा रे (आत्मा) से विष्णुका नेत्र हुए और शेष दश आत्माओंसे लोगों (स्वयंवरमें जनसमूहों) से पूर्ण दशों दिशाओंको देखा [सूर्यकी बारह आत्माएं ये हैं— मित्र, अर्यमा, वरुण, मित्र, भग, अंशु, पूषा, विवस्वान्, पर्जन्य, त्वष्टा और विष्णु। पुराण, मार्कण्डेयपुराणके काशीखण्ड तथा अन्यान्य शास्त्रोंमें वर्णित सूर्यके अन्यान्य स्कृत 'मणिप्रभा' नामक अनुवादयुक्त 'हरिदास सं० सिरीज बनारस' से प्रकाशित के परिशिष्टमें देखना चाहिये] ॥ ५३ ॥

क्षिणं दैवतहर्म्यमद्रिं सदैव कुर्वन्नपि शर्वरीशः ।
महेन्द्रानुजदृष्टिमूर्त्या न प्राप तद्दर्शनविघ्नतापम् ॥ ५४ ॥

क्षिणमिति । शर्वरीशश्चन्द्रः, दैवतानां हर्म्यं वासगृहम्, अद्रिं मेरुं, सदैव क्षं कुर्वन्नपि महेन्द्रानुजस्य उपेन्द्रस्य विष्णोः, दृष्टिमूर्त्या वामनेत्ररूपेण, द्रष्टा स्वयंवरस्य, दर्शनविघ्नेन यस्तापस्तं न प्राप; चन्द्रस्य स्वयमनागतत्वेऽपि ष्णोरागतत्वात्तद्वामनयनरूपेणाद्राक्षीदेवेति कुतस्तस्यादर्शनक्लेश इत्यर्थः ॥५४॥

के प्रासादरूप पर्वत अर्थात् सुमेरुकी सर्वदा प्रदक्षिणा करते हुए भी निशापति) विष्णु (वामन भगवान्) के नेत्ररूप होनेसे दमयन्तीके देखनेमें विघ्न को नहीं देखने) के दुःखको नहीं पाया। [वामनरूपी विष्णु भगवान्को होनेसे, चन्द्रमा यद्यपि सुमेरुकी प्रदक्षिणा करते रहे, किन्तु स्वयंवरमें विष्णु साक्षात् उपस्थित रहनेसे (१०।५१) दमयन्तीको देखनेके सुखको पाते रहनेसे नहीं देखनेके दुःखका अनुभव नहीं किया] ॥ ५४ ॥

लोकमाना वरलोकलक्ष्मीं तात्कालिकीमप्सरसो रसोत्काः ।
नाम्बुधौ तत्र निजाननानि वितेनुरम्भोरुहकाननानि ॥ ५५ ॥

दुक्तम्—विधातृमित्रार्यमणो वरुणेन्द्रभगांशवः ।
पूषा विवस्वान् पर्जन्यस्त्वष्टा विष्णुर्दिनेश्वराः ॥ इति ।

विलोकमाना इति। रसेन रागेण, उत्का उन्मनसः, दर्शनरसोत्सुकाः स 'उत्क उन्मनाः' इत्यमरः। उत्क इति निपातसिद्धम्, तात्कालिकीं तत्कालभवां लोकलक्ष्मीं परिणेतृजनशोभां, विलोकमानाः अप्सरसस्तत्र जनाम्बुधौ सभास्थ रूपार्णवे, जलाशये एव कमलसम्भवात् जनेऽम्बुधित्वारोप इति भावः; निजानन स्वमुखानि, अम्भोरुहकाननानि कमलवनानि, वितेनुः दधुः; तदन्तर्गतानि त खानि पद्मानीव रेजुरित्यर्थः, तथा चाप्सरसोऽपि स्वयंवरसभां द्रष्टुमा इति भावः ॥ ५५ ॥

(देखनेके) अनुरागसे उत्कण्ठित वरों (दुल्हों अथवा—श्रेष्ठ लोगों) की तात्का शोभाको देखती हुई अप्सराएं उस जन-समुद्रमें अपने मुखोंको कमलोंका वन बना दि [जनरूप समुद्रमें उक्त अप्सराओंके मुख कमलवनके समान शोभते थे। 'अप्सराएं स्वयंवरको देखनेके लिये आयीं] ॥ ॥ ५५ ॥

न यक्षलक्षैः किमलक्षि ? नो सा सिद्धैः किमध्यासि सभाऽऽप्तशोभा ?
सा किन्नरैः किं न रसादसेवि ? नादर्शि हर्षेण महर्षिभिश्च ? ॥ ५६ ॥

नेति। तदा आप्तशोभा लब्धकान्तिः, सा सभा यक्षाणां लक्षैः शतसह नालक्षि नादर्शि किम् ? सिद्धैर्वा नाध्यासि नाध्यासिता किम् ? किन्नरैः रस रागात्, सा सभा, नासेवि न सेविता किम् ? महर्षिभिः हर्षेण नादर्शि च न किम् ? तथा च सर्वैरदर्शीत्यर्थः। सर्वत्र कर्मणि लुङ् ॥ ५६ ॥

शोभाको प्राप्त अर्थात् शोभित वह सभा आदर (अनुराग) से लाखों यक्षोंसे देखी गयी क्या ? अर्थात् देखी गयी, सिद्धोंसे अध्यासित नहीं हुई क्या ? (सिद्ध नहीं क्या ?) अर्थात् सभामें सिद्ध भी आये, किन्नरोंसे सेवित नहीं हुई क्या ? अर्थात् किन्नर भी सेवित हुई तथा महर्षियोंसे नहीं देखी गयी क्या ? अर्थात् महर्षियोंने भी उसे देख [उस स्वयंवरमें लाखों यक्ष आये, सिद्ध आये, किन्नर आये तथा महर्षि भी आये] ॥ ५

वाल्मीकिरश्लाघत तामनेक-शाखात्रयीभूरुहराजिभाजा ।
क्लेशं विना कण्ठपथेन यस्य दैवी दिवः प्राग्भुवमागमद्वाक् ॥५७॥

वाल्मीकिरिति। तां सभां, वाल्मीकिर्मुनिः, अश्लाघत अस्तुत, अनेकाः शाख कथकाः, आश्वलायनादिवेदविभागाः इति यावत्, वृक्षावयवविशेषाश्च यस्याः स अनेकशाखा, त्रयाणां वेदानां समाहारः त्रयी, अनेकशाखा चासौ त्रयी च अनेक शाखत्रयी, सा एव भूरुहराजिः तरुपङ्क्तिः, तां भजतीति तद्भाक् तेन, 'भजो ण्वि 'शाखा वेदप्रभेदेषु बाहौ पार्श्वद्रुमाङ्गयोः' इति वैजयन्ती। पथिकविश्रामवृक्षवतेत्यर्थ यस्य कण्ठ एव पन्थाः तेन कण्ठपथेन दैवी वाक् छन्दोमयी सरस्वती, 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम्' इत्यादिरूपेण, क्लेशं विना अनायासेन, दिवः स्वर्गात्, प्राक् मु भूलोकम्, आगमत् आगता एव, छन्दोबद्धा सरस्वती येन प्रथमं भूलोकमवतारिता तेनादिकविनापि स्तुतेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

किने अनेक शाखाओं (कठ, आश्वलायन आदि) वाली वेदत्रयी (ऋग्वेद, सामवेद) रूप वृक्षपङ्क्तिवाले कण्ठमार्गसे अक्लेशपूर्वक उस सभाकी प्रशंसा संस्कृत वाणी ('मानिषाद……' इस श्लोक रूपमें) पहले स्वर्गसे पृथ्वीपर थी। [लोकमें भी कोई व्यक्ति अनेक शाखाओंसे युक्त वृक्षवाले मार्गसे सुख- मार्गको पार कर लेता है। आदि कवि वाल्मीकि मुनि ने भी उस सभाकी]।

कथा—पहले वाल्मीकि मुनि मध्याह्न समयमें स्नान करने तमसा नदीको तब परस्परमें कामासक्त क्रौञ्च पक्षीकी जोड़ीमें से नर (पुरुष) को बाणसे मारते देखकर सर्वप्रथम वेदातिरिक्त लौकिक छन्दमें 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः समाः। यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥' श्लोक पढ़ा ॥ ५७ ॥

शंसि संसद् गुरुणाऽपि चार्वी चार्वाकतासर्वविदूषकेण ।
स्थानपट्टं रसनां यदीयां जानामि वाचामधिदेवतायाः ॥ ५८ ॥

सीति । चार्वी चारुः रम्या, 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीप्। संसत् सभा, या चार्वाकसिद्धान्तितया, नास्तिकतया हेतुना इत्यर्थः, सर्वविदूषकेण वेदाखण्डकेन, गुरुणा बृहस्पतिनाऽपि, प्राशंसि, किमुत अन्यैरिति भावः, तारणार्थं चार्वाकशास्त्रं प्रणीय बृहस्पतिना वेदादिशास्त्रं दूषितमिति । यदीयां रसनां जिह्वां, वाचामधिदेवतायाः सरस्वत्याः, 'आस्थानपट्टम् पीठं, सिंहासनमित्यर्थः, जानामि, 'आसनान्तरपीठयोः पट्टम्' इति विश्वः। केण वाचस्पतिनाऽपि स्तूयते इति सभाशोभायाः परमोत्कर्षं इति भावः ॥

कभाव (नास्तिकता) से सब (वेदादि शास्त्र, पक्षा०—पदार्थमात्र) को विशेषत (खण्डित) करनेवाले बृहस्पतिने भी सुन्दर उस सभाकी प्रशंसा की, जिसकी मैं सरस्वती देवीका सिंहासन जानता हूं अर्थात् जिसकी जिह्वा पर सरस्वती देवी वास करती हैं। [सबको दूषित करनेवाले बृहस्पतिने भी जिस सभाकी प्रशंसा सभाकी शोभामें किसको सन्देह हो सकता है ?। नास्तिकोंको ठगनेके लिये ने सब वेदादिका खण्डन किया है, ऐसी प्रसिद्धि है] ॥ ५८ ॥

केऽपि दीव्यत्तमदिव्यवाचि वचःस्रगाचार्यकवित् कविर्यः ।
तेयनीतेः पथि सार्थवाहः काव्यः स काव्येन सभामभाणीत् ॥५९॥

केऽपीति । यः काव्यः अतिशयेन दीव्यन्त्यः दीव्यत्तमाः देदीप्यमानाः, दिव्याक्रुत्वसुचः' इति पुंवद्भावः । दिव्यवाचः संस्कृतवाचः यस्मिन् तादृशे, ऽपि, वचःस्रजां वाग्गुम्फनानाम्, आचार्यकम् आचार्यकत्वं, 'योपधाद्गुरु- वुञ्,' तद्वित् कवितामार्गोपदेष्टा, कविः स्वयं कवयिता च, दित्याः अपत्यानि तेयाः दैत्याः, दितिशब्दात् 'कृदिकारात्' इति ङीषन्तात् 'स्त्रीभ्यो ढक्'

अन्यथा 'दित्यदिति—' इत्यादिना ण्यप्रत्ययस्य पूर्वविप्रतिषेधेन ढगपवादिकत्वा लिङ्गविशिष्टपरिभाषा स्वनित्येति गतिः, भाष्यवार्त्तिकयोरनुक्तत्वादसाधुरिति केचि अभियुक्तप्रयोगादभियौक्तिकप्रसिद्धेश्च तन्नाद्रियन्ते, तेषां नीतेः पथि दैत्यनीतिमा सार्थं वहतीति सार्थवाहः अग्रणीः, पथप्रदर्शकः इत्यर्थः, कर्मण्यण्, स काव्यः क पत्यं शुक्रः, 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' सभां तां स्वयंवरसभां, काव्येन प्रबन्धेन, अभाण अवर्णयत् । 'काव्यं ग्रन्थे ग्रहे काव्ये' इति विश्वः ॥ ५९ ॥

जो कवि (शुक्राचार्य) अत्यन्त शोभमान संस्कृत वचनवाले स्वर्गमें वचनमा गुम्फनमें आचार्य (संस्कृत काव्यरचनोपदेश) को जाननेवाले तथा दैत्योंकी नीतिके प्रदर्शक हैं, उस शुक्राचार्यने (वक्ष्यमाण) कविता (१०।६०–६५) से सभाका व किया । [शुक्राचार्यने भी स्वयंवर सभाकी प्रशंसा की] ॥ ५९ ॥

अमेलयद्भीमनृपः परं न नाकर्षदेतान् दमनस्वसैव
इदं विधाताऽपि विचित्य यूनः स्वशिल्पसर्वस्वमदर्शयन्नः ॥ ६०

अथ षड्भिस्तत्काव्यमेवाह—अमेलयदित्यादि । एतान् यूनः युवजनान्, भी नृपः परं केवलं, न अमेलयत् स्वयंवरार्थं न मेलितवान्, तथा दमनस्वसा दमयन्त्येव नाकर्षत्, स्वगुणेनेति शेषः; किन्तु विधाताऽपि विचित्य एकत्र सङ्गृह्य, इदं पु वर्त्ति युवरूपं, स्वशिल्पसर्वस्वं स्वनिर्माणकौशलसम्पदं, नः अस्माकम्, अदर्शयत राज्ञः प्रयत्नात् भैमीसौन्दर्यसम्पदा ब्रह्मणः स्वनिर्माणकौशलप्रकाशनव्यसनाच्चे युवमेलनं न त्वेकस्मादित्युत्प्रेक्षा ॥ ६० ॥

अब यहांसे श्लोक ६५ तक पूर्व श्लोकोक्त कविता (काव्य) को कहते हैं केवल रा भीमने ही इन युवकोंको एकत्रित नहीं किया है और दमयन्तीने ही इन युवकोंको आक नहीं किया है; (किन्तु) ब्रह्माने भी विचारकर अपनी कारीगरीके सर्वस्व (समस्त कौशल हम लोगोंको दिखा दिया है । [राजा भीमके प्रयत्न, दमयन्तीकी सौन्दर्यसम्पत्ति त ब्रह्माकी स्वशिल्पकौशल प्रदर्शित करने की इच्छा यह युवकोंका सम्मेलन हुआ है] ॥६०॥

एकाकिभावेन पुरा पुरारिर्यः पञ्चतां पञ्चशरं निनाय ।
तद्भीसमाधानमनुष्य काय-निकायलीलाः किममी युवानः ? ॥ ६१ ॥

एकाकीति । यः पुरारिः पुरा एकाकिभावेन असहायत्वेन हेतुना, पञ्चशरं कन्दर्पं पञ्चानां भावः पञ्चता, सा भौतिकस्य शरीरस्य स्वस्वांशस्य स्वेषु स्वेषु प्रवेशः मरणमिति यावत्, ता निनाय, अमी युवानः अमुष्य कामस्य सम्बन्धिन्यां तस्मात् पुरारेः, भियः समाधानं निवारणं, निवारका इत्यर्थः, कार्यकारणयोरभेदोपचारः कायनिकायलीलाः शरीरसमूहविलासाः, कामकायव्यूहाः इति यावत्, किम् ? पूर्व महादेवः सहायहीनं कन्दर्पं संजहार इति कन्दर्पस्यासहायत्वात् ततो भयमासीव

एतद्युवशरीरैरात्मनो वहुत्वात् ततो न भयमिति भावः। इयमुत्प्रेक्षा।
कल्पा इति निष्कर्षः ॥ ६१ ॥

शिवजीने पहले कामदेवको अकेला होनेसे मारा था, ये युवक (राजा लोग) देव) के, उस शिव-सम्बन्धी भयका प्रतिकार अर्थात् निवारण करनेवाले शरीर-विलास है क्या? [पहले कामदेवको अकेला (असहाय) होनेसे शिवजोने मार दिया, जीके भयको निवारण करनेवाले ये युवक राजा उस कामदेवके शरीरके विलास हायको एक वलवान् व्यक्ति मार देता है, किन्तु अनेक व्यक्तियोंको वह नहीं मार अतः अब ये अनेक कामदेव होकर शिवजीसे निर्भय हैं। ये युवक कामदेवके समान हैं] ॥ ६१ ॥

र्णेन्दुबिम्बाननुमासभिन्नानस्थापयत् क्वापि निधाय वेधाः।
व शिल्पी निरमादमीषां मुखानि लावण्यमयानि मन्ये ॥ ६२ ॥

ति। शिल्पी निर्माणकुशली, वेधाः अनुमासं मासि मासि, भिन्नान् नाना-, पूर्णेन्दुविम्बान् संसारस्यानादित्वादसङ्ख्यानिति भावः; क्वापि निधाय, आच्छाद्येति यावत्, अस्थापयत् स्थापितवान्, चिरमरक्षदित्यर्थः। अथ पूर्णेन्दुविम्बैरेव, अमीषां यूनां, लावण्यमयानि मुखानि निरमात् निर्मितवानिति त उत्प्रेक्षा ॥ ६२ ॥

रीगर ब्रह्माने प्रत्येक मासमें भिन्न २ पूर्णचन्द्रविम्बोंको कहीं (गुप्त स्थानमें) र रख दिया, उन्हीं (पूर्व स्थापित पूर्णचन्द्रविम्बों) से सौन्दर्ययुक्त इन मुखोंको या है, ऐसा मैं मानता हूं। [अन्य भी कोई कारीगर वहुत उत्तमोत्तम पदार्थोंको किसी स्थानमें वनाकर रख देता है और वादमें उनके द्वारा किसी कल्पनातीत सुन्दर पदार्थकी करता है। इन युवकके मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान सुन्दर हैं] ॥ ६२ ॥

मुधाऽर्पितं मूर्द्धसु रत्नमेतैर्यन्नाम तानि स्वयमेत एव।
स्वतः प्रकाशे परमात्मबोधे बोधान्तरं न स्फुरणार्थमर्थ्यम् ॥ ६३ ॥

ति। एतैः नृपैः, मूर्द्धसु रत्नं मुधा अर्पितं शिरोमणिर्वृथा धृतः इत्यर्थः; कुतः? भावत्, एते स्वयमेव तानि रत्नानि, नाम खलु, तथोत्कृष्टा इत्यर्थः। 'रत्नं श्रेष्ठेऽपि' इत्यमरः, किं रत्नधारणेनेति वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायेन कः। तथा हि, स्वतः प्रकाशे, परमात्मबोधे परमात्मविषयके तत्स्वरूपे वा विषये, स्फुरणार्थं तज्ज्ञानप्रकाशनार्थं, बोधान्तरम् अनुव्यवसायादिरूपं रं, न अर्थ्यं नापेक्ष्यम्। दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ६३ ॥

ोंने मस्तकों पर व्यर्थ ही रत्न (रत्न जड़े हुए मुकुट) रखा है, क्योंकि ये वे (रत्न) परमात्मज्ञानके स्वतः प्रकाशित हो जाने पर स्फुरण करनेके लिये दूसरा ज्ञान नहीं होता। [परमात्मज्ञान होने पर दूसरे ज्ञानके समान स्वयं रत्न रूप होनेसे

इन युवकोंका शिरपर रत्नान्तरका धारण करना व्यर्थ है। ये सभी युवक रत्नके सम सुन्दर हैं] ॥ ६३ ॥

प्रवेक्ष्यतः सुन्दरवृन्दमुच्चैरिदं मुदा चेदितरेतरं तत् ।
न शक्ष्यतो लक्षयितुं विमिश्रं दस्रौ सहस्रैरपि वत्सराणाम् ॥ ६४ ॥

प्रवेक्ष्यत इति । दस्रौ अश्विनौ, उच्चैः महत्, इदं सुन्दरवृन्दं रमणीयवर्गं, मु कौतुकेन, प्रवेक्ष्यतः अन्तःप्रविष्टौ भविष्यतः, चेत् तत्तर्हि, विमिश्रं मिलितम्, इत तरम् अन्योऽन्यं स्वभ्रातृरूपं, वत्सराणां सहस्रैरपि लक्षयितुं मदीयः अयमेव भ्रा इति विविक्ततया ग्रहीतुं, न शक्ष्यतः शक्तौ न भविष्यतः; तत्र सभायां स्थिताः राजानः अश्विनीकुमारतुल्या इति भावः। अत्र दस्रयोः सौन्दर्यगुणसामान्ये सुन्दरवृन्दैकतादात्म्यात् सामान्यालङ्कारः, 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैक इति लक्षणात् ॥ ६४ ॥

यदि अश्विनीकुमार अत्यन्त हर्षसे इस सुन्दर-समूहमें प्रवेश करेंगे तो मिश्रित (ए कृति होनेसे इनमें मिले हुए) परस्परको हजारों वर्षोंमें पहचाननेके लिये वे समर्थ न होंगे। [लोकमें भी अत्यन्त समान वस्तुमें मिली हुई कोई चीज नहीं पहचानी जा सक ये सभी युवक अश्विनीकुमारके समान सुन्दर हैं] ॥ ६४ ॥

स्थितैरियद्भिर्युवभिर्विदग्धैर्दग्धेऽपि कामे जगतः क्षतिः का ? ।
एकाम्बुबिन्दुव्ययमम्बुराशेः पूर्णस्य कः शंसति शोषदोषम् ? ॥ ६५

स्थितैरिति । विदग्धैः प्रगल्भैः अदग्धैश्च, स्थितैः इयद्भिः एतावद्भिः, युवभि उपलक्षितस्येति शेषः, जगतः कामे दग्धेऽपि का क्षतिः ? न्यूनता न काऽपीत्यर्थ तथा हि, पूर्णस्य अम्बुराशेः एकाम्बुबिन्दुव्ययं कः शोष एव दोषस्तं शंसति ? कोऽपि दोषत्वेन शंसतीत्यर्थः; यथा समुद्रस्य एकबिन्दुजलव्यये समुद्रः शुष्कः इ न कोऽपि कथयति, तथा कामसदृशानां बहूनाम् एतेषां विद्यमानतायाम् एक कामस्य नाशे पृथिव्याः का क्षतिः ? इति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ६५ ॥

विदग्ध (चतुर, पक्षा०—नहीं जले हुए) इतने युवकोंके रहनेसे (एक) कामदे जलने पर भी संसारकी क्या हानि हुई ? अर्थात् कोई नहीं। भरे हुए समुद्रके जलके बूँदके व्ययको कौन सूखना कहता है ? अर्थात् कोई नहीं। [समुद्रमें अपार जल रहने जिस प्रकार उसके एक बिन्दुके नष्ट होने पर भी कोई व्यक्ति समुद्रको सूखा हुआ न कहता, न उससे कोई हानि होती है, उसी प्रकार कामदेव तुल्य इतने (बहुत अधि अर्थात् अगणित) युवकोंके रहते (या युवकोंसे परिपूर्ण संसारका) एक कामदेवके ज जानेपर भी कोई हानि नहीं समझनी चाहिये। ये सभी युवक कामदेवके समान सुन्दर हैं

इति स्तुवन् हूङ्कृतिवर्गणाभिर्गन्धर्ववर्गेण स गायतैव ।
ओङ्कारभूम्ना पठतैव वेदान् महर्षिवृन्देन तथाऽन्वमानि ॥ ६६ ॥

ति। इतीत्थं, स्तुवन् स काव्यः, गायतैव गन्धर्ववर्गेण हूङ्कृतीनां वर्गणाः च्चारणानीत्यर्थः, ताभिः अन्वमानि अनुमोदितः, कर्मणि लुङ्, तथा वेदान् महर्षिवृन्देन ओङ्कारभूम्ना प्रणवभूयस्त्वेन, अन्वमानि अनुमोदितः। अत्र ङ्कारैः वेदपाठार्थैः ओङ्कारैश्च काव्यवाक्यानुमोदनं कृतमिवेत्युत्प्रेक्ष्यते। नुमते प्रोक्तं प्रणवे चाप्युपक्रमे' इति विश्वः ॥ ६६ ॥

प्रकार (१०।६०–६५) स्तुति (स्वयंवरकी प्रशंसा) करते हुए शुक्राचार्यका गाते र्वोंने वार–वार हुङ्कार–समूह ('हूँ हूँ' ऐसा कहने) से समर्थन किया तथा वेदोंको महर्षि–समूहने ॐकार की बहुलता (स्वीकृति–सूचक ॐ शब्दको वार–वार) करनेसे समर्थन किया। [लोकमें भी जिस प्रकार किसी की वातका समर्थन था 'ॐ ॐ' कह कर किया जाता है, उसी प्रकार शुक्राचार्यके सभावर्णनका समर्थन गन्धर्वों तथा वेद पढ़ते हुए महर्षियोंने वार–वार क्रमशः 'हूँ हूँ' तथा 'ॐ ॐ' कह या। गायनमें 'हूँ हूँ' की तथा वेदाध्ययन में 'ॐ ॐ' का बाहुल्य होना उचित ही र्वों तथा महर्षियोंने शुक्राचार्य कृत स्वयंवर–प्रशसाको उचित बतलाया] ॥ ६६ ॥

वीविशत्तानथ राजसिंहान् सिंहासनौघेषु विदर्भराजः।
ङ्गेषु यत्र त्रिदशैरिवैभिरशोभि कार्त्तस्वरभूधरस्य ॥ ६७ ॥

वीविशदिति। अथ विदर्भराजः भीमः, तान् राज्ञः सिंहानिव राजसिंहान् न्, सिंहासनौघेषु न्यवीविशत् उपवेशयामास, विशेर्णौ चङ्, यत्र येषु तेषु, एभिः राजसिंहैः, कार्त्तस्वरभूधरस्य हेमाद्रेः सुमेरोः, शृङ्गेषु त्रिदशैः अशोभि शोभितम्। भावे लुङ् ॥ ६७ ॥

के बाद विदर्भराज (भीम) ने उन राजसिंहोंको सिंहासनोंपर बैठाया, जिन पर सिंह) स्वर्णपर्वत अर्थात् सुमेरुकी चोटियों पर (स्थित) देवोंके समान शोभते रमञ्च सुमेरुशिखरतुल्य अत्युन्नत तथा स्वर्णमय और युवक राजा लोग देवतुल्य थे]॥

चिन्त्य नानाभुवनागतांस्तानमर्त्त्यसङ्कीर्त्त्यचरित्रगोत्रान्।
ख्याः कथङ्कारममी सुतायामिति व्यषादि क्षितिपेन तेन ॥ ६८ ॥

चिन्त्येति। तेन क्षितिपेन भीमेन, नानाभुवनेभ्यः नानाप्रदेशेभ्यः, आगतान् न्, मर्त्यैः सङ्कीर्त्यानि कीर्त्तयितुं शक्यानि, चरित्राणि गोत्राणि कुलानि च येषां ते न भवन्तीति तथोक्ताः तान् तथाविधान्, विचिन्त्य अमी सुतायां विषये, कथङ्कारं केन प्रकारेण, 'अन्यथैवं कथम्' इत्यादिना णमुल्, कथनीयाः, इति हेतोः, व्यषादि विषण्णेन अभावि, भावे लुङ्। 'प्राक्सितादड्-पि'–'सदिरप्रतेः' इति षत्वम्, एतेषां चरित्रगोत्रादीनि नरलोकैर्वर्णयितुम-त दमयन्ती कथं ज्ञास्यतीति विषण्णो बभूवेति भावः ॥ ६८ ॥

जा (भीम) अनेक लोकों (देशों) से आये हुए उन राजाओंको देवताओंसे

वर्णनीय (अथवा—मनुष्योंसे अवर्णनीय) चरित्र तथा गोत्रवाला विचारकर दमयन्ती विषयमें 'इन (राजाओं) का किस प्रकार वर्णन किया जायेगा' इस कारण चिन्तित हु [इन स्वयंवरमें आये हुए राजाओंके चरित्र तथा वंशका वर्णन मनुष्योंके द्वारा न सकनेसे (अथवा—देवोंके द्वारा ही हो सकने से) इनके चरित्र तथा कुल परम्पर पूर्णतया दमयन्तीसे किस प्रकार कहा जायेगा और विना उसे पूर्णतया मालूम किये इन से किसीको कैसे वरण करनेके लिये चुनेगी ? यह सोचकर राजा भीम बहुत खिन्न हुए]

श्रद्धालुसङ्कल्पितकल्पनायां कल्पद्रुमस्याथ रथाङ्गपाणेः ।
तदाऽऽकुलोऽसौ कुलदैवतस्य स्मृतिं ततान क्षणमेकतानः ॥ ६९ ॥

श्रद्धाल्विति । अथ विषादानन्तरम्, आकुलः असौ भीमः, तदा श्रद्धाल भक्तानां, 'स्पृहिगृहि—'इत्यादिना आलुच्प्रत्ययः, सङ्कल्पितकल्पनायाम् ईप्सित सम्पादने, कल्पद्रुमस्य इच्छापूरकस्य, कुलदैवतस्य वंशपरम्परोपासितस्य, रथ पाणेः नारायणस्य, स्मृतिं स्मरणं, क्षणं व्याप्य एकतानः अनन्यवृत्तिः सन्, तत 'एकतानोऽनन्यवृत्तिः' इत्यमरः ॥ ६९ ॥

उस समय व्याकुल उस (राजा भीम) ने श्रद्धालुके मनोरथको सिद्धिमें कल्पवृक्ष कुलदेव विष्णुका क्षणमात्र एकाग्रचित्त होकर स्मरण किया । [सम्पूर्ण मनोरथको करनेवाले कुलदेव विष्णुके अतिरिक्त दूसरा कोई मेरी अभिलाषा पूरी नहीं करेगा, सोचकर विष्णुका एकाग्र मनसे स्मरण किया] ॥ ६९ ॥

तच्चिन्तनानन्तरमेव देवः सरस्वतीं सस्मितमाह स स्म ।
स्वयंवरे राजकगोत्रवृत्त-वक्त्रीमिह त्वां करवाणि वाणि ! ॥ ७० ॥

तदिति । तस्य भीमस्य, चिन्तनान्तरं स्मरणानन्तरमेव, स देवो हरिः, सरस्व सस्मितमाह स्म । 'लट् स्मे' इति भूते लट्, किमिति ? हे वाणि ! इह स्वयं त्वां राज्ञां समूहो राजकं, 'गोत्रोक्ष—'इत्यादिना वुञ् तस्य गोत्राणां नाम्नां कुला वृत्तानां चरित्राणाञ्च, वक्त्रीम् आख्यात्रीं, करवाणि, प्रैषार्थे लोट्, अहमिति शेषः

उन (भीम) के स्मरण करनेके बाद ही देव (विष्णु भगवान्) ने मुस्कुराते सरस्वतीसे कहा—'हे सरस्वति ! इस स्वयंवरमें तुमको मैं राजाओंके वंश तथा चरित्र बतलानेवाली बनाता हूं । [राजाओंके कुल तथा चरित्रका वर्णन करनेके लिये स्वयंवरमें जावो] ॥ ७० ॥

कुलञ्च शीलञ्च बलञ्च राज्ञां जानासि नानाभुवनागतानाम् ।
एषामतस्त्वं भव वावदूका मूकायितुं कः समयस्तवायम् ? ॥ ७१ ॥

कुलमिति । हे वाणि ! नानाभुवनागतानां राज्ञां कुलञ्च शीलञ्च बलञ्च जानासि अतः कारणात्, त्वम् एषां वावदूका वक्त्री, वंशवीर्य्यादि गुणतो वर्णयित्रीत्य भव, 'वावदूकोऽतिवक्तरि' इत्यमरः । वावदूक इत्यस्य यङ्लुगन्तात् वदेः 'उलूक

त्यनेन औणादिक ऊकप्रत्ययः, कुर्वादिगणे वावदूकशब्दपाठात् ऊकप्रत्यय वः तथा हि, तव मूकायितुं मूकवदाचरितुं, तूष्णीं स्थातुमित्यर्थः, मूक-चारार्थे क्यजन्तात् 'कालसमयवेलासु तुमुन्' अयं कः समयः? को ? अपि तु न कोऽपि इत्यर्थः। वाग्मिनाम् अवसरे तूष्णीम्भावो न युक्त रन्यासः ॥ ७१ ॥

लोकोंसे आये हुए इन राजाओंके वंश, शील तथा पराक्रमको जानती हो; (उनका) वर्णन करनेवाली बनो, तुम्हारे चुप रहने का यह कौन–सा समय बोलनेके समयमें वावदूकको चुप रहना उचित नहीं, अत एव तुम स्वयंवरमें जाकर वरागत राजाओंके कुल, शील तथा पराक्रमका वर्णन करो] ॥ ७१ ॥

गत्रयीपण्डितमण्डितैषा सभा न भूता न च भाविनी वा ।
ज्ञां गुणज्ञापनकैतवेन सङ्ख्यावतः श्रावय वाङ्मुखानि ॥ ७२ ॥

वसरत्वमेवाह–जगदिति। हे वाणि! जगत्रय्यां ये पण्डिताः वाचस्पत्यादयः, मण्डिता एषा सभा न भूता न च भाविनी वा, अतो राज्ञां गुणज्ञापन-गुणप्रकाशनच्छलेन, संख्यावतः पण्डितान्, वाङ्मुखानि उपन्यासान्, वान् पण्डितः कविः' इति, 'उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्' इति चामरः। श्रावय; मण्डलीविलसिते विदुषां वाग्विजृम्भणम् उचितं, तत्रापि तूष्णीम्भावे वाग्वि-योग्यता च स्यादिति भावः ॥ ७२ ॥

नों लोकोंके पण्डितोंसे शोभित यह (ऐसी) सभा न हुई है और न होगी,) राजाओंके गुण बतलानेके व्याजसे पण्डितोंको (अपना) उपन्यास सुनाओ। ोंके सामने विद्वानोंका बोलना उचित है, वहां भी यदि वे नहीं बोलें तो उनका ष्फल होता है और उनकी अयोग्यता प्रमाणित होती है, अत एव तुम्हें ऐसे अवसर पर नहीं चुकना चाहिये]' ॥ ७२ ॥

ईरिता तच्चरणात् परागं गीर्वाणचूडामणिमृष्टशेषम् ।
स्य प्रसादेन सहाज्ञयाऽसावादाय मूर्द्ध्नाऽऽदरिणी बभार ॥ ७३ ॥

ीति। इति इत्थम्, ईरिता विष्णुना आज्ञप्ता, असौ वाणी, तस्य हरेः नारा- चरणात् गीर्वाणानां देवानां, चूडामणिभिः शिरोरत्नैः, मृष्टस्य प्रोञ्छितस्य, अवशिष्टं, परागं रेणुं, तस्य आज्ञया आज्ञारूपेण, प्रसादेन अनुग्रहेण, सह मूर्द्ध्ना आदरिणी आदरवती सती, बभार ॥ ७३ ॥

विष्णु भगवान्से) इस प्रकार (१०।७०—७२) कही गयी यह (सरस्वती देवी) विष्णु भगवान्) के चरणसे देवोंके मुकुटमणियोंके द्वारा पोंछनेसे बचे हुए परागको विष्णु भगवान्) की आज्ञारूप प्रसन्नताके साथ मस्तकसे लेकर (स्वीकारकर) ती हुई । [सरस्वतीने विष्णु भगवान्के चरणोंपर मस्तक झुकाकर प्रणाम करके आज्ञाको आदरपूर्वक प्रसाद रूपमें ग्रहण किया] ॥ ७३ ॥

मध्येसभं साऽवततार बाला गन्धर्वविद्या[1]मयकण्ठनाला ।
त्रयीमयीभूतवलीविभङ्गा साहित्यनिर्वर्त्तितदृक्तरङ्गा ॥ ७४ ॥

मध्येसभमिति । सा वाणी, मध्ये सभायाः मध्येसभं 'पारेमध्ये षष्ठ्या
इत्यव्ययीभावः, अवततार । कीदृशी ? बाला बालस्त्रीरूपधारिणी, गन्धर्ववि
गानविद्या, तन्मयस्तद्विकारः, कण्ठनालः यस्याः सा, त्रयीमयीभूताः त्रिधाभूत
अन्यत्र—वेदविकारीभूताः, वलीविभङ्गाः त्रिवलीसर्वस्वानि यस्याः सा, साहित्
कवित्वेन, निर्वर्त्तिता निष्पादिताः, दृशः दृष्टयः, तरङ्गा इव यस्याः सा ॥ ७४ ॥

गान विद्यामय (गान विद्यासे बने हुए, पाठा०—गान विद्याको धारण करनेवा
कण्ठनालवाली, त्रयीमयी (ऋक्–यजुः–सामरूप वेदत्रयसे रची गयी) वलि–विलासव
तथा साहित्य (काव्य, नाटक, चम्पू आदि ग्रन्थ) से बने हुए तरङ्गोंके समान (अथवा
तरङ्गरूप) दृष्टिवाली बालाका रूप धारणकी हुई वह (सरस्वती) सभाके बीचमें उ
अर्थात् सभामें पहुंची । [सरस्वती देवीके कण्ठको नाल कहनेसे उसके ऊपरमें स्थि
सरस्वती देवीके मुखको कमल माना गया है] ॥ ७४ ॥

आसीदथर्वा त्रिवलित्रिवेदी-मूलात् विनिर्गत्य वितायमाना ।
नानाभिचारोचितमेचकश्रीः श्रुतिर्यदीयोदररोमरेखा ॥ ७५ ॥

अथ चतुर्दशश्लोक्या वाग्देवीमेव वर्णयति, आसीदिति । अथर्वा श्रुतिः अथ
वेदः, तिस्रो वलयः त्रिवलिः; त्रिवलिप्रसिद्धिः संज्ञा चेदिति वामनः, तद्रूपा त्रिवे
सैव मूलं तस्मात् विनिर्गत्य वितायमाना वितन्यमाना, तनोतेरनुनासिकस्य वि
रूपादात्वम्, अथर्वणस्तु त्रय्युद्धार इति प्रसिद्धिः । नानाविधानाम् अभिचारा
हिंसाकर्मणाम्, उचिता पापातिशयात् युक्ता, मेचकश्रीः कृष्णकान्तिर्यस्याः स
अन्यत्र—अनाभिचारो न भवतीति नानाभिचारः नाभिसञ्चरणमित्यर्थः, त
उचिता सा च सा मेचका श्रीर्यस्याः सा तथोक्ता, यदीया यस्याः सरस्वत्य
सम्बन्धिनी, उदरे रोमरेखा रोमराजिः, आसीत् ॥ ७५ ॥

त्रिवलीरूप वेदत्रयीके मूलसे निकलकर बढ़ती हुई, अनेक अभिचार (मारण–मोहन
उच्चाटन आदि पाप) कर्मके योग्य मेचक पक्षा०—नाभिमें प्रवेश करने योग्य मेच
(कृष्ण–नील) वर्णवाली जिस सरस्वतीकी उदरकी रोमपङ्क्ति अथर्ववेद था । [अथर्व वे
त्रयी (ऋक्–यजुष् तथा सामवेदसे उद्धृत होना, एवं अभिचार कर्मकारक होना, एवं श्या
वर्ण होना पुराणोंमें प्रसिद्ध है] ॥ ७५ ॥

शिक्षैव साक्षाच्चरितं यदीयं कल्पश्रियाऽऽकल्पविधिर्यदीयः ।
यस्याः समस्तार्थनिरुक्तिरूपैर्निरुक्तविद्या खलु पर्यणंसीत् ॥ ७६ ॥

---

[1] '–धर–' इति पाठान्तरम् ।

ति । शिक्षा तदाख्यग्रन्थ एव, साक्षात् स्वयमेव, यदीयं चरितम् अभूत्, ल्पत्वादिति भावः । यदीयः आकल्पविधिः प्रसाधनविधिः, कल्पश्रिया भूतया कल्पसूत्रलक्ष्म्या, निर्वृत्त इति शेषः । निरुक्तविद्या खलु एव यस्याः र्थानां सर्ववेदार्थानां, निरुक्तिरूपैः निर्वचनभङ्गिभिः, पर्यणंसीत् तद्रूपेण र्थः । णमेर्लुङ् 'अस्तिसिचोऽऽपृक्ते'—इतीडागमः, 'यमरमनमातां सक् च' इडागमश्च 'इट ईटि' इति सिचो लोपः, 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' त्वम् ॥ ७६ ॥

श्चित रूपसे साक्षात् शिक्षा (वेदाङ्गभूत ग्रन्थ-विशेष, पक्षा०—परोपदेश) ही सरस्वती) का चरित्र हुई, कल्प (वेदाङ्गभूत कर्मकाण्डप्रतिपादक ग्रन्थ-विशेष) से जिस (सरस्वती) का भूषण कार्य सम्पन्न हुआ अर्थात् साक्षात् 'कल्प' ही भूषण था, और सम्पूर्ण वेदोंके अर्थकी निरुक्ति (निर्वचन) रूपोंसे जिस ती) की निरुक्ति विद्या (वेदका 'कर्ण' स्थानीय ग्रन्थ-विशेष) परिणत हुआ— ङ्गोंमें-से 'शिक्षा' उस सरस्वती देवीका चरित, 'कल्प' भूषण तथा 'निरुक्त' निर्वचन हुए] ॥ ७६ ॥

जात्या च वृत्तेन च भिद्यमानं छन्दो भुजद्वन्द्वमभूत् यदीयम् ।
श्लोकार्द्धविश्रान्तिमयीभविष्णु पर्वद्वयीसन्धिसुचिह्नमध्यम् ॥ ७७ ॥

त्येति । जात्या मात्रावृत्तरूपेण आर्य्यादिना च, वृत्तेन वर्णवृत्तरूपेण अक्षर- तेन उक्थादिना च, भिद्यमानं द्विधाभूतं, तथा श्लोकार्द्धे विश्रान्तिमयीभविष्णु न्तिरूपतामापन्नं, छन्दः छन्दोग्रन्थः, यदीयं पर्वणोः कूर्परपूर्वोत्तरभागयोः, तयोः सन्धिः तेन सुचिह्नं सुव्यक्तं, मध्यं कर्पूरस्थानं यस्य तादृशं, भुजद्वन्द्वम् , द्विविधं छन्दो भुजयुगत्वेन श्लोकार्द्धविश्रान्तिः कर्पूरत्वेन पर्यणंसीदित्यर्थः ॥

कके आधेमें विश्राम (पूर्ण विराम) रूप दो ग्रन्थियोंकी सन्धि (जोड़) रूप चिह्नसे युक्त तथा जाति (आर्या आदि मात्रा छन्द) तथा वृत्त (श्री, इन्द्रवजा, णी आदि वर्णच्छन्द) रूपसे दो भागोंमें विभक्त छन्द (वेदाङ्ग भूत 'छन्दःशास्त्र' ग्रन्थ-विशेष) जिस (सरस्वती) की दो भुजा हुए । [श्लोकके मध्यमें विश्राम ति) ही उस सरस्वती देवीकी भुजाके कोहनी-नामक बीचके जोड़ थे, इस प्रकार था वर्ण भेदसे दो भागोंमें विभक्त छन्दःशास्त्र ही उस सरस्वतीके दोनो हाथ हुआ] ॥

असंशयं सा गुणदीर्घभाव-कृतां दधाना विततिं यदीया ।
विधायिका शब्दपरम्पराणां किञ्चारचि व्याकरणेन काञ्ची ॥ ७८ ॥

संशयमिति । किञ्च गुणस्य पट्टसूत्रस्य, दीर्घभावेन दैर्घ्येण, कृतां विततिं , दधाना, अन्यत्र—गुणश्च दीर्घश्च भावप्रत्ययश्च कृत्प्रत्ययश्च तेषां विततिं नेति विभक्तिविपरिणामः; शब्दपरम्पराणां शिञ्जितपरम्पराणां, विधायिका ञ्ची, अन्यत्र—सुप्तिङन्तशब्दपरम्पराणां विधायकेन साधकेनेति विभक्तिविप-

रिणामः; सा प्रसिद्धा, यदीया काञ्ची व्याकरणेन अरचि रचिता, असंशयं संशयाभा इत्यर्थः, 'अव्ययं विभक्ति—' इत्यादिना अर्थाभावेऽव्ययीभावः ॥ ७८ ॥

पट्टसूत्रकी लम्बाईसे किये (पक्षा०—गुण, दीर्घ, भावप्रत्यय और कृत्प्रत्ययोंके विस्तारको धारण करती हुई और शब्दपरम्पराको करनेवाली अर्थात् बजनेवाली (पक्षा०- 'राम, पाक' आदि शब्द-समूहको सिद्ध करनेवाली) जिस (सरस्वती) की करध (कटिभूषण काञ्ची) व्याकरण (वेदाङ्ग भूत मुख-स्थानीय ग्रन्थ-विशेष) से बनायी ग थी। ['देवेन्द्र, देवोद्यान' आदि पदोंमें 'आद्गुणः' (पा० सू० ६-१-८७) से 'गुण', 'दैत्या श्रीश' इत्यादि पदोंमें 'अकः सवर्णे दीर्घः' (पा० सू० ६-१-१०२) आदि सूत्रोंसे 'दीर्घ', 'भूय इत्यादि पदोंमें 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' (पा० सू० ३-४६९) आदि सूत्रोंसे भावमें प्रत्य और 'कर्तव्य, करणीय' आदि पदोंमें 'तव्यत्तव्यानीयरः' (पा० सू० ३-१-९६) आदि सूत्रों 'तव्य एवं तव्यत्' आदि 'कृत्' संज्ञक प्रत्यय व्याकरणानुसार होते हैं तथा वह व्याक शास्त्र 'राम, कृष्ण, नन्दन, गमन' आदि शब्दोंकी रचना (सिद्धि) करता है । व्याक वेदोंका मुख माना गया है, अत एव उसका शब्द करना अर्थात् बोलना उचित ही है] ॥७

स्थितैव कण्ठे परिणम्य हार-लता बभूवोदिततारवृत्ता ।
ज्योतिर्मयी यद्भजनाय विद्या मध्येऽङ्गमङ्केन भृता विशङ्के ॥ ७९ ॥

स्थितेति । कण्ठे वाचि, अन्यत्र—ग्रीवायां, परिणम्य रूपान्तरं प्राप्य, स्थित उदिता उक्ताः, तारा अश्विन्यादयो येषु तानि, वृत्तानि पद्यानि यस्यां सा, अन्यत्र- उदिततारा प्रकाशितशुद्धमौक्तिका, सा च सा वृत्ता च वर्तुला च तथोक्ता, 'ता मुक्तादिसंशुद्धौ तरणे शुद्धमौक्तिके'-'वृत्तं पद्ये चरित्रे त्रिष्वतीते दृढनिस्तले' इति विश्वामरौ, अङ्गानां शिक्षाकल्पादीनाम्, अन्यत्र—करादीनां मध्ये मध्येऽङ्गं, 'प मध्ये' इत्यादिनाऽव्ययीभावः, अङ्केन एकद्व्यादिसंख्यया चिह्नेन, भृता पूर्णा अन्यत्र—अङ्केन क्रोडेन, वक्षसा इत्यर्थः, भृता धृता, भरतेर्बिभर्तेश्च कर्मणि 'अङ्कं क्रोडेऽन्तिके चिह्ने' इति वैजयन्ती । ज्योतिर्मयी नक्षत्रप्रधाना, अन्यत्र-भास्वती 'ज्योतिरग्नौ दिवाकरे । पुमान् नपुंसकं दृष्टौ स्यान्नक्षत्रप्रकाशयोः' इति मेदिनी, विद्य ज्योतिर्विद्यैव, यद्भजनाय यस्याः सरस्वत्याः सेवनाय, हारलता बभूव इति विश इत्युत्प्रेक्षा ॥ ७९ ॥

कण्ठ (वचन, पक्षा०—गर्दन) में स्थित, उदयप्राप्त तारा-(अश्विन्यादि नक्षत्र सम्बन्धी वृत्त (श्लोक या शुभाशुभ फलका कथन) वाला (पक्षा०—चमकती हुई मध्य मणिवाली तथा गोल), अङ्ग (वेदोंके शिक्षा आदि ६ अङ्ग, पक्षा०—शरीर) में अ (सङ्ख्या या गणना अर्थात् गिनती, पक्षा०—क्रोड अर्थात् गोद) से पूर्ण ज्योतिर्मयी (नक्षत्र-प्रधान अर्थात् ग्रहों तथा नक्षत्रोंके विचार करनेवाला, पक्षा०—धमकती हुई) विद्या अर्थात् ज्योतिःशास्त्र ही जिस (सरस्वती) की सेवाके लिये हारलता (हारकी लड़ी)

मैं समझता हूँ। [सरस्वती देवीके वचनमें स्थित अश्विन्यादि तारा-सम्बन्धी का निर्देशक शिक्षादि वेदाङ्गोंमें गणना या अङ्करूपसे पूर्ण ज्योतिशास्त्र ही की सेवाके लिए उसके कण्ठमें मध्यमणियोंवाली तथा गोल, शरीरके मध्यमें) में पड़ी हुई हार लता बनी-सी मालूम पड़ती है] ॥ ७९ ॥

मि वादिप्रतिवादिगाढ-स्वपक्षरागेण विराजमाने।
पूर्वपक्षोत्तरपक्षशास्त्रे रदच्छदौ भूतवती यदीयौ ॥ ८० ॥

ति। वादिप्रतिवादिनोः गाढेन निविडेन, स्वपक्षे रागेण अभिनिवेशेन, अन्तःपार्श्वरक्तत्वेन, विराजमाने पूर्वपक्षोत्तरपक्षशास्त्रे यदीयौ तौ प्रसिद्धौ, ओष्ठौ, भूतवती बभूवतुः, भवतेः क्तवतुप्रत्ययः, अवैमि उत्प्रेक्षे। अत्र वादिनावभिवदनव्यापारवन्तौ पूर्वोत्तरीभूतौ चेति द्रष्टव्यम् ॥ ८० ॥

तथा प्रतिवादीके दृढ अपने पक्षके आग्रह (पक्षा०—गाढ पक्षद्वय अर्थात् लालिमा) से शोभमान पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षके शास्त्रद्वय जिस (सरस्वती) ओठ बन गये हैं, ऐसा मैं जानता हूं। [जिस प्रकार वादी तथा प्रतिवादी ने दृढ पूर्वापर पक्ष (मत) का आग्रहपूर्वक स्थापन करते हुए बोलते हैं, सरस्वतीके पूर्वापर (ऊपर-नीचे) स्थित पक्षद्वय (दोनों प्रान्तों) में राग लिमायुक्त दोनों ओठ भी बोलते हैं, ऐसी उत्प्रेक्षा करता हूं] ॥ ८० ॥

र्थकमार्थकवेदभेदात् द्विधा विधाय स्थितयाऽऽत्मदेहम्।
के पराच्छादनचारु यस्या मीमांसया मांसलमूरुयुग्मम् ॥ ८१ ॥

ति। पराच्छादनचारु उत्कृष्टवसनाभिरामं, मांसमस्यास्तीति मांसलं पीवरं, 'पत्वात् लच्', यस्याः सरस्वत्याः, ऊरुयुग्मं परेषां प्रतिवादिनाम्, आच्छादनेन णत्वेन, चारु शोभनम्, आत्मदेहं स्वस्वरूपं, चार्विति विशेषणान्नपुंसकं ग्राह्यम्, क्लीबपुंसोः' इत्यमरः ब्रह्मैवार्थः प्रतिपाद्यार्थो यस्य सः, कर्मैवार्थः प्रति- यस्य सः 'शेषाद्विभाषा' इति कपि भावप्रधानो निर्देशः' ताभ्यां ब्रह्मकाण्ड- भ्यां, यो वेदस्य भेदः द्वैविध्यं तस्माद्धेतोः, द्विधा विधाय पूर्वोत्तरमीमांसा- द्वैविधं कृत्वा, स्थितया प्रतिष्ठितया, मीमांसया द्वैविध्यया चक्रे कृतमिति ॥ ८१ ॥

(वैशेषिक-बौद्धादि) के मतके खण्डन करनेसे (पक्षा०—श्रेष्ठ वस्त्र से ढकनेसे सुन्दर), परिपुष्ट (पक्षा०—मांसल = मांसपूर्ण) जिस (सरस्वती देवी) के ब्रह्मप्रयोजनक तथा कर्मप्रयोजनक अर्थ ब्रह्म तथा कर्मका प्रतिपादक वेद- ब्रह्मकाण्ड तथा कर्मकाण्ड नामक वेद-विभागसे अपने देहको दो विभागकर मांसा तथा उत्तर मीमांसा नामसे प्रसिद्धकर) स्थित मीमांसाने बनाया है। प्रतिपादन मीमांसा करती है, वह ईश्वरको नहीं मानती; उसके 'पूर्वमीमांसा

तथा उत्तर मीमांसा'—ये दो भेद हैं, वे ब्रह्मकाण्ड तथा कर्मकाण्ड कही जाती हैं।
मीमांसा वेदस्वरूपा ही है, अतः वेदने ही अपना ब्रह्मकाण्ड तथा कर्मकाण्डरूप
विभागकर स्थित मीमांसासे परमतखण्डन करनेवाला एवं पुष्ट (दूसरेसे अखण्
(पक्षा०—उत्तम वस्त्राच्छादित होनेसे सुन्दर एवं मांसल) सरस्वती देवीकी
जङ्घाओंको बनाया है]॥ ८१ ॥

उद्देशपर्वण्यपि लक्षणेऽपि द्विधोदितैः षोडशभिः पदार्थैः।
आन्वीक्षिकीं यद्दशनद्विमालीं तां मुक्तिकामाकलितां प्रतीमः॥ ८

उद्देशेति। यस्याः सरस्वत्याः, दशनानां द्वयोर्मालयोः समाहारो द्विमाली
पङ्क्तिद्वयी, 'आबन्तो वा' इति स्त्रीत्वे 'द्विगोः' इति ङीप्], तामेव आकलितां गुम्फि
मुक्तैव मुक्तिका, मुक्ताशब्दात् स्वार्थे कप्रत्ययेन 'केऽणः' इति ह्रस्वे तस्य 'अभा
पुंस्काच्च' इति कात् पूर्वस्येत्वम्, तां मुक्तावलीम् इत्यर्थः, उद्देशो नामतः की
तस्य पर्वणि अवसरेऽपि, समानासमानजातीयव्यवच्छेदो लक्षणं तस्मिन्नपि, द्वि
दितैः उद्देशतया लक्षणतया च निर्दिष्टैरित्यर्थः; अन्यत्र—उद्देशपर्वणि उद्दे
पर्वदिवसे, तथा लक्षणे सामुद्रिकलक्षणे च, द्विधोदितैः द्वैगुण्येनोक्तैः, अत एव द्व
सत्संख्यकैरित्यर्थः, उभयषोडशदशनत्वस्य भाग्यलक्षणत्वादिति भावः; षोडश
पदार्थैः प्रमाणादिनिग्रहस्थानान्तैः उपलक्षिताम्; मुक्तिं मोक्षं कामयन्ते इति मु
कामाः मुमुक्षवः, 'शीलकामिभक्ष्याचारेभ्यो णः' इति णप्रत्ययः तैराकलि
अभ्यस्तां, प्रमाणादिसूत्रेण एतेषां तत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसाधिगम इत्युक्तत्वा
भावः; तां प्रसिद्धाम्, अनु पश्चात्, वेदश्रवणानन्तरमित्यर्थः, ईक्षा परीक्षणम
न्वीक्षा, सा प्रयोजनमस्या इत्यान्वीक्षिकी तर्कविद्या, 'प्रयोजनम्' इति ठक्
प्रतीमः जानीमः, प्रतिपूर्वादिणो लट्, द्विरावृत्तषोडशपदार्था द्वात्रिंशद्दन्तपङ्क्तियुगल
परिणता इत्युत्प्रेक्षार्थः। प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरभेदोपचारत्वात् आन्वीक्षिक्येव
परिणतेत्युक्तं दशनद्विमालीमेवाकलितां मुक्तिकामिति श्लिष्टपदोपात्तेन रूपक
नोत्प्रेक्षायाः सङ्करः॥ ८२ ॥

नाम-निर्देश तथा लक्षण-निर्देश (पक्षा०—सामुद्रिक शास्त्रोक्त लक्षण निर्देश)
अवसरमें दो बार कहे गये सोलह पदार्थोंसे उपलक्षित, जिस सरस्वती देवीके दाँतों
दोनों पङ्क्तियोंको (हम) मुक्ति चाहनेवालोंसे सेवित (पक्षा०—गुथी हुई मोती)
विद्या अर्थात् न्यायविद्या समझते हैं। [न्याय शास्त्रके अनुसार—'प्रमाण, प्रमेय, संश
प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छ
जाति और निग्रह स्थान; ये सोलह पदार्थ हैं, इनको नाम तथा लक्षण क्रमसे बार-ब
कहनेपर ये बत्तीस हो जाते हैं, वे ही बत्तीस पदार्थ सरस्वती देवीके दाँतोंकी दो
पङ्क्तियां हैं, जिन्हें मुमुक्षु लोग ग्रहण करते हैं या जो गुथी हुई मोतियोंके समान हैं]॥८

यद्वदनस्य तर्क्या वादेऽस्य शक्तिः क ? तथाऽन्यथा तैः।
तुं गुणशालिपूगम् ? क वादतः खण्डयितुं प्रभुत्वम् ॥ ८३ ॥

न्तानेव तर्कत्वेनापि उत्प्रेक्षते, तर्का इति। यद्वदनस्य सम्बन्धिनः रदाः रदना दशना दन्ताः रदाः' इत्यमरः, तर्का ऊहाख्याः प्रमाणानुमापकज्ञानतन्मयाः इत्यर्थः, तर्क्याः उत्प्रेक्ष्याः; अन्यत्र—तर्कवत् कर्कशा इत्यर्थः। स्य वदनस्य, तैः दन्तैस्तर्कैश्च, अन्यथा विना, वादे कथायामभिवदन, तथा तादृशी, शक्तिः क ? दन्तैस्तर्कैश्च विना वादः कर्त्तु न शक्यते एवं तर्कैर्विना वादतः वादनिमित्तात्, पत्रं प्रतिवादिने स्वपक्षसमर्थकं पत्रम्, तिवादिनः प्रतिज्ञापत्रं, दातुं क शक्तिः ? दन्तैर्विना च अदतः भक्षयतः, लीदलादिकं, दातुं खण्डयितुं, शक्तिः क वा ? सामर्थ्यं न भवतीत्यर्थः; सुन्, तर्कैर्विना गुणशालिनां प्रतिभादिगुणवतां वावदूकानां, पूगं वृन्दं, दिन, खण्डयितुं भङ्क्तुम्, अन्यत्र—वा इति छेदः, दन्तैर्विना अदतो 'पदादयः पृथक् शब्दाः' इति मतेन न विद्यन्ते दतो दन्ता यस्य इत्यदतः स्य वा, गुणशालि रसाढ्यं, पूगं पूगीफलं, 'पूगः क्रमुकवृन्दयोः' इत्यमरः, तुं शकलयितुं, प्रभुत्वं सामर्थ्यं, क वा ? श्लेषध्वनितेयं दन्तानां तर्कपरिणत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ८३ ॥

(सरस्वती देवी) के मुखके दाँतोंको तर्क (न्याय शास्त्र) समझना चाहिये,) के विना इस (मुख) की वाद (शास्त्रार्थ, पक्षा०—बोलने या भाषण करते, 'व और द' इन दो अक्षरोंके उच्चारण करने) में वैसी अनिर्वचनीय शक्ति कहां हां से है ? और वादनिमित्तसे (प्रतिवादीके लिये) पत्र देने अर्थात् उसके ऊपर न करने लिये (प्रतिवादीके मतको खण्डन करनेके लिये), (आथवा—खाते ०—दन्तरहित इस मुखका) गुणों (कषाय आदि गुणों) से शोभमान पत्र पत्ते) को खण्डन करने (चबाने) के लिये, अथवा—कषायादि गुणोंसे युक्त पारी) को खण्डन करनेके लिये शक्ति कहां है ?। अथवा—वाद (शास्त्रार्थ) से विद्वत्ता आदि गुणों) से शोभमान (विद्वानों) के समूहको खण्डन करनेके लिये हांसे है ?)। [न्याय शास्त्रके बिना शास्त्रार्थ करने तथा दाँतोंके बिना बोलने था द' इन दो अक्षरोंका उच्चारण स्थान क्रमशः दन्तोष्ठ एवं दन्त होनेसे दांतोंके न दोनों अक्षरोंको उच्चारण करनेमें मुखकी शक्ति नहीं हो सकती तथा वादमें के खण्डन करने या खाते हुए मुखकी कषाय (कसैलापन) आदि गुणयुक्त नके पत्ते) का, अथवा—कषायादि गुणशाली सुपारी का खण्डन करके, अथवा—दि गुणशालियों (विद्वानों) के समूहका वाद (शास्त्रार्थ) से खण्डन करनेमें मुखकी हां हो सकती है। अथवा—बिना दाँतवाले मुखकी उक्त गुणशाली पत्रके या खण्डन करनेकी शक्ति कहां हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती। कठोर

दाँतोंके द्वाराही कठोर सुपारी का खण्डन किया जा सकता है ॥ सरस्वती देवीका
तर्कशास्त्रसे रचा गया है] ॥ ८३ ॥

सपल्लवं व्यासपराशराभ्यां प्रणीतभावादुभयीभविष्णु ।
तन्मत्स्यपद्माद्युपलक्ष्यमाणं यत्पाणियुग्मं ववृते पुराणम् ॥ ८४ ॥

सपल्लवमिति । व्यासपराशराभ्यां प्रणीतभावात् प्रणीतत्वात्, उभयीभ
महापुराणोपपुराणतां प्राप्तं, 'भुवश्च' इतीष्णुच्, यद्यप्यष्टादशपुराणानां कर्त्ता सत्य
सुतः, तथाऽपि 'पुराणं वैष्णवं चक्रे यस्तं वन्दे पराशरम्' इत्यादि प्रसिद्धमेवमु
तत् प्रसिद्धं, मत्स्यपद्मादि मत्स्यपद्मपुराणादिसंज्ञादिः, आदिशब्दात् कूर्मस्कन्दा
सङ्ग्रहः; अन्यत्र—मत्स्यपद्मादिसामुद्रिकरेखादिः, आदिशब्दात् ध्वजकुलिश
सङ्ग्रहः, तैः उपलक्ष्यमाणं निर्दिश्यमानमित्यर्थः, सपल्लवं कथाऽऽख्यायिका
सविस्तरं, 'पल्लवं त्वस्त्री प्रकोष्ठे चापि विस्तृतौ' इति वैजयन्ती, अन्यत्र—सह
पल्लवेन सपल्लवं किसलयसदृशम् । 'अव्ययं विभक्ति—'इत्यादिना सहशब्दस्य
भूतसादृश्यार्थेऽव्ययीभावः । 'अव्ययीभावे चाकाले' इति सहशब्दस्य सभ
'सहसादृश्यसाकल्ययौगपद्यसमृद्धिषु' इति विश्वः, पुराणं मत्स्यपद्मादि, य
सरस्वत्याः, पाणियुग्मं ववृते पाणिपद्मत्वेन परिणतमित्यर्थः । उत्प्रेक्षा ॥ ८४ ॥

व्यास तथा पराशरके द्वारा रचित होनेसे द्विगुणत्व (पुराण तथा उपपुराण भाव
प्राप्त होनेवाला, मत्स्य तथा पद्म आदि (कूर्म, वराह आदि नाम) से उपलक्ष
(कहा जानेवाला । पक्षा०—मत्स्य, पद्म आदि (ध्वजा, कुलिश आदि) शुभ लक्ष
युक्त) तथा कथा, आख्यायिका आदिसे युक्त (पक्षा०—शृङ्गार से युक्त । अथव
पल्लवके समान) पुराण जिस (सरस्वती देवी) की दोनों भुजाएं हैं अर्थात् उक्त गुण
पुराणही सरस्वतीकी दोनों भुजाओंके रूपमें परिणत हैं ॥ ८४ ॥

आकल्पविच्छेदविवर्जितो यः स धर्मशास्त्रव्रज एव यस्याः ।
पश्यामि मूर्द्धा श्रुतमूलशाली कण्ठे स्थितः कस्य मुदे न वृत्तः ? ॥८

आकल्पेति । आकल्पं कल्पान्तपर्यन्तं, विच्छेदेन विवर्जितः अविच्छिन्नसम्प्र
यीत्यर्थः; अन्यत्र—आकल्पः अलङ्कारादिः, तद्विच्छेदविवर्जितः तत्सहितः, नि
भूषित इत्यर्थः, श्रुतिर्वेद एव, मूलं प्रमाणं, तेन शालते; अन्यत्र—श्रुतिमूला
कर्णमूलाभ्यां, शालते इति तथोक्तः, 'वेदे श्रवसि च श्रुतिः' इत्यमरः, अथवा—श्रू
यः स श्रुतिः शब्दः, तस्य ग्रहणे मूलं कारणं, कर्णौ इत्यर्थः, ताभ्यां शालते; क
स्थितो सुखस्थितः, अन्यत्र—कण्ठोपरि स्थितः, यो धर्मशास्त्राणां मन्वादिस्मृतीन
व्रजः स एव यस्याः देव्याः, मूर्द्धा वृत्तः संवृत्तः, परिणत इत्यर्थः, अन्यत्र—वृ
वर्त्तुलः, मूर्द्धा कस्य मुदे न? सर्वस्यापि स्यादेवेत्यर्थः, पश्यामि इति उत्प्रे
अहमिति शेषः ॥ ८५ ॥

ान्त तक नाश रहित (पक्षा०—अलङ्कारके विच्छेदसे रहित अर्थात् नित्य), तथा वेदमूलक होनेसे (पक्षा०—कर्ण प्रान्तोंसे) शोभनेवाला है, वह ूहही जिस (सरस्वती देवी) का कण्ठस्थित मस्तक किसके हर्षके लिए नहीं सबके (अभ्यस्त, पक्षा०—कण्ठ ग्रीवापर स्थित) एवं गोलाकार हर्षके लिए देखता हूँ ॥ ८५ ॥

ौ दलाभ्यां प्रणवस्य यस्यास्तद्बिन्दुना भालतमालपत्रम् ।
र्धचन्द्रेण विधिर्विपञ्ची-निक्वाणनाकोणधनुः प्रणिन्ये ॥ ८६ ॥

नागरलिपेरोङ्काराक्षरमाश्रित्योत्प्रेक्षते, भ्रुवाविति । विधिः ब्रह्मा, प्रणवस्य, , दलाभ्याम् उभयप्रान्तरेखाभ्यां, यस्याः देव्याः, भ्रुवौ, यथा तस्य बिन्दुना रेखया, भाले ललाटे, तमालपत्रं तिलकं, 'तमालपत्रतिलक-चित्रकाणि ' इत्यमरः, तस्य प्रणवस्य, अर्द्धचन्द्रेण अर्द्धचन्द्राकाररेखया, विपञ्च्याः , 'वीणा तु वल्लकी विपञ्ची" इत्यमरः, निक्वाणनायै वादनार्थं, कोणधनुः कं धनुराकारं वाद्यसाधनञ्च, 'कोणो वीणादिवादनम्' इत्यमरः, प्रणिन्ये 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णत्वम् । उत्प्रेक्षा ॥ ८६ ॥

ने जिस (सरस्वती देवी) के भ्रूद्वयको प्रणव (नागरी लिपिके अनुसार ॐकार) डोंसे, उस (प्रणव) के विन्दु अर्थात् अनुस्वारसे ललाटस्थ तमालपत्र अर्थात् और उस (प्रणव) के अर्धचन्द्रसे विपञ्ची (सरस्वतीकी 'विपञ्ची' नामक वीणा) ाले धनुराकृति 'कोण' (धनुही···) को बनाया है ॥ ८६ ॥

कुण्डली वृत्तसमाप्तिलिप्याः कराङ्गुली काञ्चनलेखनीनाम् ।
श्यं मसीनां स्मितभाः कठिन्याः काये यदीये निरमायि सारैः ॥ ८७ ॥

ण्डलीति । यदीये काये देहे, द्वयोः कुण्डलयोः समाहारो द्विकुण्डली कर्ण- यं, वृत्तायाः वर्त्तुलायाः, समाप्तिलिप्या अवसानरेखायाः, बिन्दुद्वयरूपायाः राया इति यावत्, सारैः श्रेष्ठांशैः, निरमायि निर्मिता, माङो लुङि 'आतो क्तोः' इति युगागमः, लेख्यान्ते समाप्तिव्यञ्जको विसर्गः लिख्यते, स एव यत्वेन परिणत इत्यर्थः । विसर्गस्य रूपं यथा—'श्रृङ्गवत् बालवत्सस्य कुचयुग्मवत् । नेत्रवत् कृष्णसर्पस्य स विसर्ग इति स्मृतः ।' तथा च करा- ाङ्गुल्यः, जातावेकवचनम्, काञ्चनलेखनीनां सौवर्णलेखनीनां सारैः, तथा समूहः कैश्यं, 'केशाश्वाभ्यां यञ्-छावन्यतरस्याम्' इति यञ्प्रत्ययः, सारैः, तथा स्मितभा मन्दहासकान्तिः, कठिन्याः खटिकायाः, 'खटिकायान्तु ' इति विश्वः । सारैः निरमायि इत्युत्प्रेक्षा ॥ ८७ ॥

ाने) जिस (सरस्वती) के शरीरमें दोनों कुण्डलोंको गोलाकार वर्णसमाप्तिसूचक विसर्ग, या मातृका ग्रन्थकी समाप्ति लिपि) के सारोंसे, हाथकी अङ्गुलियोंको सोनेकी

कलमके सारोंसे, केश-समूहको स्याहियोंके सारोंसे और स्मित-कान्तिको (श्यामपट=ब्लैकबोर्डपर लिखनेका चॉक) के सारोंसे बनाया है ॥ ८७ ॥

या सोमसिद्धान्तमयाननेव शून्यात्मतावादमयोदरेव ।
विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव साकारतासिद्धिमयाखिलेव ॥ ८८ ॥

येति । या देवी, सोमसिद्धान्तः कापालिकदर्शनम्, अथ च—सोमस्य इ सिद्धान्तः अखण्डरूपञ्च, तन्मयम् आननं यस्याः सा इव स्थिता; तथा आत्म न सन्तीति वादः शून्यात्मतावादः माध्यमिकबौद्धविशेषदर्शनं, तन्मयं तदेव, यस्याः सा तादृशीव, अथ च—शून्यात्मता निस्वरूपता, तद्वादो नास्तिव तन्मयमुदरं यस्याः सा अतिकृशोदरीत्यर्थः, 'नासिकोदर—'इत्यादिना विकल्पा कारः, विज्ञानस्य निराकारविज्ञानमात्रस्य, सामस्त्यं साकल्यम् इति योगाचार विशेषमतं, तन्मयं तदेव, अन्तरं यस्याः सा इव, अथ च—विज्ञानसामस्त्यम शिष्टज्ञानसम्पत्तिश्च, तन्मयमन्तरं यस्याः सेव; तथा साकारता साकारविज्ञानवा सौत्रान्तिकः ज्ञानानां नीलपीताद्याकारता, तत्सिद्धिस्तन्मयाः, अथ च—शोभ कारतासम्पत्तिश्च तन्मयाः अखिलाः सर्वाः यस्याः सेव, स्थितेति शेषः, इति सर्वा ख्रेक्षाः; एवम्भूता सरस्वती मध्येसभम् अवततार इति ७४ श्लोकोक्तक्रियाप अन्वयः ॥ ८८ ॥ कुलकम् ।

जो (सरस्वती देवी) मानो सोमसिद्धान्त (कापालिक दर्शन, पक्षा०—पूर्ण च रूप मुखवाली, शून्यतावाद (माध्यमिक दर्शन, पक्षा०—अभाववाद) रूप उदरवा विज्ञानसामस्त्य (निराकार विज्ञानमात्रवादी वाह्यालापी योगाचार, पक्षा०—विशिष्ट ज्ञा रूप चित्तवाली और साकारतासिद्ध (साकारज्ञानवादी सौत्रान्तिक ज्ञान नील-पीता रूपतासे सिद्ध, पक्षा०—सुन्दर आकृति) रूप सम्पूर्ण अवयवोंवाली हुई। [जिस सरस्वती मुख पूर्ण चन्द्रके समान था, कटि अत्यन्त पतली थी, वह स्वयं विशिष्ट ज्ञानयुक्त परमसुन्दरी थी] ॥ ८८ ॥

भीमस्तयाऽगद्यत मोदितुं ते वेला किलेयं तदलं विषद्य ।
मया निगाद्यं जगतीपतीनां गोत्रं चरित्रञ्च यथावदेषाम्[१] ॥ ८९ ॥

भीम इति । अथ तया देव्या सरस्वत्या, भीमो भीमभूपतिः, अगद्यत उक्त किमिति ? हे राजन् ! इयं ते तव, मोदितुं हर्षं कर्त्तुं, वेला किल समयः खलु; 'काल समयवेलासु तुमुन्' तत्तस्मात्, विषद्य खेदित्वा, अलं विषादो न कर्त्तव्य इत्यर्थ 'अलंखल्वोः' इत्यादिना क्त्वाप्रत्ययः।कुतः,? एषां जगतीपतीनां राज्ञां,गोत्रं कुलं नाम च, 'गोत्रं नाम्नि कुलेऽपि च' इति विश्वः, चरित्रञ्च मया निगाद्यं वक्तव्यम्, आ वक्ष्यामीत्यर्थः। 'ऋहलोर्ण्यत्' 'गदमद' इत्यादिसूत्रे अनुपसर्गं एव यतो विधानात्

---

१. 'विचित्रमेषाम्' इति पाठान्तरम् ।

(सरस्वती देवी) ने राजा भीमसे कहा—'निश्चित रूपसे यह तुम्हारे हर्षका स कारण विषाद (१०।६८) मत करो, (क्योंकि) इन राजाओंके यथायोग्य -ठीक (पाठा०—विचित्र) गोत्र तथा चरित्रको मैं कहूँगी । [पहले (१०।६८) ओंसे आये हुए एवं देवोंसे वर्णनीय कुल तथा चरित्रवाले राजाओंको देखकर राजा दयुक्त हो गये कि इनके गोत्र तथा चरित्रका ठीक-ठीक वर्णन तो मनुष्यसे हो कता और विना ठीक-ठीक वर्णन किये दमयन्ती किस प्रकार उत्तम-हीनका नुसार अपने योग्य वरका निर्णय कर सकेगी' इस विषादको दूर करनेके लिए देवीको भक्तवत्सल विष्णु भगवानने बुलाकर कहा कि—'सभामें आये हुए कुल-चरित्रका तुम वर्णन करो' (१०।७१-७२), तदनुसार सरस्वती देवीने ारकर राजासे उक्त वचन कहा] ॥ ८९ ॥

विन्दतासौ[1] मकरन्दलीलां मन्दाकिनी यच्चरणारविन्दे ।
त्रावतीर्णा गुणवर्णनाय राज्ञां तदाज्ञावशगाऽस्मि काऽपि ॥ ९० ॥

त्वम् ? किमर्थमागता च ? इत्याकाङ्क्षायामाह, अविन्दतेति। असौ प्रसिद्धा, किनी यस्य पुंसः, चरणारविन्दे पादपद्मे, मकरन्दलीलां पद्ममधुविलासम्, प, तस्य पुंसः श्रीविष्णोः, आज्ञाया वशगा वशवर्त्तिनी, काऽपि या काचित्, हं, राज्ञां गुणवर्णनाय अत्र स्वयंवरसभायाम्, अवतीर्णा, अस्मि इति शेषः, चिन्तया ? इति भावः ॥ ९० ॥

प्रसिद्ध गङ्गाने जिसके चरणकमलमें मकरन्द (पद्म-पराग) के विलासको प्राप्त , उस (विष्णु) की आज्ञाके वशवर्तिनी कोई मैं यहांपर राजाओंके गुणके वर्णनके ी हूँ ॥ ९० ॥

त्कालवेद्यैः शकुनस्वराद्यैराप्तामवाप्तां नृपतिः प्रतीत्य ।
ं लोकपालैकधुरीण एष तस्यै सपर्यामुचितां दिदेश ॥ ९१ ॥

कालेति । लोकपालैः इन्द्रादिभिः सह, एकधुरं वहतीत्येकधुरीणः समान- 'एकधुराल्लुक् च' इति खप्रत्ययः लोकपालसदृश इत्यर्थः, एष नृपतिर्भीमः, अकस्मात् सभायां प्राप्तां, तां वाग्देवीं, तत्काले वेद्यैः वेदयितुं शक्यैः, शुभाशंसिनिमित्तं, 'शुभाशंसिनिमित्ते च खगे च शकुनं विदुः' इति शाश्वतः, सानिलः, आद्यशब्दादक्षिस्पन्दादिसङ्ग्रहः, तैरुपायैः, आप्तां हितां, प्रतीत्य , तस्यै उचितां सपर्यां पूजां, दिदेश समर्पयामास ॥ ९१ ॥

मान (इन्द्र आदि) के एक धुराको धारण करनेवाले (इन्द्रादि लोकपालोंके) इस राजा (भीम) ने उस समयके जानने योग्य शकुन (पक्षी आदिका शब्द)

---

[1] 'विन्दस्यसव्ये' इति पाठान्तरम् ।

तथा स्वर (नासिका स्वर) आदि (दक्षिणनेत्रका स्फुरण आदि) के द्वारा आयी हुई हितकारिणी मानकर उसकी पूजा की ॥ ९१ ॥

दिगन्तरेभ्यः पृथिवीपतीनामाकर्षकौतूहलसिद्धविद्याम् ।
ततः क्षितीशः स निजां तनूजां मध्येमहाराजकमाजुहाव ॥ ९२ ॥

दिगिति । ततो देवीपूजानन्तरं, सः क्षितीशः भीमः, दिगन्तरेभ्यः पृथिवी नाम् आकर्षकौतूहले आकर्षकर्मणि, सिद्धविद्यां सिद्धमन्त्रस्वरूपाम्, अमोघ मित्यर्थः, सौन्दर्येण सर्वाकर्षणकारिणीमिति भावः, निजां तनूजां मध्येमहार महतो राजसमूहस्य मध्ये, आजुहाव आहूतवान्, ह्वयतेर्लिटि 'अभ्यस्तस्य इति द्विर्भावात् प्राक् सम्प्रसारणे रूपसिद्धः; भीमः सभायां दमयन्तीम् आनया इति भावः ॥ ९२ ॥

इस (सरस्वती देवी की पूजा करने) के वाद उस राजाने भिन्न-भिन्न दिशा राजाओंके आकृष्ट करनेके कौतूहलमें (मन्त्रादि द्वारा) सिद्ध विद्यारूपा अर्थात् सौन्दर्यके द्वारा विभिन्न दिशाओंसे राजाओंको आकृष्ट करनेमें मन्त्रसिद्ध विद्याके स अपनी पुत्री (दमयन्ती) को महाराजाओंके बीचमें बुलाया ॥ ९२ ॥

दासीषु नासीरचरीषु जातं स्फीतं क्रमेणालिषु वीक्षितासु ।
स्वाङ्गेषु रूपोत्थमथाद्भुताब्धिमुद्वेलयन्तीमवलोककानाम् ॥ ९३ ॥

अथ षोडशश्लोक्या दमयन्तीं वर्णयति, दासीष्वित्यादि । कीदृशम् ? नासी चरन्तीति नासीरचरीषु अग्रेसरीषु, चरेष्टः, टित्वात् ङीप्, दासीषु परिचारिक वीक्षितासु सतीषु, जातम् उत्पन्नं, क्रमेण आलिषु सखीषु, वीक्षितासु स्फीतं प्रवृ 'स्फायः स्फी निष्ठायाम्' इति स्फीभावः, अथानन्तरं, रूपोत्थं सौन्दर्यजन्म, अवलो कानां प्रेक्षकाणाम्, अद्भुताब्धिं विस्मयसागरं, स्वाङ्गेषु दमयन्त्या अवयवेषु, वी तेषु सत्सु उद्वेलयन्तीम् उद्वेलं कुर्वतीं, वेलामतिलङ्घयन्तीमित्यर्थः, भैमीं पपावपा रथ राजराजिः इति १०८ श्लोकोक्तेन अन्वयः । उद्वेलशब्दात् 'तत्करोति' इ ण्यन्ताच्छतरि ङीप् । अत्र एकस्मिन्नद्भुताब्धौ क्रमेणानेकेषां जातत्वस्फीतत्वोद्वे त्वानां वृत्तिकथनात् पर्यायालङ्कारभेदः; 'एकस्मिन्ननेकमनेकस्मिन्नेकम्' इति लक्षणा

(यहांसे १६ श्लोकों तक (१०।९३–१०८) दमयन्तीका वर्णन करते हैं, अतः श्लोकोंका '⋯पपावपाङ्गैरथ राजराजिः (१०।१०८)' श्लोकस्य क्रियापदके साथ अन्वय है आगे चलनेवाली दासियोंमें उत्पन्न, क्रमशः (इसके उपरान्त क्रमसे) देखी गयी सखियों बढ़े हुए और अनन्तर अपने (दमयन्तीके) अङ्गोंमें सौन्दर्यजन्य देखनेवालोंके आश्चर्य समुद्रको बढ़ाती हुई (दमयन्तीको राजसमूहने कटाक्षोंसे देखा)—॥ ९३ ॥

स्निग्धत्वमायाजललेपलोप-सयत्नरत्नांशुमृजांशुकाभाम् ।
नेपथ्यहीरद्युतिवारिवर्त्ति-स्वच्छायसच्छायनिजालिजालाम् ॥ ९४ ॥

त्वेति। पुनः किम्भूताम्? स्निग्धत्वाय मासृण्यगुणाय, मायाजलं जल-त्यो दोषः, 'रागस्त्रासश्च विन्दुश्च रेखा च जलगर्भता। सर्वरत्नेष्वमी पञ्च धारणा मताः॥' इति वाग्भटः। तथा लेपः वर्णोत्कर्षकारी द्रव्यविशेष-तयोः लोपः अभावः, ताभ्यां सयत्नानि कृतप्रयासानि, कथमपि तानि र्णानि इत्यर्थः, यानि रत्नानि, उपलक्षणमेतत्, गुणसम्पत्तिदोषविरहाभ्यां र्थः, यती प्रयत्ने इति धातोः 'श्वीदितो निष्ठायाम्' इति इण्प्रतिषेधः, ताम् अंशुमृजा किरणप्रसादः, सेव अंशुकाभा वस्त्रप्रभा यस्यास्तां, तथा द्युतिवारिवर्त्तिस्वच्छायम् आभरणवज्रप्रभाम्बुगतस्वप्रतिविम्वं, 'विभाषा त्यादिना छायाशब्दस्य नपुंसकत्वम्, तेन सच्छायं सवर्णं, निजालिजालं कुलं यस्यास्ताम्। अत्र भूषामणिप्रभाझरमग्नेन स्वप्रतिबिम्बेन सह सखी-त्योत्प्रेक्षया तासामपि तत्समानसौन्दर्यं वस्तु व्यज्यते॥ ९४॥

नाहट, कृत्रिम जल तथा लेप (माँड़ी-कलप) के अभावमें प्रयत्नशील रत्नोंकी रण के समान वस्त्रवाली (अथवा—चिकनाहटके लिये कृत्रिम जल तथा लेपके ...) और भूषणोंके हीराओंकी कान्तिरूपी जलके मध्यगत (प्रतिबिम्बित) समान ी सखियोंके समूहवाली (दमयन्तीको कटाक्षोंसे राजसमूहने देखा)। नोंके वस्त्रकी चिकनाहट कृत्रिम जल तथा लेपके बिना ही रत्नप्रभाके जलके द्वारा थी और उसके भूषणोंमें जड़े गये हीराओंमें दमयन्तीके समान सौन्दर्यवाली के समूहका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, ऐसी दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा]॥

लेपनामोदमुदागतेन तत्कर्णपूरोत्पलसर्पिणा च।
शदूतेन मधुव्रतेन कर्णे रहः किञ्चिदिवोच्यमानाम्॥ ९५॥

पनेति। पुनः किम्भूताम्? विलेपनस्य चन्दनाद्यङ्गरागस्य, आमोदेन सौर-दा प्रीत्या, आगतेन, तथा तस्याः दमयन्त्याः, कर्णपूरोत्पलं सर्पतीति तद्गन्धाकृष्टेन च, रतीशदूतेन कामसन्देशहारकेण, तदुद्दीपकेनेत्यर्थः, भ्रमरेण, कर्णे किञ्चित् रहः रहस्यं, नल एव सभ्येषु सुन्दरतमः अतः स ीय इत्यादिरूपम्, उच्यमानामिव कामदेवसंदिष्टं किमप्युपदेश्यमानामिव इत्युत्प्रेक्षा। एतेन तस्यास्तदा किलकिञ्चितादिश्रृङ्गारचेष्टाविर्भावो व्यज्यते॥

राग (चन्दन-कर्पूरादिका लेप) की सुगन्धिसे उत्पन्न हर्षसे आया हुआ, उस) के कर्णभूषण-कमलके पास उड़ता हुआ कामदेवका दूत भ्रमर कानमें मानो काम-सन्देश कह रहा था (ऐसी दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा)॥

रोधिवर्णाभरणाश्मभासां मञ्जाजिकौतूहलमीक्षमाणाम्।
स्वचापभ्रमचालिते नु भ्रुवौ विलासात् वलिते वहन्तीम्॥ ९६॥

धीति। पुनः किम्भूताम्? विरोधिवर्णानां श्वेतकृष्णादिनानावर्णानाम्,

आभरणाश्मनां भूषणमणीनां, या भासः तासां, मल्लाजिकौतूहलं मल्लयुद्धकौ परस्पराक्रमणसंरम्भमिति यावत्, ईक्षमाणां, पुनर्विलासात् वलिते स्त्रीस्वभाव लाचलिते, तत्रोत्प्रेक्षा-स्मरेण तुल्यतया स्वचापभ्रमाच्चालिते नु आदातुं कम्पिते स्थिते इत्यर्थः; चल कम्पने इति मित्त्वेऽपि 'ज्वलह्वलह्मलनमामनुपसर्गात् वा' विकल्पनाद्ध्रस्वाभावः, एवम्भूते भ्रुवौ वहन्तीं धारयन्तीम् ॥ ९६ ॥

विरुद्ध रङ्गोंवाले भूषणोंमें जड़े गये रत्नोंकी कान्तियोंके मल्लयुद्ध (कुश्ती) के कौतु अर्थात् अनेक रङ्गोंके भूषण-जटित रत्नोंकी कान्तियोंके परस्पर मिश्रणको कौतुकके देखती हुई और मानो कामदेवके द्वारा अपने धनुषके भ्रमसे सञ्चालित (स्त्री-स्वभाव विलाससे टेढ़े किये गये भ्रूद्वयको धारण करती हुई (दमयन्तीको राज-समूहने कटा देखा)। [दमयन्तीके भूषणोंमें अनेक परस्पर विरुद्ध रङ्गोंके रत्न जड़े गये थे, उनकी क परस्परमें मिलकर चाकचिक्य उत्पन्न करती थी, वह एक प्रकार उनके मल्ल-युद्धके स मालूम पड़ता था उसे दमयन्ती देखती थी तथा विलासपूर्वक उसका कटाक्ष कामदेव चलाये गये धनुषके समान प्रतीत होता था अर्थात् उसका कटाक्ष देखकर दर्शक क पीड़ित हो जाते थे] ॥ ९६ ॥

सामोदपुष्पाशुगवासिताङ्गीं किशोरशाखाग्रशयालिमालाम् ।
वसन्तलक्ष्मीमिव राजभिस्तैः कल्पद्रुमैरप्यभिलष्यमाणाम् ॥ ९७ ॥

सामोदेति । पुनः किम्भूताम् ? सामोदम् अतिमनोहरतदङ्गरूपवस्तुला सहर्षं यथा तथा, पुष्पाशुगेन कामेन, वासितम् अधिष्ठितम्, अङ्गं वपुर्यस्यास्त अन्यत्र-सामोदपुष्पाणि सुगन्धिकुसुमानि, आशुगो मलयानिलश्च, तैः वासित सुरभीकृताङ्गीम्, 'आमोदो हर्षगन्धयोः' 'आशुगौ वायुविशिखौ' इति विश्वा पुनः किशोरशाखाः कोमलाङ्गुलयः, अग्रशया अग्रपाणयो यासां तादृश्यः, आ मालाः सखीपङ्क्तयो यस्यास्तां, 'पञ्चशाखः शयः पाणिः' इत्यमरः अन्यत्र—कि शाखानां नवपल्लवानाम्, अग्रेषु ये शेरते इति तच्छायाः, 'अधिकरणे शेतेः' इ प्रत्ययः, तादृश्यः अलिमाला भृङ्गश्रेणयः यस्यां तां, तैः राजभिः कल्पद्रुमैरपि स भिलाषपूरकैरपीति भावः; अभिलष्यमाणां वसन्तलक्ष्मीमिव, स्थितामिति शेषः; य सर्वाभिलाषपूरकैरपि कल्पवृक्षैर्वसन्तलक्ष्मीरपेक्ष्यते तद्वद्राजभिरपीति सात्त्विकोपि

हर्षयुक्त कामदेवसे अधिष्ठित (संयुक्त) शरीरवाली (पक्षा०—गन्धयुक्त पुष्प मलयानिल, अथवा-गन्धयुक्त पुष्पोंकी हवासे सुवासित शरीरवाली) और पतली-प अङ्गुलियोंवाले हाथोंसे युक्त सखियोंके समूहवाली (पक्षा०—पतली-पतली डालियों अथ टहनियोंके अग्रभाग (फुनगी) पर स्थित भ्रमरोंके समूहवाली) कल्पद्रुमोंसे भी अभिल वसन्तलक्ष्मीके समान (याचकोंके लिये) कल्पद्रुमरूप) राजाओंसे चाही जाती हुई (द दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा)॥ ९७ ॥

वदातारुणनीलभासां देहोपलेपात् किरणैर्मणीनाम् ।
चनाचन्दनकुङ्कुमैण-नाभीविलेपान् पुनरुक्तयन्तीम् ॥ ९८ ॥

। पुनः किम्भूताम् ? पीता गौराः, अवदाताः शुक्लाः, अरुणा रक्ताः, नीलाः भासो दीप्तयो येषां तेषां, मणीनां किरणैः देहस्य शरीरस्य, उपलेपात् , गोरोचनादिचतुष्टयलेपान् पुनरुक्तयन्तीं सावर्ण्यात् पुनरुक्तान् । एणनाभिः कस्तूरी । दमयन्त्याः पीतादिमणिप्रभया गोरोचनाद्यनुलेपनानां साधितमिति भावः । अत्र गोरोचनाद्यनुलेपचतुष्टयस्य यथासंख्यसम्बन्धेन णिकिरणकैतवकथनात् यथासंख्यसङ्कीर्णसामान्यालङ्कारः । लक्षणमुक्तम्॥९८॥

, श्वेत, लाल तथा नीली कान्तियोंवाले रत्नोंके किरणोंसे शरीरपर लेप होनेके त् दमयन्तीके शरीरके ऊपर उक्त चार रङ्गोंवाले रत्नोंकी कान्ति पड़नेसे गोरोचन, कुम और कस्तूरीके विलेपनों (अङ्गरागों) को पुनरुक्त करती (दुहराती) हुई तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा) । [यहांपर क्रमशः पीले रंगवाले पुखराजसे के, श्वेत रङ्गवाले स्फटिक या हीरेसे चन्दनके, लाल रङ्गवाले माणिक्यसे कुङ्कुमके रङ्गवाले नीलमसे कस्तूरीके लेपको पुनरुक्त किया जाना समझना चाहिये] ॥९८॥

रं प्रसूनेन शरासनेन जेतारमश्रद्दधतीं नलस्य ।
स्मै स्वभूषादृषदंशुशिल्पं बलद्विषः कार्मुकमर्पयन्तीम् ॥ ९९ ॥

मिति । पुनः किम्भूताम् ? प्रसूनेन पुष्पमयेन, शरासनेन धनुषा, अति-पुष्पचापेन करणेन इत्यर्थः, नलस्य जेतारं जेत्रं, स्मरम् अश्रद्दधतीं स्मरःपुष्प-धनुषा नलं कथमपि जेतुं न शक्नुयादिति अविश्वसतीम्, अत एव तस्मै स्वभूषादृषदंशुभिः निजाभरणमणिकिरणैः, शिल्पः निर्माणं यस्य तादृशं, मित्यर्थः, बलद्विषः कार्मुकम् इन्द्रचापम्, अर्पयन्तीम्, इन्द्रधनुरिव नानावर्णा भरणरत्नशोभेति भावः । वीरधौरेयः नलः पुष्पचापदुर्जय इति मत्वा नल-स्वाभरणमणिकिरणकल्पितम् ऐन्द्रं धनुः दृढीयस्तस्मै कन्दर्पाय ददानामिव त्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ ९९ ॥

मय बाणोंसे कामदेवको नलका विजय कर सकनेवाला नहीं मानती हुई, अत एव णके पत्थरों (रत्नों) के किरणोंसे बने हुए इन्द्रधनुषको अर्पण करती हुई को राजसमूहने कटाक्षोंसे देखा) । [नल दुर्जेय योद्धा हैं, अत एव कोमलतम बाणोंसे कामदेव उनको नहीं जीत सकेगा और इस कारण वे बिना कामवशीभूत नहीं प्राप्त हो सकेंगे, अत एव उनको जीतनेके लिये दमयन्तीने अपने भूषणोंमें पत्थररूप रत्नोंकी किरणोंसे बने हुये होनेसे अत्यन्त दृढतम इन्द्रधनुष कामदेवके र्पण करती हुई-सी मालूम पड़ती है । दमयन्तीके भूषणोंमें जड़े गये रत्नोंकी न्द्रधनुषके समान रंग-बिरंगी थी] ॥ ९९ ॥

विभूषणेभ्यो वरमंशुकेषु ततो वरं सान्द्रमणिप्रभासु ।
सम्यक् पुनः क्वापि न राजकस्य पातुं दृशा धातृकृतावकाशाम् ॥१०

विभूषणेभ्य इति । पुनः किम्भूताम् ? विभूषणेभ्यो वरं प्रथमं विभूष आसज्य ततोऽधिकं यथा तथा, अंशुकेषु वस्त्रेषु, सक्तया इति शेषः, ततो वरमि सान्द्रमणिप्रभासु, सक्तया इति शेषः, राजकस्य राजसमूहस्य 'गोत्राच्च—' इत्या वुञ्प्रत्ययः, दृशा दृष्ट्या, सम्यक् पातुं पुनः स्थैर्येण भूषणादिकं पुनः ईक्षितुं, कुत्रापि, न धातृकृतावकाशां धात्रा विधात्रा, कृतोऽवकाशो दर्शनावकाशो य एवम्भूतां, दमयन्त्याः किमपि अङ्गं स्थिरतया द्रष्टुं राजकदृष्टेरवकाशो विध न विहितः इत्यर्थः, उत्तरोत्तरविषयाकृष्टा पूर्वपूर्वविस्मरणेन राजकदृष्टिर्न क्वापि मवस्थितेति भावः । अत्र विभूषणानामुत्तरोत्तरोत्कर्षद्वारेण राजकदृष्टेः क्रमेण वि णाद्यनेकाधारसम्बन्धोक्तेः सारालङ्कारः; 'उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारः' ॥ १०० ॥

भूषणोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ विभूषणोंमें, उन विभूषणोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ वस्त्रोंमें तथा वस्त्रोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ सघन मणिकान्तियोंमें आसक्त राजाओंकी दृष्टि कहीं भी अच्छी पान करने अर्थात् देखनेके लिये भाग्य (या ब्रह्मा) के द्वारा प्राप्त अवकाशवाली हुई । (उक्त ऐसी दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा) अथवा—'नारायणी' टी अनुसार 'अवरम्' पदच्छेद करके—विभूषणोंके बाद वस्त्रोंमें, उन वस्त्रोंके बाद स मणिकान्तियोंमें तथा फिर कहीं भी अर्थात् दमयन्तीके किसी अवयवको भी अच्छी तरह [जब कि दमयन्तीके श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर तथा श्रेष्ठतम विभूषण, वस्त्र तथा सघन मणिकान्तियोंमें किसीको भी क्षणमात्र स्थिर होकर राजा लोग अच्छी तरह नहीं देख सके तब उ शरीरको अच्छी तरह देखना तो बहुत दूरकी बात है । अथवा—विभूषण, वस्त्र, मणिका समूहसे आच्छादित दमयन्ती-शरीरको राजालोग नहीं देख सके । अथवा—विभूषणादि आच्छादित दमयन्ती-शरीरको यथावत् नहीं देख सकनेके कारण राजाओंकी उत्क उत्तरोत्तर बढ़ती गयी, आच्छादित वस्तुका देखनेके लिये उत्कण्ठाका बढ़ना स्वाभावि होता है] ॥ १०० ॥

प्राक् पुष्पवर्षैर्वियतः पतद्भिर्द्रष्टुं न दत्तामथ तद्द्विरेफैः ।
तद्भीतिभुग्नेन ततो मुखेन विधेरहो ! वाञ्छितविघ्नयत्नः ॥ १०१ ॥

प्रागिति । पुनः किम्भूताम् ? प्राक् प्रथमं, वियतः अम्बरात्, पतद्भिः पुष्पव दमयन्त्या रूपदर्शनेन तदुपरि सन्तुष्टदेवगणमुक्तकुसुमवर्षणैः, अथ अनन्तरं, तद्द्वि रेफैः तत्पुष्पाकृष्टभृङ्गैः, ततोऽनन्तरं, तद्भीतिभुग्नेन भृङ्गभयनम्रेण, मुखेन च द्रष्टुं दत्ताम् एतैः प्रतिबद्धदर्शनामित्यर्थः, राजकस्येति शेषः । तथा हि, विधेः दैवस्य वाञ्छितविघ्नयत्नः वाञ्छितार्थविघातव्यसनिता, अहो ! आश्चर्यरूपः, इत्यर्थान्त

कस्या राजदृष्टेः क्रमेण भैमीदर्शनप्रतिवन्धकपुष्पवृष्ट्याद्यनेकाधारसम्बन्धोर्येण सङ्करः ॥ १०१ ॥

(दमयन्तीके अतिशयित सौन्दर्यको देखकर सन्तुष्ट देवों द्वारा) आकाशसे की ष्टियोंसे, इसके बाद (उन पुष्पोंके गन्धसे आकृष्ट होकर) आनेवाले भ्रमरोंसे (भ्रमरोंके काटने) के भयसे फेरे (दूसरी ओर घुमाये) हुए मुखसे राजसमूहके ने दी गयी (दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा); खेद है कि दैव तमें विघ्न करनेका प्रयत्न किया करता है ॥ १०१ ॥

द्वरं स्यामिति राजकेन मनोरथातिथ्यमवापिताय ।
खीमुखायोत्सृजतीमपाङ्गात् कर्पूरकस्तूरिकयोः प्रवाहम् ॥ १०२ ॥

दिति । पुनः किम्भूताम् ? एतत् सखीमुखं, वरं स्याम् अस्माकम् एतन्मुति भैमीदृष्टिलाभः सेत्स्यति अतो राजत्वापेक्षया अहं तदात्मको वरं भवेयं, यां लिङ्' इति राजकेन राजसमूहेन, मनोरथस्य आतिथ्यम् अतिथित्वम् , पविषयताम् इति भावः, ब्राह्मणादित्वात् ष्यङ्प्रत्ययः । अवापिताय प्रापिताय, ताय अपाङ्गात् नेत्रप्रान्तात् , कर्पूरस्य कस्तूरिकायाश्च स्वार्थे कः, 'केऽणः' कारस्य ह्रस्वः, प्रवाहं श्वेतकृष्णकान्तिप्रवाहम् , उत्सृजतीं प्रवर्त्तयन्तीं, सखीकटाक्षैः वीक्षमाणामित्यर्थः । 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः । सितासितत्वेन निर्देशः, अत एव विषयनिगरणेन विषयिमात्रोपनिवन्धात् भेदरूपातिशयोक्त्यलङ्कारः ॥ १०२ ॥

दमयन्तीकी सखीका श्रेष्ठ मुख बन जाऊँ, ऐसा राज-समूहके द्वारा मनोरथके को प्राप्त कराये गये अर्थात् ऐसा चाहे गये सखीके मुखके लिए नेत्र-प्रान्तसे कर्पूर तूरीके प्रवाहको छोड़ती हुई अर्थात् उक्त प्रकारके सखी-मुखको देखती हुई तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा) । [दमयन्तीके सखियोंका मुख बने बिना मुझे के कटाक्षावलोकनका सुख नहीं मिल सकता, अत एव 'मैं दमयन्तीकी सखीका मुख ऐसी इच्छा राज-समूहने की, उस सखी-मुखको दमयन्ती श्वेत-नील कटाक्षसे थी, ऐसी दमयन्तीको राजसमूहने देखा] ॥ १०२ ॥

स्मितेच्छुदन्तच्छदकम्पकिञ्चिद्दिगम्बरीभूतरदांशुवृन्दैः ।
आनन्दितोर्वीन्द्रमुखारविन्दैर्मदं नुदन्तीं हृदि कौमुदीनाम् ॥ १०३ ॥

मतेति । पुनः किम्भूताम् ? आनन्दितानि मां प्रतीयं प्रसन्नेति बुद्ध्या हृष्टानि, -विकसितानि; उर्वीन्द्रमुखारविन्दानि राजमुखरूपपद्मानि यैस्तैः, अत एव च्छोः ईषद्धास्योद्युक्तयोः, दन्तच्छदयोः अधरौष्ठयोः, कम्पेन किञ्चिद्दिगम्बरीईषत्प्रकाशीभूतैः, यद्वा-दिशाम् अम्बरीभूतैः आच्छादनस्वरूपैः, दिग्व्यापिथैः, रदांशूनां दन्तकान्तीनां, वृन्दैः कौमुदीनां हृदि, स्थितमिति शेषः, मदं

गर्वं, तुदन्तीं खण्डयन्तीं, कौमुदीमधुरमन्दहासामित्यर्थः, कौमुद्यो हि पद्मवि
असमर्थाः, एतैः रदांशुवृन्दैस्तु नृपमुखपद्मानि विकासितानि इति भावः, व्यति
लङ्कारश्च ॥ १०३ ॥

राजाओंके मुखकमलको आनन्दित करनेवाले, मुस्कुरानेके इच्छुक ओष्ठद्वय (या
के हिलानेसे थोड़ा दिखलायी पड़नेवाले दाँतोंके किरणसमूहोंसे चाँदनीके हर्ष (पाठ
गर्व) को खण्डित करती हुई [दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा । अथवा—
पड़नेवाले दाँतरूप सूर्य-समूहोंसे । इस पक्षमें सूर्य-समूहद्वारा कमलोंको आनन्दित
तथा चाँदनीके हर्ष (या गर्व) को नष्ट करना उचित ही है ॥ चाँदनी से भी अधिक
मन्दहासवाली दमयन्ती थी] ॥ १०३ ॥

प्रत्यङ्गभूषाच्छमणिच्छलेन यल्लग्नतन्निश्चललोकनेत्राम् ।
हाराग्रजाग्रद्गरुडाश्मरश्मि-पीनाभनाभीकुहरान्धकाराम् ॥ १०४ ॥

प्रत्यङ्गेति । पुनः किम्भूताम् ? प्रत्यङ्गं प्रत्यवयवं, ये भूषाच्छमणयः अलङ्का
निर्मलरत्नानि, तेषां छलेन येषु अङ्गेषु लग्नानि तेषु अङ्गेषु निश्चलानि, हर्षपार
दिति भावः; खञ्जकुब्जवत् समासः, लोकनेत्राणि दर्शनोत्सुकजननेत्राणि यस्या
मिव; वस्तुतः नानाविधरत्नालङ्कारभूषितामिति भावः । अत्र दमयन्तीदर्शनोत्सु
नेत्राण्येवैतानि, न तु रत्नानीति सापह्नवोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या । पुनः ह
जाग्रतः प्रकाशमानस्य, गरुडाश्मनः गरुत्मद्रत्नस्य, रश्मिभिः पीनाभं सान्द्रप्रभं, न
कुहरान्धकारं यस्यास्ताम् । अत्र मरकतच्छायस्यान्धकारैः साम्योक्तेः सामान्याल

प्रत्येक अङ्गोंके भूषणोंके निर्मल रत्नोंके व्याजसे जहाँ पड़ी वहींपर निश्चल दर्शकनेत्रों
तथा मोतियोंके हारके अग्रभागमें देदीप्यमान गारुत्मत मणिकी आभासे परिपुष्ट नाभि
गुफाके अन्धकारवाली (दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा)। [दमयन्तीके प्र
अङ्गोंपर जहां दृष्टि पड़ती थी-वहीं निश्चल हो जाती थी, उसके प्रत्येक अङ्गके भूष
जड़े गये निर्मल रत्न ही मानो दर्शकोंके नेत्र हों ऐसा प्रतीत होता था, आशय यह है
दमयन्तीके प्रत्येक अङ्ग रत्नोंसे जड़े गये भूषणोंसे अलकृत थे, जो दर्शकोंके निश्चल ने
प्रतीत हो रहे थे । और हारके अग्रभागमें गारुत्मतमणिके द्वारा दमयन्तीकी गम्भीर ना
अन्धकार और अधिक बढ़ रहा था दमयन्तीकी नाभि अत्यन्त गहरी थी] ॥ १०४ ॥

तद्गौरसारस्मितविस्मितेन्दु-प्रभाशिरःकम्परुचोऽभिनेतुम् ।
विपाण्डुतामण्डितचामराली-नानामरालीकृतलास्यलीलाम् ॥ १०५

तदिति । पुनः किम्भूताम् ? तस्याः भैम्याः, गौरसारस्मितेन विशदोत्कृष्टम
हासेन, विस्मितायाः विस्मयाविष्टायाः, इन्दुप्रभायाः चन्द्रिकायाः, शिरःकम्परुचो
भिनेतुम्, अनुकर्त्तुमिव; इत्युत्प्रेक्षा; विपाण्डुतामण्डिता धावल्यशोभिताः, चा
राल्यः चामरपङ्क्तय एव, नाना मराल्यः हंस्यः, ताभिः कृता लास्यलीला नृत्यचे

निजमन्दहासजनितविस्मयकम्प्यमानचन्द्रिकाशिरःकम्पचारुचामरचयवी-
मित्यर्थः ॥ १०५ ॥

(दमयन्ती) के गौर वस्तुका सारभूत अर्थात् अत्यन्त गौरवर्ण स्मितसे आश्चर्यित
(उस स्मितकी प्रशंसार्थ) शिरःकम्पनकी शोभाको दिखलानेके लिये
सुशोभित चामर-समूहरूप अनेक हंसियों द्वारा की गयी है लास्य-लीला
विशेष) जिसकी ऐसी (दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा) [अत्यन्त
दमयन्ती-स्मितको देखकर चन्द्रिका उसकी प्रशंसाके लिये शिर हिला रही है,
अभिनय स्वच्छताभूषित चामर समूहरूप हंसियाँ नृत्य-विशेषसे जिसकी कर
ऐसी दमयन्तीको राजसमूहने देखा] ॥ १०५ ॥

तदङ्गभोगावलिगायनीनां मध्ये निरुक्तिक्रमकुण्ठितानाम्।
स्वयं धृतामप्सरसां प्रसादं ह्रियं हृदो मण्डनमर्पयन्तीम् ॥ १०६ ॥

ङ्गेति। पुनः किम्भूताम्? सैवाङ्गं काव्यार्थतया शरीरं यासां ताः तदङ्गाः
ता इत्यर्थः, 'शब्दादौ मूर्त्तिभिः ख्यातौ' इति लक्षणात्; तासां भोगावलीनां
विशेषाणां, गायन्त्यः गायिकाः, कर्त्तरि ल्युट्, ङीप्, तासां, मध्ये गानमध्ये,
क्रमेषु निष्कृष्टोच्चारणप्रकारेषु, कुण्ठितानां लुप्तप्रतिभानाम्, अप्सरसां स्वयं
हृदः स्वान्तस्य वक्षसश्च, मण्डनम् अलङ्कारभूतां, ह्रियं लज्जामेव, प्रसादं पारि-
कम्, अर्पयन्तीं प्रयच्छन्तीं, तद्दोषज्ञानेन ताः अपि हेलयन्तीमित्यर्थः, गाय-
स्वधृतवस्त्रालङ्कारादिकं प्रीत्या प्रयच्छन्तीम् इति भावः। तस्याः सौन्दर्यस्तुति-
सामर्थ्यादप्सरसोऽपि लज्जिता इति तात्पर्यम्। अत्र तु ह्रीदानमेव तद्दान-
क्षेत्रा ह्रिया अपि स्वयं धृतत्वादलङ्कारत्वात् तदायत्तत्वाच्चेति बोद्धव्यम् ॥ १०६ ॥

(दमयन्ती) के अङ्गोंकी भोगावली (चन्दन-कर्पूरादि) उसके प्रतिपादक
स्तुतिगायिकाओंके बीचमें निरुक्तिक्रममें कुण्ठित अर्थात् पूरा वर्णन करनेमें
अप्सराओंके लिये स्वयं धारण की हुई स्त्री-हृदयका भूषण लज्जाको प्रसाद देती
(दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा)। [दमयन्तीके शरीरके भोगावलीका
करती हुई मेनका आदि अप्सराएं उसका पूर्णतया वर्णन नहीं कर सकीं तो स्त्री-
भूषणभूत लज्जा—जिसे दमयन्तीने भी स्वयं स्त्री होनेसे धारण कर रखा था—को
प्सराओंके लिये प्रसादरूपमें दे रही थी, अर्थात् जिसके अङ्गोंकी भोगावली पूर्णतया
नहीं कर सकनेके कारण अप्सरा भी लज्जित होती थी, उस दमयन्तीको
हने देखा। लोकमें भी कोई स्तुतिपाठकोंके लिये अपने शरीरमें पहने हुए
दिको पारितोषिक रूपमें देता है] ॥ १०६ ॥

तारा रदानां वदनस्य चन्द्रं रुचा कचानाञ्च नभो जयन्तीम्।
शाकण्ठमक्ष्णोर्द्धितयं मधूनि महीभृतः कस्य न भोजयन्तीम्? ॥ १०७ ॥

तारा इति । पुनः किम्भूताम् ? रदानां दन्तानां, रुचा कान्त्या, ताराः नक्षत्र वदनस्य रुचा चन्द्रं, कचानां केशानां, रुचा नभश्च जयन्तीम् , अत एव कस्य भूतोऽक्ष्णोर्द्वितयं चक्षुर्द्वयं; मधूनि क्षौद्राणि, आकण्ठम् , आगलम् , अतितराम् न भोजयन्तीम् ? न पाययन्तीम् ? अपि तु सर्वस्यैवेत्यर्थः। नञर्थस्य नश 'सुप्सुपा' इति समासः। 'गतिबुद्धि' इत्यादिना अणिकर्त्तुरक्षिद्वितयस्य कर्म 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' इति परस्मैपदम् दमयन्तीरूपदर्शनेन राजनेत्राणाम् नेव तृप्तिर्जाता इति भावः । सकलराजलोकलोचनासेचनकमासीत् सा इति निष्क अत्रोत्तरवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गं, तच्च ताराद्युपमाभिः यंते, तस्य नभो जयन्तीं न भोजयन्तीमिति यमकेन संसृष्टिः ॥ १०७ ॥

दाँतोंकी कान्तिसे ताराओंको, मुखकी कान्तिसे चन्द्रको और बालोंकी का आकाशको जीतती हुई, किस राजाके दोनों नेत्रोंको कण्ठ तक अर्थात् भर पेट मधु नहीं कराती हुई अर्थात् सबको भरपेट भोजन कराती हुई (दमयन्तीको राज-स कटाक्षोंसे देखा) [अतिसुन्दर उसके रूपको देखकर सभी राजा अमृत भोजन किये समान पूर्णतया तृप्त हो गये] ॥ १०७ ॥

अलङ्कृताङ्गाद्भुतकेवलाङ्गीं स्तवाधिकाध्यक्षनिवेद्यलक्ष्मीम् ।
इमां विमानेन सभां विशन्तीं पपावपाङ्गैरथ राजराजिः ॥ १०८ ॥

कुलकम् ।

अलङ्कृतेति । पुनः किम्भूताम् ? अथ आह्वानानन्तरम् , अलङ्कृताङ्गे भूषिताङ्गेभ्यः, अद्भुतानि आश्चर्याणि, केवलानि अनलङ्कृतानि, अङ्गानि यस्या स्तवात् स्तुतेः, अधिकाः स्तोतुमशक्याः, अध्यक्षनिवेद्याः प्रत्यक्षगम्याः, लक्ष शोभाः यस्यास्ताम् , इति बहुवचनान्तोत्तरपदो बहुव्रीहिः, अन्यथा एकवचना लक्ष्मीशब्दस्य उरःप्रभृतिकत्वात् कप्रसङ्गः, शैषिकस्तु वैभाषिकः विमानेन नरवाह चतुरस्रयानेन, सभां विशन्तीम् , इमां भैमीं, राजराजिः नृपश्रेणी, अपाङ्गैः नेत्रप्रान्त पपौ अत्यादरेण सविलासमद्राक्षीदित्यर्थः ॥ १०८ ॥

इति कुलकम् ।

अलङ्कृत शरीरकी अपेक्षा आश्चर्यजनक अनलङ्कृत (भूषणरहित) शरीरवाली, प्रशं करनेकी अपेक्षा प्रत्यक्ष दर्शनीय शोभावाली पालकीसे सभामें प्रवेश करती हुई (दमयन्ती) को राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा ॥ १०८ ॥

आसीदसौ तत्र न कोऽपि भूपस्तन्मूर्त्तिरूपोद्भवदद्भुतस्य ।
उल्लेखुरङ्गानि मुदा न यस्य विनिद्ररोमाङ्कुरदन्तुराणि ॥ १०९ ॥

अथ तामद्भुतचेष्टां वर्णयति, आसीदिति । तत्र सभायाम् , असौ ईदृशः, भूप कोऽपि नासीत् , तस्याः भैम्याः, मूर्त्तिरूपेण अङ्गसौन्दर्येण, उद्भवन् अद्भुतः अद्भुतरस

वम्भूतस्य, यस्य भूपस्य, अङ्गानि मुदा हर्षेण, विनिद्रैः उदितैः, रोमाङ्कुरैः दन्तुराणि बिषमाणि सन्ति, न उल्लेसुः न उल्लसितानि, सर्वस्यापि अङ्गानि वेत्यर्थः ॥ १०९ ॥

सभामें ऐसा कोई राजा नहीं था, उस (दमयन्ती) के शरीरसौन्दर्यसे उत्पन्न होते र्यसे युक्त जिस राजाके शरीर हर्षसे उत्पन्न रोमाञ्चसे विषमित न हो गये हों। यंवरमण्डपमें दमयन्तीके शरीरके सौन्दर्यसे आश्चर्यित सभी राजाओंके शरीर कित हो गये] ॥ १०९ ॥

ङ्गुष्ठमूर्द्ध्ना च निपीडिताग्रा मध्येन भागेन च मध्यमायाः ।
आस्फोटि भैमीमवलोक्य तत्र न तर्जनी केन जनेन नाम ॥ ११० ॥

ङ्गुष्ठेति । तत्र सभायां, भैमीम् अवलोक्य अङ्गुष्ठस्य मूर्द्ध्ना अग्रेण, मध्यमायाः ङ्गुलेः, मध्येन भागेन च निपीडितम् अग्रं यस्याः सा तर्जनी केन नाम जनेन, टि ? न वादिता ? न अभाजि ? इति यावत् । स्फुट भेदन इति धातोः कात् कर्मणि लुङ्, सर्वेणापि अद्भुतानुभावस्फोटिका कृतैवेत्यर्थः ॥ ११० ॥

स्वयंवरसभामें दमयन्तीको देखकर किस आदमीने अङ्गुष्ठके अग्रभाग तथा मध्यमा- मध्यभागसे दबायी गयी तर्जनीको नहीं चटकाया अर्थात् सभी आदमीने चटकाया । तिशायी आश्चर्यजनक पदार्थको देखने पर उक्त प्रकारसे तर्जनीको प्रायः सभी टकाते हैं] ११० ॥

अस्मिन् समाजे मनुजेश्वराणां तां खञ्जनाक्षीमवलोक्य केन ।
पुनः पुनर्लोलितमौलिना न भ्रुवोरुदक्षेपितरां द्वयी वा ? ॥ १११ ॥

स्मिन्निति । अस्मिन् समाजे सभायां, खञ्जनस्य इव अक्षिणी यस्या दृशौ, तां , अवलोक्य लोलितमौलिना आश्चर्यात् कम्पितकिरीटेन, केन वा मनुजेश्वरेण भ्रुवोर्द्वयी भ्रूद्वयं, पुनः पुनर्न उदक्षेपितराम् ? सर्वेण अतिशयेन उत्क्षिप्ता ; क्षिपेः कर्मणि लुङि तिङन्तात् घात् आमुप्रत्ययः । अत्र शिरःकम्पभ्रूवि- द्भुतानुभावावुक्तौ ॥ १११ ॥

स (राजाओंके) समाजमें खञ्जनके समान नेत्रवाली उस (दमयन्ती) को देखकर प्रशंसार्थ) वारवार शिर हिलाते हुए किस राजाने भ्रूद्वयको नहीं ऊपर किया दमयन्तीको देखकर उपस्थित राजसमाजमें-से सभी राजाने आश्चर्यसे शिरः कम्पन था भ्रूद्वयका उत्क्षेपण भी किया ॥ १११ ॥

स्वयंवरस्याजिरमाजिहानां विभाव्य भैमीमथ भूमिनाथैः ।
इदं मुदा विह्वलचित्तभावादवादि खण्डाक्षरजिह्मजिह्वम् ॥ ११२ ॥

थ राज्ञां वागारम्भाः प्रवृत्ता इत्याह, स्वयंवरस्येति । अथ अनन्तरं, स्वयंव- रस्य अजिरं चत्वरप्रदेशम्, आजिहानां प्राप्नुवन्तीं, हाङः कर्त्तरि शानच्, भैमीं विभाव्य

निर्वर्ण्य, भूमिनाथैः राजभिः, मुदा हर्षेण हेतुना, विह्वलचित्तभावात् व्यग्रचित्त ह्वेतोः, इदं वक्ष्यमाणं, खण्डाक्षरम्, अर्द्धोक्तवर्णम् अत एव जिह्मजिह्वं कुण्ठजिह्वं य तथा, अवादि उक्तम् । कर्मणि लुङ् ॥ ११२ ॥

इसके बाद स्वयंवराङ्गनमें आयी हुई दमयन्तीको जानकर राजाओंने चित्तकी व्याकुल पूर्णतया नहीं कहनेसे कुटिल जिह्वायुक्त हो हर्षसे यह कहा—[दमयन्तीके स्वयंवरमें ही कामपरवश राजालोग पूर्णतया कुछ कहनेमें अशक्त होनेपर भी हर्षसे कहने लगे]॥१

रम्भादिलोभात् कृतकर्मभिर्भूः शून्यैव मा भूत् सुरभूमिपान्थैः ।
इत्येतयाऽलोपि दिवोऽपि पुंसां वैमत्यमत्यप्सरसा रसायाम् ॥११३

अथ विंशतिश्लोक्या वागारम्भानेव वर्णयति, रम्भेत्यादि । रम्भादिषु अप्सर लोभात् कृतं कर्म यागादि यैस्तैः, सुरभूमिपान्थैः स्वर्लोकपथिकैः, 'पथो नित्यम्' इति नाप्रत्ययः, भूरेव शून्या मा भूदिति हेतोः, अतिक्रान्ताः सौन्दर्यादि अप्सरसो यया सा तया अत्यप्सरसा, एतया भैम्या, दिवः पुंसामपि देवानाम् अ रसायां भूलोके, वैमत्यं वैराग्यम्, अलोपि लुप्तम् इव, इत्युत्प्रेक्षा व्यञ्ज प्रयोगात् गम्या । लुपेः कर्मणि लुङ्, अत्यप्सरसः भैम्याः सौन्दर्यात् स्वर्लोकम् अ शेते भूलोकमिति भावः । अत्रान्त्यपादे 'मत्यमत्य–रसारसे'ति व्यञ्जनयुग्मावृ छेकानुप्रासः, अन्यत्र वृत्त्यनुप्रासः, तयोः पूर्वोक्तोत्प्रेक्षायाश्च संसृष्टिः ॥ ११३ ॥

'रम्भा आदि (अप्सराओं को पाने) के लोभसे कर्म (अग्निष्टोमादि यज्ञ) करने स्वर्गके पथिकों (स्वर्गाभिलाषिओं) से भूमि (मृत्युलोक) ही सूना न हो जाय' इस वा अप्सराओंको अतिक्रमण करनेवाली अर्थात् अप्सराओंसे अधिक सुन्दरी इस (दमयन्त ने स्वर्गके पुरुषों (इन्द्रादि) के भूमि (मृत्युलोक) में विपरीत विचार (अनिच्छा) नष्ट कर दिया है । [स्वर्गमें भी ऐसी सुन्दरियोंके न होनेसे इन्द्रादि भी स्वर्गको छोड़ भूमिको स्वर्गसे उत्तम मानकर यहां आये हैं और रम्भादि अप्सराओंके लोभसे ज्योति मादि यज्ञकर स्वर्ग पानेके इच्छुकोंसे भूमि सूनी नहीं हुई है] ॥ ११३ ॥

रूपं यदाकर्ण्य जनाननेभ्यस्तत्तद्दिगन्ताद् वयमागमाम ।
सौन्दर्यसारादनुभूयमानादस्यास्तदस्मात् बहुना कनीयः ॥ ११४ ॥

रूपमिति । वयं जनाननेभ्यः यद्रूपं सौन्दर्यम्, आकर्ण्य तच्च तच्च असौ दिगन्त वीप्सायां द्विर्भावः, तस्मात् तस्मात् दिगन्तात् प्राच्यादिदिक्प्रान्तात्, आगमा आगताः स्मः, गमेर्लुङि चेरङादेशः, तत् रूपम्, अस्मादनुभूयमानात् प्रत्यक्षपरिदृश्य मानात्, सौन्दर्यसारात् 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी, बहुना भूम्ना प्रथिम्ना, भाव प्रधानो निर्देशः कनीयः अल्पीयः, यादृशं रूपं लोकमुखात् श्रुतं तदपेक्षयाऽधिकरूप लावण्यं दृश्यते इति भावः । 'युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्' इति विकल्पात् कनादेश

हम लोगोंके मुखसे जिस रूपको सुनकर उन उन दिशाओंके अन्तिम भागोंसे आये हैं

न्तीका वह रूप प्रत्यक्ष अनुभव किये जाते हुए इस सौन्दर्यसारसे अधिक कम है। लोगोंसे प्रशंसित वस्तु प्रायः सुन्दर कम होती है, किन्तु इस दमयन्तीके रूपकी जैसी प्रशंसा की थी, उसकी अपेक्षा इसके रूपको हम अधिक श्रेष्ठ देख रहे हैं, यह की बात है।]

रसस्य शृङ्गार इति श्रुतस्य क्व नाम जागर्त्ति महानुदन्वान्।
कस्मादुदस्थादियमन्यथा श्रीर्लावण्यवैदग्ध्यनिधिः पयोधेः ? ॥११५॥

सस्येति। शृङ्गार इति श्रुतस्य प्रसिद्धस्य रसस्य शृङ्गाररसस्य सम्बन्धे इत्यर्थः, उदन्वान् उदधिः, 'उदन्वानुदधौ' इति निपातनात् साधुः, क्व नाम जागर्त्ति किल प्रदेशे विद्यते एवेत्युत्प्रेक्षा। कुतः ? अन्यथा शृङ्गारार्णवाभावे लावण्ययोः सौन्दर्यचातुर्ययोः, निधिरियं पुरोवर्त्तिनी भैमीरूपा, [श्रीर्लक्ष्मीः, कस्मात् उदस्थात् ? श्रीः समुद्रात् उत्पन्नेति प्रसिद्धिः, इयन्तु तदपेक्षयाऽधिकसुन्दरी, इयं भैमीरूपा श्रीः शृङ्गाररससमुद्रादेवोत्पन्नेति तादृशसमुद्रः कुत्रापि देशे वर्त्तते भावः। अत्रेयं श्रीरिति विषयनिगरणेन विषयिमात्रनिबन्धनाद्भेदेऽप्यभेदात् शयोक्तिरेतन्मूला च पूर्वोक्तशृङ्गाररससागरसद्भावोत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन ः॥ ११५ ॥

(नव रसोंमें) 'शृङ्गार' ऐसे नामसे सुने गये रसका विशाल समुद्र कहां है ? (कहीं हीं अवश्य ही है), नहीं तो सौन्दर्यकी चातुर्यकी निधि यह (दमयन्तीरूपिणी) लक्ष्मी समुद्रसे निकली है ?। [जिस प्रकार समुद्रसे लक्ष्मीके निकलनेका वर्णन पुराणोंमें है, प्रकार श्रीतुल्या इस परम सुन्दरी दमयन्तीको देखकर शृङ्गारके विशाल समुद्रके कहीं हीं होनेका कार्यकारणभावसे अनुमान होता है। दमयन्ती पुराणवर्णित श्रीसे भी सुन्दरी है]॥ ११५ ॥

साक्षात् सुधांशुर्मुखमेव भैम्या दिवः स्फुटं लाक्षणिकः शशाङ्कः।
एतद्भ्रुवौ मुख्यमनङ्गचापं पुष्पं पुनस्तद्गुणमात्रवृत्त्या ॥ ११६ ॥

साक्षादिति। भैम्याः मुखमेव साक्षात् मुख्यः, उपमानत्वेन प्रसिद्धः इति यावत्, शुः भैमीमुखमेव ओष्ठरूपसुधासम्बन्धात् मुख्यवृत्त्या सुधांशुपदाभिधेयमेवेत्यर्थः, अन्तरिक्षस्य, शशाङ्कः चन्द्रस्तु, लाक्षणिको लक्षणागम्यो लाञ्छनकश्च, शैषिकष्ठक्, णावृत्त्या सुधांशुपदेन बोध्यः, न तु अभिधावृत्त्येत्यर्थः, अभिधेयार्थापेक्षया र्थस्य जघन्यत्वेन एतस्या मुखचन्द्रापेक्षया गगनस्थचन्द्रस्य जघन्यत्वमिति ; स्फुटमित्युत्प्रेक्षा। तथा एतस्याः भ्रुवावेव मुख्यं प्रधानं, मुखवृत्त्या अभिधेयर्थः, अमोघत्वादिति भावः, 'दिगादिभ्यो यत्' इति भावार्थे यत्प्रत्ययः, अथ च भवं मुख्यं, भ्रूरूपमिति यावत्, अनङ्गचापं कामधनुः। पुष्पं पुनः यत् पुष्पम् चापत्वेन व्यवह्रियते तत्तु, तयोर्भ्रुवोः, यो गुणः उद्दीपकत्वादिः, तन्मात्रवृत्त्या

तत्सदृशगुणवत्त्वादित्यर्थः, पुष्पेऽनङ्गचापत्वव्यवहारस्तु गौण एवेति भावः। उपम अत्रापि स्फुटमित्यनुषङ्गादुत्प्रेक्षेति द्वयोर्निरपेक्षत्वात् संसृष्टिः ॥ ११६ ॥

दमयन्तीका मुख ही साक्षात् (निकटस्थ होनेसे प्रत्यक्ष, या हमलोगोंका भोग्य, मुख्य उपमानभूत) सुधांशु अर्थात् चन्द्रमा (या अमृत पूर्ण चन्द्रमा) है; आकाशका तो लक्षणासे बोध्य शशाङ्क (चन्द्रमा, पक्षा०—सकलङ्क) है। इस (दमयन्ती) के दो भौंहें मुख्य (प्रधान, मुखमें होनेवाला, या अभिधासे बोध्य) कामधनुष है; पुष्प तो (भ्रूद्वय) के गुण—मात्र (केवल कामोद्दीपकत्वादि गुण, या भ्रूद्वयगत वक्रत्व और उन्मादकत्व रूप दो गुणोंमें-से केवल उन्मादकत्व गुण, केवल मौर्वी अर्थात् धनुषकी डोरी हो या गौणी लक्षणासे—अभिधा शक्तिसे नहीं) कामधनुष है। [दमयन्तीका मुख गोलाकार, निष्कलङ्क, अधरामृतसे संयुक्त, उन्मादक आदि अनेक गुणोंसे युक्त हो साक्षात् अर्थात् प्रत्यक्ष दृश्यमान (या समीपस्थ हम कामिजनोंसे उपभोग्य) सुध (अमृतपूर्ण कान्तिवाला अभिधावृत्तिसे बोध्य चन्द्रमा) है, स्वर्गका मुख चन्द्रमा तो नि रूपसे लाक्षणिक (लक्षणा वृत्तिसे बोध्य अर्थात् अवास्तविक या कलङ्कयुक्त) है; अत दमयन्तीमुख ही प्रधान तथा उपमानभूत चन्द्रमा है और आकाशस्थ चन्द्रमा अप्रध उपमेयभूत है। इसी प्रकार दमयन्ती के दोनों भौंहें मुख्य अर्थात् अभिधावृत्तिसे बो होनेसे प्रधान (या मुखभव अर्थात् मुखमें होनेवाले) कामधनुष हैं और पुष्पको कामधनुष कहा जाता है वह तो उन दोनों भौंहोंमें जो गुण (टेढ़ापन तथा मादकपन डोरी होना), उसके व्यवहारसे कहा जाता है, अतः गौणीवृत्तिसे है, लक्षणावृत्ति तथा गौ वृत्तिकी अपेक्षा अभिधावृत्तिसे बोध्य पदार्थकी प्रधानता होनेसे दमयन्तीके दोनों भौंहें मुख्य कामधनुष है पुष्प तो गौणीवृत्तिसे बोध्य होनेसे अप्रधान कामधनुष है या उस डोरी होनेसे कामधनुष है। विशेष अर्थकी कल्पना 'प्रकाश' आदि संस्कृत टीकाओंमें दे लेनी चाहिये, विस्तारभय तथा क्लिष्टकल्पनामात्र होनेसे उन्हें यहां नहीं लिखा गया है]

लक्ष्ये धृतं कुण्डलिके सुदत्या ताटङ्कयुग्मं स्मरधन्विने किम् ? ।
सव्यापसव्यं विशिखा विसृष्टास्तेनैतयोर्यान्ति किमन्तरेण ?॥ ११७

लक्ष्य इति। सुदत्या भैम्या, ताटङ्कयोः कर्णभूषणयोः, युग्मं स्मर एव धन्वी ब्राह्मणादित्वादिनिः, तस्मै, तादर्थ्ये चतुर्थी, लक्ष्ये शरव्यभूते, कुण्डल्यावेव कुण्डलि चक्रे, धृतं किम् ? ताटङ्कयुग्ममेव शरव्यचक्रत्वेन धृतवती किम् ? इत्युत्प्रेक्षा। अ एव तेन स्मरधन्विना, सव्यम् अपसव्यञ्च यथा तथा विसृष्टाः विमुक्ताः, विशिखा बाणाः, एतयोः शरव्यचक्रयोः, अन्तरेण यान्ति प्रसरन्ति किम् ? इत्युत्प्रेक्षा सापे त्वात् सङ्करः। सव्यसाचिनो धानुष्काः शरव्यद्वये शरान् मुञ्चन्ति इति प्रसिद्धिः। भ्रूचापयोजिताः कटाक्षबाणाः कर्णताटङ्ककुण्डलाभ्यन्तरेण निर्यान्तीति भावः ॥११७॥

सुन्दर दाँतोंवाली दमयन्तीने दो ताटङ्क (कर्णभूषण-विशेष) का रूप, कामदेवरूपी

लिये लक्ष्यभूत दो कुण्डलोंको धारण किया है क्या ?, उस (कामदेव) से यें के क्रमसे छोड़े गये वाण इन दोनों (कुण्डलों) के बीचसे (पाठा०—बीचमें लते हैं। [लोकमें भी कुशल धनुर्धारी दहने-वांयें—दोनों ओरसे वाण छोड़ते नके वाण कानोंके कुण्डलके बीचसे निकल जाते हैं, जिससे उनका लक्ष्यवेधमें होना प्रमाणित होता है, ऐसा ही यहां कामदेवको कुशल धनुर्धारी कहा गया है]॥

नोत्यकीर्त्तिं कुसुमाशुगस्य सैषा बतेन्दीवरकर्णपूरौ ।
तः श्रवःकुण्डलिकाऽपराद्ध-शरं खलः ख्यापयिता तमाभ्याम् ॥११८॥

तीति । सैषा भैमी, इन्दीवरकर्णपूरावेव तद्रूपामित्यर्थः, कुसुमाशुगस्य स्य अपकीर्त्तिम्, तनोति ताभ्यां तस्याकीर्त्तिम् जनयतीत्यर्थः; आयुर्घृतमितिवत् णयोरभेदोपचारः, कारणेन्दीवरगुणादकीर्त्तिश्च कालिमेति भावः; बतेति खेदे। कारणम् ? तदाह—यतः खलः कश्चिद्दोषान्वेषी दुर्जनः, आभ्यां कामशराभ्याम् कर्णपूराभ्याम्, इमावेव निदर्श्येत्यर्थः, ल्यब्लोपे पञ्चमी, तं कुसुमशरं, कर्णयोः, कुण्डलिके ताटङ्करूपे लक्ष्ये चक्रे इत्यर्थः, ताभ्याम्, अपराद्धशरं लोत्पलरूपसायकम्, 'अपराद्धपृषत्कोऽसौ लक्ष्याद् यश्च्युतसायकः' इत्यमरः, ता ख्यापयिष्यति, कर्त्तरि लुट्, इन्दीवरयोरपि कामशरत्वात् कुण्डलिका- लग्नत्वाच्च एतद्दृष्टान्तेनैवान्यत्रापराद्धपृषत्कदोषोद्घाटनसौकर्यात्तयोरकी- णत्वोत्प्रेक्षेत्यर्थः ॥ ११८ ॥

दमयन्ती नील कमलोंके दो कर्णभूषण-रूप कामदेव की अपकीर्ति फैलाती है है; क्यों कि दुष्ट जन इन (दो नीलकमलोंके कर्णभूषणों) के द्वारा कानके रूप लक्ष्यको वेध नहीं करने वाले उस (कामदेव) को प्रसिद्ध करेंगे अर्थात् कहेंगे। धनुर्धारीके वाण कानके कुण्डलोंके बीचसे निकल जाते हैं, यह पूर्व श्लोकमें चुका है। यहां पर यह कहा जाता है कि दमयन्तीने दो नीलकमलोंके कर्ण- को धारण किये हैं, ये उनको दुष्ट लोग 'कामदेवके द्वारा छोड़े गये नील कमल रूप वाण दमयन्तीके कर्णकुण्डलोंके बीचसे नहीं निकलकर लक्ष्यभ्रष्ट होकर (ठीक नहीं मारकर) कानपर ही रुक गये हैं, अतएव यह कामदेव लक्ष्यवेधमें निपुण ' ऐसी कामदेव की अपकीर्ति (बदनामी) करेंगे। नीलकमलोंको कामदेवके वाणों मय होनेसे कामवाण तथा अपकीर्तिके काली होनेसे उनका अपकीर्ति मानना ठीक दमयन्तीके नीलकमलरूप कर्णपूरोंको देखकर काम वृद्धि होती है] ॥ ११८ ॥

रजःपदं षट्पदकीटजुष्टं हित्वाऽऽत्मनः पुष्पमयं पुराणम् ।
अथात्मभूराद्रियतां स भैम्या भ्रूयुग्ममन्तर्धृतमुष्टि चापम् ॥ ११९ ॥

ज इति। अथ आत्मभूः स कामः, रजसां पदं स्थानं, परागाश्रयं काष्ठचूर्णाश्र- र्थः, षट्पदैरेव कीटैः क्रिमिभिः, जुष्टं सेवितं,—घुणादिसेवितञ्चेत्यर्थः, पुराणं

जीर्णं, पुष्पमयमात्मनश्चापं हित्वा त्यक्त्वा, अन्तर्मध्ये, धृतमुष्टि मुष्टिपिहितत्वाददृ
मध्यमित्यर्थः, भैम्या भ्रूयुग्मं भ्रूद्वयरूपं चापमेव, आद्रियताम् अङ्गीकरोतु, अमो
त्वात् नूतनत्वाच्चेति भावः ॥ ११९ ॥

आज वह (प्रसिद्ध) कामदेव रज (पुष्पपराग, पक्षा०—घुनी हुई लकड़ी की धू
का स्थान, भ्रमररूप कीड़े अर्थात् घुनसे सेवित, पुष्पमय अर्थात् अतिशय कोमल (अदृ
पुराने अपने धनुषको छोड़कर दमयन्तीके भ्रूद्वयरूप बीचमें मूठ्ठीमें पकड़ा गया (अत
बीचमें अदृश्य) चाप का आदर करे। [पुरानी एवं घुन लगी हुई निर्बल वस्तुको छोड़
नवीन वस्तुका आदर करना कामदेवके लिये उचित ही है] ॥ ११९ ॥

पद्मान् हिमे प्रावृषि खञ्जरीटान् क्षिप्नुर्यमादाय विधिः क्वचित् तान्
सारेण तेन प्रतिवर्षमुच्चैः पुष्णाति दृष्टिद्वयमेतदीयम् ॥ १२० ॥

पद्मानिति । विधिः स्रष्टा, यं सारं, पद्मगतमुत्कृष्टांशं तथा खञ्जरीटगतमुत्कृ
शञ्चेत्यर्थः, आदाय तान्निःसारान्, पद्मान् हिमे शिशिरकाले, तथा खञ्जरीटा
खञ्जनपक्षिणः, प्रावृषि वर्षर्त्तौ, क्वचित् क्वापि, क्षिप्नुः प्रक्षेपणशीलः सन्, क्षिप्तवा
नित्यर्थः, 'त्रसिगृधि' इत्यादिना क्नुप्रत्ययः, 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधा
द्वितीया, तेन सारेण प्रतिवर्षं प्रतिवत्सरम्, एतदीयं दृष्टिद्वयम् उच्चैः पुष्णातीत्
त्प्रेक्षा; अन्यथा कथमीदृशी शोभेति भावः ॥ १२० ॥

ब्रह्माने (कमलपुष्प तथा खञ्जरीट पक्षीसे) जिस सारको लेकर कमलोंको हेमन्
कालमें तथा खञ्जरीटों को वर्षाकालमें कहीं (अदृश्य स्थानमें) फेंक दिया; उसी सारसे इ
(दमयन्ती) के दोनों नेत्रोंको (वह ब्रह्मा) प्रतिवर्ष अधिक पुष्ट (सुशोभित) करते हैं
[दमयन्तीके नेत्र कमल तथा खञ्जरीटसे भी सुन्दर हैं] ॥ १२० ॥

एतद्दृशोरम्बुरुहैर्विशेषं भृङ्गौ जनः पृच्छतु तद्गुणज्ञौ ।
इतीव धात्राऽकृत तारकालि-स्त्रीपुंसमाध्यस्थ्यमिहाक्षियुग्मे ॥ १२१ ॥

एतदिति । जनः उभयतारतम्यजिज्ञासुःलोकः, एतद्दृशोः भैमीदृष्ट्योः, अम्बुरुहैः
सह विशेषं तारतम्यं, तद्गुणज्ञौ अम्बुरुह–नेत्ररसज्ञौ, भृङ्गौ भृङ्गी च भृङ्गश्च तौ
पृच्छतु पृच्छेत्, दुहादित्वात् द्विकर्मकत्वम्, इतीव इति मत्वेव, धात्रा इह एतदीये
अक्षियुग्मे तारके कनीनिके एव, अलिस्त्रीपुंसौ अलिदम्पती, अचतुरादिना समासा
न्तनिपातः, तयोर्माध्यस्थ्यं पद्मानि उत्कृष्टानि उत एतन्नेत्रे उत्कृष्टे इति लोकानां
संशये अकूटसाक्षित्वम्, अक्षिमध्यवर्त्तित्वञ्च, अकृत कृतवान्, करोतेः कर्त्तरि लङ्
तङि 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सकारलोपः, विवादपदतत्त्वज्ञो मध्यस्थश्च साक्षी संशयच्छेत्ता
च भवति; तथा चालिदम्पती पद्मं विहायात्राधिष्ठानेन पद्मापेक्षया एतन्नेत्रयोः रस
णीयत्वं व्यञ्जयतः, तस्मात् एतन्नेत्रे पद्मापेक्षया मनोहरे भ्रमरवन्नीलकनीनिकाविशिष्टे

वः। भैमीदृगम्बुरुहतारतम्यकथनाय धात्रा स्थापितमलिमिथुनमिव भाति कायुग्ममित्युत्प्रेक्षा ॥ १२१ ॥

कमलों की अपेक्षा इस (दमयन्ती) के नेत्रों की विशेषताको उसके गुणोंको जानने रदम्पतीसे पूछें' मानों इसी लिये ब्रह्माने तारका (नेत्रोंकी पुतलियां) रूप भ्रमर-(भ्रमरी-भ्रमर) की मध्यस्थता (मध्यमें ठहरना, पक्षा०—साक्षी बनना) को इस किया। [जो जिसके गुणको जानता है तथा मध्यस्थ अर्थात् किसी का पक्षपात नेवाला होता है, वही उसके गुणको ठीक-ठीक बतला सकता है, दमयन्तीके नेत्र लियां नहीं हैं, किन्तु वह भ्रमरमिथुन है और इस भ्रमरमिथुनने हीन गुणवाले लको छोड़कर उत्तम गुणवाले इन नेत्रों का आश्रय किया है, इसीसे स्पष्ट है कि श्रेष्ठ हैं या दमयन्तीके नेत्र?। दमयन्तीके नेत्र नीलकमलसे भी अधिक सुन्दर हैं]॥

व्यधत्त सौधौ रतिकामयोस्तद्-भक्तं वयोऽस्या हृदि वासभाजोः।
तदग्रजाग्रत्पृथुशातकुम्भ-कुम्भौ न सम्भावयति स्तनौ कः? ॥१२२॥

धत्तेति। तयोः रतिकामयोः, भक्तं विधेयं, वयः यौवनं कर्तृ, अस्याः भैम्याः, वासभाजोः निवसतोः, रतिकामयोः, कृते इति शेषः, सौधौ प्रासादौ, व्यधत्त अन्यथा तयोस्तत्र निवासायोग्यत्वमिति भावः; यस्मात् हेतोः को जनः, अस्या इति पूर्वानुषङ्गः, तयोः सौधयोः, अग्रे जाग्रतौ प्रकाशमानौ, पृथू पी-व, शातकुम्भकुम्भौ कनककलशौ, न सम्भावयति? न वितर्कयति? सर्वोऽप्ये-न्यत एवेत्यर्थः ॥ १२२ ॥

स (दमयन्ती) के हृदयमें निवास करनेवाले रति तथा कामदेवके भक्त युवावस्थाने ल बना दिये हैं, (अत एव) कौन मनुष्य उन (दोनों महलों) के ऊपर प्रकाशमान दो सुवर्ण कलश (दमयन्तीके) दोनों स्तनोंको नहीं मानता? अर्थात् सभी मनुष्य रति-कामके महलोंके ऊपर शोभमान दो विशाल सुवर्ण कलशोंके समान दमयन्तीके स्तनोंको मानते हैं। [दमयन्ती सुवर्णकलशके समान गौर वर्ण तथा विशाल स्तनोंवाली सर्वदा रति-कामदेवसे पूर्ण है]॥ १२२॥

स्या भुजाभ्यां विजितात् बिसात् किं पृथक् करोऽगृह्यत तत्प्रसूनम्?।
च्यते तन्न गृहं श्रियः कैर्न गीयते वा कर एव लोकैः? ॥ १२३ ॥

अस्या इति। अस्याः, भैम्याः, भुजाभ्यां विजेतृभ्यामिति भावः, विजितात् सात् मृणालात्, पृथक् प्रत्येकमेव, तत्प्रसूनं बिसप्रसूनं, पद्ममेवेत्यर्थः, करो बलि-श्च, अगृह्यत किम्? गृहीतं किम्? इत्युत्प्रेक्षा; 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्य-जेतुर्जितात् करग्रहणमेव तत्करस्य पद्मत्वञ्चोचितमिति भावः। तथा हि, इहा-भुजयोः, तत् करत्वेन गृहीतं पद्मं, कैर्लोकैर्जनैः, श्रियो लक्ष्म्याः शोभायाश्च, आलयः, नेच्यते? वा अथवा, कर एव करशब्देनैव, न गीयते? नोच्यते?

सर्वैरपि तथा कीर्त्त्यते इत्यर्थः। एतद्धस्तस्य श्रीगृहत्वात् पद्मत्वं करत्वप्रसिद्धेर्विसा कत्वेन ग्रहणं सिद्धमित्युत्प्रेक्षा युक्ता ॥ १२३ ॥

इस (दमयन्तीके) बाहुओंने पराजित मृणाल (कमलनाल) से उसके पुष्प अथ कमलको अलग कर (दण्डरूपमें राजग्राह्य भाग, पक्षा०-हाथ) लिया है क्या? (क्योंकि इन बाहुओंमें शोभाका स्थान (पक्षा०—लक्ष्मीका निवास स्थान) वह (कमलपुष्प) न देखते हैं? और हाथ (पक्षा०—दण्डरूपमें ग्राह्य राजग्राह्य भाग) नहीं कहते? अथ सभी लोग वैसा देखते तथा कहते हैं। [विजयी का पराजितसे कर लेना राजनीतिके अ कूल एवं लोकप्रसिद्ध है। दमयन्तीके बाहुओंने कमलनालको पराजित कर उसके पु (कमल) को कररूपमें ग्रहण किया, इसी कारण दमयन्तीके बाहुओं को लोग लक्ष्मीका (पक्षा०—शोभाका स्थान) कमलके समान देखते तथा उन्हें 'कर' लेनेसे 'कर' अर्थात् बा (हाथ) कहते हैं। दमयन्तीके बाहु श्रीगृह (लक्ष्मीका घर, पक्षा०—शोभाका स्थान) कमलका श्रीगृह होना लोकप्रसिद्ध है, तथा पराजित कमलनालसे 'कर' (राजग्राह्य भाग लेनेसे उन दमयन्तीके बाहुओंको 'कर' (बाहु=हाथ) कहा जाना भी उचित ही है]॥

छद्मैव तच्छम्बरजं विसिन्यास्तत्पद्ममस्यास्तु भुजाग्रसद्म ।
उत्कण्टकादुद्गमनेन नालादुत्कण्टकं शातशिखैर्नखैर्यत् ॥ १२४ ॥

छद्मैवेति । विसिन्याः कमलिन्याः सम्बन्धि, तत् पद्मं, शम्बरजं शम्बरात् जला जातं, छद्मैवालीकमेव, अथ च शम्बरदनुजजातं, छद्मैव मायैव, न तु पारमार्थिकमि त्यर्थः, 'दैत्ये ना शम्बरोऽम्बुनि' इति वैजयन्ती, तु किन्तु, अस्याः भैम्याः, भुजा सद्म स्थानं यस्य तादृशं, तत् पद्मं पारमार्थिकं पद्ममित्यर्थः; कुतः? यत् यस्मात् उत्कण्टकात् उद्गताः कण्टकाः सूचयः पुलकाश्च यस्य तस्मात्, नालात् पद्मदण्डात् भुजदण्डाच्च, उद्गमनेन प्रादुर्भावेण हेतुना, शातशिखैः तीक्ष्णाग्रैः, नखैः उत्कण्टकम्, एतत्पाणिपद्ममिति शेषः; विसपद्मन्तु उत्कण्टकनालादुद्धृतमपि नोत्कण्टकं पद्मे कण्ट कविरहात्, किन्तु भैमीपाणिपद्ममेव प्रकृतपद्मं सकण्टकत्वा , यतः कारणगुणा कार्यगुणमारभन्ते इति शास्त्रात् सकण्टकनालकार्यस्य सकण्टकत्वेन भवितव्यमिति भावः। भैमीपाणिपद्मस्य प्रसिद्धपद्मव्यतिरेकोक्त्या व्यतिरेकालङ्कारः ॥ १२४ ॥

पद्मिनीके कमल शम्बरजात (पानीमें उत्पन्न, पक्षा०—शम्बरनामक मायावी दैत्यकी की हुई) माया ही है और इस दमयन्तीके भुजाग्रमें स्थित कमल वास्तविक कमल है; क्योंकि कण्टक युक्त कमलनाल (पक्षा०—रोमाञ्चयुक्त भुजासे निकलनेके कारणसे तीक्ष्णाग्र नखों (तेज अग्र भागवाले नखोंके न होनेसे) भुजाग्रस्थित कमल उत्कण्टक (कांटोंसे युक्त, पक्षा०—रोमाञ्चसे युक्त) है और कमल पुष्प कण्टकयुक्त नहीं है, किन्तु कण्टकरहित है। [कारणानुसार कार्योत्पत्ति होनेसे कारणभूत कण्टकयुक्त कमलनालसे कण्टकयुक्त कमलपुष्प उत्पन्न होना उचित था, किन्तु वैसा नहीं होनेसे वह अवास्तविक कमल है और कण्टकयुक्त अर्थात् रोमाञ्चयुक्त दमयन्ती भुजासे उत्पन्न दमयन्ती भुजाग्रगृहवासी कमल तीक्ष्णाग्र नखोंके

ते कण्टकयुक्त है, अतएव यही वास्तविक कमल है। कमलसे अधिक सुन्दर एवं त्ववाले दमयन्तीके हाथ हैं] ॥ १२४ ॥

गर्त्ति मर्त्त्येषु तुलार्थमस्या योग्येति योग्यानुपलम्भनं नः ।
यस्ति नाके भुवनेऽथवाऽधस्तदा न कौतस्कुतलोकबाधः ? ॥१२५॥

र्त्तीति । मर्त्त्येषु, अस्याः भैम्याः, तुलार्थं तुलायै, औपम्याय इत्यर्थः, योग्या चिदस्तीति शेषः, इति अत्र, नः अस्माकं, योग्यानुपलब्धिरेव बाधकप्रमाणं, विलसति; तथा च मर्त्त्येषु यदि एतत्सादृश्ययोग्या रमणी स्यात् , तदा उप- इत्यनुपलब्धिरेव तत्र तदभावसाधिकेति भावः। नाके स्वर्गे, अथवा अधो- पाताले च, यदि अस्ति, एतत्सदृशीति शेषः, तदा तर्हि, कौतस्कुतानां कुतः स्वर्गादिलोकात् आगतानां, 'तत आगतः' इत्यण्प्रत्ययः, अव्ययात् टिलोपः, त्वात् सः, लोकानां देवनागादिरूपाणां, बाधः अत्र सम्मर्दः, न स्यात् ? इति तत्रत्या नागच्छेयुः ? इत्यर्थः, अतः अनुपलब्ध्यर्थापत्तिभ्यामस्यास्त्रिलोक्यामपि वो निश्चित इति निष्कर्षः। अत एवोपमानलोपाल्लुप्तोपमालङ्कारः ॥ १२५ ॥

स दमयन्तीकी समानताके लिये कोई स्त्री योग्य मर्त्यलोकमें है' इस विषयमें योग्य से न होना ही हमलोगों को प्रमाण है। यदि स्वर्गमें अथवा पातालमें है तो कहां— अर्थात् सर्वत्रसे आये हुए लोगोंकी भीड़ नहीं होती। [यदि दमयन्तीके समान स्त्री मृत्युलोकमें होती तो मर्त्यलोकवासी हम लोगोंमें से कोई भी उसे देखता और किसीने इसके समान सुन्दरी अन्य किसी स्त्री को मर्त्यलोकमें नहीं देखा है, अतएव समान सुन्दरी कोई स्त्री मर्त्यलोकमें है ही नहीं। तथा स्वर्ग या पातालमें भी इसके सुन्दरी कोई स्त्री होती तो वहां से इस दमयन्तीको पानेके लिये इतने लोग नहीं अतः यह प्रमाणित होता है कि इस दमयन्तीके समान सुन्दरी स्त्री तीनों लोकोंमें है] ॥ १२५ ॥

नमः करेभ्योऽस्तु विधेर्न वाऽस्तु स्पृष्टं धियाऽप्यस्य न किं पुनस्तैः ।
स्पर्शादिदं स्याल्लुलितं हि शिल्पं मनोभुवोऽनङ्गतयाऽनुरूपम् ॥१२६॥

म इति । विधेः स्रष्टुः, करेभ्यः हस्तेभ्यः, नमः नमस्कारोऽस्तु, यैरिदं शिल्पम- ति भावः। 'नमःस्वस्ति' इत्यादिना चतुर्थी, वा अथवा, नास्तु, नम इति पक्षः, कुतः ? अस्य विधेः, धिया मनसाऽपि, न स्पृष्टम्, इदं शिल्पमिति शेषः, ः, किं पुनः ? वाच्यमिति शेषः, न स्पृष्टमिति भावः। हि यस्मात्, स्पर्शात् र्शात्, इदम् अतिकोमलं, शिल्पं लुलितं तत्र तत्र मृदितं स्यात्, किन्तु तया अङ्गराहित्येन हेतुना, मनोभुवः कामस्य, अनुरूपं युक्तम्, इदं शिल्पमिति हस्ताद्यवयवस्पर्शं विनैव निर्माणसम्भवात् त्रैलोक्यविजयिनः तस्य अनङ्गत्वेन र्माणशक्तिसम्भवाच्चेति भावः। अत्र भैमीशिल्पस्य विधिकरणसम्बन्धेऽपि

असम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिस्तत्सापेक्षा चेयम् अनङ्गसृष्टित्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ १२६

ब्रह्माके हाथोंको नमस्कार है, (जिन्होंने इस दमयन्ती को रचा है), अथवा नमस नहीं है, (क्योंकि) इस [(ब्रह्मा) की बुद्धिने भी इस शिल्प का स्पर्श नहीं किया है हाथोंने कहांसे स्पर्श किया ? (ब्रह्मा ऐसे सुन्दर रूपको बनानेकी बुद्धिसे भी कल्पना कर सकते तो हाथसे बनाना तो असम्भव ही है । अथ च निरवयव बुद्धि भी जिसका नहीं कर सकती, उसका स्पर्श सावयव हाथ कैसे कर सकते हैं ?, और स्थूलबुद्धि वे ब्रह्माकी बुद्धि का ऐसी सुन्दरी बनाने का विचार करना असम्भव ही है)। क्योंकि स्प यह शिल्प धब्बोंसे युक्त हो जाता अतः अनङ्ग होनेसे कामदेवके योग्य यह शिल्प है अ अङ्गरहित कामदेवने ही इसे बनाया है, यही कारण है कि इसमें किसी अङ्गका स्पर्श न होनेसे लेशमात्र भी कहीं पर धब्बा (कोई चिह्न) नहीं है; इस कारण इस सुन्दर रूप बनानेवाले कामदेवको ही नमस्कार है । दमयन्तीका शरीर सर्वत्र समान रूपसे सुन्दर है

इमां न मृद्वीमसृजत् कराभ्यां वेधाः कुशाभ्यासनकर्कशाभ्याम् ।
शृङ्गारधारां मनसा न शान्ति-विश्रान्तिधन्वाध्वमहीरुहेण ॥ १२७ ॥

कुतोऽपि हेतोर्न वैधसृष्टिरियमित्याह, इमामिति। वेधाः स्रष्टा, मृद्वीं कोमलाङ्गीं इमां कुशाभ्यासनेन कुशाक्रमणेन, कर्कशाभ्यां कराभ्यां नासृजत्, अयोग्यत्वादि भावः। तथा शृङ्गारधारां शृङ्गाररसवाहिनीम् इमां, शान्तेः विषयविरतेः, विश्रान्त्य, धन्वाध्वमहीरुहो मरुमार्गवृक्षः, 'समानौ मरुधन्वानौ' इत्यमरः। तेन विविक्ते विषयरसानभिज्ञेन, मनसाऽपि, नासृजत् इति पूर्वानुषङ्गः, स्वयमशृङ्गारिणः शृङ्गा णीसृष्टयशक्तेरिति भावः। अत्र विधिकरमनःसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरति योक्तिसंसृष्टिः॥ १२७ ॥

ब्रह्माने इस सुकुमारी (दमयन्ती) को कुशधारण करनेसे कर्कश हाथोंसे नहीं र है और शृङ्गार-प्रवाहरूपिणी इस (दमयन्ती) को शान्ति (विषय-विरक्ति) की विश्रान्ति लिये मरुमार्गस्थ वृक्षरूप (अत्यन्त नीरस एवं कठोर) मनसे भी नहीं रचा है। [कर्क हाथोंसे सुकुमारी की तथा विषयविरक्त एवं नीरस मनसे शृङ्गार प्रवाहवाली दमयन्ती ब्रह की रचना नहीं हो सकती है] ॥ १२७ ॥

उल्लास्य धातुस्तुलिता करेण श्रोणौ किमेषा स्तनयोर्गुरुर्वा ।
तेनान्तरालैस्त्रिभिरङ्गुलीनामुदीतमध्यत्रिवलीविलासा ॥ १२८ ॥

उल्लास्येति । एषा दमयन्ती, श्रोणौ नितम्बदेशे, गुरुः गुर्वी, 'वोतो गुणवचनात् इति विकल्पात् ङीपभावः, स्तनयोः कुचयोः, वा गुरुः ? इति संशय इति शेषः, इति शब्दस्य गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः, धातुः करेण उत्तानपाणिना, उल्लास्य नीवीम् अप सार्य, उदरे गृहीत्वा उन्नमय्येत्यर्थः, तुलिता समं धारितेत्युत्प्रेक्षा; तेन तुलनेन, अङ्गुलीनां चतसृणां त्रिभिः अन्तरालैः अभ्यन्तरैः, उदीतः उद्गतः, इण् गताविति

कर्तरि क्तः, मध्ये मध्यदेशे, त्रिवलीविलासो बलित्रयशोभा यस्याः सा, जाता षं, अतो नूनं तुलितेत्यर्थः ॥ १२८ ॥

(दमयन्ती) नितम्ब देशमें भारी है या स्तनद्वयमें भारी है, इसकी परीक्षाके लिये हाथने उठाकर तौला है क्या ?, उससे (चार अङ्गुलियों) के मध्यगत तीन भागोंसे मध्यमें त्रिवलियोंके विलासवाली यह दमयन्ती हो गयी है । ['नितम्बदेश तथा में कौन-सा भारी है' इस परीक्षाके लिये उत्तानित हस्ततलकी चारों अङ्गुलियों पर दमयन्तीको रखकर तौला, उन्हीं चारों अङ्गुलियोंके मध्यगत तीन भागोंसे दमयन्ती त्रिवलि-लि वन गयी । दमयन्ती विशाल नितम्ब तथा स्तनोंवाली एवं सुन्दर त्रिवलि- है] ॥ १२८ ॥

निजामृतोद्यन्नवनीतजाङ्गीमेतां क्रमोन्मीलितपीतिमानम् ।
कृत्वेन्दुरस्या मुखमात्मनाऽभून्निद्रालुना दुर्घटमम्बुजेन ॥ १२९ ॥

जेति । इन्दुः निजम् आत्मीयम्, अमृतं पीयूषं, क्षीरदध्यादिगोरसश्च, 'अमृतं देवान्ने मोक्षे हेम्नि च गोरसे' इति वैजयन्ती, तस्माद् उद्यत् उत्पद्यमानं, तं दधिसारः, 'दधिसारो नवनीतम्' इति हलायुधः, तज्जमङ्गं यस्यास्ताम्, अत क्रमोन्मीलितपीतिमानं नवनीतवदेव क्रमाविर्भूतपीतवर्णाम्, एतां भैमीं, कृत्वा , निद्रालुना रात्रौ निमीलनशीलेन, अथ च अलसेन, अम्बुजेन पद्मेन, अस्या दुर्घटं साधु न साध्यं, विविच्य इति शेषः, आत्मना अभूत् स्वयमेवाभूदित्यु- ; अन्यथा दमयन्त्याः कथमीदृशी अङ्गलावण्यसम्पत्तिः चन्द्रवदनत्वञ्चेति भावः॥

चन्द्रमा अपने अमृत (सुधा, अथवा—दूध-दही आदि गोरस) से निकले हुए मक्खन न्न अङ्गोंवाली तथा क्रमशः बढ़ते हुए पीलापन (पक्षा०—गौर वर्ण) वाली इस (दम-) को वनाकर (रात्रिमें) वन्द होनेवाले कमलसे दुर्घट अपनेसे (स्वयं ही) मुख वन । [कमल रात्रिमें वन्द हो जाता है, अतएव दमयन्ती का मुख कमलसे नहीं रचा गया दमयन्ती अत्यन्त गौर वर्ण वाली, अत्यन्त सुकुमारी तथा चन्द्रमाके समान मुखवाली है]॥

अस्याः स चारुर्मधुरेव कारुः श्वासं वितेने मलयानिलेन ।
अमूनि पुष्पैर्विदधेऽङ्गकानि चकार वाचं पिकपञ्चमेन ॥ १३० ॥

अस्या इति । चारुः चतुरः, सः प्रसिद्धः, मधुर्वसन्त एव, नान्यः इति भावः, ाः भैम्याः, कारुः शिल्पी, यतो मलयानिलेन उपादानेन, अस्याः श्वासं निःश्वास- तं, वितेने चकार; पुष्पैरमूनीति हस्तनिर्देशः, अङ्गकानि विदधे; वाचं पिकपञ्चमेन किलस्वरेण, 'पिकः कूजति पञ्चमम्' इति वचनात्, चकार ससर्ज, इत्युत्प्रेक्षा; था कथमेषामीदृशानि सौरभमार्दवमाधुर्याणीति भावः॥ १३० ॥

चतुर यह प्रसिद्ध वसन्त ही इस (दमयन्ती) का शिल्पी (वनानेवाला कारीगर) है; ने मलयवायुसे इसके श्वासको वनाया, पुष्पोंसे इन कोमल अङ्गोंको वनाया तथा कोयलके

पञ्चम स्वरसे वचनको बनाया। [दमयन्तीका श्वास मलयानिलके समान सुगन्धियुक्त, चम्पा आदि फूलोंके समान गौर वर्ण तथा कोमल और वचन कोयलके समान मधुर है]

कृतिः स्मरस्यैव न धातुरेषा नास्या हि शिल्पीतरकारुजेयः ।
रूपस्य शिल्पे वयसा स वेधा निर्जीयते स स्मरकिङ्करेण ॥ १३१ ॥

कृतिरिति। एषा भैमी, स्मरस्यैव कृतिः सृष्टिः, धातुः न, कृतिरिति शेषः, यस्मात्, अस्याः भैम्याः, शिल्पी निर्माता, इतरकारुभिः शिल्प्यन्तरैः जेयो जय्यः, अस्याः शिल्पिना अपराजितेन एव भवितव्यमित्यर्थः; ब्रह्मा तु पराजित इत्याह- रूपस्य शिल्पे रूपनिर्माणविद्यायां, स च वेधाः स्मरकिङ्करेण कन्दर्पाधीनेन वय यौवनेनापि, निर्जीयते, वाल्यशरीरापेक्षया यौवनशरीरस्याधिकरमणीयत्वादि भावः; अतस्तत्स्वामिना स्मरेण असौ जित इति किमु वक्तव्यम् इति युक्त्या सम कृतिरेवैषेत्युत्प्रेक्षा। स्वभावरमणीयं तद्रूपं यौवनमदनाभ्यां जगन्मोहनं जात इति तात्पर्यम् ॥ १३१ ॥

यह दमयन्ती कामदेवकी ही रचना है (कामदेवने ही इसे रचा है) ब्रह्माकी नह क्योंकि इस (दमयन्ती) के कारीगरको दूसरा (कारीगर) नहीं जीत सकता। रूप बनानेमें तो कामदेवके किङ्कर अवस्था (युवावस्था) ने ही ब्रह्माको सर्वथा जीत लिया (फिर उस युवावस्थाके स्वामी कामदेवके द्वारा ब्रह्माका जीता जाना स्वतः सिद्ध है)। [ब्रह वालक रूपवाले वालककी रचना करता है और युवावस्था उस रूपको अतिरमणीय बन देता है, क्योंकि युवावस्थामें वाल्यावस्थाकी अपेक्षा सुन्दर रूप हो जाता है; और वह युवावस्था कामदेवके वशमें रहनेसे किङ्करी है, इसलिए यह कल्पना की जाती है कि रूप निर्माणमें स्मरकिङ्करी युवावस्थासे पराजित ब्रह्माकी रचना यह दमयन्ती नहीं हो सकती किन्तु अजेय कामदेवकी ही रचना हो सकती है] ॥ १३१ ॥

गुरोरपीमां भणदोष्ठकण्ठ-निरुक्तिगर्वच्छिदया विनेतुः ।
श्रमः स्मरस्यैष भवं विहाय मुक्तिं गतानामनुतापनाय ॥ १३२ ॥

गुरोरिति। अथ गुरोः बृहस्पतेरपि, इमां भैमीं, भणत् वर्णयत्, ओष्ठकण्ठम् ओष्ठकण्ठश्च प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। 'न लोका—'इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया, तयोः निरुक्तिगर्वच्छिदया सौन्दर्यातिशयादिवर्णनविषयेऽसाधारणवक्तृत्वाहङ्कारखण्डनेन, 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ्, विनेतुः शिक्षयितुः; ताच्छील्ये तृच्प्रत्ययः, त्वया निर्वक्तुम् अशक्यमस्या रूपनिर्माणमेवेति शिक्षयितुरिति भावः; स्मरस्यैष श्रम ईदृग्रूपनिर्माणप्रयासः, भवं संसारवन्धं, विहाय मुक्तिं गतानामनुतापनाय भैमीसद्भावेन सदानन्दमयत्वात् संसार एव मोक्षः, वयं संसारं त्यक्त्वा वृथा मुक्ताः स्म इति पश्चात्तापजननाय, भवतीत्युत्प्रेक्षा, तया किमुतान्येषामित्यर्थापत्तिर्व्यज्यते। दमयन्तीसम्वन्धरहितां मुक्तिं धिगिति भावः ॥ १३२ ॥

दमयन्ती का वर्णन करते हुए, बृहस्पतिके भी दोनों ओष्ठ तथा कण्ठको पूर्णतया नेमें असमर्थ होनेसे शिक्षित करनेवाले (पाठा०—शिक्षित करनेके लिए) काम-ह परिश्रम (दमयन्ती की रचनारूप परिश्रम) संसारको छोड़कर मुक्ति पाये हुए पश्चात्तापके लिये है । [दमयन्तीके रहनेपर संसारमें ही मोक्ष है, अतः 'संसारको हमलोग क्यों मुक्त हुए' इस प्रकारके पश्चात्ताप करनेके लिए ही दमयन्तीको बनाने श्रम कामदेवने किया है । इस दमयन्ती का पूर्णतया वर्णन नहीं कर सकनेसे बृह-भी कामदेव शिक्षा देनेवाला है या शिक्षा देनेके लिये कामदेवका उक्त श्रम है]॥

आख्यातुमक्षिव्रजसर्वपीतां भैमीं तदेकाङ्गनिखातदृक्षु ।
गाथासुधाश्लेषकलाविलासैरलञ्चकाराननचन्द्रमिन्द्रः ॥ १३३ ॥

ख्यातुमिति । अथ इन्द्रः अक्ष्णां व्रजेन नलरूपधार्यपि निजशक्त्या नेत्रसह-र्वेषु अङ्गेषु, पीताम् आदरदृष्टां, भैमीं तस्याः, भैम्याः, एकस्मिन्नेवाङ्गे निखाते ते दृशौ येषां तेषु द्विनेत्रेषु मनुष्येषु विषये, आख्यातुं तेभ्यः कथयितुं, सर्व-ज्ञो हि अङ्गेषु सविस्तरं कथयतीति भावः, गाथासुधायाः श्लोकामृतस्य, शायाः । श्लेषालङ्कारविद्यायाः, विलासैः, अन्यत्र—अमृतसम्पर्केण षोडशभाग-शेष, आननमेव चन्द्रः तम् अलञ्चकार श्लिष्टार्थेन वक्ष्यमाणश्लोकेन चाकथ-र्यः ॥ १३३ ॥

(राजाओंके ऐसा (१०।११३-१३२) कहने) के वाद इन्द्रने, नलका रूप धारण नी विशेष शक्तिके द्वारा) सहस्र नेत्र-समूहसे अच्छी तरह देखकर उस (दमयन्ती) शरीरमें गडाये हुए नेत्रोंवाले (राजाओं) से कहनेके लिए श्लोकरूपी अमृतकी (अमृतके सम्बन्धसे सोलहवें भाग) के विलासोंसे अपने मुखचन्द्रको अलङ्कृत किया इन्द्र श्लेषयुक्त मधुर श्लोक बोले—[दो नेत्र होनेसे दमयन्तीके एक किसी अङ्गको ले लोगोंकी अपेक्षा नलका रूप ग्रहणकर स्वयंवरमें आनेपर भी अपनी दैवी शक्तिसे नेत्रोंके द्वारा दमयन्तीके सम्पूर्ण शरीरको अच्छी तरह देखकर उसके विषयमें ज्ञाता होकर उन सामान्य ज्ञाताओंके कहनेके लिये श्लेषपूर्ण अमृततुल्य मधुर श्लोक इन्द्रने श्लेषालङ्कार युक्त मधुर श्लोक कहे—] ॥ १३३ ॥

स्मितेन गौरी हरिणी दृशेयं वीणावती सुस्वरकण्ठभासा ।
हेमैव कायप्रभयाऽङ्गशेषैस्तन्वी मतिं क्रामति मे न काऽपि ॥ १३४ ॥

मेव श्लोकमाह—स्मितेनेति। इयं भैमी, स्मितेन गौरी गौरीसंज्ञा काचिद्देवाङ्गना, च, 'गौरोऽरुणे सिते पीते' इति वैजयन्ती। मे मतिं क्रामतीत्युत्तरेणान्वयः; त्रापि दृशा दृक्शोभया, हरिणी काचिद्देवाङ्गना, कुरङ्गी च; सुस्वरकण्ठभासा कण्ठध्वनिसम्पत्त्या, वीणावती अप्सरोविशेषः, वीणायुक्ता च; कायप्रभया न्त्या, हेम अप्सरोविशेषः सुवर्णञ्च, अङ्गेषु शेषैः अवशिष्टाङ्गैः, तन्वी मेनकाऽपि

अप्सरोविशेषोऽपि, मतिं क्रामति एतस्या अङ्गानि दृष्ट्वा मेनका अप्सरा अपि स्व इति भावः; अथ च काऽपि तन्वी उपमानार्हा स्त्री, मे मतिं न क्रामति बुद्धिं ना हृति, अमर्त्यमर्त्योचितार्थद्वयमाश्रित्यावादीदिति द्रष्टव्यम्। अत्र एकस्या भै गौरीत्यादिरूपेणोल्लेखादुल्लेखालङ्कारः; 'नानाधर्मबलादेकं यदि नानेव गृह्य नानारूपसमुल्लेखात् स उल्लेख इति स्मृतः॥' इति लक्षणात्, स च श्लेषप्र भोत्थापित इति सङ्करः। एतावतैव कविनाऽपि श्लेषकलाविलासैरित्युक्तम्, अस्य ग्रहीतृभेदात् कारकभेदाच्चोत्थानादत्र स्मितानुकारकभेदादुत्थानमिति सङ्क्षेपः॥१३

यह (दमयन्ती) स्मितसे गौरी (पार्वती या गौरी नामकी कोई अप्सरा, पक्षा० गौर वर्णवाली) है, दृष्टिसे हरिणी (हरिणी नामकी अप्सरा, पक्षा०—मृगी) है, सु कण्ठकी कान्तिसे वीणावती (वीणावती नामकी अप्सरा या सरस्वती, पक्षा०—वीणाव अर्थात् वीणाके समान मधुर कण्ठवाली) है, शरीरकान्तिसे हेमा (हेमा नामकी अप्स पक्षा०—'हेम एव' पदच्छेदसें सुवर्ण) ही है, शेष अङ्गोंसे तन्वी अर्थात् कृशोदरी मेन भी मेरी बुद्धिपर आक्रमण करती है [पक्षा०—कोई तन्वी अर्थात् कृशोदरी स्त्री मेरी बु नहीं आती है)। [किसी एक अंशसे इस दमयन्तीकी समानता उन-उन अप्सराअ होनेपर भी इसके सर्वांश पूर्ण होनेसे कोई भी अप्सरा इसकी समानता नहीं कर सकती है

इति स्तुवानः सविधे नलेन विलोकितः शङ्कितमानसेन ।
व्याकृत्य मर्त्योचितमर्थमुक्तेराखण्डलस्तस्य नुनोद शङ्काम् ॥१३५॥

इतीति। इति स्तुवानः गौरीप्रभृत्यप्सरःस्वरूपत्वेन भैमीं वर्णयन्, आखण्ड इन्द्रः, सविधे समीपे, शङ्कितमानसेन अमर्त्योचितार्थोपन्यासात् नूनमयं मदी रूपधारी इन्द्र एवेति शङ्कितचित्तेन, नलेन विलोकितः सन् उक्तेः स्मितेनेत्यादि वाक्यस्य, मर्त्योचितमर्थं गौरीत्यादिशब्दानां सितत्वादिरूपं, व्याकृत्य व्याख्या तस्य नलस्य, शङ्कां नुनोद ॥ १३५ ॥

इस प्रकार (१०।१३४ श्लेषपूर्ण वचनसे) प्रशंसा करते हुए, शङ्कित चित्तवाले पार्श वर्ती नलसे देखे गये इन्द्रने मनुष्यके योग्य अर्थको बतलाकर ('गौरी' इत्यादि शब्दों 'गौरवर्ण' आदि मानव-सङ्गत अर्थ बतलाकर) उस (नल) के सन्देहको दूर किया। ['य इस दमयन्तीको अप्सराके रूपमें यह वर्णन करता है, अत एव अवश्य मेरा रूप धारण क आया हुआ इन्द्र है' इस प्रकार शङ्कित चित्तवाले नलकी शङ्काको मनुष्योचित दूस अर्थोंको कहकर दूर किया] ॥ १३५ ॥

स्वं नैषधादेशमहो ! विधाय कार्यस्य हेतोरपि नानलः सन् ।
किं स्थानिवद्भावमधत्त दुष्टं तादृक्कृतव्याकरणः पुनः सः ? ॥१३६॥

अत्र कविराह—स्वमिति। स इन्द्रः कार्यस्य भैमीलाभरूपकार्यस्य, हेतोर्निमित्त 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी, स्वम् आत्मानं, नैषधस्य नलस्य, आदेशं नलात्मकादेशं

कृत्वा, नलो न भवतीत्यनलः, नञ्समासः अनलः न भवतीति नानलः
व सन्, नलरूपधारी सन्नित्यर्थः, पुनः पश्चात्, नलस्य इन्द्रशङ्कानन्तरमि-
ताहक् तथा कृतं मर्त्योचितं कृतं, व्याकरणं रागपारवश्योक्तस्यान्यथाविवरणं
ऽपि सन्, स्वोक्तेरन्यथा व्याकुर्वाणः सन्नित्यर्थः, स्थानी प्रसक्तिमान् यत्रा-
भवति स इत्यर्थः, तद्वत् इन्द्रवदित्यर्थः, किं किमर्थं, दुष्टं पापिष्ठभावं, परस्त्रा-
मित्यर्थः, अधत्त ? अहो ! महेन्द्रस्यापि ।दुर्व्यसनितेत्याश्चर्यम् ; इन्द्रेण नल-
धारिणा सता नलस्यादुष्टस्वभावोऽपि धर्त्तुमुचितः, किन्तु तं विहाय परप्रतार-
स्वकीयदुष्टस्वभावो धृत इत्येवाश्चर्यमिति भावः। अन्यच्च—ताहक्कृतव्याक-
महेन्द्रव्याकरणकर्त्तापि सन्, सः पण्डितः इन्द्रः, नैषधादेशं विधाय तद्रूपधा-
तदादेशो भूत्वा, न अल् अनल्, स न भवतीति नानल् पूर्ववत् समासः
र्थः, तस्य अल्सम्बन्धिनः कार्यस्य हेतोः तदर्थं, दुष्टं निषिद्धं, स्थानिवद्भावं
वदादेशं, 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' इत्यनेनाल्सम्बन्धिकार्यें स्थानिवदादे-
निषेधादिति भावः, किं कथम् अधत्त ? इति अहो ! आश्चर्यम् !! अन्यच्च—
कृतव्याकरणः तथाकृतसंस्कारः, स इत्ययं शब्दः, स्वं स्वकीयम्, आदेशं
येति खण्डविश्लेषः, त्यदाद्यत्वं प्राप्येत्यर्थः, नानलः कार्यस्य हेतोः अल आश्रित-
यादिलक्षणस्थानिकार्यार्थं, किम् इति दुष्टम् अल्विधाविति प्रतिषेधादनुपपन्नं,
वद्भावमधत्त ? अहो ! विरुद्धमित्यर्थः। अत्रोक्तस्य विरोधात् प्राथमिकार्थेनैव
धानेन विरोधाभासोऽलङ्कारः, स च श्लेषप्रतिभोत्थापित इति सङ्करः, तृती-
नञ् इति विशेष्यस्य अपि सिद्धं तत् मृग्यं तदपि वाच्यस्य विरोधाभास-
साधकत्वात् वाच्यसिद्ध्यङ्गमित्यनुसन्धेयम् ॥ १३६ ॥

न्द्रने अपनेको नलका आदेश (दमयन्तीके परिहार वचनको अन्यथा (हृदयमें
र्भोंसे सम्बद्ध अभिप्राय रहते हुए भी मानवोचित) अर्थ बतलाकर, पाठा०—
न्तीके प्रति नलको दूत बनाकर भेजना व्यर्थ होनेपर) कार्य (दमयन्तीकी प्राप्ति) के
नलभिन्न नहीं होता हुआ अर्थात् नल होता हुआ तथा वैसा (दमयन्तीविषयक
गके अधीन होकर विपरीत) व्याख्यान करता हुआ स्थानी (जिसके स्थानपर आदेश
है, वह स्थानी कहलाता है) के समान दुष्ट भाव (परस्त्रीविषयक चाहना) को
धारण किया है ? । (पक्षा०—वैसे व्याकरण (प्रसिद्ध महेन्द्र व्याकरण) को बनाने-
यह इन्द्र (नलके रूपको धारणकर) नैषधादेश होकर 'अल्' ('अल्' नामक वर्ण-
के प्रत्येक अक्षरका बोधक प्रत्याहार विशेष) से अभिन्न 'अल्' कार्यके लिये दुष्ट
निवदादेशोऽनल्विधौ' (पा० सू० १।१।५६) के विरुद्ध) स्थानिवद्भावको क्यों धारण
, ऐसा करना प्रसिद्ध व्याकरणकर्ताके लिये आश्चर्य या खेदको उत्पन्न करता है।
—इन्द्रको स्वयं नलका रूप ग्रहण कर नलके स्वभाव (परस्त्री—विषय चाहना का
स्पष्टयुक्त अन्यथा अर्थ करनेका अभाव) का भी ग्रहण करना उचित था, किन्तु इन्द्रने

नलादेश होकर (नल का रूप धारण कर) भी अपने कहे हुए वाक्यके मनोगत वास्तवि अर्थ को छिपाकर अन्यथा अर्थ कहना इन्द्रत्वावस्थामें रहनेके समान दुष्ट भावको प्र करता है। अथवा—ना (मनुष्य) नल एवं विद्वान् भी उस प्रकार अन्यथा अर्थ का स्था (इन्द्र पद) के समान क्यों दुष्ट भाव धारण किया ? क्योंकि इन्द्र का यज्ञ—तप आदि विघ्न—डालनेसे दुष्ट स्वभाव होना तो कथञ्चित् उचित हो सकता है परन्तु मनुष्य नल विद्वान् होकर भी कामके लिए इन्द्रके स्वभावको नहीं छोड़ना और अपनी वातको अन्य समझना उचित नहीं है। अथवा—विद्वान् भी इस इन्द्रने वैसा प्रसिद्ध व्याकरण कर्ता ह हुए भी 'ध' आदेश ('नहोधः' पा० सू० ८।२।३४ से) करके 'अल्' प्रत्याहारसम्ब कार्यमें 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (पा० सू० १।१।५६) से स्थानिवत् कार्यका नि होनेपर भी स्थानिवद्भाव नहीं किया क्या अर्थात् अवश्य ही किया। 'स्थानिवत्- सूत्रसे अलाश्रित कार्यमें स्थानिवद्भावका निषेध होने पर भी 'पथिमथ्यृभुक्षाम् (पा० सू० ६।१।८५) सूत्रसे अल् करनेपर स्थानिवद्भावसे आये हुए हल्त्व आश्रयकर 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' (पा० सू० ६।१।६८) से सु लोप न होता है, किन्तु उक्त महावैयाकरण इन्द्रने वहांपर भी स्थानिवद्भाव किया है, यह आश्च है। अथवा—अपनेको नैषधादेश (नलके स्थानपर) करके कार्यके वास्ते वैसे विशि आकारवाला देवत्वको छोड़कर मनुष्य नल होते हुए इन्द्रने दुष्ट स्थानिवद्भावको क धारण किया अर्थात् देवभावको छोड़कर मनुष्य भाव क्यों ग्रहण किया यह आश्चर्य है]

इयमियमधिरथ्यं याति नेपथ्यमञ्जु-
र्विशति विशति वेदीमुर्वशी सेयमुर्व्याः ।
इति जनजनितैः सानन्दनादैर्विजघ्ने
नलहृदि परभैमीवर्णनाकर्णनाप्तिः ॥ १३७ ॥

इयमियमिति । नेपथ्येन प्रसाधनेन, मञ्जुः मनोज्ञा, उर्व्याः पृथिव्याः, उर्वशी भूतलोर्वशी, सेयं दमयन्ती, इयम् इयमिति पुरोनिर्देशः, सम्भ्रमे द्विरुक्तिः अधिरथ्य रथ्यायां, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः, याति रथ्यायां गच्छतीत्यर्थः । वेदीं स्वयंवर वेदिकां, विशति विशति इति एवं, जनैः दर्शकजनैः, जनितैः कृतैः, सानन्दनादै सहर्षघोषैः कर्त्तृभिः, नलहृदि परेषां समीपस्थजनानां, भैमीवर्णनस्य आकर्णनाप्ति श्रवणसुखलाभः, विजघ्ने विहतः, दमयन्तीसन्दर्शनेन सम्भ्रान्तानां लोकानां कलरवेण अन्यजनकृता दमयन्तीरूपवर्णना नलेन न श्रुता इति भावः। मालिनी वृत्तम् ॥ १३७ ॥

यह दमयन्ती गली (स्वयंवरमण्डपके मार्ग) में जा रही है, पृथ्वीको उर्वशी यह स्वयंवरवेदीपर प्रविष्ट हो रही है (अथवा—भूषण-मनोहारिणी तथा पृथ्वीकी उर्वशी यह दमयन्ती गलीमें जा रही है तथा वेदीपर जा रही है; इस प्रकार मनुष्योंके कहे गये

स्वरोंसे नलके हृदयमें उत्कृष्ट दमयन्तीके वर्णन सुनने की प्राप्ति अथवा—दूसरे अन्य राजा लोग (या यम, वरुण, अग्नि) के द्वारा दमयन्तीके वर्णन सुनने की प्राप्तिमें हो गयी। [दमयन्तीके देखनेसे उत्पन्न लोगोंके हर्षनादसे ससम्भ्रम लोगोंको नल भी स्वयं ससम्भ्रम होकर नलके वर्णनका सुनना बन्द कर दिया] ॥ १३६ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तर्केष्वप्यसमश्रमस्य दशमस्तस्य व्यरंसीन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १३८ ॥

श्रीहर्षमिति। तर्केष्वपीति न केवलं कवितायामेवेत्यर्थः। गतमन्यत् ॥ १३८ ॥

कवीश्वर-समूहके……………किया, न्यायशास्त्रमें भी अनुपम अभ्यास रखनेवाले न्यायशास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् उसके रचित सुन्दर नलके चरित्र…………यह सर्ग समाप्त हुआ ॥ १३७ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का दशम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः।

देवतामिव मुखेन्दुलसत्प्रसादा-मक्ष्णा रसादनिमिषेण निभालयन्तीम्।
भाय चेतसि धृतस्य वरस्य भीमभूमीन्द्रजा तदनु राजसभां बभाज ॥१॥

तामिति। तदनु तस्मादानन्दनादोत्थानादनन्तरमित्यर्थः, अनुशब्दस्य लक्षणार्थे प्रवचनीयत्वात् तद्योगे द्वितीया। भीमभूमीन्द्रजा भैमी, मुखेन्दुषु, राज्ञामिति देवतायां मुखेन्दौ च, लसन् प्रसादः प्रसन्नता, भैम्यागमनजन्यहर्ष इति , पक्षे–काङ्क्षितं वरय इत्यादि अनुग्रहवचनं यस्यास्तां, तस्यै वरं प्रदातुमुद्य-मिति भावः, 'प्रसादोऽनुग्रहे काव्यप्राणस्वास्थ्यप्रसत्तिषु' इति विश्वः। तथा रसात् रागात्, अनिमिषेण निमेषशून्येन, अक्ष्णा चक्षुषा, निभालयन्तीम् ईक्षमाणां, क्षणनिध्याननिर्वर्णननिभालनम्' इति वैजयन्ती। भल निरूपणे इति धातोश्चौ-च्छतरि ङीप्। यद्यपि प्रायेणायं धातुरात्मनेपदी, यदाह भट्टमल्लः,—'निभा-ते ईक्षते' इति, तथापि अस्य भुवादिषु अपि पाठादुभयत्र पठितादुभयपदी मतमाश्रित्यायं परस्मैपदप्रयोग इति द्रष्टव्यम् पक्षे—स्वभावतो देवतानाम् मिषेण चक्षुषा रसात् साधकस्य भक्त्यतिशयात् भक्तं जनं पश्यन्तीं, तां राजं-राजसमूहं, 'सभा द्यूतसमूहयोः। गोष्ठ्यां सभ्येषु शालायाम्' इति हैमः। 'सभा ऽमनुष्यपूर्वा' इत्यत्र 'पर्यायस्यैवेष्यते' इति नियमात् सभाया अनपुंसकत्वम्।

देवतामिव चेतसि घृतस्य चिन्तितस्य, वरस्य वोढुर्नलस्य, देवदेयार्थस्य च, 'वरे ना रूपजामात्रोर्देवादेरीप्सिते वृतौ' इति वैजयन्ती । लाभाय प्राप्त्यर्थं, वभाज प्राप् सिषेवे च । अस्मिन् सर्गे वसन्ततिलकं वृत्तं, लक्षणमुक्तम् ॥ १ ॥

इस (मनुष्योंके हर्षनाद होने) के बाद भीमराजकुमारी (दमयन्ती) राजाओं मुखचन्द्रोंसे विलसित होती हुई प्रसन्नतावाली, प्रेमसे निमेषरहित नेत्रसे देखती हुई चित्त ग्रहण किये हुए पति (नल) की प्राप्तिके लिये देवताके समान उस सभामें पहुंची देवता पक्षमें—"""(दमयन्ती) ने अपने (देवताके) मुखचन्द्रसे विलसित होती हु प्रसन्नतावाली अर्थात् प्रसन्न मुखचन्द्रवाली (देवता होनेके कारण) निमेष-रहित नेत्र स्नेह-पूर्वक देखती हुई देवताको अभिलषित वरदान पानेके लिये सेवा की ॥ १ ॥

तन्निर्मलावयवभित्तिषु तद्विभूषारत्नेषु च प्रतिफलन्निजदेहदम्भात् ।
दृष्ट्या परं न हृदयेन न केवलं तैः सर्वात्मनैव सुतनौ युवभिर्ममज्जे ॥

तदिति । तैर्युवभिः सुतनौ दमयन्त्यां, दृष्ट्या परं दृष्ट्यैव, न केवलं ममज्जे मग्नं, भावे लिट् । हृदयेन हृदयेनैवापि, न केवलं ममज्जे, किन्तु निर्मलासु अवय भित्तिषु गण्डस्थलादिषु, तस्या विभूषारत्नेषु च प्रतिफलतां निजानां देहा दम्भात् तत्क्षणप्रतिफलितशरीरव्याजात् , 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे इत्यमरः । सर्वात्मना एव सर्वाङ्गेनैव, ममज्जे; दृङ्मनोमज्जनं तावदास्तां किन्तु प्रति विम्बव्याजेन सर्वाङ्गमज्जनं जातमिति सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ २ ॥

युवक (राज-समूह) सुन्दर शरीरवाली (दमयन्ती) में केवल दृष्टिसे निमग्न नहीं हुए और केवल हृदयसे निमग्न नहीं हुए; किन्तु उस (दमयन्ती) के निर्म (अतिगौर वर्ण, कपोल आदि) अङ्गोंमें तथा उसके भूषणोंके रत्नोंमें प्रतिविम्बित अप शरीरके बहानेसे सम्पूर्ण शरीरसे ही निमग्न हो गये । [युवक राजा लोग उस सुन्द दमयन्तीमें केवल दृष्टि या हृदयमात्र से ही आसक्त नहीं हुये, किन्तु उसके निर्मल अङ्गों भूषण जटितमणियोंमें प्रतिविम्बित सम्पूर्ण शरीरके बहाने मानो सम्पूर्ण शरीर ही आस हो गया । दमयन्तीको देखकर सभी युवक सर्वतोभावसे मोहित हो गये, दमयन्तीके निर् शरीर एवं भूषणों के मणियोंमें सबके शरीर प्रतिविम्बित हो गये] ॥ २ ॥

द्यामन्तरा वसुमतीमपि गाधिजन्मा यद्यन्यमेव निरमास्यत नाकलोकम् ।
चारुः स यादृगभविष्यदभूद्विमानैस्तादृक् तदभ्रमवलोकितुमागतानाम् ॥३

द्यामिति । गाधेर्जन्म यस्य स गाधिजन्मा विश्वामित्रः, 'अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्य धिकरणो जन्माद्युत्तरपदः' इति वामनः । द्यां वसुमतीमपि अन्तरा स्वर्गभूम्योः अन्त राले, 'अन्तराऽन्तरेण युक्ते' इति द्वितीया अन्यमेव नाकलोकं स्वर्गान्तरं, निरमास्यत यदि निर्मिमीते चेत् , 'माङः क्रियातिपत्तौ लृङ्' स नाकलोकः, यादृक् चारुः अभवि ष्यत् भवेत्, 'पूर्ववल्लृङ्' तत् स्वयंवरसभोपरिस्थम् , अभ्रम् अन्तरिक्षं कर्तृ, अवलो

स्वयंवरमिति शेषः, आगतानां, देवानामिति शेषः, विमानैः तादृक् तथा चारु, ; स्वयंवरसभाया ऊर्ध्वमाकाशमण्डलं देवानां विमानैः अन्तरिक्षसृष्टस्वर्गसदृशं इति भावः । अत्राभ्रस्यान्तराले नाकलोकासम्बन्धेऽपि सम्भावनया तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । अभूतोपमेति केचित् ॥ ३ ॥

गाधि-पुत्र विश्वामित्र आकाश तथा पृथ्वीके बीचमें यदि दूसरा ही स्वर्गलोक बनाते और सा सुन्दर होता, वह अन्तरिक्ष उस स्वयंवर सभाको देखनेके लिये आये हुए देवोंके नोंसे वैसा सुन्दर हुआ । [दमयन्तीके स्वयंवरको देखनेके लिये देवलोग भी विमानों ठकर अन्तरिक्षमें विराजमान हुए] ।

पौराणिक कथा—वसिष्ठमुनिके शापसे चाण्डाल बने हुए त्रिशङ्कु राजाको विश्वामित्र पूर्व विरोधके कारण यज्ञ कराकर सशरीर स्वर्ग भेजने लगे तो चाण्डाल त्रिशङ्कुका पहुंचना अनुचित होनेसे देवताओंने उन्हें नीचे गिरनेको कहा, तदनुसार वे गिरने लगे तो विश्वामित्र मुनि क्रोधित हो अपने तपोबलसे स्वर्ग-मर्त्यलोकके बीचमें ा ही स्वर्ग लोक बनाने लगे और अन्तमें ब्रह्माके निषेध करनेपर उस कार्य को कर दिया ॥ ३ ॥

र्वद्भिरात्मभवसौरभसम्प्रदानं भूपालचक्रचलचामरमारुतौघम् ।
लोकनाय दिवि सञ्चरतां सुराणां तत्रार्चनाविधिरभूदधिवासधूपैः ॥४॥

कुर्वद्भिरिति । भूपालचक्रस्य राजलोकस्य, चलानां चलतां, चामराणां मारुतघं प्रवाहम् ', आत्मभवसौरभस्य स्वजन्यगन्धस्य सम्प्रदानं सम्प्रदानपात्रं, द्भिः स्वसौरभं तत्र सङ्क्रामयद्भिरित्यर्थः, अधिवासधूपैः वासनार्थधूपैः, आलोय स्वयंवरदर्शनाय, दिवि आकाशे, सञ्चरतां सुराणां देवानां, तत्र स्वयंवरे, नाविधिः पूजाकृत्यम् , अभूत् , राज्ञां चामरवायुभिः अधिवासधूपा आकाशव्याऽभूवन् इति भावः । अत्राधिवासधूपस्य सुरार्चनाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेशयोक्तिभेदः ॥ ४ ॥

राज-समूहके चलते हुए चामरोंके वायु-समूह को स्वजन्य सुगन्धि देते हुए सुगन्धित स्वयंवर को देखनेके लिये आकाशमें चलते हुए देवों की पूजा हुई । [स्वयंवरमें प्रकारके धूप जलाये गये थे जिनकी सुगन्धि राजाओंके चामरोंकी हवा को भी न्धित कर रही थी, आकाश तक पहुंचे हुए उनकी सुगन्धिसे विमानों पर बैठकर र देखनेके लिये घूमते हुए देवोंकी पूजा हुई । धूपसे देवताओं की पूजा करना ही है] ॥ ४ ॥

तत्रावनीन्द्रचयचन्दनचन्द्रलेपनेपथ्यगन्धमयगन्धवहप्रवाहम् ।
आलीभिरापतदनङ्गशरानुसारी संरुध्य सौरभमगाहत भृङ्गवर्गः ॥ ५ ॥

तत्रेति । तत्र स्वयंवरे, आलीभिः श्रेणीभिः, श्रेणीसम्बन्धात् आपततः आग-

च्छुतः, अनङ्गशरान् अनुसरतीति तदनुसारी तत्सदृशः, भृङ्गवर्गः अवनीन्द्रचयस्य । राजलोकस्य, चन्दनं चन्द्रः कर्पूरञ्च, 'अथ कर्पूरमस्त्रियां घनसारः चन्द्रसंज्ञः' इत्यम तयोर्लेपः, स एव नेपथ्यम् अलङ्कारः, तस्य यो गन्धस्तन्मयस्य तत्प्रचुरस्य, गन्ध वहस्य वायोः, प्रवाहं संरुध्य मध्ये मार्गमावृत्य, अथवा--आलीभिः स्वीयश्रेणीभि तादृशवायुप्रवाहं संरुध्य अन्यत्र कुत्रचित् गन्तुमदत्त्वा इत्यर्थः, सौरभम् आमोदम् अगाहत विलोडितवान् उपभुक्तवान् वा । सौगन्ध्यलोभात् भ्रमराः श्रेणीभूताः सन्त सभायां विचरन्ति स्म इति भावः ॥ ५ ॥

उस स्वयंवरमें राज-समूहके चन्दनाधिक कर्पूरके लेप (अङ्गराग) रूप भूपण सुगन्धित (पाठा०--भूषणकी सुगन्धिको ग्रहण करनेवाली) वायुको पङ्क्तियोंसे रोकक गिरते (या आते हुए) कामबाणके सदृश भ्रमरसमूहने भोग किया । (अथवा--पङ्क्तियों अर्थात् पङ्क्तिबद्ध होकर गिरते हुए······) । [अन्य भी कोई व्यक्ति वहते हुए किस पदार्थ को वस्त्रादिसे रोककर उसका उपभोग करता है । पङ्क्तिबद्ध भ्रमर-समूह की अधिक लम्बाई तथा कामोद्दीपक होनेसे कामबाण की उत्प्रेक्षा की गयी है । सुगन्धिकी अधिकतासे सर्वत्र भ्रमर-समूह उड़ रहे थे] ॥ ५ ॥

उत्तुङ्गमङ्गलमृदङ्गनिनादभङ्गीसर्वानुवादविधिबोधितसाधुमेधाः ।
सौधस्रजः प्लुतपताकतयाऽभिनिन्युर्मन्ये जनेषु निजताण्डवपण्डितत्वम्॥

उत्तुङ्गेति । उत्तुङ्गाः अतिताराः, ये मङ्गलमृदङ्गनिनादाः माङ्गलिकविवाहमुरजध्व नयः, तद्भङ्गीनां तत्प्रकारविशेषाणां, सर्वानुवादविधिना प्रतिध्वनिरूपेण कृत्स्नप्रत्यु च्चारणेन, बोधिता निवेदिता, साध्वी उत्कृष्टा, मेधा धारणाशक्तिः यासां ताः तथोक्ताः 'धीर्धारणावती मेधा' इत्यमरः, परोक्तसर्वविशेषानुवादस्य मेधाकार्यत्वात् तस्या तल्लिङ्गत्वमिति भावः; सौधस्रजः प्रासादपङ्क्तयः, प्लुतपताकतया चलत्पताकतया, चलत्करूपपताकतयेति भावः, जनेषु सभास्थितेषु विषये, समीपे वा, निजताण्डव पण्डितत्वं स्वस्य नृत्यकौशलं, 'ताण्डवं नटनं नाट्यं लास्यं नृत्यञ्च नर्त्तने' इत्यमरः, अभिनिन्युः व्यञ्जयन्ति स्म, मन्ये वाक्यार्थः कर्म । मृदङ्गप्रतिध्वानात् पताका चलनाच्च नर्त्तकीवत् वाक्यानुवादं हस्ताभिनयं चक्रुरिवेत्युत्प्रेक्षा, सौधपङ्क्तिषु नर्त्तकीव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिः अलङ्कारश्च ॥ ६ ॥

ऊँचे मङ्गलमय मृदङ्गके स्वरों की भङ्गीके सम्पूर्ण अनुवाद करने (प्रतिध्वनित होनेके कारण ज्यों का त्यो कहने) से श्रेष्ठ बुद्धिका प्रदर्शन किये हुए महलोंके समूहोंने चञ्चल ध्वजाओंसे लोगोंके सामने अपने नृत्यके पाण्डित्य अर्थात् नृत्यकलाचातुर्यको दिखलाया । [विवाहार्थ मङ्गलमय मृदङ्ग वज रहे थे उनका उच्च स्वर महलोंमें प्रतिध्वनित हो रहा था तथा ऊपरमें पताकाएं वायुसे हिल रही थीं तो ऐसा मालूम पड़ता था कि ये महल मृदङ्ग के स्वरोंको अनुवाद करते (दुहराते) हुए अपनी नृत्यकला का चातुर्य लोगोंको दिखला

। अन्य भी कोई चतुर नर्तकी मृदङ्ग आदि बाजाओंके स्वरोंको ज्योंके त्यों अनुवाद अर्थात् गाती हुई हाथ आदि अङ्गोंको हिलाकर अपनी नृत्यकला का प्रदर्शन के समक्ष करती है । तथा दूसरा कोई बुद्धिमान् शिष्य भी गुरुके वचनों का तया अनुवाद (दुहरा) कर हाथ आदिके द्वारा सङ्केत करता हुआ अपनी तीव्र परिचय लोगोंको देता है] ॥ ६ ॥

भाषणं भगवती सदृशं विधाय वाग्देवता विनयबन्धुरकन्धरायाः ।
चतुर्दशजगज्जनतानमस्या तत्राश्रिता सदसि दक्षिणपक्षमस्याः ॥ ७ ॥

सम्भाषणमिति । चतुर्दशानां जगतां समाहारश्चतुर्दशजगत्, तत्र जनतायाः समूहानां, नमस्या नमस्कार्या, 'नमोवरिव-' इति क्यचि धातुसंज्ञायामचो यत्, य विभाषा' इति क्यचो लोपः भगवती वाग्देवता सरस्वती, तत्र सदसि, विनबन्धुरकन्धरायाः नम्रग्रीवायाः, 'बन्धुरौ नम्रविषमौ' इति वैजयन्ती, अस्याः, दक्षिणपक्षं दक्षिणपार्श्वम्, अथ च अनुकूलपक्षम्, आश्रिता आस्थिता, दक्षिणपार्श्वस्थिता सतीत्यर्थः, सदृशं तत्कालोचितं, सम्भाषणं विधाय 'आगत्से ! पश्य' इत्यादि वाक्यमुक्त्वा, ऊचे वक्ष्यमाणमुवाच । दक्षिणपक्षमित्यदमयन्तीपक्षपातित्वं सूचितम् ॥ ७ ॥

स स्वयंवरमें भगवती (षड्गुण[1] ऐश्वर्यादिवाली) तथा चौदह भुवनों की जनताके पूजा (या नमस्कार) के योग्य सरस्वती विनयसे नम्र कन्धरावाली इस (दमयन्ती) ण पक्षका आश्रयकर अर्थात् पूज्य होनेसे दहने पार्श्वमें खड़ी होकर (अथवा— ल पक्षको लेकर) उचित (उस समयके योग्य) भाषा करके बोली—॥ ७ ॥

आगमन्मखभुजामिह कोटिरेषा येषां पृथक्कथनमब्दशतातिपाति ।
तं वृणीष्व मनसा परिभाव्य कञ्चिद् यं चित्तवृत्तिरनुधावति तावकीना ॥ ८ ॥

अभ्येति । हे वत्से ! इह स्वयंवरे, मखभुजां देवानाम्, एषा कोटिः अनन्तस, अभ्यागमत् अभ्यागता, येषां मखभुजां, पृथक् प्रत्येकमेव, कथनं वर्णनम्, नां वत्सराणां, शतानि अतिपतति अतिक्रामतीति तथोक्तं, तावता कालेनापि न शक्यते इत्यर्थः, अस्यां सुरकोट्यां, यं कञ्चित् सुरं, तवेयं तावकीना त्वदीया, युस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च' इति खञ् । 'तवकममकावेकवचने' इति तवका- चित्तवृत्तिः अनुधावति अनुयाति, मनसा परिभाव्य आलोच्य, तं वृणीष्व इत्यर्थः ॥ ८ ॥

हां (स्वयंवरमें) ये करोड़ों देव आये हुए हैं, जिनका अलग-अलग वर्णन करनेमें

---

[1] 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इति स्मृतः ॥ १ ॥'
इति कथिताः षड् भगा यस्याः सा 'भगवती' ।

सैकड़ों वर्ष बीत जायेंगे (तब भी यथावत् वर्णन नहीं हो सकेगा, अत एव इनका अलग अलग वर्णन करना ठीक नहीं)। मनसे विचारकर इनमें किसीको स्वीकार करो, जिसप तुम्हारी चित्तवृत्ति दौड़े अर्थात् जिसे तुम्हारा चित्त पसन्द करे। ['तुम्हारी चित्तवृ दौड़े, उसे मनसे विचारकर स्वीकार करो' ऐसा दमयन्तीसे कहकर सरस्वती देवी देवोंके वरण करनेमें अपनी असम्मति प्रकट की अर्थात् 'इनका वरण करना ठीक नह यह सङ्केत किया] ॥ ८ ॥

एषां त्वदीक्षणरसादनिमेषतैषा स्वाभाविकानिमिषतामिलिता यथाऽभूत्
आस्ये तथैव तव नन्वधरोपभोगैः मुग्धे ! विधावमृतपानमपि द्विधाऽस्तु ।

एषामिति। एषां सुराणां, त्वदीक्षणे रसात् अनुरागात्, एषा प्रत्यक्षपरिदृश्य माना, अनिमेषता निमेषराहित्यं, यथा स्वाभाविक्या 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यादि पुंवद्भावः। न निमिषतीत्यनिमिषा 'इगुपधलक्षणं कः' तेषां भावस्तत्ता अनिमिष निर्निमेषता, तया मिलिता सङ्गता सती, द्विधा द्विगुणिता, अभूत्, तथैव ननु अवि मुग्धे ! सुन्दरि ! विधौ चन्द्रे, अमृतपानमपि तव आस्ये आस्यचन्द्रे, अधरोपभो अधरामृतपानैः, मिलितं सत् द्विधाऽस्तु द्विगुणितमस्त्वित्यर्थः; स्वभावतो निमेष रहिता देवा यथा त्वद्दर्शनकार्येण निमेषशून्या जाता, तथा चन्द्रामृतपायिनोऽ त्वदधरामृतपायिनो भवन्तु इति भावः। अत्रानिमिषत्वामृतपानयोर्द्वैविध्यासम्ब न्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ९ ॥

हे सुन्दरि ! इन (देवों) का तुम्हारे देखनेके प्रेमसे यह निमेषाभाव जिस प्रका स्वाभाविक निमेषाभावसे मिलकर पुनरुक्त हुआ है, उसी प्रकार चन्द्रमामें अमृतपा करना भी तुम्हारे मुखमें अधरके उपभोग (अधरामृत पान करने) से पुनरुक्त होवे [देव स्वभावतः निमेष-रहित होते हुए भी फिर तुम्हारे देखनेके प्रेमसे जैसे फिर अनिमे हो गये, वैसे ही चन्द्रमें अमृतपान करनेवाले ये तुम्हारे मुखमें फिर अधरामृत पान करें]

एषां गिरेः सकलरत्नफलस्तरुः सः प्राग् दग्धभूमिसुरभेः खलु पञ्चशाखः
मुक्ताफलं फलनसान्वयनाम तन्वन्नाभाति बिन्दुभिरिव च्छुरितः पयोभिः

एषामिति। सकलानि रत्नान्येव फलानि यस्य स सर्वरत्नप्रसूतिरित्यर्थः, फल सस्यत्वेन सम्पादनं, 'फल निष्पत्तौ' इति धातोर्ल्युट्, तेन सान्वयम् अन्व नाम यस्य तन्मुक्ताफलं तन्वन् मुक्ताफलं तादृशं कुर्वन्, मुक्तानां शुक्त्यादिसम्‌ तत्वेन तासां फलत्वं न उपपन्नं, किन्तु कल्पवृक्षप्रसूतत्वेनैव फलत्वमुपपन्नमि मुक्ताफलस्य नाम सार्थकमेव कुर्वन्निति भावः, एषां सुराणां सम्बन्धी, स प्रसिद्ध तरुः कल्पवृक्षः, प्राक् पुरा, दुग्धा भूमिरेव सुरभिः गौः, गोरूपधरा भूमिः ओषधि रत्नादीनि दुग्धा इत्यर्थः, येन तस्य; तदुक्तं,—'प्रमाणं श्रूयते दुग्धा पुनर्दिव्यैर्व

---

१. 'पयोब्धेः' इति वा पाठः।

। ओषधीश्चैव भास्वन्ति रत्नानि विविधानि च ॥ वत्सस्तु हिमवानासीद् दोग्धा हागिरिः' ॥ इति; गिरेर्मेरोः सम्बन्धी, पयोभिः क्षीररूपैः, बिन्दुभिः छुरितः ो व्याप्तः, पञ्चशाखः पाणिरिव, आभाति खलु इत्युत्प्रेक्षा । 'पञ्चशाखः शयः ' इत्यमरः, अथ च पञ्च शाखाः वृक्षावयवविशेषाः यस्य सः शाखापञ्चक- ष्टः; पाणिना विना गोदोहनस्य असम्भवात् कल्पवृक्षः सुमेरोः कर आसीत्, ः पाणिः दुग्धबिन्दुभिर्दिग्धो भवतीति प्रसिद्धेः, अत्र रत्नानामेव दुग्धत्वात् कल्प- स्य च रत्नादिसम्पर्कात् सुतरां मेरोः कर एव कल्पवृक्षः इत्यर्थः; सुरवरणेन वृक्षः तथा मेरुस्ते हस्तगामी भविष्यतीति भावः ॥ १० ॥

समस्त रत्नरूपी फलवाला अर्थात् समस्त रत्न देनेवाला, फलनेसे सार्थक नामवाले फल (मोती) को विस्तृत करता हुआ अर्थात् मोतियोंसे व्याप्त, इन (देवों) का वह सिद्ध) वृक्ष (कल्पवृक्ष) पहले गोरूपधारिणी पृथ्वीको दुहनेवाले सुमेरु पर्वतके रूप (पाठा०—समुद्रके) बिन्दुओंसे व्याप्त हाथ (पक्षा०—पांच शाखाओंसे युक्त) मान शोभता है । [गोदोहनके लिये तत्पर सुमेरु पर्वतका हाथ कल्पवृक्ष हुआ में भी पांच अङ्गुलियां होती हैं और कल्पवृक्ष पांच शाखाओंवाला माना गया है, हन करनेपर हाथमें दुग्धकी बूँदोंका छींटा पड़ना उचित है, उन्हीं की कल्पवृक्षमें फले) हुए मुक्ताफलसे उत्प्रेक्षा की गयी है । गोपाल का सहचर बतलाकर इन दोनोंमें रस्वती देवीने वरण करनेकी अयोग्यता सूचित की है । 'पृथु राजासे आदिष्ट गोरूप णी पृथ्वीसे मेरु पर्वतने रत्नों तथा ओषधियोंको दुहा था' ऐसा शास्त्रीय वचन है]॥१०॥

न्दुसन्निधिनिमी[1]लिदलारविन्दद्वन्द्वभ्रमक्षममथाञ्जलिमात्ममौलौ ।
ाऽपराधभयचञ्चलमीक्षमाणा साऽन्यत्र गन्तुममरैः कृपयाऽन्वमानि ॥

वक्त्रेन्द्विति । अथ सरस्वतीवाक्यानन्तरं, वक्त्रेन्दोः सन्निधिना सन्निधानेन, लीनि सङ्कुचन्ति, दलानि पत्राणि ययोस्तयोः अरविन्दयोर्द्वन्द्वस्य युग्मस्य, भ्रम- भ्रान्तिजननशक्तिं, सङ्कुचद्दलपद्मयुगलतुल्यमित्यर्थः, अञ्जलिम् आत्ममौलौ स्वमू- कृत्वा देवान् नमस्कृत्येत्यर्थः, अपराधात् अवरणाद्धेतोः, यद्भयं सुरेभ्यः शापादि- , तेन चञ्चलं यथा तथा ईक्षमाणा देवान् पश्यन्ती, सा भैमी, अमरैः कृपया त्र गन्तुम् अन्वमानि अनुमता, दमयन्तीं स्वजातिमनुष्येषु अनुरागिणीं ज्ञात्वा वे अनुरागस्तं वृणु, मा भैषीरिति कृपयाऽनुमतेत्यर्थः; प्रणिपातप्रसाद्याः खलु न्त इति भावः । अत्राञ्जलौ वक्त्रेन्दुसन्निधिसङ्कुचितारविन्दयुगलभ्रान्तिवर्णनात् नुप्राणितो भ्रान्तिमदलङ्कारः इति सङ्करः । 'कविसम्मतसादृश्याद् वस्त्वन्तर- विस्वनं भ्रान्तिमान्' इति लक्षणात् ॥ ११ ॥

स (सरस्वती देवीके ऐसा (११।८–१०) कहने) के बाद मुखचन्द्रके समीपमें

---

[1] 'निमील' इति पाठान्तरम् ।

बन्द होनेवाले (पाठा०—होते हुए) दलों वाले दो कमलोंके भ्रमको उत्पन्न करनेवाले अञ्जलिको अपने मस्तकपर करके अर्थात् मस्तकपर अञ्जलि रखकर अपराध करनेके भय चञ्चलतापूर्वक देखती हुई दमयन्तीको देवोंने कृपाकर अन्यत्र जानेकी अनुमति दे दी [अन्य भी कोई दयालु व्यक्ति हाथ जोड़कर मस्तकपर रखने तथा समय देखनेपर उसक इच्छानुसार कार्य करनेकी अनुमति दे देता है, अतः दयालु देवोंका वैसा करना उन अनुरूप ही हुआ । मुखरूपी चन्द्रके समीप हस्तरूपी कमलदलका बन्द होना उचित है । दमयन्ती उन देवोंको छोड़कर आगे बढ़ी] ॥ ११ ॥

तत्तद्विरागमुदितं शिविकाऽधरस्थाः साक्षाद्विदुः स्म न मनागपि यानधुर्या
आसन्ननायकविषण्णमुखानुमेयभैमीविरक्तचरितानुमया[1] नु जज्ञुः ॥ १२

तत्तदिति । शिविकायाः यानविशेषस्य, अधरस्था अधःस्थिताः, यानस्य धुय धूर्वहाः, शिविकावाहिनः इत्यर्थः, शिवभागवतवत् समासः 'धुरो यड्ढकौ' इ यत्-प्रत्ययः उदितम् उत्पन्नं, तत्तत् विरागं तस्याः भैम्यास्तेषु तेषु नायकेषु वि विरागम् अपरागं, मनाक् ईषदपि, साक्षात् प्रत्यक्षं, न विदुः न विन्दन्ति स्म 'विद लटो वा' इति लिट् 'झेर्जुस्' इहि जुसादेशः, 'लट् स्मे' इति भूते लट् किन्तु आस न्नानां पुरोवर्त्तिनां, नायकानां विषण्णैः ग्लानियुक्तैः, मुखैरनुमेयानां भैम्या विरच चरितानां प्रत्याख्यानसूचकनमस्कारादिरूपचेष्टितानाम् , अनुमया अनुमाने 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ् , नु एव, जज्ञुः अज्ञासिषुः, तत्तद्विरागमिति शेषः, नायकमुख चेष्टया भैमीवैराग्यमनुमितवन्त इत्यर्थः ॥ १२ ॥

पालकीके नीचे रहनेवाले (ढोनेवाले) कहार उन-उन देवोंके विषयमें उत्पन्न हु (दमयन्तीकी) विरक्तिको बिलकुल नहीं जाने (दमयन्तीके पालकीमें ऊपर बैठनेसे त कहारोंके नीचे रहनेसे दमयन्ती को नहीं देख सकनेके कारण उसके भावको नहीं जान उचित ही है), किन्तु समीपस्थ नायकों (देवों) के उदासीन मुखके द्वारा अनुमान कर योग्य दमयन्तीके स्नेहाभावके आचरणों (नमस्कार आदि) से अनुमान करनेवाले (पालकी ढोनेवाले कहार) निश्चय ही जान गये (पाठा०---बादमें आगे बढ़े) । [पार्श्वस देवोंके मलिन मुखसे दमयन्तीके स्नेहाभावका अनुमान कर वे देव 'आगे चलो' ऐस आज्ञा नहीं पानेपर भी आगे बढ़ गये, इससे उनकी चतुरता सूचित होती है] ॥ १२ ॥

रक्षःस्वरक्षणमवेक्ष्य निजं निवृत्तो विद्याधरेष्वधरतां वपुषैव भैम्याः ।
गन्धर्वसंसदि न गन्धमपि स्वरस्य तस्या विमृष्य विमुखोऽजनि यानिवर्गः

रक्षःस्विति । यानं वाहनमस्तीति यानिनः शिविकावाहिनः, तेषां वर्गः समूह रक्षःसु राक्षसेषु, निजं स्वकीयम् , अरक्षणं विनाशनम् , अवेक्ष्य विविच्य, तेषां हिं

---

[1] '—मया तु जग्मुः' '—ऽनुजग्मुः' इति वा पाठान्तरम् ।

षु गमनमनुचितं निश्चित्येत्यर्थः, निवृत्तः तेभ्यः पराङ्मुखोऽभूत्, राक्षसानां
मने ते यदि अस्मान् भक्षयेयुः इति भयेन तेषां समीपेऽपि न जग्मुः इति
विद्याधरेषु देवयोनिभेदेषु, भैम्याः भैमीतः, 'पञ्चमी विभक्तेः' इति पञ्चमी,
एव अधरतां निकृष्टत्वं, विमृष्य निश्चित्य, तथा गन्धर्वाणां संसदि सङ्घे, तस्याः
स्वरस्य गन्धमपि लेशमपि, न विमृष्य लेशस्याप्यभावं ज्ञात्वा इत्यर्थः,
नशब्देन सुप्सुपेति समासः, 'गन्धो लेशे महीगुणे' इति वैजयन्ती, विमुखो-
पराङ्मुखो जातः। जने कर्त्तरि लुङ्, 'दीपजन—' इत्यादिना कर्त्तरि
शः ॥ १३ ॥

की ढोनेवाले कहारोंका समुदाय (शिविकावाहक लोग) राक्षसोंमें अपनी रक्षाका
देखकर ही लौट गया ('ये राक्षस हमें खा जायेंगे' इस भयसे वहां नहीं गया),
(अश्वमुख एवं नरशरीर वाले तथा नरशरीर एवं अश्वमुखवाले) में दमयन्तीके
अपेक्षा नीचता (कम सौन्दर्य) को और गन्धर्व-समूहमें उस (दमयन्ती) के
लेश (थोड़ा-सा अंश) भी नहीं विचार कर (वहांसे) विमुख हो गया।
विद्याधर तथा गन्धर्वोंके अयोग्य होनेसे वहां दमयन्तीके शिविकावाहक नहीं गये]॥

सत्स्वपि कृताफलवित्तरक्षैर्यक्षैरदर्शि न मुखं त्रपयैव तस्याम्[1]।
नते स्म सुरशाखिपतिव्रतां किं तां कल्पवीरुधमधिक्षिति नावतीर्णाम्?॥

नेष्विति। दीनेषु दरिद्रेषु, सत्सु विद्यमानेषु अपि, कृता अफला निष्फला,
ा धनगुप्तिः यैस्तैः कृपणैः, यक्षैः त्रपयैव तस्यां भैम्यां विषये, मुखं न अदर्शि
तं, दृशेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्, तथा हि, ते यक्षा, तां दमयन्तीम्, अधिक्षिति
विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः, अवतीर्णाम् उत्पन्नां, सुरशाखिपतिव्रतां सुरशाखिनां
कल्पवृक्षस्येव, व्रतम् इच्छापूरकत्वलक्षणं यस्यास्ताम्, अथ–च कल्पवृक्षस्व-
नलपत्नीं, कल्पवीरुधं कल्पलतां, न जानते स्म किम्? बहुदात्रीं तां ज्ञातवन्त
तः तेषां निधिगोपकानाम् अतिवदान्यायास्तस्याः कुतो वरणवार्त्ताऽपीति
अस्या वदान्यतया तेषां युक्ता लज्जेति कारणात् कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तर-
॥ १४ ॥

नजनोंके रहनेपर भी व्यर्थमें धनको बचाये हुए यक्षोंने लज्जासे दमयन्तीके पास
—दमयन्तीसे लज्जा होनेसे) मुख ही नहीं दिखलाया, क्योंकि वे (यक्ष) उस
न्ती) को पृथ्वीमें अवतार ली हुई अर्थात् पृथ्वीमें उत्पन्न कल्पवृक्षकी पत्नी कल्पलता
नते थे क्या ? अर्थात् अवश्य जानते थे। (देववृक्ष कल्पतरु स्वर्गमें रहता है, किन्तु
पित फल देनेवाली यह दमयन्ती उस कल्पतरु की पतिव्रता पत्नी की तरह है, इस
दानशीला दमयन्तीके सामने धनकी व्यर्थ रक्षा करनेवाले यक्षोंको लज्जा आयी

---

[1] भैम्यां, भैम्याः, इति पाठान्तरे।

अत एव वे स्वयंवरमें नहीं आये। अन्य भी कोई कृपण व्यक्ति दानीके सामने आ
लज्जित होता है]॥ १४ ॥

जन्यास्[1]ततः फणभृतामधिपं सुरौघान्माञ्जिष्ठमञ्जिमविगा[2]हिपदौष्ठलक्ष्मीम्
तां मानसं निखिलवारिभरान्नवीना हंसावलीमिव घना गमयाम्बभूवुः

जन्या इति । ततोऽनन्तरं, जनीं बधूं वहन्तीति जन्याः बधूभृत्याः, 'जन्या भृ
नवोढायाः' इति केशवः । 'संज्ञायां जन्याः' इति यत्-प्रत्ययान्तो निपातः, मञ्जि
रागद्रव्यविशेषेण रक्तं माञ्जिष्ठं 'तेन रक्तम्' इत्यण्, तस्य मञ्जिमानं रामणी
विगाहते इति तद्विगाहिनी तादृशरक्तवर्णेत्यर्थः, पदौष्ठस्य पदयोरोष्ठयोश्च, लक्ष्मी
शोभा यस्यास्ताम्, विशेषणमेतत् हंसावल्यामपि योज्यम्, 'ओत्वोष्ठयोः समासे
इति पररूपं वक्तव्यम्, तां भैमीं, नवीनाः घनाः मेघाः, हंसावलीं हंसश्रेणीं, निखि
वारिझरात् जलप्रवाहात्, मानसं मानसाख्यं सर इव, सुरौघात् सुरौघं विहाय,
ल्यब्लोपे पञ्चमी, 'जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः' इति कविसमयप्रसिद्धिः;
भृतामधिपं वासुकिं, गमयाम्बभूवुः निन्युः ॥ १५ ॥

इसके बाद वधू (दमयन्ती) के भृत्य (या वाहक, पाठा०—यानवाहक) मँजी
रङ्गके समान सुन्दरतायुक्त पैरों और ओठोंकी शोभावाली उस दमयन्ती को देव-सम
हटाकर सर्पराज (वासुकि) के पास उस प्रकार ले गये, जिस प्रकार नये मेघ हंसपङ्क्ति
समस्त जलप्रवाहसे हटाकर मानसरोवर ले जाते हैं]॥ १५ ॥

यस्या विभोरखिलवाङ्मयविस्तरोऽयमाख्यायते परिणतिर्मुनिभिः पुनः सा
उद्गत्वरामृतकरार्द्धपरार्द्ध्यभालां बालामभाषत सभासततप्रगल्भा ॥१६

यस्या इति । अयम् अखिलवाङ्मयविस्तरः शब्दप्रपञ्चः, मुनिभिर्व्यासादि
विभोः महाशक्तेः, यस्याः देव्याः सरस्वत्याः, परिणतिः रूपान्तरम्, आख्याय,
सभासु सततप्रगल्भा सा देवी सरस्वती, उद्गत्वरस्य उदित्वरस्य, उदीयमान
इत्यर्थः, 'गत्वरश्च' इति गमेः क्वरबन्तो निपातः, अमृतकरस्य इन्दोः, अर्द्धमिव प
र्द्ध्यमुत्कृष्टं, भालं ललाटं यस्यास्तां, बालां भैमीं, पुनः अभाषत उक्तवती ॥ १६ ॥

मुनि लोग इस समस्त शब्दप्रपञ्चको महाशक्तिवाली जिस (सरस्वती देवी) का परिण
अर्थात् रूपान्तर कहते हैं, सभामें निरन्तर प्रगल्भ वह (सरस्वती) देवी उदय लेते
अर्द्धचन्द्रके समान श्रेष्ठ ललाटवाली बाला (दमयन्ती) से बोली—॥ १६ ॥

आश्लेषलग्नगिरिजाकुचकुङ्कुमेन यः पट्टसूत्रपरिरम्भणशोणशोभः ।
यज्ञोपवीतपदवीं भजते स शम्भोः सेवासु वासुकिरयं प्रसितः सितश्रीः

आश्लेषेति । यो वासुकिः, आश्लेषात् आलिङ्गनात्, लग्नेन सक्तेन, गिरिजा
पार्वत्याः, कुचयोः कुङ्कुमेन पट्टसूत्रस्य परिरम्भणात् परिवेष्टनादिव, शोणशोभः अरु

---

[1] 'यान्याः' [2] '–मवगाहि–' इति पाठान्तरम् ।

सन्, शम्भोर्यज्ञोपवीतस्य पदवीं पदं, भजते; यज्ञोपवीतञ्च शुभ्रं ग्रन्थिस्थाने रक्तवर्णं भवतीति प्रसिद्धिः; सेवासु शम्भोः परिचर्य्यासु, प्रसितस्तत्परः, प्रसितासक्तौ' इत्यमरः, सितश्रीः शुभ्रकान्तिः, स वासुकिरयमिति पुरोवर्त्ति- वासुकेः सततं शम्भुसेवातत्परतया सम्भोगाद्यसम्भवान्नैष वरणीय इति भावः॥

लिङ्गनसे ससक्त (लगे हुए) पार्वतीके स्तनकुङ्कुमसे पट्टसूत्रसे वेष्टितके समान लाल कान्तिवाला जो शङ्करजीके यज्ञोपवीतके स्थानको प्राप्त किया है अर्थात् यज्ञोपवीत- हुआ है, शङ्करजीकी सेवामें तत्पर (पाठा०—प्रसिद्ध) एवं श्वेत वणकी कान्ति- यह वासुकि है । [यज्ञोपवीत भी श्वेत होता है तथा उसके ग्रन्थि-स्थानमें सूत्रसे लालवर्णकी कान्तिवाला हाेता है । चतुर्वर्णत्वके अधिकारको लेकर देवोंमें भी शिव, विष्णु तथा अश्विनीकुमार को क्रमशः 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र होंना वर्णित है, मञ्जीठसे रंगा हुआ या वैसे वर्णका यज्ञोपवीत क्षत्रियके लिये धारण शास्त्रीय विधान होनेसे क्षत्रिय वर्ण शङ्करजोका वासुकिको रक्त यज्ञोपवीत रूपमें उचित ही है ॥ 'सर्वदा शङ्करजी की सेवामें तत्पर रहनेसे यह सम्भोगके योग्य ऐसा सरस्वती देवीने दमयन्तीसे सङ्केत किया] ॥ १७ ॥

फणी भजति कङ्कणभूयमैशे सोऽयं मनोहरमणीरमणीयमूर्त्तिः ।
रबन्धनधनुर्गुणयोगपट्टव्यापारपारगममुं भज भूतभर्त्तुः ॥ १८ ॥

णाविति । मनोहरैः मणीभिः रमणीयमूर्त्तिः सोऽयं फणी वासुकिः, ऐशे ईश- न्धिनि, पाणौ करे, कङ्कणभूयं कङ्कणत्वं, 'भुवो भावे' इति क्यप्, भजति ति; भूतभर्त्तुः महादेवस्य, कोटीरबन्धनं कपर्दबन्धनं, जटाजूटग्रन्थिबन्धनमिति , धनुषो गुणो मौर्वी, योगपट्टश्च तेषां व्यापारस्य भवनलक्षणस्य, पारगं तत्तत्कार्यकुशलमिति भावः, अमुं वासुकिं, भज वृणीष्व; तादृग्विशेषणे- वरणायोग्यत्वं सूचितम् । अत्रैकस्य वासुकेः अनेकेषु कोटीरादीषु क्रमेण वृत्तेः भेदः । अथानुभावविशेषाद् यौगपद्यसम्भवे तु समुच्चयः ॥ १८ ॥

नोहर मणियों (नागमणियों) से रमणीय मूर्तिवाला प्रसिद्ध यह सर्प शङ्करजोके कङ्कणभावको प्राप्त करता है अर्थात् कङ्कण बनता है (पाठा०—विशाल यह फणी के नामक सर्प) मनोहर मणियोंसे रमणीय कङ्कणभावको प्राप्त करता है । अथवा— मणियोंवाला, विशाल एवं वह (प्रसिद्ध) यह फणी शङ्करजीके हाथमें रमणीय…) । के जटाजूट (जटासमूह) बांधने, धनुषकी डोरी तथा योगपट्टके कार्यको पूरा के उस (वासुकि) को सेवन (वरण) करो । [जटाजूटका बन्धनादि व्यापारोपयुक्त को बतलाकर सरस्वतीदेवीने वरणके अयोग्य होने का सङ्केत किया है] ॥ १८ ॥

कथा रसनयाऽमृतमीश्वरेन्दोरप्यन्यया त्वदधरस्य रसं द्विजिह्वः ।
दयन् युगपदेष परं विशेषं निर्णेतुमेतदुभयस्य यदि क्षमः स्यात् ॥१९॥

धृत्वेति । द्विजिह्वो रसनाद्वयवान्, एष परम् एष वासुकिः एव, एकया रस जिह्वया, ईश्वरेन्दोः हरशिरश्चन्द्रस्य, अमृतम्, अन्यया रसनया, त्वदधरस्य रसम् अमृतं, धृत्वा युगपदास्वादयन् एतदुभयस्य एतस्य रसद्वयस्य, विशेषम निर्णेतुं यदि क्षमः समर्थः, स्यात्, नान्यः कश्चित् क्षमः इत्यर्थः। इन्द्रमृतादेतद मृतमेव ज्याय इति भावः ॥ १९ ॥

एक जिह्वासे शङ्करजीके चन्द्रमाके अमृतको तथा दूसरी जिह्वासे तुम्हारे अधरके र ग्रहणकर सम्यक् प्रकारसे एक साथ ही स्वाद लेता हुआ इन दोनों की उत्कृष्ट विशेष निर्णय करनेके लिये यदि समर्थ हो सकता है तो यह वासुकि ही समर्थ हो सकता [राजाओं का चन्द्रामृत-पान करना असम्भव है, तथा देवोंका चन्द्रामृत पान करना स होनेपर भी दो जिह्वा नहीं होनेके कारण एक साथ चन्द्रामृत तथा तुम्हारे अधरका करना असम्भव है, किन्तु यह वासुकि दो जिह्वा होनेसे शिवमस्तकस्थ चन्द्र तथा तुम् अधरके अमृतका एक साथ पान कर दोनोंके तारतम्य (श्रेष्ठाश्रेष्ठत्व) के निर्णय करने यही समर्थ हो सकता है, अन्य राजा या देवता आदि नहीं ॥ १९ ॥

आशीविषेण रदनच्छददंशदानमेतेन ते पुनरनर्थतया न गण्यम् ।
बाधां विधातुमधरे हि न तावकीने पीयूषसारघटिते घटतेऽस्य शक्तिः॥२

आशीविषेणेति । आशीषि दंष्ट्रायां विषमस्येत्याशीविषः विषधरः, पृषोदरा त्वात् साधुः, 'स्त्री त्वाशीर्हिताशंसाऽहिदंष्ट्र्योः' इत्यमरः, तादृशेन, एतेन वासुकि ते पुनः तव तु, रदनच्छदस्य अधरस्य, दंशदानं दंशनकरणम्, अनर्थतया न गण अपमृत्य्वाद्यनिष्टहेतुत्वेन न मन्तव्यं, चुम्बने विषसञ्चारसम्भावनया एतद्वरणं त्याज्यमिति भावः; कुतः? हि यस्मात्, पीयूषसारेण घटिते निर्मिते, तावक त्वदीये, अधरे बाधां दंशेन पीडां, विधातुम् अस्य दंशनस्य वासुकेर्वा, शक्तिर्न घ न सम्भवति, अमृतघटितस्य कुतो विषभयमिति भावः ॥ २० ॥

आशीविष (तालुगत दाँतमें विषवाले) इस (वासुकि) से अधरच्छेदन (रतिका अधरामृत पान करते समय काटना) को अनर्थकारक (मृत्युकारण) मत मानो (अथ महाविषयुक्त यह वासुकि मेरे अधरमें दंशन करेगा तो मेरी मृत्यु हो जायेगी ऐसी सम्भाव मत करो), क्योंकि अमृतके सारसे युक्त तुम्हारे अधर में बाधा पहुंचानेके लिये इस (वासु की शक्ति नहीं चल सकती। [अमृतमें विषका प्रभाव नहीं पड़नेसे वैसे अनर्थकी श मत करो] ॥ २० ॥

तद्विस्फुरत्फणविलोकनभूतभीतेः कम्पञ्च वीक्ष्य पुलकञ्च ततोऽनु तस्याः
सञ्जातसात्त्विकविकारधियः स्वभृत्यान् नृत्यान्न्यषेधदुरगाधिपतिर्विलक्षः

तदिति । ततोऽनु वाणीवाक्यानन्तरं, तस्य वासुकेः, विस्फुरतां स्फारयत फणानां विलोकनेन भूतभीतेः सञ्जातसाध्वसायाः, तस्याः दमयन्त्याः, कम्पं वेप

वीक्ष्य सञ्जाता सात्त्विकविकारधीः श्रृङ्गारसात्त्विकभ्रमबुद्धिः येषां तान्,
ान् विलक्षो भैमीभावज्ञानलज्जितः, उरगाधिपतिः वासुकिः, नृत्यात् आनन्द-
त्, न्यषेधत् न्यवारयत्, स्वस्वामिवैलक्ष्यात् भैमीवैराग्यप्रतीतेस्ते खिन्ना
। अत्र भृत्यानां भैमीभयसात्त्विकेषु श्रृङ्गारसात्त्विकभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलङ्कारः।
प्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू। अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ सात्त्विकाःपरिकीर्त्तिताः'

(सरस्वती देवीके ऐसा (११।१७–२०) कहने के वाद उस (वासुकि) के
फणाओंको देखनेसे डरी हुई उस (दमयन्ती) के कम्पन तथा वादमें रोमाञ्चको
(दमयन्तीमें वासुकिके प्रति स्नेह–सूचक) सात्त्विक विकारको समझनेवाले (अत
) नृत्य करते हुए अपने भृत्योंको लज्जित वासुकिने मना किया। [दमयन्ती
स्फुरित होते हुए फणाओंको देख डरकर कम्पित हो गयी और वादमें तत्काल ही
त भी हो गयी, ये दोनों कार्य भयजन्य थे, किन्तु वासुकिके भृत्योंने समझा कि
ामीमें अनुरक्त होनेसे दमयन्तीको काम तथा रोमाञ्च नामक सात्त्विक भाव हो
अत एव यह मेरे स्वामीको अवश्य वरण करेगी, और ऐसा समझकर वे हर्षित हो
लगे, यह देख दमयन्ती की विरक्ति को ठीक-ठीक समझने तथा अपने भृत्योंके
र्यसे लज्जित वासुकिने उन्हें झट मना कर दिया] ॥ २१ ॥

ाभिः स्ववरणे फणिभिर्निराशैः निःश्वस्य तत् किमपि सृष्टमनात्मनीनम्।
प्रयातुमनसोऽपि विमानवाहा हा हा! प्रतीपपवनाशकुनान्नजग्मुः॥

दिति। तद्दर्शिभिः वासुकिवृत्तान्तसाक्षात्कारिभिः, अत एव स्ववरणे निराशैः
पराहतैरित्यर्थः, फणिभिः अन्यैः कर्कोटकादिनागैः, निःश्वस्य निःश्वासं कृत्वा,
ःश्वसितरूपं, किमपि अवाच्यम्, आत्मने हितम् आत्मनीनम् 'आत्मन्विश्व-
गोत्तरपदात् खः' इति खः, तद्विरुद्धम् अनात्मनीनं, सृष्टं निःश्वासेनात्मनो
नर्थहेतुराचरित इत्यर्थः; कुतः? यत् यस्मान्निःश्वासकारणात्, तान् फणिनः
प्रयातुमनसः गन्तुकामा अपि, विमानं वहन्तीति विमानवाहाः दमयन्ती-
कावाहिनः, कर्मण्यण्, प्रतीपपवनः प्रतिकूलवायुः एव, यत् अशकुनम् अया-
हं तस्मात् हेतोः, न जग्मुः दूरत एव तान् परिजह्रुरित्यर्थः, अत एव हा
खेदे ॥ २२ ॥

से (स्वामी वासुकिके प्रति दमयन्तीके स्नेहाभावको) देखनेवाले (अत एव) अपने
ण करनेमें निराश (हमारे स्वामी को ही जब दमयन्तीने वरण नहीं किया तो हमें
रेगी' इस विचारसे निराश) सर्पों (कर्कोटक आदि दूसरे सर्पों) ने (दुःखके कारण)
श्वास लेकर (फुफकार छोड़कर) कुछ अपने लिये अहितकारक कार्य किया, क्योंकि
(उन सर्पोंकी ओर) जानेके इच्छुक भी शिविकावाहक प्रतिकूल वायुरूप अशकुन
बहुत खेद है कि नहीं गये। (संभव था कि यदि उन कर्कोटकादि सर्पोंकी ओर

शिविकावाहक दमयन्ती को ले जाते तो कदाचित् वह उनमेंसे किसीको वरण कर ले किन्तु विषमय उनके उष्ण श्वास वायुको अशकुनसूचक वायु मानकर शिविकावाहक गये यह तो उन सर्पोंके रही–सही अपनी आशापर भी पानी फेर कर अपने हाथों अपने पैर में कुल्हाड़ी मारी अर्थात् अपना ही अहित किया। प्रतिकूल वायुको अश सूचक शास्त्रकारोंने माना है ॥ २२ ॥

ह्रीसङ्कुचत्फणगणादुरगप्रधानात् तां राजसङ्घमनयन्त विमानवाहाः।
सन्ध्यानमद्दलकुलात् कमलाद् विनीय कह्लारमिन्दुकिरणा इव हासभासम्

ह्रीति। विमानवाहाः शिविकावाहिनः, तां दमयन्तीं, ह्रिया लज्जया, सङ्कु फणगणो यस्य तस्मात् उरगप्रधानात् उरगराजात् वासुकेः, विनीय अपनीय, इ किरणाः हासभासं विकासलक्ष्मीं, सन्ध्यायां नमद्दलकुलात् सङ्कुचत्पत्रचया कमलात् पद्मात्, विनीय अपनीय, कह्लारं सौगन्धिकमिव, राजसङ्घं नृपसमूह अनयन्त प्रापयन्। ङित्त्वादात्मनेपदं 'नीवह्योर्हरतेश्च' इति वचनाद् द्विकर्मकत्व उपमालङ्कारः ॥ २३ ॥

शिविकावाहक लज्जासे सङ्कुचित होते हुए फणा–समूहवाले सर्पराज (वासुकि) से हटा उस (दमयन्ती) को उस प्रकार राज–समूहमें ले गये, जिसप्रकार चन्द्रकिरण सन्ध कालसे बन्द होते हुए पँखड़ियोंवाले कमलसे विकसित होती हुई दीप्तिको हटाकर क (रक्तकमल—रात्रिमें विकसित होनेवाला सौगन्धिक) के पास ले जाते हैं ॥ २३ ॥

देव्याऽभ्यधायि भव भीरु ! धृतावधाना
भूमीभुजः ! त्यजत[1] भीमभुवो निरीक्षाम्।
आलोकितामपि पुनः पिबतां दृशैता
मिच्छाऽपगच्छति न वत्सरकोटिभिर्वः ॥ २४ ॥

देव्येति। देव्या वाग्देव्या सरस्वत्या, अभ्यधायि अभिहितम्; किम्? तदाह हे भीरु! भयशीले! भीरुशब्दात् 'ऊङुतः' इत्यूङ्प्रत्यये सम्बुद्धौ नदीह्रस्वः, धृतम् धानं यया सा भव अवहिता शृण्वित्यर्थः। हे भूमीभुजः! भूपाः! यूयञ्च भीमभु भैम्याः निरीक्षाम् ईक्षणं, 'गुरोश्च हलः' इति स्त्रियाम् अ-प्रत्ययः, त्यजत मा कु कुतः? युष्मासु पश्यत्सु दमयन्ती ह्रीपारवश्यात् युष्मान् प्रति दर्शनं न दास्य अतो नैनां विलोकयत इति भावः; आलोकिताम् ईक्षितां, दृष्टामपीत्यर्थः एतां पु दृशा पिबताम् आस्थया पश्यतां, वो युष्माकं, वत्सरकोटिभिः अनन्ताब्दैरपि, इ दर्शनेच्छा, न अपगच्छति, अतो मद्वाक्यमवहिताः शृणुतेत्यर्थः ॥ २४ ॥

देवी (सरस्वती देवी) ने (क्रमशः दमयन्ती तथा राजाओंको सावधान करते हुए कहा—हे भीरु! (वासुकिके देखनेसे या भयके स्त्रीसहज होनेसे डरनेवाली दमयन्ती

---

१. 'भजत' इति पाठान्तरम्।

न हो जाव, (तथा) हे राजालोग ! भीमकुमारी (दमयन्ती) का देखना छोड़ो
०—देखो । क्योंकि) देखी गयी भी दमयन्तीको फिर देखते हुए तुम लोगोंको इच्छा
वर्षों तक भी पूरी नहीं होगी । ['त्यजत' पाठमें—परम सुन्दरी दमयन्तीको बार-
रोड़ों वर्षों तक देखते रहनेपर देखनेकी इच्छा बनी ही रहेगी । अतएव यदि इसे
तुमलोग देखते ही रहोगे तो सम्भव है कि लज्जाशीला दमयन्ती तुम लोगोंको
तरह नहीं देख सकनेके कारण वरण भी न करे, तथा पहले इसे देख ही लिया है
अब इसे देखने का अवसर दो, जिससे यह तुम लोगोंको देखकर वरण कर सके ।
' पाठमें—परमसुन्दरी……बनी ही रहेगी, इसलिये इच्छानुसार देखो देखते
र भी विरसता नहीं आनेवाली है] ॥ २४ ॥

शकेशवशिवानपि यश्चकार शृङ्गारसान्तरभृशान्तरशान्तभावान् ।
न्द्रियाणि जगतामिषुपञ्चकेन सङ्क्षोभयन् वितनुतां वितनुर्मुदं वः ॥२५॥

लोकेशेति । योऽनङ्गः, लोकेशकेशवशिवान् ब्रह्मविष्णुमहेशानपि, शृङ्गारेण शृङ्गार-
, सान्तरः सावकाशः, विरल इत्यर्थः, भृशो गाढः, आन्तरः आभ्यन्तरः,
भावः शान्तरसो येषां तान् रागजर्जरितवैराग्यान्, चकार; पञ्चानां सङ्घः
, 'सङ्ख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु' इति कन्प्रत्ययः, इषूणां पञ्चकेन जगतां
द्रियाणि चक्षुरादीनि, सङ्क्षोभयन् व्याकुलयन्, स वितनुः अनङ्गः, वो युष्माकं,
वितनुतां विस्तारयतु; विश्वविजयिनो भगवतः कामदेवस्य प्रसादः कस्य न
ः? इति भावः ॥ २५ ॥

संसार (संसारियों) के पञ्चेन्द्रियोंको पाँच बाणोंसे अत्यन्त क्षुभित करते हुए जिसने
विष्णु तथा महेशके भी अत्यन्त दृढ़ आन्तरिक विरक्तिको शृङ्गार रससे शिथिल कर
, वह कामदेव आपलोगोंके हर्षको बढ़ावे । (अथवा—जिसने ब्रह्मा,…शिथिल कर
संसार…करता हुआ वह कामदेव आपलोगोंके हर्षको बढ़ावे) । [सृष्टि, स्थिति तथा
करनेवाले ब्रह्मा-विष्णु तथा महेश भी जिसके वशवर्ती हो गये, उसके लिये आप
को वशीभूत करनेमें कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा, अतएव आप लोग
न्तीको देखना छोड़ दीजिये जिससे यह निःसङ्कोच आपलोगोंको देखकर वरण कर
पूर्व श्लोकके 'भजत' पाठमें—अत एव आपलोग इस दमयन्तीको इच्छापूर्वक
रहिये] ॥ २५ ॥

षुणा ध्रुवममूनिषुवर्षजप्तहुङ्कारमन्त्रबलभस्मितशान्तिशक्तीन् ।
रसर्गरसिकद्व्यणुकोदरि ! त्वं द्वीपाधिपान् नयनयोर्नय गोचरत्वम् ॥

पुष्पेषुणेति । रसोऽस्यास्तीति रसिकम्, 'अत इनिठनौ' इति ठन्प्रत्ययः, द्वावणू
त्वेनास्यास्तीति द्व्यणुकम् अणुद्वयारब्धद्रव्यं, शैषिकः क-प्रत्ययः, द्व्यणुकादि-
ण कार्यद्रव्यारम्भ इति तार्किकाः; शृङ्गारस्य सर्गे निर्माणे, रसिकं प्रवृत्तं, यत्

द्व्यणुकं तद्वदेवोदरं यस्यास्तस्याः सम्बुद्धिः; शृङ्गारभावोद्दीपका अतिकृशोद भावः, त्वं पुष्पेषुणा ध्रुवं सत्यम्, इषुवर्षे वाणमोक्षकाले, जप्तः उच्चारित हुङ्कारः कोपप्रयुक्तः, स एव मन्त्रस्तस्य वलेन सामर्थ्येन, भस्मिता भस्मी 'तत् करोति—'इति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः, शान्तिशक्तिः इन्द्रियनिग्रहसा येषां तान्, अमून् द्वीपाधिपान् पुष्करादिद्वीपपालकान् राज्ञः, नयनयोर्गोचरत्वं विषयत्वं, नय पश्येत्यर्थः ॥ २६ ॥

हे शृङ्गाररचनामें अतिशय प्रवृत्त द्व्यणुकके समान (या द्व्यणुक रूप) अर्थात् अ पतले उदर (कटि) वाली (दमयन्ती) ! कामदेवके द्वारा वाणवृष्टि करनेमें जपा (पाठा०—जपरूप) हुङ्कार रूप मन्त्र वलसे नष्ट हुई इन्द्रिय-निग्रहादि शक्तिवाले हुङ्कार करते हुए कामदेवके वाणवर्षा करनेसे वढ़ी हुई इन्द्रिय-शक्तिवाले (कामवशी इन सातों द्वीपोंके राजाओंको नेत्रोंका विषय करो अर्थात् देखो। [जैसे 'हुं, आदि मन्त्रका जप करता हुआ कोई व्यक्ति प्रतिपक्षीकी शक्तिको नष्ट कर देता है, प्रकार कामदेवने हुङ्कारका उच्चारण करते हुए वाणोंकी वर्षाकर इनकी जितेन्द्रियत्व शक्तिको नष्ट कर कामवशीभूत कर दिया है। वाण छोड़ते समय 'हुम्' शब्दका उच्चा करना अनुभवगम्य विषय है] ॥ २६ ॥

स्वादूदके जलनिधौ सवनेन सार्द्धं भव्या भवन्तु तव वारिविहारलीलाः
द्वीपस्य तं पतिममुं भज पुष्करस्य निस्तन्द्रपुष्करतिरस्करणक्षमाक्षि !॥२

स्वाद्विति। हे निस्तन्द्रपुष्करतिरस्करणक्षमाक्षि ! उन्निद्रपद्मविजयसमर्थने कमलायताक्षीत्यर्थः, पुष्करस्य पुष्कराख्यस्य द्वीपस्य, पतिं सवनम्, अमुं वृणीष्व, ततः स्वादूदके जलनिधौ मधुरोदकसमुद्रे, सवनेन सवनाख्येन रा सार्द्धं तव भव्याः मनोहराः, वारिविहारलीलाः जलक्रीडाविनोदाः, भवन्तु सन्तु॥

हे विकसित कमलके तिरस्कारमें समर्थ नेत्रवाली (कमलविजयी नेत्रोंवाली दमयन्ती स्वादिष्ठ जलवाले समुद्रमें 'सवन' नामक इस राजाके साथ तुम्हारी जलविहारकी क्रीड़ सुन्दर हों, उस 'पुष्कर' द्वीपके पति इस ('सवन' राजा) को वरण करो। [यह 'पुष्क द्वीपका राजा है, इसका 'सवन' नाम है, इसको वरणकर उस द्वीपके स्वादु जलवाले समुद्र इस राजाके साथ सुखद जलक्रीडा करो] ॥ २७ ॥

सावर्त्तभावभवदद्भुतनाभिकूपे ! स्वभौममेतदुपवर्त्तनमात्मनैव ।
स्वाराज्यमर्जयसि न श्रियमेतदीयाम् ? एतद्गृहे परिगृहाण शचीविलासम्

सावर्त्तेति। रोम्णाम् अम्भसाञ्च भ्रमः आवर्त्तः, आवर्त्तेन सह वर्त्तमानः साव तस्य भावः तेन सावर्त्तभावेन सावर्त्तत्वेन, भवत् प्रादूर्भूतम्, अद्भुतम् आश्च यस्मात् स चित्रीयमाणः, नाभिरेव कूपो यस्याः सा तस्याः सम्बुद्धिः सावर्त्तेत्यादि कूपे सावर्त्तत्वं चित्रमिति भावः; एतस्य राज्ञः सवनस्य, उपवर्त्तनं देशः, 'देशविपर्य

र्तनम्' इत्यमरः, आत्मनैव स्वयमेव, भौमं भूमिभवं,ः स्वः स्वर्गः, अतः एतदीयां स्वाराज्यं स्वर्गराज्यं, 'रोरि' इति रेफलोपे 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति दीर्घः, यसि ? इति काकुः, अर्जयस्येवेत्यर्थः, एतद्गृहे शचीविलासं शचीसौभाग्यं, ण स्वीकुरु । एतद्भूरेव स्वर्गः, एतद्राज्यमेव स्वाराज्यम् , अयमेवेन्द्रः, त्वमेवे-णी भवेति रूपकालङ्कारः ॥ २८ ॥

हे आवर्त (नाभिकी नोचेवाली रोमावलीका दक्षिण भागमें 'घुमाव, पाठा०—जलका ह) के सहित होनेसे आश्चर्यकारक नाभिरूप कूपवाली (गम्भीर नाभिवाली दमयन्ति) ! राजाका देश साक्षात् भूमिष्ठ (भूमिपर स्थित) स्वर्ग है, इस (राजा या देश) की -राज्य रूप लक्ष्मीको नहीं प्राप्त करती हो ? अर्थात् प्राप्त करो। इसके घरमें इन्द्राणीके सको ग्रहण करो । [कूपमें जलके चकोहका होना आश्चर्यजनक होनेसे 'अद्भुत' पदकी तार्थता है । इस राजाका देश भूस्वर्ग, सम्पत्ति स्वर्गराज्य, यह राजा इन्द्र है, और तुम वरण कर इन्द्राणी वनो] ॥ २८ ॥

ः स्वयं वसति तत्र किल स्वयम्भूर्न्यग्रोधमण्डलतले हिमशीतले यः ।
त्वां विलोक्य निजशिल्पमनन्यकल्पं सर्वेषु कारुषु करोतु करेण दर्पम् ॥

देव इति । तत्र पुष्करद्वीपे, हिमवच्छीतले न्यग्रोधः वटवृक्षः, 'न्यग्रोधो बहुपा-' इत्यमरः, तस्य मण्डले मण्डलाकारे तले अधस्तले, स्वयम्भूः यः देवः ब्रह्मा, साक्षात् , वसति किल खलु, स देवः ईषदसमाप्तमन्यदन्यकल्पम् अन्यसदृशं; भवतीत्यनन्यकल्पम् अनन्यसाधारणम्, 'ईषदसमाप्तौ कल्पप्' प्रत्ययः, निज-ल्पं स्वनिर्माणं, त्वां विलोक्य स्वलक्षणं निजशिल्पकार्यं दृष्ट्वेत्यर्थः, सर्वेषु कारुषु ल्पिषु मध्ये, करेण करप्रदर्शनेन, दर्पं करोतु गर्वं करोतु, मदन्यशिल्पकर्त्तुरेवं निर्माणदक्षो हस्तो नास्तीति स्वहस्तं प्रदर्श्य गर्वं करिष्यतीत्यर्थः; स्रष्टुः कीर्त्तिकरं रूपनिर्माणशिल्पमिति भावः ॥ २९ ॥

वहां ('पुष्कर' द्वीपमें) वर्फके समान शीतल वटवृक्षके नीचे साक्षात् 'ब्रह्मदेव' रहते वे अनन्य साधारण अपनी कारीगरीरूप तुम्हें देखकर हाथसे अन्य शिल्पियों (कारीगरों) अभिमान करें । [मैंने अपने हाथसे इस दमयन्तीको सुन्दरी बनाकर जैसी उत्तम रोगरीको दिखलायी, वैसी कारीगरी आजतक किसी दूसरे कारीगरने नहीं दिखलायी, ा अपने हाथकी कारीगरीके विषयमें अभिमान करें] ॥ २९ ॥

ग्रोधनादिव दिवः पतदातपादेर्न्यग्रोधमात्मभरधारमिवावरोहैः ।
तस्य पाकिफलनीलदलद्युतिभ्यां द्वीपस्य पश्य शिखिपत्रजमातपत्रम् ॥३०॥

न्यग्रोधनादिति । दिवः अन्तरिक्षात् , पततः आपततः, आतपादेः, आदिशब्दात् र्षादेश्च, न्यक् निम्नीभूय, अधः स्थित्वा इत्यर्थः, रोधनान्निवारणादिव, न्यग्रोधं ग्रोधशब्दवाच्यम्, इति पचाद्यच्, उत्प्रेक्षेयम् , उत्तरार्द्धे वक्ष्यमाणातपत्रत्वोत्प्रेक्षोप-

योगिनी; तथा अवरोहन्तीत्यवरोहाः शाखाभ्यः अधोलम्बिन्यः शिफाः, शाखामूलान् स्यर्थः, 'शाखाशिफाऽवरोहः स्यात्' इत्यमरः, तैः, अवरोहरूपैरवष्टम्भैरित्यर्थः, आत्म स्वस्य, भरं धरतीति आत्मभरधारः, तमिव भूमिस्पृष्टैरवरोहरूपैरवलम्बनैः आत्म नमवष्टभ्य इव स्थितमित्युत्प्रेक्षा, धरतेः कर्मण्यण्प्रत्ययः, किञ्च पाकः एषामस्ती पाकिनां पक्वानां, फलानां नीलदलानां नीलपलाशानाञ्च, द्युतिभ्यां रक्तश्यामकान्ति भ्यां निमित्तेन, तस्य द्वीपस्य पुष्करद्वीपस्य सम्बन्धि, शिखिपत्रजं मयूरपिच्छोद्भव आतपत्रं तद्वत् स्थितम्, इति निमित्तगुणजातिस्वरूपोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगादस्य अस्याश्च प्रथमोत्प्रेक्षयाऽङ्गाङ्गिभावेन सजातीयसङ्करः, द्वितीयया सजातीयसंसृष्टि तं प्रसिद्धं न्यग्रोधवृक्षं, पश्य; एतद्राजवरणादेवंविधोऽद्भुतदर्शनोत्सवलाभो भवि ष्यतीति भावः ॥ ३० ॥

आकाशसे गिरते (नीचे आते) हुए धूप आदि (वर्षा आदि) के नीचे स्थित होक रोकने से (या नीचे आनेसे रोकनेसे अर्थात् धूप–वर्षा आदिको नीचे नहीं आने देनेसे 'न्यग्रोध' अर्थात् वटवृक्ष, वरोहों (वटवृक्षकी ऊपरवाली शाखाओंसे नीचेकी ओर लटकक भूमि तक पहुंची हुई स्तम्भाकार डालियों) से अपने भारको धारण करनेवाला है, उ ('पुष्कर') द्वीपके, पके हुए फलों तथा नीले (अत्यन्त श्याम वर्ण) पत्तोंकी शोभासे मोर पङ्खोंसे बने छत्ररूप उस (वटवृक्ष) को देखो। वह वृक्ष ऐसा मालूम पड़ता है कि मान उसने ऊपरसे नीचे तक लटकी हुई वरोहोंसे अपने भारको अपने ऊपर स्वयं सम्भाल रक्खा हो, तथा पके हुए फलों एवं अत्यन्त श्यामवर्ण पत्तोंसे मयूरके पंखों का बनाया गय छाता हो और वह वटवृक्ष इतना सघन है कि उसके नीचे धूप या वर्षा आदि नहीं आती अत एव उसका 'न्यग्रोध' ('न्यक् रुणद्धि' अर्थात् नीचे आनेसे धूप आदिको रोकनेवाला अथवा नीचे स्थित होकर धूप आदिको रोकनेवाला) नाम सार्थक है अर्थात् वह वटवृक्ष बहुत सघन शीतल छाया वाला है, ऐसे विचित्र उस वटवृक्षको इस राजाकी पत्नी बनकर देखो] ॥ ३० ॥

न श्वेततां ? चरतु वा भुवनेषु राजहंसस्य न प्रियतमा कथमस्य कीर्त्तिः ? ।
चित्रन्तु तद्विशदिमाऽद्वयमादिशन्ती क्षीरञ्च नाम्बु च मिथः पृथगातनोति

नेति। राजहंसस्य नृपश्रेष्ठस्य, अस्य सवनस्य, प्रियतमा इष्टतमा, कीर्त्तिः, अन्यत्र—राजहंसस्य कलहंसस्य, 'राजहंसो नृपश्रेष्ठे कादम्बकलहंसयोः' इति विश्वः, कीर्त्तिः शुभ्रत्वात् कीर्त्तिरूपिणी, प्रियतमा तत्कान्ता वरटा, कथं न श्वेतताम्। कथं न धवलीभवतु ? अपि तु श्वेतैव भवतु, 'श्विता वर्णे' इति द्युतादौ पठ्यते, तस्माल्लोट्; भुवनेषु लोकेषु सलिलेषु च, 'भुवनं सलिलं लोकः' इति विश्वः, कथं वा न चरतु ? तु किन्तु, विशदिमाऽद्वयं धावल्याद्वैतम्, आदिशन्ती जनयन्ती, कीर्त्तिरिति शेषः, स्वप्रभयेति भावः, क्षीरञ्च अम्बु च मिथोऽन्योऽन्यं पृथग्विभक्तं, नातनोति न करोति, इति

त्रम् !! हंसानां क्षीरनीरविवेकस्य जातिधर्मत्वेऽपि तद्विवेकाभावो विरुद्ध इति ः। स चाविवेकः कीर्त्तेर्धावल्येन तत्रत्यजलानामपि क्षीरसदृशशुक्लत्वात् धावल्य-तो न स्वरूपत इति विरोधसमाधानाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः; तथा विशदिमाऽद्वय-शन्तीत्यनेन सामान्यालङ्कारः; 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति; विशेषणगत्या क्षीरनीराविवेकहेतुत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं, पूर्वार्द्धे च श्वैत्य-चारित्वराजहंसप्रियतमात्वाख्याश्लिष्टौ श्लिष्टप्रस्तुतकीर्त्तिविशेषणसाम्यादप्रस्तुत-हंसप्रतीतेः श्लेषसङ्कीर्णाऽर्थसमासोक्तिरित्येतैस्त्रिभिः सहाङ्गाङ्गिभावेन पूर्वोक्तस्य धाभासस्य सङ्करः ॥ ३१ ॥

इस राजहंस (राजश्रेष्ठ 'सवन') की अत्यन्त अभीष्ट कीर्ति श्वेतताको क्यों नहीं प्राप्त अर्थात् श्वेत क्यों नहीं होवे और संसारोंमें क्यों नहीं जावे ? अर्थात् श्वेत भी होवे तथा रोंमें भी जावे (अथवा…कीर्ति श्वेत क्यों नहीं होवे और संसारोंमें क्यों नहीं जावे ?) ०—इस राजहंस अर्थात् श्रेष्ठ मरालकी प्रियतमा हंसी श्वेतता……और भुवनों) में क्यों नहीं घूमे,……) ; किन्तु विशदिमा (श्वेतता = सपेदीके अद्वैतको करती अर्थात् श्वेत वनाती हुई दूध तथा पानीको परस्परमें जो अलग नहीं करती है, यह र्थ है । राजहंसप्रिया हंसीका श्वेत होना तथा भुवन (जल) में घूमना एवं श्रेष्ठ इस 'सवन' की अभीष्टतम कीर्तिका श्वेत होना एवं भुवनों (समस्त लोकों) में ना तो समान है; किन्तु एकमें मिले हुए श्वेत दूध-पानीको अलग कर देती है और इस श्रेष्ठ 'सवन' की कीर्ति दोनोंको श्वेत वनाती हुई दूध-पानीको अलग नहीं करती यह र्थ है] ॥ ३१ ॥

ेऽपि सूरिपरिषत्प्रथमार्चितेऽपि शृङ्गारभङ्गिमधुरेऽपि कलाकरेऽपि ।
स्मिन्नवद्यमियमाप तदेव नाम यत् कोमलं न किल तस्य नलेति नाम ॥

शूरे इति । इयं दमयन्ती, शूरे वीरेऽपि, सूरिपरिषत्सु विद्वत्सभासु, प्रथमार्चिते प्रपूज्येऽपि, शृङ्गारभङ्गिमधुरे शृङ्गारविलासकान्तेऽपि, कलाकरे सकलविद्यानिधानेऽ-, तस्मिन् सवनाख्ये राज्ञि, कोमलं कर्णामृतं, किल प्रसिद्धं, नलेति नाम नामधेयं, स्य सवनस्य, न नास्ति, इति यत्, तदेव नलनामराहित्यमेव, अवद्यं दूषणम्, प नाम जग्राह खल्वित्यर्थः; अनलत्वातिरिक्तमरुचिकारणं किञ्चिदपि नाभूदिति वः। नलानुरागात् हि एवं गुणवन्तमपि तं नृपतिं न वरणयोग्यत्वेन स्वीकृतवती ति निष्कर्षः ॥ ३२ ॥

इस (दमयन्ती) ने शूर भी, विद्वानोंकी सभामें सर्वप्रथम आदृत भी, शृङ्गार-रचनासे नोहर भी और कलाकार (गीतादि ६४ कलाओंके विद्वान्) भी उस ('सवन नामक जा) में एक वही दोष पाया कि उनका मधुर 'नल' नाम नहीं था। [शूरता, शृङ्गार-यता तथा कलापाण्डित्य गुणोंके रहनेपर भी 'नल' नहीं होनेसे दमयन्तीने उस 'सवन' जाको वरण नहीं किया] ॥ ३२ ॥

भ्रूवल्लि[1]किञ्चननिकुञ्चितमिङ्गितं सा लिङ्गं चकार तदनादरणस्य विज्ञा ।
राज्ञोऽपि तस्य तदलाभजतापवह्नेश्चिह्नीबभूव मलिनच्छविभूमधूमः ॥३३

भ्रूवल्लीति । विशेषेण जानातीति विज्ञा अभिज्ञा, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः', दमयन्ती, भ्रूवल्ल्याः भ्रूलतायाः, किञ्चन किञ्चित्, निकुञ्चितं सङ्कोचः, किञ्चने किञ्चिदर्थेऽव्ययं, तस्य विशेषणसमासः, तदेवेङ्गितं चेष्टितं, तस्मिन् सवने, अनादरण लिङ्गं चकार भ्रूनिकोचनेनैव तदनादरं सूचितवतीत्यर्थः, तस्य राज्ञोऽपि, मलिनच् विभूमा वैवर्ण्यभूयस्त्वं, स एव धूमः, तस्याः दमयन्त्याः, अलाभेन जातस्तज्जः तस तापवह्नेः सन्तापाग्नेः, चिह्नीबभूव अनुमापको जात इत्यर्थः अन्यत्र धूमं दृष्ट्वा वह्नि नुमीयते, अत्र तु सवननृपे देहस्य श्यामवर्णरूपधूमं दृष्ट्वा दमयन्त्यप्राप्तिजन्यताप वह्निरनुमीयते इति भावः । अत एवानुमानालङ्कारः 'साध्यसाधननिर्देशोऽनुमान इति लक्षणात्; किन्तु इह धूमाग्न्यो रूपकशब्दात्मकयोरलङ्कारगर्भीकरणे विच्छित्ति, विशेषाश्रयणात् तर्कानुमानाद्भेदः ॥ ३३ ॥

विशेषज्ञा इस (दमयन्ती) ने भ्रूलताके थोड़ा-सा सङ्कोचरूप चेष्टाको (पाठा०— भ्रूलताकी चेष्टारूप आकार-रचनाको, अथवा—भ्रूलताकी चेष्टाको और आकृतिभङ्गी अर्था अङ्गुलि आदि अङ्गोंके चटकाने = मरोड़नेको उस ('सवन' राजा) के अनादर अर्थात् स्वीका नहीं करनेका चिह्न बनाया और उस राजाका (मुखकी) मलिन कान्तिकी अधिकतारूपी धू उस (दमयन्ती) के नहीं पानेसे उत्पन्न सन्तापाग्नि (कामाग्नि) का चिह्न हुआ । (दमयन्तीने भ्रूको थोड़ा सङ्कुचित कर उसको वरण करनेमें अनिच्छा प्रकट की तथा यह देख उस राजाका मुख मलिन पड़ना ही दमयन्तीको नहीं पानेसे उत्पन्न कामाग्निके अनुमान करानेवाला चिह्न हो गया अर्थात् वहाँ उपस्थित जन-समूहने उस राजाके मुखको मलिन देखकर दमयन्तीको नहीं पानेसे उत्पन्न उस राजाके कामसन्तापका अनुमान कर लिया] ॥ ३३ ॥

राजान्तराभिमुखमिन्दुमुखीमथैनां जन्याजना हृदयवेदितयैव निन्युः ।
अन्यानपेक्षितविधौ न खलु प्रधानवाचां भवत्यवसरः सति भव्यभृत्ये ॥३४॥

राजान्तरेति । अथ जन्याजनाः भृत्यजनाः, जन्या व्याख्याताः, हृदयवेदितया दमयन्त्याः चित्तज्ञतयैव, प्रेरणां विनैवेत्यर्थः, इन्दुमुखीम् एनां भैमीम्, अन्यो राजा राजान्तरं, सुप्सुपेति समासः, तस्य अभिमुखं यथा तथा निन्युः । स्वामिप्रेरणां विना कथं निन्युरत आह—अन्यानपेक्षितः अनपेक्षितान्यः, स्वाम्यादेशनिरपेक्ष इत्यर्थः, बहुव्रीहौ 'सर्वनामसङ्ख्ययोरुपसङ्ख्यानम्' इति अन्यशब्दस्य पूर्वनिपातः, विधिः कार्यस्य अनुष्ठानं यस्य तस्मिन् स्वतः समर्थे, भव्ये सुयोग्ये, 'भव्यं शुभे च सत्ये च योग्ये भाविनि च त्रिषु' इति मेदिनी, भृत्ये कर्मकरे, सति प्रधानवाचां स्वाम्यादेशानाम्, अवसरो न भवति न अस्ति खलु इत्यर्थान्तरन्यासः ॥ ३४ ॥

---

[1] '-वेङ्गितमथाकृतिभङ्गिमेषा' इति पाठान्तरम् । २. 'जनीम्' इति पा० ।

वधू (दमयन्ती) को ले चलनेवाले जन (शिविकावाहक) हृदयके भावको जाननेके हो चन्द्रमुखी इस (दमयन्ती) को दूसरे राजाके सामने ले गये । दूसरे की अपेक्षासे कार्यमें (अथवा—दूसरेकी अपेक्षासे रहित कार्यवाले) भृत्य-समूहके रहनेपर कां बोलने अर्थात् आदेश देनेका अवसर नहीं आता है । [स्वामीके आदेश न देनेपर नका हृद्गत भाव समझनेवाले भृत्य कार्यको पूरा कर देते हैं अत एव उन्हें आदेश अवसर नहीं आता ॥ ३४ ॥

पुनर्भगवती नृपमन्यमस्यै निर्दिश्य दृश्यतमतावमताश्विनेयम् ।
लोक्यतामयमये ! कुलशीलशाली शालीनताnतमुदस्य निजास्यविम्बम् ॥

ऊचे इति । भगवती भारती, पुनः भूयः, दृश्यतमतया दर्शनीयतमत्वेन, सौन्द- शयेन इति यावत्, अवमतौ अवधीरितौ, आश्विनेयौ अश्विनीकुमारौ येन , अन्यं नृपम् अस्यै भैम्यै निर्दिश्य हस्तेन प्रदर्श्य, अये ! भैमि, कुलेन शीलेन वृत्तेन च, शालते इति तच्छाली, अयं नृपः, शालीनतया लज्जया, ‘शालीनकौपीने ष्टाकार्ययोः’ इति ख-प्रत्ययान्तो निपातः, नतं निजास्यविम्बं निजमुखमण्डलम्, त्य उन्नमय्य, आलोक्यताम् इत्यूचे उक्तवती, ब्रूतेः कर्त्तरि लिटि तङ्, लज्जां परि- य अयं दृश्यताम् इति भावः ॥ ३५ ॥

इस (‘सवन’ राजाको वरण नहीं करने) के वाद भगवती (सरस्वती देवी ने) अति- सौन्दर्यसे अश्विनीकुमारोंको तिरस्कृत किये हुए अर्थात् अश्विनीकुमारोंसे भी अधिक र दूसरे राजाको इस (दमयन्ती) के लिये दिखाकर कहा—हे दमयन्ति ! लज्जासे अपने मुखविम्बको उठाकर कुल तथा सदाचारसे शोभमान इस राजाको देखो ॥ ३५ ॥

त्पुरःपठदपश्रमवन्दिवृन्दवाग्डम्बरैरनवकाशतरेऽम्बरेऽस्मिन् ।
त्पत्तुमस्ति पदमेव न मत्पदानामर्थोऽपि नार्थपुनरुक्तिषु पातुकानाम् ॥

एतदिति । एतस्य पुरः अग्रे, पठताम् अपश्रमवन्दिनां यथार्थगुणवर्णने श्रम- न्यानां स्तावकानां, वृन्दस्य वाग्डम्बरैः वागाटोपैः, अनवकाशतरे अत्यन्तनिरव- शे, अस्मिन् अम्बरे अन्तरिक्षे, मत्पदानां मद्वाक्यानां, ‘पदं शब्दे च वाक्ये च’ ति विश्वः, उत्पत्तुमेव पदम् अवकाशः, नास्तीत्यतिशयोक्तिः; आकाशगुणः शब्द ति तार्किकाः; कथञ्चिदुत्पत्तौ अपि अर्थपुनरुक्तिषु अभिधेयपौनरुक्त्येषु, पातुकानां तां, वन्दिवाक्यैः पुनरुक्तार्थानामित्यर्थः, ‘लषपत—’ इत्यादिना उकञ्प्रत्ययः, त्पदानाम् अर्थोऽपि प्रयोजनमपि, नास्ति, गतार्थत्वादितिभावः; अस्य वन्दिकृताः वाः यथार्थकतया मम अतीव सम्मताः, अतः एनं वृणीष्व इति तात्पर्यम् ॥ ३६ ॥

इस (राजा) के समाने स्तुति करते हुए अश्रान्त बन्दि-समूहके वचनाडम्बर वाग्विस्तार) से निरवकाश इस आकाशमें मेरे वाक्यों (अथवा—सुबन्त-तिङन्तरूप पदों शा०—मेरे पैरों) के उत्पन्न होने (पक्षा०—ठहरने) का स्थान ही नहीं है, (और कथञ्चित्

हो भी जाय तो इस वन्दि-समूहके वागाडम्बरके) अर्थकी पुनरुक्ति करनेवाले (उन मेरे पदों का कोई प्रयोजन भी नहीं है। [इस राजाकी निरन्तर स्तुति करनेवाले वन्दि-समूह वागाडम्बरसे 'शब्द गुणवाला' आकाश इतना ठसा-ठस भर गया है कि मेरे वचनों उत्पन्न होनेका स्थान ही नहीं है, पक्षा०—जन-समूहादिसे ठसाठस भरे हुए स्थानमें रखनेका भी स्थान नहीं है। तथा मैं जो कुछ कहूँगो वह सब इसके वन्दि-समूहके द्वा वर्णित होनेसे पुनरुक्त हो जायेगा अत एव उसमें कुछ कहनेकी आवश्यकता भी नहीं है) इस राजाके वन्दि-समूह जो कुछ वर्णन कर रहे हैं, वही मुझे भी सम्मत है, अत एव इ वरण करो ॥ ३६ ॥

नन्वत्र हव्य इति विश्रुतनाम्नि शाकद्वीपप्रशासिनि सुधीषु सुधीभवन्त्या:[1]
एतद्भुजाविरुदवन्दिजयाऽनयाऽपि किं रागि राजनि गिराऽजनि नान्तरं ते

नन्विति। ननु भैमि! अत्र अस्मिन्, हव्य इति विश्रुतनाम्नि प्रख्यातनामधेये शाकद्वीपं प्रशास्तीति तत्प्रशासिनि तत्स्वामिनि, राजनि विषये, सुधीषु विद्वत्सु सुधीभवन्त्याः विदुषीभवन्त्याः, ते तव, अन्तरम् अन्तरात्मा, अनया श्रूयमाणया एतस्य भुजाविरुदवन्दिभ्यो बाहुप्रशस्तिस्तोतृभ्यः; 'गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुद मुच्यते' इति; जाता तज्जा तया, गिराऽपि रागि अनुरागवत्, नाजनि नाजनि किम्? इति प्रश्नः, जनेः कर्त्तरि लुङि 'दीपजन—' इत्यादिना विकल्पात् चिण् प्रत्ययः 'चिणो लुक्' इति तस्य लुक् ॥ ३७ ॥

शाकद्वीपका शासन करनेवाले 'हव्य' नामसे प्रसिद्ध इस राजाके विषयमें पण्डितोंमें पण्डिता बनती हुई तुम्हारा हृदय (पाठा०—"'विषयमें तुम्हारा हृदय) इस (राजा) की भुजाके प्रशंसक वन्दियोंके इस वचनसे भी अनुरागी नहीं हुआ क्या? (अथवा अनुरागी क्यों नहीं हुआ?) अर्थात् अवश्य अनुरागी होना चाहिये ॥ ३७ ॥

शाकः शुकच्छदसमच्छविपत्रमालभारी हरिष्यति तरुस्तव तत्र चित्तम्।
यत्पल्लवौघपरिरम्भविजृम्भितेन ख्याता जगत्सु हरितो हरितः स्फुरन्ति॥३८

शाक इति तत्र शाकद्वीपे, शुकच्छदसमच्छवीनां कीरपक्षसदृशदीप्तानां, पत्राणां मालां पङ्क्तिं, भरतीति तन्मालभारी, 'इष्टकेषीकामालानां चिततूलमालभारिषु' इति ह्रस्वः, शाकस्तरुः शाकवृक्षः, 'शेगुन' इति प्रसिद्धवृक्षविशेषः इत्यर्थः, तव चित्तं हरिष्यति। हरितो दिशः, यस्य शाकतरोः, पल्लवस्य ओघानां राशीनां, परिरम्भविजृम्भितेन व्याप्तिमहिम्ना, हरितः हरिद्वर्णाः सत्यः। 'हरितः। मृगे ना कनके क्लीबं दिशि स्त्री हरिते त्रिषु' इति विश्वः, जगत्सु ख्याताः हरित इति ख्याताः, स्फुरन्ति प्रथन्ते। दिक्षु हरिच्छब्दप्रवृत्तेः हरितवर्णनिमित्तायाः शाकतरुपल्लवच्छायाच्छुरणनिमित्तत्वा-

---

[1] 'भवन्त्या' इति पाठे 'गिरा' इत्यस्य विशेषणमिदम्।

न्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेस्तद्रूपातिशयोक्तिः, तया च तस्य तरोः ख्यातिः व्यज्यते लङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ३८ ॥

जहाँ (जिस शाकद्वीपमें) तोतेके पङ्खके समान कान्तिवाले पत्रसमूहको धारण वाला 'शाक' नामक वृक्ष तुम्हारे चित्तको हरण (आकृष्ट) करेगा। जिस ('शाक' के पत्तोंके सम्बन्धके विस्तार से हरित(हरे) वर्णवाली बनी हुई दिशाएँ संसारमें ('हरित्' अन्वर्थ नामवाली प्रसिद्ध हो गयी हैं [इस विशाल 'शाक' वृक्षके पत्तोंसे हरी बननेके दिशाओंका नाम 'हरित्' प्रसिद्ध हो गया है, ऐसे वृक्षको देखकर तुम्हारा चित्त हो जायेगा, अतएव इस राजाको वरण उस 'शाक' वृक्षको देखनेका सुअवसर छोड़ो] ॥ ३८ ॥

पर्शेन तत्र किल तत्तरुपत्रजन्मा यन्मारुतः कमपि सम्मदमाददाति ।
ौतूहलं तदनुभूय विधेहि भूयः श्रद्धां पराशरपुराणकथान्तरेऽपि ॥३९॥

स्पर्शेनेति । तत्र द्वीपे, किल तस्य तरोः पत्रेभ्यो जन्म यस्य तज्जन्मा मारुतः न स्पर्शमात्रेण, कमप्यनिर्वचनीयं, सम्मदम् आनन्दम्, आददातीति यत् तदा-दानरूपं, कौतूहलं कौतुकं, विस्मयजनकव्यापारमित्यर्थः, 'कौतूहलं कौतुकञ्च कञ्च कुतूहलम्' इत्यमरः, अनुभूय भूयः पुनरपि, पराशरपुराणे विष्णुपुराणे, यत् ान्तरम् अन्या कथा तत्र, श्रद्धां विधेहि विश्वासं कुरु, तत्रैव सकलभूगोलवृत्तान्त नादेकदेशसंवादस्य यथार्थत्वेन तदुक्तकथान्तराणामपि विश्वसनीयत्वादिति भावः। विष्णुपुराणवाक्यं—'शाकस्तत्र महावृक्षः सिद्धगन्धर्वसेवितः। यत्पत्रवातसंस्प-दाह्लादो जायते परः' ॥ इति ॥ ३९ ॥

वहाँ (शाकद्वीपमें) उस वृक्ष (शाकवृक्ष) के पत्तोंसे उत्पन्न वायु किसी (अनिर्वचनीय) को जो पैदा करती है, उस कौतुकका अनुभव करके पराशरोक्त (विष्णु-) पुराणकी य कथाओंमें भी श्रद्धा (अथवा—अत्यधिक श्रद्धा) करो। [विष्णु पुराणमें पराशरने स्त भूगोलके वर्णन-प्रसङ्गमें शाकद्वीपके पत्तोंके आह्लादकारक होनेका जो वर्णन किया उसे प्रत्यक्ष अनुभव करके उस पुराणमें कही गयी शेष कथाभागको भी सत्य मानकर र श्रद्धा करो, अर्थात् यद्यपि पुराणोंमें तुम्हें इस समय भी श्रद्धा है, किन्तु उसमें लिखित ाको प्रत्यक्ष देखकर उस श्रद्धाको फिर दृढ़ करो, अथवा—('भूयसी चासौ श्रद्धा ति ताम्' ऐसा कर्मधारय समास करके 'भूयःश्रद्धाम्' पदको एक शब्द मानकर) धिक श्रद्धा हो ॥ ३९ ॥

ीरार्णवस्तव कटाक्षरुचिच्छटानामध्येतु तत्र विकटायितमायताक्षि ! ।
लावनीवनततिप्रतिबिम्बचुम्बिकिर्मीरितोर्मिचयचारिमचापलाभ्याम् ॥४०॥

क्षीरेति । हे आयताक्षि ! तत्र शाकद्वीपे, क्षीरार्णवस्तव कटाक्षरुचिच्छटानां कटा-कान्तिजालानां, 'वृन्दं जालं चक्रवालं जालकं पेटकं छटा' इति वैजयन्ती, विकटा-

यितं विकटभावम्, अतिशयमित्यर्थः, 'कटः श्रोणौ द्वयोः पुंसि किलिञ्जेऽतिशये श इति मेदिनी, यद्वा—विशालभावं, सौन्दर्यविलसितमित्यर्थः, 'विशाले विकराले विकटं कवयो विदुः' इति शाश्वतः, विकटशब्दाल्लोहितादिक्यङन्ताद्भावे क्तः। लो तादिराकृतिगणः, वेलावनी कूलभूमिः, 'वेला कूलेऽपि वारिधेः' इति शाश्वतः, त या वनततिर्वनपङ्क्तिः, तस्याः प्रतिबिम्बं चुम्बति स्पृशतीति तच्चुम्बी तस्य त क्तस्य इति यावत्, अत एव किर्मीरितस्य कर्बुरितस्य, नानावर्णमिश्रितस्ये यावत्, 'चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुरे' इत्यमरः, ऊर्मिचयस्य तरङ्गपङ्क्ते चारिमा चारुता, 'पृथ्वादिभ्य इमनिच् वा' इति इमनिचि 'टेः' इति टेर्लोपः। चापां चाञ्चल्यं, युवादित्वादण्-प्रत्ययः ताभ्यां, स्मारकाभ्याम्, अध्येतु स्मरतु, अनुकरो इति यावत्, 'इक् स्मरणे' इत्यस्माल्लोटि शेषत्वविवक्षायाम् 'अधीगर्थ–' इत्यादिना षष्ठीविधानात्तदभावे कर्मणि द्वितीया, तव चक्षुषोः कटाक्षेषु परितः श्वैत्यं मध्ये नीलत्वं चपलता च, अतः क्षीरसमुद्रोऽपि तत्सदृशो भवतु इति भावः। अत्र किर्मी रितोर्मिचयस्य सितासितत्वसादृश्यात् तद्विलासस्य कटाक्षविलसितस्मारकत्वात् स्मरणालङ्कारः॥ ४०॥

हे विशाल नेत्रोंवाली (दमयन्ति)! वहां (उस शाकद्वीपमें) तटकी भूमिमें स्थित वनराजिके प्रतिबिम्बको धारण किया हुआ क्षीरसमुद्र (अतएव) कर्बुर (चितकबरे) तरङ्गसमूहकी सुन्दरता तथा चञ्चलतासे तुम्हारे कटाक्षों की शोभाकी छटा (परम्परा) के विलासका स्मरण अथवा—[स्वतः श्वेतवर्ण तथा तटभूमिस्थित प्रतिबिम्बित वनराजिसमूहसे कर्बुरित (कृष्णवर्ण) एवं चञ्चल तरङ्गसमूहवाला क्षीरसमुद्र तुम्हारे कृष्ण नील चञ्चल कटाक्ष के समान सुन्दरता प्राप्त करे]॥ ४०॥

कल्लोलजालचलनोपनतेन पीवा जीवातुनाऽनवरतेन पयोरसेन।
अस्मिन्नखण्डपरिमण्डलितोरुमूर्तिरध्यास्यते मधुभिदा भुजगाधिराजः॥ ४१॥

कल्लोलेति। अस्मिन् क्षीरार्णवे कल्लोलानां तरङ्गाणां जालस्य वृन्दस्य चलनेन चलनाद्वा उपनतः प्राप्तस्तेन। जीवातुना उज्जीवकेन 'जीवातुर्जीवनौषधम्' इत्यमरः। अनवरतेनाविच्छिन्नेन पय एव रसस्तेन स्वादुक्षीरेण पीवा पीवरः, स्थूलकाय इत्यर्थः। 'पीङ्' धातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति क्वनिपि 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' इतीकारः। अखण्डं सम्पूर्णं यथा स्यात्तथा परिमण्डलिता परितो वेष्टिता, कुण्डलितेति यावत्, उर्वी विशाला मूर्तिः शरीरं यस्य येन वा सः। भुजगानां सर्पाणामधिराजः शेषः। मधुं तन्नामकं दैत्यं भिनत्तीति तेन विष्णुना अध्यास्यते अधिशय्यते। कर्मणि प्रत्ययत्वेन 'अधिशीङ्स्थासां कर्मेति कर्मणो भुजगाधिराजशब्दात्प्रथमा, मधुभिच्छब्दात्कर्तरि तृतीया च बोध्या। अत्र क्षीरसागरे श्रीविष्णुशेषराजोपरि शेत इत्यर्थः॥ ४१॥

(क्षीरसमुद्र) में तरङ्ग-समूहके चलनेसे समीपमें लाये गये, जिलानेवाले एवं न्न दुग्धरस (के पीने) से मोटे तथा मण्डलाकार किये हुए सम्पूर्ण शरीरवाले (शेषनाग) पर श्रीविष्णु सोते हैं ॥ ४१ ॥

सम्पदवलोकनजातशङ्का पादाब्जयोरिह कराङ्गुलिलालनेन।
चिराय कमलाकलितावधाना निद्रानुबन्धमनुरोधयितुं धवस्य ॥४२॥

दिति। इह क्षीरार्णवे तव रूपमेव सौन्दर्यमेव सम्पत् रूपस्य सम्पद्वा, तस्या कनेन दर्शनेन जातोत्पन्ना शङ्का सन्देहो यस्याः सा, इमां मदपेक्षया परम- विलोक्य मद्भर्ता श्रीविष्णुः कदाचिदिमामङ्गीकुर्यादिति शङ्कया युक्तेत्यर्थः। लक्ष्मीः पादाब्जयोश्चरणकमलयोः कराङ्गुलिभिर्लालनेन संवाहनकार्येण पत्युः, श्रीविष्णोरिति यावत्। निन्द्रानुबन्धं निद्रासातत्यमनुरोधयितुं वर्ध- चिराय चिरकालं यावत् दत्तमवधानं यया सा, सावधानेति भावः। भूयान्ध- मत्पतिः श्रीविष्णुः लोकैकसुन्दरीमिमां दमयन्तीं दृष्ट्वा मोहितस्सन्निमां ति शङ्कया तच्चरणयोः संवाहनेन चिरकालं निद्रितमेव तं कर्तुं सावधाना त्यर्थः ॥ ४२ ॥

स (क्षीरसमुद्र) में तुम्हारे रूपकी शोभाको देखकर शङ्कायुक्त लक्ष्मी श्रीविष्णुके मलोंमें हाथकी अङ्गुलियोंद्वारा दबानेसे पति (श्री विष्णु) को सोते रहनेके लिये र तक सावधान होवे, (अथवा—बहुत देर तक सोते रहनेके लिये सावधान होवे)। कसुन्दरी तुम्हें देखकर लक्ष्मी को आशङ्का हो गयी कि 'यदि मेरे पति श्री विष्णु वेंगे तो परमसुन्दरी इस दमयन्तीको देख करके इसे ही पत्नी रूपमें स्वीकार कर त एव उनके चरणोंको हाथकी अङ्गुलियोंसे धीरे-धीरे दबाते रहनसे उनको बहुत सोते ही रहनेके लिये सावधान होवे, जिससे विष्णु भगवान् न शीघ्र जगेंगे और न तीको देखकर इसे पत्नीरूपमें स्वीकार करेंगे] ॥ ४२ ॥

तपैः कृतकगैरिकतां कृतां द्विस्तत्रोदयाचलशिलाः परिशीलयन्तु।
भ्रमभ्रमणजश्रमवारिधारिपादाङ्गुलीगलितया नखलाक्षयाऽपि ॥४३॥

लातपैरिति। तत्र शाकद्वीपे, उदयाचलशिलाः बालातपैः तथा तव विभ्रम- न सलीलचङ्क्रमणेन, जातं तज्जं, श्रमवारि स्वेदाम्बु, तद्धारिणीभ्यः पादाङ्गु- गलितया स्नुतया, नखलाक्षयाऽपि द्विर्द्विवारं, कृतां द्विगुणीकृतामित्यर्थः, याावृत्तिगणने 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' इति सुच्, कृतकानि कृत्रिमाणि, यानि णि धातुविशेषाः, तत्तां परिशीलयन्तु अनुभवन्तु, तथाभूताः सन्तु इत्यर्थः; चलविहारे यदि तव रुचिः अस्ति तदा एनं वृणीष्व इति भावः ॥ ४३ ॥

स शाकद्वीपमें उदयाचल पर्वतके चट्टान प्रातःकालीन धूपसे तथा तुम्हारे विलास- घूमनेसे उत्पन्न पसीनेके जलसे युक्त चरणाङ्गुलियोंसे गिरे हुए नाखूनोंके महावरों रंगनेका अरुण वर्ण द्रव्यविशेष) से दुबारा किये गये कृत्रिम (बनावटी—अस्वा-

भाविक) गैरिक भावको धारण करे [उदयाचलके चट्टान प्रातःकालीन सूर्यकि
पहले ही गेरूसे लाल हो रहे थे, किन्तु जब तुमने वहां विलास से भ्रमण किया तो श्रम
पसीना आनेसे पैरकी अङ्गुलियां भींग जावेंगी और उनके नाखूनोंमें लगाये गये लाल
महावर उन चट्टानों पर लग जायेंगे, इस कार्यसे वे चट्टान फिर गेरू-से मालूम
लगेंगे। तुम इस राजाको वरणकर उदयाचलपर विलासपूर्वक भ्रमण करो] ४३ ॥

नृणां करम्बितमुदामुदयन्मृगाङ्कशङ्कां सृजत्वनघजङ्घि ! परिभ्रमन्त्याः
तत्रोदयाद्रिशिखरे तव दृश्यमास्यं काश्मीरसम्भवसमारचनाभिरामम् ॥

नृणामिति। हे अनघजङ्घि ! सुन्दरजङ्घाशालिनि ! वामोरु ! इति यावत् 'नासि
दर—' इत्यादिना विकल्पेन, ङीष्-प्रत्ययः, तत्र द्वीपे, उदयाद्रिशिखरे परिभ्रम
विहरन्त्याः, तव काश्मीरसम्भवसमारचनेन कुङ्कुमानुलेपनेन, अभिरामम् अत
दृश्यं दर्शनीयम्, 'ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः' इति क्यप्, तवास्यं कर्तृ, करम्बित
सम्मिलितानन्दानां, नृणां पुंसां, 'नृ च' इति विकल्पात् दीर्घः, उदयन्मृगाङ्कश
उदीयमानचन्द्रसन्देहं, भ्रान्तिं वा, सृजतु करोतु। अलङ्कारोऽपि सन्देहभ्रान्तिम
न्यतरोऽस्तु ॥ ४४ ॥

हे अनिन्दित जघनोंवाली (दमयन्ति) ! उस उदयाचलकी चोटीपर भ्रमण करती
तुम्हारा कुङ्कुमलेपसे मनोहर (अत एव) देखने योग्य मुख आनन्दित मनुष्योंको
होते हुए चन्द्रमाकी शङ्काको पैदा करे। [उदयाचलकी चोटीपर घूमती हुई तुम्हारे
लेपयुक्त रमणीय मुखको देखकर 'यह चन्द्रमा उदय हो रहा है' ऐसे भ्रमसे म
हर्षित होवें] ॥ ४४ ॥

एतेन ते विरहपावकमेत्य तावत् कामं स्वनाम कलितान्वयमन्वभावि ।
अङ्गीकरोषि यदि तत्तव नन्दनाद्यैर्लब्धान्वयं स्वमपि नन्वयमातनोतु ॥४

एतेनेति। ननु भैमि ! एतेन हव्याख्येन राज्ञा, ते तव, विरहपावकम्
वियोगाग्निं प्राप्य, स्वं स्वकीयं, नाम हव्यसंज्ञा, कामं प्रकामं, कलितान्वयं प्राप्तान्व
सार्थकमिति यावत्, अन्वभावि तावत् अनुभूतमेव, अग्नौ हुतत्वाद्धव्यसंज्ञा सा
जनीत्यर्थः; अङ्गीकरोषि यदि इत्थम् :अनुरक्तं तं नृपं वरत्वेन स्वीकरोषि चेत्,
तदा, अयं नृपः, स्वम् आत्मानमपि, तव नन्दनाद्यैः त्वय्युत्पादितपुत्रपौत्रादि
लब्धान्वयं लब्धवंशप्रतिष्ठम्, आतनोतु; धर्मप्रजासम्पत्त्यर्थत्वाद्दारपरिग्रहस्येति भा

इस ('हव्य' नामक राजा) ने तुम्हारी विरहाग्निको पाकर अपने नाम (
अर्थात् हवन करने योग्य द्रव्य-विशेष) को अच्छी तरह सार्थक कर लिया है, यदि
इसे स्वीकार करती हो तो यह तुम्हारे पुत्र आदि (पौत्र, ...) से अपनेको सन्तान
करेगा। ['यदि' पदके द्वारा सरस्वती देवीने पाक्षिक स्वीकार करना कहकर स्वी
करनेमें अरुचिका सङ्केत किया है] ॥ ४५ ॥

क्ष्मीलतासमवलम्बभुजद्रुमेऽपि वाग्देवताऽऽयतनमञ्जुमुखाम्बुजेऽपि ।
मुत्र दूषणमजीगणदेकमेव नार्थीबभूव मघवा यदमुष्य देवः ॥ ४६ ॥

लक्ष्मीलतेति। लक्ष्मीरेव लता तस्याः समवलम्बः आधारभूतः, भुज एव द्रुमो
तस्मिन्नपि, भुजार्जितसम्पद्यपीत्यर्थः, तथा वाग्देवतायाः सरस्वत्याः, आयतनं
तं, मञ्जु मनोज्ञं, मुखाम्बुजं यस्य तस्मिन् अपि, चतुःषष्टिकलाऽभिज्ञेऽपि, लक्ष्मी-
स्वत्योरेकाधिकरणेऽपीति भावः, अमुत्र अमुष्मिन् हव्ये राज्ञि, सा भैमी, एक-
दूषणम् अजीगणत् गणयामास, गणेर्णौ चङ् 'ई च गणः' इत्यभ्यासस्येकारः,
दूषणम्? तदाह—अमुष्य हव्यस्य राज्ञः, देवो मघवा महेन्द्रः, यत् अर्थी
कः, न बभूव; किन्तु नलस्य यद् दूत्यं ययाचे तत् कथं नलात् हीनमेनं स्वीकरि-
मि इति भावः ॥ ४६ ॥

उस (दमयन्ती) ने लक्ष्मीरूपिणी लताके आश्रयभूत बाहुरूपी वृक्षवाले भी तथा
वती देवीके निवासभूत मनोहर मुख-कमलवाले भी इस ('हव्य' नामक राजा) में
ही दोष गिना (समझा) कि इन्द्रदेव इसका याचक नहीं बने (अत एव उसका वरण
किया)। [यद्यपि यह 'हव्य' राजा वीरलक्ष्मी से युक्त बाहुवाला, विद्वान् तथा
र मुखकमलवाला है, किन्तु नलके तो इन्द्रदेव याचक बने थे अर्थात् मेरे यहां दूत
के लिये नलसे इन्द्रने याचना की थी और इसके नहीं. अतः इस 'हव्य' राजा तथा
में बहुत अन्तर है, इस कारण इसका वरण करना ठीक नहीं है, यह विचार कर
यन्तीने उसका वरण नहीं किया] ॥ ४६ ॥

लक्ष्मीविलासवसतेः सुमनःसु मुख्या-
दस्माद् विकृष्य भुवि लब्धगुणप्रसिद्धिम् ।
स्थानान्तरं तदनु निन्युरिमां विमान-
वाहाः पुनः सुरभितामिव गन्धवाहाः ॥ ४७ ॥

लक्ष्मीविलासेति। तदनु तत्परिहारानन्तरं, विमानवाहाः भुवि लोके, लब्धा
सौन्दर्यादिना, अन्यत्र—घ्राणतर्पणेन च, प्रसिद्धिः यया ताम्, इमां तां
यन्तीं, गन्धवाहाः वायवः, सुरभितां सौरभसम्पदमिव, लक्ष्म्याः सम्पदः,
यत्र—पद्मायाः, विलासवसतेः लीलागृहात्, सुमनःसु विद्वत्सु, अन्यत्र—पुष्पेषु,
यात् अस्मात् नृपात्, पद्माच्च, विकृष्य अपनीय, पुनः स्थानान्तरं राजान्तरम्,
यत्र—पुष्पान्तरं, निन्युः ॥ ४७ ॥

इस (दमयन्तीके द्वारा 'हव्य' राजाका वरण नहीं करने) के बाद विमानवाहकोंने
मी (या श्री) के निवास स्थान तथा विद्वानोंमें प्रधान इस ('हव्य' नामक राजा) से
दर्य आदि गुणोंसे प्रसिद्ध इस (दमयन्ती) को फिर हटाकर उस प्रकार दूसरे स्थानमें
ये, जिस प्रकार वायु फूलोंमें प्रधान लक्ष्मीके निवास भवन (लक्ष्मी का कमलमें निवास

करना प्रसिद्ध है) कमलसे (उत्तम गन्ध आदि) गुणोंसे प्रसिद्ध सुगन्धिको दूसरे स्थान ले जाती है ॥ ४७ ॥

भूयस्ततो निखिलवाङ्मयदेवता सा हेम्नोपमेयतनुभासमभाषतैनाम्
एनं स्वबाहुबहुवारनिवारितारिं चित्ते कुरुष्व कुरुविन्दसकान्तिदन्ति !॥

भूय इति। ततः अनन्तरं, भूयः पुनरपि, निखिलवाङ्मयदेवता सकलवाग् देवता, सा सरस्वती, हेम्ना उपमेया तनुभाः शरीरकान्तिः यस्याः ताम्, ए दमयन्तीम्, अभाषत, हे कुरुविन्दसकान्तिदन्ति ! पद्मरागसदृशदशने ! 'नासिव दर—'इत्यादिना विकल्पादीकारः। 'कुरुविन्दः पद्मरागः' इति विश्वः। सकान्तीत्य समानस्य स-भावश्चिन्त्यः, स्वबाहुना बहुवारं निवारितारिं निर्जितशत्रुम्, राजानं, चित्ते कुरुष्व अनुमन्यस्वेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

इस (दमयन्तीको विमानवाहकों द्वारा दूसरे राजाके पास ले जाने) के बाद सम वाङ्मयकी देवता (सरस्वती देवी) स्वर्णके समान शरीर-कान्तिवाली इस (दमयन्ती) फिर बोली—हे कुरुविन्द (पद्मराग) के समान सुन्दर दाँतोंवाली (दमयन्ति) ! अप बाहुसे बहुत बार शत्रुओंका निवारण (पराजित) करनेवाले इस (राजा) को चित्तमें अर्थात् स्वीकार करो ॥ ४८ ॥

द्वीपस्य पश्य दयितं द्युतिमन्तमेतं क्रौञ्चस्य चञ्चलदृगञ्चलविभ्रमेण ।
यन्मण्डले स किल पाण्डुलसन्निवेशः[1] पूरश्चकास्ति दधिमण्डमयः पयोधेः

द्वीपस्येति। द्युतिमन्तं नाम एतं क्रौञ्चस्य द्वीपस्य दयितम् अधिपतिं, चञ्चल दृगञ्चलस्य कटाक्षस्य, विभ्रमेण विलासेन, पश्य, यन्मण्डले यस्य देशे, पयोधेः स द्रस्य, स प्रसिद्धः, पाण्डुलसन्निवेशः पाण्डुलः पाण्डुवर्णः, सन्निवेशः अवस्थानं य तादृशः, दधिमण्डमयः दध्नो मण्डं मस्तु 'मण्डं दधिभवं मस्तु' इत्यमरः, तन्म पूरः तोयराशिः, चकास्ति किलेत्यैतिह्ये ॥ ४९ ॥

क्रौञ्चद्वीपके अधिपति द्युतिमान् नामक इस राजाको देखो, जिसके देशमें मण्डलाक (पाठा०—श्वेत वर्ण वाला) दधिमण्डजलवाले समुद्रकी राशि (या प्रवाह) शोभता है ॥४

तत्राद्रिरस्ति भवदङ्घ्रिविहारयाची क्रौञ्चः स्फुरिष्यति गुणानिव यस्त्वदीया
हंसावलीकलकलप्रतिनादवाग्भिः स्कन्देषुवृन्दविवरैर्विवरीतुकामः ॥ ५० ॥

तत्रेति। तत्र क्रौञ्चद्वीपे, भवत्याः अङ्घ्रिविहारयाची सविलासभ्रमणकामुक क्रौञ्चो नामाद्रिः अस्ति, योऽद्रिः, हंसावलीकलकलानां हंसश्रेणीविरुतानां, प्रतिना प्रतिध्वनयः एव, वाचो वचनानि येषां तैः, स्कन्दस्य कुमारस्य, इषुवृन्दानां विव तत्कृतच्छिद्रैः, तैरेव मुखैरित्यर्थः, त्वदीयान् गुणान् विवरीतुकामो व्याख्यातुकाम इ

---

[1] 'मण्डलसन्निवेशः' इति, 'परिमण्डलसन्निवेशः' इति च पाठान्तरे।

व्यति प्रकाशिष्यते, स्फुरतेः कुटादित्वात् गुणाभावः, पुरा कार्त्तिकेयेन बाणैः र्वतस्य विवराणि कृतानि इति पुराणम् ॥ ५० ॥

उस क्रौञ्च द्वीपमें तुम्हारे चरणोंके विहार करने का इच्छुक 'क्रौञ्च' पर्वत है, जो हंसा- कलकल (मधुर शब्द) रूप वचनोंसे कार्तिकेयके बाण-समूहके छिद्रोंद्वारा मानो रे गुणोंको कहनेके इच्छुकके समान स्फुरित होगा । [कार्तिकेयने बाणोंसे उस क्रौञ्च वहुत-से छिद्र कर दिये हैं, उनमें हंसावलिका कलकल प्रतिध्वनित होगा तो ऐसा होगा कि वह क्रौञ्च पर्वत मानो तुम्हारे गुणों का वर्णन कर रहा है, ऐसे क्रौञ्च पर्वतमें स राजाको वरण करके विहार करो] ॥ ५० ॥

र्भि ! दर्भदलपूजनयाऽपि यस्य गर्भे जनः पुनरुदेति न जातु मातुः ।
र्चनां रचय तत्र मृगाङ्कमौलेस्तन्मात्रदैवतजनाभिजनः स देशः ॥५१॥

वैदर्भीति । हे वैदर्भि ! यस्य दर्भदलैः कुशपत्रैः, पूजनयाऽपि, किमुत कमलद- दिपूजनयेति भावः, जनो जन्तुः, जातु कदाऽपि, पुनर्मातुर्गर्भे न उदेति न ते, तत्पूजनस्य मुक्तिरेव फलमित्यर्थः, तत्र पर्वते, तस्य मृगाङ्कमौलेः ईश्वरस्य, र्चां रचय पूजां कुरु; तथा हि, स देशः तन्मात्रं स एव, शिव एवैक इत्यर्थः, येषां तेषां जनानाम् अभिजायते अस्मिन्निति अभिजनो जन्मभूमिः; इत्यर्था- न्यासः । 'ख्यातः कुलेऽप्यभिजनो जन्मभूम्यां कुलध्वजे' इति विश्वः, तत्रत्याः तदेकशरणास्तत्सेवयोत्पन्नतत्त्वज्ञानान्मुञ्चन्तीति भावः ॥ ५१ ॥

हे दमयन्ति ! मनुष्य केवल कुशाके पत्तोंसे भी जिसकी पूजा करनेसे फिर कभी माताके नहीं आता अर्थात् मुक्ति पा लेता है (तो फिर कमल आदि के द्वारा उसकी पूजा पर क्या कहना है अर्थात् उससे तो अत्यधिक फल होगा ही), उस चन्द्रशेखर रजी) की वहांपर (उस क्रौञ्च द्वीपमें) पूजा करो, क्योंकि उस देशके लोगोंके एक वही (शङ्करजी ही) देवता हैं ॥ ५१ ॥

चूडाग्रचुम्बिमिहिरोदयशैलशीलस्तेनाः स्तनन्धयसुधाकरशेखरस्य ।
तस्मिन् सुवर्णरस[1]रूषणरम्यहर्म्यभूभृद्घटा घटय हेमघटावतंसाः ॥५२॥

चूडाग्रेति । तस्मिन् देशे, स्तनं धयतीति स्तनन्धयः, 'नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः' खश्-प्रत्यये मुमागमः, स्तनन्धयसुधाकरशेखरस्य बालेन्दुशेखरस्य शम्भोः, टावतंसाः उपरिस्थापितकनककलसभूषिता इत्यर्थः, अत एव चूडाग्रचुम्बिमि- स्य शिखराग्रलग्नसूर्यस्य, उदयशैलस्य उदयाद्रेः, शीलं स्वभावः, तस्य स्तेनाः ः, तत्तुल्या इत्यर्थः, सुवर्णरसरूषणेन हेमद्रवच्छुरणेन, रम्याणि हर्म्याण्येव तः पर्वताः, तेषां घटाः पङ्क्तीः, घटय निर्मापय, कनककलससंयुक्तानेकसौवर्ण- ादनिर्माणेन तं भगवन्तमिन्दुशेखरं प्रीणयेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

---

[1] 'भूषण' इति पा० ।

उस क्रौञ्च द्वीपमें मस्तकमें बाल चन्द्रधारी (शङ्करजी के), शिखराग्रमें सूर्यका स्प करनेवाले उदयाचलके शीतलको चुरानेवाला अर्थात् उदयाचलके समान शोभमान, (ऊप रखे हुए) सुवर्ण कलशोंसे सुशोभित तथा सुवर्ण–रससे लिप्त (पाठा०–सुवर्ण–रस ही भूषण जिसका ऐसा) होनेसे रमणीय महलों की पङ्क्तियों को घटित करो ॥ ५२ ॥

तस्मिन्मलिम्लुच इव स्मरकेलिजन्मघर्मोदबिन्दुमयमौक्तिकमण्डनं ते ।
जालैर्मिलन् दधिमहोदधिपूरलोलकल्लोलचामरमरुत् तरुणि! च्छिनत्तु॥५

तस्मिन्निति । हे तरुणि ! हे उद्भूतयौवने ! तस्मिन् द्वीपे, दधिमहोदधेः पू प्रवाहे, लोलाः चञ्चलाः, कल्लोलाः तरङ्गा एव, चामराणि तेषां मरुत् वायुः, मलिम्लुच चौर इव, 'चौरैकागारिकस्तेन–दस्युतस्करमोषकाः । प्रतिरोधिपरास्कन्दिपाटच्चर लिम्लुचाः ॥' इत्यमरः, जालैः गवाक्षरन्ध्रैः, मिलन् अन्तश्चरः सन् ; स्मरकेल्या जन यस्य तादृशं घर्मोदबिन्दुमयं स्वेदोत्करबिन्दुरूपं; 'मन्थौदन—' इत्यादिना उदकस विकल्पादुदादेशः, मौक्तिकमण्डनं मुक्ताभरणं, 'स्वार्थे ठक् । 'मौक्तिकमिति विनयादि पाठात्' इति वामनः' छिनत्तु छित्त्वा हरतु; चौरा हि केनचिच्छिद्रेण प्रविश हारादिकं छित्त्वा आदाय पलायन्ते; अस्मिन् वृते सति दधिसमुद्रवायुना तव रति श्रमो न भविष्यति इति भावः । अत्र रूपकोपमयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ५३ ॥

हे युवति ! उस क्रौञ्च द्वीपमें खिड़कियोंसे भीतर आनेवाले दधिसमुद्रप्रवाह का चञ्चल तरङ्गरूप चामरकी वायु चोरके समान तुम्हारे कामके लिये उत्पन्न पसीने की बूँदरूप भूषणको चुरावे । [कामक्रीडाजन्य श्रम से पसीनेकी मोतियोंके समान बूंदोंको खिड़कियों दधिसमुद्रके प्रवाहसे चञ्चल तरङ्गोंरूपी चामर की हवा सुखावे । [लोकमें भी कोई चोर प्रधान द्वारसे घरमें प्रवेश नहीं करता, किन्तु खिड़की आदिके रास्तेसे घरमें घुसकर भूषणादिको चुरा ले जाता है] ॥ ५३ ॥

एतद्यशो नवनवं खलु हंसवेशं वेशन्तसन्तरणदूरगमक्रमेण ।
अभ्यासमर्जयति सन्तरितुं समुद्रान् गन्तुञ्च निःश्रममितः सकलान् दिगन्तान्

एतदिति । नवनवं प्रत्यहं नूतनप्रकारं, 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावः, हंसस्येव वेशः सर्वत्र प्रवेशव्यापारः, श्वेतात्मकरूपान्तरं, वा यस्य तत् , एतस्य राज्ञः यशः वेशन्तसन्तरणं पल्वलतरणं; 'वेशन्तः पल्वलञ्चाल्पसरः' इत्यमरः । दूरगम दूरगमनं, 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' इति अप्–प्रत्ययः तयोः क्रमेण रीत्या, हंसस्य रीत्ये स्यर्थः, इतोऽस्माद्देशात् , निःश्रमं श्रमरहितं–यथा तथा, समुद्रान् सन्तरितुं सकलान् दिगन्तान् गन्तुञ्च अभ्यासम् अर्जयति खलु ? जिज्ञासायां खलुशब्दः, तेन, पुनः पुनरेवम् अभ्यस्यति किम् ? अन्यथा कथमस्य सकललोकलङ्घित्वमित्युत्प्रेक्षा लभ्यते ॥ ५४ ॥

इस ('द्युतिमान्' नामक राजा) का हंसके समान श्वेत वर्ण (पक्षा०—हंसवेषधारी)

नवीन यश छोटे जलाशयके तैरते-तैरते दूर जानेके क्रमसे (पहले जलाशयके कुछ
, बादमें उससे कुछ अधिक भागतक और इस प्रकार धीरे-धीरे पार तक—इसी
ड़े जलाशयोंके पारतक तदनन्तर) समुद्रके पारतक तैरनेके लिये अभ्यास कर रहा
यहां (समुद्र या इस स्थान) से सम्पूर्ण दिशाओंके अन्ततक विना श्रमके जानेका
करता है । [अन्य भी कोई व्यक्ति पहले छोटे जलाशयमें धीरे-धीरे तैरनेका
बढ़ाकर बड़े जलाशयों तथा बादमें समुद्र तक में तैरने का अभ्यास कर लेता है ॥
देवीने इस राजाके यशको नवीनतम बतलाकर इसके वरणमें अनास्था प्रकट की है]॥

मन् गुणैरपि भृते गणनादरिद्रैस्तन्वी न सा हृदयबन्धमवाप भूपे ।
विरुन्धति निबन्धनतां वहन्ति हन्त ! प्रयासपरुषाणि न पौरुषाणि ५५

स्मिन्निति । तन्वी कृशाङ्गी, 'वोतो गुणवचनात्' इति विकल्पात् ङीष् सा
गणनादरिद्रैः सङ्ख्याशून्यैः, असङ्ख्यैरित्यर्थः, गुणैः भृतेऽपि पूर्णेऽपि, तस्मिन्
तिमदाख्ये राज्ञि' हृदयस्य वन्धं मनःसङ्गं, नावाप; तथा हि, दैवे भागधेये,
वति प्रतिवध्नति सति, प्रयासेन दुःखबाहुल्येन, परुषाणि दुष्कराणि, पौरु-
पुरुषकाराः, युवादित्वादण्-प्रत्ययः निवन्धनतां कार्यहेतुत्वं, न वहन्ति इत्य-
रन्यासः; हन्तेति खेदे । वागुरापाशकादौ हरिणी यद् वन्धनमाप्नोति तत्र
डम्बना एव हेतुरिति ध्वनिः ॥ ५५ ॥

कृशोदरी वह (दमयन्ती) अगणनीय गुणोंसे परिपूर्ण भी उस ('द्युतिमान्' राजा) में
भिलाष नहीं किया (उस राजाको वरण करना नहीं चाहा) । भाग्यके प्रतिकूल होते
पर प्रयाससे दुष्कर भी पुरुषार्थ कार्यसाधक ।हेतु नहीं होते हैं । [भाग्यके प्रतिकूल
र पुरुषोंके कठोर प्रयास भी निष्फल हो जाते हैं] ॥ ५५ ॥

निन्यिरे नृपतिमन्यमिमाममुष्मादंसावतंसशिविकांशभृतः पुमांसः ।
ाकरादिव तुषारमयूखलेखां लेखानुजीविपुरुषा गिरिशोत्तमाङ्गम् ॥५६॥

ते इति । ते प्रकृताः, अंसावतंसान् स्कन्धभूषणस्वरूपान्, शिविकायाः अंशान्
यवान्, बिभ्रति ये ते, पुंमांसो यानवाहिपुरुषाः, लेखानुजीविपुरुषाः देवात्मका-
राः, 'अमरा निर्जरा देवाः' "लेखा अदितिनन्दनाः" इत्यमरः । रत्नाकरात् रत्ना-
सकाशात्, तुषारमयूखलेखां चन्द्रकलां, गिरिशोत्तमाङ्गं शिवशिर इव, इमां
म् अमुष्मात् एतद्राजसकाशात् अमुं नृपं विहाय इत्यर्थः, अन्यम् इतरं, नृपतिं
न्यिरे प्रापयामासुः । ञित्वादात्मनेपदम् ॥ ५६ ॥

न, कन्धेके भूषण शिविकाके एकदेश (डण्डे) को धारण किये (कन्धेपर रक्खे) हुए वे
अर्थात् शिविकावाहक) उस (दमयन्ती) को उस (द्युतिमान्) राजासे हटाकर
रे राजाके पास उस प्रकार ले गये, जिस प्रकार देवानुचर चन्द्रकलाको शङ्करजीके मस्तक
पास अर्थात् मस्तकपर ले जाते हैं ॥ ५६ ॥

एकैकमुद्गतगुणं[1] धुतदूषणञ्च हित्वाऽन्यमन्यमुपगम्य परित्यजन्तीम् ।
एतां जगाद जगदर्चितपादपद्मा पद्मामिवाच्युतभुजान्तरविच्युतां[2] सा ॥५

एकैकमिति । जगद्भिः अर्चितपादपद्मा जगद्वन्द्या, सा सरस्वती, उद्गत गुणाढ्यं, धुतदूषणं निर्दोषञ्च, एकैकम् एकमेकं नृपं, वीप्सायां द्विर्भावः । 'एकं ब व्रीहिवत्' इति बहुव्रीहिवद्भावात् सुपो लुक् । हित्वा अन्यम् अन्यं नृपतिं, पूर्व द्विर्भावः, उपगम्य परित्यजन्तीं तमपि परिहरन्तीम् , अच्युतस्य विष्णोः, भुजा रात् वक्षःस्थलात् , विच्युतां पद्मां साक्षाल्लक्ष्मीमिव स्थिताम् , इत्युत्प्रेक्षा, ए भैमीं, जगाद ॥ ५७ ॥

जगत्पूज्यचरणकमलवाली (सरस्वती देवी), गुण युक्त (पाठा०— आश्चर्यजनक गु वाले) और दोषरहित एक-एक (राजा) को छोड़कर दूसरे-दूसरे (राजा) के पास जा (उसे भी) छोड़ती हुई तथा विष्णुके वक्षःस्थलसे अवतीर्ण लक्ष्मीरूपा उस (दमयन्त से बोलीं-॥ ५७ ॥

ईशः कुशेशयसनाभिशये! कुशेन द्वीपस्य लाञ्छिततनोर्यदि वाञ्छितस्ते
ज्योतिष्मता सममनेन वनीघनासु तत् त्वं विनोदय घृतोदतटीषु चेतः ५

ईश इति । हे कुशेशयसनाभिशये ! कमलसदृशपाणि ! 'पञ्चशाखः शयः पाणि इत्यमरः । कुशेन दर्भस्तम्बेन, लाञ्छिततनोः चिह्नितस्वरूपस्य, द्वीपस्य कुशद्वीपस ईशः स्वामी, ते तव, वाञ्छितः इष्टः, यदि तत्तर्हि, त्वं ज्योतिष्मता ज्योतिष्मन्न मकेन, अनेन कुशद्वीपेश्वरेण, समं सह, वनीभिः घनासु वनसान्द्रासु, घृतम् उद यस्य सः घृतोदः घृतसमुद्रः, 'उदकस्योदः संज्ञायाम्' इत्युदादेशः, तस्य तटी तीरेषु चेतः चित्तं, विनोदय विनोदं कारय, विपूर्वात् नुदधातोः घञन्तात् विनो शब्दात् 'तत् करोति—' इति ण्यन्ताल्लोटि सिप् ॥ ५८ ॥

हे कमलतुल्य हाथवाली (दमयन्ति) ! कुशासे चिह्नित देहवाले (बहुत कुशाओं पूर्ण) द्वीप अर्थात् 'कुश-द्वीप' का स्वामी यदि तुम्हें अभीष्ट है तो तुम 'ज्योतिष्मा (सौन्दर्यसे प्रकाशमान, पक्षा०—'ज्योतिष्मान्' नामवाले) इस (कुशद्वीपाधिपति) के सा वनोंसे सघन समुद्रतटोंमें मन बहलावो [अर्थात् इस 'ज्योतिष्मान्' राजाको वरण कर वनों संघन समुद्रतटमें विहार करो] ॥ ५८ ॥

वातोर्मिलोलनचलद्दलमण्डलाग्रभिन्नाभ्रमण्डलगलज्जलजातसेकः ।
स्तम्बः कुशस्य भविताऽम्बरचुम्बिचूडश्चित्राय तत्र तव नेत्रनिपीयमानः

वातेति । तत्र कुशद्वीपे, अम्बरचुम्बिनो गगनतललग्ना, चूडा अग्रं यस्य स अभ्रङ्कषाग्र इत्यर्थः, अत एव वातस्य वायोः, ऊर्मिणा तरङ्गभङ्ग्या, लोलनेन कम्पनेन,

---

[1] '–मद्भुतगणम्' इति पा० । [2] 'विच्युतांसाम्' इति पा० ।

ह्निः दलैः कुशानां पत्रैरेव, मण्डलाग्रैः खड्गैः कुशपत्ररूपखड्गैरित्यर्थः, 'खड्गे निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः। कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत् ॥' मरः। अत्र रूपकालङ्कारः; भिन्नात् विदारितात्, अभ्रमण्डलात् मेघमण्डलात्, ह्निः स्रवद्भिः, जलैः जातः सेको यस्य सः कुशस्य स्तम्बः दर्भगुल्मः, 'अप्रकाण्डे बगुल्मौ' इत्यमरः, नेत्राभ्यां निपीयमानः आदरात् दृश्यमानः सन्, तव चित्राय र्याय, भविता भविष्यति ॥ ५९ ॥

आकाशस्पर्शी अग्रभागवाला तथा वायुपरम्पराके द्वारा कँपानेसे चञ्चल पत्ररूपी रोंसे छिन्न-भिन्न मेघसमूहसे गिरते हुए जलके द्वारा सींचे गये कुशस्तम्बको देखकर आश्चर्य होगा। [कुशद्वीपस्थ कुशका स्तम्ब आकाशस्पर्शी है, वायुसमूह से चञ्चल रके समान तीक्ष्ण पत्तोंसे छिन्न-भिन्न मेघसमूहसे बरसे हुए पानीसे वह कुश सिक्त ाता है उसे देखकर तुम्हें आश्चर्य होगा] ॥ ५९ ॥

थोधिमन्थसमयोत्थितसिन्धुपुत्रीपत्पङ्कजार्पणपवित्रशिलासु तत्र।
त्या सहाऽऽवह विहारमयैर्विलासैरानन्दमिन्दुमुखि! मन्दरकन्दरासु ॥

पाथोधीति। हे इन्दुमुखि! तत्र कुशद्वीपे, पाथोधिमन्थस्य अब्धिमथनस्य, ये उत्थितायाः उद्गतायाः, समुद्रमन्थकाले तज्जलमध्यादुद्भूताया इत्यर्थः, सिन्धु- याः लक्ष्म्याः, पत्पङ्कजयोः चरणकमलयोः, 'पदङ्घ्रिः चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः, णेन पवित्राः शिलाः यासु तासु मन्दरकन्दरासु पत्या भर्त्रा सह, विहाररूपैः, लासैः विनोदैः, आनन्दम् आवह धारय ॥ ६० ॥

हे चन्द्रमुखि (दमयन्ति)! उस कुशद्वीपमें समुद्रमथनके समय निकली हुई लक्ष्मीके गकमलके अर्पणसे पवित्र चट्टानोंवाली मन्दराचलकी गुफाओंमें विहारमय (विहाररूप विहारबहुल) विलासों (कटाक्ष-विक्षेपादि) से पति (रूपमें वृत इस राजा) के आनन्द प्राप्त करो ॥ ६० ॥

आरोहणाय तव सज्ज इवास्ति तत्र सोपानशोभिवपुरश्मबलिच्छटाभिः।
भोगीन्द्रवेष्टशतघृष्टिकृताभिरब्धि-क्षुब्धाचलः कनककेतकगोत्रगात्रि! ६१

आरोहणायेति। कनककेतकं स्वर्णकेतकदलं, गोत्रम् अभिजनो यस्य तत् तादृशं, स्य गोत्रं सन्ततिर्वा, गात्रं यस्याः तस्याः सम्बुद्धिः, तद्गात्रि! तत्सदृशगात्री- र्थः, 'अङ्गपात्रकण्ठेभ्यः' इत्यादिना ङीष्, तत्र कुशद्वीपे, भोगीन्द्रस्य वासुकेः वेष्ट- नघृष्टिभिः वेष्टनशतानां घर्षणैः कृताभिः अश्मसु शिलासु, वलीनां वेष्टनमार्गाणां, टाभिः समूहैः हेतुभिः, सोपानैः शोभते इति तच्छोभि वपुः यस्य सः बलिकृत- पानपङ्क्तिः, अब्धेः क्षुब्धाचलः मन्दराद्रिः 'क्षुब्धस्वान्त—' इत्यादिना निपातनाद् ाधुः, तवारोहणाय सज्जः सज्जित इव, अस्ति वर्त्तते, इत्युत्प्रेक्षा ॥ ६१ ॥

हे स्वर्ण-केतकीके समान (गौर वर्ण) शरीरवाली (दमयन्ती)! उस कुशद्वीप (समुद्रमथनके समय) सर्पराजको सैकड़ों बार लपेट कर घर्षण करनेसे उत्पन्न, चट्टानों रचनाके परम्पराओंसे सोपान (सींढ़ो) के समान शोभित शरीरवाला (सीढ़ीके समा सुन्दर) मन्दराचल मानो तुम्हारे चढ़नेके लिए तैयार है। [मन्दराचलमें वासुकिको सैक वार लपेटकर समुद्रमथन किया गया था, उसके द्वारा घिसनेसे उस मन्दराचलमें पड़े चिह्न चट्टानोंसे बनायी हुई सींढ़ीके समान मालूम पड़ते हैं, और उनके द्वारा ऐसा मालू पड़ता है कि मानो वह तुम्हें अपने ऊपर चढ़ानेके लिये तैयार हो] ॥ ६१ ॥

मन्था नगः स भुजगप्रभुवेष्टघृष्टिलेखाचलद्धवलनिर्झरवारिधारः ।
त्वन्नेत्रयोः स्वभरयन्त्रितशीर्षशेषशेषाङ्गवेष्टिततनुभ्रममातनोतु ॥ ६२ ॥

मन्थेति । भुजगप्रभोः वासुकेः, वेष्टैः वेष्टनैः, या घृष्टिलेखाः घर्षणमार्गाः, घर्षण जन्यवलयाकाररेखा इति यावत्, तासु चलन्त्यः प्रवहन्त्यः, धवलाः निर्झरवारि धारा यस्य तादृशः, सः प्रसिद्धः, मन्था। मन्थनदण्डः, 'वैशाखमन्थमन्थानमन्थान मन्थदण्डके' इत्यमरः, नगोऽद्रिः, मन्दराद्रिरित्यर्थः, त्वन्नेत्रयोः तव चक्षुषोः, स्वस्य मन्दरस्यैव, भरेण भारेण, यन्त्रितानि कुञ्चितानि, शीर्षाणि यस्य तस्य शेषस्य अनन्तस्य, भूभारं वहतः शेषाहेरित्यर्थः, शेषाङ्गेन अवशिष्टकायेन, वेष्टिता तनुः शरी यस्य स इति भ्रमम् आतनोतु भ्रान्तिं जनयतु; सर्पो हि शिरसि क्रामतोऽङ्गं स्वाङ्गेन वेष्टयतीति प्रसिद्धिः, शेषस्य शुभ्राङ्गतया वारिधाराणाञ्च धवलत्वात् लेखासु वलयि तत्वाच्च भ्रमः सम्भाव्यते इति भावः। अत्र कविसम्मतसादृश्यमूलभ्रान्तिवर्णनात् भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ६२ ॥

हे सुन्दरि (दमयन्ति)! सर्पराज (वासुकि) के लपेटनेसे बनायी गयी घिसनेकी रेखाओंसे गिरती हुई स्वच्छ झरनोंके पानीकी धारावाला मथनी वह पर्वत अर्थात् मन्दराचल तुम्हारे नेत्रोंको—'अपने (मन्दराचलके) बोझ से दबे हुए मस्तकोंवाले शेषनागके अवशिष्ट (बाकी) शरीरसे लिपटे हुए शरीरवाला यह है' ऐसा भ्रम करे। [सर्पके मस्तकको दबानेपर वह बाकी शरीरसे दबाने वालेके शरीरको लपेट लेता है, ऐसी उसकी प्रकृति होती है। मन्दराचलमें सर्पराज को लपेटकर समुद्रका मथन किया गया था, उस समय सर्पराजके लिपटनेके स्थानोंमें घिसनेसे चिह्न (गढ़े) पड़ गये, उनसे बहती हुई झरनोंकी स्वच्छ जलधाराको देखकर तुम्हें ऐसा भ्रम होगा कि सर्पराजने मन्दराचलके द्वारा अपना मस्तक दबानेसे अपने अवशिष्ट शरीरसे उस मन्दराचलको लपेट लिया है] ॥ ६२ ॥

एतेन ते स्तनयुगेन सुरेभकुम्भौ पाणिद्वयेन दिविषद्द्रुमपल्लवानि ।
आस्येन स स्मरतु नीरधिमन्थनोत्थं स्वच्छन्दमिन्दुमपि सुन्दरि! मन्दराद्रिः ।

एतेनेति । हे सुन्दरि ! स मन्दराद्रिः, एतेनेति पुरोवर्त्तिनिर्देशः, अस्य च तृतीयान्तपदत्रयेण सम्बन्धः, ते तव, स्तनयुगेन सुरेभस्य ऐरावतस्य, कुम्भौ, पाणिद्वयेन

द्रुमस्य कल्पवृक्षस्य, पल्लवानि, आस्येन इन्दुमपि, एवं नीरधिमन्थनोत्थं मन्थनोद्भूतं, समुद्रमथनोत्थानि सर्वाण्येतानि वस्तूनि इत्यर्थः, 'नपुंसकम-केनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्' इति नपुंसकत्वं वैकल्पिकमेकत्वञ्च स्वच्छन्दं निर-यथेष्टमित्यर्थः, 'स्वच्छन्दो निरवग्रहः' इत्यमरः, स्मरतु । अत्र कविसम्मतसादृ-लस्मृतिनिबन्धनात् स्मरणालङ्कारः ॥ ६३ ॥

सुन्दरि (दमयन्ति)! वह मन्दराचल तुम्हारे इस स्तनद्वयसे ऐरावतके कुम्भद्वय कस्थित कुम्भाकार दो मांसपिण्ड-विशेष) को भुजद्वयसे कल्पवृक्षके पल्लवको और समुद्रमथनसे निकले हुए चन्द्रमाको अच्छी तरह स्मरण करे। [समुद्रमथनके समय , कल्पवृक्ष तथा चन्द्रमा निकले हैं, उनको प्रत्यक्ष देखनेवाले मन्दराचलको तुम्हारे य, पाणिद्वय तथा मुखको देखकर ऐरावत, कल्पवृक्ष तथा चन्द्रमा स्मरण अवश्य हो ा; क्योंकि तुम्हारे स्तनद्वय ऐरावतके कुम्भद्वयके समान, भुजद्वय कल्पवृक्षके पल्लवके तथा मुख चन्द्रके समान हैं। अतः सदृश वस्तुओंके देखनेसे पूर्वदृष्ट वस्तुका होना सहज है] ॥ ६३ ॥

चोभिरखिलैः कृतकीर्त्तिरत्ने हेतुं विनैव धृतनित्यपरार्थयत्ने ।
ांसयेव भगवत्यमृतांशुमौलौ तस्मिन् महीभुजि तयाऽनुमतिर्न भेजे ॥

वेदैरिति । अखिलैः समस्तैः, अन्यत्र—अखिलः अविच्छिन्नसम्प्रदायैः, वेदैः ल्यैः, वचोभिः सत्पुरुषवाक्यैः, अन्यत्र—'यतो वा' इति वेदवाक्यैः, कृतं प्रका-म्, अन्यत्र,—प्रतिपादितं, कीर्त्तिरत्नम् अमूल्यरत्नरूपं यशः, अन्यत्र—स्तुति-रत्नं यस्य तस्मिन्, हेतुं विनैव स्वोपकारमनपेक्ष्यैव, धृतः नित्यं सदा, परार्थयत्नः मवाप्तसकलकामत्वेन परार्थैकप्रवृत्तिः येन तादृशे, तस्मिन् ज्योतिष्मन्नाम्नि, भुजि तया भैम्या, भगवति अमृतांशुमौलौ ईश्वरे मीमांसया पूर्वमीमांसयेव, मतिः अङ्गीकारः, न भेजे न प्राप्तः, भजेः कर्मणि लिट्, वेदापौरुषेयवादिनी मांसा भगवन्तमीश्वरं न सहते। ईश्वरबोधकवेदवाक्यानाञ्च नेश्वरप्रामाण्यतात्प-र्यत्वं, परन्तु अन्यवाक्यैकवाक्यतया अन्यत्र तात्पर्यकत्वं, 'यत्परः शब्दः स दार्थः' इत्याशयः। पूर्णोपमा ॥ ६४ ॥

सब लोगोंके द्वारा वेदतुल्य सत्य वचनोंसे विस्तारित कीर्त्तिरूपी रत्नवाले तथा निष्कारण रेके लिए उद्योग करनेवाले उस 'ज्योतिष्मान्' नामक राजाको उस दमयन्तीने उस प्रकार कार नहीं किया, जिस प्रकार समस्त वेदवचनोंसे किये गये कीर्तिरत्नवाले तथा (स्वयं त्य पूर्ण समस्त कामनावाले होनेसे) परोपकारके लिए कार्य करनेवाले अर्थात् परमदयालु वान् चन्द्रमौलि (शङ्करजी) को पूर्वमीमांसा नहीं स्वीकार करती है [पूर्वमीमांसा को अपौरुषेय (ईश्वरकृत) मानती है परन्तु अन्य किसी देवको नहीं मानती। दमयन्तीने 'ज्योतिष्मान्' राजाको वरण नहीं किया] ॥ ६४ ॥

तस्मादिमां नरपतेरपनीय तन्वीं राजन्यमन्यमथ जन्यजनः स निन्ये ।
स्त्रीभावधावितपदामभिमृश्य[1] याच्ञामर्थी निवर्त्य विधनादिव वित्तवित्त

तस्मादिति । अथ अनन्तरं, जन्यजनः वाहकलोकः, स्त्रीभावेन स्त्रीलील 'भावो लीलाक्रियाचेष्टाभूत्यभिप्रायजन्तुषु' इति वैजयन्ती, धावितपदां चालि चरणां, स्त्रीजनोचितचरणचेष्टयैव अन्यतो गमनमनुजानतीमित्यर्थः, अन्यत्र—स्त्रीभ स्त्रीलिङ्गे, धावितं पदं याच्ञति पदं यस्याः तां, 'यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो न इति नङ्-प्रत्ययस्य यजादिभ्यः पुंसि प्रयोगे याचेरेव स्त्रीलिङ्गप्रयोगादिति भा तन्वीं कृशाङ्गीम्, इमां भैमीं, तस्मात् नरपतेः अपनीय अर्थी याचकः, अभिमृ विमृश्य, याच्ञाम् उक्तरूपां याच्ञावृत्तिं, विधनात् निर्धनात् पुंसः, निवर्त्य वि धनेन, वित्तः प्रतीतः, विख्यात इति यावत्, 'वित्तो भोगप्रत्यययोः' इति विदे भार्थान्निष्ठानत्वाभावान्निपातनात् भोग्ये प्रतीते चार्थे उभयं साधु, भुज्यते इति भो धनादि, प्रतीयते इति प्रत्ययः ख्यातिः इति कर्मसाधनावेतौ । तथाऽऽहुः,—'वेत्ते विदितो निष्ठा विद्यतेर्विन्न इष्यते । विन्तेर्विन्नश्च वित्तश्च भोगे वित्तश्च विन्दतेः इति तं वित्तवित्तं धनाढ्यमिव, अन्यं राजन्यं राज्ञोऽपत्यं, राजानमित्यर्थः, 'राजश्वशुरा यत्' । 'राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणम्' इति वचनात् राजन्यः क्षत्रियः । निन्ये । श्लेषोपमयो संसृष्टिः ॥ ६५ ॥

अनन्तर (दमयन्तीके 'ज्योतिष्मान्' राजाको स्वीकार नहीं करनेपर) वे शिविकावाह लोग स्त्रीभाव (स्त्रीपन) से चलित पादवाली (स्पष्ट न कहकर पैरके अङ्गुष्ठको चलाक आगे बढ़नेका सङ्केत करनेवाली) इस तन्वी (दमयन्ती) को उस राजासे हटाकर दूस राजकुमारके पास उस प्रकार ले गये, जिस प्रकार याचक विचारकर अर्थात् मालूमकर स्त्रीत्वसे चलित पदवाली याच्ञाको निर्धन व्यक्तिसे हटाकर धनिक व्यक्तिके पास ले जाता है । [याच्ञा शब्द स्त्रीलिङ्ग है अतः स्त्रीसुलभ स्वभावसे इधर-उधर दौड़नेवाली है—चा जिस किसीसे भी याचक याचना 'याञ्चा' कर लेता है । अथवा—'यजयाचयतविच्छप्रच्छ रक्षो नङ्' (पा० सू० ३ ३।९०)से सिद्ध होनेवाले प्रयोगोंमें केवल 'याच्ञा' पद ही स्त्रीलिङ्ग है, अन्य सभी--'यज्ञः, यत्नः, विश्नः, प्रश्नः और रक्ष्णः'--शब्द पुँल्लिङ्ग ही हैं, अत एवम् यह स्त्रीत्व (स्त्रीलिङ्ग) में आनेवाला यह 'याच्ञा' पद है । जब याचकको मालूम हो जाता है कि यह व्यक्ति निर्धन है तो उससे याचना न कर धनिकोंके पास याचना करता है] ॥

देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा वागालपत् पुनरिमां गरिमाभिरामाम् ।
अस्यारिनिष्क्रपकृपाणसनाथपाणेः पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम् ॥६६॥

देवीति । पवित्रितः चतुर्भुजस्य विष्णोः, वामभागो यया सा, लक्ष्मीसरस्वत्यौ देवस्य दक्षिणवामपार्श्ववर्त्तिन्यावित्यागमः । वाक् देवी सरस्वती, गरिम्णा गुणगौर- वेण, अन्यत्र—अर्थगौरवेण, अभिरामां गिरम् आलपत् उवाच । किमिति ? हे वत्से !

निष्कृपः यः कृपाणः खड्गः, तेन सनाथः सहितः, पाणिः यस्य तादृशस्य, अस्य गुणानां गणं पाणिग्रहात् अनु विवाहानन्तरं, गृहाण जानीहि, तदा ज्ञास्यसि ानमस्येत्यर्थः; यद्वा—पाणिग्रहात् पाणिग्रहणं कृत्वा, अमुं नृपं वरीत्वा इत्यर्थः, हाण समाद्रियस्व, गुणेषु आदरं प्रदर्शयेत्यर्थः ॥ ६६ ॥

विष्णुके वामभागको पवित्र करनेवाली (वामभागमें निवास करनेवाली) वाक् (सरस्वती) (कुल शील सौन्दर्य आदि गुणोंके या सरस्वतीकी सखी होनेके) गौरवसे मनोज्ञ इस यन्ती) से फिर बोली—शत्रुओं में निर्दय एवं हाथ में तलवार लिये हुए (अथवा— ोंमें निर्दय तलवारको हाथ में लिये हुए) इस (राजा) के विवाहसे अपने (या इस के) गुण-समूहोंको अनुगृहीत करो (या बादमें अर्थात् विवाह करनेके बादमें ग्रहण म) करो। [इस राजाके साथ विवाह करोगी तब अत्यन्त निकट सम्बन्ध होनेके बाद कितना गुणवान् है यह जानोगी अथवा—यदि तुम इसके साथ विवाह नहीं करोगी तो गुण व्यर्थ हो जायेंगे, अतः इसके साथ विवाह करके इसके गुणोंको अनुगृहीत करो। ा—इसके साथ विवाह नहीं करोगी तो तुम्हारे गुण व्यर्थ हो जायेंगे, अतः इसके विवाह करके अपने गुणोंको अनुगृहीत करो ॥ ६६ ॥

द्वीपस्य शाल्मल इति प्रथितस्य नाथः
पाथोधिना वलयितस्य सुराम्बुनाऽयम्।
अस्मिन् वपुष्मति न विस्मयसे गुणाब्धौ
रक्ता तिलप्रसवनासिकि! नासि किं वा? ॥ ६७ ॥

द्वीपस्येति। हे तिलप्रसवनासिकि! तिलकुसुमसमाननासिके! 'नासिकोदरौष्ठ-' ादिना विकल्पात्, ङीष्, अयं राजा, सुरा मद्यमेव, अम्बु यस्य तादृशेन, ोधिना समुद्रेण, सुरासमुद्रेणेत्यर्थः, 'वलयितस्य सञ्जातवलयस्य, वेष्टित- त्यर्थः, शाल्मल इति प्रथितस्य द्वीपस्य नाथः स्वामी; गुणाब्धौ अस्मिन् वपुष्मति ष्मदाख्ये, अथ च प्रशस्तशरीरशालिनि राज्ञि, किं न विस्मयसे? अस्य गुणेषु म् आश्चर्यान्विता न भवसि? रक्ता वा अनुरक्ता च, किं नासि? उभयमप्युचित- वेत्यर्थः ॥ ६७ ॥

हे तिलपुष्पके समान नाकवाली (दमयन्ति)! यह मदिराख्य जलवाले समुद्रसे घिरे 'शाल्मल' इस नामसे प्रसिद्ध द्वीपका स्वामी है। गुणोंके समुद्र इस वपुष्मान् (श्रेष्ठ ीरवाले पक्षा०—'वपुष्मान्' नामवाले) इस राजामें आश्चर्यित नहीं होती हो? और ुरक्त नहीं होती हो क्या?। [शरीरधारी गुण-समुद्रको देखकर आश्चर्यित होना ाहिये तथा उसमें अनुरक्त भी होना चाहिये सुरासमुद्रका वर्णनकर सरस्वतीदेवीने इस ाके वरण करनेमें असम्मति प्रकट की है] ॥ ६७ ॥

विप्रे धयत्युदधिमेकतमं त्रसत्सु यस्तेषु पञ्चसु बिभाय न शीधुसिन्धुः ।
तस्मिन्ननेन च निजालिजनेन च त्वं सार्द्धं विधेहि मधुरा मधुपानकेली

विप्रे इति । शेरते अनेनेति शीधुः आसवः, 'मैरेयमासवः शीधुः' इत्यम शीङो धुक्-प्रत्यय औणादिकः यः शीधुसिन्धुः आसवसमुद्रः, विप्रे अगस्त्ये, तमम् उदधिं लवणसमुद्रं, धयति पिबति सति, लटः शतृ-प्रत्ययः, तेषु पञ्चसु द मण्डादिसमुद्रेषु, त्रसत्सु अयमस्मानपि पास्यतीति मत्वा बिभ्यत्सु सत्सु, न वि स्वयं न भीतः, 'ब्राह्मणो न सुरां पिबेत्' इति निषेधादिति भावः, तस्मिन् सुराब् अनेन राज्ञा च, निजेन आलिजनेन च सार्द्धं मधुराः मनोहराः, मधुपानकेलीः पानक्रीडाः, विधेहि कुरु ॥ ६८ ॥

ब्राह्मण (अगस्त्य मुनि) एक समुद्र (क्षारसमुद्र) को पीने लगे तब दूसरे समुद्र (क्षीरसमुद्र, दधिसमुद्र, 'घृतसमुद्र, इक्षुरससमुद्र और मधुरजलसमुद्र) डरने (कि 'हम लोगोंको भी ये अगस्त्य मुनि न पी लेवें', किन्तु 'ब्राह्मणके मदिरा पी निषेध होनेसे हमको ये नहीं पीयेंगे' ऐसा निश्चय कर) उस समय जो सुरासमुद्र डरा; उसमें इस ('वपुष्मान्') राजा तथा सखीजनोंके साथमें तुम मनोज्ञ मद्य क्रीडाओंको करो । [इस राजाके साथ विवाह कर लेनेपर तुम्हारे तथा तुम्हारी सखि लिये मद्यपानक्रीडा करना बहुत सरल होगा, अत एव इस राजाके साथ विवाह करो] ॥

द्रोणः स तत्र वितरिष्यति भाग्यलभ्यसौभाग्यकार्मणमयीमुपदां गिरिस्ते
तद्द्वीपदीप इव दीप्तिभिरोषधीनां चूडामिलज्जलदकज्जलदर्शनीयः ॥ ६

द्रोण इति । तत्र शाल्मलिद्वीपे, ओषधीनां तृणज्योतिषां, दीप्तिभिः तस्य द्वीप दीप इव, स्थितः इति शेषः, अत एव चूडायां शिखरे, मिलद्भिः सङ्गच्छमानैः, ज दैरेव कज्जलैः दर्शनीयः दृष्टिप्रियः, स प्रसिद्धः, द्रोणो द्रोणाख्यः, गिरिः, ते त भाग्यैरेव लभ्यं सौभाग्यं पतिवाल्लभ्यं, तस्य कार्मणं मूलकर्म, ओषधीनां मूलैः सा वशीकरणादिरूपं कर्म, 'मूलकर्म तु कार्मणम्' इत्यमरः । 'तद्युक्तात् कर्मणोऽ इति स्वार्थेऽण्-प्रत्ययः, तन्मयीं तद्रूपाम्, उपदाम् उपायनम्, 'उपायनमुपग्राह्यमु हारस्तथोपदा' इत्यमरः । वितरिष्यति दास्यति; उपलक्षणमेतत्, सञ्जीवन्याद्य कदिव्यौषधिलाभस्ते भविष्यतीति भावः । अत्र कार्मणमयीमुपदामिति परिणाम लङ्कारः, आरोप्यमाणो यदीयस्तद्विषयकार्मणाकारपरिणामेन प्रकृतप्रभुचित्तावर्जनो योगित्वात् आरोप्यमाणमारोपविषयात्मत्वेन स्थितम्; 'प्रकृतस्योपयोगित्वे परिणाम उदाहृतः' इति लक्षणात्; अस्य च दीप इवेत्युत्प्रेक्षया संसृष्टिः, तस्यास्तु जलदकज्ज लेति रूपकेण सङ्करः ॥ ६९ ॥

वहां ('शाल्मल' द्वीपमें) ओषधियोंके प्रकाशसे उस द्वीपके दीपकके समान शिखरोंमें लगे हुए मेघरूप कज्जलसे दर्शनीय वह (प्रसिद्ध) द्रोण पर्वत तुम्हारे लिए भाग्यसे मिलने

सौभाग्य (पतिप्रेम आदि) के ओषधियोंकी जड़से वशीकरणरूप उपदाको देगा।
पके ऊपर कज्जलके समान उस द्रोणपर्वतके शिखरों पर काले मेघ हैं जिनसे वह
वहुत सुन्दर मालूम पड़ता है, और उसमें वहुत-सी जड़ी-बूटियां हैं। अत एव तुम
राजाको वरण कर उस पर्वतसे वड़े भाग्यसे प्राप्य वशीकरण बूटी को पा सकती हो
कारण इस राजाको वरण करो] ॥ ६९ ॥

द्वीपलक्ष्मपृथुशाल्मलितूलजालैः क्षोणीतले मृदुनि मारुतचारुकीर्णैः ।
लाविहारसमये चरणार्पणानि योग्यानि ते सरससारसकोषमृद्वि ! ॥७०॥

तद्द्वीपेति । सरसम् अभिनवं, यत् सारसं पद्मं, तस्य कोषः मुकुलं, तद्वत् मृद्वी
मला, तत्सम्बुद्धौ हे सरससारसकोषमृद्वि ! अभिनवकमलकोरककोमले ! मारुतेन
यथा तथा कीर्णे, तद्द्वीपस्य लक्ष्म चिह्नं, पृथुः महान्, यः शाल्मलिः तदाख्यया
द्धवृक्षविशेषः, 'स्थिरायुः शाल्मलिर्द्वयोः' इत्यमरः। तस्य तूलजालैः तूलसमूहैः,
दुनि कोमले, क्षोणीतले ते तव, लीलाविहारसमये क्रीडासञ्चरणकाले, चरणार्प-
नि पादविन्यासाः, योग्यानि अनुरूपाणि, भविष्यन्तीति शेषः; अतिकोमलायास्ते
तिकोमलस्थले एव गमनं युक्तं, तच्चातिश्लाघ्यमिति भावः। अत्रानुरूपयोगोक्तेः
ालङ्कारः, 'सा समालङ्कृतिर्योगे वस्तुनोरनुरूपयोः' इति लक्षणात् ॥ ७० ॥

हे नवीन (ताजे) कमलकोशके समान कोमल (दमयन्ति) ! वायुके द्वारा सम्यक्
ये गये, उस (शाल्मल) द्वीपके चिह्न विशाल सेमलकी रुइयोंके समूहसे कोमल भूतल
लीलापूर्वक विहार करनेके समय तुम्हारा पैर रखना योग्य होगा। [कमलकोशके
ान कोमलाङ्गी तुम्हारे विहारके योग्य कोमलतम भूमि इस राजाको स्वीकार करने पर
प्राप्त होगी, अत एव तुम इसको स्वीकार करो] ॥ ७० ॥

तद्गुणश्रवणकालविजृम्भमाणतल्लोचनाञ्चलनिकोचनसूचितस्य ।
वस्य चक्रुरुचितं शिविकाभृतस्ते तामेकतः क्षितिपतेरपरं नयन्तः ॥ ७१ ॥

एतदिति । तां भैमीम्, एकतः एकस्मात्, क्षितिपतेः अपरं क्षितिपतिं, नयन्तस्ते
विकाभृतो जन्याः, एतस्य राज्ञः, गुणश्रवणकाले विजृम्भमाणायाः तस्याः
मयन्त्याः, लोचनाञ्चलस्य नेत्रप्रान्तस्य, निकोचनेन सङ्कोचनेन, सूचितस्य ज्ञापि-
स्य, भावस्य अभिप्रायस्य, उचितम् अर्हं कृत्यं, चक्रुः; अपरागज्ञानानन्तरमपसरण-
व उचितमिति भावः ॥ ७१ ॥

उस (दमयन्ती) को एक राजा ('वपुष्मान्' नामक राजा) से दूसरे (राजा) के
स ले जानेवाले शिविकावाहकोंने, इस ('वपुष्मान्' राजा) के गुणोंको सुननेके समयमें
जृम्भमाण (बढ़ते हुए) उस (दमयन्ती) के नेत्रप्रान्त अर्थात् कटाक्षके सङ्कोचसे व्यक्त
ाव (उस राजामें अनुरक्तिका अभाव) के अनुकूल ही किया। [उस राजाके गुणोंको
नते समयमें दमयन्तीने उसे कटाक्षसे देखना बन्द कर दिया, यह कार्य सामनेवाले अन्य

राजाओं के भूषणों या मणिस्तम्भोंमें देखकर 'दमयन्ती इस राजा को नहीं चाहती' उसका भाव मालूमकर उस राजासे हटाकर उसे दूसरे राजाके पास ले गये यह दमयन्ती भाव को समझनेवाले विज्ञ शिविकावाहकोंने ठीक ही किया] ॥ ७१ ॥

तां भारती पुनरभाषत नन्वमुष्मिन् काश्मीरपङ्कनिभलग्नजनानुरागे ।
श्रीखण्डलेपमयदिग्जयकीर्त्तिराजिराजद्भुजे भज महीभुजि भैमि ! भावम्

तामिति । भारती तां भैमीं, पुनरभाषत । किमिति ? ननु भैमि ! काश्मीरप निभेन कुङ्कुमानुलेपनमिषेणेत्यपह्नवः; लग्नो जनानुरागो यस्मिन् तस्मिन्, श्रीख लेपः चन्दनलेपनं, तन्मयीभिः दिग्जयकीर्त्तीनां राजिभिः राजन्तौ शोभमानौ, भु यस्य तस्मिन्, अमुष्मिन् महीभुजि राज्ञि, भावम् अनुरागं, भज । अत्र श्रीखण्डले कीर्त्तित्वोत्प्रेक्षा गम्या ॥ ७२ ॥

सरस्वती देवी उस (दमयन्ती) से फिर बोली—हे दमयन्ति ! कुङ्कुमके समान हुए जनानुरागवाले तथा चन्दनलेपरूप दिग्विजयजन्यकीर्ति-समूहसे शोभित वाहुवा इस राजामें अनुराग करो । [इस राजाके प्रत्येक अङ्गमें रक्तवर्ण कुङ्कुमलेप जिस प्रकार है उसी प्रकार प्रत्येक अङ्गके सुन्दरतम होनेसे उन्हें सभी जन अनुरागसे देखते हैं वाहुमें श्वेत वर्ण जो चन्दनलेप लगा है वह ऐसा मालूम पड़ता है कि यह वाहुओं द्वारा दिशाओंके विजय करनेसे कीर्ति लगी हुई है; जनानुरागका कुङ्कुमके समान अरुण वर्ण दिग्विजयजन्या कीर्तिका चन्दनलेपके समान श्वेत वर्ण होना एवं प्रत्येक अङ्गके दर्शनी होनेसे उसमें जनानुरागका तथा वाहुवलजन्य दिग्विजयकीर्ति-समूह होनेसे उसका वाहु संलग्न होना उचित ही है] ॥ ७२ ॥

द्वीपं द्विपाधिपतिमन्दपदे ! प्रशास्ति प्लक्षोपलक्षितमयं क्षितिपस्तदस्य ।
मेधातिथेस्त्वमुरसि स्फुर सृष्टसौख्या साक्षाद् यथैव कमला यमलार्जुनारेः

द्वीपमिति । द्विपाधिपतेः गजेन्द्रस्येव, मन्दम् अलसं, पदं गमनं यस्याः तस्याः सम्बुद्धिः, अयं क्षितिपः प्लक्षेण प्लक्षवृक्षेण, उपलक्षितं चिह्नितं, द्वीपं प्लक्षद्वीपं प्रशास्ति पालयति, तत् तस्मात्, मेधातिथेः मेधातिथिनाम्नः, अस्य राज्ञः, उरसि सृष्टसौख्या जनितानन्दा सती, यमलयोः युग्मयोः, अर्जुनयोः ककुभवृक्षयोः, तद्रूपधारिणोः असुरयोरिति यावत्, अरेर्विष्णोः, उरसि साक्षात् कमला लक्ष्मीः, यथा तथैव स्फुर भाहि ॥ ७३ ॥

हे गजराजके समान मन्दगतिवाली (दमयन्ति) ! यह राजा 'प्लक्ष' वृक्ष से युक्त द्वीप अर्थात् 'प्लक्षद्वीप' का शासन करता है, इस कारण तुम इस मेधातिथि ('मेधातिथि' नामक, पक्षा०—बुद्धि है अतिथि जिसकी ऐसे अतिशय बुद्धिमान्) इस राजाके हृदयमें (आलिङ्गनके द्वारा) सुख उत्पन्न करके श्रीविष्णु भगवान्के हृदयमें आलिङ्गनके द्वारा सुख उत्पन्न करनेवाली साक्षात् लक्ष्मी के समान शोभित होवो ॥ ७३ ॥

महीयसि महीवलयातपत्रे तत्रेक्षिते खलु तवापि मतिर्भवित्री ।
विधातुमधिशाखविलम्बिदोलालोलाखिलाङ्गजनताजनितानुरागे ॥

प्लक्ष इति । तत्र प्लक्षद्वीपे, अधिशाखं शाखायां, विलम्बिनीभिः दोलाभिः नि अखिलानि समस्तानि, अङ्गानि यस्याः तादृशी या जनता जनसमूहः, तया तोऽनुरागो यस्मिन् तस्मिन्, महीवलयस्यातपत्रे छत्ररूपे, महीयसि महत्तरे, प्लक्षवृक्षे, ईक्षिते सति, तवापि खेलां दोलाक्रीडां, 'क्रीडा खेला च कूर्दनम्' रः । विधातुं कर्त्तुं, मतिः इच्छा, भवित्री भाविनी खलु; परकीयविहारदर्शनात् पि तदभिलाषी भवतीति भावः ॥ ७४ ॥

उस (प्लक्षद्वीप) में शाखाओंमें लटकते हुए झूलाओंसे चञ्चल समस्त अङ्गोंवाली से अनुराग उत्पन्न करनेवाले तथा भूमण्डलके छत्ररूप उस विशालतम 'प्लक्ष' वृक्षको पर क्रीडा करने (झूलेपर चढ़ने) के लिये तुम्हारी भी रुचि होगी । [उस 'प्लक्ष-में बहुत बड़ा 'प्लक्षवृक्ष' है जो छतनार होनेसे पृथ्वीमण्डलके छालेके समान जान है और उसकी डालियोंमें झूला लगाकर बहुत लोगों को चढ़े एवं झूमते हुए देखकर भी झूलेपर चढ़ना चाहोगी] ॥ ७४ ॥

त्वा तवाधरसुधां वसुधासुधांशुर्न श्रद्दधातु रसमिक्षुरसोदवाराम् ।
स्य तस्य दधतां परिवेशवेशं सोऽयं चमत्कृतचकोरचलाचलाक्षि ! ॥७५॥

पीत्वेति । हे चमत्कृतचकोरचलाचलाक्षि ! चकितचकोरचञ्चलनयने ! वसुधासुधांशुः भूचन्द्रः, सोऽयं मेधातिथिः, तव अधरसुधाम् अधरामृतं, पीत्वा तस्य स्य परिवेशवेशं वेष्टनस्वरूपं, परिखाकारमित्यर्थः, 'परिवेशो वेष्टने स्यात् परि-पि पुंस्ययम्' इति मेदिनी, दधताम् इक्षुरसः एवोदकं यस्य तस्य इक्षुरसाब्धेः, वारीणां, रसं स्वादं, न श्रद्दधातु न अभिलषतु 'श्रद्धाऽऽस्तिक्याभिलाषयोः' वैजयन्ती । अमृतास्वादलोलुपस्य किमिक्षुरसगण्डूषैरिति भावः । चकोरा चन्द्रस्य अमृतं पिबन्ति, किन्तु चकोराक्ष्याः तव अधरामृतं भूचन्द्रोऽयं पिबति : चमत्कृतपदस्य सार्थकता अवगन्तव्या इति निष्कर्षः ॥ ७५ ॥

हे चकित चकोरके समान चञ्चल नेत्रोंवाली (दमयन्ति) ! पृथ्वी का चन्द्र सुप्रसिद्ध ('मेधातिथि' राजा) तुम्हारे अधरामृतको पीकर उस द्वीपके परिधि बने हुए, इक्षुरसके के रसको नहीं चाहेगा । [चकोर चन्द्रामृतका पान करता है, चन्द्र चकोरका पान नहीं ; किन्तु प्रकृतमें चन्द्ररूप यह राजा चकोरनेत्री तुम्हारे अधरका पान करेगा यह रके चकित होनेका कारण है । अमृतपान करनेवाले व्यक्तिको इक्षुरसका पान करनेके इच्छुक नहीं होना उचित ही है] ॥ ७५ ॥

न सौर इव नेन्दुमवेत्य तस्मिन् अश्नाति यस्तदितरत्रिदशानभिज्ञः ।
यैन्दवस्य भवदास्यनिरीक्षयैव दर्शेऽश्नतोऽपि न भवत्ववकीर्णिभावः ॥७६॥

सूरमिति। तस्मिन् प्लक्षद्वीपे, तस्मादिन्दोः, इतरेषां त्रिदशानाम् अनभि इन्दोरन्यं देवमभजमानः, यः चन्द्रभक्तो जनः, सूरे भक्तिर्यस्य स सौरः सूर्यभ 'भक्तिः' इत्यण्, सूरं सूर्यमिव, इन्दुं न अवेक्ष्य न दृष्ट्वा, नाश्नाति न भुङ्क्ते, त ऐन्दवस्य इन्दुभक्तस्य, पूर्ववदण् प्रत्ययः, भवत्याः आस्यनिरीक्षयैव स्वन्मुखद नैव, सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः। दर्शे अमावास्यायाम्, अश्नतो भुञ्जानस्य अवकीर्णिभावः क्षतव्रतत्वम्, 'अवकीर्णी क्षतव्रतः' इत्यमरः। न भवतु; स्वन्मुख मुख्येन्दुत्वात्तद्दर्शनादेव इन्दुदर्शनव्रतिनां भोजनाधिकारसिद्धेः नास्ति च व्रत दोष इति भावः। एतेन तन्मुखे मुख्येन्दुभ्रमात् भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यत इ वस्तुनाऽलङ्कारध्वनिः ॥ ७६ ॥

उस (प्लक्षद्वीप) में उस (चन्द्र) से भिन्न देवताका अनभिज्ञ अर्थात् चन्द्रेतर दे भक्ति नहीं करनेवाला (चन्द्रभक्त) जो (आदमी) सूर्यको विना देखे सूर्यभक्तके स चन्द्रमा विना देखे भोजन नहीं करता है, तुम्हारे मुखके देखनेसे ही अमावस्यामें भोजन करते हुए उस चन्द्रभक्त (व्यक्ति) का व्रत भङ्ग न होवे। [तुम्हारा मुख चन्द्रमा है, अत एव अमावस्याको उसे देखकर भोजन करने पर भी सूर्यको देखकर भो करनेवाले सूर्यभक्त व्यक्तिके समान चन्द्रमाको देखकर ही भोजन करनेवाले चन्द्रभक्त व्रतभङ्ग नहीं होगा। तुम्हारा मुख साक्षात् चन्द्ररूप है] ॥ ७६ ॥

उत्सर्पिणी न किल तस्य तरङ्गिणी या त्वन्नेत्रयोरहह !! तत्र विपाशि जात
नीराजनाय नवनीरजराजिरास्तामत्राञ्जसाऽनुरज राजनि राजमाने ॥ ७

उत्सर्पिणीति। तस्य द्वीपस्य, या विपाट्-नाम्नी, तरङ्गिणी उत्सर्पिणी उत्स सर्पिणी, उद्धतप्रवाहा इत्यर्थः, न किल, तत्र तस्या, विपाशि विपाशायां न 'विपाशा तु विपाट् स्त्रियाम्' इत्यमरः। जाता नवा नीरजराजिः पद्मपङ्क्तिः, त्वन् त्रयोः तव चक्षुषोः, नीराजनाय निर्मञ्छनाय, आस्तां तिष्ठतु, अहह !! इत्यद्भु विपाशायाम् उत्कटतरङ्गाभावात् पद्मानि सदा जायन्ते, अतः तव अक्षिनीरा सन्ततं भविष्यति इति भावः; अत एव राजमाने दीप्यमाने, अत्र अस्मिन् मेधाति थिनाम्नि, राजनि अञ्जसा द्रुतम्, 'स्राक् झटित्यञ्जसाऽह्नाय द्राङ्मङ्क्षुसपदि द्रुत इत्यमरः। अनुरज अनुरज्यस्व, रञ्जेर्भौवादिकाल्लोटि सिप् 'रञ्जेश्च' इत्युपधानकार लोपः ॥ ७७ ॥

उस (प्लक्षद्वीप) की जो ('विपाश्' नामकी नदी, वर्षाकालमें भी) तटको भङ्ग करा वाली नहीं है, यह आश्चर्य है। उस 'विपाश्' नदीमें उत्पन्न नवीन नीलकमलपङ्क्ति तुम्ह नेत्रद्वयके नीराजन (आरती करने) के लिये होवे, इस शोभमान (मेधातिथि नामक राजामें शीघ्र (या स्वयं या सत्य) अनुराग करो। ['विपाश्' नदी अन्य स्थानोंमें तटों तोड़ती है किन्तु इस राजा के द्वीपमें नहीं, अतः वहाँपर उत्पन्न सरस कमलपङ्क्ति स्थि

तुम्हारे नेत्रोंकी आरती करती हुई-सी जान पड़ेगी। इससे दमयन्तीके नेत्रोंकी शोभा कमलोंसे भी अधिक है, यह सूचित होता है]॥ ७७ ॥

यशोभिरखिलेऽम्बुनि सन्तु हंसाः दुग्धीकृते तदुभयव्यतिभेदमुग्धाः।
पयस्यपि पदे द्वयवाचिभूयं नानार्थकोषविषयोऽद्य मृषोद्यमस्तु ॥७८॥

एतदिति। एतस्य राज्ञः, यशोभिः अखिले अम्बुनि जले, दुग्धीकृते क्षीरीकृते हंसाः तस्य उभयस्य दुग्धाम्बुद्वयस्य, व्यतिभेदे परस्परविवेके, मुग्धाः मूढाः, । किञ्च, क्षीरे पदे पयसि पदेऽपि, क्षीर-पयः पदयोर्विषये इत्यर्थः, नानार्थको- 'क्षीरं नीरे च दुग्धे च' 'पयोऽम्भसि च दुग्धे च' इत्यादिना अनेकार्थनिघण्टोः, यस्तत्प्रतिपाद्यभूतमित्यर्थः, द्वयवाचिभूयमर्थद्वयवाचकत्वं, 'भुवो भावे' इति । अद्य तव परिग्रहादिति भावः, मृषोद्यं मिथ्योदितम्, अस्तु; सलिलस्यापि भावेन द्वितीयार्थासम्भवादिति भावः। 'राजसूयसूर्यमृषोद्य–' इत्यादिना निपा- त् साधुः। अत्राखिलेऽम्बुनि दुग्धीकृते इति सामान्यालङ्कारः, तदुपजीवनेन नां क्षीरनीरविवेकसम्बन्धेऽपि क्षीरपयःपदयोरप्यर्थद्वयसम्बन्धे तदसम्बन्धरू- शयोक्तिद्वयोरुत्थापनात् सङ्करः ॥ ७८ ॥

हंस इस राजा के यशसे समस्त जलके दुग्ध बनाये (दुग्धके समान श्वेत किये) पर उन दोनों (जल तथा दुग्ध) के परस्पर विचार करनेमें मुग्ध हो जावें और अनेक ाले कोषका विषय 'दुग्ध तथा जल शब्दमें दो अर्थोंका कथन' आज असत्य होवे। राजाके यशसे जलके भी दुग्धके समान बना दिये जानेपर 'क्षीर तथा पयस्' शब्दके र्थों को कहनेवाले अनेकार्थ कोषका विषय निष्प्रयोजन हो जावे]॥ ७८ ॥

: किमस्य नलमप्यलमाजुहूषोः कीर्त्ति स चैष समादिशतः स्म कर्त्तुम्।
द्वीपसीमसरिदीश्वरपूरपारवेलाबला[1]क्रमणविक्रममक्रमेण ॥ ७९ ॥

ब्रूम इति। नलं नैषधम् अपि, अलम् अत्यर्थम्, आजुहूषोः सस्पर्द्धमाह्वातु- राज्ञोः, नलसमानगुणस्येत्यर्थः, ह्वयतेराङ्पूर्वात् स्पर्द्धायामात्मनेपदिनः सनन्तात् त्ययः, 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधान्नलम् इति कर्मणि द्वितीया अस्य तिथेः, माहात्म्यमिति शेषः, किं ब्रूमः ? वक्तुमशक्यमित्यर्थः; तथा हि, स नलश्च, मेधातिथिश्च, अक्रमेण यौगपद्येन, स्वद्वीपयोः, जम्बूप्लक्षद्वीपयोः, सीमनि सरिदी- पूरस्य अब्धिप्रवाहस्य, पारवेलायाः परतीरमर्यादायाः, बलेन आक्रमणमेव विक्रमं पराक्रमं, कर्त्तुं कीर्त्तिं प्रयोज्यकर्त्रीं, समादिशतः स्म समादिष्टवन्तौ; द्वीपान्तरेषु पि अनयोः कीर्त्तिसञ्चार इति भावः ॥ ७९ ॥

नलकी भी अत्यन्त स्पर्द्धा करते हुए इस (मेधातिथि राजा) की कीर्ति को कैसे कहूं त इसकी कीर्तिका वर्णन करना दुःसाध्य या आसाध्य है। वह (नल) तथा यह (मेधातिथि)

---

[1] 'चला—' इति पा०

भी—दोनों एक साथ अपने-अपने द्वीप (क्रमशः 'जम्बूद्वीप तथा प्लक्षद्वीप') की सीम (या सीमाभूत) समुद्रके प्रवाहके दूसरे तीरके पर्वतपर (पाठा०—तीरपर वलदार आक्रमण करने (चढ़ने) का पराक्रम करते हैं (या आक्रमणरूप पराक्रम करते हैं [नल तथा यह मेधातिथि एक साथ ही अपनी-अपनी कीर्तिको अपने-अपने द्वीप सीमाभूत समुद्रके पारवाले पर्वतपर चढ़नेके लिये भेजकर अपना-अपना पराक्रम प्रद करना चाहते हैं। ('आजुहूषोः' (आह्वान स्पर्द्धा) करने की इच्छा करते हुए) पदसे नलकी स्पर्द्धा करनेकी इच्छा ही करता है, हीनवल होनेसे यह स्पर्द्धा करता नह अथवा—यह नियम है कि वड़ेके वरावर होनेके लिये उसकी स्पर्द्धा छोटा करता है, छोट स्पर्द्धा वड़ा कभी नहीं करता; अत एव यहां पर इस मेधातिथिका नलकी स्पर्द्धा कर बतलाकर इसे नलसे हीन होनेका सङ्केत सरस्वती देवीने किया है] ॥ ७९ ॥

अम्भोजगर्भरुचिराऽथ विदर्भसुभ्रूस्तं गर्भरूपमपि रूपजितत्रिलोकम् ।
वैराग्यरूक्षमवलोकयति स्म भूपं दृष्टिः पुरत्रयरिपोरिव पुष्पचापम् ॥ ८०

अम्भोजेति । अथ एतद्वाक्यश्रवणानन्तरम्, अम्भोजगर्भवत् रुचिरा रम्या, त कोमलाङ्गीत्यर्थः, विदर्भसुभ्रूः वैदर्भी, प्रशस्तो गर्भो गर्भरूपस्तं पूर्ववयसं, युवान पीत्यर्थः, प्रशंसायां रूपप्, रूपजितत्रिलोकं रूपेण सौन्दर्येण, जितास्त्रयो लोका तं, पुष्पचापेऽपीदं योज्यम्; तं भूपं मेधातिथिं, पुष्पचापं कामं पुरत्रयरि ईश्वरस्य, दृष्टिरिव वैराग्यरूक्षं वैराग्येण अपरागेण, रूक्षं परुषं यथा तथा, अवलो यति स्म; अतिसुन्दरेऽपि तस्मिन् राज्ञि न अनुरक्ता अभूत् इति भावः ॥ ८० ॥

इस (सरस्वती देवीके ऐसा (११।७२–७९) कहने के) वाद कमल-गर्भके समा सुन्दरी दमयन्तीने रूपसे तीनों लोकोंको जीतनेवाले युवक भी उस ('मेधातिथि' राजा को रूपसे तीनों लोकोंको जीतनेवाले पुष्पवाण (कामदेव) को शङ्करजीकी दृष्टिके समा वैराग्यसे रुक्षतापूर्वक देखा । [प्रियतम नलके साथ स्पर्द्धा करनेसे दमयन्तीका उ 'मेधातिथि' राजामें वैराग्य होना तथा क्रोधोदय होनेसे रूक्षतापूर्वक देखना उचित ही है].

ते तां ततोऽपि चक्षुर्जगदेकदीपादंसस्थलस्थितसमानविमानदण्डाः ।
चण्डद्युतेरुदयिनीमिव चन्द्रलेखां सोत्कण्ठकैरववनीसुकृतप्ररोहाः ॥ ८१ ।

ते इति । अंसस्थलेषु स्कन्धेषु, स्थितः समानः एकरूपः, विमानदण्डो येषां समविभक्तभरा इत्यर्थः, ते धुर्याः, तां भैमीं, सोत्कण्ठायाः चन्द्रलेखोत्सुकाया कैरववन्याः कुमुदिन्याः, सुकृतप्ररोहाः सौभाग्योन्मेषाः, उदयिनीम् उदयोन्मुखीमि चन्द्रलेखाम् अमावस्यायां सूर्यमण्डलप्रविष्टां चन्द्रकलां, शुक्लपक्षीयप्रतिपदादि तिथिरूपामित्यर्थः, जगदेकदीपात् तेजस्वितया जगतामद्वितीयप्रकाशकस्वरूपात् चण्डद्युतेः सूर्यादिव, जगदेकदीपात्ततो मेधातिथेरपि, चक्षुः आकर्षयामासुः, तत्स काशात् राजान्तरं प्रापयामासुरित्यर्थः । सूर्यस्य तेजांसि एव चन्द्रे सङ्क्रान्त

ानन्दकरत्वेन प्रसिद्धानि; तथा च वराहमिहिरः,—'यत्तेजः पितृधाम्निशीतमहमः मये मण्डले संक्रान्त कुमुदाकरस्य कुरुते काञ्चित् विकासश्रियम्' इति ॥ ८१ ॥

कन्धेपर शिविकादण्डको समान भारसे रखे हुए वे (विमानवाहक) संसारमें मुख्य रूप उस ('मेधातिथि' राजा) से भी उस (दमयन्ती) को उस प्रकार हटा ले जिस प्रकार उदय होनेवाली (द्वितीयाकी) चन्द्रकलाको उत्कण्ठित कुमुदवतीके ङ्कुर सूर्यसे हटा (आकृष्ट कर) लेते हैं। [अमावस्याको सम्पूर्ण चन्द्रकला सूर्यमें हो जाती है, वह शुक्लपक्षमें क्रमशः सूर्यसे हटती (अलग होती) जाती है ॥ शिविका- क लोग दमयन्तीको दूसरे राजाके पास ले गये] ॥ ८१ ॥

षु तेषु न मनागपि दत्तचित्ता विस्मेरया वचनदेवतया तयाऽथ ।
ीगुणोदयतृणीकृतपाणिवीणानिक्वाणया पुनरभाणि मृगेक्षणा सा ॥ ८२ ॥

भूपेष्विति । मृगेक्षणा सा भैमी, तेषु भूपेषु द्वीपाधिपतिषु, मनाक् ईषदपि, चित्ता अर्पितहृदया, आसक्तमानसा इत्यर्थः, न, जातेति शेषः, अथ अनन्तरं, यन्त्याः चित्तवृत्तिज्ञानानन्तरमित्यर्थः, विस्मेरया विस्मितया सहास्यया वा, कम्पि—'इत्यादिना विपूर्वात् स्मिधातोः र-प्रत्ययः, वाणीगुणोदयेन माधुर्यादि- गुणप्रकर्षेण, तृणीकृतः तिरस्कृतः, पाणिवीणायाः हस्तस्थितविपञ्चयाः, निक्वाणः निः यया तया वीणाधिकमधुरभाषिण्या, वचनदेवतया वाग्देव्या, तया सरस्वत्या, अभाणि ॥ ८२ ॥

इस (शिविकावाहकोंके द्वारा दमयन्तीको दूसरे राजाके पास पहुँचाने) के बाद उन ाओंमें थोड़ा भी मन नहीं लगानेवाली मृगनयनी उस (दमयन्ती) से, (किसी में कुछ भी अनुराग नहीं करनेसे) आश्चर्यित और अपनी वाणीके (माधुर्यादि) के उत्पन्न होनेसे पाणिस्थित वीणाके स्वरको तिरस्कृत करनेवाली उस (सरस्वती देवी) फिर कहा—[उत्तमोत्तम गुणयुक्त भी किसी राजामें दययन्तीके थोड़ा-सा भी अनुराग करनेसे सरस्वती देवीका आश्चर्यित होना उचित ही है] ॥ ८२ ॥

मौलिरत्नमुदिताऽसि स एष जम्बूद्वीपस्त्वदर्थमिलितैर्युवभिर्विभाति ।
लायितेन बहुना भवभीतिकम्प्रः कन्दर्पलोक इव खात्पतितस्त्रुटित्वा ॥

यदिति । हे भैमि ! त्वं यस्य जम्बूद्वीपस्य, मौलिरत्नं भूत्वा उदिता उत्पन्ना, सि, स एष जम्बूद्वीपः, त्वदर्थं तुभ्यं, मिलितैः युवभिः हेतुभिः विभाति; क इव ? भीत्या रुद्रभयेन, कम्प्रः कम्पनशीलः, अत एव बहुना अनेकेन, प्रबलेनेत्यर्थः, लायितेन दोलनेन, त्रुटित्वा विच्छिद्य, खात् स्वर्गात्, 'खमिन्द्रिये सुखे स्वर्गे शून्ये न्दौ विहायसि' इति विश्वः, पतितः कन्दर्पलोकः कामजगदिव, इत्युत्प्रेक्षा; विभा- त्यन्वयो वा। कम्प्र वस्तु बहुदोलनेन त्रुटितं शून्यमार्गात् पतति इति प्रसिद्धिः । मास्थिताः सर्वे राजानः कन्दर्पतुल्या इति भावः ॥ ८३ ॥

जिस (जम्बूद्वीप) के मुकुटरत्नरूप अर्थात् मुकुटस्थरत्नके समान तुम उत्पन्न हुई वह (प्रसिद्ध) यह जम्बूद्वीप तुम्हारे लिये एकत्रित युवकोंसे शङ्करजीके भयसे कम्पन तथा भूलेके समान चञ्चल बाहुके द्वारा टूटकर आकाशसे गिरे हुए कामदेवलोकके स शोभता है। [द्वीपमें रत्नका उत्पन्न होना, कामदेवलोकका शङ्करजीके भयसे कम्पन होना तथा अन्तरालस्थ वस्तुका हाथसे हिलानेपर टूटकर गिरना उचित ही है। काम समान सुन्दर ये सभी युवक तुम्हारे लिए यहां स्वयंवर में आये हुए हैं] ॥ ८३ ॥

विष्वग्वृतः परिजनैरयमन्तरीपैस्तेषामधीश इव राजति राजपुत्रि !।
हेमाद्रिणा कनकदण्डमयातपत्रः कैलासरश्मिचयचामरचक्रचिह्नः ॥ ८४

विष्वगिति। हे राजपुत्रि ! अन्तर्गताः आपः येषां तानि अन्तरीपाणि सिं द्वीपादीनि, 'द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपम्' इत्यमरः। तैरेव परिजनैः विष्वक् समन्त वृतः, तथा हेमाद्रिणा मेरुणा, कनकमयदण्डम्, आतपत्रं कनकमयमेवातपत्रं य सः, मेरोः शिरसि विशालत्वादन्यत्र तनुत्वाच्च एकस्यैव दण्डत्वेनातपत्रत्वेन रूपणम्; तथा कैलासस्य रश्मिचय एव चामरचक्रं चामरजालं, तदेव चिह्नं य सः, अयं जम्बूद्वीपः, तेषाम् अन्तरीपाणां, सिंहलादिद्वीपान्तराणामित्यर्थः, अधी इव राजतीत्युत्प्रेक्षा; सुमेरुगिरिस्तस्य आतपत्रं, कैलासपर्वतस्तु चामरचय राजचिह्नम्, अतो जम्बूद्वीपः नृपतिचिह्नवत्त्वात् राजा एव सिंहलद्वीपादयस्तु त चतुर्दिक्षु परिवृता भृत्या इव तिष्ठन्ति इति भावः ॥ ८४ ॥

हे राजकुमारि (दमयन्ति) ! अन्तरीप (शाक-प्लक्षादिद्वीप) रूप परिजनोंसे चा ओरसे घिरा हुआ, सुमेरु पर्वतसे कनकदण्डरूप छत्रवाला तथा कैलासके किरण-समूहरू चामरोंके समूहके चिह्नवाला यह जम्बूद्वीप उन (शाक-प्लक्षादि द्वीपों) के राजाके समा शोभता है। [राजा जैसे छत्र तथा चामरसे युक्त तथा परिजनोंसे घिरा रहता है, वैसे ह मध्यवर्ती यह जम्बूद्वीप भी सब द्वीपोंसे घिरा हुआ, सुमेरुरूपी कनकदण्डरूप छत्र त कैलासके किरण-समूहरूप चामरके चिह्नसे युक्त होने से सब द्वीपोंका स्वामी—जैस शोभा पाता है] ॥ ८४ ॥

एतत्तरुस्तरुणि ! राजति राजजम्बूः स्थूलोपलानिव फलानि विमृष्य यस्या
सिद्धस्त्रियः प्रियमिदं निगदन्ति दन्तियूथानि केन तरुमारुरुहुः पथेति ॥८५॥

एतदिति। हे तरुणि ! एतस्य जम्बूद्वीपस्य, तरुः चिह्नभूतो वृक्षः, राजजम्ब जम्बूविशेषः, 'राजजम्बूस्तु जम्बूभित्पिण्डखर्जूरयोः स्त्रियाम्' इति मेदिनी। राजति सिद्धस्त्रियः यस्याः जम्ब्वाः, स्थूलोपलान् गण्डशैलानिव स्थितानि, फलानि दन्ति यूथानि करिघटाः, विमृष्य विविच्य, केन पथा तरुं जम्बूवृक्षम्, आरुरुहुः ? दन्ति यूथानि इति शेषः, इति इदं वचः प्रियं स्वदयितं, निगदन्ति पृच्छन्ति; गजप्रमाणानि तत्फलानीति भावः। 'ब्रुविशासिः—'इत्यत्र ब्रुवेरर्थग्रहणात् गदेर्हि कर्मकत्वम्। अत्र जम्बूफलेषु दन्तिभ्रमोक्त्या भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ८५ ॥

हे तरुणि (दमयन्ति) ! इस (जम्बूद्वीप) का वृक्ष राजजम्बू शोभता है, बड़े-बड़े
नोंके समान जिसके फलोंको देखकर सिद्धस्त्रियां 'ये हाथियोंके झुण्ड किस मार्गसे
र चढ़ गये' ऐसा प्रिय वचन कहती हैं। [इस जम्बूद्वीपके राजजम्बूवृक्षके फल
थियोंके बराबर बड़े-बड़े हैं] ॥ ८५ ॥

म्बूनदं जगति विश्रुतिमेति मृत्स्ना कृत्स्नाऽपि सा तव रुचा विजिताश्रि यस्याः।
ाम्बवद्रवभवाऽस्य सुधाविधाम्बुर्जम्बुः सरिद्वहति सीमनि कम्बुकण्ठि !॥

जाम्बूनदमिति । कम्बोः शङ्खस्य, कण्ठ इव कण्ठः रेखात्रयविशिष्टग्रीवा यस्या-
स्याः सम्बुद्धिः, हे कम्बुकण्ठि ! हे रेखात्रयाङ्कितग्रीवे ! 'रेखात्रयाङ्कितग्रीवा कम्बु-
ग्रीवेति कथ्यते' इति हलायुधः। 'अङ्गगात्रकण्ठ—' इत्यादिना ङीष्। तेषां पूर्वो-
नां, जाम्बवानां जम्बूफलानां, 'जम्बूः स्त्री जम्बु जाम्बवम्' इत्यमरः। 'जम्ब्वा वा'
त फलरूपार्थे अण्-प्रत्ययः, 'लुप् च' इति विकल्पादणो न लुप्। द्रवात् रसात्
वा उत्पन्ना, सुधायाः विधेव विधा प्रकारो येषां तानि सुधाविधानि सुधाप्रका-
णि, अम्बूनि यस्याः सा अमृतसदृशजला, जम्बूः जम्ब्वाख्या, सरित् अस्य जम्बू-
पस्य, सीमनि सीमायां, वहति प्रवहति; यस्याः जम्बूनद्याः, सम्बन्धिनी कृत्स्ना
मस्ताऽपि, सा प्रसिद्धा, मृत्स्ना प्रशस्तमृत्तिका, 'मृन्मृत्तिका प्रशस्ता तु मृत्सा
त्स्ना च मृत्तिका' इत्यमरः। 'सस्नौ प्रशंसायाम्' इति मृच्छब्दात्स्नप्रत्ययः।
व रुचा शरीरकान्त्या, विजिताश्रि निर्जितशोभं, नपुंसके ह्रस्वः। जम्बूनद्यां भवं
म्बूनदं सुवर्णम्, इति जगति विश्रुतिं विख्यातिम्, एति। तथा च विष्णुपुराणे,—
ीरभूस्तत्र सम्प्राप्य शुद्धवातविशोधिता । जाम्बूनदाख्यं भवति सुवर्णं देव-
षणम् ।' इति ॥ ८६ ॥

हे कम्बुकण्ठि (शङ्खके कण्ठके समान तीन रेखाओंसे युक्त अतएव शुभ लक्षणयुक्त
ण्ठवाली दमयन्ति) ! उस 'जम्बूद्वीप'के (अथवा—उन) जामुनके फलोंके रसके बहनेसे
त्पन्न हुई तथा अमृततुल्य मधुर जलवाली 'जम्बूनदी' इस जम्बूद्वीपकी सीमामें बहती है,
स 'जम्बूनदी' की समस्त प्रशस्त (उपजाऊ) मिट्टी संसारमें तुम्हारी कान्तिसे जीते
ये 'जाम्बूनद' (सुवर्ण–सोना) इस प्रसिद्धिको प्राप्त करती है। [जिस 'जम्बूनदी' की
मिट्टी भी सुवर्ण है, वह भी तुम्हारी कान्तिसे जीता गया है। 'जम्बूनदी' की मिट्टीको
जाम्बूनद अर्थात् सुवर्ण (सोना) कहकर उसको महत्त्व दिया गया है तथा उस
(जाम्बूनद अर्थात् सुवर्ण) को जीतनेवाली दमयन्ती शरीरकी कान्तिको बतलाकर उस
जाम्बूनदसे भी अधिक महत्त्व दमयन्ती शरीरकान्तिको दिया गया है। दमयन्तीकी शरीर-
कान्ति सुवर्णसे भी अधिक गौरवर्ण है] ॥ ८६ ॥

अत्र तस्मिन् जयन्ति जगतीपतयः सहस्रमस्राश्रुसान्द्ररिपुतद्वनितेषु तेषु ।
रम्भोरु! चारु कतिचित्तव चित्तबन्धिरूपान्निरूप्य मुदाऽहमुदाहरामि ॥८७॥

तस्मिन्निति । रम्भे कदलिस्तम्भाविव ऊरू यस्याः सा रम्भोरूः 'ऊरूत्तरप दौपम्ये' इत्यूङ्-प्रत्ययः । तस्याः सम्बुद्धिः, नदीह्रस्वः । हे रम्भोरु ! तस्मिन् जम्बूद्वी सहस्रं सहस्रसङ्ख्यकाः, बहुसङ्ख्यका इत्यर्थः, जगतीपतयः भूपतयः, जय सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते; अस्रैः शोणितैः, अश्रुभिः बाष्पैश्च, यथासङ्ख्यं सान्द्राः सिक्त रिपवः तद्वनिताश्च येषां तेषु हतारिषु इत्यर्थः, तेषु सर्वोत्कृष्टेषु भूपेषु मध्ये, चित्तबन्धि चित्तग्राहि, रूपं येषां तान् त्वन्मनोहारिसौन्दर्यान्, कतिचित् कांश्चि भूपान्, अहम् उदाहरामि कथयामि, मुदा हर्षेण, चारु निरूपय सम्यगवधारय ॥

हे रम्भोरु (दमयन्ति) ! इस (जम्बूद्वीप) में सहस्रों राजा श्रेष्ठ हैं, रक्त त आँसूसे (क्रमशः) भीगे हुए शत्रु तथा शत्रुस्त्रियोंवाले उन (राजाओं) में से तुम्हारे चित्त आकर्षक रूपवाले कुछ (राजाओं) का वर्णन करती हूं (अथवा—अच्छीतरह वर्ण करती हूं), तुम हर्षसे देखो (या इनमेंसे किसीको वरण करनेका निश्चय करो, या अच्छ तरह देखो)। ['मुदा' तथा 'चारु' पदोंका सम्बन्ध सरस्वती तथा दमयन्तीमें से किसी एकके साथ करके विभिन्न अर्थोंकी कल्पना करनी चाहिये] ॥ ८७ ॥

प्रत्यर्थियौवतवतंसतमालमालोन्मीलत्तमःप्रकरतस्करशौर्यसूर्ये ।
अस्मिन्नवन्तिनृपतौ गुणसन्ततीनां विश्रान्तिधामनि मनो दमयन्ति! किं ते

प्रत्यर्थीति । हे दमयन्ति ! प्रत्यर्थिनां प्रतिद्वन्द्विनृपाणां, यौवतं युवतिसमूहः भिक्षादित्वादण् प्रत्ययः । तस्य वतंसा; कर्णभूषणभूता;, तमालमालाः तमालदल समूहाः एव, उन्मीलत्तमांसि उद्गच्छदन्धकाराः, तेषां प्रकरस्य समूहस्य, तस्करम् अपहारकं, शौर्यं शक्तिः एव, सूर्यो यस्य, तादृशशौर्यं सूर्यं इव यस्येति वा तादृशे; सूर्यो यथा अन्धकारम् अपनयति तथा एष नृपतिः शत्रुपत्नीनां वैधव्यसम्पादनेन कर्णभूषणभूततमालमालान् अपनयति इति भावः । गुणसन्ततीनां गुणसमूहानां, विश्रान्तिधामनि विश्रामस्थाने, अस्मिन् अवन्तिनृपतौ अवन्तिदेशाधिपे, ते मनः किम् ? वर्त्तते इति शेषः । अत्र तादृशशौर्यसूर्ये इति रूपकोमयोः सन्देहसङ्करः ॥८८॥

हे दमयन्ति ! शत्रुओंके युवति-समूहका कर्णभूषण तमाल-समूहरूप अन्धकार-समूहका नाशक पराक्रमरूपी सूर्य (अथवा······पराक्रममें सूर्यरूप) तथा गुणसमूहोंके विश्रामस्थान इस अवन्तिनरेशमें तुम्हारा मन है क्या ?। [यह अवन्ती देशका राजा है, शत्रुओंकी युवतियोंके कानके भूषण श्यामवर्ण तमालपत्र अन्धकारके समान हैं और उन्हें दूर करनेमें इस राजाकी शूरता सूर्यरूप है अर्थात् जिस प्रकार सूर्य अन्धकार-समूहको दूर करता है, उसी प्रकार यह अवन्तिनरेश शत्रुस्त्रियोंके कर्णभूषण श्यामवर्ण तमालपत्रोंको उन्हें विधवा बनाकर दूर कर देता है, और इस राजामें गुण स्थिर हो कर रहते हैं, ऐसे इस अवन्तिनरेशको तुम वरण करना चाहती हो क्या ?। स्त्रियां वीरानुरागिणी होती हैं, अतः तुम इसे चाहोगी, ऐसा मुझे आभास होता है] ॥ ८८ ॥

ानुतीरवनवासितपस्विविप्रा सिप्रा तवोर्मिभुजया जलकेलिकाले ।
लिङ्गनानि दधती भविता वयस्या हास्यानुबन्धरमणीयसरोरुहाऽऽस्या ॥

तत्रेति । तत्र अवन्तिदेशे, अनुतीरं तीरे, विभक्त्यर्थे 'यस्य चायामः' इति
र्घ्यसदृशदैर्घ्योपलक्षितार्थकेनानुशब्देन वा अव्ययीभावः । यानि वनानि यावत्ती-
ायतानीत्यर्थः, तद्वासिनस्तपस्विनो विप्रा यस्याः सा, सिप्रा नदी, तव जल-
लकाले हास्यं विकासः स्मितञ्च, तदनुबन्धेन तद्योगेन, रमणीयं सरोरुहमेव
स्यं यस्याः सा सती, ऊर्मिरेव भुजा तथा आलिङ्गनानि दधती कुर्वती, वयस्या
विता सखी भविष्यति । यथा सहास्यवदना सखी केलिसमये बाहुभ्यां आलिङ्गति
था सिप्राऽपि त्वाम् आलिङ्गिष्यति इति समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ८९ ॥

उस (अवन्ती देश) में तटके वनोंमें निवासी तपस्वी ब्राह्मणोंवाली, तुम्हारी जल-
ीडाके समयमें तरङ्गरूप भुजाओंसे आलिङ्गन देती (करती) हुई तथा हँसनेके नैरन्तर्य
संबन्ध) से रमणीय कमलरूपी (पक्षा०—कमलतुल्य) हासवाली 'सिप्रा' नदी तुम्हारी
खी बनेगी । [जिस प्रकार कोई सखी आलिङ्गन करती तथा हँसती है, उसी प्रकार
वन्तीदेशस्थ सिप्रा नदी तुम्हारी जलक्रीडाके समयमें बाहुतुल्य तरङ्गोंसे आलिङ्गन तथा
कसित कमलोंसे हास करती हुई तुम्हारी सखी-सी प्रतीत होगी । इस अवन्तिनरेशको
रणकर सिप्रा नदीमें जलक्रीडा करो] ॥ ८९ ॥

अस्याधिशय्य पुरमुज्जयिनीं भवानी जागर्त्ति या सुभगयौवतमौलिमाला ।
त्याऽर्द्धकायघटनाय मृगाक्षि ! तस्याः शिष्या भविष्यसि चिरं वरिवस्ययाऽपि ॥

अस्येति । भवस्य पत्नी भवानी पार्वती, 'इन्द्रवरुणभव—'इत्यादिना ङीष्,
ानुगागमश्च, अस्य अवन्तिनाथस्य, उज्जयिनीं पुरमधिशय्य अधिष्ठाय, 'अयङ् यि
क्ङिति' इत्ययङ् आदेशः; 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति अधिकरणस्य कर्मत्वम् ।
ागर्त्ति प्रकाशते, या भवानी, सुभगस्य पतिवल्लभस्य, यौवतस्य युवतिसमूहस्य,
मौलिमाला शिरोभूषणम् । हे मृगाक्षि ! पत्या भर्त्रा सह, अर्द्धं कायस्यार्द्धकायः,
अर्द्धं नपुंसकम्' इति समासः । तस्य घटनाय एकीभावसम्पादनायेत्यर्थः, तस्या
भवान्याः, चिरं वरिवस्यया परिचर्यया, 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' इति क्यच्-
प्रत्ययः, ततः 'अ प्रत्ययात्' इति स्त्रियामकारप्रत्यये टाप् । शिष्याऽपि भविष्यसि,
न केवलं पूर्वोक्तसिप्राविहारादिसम्पत्तिरेव. किन्तु सर्वसौभाग्यभूतं भवानीशिष्य-
त्वमपि ते भविष्यतीत्यर्थः; भवानीवत् पत्या सह तव क्षणमपि विरहो न भविष्य-
तीति भावः ॥ ९० ॥

हे मृगनयनि (दमयन्ति) ! सुन्दरी युवतियोंके समूहकी शिरोमाला (युवतियोंमें
परमसुन्दरी) जो पार्वती इस (अवन्तिनरेश) की उज्जयिनी नगरीमें रहती है, उस
(पार्वती) की पूजासे भी चिरकालतक पतिकी अर्द्धाङ्गिनी बननेके लिये शिष्या होवोगी ।

[तुम अपने सौन्दर्याधिक्यसे पतिकी अर्द्धाङ्गिनी बननेके योग्य हो ही, किन्तु पार्वती पूजासे भी अर्द्धाङ्गिनी बनेगी। इस अवन्तीनरेशके वरण करनेसे पतिकी अर्द्धाङ्गिनी वन अत्यन्त सरल है, अत एव इसका वरण करो] ॥ ९० ॥

निःशङ्कमङ्कुरिततां रतिवल्लभस्य देवः स्वचन्द्रकिरणामृतसेचनेन ।
तत्रावलोक्य सुदृशां हृदयेषु रुद्रः तद्देहदाहफलमाप स किं न विद्मः ॥९१

निःशङ्कमिति । तत्र उज्जयिन्यां, स देवो रुद्रो महाकालनाथः, सुदृशां तत्रात्या स्त्रीणां, हृदयेषु अन्तःकरणेषु, स्वचन्द्रकिरणामृतसेचनेन निजचूडामणिभूतचन् किरणामृतवर्षणेन, रतिवल्लभस्य कामस्य, निःशङ्कं निर्भयं यथा तथा, अङ्कुरितत सञ्जाताङ्कुरत्वं, पुनरुत्पन्नत्वमिति यावत्, चन्द्रभासां स्मरोद्दीपकत्वादिति भाव अवलोक्य तद्देहदाहस्य स्वकृतस्य कामदेहदाहस्य किं फलम् आप प्राप न विद्मः, स्वदग्धस्य कामस्य स्वशिरश्चन्द्रिकासेकादेव दग्धवदरादिवत् पुन सहस्रधा प्रादुर्भावात् स्वप्रयासस्य किं साफल्यं प्राप्तवान्? न किमपीत्यर्थः 'आप' इत्यत्र 'आह' इति पाठान्तरम्; तादृशप्रयासस्य किं प्रयोजनं ब्रूते? इ तदर्थः । विषमालङ्कारः ॥ ९१ ॥

उस (उज्जयिनी) में देव रुद्र अर्थात् 'महाकाल' नामक शिवजी अपने (ललाटस्थ चन्द्रकिरणके अमृतसिञ्चनसे सुलोचनाओंके हृदयमें कामदेवके अङ्कुरितभावको देखकर उस (काम) के शरीरके भस्म करनेका फल क्या बतलाते हैं, यह (हम) नहीं जानते [यद्यपि शिवने कामदेवके शरीरको जला दिया, किन्तु अपने ललाटस्थ चन्द्रकिरणामृतके सिञ्चनसे वहांकी सुन्दरियोंके हृदयमें पुनः उत्पन्न कामाङ्कुरको देखकर वे अपने द्वार कामदेवको भस्म करना व्यर्थ ही समझेंगे। वहां सब स्त्रियां सर्वदा कामोद्दीपित रहती हैं].

आगःशतं विदधतोऽपि समिद्धकामा नाधीयते परुषमक्षरमस्य वामाः ।
चान्द्री न तत्र हरमौलिशयालुरेका नाध्यायहेतुतिथिकेतुरपैति लेखा ॥९२॥

आग इति । समिद्धकामाः नित्यप्रदीप्तमन्मथाः, वक्रशीला अपि स्त्रियः, 'प्रतिपदर्शिनी वामा' इत्यमरः, आगसाम् अपराधानां, शतं विदधतः कुर्वाणस्यापि, अस्य राज्ञः सम्बन्धे, परुषमक्षरं निष्ठुरवाक्यं, नाधीयते न पठन्ति. न जल्पन्तीत्यर्थः; अत्रानध्याये हेतुमाह—तत्रोज्जयिन्यां, नाध्यायहेतुतिथेः अनध्यायहेतुतिथेः प्रतिपदः, केतुश्चिह्नभूता, हरमौलौ शयालुः स्थायुका, 'स्पृहि-गृहि-पति—' इत्यादौ आलुच् विधायकसूत्रे 'शीङो वाच्यः' इति वार्त्तिकात् आलुच्। एका चान्द्री लेखा शुक्ल प्रतिपत्स्वरूपेत्यर्थः, नापैति, तत्र हरस्य नित्यस्थित्या तदीयशिरोगतैकेन्दुकलानित्ययोगात् सर्वासामपि तिथीनां शुक्लप्रतिपद्बुद्ध्या परुषाक्षरश्रुतीनां नित्यानध्याय इत्यर्थः; तत्र नित्यसन्निहितहरशिरश्चन्द्रिकोद्दीपित मन्मथाग्निकतया खण्डितादयोऽपि नायिकाः शतशोऽपराध्यन्तम् अपि एनं परुषम् आभाषितुं नोत्सहन्ते इति भावः। 'प्रतिपत्पाठशीलानां विद्येव तनुतां गता' इति वचनात् प्रतिपदि पाठनिषेधात् तत्र

नगर्यां प्रत्यहं हरशिरः स्थितैकचन्द्रकलया प्रतिपद्बुद्धया स्त्रियः भर्तृसमीपे तेपरुषाक्षरपाठं न कुर्वन्ति इति निष्कर्षः ॥ ९२ ॥

सैकड़ों अपराध (सपत्नीगमन, गोत्रस्खलन आदि) करते हुए भी इस राजाकी ीप्त कामवासनावाली स्त्रियां परुष अक्षरको नहीं पढ़ती हैं अर्थात् प्रतिकूल प्रकृति होनेपर कामोद्दीपित रहनेके कारण इस राजाके अपराधोंको प्रत्यक्षमें जानकर भी कठोर वचन हीं कहती हैं)। उस (उज्जयिनी) में शङ्करजीके मस्तकमें स्थित, अनध्यायतिथि प्रतिपदा) का चिह्न चन्द्रकला (प्रतिपदाकी चन्द्रकला) नहीं दूर होती है। [सब नध्यायोंमें प्रतिपदातिथिका अनध्याय मुख्य है, तथा वहां शङ्करजीके मस्तकमें प्रतिपदाकी न्द्रकलाका सदा दर्शन होनेसे इसकी स्त्रियां प्रतिदिन प्रतिपदाको ही समझती हैं, अत व एक भी परुष अक्षर नहीं पढ़ती, अर्थात् सदा चन्द्रकलाको देखकर कामोद्दीपित रहनेसे मा (क्रूर या प्रतिकूल स्वभाववाली, पक्षा०—सुन्दरी) स्त्रियां इस राजाके सैकड़ों पराध करनेपर भी कडु वचन नहीं कहती। इस अवन्तीनाथको सैकड़ों अपराध करनेवाला तलाकर सरस्वती देवीने उसे वरण करनेमें अपनी असम्मति प्रकट की है] ॥ ९२ ॥

भूपं व्यलोकत न दूरतरानुरक्तं सा कुण्डिनावनिपुरन्दरनन्दना तम् ।
अन्यानुरागविरसेन विलोकनाद्वा जानामि सम्यगविलोकनमेव रम्यम् ॥९३॥

भूपमिति । कुण्डिनावनिपुरन्दरस्य कुण्डिनभूमीन्द्रस्य भीमभूपस्य, नन्दना दुहिता, नन्द्यादित्वात् ल्युट् प्रत्यये टाप् । सा दमयन्ती, दूरतरानुरक्तम् अत्यनुरागिणमपि, तं भूपं न व्यलोकत नैक्षत; अत्रैतदेव वरमित्याह—वा अथवा, अन्यानुरागात् अन्यस्मिन् नले अनुरक्तत्वात्, विरसेन विरागेण, अश्रद्धयेत्यर्थः, विलोकनात् विलोकनमपेक्ष्य, दर्शनापेक्षयेत्यर्थः, ल्यबर्थे पञ्चमी, सम्यक् सर्वथा, अविलोकनमेव अदर्शनमेव, रम्यं श्रेष्ठं, समीचीनमित्यर्थः, इति जानामि ॥ ९३ ॥

उस कुण्डिनेशकुमारी (दमयन्ती) ने अत्यन्त अनुरक्त भी उस राजा (अवन्तीनाथ) को नहीं देखा, अथवा दूसरे (नल) में अनुराग होनेसे नीरस अर्थात् अनुराग रहित देखनेकी अपेक्षा नहीं देखना ही (मैं) उत्तम समझता हूं। [जिसमें अनुराग ही नहीं है, उसे देखनेकी अपेक्षा नहीं देखना ही श्रेष्ठ है] ॥ ९३ ॥

भैमीङ्गितानि शिबिकामधरे वहन्तः साक्षान्न यद्यपि कथञ्चन जानते स्म ।
जज्ञुस्तथाऽपि सविधस्थितसम्मुखीनभूपालभूषणमणिप्रतिबिम्बितेन ॥९४॥

भैमीति । शिबिकामधरे अधरप्रदेशे, वहन्तो वोढारः, भैमीङ्गितानि भैमीचेष्टितानि, यद्यपि कथञ्चन कथञ्चिदपि, साक्षात् प्रत्यक्षं, न जानते स्म न अजानन्त, तथाऽपि सविधे स्थितेषु, सम्मुखं दृश्यते एष्विति सम्मुखीनेषु साम्मुख्येन प्रतिबिम्बग्राहिष्वि- त्यर्थः, 'यथासुखसम्मुखस्य दर्शनः खः' इति ख-प्रत्ययः, भूपालस्यावन्तिराजस्य,

भूषणमणिषु प्रतिबिम्बितेन भैमीप्रतिबिम्बेन हेतुना, जज्ञुः भैमीङ्गितानि अज्ञासिषुः ऊहितवन्त इति यावत्। जानातेर्लिट्॥ ९४॥

नीचे शिविका (पालकी) को ढोते हुए (शिविकावाहक) यद्यपि दमयन्तीकी चेष्टाओं को प्रत्यक्ष रूपसे किसी प्रकार नहीं जानते थे (नीचे पालकी ढोनेवालेके लिए ऊपर पालकीपर चढ़ी हुई दमयन्तीकी चेष्टाका देखना असंभव ही है), तथापि पासमें बैठे हुए सामनेके राजा (अवन्तीनाथ या अन्यान्य राजा) के भूषणोंके रत्नोंमें प्रतिबिम्बसे (दमयन्तीके भावोंको) जान गये॥ ९४॥

भैमीमवापयत जन्यजनस्तदन्यं गंगामिव क्षितितलं रघुवंशदीपः।
गाङ्गेयपीतकुचकुम्भयुगाञ्च हारचूडासमागमवशेन विभूषिताङ्ग॥ ९५॥

भैमीमिति। जन्यजनो वाहकजनः, गाङ्गेयं हेम, तद्वत् पीतं गौरवर्णम्, अन्यत्र—गाङ्गेयेन भीष्मेण पीतं पुत्रत्वात् पानकर्मीभूतं, 'कशेरुहेम्नोर्गाङ्गेयं गाङ्गेयो गुहभीष्मयोः' इति वैजयन्ती। 'प्रीतं स्यात् पीतगौरयोः' इति विश्वः। कुचकुम्भयुगं यस्याः तां, च तथा, हाराः मुक्ताहाराः, चूडा बाहुविभूषणाः, 'चूडा बाहुविभूषणे' इति विश्वः। अन्यत्र—हरस्येयं हारी, चूडा शिखा हारचूडा महादेवशिरोभागः, 'पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु' इति पुंवद्भावः, तत्समागमवशेन तदवस्थितिवशेन, विभूषिताङ्ग भैमीं रघुवंशदीपो भगीरथः, गङ्गां भागीरथीं, क्षितितलमिव तत् ततः, अन्यं नृपम्, अवापयत निनाय, अवपूर्वकात् आप्नोतेर्ण्यन्ताल्लङि 'णिचश्च' इति तङ्। उपमालङ्कारः॥ ९५॥

शिविकावाहक, सुवर्णके समान पीत (गौर) वर्णवाले स्तन-कुम्भद्वयवाली तथा कण्ठभूषण मुक्तामाला और बाहुभूषण चूडासे अधिक भूपित दमयन्तीको उस (अवन्तीनाथ) से दूसरे (राजा) के पास उस प्रकार ले गये, जिस प्रकार रघुवंशके दीपक तुल्य (भगीरथ) भीष्म (या स्कन्द या भीष्म तथा स्कन्द) के द्वारा (पुत्र होनेके कारण) पीया गया है स्तनकलसद्वय जिसका ऐसी तथा हर (शिव) के मस्तकके समागमन (सहवास) से विशेषरूपसे भूमिमें स्थित (या विशेष शोभित) गङ्गाजीको भूतलपर ले गये थे। [भीष्म तथा स्कन्धका गङ्गापुत्र होना और भगीरथद्वारा गङ्गाजीको भूतलपर लाना पुराणोंमें वर्णित है]॥

तां मत्स्यलाञ्छनदराञ्चित[1]चापभासा नीराजितभ्रुवमभाषत भाषितेशा।
व्रीडाजडे! किमपि रूपय[2] चेतसा चेत् क्रीडारसं वहसि गौडविडोजसीह॥

तामिति। भाषितानां वाचाम्, ईशा अधिष्ठात्री, वाग्देवता सरस्वती, मत्स्यलाञ्छनस्य कामस्य, दराञ्चितस्य ईषदाकुञ्चितस्य, चापस्य भाषा कान्त्या, नीराजिते निर्मञ्छिते, तदपेक्षयोत्कृष्टे इति भावः, भ्रुवौ यस्याः तादृशीं, तां भैमीम्, अभाषत;

---

[1] 'दसरिञ्छत' इति पा०। [2] 'सूचय' इति पा०।

ति ? व्रीडाजडे ! हे लज्जाऽलसे ! इह गौढविडोजसि गौडदेवेन्द्रे, गौडदेशाधिपे
र्थः, चेतसा क्रीडारसं क्रीडारागं, वहसि चेत् तदा किमपि रूपय साक्षात्
मशक्यत्वेऽपि किञ्चित् इङ्गितादिकं सूचय । अत्र स्मरचापभासा नीराजितत्वेन
स्तदपेक्षया आधिक्यवर्णनात् व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ९६ ॥

वागीश्वरी (सरस्वती देवी) कामदेवके द्वारा कुछ खेंचे गये धनुषकी शोभासे नीराजित
ली उस (दमयन्ती) से बोली—हे लज्जाजडे (दमयन्ति) ! इस गौडदेशके राजामें
से यदि क्रीडारसको प्राप्त करती है तो कुछ सूचित (सङ्केत) करो [जिससे मैं इस
का सविस्तार वर्णन करूँ, अन्यथा पूर्ववर्णित अन्य राजाओंके समान यदि इस गौड-
शको भी नहीं चाहती हो तो इसके वर्णन करनेका मेरा प्रयास व्यर्थ है । उक्त
नद्वारा सरस्वतीदेवीने पहलेसे ही उस राज्यमें अरुचि होनेका सङ्केत कर दिया है]॥९६॥

तद्यशोभिरमलानि कुलानि भासां तथ्यं तुषारकिरणस्य तृणीकृतानि ।
थाने ततो वसति तत्र सुधाम्बुसिन्धौ रङ्कुस्तदङ्कुरवनीकवलाभिलाषात् ॥

एतदिति । एतस्य राज्ञः, यशोभिः तुषारकिरणस्य इन्दोः, अमलानि भासां
लानि कान्तिवृन्दानि, तृणीकृतानि तृणत्वं प्रापितानि, नैर्मल्यगुणेन तुच्छीकृतानि
त्यर्थः, तथ्यं सत्यम्; ततः तृणीकरणादेव, रङ्कुः अङ्कमृगः, तदङ्कुरवनीकवलेषु
थाभूततृणाङ्कुरसमूहग्रासेषु, अभिलाषात्; तेषां कान्तिरूपतृणानाम्, अङ्कुराः
रोहाः वनी च जलञ्च, तत्कवले तृणजलग्रासे, अभिलाषादिति वाऽर्थः, वनीत्यत्र
रादित्वात् ङीष् । 'वनं नपुंसकं नीरे निवासालयकानने' इति मेदिनी । सुधाम्बु-
न्धौ सुधाम्बुनः अमृतरूपजलस्य, सिन्धौ समुद्रे, तदाश्रये इत्यर्थः, तत्र इन्दौ,
सतीति स्थाने युक्तं, 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः । तृणोदकसम्पन्नस्थले मृगा-
तिष्ठन्तीति । उत्प्रेक्षा ॥ ९७ ॥

इस (गौड नरेश) की कीर्तियोंने चन्द्रके किरणसमूहको सचमुच तृण (के समान
च्छ, पक्षा०—तृणरूप) बना दिया है, उसी कारण उस (तृण) के वनमें चरनेकी
च्छासे मृग (चन्द्राङ्कस्थ मृग) उस अमृत-समुद्र (चन्द्र) में निवास करता है, यह
चित ही है । [मृगका जलप्राय तृणयुक्त देशमें निवास करना ठीक ही है । यह राजा
हुत यशस्वी है, अतः इसे वरण करो] ९७ ॥

आलिङ्गितः कमलवत्करकस्त्वयाऽयं श्यामः सुमेरुशिखयेव नवः पयोदः ।
कन्दर्पमूर्द्धरुहमण्डनचम्पकस्रग्दामत्वदङ्गरुचिकञ्चुकितश्चकास्तु ॥ ९८ ॥

आलिङ्गित इति । कमलवन्तौ सौभाग्यसूचकपद्मरेखायुक्तौ, करौ पाणि यस्य
सः, शैषिकः कप् । अन्यत्र—कमलवन्तो जलवन्तः, तदारब्धाः इति यावत्, करकाः
वर्षोपला यस्मिन् सः, 'सलिलं कमलं जलम्' इत्यमरः । श्यामः उभयत्र—श्याम-
वर्णः, नवः नूतनः, पयोदः सुमेरोः शिखया शृङ्गेणेव, अयं गौडनृपः, त्वया आलिङ्गितः

सन् कन्दर्पस्य मूर्द्धरुहाणां केशानां, मण्डनं यच्चम्पकस्रग्दाम चम्पकपुष्पमाल्यं, तदि यत् त्वदङ्गं तस्य रुच्या कान्त्या, कञ्चुकितः आवृतः, सम्मीलित इत्यर्थः, पयोदपक्षे- चम्पकस्रग्दामसदृशस्य त्वदङ्गस्य रुचिरिव रुचिर्यस्याः तादृशया सुमेरुशिख येत्यर्थः, कञ्चुकितः सम्मिश्रितः, चकास्तु प्रकाशतु, दीप्यतामित्यर्थः; श्यामव नवीनो मेघो यथा सौवर्णं सुमेरुगिरिं प्राप्य शोभते, तथा श्यामवर्णः अयं नृपति सुवर्णचम्पकगौरीं त्वां स्वीकृत्य शोभितो भविष्यति इति भावः ॥ ९८ ॥

कमल (भाग्यसूचक रेखारूप चिह्न–विशेष) से युक्त हाथवाला, श्यामवर्ण युवक तुमसे आलिङ्गित यह (गौडनरेश) कामदेवके मस्तकस्थ केशोंके भूषणभूत चम्पकमाला लड़ी (या चम्पकमाला) के समान तुम्हारे शरीरका रुचि (गौर वर्ण) से कन्चुकि (व्याप्त) शरीरवाला होकर वैसा शोभित होवे जैसा जलयुक्त होलेवाला (जलपूर्ण होनेसे नीलवर्ण, सुमेरु–शिखरसे आलिङ्गित नवीन मेघ अतिशय गौर वर्ण विद्युत्कान्तिसे आलिङ्गि होकर शोभता है ॥ ९८ ॥

एतेन सम्मुखमिलत्करिकुम्भमुक्ताः कौक्षेयकाभिहतिभिर्विबभुर्विमुक्ताः ।
एतद्भुजोष्मभृशनिःसहया विकीर्णाः प्रस्वेदविन्दव इवारिनरेन्द्रलक्ष्म्या ॥९९॥

एतेनेति । एतेन राज्ञा, कौक्षेयकाभिहतिभिः आसघातैः, कुल-कुक्षि-ग्रीवाभ्य श्वाऽस्यलङ्कारेषु' इति अभिरूपेऽर्थे कुक्षिशब्दात् ढकञ्-प्रत्ययः । विमुक्ताः कुम्भ स्थलेभ्यः भूमौ विक्षिप्ताः, सन्मुखं यथा तथा मिलतां सङ्गच्छमानानां, युद्धार्थ सम्मुखागतानामित्यर्थः, करिणां गजानां, कुम्भेषु मुक्ताः कुम्भस्थलस्थमौक्तिकानि, एतस्य राज्ञः, भुजोष्मणो भुजप्रतापस्य, भृशं निः न, 'निर्निश्चयनिषेधयोः' इति वररुचिः । सहते इति निःसहा असहा, पचाद्यच् । तया सोढुमशक्यया, भुजोष्म- सन्तप्तयेत्यर्थः, अरिनरेन्द्राणां लक्ष्म्या विकीर्णा विसृष्टाः, प्रस्वेदविन्दव इव विबभुरित्युत्प्रेक्षा ॥ ९९ ॥

इस (गौडनरेश) द्वारा किये गये तलवारके आघातोंके द्वारा सामने आनेवाले हाथियोंके कुम्भस्थलोंसे निकली हुई गजमुक्ताएँ, इस (गौडनरेश) के बाहु प्रतापको नहीं सहनेवाली शत्रुराजाकी राजलक्ष्मीसे छोड़े गये स्वेदबिन्दुके समान शोभती हैं । [उष्ण प्रतापसे स्वेदका होना उचित ही है ॥ यह राजा युद्धमें हाथियोंको मारनेवाला बहुत शूरवीर है, अतः इसे वरण करो] ॥ ९९ ॥

आश्चर्यमस्य ककुभामवधीनवापदाजानुगाद्भुजयुगादुदितः प्रतापः ।
व्यापत् सदाशयविसारितसप्ततन्तुजन्मा चतुर्दश जगन्ति यशःपटश्च ॥१००॥

आश्चर्यमिति । अस्य राज्ञः, आ-जानु जानुपर्यन्तं गच्छतीति तस्मात् आ-जानु- गात् जानुमात्रलम्बिनः इत्यर्थः, अत्यल्पदूरप्रसारिणोऽपीति भावः भुजयुगात् उदितः उत्थितः, प्रतापः ककुभाम् अवधीन् दिगन्तान् , अवापत् प्राप, एतत् आश्चर्यं, किञ्च

शुद्धेन, आशयेन चित्तेन, विमारितेभ्योऽनुष्ठितेभ्यः इत्यर्थः, सप्ततन्तुभ्यः क्रतुभ्यः तन्तुर्मखः क्रतुः' इत्यमरः। अन्यत्र—सदा सर्वदा, शयेन पाणिना, विसारितेभ्यः रितेभ्यः, सप्तभ्यः तन्तुभ्यः सूत्रेभ्यः, उपादानकारणेभ्यः इत्यर्थः, जन्म यस्य सः :पटश्च चतुर्दश जगन्ति व्यापत् व्यानशे, इति च आश्चर्यम्; क्रत्वनुष्ठानं न्तविश्रान्तकीर्त्ति सम्पत्तिश्च आ-जानुबाहुत्वस्य फलमिति भावः। अत्रा- तादूरगामिनः भुजयुगरूपात् कारणात् अतिदूरगामिप्रतापस्य तथा सप्तत- रूपाल्पकारणाच्चतुर्दशभुवनव्यापि यशः पटस्य चोत्पत्त्या विरुद्धकार्योत्पत्तिलक्षणो षमालङ्कारः ॥ १०० ॥

इस (गौडनरेश) का घुटनेतक बड़े बाहुद्वयसे उत्पन्न प्रताप दिशाओंके अन्ततक पहुँच यह आश्चर्य है, तथा सर्वदा हाथसे फैलाये गये सात सूतोंसे (पक्षा०—उत्तम भाव ले मन) से फैलाये (बार-बार किये गये यज्ञोंसे) उत्पन्न यशोरूप वस्त्र चौदह भुवनोंमें ल गया, यह भी आश्चर्य है। [कारणानुगामी कार्यगुण होनेसे जानुपर्यन्त बड़े बाहुद्वयसे त्पन्न प्रतापके दिशाओंके अन्ततक जानेसे तथा सात सूतोंसे बनाये गये यशोरूप वस्त्रके दह भुवनोंमें व्याप्त होनेसे आश्चर्य होना उचित ही है। इस राजाका प्रताप दिगन्तोंमें तथा यज्ञजन्य कीर्ति चतुर्दशका वरण करो] ॥ १०० ॥

औदास्यसंविदवलम्बितशून्यमुद्रामस्मिन् दृशोर्निपतितामवगम्य भैम्याः।
वेनैव जन्यजनताऽन्यमजीगमत्तां सुज्ञं प्रतीङ्गितविभावनमेव वाचः ॥१०१॥

औदास्येति। जनीं बधूं वहन्तीति जन्याः, ता जनता जनसमूहश्च षष्ठीसमासे प्रसामर्थ्यात्तदन्तविध्यभावाच्च विशेषणसमासः। अस्मिन् गौडभूपे, निपतितां भैम्या दृशोः चक्षुषोः सम्बन्धिनीम्, उदास्ते इत्युदासा पचाद्यच्, स्त्रियां टाप् तस्या भाव औदास्यमौदासीन्यं, ब्राह्मणादेः आकृतिगणत्वात् ष्यञ्। औदास्यसंविदा उपेक्षाबुद्ध्या अवलम्बितां शून्यमुद्रां निःस्पृहावस्थानत्वम्, अवगम्य स्वेनैव स्वत एव, वाचं विनैव इत्यर्थः, तां भैमीम्, अन्यं नृपम्, अजीगमत् गमितवती, गमेर्णौ चङ्, तथा हि, सुज्ञं विज्ञं, प्रति इङ्गितविभावनं नेत्रादिचालनाविशेषेण हृद्गतभावप्रकटनमेव, वाचः आदेशवाक्यानि, प्रेरणानि इत्यर्थः, स्वामिङ्गितज्ञस्य हि किं तद्वाग्भिरिति भावः। अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १०१ ॥

शिविकावाहक-समूह इस (गौडनरेश) में दमयन्तीकी दृष्टि औदासीन्य बुद्धिसे युक्त शून्य (प्रेमहीन) मुद्राको देखकर स्वयं (दमयन्तीके बिना कहे) ही उसे दूसरे (राजा) के पास ले गया; विशेषज्ञसे चेष्टाका करना ही कहना होता है। [चतुर शिविकावाहक उस राजामें दमयन्तीका स्नेह न देखकर बिना कहे ही उसे दूसरे राजाके पास ले गये] ॥

एतां कुमारनिपुणां पुनरप्यभाणीत् वाणी सरोजमुखि ! निर्भरमारभस्व।
अस्मिन्नसङ्कुचितपङ्कजसख्यशिक्षानिष्णातदृष्टिपरिरम्भविजृम्भितानि ॥

एतामिति। वाणी वाग्देवी, कुमारी च सा निपुणा चेति तां कुमारनिपुण कुमारीत्वेऽपि नल-तदितरयोः वैशिष्ट्याभिज्ञामिति भावः, 'कुमारः श्रमण दिभिः' इति समासः। 'स्त्रियाः पुंवत्—' इत्यादिना पुंवद्भावः। अथवा—के पृथिव्याः, मारे कन्दर्पभूते नले इत्यर्थः, निपुणाम् आसक्ताम्, एतां भैमीं, पुनरप भाणीत् अवोचत्; हे सरोजमुखि! अस्मिन् नृपे, असङ्कुचितेन विकसितेन, पङ्कजे सह सख्यशिक्षायां मैत्रीकरणे, निष्णातया कुशलया, तत्सदृशया इत्यर्थः 'निनदीभ्य स्नातेः कौशले' इति षत्वम्। दृष्ट्या परिम्भविजम्भितानि आलिङ्गनचेष्टितानि, निर्भ गाढम्, आरभस्व कुरु, एनं पश्येत्यर्थः॥ १०२॥

सरस्वती देवी (नल तथा दूसरे राजाओंके गुणोंके तारतम्यको जाननेसे) उस निपु कुमारी (दमयन्ती) से फिर बोली—हे कमलमुखि (दमयन्ति)! इस (राजा) मे विकसित कमलके समान शिक्षा (दर्शनाभ्यास) में चतुर दृष्टिके आलिङ्गनके विलासोंक अच्छी तरह आरम्भ करो अर्थात् विकसित कमलतुल्य प्रफुल्लित नेत्रोंसे इस राजाको अच्छ तरह देखो॥ १०२॥

प्रत्यर्थिपार्थिवपयोनिधिमाथमन्थपृथ्वीधरः पृथुरयं मथुराऽधिनाथः।
अश्मश्रुजातमनुयाति न शर्वरीशः श्यामाङ्ककर्बुरवपुर्वदनाब्जमस्य ॥१०३॥

प्रत्यर्थीति। प्रत्यर्थिपार्थिवपयोनिधिमाथे वैरिभूपाब्धिमन्थने, मन्थपृथ्वीधरो मन्थाचलः मन्दरः, अतिवीर इत्यर्थः, पृथुर्महान् अयं पुरोवर्त्ती नृपः, मथुराऽधिनाथो मथुरानगरीशः, जातं श्मश्रु अस्य इति श्मश्रुजातं, तन्न भवतीति अश्मश्रुजातम् आहिताग्न्यादित्वान्निष्ठायाः परनिपातः। अनुत्पन्नश्मश्रु, अस्य राज्ञः, वदनाब्जं मुखपद्मं, श्यामेन अङ्केन कलङ्केन. कर्बुरवपुः शबलाङ्गः, शर्वरीशः चन्द्रः, नानुयाति नानुकरोति, सकलङ्कनिष्कलङ्कयोः कुतः साम्यमिति भावः। अश्मश्रुजातम् इति वयःसन्धौ वर्त्तमानः एष तव वरणयोग्य इति तात्पर्यम्॥ १०३॥

यह शत्रु राजारूप समुद्रोंके मथन करनेमें मदराचलरूप पृथु ('पृथु' नामक, पक्षा०—विशाल) मथुरापुरीका राजा है, श्याम वर्ण चिह्नसे कर्बुरित शरीरवाला अर्थात् सकलङ्क चन्द्रमा इसके दाढ़ी नहीं जमे हुए मुखकी बराबरी नहीं करता है। [सकलङ्कपूर्ण चन्द्रकी अपेक्षा इसका दाढ़ीरहित मुख सुन्दर है। तथा यह कुमार और युवावस्थाके मध्यमें है]॥

बाले! ऽधराधरितनैकविधप्रबाले! पाणौ जगद्विजयकार्मणमस्य पश्य।
ज्याऽघातजेन रिपुराजकधूमकेतुतारायमाणमुपरज्य मणिं किणेन ॥ १०४॥

बाले इति। अधरेण ओष्ठेन, अधरिता अधरीकृता, नैकविधा अनेकविधाः, नञ्समासः, प्रवालाः विद्रुमपल्लवरूपाः यया सा तथाविधे! हे बाले! अस्य मथुरेश्वरस्य, पाणौ जगद्विजयस्य कार्मणं वशीकरणौषधं. ज्याऽऽघातजेन किणेन ग्रन्थिना उपरज्य उपरागं प्राप्य, श्यामवर्णतां प्राप्येत्यर्थः, स्थितमिति शेषः, रिपोः शत्रुभूतस्य,

ह्स्य राजससूहस्य, धूमकेतुतारायमाणं धूमकेत्वाख्यनक्षत्रवदाचरन्तं, राजक्षय-
त्स्यात् तद्वदुपप्लवायमानमित्यर्थः, आचारे क्यङन्ताल्लटः शानच्, मणिं कङ्कण-
क्यं, पश्य ॥ १०४ ॥

अनेक प्रकार के पल्लवों (या विद्रुमों मूंगाओं) को अधरसे तिरस्कृत करनेवाली हे
(दमयन्ति)! इस ('पृथु' राजा) के हाथमें संसारको जीतने (या वशमें करने-
), धनुषकी डोरीके आघातसे उत्पन्न किण (घट्ठे) से रंगकर (श्यामवर्ण होकर) शत्रु
य–राजकुमारोंकेलिये धूमकेतु ताराके समान आचरण करनेवाली मणि अर्थात् कङ्कणको
। [निरन्तर बाण चलानेसे इस राजाके हाथमें धनुषकी डोरीसे घट्ठा पड़ गया है
शत्रुराजाओंके नाश करनेके लिये उदित धूमकेतु ताराके समान मालूम पड़ता है और
ी श्याम वर्ण कान्ति इस राजाके जिस हस्तकङ्कणमणिमें पड़ती है, उसे तुम देखो।
थोड़ी अवस्थामें ही शत्रुओंको पराजित करनेसे यह 'पृथु' राजा बड़ा शूरवीर है,
एव इसे वरण करो] ॥ १०४ ॥

द्भुजारणिसमुद्भवविक्रमाग्निचिह्नं धनुर्गुणकिणः खलु धूमलेखा ।
तं ययाऽरिपरिषन्मशकार्थयाऽश्रुविस्रावणाय[1] रिपुदारदृगम्बुजेभ्यः ॥१०५॥

एतदिति । एतस्य राज्ञः, भुजाया एव अरणेः निर्मन्थ्यकाष्ठात्, 'निर्मन्थ्यदारुणि
णिर्द्वयोः' इत्यमरः । समुद्भवस्य समुत्पन्नस्य, विक्रमाग्नेः चिह्नमनुमापकं लिङ्गं,
र्गुणकिणो ज्याऽऽघातरेखा, धूमलेखा धूमरेखा, खलु निश्चये; अरिपरिषदः अरि-
ः, ता एव मशकास्तदर्थया तन्निवृत्त्यर्थया, 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृ-
' इत्यमरः । अर्थेन सहनित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या । यया धूमलेखया,
दाराणां दृगम्बुजेभ्यो नयनारविन्देभ्यः, अश्रुविस्रावणाय बाष्पोद्गमाय, जातम्;
त्पीडनादश्रुस्रावो जायते; अयं शत्रुघाती बलवांश्चेति भावः। अत्र रूपकालङ्कारः॥

इस ('पृथु' राजा) की भुजारूपी अरणि (यज्ञमें सङ्घर्षणासे अग्नि उत्पन्न करनेवाला
-विशेष) से उत्पन्न अग्निका चिह्न धूमरेखा धनुषकी तांत (डोरी) से उत्पन्न किण
त् घट्ठा है, जो (रेखा) शत्रुसमूहरूप मच्छरके लिये (मच्छरको दूर करने
त् नष्ट करनेके लिए) तथा शत्रुस्त्रियोंके नेत्रकमलोंसे अश्रु गिरानेके लिए हुई है।
ठा०—शत्रुस्त्रियोंके नेत्रकमलोंको अश्रु देनेके लिए हुई है)। [धूमरेखाका अग्निचिह्न
उचित ही है। इस राजाके हाथमें धनुषकी डोरीका जो श्यामवर्ण घट्ठा है, वही
के बाहुरूप अरणिसे उत्पन्न पराक्रमरूपी अग्निकी चिह्न धूमरेखा है और उस धूम-
से मच्छरके समान शत्रु-समूह दूर (नष्ट) हो जाते हैं और शत्रुस्त्रियोंके नेत्रोंसे आंसू
ने लगते हैं। धूमरेखाका अग्निचिह्न होना, उससे मच्छरोंका दूर होना और नेत्रोंसे
गिरना उचित ही है। यह राजा बहुत बहादुर है, अत एव इसे स्वीकार करो]॥१०५॥

---

[1] 'विश्राणनाय' इति पा० ।

श्यामीकृतां मृगमदैरिव माथुरीणां धौतैः कलिन्दतनयामधिमध्यदेशम् ।
तत्राप्तकालियमहाह्रदनाभिशोभां रोमावलीमिव विलोकयितासि भूमेः ॥१०

श्यामीति । माथुरीणां मथुरानगरीजातस्त्रीणां, 'तत्र जातः' इत्यण्-प्रत्यये ङी धौतैर्जलक्रीडासु क्षालितैः, मृगमदैः कस्तूरिकाभिरिवेत्युत्प्रेक्षा; श्यामीकृतां, मध्य अधि इति अधिमध्यदेशं मध्यदेशविशेषे देहमध्यभागे च, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव आप्ता प्राप्ता, कालियस्य कालियनागस्य, महाह्रद एव नाभिः तस्याः शोभा य ताम्, अत एव भूमेः रोमावलीमिव स्थितामित्युत्प्रेक्षा, कलिन्दतनयां कालिन्दीं, मथुरायां; विलोकयितासि विलोकयिष्यसि ॥ १०६ ॥

मथुराकी स्त्रियों (के स्तनों) की कस्तूरीके धोनेसे मानो श्यामवर्णवाली यमुना नदी बीच (पक्षा०—कटिभाग) में कालियदहके मध्य भागकी शोभाको प्राप्त की हुई (सम शोभती हुई) पृथ्वीकी रोमावलिके समान देखोगी । [मथुराकी स्त्रियोंने यमुना नदी जलक्रीडा करते समय अङ्गोंमें लगाई हुई कस्तूरीको जो धोया है, मानो इसीसे वह श्या वर्ण हो गई है, और उसके बीचमें कालियदहसे पृथ्वीके रोमपङ्क्तिके तुल्य शोभती है इसके साथ मथुरामें यमुनामें जलक्रीडा करनेके लिए इसे वरण करो] ॥ १०६ ॥

गोवर्द्धनाचलकलापिचयप्रचारनिर्वासिताहिनि घने सुरभिप्रसूने[1] ।
तस्मिन्ननेन सह निर्विश निर्विशङ्कं वृन्दावने वनविहारकुतूहलानि ॥१०७

गोवर्द्धनेति । गोवर्द्धनाचले ये कलापिचयाः केकिव्रजाः, तेषां प्रचारेण सञ्चारेण निर्वासिताहिनि निष्कासितभुजङ्गमण्डले, अत एव सुखसञ्चारे इत्यर्थः, घने निबिडे अत एव निरातपे इति भावः, सुरभिप्रसूने सुगन्धिकुसुमसमृद्ध्या विहारयोग इत्यर्थः, तस्मिन् प्रसिद्धे, यत्र पुरा गोपालमूर्त्तिः कृष्णो विजहारेति भावः; वृन्दावने वृन्दाख्ये वने, अनेन राज्ञा सह, निर्विशङ्कं विस्रब्धं, वनविहारकुतूहलानि काननक्रीडासुखानि, निर्विश भुङ्क्ष्व, 'निर्विशो भृतिभोगयोः' इत्यमरः । साभिप्रायविशेषणत्वात् परिकरालङ्कारः ॥ १०७ ॥

गोवर्धन पर्वतपर रहनेवाले मयूर-समूहके घूमनेसे भगाये गये सर्पोंवाले, सघन तथा सुगन्धि पुष्पोंवाले (पाठा०—सुगन्धि पुष्पोंसे सघन) उस (श्रीकृष्णलीलासे अतिशय प्रसिद्ध) वृन्दावनमें इस ('पृथु' राजा) के साथ निश्शङ्क होकर वनविहारकी क्रीडाओं को करो ॥ १०७ ॥

भावी करः कररुहाङ्कुरकोरकोऽपि तद्वल्लिपल्लवचये तव सौख्यलक्ष्यः ।
अन्तस्त्वदास्यहृतसारतुषारभानुशोभानुकारिकरिदन्तजकङ्कणाङ्कः ॥ १०८ ॥

भावीति । त्वदास्येन अनेन तव मुखेन, हृतसारस्य हृतकान्तिसर्वस्वस्य, तुषार

---

[1] १. 'प्रसूनैः' इति पा० ।

ः चन्द्रस्य, या शोभा पराजयनिमित्ता पाण्डुच्छाया, तदनुकारी तत्सदृशः; यः
न्तः लग्नं कङ्कणमङ्कश्चिह्नं यस्य तादृशः, तव करः, कररुहा नखाः, अङ्कुरा अभि-
क्षिता इवेत्युपमितसमासः; त एव कोरकाः कलिकाः यस्य तादृशः सन्नपि, लोहि-
त् कोमलत्वाच्च अयं कररुहः कोरको वेति सन्देहविषयीभूतोऽपीत्यर्थः, तद्विच्छि-
चये वृन्दावनलताकिसलयजाले, अन्तर्मध्ये, सौख्येन अनायासेन, लक्ष्यः दर्श-
ः, अदुर्ग्रह इति यावत्, भावी; करिदन्तजातवलयचिह्नेन अयं कर इति निश्चितो
ष्यतीति भावः। अत्र पल्लवोपचयकाले तत्सादृश्यात् सन्दिग्धस्य भैमीकरस्य
वलयेन निश्चयान्निश्चयान्तः सन्देहालङ्कारः ॥ १०८ ॥

बीचसे तुम्हारे मुखद्वारा ग्रहण किये गये सारवाले चन्द्रकी शोभाको अनुकरण करने
अर्थात् उक्त प्रकार चन्द्रके समान शोभमान, हाथी–दांतके बने कङ्कणसे चिह्नित और
के समान अङ्कुर ही है कलिका (अस्फुटित पुष्प) जिसकी ऐसा तुम्हारा हाथ उस
दावन) की लताओंके पल्लवोंके समूहमें (अथवा—पल्लव समूहके बीचमें) अनायास
ना विशेष प्रयत्न) के देखा जायेगा। [तुम्हारा हाथ लतापल्लवके तथा नखकोरके समान
से दोनोंमें परस्पर अतिशय समानता होनेपर भी हाथी–दांतके बने कङ्कणको पहना
हाथ सरलतासे वृन्दावनकी लताओंके पल्लवोंमें लक्षित हो जायेगा; वह हाथी–दांतका
कङ्कण ऐसा ज्ञात होता है कि मानो तुम्हारे मुखकी रचनाके लिये चन्द्रमाके बीचसे
भूत तत्त्व निकाल लेनेसे बीचमें खाली पड़ा हुआ चन्द्र ही वह वलय हो गया है।
हारा मुख चन्द्राधिक सुन्दर, हाथ लतापल्लव सदृश, नख पुष्प–कलिका सदृश तथा कङ्कण
मेंमें खाली पड़ा हुआ चन्द्रके तुल्य है] ॥ १०८ ॥

तज्जः श्रमाम्बु सुरतान्तमुदा नितान्त-
मुत्कण्टके स्तनयुगे[1] तव सञ्चरिष्णुः ।
खञ्जन् प्रभञ्जनजनः पथिकः पिपासुः
पाता कुरङ्गमदपङ्किलमप्यशङ्कम् ॥ १०९ ॥

तज्ज इति। सुरतान्ते सुरतक्रियावसाने, या मुत् तया मुदा आनन्देन, नितान्त-
कण्टके कण्टकिते पुलकाञ्चिते च, तव स्तनयुगे सञ्चरिष्णुः सञ्चरणशीलः, खञ्जन्
लतादिगहनत्वात् मन्दीभवन्, अन्यत्र—कण्टकवेधात् खोडन्, विकलं गच्छन्नि-
र्थः, खञ्जेर्गतिवैकल्यार्थाल्लटः शत्रादेशः। गतावित्यनुवृत्तौ विकलायान्तु इयं खञ्जति
डतीति भट्टमल्लः। पथिकः, सदागतिः अध्वगमनश्रान्तश्च, अत एव पिपासुः
षितः, तस्मिन् वृन्दावने जातः तज्जः, 'सप्तम्यां जनेर्डः'। प्रभञ्जनो वायुः, स एव
नः कुरङ्गमदेन मृगमदेन, पङ्किलं निर्मलजलाभावात् सपङ्कमपि, श्रमाम्बु सुरतज-
स्वेदोदकम्, अशङ्कम्, असङ्कोचं, निर्विचारं यथा तथा इत्यर्थः, पाता पास्यति,

---

१. 'स्तनतटे' इति पा०।

स्वेदं हरिष्यतीत्यर्थः। पिबतेः कर्त्तरि लुट्, यथा अतिश्रान्तः तृषितः पान्थः कण्ट
कीर्णदेशस्थं तथा पङ्किलमपि जलं प्रायेण स्वोदरपूरं पिबति तद्वदिति भावः ॥ १०

उस (वृन्दावन) में उत्पन्न, रतिके अन्तिम समयमें हर्षसे रोमाञ्चित (पक्षा०
कण्टकयुक्त), तुम्हारे स्तनद्वय (पाठा०—स्तनतट) में सञ्चरण करने (लगने, पक्षा०
घूमने या चलने) वाला, लँगड़ाता हुआ, प्यासा हुआ पथिक (नित्य चलनेवाला, पक्षा०
यात्री) वायु-समूह (पक्षा०—वायुरूप मनुष्य) कस्तूरीसे मलिन (पक्षा०—पङ्कयुक्त
श्रमजल (पसीना, पक्षा०—श्रमसे प्राप्त जल) का पान करेगा (सुखावेगा, पक्षा०
पीयेगा)। [जिस प्रकार कण्टकयुक्त वन आदिमें सर्वदा चलनेवाला, कांटोंके चुभ
लंगड़ाता तथा प्यासा हुआ यात्री स्वच्छ जलके नहीं मिलनेपर पङ्किल (मटमैले) पानी
भी पीता है, उसी प्रकार रोमाञ्चयुक्त स्तनोंमें धीरे-धीरे सदा लगता हुआ वायुस
कस्तूरीलेपसे मलिनीभूत स्वेदको पान करेगा अर्थात् उसे सुखायेगा] ॥ १०९ ॥

पूजाविधौ मखभुजामुपयोगिनो ये विद्वत्कराः कमलनिर्मलकान्तिभाज
लक्ष्मीमनेन दधता[1]ऽनुदिनं वितीर्णैस्ते हाटकैः स्फुटवराटकगौरगर्भाः ॥११

पूजेति। मखभुजां देवानां, पूजाविधौ यज्ञादिकर्मणि, उपयोगिनः प्रतिग्रहोऽ
कारिणः, ये विदुषां कराः पाणयः, कमलेन जलेन, दानसम्बन्धिजलेन इति भा
निर्मला या कान्तिः तद्भाजस्तद्विशिष्टाः; अथवा—कमलानां या निर्मलकान्तिस
द्भाजः पद्मसदृशाः, ते विद्वत्कराः लक्ष्मीं दधता श्रीमता, अनेन राज्ञा, अनुदि
वितीर्णैः दत्तैः, हाटकैः सुवर्णैः, 'स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम्' इत्यमर
स्फुटाः उज्ज्वलाः, वराटकाः कर्णिकाः, 'बीजकोशो वराटकः कर्णिका कर्णिकश्च' इ
वैजयन्ती, तद्वत् गौराः पीता अरुणा वा, गर्भाः अभ्यन्तराणि येषां ते तादृशाः, कृतं
इति शेषः। 'गौरोऽरुणे सिते पीते' इति विश्वः। कमलानां कर्णिकावत् पाणिकमलान)
हाटकैस्तद्वत्त्वं सम्पादितमित्यर्थः; अतिदानशीलोऽयं नृपतिरिति भावः ॥ ११० ॥

देवताओंकी पूजा करनेमें उपयोगी तथा कमल अर्थात् दानजलसे (पक्षा०—कमल
पुष्पके समान) निर्मल कान्तिवाले जो विद्वानोंके हाथ हैं, वे लक्ष्मी (सम्पत्ति, या शोभा
धारण करनेवाले इस (मथुराधीश 'पृथु' राजा) के द्वारा प्रतिदिन दान किये गये सुवर्णों
बीजकोष (कमलगट्टेका छत्ता) के समान गौर वर्णसे युक्त अन्तर्भागवाले बना दिये गये हैं
(पाठा०—इसके द्वारा अन्तर्भागवाले वे हाथ लक्ष्मी (सम्पत्ति, या शोभा) धारण कर
हैं)। [यह राजा देवपूजनतत्पर विद्वानोंको सर्वदा दान करनेवाला है। कमलकोष
पीतवर्ण होनेसे हाथमें सुवर्ण लेने पर उसके भीतरी भाग (तलहत्थी) का कमलकोष
समान मालूम पड़ना उचित ही है। पहले विद्वानोंके हाथ कमलपुष्पके समान निर्मल
कान्तिवाले थे, किन्तु दानशूर इस राजाने सुवर्ण-दानकर उन हाथोंको बीजकोष (कमल

---

[1] 'दधते' इति पा०।

) के द्वारा पीतवर्ण कर दिया अर्थात् वे हाथ अब केवल कमल-पुष्प-कान्तिवाले न
(कमल-फल-कान्तिवाले (पुष्पकी अपेक्षा सफल, अथच श्वेतकी अपेक्षा रंगीन गौर
होने से श्रेष्ठ) बना दिये गये.] ॥ ११० ॥

श्रियं प्रति नियुद्धमनाप्नुवन् यः किञ्चिन्न तृप्यति धरावलयैकवीरः ।
त्वासवाप्य निपतन्मदनेषुवृन्दस्यन्दीनि तृप्यतु मधूनि पिबन्निवायम् ॥

वैरीति । धरावलये भूमण्डले, एकवीरः अद्वितीययोद्धा, यः मथुरापतिः, वैरिश्रियं
शत्रुलक्ष्मीं लक्ष्यीकृत्य, नियुद्धं नितरां युद्धं, बाहुयुद्धमित्यर्थः, 'नियुद्धं बाहुयु-
ध' इत्यमरः । अनाप्नुवन् किञ्चित् ईषदपि, नं तृप्यति न तद्विना सन्तुष्यती-
सः, यस्य भयात् युद्धं विनैव शत्रुनृपतिसमर्पितराजलक्ष्मीलाभेऽपि युद्धेच्छाविगमा-
वात् अयं न किञ्चिदपि सन्तुष्यतीति भावः; स नियुद्धप्रियोऽयं राजा, त्वाम्
ाप्य निपततां मदनेषूणां कन्दर्पबाणभूतानां कुसुमानां, वृन्दात् स्यन्दन्ते
न्तीति स्यन्दीनि, मधूनि मकरन्दान्, पिबन्निव तृप्यतु; त्वमस्य राजलक्ष्म्यपे-
होऽपि तृप्तिदायिनीति भावः । अत्र मदनेषुभूतकुसुममधुपानोत्प्रेक्षया तेषामेवेषूणां
त्समागमात् गाढानन्दकरत्वप्रतीतेः अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ १११ ॥

स पृथ्वीमें प्रधान वीर जो ('पृथु' राजा) शत्रुलक्ष्मीको लक्ष्यकर बाहुयुद्ध (पक्षा०—
दिङ्गन) को नहीं पाता हुआ थोड़ा भी सन्तुष्ट नहीं होता है (इसके भयसे शत्रुलोग
रक्षा युद्ध किये ही अपनी लक्ष्मीको समर्पित कर देते हैं, अत एव युद्धका अवसर नहीं
इ[illegible]नेसे इस वीर राजाको पूर्ण सन्तोष नहीं होता), वह (बाहुयुद्धप्रिय) यह (पृथुराजा)
कर्षे पाकर गिरते हुए कामबाणों (पुष्पों) के समूहोंसे बहते हुए मकरन्दों (पुष्प-परागरूप
गन) का पान करता हुआ सन्तुष्ट होवे । [लोकमें भी किसी अभीष्ट वस्तुको नहीं मिलनेसे
न्तुष्ट व्यक्ति मधुपानकर प्रथम असन्तोषकर विषय भूल जानेसे सन्तोषानुभव करता है]॥

स्मादियं क्षितिपतिक्रमगम्यमानमन्यानमैक्षत नृपादवतारिताक्षी ।
ावबोधचतुरां निजचेटयैव व्याचष्टे स्म शिबिकावहने नियुक्ताः ॥

तस्मादिति । इयं भैमी, तस्मात् नृपात्, अवतारिताक्षी निवर्तितदृष्टिः सती,
तिपतीनां गन्तव्यनृपाणां, क्रमेणानुपूर्व्या, गम्यमानम् अध्वानम् ऐक्षत; अथ
विकावहने नियुक्ताः शिबिकावाहिनः, तस्याः भावबोधे अभिप्रायज्ञाने, चतुरां
न्विताम्, निजचेष्टया [illegible], व्याचष्टे स्म ज्ञापयामासुरित्यर्थः ॥

इस राजासे दृष्टि हटायी हुई इस (दमयन्ती) ने राजक्रमसे प्राप्त (आनेवाले) मार्गको
खा तथा शिबिका ढोनेमें तत्पर (शिबिकावाहक) अपनी चेष्टा (दमयन्तीको उस राजके
ससे हटाकर दूसरे राजाके पास ले जाने) से ही उस (दमयन्ती) के भावको जाननेके
[illegible] प्रकट कर दिये । [शिबिकावाहक दमयन्तीको दूसरे राजाके पास ले गये ।
न्य भी कोई व्यक्ति अपनी चेष्टासे दूसरेके भाव-भावके चातुर्यको स्पष्ट करता है ।] ॥ ११२ ॥

भूयोऽपि भूपमपरं प्रति भारती तां त्रस्यन्मृगीचलचक्षुषमाचचक्षे ।
एतस्य काशिनृपतेस्त्वमवेक्ष्य लक्ष्मीमक्ष्णोर्मुदं जनय खञ्जनमञ्जुनेत्रे !

भूयोऽपीति । भारती सरस्वती, भूयोऽप्यपरं भूपं राजानं, प्रति लक्षीकृ त्रस्यन्मृगीचलचक्षुषं चकितहरिणचलाक्षीं, तां भैमीम्, आचचक्षे; किमिति खञ्जनमञ्जुनेत्रे ! हे खञ्जनाक्षि ! मञ्जुलाक्षीत्यर्थः, त्वम् एतस्य काशिनृपतेः काशि राजस्य, काशते इति काशिः 'सर्वधातुभ्य इन्' इत्युणादिसूत्रेण काशधातोरि प्रत्ययः, ततः 'कृदिकारादक्तिन' इति सूत्रे ङीषो वैकल्पिकत्वेनात्र न ङीप्; अ एव काशी काशिः इति रूपद्वयमेव साधु । लक्ष्मीं शरीरशोभाम्, अवलोक्य अक्ष्णो चक्षुषोः, मुदं हर्षं, जनय सम्पादय ॥ ११३ ॥

सरस्वती देवीने डरते हुए मृगके समान चपल नेत्रवाली उस (दमयन्ती) के प्रति विन् दूसरे राजाको (लक्षित कर) कहा—हे खञ्जनके समान सुन्दर नेत्रवाली (दमयन्ति) तुम इस काशीनरेशकी (अथवा—काशीनरेशके नेत्रोंकी) शोभाको देखकर नेत्रों (अपने नेत्रों) के सुखको (अथवा—सुखको) उत्पन्न करो । (अथवा—तुम इस काशीराज शोभाको देखकर इसके नेत्रोंके सुखको उत्पन्न करो) [अपनी शोभाको तुम्हारे द्वारा देखने 'यह दमयन्ती मुझे वरण करेगी' इस भावनासे यह राजाको सुख-प्राप्ति होगी] ॥ ११३

एतस्य साऽवनिभुजः कुलराजधानी काशी भवोत्तरणधर्मतरिः स्मरारेः ।
यामागता दुरितपूरितचेतसोऽपि पापं निरस्य चिरजं विरजीभवन्ति ॥११

एतस्येति । स्मरारेः संसारार्णवकर्णधारस्य महादेवस्य सम्बन्धिनी, भवोत्तर लोकानां भवाब्धितरणे, धर्मंतरिः मूल्यमगृहीत्वा पारकारिणी तरणिः, धर्मंतरि ग्रहणात् केवलं धर्मार्था नौः इत्यर्थः; 'स्त्रियां नौस्तरणिः तरिः' इत्यमरः । सा काशी एतस्यावनिभुजः काशीराजस्य, कुलराजधानी वंशपरम्परागतराजधानी; दुरितै पूरितचेतसोऽपि अतिपापात्मानोऽपि, यां काशीम्, आगताः चिरजं चिरसञ्चित पापं निरस्य परित्यज्य, अविरजसो विरजसः सम्पद्यमाना भवन्ति विरजीभवन् वीतरजोगुणाः सत्त्वप्रधाना मुक्ता भवन्तीत्यर्थः । अभूततद्भावे च्विः 'अरुर्मनश्चक्षुश्चे तोरहोरजसां लोपश्च' इति सकारलोपः ॥ ११४ ॥

शिवजीकी संसारसे पार करनेमें धर्मनौका वह काशी इस राजाकी कुलपरम्पराग राजधानी है, जिसमें आये हुए पापपूर्ण चित्तवाले (महापापी) भी चिरकालसे उत्पन पापको छोड़कर निष्पाप (रजोगुणरहित होकर सत्त्वगुणयुक्त) हो जाते हैं । ['धर्म' नौक कहनेसे विना खेवाई लिये सर्वसाधरण को संसार से पार उतारनेवाली उस नावका होन सूचित किया गया है] ॥ ११४ ॥

आलोच्य[1] भाविविधिकर्त्तृकलोकसृष्टिकष्टानि रोर्दीति पुरा कृपयैव रुद्रः ।

---

[1] 'आलोक्य' इति पा० ।

च्छयेति मिषमात्रमधत्त यत्तां संसारतारणतरीमसृजत् पुरीं सः॥११५॥

आलोच्येति । रुद्रो हरः, भाविन्याः विधिकर्तृकाया ब्रह्मकर्तृकायाः, लोकसृष्टेः प्राणिजातस्य, कष्टानि दुःखानि, आलोच्य विचार्य, कृपयैव न तूपाध्यन्तरेणेत्यर्थः, रोदिति अरुदत्, 'पुरि लुङ् चास्मे' इति चकारात् पुरा–शब्दयोगे भूतानद्यतने लट् । ननु यत् श्रूयते 'सोऽरोदीत्, यदरोदीत् तत् रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इति, तत् जमात्रमित्याह–नामेति । नामेच्छयेति रोदनाद्रुद्रनामाकाङ्क्षयाऽरोदीत् इति, यत् मिषमात्रं व्याजमात्रम्, अधत्त धृतवान्, वस्तुतः प्राणिनां कष्टमवलोक्यैवारुदत् तु स्वीयरुद्रनामेच्छयेत्यर्थः; कुतः ? यत् यस्मात्, स रुद्रः, संसारतारणतरिं तां काशीम्, असृजत्; कृपालवो हि परदुःखेन दुःखायन्ते तत्प्रतीकरणोपायञ्च न्तीति भावः । ततो नूनं कृपयैव अरोदीदित्युत्प्रेक्षा ॥ ११५ ॥

) शिवजी भविष्यमें की जानेवाली ब्रह्माकी प्राणिसृष्टिके दुःखोंको देखकर कृपासे ही ले रोये, (और) नामकी इच्छासे (रोता हूँ यह तो) बहानामात्र किया; क्योंकि उस वजीने संसारको पार करनेके लिये नावरूप पुरी (काशीपुरी) की रचना की । [ब्रह्माके लाटसे उत्पन्न होकर रोते हुए उस शिवजीको देखकर 'क्यों रोते हो ?' ऐसा ब्रह्माके छनेपर 'नामकी इच्छासे रोता हूं' ऐसा उत्तर बहानामात्रसे उन्होंने ही दिया, वास्तकमें तो 'ये ब्रह्मा भविष्यमें जिन प्राणियोंकी सृष्टि करेंगे वे महाःदुखी होंगे' यह विचारकर शिवजी रोये थे । यही कारण है कि उन प्राणियोंको दुःखसे सर्वदाके लिए छुड़ाने र्थात् मुक्त करनेके लिए उन्होंने काशीपुरीको रचना की । दूसरे भी दयालु पुरुष किसीके भावी दुःखकों विचारकर रोते तथा उसे दूर करनेका उपाय करते हैं, किन्तु किसीके रोनेका (दुःखित होने) का कारण पूछनेपर वास्तविक बात नहीं कहकर कोई बहना बना देते हैं और चुपचाप उसके दुःखको दूर करने का उपाय कर देते हैं । इस राजाके वरण करनेसे काशीकी प्राप्ति होनेसे किसी दुःखकी आशङ्का नहीं रहेगी अतएव तुम इसे वरण करो] ॥११५॥

वाराणसी निविशते न वसुन्धरायां तत्र स्थितिर्मखभुजां भुवने निवासः ।
तत्तीर्थमुक्तवपुषामत एव मुक्तिः स्वर्गात् परं पदमुदेतु मुदे तु कीदृक् ? ॥

वाराणसीति । वाराणसी काशी, वसुन्धरायां न निविशते भूलोकान्तःपातिनी न भवतीत्यर्थः, अत एव तत्र वाराणस्यां, स्थितिर्लोकानां निवासः, मखभुजां देवानां, भुवने लोके, स्वर्गे इत्यर्थः, निवासः स्वर्लोकवसतिः, अत एव तस्याः स्वर्गत्वादेव, तस्मिन् तीर्थे मुक्तवपुषां त्यक्तकलेवराणां, मुक्तिरपवर्ग एव; तथा हि, स्वर्गात् स्वर्गरूपात् काशीतः, परम् उत्कृष्टं, कीदृक् पदन्तु कीदृशं स्थानं पुनः, मुदे प्रीतये, उदेतु ? उद्गच्छतु ? भवतु इत्यर्थः, तव इति शेषः, स्वर्गवास एव मर्त्यानां काम्यतमः, अतस्त्वं काशीराजं वरीत्वा काशीरूपस्वर्गवाससुखमनुभव इति भावः । यद्वा—स्वर्गादपवर्गात्, परमधिकम्, अपवर्गादन्यादृशं, कीदृक् पदन्तु स्थानं पुनः,

मुदे आनन्दाय, उदेतु ? उत्पद्यताम् ? ते इति शेषः, न किञ्चिदन्यदित्यर्थः सम्भावनायां लोट्, भूलोकवासिनां मृतानां स्वर्गः, स्वर्गवासिनान्तु मृतानाम् अपवर्ग एव परं पदं, न तु स्वर्ग एवोचितः, अतः सा काशी स्वर्ग एव इति भावः

वाराणसी पृथ्वीपर नहीं स्थित है (या पृथ्वीमें अन्तर्भूत नहीं है) वहांपर निवास कर देवलोक (स्वर्ग) में निवास करना है अर्थात् वाराणसी स्वर्ग ही है भूमिगत कोई पुरी न है, (अथवा—वहां देवोंका निवास करना भूलोकमें निवास करना है, अर्थात् स्वर्गसे अधिक रमणीय होनेसे देवलोग स्वर्गसे वहां वाराणसी पुरीमें) आकर निवास करते है इसी कारण उस (वाराणसी) के तीर्थों (मणिकर्णिका आदि) में शरीरत्याग करने (मरने वालों की मुक्ति होती है, (यदि वाराणसी भी अन्य पुरियोंके समान भूमिपर ही हो तथा वहां निवास करना स्वर्गमें निवास करना नहीं होता तो उसके तीर्थमें भी मरनेवा प्राणियोंको अन्य पुरियोंके तीर्थोंमें मरनेवाले प्राणियोंके समान स्वर्ग-प्राप्ति ही होती, मुक्ति प्राप्ति नहीं होती, अतएव वहां निवास करना स्वर्गमें ही निवास करना है), स्वर्गसे श्रे भी (मुक्तिके अतिरिक्त) ऐसा पद हर्षके लिये प्राप्त होवे (भूलोकमें मरनेवाले प्राणियों हर्षके लिए भूलोकाधिक श्रेष्ठ स्वर्ग-प्राप्ति होना और वाराणसीरूप स्वर्गमें मरनेवाले प्राणि हर्षके लिए स्वर्गाधिक मुक्ति-प्राप्ति होना उचित ही है) ॥ ११६ ॥

सायुज्यमृच्छति भवस्य भवाब्धियादस्तां पत्युरेत्य नगरीं नगराजपुत्र्याः ।
भूताभिधानपटुमद्यतनीमवाप्य भीमोद्भवे ! भवतिभावमिवास्तिधातुः ॥ ११७

सायुज्यमिति । भीमोद्भवे ! हे भैमि ! भवाब्धियादः संसारसागरजजन्तुजातं कर्तृ । 'यादांसि जलजन्तवः' इत्यमरः । नगराजपुत्र्याः पत्युः पार्वतीपतेः सम्बन्धिनीं, तां नगरीं काशीम्, एत्य अस्तिधातुः 'अस भुवि' इत्ययं धातुः, भूताभिधानपटुम् अतीतकालाभिधानसमर्थाम्, अन्यत्र—भूतस्य सत्यस्य तारकब्रह्मरूपस्येत्यर्थः, अभिधाने उपदेशप्रापणे, पटुं समर्थाम्, इति नगरीपक्षे योज्यम् ; अद्यतनीं लुङम्, अवाप्य अद्यतनीति लुङ् पूर्वाचार्याणां संज्ञा आर्द्धधातुकोपलक्षणमेतत्, अस्तेर्भूभावस्यार्द्धधातुकाधिकारात् । अद्यतनीग्रहणन्तु उपमानोपमेययोरभिन्नलिङ्गत्वायेति द्रष्टव्यम् । भवतीति भावम् इव 'अस्तेर्भूः' इति विधानात् अस्-धातोर्भूधातुत्वमिव, भवस्य ईश्वरस्य, सयुजो भावः सायुज्यं तादात्म्यम्, ऋच्छति गच्छति॥

हे भीमनन्दिनि (दमयन्ति) ! संसाररूपी समुद्रका जलजन्तु अर्थात् संसारी जीव पर्वतराजपुत्री (पार्वती) के पति शिवजीकी तारक ब्रह्मके उपदेशमें समर्थ उस नगरी (वाराणसी पुरी) को पाकर (अथवा—उस नगरीको पाकर पर्वतराजपुत्रीके पति शिवजी) के सायुज्यको उस प्रकार प्राप्त करता है, जिस प्रकार 'अस्' धातु ('अस् भुवि'—अदादि परस्मैपद संज्ञक धातु) 'भूत' कालके कहनेमें समर्थ अद्यतन विभक्ति ('लुङ्' लकार) को प्राप्तकर 'भू' भाव ('अस्तेर्भूः' पा० २।४।५२) से 'भू' आदेश को प्राप्त करता है ।

वाराणसीमें शरीरत्याग करनेपर शिवजी प्राणीको श्रेष्ठ तारक मन्त्रका उपदेश देते हैं; ससे वह प्राणी उनकी सायुज्य मुक्तिको प्राप्त कर लेता अर्थात् शिवरूप हो जाता है। क्तिके सायुज्य, सामीप्य, सालोक्य आदि अनेक भेद शास्त्रोंमें वर्णित हैं]॥ ११७॥

निर्विश्य निर्विरति काशिनिवासि भोगान्
निर्माय नर्म च मिथो मिथुनं यथेच्छम्।
गौरीगिरीशघटनाधिकमेकभावं
शर्मोर्मिकञ्चुकितमञ्चति पञ्चतायाम् ॥ ११८ ॥

निर्विश्येति । काशिः काशी, 'कृदिकारात् अक्तिनः' इति ङीषो वैकल्पिको भावः। तस्यां निवासि वास्तव्यं, मिथुनं स्त्रीपुंसजातं, यथेच्छं, भुज्यन्ते इति भोगान् विषयान्, निर्विरति निर्विच्छेदं यथा तथा, निर्विश्य उपभुज्य, तथा मिथोऽन्योऽन्यं रहसि वा, नर्म क्रीडाञ्च, निर्माय कृत्वा, पञ्चतायां मृत्यौ सत्यां, गौरीगिरीशयोर्घटनादर्द्धाङ्गसङ्घटनात्, अधिकमुत्कृष्टमेव, तत्र शरीरद्वयत्वेन प्रकाशः अत्र तु शिवशरीरं एकत्वेनेति तदपेक्षया उत्कृष्टत्वमिति भावः, शर्मोर्मिभिः आनन्दलहरीभिः, कञ्चुकितं सञ्जातकञ्चुकम्, आवृतसर्वाङ्गमित्यर्थः, एकभावम् एकत्वरूपम्, अञ्चति प्राप्नोति, अन्यत्र सन्न्यासादिक्लेशात् मुक्तिः, इह तु भोगपूर्वकदेहत्यागेनापि मुक्तिरिति भावः॥ ११८॥

काशीमें निवास करनेवाला मिथुन (स्त्री-पुरुष की जोड़ी) वैराग्यरहित अर्थात् अनुरागपूर्वक इच्छानुसार भोगों (कुङ्कुम केसर कस्तूरी चन्दन माल्यादि भोग-सामग्रियों) को प्राप्तकर और परस्परमें इच्छानुसार नर्म (हास-विलासादि) करके मरनेपर (आधे-आधे शरीरका संयोगरूप) पार्वती-शिवके संयोगसे भी अधिक अर्थात् श्रेष्ठ एवं सुख परम्परासे संयुक्त एकीभाव (तादात्म्य) को प्राप्त करता है। [पार्वती तथा शिवके अर्द्धाङ्ग होनेपर भी दोनोंका पृथक्-पृथक् ज्ञान होता है, किन्तु उक्त काशीवासी स्त्री-पुरुष-मिथुन तद्रूप होकर पृथक्-पृथक् नहीं मालूम पड़नेसे उक्त पार्वती-शिवकी अर्धार्धशरीरसंयोगकी अपेक्षा भी उत्तम गति लाभ करता है। अन्यत्र निवास करनेपर भोग-विलास साधनोंसे विरक्त होकर तथा कष्ट सहते हुए ध्यान जप तप आदि करने पर ही मुक्ति मिल सकती है और यहां उक्त सब कष्टों को विना सहन किये ही काशी में निवास करने मात्रसे मुक्ति मिल जाती है, अत एव सर्वाभिलाषसिद्धिके लिए इस काशीराजका वरण करो]॥ ११८॥

न श्रद्दधासि यदि तन्मम मौनमस्तु कथ्या निजाप्ततमयैव तवानुभूत्या।
न स्यात् कनीयसितरा यदि नाम काश्या राजन्वती मुदिरमण्डनधन्वना भूः॥

नेति । न श्रद्दधासि यदि स्वर्गादपि काश्या आधिक्यवर्णनरूपं मद्वाक्यं न विश्वसिसि चेत्, तत्तर्हि, मम मौनमस्तु अहं तूष्णीमासे, तव निजया आत्मीयया, आप्ततमया नितरां हितकारिण्या, अनुभूत्या प्रमाणभूतस्वीयानुभावेनैव, कथ्या

कथनीयाऽसि; किं कथ्या ? तदाह,–मुदिरा जीमूताः, 'घनजीमूतमुदिर–' इत्यमरः; तेषां मण्डनं भूषणभूतं, धनुर्यस्य स तद्धन्वा देवेन्द्रः, 'धनुषश्च' इत्यनङादेशः ते राजन्वती शोभनराजविशिष्टा, भूः स्वर्गभूः, 'राजन्वान् सौराज्ये' इति निपातना साधुः । काश्याः काशीतः, 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । अतिशयेन कनीयसी कनीयसितरा हीनतरा, 'युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्' इत्यल्पशब्दस्य कनादेशः, 'घरूपकल्प–' इत्यादिना ङीपो ह्रस्वः न स्यान्नाम यदि, अपि तु स्यादेवेत्यर्थः; दिव स्वर्गात् अधिका काशी, दिवस्पतेरधिकः काशीराज इत्यलं वार्त्ताभिः, एतत्पाणिग्रहणानन्तरमनुभव एव ते कथयिष्यतीति भावः ॥ ११९ ॥

यदि (मेरे वचनमें) विश्वास नहीं करती हो तो मेरा मौन ही हो अर्थात् मैं चुप लगती हूं। मेघोंका भूषण है धनुष जिसका ऐसे इन्द्रसे सुन्दर राजावाली भूमि (अमरावती पुरी) यदि काशीसे अत्यन्त हीन नहीं है तो अपनी आप्ततम अर्थात् अत्यन्त निष्पक्ष (या हितकारी) तुम्हारा अनुभव ही तुमसे कहेगा। [इस काशीनरेशके वरण करनेसे तुम स्वयं ही यह अनुभव करोगी कि काशीकी अपेक्षा इन्द्रपुरी अमरावती भी अत्यन्त तुच्छ है, अत एव इसका वरण करो] ॥ ११९ ॥

ज्ञानाधिकाऽसि सुकृतान्यधिकाशि कुर्याः कार्यं किमन्यकथनैरपि यत्र मृत्योः।
एकं जनाय सतताभयदानमन्यद् धन्ये ! वहत्यमृतसत्रमवारितार्थि ॥१२०

ज्ञानेति। धन्ये ! हे श्लाघ्ये ! भैमि ! ज्ञानेन अधिका उत्कृष्टा, असि भवसि, अतः अधिकाशि काश्यां, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । सुकृतानि एतत्परिणयेन दानादिविविधसत्कर्माणि कुर्याः; अथवा अन्यकथनैः कर्त्तव्यान्तरोपदेशैः, किं कार्यम् ? किं प्रयोजनम् ? न किञ्चिदित्यर्थः, यत्र काश्यां, मृत्योरपि मृत्युसकाशादपि, जनाय एकं केवलं, सततमविच्छिन्नम्, अभयदानं मृत्युवशानां सद्य एव मृत्युञ्जयत्वप्राप्तेरिति भावः; अन्यद् अपरम्, अवारिताः अनिवारिताः, अर्थिनो याचकाः यस्मिन् तत्, अमृतसत्रं मोक्षदानं गङ्गोदकदानञ्च, 'अमृतं तूदके मोक्षे' इति केशवः । 'सत्रमाच्छादने यज्ञे सदा दाने वनेऽपि च' इति चामरः । वहति प्रवर्त्तते; काशिमृतानां शिवसारूप्यममृतत्वञ्च सिद्धमिति अन्यत्र जीवनात् मरणमपि काश्यां वरमिति भावः ॥ १२० ॥

हे धन्ये (दमयन्ति) ! श्रेष्ठ ज्ञानवाली हो, (अत एव) काशीमें पुण्यों (पति-सेवादि सत्कर्मों) को करो, दूसरे (कर्तव्य, या माहात्म्य) के कहनेसे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ नहीं, जहां (जिस काशीमें) मनुष्यके लिये सर्वदा अभयदानरूप एक अमृतयज्ञ (मोक्ष-दान यज्ञ) होता रहता है तथा जिसमें किसी याचक को निषेध नहीं किया जाता, ऐसा दूसरा अमृतयज्ञ (जल-दानयज्ञ अर्थात् गङ्गाजी) होता रहता है। [काशीमें मरनेके बाद पुनर्जन्म लेनेका भय नहीं रहनेसे मोक्ष-दानरूप एक यज्ञ और याचकके लिये विना निषेध किंये निरन्तर जल-दानरूप द्वितीय यज्ञ (गङ्गाजी) प्रवाहित होता रहता है।

शीमें निवासकर तथा गङ्गाजल पीकर अनायास ही जीव मृत्युके भयसे मुक्त हो जाता है, तः इसका वरण कर मृत्युभयसे तुम भी मुक्त हो जावो] ॥ १२० ॥

भूभर्त्तुरस्य रतिरेधि मृगाक्षि ! मूर्त्ता सोऽयं तवास्तु कुसुमायुध एव मूर्त्तः ।
भातञ्च ताविव युवां गिरिशं विरुद्धमाराद्धुमाशु पुरि तत्र कृतावतारौ ॥ १२१ ॥

भूभर्त्तुरिति । हे मृगाक्षि ! त्वमस्य भूभर्त्तुः काशीराजस्य, मूर्त्ता मूर्त्तिमती, रतिः ामपत्नी, एधि भव, अस्तेः सिचि हेर्धिरादेशे 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इत्येकारा-शः । सोऽयं राजा च, तव मूर्त्तो मूर्त्तिमान्, कुसुमायुधः कामः एव, अस्तु भवतु, केञ्च युवां विरुद्धं द्विष्टं, पुरा कोपितमित्यर्थः, गिरिशमीश्वरम्, आराद्धुम् आराधयितुं, दीयकोपशान्त्यर्थमिति भावः, तत्र पुरि काश्याम्, आशु अधुना, कृतावतारौ अव-तीर्णौ, ताविव रतिकामाविव, भातं विराजतञ्च, भातेर्लोटि थसस्तमादेशः ॥ १२१ ॥

हे मृगनयनि (दमयन्ति) ! तुम इस राजाकी मूर्तिधारिणी रति बनो तथा यह (राजा) तुम्हारा मूर्तिधारी कामदेव ही बने (यह राजा तुम्हें साक्षात् रति समझे और तुम इस राजाको साक्षात् कामदेव समझो अथवा—तुम इसकी मूर्तिधारिणी प्रीति बनो और यह तुम्हारा मूर्तिधारी अनुराग बने अर्थात् तुम दोनों परस्परमें अत्यधिक स्नेह करो) और पहले विरोध किये गये शिवजीको पूजा (करके प्रसन्न) करनेके लिए उस (काशी) पुरीमें शीघ्र अवतार लिये हुए (या देहधारण किये हुए) उन दोनों (रति–कामदेव) के समान तुम दोनों शोभित होवो । [अत्यन्त सुन्दर तुम दोनोंको देखकर काशीवासी लोग ऐसी कल्पना करेंगे] ॥ १२१ ॥

कामानुशासनशते सुतरामधीती सोऽयं रहो नखपदैर्महतु स्तनौ ते ।
रुष्टाद्रिजाचरणकुङ्कुमपङ्करागसङ्कीर्णशङ्करशशाङ्ककलाङ्ककारैः ॥ १२२ ॥

कामेति । कामानुशासनानां कामशास्त्राणां, शते समूहे, सुतरां नितराम्, अधीतमनेनेत्यधीति 'इष्टादिभ्यश्च' इति इनि प्रत्यये सप्तमीविधाने 'क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यानम्' इति सप्तमी । कृताध्ययनः, सोऽयं राजा, रुष्टा कुपिता, अद्रिजा पार्वती, तस्याश्चरणकुङ्कुमपङ्करागेण सङ्कीर्णा पार्वत्याः कोपापनोदनाय पादग्रहणकाले कुङ्कुमरञ्जिततदीयचरणसम्पर्कात् रूषिता, या शङ्करशशाङ्ककला महादेवशिरःस्थित-चन्द्रकला, तया सह अङ्ककारैः कलहकारिभिः, तदनुकारिभिरित्यर्थः, कुङ्कुमरञ्जित-चन्द्रकलासदृशैरिति यावत्, कर्मण्यण् 'अङ्कः कलहचिह्नयोः' इति विश्वः । नखपदैर्नखक्षतचिह्नैः, ते स्तनौ कुचौ, रहः निर्जने, महतु पूजयतु, अलङ्करोतु इत्यर्थः । मह पूजायामिति धातोर्भौवादिकाल्लोट् ॥ १२२ ॥

सैकड़ों कामशास्त्रको अध्ययन किया सुप्रसिद्ध यह राजा एकान्तमें रुष्ट पार्वतीके (शङ्करजीके मस्तकपर चरण प्रहार करनेसे) चरणमें लगाये गये कुङ्कुमपङ्कके लेपसे युक्त अर्थात् अरुण वर्णवाली शङ्करजीके (मस्तक पर स्थित) चन्द्रकलाके साथ कलह करनेवाले

(अथवा—प्रतिमल्ल) अर्थात् सदृश नखचिह्नोंसे तुम्हारे स्तनोंको सुशोभित करे । वक्राकार एवं रक्तवर्ण नखचिह्नसे उक्त चन्द्रकलाकी समानता होना स्पष्ट है ॥ तुम इस काशीनरेशको वरण करो ॥ १२२ ॥

पृथ्वीश एष नुदतु त्वदनङ्गतापमालिङ्ग्य कीर्तिचयचामरचारुचापः ।
संग्रामसङ्गतविरोधिशिरोधिदण्डखण्डिक्षुरप्रसरसम्प्रसरत्प्रतापः ॥ १२३ ॥

पृथ्वीश इति । कीर्त्तिचय एव चामरवत् चारुः मनोहरः, चापो यस्य सः कीर्तिधन्वा, महाशूरोऽयमिति कीर्त्तिधनुषा एव रिपुदमनकारी इत्यर्थः, अत्र चामरचारुचाप इति प्रयोगस्तु कीर्त्तेः कविसमयसिद्धातिनैर्मल्यख्यापनार्थमिति बोद्धव्यम्; 'यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः' इति कविप्रसिद्धेरिति । अत एव संग्रामे सङ्गतानां विरोधिनां शत्रूणां, शिरोधिदण्डान् कण्ठनालान्, खण्डयन्तीति तेषां, क्षुरप्राणां शरविशेषाणां, सरेण प्रसरेण, सम्प्रसरन् सम्यक् प्रसरन्, समधिकं वर्द्धमानः इत्यर्थः, प्रतापः यस्य तादृशः, एष पृथ्वीशः भूपतिः, आलिङ्ग्य तव अनङ्गतापं कामसन्तापं, नुदतु अपनयतु; समर-सुरतयोः समरस एष इति भावः । अत्र प्रकृष्टतापशालिनः आलिङ्गनेन तापनोदनमिति आपाततः विरोधोऽवभासते, प्रकृतव्याख्यया तु तत्परिहारः ॥ १२३ ॥

युद्धमें (लड़नेके लिए) आये हुए शत्रुओंके शिरोनाल (गर्दन) को काटनेवाले 'क्षुरप्र' नामक वाण-विशेषसे फैलते हुए प्रतापवाला तथा कीर्ति-समूहरूपी चापसे सुन्दर धनुषवाला (धनुषसे प्राप्त कीर्तिवाला) यह राजा (तुम्हारा) आलिङ्गनकर तुम्हारे (अथवा—तुम्हारे कारणसे उत्पन्न अपने) कामसन्तापको दूर करे । [कुशल धनुर्धारियोंके वाणमें चामर लगा रहता है ॥ कीर्तिमान् तथा प्रतापी इस राजाके वरणसे तुम्हारा कामसन्ताप दूर होगा, अत एव तुम इसे वरण करो] ॥ १२३ ॥

वक्षस्त्वदुग्रविरहादपि नास्य दीर्णं वज्रायते पतनकुण्ठितशत्रुशस्त्रम् ।
तत्कन्दकन्दलतया भुजयोर्न तेजोवह्निर्नमत्यरिवधूनयनाम्बुनाऽपि ॥१२४॥

वक्ष इति । हे भैमि ! तव उग्रात् दुःसहात्, विरहादपि न दीर्णम् अविदीर्णं, तथा पतनेन कुण्ठितानि प्रतिहतानि, भग्नधाराणीत्यर्थः, शत्रूणां शस्त्राणि आयुधानि यत्र तत्, अस्य राज्ञः, वक्षो वज्रायते वज्रमिवाचरति, वज्रमेवेत्यर्थः, अन्यथा कथमीदृगभेद्यमिति भावः । आचारक्यङन्ताल्लट्, तत् वक्षोवज्रमेव, कन्दो मूलं, तस्य कन्दलतया प्ररोहत्वेन, हृदयदार्ढ्यमूलत्वात् तत्प्ररोहभूतभुजतेजसोऽपि दार्ढ्यता इति भावः, भुजयोस्तेजोवह्निः प्रतापाग्निः, अरिवधूनयनाम्बुनाऽपि न नमति न शाम्यतीत्यर्थः; वज्राग्नेरिव अरिनिधनकारित्वादिति भावः । अत्र भुजतेजसोऽनम्बुहार्यत्वेन वज्रायितवक्षःकार्यताद्वारादन्यतेजस्त्वोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ १२४ ॥

तुम्हारे विरह (रूप अग्नि) से भी नहीं फूटा हुआ तथा गिरनेसे शत्रुओंके शस्त्रोंको

ण्ठित करनेवाला इस (काशीनरेश) का हृदय वज्रके समान आचरण करता है अर्थात् ज्र ही है (वज्र भी अग्निमें नहीं फूटता है तथा उसपर गिरे हुए शस्त्र कुण्ठित हो जाते । अथवा—इसका उक्तरूप हृदय हीरेके समान आचरण कर रहा है, हीरा भी अग्निमें लनेपर नहीं फूटता है और उसपर गिरनेवाले शस्त्र कुण्ठित हो जाते हैं[1]। यहां 'वज्र' ब्द इन्द्रास्त्रका वाचक है)। उस (वज्र) के कन्दके अङ्कुर होनेसे भुजाओंकी प्रतापाग्नि त्रुस्त्रियोंके नेत्रजल (आँसू) से भी शान्त नहीं होती। [हृदयसे उत्पन्न स्थूल मूलवाली जाओंसे उत्पन्न प्रताग्निका शत्रुस्त्रियोंके नेत्रजलसे नहीं शान्त होना उचित ही है, क्योंकि घजल स्वोत्पादित विद्युदग्निको नहीं शान्त करता। प्रकृतमें शत्रुओंके मारनेसे उनकी स्त्रियोंके रोनेसे उत्पन्न नेत्रजल स्वजन्य भुज-प्रतापाग्निको नहीं शान्त करता है। वज्रतुल्य तिकठोर हृदयस्थलसे उत्पन्न बाहुओंसे उत्पन्न तीव्र प्रतापाग्नि शत्रुओंको मारकर भी शान्त नहीं होती॥ यह राजा शत्रुओंमें निष्करुण एवं उनका नाश करनेवाला है तथा तुम्हारे विरहसे सन्तप्त है, अत एव इसका वरणकर इसे अनुगृहीत करो]॥ १२४॥

किं न द्रुमा जगति जाग्रति लक्षसङ्ख्यास्तुल्योपनीतपिककाकफलोपभोगाः?।
स्तुत्यस्तु कल्पविटपी फलसम्प्रदानं कुर्वन् स एष विबुधानमृतैकवृत्तीन्॥१२५॥

किमिति। तुल्यं निर्विशेषं यथा तथा, उपनीतः सम्पादितः, पिकानां काकानाञ्च फलोपभोगो यैस्ते, लक्षसङ्ख्या द्रुमाः वृक्षाः, जगति न जाग्रति किम्? न स्फुरन्ति किम्? स्फुरन्त्येवेत्यर्थः, तु किन्तु, अमृतैकवृत्तीन् सुधैकजीवनान्, विबुधान् देवान् विदुषश्च, फलसम्प्रदानम् ईप्सितार्थप्रतिग्राहिणः, कुर्वन् सर्वामरमनोरथपूरक इत्यर्थः, स एष कल्पविटपी कल्पवृक्षः, कल्पवृक्षकल्पोऽयं काशिराज इत्यर्थः, स्तुत्यः स एक एव स्तोत्राहों नान्य इत्यर्थः, अन्ये नृपतयः असत्पात्रेभ्यः दानं कुर्वन्ति, अयं काशीराजस्तु पण्डितेभ्य एव ददाति इति भावः। अत्राप्रस्तुतकल्पवृक्षकथनात् प्रस्तुतकाशिराजप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः, 'अप्रस्तुतस्य कथनात् प्रस्तुतं यत्र गम्यते। अप्रस्तुतप्रशंसेयं सारूप्यादनियन्त्रिता।' इति लक्षणात्॥ १२५॥

कोयल और कौवेके लिए समान रूपसे फलोंके देनेवाले (आम्र आदि) लाखों पेड़ संसारमें नहीं हैं क्या? अर्थात् अवश्य हैं (किन्तु वे प्रशंसनीय नहीं हैं, अपितु) अमृतमात्र भोजन करनेवाले देवोंके लिए फलोंको देनेवाला यह कल्पवृक्ष प्रशंसनीय है। [प्रकृतमें गुणागुणका विचार छोड़कर समानरूपसे सबको फल देनेवाले आम्र आदिके समान अन्य राजा संसारमें प्रशंसनीय नहीं है, किन्तु अमृतमात्रसे जीनेवाले देवों (पक्षा०—[2]अयाचित

---

[1] तदुक्तं 'प्रकाश' व्याख्यायां नारायणभट्टेन—
'पृथिव्यां यानि रत्नानि ये चान्ये लोहजातयः।
तानि वज्रेण लिख्यन्ते वज्रं नान्येन लिख्यते॥' इति।

[2] तदुक्तं मनुना—'ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्ष्यं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥ (मनुः ४।५)

या यज्ञवृत्तिसे जीनेवाले विशिष्ट विद्वानों) को फल देनेवाला कल्पवृक्ष (रूप यह राजा प्रशंसनीय है । तथा—गुणी तथा निर्गुणी सबके लिए समान दान देनेवालेकी प्रशंसा नह होती, किन्तु जो गुणके तारतम्यका विचारकर तदनुसार दान देता है, वही दानकर्ता कल्पवृक्षवत् प्रशंसनीय होता है, अतः ऐसे ही गुणागुणका विचारकर कल्पवृक्षके समान दा करनेवाले इस राजाको तुम वरण करो] ॥ १२५ ॥

अस्मै करं प्रवितरन्तु नृपा न कस्मादस्यैव तत्र यदभूत् प्रतिभूः कृपाणः ।
दैवाद् यदा प्रवितरन्ति न ते तदैव नेदङ्कृपा निजकृपाणकरग्रहाय ॥१२६॥

अस्मै इति । अस्मै राज्ञे, नृपाः अन्ये सर्वे राजानः, कस्मात् कारणात्, करं बलिं, न प्रवितरन्तु ? न दद्युः ? दद्युरेव, सम्भावनायां लोट् । कराप्रदानमसम्भावितमेवेत्यर्थः, कुतः ? यत् यस्मात्, तत्र करदाने, अस्य राज्ञः, कृपाणः खड्गः एव, प्रतिभूर्लग्नकः, अभूत्, 'स्युर्लग्नकाः प्रतिभुवः' इत्यमरः । अथ कृपाणस्य प्रतिभूत्वं व्यनक्ति—यदा दैवात्ते नृपाः, न प्रवितरन्ति, करमिति शेषः, तदैव निजकृपाणस्य करेण हस्तेन, ग्रहाय ग्रहणाय, अन्यत्र–निजकृपाणात् प्रतिभूस्वरूपकृपाणसकाशात्, करस्य बलेः, ग्रहणाय 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । अस्य कृपा इदङ्कृपा, न, भवतीति शेषः, निष्कृपः सन् कृपाणमुत्तोल्य तेभ्यः प्रसह्य करं गृह्णातीत्यर्थः, कृपाणपातभीत्यैव करदानात् कृपाणस्य प्रतिभूत्वव्यपदेश इति भावः ॥ १२६ ॥

राजा लोग इस (काशीनरेश) के लिये कर (राजदेयभाग, पक्षा०—दासी लोग हाथ अर्थात् हस्तावलम्बन) क्यों नहीं हैं, क्योंकि उस(कर-दान) में इसोकी तलवार प्रतिभू (जमानतदार–मध्यस्थ) हुई है। भाग्यवश यदि वे राजा लोग, कर (अर्थात् राजदेय भागको) नहीं देते हैं तो अपनी तलवारसे कर लेनेके लिए (पक्षा०—अपनी तलवारको हाथमें लेनेके लिए) इस राजाकी कृपा नहीं होती। [दासजन स्वामीके लिए हस्तालम्बन (हाथका सहारा) देते हैं और तलवारसे वशीभूत राजालोग इस राजाके लिए कर देते हैं, क्योंकि उनसे कर दिलानेके लिए तलवारने ही मध्यस्थता की है, अतः भाग्यवश उन राजाओंके कर नहीं देनेपर यह राजा निर्दय होकर उस तलवारसे ही कर लेता है (पक्षा०—तलवार हाथमें लेकर उन राजाओंको फिरसे अपने वशमें कर लेता है। लोकमें भी किसी ऋण आदिको लेनेवाला यदि उसे वापस नहीं करता तो धनिक (महाजन) उस मध्यस्थ (जामिनदार) व्यक्तिसे ही निर्दय होकर उक्त ऋण लेता है। सब राजा इसे कर देते हैं, अत एव इस शत्रुविजयी राजाका वरण करो] १२६ ॥

एतद्बलैः क्षणिकतामपि भूखुराग्रस्पर्शायुषां रयवशादसमापयद्भिः ।
दृक्पेयकेवलनभःक्रमणप्रवाहैर्वाहैरलुप्यत सहस्रदृगर्वगर्वः ॥ १२७ ॥

एतदिति । एतद्बलैः एतत्सैन्यभूतैः, रयवशात् वेगवशात्, भुवि पृथिव्यां, खुराग्राणां ये स्पर्शाः संयोगाः, तेषां यान्यायुंषि अवस्थानरूपजीवितानि, स्थायित्व-

ला इत्यर्थः, तेषां, क्षणिकतां क्षणमात्रावस्थायितामपि, असमापयद्भिः अनिर्वर्त्त- द्भिः, खुराग्रेण भूस्पर्शनं क्षणमपि अकुर्वद्भिरित्यर्थः, किन्तु दृक्पेया अविच्छिन्नतया ष्टिग्राह्याः, न तु सङ्ख्यातुं शक्या इति भावः, केवला नभःक्रमणप्रवाहाः नभोगति- रम्परा येषां तैः केवलखेचरैरित्यर्थः, अतिवेगगामिभिरिति भावः, वाहैर्वाजिभिः, हस्रहगर्वणः सहस्राक्षवाजिनः उच्चैश्रवसः, 'वाजिवाह्वार्वगन्धर्व–' इत्यमरः । गर्वः दपेक्षया वेगशाली आकाशमात्रचारी अन्योऽश्वो नास्तीत्येवंरूपाहङ्कारः, अलुप्यत ोपितः; सहस्राक्षस्य स्वेकक एव खेचरोऽश्वः, अस्य तु एतादृशाः परःसहस्राः अश्वाः ेद्यन्ते इति भावः । अत्र इन्द्राश्वापेक्षया एतदश्वानामाधिक्यवर्णनात् व्यति- कालङ्कारः ॥ १२७ ॥

वेगवश (वेगाधिक्य) से खुराग्रोंके द्वारा पृथ्वीके स्पर्शकी आयुके क्षणिकताको भी हीं समाप्त करते हुए, देखने योग्य आकाशगमन–परम्परावाले (अतिशय तीव्र चलनेके ारण सर्वदा ऊपरमें ही पैर रक्खे रहनेसे दर्शनीय), इसके सैनिक घोड़ोंने उच्चैःश्रवाका ो अभिमान नष्ट कर दिया। [इसकी सेनाके घोड़े खुराग्रोंसे पृथ्वीका स्पर्शमात्र भी नहीं करते था सर्वदा आकाश (ऊपर) में ही पैर रखनेसे बहुत सुन्दर दीखते हैं, और इस प्रकार तिशय तीव्रगामी होनेसे इन्द्रके 'उच्चैःश्रवा' नामके घोड़ेके भी अभिमानको चूर-चूर कर दिये हैं। वायु यद्यपि शीघ्र गामी है, किन्तु वह अदृश्य है, इस राजाकी सेनाके अतिशय गसे चलनेवाले घोड़े दृश्य हैं, अत एव अदृश्य तथा दृश्य वायु तथा उक्त घोड़ोंमें घोड़े ो श्रेष्ठ हैं] ॥ १२७ ॥

तद्वर्णनासमय एव समेतलोकशोभावलोकनपरा तमसौ परासे[1] ।
मानी तया गुणविदा यदनादृतोऽसौ तद्भूभृतां सदसि दुर्यशसेव मम्लौ ॥

तदिति । असौ दमयन्ती, तस्य काशीराजस्य, वर्णनासमये स्तोत्रकाले एव, समेतलोकानां समागतजनानां, शोभावलोकनपरा सती तं काशीराजं, परासे व्याजेन परिजहारेत्यर्थः, 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यम्' इत्यस्यतेस्तङि लिट् । मानी अभिमानी, असौ राजा, गुणविदा गुणज्ञया, तया भैम्या, यत् यस्मात्, अनादृतः, तत्तस्मादनादरणादेव, भूभृतां राज्ञां, सदसि दुर्यशसा दुष्कीर्त्यैव, मम्लौ वैवर्ण्यं गतः इत्यर्थः, वस्तुतः गुणज्ञया भैम्या कृतानादरेण लज्जावशात् म्लानोऽभूत् इति भावः । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ १२९ ॥

उस (काशीनरेश) के वर्णनके समयमें हो आये हुए लोगों (१२।१ के अनुसार नवीन राजालोगों) की शोभा देखनेमें संलग्न इस (दमयन्ती) ने उस (काशीनरेश) का परिहार कर (उसे देखना छोड़) दिया। गुणज्ञा उस (दमयन्ती) ने जो उसका अनादर किया, उससे राजाओंकी सभामें मानी वह राजा मानो अपकीर्तिसे मलिन हो गया

---

[1] 'निरासे इति' पा० ।

(अथवा—गुणज्ञा इसने राजाओंकी सभामें मानी इस काशीनरेशका जो तिरस्कार किय उस कारण मानो अपकीर्तिसे वह राजा मलिन हो गया । अथवा—मानी वह राजा मलि हो गया, शेष व्याख्या पूर्ववत् है ॥) [गुणज्ञ व्यक्ति किसी मानी व्यक्तिका राजसभा तिरस्कार करता है तो वह मानी व्यक्ति मानो अपकीर्तिसे खिन्न हो जाता है, कि अगुणज्ञ (मूर्ख) के अपमान करनेपर खिन्न नहीं होता, अतः उस राजाका गुणज्ञा दमयन्ती राजसभामें निरादर करनेपर खिन्न होना उचित ही था] ॥ १२८ ॥

साऽनन्तानाप्य तेजःसखनिखिलमरुत्पार्थिवान् दिष्टभाजः
चित्तेनाशापुषस्तान् सममसमगुणान् मुञ्चती गूढभावा ।
पारेवाग्वत्तिरूपं पुरुषमनु चिदम्भोधिमेकं शुभाङ्गी
निःसीमानन्दमासीदुपनिषदुपमा तत्परीभूय भूयः ॥ १२९ ॥

सेति । अनन्तान् अपरिमितान्, दिष्टभाजो भाग्यभाजः, चित्तेन आशाम् अभिलाषं, पुष्णान्ति इति आशापुषः भैमीं कामयमानानित्यर्थः, तान् प्रसिद्धान्, असमगुणान् असाधारणशौर्यादिगुणान्, तेजसः सखायः तेजःसखाः तेजस्विन इत्यर्थः, 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' निखिला मरुतो देवा इन्द्रादयः, पार्थिवाश्च तान्, आप्य प्राप्य, समं युगपत्, मुञ्चती परिहरन्ती, उपनिषत्पक्षे तु—सानन्तान् आकाशसहितान्, 'अनन्तं सुरवर्त्म खम् । पुंस्याकाशविहायसौ' इत्यमरः । दिष्टभाजः कालयुक्तान्, 'दिष्टं भाग्ये च काले च' इति विश्वः । चित्तेन मनसा, समं सह, आशापुषो दिग्युक्तान्, 'आशा दिगतितृष्णयोः' इति वैजयन्ती । असमगुणान् न्यूनाधिकसङ्ख्यातरूपरसादिगुणकान्, अपां विकारः आप्यं, 'त्रिषु द्वे आप्यमम्मयम्' इत्यमरः । आप्यञ्चेति चान्द्रसूत्रनिपातनात् साधुः । तेजःसखाः तेजोद्रव्यसहिताः, निखिलाः मरुतः वायवः, 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः । पार्थिवाः पृथिवीविकाराः, अत्रापि आप्यपार्थिवशब्दौ तद्धितान्तावपि प्रकरणात् प्रकृत्यर्थमात्रपरौ द्रष्टव्यौ, तान् मुञ्चती तार्किकोक्तपृथिव्यादिनवद्रव्येषु आत्मातिरिक्तद्रव्याष्टकस्य 'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतिवाक्यैः निषेधं कुर्वतीत्यर्थः, गूढभावा गूढः गोपायितः, भावः नलानुरागो यया सा, अन्यत्र—ब्रह्मरूपगहनार्थप्रतिपादनात् दुरवगाहाभिप्राया, शुभाङ्गी अनवद्यगात्री, अन्यत्र—सम्पूर्णाङ्गी, षडङ्गयुक्ता इत्यर्थः, सा दमयन्ती, वाचां पारे परपारे पारेवाक् 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यव्ययीभावः, तद्वर्त्तिवाचा वर्णयितुमशक्यं, रूपं सौन्दर्यं यस्य तम्; अन्यत्र—'यतो वाचः—' इत्यादि श्रुतेः वाग्व्यापारातीतस्वरूपं, चिदम्भोधिं सकलशास्त्रपारगत्वेन ज्ञानसागरम्; अन्यत्र—तद्रूपं, ज्ञानघनमित्यर्थः, एकं स्वसमानगुणशालिद्वितीयरहितम्; अन्यत्र—अद्वितीयं, निःसीमा आनन्दो यस्येति बहुव्रीहिः । अपारानन्दयुक्तम्, अन्यत्र—अनन्तसुखस्वरूपं, कर्मधारयः । पुरुषं नलरूपं पुमांसं परमात्मानञ्च, अनु लक्षयित्वा,

तीत्यर्थः, 'अनुर्लक्षणे' इति कर्मप्रवचनीयत्वात् द्वितीया । भूयो भूयिष्ठं, तत्परा स्मिन् नले आसक्ता भूत्वा, अन्यत्र–परब्रह्मरूपे तात्पर्यवती भूता, उपनिषत् न्तवाक्, उपमानं यस्याः तदुपमा तत्कल्पा, आसीदिति श्लिष्टविशेषणेयमुपमा, ष एवेति केचित् । स्रग्धरावृत्तम् ॥ १२९ ॥

शुभ (शुभ लक्षणोंसे युक्त) अङ्गोंवाली तथा अनन्तसंख्यावाले अर्थात् अपरिमित, यवान् (या बहुत सम्पत्तिवाले), चित्तसे आशाकी वृद्धि करनेवाले ('दमयन्ती हमें ही ण करेगी' ऐसी आशाको बढ़ानेवाले, पाठा०—आशाको करनेवाले), असमान गुणों शौर्य, दान, विद्वत्ता आदि) वाले सम्पूर्ण देव (इन्द्रादि) तथा राजाओंको प्राप्तकर साथ ही छोड़ती हुई, वचनागोचर रूप (अवर्णनीय सौन्दर्य) वाले, चैतन्य (ज्ञान) समुद्र, अद्वितीय, सीमारहित (बेहद) आनन्दवाले पुरुष (नल) को उद्देश्यकर गुप्त ववाली (नल विषयक अनुरागको प्रकट नहीं करनेवाली), तत्पर होकर उपनिषद्के मान हुई; शुभ छः अङ्गोंवाली उपनिषद् भी अनन्त अर्थात् आकाशसहित, कालयुक्त, नके साथ दिशायुक्त, असमान (न्यूनाधिक असङ्ख्यात रूप-रसादि गुणोंवाले; जल, वायु, जोयुक्त समस्त वायु और पृथ्वीको एक साथ निषेध करती हुई (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, काश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन—तार्किकोक्त इन नव द्रव्योंमें आत्माके अतिरिक्त आठ द्रव्योंका एक साथ निषेध करती हुई) गूढ अभिप्रायवाली है, वह मनोवचनातीत पवाले, चैतन्यस्वरूप, अपरिमित आनन्दस्वरूप, परमात्माको लक्षितकर बहुत तात्पर्ययुक्त ती है । [अन्यान्य व्याख्याओंको 'प्रकाश' आदि टीकाओंसे समझ लेना चाहिये] ॥१२९॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
शृङ्गारामृतशीतगावयमगादेकादशस्तन्महा-
काव्येऽस्मिन् निषधेश्वरस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १३० ॥

श्रीहर्षमित्यादि । शृङ्गार एव अमृतं तस्य शीता गावः किरणा यस्य सः शीतगुः स्मिन् शीतगौ चन्द्रे 'गोस्त्रियोः उपसर्जनस्य' इति ओकारह्रस्वः ॥ १३० ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु' समाख्याने एकादशः सर्गः समाप्तः ।

कवीश्वर-समूहके……… उत्पन्न किया, उसके रचित शृङ्गारामृतके चन्द्ररूप 'नैषध- रित' नामक सुन्दर महाकाव्यमें स्वभावतः उज्ज्वल यह एकादश (ग्यारहवां) सर्ग माप्त हुआ । (शेष व्याख्या चतुर्थ सर्गके समान समझनी चाहिये) ॥ १३० ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का एकादश सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

एकादशः सर्गः समाप्तः

६